विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

६०

मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद

डॉ० कपिलदेव पाण्डेय

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२०

मूल्य : संशोधित मूल्य

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

60

THEORY OF INCARNATION IN MEDIEVAL INDIAN LITERATURE AN INTERPRETATION

BY

Dr. KAPILDEO PANDEY

M. A., Ph. D.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

माँ भारती !

राष्ट्र की रक्षा के लिए

मेरे

शास्त्र और शस्त्र

को

शक्ति दो ! शक्ति दो !!

कपिल

भूमिका

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

[अध्यक्ष (हिन्दी-विभाग) चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय, पंजाब]

डा० कपिलदेव पाण्डेय का यह शोध प्रबन्ध (मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद) बहुत सूझ-बूझ और परिश्रम के साथ लिखा गया है। काशी विश्वविद्यालय ने इस प्रबंध पर उन्हें पी. एच. डी. की उपाधि प्रदान की है। मैं इस पुस्तक को कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। भारतवर्ष के मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद एक शक्तिशाली प्रेरक तत्त्व के रूप में काम करता रहा है। कई सम्प्रदाय इसके विरोधी रहे हैं और कभी-कभी विरोधी रहते हुए भी प्रकारान्तर से इसके प्रभाव में आ गए हैं। मध्यकालीन भारतीय साहित्य की इस प्रेरक शक्ति को समझे बिना इस साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जाता है। केवल साहित्य ही नहीं; मूर्ति, चित्र, वास्तु, संगीत, नृत्य आदि चाक्षुष कलाएँ भी इस केन्द्रीय प्रेरक भावधारा के समझे बिना ठीक से समझी नहीं जा सकेंगी। भारतवर्ष की धर्मसाधना बहु-विचित्र रूप में प्रकट हुई है। उसकी अन्तर्निहित एकता और उसका आपाततः दृश्यमान वैचित्र्य निपुण निरीक्षक को भी चकित कर देते हैं। इस धर्मसाधना का साहित्य बहुत बड़ा है, विभिन्न संप्रदायों और उपसंप्रदायों के मूलग्रंथ, उन पर लिखी गई टीकाएँ, उनकी रसात्मक साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ, उनका पूजा-अर्चा-संबंधी साहित्य बहुत विशाल है। इस समग्र साहित्य और इस पर आधारित कलाकृतियों को निरंतर प्रेरणा देते रहने का काम विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारधाराएँ करती हैं। इस विपुल साहित्य का अध्ययन बड़ा कठिन काम है। आयुष्मान् कपिलदेव ने इसी कठिन कार्य को हाथ में लिया था। संयोगवश, मैंने ही इस कार्य को हाथ में लेने के लिये उन्हें उत्साहित किया था और मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि उन्होंने इस कार्य को मेरी आशा के अनुरूप पूरा किया है। मुझे इस प्रबंध की देख-रेख करने का निमित्त भी बनना पड़ा था।

यद्यपि अवतारवाद का व्यापक प्रभाव मध्यकाल में ही प्रकट हुआ परन्तु उसे मध्यकाल की उपज नहीं कहा जा सकता। इसका इतिहास बहुत पुराना है। मध्यकाल में सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रन्थ भागवत महापुराण रहा है। इस ग्रन्थ में पुरानी परंपराओं के सामंजस्य-विधान का प्रयत्न दिखाई देता है। परंपरा बहुत पुरानी है। मध्यकालीन भावधारा के अध्ययन के लिये प्राचीन परंपरा का अनुशीलन भी आवश्यक है। भागवतों से इसका आरम्भ हुआ है और उन्हीं के परवर्ती रूप वैष्णव धर्म में यह पुष्ट हुआ है। विष्णु या नारायण के एकाधिक अवतारों की चर्चा उत्तर वैदिक साहित्य में ही मिलने लगती है। परन्तु मध्यकाल में इस भावधारा का प्रवेश शैव और शाक्त संप्रदायों में भी हुआ है। उत्तर मध्यकाल के अनेक निर्गुण मार्गी संप्रदायों ने इस भावधारा का विरोध जम के किया है पर प्रतिक्रिया ने भी आगे चलकर क्रिया का रूप ग्रहण किया है। निर्गुण संप्रदायों के अनेक प्रवर्तक भगवान् के स्वयं रूप स्वीकार कर लिए गए हैं। डॉ० कपिलदेव पाण्डेय ने इस पुस्तक में उनकी प्रच्छन्न अवतारवादी विचार-धारा को अच्छी तरह से पहचानने का प्रयत्न किया है।

वैष्णव संप्रदाय में भगवान् के अनेक अवतार माने गए हैं परन्तु मुख्य अवतार मानव रूप में स्वीकार किए गए हैं। धर्म की ग्लानि होने के कारण अधर्म का जो अभ्युत्थान होता है उसके निराकरण के लिये, साधु जनों की रक्षा और समाज-विरोधी असाधु जनों के विनाश के लिये ही भगवान् का अवतार होता है, यह बात गीता में कही गई है। पर आगे चलकर इसमें एक और महत्त्वपूर्ण बात भी जोड़ दी गई है। लघुभागवतामृत में कहा गया है कि भगवान् अपनी लीला का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से अवतरित होते हैं। यह लीलाविस्तार मानवविग्रह को धारण करके ही होता है। यही कारण है कि मध्यकाल में भगवान् के मानवरूप—तत्रापि समग्र मानवरूप—को अधिक महत्त्व दिया गया है। राम और कृष्ण के रूप में भगवान् की यह लीला सबसे अधिक लोकप्रिय हुई है। इनमें श्रीकृष्णावतार की कथा अधिक पुरानी भी है और अधिक

व्यापक भी। पुराने शिल्प में श्रीकृष्णावतार की दुष्ट-दमन-लीलाओं का ही बाहुल्य है, पर बाद में मनुष्य की समस्त रागात्मक वृत्तियाँ इस रूप को केन्द्र करके धन्य हुई हैं। उत्तर मध्यकाल का शिल्प भगवान् कृष्ण की मानवीय लीलाओं को आश्रय करके ही रूपायित हुआ है। डॉ० कपिलदेव जी की पैनी दृष्टि इन सभी क्षेत्रों में गई है। उनका अध्ययन व्यापक पटभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है।

डॉ० कपिलदेव पाण्डेय ने संपूर्ण भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करके अवतारवाद के मूल उत्स और उसके विकासक्रम को परखा है। इस कार्य में उन्हें बहुत बाधाओं का सामना करना पड़ा है। कहते हैं, अच्छे कामों में बहुत विघ्न हुआ करते हैं। विघ्नों का सामना उन्होंने धैर्य और उत्साह से किया है। उन्हें सफलता मिली है। भगवान् के अनुग्रह से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित देख कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। परन्तु मेरी सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात में है कि आयुष्मान् कपिलदेव इस कार्य का निरन्तर चिन्तन करते-करते इसमें पूरी तरह रम गए हैं। और भी काम करते रहने का उत्साह उनमें बढ़ता ही गया है। उन्हें दर्शन, काव्य, शिल्प, सर्वत्र अपने अध्येतव्य की महिमा का साक्षात्कार हुआ है। वे इस दिशा में और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगे, ऐसा विश्वास करने का उचित कारण है। मेरी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उन्हें अच्छा स्वास्थ्य और लम्बी उमर दें और निरन्तर काम करने की मंगलमयी प्रेरणा देते रहें। मुझे आशा है कि सहृदय पाठक इस परिश्रमपूर्वक लिखे ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

चण्डीगढ़
२६-४-६३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखक

प्रस्तावना

मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन में सूफियों और सन्तों में रहस्यवाद तथा सगुण भक्त कवियों में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत प्रभृति साम्प्रदायिक मान्यताओं के विवेचन पर जितना बल दिया गया है उतना अन्य अन्तःप्रवृत्तियों की ओर नहीं, जिनका उस युग की चिन्ताधारा के विकास में मुख्य योग रहा है। यों इतिहासलेखकों ने युगविशेष की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया है या सिद्ध, जैन, नाथ, सन्त, सूफी और सगुण साहित्य तथा कबीर, जायसी, सूर और तुलसी के विवेचकों ने तत्साहित्य में उपलब्ध विचारधाराओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है, किन्तु इस युग का प्रधान स्वर अवतारवाद उनमें उपेक्षित सा रहा है। अभी तक अवतारवाद से सम्बद्ध अधिकांश विवेचन शीर्षकहीन एवं प्रासंगिक हुए हैं।

स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीतसार की भूमिका' तथा सूर और तुलसी साहित्य पर लिखित कतिपय निबन्धों में अवतारवाद के सामाजिक एवं लोकपरक रूप से परिचित कराया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'मध्यकालीन धर्मसाधना', 'नाथसम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' प्रभृति रचनाओं में अवतारवाद के विभिन्न तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। निर्गुण भक्ति साहित्य के अनुसन्धित्सु स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल ने सन्त गुरुओं में उपलब्ध अवतारवादी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवेचन किया है। श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा' में सन्तों में प्रचलित अवतारों का कतिपय स्थलों पर यथेष्ट परिचय दिया है। इसी प्रकार सगुण साहित्य के अन्वेषकों में डा० दीनदयालु गुप्त ने अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के अवतारवादी रूपों तथा अन्य कतिपय अवतारवादी तथ्यों का विवेचन किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० बलदेव प्रसाद मिश्र प्रभृति तुलसीसाहित्य के अन्वेषकों ने राम के अवतारवादी रूपों का निरूपण किया है।

इससे तत्कालीन साहित्य में व्याप्त अवतारवाद के कतिपय उपादानों का पता अवश्य चल जाता है, किन्तु मध्ययुग की प्रमुख चेतना में अवतारवाद का क्या स्थान है, इसका निराकरण नहीं होता। साथ ही इन विभिन्न धाराओं के कवियों में विद्यमान कुछ सामान्य अवतारवादी तत्वों का आकलन अभी तक नहीं हो सका है, जिसके अभाव में इनका मूल्यांकन बहुत कुछ अंशों में अपूर्ण

रह जाता है। क्योंकि व्यक्तिगत और सामाजिक भावनाओं के निर्माण में व्यक्ति या वर्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति विशेष का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। आलोचना या प्रतिपादन दोनों दृष्टिकोणों से मध्यकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों में अवतारवाद का विशिष्ट स्थान है। क्योंकि प्रारम्भ से लेकर आलोच्यकाल के अन्तिम चरण तक रक्षा, रञ्जन और रसास्वादन इन तीन प्रयोजनों से सन्निविष्ट अवतारवाद का जन्म तो हुआ देवपक्षीय विष्णु के असुरसंहारक या देवरक्षक पराक्रम में, विस्तार हुआ परब्रह्म विष्णु एवं उनके तद्रूप अवतारी उपास्यों में और पर्यवसान हुआ रस के वशवर्ती अवतारी उपास्यों की नित्य और नैमित्तिक गुप्त और प्रकट रससिक्त लीलाओं में। फिर भी अवतारवाद का रूप केवल इन्हीं प्रयोजनों तक आबद्ध नहीं रहा अपितु सगुण साहित्य के अतिरिक्त सिद्ध, जैन, नाथ, सन्त और सूफी साहित्य में भी उसके विभिन्न रूप मिलते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में लगभग विक्रम की ८वीं शती से लेकर १७वीं तक विभिन्न साहित्य में व्याप्त अवतारवादी रूपों, तत्त्वों एवं परम्पराओं का विवेचन किया गया है। इस सिलसिले में कतिपय रूपों और परम्पराओं के क्रमबद्ध अध्ययन के निमित्त यथासम्भव अपने काल से पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं की भी सहायता ली गई है। विशेषकर भक्त कवियों में जिन अवतारों एवं अवतारवादी मान्यताओं का विकास हुआ है उनका सम्बन्ध वैष्णव सम्प्रदाय से भी रहा है। इन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के विवेचक आचार्यों ने अपने मतों की पुष्टि एवं प्रतिपादन में वैदिक, महाकाव्य, पौराणिक और पांचरात्र ग्रन्थों को मुख्य आधार बनाया है। अतएव अवतारवादी रूपों एवं सिद्धान्तों के विवेचन के निमित्त इन आकर ग्रन्थों की सामग्री का भी उपयोग किया गया है। क्योंकि कवियों के आधार पर इस युग का अध्ययन करते समय ऐसी अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका निराकरण केवल हिन्दी साहित्य में उपलब्ध उपादानों के आधार पर सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस निबन्ध के निमित्त मध्ययुग के जिस साहित्य का उपयोग किया गया है उनमें अधिकांश ऐसी रचनायें हैं जिनका काल निश्चित करना स्वयं एक स्वतन्त्र अन्वेषण का कार्य हो जाता है। अतः विवेचन करते समय प्रस्तुत इतिहासकारों के आधार पर उनके कालक्रम को मोटे तौर से ध्यान में रखा गया है। सूफी साहित्य के अध्ययनक्रम में मैंने रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी ग्रन्थावली के अतिरिक्त माताप्रसाद गुप्त के संस्करण का अधिक उपयोग किया है। सन्त साहित्य में मैंने सिख गुरुओं के जिन पदों को 'गुरु ग्रन्थ साहिब' से लिया है उन पदों में पहला एक, दो, तीन, चार और पाँच तक का क्रम सिख गुरुओं के क्रमानुसार माना गया है। 'राग कल्पद्रुम' और कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थों से सङ्कलित उन्हीं भक्त

कवियों की रचनाओं का उपयोग किया गया है जिनका नाभादास के 'भक्तमाल' में उल्लेख हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भूमिका के अतिरिक्त चौदह अध्याय हैं और अन्त में मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और ललितकला की दृष्टि से अवतारवाद का मौलिक विवेचन भी किया गया है।

भूमिका में वैदिक साहित्य से लेकर आचार्यों तक अवतारवाद की उत्तरोत्तर विकसित मान्यताओं पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि प्रारम्भ में अवतारवाद के विकास का बीज विष्णु के पराक्रम में मिलता है। देवासुर-संग्राम में वे अपने बलवीर्य के लिए विख्यात हैं। कालान्तर में उनके एकेश्वरवादी रूप का विकास होने पर राम, कृष्ण आदि वीरों तथा अन्य पराक्रम-सम्बन्धी आख्यानों से उनका अवतारवादी सम्बन्ध स्थापित किया गया। गीता में जिस हेतुयुक्त अवतारवाद की चर्चा हुई है भागवत में उसको अपेक्षाकृत व्यापक रूप प्रदान किया गया। भागवत के अनुसार सृष्टि-अवतरण और व्यक्तिगत भक्तों के निमित्त अवतरण दोनों में किसी अन्य हेतु की अपेक्षा लीला को प्रधान कारण बताया गया। दक्षिण के आलवारों में विष्णु एवं उनके अवतार अत्यधिक लोकप्रिय हुए और दक्षिणी आचार्यों के द्वारा उनका प्रचार उत्तर भारत में भी हुआ।

पहले अध्याय में बौद्ध सिद्ध साहित्य का अध्ययन करते हुए उनमें उपलब्ध वैष्णव अवतारवाद सम्बन्धी उपादानों का आकलन और विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में किञ्चित् वैष्णव और जैन विचारों से प्रभावित बौद्ध अवतारवाद की रूपरेखा मिलती है। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्ध, तथागत बुद्ध, बोधिसत्त्व और वज्रधर से सम्बद्ध बौद्ध अवतारवाद के चार रूप मिलते हैं तथा शून्य स्वयं अवतारी और करुणा अवतार-हेतु में परिणत हो जाते हैं। इस अध्याय में इनका विस्तृत अध्ययन किया गया है। अन्त में उत्तरकालीन बौद्ध विग्रहों के अवतारत्व और समन्वयवादी मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में जैन साहित्य के तिरसठ महापुरुषों के अवतारवादी सम्बन्धों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि चौबीस तीर्थङ्कर इस युग के साहित्य में भागवत एवं पांचरात्रों में प्रचलित उपास्यों के सदृश उपास्य हैं। तिरसठ महापुरुषों में मान्य कुछ बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव अन्तिम बलदेव की परम्परा में विकसित विष्णु एवं उनके द्वारा विभिन्न अवतारों में मारे गये असुरों के जैनीकृत रूप हैं।

तीसरे अध्याय में नाथ साहित्य में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह बताया गया है कि अवतारवाद के विरोधी होने पर भी गोरख, मत्स्येन्द्र और शिव उपास्य रूप में मान्य होने के साथ ही नाथ सम्प्रदाय में अवतार और अवतारी हैं। गोरखनाथ या अन्य नाथ यों तो इस सम्प्रदाय में शिव के अवतार माने गये हैं किन्तु शिव के अट्ठाइस पौराणिक अवतारों की परम्परा में ये नहीं आते। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में वैष्णव अवतारों के रूप तथा अन्य कतिपय अवतारवादी तत्त्वों पर विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में दशावतार और सामूहिक अवतार परम्पराओं का क्रमिक अध्ययन करते हुए बताया गया है कि आलोच्यकालीन साहित्य में दोनों परम्पराएँ अविच्छिन्न रूप से दृष्टिगत होती हैं। इनमें दशावतारों के नाम एवं संख्या में न्यूनाधिक परिवर्तित रूप मिलते हैं और सामूहिक अवतारवाद की परम्परा में महाभारत और वाल्मीकि तथा हरिवंश, विष्णु और भागवत की परम्पराएँ गृहीत हुई हैं।

पाँचवें अध्याय में सन्त साहित्य के अवतारवादी तत्त्वों, रूपों और परम्पराओं का निरूपण किया गया है। मध्ययुगीन अवतारवाद के विवेचन के पूर्व संत साहित्य में अभिव्यक्त मानवमूल्य पर विचार करते हुए बताया गया है कि अवतार के विकास में केवल अवतरण ही नहीं अपितु उत्क्रमणशील प्रवृत्तियों का भी योग रहा है। साथ ही सन्तों के निर्गुण निराकार उपास्य में उपलब्ध पांचरात्रों के अन्तर्यामी रूप का विवेचन किया गया है। उसमें निहित सगुण तत्त्वों और पौराणिक अवतारी कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वह सगुणोपासकों के अर्चाविग्रह के समान भक्त और भगवान् के अवतारवादी सम्बन्ध की दृष्टि से अधिक भिन्न नहीं है। हिन्दी साहित्य में जिन्हें सन्त की कोटि में माना गया है उनमें अवतारवाद के आलोचक भी हैं और समर्थक भी। इस अध्याय में दोनों मान्यताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त युगावतार परम्परा, पैगम्बरी, अवतारवाद, वैष्णव अवतारों के रूप तथा अवतार और अवतारी कबीर इस अध्याय के अन्य निरूपित विषयों में से हैं।

छठे अध्याय में सूफी और प्रेमाख्यानक काव्यों के अवतारवादी तत्त्वों का अध्ययन हुआ है। सूफी साहित्य में इस्लाम के एकेश्वरवादी अल्लाह में निहित सगुण और अवतारवादी तत्त्वों का भागवत के उपास्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बताया गया है कि वह पांचरात्रों के उपास्य के सदृश निर्गुण और सगुण दोनों तत्त्वों से युक्त उपास्य है, जिसकी ज्योति से अवतरित पैगम्बरों की परम्परा का विकास हुआ। जिस प्रकार राम और कृष्ण अवतार से

उपास्य रूप में प्रचलित हुए उसी प्रकार पैगम्बर-मुहम्मद साहब भी पैगम्बर से रसूल अल्लाह के रूप में मान्य हुए। अन्य इस्लामी देश तथा भारत में प्रायः अवतारविरोधी और अवतारवादी दो प्रकार के सूफी सम्प्रदाय मिलते हैं। उनके साहित्य में प्रचलित अवतारवादी विश्वासों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रचलित कामदेव और रति, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, कृष्ण और अन्य वैष्णव रूपों का विवेचन किया गया है।

सातवें अध्याय में सगुण भक्ति साहित्य के प्रेरक पांचरात्र, भागवत और मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों की अवतारवादी मान्यताओं और उनके विभिन्न रूपों का अध्ययन किया गया है। रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ और चैतन्य साहित्य में जिन अवतारवादी रूपों की स्थापना हुई है उनमें रामानुज, माध्व, और वल्लभ साहित्य में पांचरात्र अवतारवादी उपादान अधिक गृहीत हुए हैं तथा निम्बार्क और चैतन्य साहित्य में भागवत के अवतारवादी रूपों को अधिक प्रश्रय मिला है।

आठवें अध्याय में अवतारवाद के अंश, कला, विभूति, आवेश, पूर्ण, व्यूह, लीला, युगल और रस रूपों का क्रमिक विकास एवं विवेचन हुआ है, जिनका सगुण और रसिक भक्त कवियों ने न्यूनाधिक प्रयोग या विस्तृत वर्णन किया है। प्रस्तुत साहित्य में कवियों ने अंश, कला और विभूति का प्रयोग अधिकतर पारिभाषिक अर्थ में किया है, जबकि लीला, युगल और रस रूपों का इनमें विस्तार हुआ है। इस अध्याय में लीलावतार, युगल अवतार और रसावतार की मध्यकालीन परम्पराओं का विस्तृत विवेचन हुआ है।

नौवें अध्याय में चौबीस वपु या चौबीस अवतार की रूढ़िगत अभिव्यक्ति एवं उसकी परम्परा पर विचार किया गया है। साथ ही चौबीस अवतारों में माने गये प्रत्येक अवतार के क्रमिक विकास और उनके आलोच्यकालीन रूप का विवेचन हुआ है। इन अवतारों के विकास में योग देने वाले पौराणिक, मिथिक, प्रतीकात्मक और ऐतिहासिक तीन प्रकार के उपादानों का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया है कि मध्यकालीन कवियों में अभिव्यक्त होने के पूर्व किन रूपों में इनका विकास हुआ। इसी अध्याय में पौराणिक और मध्यकालीन उपास्यों के साथ इनके संबन्धों का भी उचित निरूपण हुआ है।

अंतिम पांच अध्यायों में सगुणभक्ति साहित्य में अभिव्यक्त राम, कृष्ण, अर्चा, आचार्य, भक्त और विविध उपास्य रूपों के क्रमिक विकास और मध्यकालीन रूपों का विस्तृत विवेचन किया गया है। राम और कृष्ण के ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक विकासक्रम के साथ मध्यकालीन कवियों में अभिव्यक्त अवतार-

अवतारी, और लीलात्मक रूपों का निरूपण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में वासुदेव-कृष्ण, गोपाल-कृष्ण और राधा-कृष्ण प्रभृति कृष्ण के विभिन्न रूपों के क्रमिक अध्ययन के पश्चात् मध्यकालीन साहित्य में प्रचलित कृष्णकर्णामृत के गोपीकृष्ण और गीतगोविंद के राधाकृष्ण का अन्तर स्पष्ट किया गया है। भक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति में अर्चा अवतारों का क्या स्थान था अभी तक हिन्दी साहित्य में समुचित ढंग से इस पर विचार नहीं हुआ था। इस निबन्ध के बारहवें अध्याय में अर्चारूप के क्रमिक विकास, उनके व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों तथा वार्ता और भक्तमाल साहित्य में व्याप्त उनके अवतारोचित कार्यों और रूपों का विशद विवेचन किया गया है। तेरहवें अध्याय में मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों और प्रवर्तकों के अवतार एवं अवतारी रूपों के क्रमिक विकास और उनके साम्प्रदायिक उपास्य रूपों का निरूपण हुआ है। अभी तक इनके अवतारवादी रूपों के प्रासंगिक उल्लेख हुआ करते थे परन्तु इस अध्याय में रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, हितहरिवंश प्रभृति आचार्यों और रसिक भक्तों की साम्प्रदायिक परम्परा का अध्ययन करते हुए यह बताया गया है कि इनका अवतारीकरण इनसे सम्बद्ध कतिपय विश्वासों और मान्यताओं पर आधारित रहा है।

अंतिम अध्याय में भक्तों के उपास्य रूपों का निरूपण करने के अनन्तर उनके विविध अवतारोचित कार्यों का विवेचन किया गया है और वाल्मीकि, व्यास, जयदेव, प्रभृति कवियों एवं पुराणकारों की अवतार परम्पराओं का परिचय दिया गया है।

इस युग में प्रचलित वार्ताओं में भक्तों और रसिकों द्वारा लीला के निमित्त धारण किए हुये सखा और सखी रूपों पर भी विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य विविध रूपों में आलोच्यकालीन राजा, भागवत, गंगा, यमुना, उमा, हनुमान और रामानन्द के द्वादश शिष्यों के अवतारवादी रूपों का निरूपण हुआ है।

अंत में अवतारवाद की प्रवृत्तियों और रूपों के साहित्यगत विकास में योग देने वाले पौराणिक एवं आलंकारिक दो प्रधान तत्त्वों का महत्व बताया गया है।

इस प्रकार इस निबन्ध में बौद्ध सिद्धसाहित्य से लेकर भक्तमाल तक विभिन्न रचनाओं में अभिव्यक्त अवतारवादी प्रवृत्तियों के आकलन, विश्लेषण एवं विवेचन का प्रयास किया गया है।

इस महत् प्रयत्न में सम्बद्ध संदर्भ ग्रन्थों के अतिरिक्त सहस्रों ऐसी पुस्तकों और पत्रिकाओं में भटकना पड़ा है, जिनमें मुझे अपेक्षित सामग्री नहीं मिली।

फिर भी उन कृतियों का मैं उपकृत हूँ। इस क्रम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, सरस्वती भवन, गोयनका विश्वनाथ पुस्तकालय, पटना स्थित बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, सिन्हा लाइब्रेरी, खुदाबख्श खां लाइब्रेरी और बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् के व्यवस्थापकों का भी उनकी अयाचित सहायता के लिए मैं चिर कृतज्ञ हूँ।

आदरणीय परीक्षक-द्वय डा० बाबूराम सक्सेना और डा० नगेन्द्र (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने मेरे प्रबन्ध में जिन तथ्यों की ओर संकेत किया था नि:सन्देह उनके आदेशानुसार परिवर्द्धन और परिमार्जन करने के फलस्वरूप यह प्रबन्ध अधिक साङ्गोपाङ्ग हो सका है। उन्होंने मेरे परिश्रम को जिन आशीर्वादों से संवलित किया है उन्हें मैं सदैव श्रद्धानत होकर ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहा हूँ। आदरणीय परीक्षक ने अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर जो संकेत किया था उसे अन्त में मैंने अपने पुन: तीन वर्षों के परिश्रम से पूर्ण करने का प्रयास किया है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि वर्षों की इस अनवरत साधना ने अधिक नहीं तो कम से कम मध्ययुगीन साहित्य के लिए अनेक नए शोध-विषयों का श्रीगणेश किया है। इस शोध के क्रम में मुझे ऐसा लगा कि पचास विषयों पर तो स्वतंत्र अनुसंधान के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री है।

मध्ययुगीन साहित्य पर यों तो बहुत पुस्तकें निकली हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि उनमें से बहुत कम में ही आ पायी है। अवतारवाद पर हिन्दी या अंग्रेजी में इस प्रकार की पहली पुस्तक होने के कारण मुझे अवतारवाद का विस्तृत सर्वेक्षण करना पड़ा है। इसी कारण से मुझे किसी व्यक्ति के खंडन या मंडन करने का अवसर भी नहीं मिल सका। साहित्य के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवतारवाद यदि प्रतीकवाद है तो सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से 'रमणीय बिम्बवाद' जिनकी वैज्ञानिक स्थापना के लिए मैंने विस्तारपूर्वक विचार किया है। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि अवतारवाद सक्रिय जीवन-दर्शन का सिद्धान्त है। संघर्ष और शान्ति (दुष्ट-दमन और लीला) दोनों स्थितियों में वह मानव-मूल्यों का द्योतक एवं प्रबल जीवनेच्छा की प्रवृत्ति का सूचक है।

विगत दस वर्षों से अन्य कार्यों को छोड़कर तन-मन-धन से इसी पुस्तक में लगे रहने का परिणाम क्या निकला इसे तो 'गहरी पैठ' रखने वाले ही बता सकते हैं। अनेक अभावों से ग्रस्त होते हुए भी मुझे एक ही बात का संतोष है कि मैं भारती हिन्दी की सेवा करता हूँ। मैं इस पुस्तक की त्रुटियों और कुछ चौंकाने वाली अशुद्धियों के लिए विवेकी पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गुरुजन डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और डॉ० श्रीकृष्ण लाल के आशीर्वाद से सदा कृतार्थ रहा हूँ। हरप्रसाददास जैन कॉलेज आरा के प्राचार्य परमहंसराय जी तथा विभागाध्यक्ष प्रो० सीताराम जी 'प्रभास' का सतत उत्साहवर्द्धन मुझे सदैव प्रेरित करता रहा है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० जगदीश पाण्डेय और डॉ० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' के विचारों तथा परामर्शों ने भी मेरी चेतना जगायी है। आदरणीय पाण्डेय राधिकारमन शर्मा 'बच्चन' तथा प्रो० रामेश्वर नाथ तिवारी का स्नेह सदैव मुझे शक्ति प्रदान करता रहा है। इस कार्य में किसी न किसी रूप में सहायता देने वाले प्रो० जे० सी० दास, डॉ० राम मोहनदास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० पूर्णमासी राय, प्रो० कुमार विमल (पटना विश्वविद्यालय), आचार्य चन्द्रशेखर पाठक, पंडित श्रीकृष्ण पंत, पं० रामचन्द्र झा और प्रो० राणाप्रताप सिन्हा का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ। हिन्दी प्रतिष्ठा के छात्र अवधविहारी प्रसाद विश्वबन्धु ने अनुक्रमणिका बनाने में जो सहायता दी है, उसके लिए वे मेरे हार्दिक आशीर्वाद के पात्र हैं। मैं अपने विभाग के सभी सहयोगियों और विशेषकर प्रो० मुरली मनोहर प्रसाद का भी बहुत आभार मानता हूँ।

यह ग्रंथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के निमित्त प्रस्तुत किये गये शोधप्रबन्ध 'मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद' का परिवर्द्धित रूप है, जो तत्कालीन अध्यक्ष (सम्प्रति पंजाब विश्वविद्यालय, चडीगढ़) गुरुवर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में लिखा गया था। श्रद्धेय गुरुवर आचार्य द्विवेदी के स्नेहाशीर्वाद से ही यह कार्य सुचारु रूप से हो सका है जिसके चलते मैं कभी भी उनसे ऋणमुक्त नहीं हो सकता।

अन्त में मैं अपने 'मगध विश्वविद्यालय के उप कुलपति डॉ० के० के० दत्त, कोशपाल श्री डी० एन० मिश्र तथा अकृत्रिम पाण्डित्य के धनी गुरुवर प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मगध विश्वविद्यालय) के स्नेह और आशीर्वाद का चिर आकांक्षी हूँ। मैं चौखम्बा संस्कृत सीरीज और चौखम्बा विद्याभवन के संचालक बन्धुद्वय मोहनदास जी और विट्ठलदास जी गुप्त का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने केवल प्रकाशन ही नहीं अपितु अनेक अलभ्य ग्रंथों के अध्ययन की भी सुविधा प्रदान की।

वाणी कुंज
कतिरा बाग, आरा
२०-२-१९६३

कपिलदेव पाण्डेय

संक्षेप और संकेत

अ० छा०	अष्टछाप
अथर्व० सा० भा०	अथर्वसंहिता, सायणभाष्य
अ० ह्यु० ने०	अन्डरस्टैंडिंग ऑफ ह्यूमन नेचर
अ० मा०	दी अवारिफुल मारिफ
अथर्व० सं०	अथर्व संहिता
अभि० भा०	अभिनव भारती
अभि० द०	अभिनय दर्पण
अप० सा०, अपभ्रंश सा०	अपभ्रंश साहित्य
अ० हि० वै० से०	अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट
अहि० स०, अहि० बु० स०	अहिर्बुध्न्य संहिता
आ० ला० रे० लि० ओ०	आउट लाइन ऑफ रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया
आ० आर० एल० फर्कुहर	
ऑ० इ०	आर्गैनिक इव्होल्युशन
आइ० प० सू०	आइडिया ऑफ परसनालिटी इन सूफिज्म
आ० क० इ०	कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इन्डिया
आ० राष्ट्रकूट	दी आर्ट ऑफ राष्ट्रकूट
आ० इन० एस० मिथ० ट्रा०	दी आर्ट ऑफ इन्डियन एशिया, इट्स माइथौलोजी एन्ड ट्रांसफौरमेशन्स
आ० क्रु० आ०	आर्ट ऑफ क्रिएटिव आनकॉनशस्
आक्स० ले० पो०	आक्सफोर्ड लेक्चरर्स ऑन पोएट्री
आर्के० कौ० अन०	आर्केटाइप ऑफ कौलेक्टिव आनकॉसन्स
ओ० रा०	ओरिजिन ऑफ रागाज्
आर्ट० मो०	आर्ट एन्ड मोरैलिटी
आर्ट० एक्स्पी०	आर्ट एक्सपीरियेन्स
आ० इन० थ्रू० ए०	दी आर्ट ऑफ इन्डिया थ्रू दी एजेज्
आ० चंदेल्स	दी आर्ट ऑफ चंदेल्स
आ० पाल०	दी आर्ट ऑफ पाल्वाज
अग्नि० पु० का० शा० भा०	अग्नि पुराण का काव्य शास्त्रीय भाग

अ० रा०	अध्यात्म रामायण
आ० कथ०	दी आर्ट ऑफ कथकली
आनन्द रा०	आनन्द रामायण
आ० स्व०	आर्ट एण्ड स्वदेशी
ओ० रे० क०	ओब्सक्योर रेलिजस कल्ट
आ० क्रै० इन० सी०	आर्ट्स एन्ड क्रैफ्ट्स ऑफ इंडिया एन्ड सीलोन
इंडियन एन्टीक्वे०	इंडियन एन्टीक्वेरी
इन्ट्रो० ऐस्थे०	ऐन इन्ट्रोडक्शन टू ऐस्थेटिक्स
इन० डाँस	इंडियन डाँस
इन० मेट० स्क०	इंडियन मेटल स्कल्पचर
इन्ट्रो० टु जूलोजी	दी इन्ट्रोडक्शन टू जुलौजी
इन० बु० इ०	ऐन इन्ट्रोडाशन टू बुद्धिस्ट इस्टोरिज्म
इन्ट्रो० इन० आ०	इनट्रोडक्शन टू इन्डियन आर्ट
इन० ता० बु०	एन इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म
इन्ट्रो० सा० मा०	इन्ट्रोडक्शन टू साईन्स ऑफ माइथौलोजी
इम्पीरियल कनौज	दी एज ऑफ इम्पीरियल कनौज
इम० एक्स०, इमेज एक्सी०	इमेज एक्सपीरियेंस
इ० इ० इ० क०	इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इन्डियन कलचर
इव्हो० ऑफ दी व्हर्टिब्रेट्स	इव्होल्युशन ऑफ दी व्हर्टिब्रेट्स
इ० हि० क्वा०	इन्डियन हिस्टोरिकल क्वाटरली
इन० ऐस्थे०	इन्डियन ऐस्थेटिक्स (के० सी० पाण्डेय)
इ० आर० इ०	इन साइक्लोपिडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स
इन० एस० पें०	इन्डियन स्कल्चर ऐन्ड पेंटिंग
इगो० इद०	दी इगो ऐन्ड दी इद
उ० भा० सं० प०	उत्तरी भारत की सन्त परम्परा
ए० अ० वै०	एस्पेक्ट ऑफ वैष्णविज्म
ए० थि० ह्यु० इ०	ए न्यु थियोरी ऑफ ह्युमन इव्हो
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ए० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ०	ऐस्थेटिक्स
ऋ, ऋ० स०	ऋग्वेद
ऋ० सा० भा०	ऋग्वेद, सायण भाष्य

कम्प० ऐस्थे०	कम्परेटिव ऐस्थेटिक्स (के० सी० पाण्डेय)
कठो०	कठोपनिषद्
कल्कि० पु०	कल्कि पुराण
क० ग्रं०	कबीर ग्रंथावली
काव्या०	काव्यादर्श
काव्या० सा० सं०	काव्यालंकार सार संग्रह
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० उ० तत्व	काव्य में उदात्त तत्व
कॉलि० इम०	कॉलिरिज ऑन इमैजिनेशन
क्रि० इव्हो०	क्रिएटिव इव्होल्युशन
क्रि० प्योर० री०	क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन
कृ० लि० प० पें०	दी कृष्ण लिजेंड इन पहाड़ी पेंटिंग
केनो०	केनोपनिषद्
कौ० व०, वै० शै०, कौ, व० भण्डारकर	कौलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भण्डारकर
क्ला० डॉ० कौस० इन०	क्लासिकल डॉसेज ऐन्ड कौस्ट्युम्स ऑफ इन्डिया
गी०	गीता
गी० रहस्य, गी० रह०	गीता रहस्य
गी० शां० भा०	गीता शांकर भाष्य
गी० रा० भा०	गीता रामानुज भाष्य
गु० ग्रं० सा०	गुरु ग्रन्थ साहिब
गुह्य समाज	गुह्य समाज तन्त्र
ग्रूप मा०	ग्रूप माईन्ड
गो० पूर्व ता० उ०	गोपाल पूर्व तापनीयोपनिषद्
गो० ना० प्रा० वा०	गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता
गोरक्ष सि० सं०, गो० सि० सं०	गोरक्ष सिद्धांत संग्रह
ब्रिग्स	गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
चौ० वै० वा०	चौरासी वैष्णवन की वार्ता
छा०, छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
ज० रा० ए० सो० लंदन	जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० रा० ए० सो० बंबई	जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० रा० ए० सो० बंगाल	जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी

ज० बी० ओ० री० सी०	जर्नल ऑफ बिहार एन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जेन० सेल० सिग० फ्रा०, जेन० सेल० ग्रूप साइको, जे० सी० क० सी०	ए जेनरल सेलेक्शन फ्राम दी वर्क्स ऑफ सिगमण्ड फ्रायड
जे० एस० सी० टी० एस०	युंग साइकोलोजी एन्ड इट्स सोशल मिनिंग
ज्याख्य सं०	ज्याख्य संहिता
ट्रा० ने० आ०	ट्रांशफौरमेशन ऑफ नेचर इन टू आर्ट
टू० वज्र० ज्ञानसिद्धि	टू वज्रयान वर्क्स में संकलित ज्ञानसिद्धि
टू साइको०	टू साइकोलोजी
टू० वज्र० प्रज्ञो०	टू वज्रयान वर्क्स में संकलित प्रज्ञोपायविनिश्यसिद्धि
डाँ० शि०	डाँस ऑफ शिव
डाँ० इन०	डाँस ऑफ इन्डिया
डी० सी० मेक० एलि०	डार्क कनसीट मेकिंग ऑफ एलिगरी
त० दी० नि० भा० प्र०	तत्त्वदीप निबन्ध भागवतार्थ प्रकरण
त० दी० नि० भा०	तत्त्वदीप निबन्ध सर्वनिर्णय प्रकरण
त० सू०	तसुफ और सूफीमत
तथागत गु०	तथागत गुह्यक
त० दी० नि० शा० प्र०	तत्त्वदीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण
तिलोय प०	तिलोय पण्णत्ति
तु० ग्रं०	तुलसीदास ग्रन्थावली
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० उ०, तै०	तैत्तिरीयोपनिषद्
ध्रु० ग्रं०	ध्रुवदास ग्रंथावली
दश रू०	दशरूपक
दाद० द० बा०	दादूदयाल की बानी
दी० एज इ० क०	दी एज ऑफ इम्पीरियल कनौज
दो० वा० वै० वा०	दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता
दी० ओ० मैन एन्ड० सुप०	दी ओरिजिन ऑफ मैन ऐन्ड इट्स सुपरिशिच्युसन्स
दी० कन्फे० अलगजाली	दी कन्फेशंस ऑफ अलगजाली

दी० डिक्स० ऑफ बाइ०	दी डिक्सनरी ऑफ बाइलॉजी
दी० रेली० मैन०	दी रेलिजन ऑफ मैन
दी० हेट्रो० शिया०	दी हेट्रोडाक्सिज ऑफ दी शियाइट्स
दो० को० बागची	दोहा कोश, प्रबोध चन्द्र बागची
दो० को० राहुल	दोहा कोश, राहुल सांकृत्यायन
ध० पु०	धर्म पुराण
धर्म पू० वि०	धर्म पूजा विधान
धर्मदास श०	धर्मदास की शब्दावली
न० ग्रं०	नन्ददास ग्रन्थावली
ना० प्र० पत्रिका	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
ना० भ० सू०	नारद भक्ति सूत्र
निकोलसन	ट्रांसलेशन ऑफ इस्टर्न पोएट्री ऐन्ड प्रोज़
न्यु० इ०	न्यु इन्डियन एंटिक्वेरी
न्युथोरी थिऑफ ह्युमन इवो०	न्यु थियोरी ऑफ ह्युमन इव्होल्युशन
पउम च०	पउम चरिउ
पद्म पु०	पद्मपुराण
प० सू० पो०	पञ्जाबी सूफी पोएट्स
परम स०	परम संहिता
पा० सा० इ०	पालि साहित्य का इतिहास
पुरातत्व, पुरा० नि०	पुरातत्व निबन्धावली
पु०	पुराण
प्रति वि०	प्रतिमा विज्ञान
प्रो० ऐस्थे०	प्रोब्लेम्स ऑफ ऐस्थेटिक्स
प्र०, प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषद्
पो० अ० ग्रं०	पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ
प्रि० इ०	प्रिचिंग ऑफ इस्लाम
प्रो० ह्यु० प्ले० बी०	प्रोब्लेम ऑफ ह्युमन प्लेजर एन्ड बिहेव्हियर
फिन० मा०	फिनौमेनॉलोजी ऑफ माइंड
फिल० कॉट, फिल० कॉ० कृ० जज०	दी फिलौसोफी ऑफ कॉट, सम्पा० कर्ल० जे० फ्रेडरिक माईन लाइब्रेरी, १९४९
फिल० आ० हि०	दी फिलौसोफी ऑफ आर्ट हिस्ट्री
फॉ० डाँ० इन०	फॉक डाँस इन इन्डिया
बोधिचर्यावतार, बोधि० च०	बोधिचर्यावतार पंजिका

बौ० गा० दो०	बौद्ध गान ओ दोहा
बौ० इक०	बौद्धिष्ट इकोनोग्राफी
बौद्ध ध० द०	बौद्ध धर्म-दर्शन
बु० च०	बुद्ध चरित
बुद्ध ति०	बुद्धिज्म इन तिब्बत
ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
भविष्य० पु०	भविष्य पुराण
भा० सम्प्रदाय०	भागवत सम्प्रदाय
भारतीय० प्रेमा०, भा० प्रे० का०	भारतीय प्रेमाख्यान काव्य
भा० चि०	भारत की चित्रकला
भा० चि० क०	भारतीय चित्रकला
भ० सं० सि०	भरत का संगीत सिद्धान्त
भा० सं० इति०	भारतीय संगीत का इतिहास
भा० का० शा०	भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा
भ० ना०	भरतनाट्य शास्त्र
भामह	भामह काव्यालंकार सूत्र
भात० सं० शा०	भात खण्डे संगीत शास्त्र
भा० नृ० क०	भारतीय नृत्य कला
प्रा० भा० शा० प०	प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
म० सा० अ०	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद
मराठी सं० वा०	हिन्दी को मराठी सन्तों की देन
मैन मोरलसो०	दी मैन मोरल ऐन्ड सोसाइटी
मलूक बा०	मलूकदास की बानी
महान० उ०	महानारायणोपनिषद्
मनोवि०	मनोविश्लेषण
महा०	महाभारत
महा पु०	महापुराण
महावा०	महावाणी
महा० ता० नि०	महाभारत तात्पर्य निर्णय
म० मू० क०	आर्यमंजुश्रीमूल कल्प
मसनवी	दी मसनवी
मिष्ट०	मिष्टिसिज्म
मेक० एली०	दी मेकिंग ऑफ एलिगरी

मोस० मोने०	मोजेज ऐन्ड मोनेथिज्म
मा० प्राणीकी	माध्यमिक प्राणिकी
म० प० श०	मत्स्येन्द्र पद शतकम्
मानव शा०	मानवशास्त्र
मे० वै० उ०	दी हिस्ट्री ऑफ मेडिव्हल वैष्णवीज्म इन उड़ीसा
माइथो०	माइथौलोजी
मु० उ०	मुंडकोपनिषद्
मांडूक्यो० उ०	मांडूक्योपनिषद्
यजु० वे०	यजुर्वेद
युगल श०	युगल शतक
रजब वा०	सन्त रजब जी की बानी
रा० कल्पद्रुम	रागकल्पद्रुम
राज० पें०	राजपूत पेंटिंग
राधा० स० सि० सा०	राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य
रा० मा०	रामचरित मानस
रा० मा० (काशि०)	रामचरित मानस (काशिराज संस्करण)
राम० सा० म० उ०	रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना
रा० च०	रामचन्द्रिका
रा० हि० र०	रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ
रस० गं०	रसगंगाधर
रे० फि० साइ० रिस०	रेलिजन, फिलॉसोफी ऐण्ड साइक्लि रिसर्च
रे० सा० लाइफ०	रेलिजन एन्ड दी साईन्सेज ऑफ लाइफ
रेलि० ऋ० उप०	रेलिजन ऑफ ऋग्वेद ऐन्ड उपनिषद्स
ल० वि० मूल०	ललित विस्तर मूल
ल० वि० अनु०	ललितविस्तर अंग्रेजी अनुवाद
लं० सू०	लंकावतार सूत्र
ल० भा०	लघु भागवतामृत
ले० ऑन आर्ट	लेक्चर्स ऑन आर्ट
वि० मार्ग	विशुद्धि मार्ग
वे० र० म०	वेदान्त रत्न मंजूषा
वै० मा०, वैदिक माइ०	वैदिक माइथॉलोजी
वि० ध० पु०	विष्णु धर्मोत्तर पुराण
वास्तु० शा०, भा० वा० शा०	भारतीय वास्तु शास्त्र

वि० पु०	विष्णु पुराण
वियोंड प्ले० प्रिं०	वियोंड दी प्लेजर्स प्रिंसपुल
वै० फे० मुवमेंट	वैष्णव फेथ ऐण्ड मुवमेंट
वै० ध० र०	वैष्णव धर्म रत्नाकर
वै० सि० र० सं०	वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह
रोमाबोस	वेदान्त परिजात और वेदान्त कौस्तुभ
संस्कृत सा० इ०	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सद्धर्म पु० मूल	सद्धर्म पुंडरीक मूल
सद्धर्म पु०	सद्धर्म पुंडरीक अनुवाद
सर० कण्ठा०	सरस्वती कण्ठाभरण
स्वयम्भू पु०	बृहत् स्वयम्भू पुराणम्
सं० र०, सं० रत्ना०	संगीत रत्नाकर
सं० शा०	संगीत शास्त्र
सं० द०	संगीत दर्पण
सं० पा०	संगीत पारिजात
सा०	साहित्य
साइको० रस०	साइकोलौजिकल स्टडीज इन रस
साइको० अल०	साइकोलोजी ऐन्ड अलकेमी
सां० मानव शा०	सांस्कृतिक मानवशास्त्र
साइ० रे०	ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी साइकोलॉजी ऑफ रेलिजन
साइको० रे०	साइकॉलोजी एन्ड रेलिजन (युंग)
साइको० टाइप, साइको टा०	साइकॉलौजिकल टाइप
साइको० एन० स्टडी फेमिली० सिम्बो०	साइको एनलिटिक स्टडी ऑफ दी फेमिली सिम्बोलिज्म
सा० वा०	सन्त वाणी अंक
सा० कोश०	साहित्य कोश
साध० मा०	साधनमाला
सा० द०	साहित्य दर्पण
सेको०	सेकोद्देश टीका
सें० बी०, सेंस० बी०	सेंस ऑफ ब्युटी
सू० हि० साहि०	सूफीमत और हिन्दी साहित्य
सू० सा० सा०	सूफीमत साधना और साहित्य

सूरदास मदन मो०	सूरदास मदनमोहन
सि० सि० प०	सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
सि० अ० ह०	सिक्रेट ऑफ अनलहक
स्ट० इस० मि०	स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म
सौन्दर०	सौन्दरनन्द
सौ० त०	सौन्दर्य तत्व
सूर०, सूर० सा०	सूर सागर
सूर० सा०	सूर सारावली
सौ० शा०	सौन्दर्य शास्त्र
सुं० ग्रं०	सुन्दर ग्रन्थावली
सु० व्यूह	सुखावती व्यूह
स्कन्द पु०	स्कन्द पुराण
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शून्य पु०	शून्य पुराण
हरि० पु०	हरिवंश पुराण
हुज्वीरी०	कास्फ अल महबूब
हि० प० लि०	लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ परसिया
हि० सू० क० का०	हिन्दी सूफी कवि और काव्य
हि० का० धारा	हिन्दी काव्य धारा
हि० म० सं० देन	हिन्दी को मराठी सन्तों की देन
हि० ऐस्थे०	हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स
हि० अनु०	हिन्दी अनुशीलन
हिन्दू साइको०	हिन्दू साइकॉलोजी
हि०	हिन्दी
हि० वक्रोक्ति, वक्र० जी०	हिन्दी वक्रोक्ति जीवित

विषय सूची

पीठिका

पहला अध्याय

बौद्ध सिद्ध साहित्य

दूसरा अध्याय

जैन साहित्य

तीसरा अध्याय

नाथ साहित्य

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

संत साहित्य

छठा अध्याय

सूफी साहित्य

सातवाँ अध्याय

पांचरात्र भागवत एवं वैष्णव सम्प्रदाय

आठवाँ अध्याय

अवतारवाद के विविध रूप

नौवाँ अध्याय

चौबीस अवतार

दसवाँ अध्याय

श्री राम

ग्यारहवाँ अध्याय

श्री कृष्ण

मनोविज्ञान के आलोक में अवतारवाद

सौन्दर्य शास्त्र के आलोक में अवतारवाद

उदात्त और अवतार

भारतीय ललित कलाओं में अवतारवाद

पीठिका

पीठिका

भारतीय साहित्य में अवतारवाद का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि मध्य-कालीन साहित्य के मुख्य प्रेरणा-स्रोत रामायण, महाभारत और पुराण ग्रंथ इस विश्वास से प्रभावित कथाओं से भरे पड़े हैं फिर भी यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद ही बना हुआ है कि इस अवतारवाद का आरंभ कहां से हुआ। जिन महाकाव्यों-रामायण और महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है उन्हें आधुनिक इतिहासकार मूल रूप में इनका समर्थन करने में हिचक प्रकट करते हैं। कहा जाता है कि यद्यपि इनके वर्तमान रूप में अवतारवाद का समर्थन मिल जाता है तथापि इनके मूल रूपों में ऐसा कुछ नहीं था जिससे अवतारवाद का समर्थन हो सके। जो लोग ऐसा कहते हैं उनके मन में यह बात बैठी हुई है कि प्राचीनतर वैदिक साहित्य में अवतारवाद का कोई स्थान नहीं था। परन्तु विचार करने से इस धारणा में बहुत अधिक सच्चाई नहीं मिलेगी। फर्कुहर ने महाकाव्यों में अचानक मिल जाने वाली इस प्रवृत्ति में वैदिक उपादानों का समावेश देखकर यह संकेत किया था कि वैदिक साहित्य का, अवतारवादी तत्त्वों की दृष्टि से, पुनर्विवेचन होना चाहिए।[1] इस दृष्टि से अवतारवाद के विकास में योग देने वाले वैदिक उपादानों पर विचार कर लेने की आवश्यकता होती है। इसके पूर्व ही जिस अवतार शब्द से अवतारवाद का निर्माण हुआ है उसके प्रयोग और परिभाषा की सीमा भी विचारणीय है।

अवतार और अवतारवाद

अवतार शब्द के प्रयोग और अर्थः-

वैदिक साहित्य में अवतार शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु 'अवतृ' से बनने वाले 'अवतारी' और 'अवतर' शब्दों के प्रयोग संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलते हैं। ऋ० ६, २५, २ में 'अवतारी' शब्द का प्रयोग हुआ है। सायण के अनुसार इस मंत्र का अर्थ है हे इन्द्र ! तू इन मेरी स्तुतियों से शत्रु-सेनाओं की हिंसा करती हुई मेरी सेना की रक्षा करता हुआ शत्रु के कोप को नष्ट कर दो और इन स्तुतियों से ही यज्ञादि कर्म के लिए पूजन करने वालों के अन्तराय, विघ्न या संकट से पार करो।[2] सायण ने दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'अवतारी' का तात्पर्य 'अन्तराय,' 'विघ्न' या 'संकट' से लिया है। 'जो यज्ञादि

---

१. आ० ला० रि० लि० फर्कुहर पृ० ८७।

२. ऋ० ३, २५, २

'अभिः स्पृधो मिथतीररिषण्यन्न मित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र।
अभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरायार्थ विशोऽवतारीर्दासीः।

कर्म के लिए पूजन करने वालों को अंतराय से पार करो'[१] में स्पष्ट है। अर्थ के अनुसार विष्णु के परवर्ती अवतार-कार्य से इस शब्द का कुछ साम्य दीख पड़ता है। क्योंकि विष्णु का अवतार भी संकट से मुक्त करने के लिए होता रहा है। अतः इस शब्द के भावार्थ के अनुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्र जिस प्रकार यज्ञादि कर्म करने वाले याजमानों का विघ्न नष्ट करता रहा है बाद में विष्णु को यह कार्य मिला सम्भवतः इसी से उनके मानवरूप को अवतार कहा गया।

अवतारी के अनन्तर 'अवतृ' से ही बनने वाला एक दूसरा शब्द 'अवत्तर' अथर्व १८, ३, ५ में मिलता है।[२] सायण के अनुसार 'अत्यन्त रक्षण में समर्थ जिसमें सारभूत अंश हो वही अवत्तर कहा जाता है।[३] इस मंत्र का भाष्य करने के उपरान्त सायण ने पुनः 'अवत्तर' शब्द के निर्माण पर विचार किया है। उनके मतानुसार रक्षणार्थक 'अव' धातु से लट के स्थान में शतृ आदेश करके उससे प्रकर्ष अर्थ में 'तर्प' प्रत्यय से यह शब्द बना है।[४] सायण की इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अवत्तर' में रक्षा का भाव विद्यमान है। अवतारवाद के मुख्य प्रयोजनों में रक्षा का भी स्थान रहा है। इस विचार से 'अवत्तर' का भावार्थ अवतारवाद की सीमा से परे नहीं है। फिर भी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सायण चौदहवीं शताब्दी में हुए थे और मध्यकालीन अवतारवाद से भी वे अवश्य ही परिचित होंगे।

'अवतर' शब्द का पुनः प्रयोग शुक्ल यजुर्वेद में हुआ है।[५] इस मंत्र में प्रयुक्त 'अवतर' प्रायः उतरने के अर्थ में गृहीत हुआ है। अंग्रेजी टीकाकार गृफिथ ने सम्भवतः अवतर के ही अर्थ में अंग्रेजी 'Descend' शब्द का प्रयोग

---

१. ऋ० ६, २५, २ सा० भा०

'यज्ञादि कर्मकृते यजमानायावतारीः विनाशय।'

२. अथर्व १८, ३, ५

उपद्याम वेतसम् अवतऽतरः नदीनाम्।

अग्ने पित्तम अयाम असि।

३. अथर्व १८, ३, ५ सा० भा०

'अवत्तरः अतिशयेन अपन् रक्षणसमर्थः सारभूतांशो विद्यते'।

४. अथर्व १८।३।५ सा० भा०

अवत्तर इति। अव रक्षणे इत्यास्मात् लट शत्रादेशः।

ततः प्रकर्षार्थो तरप्।

५. यजु० १७, ६

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरा गहि सेमं नो यज्ञं पावक वर्णꣳशिवं कृधि॥

किया है।[1] अवतारवादी साहित्य में अवतार का अर्थ उतरना भी किया जाता रहा है।

इस अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन या आधुनिक भाष्यकारों अथवा टीकाकारों के अनुसार 'अवतारी,' 'अवत्तर' और 'अवतर' के अवतारपरक अर्थ किए जा सकते हैं। परन्तु इनके प्रयोग मात्र पर ध्यान जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वैदिक काल के व्यापक या अधिक प्रचलित शब्दों में से नहीं थे।

ब्राह्मण

ब्राह्मणों में भी अवतार शब्द का अस्तित्व विरल जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ८, ३, ३ में 'अवतारी' का प्रयोग हुआ है। किन्तु मंत्र वही है जो ऋ० ६, २५, २ में मिलता है। इसलिए 'अवतारी' शब्द के विशेष अर्थ वैषम्य की सम्भावना नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ९, १, २, २७ तथा मैत्रायणी संहिता २, १०, १ में यजुर्वेदीय मंत्र में प्रयुक्त अवतर मंत्र के साथ ही उद्धृत हुआ है। अतः यहां भी 'अवतर' का अर्थ वही मानां जा सकता है।

पाणिनि

संहिताओं और ब्राह्मणों के अनन्तर पाणिनि की अष्टाध्यायी ३, ३, १२० में 'अवेतृस्त्रोर्घञ' सूत्र मिलता है। यहां 'अवतृ' से निर्मित होने वाले अवतारी, अवत्तर या अवतर की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु 'अवतार' और अवस्तार' का उल्लेख हुआ है।[2] पाणिनि ने अवतार को 'अवतारः कूपादेः' के रूप में उदाहृत किया है। यहां अवतार का अर्थ कुयें में उतरने के अर्थ में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि काल में 'अवतार' का प्रयोग उतरने के अर्थ में होता रहा है। इतिहासकारों के अनुसार पाणिनि का काल ई० सन् के ७०० वर्ष पूर्व माना जाता है।[3] फलतः ई० सन् के ७०० पूर्व तक 'अवतार' शब्द का अस्तित्व मिलता है जिसका प्रयोग उतरने के अर्थ में होता रहा है। बाद के पतंजलि एवं अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र की विशेष व्याख्या नहीं की है। मध्यवर्ती वैयाकरणों में वामनजयादित्य ने काशिका में तथा अन्नम्भट्ट ने

---

१. यजु० १७, ६ गृफिथ अनु०
'Descend upon the earth, the read, rivers;
Thou art the gall, O Agni of the waters.

२. अष्टाध्यायी ३, ३, १२० अंवतृस्त्रोर्घञ' अवतारः कूपदिः, अवस्तारो जवनिका।

३. संस्कृत सा० इ०। बलदेव उपाध्याय सं० २०१२। पृ० १३४।

मिताक्षरा में आलोच्य पाणिनीय सूत्र की किंचित विस्तृत व्याख्या की है।[1] किन्तु इन वैयाकरणों की व्याख्या से 'अवतार' शब्द का कोई नवीन अर्थ नहीं निकलता। क्योंकि पाणिनि का ही 'अवतारः कूपादेः' पुनः पुनः उदाहृत होता रहा है।

परन्तु हिन्दी विश्वकोशकार श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने अवतार शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनीय सूत्र के आधार पर बतलाते हुए इस शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। इनके अनुसार ऊपर से नीचे आना, उतरना, पार होना, शरीर धारण करना, जन्म ग्रहण करना, प्रतिकृति, नकल, प्रादुर्भाव, अवतरण और अंशोद्भव के लिए अवतार शब्द का प्रयोग होता रहा है।[2] 'अवतार' के स्थान में भी पर्याय के रूप में इन शब्दों का प्रयोग लक्षित होता है।

महाकाव्य काल

गीता में जहां अवतारवाद के सैद्धान्तिक स्वरूप की चर्चा हुई है, वहाँ अवतार की अपेक्षा संभव, आत्मसृजन और दिव्य जन्म का प्रयोग हुआ है।[3] वाल्मीकि रामायण में मनुष्य शरीर धारण और महाभारत के प्राचीन कहे जाने वाले अंश नारायणोपाख्यान ३३५। २ में 'जन्म कृतं' ३३५, १९, ३० और ३३९।५१ में 'निःसृत', ३३९।१४ में 'जाता', ३४५।१२ में, 'रूपमास्थित' और ३३९।६४ में 'प्रादुर्भाव' का प्रयोग हुआ है।[4] उक्त सभी प्रयोगों में 'प्रादुर्भाव' अधिक विचारणीय है। इसके प्रसंग में श्वेतद्वीपवासी नारायण नारद से अपने अवतार के निमित्त 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस आधार पर अवतारवाद के द्योतक शब्दों में 'प्रादुर्भाव' अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। क्योंकि केनोपनिषद् में भी यक्ष के प्रकट होने के अर्थ में 'प्रादुर्भाव' का प्रयोग हुआ है।[5] प्रादुर्भाव के अतिरिक्त महानारायणोपनिषद् २, १ में ब्रह्म का जन्म सूचित करने के लिए 'विजायमानः' शब्द व्यवहृत हुआ है। इस उपनिषद् के 'विजायमान' का प्रयोग भी अधिक प्राचीनतर ज्ञात होता है। शुक्ल यजुर्वेद के ३१।१९ में प्रयुक्त 'अजायमानो बहुधा विजायते' से इसकी परिपुष्टि होती है।

उपर्युक्त शब्दों के अनन्तर आश्मरथ्य, नाम के एक प्राचीन ऋषि ने सम्भवतः आविर्भाव के अर्थ में 'अभिव्यक्ति' शब्द का व्यवहार किया है।[6]

---

१. काशिका। तीसरा सन् १९२८। बनारस पृ० २४१ अन्नम्भट्ट की मिताक्षरा पा० स० ३, ३, १२०, द्रष्टव्य।

२. हिन्दी विश्वकोश जी० २ पृ० १७९। ३. गीता ४।६–९।

४. वा० रा० १, १६, ३ और महा० १२, ३३५, ३३९, ३ अध्याय। ५. केन० ३, २।

६. महाः १२, २८, ५ में एक अश्मक ऋषि का दार्शनिक जनक के साथ उल्लेख हुआ है। फिर भी यह कहना कठिन है कि दोनों एक ही हैं या भिन्न-भिन्न।

इसका उल्लेख बादरायण ने ब्रह्मसूत्र १, २, २९ में किया है। अतएव प्राचीन अवतारवाद के ज्ञापक शब्दों में 'अभिव्यक्ति' का महत्त्व भी स्वीकार्य है।

पुराण

कालान्तर में विष्णु पुराण के काल तक 'अवतीर्ण' या 'अवतार' शब्द विष्णु की उत्पत्ति या जन्म बोधक शब्द के रूप में प्रचलित हो चुके थे।[1] श्रीमद्भागवत में अवतार शब्द के साथ-साथ 'सृजन' और 'जायमान' का भी व्यवहार हुआ है।[2] भागवतकार ने प्राचीन और परवर्ती दोनों प्रयोगों को ग्रहण किया है।

यदि विवेच्य शब्दों के क्रमिक प्रयोग का अध्ययन किया जाय तो सैद्धान्तिक अवतारवाद के विकास में क्रमशः विजायमान, प्रादुर्भाव, अभिव्यक्ति के पश्चात् ही 'अवतार' का स्थान माना जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक अवतारवाद के द्योतक 'अवतार' के पूर्ववर्ती कतिपय शब्द प्रचलित रहे हैं।

मध्यकालीन साहित्य में 'अवतार' शब्द ही केवल अवतारवाद का बोधक नहीं रहा है अपितु पूर्ववर्ती प्रयोगों की भाँति इस युग में भी उसके नये-नये पर्याय दीख पड़ते हैं। स्वयं अवतार शब्द का कहीं अर्थ संकोच और कहीं अर्थ विस्तार होता रहा है। इस युग में बौद्ध, जैन, नाथ, संत और सूफी इन पाँच सम्प्रदायों को अवतारवादी नहीं कहा जाता, फिर भी इनके साहित्य में अवतारवादी तत्वों के साथ-साथ 'अवतार' और उसके पर्यायवाची शब्द मिलते हैं।

बौद्ध

बौद्ध साहित्य के विख्यात महायानी ग्रंथ 'सद्धर्म पुंडरीक' में क्रमशः अवतीर्य, अवतारिता, के अतिरिक्त अवतारबोधक जातः, उत्पन्न, प्रादुर्भाव शब्द व्यवहृत हुए हैं।[3] इनमें 'प्रादुर्भाव' शब्द सर्वाधिक प्रचलित रहा है। तथागत गुह्यक में निर्माण और निष्क्रान्त, कायधारण तथा अवतारण जैसे अवतारसूचक शब्द मिलते हैं।[4] 'मंजु श्रीमूल कल्प' में 'अवतारयेत्', अवतारार्थ के अतिरिक्त समागत और आविष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है।[5] इनकी परम्परा में मान्य सिद्ध साहित्य में भी अवतार और उसके पर्याय मिलते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' में 'अवतरित, निर्माणकाय, जायते प्रभृति प्रयुक्त हुए हैं।[6] इनमें

---

१. वि० पु० ५, १, ६० ।   २. भा: १, ३, ५ सृजन, १०, ३, ८ जयमान।

३. सद्धर्म पु० क्रमशः पृ० १३६, ३०१, १२८, १२५, २४०।

४. तथागत गुह्यक क्रमशः पृ० २, ५९, १२८।

५. मंजुश्रीमूलकल्प क्रमशः पृ० ५०२, २०२, २१६, २३६–२३७।

६. बौद्धगान ओ दोहा क्रमशः पृ० ११२, ९१, ९३।

निर्माणकाय बौद्ध अवतारवाद के अनुसार अवतारवादी काय है। बागची के दोहाकोश में 'विशिष्टं निर्माणकायो च जायते' जैसे प्रयोग मिलते हैं। इसी ग्रंथ में एक णि अ-पहुधर-वेस 'निज-प्रभुधर-वेश' का व्यवहार हुआ है।[१] राहुल जी द्वारा सम्पादित दोहाकोश में 'बोधिसत्त्व अकम्पित अवतरे', काय धारण और 'सगुण पहसे' जैसे अवतारवादी प्रयोग मिलते हैं।[२] इससे सिद्ध हो जाता है कि सिद्ध साहित्य में बौद्ध अवतारवाद से सम्बद्ध कतिपय अवतारवादी शब्दों का प्रयोग होता था।

जैन

जैन साहित्य में अवतारवाद के ज्ञापक प्रायः 'अवतार' शब्द से ही रूपान्तरित शब्दों के अपभ्रंश रूप प्रचलित रहे हैं। इनमें ओयरेवि, अवइण्णु, अवयरिउ, अवयरेवि तथा हरिवंश पुराण में 'पयंड गउ' (प्रकट शरीरा) प्रयोग में दीख पड़ते हैं।[३] उक्त सभी शब्दों का व्यवहार जन्म या अवतार सम्बन्धी पौराणिक अर्थों में ही विशेष रूप से होता रहा है।

नाथ

नाथ साहित्य में अवतार शब्द का प्रयोग अवतारों की आलोचना या भर्त्सना के प्रसंग में हुआ है। उदाहरण के लिए 'बिस्न दस अवतार थाप्यां', या 'दस अवतार औतिरीया' का उल्लेख पूर्व मध्यकालीन युग में प्रचलित दशावतार की आलोचना के क्रम में हुआ है।[४] नाथ सिद्धों की बानियों में पुनर्जन्म के अर्थ में 'अवतार' शब्द का अधिक प्रयोग मिलता है। 'ग्रामें गदहा रोमें सूकर फिरि फिरि ले अवतार', 'न मरे जोगी न ले अवतार', 'प्रिथीनाथ ते मरि औतरे'[५] में अवतार जन्म की अपेक्षा पुनर्जन्म का ज्ञापक दीख पड़ता है।

संत

अवतार शब्द के प्रयोग की दृष्टि से संत पूर्ववर्ती सिद्धों की परम्परा में रहे हैं। परन्तु जन्म या पुनर्जन्म के अतिरिक्त इन्होंने पौराणिक अवतारों के लिए भी 'अवतार' शब्द का व्यवहार किया है। कबीरदास के एक पद में 'प्राकट्य' के अर्थ में 'निकसै' का प्रयोग हुआ है।[६] पर कबीर और दादू दोनों ने 'अव-

१. दोहाकोश। बागची। पृ० ९४, ९६, १५९।

२. दोहाकोश। राहुलजी। क्रमशः पृ० २३७, २९९, ३३।

३. पउमचरिउ। स्वयम्भू। क्रमशः। १, ८, १।, १, १६, ५।, ३, ९, १।, ९, १३, ६। हरि० पु०। ९२, ३।

४. गोरख बानी क्रमशः पृ० ६७ और १५५।

५. नाथ सिद्धों की बानियां, क्रमशः पृ० ३०, ५४, ७५।

६. क० ग्रं० पृ० ३०७ 'प्रभु थंम ते निकसे कै विस्तार'।

तार' का प्रयोग प्रायः पुनर्जन्म या दुर्लभ मनुष्य जन्म के लिए किया है।[1] मराठी संतों में नामदेव ने अवतार के अर्थ में 'देह धरिउ', बहिणाबाई ने 'प्रगट भयो' केशव स्वामी ने 'भयो सगुण' का व्यवहार किया है।[2] संत रैदास ने 'दुर्लभ मनुष्य जन्म', गुरु अर्जुन ने 'पौराणिक अवतार', मलूक दास ने 'भक्त जन्म' रज्जब ने आत्मा के आविर्भाव की अभिव्यक्ति 'अवतार' शब्द के प्रयोग द्वारा की है।[3]

इस प्रकार संत साहित्य में अवतार पौराणिक अवतारों के सम्बोधन के अतिरिक्त जन्म, पुनर्जन्म, मनुष्य तथा भक्त जन्म के लिये प्रयुक्त हुआ है। साथ ही पौराणिक अवतारवाद के सूचक शब्दों एवं पदों में देहधारण, प्राकट्य और सगुण का व्यवहार किया गया है।

सूफी

सूफी कवियों में 'अवतार' और निर्माण शब्द अधिक व्यवहृत होते रहे हैं। यों 'अवतार' शब्द तो जन्म और भारतीय अवतारों का परिचायक रहा है। किंतु निर्माण शब्द सूफी अवतारवाद का द्योतक होने के कारण पारिभाषिक महत्त्व रखता है। क्योंकि 'हुलूल' शब्द में अवतारवादी जन्म की भावना अन्तर्निहित है, इसलिए इस्लामी देशों में मरदूद ठहरा कर इसका घोर विरोध होता रहा है। अतः अवतारवाचक'हुलूल' के स्थान में 'निःसृत', 'सृजन' और 'निर्माण' बोधक शब्दों का अधिक प्रचार हुआ। जायसी ने भी पद्मावत के प्रारम्भ में 'कीन्हेसि' का अधिक प्रयोग किया है। यहां कीन्हेंसि में सृष्टि अवतार का व्यापक अर्थ अंतर्निहित विदित होता है। इसी से 'कीन्हेसि बरन बरन औतारु' में प्रयुक्त 'औतारू' का तात्पर्य विविध प्राणियों के आविर्भाव या जन्म से रहा है।[4] जायसी के पूर्ववर्ती कवि मंझन ने भी जन्म के ही अर्थ में 'अवतार' शब्द का प्रयोग किया है।[5] जायसी ने आदम-अवतार के लिए अवतार शब्द भी

१. क० ग्रं० पृ० १८८ 'मानिख जनम अवतारा' नां है हैं बारंबार' और दा० द० वा० पृ० १५१ और १८८।

२. मराठी सं० बा० पृ० २५४ नरसिंघ रूप होई देह धरिऊ
पृ० ३४९ बहिनी कहे हरि प्रकट भयो है
पृ० ३६५ 'भगत काज भयो सगुण मुरारी'।

३. संत रविदास और उनका काव्य पृ० १६३ 'मानुषावतार दुर्लभ'
गु० ग्रं० स० पृ० 'कोटि बिसन कीने अवतार'
मलूक० वा० पृ० ३५ सा० ३२ 'मलूक सो माता सुंदरी जहाँ भक्त औतार'
रज्जब० वा० 'आतम ले अवतार'

४. जा० ग्रं० पद्मावत। शुक्ल। पृ० १।

५. मधुमालती। मंझन। पृ० ११० 'नाउ मोर मधुमालती, राजा ग्रिह औतार' और पृ० ११४।

ग्रहण किया है।[१] परन्तु यहां अवतार अभिव्यक्ति या प्राकट्य का सूचक है।

अतएव सूफी साहित्य में अवतार शब्द का प्रयोग मुख्यतः जन्म के अर्थ में ही प्रायः होता रहा है, फिर भी निस्सारण, सृजन, निर्माण आदि पर्याय सूफी अवतारवाद के द्योतक रहे हैं।

सगुण साहित्य

सगुण भक्ति साहित्य यों तो मुख्य रूप से अवतारवादी साहित्य है। किंतु मध्यकालीन कवियों और वार्त्ताकारों में अवतार की अपेक्षा 'प्राकट्य' अधिक प्रचलित रहा है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'अवतार' का प्रयोग परम्परागत अर्थ में किया है।[२] साथ ही 'प्राकट्य' और 'नर-तन-धारण' सूचक पद इनकी रचनाओं में अधिक मिलते हैं।[3] रूप की उपासना करने वाले अग्रदास और नाभा दास ने सम्भवतः अर्चावतार रूप के द्योतक 'रूप' शब्द का व्यवहार राम या अन्य पौराणिक अवतारों के लिए किया है।[४]

कृष्ण भक्ति साहित्य के कवियों में सूरदास ने अवतार के अर्थ में प्रायः 'प्रगट' का व्यवहार किया है।[५] चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि सूरदास मदनमोहन के पदों में भी अवतार के लिए सामान्यतः 'प्रगट' का प्रयोग हुआ है।[६] इस प्रकार कृष्ण भक्त कवियों में 'प्राकट्य' या 'प्राकट्य' बोधक शब्दों का अधिक प्रयोग होता रहा है। इन कवियों में मीरा बाई ने अवतार या प्राकट्य के स्थान में 'पधारना', जन्म लेना, उतरना आदि क्रिया पदों का अधिक प्रयोग किया है।[७] फिर भी कृष्णभक्ति साहित्य में 'प्राकट्य' का सर्वाधिक प्राधान्य रहा है। विशेषकर 'प्राकट्य' अवतार की अभिव्यक्ति के लिए वार्त्ता ग्रंथों का लोकप्रिय शब्द रहा है।

इस प्रकार 'अवतार' शब्द के स्वरूप और प्रयोग-विवेचन से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में 'अवतार' का प्रयोग उतरने के अर्थ में होता था। कालान्तर में

---

१. २. तु० ग्रं० पृ० ११९, ४६४।

३. ग्रं० पृ० १६८ 'प्रगटे नर केहरि खंभ महां'
पृ० ९ 'नर-तन-धरेउ'
रा० च० मा० पृ० ३०-३१।

४. राम० सा० म० उ० पृ० १९२ 'रूप सच्चिदानन्द बाम दिशि जनक कुमारी' और भक्तमाल पृ० ४७ 'चौबीस रूप लीला रुचिर'।

५. सूर सारावली पृ० २ 'अपने आप हरि प्रकट कियौ हैं, हरी पुरुष अवतार'

६. सूरदास मदन मो० पृ० ३३ 'जा हित प्रगट भए ब्रजभूषन'

७. मीरा बृ० पद सं० पृ० १२६ 'जब जब भीड़ पड़ी भक्तन पर आप ही कृष्ण पधारे'
पृ० १३२ 'मीरा को गिरधारी मिल्या जनम जनम अवतार'
पृ० १३६ 'म्हांरी नगरी में उतर्यो आइ'

विष्णु के जन्म, प्रादुर्भाव एवं अंशोद्भव से इसका सम्बन्ध हुआ। अवतारविरोधी सम्प्रदायों में अवतार शब्द का तात्पर्य पौराणिक अवतारों के अनन्तर या मनुष्य के सामान्य जन्म के अर्थ में प्रचलित हुआ। अवतारवाद से सम्बन्धित इसके पर्याय के रूप में प्रादुर्भाव, निर्माण, सृजन, सगुण रूप, कायधारण, नर-तन-धारण और प्राकट्य आलोच्य साहित्य में विशेष रूप से प्रचलित हुए।

अवतारवाद की सीमा

जहां तक अवतार और उसके पर्यायवाची शब्दों का अवतारवाद से सम्बन्ध है, वहां निश्चय ही अवतार शब्द सामान्य उत्पत्ति या जन्म के अर्थ में नहीं लिया जाता। अतः विष्णु या अजन्मा ईश्वर के जन्म या उत्पत्ति के सिद्धान्त को ही अवतारवाद कहा जाता रहा है। आलोच्यकाल में इसका सम्बन्ध मध्यकालीन उपास्यों या इष्टदेवों के साथ स्थापित किया गया। फिर भी इनका यह जन्म या प्रादुर्भाव निष्प्रयोजन या अनायास नहीं था बल्कि, रक्षा, वरदान, संहार, जन-कल्याण, ज्ञान, योग और भक्ति का प्रसार तथा लीला और रस की अभिव्यक्ति आदि प्रयोजन भी इसके साथ ही समाविष्ट रहे हैं। फलतः संक्षेप में अवतारवाद विष्णु या अन्य उपास्यों के हेतु युक्त जन्म का परिचायक है।

अवतारवाद की पूर्व पीठिका

वैदिक साहित्य

प्रारम्भिक अवतारवाद का सम्बन्ध मुख्य रूप से विष्णु से ही समझा जाता रहा है, पर जहां तक विष्णु के प्रयोजन सहित जन्म लेने का प्रश्न है वह वैदिक साहित्य में विरल है। फिर भी जिन उपादानों से महाकाव्य एवं पौराणिक विष्णु तथा उनके अवतारों का विकास हुआ है, उनमें से अधिकांश का विष्णु की अपेक्षा इन्द्र और प्रजापति से अधिक सम्बन्ध रहा है। कालान्तर में सर्वश्रेष्ठ होने पर उन सभी को विष्णु पर आरोपित किया गया।

वैदिक विष्णु अपने प्रारम्भिक रूप में अन्य देवों के समान एक देवता मात्र हैं। फिर भी उनमें कुछ ऐसी विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं जिनसे वे महान् या सर्वश्रेष्ठ बने होंगे। अवतारवाद के प्रमुख प्रयोजनों में रक्षा या असुरों से युद्ध के निमित्त जिस बल एवं पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है वह वैदिक विष्णु में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उन्होंने तीन पग से इस जगत की परिक्रमा की है जिससे सारा जगत उनके पैरों की धूलि से

छिप जाता है।[1] वे जगत के रक्षक हैं, उनको आघात करने वाला कोई नहीं है। इन ऋचाओं में उन्हें समस्त धर्मों को धारण करने वाला भी कहा गया है।[2] विष्णु के कार्यों के बल पर ही यजमान् अपने व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। इसी मंत्र में वे इन्द्र के उपयुक्त सखा बतलाए गये हैं।[3] कीथ के अनुसार विष्णु इन्द्र के मित्र और वृत्रवध के सहायक हैं।[4] ऋ० १, २२, २० और २१ में उनके परम पद की भी चर्चा की गई है। ऋ० ७, ९९, १ में विष्णु धेनु या सुन्दर गौ वाली पृथ्वी के धारक बतलाए गये हैं। ऋ० १, १५५, ६ के अनुसार इन्होंने काल के ९४ अंशों को चक्र के समान परिचालित कर रखा है। वे नित्य तरुण और कुमार हैं। वे युद्ध में आह्वान करने पर जाते हैं। इसी मंत्र में 'बृहच्छरीरों' अर्थात् बृहत् शरीर भी उन्हें कहा गया है। तीन पादक्षेप से तीनों लोक मापने के कारण संसार उनकी स्तुति करता है। इसी सूक्त के दूसरे मंत्र में उनके पराक्रम को सिंह के सदृश कहा गया है।[5] हिन्दी टीकाकारों के अनुसार स्तोतास्वामी, पालक, शत्रु रहित तरुण विष्णु के पौरुष की स्तुति करते हैं।[6] ऋ० ७, ४०, ५ देवता विष्णु के अंश बतलाए गए हैं। तथा ऋ० ७, १००, १, २ में विष्णु मनुष्यों के हितैषी एवं सेव्य हैं। वे सभी के मनोरथदाता और हितकारी हैं। इस सूक्त के मंत्र में कहा गया है कि पृथ्वी को मनुष्य निवास के लिये देने की इच्छा करके सुजन्मा विष्णु ने पृथ्वी का पदक्रमण किया था और विस्तृत निवास स्थान बनाया था।[7] वे युद्ध में अनेक प्रकार के रूप धारण करने वाले हैं।[8] 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार विष्णु अपने तीन पद विक्षेप के द्वारा सभी देवों की शक्ति प्राप्त कर श्रेष्ठ बन जाते हैं।[9] 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार तीन पद से वामन रूप धर कर वे तीनों लोक जीत लेते हैं।[10]

अतः विष्णु के उक्त रूपों से स्पष्ट है कि विष्णु इन्द्र-सखा, बल-विक्रम से युक्त मनुष्य के हितैषी, पृथ्वी को पादाक्षेप से जीतनेवाले तथा उसके धारणकर्ता हैं। ये सभी देवताओं की शक्ति से युक्त होने के कारण उनमें श्रेष्ठ हो जाते हैं।

अवतारवादी उपादानों की दृष्टि से इनमें वामन और नृसिंहावतार के मूल रूप का अनुमान किया जा सकता है।

---

१. ऋ० १, २२, १६। २. ऋ० १, २२, १८। ३. ऋ० १, २८, १९
४. रे० फी० ऋ० उ० कीथ० पृ० १०९। ५. १, १५४, २ और ४।
६. ऋ० १, १५५, ४ राम गोविन्द तिवारी का हिन्दी ऋग्वेद द्रष्टव्य।
७. ऋ० ७, १००, ४ ८. ऋ० ७, १००, ६।
९. श० ब्रा० १, ९, ३९। १०. तै० सं० ११, १, ३, १।

इसके अतिरिक्त पौराणिक अवतारवादी रूपों के विकास में सहायक इन्द्र, प्रजापति आदि तत्कालीन श्रेष्ठ देवों से सम्बद्ध अन्य कतिपय उपादान भी उल्लेखनीय हैं।

पुराणों में भूभार हरण को अवतारवाद के प्रमुख प्रयोजनों में माना गया है। प्रायः देवता और इन्द्र असुरों से पृथ्वी की रक्षा के निमित्त एकेश्वरवादी विष्णु से सहायता लेते हैं। अथर्व संहिता के पृथ्वी सूक्त के तीन मंत्रों से उक्त प्रयोजन के मूल रूपों का आभास मिलता है। अथर्व ११, १, ७ के अनुसार शयन न करने वाले देवता सदैव सावधानी से पृथ्वी की रक्षा करते हैं। अथर्व १२, १, १० के अनुसार अश्विनीकुमारों द्वारा निर्मित पृथ्वी पर विष्णु ने विक्रमण किया है और इन्द्र ने इसको शत्रु रहित करके अपने वश में किया था। यहां देवता, इन्द्र तथा विष्णु से उन्हीं सम्बन्धों का भान होता है जिनका पुराणों में एकेश्वरवादी विष्णु के अवतारों से रहा है। अथर्व १२, १, ४८ में कहा गया है कि शत्रु को भी धारण करनेवाली, पाप पुण्य से युक्त शव को सहनेवाली, बड़े बड़े पदार्थों को धारण करने वाली और वराह जिसको खोज रहे थे वह पृथ्वी वराह को प्राप्त हुई थी। यहां विष्णु के वराहावतार से जिस पृथ्वी का सम्बन्ध है उसका संकेत मिलता है।

इस प्रकार विष्णु के अवतारवादी रूपों में जिन मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन प्रभृति रूपों को सम्बद्ध किया गया है उनमें नृसिंह और वामन के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म और वराह के जो आख्यान 'तैत्तिरीय संहिता' एवं ब्राह्मणों में मिलते हैं उनका सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से है। 'महाभारत' एवं 'विष्णु पुराण' तक इन तीनों का सम्बन्ध प्रजापति से ही मिलता रहा है।[1] विष्णु के देवाधिदेव होने पर कालान्तर में उन्हें विष्णु का अवतार माना गया।

इसी प्रकार वैदिक इन्द्र से भी सम्बद्ध कतिपय अवतारवादी उपादानों का आरोप बाद में चलकर विष्णु पर किया गया है। विशेषकर अवतारवाद का सम्बन्ध जहां माया से उत्पन्न होने या विविध रूप धारण करने से है वहां इस प्रवृत्ति का विशेष सम्बन्ध सर्वप्रथम वैदिक इन्द्र से लक्षित होता है। ऋ० ६, ४७, १८ के एक मंत्र में इन्द्र के माया द्वारा रूप ग्रहण करने की चर्चा हुई है। बृ० उ० २, ५, १९ में पुनः उसका उल्लेख हुआ है।[2]

---

१. चौबीस अवतार में इन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

२. बृ० ६, ४७, १८ इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप इयति।

उपनिषद्

किन्तु उत्पत्ति सूचक अवतारवाद की प्रवृत्ति का दर्शन सर्वप्रथम यजुर्वेद में प्रयुक्त 'पुरुष सूक्त' के एक मंत्र में दृष्टिगत होता है। वहां पुरुष को अजन्मा होते हुए भी जन्म लेने वाला बतलाया गया है।[1] 'महानारायणोपनिषद्' में इस प्रवृत्ति का और विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुये उसे अतीत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों में जन्म लेनेवाला कहा गया है।[2]

यक्ष अवतार

'केनोपनिषद्' के एक स्थान में सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के यक्ष रूप में प्रकट होने का प्रसंग आया है।[3] इससे विदित होता है कि वैदिक काल में अवतार-वाद के मूल प्रेरक उपादान अवश्य विद्यमान थे। यहां यक्ष कथा के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उसमें प्रारम्भिक अवतारवाद के तत्त्व उपलब्ध हैं। विष्णु जिस प्रकार प्रारम्भिक अवतारवाद में देवताओं का पक्ष लेनेवाले ईश्वर हैं, उसी प्रकार केनोपनिषद् का ब्रह्म भी देवपक्षीय ब्रह्म हैं। क्योंकि 'केनोपनिषद्' ३, १ में कहा गया है कि ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की थी। उस ब्रह्म की विजय से देवता गौरवान्वित हुए थे। उनके मन में विजय का अभिमान हो गया था। इसी से 'केनोपनिषद्' ३, २ के अनुसार ब्रह्म देवताओं के मन का अभिमान नष्ट करने के लिए प्रादुर्भूत होता है।

सम्भवतः यक्ष कथा के अवतारवादी रूप को देखकर ही कुछ इतिहासकारों ने इस उपनिषद् को परवर्ती समझा है। परन्तु यक्ष कथा या यक्ष अवतार 'केनोपनिषद्' के लिए नया नहीं है, अपितु 'बृहदारण्यक' ५, ४, १ में यक्ष का उल्लेख हुआ है। वहां यक्ष को प्रथम उत्पन्न सत्य ब्रह्म कहा गया है।[4] प्रस्तुत यक्ष ब्रह्म के सत्य कहे जाने से यह भी स्पष्ट विदित होता है कि उपनिषद काल में ही आविर्भूत ब्रह्म या देवाधिदेव को सत्य ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की गई थी। कालान्तर में विष्णु या मध्यकालीन उपास्यों के आविर्भूत रूप को इसी परम्परा में सत्य माना गया।

अवतारवाद की पुष्टि में यक्ष कथा से दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह

---

१. यजु० ३१, १९ अजायमानो बहुधा विजायते।

२. एषहि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो हि जातः स उ गर्भेअन्तः।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यंङ्मुखस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।
महाना उ० २, १।

३. केनो० ३, २।

४. बृ० उ० ५, ४, १ 'यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति'।

निकलता है कि विष्णु-सखा इन्द्र उत्तरोत्तर लघुतर तथा विष्णु की सहायता के अभाव में असमर्थ होते गए। 'केनोपनिषद्' ४, १ में भी इन्द्र की लघुता और ब्रह्म की श्रेष्ठता स्थापित हुई है। यक्ष देवताओं का अभिमान चूर करने के लिए प्रादुर्भूत होता है। इसलिए उक्त कथा में अवतारवादी प्रयोजन का अस्तित्व भी विद्यमान है। अतः वैदिक यक्ष कथा को अवतारवाद का प्रारम्भिक स्रोत माना जा सकता है।

क्षत्रिय देव

अवतारवाद के ऐतिहासिक क्रम के अनुसार श्रीकृष्ण तथा राम दोनों विष्णु के प्रारम्भिक अवतारों में माने जाते हैं। 'महाभारत' और 'वाल्मीकि रामायण' में देवों के सामूहिक अवतार का सम्बन्ध क्षत्रियों से ही अधिक रहा है। दैवी राज उत्पत्ति के समर्थक मनु ने मनुस्मृति में राजाओं के शरीर में विभिन्न देवों का अंशावतार माना है। वैष्णव अवतारवाद में क्षत्रिय राम और कृष्ण तत्कालीन ब्राह्मण भक्तों के उपास्य रूप में प्रचलित हुए। उक्त सभी प्रवृत्तियों के मूल में 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के निम्न उल्लेखों का महत्त्व आंका जा सकता है। बृ० ३, १, ४-११ के अनुसार ब्रह्म अकेले होने के कारण विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं था। इस कार्य के लिए उसने इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि को उत्पन्न किया। अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसी से ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है।

इस कथन से उक्त सभी मान्यताओं की पुष्टि होती है तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामूहिक अवतार, अंशावतार, विभूति अवतार इन सभी का कोई प्राचीन रूप भी था। किंतु इस कथन में अवतारवादी साहित्य के लिए सबसे अधिक प्रेरणादायक क्षत्रिय उपास्य की भावना रही है जिसने राम-कृष्ण को उपास्य सिद्ध करने में सहायता प्रदान की और ब्राह्मणों ने क्षत्रिय अवतारों को उपास्य ही नहीं माना अपितु इस मंत्र के कथनानुसार अपना यश भी उन्हीं में स्थापित किया।

श्याम वर्ण

उपनिषदों में अवतारवाद के कतिपय पोषक तत्त्व मिलते हैं जिनका अवतारवादी साहित्य में व्यापक प्रसार हुआ। उन उपादानों में श्याम वर्ण भी महत्त्वपूर्ण है। विष्णु और उनके राम-कृष्णादि अवतारों के शरीर श्याम वर्ण के माने जाते रहे हैं। इस परम्परा में 'छान्दोग्योपनिषद्' ८, १३, १ के मंत्र को लिया जा सकता है। इस मंत्र में ब्रह्म के उपास्य रूप की चर्चा करते

हुए कहा गया है कि 'मैं श्याम ब्रह्म से शबल ब्रह्म को प्राप्त होऊं और शबल से श्याम को प्राप्त होऊं।' इस मंत्र में प्रतिपादित श्याम वर्ण को विष्णु और उनके अवतारी उपास्यों पर आसानी से आरोपित किया जा सकता है।

दिव्य गुण

विष्णु और वैष्णव सम्प्रदाय के अवतारी उपास्य रूपों में छः गुणों का संयोग माना जाता था। बाद के वैष्णव सम्प्रदायों में गुणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इन गुणों में से कुछ का अस्तित्व 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में मिलता है। श्वेताः ६, ८ में प्रसिद्ध छः गुणों में से ज्ञान, बल और क्रिया का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन अचिंत्य कल्याणमय गुणों के विकास में 'ऐतरेयोपनिषद्' ३, १, २ में आये हुए सज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, कृतु, वसु, काम, वश का भी योग सम्भव हो सकता है।

दिव्य देह

अवतारवादी साहित्य में अवतारों के शरीर को दिव्य शरीर समझा जाता रहा है। इसी से उनके जन्म और मृत्यु को लेकर अनेक अलौकिक कल्पनाओं की अभिव्यक्ति होती रही है। इसके मूल में उपनिषदों के उन मंत्रों का प्रभाव सम्भव प्रतीत होता है जिनमें मानव शरीर को देवमय या ब्रह्ममय बताया गया है। 'ऐतरेयोपनिषद्' १, २, २-३ में परमात्मा गौ और अश्व का शरीर देवताओं के निवास के लिए अपर्याप्त समझ कर मनुष्य-शरीर का निर्माण करता है। उसमें सभी वैदिक देवता निवास करते हैं। किंतु फिर भी शरीर को अपूर्ण समझ कर ऐत० १, ३, १२ के अनुसार वह स्वयं मानव शरीर में प्रवेश कर जाता है। अतएव इन उपकरणों के आधार पर दिव्य देह के विकास का अनुमान किया जा सकता है।

दिव्य देह के विकास में केवल अवतरणशील शक्तियों का नहीं अपितु उत्क्रमणशील साधनात्मक शक्तियों का भी योग रहा है। अवतारवादी देह में तो सामान्य रूप से ईश्वरीय अंश या शक्तियों का अवतार माना जाता रहा है, पर अवतारवाद की कोटि में वैसे साधकों को भी परिगणित किया जाता रहा है जिन्होंने सर्वात्मवादी सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित किया था। दोनों में मूल अंतर यह है कि अवतरण में ईश्वर की ओर से प्रयत्न करने का भाव है और उत्क्रमण में मनुष्य के प्रयत्न का बल है। उक्त उत्क्रमणशीलता की सैद्धान्तिक चर्चा ऐत० ३, १, ४ में मिलती है। वैदिक साहित्य में वामदेव इस उत्क्रमणशील साधना के लिए विख्यात रहे हैं। बृ० उ० ४, १, ४ में

कहा गया है कि पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अतः वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जिस जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में भी जिसने जाना वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूप में देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना 'मैं मनु हुआ और सूर्य भी'। इस प्रकार वामदेव में उत्क्रमणशील प्रवृत्ति का दर्शन होता है। 'प्रश्नोपनिषद्' ४।९ मन्ता, बौद्धा, कर्ता को विज्ञानात्मा पुरुष कहा गया है। बृ० उ० ४, ४, २५ के अनुसार जो ब्रह्म को जानता है वह निर्भय ब्रह्म हो जाता है।

उक्त कथनों से यह सिद्ध है कि अवतारवादी दिव्य देह के विकास में अवतरणशील और उत्क्रमणशील दोनों प्रवृत्तियों का योग रहा है। इन दोनों प्रवृत्तियों का अस्तित्व उपनिषदों में मिलने लगता है।

उपास्य ब्रह्म

अभी तक उपनिषद् ब्रह्म का विचार केवल निर्गुण और सगुण भेद से ही किया जाता रहा है। इससे उपनिषद् में उपलब्ध कुछ अवतारवादी उपादानों की ओर दार्शनिक विचारकों का ध्यान कम गया है। अवतारवाद की सीमा देखते हुए ब्रह्म का सगुण रूप अधिक व्यापक हो जाता है। अतएव अवतारी ब्रह्म की कुछ अपनी विशेषता है जो सगुण ब्रह्म की अपेक्षा उसे और अधिक सीमित कर देती है। उपनिषदों के कुछ मंत्रों में उसका वह सीमित रूप दृष्टिगत होता है।

यों तो विशुद्ध रूप में ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान और अविनाशी है।[1] किंतु वह मनुष्य के ज्ञान और अनुभूति से परे होने के कारण सहज ग्राह्य नहीं है। इसी से उपनिषद् काल के ऋषि उपासना की दृष्टि से दो प्रकार के ब्रह्म की ओर इंगित करते हैं। 'ईशावास्योपनिषद्' १४ में विनाशशील और अविनाशी दोनों की उपासना समीचीन मानी गई है। उपनिषदों में दोनों रूपों का समान रूप से उल्लेख किया जाता रहा है। बृ० उ० २, ३, १ में उसके दोनों रूपों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत (चर) तथा सत और त्यत् (असत्) दो रूप हैं। इनमें मूर्त, मर्त्य, स्थित या चर तथा त्यत् रूप अवतारी उपास्यों की सीमा के अन्तर्गत आते हैं। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपास्य ब्रह्म वास्तविक रूप में ज्ञानियों के ज्ञान से परे होते हुए भी भावना और अनुभूति के अन्तर्गत होने

---

१. बृ० उ० ४, ४, २०।

के कारण संवेदनशील है। वह कठो० १, २, ९ के अनुसार बुद्धि और तर्क से प्राप्त होने योग्य नहीं है। वह प्रवचन, मेधा या बहुश्रुत होने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता है।[1] किंतु जहां अनुभूति और भावना का प्रश्न उठता है वहां उपनिषद् के ऋषि मौन दिखाई पड़ते हैं। सचमुच ब्रह्म के संवेदनशील जिस रूप की चर्चा उपनिषदों में हुई है उससे ब्रह्म व्यक्त उपास्य रूप में भक्ति और भावना के अधिक निकट प्रतीत होता है। सम्भवतः इसी से बृ० उ० १, ४, ८ में कहा गया है कि आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करे।

साथ ही उसके संवेदनशील रूप में सर्वप्रथम उसकी कामना का अस्तित्व मिलता है। वह जीवात्मा रूप से नाम और रूप की अभिव्यक्ति की इच्छा करता है।[2] या अनेक रूप में उत्पन्न होने की कामना करता है।[3] ब्रह्म केवल आनन्दमय। तै० उ० २, ५, १ या तै० २, ७, १ के अनुसार रस स्वरूप ही नहीं है अपितु बृ० उ० १, ४, ३ के मंत्रों के अनुसार वह रमण के लिए जाया की इच्छा भी करता है। अतः उसके भावनात्मक रूप से स्पष्ट है कि व्यक्त ब्रह्म ही कामना और इच्छा से युक्त होने के कारण मनुष्य का उपास्य हो सकता है। क्योंकि मनुष्य सदा से उसके कल्याणमय रूप का उपासक रहा है। उपनिषद् काल के भक्त उसके कल्याणकारी रूप का दर्शन करने लगते हैं। बृ० उ० ५, १५, १ में कहा गया है कि तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूँ। छान्दोग्य० ३, १४ में शाण्डिल्य ने सर्वात्मा और अन्तर्यामी की उपासना की चर्चा की है। वहां भी उसका सगुण रूप भावनात्मक है।

इस प्रकार उपनिषदों से एक ऐसे भावात्मक उपास्य ब्रह्म की रूपरेखा का विस्तार हुआ जिसने मध्यकालीन अवतारी उपास्यों को साहित्य और कला में भी व्याप्त होने में सहायता प्रदान की।

माया

गीता में अवतारवाद के जिस सैद्धान्तिक रूप की चर्चा हुई है उसमें माया का भी विशिष्ट स्थान रहा है। तब से लेकर आलोच्यकाल तक माया के विविध भेदों और रूपों का विस्तार होता रहा है। माया के माध्यम से आविर्भाव की विचारणा उपनिषद् काल में मिलती है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' २, ५, १९ में इन्द्र के मायात्मक रूप का उल्लेख हुआ है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' ४, ९ और ४, १० में माया के द्वारा महेश्वर के प्राकट्य के प्रसंग आए हैं।

उपनिषदों में उपलब्ध उक्त उपादानों की विचित्रता यह है कि अवतारवाद के प्रारम्भिक विकास से लेकर और आलोच्यकालीन अवस्था तक इनका

---

१. कठो० १, २, २३। २. छा० ६, ३, २। ३. तै० २, ६।

योग निरन्तर मिलता रहा है। विष्णु के देवयज्ञीय रूप की प्रारम्भिक अवतारवादी कल्पना यदि यज्ञ कथा में मिलती है तो उत्तरमध्यकालीन अवतारवाद का रसात्मक रूप 'रसो वै सः' का परिणाम है।

वेदान्त सूत्र

मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों में उपनिषद्, वेदान्त सूत्र और 'गीता' प्रस्थानत्रयी के नाम से विख्यात रहे हैं। अपने अद्वैतवादी या अवतारवादी विचारों के प्रतिपादन के लिए प्रायः सभी आचार्य इन्हें संदर्भ या आकर ग्रंथ के रूप में ग्रहण करते रहे हैं। अतएव इसी क्रम में वेदान्त-सूत्र में उपलब्ध अवतारवादी उपादानों पर विचार करना समीचीन जान पड़ता है। रचनाकाल की दृष्टि से इस ग्रंथ का समय विक्रम पूर्व छठी शती लोग मानते हैं।[1] इसी से वैदिक युग के अन्त में तथा महाकाव्यों के पूर्व इसका स्थान निश्चित किया गया है।

वेदान्त सूत्र भारतीय दर्शन के एक विशेष मत का प्रतिपादक ग्रंथ रहा है जिसमें मुख्य रूप से वेदों के ब्रह्म की विवेचना की गयी है। किंतु अवतारवाद मुख्यतः दर्शन की अपेक्षा साहित्य का विषय अधिक रहा है। फलत ब्रह्मसूत्र में अवतारवाद के कुछ सांकेतिक निर्देश मात्र मिलते हैं।

अवतारवाद की जिज्ञासा का सम्बन्ध ब्रह्म की प्रादेशिक या एकदेशीय अभिव्यक्ति मात्र से रहा है। सामान्य रूप से सार्वदेशिक या सर्वव्यापी ब्रह्म प्रादेशिक नहीं माना जाता है। अनेक भारतीय दार्शनिकों के अनुसार प्रदेशिक होने से उसमें अपूर्णता का दोष उपस्थित होने की सम्भावना होती है। फिर भी भारतीय चिन्तकों में कुछ ऐसे दार्शनिक रहे हैं जिन्होंने उसके प्रादेशिक आविर्भाव को स्वीकार कियाहै। उनमें आश्मरथ्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यों तो इनसे सम्बद्ध ब्र० सू० १, २, २९ और १, ४, २० दो सूत्र इस ग्रन्थ में मिलते हैं किंतु अवतारवाद की दृष्टि से ब्र० सू० १, २, २९ विशेष महत्वपूर्ण है। इनके मतानुसार परमात्मा वस्तुतः अनन्त और सर्वव्यापी है, फिर भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए देश विशेष में उसका प्राकट्य होता है।[2] इनके अभिव्यक्तिवाद का ब्रह्म सूत्र के अन्य आचार्यों में बादरि और जैमिनि ने समर्थन किया है।[3] बादरि के मतानुसार परब्रह्म यद्यपि देश कालातीत है, तो भी उसका निरन्तर ध्यान या स्मरण करने के लिये देश विशेष से सम्बद्ध मानने और समझने में कोई विरोध नहीं है। जैमिनी का कहना है कि परब्रह्म अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न है इससे देश-विशेष से उसका

---

१. भारतीय दर्शन। १९४८ सं०। पृ० ४०१।

२. ब्र० सू० १, २, २९। ३. ब्र० सू० १, २, ३० और ब्र० सू० १, २, ३१।

सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। इन्होंने अपने कथन की पुष्टिमें श्रुति का भी उल्लेख किया है जिसका भान 'तथा हि दर्शयति' से होता है। इसके उदाहरण स्वरूप व्याख्याकार मु० उ० २, १, ४ में वर्णित ब्रह्म के विराट रूप को प्रस्तुत करते हैं। जैमिनि के इस सिद्धान्त को भाष्यकारों ने 'साकार ब्रह्मवाद' की संज्ञा प्रदान की है।[1] अन्त में सूत्रकार बादरायण ने स्वयं आश्मरथ्य के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि वे इस वेदान्त शास्त्र में परमेश्वर का ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं।[2]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र काल में अवतारवाद की विचारधारा प्रचलित थी। आश्मरथ्य जैसे चिन्तक इसके प्रतिपादक तथा बादरि और जैमिनि इसके समर्थक थे। स्वयं सूत्रकार ने भी ब्रह्म की एकदेशीय अभिव्यक्ति का जैमिनि के साथ स्वर मिला कर श्रुतिसम्मत और वेदान्त द्वारा प्रतिपादित स्वीकार किया है। निष्कर्षतः अवतारवाद वेदान्त द्वारा परिपुष्ट आस्तिक दर्शन का ही एक अंग विशेष माना गया था। यों गीता और वेदान्तसूत्र दोनों के प्रासंगिक उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि दार्शनिक मान्यताओं में अवतारवाद का वह स्थान नहीं था जो अन्य सिद्धान्तों को प्राप्त था।

अंत में इन कथनों से एक और रहस्य का उद्घाटन होता है वह यह कि तत्कालीन युग में अवतारवाद का सम्बन्ध उपास्यवाद से भी था। उपासना के निमित ब्रह्म के एकदेशीय आविर्भूत रूप प्रचलित थे। जिस प्रकार दीपक, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि में नानात्व होने पर भी प्रकाश में एकत्व का ही अस्तित्व माना जाता है उसी प्रकार शरीर, रूप और स्थान की विशेषता के कारण नानात्व होने पर भी उन रूपों में परमात्म शक्ति का एकत्व ही स्वीकार किया जाता था।[3] इससे तत्कालीन युग में प्रचलित ब्रह्म के आविर्भूत उपास्य रूपों का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि इनका स्पष्टीकरण अन्य सूत्रों से हो जाता है। ब्र० सू० ३, २, २४ के अनुसार अव्यक्त होने पर भी आराधना करने पर उपासक उसका प्रत्यक्ष दर्शन पाता है। सूत्रकार के कथनानुसार वेद और स्मृति दोनों से उक्त कथन की पुष्टि होती है। एक दूसरे सूत्र ३, २, २५ में उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अग्नि का अव्यक्त प्रकाश जिस प्रकार प्रयास करने से प्रकट होता है उसी प्रकार निर्विशेष ब्रह्म भी भक्त के लिए आराधना काल में सगुण स्वरूप हो जाता है। इन कथनों से सूत्रकार ने निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध किया है

---

१. अणु भाष्य जी० १ पृ० ७१।　　२. ब्र० सू० १, २, ३२।
३. ब्र० सू० ३, २ ३४।

कि ब्रह्म अनन्त दिव्य एवं कल्याणमय गुणों से सम्पन्न है क्योंकि उसमें वैसे ही लक्षण उपलब्ध होते हैं।[1] उपास्य-उपासक भाव में अनुग्रह को अनिवार्य समझा जाता है। उस विशेष अनुग्रह का उल्लेख भी 'विशेषानुग्रहश्च' के रूप में लक्षित होता है।[2] इस सूत्र के अनुसार भगवान की भक्ति सम्बन्धी धर्मों का पालन करने से उनका विशेष अनुग्रह होता है।

इससे विदित होता है कि मध्यकालीन अवतारी उपास्यों के जो अनेक आविर्भूत उपास्य रूप प्रचलित थे उनके समर्थक तत्व वेदान्त सूत्रों में मिलने लगते हैं। यही नहीं इन उपास्यों की अनुग्रह-भावना की पुष्टि भी वेदान्त सूत्रों से होती है। इसके अतिरिक्त आलोच्यकालमें राम-कृष्ण आदि ऐतिहासिक अवतारों के अनेक विग्रह रूप ब्रह्म रूप में पूजे जाने लगे थे। इन विग्रह रूपों पर विचार करते समय यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार ये साक्षात् उपास्य परब्रह्म माने जाते थे। ब्रह्म सूत्र के सूत्रों से भी इनके ब्रह्मभाव की पुष्टि होती है। ब्रह्म सूत्र ४, १, ४ में प्रतीक में आत्मभाव का निषेध करते हुए कहा गया है कि 'प्रतीक में आत्मभाव नहीं करना चाहिए क्योंकि वह उपासक का आत्मा नहीं है। बल्कि उसके स्थान में ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिए प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिए।[3] इस प्रकार अवतारों के अर्चा विग्रह प्रतीकों में ब्रह्मत्व का विधान करने की पूर्ण स्वतंत्रता मिल जाती है। इसका परिणाम केवल यही नहीं हुआ कि राम-कृष्ण प्रभृति अवतार और उनके अर्चा विग्रह परब्रह्म परमेश्वर के प्रतीक स्वरूप पूजित होने लगे, बल्कि उनके अवतार रूपों में भी यथेष्ट परिवर्तन हो गए। उपास्य होने के पूर्व जो अवतार अंशावतार कहे जाते थे उपास्य रूप में गृहीत होने पर उन्हें पूर्णावतार, अवतारी और पूर्ण ब्रह्म माना गया। अर्चा रूपों में भी अवतारी और पूर्ण ब्रह्मत्व का आरोप किया गया।

वैदिक युगके पश्चात् ईश्वरवादी आंदोलन का काल २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक तथा अवतारवाद का युग अशोक के पतन के पश्चात् १८४ ई० पू० में ३२० ई० तक माना गया है। इस युग से लेकर वैष्णव सम्प्रदायों तक अवतारवाद की रूपरेखा तथा विभिन्न अवतारों के विकास क्रम का विवेचन करते समय महाकाव्य, गीता, हरिवंश, विष्णु पुराण, पांचरात्र, भागवतपुराण और अंत में आल्वार और आचार्यों का काल क्रम इतिहासकारों के आधार पर इस प्रकार रक्खा गया है :—

---

१. ब्र० सू० ३, २, २६। २. ब्र० सू० ३, ३८। ३. ब्र० सू० ४, १, ५।

१—महाकाव्य	२०० ई० पू०	२०० ई०
२—गीता वर्तमान स्वरूप		२०० ई०[1]
३—हरिवंश, विष्णु पुराण		२०० ई०–४०० ई०[2]
४—पांचरात्र		६०० ई०–८०० ई०[3]
५—भागवत		६०० ई०–९०० ई०[4]
६—आल्वार और आचार्य		७०० ई०–१४०० ई०

महाकाव्य

महाभारत और वाल्मीकि के जिन रूपों को मध्ययुगीन साहित्य में प्रश्रय मिला था वे वैष्णवीकृत या अवतारीकृत रूप हैं। यों अवतारवाद के प्रारम्भिक रूपों की दृष्टि से इन दोनों महाकाव्यों का नाम लिया जाता है। फिर भी इनमें निहित तथ्यों पर विचार करने पर यह विदित होता है कि अवतारवाद में एक ओर तो परम्परागत मान्यताओं या उपकरणों को समाविष्ट कर उसके परम्परागत रूप को सुरक्षित रखने का प्रयास होता रहा है और साथ ही प्रत्येक युग में विभिन्न मतवादों के समन्वय द्वारा उनके दृष्टिकोणों को बनाये रखने के प्रयत्न भी किये गये हैं।

अवतारवाद की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय देवासुर संग्राम विदित होता है। किन्तु इस युद्ध में भाग लेने वाले वैदिक देवता अपने वैदिक मानवीकृत रूप में न आकर सर्वप्रथम अवतरित रूप में गृहीत हुए हैं। इस प्रकार महाकाव्य काल तक इस सामूहिक मानवीकरण पर पूर्वजन्म का यथेष्ट प्रभाव दीख पड़ता है; जिसके फलस्वरूप देवता या दानव सभी मनुष्य या राक्षस के रूप में अवतरित होते हैं। महाभारत के 'अंशावतरण पर्व' में विस्तारपूर्वक इसका वर्णन है। महाभारत में वर्णित इन देवों और दानवों के अंशभूत पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र में एक विशेष प्रवृत्ति यह लक्षित होती है कि इस महाकाव्य के सहस्रों पात्रों के मौलिक व्यक्तित्व एवं चरित्र को एक दूसरे से पृथक् करने में अंशावतार की प्रवृत्ति विशेष सहायक हुई है। क्योंकि भारतीय बहुदेवतावाद में केवल प्राकृतिक तत्त्व ही देवता नहीं हैं अपितु मनुष्य में व्याप्त अनेक चरित्रगत, गुण, दोष आदि भाव भी हैं जिनका दैवीकरण बहुत कुछ अंशों में वैदिक युग में ही हो चुका था।

---

१. फर्कुहर पृ० ७८, ८६।

२. आर० सी० हाजरा इं० हि० क्वाटरली जी० १२, पृ० ६८३ और क्लासिकल एज पृ० २९८।

३. फर्कुहर पृ० १८२।

४. फर्कुहर पृ० २३२।

महाभारत

बहुदेवताओं के मानवीकृत या अवतरित रूपों में महाभारत के बहुत से नायक हैं। जिनमें विष्णु या नारायण श्रीकृष्ण और इन्द्र या नर अवतार अर्जुन सर्वप्रमुख हैं। इस महाकाव्य में मुख्य कार्य सम्पन्न करने वाले अर्जुन हैं, और श्रीकृष्ण उनके सखा मात्र हैं। यह प्रवृत्ति वैदिक विष्णु एवं उनके सम्बन्धों से भिन्न नहीं जान पड़ती। क्योंकि विष्णु भी वहां इन्द्र के सखा या सहायक मात्र हैं।[1] किन्तु यहाँ विष्णु और इन्द्र या श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध समानता का होते हुए भी विष्णु-कृष्ण इस युग तक देवाधिदेव या एकेश्वरवादी विष्णु के रूप में परिवर्तित हो चुके थे। श० ब्रा० १४, १, १–५ के अनुसार कुरुक्षेत्र में तपस्या करने के कारण 'ब्राह्मणों' में ही विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ माने जा चुके थे। जब कि श० ब्रा० २, १, २, ११ के अर्जुन नामक गुह्य नाम वाले इन्द्र का लघुत्व केनोपनिषद् ३, ४ खंड की यक्ष-कथा में अधिक स्पष्ट दीख पड़ता है। वहाँ देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र एकेश्वरवादी ब्रह्म की तुलना में गौण विदित होते हैं। जबकि यहाँ विष्णु या सूर्य प्रभृति देवों के लघुत्व की चर्चा नहीं हुई है।

अतएव महाभारत काल तक देवाधिपति इन्द्र विष्णु की अपेक्षा गौण हो जाते हैं। जबकि विष्णु, पुरुष, वासुदेव और नारायण से संयुक्त होकर उपनिषद् ब्रह्म के परिचायक हो जाते हैं।[2] अतः महाभारत के श्रीकृष्ण पुरुष, विष्णु या नारायण अवतार हैं। इस महाकाव्य में सर्वत्र उनके अवतारत्व का परिचायक 'पुरुष सूक्त' से विकसित विराट रूप रहा है। जहां भी कोई उनके अवतारत्व में संदेह करता है वहां वे अपने विराट रूप का प्रदर्शन करते हैं।

प्रयोजन की दृष्टि से भी अवतारवाद के दो रूप लक्षित होते हैं क्योंकि महाभारत के अर्जुन-सखा कृष्ण वैदिक विष्णु के दानव-संहार के सदृश देव द्रोहियों का नाश करने के लिये अंशावतार ग्रहण करते हैं।[3] महा० ३, १२, १८–१९ के अनुसार प्राचीन काल में भी इन्होंने रणभूमि में दैत्यों और दानवों का संहार किया था। इस प्रकार इनके प्राचीनतम प्रयोजनों का सन्निवेश महाभारत में हुआ है। द्रौपदी के एक कथन के अनुसार इन्द्र को सर्वेश्वर पद प्रदान करके विष्णु श्रीकृष्ण इस समय मनुष्यों में प्रकट हुए हैं।[4] आदित्य के रूप में सम्भवतः इनके प्राचीनतर अवतार की चर्चा भी इस प्रसंग में हुई है। इस अवतार में अदिति के महिमामय कुंडल के निमित्त ये नरकासुर का संहार करते हैं।[5] यहां विष्णु के आदित्य-अवतार

---

१. ऋ० १, २२, १९। २. तै० आ० १०, १, ६। ३. महा० २, २६, १४। ४. महा: ३, १२, २०। ५. महा: ३, १२, १८।

को प्राचीनतर कहने से मेरा मन्तव्य यह है कि विष्णु सूर्य से ही विकसित देवताओं में रहे हैं। अतः आदित्य से उनका अवतारवादी सम्बन्ध उनके प्राचीन सम्बन्धों की ओर भी ध्यान आकर्षित करता है। परन्तु अवतारवादी प्रयोजन की दृष्टि से उक्त दोनों प्रसंग विचारणीय हैं। दोनों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विष्णु के अवतार का प्रारम्भिक प्रयोजन इन्द्र या देवताओं की सहायता और उनके उत्थान के लिए असुरों का विनाश ही रहा है। क्योंकि निष्कर्ष स्वरूप महा० ३, १२, २८ में कहा गया है कि विभो ! आपने सहस्रों अवतार धारण किए हैं और उन अवतारों में सैकड़ों असुरों का, जो अधर्म में रुचि रखने वाले थे वध किया है।

इस प्रकार महाभारत में एक ऐसे अवतारवाद का रूप मिलता है जो मध्यकालीन भक्ति या सम्प्रदायों से निकट होने की अपेक्षा वैदिक परंपरा के अधिक निकट है। उसमें जो कुछ भी ईश्वरवादी या साम्प्रदायिक तत्त्वों का समावेश हुआ है वह पौराणिक युग की देन है।

परवर्ती भक्ति या धर्म संवलित अवतारवाद की चर्चा केवल गीता ही नहीं अपितु महाभारत में भी कतिपय स्थलों पर हुई है। इसमें प्रयोजन के साथ वैदिक विष्णु के रूप में उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है। इस प्रयोजन के निमित्त केवल वे देव-पक्षीय विष्णु न होकर परमात्मा विष्णु हो जाते हैं। गीता शीर्षक में इस पर विचार किया गया है।

इस प्रकार महाभारत में उक्त दोनों रूपों के अतिरिक्त अवतारवाद का एक व्यापक रूप भी दृष्टिगत होता है। महा० १२, ३४७, ७९ में कहा गया है कि परमात्मा कार्य करने के लिए जिस-जिस शरीर को धारण करना चाहते हैं उस-उस शरीर में अपनी आत्मा को अपने आप कर लेते हैं। भूभार का प्रयोजन सम्बद्ध करते हुए महा० १२, ३४९, ३३-३४ में कहा गया है कि वे पापियों को दंड देने के लिए, सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए तथा आक्रान्त पृथ्वी के निमित्त नाना प्रकार के अवतार धारण कर पृथ्वी का भार हरण करते हैं। महा० १४, ५४, १३ के अनुसार वे धर्म की रक्षा एवं स्थापना के लिए बहुत सी योनियों में अवतार धारण करते हैं।

उक्त उद्धरणों में मुख्य रूप से गीतोक्त अवतारवाद का पुनः विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया गया है। यहां मध्यकालीन साहित्य में प्रचलित उपास्य रूप के अवतारवाद की पूर्ण झलक मिलती है। श्रीकृष्ण महा० १४, ५४, १४ में अपने को ही विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र तथा उत्पत्ति एवं प्रलय रूप बतलाते हैं। वे ही स्रष्टा और संहर्ता हैं। जब-जब युग बदलता है तब-तब वे प्रजाओं का हित करने की कामना से भिन्न-भिन्न योनियों में पहुँचकर धर्म-सेतु का निर्माण

करते हैं।[1] वे देव, गंधर्व, नाग, यक्ष, राक्षस, मनुष्य प्रभृति जिस योनि में जन्म लेते हैं, उस योनि में उसी के जैसा व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार महाभारत में पूर्ववर्ती या परवर्ती दोनों प्रकार के अवतारवादी दृष्टिकोणों के दर्शन होते हैं। प्रारम्भिक रूप में विष्णु देव-शत्रुओं के विनाश के लिए अवतरित हैं। वे देवता और पृथ्वी की रक्षा करते हैं इसलिए भूभार का प्रयोजन भी इसी के साथ समाविष्ट है। किन्तु इसके अतिरिक्त विष्णु का एक साम्प्रदायिक अवतारवादी रूप भी मिलता है जो पूर्व रूप का ही साम्प्रदायीकरण किया हुआ प्रतीत होता है। इस साम्प्रदायिक रूप में विष्णु का सम्बन्ध युग-युग में धर्म की स्थापना या सम्प्रदाय प्रवर्तन से है। इसके साथ ही उनके विभिन्न योनियों में होने वाले व्यापक अवतारी रूप की भी चर्चा हुई है, जिसके अनुसार संभवतः वे प्रत्येक योनि में जाकर प्रत्येक धर्म का प्रवर्तन करते हैं।

वाल्मीकि रामायण

महाभारत के समान रामायण में भी विष्णु देव-शत्रुओं के विनाश के लिए ही अवतरित होते हैं। इस महाकाव्य के प्रारम्भ में राक्षसराज रावण के अत्याचारों से घबरा कर देवता ब्रह्मा जी से परामर्श करते हैं। इसी समय शंख, चक्र, गदा और पद्म से विभूषित तथा पीताम्बर धारण किए जगतपति विष्णु भी आते हैं।[2] देवता, देव शत्रुओं का वध करने के लिये उनसे मनुष्य लोक में अवतरित होने का अनुरोध करते हैं।

इन प्रयोजनों के आधार पर इस महाकाव्य का अवतारवादी रूप भी मध्यकालीन भक्ति संवलित प्रवृतियों की अपेक्षा देववाद के अधिक निकट प्रतीत होता है। इस महाकाव्य के नायक राम के अवतारत्व का विकास प्रारम्भ में साम्प्रदायिक या पौराणिक न होकर आलंकारिक विदित होता है। संक्षिप्त राम-कथा में राम विष्णु के अवतार नहीं हैं किन्तु विष्णु के समान वीर्यवान वे अवश्य माने गए हैं।[3] अतः उनके विष्णु के समान पराक्रमी रूप का विकास विष्णु के अवतार रूप में सम्भव प्रतीत होता है। क्योंकि अवतारवादी साहित्य में वीर्य सदैव पराक्रम का परिचायक रहा है। विष्णु अपने पराक्रम के लिए वैदिक काल से ही विख्यात रहे हैं। बाद में जब पौराणिक अवतार-वादी विष्णु में अनेक गुणों की संयोजना की गई तब उनमें वीर्य और तेज का प्रमुख स्थान माना गया। सामान्यतः वीर्य का तात्पर्य पराभूत करने की क्षमता से भी लिया जाता रहा है। वाल्मीकि रामायण में जहां परशुराम के

१. महा० १४, ५४, १६।

२. वा० रा० १, १५, १४-२५। ३. वा० रा० १, १, १८ 'विष्णुना सदृशो वीर्ये'।

अवतारत्व-शक्ति से हीन होने का प्रसंग आया है, वहां स्पष्ट कहा गया है कि राम के धनुष चढ़ाने के पश्चात् परशुराम तेज और वीर्य से हीन होकर जड़ के समान हो गये।[1] इससे प्रकट होता है कि तेज और वीर्य ही वैष्णव-अवतार के प्रमुख परिचायकों में थे।

अतः राम भी प्रारम्भ में विष्णु के तेज और वीर्य से केवल युक्त माने गये परन्तु कालान्तर में इन्हीं गुणों के द्वारा इनमें अवतारत्व का विकास हुआ। इस अवतार में वे प्रमुख रूप से विष्णु के सदृश देवताओं के सहायक हैं। वैदिक परम्परा में इन्द्र-विष्णु की परस्पर सहायता प्रसिद्ध रही है और वाल्मीकि रामायण में भी इन्द्र राम को विष्णु-धनुष प्रदान करते हैं।[2] इसके अतिरिक्त श० ब्रा० १, ९, ३, ९ के अनुसार विष्णु अपने तीन पदों के द्वारा सभी वैदिक देवताओं की शक्ति प्राप्त कर श्रेष्ठ बन जाते हैं। उसी प्रकार रामायण के राम भी अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण इन पांच देवताओं के स्वरूप धारण करने वाले बतलाए गए हैं। इसलिये इनमें पांचों के गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य, दंड, एवं प्रसन्नता विद्यमान रहते हैं।

इस महाकाव्य में देवासुर संग्राम के प्रमुख कार्य होने के नाते ही इसमें मान्य अवतारवाद का प्रमुख प्रयोजन देव-शत्रुओं या असुरों का विनाश है। जिसके निमित्त इस युग तक परिकल्पित देवताओं में श्रेष्ठ या एकेश्वर विष्णु ही नहीं अवतरित होते अपितु उनकी सहायता के लिए वैदिक देवता भी सामूहिक रूप में अवतरित होते हैं।[3] रामायण में बालकाण्ड के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी सामूहिक अवतरण की चर्चा हुई है।[4]

इसमें संदेह नहीं कि कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदाय में रामायण का वैष्णवीकृत रूप प्रस्तुत किया गया जिसमें राम केवल विष्णु के अवतार ही नहीं अपितु एकेश्वरवादी, सर्वात्मवादी एवं विराट पुरुष प्रभृति इष्टदेवात्मक तत्त्वों से युक्त उपास्य राम भी हैं। बा० रा० ६, १२० में इनके साम्प्रदायिक रूप का परिचय मिलता है। इसमें श्रीकृष्ण के समान इनको अनेक रूपों और विभूतियों से युक्त कर तथा विष्णु या प्रजापति के मत्स्य, वराह, प्रभृति अवतारों से अभिहित कर इनके अवतारी रूप का परिचय दिया गया है।[5]

इस प्रकार इस महाकाव्य में एक ओर तो उन वैदिक तत्त्वों से संवलित अवतारवाद का दर्शन होता है जिसमें आलंकारिक पद्धति से विकसित विष्णु के समान वीर्यवान विष्णु के अवतार हैं तथा उनका प्रमुख प्रयोजन है

---

१. वा० रा० १, ७५, १२ 'तेजोभिर्हतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जड़ीकृतः'।
२. वा० रा० ३, १२, ३३।
३. वा० रा० १, १७, १–२३।
४. वा० रा० ६, ३०, २०–३३।
५. वा० रा० ६, १२०, १४।

देव-शत्रुओं का विनाश, जिसमें उनकी सहायता के निमित्त अन्य वैदिक देवता अवतीर्ण होते हैं। दूसरी ओर इस महाकाव्य का वैष्णवीकृत रूप भी दृष्टिगत होता है, जिसके फलस्वरूप कतिपय पौराणिक तत्वों के द्वारा रामायण के अवतारवादी रूपों का विकास हुआ है। इसमें केवल वैदिक देवता ही नहीं अवतरित होते अपितु तत्कालीन युग तक प्रचलित सिद्ध, गंधर्व, अप्सरा, नाग आदि के सामूहिक अवतारों को भी समाविष्ट किया गया है।[1] महाकाव्य के इस रूप में राम केवल विष्णु के अवतार न होकर स्वयं उपास्य एवं अवतारी हैं।

अतः अनेक साम्प्रदायिक तत्वों से समाविष्ट होते हुए भी दोनों महाकाव्यों में अवतारवाद के एक प्राचीन रूप का भान होता है जिसमें विष्णु या उनके अवतार निष्पक्ष ब्रह्म होने की अपेक्षा देवपक्षीय हैं तथा देव-शत्रुओं का विनाश ही इनका प्रमुख प्रयोजन है।

कालान्तर में अवतारवाद का यह देवपक्षीय रूप गौण हो गया और उस पर साम्प्रदायिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जो गीता, विष्णु-पुराण, पांचरात्र एवं भागवत पुराण के क्रमिक विवेचन से स्पष्ट है।

गीता

महाकाव्यों में प्रचलित देववादी अवतारवाद के अनन्तर गीता में अवतारवाद का सैद्धान्तिक रूप मिलता है। संभवतः अवतारवाद की इसी विचारधारा से सभी पुराण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हैं। गीता के अट्ठारह अध्यायों में प्रायः तत्कालीन युग में प्रचलित जिन दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है उनमें अवतारवाद किसी अध्याय विशेष का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। केवल ज्ञान-कर्म सन्यास योग पर विचार करते हुए गीता के चौथे अध्याय में अवतारवाद का उल्लेख हुआ है। इससे ऐसा लगता है कि गीता में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, उनकी तुलना में अवतारवाद का उतना महत्त्व नहीं था। साथ ही यह भी अनुमान किया जा सकता है कि गीता का अवतारवाद साहित्य या सम्प्रदाय विशेष में अधिक प्रचलित था जिसका अपेक्षित प्रभाव अन्य दार्शनिकों पर नहीं पड़ा था। फिर भी मध्यकालीन अवतारवाद के स्वरूप निर्धारण में गीतोक्त अवतारवाद का विशिष्ट स्थान रहा है।

गी० ४, ३-४ में परम्परागत योग की चर्चा करते समय प्राचीन या तत्कालीन जन्म सम्बन्धी प्रसंगों के क्रम में गीतोक्त अवतारवाद का प्रारम्भ

---

१. वा० रा० १, १७, १९-२४।

होता है। यहां पुनर्जन्म और साधारण जन्म से भिन्न ईश्वर की अनेक उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यताओं का वैशिष्ट्य बतलाते हुए कहा गया है कि मेरे-तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं किन्तु मैं उनको जानता हूँ और तू उन्हें नहीं जानता।[1] मैं अज, अव्ययात्मा और भूतों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति में स्थित रह कर अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ।[2] यहाँ मनुष्य और ईश्वर के जन्म में पर्याप्त अन्तर लक्षित होता है। ईश्वर एक ओर तो अपने ईश्वर रूप में स्थित रहता है और दूसरी ओर माया से उत्पन्न होता है। मनुष्य की अपेक्षा इसकी उत्पत्ति में अंतर यह है कि ईश्वर अपने अनेक जन्म और मायिक रूपों से परिचित रहता है परन्तु मनुष्य नहीं। महाकाव्यों की अपेक्षा यहां जिस उत्पन्न होने वाले ईश्वर की चर्चा हुई है वह केवल देवपक्षीय विष्णु न होकर निर्गुण-सगुण विशिष्ट उपास्य ब्रह्म हैं।

अवतार प्रयोजनों की ओर ध्यान देने पर इसका स्पष्ट आभास मिलता है। गीता ४, ७-८ में उसके प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह धर्मोत्थान या धर्म की संस्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के निमित्त युग-युग में स्वयं आविर्भूत होता है। उसके जन्म और कर्म दोनों को यहां दिव्य या मनुष्येतर माना गया है।

उक्त प्रयोजन में ईश्वर के अवतारी रूप को धर्म एवं साधुओं का पक्ष लेने वाला माना गया है। अतएव यह स्पष्ट ही तटस्थ ब्रह्म की अपेक्षा उपास्य परब्रह्म का अवतारवादी रूप विदित होता है। जिसका परवर्ती पुराणों एवं मध्यकालीन साहित्य में नाना रूपों में विस्तार दृष्टिगत होता है। क्योंकि साधारणतः ईश्वर का उपास्य रूप ही अपने उपासकों एवं उनके मतवादों का पक्षपाती रहा है।[3] ब्रह्म अपने स्वाभाविक रूप में साम्प्रदायिक नहीं हो सकता परन्तु भिन्न-भिन्न उपासकों एवं सम्प्रदायों के निमित्त भिन्न-भिन्न हो सकता है, जो गी० ४, ११ से स्पष्ट है। यहां कहा गया है कि जो मुझे जिस प्रकार से भजता है मैं उसे उसी प्रकार से भजता हूँ।

इस प्रकार गीता में उपास्यावतार का ही प्रतिपादन किया गया है, जिसमें एक ओर तो भक्तों के रक्षण की भावना विद्यमान है और दूसरी ओर धर्म या सम्प्रदायों का प्रवर्तन मुख्य प्रयोजन है।

महाभारत के ही एक अंश माने जाने वाले हरिवंश पुराण में गीतोक्त अवतारवाद[4] तथा श्रीकृष्ण से सम्बद्ध सामूहिक अंशावतार का निरूपण किया गया है,[5] जिसकी परम्परा बाद में चलकर पुराणों में यथेष्ट विस्तार पाती है।

---

१. गी० ४, ५। २. गी० ४, ५। ३. गी० ४, ९।
४. हरि पु० ४१, १७। ५. हरि० पु० ५३, ८, १०।

विष्णु पुराण

विष्णु पुराण में अवतारवाद के परम्परागत रूपों के अतिरिक्त एक व्यापक रूप का परिचय मिलता है। फिर भी उपास्य रूप की दृष्टि से गीता एवं विष्णु पुराण दोनों में पर्याप्त साम्य है। विष्णु १, ४, १७ में कहा गया है कि आपका जो परमतत्त्व है उसे तो कोई भी नहीं जानता, परन्तु आपका जो रूप अवतारों में प्रकट होता है उसी की देवगण उपासना करते हैं। पुनः ५, ८, ६७ में इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि 'इन्द्रादि आपके अवतार रूप के पूजक हैं।

इस प्रकार विष्णु पुराण में पर रूप से व्यक्त सभी रूपों को अवतरित रूप और पूज्य रूप माना गया है। रूपगत भेद की दृष्टि से परब्रह्म विष्णु के यहां पुरुष और प्रधान (प्रकृति)[1] या कहीं शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दो[2] अभिव्यक्त रूप माने गये हैं। इन रूपों का धारक वह ब्रह्म, व्यक्त और अव्यक्त, समष्टि और व्यष्टि रूप, तथा सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् एवं समस्त ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त है।[3] वह कारण, अकारण या करणा-कारण से शरीर ग्रहण नहीं करता अपितु केवल धर्म रक्षा के लिए ही करता है।[4] इस अवतार रूप के अतिरिक्त उसके पुरुष, प्रधान आदि जो व्यक्त रूप कहे गये हैं उन्हें उसकी बालवत् क्रीड़ा या लीला कहा गया है।[5]

इससे विदित होता है कि एक ओर तो परब्रह्म विष्णु धर्मार्थ प्रयोजन के निमित्त सत्वांश से उत्पन्न होते हैं[6] जो परम्परागत रूप प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उनका एक पुरुष प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त रूप है जिन रूपों में बालवत् अर्थात् निष्प्रयोजन लीला के निमित्त वे क्रीड़ा करते हैं। भागवत में इसी लीलावतार का सर्वाधिक प्रचार हुआ।

अवतारवाद की उक्त मान्यताओं के अतिरिक्त विष्णु पुराण में सर्वप्रथम युगल अवतार का सविस्तार प्रतिपादन हुआ है। वि० पु० १, ८, १७-३३ में विष्णु और लक्ष्मी के अनेक युगल सम्बन्ध एवं उनके अवतारों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि में पुरुषवाची भगवान हरि हैं, और स्त्रीवाची लक्ष्मी जी हैं।[7] देवाधिदेव विष्णु जब-जब अवतार धारण करते हैं, तब-तब लक्ष्मी भी उनके साथ अवतरित होती हैं।[8] इनके हरि-पद्मा, परशुराम-पृथ्वी, राम-सीता और कृष्ण-रुक्मिणी[9] रूप में

---

१. वि० पु० १, २, २३। २. वि० पु० ५, १, ५०। ३. वि० पु० ५, १, ५७।
४. वि० पु० ५, १, ५०। ५. वि० पु० १, २, १८। ६. वि० ५, १, २२।
७. वि० पु० १, ९, ३४-३५। ८. वि० पु० १, ९, १४२।
९. वि० पु० १, ९, १४३-१४४।

आविर्भूत अवतार परम्परा प्रस्तुत करने के पश्चात् कहा गया है कि भगवान के देव रूप होने पर लक्ष्मी देवी तथा मनुष्य रूप होने पर मानवी रूप में प्रकट होती हैं।[1]

इस प्रकार धर्म या सम्प्रदायों से सम्बद्ध अवतरित रूपों के अतिरिक्त विष्णु में सर्वप्रथम ब्रह्म की व्यापक अभिव्यक्ति को अवतरित रूप बताया गया है तथा उनके लीलात्मक रूप एवं युगल अवतार का वर्णन किया गया है। जिनका मध्यकालीन सगुण साहित्य में पर्याप्त विस्तार हुआ है।

विष्णु पुराण में यत्र तत्र अनेक अंशावतारों के अतिरिक्त संभवतः हरिवंश की परम्परा में कृष्ण एवं उनके सहयोगियों के सामूहिक अंशावतार का उल्लेख हुआ है जिनमें गोप और गोपी, देवता और देवियों के अवतार बतलाए गये हैं।[2] भूभार हरण यहाँ इस अवतार का प्रमुख प्रयोजन रहा है फलतः भागवत के सदृश इसका लीलात्मक रूप से अधिक सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। फिर भी इतना स्पष्ट है कि विष्णु के जिस रूप के अवतार इस पुराण में वर्णित हैं वह गीता की ही परम्परा में पर उपास्य से सम्बद्ध है। किन्तु गीता की अपेक्षा विष्णु पुराण में केवल प्रयोजन की ही प्रधानता नहीं है अपितु उनका लीलात्मक और युगल रूप भी दृष्टिगत होता है।

पांचरात्र

वैष्णव महाकाव्यों एवं पुराणों में विष्णु के जिस 'पर रूप' की चर्चा हो चुकी है वह पुराणों की अपेक्षा पांचरात्र संहिताओं से विशेष रूप से सम्बद्ध है। इन संहिताओं में विष्णु या वासुदेव का 'पर रूप' ही सर्व श्रेष्ठ रूप माना गया है जो निर्गुण और सगुण दोनों तत्त्वों से युक्त है तथा अपने नित्यधाम में अपने नित्य पार्षदों के साथ विराजमान है। संहिताओं के अवतारवाद का प्रारम्भ 'पर रूप' के ही व्यक्त रूप से होता है।

प्रयोजन की दृष्टि से 'पर रूप' या वासुदेव अवतार के निमित्त 'गीता' के प्रयोजन का समर्थन किया गया है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' के एकादश अध्याय में अवतार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए धर्म के पतनोन्मुख होने को ही मुख्य कारण माना गया है। साथ ही उसका एक गुणात्मक कारण उपस्थित करते हुए कहा गया है कि रजोगुण और तमोगुण के प्रबल होने पर सत्त्वगुण को प्रभावोत्पादक बनाने का उसका संतुलन करने के निमित्त अवतार होता है।[3]

---

१. वि० पु० ९, १४५।

२. वि० पु० ५, २, ४ और वि० पु० ५, ७, ३८, ४०। ३. अहि० सं० ११, ४-८।

फलतः भगवान अपनी माया रूप से भूतों में प्रविष्ट होकर धर्म-स्थापना करते हैं। धर्म-द्वेष के निराकरण के निमित्त यहां शस्त्र और अस्त्र रूपी व्यूह तथा शास्त्र दो मुख्य साधन बतलाये गये हैं।[1] पांचरात्र संहिताओं में धर्म-स्थापना एवं असुरों के संहार के निमित्त दो प्रकार के साधन विदित होते हैं। प्रथम साधन यहां शास्त्र माना गया है जिसके द्वारा धर्म का प्रतिपादन होता हैं। संभवतः इसी के फलस्वरूप संहिताओं में शास्त्रावतार की परम्परा भी दीख पड़ती है जो जैन, नाथ, संत, सूफी और सगुण साहित्य में समान रूप से दृष्टिगत होती है। और दूसरा साधन शस्त्र माना गया है जिससे वे असुरों का संहार करते हैं। संभवतः पांचरात्र अवतारवाद के शास्त्र और शस्त्र उक्त दोनों प्रयोजनों के आधार पर 'जयाख्य संहिता' में पर ईश्वर के विद्या और मायिक दो रूप बताए गये हैं। विद्या रूप में शास्त्रावतार की परम्परा का विकास हुआ है और मायिक रूप में वह अनेक अवतार धारण कर दुष्टों से सहस्त्रों रूपों में युद्ध करते हैं।[2] फिर भी पांचरात्रों में उपास्य प्रवृत्ति का अधिक प्राधान्य होने के कारण परब्रह्म के अवतार का मुख्य कारण भक्तों पर अनुग्रह माना गया है। उपास्यवादी भक्तों की दृष्टि से उसके अनन्त अवतार बतलाए गये हैं।[3] इन अनन्त आविर्भूत रूपों को व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा चार भागों में विभक्त किया गया है। इनमें व्यूह संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध प्रभृति व्यूह रूपों का सम्बन्ध भक्तों पर अनुग्रह के साथ-साथ सृष्टि अवतारण से भी रहा है। किन्तु विभव, अन्तर्यामी और अर्चा, भक्तों के निमित्त प्रादुर्भूत उपास्य इष्टदेव के ही विभिन्न रूप हैं।

इस प्रकार पांचरात्र साहित्य में अखिल सृष्टि के सृजन, पालन एवं संहार से लेकर भक्त के निमित्त आविर्भूत लघुतम अर्चा रूप तक किसी न किसी प्रकार के अवतारवादी रूप माने गए हैं। मध्यकालीन भक्त एवं संत कवियों में पांचरात्रानुमोदित अन्तर्यामी और अर्चा उपास्यों एवं उनके अवतारी कार्यों का पर्याप्त विस्तार हुआ है।

भागवत

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त भागवत पुराण आलोच्यकालीन साहित्य का मुख्य प्रेरक ग्रंथ रहा है। विशेषकर मध्यकाल का अवतारवादी साहित्य भागवत से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। भागवत में अवतारवाद का सर्वाङ्गीण विवेचन हुआ है। इसकी विवेचन पद्धति में प्राचीन मान्यताओं

१. अहि० सं० ११, १०, १३।
२. जयाख्य संहिता २, ६४-६९। ३. तत्वत्रय पृ० १००
'अनन्तावतार कंद मिति'।

का आधार ग्रहण करने के साथ ही तत्कालीन पांचरात्र या भागवत सम्प्रदायों में प्रचलित तथ्यों को भी समाविष्ट किया गया है।

इस पुराण में सर्वप्रथम उस अद्वितीय ईश्वर का परिचय मिलता है जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त त्रिगुणात्मक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नाम धारण करता है। परन्तु उसके इन तीनों रूपों में सत्वगुण स्वीकार करने वाले हरि या विष्णु ही मनुष्य के लिये परम कल्याणकारी और उपादेय माने गए हैं।[1] इसमें सत्त्वमय एवं विष्णु की परम्परा का भान होता है।

यों तो भगवान गुणमय और गुणातीत, मायामय और मायातीत दोनों हैं। क्योंकि तीनों गुण उनकी माया के विलास हैं।[2] पर वे गुणों के विकार से उत्पन्न सृष्टि में नाना योनियों का निर्माण कर स्वयं उसमें प्रवेश करते हैं[3] और समस्त लोकों की सृष्टि कर देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में लीलावतार धारण कर सत्त्वगुण के द्वारा जीवों का पालन-पोषण करते हैं।[4]

इससे स्पष्ट है कि ईश्वर का सत्त्वमय या गुणात्मक रूप ही स्रष्टा एवं अवतारवादी रूप है। वल्लभाचार्य ने भी अवतारी श्रीकृष्ण का रूप सत्त्वगुण-युक्त माना है।[5] भागवत १, ३, १ में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में भगवान ने लोकों के निर्माण की इच्छा से षोडश कलाओं से युक्त रूप ग्रहण किया।[6] भगवान का यही पुरुष रूप एक ओर तो समस्त लोकों का स्रष्टा है और दूसरी ओर यही नारायण रूप भी कहा गया है जो अनेक अवतारों का अक्षय कोष है। इसी से सभी अवतार उत्पन्न होते हैं,[7] इस रूप के छोटे से छोटे अंश से देवता, पशु-पक्षी और मनुष्य आदि योनियों की सृष्टि होती है। भा० १, ३ में २२ अवतारों का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि जिस प्रकार सरोवर से सहस्रों जल-स्रोत निकलते हैं वैसे ही सत्यमय श्री हरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं।[8] भा० २, ६, ४१ में पुनः इसी प्रथम अभिव्यक्त पुरुष को परब्रह्म का आदि अवतार कहा गया है और भा० ३, ६, ८ में विराट पुरुष की चर्चा करते हुए बताया गया है कि यह विराट पुरुष प्रथम जीवन होने के कारण समस्त जीवों की आत्मा, जीव रूप होने के कारण परमात्मा का अंश और प्रथम अभिव्यक्त होने के कारण आदि अवतार है।

---

१. भा० १' २, २३। २. भा० १, २, ३।
३. भा० १, २, ३३। ४. १, २, ३४।
५. तत्वदीप निबन्ध भा० प्र० पृ० २७
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्ध सत्वेन केवलः।
६. भा० १, ३, १। ७. भा० १, ३, ५। ८. भा० १, ३, २६।

इससे स्पष्ट है कि भागवतकार ने 'पुरुष सूक्त' या 'ब्राह्मणों' के पुरुष नारायण को ही प्रथम अभिव्यक्त एवं आदि अवतार माना है। इस प्रकार इस पुराण में वैदिक मान्यताओं के आधार पर ही अवतारवाद का व्यापक रूप प्रस्तुत किया गया है। भा० १, ३, ५ में जो पुरुष नारायण को अवतारों का अक्षय कोष माना गया है, यह संभवतः यजुर्वेदीय 'पुरुष सूक्त' के 'अजायमानों बहुधा विजायते' का विकसित या तत्कालीन रूप विदित होता है।

इस समष्टिगत अवतार के व्यापक रूप की चर्चा करते हुए भा० २, ६, ४४ में कहा गया है कि जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रिय, बल, मनोबल, शरीरबल या क्षमा से युक्त हैं या जिनमें सौन्दर्य, लज्जा, वैभव, विभूति, अद्भुत रूप या वर्ण विद्यमान हैं, ये सभी परम तत्त्वमय भगवत्स्वरूप हैं। इन्हें भा० २, ६, ४५ शास्त्रों में वर्णित लीलावतारों की संज्ञा प्रदान की गई है, जिनमें से चौबीस लीलावतारों का वर्णन भा० २, ७ में हुआ है।

अतएव इस पुराण में समस्त अभिव्यक्ति को आदि अवतार बताया गया और दूसरी ओर पौराणिक परम्परा में प्रचलित अवतारों को उसके व्यक्तिगत लीलावतारों के रूप में ग्रहण किया गया है।

'महाकाव्य' एवं 'गीता' के प्रयोजनात्मक अवतारवाद के पश्चात् भागवत में सर्वप्रथम अवतारवाद के लीलात्मक रूप का व्यापक विवेचन किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि प्रयोजनात्मक और लीलात्मक दोनों अवतार विष्णु या ईश्वर के उपास्य पर रूप से ही होते हैं, किन्तु दोनों में विशेष अंतर यह है कि एक में वह भक्तों का भगवान या उनका अभीष्टदाता उपास्य ईश्वर है, और दूसरे रूप में उपास्य होते हुए भी संभवतः इस काल तक प्रचलित ब्रह्मवादियों के मायारहित ब्रह्म रूप से युक्त है। जो अवतरित होकर नटवत् लीला करता है यथार्थ रूप में नहीं। उसकी नटवत् लीला के उदाहरण स्वरूप प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण के प्रति कहा गया है कि वे लोगों के सामने अपने को छिपाये हुए थे और ऐसी लीला करते थे मानों कोई मनुष्य हों।[1]

इस प्रकार भागवत में ईश्वर के व्यक्तिगत अवतारवादी रूपों को लीलात्मक रूप प्रदान किया गया। इस दृष्टि से 'भागवत पुराण' 'विष्णु पुराण' से एक कदम आगे है। 'विष्णु पुराण' में सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि को ही बालवत् लीला कहा गया है। किन्तु 'भागवत' में उसकी सृष्टि लीला की अपेक्षा पौराणिक अवतारों को ही लीलावतार के रूप में ग्रहण किया गया है, जिसका आलोच्यकालीन साहित्य में अत्यधिक विकास हुआ।

---

१. भा० १, १, २०।

आल्वार और आचार्य

उत्तर भारत में भागवत या अन्य वैष्णव साहित्य के प्रचार का श्रेय दक्षिण के उन आचार्यों को प्राप्त है जिन्होंने उत्तर भारत में ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष में घूम-घूम कर वैष्णव भक्ति का प्रवर्तन किया। इन दक्षिणी आचार्यों में स्मार्त होते हुए भी शंकराचार्य उल्लेखनीय हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से वे पंचायतन (गणेश, विष्णु, सूर्य, शिव, दुर्गा) पूजा के प्रवर्तक थे।[1] वैष्णवाचार्यों द्वारा उनके मायावाद का खंडन तथा 'ब्र० सू० शरीरभाष्य' २, २, ४२ सूत्र की व्याख्या में पांचरात्रों के अवैदिक सिद्ध किए जाने के कारण उनके अवतार विरोधी होने का भी भ्रम होता रहा है।

किंतु शंकर के साहित्य में उनके अवतारवादी दृष्टिकोण का यथेष्ट परिचय मिलता है। 'मांडूक्योपनिषद्' के अंत में उन्होंने अवतरित ब्रह्म को नमस्कार किया है। उनकी प्रार्थना के अनुसार उसने अजन्मा होकर भी ईश्वरीय शक्ति के योग से जन्म ग्रहण किया, गतिशून्य होने पर भी गति स्वीकार की तथा जो नाना प्रकार के विषय रूप धर्मों को ग्रहण करने वाले मूढ़ दृष्टि लोगों के विचार से एक होकर भी अनेक हुआ है वही शरणागत भयहारी है।[2] यहां अजन्मा ईश्वर का जन्मा और शरणागत भयहारी रूप स्पष्ट है। 'केनोपनिषद्' के यक्ष ब्रह्म के प्रसंग में भी माया शक्ति के द्वारा उसका आविर्भाव इन्होंने स्वीकार किया है।[3] इसके अतिरिक्त श्वेत० ५, २ में आये हुए कपिल को तथा 'गीता' के उपोद्घात में कृष्ण को क्रमशः विष्णु और वासुदेव का अंशावतार माना है।[4] 'गीता' के उपोद्घात में इनकी माया विशिष्ट अवतारवादी सिद्धान्त मिलता है। उपोद्घात के अनुसार ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि से सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर और नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दीखते हैं।[5]

इससे स्पष्ट है कि शंकर ने अवतारवाद और उसके व्यावहारिक उपास्य-वाद को तो स्वीकार किया है, किंतु इनके अवतार और उपास्य माया के मिथ्या भाव से ग्रस्त हैं। यही कारण है कि इनके बाद होने वाले रामानुज

---

१. शंकरदिग्विजय सर्ग १५ श्लो० ७६। २. मांडूक्यो शां० भा० पृ० २७६।

३. केनो० शां० भा० पृ० १११।

४. श्वेत शा० भा० पृ० २१७ और गीता शा० भा० पृ० १४।

५. गीता शां० भा० पृ० १४।

आदि वैष्णव आचार्यों ने अवतारवाद की स्थापना के लिए मायावाद के मिथ्या भाव का खंडन अपना प्रमुख लक्ष्य माना। अतएव अवतारवाद के सैद्धान्तिक प्रतिपादन में इन वैष्णव आचार्यों का विशेष महत्त्व रहा है।

इन आचार्यों के साथ ही उन तमिल प्रदेश के आल्वार भक्तों को विस्मृत नहीं किया जा सकता जिन्होंने भाव, भाषा, भक्ति, भक्त और भगवान का सम्बल इन आचार्यों को प्रदान किया। जिसे प्राप्त कर हिंदी का समृद्ध भक्ति साहित्य उनका ऋणी है। आल्वारों ने संस्कृत की अपेक्षा तमिल भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। 'द्रविड़ प्रबन्धम्' में संगृहीत उन पदों का आज भी वैदिक ऋचाओं के समान आदर किया जाता है। यों तो आल्वारों ने विष्णु एवं उनके अवतारों का विशेष वर्णन अपने पदों में किया है। परन्तु विष्णु के अनन्तर राम और कृष्ण उनमें अधिक वर्णित हुए हैं।

दक्षिण में तिरुपति और विष्णुकांची की अर्चा मूर्त्तियां इनके उपास्यदेव के रूप में गृहीत हुई थीं। आल्वारों के भक्तिपरक पदों में इनके उपास्य अर्चावतार एवं उनकी नित्य और नैमित्तिक लीलाओं के व्यापक रूप मिलते हैं। अतः अर्चावतारों के माध्यम से ही आल्वारों ने अवतारों के विषय में प्रचलित 'महाभारत' और 'रामायण' के अतिरिक्त अधिकांश पौराणिक कथाओं को ग्रहण किया है। उनके मतानुसार विष्णु अपने असंख्य रूपों में विश्व के एकमात्र पालन कर्ता हैं।[1] पेरियाल्वार सूर के सदृश बालकृष्ण पर अधिक मुग्ध हैं। इनके पदों में कृष्ण की शिशु-लीला का अधिक वर्णन हुआ है।[2] कुलशेखर आल्वार अपने इष्टदेव राम को ही एकमात्र पूर्णावतार तथा अन्य अवतारों को समुद्र में खुर (गोष्पद) के समान मानते हैं।[3] आल्वारों ने पौराणिक अवतारवादी रूपों के साथ पांचरात्र के पंच रूपों को भी समाविष्ट किया है। हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवियों में उपास्य रूपों के अवतार एवं अवतारी रूप का जिस प्रकार अत्यधिक प्रचार रहा है इसके पूर्व ही आल्वारों में उपास्य अवतारों एवं अर्चा विग्रहों के अवतार और अवतारी रूप प्रचलित थे। इनके उपास्य भी भक्तों की रक्षा, रंजन या अनुग्रह के निमित्त प्रकट होते हैं। पोयगै आल्वार कहते हैं कि भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है, जिस नाम को चाहते हैं वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से उपासना करे चक्रधर विष्णु उसी ढंग से उनका उपास्य बन जाता है।[4] तिरुमलसाई ने अपने पदों में इस भावना का विशेष परिचय दिया है

---

१. हिस्ट्री आफ तिरुपति पृ० ८२।   २. हिम्स आल्वारस पृ० ३७।

३. डीव्हाइन विज़र्डम आफ दी द्रविड़ सेंट्स० पृ० १५४ शीर्षक १३८।

४. तमिल और उसका साहित्य पृ० ५९।

कि रक्षा और पालन में विष्णु सभी देवों से अधिक समर्थ हैं।[1] नम्मलवार कहते हैं कि भगवान अवतारों के रूप में अपने को सुगम बनाता है तथा भक्तों के निकट आने का प्रयत्न करता है। उसका अवतरित रूप उस तालाब के समान है जहाँ लोग अपनी प्यास बुझाते हैं।[2]

आलवारों के अनुसार अवतार दो प्रकार के विदित होते हैं। एक ओर तो प्रकृति में वे समष्टिगत अभिव्यक्ति मानते हैं और दूसरी ओर उन व्यक्तिगत दिव्य रूपों और अवतारों को दिव्य अवतार समझते हैं जो आत्मा और उपास्य के मध्य में स्थित हैं।

उक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आलवारों ने तात्कालीन लोकवाणी या लोकभाषा को अपनाकर आगत युग के लिये नवीन मार्ग प्रस्तुत किया। विशेषकर हिन्दी भक्ति साहित्य की रचनात्मक पृष्ठभूमि की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है।

आलवार साहित्य से निःसृत भक्ति सरिता को उत्तर भारत में प्रवाहित करने का श्रेय उन वैष्णव आचार्यों को प्राप्त है जिनका जन्म तो हुआ दक्षिण में किन्तु उन्होंने या इनके अनुयायी आचार्यों ने समस्त भारतवर्ष या मुख्यतः उत्तर भारत को वैष्णव धर्म के प्रचार के निमित्त अपना कार्यक्षेत्र बनाया। इनमें रामानुज, विष्णु-स्वामी और उनकी परम्परा में माने जाने वाले वल्लभाचार्य, माध्वाचार्य और निम्बार्क विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्रस्थान त्रयी या प्रस्थान चतुष्टय के आधार पर सगुण ब्रह्म के विशिष्ट रूपों और पांचरात्र और पौराणिक अवतारवाद के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया जिनका इस निबन्ध में यथास्थान विचार किया गया है।

अवतारवाद की उक्त परम्परा को लेकर आलोच्यकालीन साहित्य में प्रवेश करने पर वैष्णव हिंदी कवियों की अपेक्षा सर्वप्रथम, सिद्ध, जैन एवं नाथों के साहित्य का क्रम आता है जिनका वैष्णव धर्म से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। फिर भी प्रारम्भिक अध्यायों में इनमें निहित अवतारवादी तथ्यों एवं समानान्तर प्रवृत्तियों का आकलन एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

---

१. हिस्ट्री आफ तिरुपति पृ० १०९।

२. डिवाइन विज्डम आफ द्रविड़ सेंट्स पृ० १७–३०।

मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद

पहला अध्याय

बौद्ध सिद्ध साहित्य

भारतीय इतिहास में आठवीं से लेकर बारहवीं शती तक का काल राजनीतिक दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण न होते हुये भी धार्मिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से अपने ढंग का अनोखा परिलक्षित होता है। इस काल में देश केवल विभिन्न राज्यों में ही नहीं बल्कि विविध धर्मों और सम्प्रदायों के रूप में भी विभक्त था। वैष्णव, शैव, सौर्य, शाक्त, गाणपत्य, जैन, बौद्ध इत्यादि धर्म और सम्प्रदाय देश के विविध स्थानों में अपने प्रचार में संलग्न थे। परन्तु अनेक रूढ़िबद्ध पद्धतियों और प्रथाओं से ग्रस्त होने के कारण इनमें परस्पर मनोमालिन्य और संकीर्ण व्यवहारों का अधिक प्रचार होता जा रहा था। तत्कालीन समाज इनकी लौह श्रृंखला में आबद्ध था। इन सम्प्रदायों के प्राणवान स्रोत भी संकीर्ण द्वारों में भरी हुई बालुकाराशि में सूख से गये थे।

उन्हीं दिनों वैष्णव, शैव, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में कुछ ऐसे भक्त, आचार्य, मुनि और सिद्धों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने एक बार पुनः उक्त मतों में नये प्राण फूँके और उन्हें नयी दिशा और गति प्रदान की। यों तो इनकी पूर्व-परम्परा में श्रीकृष्ण, महावीर और बुद्ध ऐसे महान् पुरुष हो गये थे, जिन्होंने वैष्णव, जैन और बौद्ध मतों के रूप में एक ऐसी धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात और प्रवर्तन किया जिसमें सर्वप्रथम देवतावाद और देव-भाषा के विपरीत मनुष्यवाद और मानव-भाषा के समुचित हित, प्रयोग और उत्कर्ष को लक्ष्य बनाया गया था। इन प्रवर्तकों ने मनुष्य के मूल्य को आँका और उसके विकास के लिए ऐसे चरम आदर्शों की अवतारणा की जिनके फलस्वरूप वे स्वयं कालान्तर में उन लोकोत्तर आदर्शों से भी विभूषित किये गये और तदनन्तर अनेक रूढ़ियों का पुनः निर्माण भी प्रारम्भ हो गया।

किन्तु फिर भी उनकी पृष्ठभूमि में विकास के ऐसे बीज विद्यमान थे जो आलोच्य काल में पुनः उत्पन्न, वर्द्धित, पुष्पित और फलित हुए। इस युग की

सबसे बड़ी देन है—देव-वाणी संस्कृत, और वेदों की अपौरुषेयता के स्थान में लोक-वाणी का व्यवहार और प्रचार। इस काल के वैष्णव भक्त आल्वार, शैवभक्त आड्यार, जैन मुनि, और बौद्ध सिद्ध इन सभी ने उपास्य और उपासना तथा स्थानीय भाषा की दृष्टि से परस्पर वैषम्य रखते हुए भी लोक-वाणी को समान रूप से समुचित स्थान दिया। फलतः लोक-भाषा में रचित इनकी रचनाओं को तत्तत्सम्प्रदायों में वेदों के समान पवित्र और पूज्य माना गया। अतएव भक्त, भक्ति और भगवान् के अतिरिक्त मध्यकालीन साहित्य को उस लोकभाषा और भाव के भी वरदान मिले जिनमें जनप्रिय और बहुजन-हिताय होने की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता विद्यमान थी।

सिद्ध-साहित्य में वैष्णव अवतारवाद के उपादान

भक्तों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की आदिकालीन पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित सिद्ध-साहित्य ने भी भाषा और भाव दोनों प्रकार से उत्तरकालीन साहित्य की परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। परन्तु वैष्णव अवतारवाद की दृष्टि से सिद्ध-साहित्य मध्यकालीन साहित्य के अन्य विविध रूपों की अपेक्षा भिन्न दृष्टिगत होता है। जहाँ कि—जैन, नाथ, सन्त और सूफी साहित्य में वैष्णव अवतारवाद के तत्त्व किसी न किसी रूप में लक्षित होते हैं, वहाँ वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान आदि तान्त्रिक रचनाओं तथा सिद्धों के चर्यापदों में उनका अभाव दीख पड़ता है। परन्तु १२वीं से लेकर १७वीं शती तक के बहिष्कृत और उच्छिन्न होते हुए बौद्ध धर्म और उसके उत्तरकालीन सम्प्रदायों में शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर इत्यादि अन्य सम्प्रदायों के साथ वैष्णव धर्म भी बौद्ध धर्म के साथ संयुक्त रूप से तत्कालीन समाज में व्याप्त हो गया था। इस मिश्रित धर्म के अवतारवादी रूप तत्कालीन हिन्दी साहित्य में तो नहीं किन्तु उड़ीसा, बंगाल और नेपाल में उपलब्ध संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, जिनका विवेचन यथाक्रम किया गया है।

फिर भी उपर्युक्त साहित्य की परम्परा में मान्य जातक, महायान बौद्ध सूत्र तथा वज्रयानी तन्त्रग्रन्थों में राम, कृष्ण, वराह और हयग्रीव के आंशिक या बौद्ध रूपों की चर्चा क्रमशः मानवी और दैवी रूप में हुई है। पर मेरी दृष्टि में इनका सम्बन्ध विशुद्ध वैष्णव अवतारवाद की अपेक्षा बौद्ध, महायानी और वज्रयानी सम्प्रदायों के समानान्तर अभिव्याप्त भागवत और अन्य हिन्दू सम्प्रदायों से रहा है जिनमें प्रचलित देवता और उपास्य विभिन्न स्थलों पर विविध प्रसंगों में पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती बौद्ध रचनाओं में

गृहीत हुए हैं। अतः इनका एकत्र आकलन और विवेचन भागवत शीर्षक में ही मुझे उपयुक्त जान पड़ा है।

सिद्ध-साहित्य में परम्परागत और समकालीन भागवत तत्त्व

सिद्ध-साहित्य में भागवत धर्म से जो भी उपादान गृहीत हुए हैं, वे या तो परम्परागत हैं या समकालीन भागवत धर्म से प्रभावित हुए हैं। प्रस्तुत शीर्षक में इसी दृष्टि से उनका निरूपण किया जाता है। भारतीय साहित्य में वैदिक धर्म के पश्चात् प्राचीन धर्मों में भागवत धर्म सर्वाधिक प्राचीन माना जाता रहा है। इसके प्रवर्तकों के प्राचीनतम उल्लेख छठी शताब्दी पूर्व से ही मिलने लगते हैं। कम से कम पाणिनि की अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रों (४, ३, ९८; ४, ३, ९९; और ४, १, ११४) से वासुदेव की भक्ति का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस आधार पर प्रायः स्वीकार कर लिया गया है कि षष्ठ शतक के पूर्व वैष्णव मत का प्रचार हो चुका था।[1] इसके विपरीत 'सद्धा' (श्रद्धा का पर्याय) का बौद्ध साहित्य में सर्वप्रथम उल्लेख पालि निकाय ग्रन्थों में मिलता है, जिनका समय पाँचवीं शती पूर्व है। साथ ही भक्ति का सर्वप्रथम जन्म थेरीगाथा (पृ० ४१, पंक्ति १-२) में 'भत्ति' के रूप में मिलता है। इनका समय बुद्ध के जन्मकाल से लेकर ३०० ई० पू० तक माना गया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि भागवत धर्म में प्रचलित होने के कारण ही श्रद्धा और भक्ति का समावेश भी बौद्ध साहित्य में हुआ होगा।

पर उपर्युक्त कथनों के विरुद्ध कुछ विद्वानों का यह तर्क है कि बौद्धों ने यदि भक्ति अपनाई तो उनके देवताओं को क्यों छोड़ दिया? क्योंकि बौद्ध साहित्य में व्याप्त बोधिसत्त्ववाद की कल्पना इनकी अपनी कल्पना है। परन्तु मुझे इस तर्क-वितर्क में न पड़ कर केवल इतना ही कहना है कि सम्भव है बोधिसत्त्ववाद जो एक प्रकार का बौद्ध अवतारवाद ही है, बौद्ध धर्म की अपनी देन है, किन्तु यह अस्वीकार करना कठिन है कि उस पर भागवत धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा था। इसके लिए विशेष तर्क का आश्रय न लेकर बौद्ध साहित्य के पूर्ववर्ती और परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध भागवत तत्त्वों और तथ्यों का समीचीन निरूपण ही अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। यों तो गोकुलदास डे ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में बौद्ध और भागवतों के संबन्ध को जातकों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म जातकों के आधार पर भागवत धर्म से प्रभावित रहा है, क्योंकि भागवत का मूल आधार भक्ति-तत्त्व जातकों एवं महायान ग्रन्थों

१. भा० सम्प्रदाय पृ० ९२। २. दी बोधिसत्त्व डा० पृ० ३२।

में सर्वत्र व्याप्त है। गृहस्थों के लिए स्वर्ग (सग्ग) और संन्यासियों के लिए मोक्ष भी दोनों में सामान्य रूप से मान्य हैं।[१] इससे बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म के प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है।

सेनर्ट और पुसिन का विश्वास है कि मोक्ष या निर्वाण की दृष्टि से बौद्ध और भागवत सम्प्रदायों में पर्याप्त समानता थी। विशेषकर प्रारम्भ में ही नारायण की पूजा का बौद्ध सिद्धान्त पर अवश्य प्रभाव पड़ा था। अहिंसा का सिद्धान्त, बौद्ध और भागवत दोनों में समान रूप से प्रचलित था। विष्णु-पद के अनुकरण पर बुद्ध-पद-चिह्नों की पूजा भी आरम्भ हुई थी। सद्धर्मपुंडरीक या अन्य महायान ग्रन्थों पर गीता का प्रभाव पड़ा था।[२]

सम्भव है बौद्ध अवतारवाद पर भी गीता का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा हो। इतिहासकारों के मतानुसार अतीत बुद्धों को लेकर बहुत पहले ही अवतारवाद का विकास बौद्ध धर्म में हुआ था। उन बुद्धों की पूजा तीसरी शती पूर्व स्तूपों में प्रचलित थी।[३]

भागवत धर्म की रूपरेखा प्रारम्भिक काल से ही समन्वय की रही है। विष्णु, वासुदेव, नारायण के अनन्तर अन्य वैदिक और पौराणिक देवों का समन्वय भी कालक्रम से होता आ रहा था। अतएव सम्भव है बौद्ध-साहित्य में व्याप्त बहुदेवतावाद भी भागवत धर्म के प्रभाव का ही परिणाम हो। यह समझकर त्रिदेव और बहुदेवतावाद को भी इसी शीर्षक में समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है।

इस दृष्टि से बुद्ध के कतिपय उपदेशों को देखने पर उनका देवताओं के विरुद्ध होना प्रकट नहीं होता। धम्मपद में कहा गया है कि आचरण, मेधा तथा शील से युक्त पुरुष की देवता और ब्रह्मदेव भी प्रशंसा करते हैं।[४] जो धीर ध्यान में लगे, परम शान्त निर्वाण में रत हैं उन स्मृतिमान् बुद्धों की स्पृहा देवता लोग भी करते हैं।[५] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बुद्ध ने देवतावाद का विरोध न कर भविष्य के लिए हिन्दू देवताओं के समावेश का द्वार उन्मुक्त रक्खा था। विशेषकर महायान सम्प्रदाय ईश्वरवाद, अवतारवाद और देववाद को अत्यन्त उदार होकर ग्रहण करता हुआ दीख पड़ता है।

---

१. सिग्निफिकेंस ऐन्ड इम्पौर्टेन्स आफ जातकाज् पृ० १५६–१५९।

२. दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४५०। ३. वही पृ० ४५०।

४. धम्मपद पृ० ९६। १७, १०। ५. धम्मपद पृ० ७७। ३, १८१।

अभी तक महायानी साहित्य पर पड़ने वाले भागवत सम्प्रदाय का क्रमबद्ध अध्ययन उस रूप में नहीं किया जा सका है, जिसके आधार पर वज्रयानी सिद्ध-साहित्य में परिलक्षित होनेवाले भागवत तत्त्वों का सम्यक् निरूपण किया जा सके। परन्तु आलोच्य साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्ध साहित्य में भागवत तत्त्वों का समावेश किसी युगविशेष का नहीं प्रत्युत क्रमशः पड़नेवाले प्रभावों का परिणाम है।

यद्यपि तीसरी शती पूर्व के जातकों तथा अन्य पालि ग्रन्थों में राम और कृष्ण तथा उनकी बौद्ध रूप में परिवर्तित कथाओं का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उनमें ईश्वरवादी या अवतारवादी तत्त्वों का अभाव है। अम्बट्ठसुत्त (दीघनिकाय १।३) में कृष्ण नाम के एक प्राचीन ऋषि को स्मरण किया गया है। उस कथा के अनुसार उन्होंने दक्षिण देश में जाकर राजा इक्ष्वाकु से उनकी क्षुद्ररूपी कन्या माँगी थी। प्रारम्भ में क्रुद्ध होने के अनन्तर राजा ने वह कन्या उन्हें प्रदान की।[1] इसके अतिरिक्त कतिपय जातक कथाओं में राम-कृष्ण-सम्बन्धी कथायें मिलती हैं। विशेषकर दसरथ जातक (४६१), देवधम्म जातक (५१३) में पूरी रामकथा मिलती है तथा म्यद्धिस जातक (५१३) में रामवनगमन और साम जातक (५४०) में वाल्मीकिरामायण (२, ६३, २५) से सादृश्य विदित होता है।[2] इनमें रामकथा के बौद्ध रूप मात्र दृष्टिगत होते हैं।

उसी प्रकार कुणाल जातक (५३६) में कृष्ण-द्रौपदी-कथा तथा घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कंसवध और द्वारका बसाने तक की कथा मिलती है।[3] परन्तु इन कथाओं में भी उनके अवतारत्व का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे तत्कालीन ईश्वरवादी या अवतारवादी प्रभाव का अनुमान भले ही न होता हो फिर भी भागवत तथ्यों के प्रारम्भिक सम्पर्क का आभास अवश्य मिलता है।

पर महायान के प्राचीनतम वैपुल्य सूत्रों में मान्य अधिकांश ग्रन्थों पर भागवत धर्म के ईश्वरवादी, अवतारवादी और बहुदेववादी विचारों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रभाव दिखाई पड़ने लगता है। विशेषकर सद्धर्मपुंडरीक पर गीता के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है।[4]

---

१. पा० सा० ३ पृ० १३९।

२. पा० सा० इ० २९३–२९४।   ३. पा० सा० इ० पृ० २९४।

४. दी बोधिसत्त्व डा० पृ० ३१ में लेखक ने विंटरनित्स, कर्न, सेनर्ट, और के० जी० संउडर का मत दिया है।

भागवत धर्म में प्रचलित भगवत् और भगवान् इत्यादि शब्दों का प्रयोग प्रायः सभी सूत्रों में आद्यन्त मिलता है। सद्धर्मपुंडरीक में तथागत बुद्ध के लिए सर्वत्र भगवान् शब्द का प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ में भगवत् (भगवान्) के अतिरिक्त पुरुषोत्तम शब्द भी कतिपय स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।[१] परन्तु आश्चर्य यह है कि इसमें विष्णु, वासुदेव और नारायण का प्रयोग नहीं मिलता, जब कि इससे भी प्राचीन माने जानेवाले सूत्र ललितविस्तर में विष्णु और नारायण का उल्लेख हुआ है। बुद्ध की उपासना या अभिषेक के निमित्त शक्र, ब्रह्मा और महेश्वर के साथ प्रायः देवसमूह उपस्थित होता है।[२]

इस प्रसंग के सभी स्थलों में विष्णु का उल्लेख नहीं किया गया है।[3] इससे लगता है कि संभवतः वे विष्णु से अभिहित नहीं किए गये हैं।

पर विविध स्थलों में नारायण से बुद्ध को स्पष्ट रूप से तद्रूपित किया गया है। छब्बीसवें अध्याय में वे महानारायण की संज्ञा से विभूषित किये गये हैं।[४] कतिपय स्थलों पर उन्हें नारायण के सदृश शक्तियुक्त माना गया है।[५] बुद्ध नारायण के समान अच्छेद्य और अभेद्य कामवाले कहे गये हैं।[६] तेईसवें अध्याय में वे भगवत्स्वरूप बतलाये गये हैं।[७] असित ऋषि कपिलवस्तुनिवासी शुद्धोदन के घर में उत्पन्न बुद्ध को साक्षात् शक्तिशाली नारायण का अवतार ही मानते हैं।[८]

इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध ललितविस्तर के प्रणयनकाल तक नारायण के अवतार माने जा चुके थे। साथ ही महायानी साहित्य पर नारायण का यथेष्ट प्रभाव पड़ने लगा था। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बुद्ध को नारायण-अवतार सिद्ध करने की यह प्रवृत्ति सीधे वैष्णव महाकाव्यों से गृहीत हुई प्रतीत होती है, क्योंकि वैष्णव महाकाव्यों के सदृश असित ऋषि अपनी दिव्य दृष्टि से जम्बूद्वीप में नारायण को ही बुद्ध रूप में अवतरित हुए देखते हैं। अवतार होने के उपरान्त ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र, वैश्रवण तथा अन्य देवता उनकी स्तुति करते हैं। इन देवताओं में नारायण को भी बुद्ध

---

१. सद्धर्म पुं० पृ० १६ पृ० ४६।

२. ललितविस्तर—उदाहरणस्वरूप (अनुवाद) पृ० १००।

३. ल० वि० अनुवाद पृ० १०४, १०९, १४०। ४. ल० वि० अनु० पृ० ५६०।

५. ल० वि० मूल० पृ० १२४, १२६, १४७, १९४।

६. ल० वि० मूल० पृ० ३९२, २१ अध्याय 'नारायणस्य यथा काय अच्छेद्यभेद्या।'

७. ल० वि० मूल० पृ० ४७३। ८. ल० वि० मूल० पृ० १२४। ७

'जातं लक्षणपुण्यतेजभरितं नारायणस्थामवत्।'

का उपासक कहा गया है।[1] बुद्ध उपास्यविग्रह के रूप में जब मन्दिर में पैर रखते हैं, तब शिव, स्कन्द, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा और सभी देवताओं के साथ नारायण भी इनके चरणों में लोट जाते हैं।[2] पर ये दोनों उल्लेख संपादक को कदाचित् प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं, क्योंकि सातवाँ तो फुटनोट में दिया हुआ है और आठवाँ भी कोष्ठ के अन्दर छापा गया है।

अतएव सम्भवतः परवर्ती काल में बुद्ध के उपास्य रूप का अधिक प्रसार होने पर उनके उपासकों में नारायण को भी स्थान दिया गया। यदि इसे नारायण का बुद्ध से हीन ही रूप माना जाय तो भी यह नारायण का विष्णु रूप में गृहीत त्रिदेव रूप हो सकता है।

जो हो, बुद्ध को नारायण से अभिहित करने की यह परम्परा ललित-विस्तर से लेकर वज्रयानी सिद्धों की रचना ज्ञानसिद्धि तक दृष्टिगत होती है। ललितविस्तर के अतिरिक्त उसके बाद की रचना सुखावती व्यूह (भाषान्तर काल ई० सन् १४७–१८६) में भी नारायणवज्र का उल्लेख हुआ है। सुखावती व्यूह में जो बुद्धत्व प्राप्त करने के अधिकारी हैं, उन्हें जब तक नारायणवज्र संहतात्मभावस्थ की उपलब्धि नहीं हुई हो तब तक दक्षिण दिशा को पूर्णज्ञान करानेवाली कहा गया है।[3] करण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर के विराट रूप का वर्णन करते हुए 'अवलोकितेश्वर के हृदय से नारायण को उत्पन्न बताया गया है।[4] वज्रयानियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानसिद्धि में शक्तिशाली नारायण का उल्लेख हुआ है।[5]

इससे स्पष्ट है कि नारायण का प्रभाव प्रारम्भिक काल से ही बौद्ध साहित्य पर रहा है। उस काल में अवतारवाद का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा नारायण से ही अधिक मात्रा में विदित होता है। नारायण के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त वज्रयानियों की परवर्ती पुस्तक साधनमाला में नारायण का सामान्य रूप भी मिलता है, जिसमें ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र प्रभृति के साथ नारायण भी साधना के अभिलाषुक होकर कुरुकुल के उपासकों में परिगणित हुए हैं।[6] अतः कालान्तर में ज्यों-ज्यों उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय शून्यता के ही विविध रूपों से विकसित बौद्ध देवताओं को महत्त्व प्रदान करने लगे त्यों-त्यों नारायण

---

१. ल० वि० मूल पृ० ५७१, २६ नोट में। २. ल० वि० मूल० पृ० १३७, ८।
३. सुखावती व्यूह पृ० १७, २५। ४. बौ० ध० द० पृ० १५० करण्ड व्यूह के आधार पर।
५. ज्ञानसिद्धि पृ० ९६, १५। ६. साधनमाला पृ० ३५०।

आदि भागवत उपास्यों का प्रभाव घटकर अन्य प्रचलित देवों की ही समानता में आ गया।

नारायण के अतिरिक्त ललितविस्तर में विभिन्न देवों के साथ कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है[1] तथा बुद्ध-मूर्ति की तुलना पृथक् वाक्यों में कृष्ण-मूर्ति के साथ की गई है।[2] इस स्थल पर यह प्रतीत नहीं होता कि ये अवतार कृष्ण हैं या कोई अन्य कृष्ण। पर इनकी मूर्ति की चर्चा देखते हुए इनके उपास्य रूप का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है। अवतारवाद सदा ही उपास्यवाद की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहता है, अतः इस मूर्ति को भागवत कृष्ण की मूर्ति माना जा सकता है।

ललितविस्तर के उपरान्त प्रख्यात वैपुल्य सूत्रों में मान्य लंकावतार सूत्र में भी भागवत सम्प्रदाय के अनेक उपादान दृष्टिगत होते हैं। लंकावतार सूत्र में तथागत के दिव्य शरीर का वर्णन करते समय कहा गया है कि तथागत के हृदय में श्रीवत्स (विष्णु-चिह्न) स्थित है।[3] तथागत के विभिन्न रूपों में भारतीय सम्प्रदायों के कतिपय पौराणिक देवताओं और साधकों को समाहित करते हुए बताया गया है कि कुछ लोग मुझे तथागत कहते हैं तथा अन्य कुछ लोग मुझे स्वयम्भू, नेता, विनायक, परिनायक, बुद्ध, ऋषि, वरदराज, ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, अरिट, नेमि, सोम, सूर्य, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरुण कहते हैं तथा अन्य लोग अजन्मा, अविनाशी, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु, निर्वाण इत्यादि रूपों में देखते हैं।[4] इस कथन में एक ओर तो समन्वय की विराट भावना दृष्टिगत होती ही है, साथ ही यह भी विदित होता है कि लंकावतार सूत्र के काल तक वैष्णवों के उपास्य विष्णु तथा उनके राम, व्यास, कपिल इत्यादि अवतार भी तथागत से स्वरूपित किये जा चुके थे। तथागत के अवतार की यह परम्परा लंकावतार-सूत्र के अन्य सूत्रों में भी परिलक्षित होती है। लंकावतार सूत्र ७८४ के अनुसार शाक्यों के अवसान के पश्चात् उसी परम्परा में व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल और अन्य मनीषी भी इनके अनुयायी होंगे।[5] इसके पश्चात् सूत्र ७९५ में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि शाक्य सिद्धार्थ के पश्चात् विष्णु, व्यास और महेश्वर जैसे दार्शनिकों का आविर्भाव होगा।[6]

---

१. ल० वि० अनु० पृ० १९१, ११।

२. ल० वि० अनु० १९१, ११ मूल पृ० १४९, ११ 'प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा।'

३. लं० सू० पृ० १३। ४. लं० सू० पृ० १६६।

५. लं० सू० पृ० २८५। ६. लं० सू० पृ० २८६।

इससे शाक्य-सिद्धार्थ और विष्णु की परम्परागत ऐक्य-भावना के विकास का पता चलता है। सूत्र ८१५ में विष्णु-अवतार वामन के स्थान में बलि की ही महिमा का गान और उनके अवतार का वर्णन किया गया है। उस सूत्र के अनुसार तथागत के पश्चात् बलि का अवतार होगा और वे बलिराजा अवतरित होकर मानव-समुदाय का कल्याण करेंगे और जो कुछ भी परम हितकर और श्रेष्ठ है उसकी रक्षा करेंगे।[1] प्रस्तुत कथन में अवतार-कथा के विपरीत होते हुए भी वैष्णव अवतारवाद के प्रयोजन इसमें यथेष्ट मात्रा में प्रतिबिम्बित होते हैं।

इस प्रकार अन्य महायान सूत्रों के सदृश लंकावतार सूत्र में भी भागवत अवतारवाद के तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। भागवत के चौबीस अवतारों में मान्य व्यास, कपिल इत्यादि का शाक्य सिद्धार्थ की अवतार-सूची में गृहीत होना भी यह सूचित करता है कि चौबीस अवतार की कल्पना के पूर्व ही सम्भवतः बौद्ध अवतारों की कोटि में इनकी परिगणना होने लगी थी। पर ऐतिहासिक दृष्टि से भागवत पुराण के परवर्ती होने के कारण यह ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है कि लंकावतार सूत्र और भागवत में से कौन किससे प्रभावित है। दोनों में कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं, जिससे दोनों के परस्पर प्रभावित होने का अनुमान किया जा सकता है।

भागवत पुराण और लंकावतार सूत्र

भागवत में जिस प्रकार विष्णु, वासुदेव या नारायण के असंख्य अवतारों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार लंकावतार सूत्र ४० में कहा गया है कि बुद्ध अनन्त रूपों में अवतीर्ण होंगे और सर्वत्र अज्ञानियों में धर्म-देशना करेंगे।[2] लं० सू० में भागवत के समान चौबीस बुद्धों का उल्लेख हुआ है।[3] भागवत में गीता की भाँति युग-क्रम से धर्म की हानि और कलियुग में म्लेच्छों का प्रभाव नष्ट होने के उपरान्त धर्मयुग की स्थापना की जो परम्परा मिलती है उसका आभास लंकावतार सूत्र के ७८५—७८९ सूत्रों में मिलता है। इन सूत्रों में अवैदिक म्लेच्छों के कलियुग में नाश होने के उपरान्त पुनः वेद-प्रवर्तन और धर्मयुग के आगमन की पुष्टि की गई है।[4] इसके अतिरिक्त भागवत में प्रतिपादित युगावतार के सदृश लं० सू० ७९५ में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का उल्लेख हुआ है। इस सूत्र के अनुसार शाक्य

---

१. लं० सू० पृ० २८८।   २. लं० सू० पृ० २२९।
३. लं० सू० पृ० २५१।   ४. लं० सू० पृ० २८६।

सिंह का आविर्भाव तो कलियुग में होगा परन्तु सम्भवतः महामति तथागत बुद्ध और अन्य बुद्ध सत्ययुग में आविर्भूत होंगे।[1]

इस प्रकार अवतारवादी तत्त्वों की दृष्टि से भागवत पुराण और लंकावतार सूत्र में बहुत-कुछ साम्य प्रतीत होता है।

उपर्युक्त महायानी सूत्रों के उपरान्त सुखावती व्यूह और वज्रच्छेदिका ग्रन्थों में भागवत देवताओं का उल्लेख न होते हुए भी सर्वत्र और आद्यन्त तथागत के लिए भगवत् (भगवान्), भगवन्त, भगवन्देवता आदि भगवद्-वाची शब्दों का भरपूर प्रयोग मिलता है।[2] यही परम्परा गुह्यसमाज और मंजुश्रीमूल कल्प में भी परिलक्षित होती है। दोनों में आद्यन्त भगवन्त, भगवान् इत्यादि भगवद्वाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। अन्तर इतना ही है कि तथागत गुह्यक में तथागत बुद्ध के लिए और मंजुश्रीमूल कल्प में अधिकतर मंजुश्री बुद्ध के लिए भगवद्वाची शब्दों का प्रयोग हुआ है।[3] तथागत गुह्यक के वज्राधिष्ठान पटल में सर्वतथागताधिपति वज्रपाणि के साथ रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु का भी विचित्र समन्वय हुआ है। इस स्थल पर ब्रह्मा कायवज्र, महेश्वर वाग्वज्र और चित्तवज्रधर और राजा विष्णु माने गये हैं।[4] इस तन्त्र में संभवतः विष्णु अवतार हयग्रीव का ही भयंकर रूप हयग्रीव नाम से प्रस्तुत किया गया है। वे इस तन्त्र के अनुसार तीन मुखवाले, महाक्रोधी कल्पदाहकों के सदृश उद्भूत बताये गये हैं।[5]

परन्तु तथागत गुह्यक से भी अधिक मंजुश्रीमूल कल्प में तत्कालीन सम्प्रदायों और भागवत तत्त्वों के समन्वय की भावना दृष्टिगत होती है। इस ग्रन्थ में मंजुश्री का सम्बन्ध महेश्वर, विनायक और स्कन्द से स्थापित किया गया है।[6] इस तंत्र के इष्टदेवात्मक मन्त्र में विष्णु के पर्याय गरुड़वाहन, चक्रपाणि और चतुर्भुज शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] एक दूसरे स्थल पर मंजुश्री जीवों में विष्णुस्वरूप कहे गये हैं।[8] मंजुश्रीमूल कल्प में अन्य सम्प्रदाय के देवताओं के साथ विष्णु चक्रपाणि चतुर्भुज का गरुडासन पर स्थित तथा गदा-शंखयुक्त सर्वालंकारभूषित मूर्त्ति का उल्लेख किया गया

---

१. लं० सू० पृ० २८६।

२. वज्रच्छेदिका पृ० १–४६ और वीर सुखावती व्यूह पृ० १–७८।

३. तथागत गुह्यक पृ० १-१६८ और म० मू० क० प्रत्येक पटल के आरम्भ में द्रष्टव्य।

४. तथागत गुह्यक पृ० १२९। ५. तथागत गुह्यक पृ० ७१।

६. म० मू० क० पृ० ३२–३३। ७. म० मू० क० पृ० ३३।

८. म० मू० क० पृ० ३५।

है।[1] विष्णु के अतिरिक्त मंजुश्री कुमार की एक मूर्त्ति वराहाकार भी बतलाई गई है। वे महाघोर वराहाकार रूप में सम्भूत होते हैं।[2]

अवतारों में केवल वराह का उल्लेख होने के कारण इस तंत्र पर गुप्तकालीन भागवत सम्प्रदाय के प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। यों सामान्य रूप से विष्णु का प्रयोग अकेले या अन्य देवों के साथ मिलता है। वे कहीं तो 'विष्णु चक्र गदा हस्ते' के रूप में दृष्टिगत होते हैं, और कहीं 'रुद्र विष्णु ग्रहा चोरै' के रूप में रुद्र तथा अन्य ग्रहों के साथ उल्लेख किए गये हैं।[3] भगवान् शाक्यमुनि सत्त्वों के अनुग्रह के लिए ब्रह्मा और महेश्वर के साथ विष्णु का रूप भी धारण करते हैं।[4] शाक्यमुनि का यह गुणात्मक रूप भागवत के प्रभाव का परिणाम विदित होता है। इस प्रकार विविध स्थलों पर विष्णु का उल्लेख विविध रूपों में हुआ है।[5] कहीं तो अन्य देवों के साथ उल्लिखित वे केवल देवता मात्र हैं। कहीं उन्हें अन्य ग्रहों के साथ केवल ग्रह मात्र रूप में परिगणित किया गया है। बौद्ध देवों के साथ उनकी तद्रूपता अन्य देवों के साथ ही स्थापित की गई है।

सिद्धकालीन बौद्धतंत्र और सिद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य की उत्तरकालीन परम्परा में आनेवाले बौद्ध तंत्र और सिद्धों के भाषा-साहित्य में भी भागवत तत्त्वों का समावेश हुआ है। परन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि पूर्ववर्ती साहित्य में जहाँ भागवत तत्त्वों का केवल सामान्य रूप अधिक प्रचलित रहा है, वहाँ बौद्ध तंत्र या सिद्धों के चर्यापदों में प्रायः विष्णु या त्रिदेवों का निकृष्ट रूप अधिक प्रदर्शित किया गया है। साधनमाला में एक ओर तो भगवत् और भगवन्त इत्यादि भगवद् विशेषणों का पूर्वग्रन्थों की परम्परा के अनुसार ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है परन्तु दूसरी ओर त्रिदेवों में प्रचलित विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र अन्य देवों के साथ तारोद्भव कुरुकुलतारानामक बौद्ध देवी की सेवा सम्पादन करने वालेबतलाए गये हैं।[6] इसी प्रकार जम्भल नामक एक बौद्ध देवता भी विष्णु, ब्रह्मा, हर, इन्द्र, दैत्य और मुनियों द्वारा सेवित और लक्ष्मी द्वारा चामर प्रचालित करानेवाला प्रस्तुत किया गया है।[7] साधनमाला में हरिहरवामनोद्भव जो अवलोकितेश्वर

---

१. म० मू० क० पृ० ४४।

२. म० मू० क० पृ० १५३ (घोररूपो महाघोरो वराहाकारसम्भवः)

३. म० मू० क० पृ० २२५, २२८। ४. मृ० म० मू० क० पृ० २६५।

५. म० मू० क० पृ० २९३, ३३२, ४३४। ६. साधन मा० पृ० ३५०।

७. साधन मा० पृ० ५७१।

का एक रूप है, उनका वाहन प्रियपशु विष्णु कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त बौद्ध देवताओं की महत्ता स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो मृत्युवाचन तारा की पूजा करता है उसका ब्रह्म, इन्द्र, विष्णु आदि देवता बाल भी बाँका नहीं कर सकते।[2] एक मरीची नामक बौद्ध देवता के चरणों में प्रायः सभी हिन्दू देवता सेवकों की तरह नतमस्तक रहते हैं।[3] भूतडामर नामक एक बौद्ध देवता का मुख्य कार्य शक्र, ब्रह्म, कुबेर आदि देवताओं का मद विध्वंस करना है।[4]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि परवर्ती बौद्धधर्म में ज्यों-ज्यों देवतावाद का अधिक प्रसार होता गया त्यों-त्यों हिन्दू देवताओं को क्षुद्र बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी। फलतः बौद्ध वज्रयानी और मंत्रयानी साधनों में प्रायः उनके निकृष्ट रूप को उद्घोषित किया जाने लगा। इन देवताओं में विष्णु भी सामान्य देवता के ही रूप में गृहीत हुए हैं।

हयग्रीव

यों तो बौद्ध मूर्तियों के निर्माण पर ब्राह्मणमूर्ति, स्तोत्र या पूजापद्धति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, परन्तु उनमें वैष्णव अवतारों से सम्बद्ध मूर्तियों का अभाव विदित होता है।।

अपवादस्वरूप विष्णु के अवतारों में मान्य केवल हयग्रीव की ही मूर्तियाँ बौद्ध देवता अक्षोभ्य के साथ संयुक्त या स्वतंत्र मिलती हैं। इस हयग्रीव का मुख तो हयमुख है ही, साथ ही उसके हाथों में जो आयुध और चिह्न मिलते हैं, उनके आधार पर इतिहासकारों ने उसका सम्बन्ध विष्णु के अवतार हयग्रीव से ही माना है।[5] साधनमाला में हयग्रीव की जो महत्ता प्रतिपादित की गई है वह तत्कालीन बौद्ध देवताओं के अनुरूप उन्हीं की परम्परा में है। यहाँ हयग्रीव के साधकों की चर्चा करते हुए कहा गया है—जो हयग्रीव की साधना पूरी कर लेता है, वह विद्याधरों के लोक में जाकर सभी प्रकार के आनन्द उपलब्ध कर लेता है। वहाँ देवेन्द्र उसके छत्रपति, ब्रह्मा मन्त्री, वैमचित्री 'सैन्यपतिः' और हरि उसके प्रतिहार होंगे। समस्त देवताओं से वह घिरा होगा और नग्नाचार्य शंकर उसके समस्त गुणों को उपदर्शित करेंगे।[6]

---

१. साधन मा० पृ० ७७। २. साधन मा० पृ० २१४।
३. साधन मा० पृ० ३००। ४. साधन मा० पृ० ५१२।
५. दी एज आफ इम्पीरियल कनौज पृ० २८२। ६. साधन मा० पृ० ५१०।

यों तो विष्णु के अवतार भी उपास्य रूप में मान्य होने पर सर्वोत्कर्ष-वादी (हीनोथिस्टिक) रूप में वर्णित होते हैं फिर भी यहाँ हयग्रीव का उपास्य रूप बौद्ध उपास्य देवों की ही परम्परा में विदित होता है।

भागवत और शाक्त तत्त्व

उपर्युक्त देवों के अतिरिक्त साधन माला में भगवती कृष्णा, शूकरमुखी, चतुर्भुजा तथा नृ० वराह के सदृश भागवत के साथ-साथ शाक्तों से प्रभावित देवियों का उल्लेख हुआ है।[1] सिद्धों के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ सेकोद्देशटीका में भी वज्र वराह, वज्र वैष्णव, वज्र लक्ष्मी और 'वज्र विष्णवे नमः' जैसे प्रयोग मिलने लगते हैं।[2] तथा उन्हीं के समानान्तर सम्भवतः शाक्तों के ही प्रभावानुरूप ब्राह्मी, नारायणी, रौद्री, लक्ष्मी, ईश्वरी, परमेश्वरी, वाराही का भी उल्लेख हुआ है।[3]

इससे स्पष्ट है कि आलोच्यकालीन वज्रयान साहित्य पर भागवत तत्त्वों के साथ शाक्त रूपों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। परिणामतः इन देवियों की उपासना मूर्ति उनके मन्त्रों के साथ वज्रयानी शाखा में प्रचलित हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः बौद्ध सम्प्रदायों में भी भागवत सम्प्रदाय के सदृश समन्वय की मनोवृत्ति विकसित हो रही थी।

त्रिदेव

सिद्ध-साहित्य में भागवत तत्त्व सम्बन्धी जितने परम्परागत उपादान गृहीत हुए हैं, उनमें भागवत विशेषणों को छोड़कर सबसे अधिक ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है। परन्तु आलोच्य साहित्य में इनका उल्लेख मंडनात्मक न होकर खंडनात्मक रहा है। भागवत साहित्य में त्रिदेवों को प्रायः गुणावतार के रूप में ही ग्रहण किया जाता रहा है, जिसके फलस्वरूप इनका स्थान उपास्य पुरुष श्रीकृष्ण की अपेक्षा एक सोपान नीचे दृष्टिगत होता है। सिद्धों ने भी अपने चर्यापदों में कतिपय स्थलों पर तथागत या अन्य बुद्ध उपास्यों की तुलना में इनकी लघुता ही प्रदर्शित की है। सिद्ध चर्यापदों में काया में त्रैलोक्य के स्थित होने की चर्चा करते हुए ब्रह्मा और विष्णु की स्थिति भी काया में ही मानी गई है।[4] सिद्धों ने जहाँ

---

१. साधन मा० पृ० २७४।

२. सेकोद्देशटीका पृ० १२। ३. सेकोद्देशटीका पृ० १८।

४. हिं० का० धारा पृ० ९ पंक्ति ५० (छाया)—

काय तीर्थ क्षय जाय, पूछहु कुलहीनहं।
ब्रह्मा-विष्णु त्रैलोक्य, सकलहिं विलीन जहं॥

मूर्त्तिपूजा का बहिष्कार किया है वहाँ बोधिसत्त्व के साथ-साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सेवा का भी विरोध किया है।[1] राहुलजी द्वारा संपादित दोहाकोश में रवि-शशि के साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर में भी भ्रान्ति न करने के लिए कहा गया है।[2] एक दूसरे दोहे में गुरु-वचन के आधार पर साधित साधना को अनुत्तर धर्म माना गया है और हरि-हर और बुद्ध की उपासना को सम्भवतः कर्म तक ही सीमित बताया गया है।[3] जब कामना की शान्ति होकर उसका क्षय हो जाय उस स्थिति में सरहपाद ने एक ऐसे कुलहीन उपास्य की पूजा की चर्चा की है जिनमें ब्रह्मा, विष्णु और त्रिलोचन भी विलीन हो जाते हैं।[4]

इस प्रकार बौद्ध साहित्य और विशेषकर चर्यापदों में त्रिदेवों का जो रूप मिलता है वह साम्प्रदायिक नहीं जान पड़ता, क्योंकि जहाँ साम्प्रदायिक रूपों का उल्लेख हुआ है उसमें क्रमबद्ध त्रिदेव ही नहीं अपितु शक्र, स्कन्द, विनायक, कुबेर, सूर्य आदि अन्य आलोच्यकालीन सम्प्रदायों के भी उपास्य गृहीत हुए हैं। परन्तु चर्यापदों में त्रिदेवों का क्रम सर्वथा इनसे पृथक् मिलता है। सिद्धों ने अपने सर्वश्रेष्ठ उपास्यों की तुलना में इनके तुच्छ रूप को ही प्रदर्शित किया है जो परमपुरुष से अभिव्यक्त तीन सत्त्व, रज, तम के गुणात्मक रूप में अधिक प्रचलित रहा है। भागवतपुराण (१०, ३, २०) में ये ही तीनों रूप श्रीकृष्ण के गुणात्मक रूप माने गये हैं। अतएव सिद्ध-साहित्य में त्रिदेव उनके उपास्य के अभिव्यक्त रूप न होते हुए भी पौराणिक गुणात्मक त्रिदेवों जैसे ही लगते हैं।

जगन्नाथ

पूर्ववर्ती महायान साहित्य में तथागत बुद्ध को जितना अधिक नारायण से अभिहित किया गया है उतना अन्य पर्यायों से नहीं। परन्तु सिद्ध-साहित्य

---

१. दोहाकोश बागची पृ० ६६—

वम्ह विष्णु महेसुर देवा। वोहिसत्त्व म करहु सेवा॥

२. दोहाकोश (राहुल जी) पृ० १५—

रवि-ससि वेण्णवि मा कर भान्ती। वम्हा-विट्ठु महेसर भान्ती।

३. दोहाकोश (राहुलजी) पृ० २१ छाया—

'सरह भनै अनुत्तर धर्म, हरि-हर-बुद्ध जे एहउ कर्म।'

४. दो० को० (राहुलजी) पृ० २३—

कामान्त सान्त खअ जाअ, एत्थ पुज्जहु कुलहीणउ।
बाम्ह-विट्ठु-तइलोअ, जहिं जाइ विलीणउ।

में नारायण की अपेक्षा 'जगन्नाथ' का अधिक प्रयोग होता रहा है। प्रज्ञाकर मतिकृत बोधिचर्यावतार में तथागत बुद्ध को जगन्नाथ से भी अभिहित किया गया है। वहाँ उस महाबली जगन्नाथ के शरण में जाने की चर्चा की गई है जो जगत्-रक्षक, मुक्तिदाता और सर्वत्रासहारी है।[१] 'ज्ञानसिद्धि' के प्रारम्भ में ही 'सर्वबुद्धमय जगन्नाथ' की स्तुति की गई है।[२] वे पुनः दूसरे स्थल पर 'वज्रसत्व जगन्नाथ' की संज्ञा से भी अभिहित किए गए हैं।[३] तथागत के अतिरिक्त 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' में गुरु को जगन्नाथ कहा गया है।[४] यह परम्परा 'बौद्धगान ओ दोहा' में भी दृष्टिगत होती है। चर्यापदों की सिद्धों द्वारा की गई संस्कृत टीकाओं में प्रायः जगन्नाथस्वरूप गुरु का उल्लेख हुआ है।[५] बागची द्वारा सम्पादित सिद्धों की टीकाओं में भी जगन्नाथस्वरूप गुरु को सिद्धों ने नमस्कार किया है।[६]

इससे विदित होता है कि जगन्नाथविग्रह (जगन्नाथपुरी) से बुद्ध का तादात्म्य स्थापित किए जाने के पूर्व या समकालीन जगन्नाथ बुद्ध की पृष्ठभूमि विद्यमान थी।

भग

वज्रयानी तन्त्रों में बौद्ध तन्त्र की परम्परा के अनुकूल भगवत् और भगवान् का प्रचार तो हुआ ही, अब वैष्णव पुराणों और तन्त्रों में प्रतिपादित छः भग या छः गुणों को भी किंचित् परिवर्तित रूप में अपना लिया गया। विशेष कर चौरासी सिद्धों में मान्य बीसवें सिद्ध नारोपा की रचना सेक्कोद्देश-टीका और बौद्ध तन्त्रों में विख्यात 'हेवज्र तन्त्र' में क्रमशः छः गुण और 'भग' का बौद्धीकृत रूप मिलता है। पूर्व महायानी साहित्य में वह रूप नहीं मिलता जो इन तन्त्रों में परिलक्षित होता है।

यों छः भगों का स्पष्ट उल्लेख चौथी शताब्दी तक रचित विष्णुपुराण (६।५।७१-७९ में) किया गया है। विष्णुपुराण में भगवत् शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है तथापि उपासना के लिए उनका 'भगवत्' शब्द से उपचारतः कथन किया जाता है।[७]

---

१. बोधिचर्यावतार पृ० ६५ (२, ४८)—

अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान्।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान्॥

२. ज्ञानसिद्धि पृ० १, । १, १ ३. ज्ञानसिद्धि पृ० ४० । १, ९२ ।
४. प्रज्ञो० सि० पृ० ९ । २, २६ । ५. बौ० गा० दो० पृ० ७७ ।
६. दो० को० (बागची) पृ० ७२ । ७. वि० पु० ६।५।७१ ।

इस कथन से यह स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्म के उपास्य रूप को लेकर 'भगवत्' शब्द की अवतारणा हुई। उपास्य होने के नाते 'भगवत्' में 'बहुजन-हिताय' की भावना भी बद्धमूल है। इसी से विष्णुपुराण में भकार का अर्थ सबका पोषण करनेवाला और सबका आधार तथा गकार का अर्थ कर्म-फल प्राप्त करनेवाला, लय करनेवाला और रचयिता बताया गया।[1] इसी क्रम में सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः को सम्मिलित रूप से भग कहा गया।[2] पुनः भगवान् की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भगवान् शब्द का यों प्रयोग पूज्य पदार्थों को ज्ञापित करने में होता है परन्तु परमात्मा के लिए इस शब्द का प्रयोग मुख्य माना जा रहा है और अन्य पूज्य पदार्थों के लिए गौण। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवान् शब्द अन्य प्रयोगों की अपेक्षा परमात्मा के उपास्य रूप से भी सम्बद्ध था। यहाँ पुनः भगवत् शब्द के लिए वाच्य छः गुणों की चर्चा की गई है जिनके नाम ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज हैं।[3] इस प्रकार 'भग' के नाम से प्रचलित दो सूचियां विष्णुपुराण के एक ही स्थल पर मिलती हैं। उनमें केवल ऐश्वर्य और ज्ञान दोनों सूचियों में परिगणित हुए हैं। इन दो के अतिरिक्त प्रायः दोनों सूचियों में भिन्न-भिन्न नाम आए हैं। इससे प्रतीत होता है कि वैष्णव सम्प्रदायों में भगवाची भिन्न-भिन्न छः गुण प्रचलित थे।

किन्तु कालान्तर में भग का सम्बन्ध विष्णु के अवतारवादी रूपों में, विशेष रूप से मान्य अवतारी उपास्यों के साथ स्थापित किया गया।

इन ऐश्वर्य आदि छः गुणों का प्रभाव सिद्ध साहित्य पर लक्षित होता है। सेक्कोद्देशटीका में नारोपा ने वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित छः भगों में से समग्र ऐश्वर्य, श्री, यश और ज्ञान को समाविष्ट किया है तथा धर्म और वैराग्य के स्थान में रूप और प्रयत्न को स्थान दिया है।[4] ऐश्वर्यादि गुणों के पश्चात् 'हेव्रज तन्त्र' में भग की बौद्ध-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। हेव्रज के अनुसार क्लेश, मार आदि का भंजन करने के कारण भंजन ही भग कहा गया है। उन दुःखों को प्रज्ञा नष्ट करनेवाली है, इसलिए प्रज्ञा भग कही जाती है।[5] इस प्रकार बौद्ध तन्त्रकारों ने भग की सम्प्रदायानुरूप व्याख्या ही नहीं की है अपितु प्रज्ञा से भी अनोखा सम्बन्ध जोड़ा है।

जो हो, परवर्ती बौद्ध धर्म में भगवान् सर्वतथागत को विष्णु के समान ही ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त माना गया है।[6] सेक्कोद्देशटीका में पुनः बुद्धों और

---

१. वि० पु० ६।५।७३। २. वि० पु० ६।५।७४।
३. वि० पु० ६।५।७९। ४. सेक्कोद्देशटीका पृ० ३।
५. सेक्कोद्देशटीका में उद्धृत पृ० ३। ६. ज्ञानसिद्धि पृ० ८१।

ऐश्वर्यों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा गया है—जिन सभी ऐश्वर्यादि धर्मों से बुद्धों का उदय या सम्भवतः प्रादुर्भाव होता है—वही धर्मोदय कहा जाता है।[1] इससे प्रकट है कि ऐश्वर्यादि भग-विशिष्ट-गुणों की महत्ता वज्रयानी सिद्धों में भी उसी प्रकार स्थापित की गई थी जिस प्रकार अवतारवादी वैष्णव सम्प्रदायों ने मध्यकाल में अपने उपास्यों के पर या नित्य रूप के अतिरिक्त मायाविशिष्ट अवतरित रूप को अपनाया था। उसी प्रकार की प्रवृत्ति वज्रयानी सिद्धों में भी दीख पड़ती है। नारोपा ने सेकोद्देशटीका में उपास्य तथागत को विष्णु या वासुदेव के सदृश सर्वाकार, सर्वेन्द्रिय, विन्दु रूप के साथ-साथ विश्वमायाधर और 'भगवतः शरीरं' भी कहा है।

इससे विदित होता है कि यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो कम से कम परोक्ष रूप में अवश्य ही आलोच्यकालीन सिद्ध भागवत तत्वों के साथ-साथ अवतारवादी तत्वों से भी प्रभावित थे।

निष्कर्ष

इस प्रकार पूर्ववर्ती और परवर्ती बौद्ध और सिद्ध साहित्य में भगवत्, भगवान् इत्यादि शब्दों का यथेष्ट प्रचार रहा है। यों आलोच्य साहित्य के अध्ययन से ऐसा लगता है कि बौद्ध विद्वानों ने साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। किन्तु प्रसंगवश उन्होंने नारायण, विष्णु आदि वैष्णव उपास्यों का उल्लेख ही नहीं किया है अपितु नारायण और विष्णु से बुद्ध को स्वरूपित भी किया है। लगभग प्रथम शती पूर्व की रचना ललितविस्तर में ही बुद्ध एक प्रकार से नारायण के अवतार माने गए हैं। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव पुराणों में भले ही बाद में चलकर बुद्ध को विष्णु या नारायण का अवतार माना गया हो, किन्तु स्वयं बौद्ध ग्रन्थों में वे बहुत पूर्व ही नारायण नाम से अभिहित किये जा चुके थे। इससे उस काल में नारायण की व्यापक पूजा का भी पता चलता है।

जहाँ तक विष्णु के अवतारों का प्रश्न है, आलोच्य साहित्य में विष्णु के अवतार के रूप में किसी भी अवतार की चर्चा नहीं मिलती। केवल मंजुश्री मूलकल्प में मंजुश्री बुद्ध स्वयं विष्णु के चिन्हों से अभिहित किए गये हैं। इसके अतिरिक्त ललितविस्तर पृ० ५३९ में नृसिंह, पृ० १९१ में कृष्ण, लंकावतार सूत्र पृष्ठ १६६ में राम तथागत गुह्यक पृ० ७१ में हयग्रीव और मंजुश्रीमूल कल्प पृ० १५३ में वराह का उल्लेख हुआ है। ये सभी अवतार उन कृतियों में विष्णु की अपेक्षा बुद्ध के ही आविर्भाव या प्रतिरूप माने

१. सेकोद्देशटीका पृ० ७०।

गये हैं। लंकावतारसूत्र पृ० २८८ में बुद्ध के बलि अवतार की चर्चा हुई है, जो वामन अवतार का परिवर्तित्त रूप विदित होता है।

विग्रह रूप की दृष्टि से परवर्ती वज्रयानी साहित्य में विग्रह जगन्नाथ और बुद्ध के निकटतम सम्बन्ध का पता चलता है।

अन्त में भागवत सम्प्रदाय में व्याप्त ऐश्वर्यादि छः गुणों का भी प्रचार वज्रयानी सिद्ध साहित्य में दृष्टिगत होता है, जिनमें ऐश्वर्य, ज्ञान, यश और श्री ये चार तो सीधे वैष्णव साहित्य से गृहीत हुए हैं और शेष प्रयत्न और रूप बौद्ध सिद्धों की अपनी देन हैं। इसी क्रम में सिद्धों ने 'भग' की व्याख्या भी अपने मत के अनुरूप की है।

उपर्युक्त उपादानों के भागवत तत्त्व से संवलित होते हुए भी आलोच्य साहित्य में बौद्ध अवतारवाद की विशिष्ट रूपरेखा मिलती है जिस पर अगले शीर्षक में विचार किया गया है।

बुद्ध का अवतारवादी विकास

इतिहास की दृष्टि में बुद्ध भले ही मनुष्य हों किन्तु जहाँ तक उनका सम्बन्ध धर्मविशेष से है, वे महापुरुष, बौद्ध धर्म के प्रवर्तक या शास्ता मात्र नहीं अपितु लोकोत्तर पुरुष माने गए। उस काल में महात्माओं और ऋषियों का जो चमत्कारी प्रभाव भारतीय जन समाज पर पड़ चुका था, बुद्ध उसके विरोधी होते हुए भी श्रद्धान्ध जनसमूह के विश्वास का अतिक्रमण नहीं कर सके। भदन्त शान्ति भिक्षु के अनुसार बुद्ध के जीवन में ही उनके लोकोत्तरत्व की प्रसिद्धि हो चली थी, जिससे चिढ़कर बुद्ध ने कहा था कि इस प्रकार मेरे विषय में अनुमान करना मेरी निन्दा करना है।[1]

लोकोत्तर रूप

कालान्तर में उनके स्वाभाविक मानवीय जीवन को लेकर जिन कथाओं का प्रणयन हुआ, उनमें लोकोत्तर कथाओं का समावेश बढ़ता गया।[2] इस लोकोत्तरीकरण का फल यह हुआ कि स्वयं बुद्ध ही अब अपने दिव्य रूप का

---

१. महायान पृ० १७, मज्झिमनिकाय, ७१वां सुत्त।

२. महायान पृ० १५, १८। प्रस्तावना में लेखक ने बतलाया है, किस प्रकार अविदूरे-निदान, सन्तिकेनिदान तथा विनयपिटक की अट्ठकथाएं आरम्भ में मानवीय थीं और कालान्तर में उन पर लोकोत्तर रंग चढ़ाया गया।

परिचय देने लगे। ललितविस्तर के प्रसंगों में उनके दिव्य जन्म की कथाओं से उनकी अवतारोन्मुखी प्रवृत्ति की पुष्टि तो होती ही है,[1] साथ ही बुद्ध भी देवमन्दिर में जाने के लिए कहने पर स्वयं कहते हैं कि मुझ से बढ़कर कौन देवता है? मैं देवाधिदेव ही तो हूँ। जब कुमार देवकुल में जाकर ज्योंही दक्षिण पैर रखते हैं तभी ही अचैतन्य विविध देव-प्रतिमाएँ उनके पैरों पर गिर कर नमस्कार करती हैं और अपने स्वरूपों का परिचय देती हैं।[2]

बौद्धधर्म के प्रवर्तन के क्रम में बुद्ध के शास्ता या प्रवर्तक रूप का ज्यों-ज्यों विस्तार होता गया त्यों-त्यों बुद्ध में अनेक प्रकार की दिव्य शक्तियों के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन की अवतारणा की गई। शक्र शास्ता के लिए रत्नमय चंक्रमण का निर्माण करते हैं। तथागत श्रावकों के साथ जब यमक प्रतिहार्य करते हैं—तो उनके ऊपर के शरीर से अग्निपुंज निकलता है और निचले शरीर से पानी की धारा बहती है। वे देवता और मनुष्यों को देखते-देखते छः वर्णों की रश्मियाँ छोड़ते हैं।[3] अब उनके चमत्कारों से प्रभावित होनेवाले भक्तों की संख्या बढ़ने लगती है। भक्त भिक्षु एक मात्र यही परामर्श देते हैं, महानाम! 'तुम तथागत का स्मरण करो—वे भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्ध विद्याचरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुपम पुरुष-दम्य-सारथी, देव-मनुष्यों के शास्ता हैं'।[4] विन्टरनित्स ने महापरिनिर्वाण सूत्र (इण्डियन लिट० जी० २ पृ० ३८-४१) में इनका मानवी और अतिमानवी कथाओं का संयुक्त रूप स्पष्ट किया है। इस सूत्र में बुद्ध अधिक वृद्ध होने के कारण आनन्द से दूसरे की शरण न खोजकर अपनी शरण और धर्म की शरण खोजने के लिए कहते हैं। किन्तु इसके बाद वाले अंश में कहवाया गया है कि तथागत चाहें तो कल्प भर तक ठहर सकते हैं।[5] सेलसुत्त में सेल ब्राह्मण बुद्ध में महापुरुषों के ३० लक्षणों को तो स्वाभाविक रूप में तथा अन्य दो गुह्य चिन्हों को उनके योगबल के प्रताप से देख पाता है। तत्पश्चात् वह यह देखना चाहता है कि ये बुद्ध हैं कि नहीं। वहीं सेल और भगवान् के वार्त्तालाप में भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'लोक में जिसका बार-बार प्रादुर्भाव दुर्लभ है वह मैं (राग आदि) शल्य का छेदनेवाला अनुपम सम्बुद्ध हूँ।'[6]

दिव्य जन्म

इस प्रकार बुद्ध में एक ओर तो चमत्कारपूर्ण लोकोत्तर रूप का प्रसार हुआ और दूसरी ओर बुद्ध के जन्म को भी सदा इस लोक में दुर्लभ कहा

---

१. ल० वि० पृ० १३२ अध्याय ७।
२. ल० वि० पृ० १३६-१३७।
३. बुद्धचर्य्या पृ० ८६-८९।
४. बुद्धचर्य्या पृ० २५३ महानाम सुत्त।
५. महायान प्र० पृ० १९।
६. बुद्धचर्य्या पृ० १६५ सेलसुत्त।

जाने लगा। केसपुत्तिय-सुत्त में स्पष्ट कहा गया है कि जिसका सदा प्रादुर्भाव इस लोक में दुर्लभ है, वह प्रसिद्ध 'बुद्ध' आज लोक में पैदा हुए हैं।[1] प्रस्तुत सुत्त के अतिरिक्त तेविज्ज सुत्त और अम्बट्ठ सुत्त में भी गीता (४-९) में प्रतिपादित ईश्वर के दिव्य जन्म और कर्म के सदृश तथागत के दिव्य जन्म और कर्म की चर्चा होने लगती है।

बुद्ध के इस दिव्य जन्म और कर्म पर भारतीय संस्कृति में व्याप्त पुनर्जन्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। पुनर्जन्म के प्रवेश का मुख्य कारण यह भी रहा है कि बुद्ध ने कहीं भी पुनर्जन्म का विरोध नहीं किया था।

पुनर्जन्म

फलतः उनका दिव्य जन्म बाद में पुनर्जन्म से भी प्रभावित होता गया और विष्णु के अवतारवादी जन्मों की भाँति उनके बार-बार जन्म लेने की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

बौद्ध धर्म की परिधि में विकसित १८ निकायों में से कतिपय निकायों ने बुद्ध के लोकोत्तर रूप और अवतारवादी जन्म को अपना लिया। लोकोत्तर-वादियों के विख्यात ग्रन्थ महावस्तु में बुद्ध के अवतारवादी लोकोत्तर रूप का विस्तृत परिचय मिलने लगता है। महावस्तु में ही एक स्थल पर केवल बुद्ध को ही नहीं अपितु उनके शरीर, आहार और चीवरधारण को भी लोकोत्तर कहा गया है। वे इस मत के अनुसार माता-पिता से उत्पन्न नहीं होते अपितु इनका जन्म उपपादुक है।[2]

इससे स्पष्ट है कि बुद्ध में जिन लोकोत्तर तत्त्वों और महापुरुषों के ३२ लक्षणों का समावेश हुआ उन्हीं में उनके अवतारवादी दिव्य जन्म और कर्म की भी भावना विद्यमान थी।

इसके अनन्तर पूर्व जन्म का प्रभाव सुत्त-कथाओं में भी दृष्टिगत होने लगता है। इन पूर्वजन्म की सुत्त-कथाओं में कभी राजा, कभी ब्राह्मण आदि से बुद्ध को अभिहित किया गया है। महासुदस्सन सुत्त (दीघ० २।४) की कथा के अनुसार बुद्ध पूर्व जन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे। इसी प्रकार महागोविंद सुत्त (दीघ० २।६) के अनुसार पूर्वजन्म में बुद्ध महागोविंद नामक ब्राह्मण थे।

---

१. बुद्धचर्य्या पृ० ३७५ केसपुत्तिय सुत्त।
२. बौद्ध ध० द० पृ० १३०, महावस्तु जी० १ पृ० १६३।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि बुद्ध के प्रारम्भिक अवतारवादी रूप के निर्माण में लोकोत्तर रूप, दिव्य या दुर्लभ जन्म और पुनर्जन्म का विशेष योग रहा है। यह धारणा भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य भारतीय सम्प्रदायों के प्रवर्तक भी प्रायः इन्हीं तत्त्वों से प्रेरित होकर अवतार रूप में प्रचलित होते रहे हैं।

अतएव इन तत्त्वों के प्रभाववश किस प्रकार बुद्ध के विभिन्न रूपों का विस्तार हुआ, यह भी इसी प्रसंग में विचारणीय है।

अनन्त बुद्ध

कालान्तर में विविध बुद्ध रूपों का जितना विकास हुआ उसमें बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्त की गई साधना या पारमिताओं के अभ्यास का विशेष योग रहा। पारमिताओं पर आगे चलकर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। परन्तु सूत्रालंकार (९।७७) में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्न का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई पुरुष आदि से बुद्ध नहीं होता, क्योंकि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए, पुण्य और ज्ञानसंभार की आवश्यकता है। फिर भी क्रमशः बुद्धों की संख्या बढ़ती ही गई। यद्यपि प्रारम्भ में यह माना जाता था कि एक साथ दो बुद्ध नहीं हो सकते, किन्तु महायान मत में एक काल में अनेक बुद्धों का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया। उनकी स्थिति में केवल लोक सम्बन्धी प्रतिबन्ध माना गया कि एक लोक में अनेक बुद्ध एक साथ नहीं हो सकते।[१]

इससे बुद्धों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। सद्धर्म पुंडरीक में अनन्त बोधिसत्त्वों की उपमा गंगा की बालुका से दी गई है और कहा गया है कि ये सभी बोधिसत्त्व लोकेन्द्र हैं।[२] आगे चलकर यही उपमा बुद्धों के लिए रूढ़-सी प्रयुक्त हुई जान पड़ती है।

लंकावतार सूत्र में केवल यही नहीं बताया गया कि बुद्ध कोई भी रूप धारण कर सकते हैं,[३] अपितु कतिपय सूत्रों में पुनः यह कहा गया कि गंगा की बालुका के सदृश असंख्य बुद्ध भूत, वर्तमान और भविष्य में तथागत होते हैं।[४] इन कथनों का अवतारवादी रूप लंकावतार सूत्र के ही उत्तर खंड (सुगथकम्) में स्पष्ट दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार विष्णुपुराण और भागवत में विष्णु के असंख्य अवतार माने गए हैं, उसी प्रकार इस ग्रन्थ के एक सूत्र के अनुसार पृथ्वी पर असंख्य बुद्ध भी अवतरित होते हैं। इनके रूपकार्यों की या

---

१. बौ० ध० द० पृ० १०४–१०५।
२. सद्धर्म पुं० पृ० ३०२। १४, ९।
३. लं० सू० पृ० ९।
४. लं० सू० पृ० १९८।

सम्भवतः निर्माणकार्यों की संख्या अनन्त है। जहाँ भी लोग अज्ञान में पड़े हुए हैं वहीं उन्हें बुद्ध का धर्मप्रवचन सुनने को मिलता है।[1]

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध सम्प्रदायों के प्रारम्भ में जन्म या पुनर्जन्म के प्रभाववश बुद्ध ने असंख्य अवतारवादी रूपों का प्रतिपादन किया। किन्तु बाद में चलकर इस अनन्त संख्या के स्थान में ५, ७, २४, ३६ जैसी कुछ सीमित संख्याओं में ही बुद्ध के अनेक अवतार एवं उपास्य रूपों का प्रचार हुआ।

चौबीस बुद्ध

संख्याबद्ध बुद्धों में सबसे पहले चौबीस बुद्धों का उल्लेख मिलता है। जातक कथाओं का दूरेनिदान, अविदूरेनिदान और सन्तिकेनिदान के नाम से जो विभाजन किया गया है, उनमें से दूरेनिदान के अन्तर्गत एक कथा इस प्रकार मिलती है—

'प्राचीनकाल में एक सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हीं के समय दीपंकर नामक एक बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपंकर बुद्ध की आगवानी के लिए जो रास्ता सजा रहे थे, उसी रास्ते में कीचड़ देखकर सुमेध स्वयं मृगचर्म बिछाकर लेट गए। उसी रास्ते से जाते समय सुमेध की श्रद्धा और त्याग देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की कि यह कालान्तर में बुद्ध होगा। बाद में सुमेध ने अनेक जन्मों में सभी पारमिताओं की साधना पूरी की और उसी क्रम में उन्होंने विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्धों की भी सेवा की। वे बाद में तुषित लोक में उत्पन्न हुए और पुनः वे ही लुम्बिनी में सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुए'।[2]

इस कथा में सिद्धार्थ बुद्ध के पुनर्जन्म की महिमा तो स्पष्ट है ही, साथ ही विभिन्न कल्पों के चौबीस बुद्धों का भी उल्लेख हुआ है, जो सम्भवतः इस कथा में अवतारवादी उपास्य बुद्ध के रूप में गृहीत हुए हैं।

आगे चलकर बुद्धवंस की कथा में भी सुमेध बोधिसत्त्व कोणगमन बुद्ध और उनके शिष्यों को चीनपट्ट भेंट देते हैं (पृ० ३२)। भदन्त शान्तिभिक्षु ने चीन शब्द के आधार पर जिस काल (ई० पू० २५५) का अनुमान किया है, उससे लगता है कि कम-से-कम ईसा पूर्व प्रथम या दूसरी शताब्दी में ही चौबीस बुद्धों का उल्लेख हो चुका होगा।

---

१. लं० सू० पृ० २२९, सू० ४०। २. महायान प्रस्तावना पृ० १५।

जैन और भागवत मत में चौबीस संख्या

इसी प्रसंग में यह भी देख लेना अनुचित न होगा कि जैन और भागवत धर्म में प्रचलित क्रमशः चौबीस तीर्थंकर और चौबीस अवतार किस काल में प्रचलित हुए। इस दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध और जैन उल्लेखों की अपेक्षा वैष्णव चौबीस अवतार की कल्पना ही अधिक परवर्ती विदित होती है, क्योंकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप में भी केवल दशावतारों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक १०, ११, १२, १४, २२ की संख्या भी अन्य पुराणों में मिलती है। परन्तु चौबीस अवतार का स्पष्ट उल्लेख भा० २, ७ में ही मिलता है। श्रीमद्भागवत का काल विद्वान् अधिक-से-अधिक छठी शताब्दी तक मानते हैं।[1] इसके विपरीत जैन चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा जिस रूप में प्राचीन जैन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में मिलती है, उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि जैन चौबीस तीर्थंकरों की कोई प्राचीन परम्परा रही है। अपने काल में उस परम्परा के अनुकूल ही तिलोयपण्णत्तिकार ने जैन तीर्थंकरों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की यह धारणा भागवत पुराण के चौबीस अवतारों के उल्लेख की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। परन्तु तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल भी जैन इतिहासकारों के अनुसार विक्रमीय सं० ५३५ और ६६६ के मध्यकाल का समय स्थिर किया गया है।[2] अतः काल की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों की चौबीस संख्यात्मक योजना प्रायः समसामयिक विदित होती है। यों अनुमानतः केवल शैली की दृष्टि से जैन चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा को किंचित् प्राचीनतर कहा जा सकता है।

किंतु चौबीस बुद्धों की परम्परा चौबीस जैन तीर्थंकरों की परम्परा से भी प्राचीन ज्ञात होती है, क्योंकि बौद्ध वाङ्मय के अनुसार ई० पू० से ही उक्त परम्परा मिलने लगती है।

इससे यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत होता है कि आरम्भ में चौबीस बुद्धों की कल्पना बौद्ध वाङ्मय में हुई, तत्पश्चात् जैनों ने भी चौबीस तीर्थंकरों का प्रचार किया और कुछ काल के अनन्तर भागवत में भी वैष्णव अवतारों की संख्या चौबीस मानी गई। फिर भी जैनों में यह संख्या जितनी रूढ़ दीख पड़ती है उतनी बौद्धों या वैष्णवों में नहीं, क्योंकि बौद्ध और वैष्णव मत में बुद्ध के विविध रूपों तथा विष्णु के अवतारों की संख्या सदैव एक-सी नहीं रही।

---

१. भागवत सम्प्रदाय पृ० १५३। २. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १०।

चौबीस अतीत बुद्ध

बौद्ध साहित्य में उपर्युक्त चौबीस बुद्धों को अतीत बुद्ध माना गया। चौबीस बुद्धों के प्राथमिक संग्रह बुद्धवंस में इनकी कल्पना अतीत बुद्ध के रूप में हुई है।[1] इस अट्ठाइस परिच्छेदों के पद्यात्मक ग्रन्थ में पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की जीवनी पौराणिक ढंग से दी गई है।[2] इन बुद्धों के साथ बुद्ध को सम्बद्ध करने के निमित्त यह कहा गया है कि पूर्वजन्मों में शाक्यमुनि बुद्ध ने इन चौबीस पूर्ववर्ती बुद्धों की सेवा की थी। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका वर्णन पच्चीसवें बुद्ध के रूप में किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में पच्चीस बुद्धों की जीवन-गाथा का वर्णन हुआ है। इनमें चौबीस पूर्ववर्ती बुद्ध तो अतीत बुद्ध हैं और शाक्यमुनि गौतम बुद्ध वर्तमान बुद्ध हैं।

किंतु केवल इसी कल्पना से बौद्ध पंडित संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने भावी बुद्ध की कल्पना कर इस ग्रन्थ के पूरक स्वरूप 'अनागत वंस' की रचना की। इसमें छब्बीसवें बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का बुद्धवंस की ही शैली में वर्णन किया गया है।[3] भावी बुद्ध की यह कल्पना कल्कि अवतार के समानान्तर जान पड़ती है। दोनों की कथाओं में भी किंचित् साम्य दीख पड़ता है। अनागत वंस के अनुसार बुद्ध मैत्रेय जम्बू द्वीप (भारतवर्ष) की केतुमति नामक नगरी में ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होंगे। इनकी माता का नाम ब्रह्मावती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। इनका प्रारम्भिक नाम अजित होगा। ये ८०० वर्ष तक गार्हस्थ्य सुख का उपभोग करने के बाद प्रव्रज्या लेंगे।[4]

इन तथ्यों के क्रमिक अध्ययन से स्पष्ट है कि बुद्ध के विविध रूपों की कल्पना के मूल कारण ये चौबीस बुद्ध हुए। बुद्धवंश में अतीत बुद्धों के रूप में इनके मान्य होने पर स्वभावतः वर्तमान और भावी बुद्धों की भी आवश्यकता हो गई। फलतः ऐतिहासिक बुद्ध को तो वर्तमान बुद्ध माना गया और भावी बुद्ध के लिए मैत्रेय नाम के एक नए बुद्ध की कल्पना की गई। इस प्रकार अतीत बुद्धों की ही परम्परा में वर्तमान और अनागत बुद्धों के भी बीज विद्यमान हैं।

किंतु लंकावतार सूत्र में पच्चीस स्कंध, आठ रूप और दो प्रकार के बुद्ध पुत्रों की चर्चा करते समय चौबीस बुद्धों का भी उल्लेख किया

---

१. महायान पृ० १९।

२. बुद्धवंस (देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित)

३. पा० सा० इ० पृ० ५८५। ४. पा० सा० इ० पृ० ५८६।

गया है।[1] इससे लगता है कि चौबीस बुद्धों की भी कोई परम्परा बौद्ध साहित्य में रही होगी। पर लंकावतार सूत्र के आरम्भ (अ० १, २) में ही कहा गया है कि लंका में अतीत बुद्धों का निवास था।[2] परन्तु यहाँ अतीत बुद्धों की किसी संख्या विशेष का उल्लेख नहीं है। पुनः छठे अध्याय में अतीत, वर्तमान और अनागत असंख्य बुद्धों की चर्चा हुई है[3] तथा एक दूसरे स्थल पर इसी ग्रन्थ में बुद्धों की संख्या ३, ६ बतलाई गई है।[4]

इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में चौबीस बुद्धों की कल्पना की गई थी। उसी से अतीत, वर्तमान और अनागत बुद्धों का भी विकास हुआ। परन्तु इनकी संख्या सदैव एक सी नहीं रही।

बुद्ध के संख्यात्मक विकास के अतिरिक्त उनकी उत्क्रमणशील साधना, बुद्धत्व, उपदेश, धर्मप्रसार और बहुजनहिताय कार्य व्यापारों के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के बुद्धों के रूप लक्षित होते हैं। इनमें से प्रायः अधिकांश का सम्बन्ध बौद्ध अवतारवादी तत्वों से रहा है।

प्रत्येक बुद्ध

प्राचीन बौद्ध धर्म के मुमुक्षुओं में तीन आदर्श प्रधान रूप से प्रचलित थे, जिन्हें श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध के नाम से अभिहित किया जाता है। इस क्रम में पूर्व रूप की अपेक्षा पर पद श्रेष्ठ है। श्रावक उपाय यज्ञ थे और दुःख निवृत्ति के मार्ग से वे परिचित थे। किंतु बोधि ज्ञान के लिए उनको बुद्धादि शास्ताओं की देशना पर निर्भर करना पड़ता था। फिर भी श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ न करके वह केवल मृत्यु से मुक्त हो जाता था।

परन्तु प्रत्येक बुद्ध का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। इसका सम्बन्ध भी वैयक्तिक स्वार्थ तक ही सीमित है। प्रत्येक बुद्ध केवल अपने बुद्धत्व तक सीमित होता है। सामान्य रूप से प्रतीत्यसमुत्पाद की साधना से मनुष्य प्रत्येक बुद्ध होता है। इस साधना के द्वारा वह केवल व्यक्तिगत दुःख दूर कर सकता है। अतः श्रावक और प्रत्येक बुद्ध में बुद्ध की व्यक्तिगत साधनाओं की साधारण और उच्च दो अवस्थाएं दृष्टिगत होती हैं। इन रूपों में बुद्ध की प्रारम्भिक उत्क्रमणशील प्रवृत्ति का परिचय मिलता है' जिसका अनुसरण श्रावक और प्रत्येक बुद्धों ने किया। यों तो इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत साधना से ही रहा है, किंतु किंचित् अवतारवादी तत्वों की भी झलक इनमें मिलती है।

---

१. लं० सू० पृ० २५१ सूत्र ३१६।
२. लं० सू० पृ० ५।
३. लं० सू० पृ० १९८।
४. लं० सू० पृ० २५६।

करुणा का उद्रेक और बहुजन-हित के निमित्त धर्म-देशना बौद्ध धर्म के दो मुख्य अवतारवादी प्रयोजनात्मक तत्त्व हैं। इस दृष्टि से श्रावक और प्रत्येक बुद्ध की करुणा भी सत्त्वावलम्बन है। सत्त्वों का दुःख दुःखत्व और परिणाम दुःखत्व का अवलम्बन करके इनकी करुणा उत्पन्न होती है, और श्रावक की देशना वाचिकी होती है परन्तु प्रत्येक बुद्ध की कायिकी।[1]

सम्यक् सम्बुद्ध

पर श्रावक और प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा सम्यक् सम्बुद्ध का आदर्श अधिक श्रेष्ठ ही नहीं समझा जाता बल्कि सम्यक् सम्बोधि को ही बुद्ध भगवान् कहते हैं। ये अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हैं। इनका लक्ष्य कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या और अशेष विश्व-कल्याण भावना है। गोपीनाथ कविराज के अनुसार क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से ही बुद्धत्व लाभ नहीं होता। श्रावक का द्वैत बोध नहीं छूटता। प्रत्येक बुद्ध का भी पूरा द्वैत भाव नहीं छूटता। केवल सम्यक् सम्बुद्ध ही द्वैत भाव से निवृत्त होकर अद्वय भूमि में प्रतिष्ठित होता है।[2] सम्यक् सम्बुद्ध बोधिसत्त्व का ही प्रारम्भिक रूप है। प्राचीन साहित्य में सम्यक् सम्बुद्ध प्रचलित है तथा उत्तरवर्ती साहित्य में बोधिसत्त्व का अधिक प्रचार हुआ। क्योंकि दोनों अनन्त ज्ञान और महाबोधि प्राप्त करते हैं। दोनों में अनन्त ज्ञान के साथ-साथ करुणा भी विद्यमान है। सम्यक् सम्बुद्ध का लक्ष्य केवल स्वदुःख की निवृत्ति न होकर—सत्त्वार्थ क्रिया परार्थ भावापादन या निरन्तर जीव सेवा है। अपने उक्त पारिभाषिक अर्थ में सम्यक् सम्बुद्ध का सद्धर्म पुंडरीक में प्रायः प्रयोग हुआ है।[3] सेल-सुत्त में सम्बुद्धों का दर्शन और जन्म बार-बार दुर्लभ बताया गया है।[4] एक कथा के अनुसार शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारमिताओं के अभ्यास द्वारा सम्यक्-सम्बुद्ध की लोकोत्तर-संपत्ति प्राप्त की थी।[5] महायान धर्म में महाकरुणा को सम्यक् सम्बोधि का साधन माना जाता है। इसके साधक सम्यक् सम्बुद्ध प्रज्ञापारमिता के अनुसार मायोपम बताए गए हैं।[6]

इससे स्पष्ट है कि सम्यक् सम्बुद्ध बुद्ध का सम्बोधि प्राप्त रूप है। इस रूप में वे अनन्त ज्ञान और महाकरुणा दोनों की प्राप्ति कर चुके हैं। बुद्ध के

---

१. बौ० ध० द० (कविराज पृ० २१)
२. बौ० ध० द० (कविराज पृ० २४)
३. सद्धर्म० पु० पृ० २९।
४. बुद्धचर्य्या पृ० १६५।
५. बौ० ध० द० पृ० १८२।
६. बौ० ध० द० पृ० १८३, ११५।

अवतार-कार्य तथा अवतारवादी रूपों के विकास में इस रूप का सर्वाधिक महत्त्व है। यही नहीं, बुद्ध के अनन्तर बौद्ध अवतारवाद के प्रसारक महायानी बोधिसत्त्वों के मूल में भी सम्यक् सम्बुद्ध नींव स्वरूप रहा है।

धर्मता बुद्ध, निःष्यन्द बुद्ध और निर्माण बुद्ध

बौद्ध धर्म में जिन त्रिकायों (धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय) का अधिक प्रचार रहा है, वे प्रारम्भ में बुद्ध के विशिष्ट रूपों से सम्बद्ध रहे हैं। इन कायों को ही पूर्ववर्ती साहित्य में क्रमशः धर्मता बुद्ध, निःष्यन्द बुद्ध और निर्माण बुद्ध कहा जाता था। लंकावतार सूत्र के अनुसार क्रमशः धर्मबुद्ध से निःष्यन्द और निःष्यन्द बुद्ध से निर्मिता या निर्माण बुद्ध उत्पन्न हुये। ये तीन उनके स्वयं रूप हैं और अन्य उनके परिवर्तित रूप हैं।[1] विशेषकर इनमें धर्मबुद्ध ही सत्य बुद्ध हैं और अन्य बुद्ध उनके निर्मित रूप हैं। इन्हीं से बुद्धवंश का अविरल प्रवाह निःसृत होता है। निर्वाणेच्छु प्राणी तब से लगातार इन बुद्धों का दर्शन करते रहे हैं। निःष्यन्द बुद्ध सम्भोगकाय का ही एक प्रतिरूप है। 'प्रज्ञापारमिता' के अनुसार सम्भोगकाय बुद्ध का सूक्ष्मकाय है। इसके द्वारा बुद्ध बोधिसत्त्वों को उपदेश देते हैं। यह शरीर उनका तेजः पुंज है, इस शरीर के प्रत्येक रोम कूप से अनन्त रश्मियां निःसृत होती है।[2] लंकावतार सूत्र में विवेच्य त्रिरूप तो मिलते हैं किन्तु इनसे सम्बुद्ध त्रिकायों का परिचय नहीं मिलता। किंतु लंकावतार सूत्र की भूमिका में प्रो० सुजुकी का कहना है कि ये परिवर्तन काय या निर्माणकाय अनिवार्य रूप से बुद्ध की इच्छा से उन अज्ञानियों की रक्षा के लिये निर्मित किये जाते हैं, जिन्हें बुद्ध-मार्ग में प्रवृत्त करना है। यदि वे किसी प्रकार बुद्धता की ओर प्रवृत्त नहीं हो सके तो कम से कम अंशतः भी उनको झुकाने के लिए वे महाकरुणा से आविष्ट होकर कोई भी अवतार धारण कर सकते हैं।[3]

अतएव विवेच्य तीनों रूपों में प्रथम से बुद्ध के सनातन परब्रह्म के सदृश शाश्वत सत्ता का भान होता है और दूसरा रूप साधनों के लिये उपयुक्त उनका ज्योतिः स्वरूप है। तीसरा निर्माण बुद्ध का रूप ही बौद्ध साहित्य में अवतार-काय के नाम से विख्यात है। क्योंकि अवतार-कार्य के निमित्त विविध स्थान, विविध युग और विविध मानव समुदायों में भी करोड़ों निर्माण बुद्ध उत्पन्न हुआ करते हैं। निश्चय ही निर्माणकाय में व्यापक अवतारवाद का दृष्टिकोण अभिव्याप्त है।

---

१. लं० सू० पृ० २५९। २. बौ० ध० द० पृ० १६५।
३. लं० सू० भू० पृ० १४।

मानुषी बुद्ध

यों तो निर्माण बुद्धों की संख्या अनन्त मानी जाती है किंतु सात मानुषी बुद्ध उल्लेख योग्य हैं। कहा जाता है कि प्रारम्भ में सात ही मानुषी बुद्ध के निर्माणकाय कहे जाते थे। ये समय समय पर संसार में धर्म की प्रतिष्ठा के लिये आते हैं।[1] इनके संख्यात्मक विकास के सम्बन्ध में कहा जाता है कि आरम्भ में ये सात थे बाद में २४ हो गए।[2] किन्तु महायान में बुद्धों की एक अव्यवस्थित सूची दी जाती है, जिसमें ३२ विभिन्न नाम मिलते हैं। उनमें से अंत के नाम वाले सात तथागत जो विख्यात हैं, महायानियों के द्वारा मानुषी बुद्ध कहे जाते हैं।[3] पर पूर्वकालीन कृतियों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका क्रमिक विकास हुआ है। बुद्धचर्या में संकलित एक प्राचीन कथा के अनुसार सात 'मनुप बुद्धों' में से विपश्यी, शिखी और विश्वभू के लिए कहा गया है कि उनका ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नहीं हुआ क्योंकि उनके द्वारा उपदेशित भिक्षु उक्त मानुषी बुद्धों के निर्वाणोपरान्त ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सके, परन्तु क्रकुछन्द, कोना गमन, कस्सप के द्वारा उपदेशित लोगों ने उनके बाद भी ब्रह्मचर्य का पालन किया।[4] यहाँ सात मानुषी बुद्धों में अधम और उत्तम वर्ग के छः मानुपी बुद्धों का उल्लेख हुआ है। लंकावतार सूत्र में कश्यप, क्रकुछन्द और कनक मुनि इन तीन ही का उल्लेख हुआ है।[5] इससे विदित होता है कि सात मानुषी बुद्धों का भी क्रमशः विकास होता गया। सम्प्रदायों में इस भद्र कल्प के सात बुद्ध कहे गए हैं जिनमें उक्त छः के अतिरिक्त सातवें गौतम हैं। इस प्रकार विपश्येन, शिखी, विश्वभू, कश्यप, क्रकुछन्द, कनकमुनि और शक्यसिंह ये सात मानुषी विख्यात हैं। कहा जाता है कि दिव्य बोधिसत्त्व इन्हीं मानुषी बुद्धों के द्वारा विश्व में अपना कार्य करते हैं। बाद में बौद्ध तंत्र ग्रन्थों में मानुषी बुद्धों के भी बुद्ध शक्तियों और बोधिसत्त्वों का निर्माण हुआ, जिनमें केवल यशोधरा और आनन्द ही परिचित या ऐतिहासिक विदित होते हैं।

इस प्रकार मानुषी बुद्ध प्रारम्भ में तो निर्माण बुद्ध से निर्गत सात बौद्ध अवतारों में गृहीत हुए। पर बाद में शक्तियों और बोधिसत्त्वों से युक्त इनके उपास्य रूप अधिक प्रचलित हुये।

सात मानुषी बुद्धों के अनन्तर पंच ध्यानी बुद्ध भी बुद्ध के विशिष्ट उपास्य

---

१. बौ० ध० द० पृ० १२१।
२. बौ० ध० द० पृ० १०५।
३. बौ० इक० पृ० १०।
४. बुद्धचर्य्या पृ० १४१–१४२।
५. लं० सू० पृ० २८७।

रूपों में प्रचलित हुये। ये तंत्र और सिद्ध साहित्य में अधिक व्याप्त हैं इसलिए इन पर बाद में विचार किया गया है।

बुद्ध के पौराणिक या साम्प्रदायिक अनेक रूपों के अतिरिक्त उनके ऐतिहासिक चरित्र भी ललितविस्तर, महावस्तु तथा अश्वघोष कृत बुद्ध चरित और सौन्दरनन्द में अवतारत्व से रंजित होकर चित्रित हुये हैं।

ऐतिहासिक बुद्ध का अवतारवादी उपास्य रूप

पिछले पृष्ठों में बुद्ध या अन्य बुद्धों के जिन रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वे सभी बुद्ध ऐतिहासिक और बौद्धधर्म के प्रवर्तक बुद्ध की अपेक्षा भिन्न व्यक्तित्व वाले प्रतीत होते हैं। पुनर्जन्म या साधनात्मक साम्य के अतिरिक्त उनका ऐतिहासिक बुद्ध से कोई साक्षात् या सापेक्ष संबंध नहीं जान पड़ता।

फिर भी गौतम बुद्ध के नाम से जो ऐतिहासिक बुद्ध विख्यात हैं, वे भी अपने साम्प्रदायिक या साहित्यिक चरित ग्रन्थों में अवतारवादी रूप में वर्णित हुए हैं। विशेषकर महावस्तु, ललितविस्तर, बुद्ध चरित और सौन्दरनन्द में उनके जीवन चरित को वैष्णव और जैन महाकाव्यों के अवतारवादी उपादानों की शैली में ही अनुस्यूत किया गया है।

जहाँ तक उनके अवतार-प्रयोजनों का प्रश्न है वे प्रयोजन वैष्णव-अवतार-हेतुओं से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त वैष्णव अवतारवाद (गी० ४, ६-७) में अवतरित रूप मायिक माना जाता है, उसी प्रकार ऐतिहासिक बुद्ध भी नित्यलोक से अवतरित होने वाले मायिक रूप हैं। ललितविस्तर के प्रारम्भ में कहा गया है कि ये सम्यक् सम्बुद्ध देवताओं के गुरु हैं, भगवान् हैं। ये एक दिन बुद्धालंकार व्यूह में निमग्न थे। उसी समय इनके सिर से एक बुद्ध ज्योति निःसृत हुई। इस ज्योति से देवता, महेश्वर और उनके लोक आलोकित हो उठते हैं।[१] इस प्रकार तुषित लोक से अवतरित होने के पूर्व ये ज्योति निःसृत किया करते हैं।[२] देवता इनको अज्ञान और दुःख का नाश करनेवाला मानते हैं। ललित विस्तर के दूसरे अध्याय में भिक्षुक, मनुष्य, देवता आदि सभी अवतरित होने के लिए इनकी प्रार्थना करते हैं। इस प्रार्थना में वैष्णव अवतारों के सदृश इनके अवतार प्रयोजनों की चर्चा हुई है। प्रार्थना के अनुसार बुद्ध कृपा और करुणा की मूर्त्ति हैं, ये दुःख, क्षय और मृत्यु का नाश कर विश्व में शान्ति स्थापित करते हैं।[३] देवता प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

---

१. ल० वि० पृ० २-३। २. ल० वि० पृ० ८५-८६।

३. ल० वि० पृ० २३।

'हे बुद्ध ! तुम त्रिरत्न के ज्ञाता और मार के संहारक हो । तुम शीघ्र अवतरित होकर जिन और मार को अपने करतल से नष्ट करो । तुम देवताओं और ब्राह्मणों पर भी कृपा करने के लिये अवतरित हो ।'[१]

उपर्युक्त मंगलाचरण से स्पष्ट है कि ललितविस्तर की अवतार परम्परा महाकाव्यात्मक वैष्णव अवतारवाद से बहुत साम्य रखती है । ललित विस्तर के बुद्ध में जिन चौरासी गुणों का उल्लेख हुआ है उनमें कतिपय गुण पौराणिक अवतारों की कोटि के हैं । यहाँ बुद्ध प्रत्येक युग के स्थान में प्रत्येक कल्प में जन्म लेते हैं ।[२] भागवत का कल्पावतार इससे प्रभावित कहा जा सकता है ।

सामूहिक देव अवतार

बुद्ध के अवतरित होते समय ललितविस्तर में सभी देवपुत्र भी अपना स्वर्गीय रूप छोड़कर ब्राह्मणों के रूप में अवतरित होते हैं । पुनः कहा गया है कि सैकड़ों देवपुत्र जम्बूद्वीप में प्रकट होकर प्रत्येक बुद्धों की उपासना करते हैं ।[३] ललित विस्तर में देवावतार के अन्य प्रसंग भी मिलते हैं । ये बुद्ध के अवतार काल में कहीं तो अर्द्ध परिवर्तित रूप में प्रकट होने वाले बताए गए हैं और कहीं ये मनुष्य रूप में भी उपस्थित होते हैं ।[४] यह देवा-वतार परम्परा महाकाव्यों की ही परम्परा में कही जा सकती है ।

अवतार वैशिष्ट्य

ललितविस्तर के तीसरे अध्याय में उनके विशेष काल, देश, स्थान और जाति में होने वाले अवतार कारणों पर प्रकाश डाला गया है । उस धारणा के अनुसार बुद्ध सृष्टि के प्रत्येक परिवर्तन काल में अन्य द्वीपों की अपेक्षा केवल जम्बू द्वीप में ही अवतरित होते हैं । इनके अवतार के लिए उपयुक्त स्थान मध्यदेश है । वहाँ ये केवल ब्राह्मण या क्षत्रियकुल में जन्म लेते हैं ।[५] पृथ्वी जब ब्राह्मणाक्रान्त होती है तब ये ब्राह्मण कुल में और जब क्षत्रियाक्रान्त होती है तब ये क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हैं । तुषित लोक में ही इन बातों को विचार कर ६४ गुणों से युक्त वंश में वे जन्म लेते हैं ।[६] इनके माता पिता दिव्य गुणों से युक्त तो हैं ही साथ ही दशरथ-कौशल्या के सदृश अनेक जन्मों में लगभग

---

१. ल० वि० पृ० २४ । २. ल० वि० पृ० २५-२८ ।
३. ल० वि, पृ० ३६ । ४. ल० वि० पृ० ९८ में दोनों रूपों का उल्लेख हुआ है ।
५. ल० वि० पृ० ३७ । ६. ल० वि० पृ० ४० ।

५०० बोधिसत्त्वों के माता-पिता रह चुके हैं। माया देवी दस सहस्र हस्तियों की शक्ति से युक्त हैं।[1] वैकुण्ठ से अवतीर्ण होने के पूर्व विष्णु जिस प्रकार देवताओं से परामर्श करते हैं, कुछ उसी के समानान्तर तुषित लोक में सभी देवता, नाग, बुद्ध, बोधिसत्त्व, अप्सरा प्रत्येक दिशा से एकत्र होते हैं। अवतरित होने के समय वे उनके सामने १०८ धर्म ज्योतियाँ निःसृत करते हैं।[2] इन १०८ ज्योतियों में विष्णु के कल्याण गुणों के सदृश अनेक गुण विद्यमान हैं। अतः इन्हें विष्णु के अवतारी गुणों के समक्ष माना जा सकता है। बुद्ध देवता, शक्र, महेश्वर, गंधर्व, सूर्य आदि दिव्य रूपों की अपेक्षा मानव रूप में ही आविर्भूत होने की कामना करते हैं।[3] उनके अवतार-काल में पृथ्वी का वातावरण अत्यन्त मनोरम और सुखमय हो जाता है। इसी प्रसंग में उनके अनेक अवतारी गुणों की चर्चा करते हुए यह भी कहा गया है कि उन्होंने अपने सभी शत्रुओं का नाश किया है। वे पृथ्वीपति हैं और अब अवतरित होने जा रहे हैं।[4] बुद्ध के अवतरित होते ही देवता उनका अभिषेक करते हैं और उन्हें मनुष्यों का स्वामी होने के लिए प्रार्थना करते हैं।[5] प्राणीमात्र पर दया और अनुकम्पा के अतिरिक्त धर्म-प्रवर्तन उनका मुख्य प्रयोजन विदित होता है। 'भये प्रगट कृपाला' के सदृश यहीं अवतीर्ण होने पर उनकी स्तुति करते समय उनके विग्रहात्मक अवतारी गुणों की भी चर्चा की गई है।[6] इस अवतार क्रम में माया देवी का श्वेत हस्ति-स्वप्न जैन तीर्थंकरों की वृषभ आदि स्वप्नों की परम्परा में विदित होता है। अतः जैन तत्त्वों का संयोग भी बौद्धावतार-परम्परा में दृष्टिगत होता है।

नारायण से अभिहित

'ललितविस्तर' में कतिपय स्थलों पर इन्हें नारायण का अवतार या उनकी शक्ति से युक्त माना गया है।[7] इनकी मूर्ति कृष्ण के सदृश तथा ये भगवत्-स्वरूप कहे गए हैं।[8] इनका शरीर नारायण के समान अच्छेद्य और अभेद्य है।[9] सभी पौराणिक कार्य ये ही धारण करते हैं और देवता वैष्णव अवतारों के समान इन्हें लोकहितार्थकारी मानते हैं। अतएव ये विष्णु के सदृश 'सुर-

---

१. ल० वि० पृ० ४५–४६। २. ल० वि० पृ० ५६।
३. ल० वि० पृ० ७५। ४. ल० वि० पृ० ७९।
५. ल० वि० पृ० ८४। ६. ल० वि० पृ० ८७।
७. ल० वि० पृ० १२६, मूल ७, ६ और ७, १४, पृ० १६५ मूल ७, १।
८. ल० वि० पृ० १९१ (११ में) तथा ४७३ (२३, २)।
९. ल० वि० पृ० ३९२ (२१, १)।

सहायाः' हैं। ये सुर और मनुष्य लोकों पर दया, अनुग्रह और अनुकम्पा रखते हैं।[1]

इन उपादानों से स्पष्ट है कि 'ललितविस्तर' के बौद्ध-अवतारवाद पर वैष्णव महाकाव्यात्मक अवतारवाद का स्पष्ट प्रभाव है। देवताओं का सामूहिक अवतार विष्णु के समान बुद्ध के उपास्यवादी सर्वश्रेष्ठ रूप के अतिरिक्त यह भी द्योतित करता है कि नारायण का अवतारवादी रूप 'ललितविस्तर' के प्रणयन के पूर्व व्यापक रूप में प्रचलित था। यह 'ललितविस्तर' के विवेच्य प्रसंगों से स्पष्ट है। 'महावस्तु' में भी कुछ अधिक साम्प्रदायिक रूप में उपर्युक्त बौद्धावतार का ही प्रतिपादन हुआ है अतः उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

बौद्धचरित और सौन्दरनन्द

'ललितविस्तर' की किंचित् अवतारवादी रूपरेखा अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' में लक्षित होती है। इन कृतियों के अनुसार भी वे तुषित लोक के बीच से पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।[2] उनके अवतार काल में माया देवी श्वेत गजराज को स्वप्न में शरीर के अन्तर्गत प्रविष्ट होते हुए देखती हैं।[3] अश्वघोष के मत से भी बुद्ध का जन्म उपपादुक है। (बु० च० १, ११) 'बुद्धचरित' में बुद्ध कहते हैं कि 'जगत्-हित एवं ज्ञान-अर्जन के लिए मैंने जन्म लिया है। संसार में यह मेरी अन्तिम उत्पत्ति है।[4] आलोच्य बुद्ध ने पूर्वकाल में अनेक अतीत बुद्धों की सेवा की है। (बु० च० १, १९) 'बुद्धचरित' में देवता इनके अतीत अवतार-कार्य की स्मृति कराते हैं।[5] उपर्युक्त तथ्यों के आकलन से विदित होता है कि उस काल के अश्वघोष जैसे कवि कालिदास प्रभृति के सदृश तत्कालीन अवतारवादी प्रवृत्तियों से अवगत थे। महापुरुषों के जन्म पर किंचित् साम्प्रदायिक रंग लिए हुए अवतारवादी उपादानों का आरोप होता था। प्रायः वैष्णव अवतारवाद का प्रभाव बौद्ध और जैन दोनों सम्प्रदायों के कवियों और काव्यों पर लक्षित होता है।

इस दृष्टि से 'बुद्धचरित' का मार-पराजय उल्लेखनीय है। यहाँ सम्भवतः वैष्णव प्रतिद्वन्द्वी राक्षसों की ही परम्परा में मार को एक भयानक राक्षस के रूप में उसकी राक्षसी सेना के साथ चित्रित किया गया है। वह बुद्ध से भयानक युद्ध करता है और बुद्ध पर पर्वत-श्रृङ्ग के सदृश जलता हुआ कुन्दा

---

१. ल० वि० क्रमशः पृ० ४९१, ५००, ५०२, ५१३ (२४ वां अध्याय)।
२. सौन्दरनन्द २, ४८। ३. बु० च० १, ४ और सौन्दर० पृ० २, ५०।
४. बु० च० १, १५। ५. बु० च० ५, २०।

फेंकता है जो बुद्ध मुनि के प्रभाववश टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।[1] इस चरित काव्य के बुद्ध किसी भी गुरु-परम्परा को अस्वीकार करते हुये धर्म के विषय में स्वयं अपने को स्वयंभू मानते हैं। समझने योग्य सब कुछ समझ लिया है इसलिये वे बुद्ध हैं।[2] 'बुद्धचरित' में बुद्ध के चमत्कारों के भी दर्शन होते हैं। बुद्ध आकाश में उड़ते हैं और पवन-पथ पर चलकर हनुमान के सदृश सूर्य का रथ हाथ से स्पर्श करते हैं। वे शरीर को एक से अनेक और अनेक से एक बनाते हैं।[3]

इस चरित में उनका अवतार-प्रयोजन स्पष्ट विदित होता है। वे कहते हैं कि 'पूर्वकाल में जीव-लोक को आर्त्त देख कर मैंने प्रतिज्ञा की कि स्वयं पार होने पर मैं जगत् को पार लगाऊँगा। और स्वयं मुक्त होने पर मैं सभी को मुक्त करूँगा'।[4] यों तो बोधिसत्त्वों के सदृश प्राणिमात्र का उद्धार उनका प्रमुख प्रयोजन प्रतीत होता है, किन्तु बौद्ध साहित्य में प्रचलित सम्भवतः रूप, अरूप और काम तीनों लोकों में धर्म चक्र का प्रवर्तन इनका मुख्य अवतार-कार्य रहा है।[5] देवर्षि दुर्लभ ज्ञान इन्होंने आर्य जगत् के हित के लिये पाया है। वे अत्यन्त करुणामय प्राणिमात्र के हितैषी उपदेशक हैं।[6] परिनिर्वाण के समय पुनः जगत्-हित के लिये उनके जन्म की चर्चा की गई है।[7]

इस प्रकार ऐतिहासिक बुद्ध को लेकर जिन साम्प्रदायिक और साहित्यिक चरित-ग्रन्थों का निर्माण हुआ उनमें राम-कृष्ण की महाकाव्यात्मक अवतार-परम्परा गृहीत हुई है। देवताओं का सामूहिक अवतार साम्प्रदायिक चरित काव्यों में अभिव्यक्त हुआ है। बुद्ध का उपास्य रूप भी यहीं प्रतिभासित होने लगता है। जैन तीर्थंकरों के सदृश इनकी अवतार-कथा में स्वप्नों के प्रसंग मिलते हैं। फिर भी बुद्धों की साधनात्मक उत्क्रमणशील प्रवृत्ति और धर्म-प्रवर्तन जैसे बौद्ध अवतारवाद के दो मुख्य तत्त्व इनमें विद्यमान हैं।

अवतार-प्रयोजन और अवतारी तथागत बुद्ध

'ललितविस्तर' में बुद्ध के केवल अवतरित रूप का ही प्रतिपादन नहीं हुआ अपितु अनेक अवतार-प्रयोजनों से भी उन्हें सन्निविष्ट किया गया। उनके जीवन के मूर्त आदर्श ही अनेक अवतार-कार्यों के रूप में प्रचलित हुये। ये

---

१. बु० च० १३, ४०। २. बु० च० १५, ४, ५।
३. बु० च० १९, १२-१३। ४. बु० च०
५. बु० च० १५, ५८। ६. बु० च० १९, ३२।
७. बु० च० २६, ५।

धर्मप्रवर्तक, दुःखत्राता, अपने कार्य और चरित्र में आदर्श, अनन्त प्रज्ञावान्, वैद्य सम्राट्, अमरत्व प्रदान करने वाले, युद्धवीर, दुष्टों को मारने वाले, साधुओं के सच्चे मित्र तथा कल्याणकर्ता और मोक्षदाता माने गये।[१] ये समाज-कल्याण, संसार की समृद्धि, देवता और मनुष्य की तुष्टि, महायान का प्रवर्तन तथा बोधिसत्त्वों को प्रोत्साहित करने के लिये प्रादुर्भूत होते हैं।[२] धर्म-प्रवर्तन के लिये तथागत, अर्हत्, सम्यक्सम्बुद्ध आदि का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार अवतारवाद की उपयोगितावादी विचारधारा ने बौद्ध धर्म में प्रचलित 'बहुजनहिताय, बहुजनकामाय देवानां च मनुष्याणां च सर्वसत्त्वानुद्दिश्य' के हेतु साम्य के आधार पर अपने मार्ग का उत्तरोत्तर विकास किया।[३] अतः शाक्य मुनि करुणावश जिस प्रयोजन से अवतरित होते हैं उसमें केवल धर्मप्रवर्तन ही नहीं अपितु 'जब जब होंहि धरम की हानि' का भाव भी विद्यमान है। इसकी रूपरेखा 'आर्यमंजुश्रीमूल कल्प' में मिलने लगती है। इस तन्त्र के अनुसार जब अधर्मी लोगों से सत्त्वों के जीव संकटग्रस्त हो जाते हैं। राज्यों में नित्य अव्यवस्था होने लगती है। राजा दुष्ट चित्त वाले हो जाते हैं। मनुष्य मनुष्य से द्वेष करने लगता है। धर्मकोशों की मर्यादा नष्ट होने लगती है, तब युग-युग में बुद्ध अवतरित होकर उन्हें अनुशासित करते हैं और बालदारक रूप में सर्वत्र विचरते हैं।[४] 'लंकावतार' सूत्र में भी तथागत द्वारा दुष्ट कार्यों से दुष्टों को सुधारने की चर्चा की गई है।[५] 'सद्धर्म पुंडरीक' के अनुसार तथागत का अवतार एकमात्र महाकरणीयम कृत्य के लिए होता है। वे तथागत ज्ञान को प्राणियों के सामने प्रस्तुत करने के लिये आविर्भूत होते हैं।[६] अनन्तसारि पुत्र सभी दिशाओं में जाकर भविष्य में भी बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकों पर अनुकम्पार्थ एवं जन-कल्याण के निमित्त मनुष्यों और देवों में धर्मदेशना करते हैं।[७]

इस प्रकार बुद्ध और तथागत के अवतार के निमित्त आलोच्य साहित्य में नाना प्रकार के अवतार-प्रयोजनों की सृष्टि होती गई। किंतु बाद में चल कर साम्प्रदायिक प्रयोजन प्रमुख हो गया। 'सद्धर्म पुंडरीक' में आगे चल कर कहा गया है कि केवल बौद्ध ज्ञान के प्रकाशनार्थ पुरुषोत्तम लोकनाथ समुत्पन्न होते हैं। इनका कार्य एक ही है द्वितीय नहीं, परन्तु वह हीनयान नहीं है अपितु महायान है। अनन्त बुद्धों ने मिलकर केवल एक ही यान (महायान) की

---

१. ल० वि० अनु० पृ० ३। २. ल० वि० अनु० पृ० ४-५।
३. म० मू० क० पृ० ६। ४. म०मू० क० पृ० ३५४।
५. लं० सू० पृ० १२१। ६. सद्धर्म पु० पृ० ४० अ० २।
७. सद्धर्म पु० पृ० ४१।

अवतारणा की है। वे सत्त्वों पर अनुकम्पावश सूत्र (वैपुल्य सूत्रों) को प्रकट करते हैं।[1] यहां महायान और सूत्र के संकेत से केवल बहुजन-हित ही नहीं अपितु साम्प्रदायिक प्रसार की मनोवृत्ति भी स्पष्ट है।

तथागत बुद्ध का अवतारवाद

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध में ज्यों-ज्यों अवतारवादी तत्त्वों का सम्प्रदायीकरण होता गया त्यों-त्यों उनका ऐतिहासिक रूप लुप्त होता गया। बौद्ध साहित्य में इस साम्प्रदायिक रूप का द्योतक तथागत सबसे अधिक प्रचलित हुआ। तथागत बुद्ध पूर्णतः साम्प्रदायिक उपास्य रूप में गृहीत हुए। इन्हें नित्य ब्रह्म की समकक्षता प्रदान की गई। तुषित लोक के नित्य निवासी तथागत बुद्ध के विषय में 'लंकावतार सूत्र' में तो यहाँ तक कहा गया कि तथागत बुद्ध का अवतारी उपास्यों के सदृश प्राकट्य होता है जन्म नहीं। वे गर्भ में नहीं अवतरित होते अपितु उनका दिव्य प्रादुर्भाव होता है।[2]

'सद्धर्म पुंडरीक' में अब तथागत का प्रादुर्भाव भी विष्णु के अवतार सदृश दुर्लभ माना गया।[3] ऐतिहासिक बुद्ध का अवतार वैशिष्ट्य तथागत बुद्ध में आकर समाप्त हो जाता है। विष्णु के समान अब तथागत कोई भी रूप धारण कर सकते हैं।[4] अतएव तथागत बुद्ध पर बौद्ध अवतारवादी रूप होते हुए भी विष्णु का प्रभाव लक्षित होने लगता है। क्योंकि 'लंकावतार सूत्र' में कहा गया है कि तथागत के हृदय में श्रीवत्स (विष्णुचिह्न स्थित है जिससे किरणें निकल रही हैं।[5] यहाँ ये तथागत विष्णु के ही एक रूप आभासित होते हैं। यों तो ये प्रायः उपदेश के निमित्त अवतरित होते हैं किंतु इनका सर्वोपरि वैशिष्ट्य तो अनेक ऐसे रूप धारण करने में है, जो ब्रह्मा, इन्द्रादि के द्वारा भी अज्ञेय हैं।[6]

विग्रह रूप

तथागत की इस अनेकरूपता में पाञ्चरात्र विभव, अन्तर्यामी और अर्चा के तत्त्व लक्षित होते हैं। क्योंकि विभवों की उत्पत्ति के सदृश तथागत बुद्धों का प्रादुर्भाव भी 'दीपादुत्पन्नदीपवत्' होता है।[7] 'लंकावतार सूत्र' के द्वितीय

---

१. सद्धर्म पु० पृ० ४९ और पृ० २१७। १०, ३।
२. लं० सू० पृ० २५१-२५२ सूत्र ३२४।
३. सद्धर्म पु० मूल पृ० ३१९।
४. लं० सू० पृ० ९।१, ४४।
५. लं० सू० पृ० १३।
६. लं० सू० पृ० १४, १५।
७. लं० सू०पृ० ७४।

अध्याय में प्रतिपादित तथागत-गर्भ अन्तर्यामी रूप से बहुत कुछ साम्य रखता है।[1] अर्चावतारों की भाँति तथागत मणिस्वरूप होकर अनन्त रूपों में अवतार-कार्य करते हैं। इस प्रकार तथागत बुद्ध के मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूप हैं।[2] ये अनेक देशों में अनेक रूपों में दृष्टिगत होते हैं।[3]

अतः वैष्णव और पाञ्चरात्र दोनों का प्रभाव तथागत के अवतार और उपास्य रूपों पर रहा है। 'सद्धर्म पुंडरीक' के अनुसार तथागत के सभी विग्रह और भित्ति चित्र करोड़ों मनुष्यों को समान रूप से तारने की क्षमता रखते हैं।[4] अतः बौद्ध धर्म ने केवल विग्रह ही नहीं अपितु भित्ति-चित्रों को भी प्राणियों का उद्धारक उपास्यवादी अवतार माना।

बौद्ध अवतारवाद के पौराणिक (मीथिक) रूप

तथागत बुद्ध के अवतारी उपास्य विग्रहों का प्रचार तो हुआ ही साथ ही बौद्ध अवतारवाद में कतिपय पौराणिक उपादानों का समावेश किया गया। 'लंकावतार सूत्र' में कहा गया है कि तथागत यों तो शाश्वत या नित्य रूप में अपने लोक में स्थित रहते हैं। फिर भी अपनी प्रतिज्ञा से वे कभी विरत नहीं होते। वे दुःखी प्राणियों के निर्वाण के लिए अपने हृदय में अनन्त करुणा बटोर कर रखते हैं। वे महाकारुणिक अखिल मानव-समुदाय को अपनी एकमात्र संतान मानते हैं। तथागत इस उद्धार कार्य में दुष्ट और देव का भेद नहीं करते।[5]

'सद्धर्म पुंडरीक' के अनुसार ये सभी म्रियमाण सत्वों को नवजीवन प्रदान करते हैं तथा दुःखियों में सुख और आनंद का संचार करते हैं। ये स्वयं कहते हैं—मैं ही तथागत हूँ, इस लोक के संतारणार्थ उत्पन्न हुआ हूँ। मैं सहस्रों कोटि प्राणियों के लिए विशुद्ध धर्म का उपदेश करता हूँ।[6]

बौद्ध उपास्यवादी अवतारवाद की इस प्रवृत्ति पर पौराणिक रंग चढ़ाते हुए 'सद्धर्म पुंडरीक' में कहा गया है कि तथागत के निर्वाण के उपरांत केवल ३२ कल्पों तक लोक और देव के लिए सद्धर्म स्थित रहेगा।[7] 'लंकावतार सूत्र' में सृष्टि-चक्र के साथ अवतार-चक्र भी संबद्ध प्रतीत होता है। इस सूत्र ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध अजन्मा होते हुए भी गृहत्यागी संत के रूप में आविर्भूत

---

१. लं० सू० मू० ३८ अनु० पृ० ६८। २. लं० सू० पृ० ७८, ८२।
३. लं० सू० पृ० २६ सूत्र ४४। ४. सद्धर्म पु० पृ० ५१। २, ८७।
५. लं० सू० क्रमशः पृ० १२४, २०१, २१२ और २३२।
६. सद्धर्म पु० पृ० १२८ (५, १८, १९, २०)
७. सद्धर्म पु० पृ० ६८ (३, ३०)

होते हैं। इनके निर्वाण के बाद व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल और अन्य संत अवतरित होते हैं। तदनन्तर क्रमशः भारत (कौरव, पांडव), राम, मौर्य, नन्द और गुप्त तथा अंत में म्लेच्छ आते हैं। इस काल में धर्म का नाश हो जाता है तब सूर्य और अग्नि के संयोग से सृष्टि का संहार होता है।[1]

युगावतार

संहार के बाद सृष्टि के आरंभ और विकास में हिन्दू पुराणों की परम्परा के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम माना गया है। अतः सृष्टि का आरंभ होने पर सत्ययुग में पुनः चार वर्ण, राजा, ऋषि और धर्म प्रादुर्भूत होते हैं। तथागत बुद्ध ज्योतिर्मय रूप में स्वर्ग में और अन्य दो रूपों में मणि-मुक्ताओं से युक्त देवता और लोकेश्वर रूप में अवतरित होते हैं। ये इनके सत्ययुगी अवतार हैं। इस अवतार में ये धर्म-देशना करते हैं।[2] सत्ययुग के बाद त्रेता और द्वापर के अवतारों का उल्लेख नहीं है। अब पुनः कलियुग में तथागत बुद्ध शाक्यसिंह के रूप में अवतरित होते हैं। इनके पश्चात् विष्णु, व्यास और महेश्वर का आविर्भाव होता है।[3] इस प्रकार 'लंकावतार सूत्र' के सम्भवतः परवर्ती सूत्रों में बौद्ध युगावतार का अभिनव रूप लक्षित होता है। युगावतार-परम्परा का विकास 'लंकावतार सूत्र' में क्रमशः हुआ है। क्योंकि उक्त युगावतार-क्रम में त्रेता और द्वापर के अवतारों की जो संयोजना नहीं हुई थी उसे पुनः अगले सूत्रों में युगबद्ध करने की चेष्टा की गई है। इन सूत्रों में कहा गया है कि कश्यप, क्रकुच्छन्द और कनक तथा मैं (तथागत बुद्ध) विरज और अन्य सत्ययुगी बौद्धावतार हैं। त्रेता में मति नामक एक नेता होगा वह महावीर ज्ञान के पाँचों रूपों से परिचित होगा। यहाँ महावीर विशेषण से जैन महावीर के समाहित होने का अनुमान किया जा सकता है। पुनः बुद्धावतार पर ही बल देते हुए कहा गया है कि बुद्ध न तो द्वापर, न त्रेता, न कलि अपितु सत्ययुग में आविर्भूत होकर बुद्धत्व प्राप्त करेंगे। यहाँ भी युगानुरूप अवतार-परम्परा का क्रम स्पष्ट नहीं है। केवल बाद में होनेवाले पाणिनि, कात्यायन इत्यादि विद्वानों की चर्चा की गई है। इनमें बलि राज भी हैं, इनका अवतार अन्य वैष्णव अवतार राजाओं के सदृश जगत् में शान्ति और सुख की स्थापना के लिए होगा।[4]

---

१. लं० सू० पृ० २८६। २. लं० सू० पृ० २८६।
३. लं० सू० पृ० २८६-२८७। ४. लं० सू० पृ० २८७-२८८।

वर्गों में विभक्त किया है। इनके कथनानुसार सभी धर्मों के देवपुत्र मायोपम या स्वप्नोपम दो प्रकार के होते हैं। अतः बौद्धधर्म में मान्य अर्हत्, प्रत्येक बुद्ध, सम्यक् सम्बुद्ध आदि भी मायोपम या स्वप्नोपम दो प्रकार के होते हैं।[1] लंकावतार सूत्र में माया और स्वप्न की चर्चा तो हुई है किंतु तथागत बुद्ध के यहाँ ज्ञानात्मक और मायात्मक दो भेद भी माने गए है।[2] पर मायावाद का निराकरण अपने अवतारी उपास्यों की सुरक्षा के लिए केवल वैष्णवाचार्यों को ही नहीं करना पड़ा था अपितु बौद्ध विचारकों के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। मायावाद को लेकर सामान्य रूप से प्रश्न यह उठता है कि यदि भगवान मायोपम है तो उसकी पूजा और अर्चना भी काल्पनिक है। प्रज्ञाकर मति के अनुसार यदि वह मायोपम है तो सत्त्व पुनः जन्म कैसे लेता है और मृत कैसे होता है? माया पुरुष तो विनष्ट होकर उत्पन्न नहीं होता। अन्त में बौद्ध विचारकों ने भी इस समस्या का समाधान वही निकाला जो प्रायः ब्रह्म के लिए 'ब्रह्मसूत्र' में तथा निर्गुण ब्रह्म के सगुण भाव के लिए मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों ने निकाला था। ब्रह्मसूत्रकार एवं वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्म की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति को नटवत् या लीलात्मक माना था। अतः बौद्ध आचार्यों ने भी तथागत बुद्ध के अवतार रूपों को नटवत् स्वीकार किया है। इनके मतानुसार रंगभूमि के नट के सदृश वे नाना रूपों में अवतरित होते हैं।[3] 'लंकावतार सूत्र' में भी तथागत-गर्भ के प्रसंग में कहा गया है कि ये शिव और अशिव दोनों के कारण हैं और नटवत् अनेक प्रकार के रूप ग्रहण करते हैं।[4] इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में एक वैज्ञानिक तर्क यह भी दिया गया कि सत्य की सत्ता होने के कारण माया भी असत्य नहीं है। सभी पदार्थ माया के स्वभाव से युक्त हैं। वे मायिक होने के कारण रूपांतरित तो होते हैं किंतु वे असत्य नहीं हैं।[5]

इस प्रकार उपास्य तथागत बुद्ध के अवतार या विग्रह रूपों को माया से विमुक्त करने के प्रयत्न होते रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि बौद्ध सम्प्रदाय एवं साहित्य में उपास्यवादी अवतारवाद की भावना प्रबल होती

---

१. बोधिचर्यावतार पृ० ३७९।

२. लं० सू० पृ० ८३ सूत्र १४९ और पृ० २५५ सूत्र ३६७-३७०।

३. बोधिचर्यावतार पृ० ४६१।

'यथा नाट्यसमये रंगभूमिगतो नटः एक एव नानारूपेणावतरति।
तथा प्रकृतेऽपीति न दोषः।'

४. लं० सू० पृ० १९०। ५. लं० सू० पृ० ९५।

जा रही थी। इसके परिणामस्वरूप आगे चलकर यों तो धर्म-प्रवर्तन या उपासना को लेकर अनेकों अवतार कहे गए हैं किंतु पंच तथागत या पंच ध्यानी बुद्ध उनमें विशेष प्रचलित हुए।

पंच तथागत या पंच ध्यानी बुद्ध

पंच तथागत या ध्यानी बुद्धों का स्फुट अस्तित्व 'लंकावतार सूत्र' और 'सद्धर्म पुंडरीक' में मिलने लगता है। परन्तु उस काल में ये उतने अधिक प्रचलित नहीं हुए जितना बौद्ध तंत्र और वज्रयानी सिद्धों में इनका प्रचार हुआ। 'लंकावतार सूत्र' में केवल पंचनिर्मिता बुद्धों का उल्लेख मात्र हुआ है और 'सद्धर्म पुंडरीक' में पंच बुद्धों में परिगणित अमितायु या अमिताभ सद्धर्म की स्थापना के निमित्त भविष्य में अवतरित होने वाले कहे गए हैं।[१]

उपास्यवादी अवतार

प्रारम्भिक तंत्रों में से सर्वप्रथम 'तथागत' गुह्यक में पंच ध्यानी बुद्धों के अवतार और उपास्य दोनों रूपों का विस्तृत परिचय मिलता है। 'गुह्यसमाज' के अनुसार बुद्ध के रश्मिमेघव्यूह नाम की समाधि से—पाँच रश्मियाँ निःसृत हुईं।[२] इन्हीं पंच रश्मियों से पंच बुद्धों के उद्भव का आभास मिलता है। किंतु 'अद्वयवज्र' के अनुसार बुद्ध के ध्यान से पंच ध्यानी बुद्धों का आविर्भाव माना जाता है। 'अद्वयवज्र' में ही वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य को पंच स्कंधों से आविर्भूत तथा उनका प्रतीक माना गया।[3] 'गुह्यसमाज' के अनुसार तथागत ने विभिन्न ज्ञानों के आविर्भाव के लिए पाँच बुद्धों का रूप धारण किया। बाद में इनकी स्त्री शक्तियों का भी अविर्भाव हुआ।[४] 'गुह्यसमाज' में कहा गया है कि तथागत भगवान स्वयं पंच स्त्री रूप में आविर्भूत होते हैं।[५] 'साधन-माला' के अनुसार विज्ञानवाद जो वज्रयान का मूल रहा है अभी तक विज्ञान और शून्य की साधना के आधार पर निर्वाण मानता था। उसी विज्ञानवाद से निर्गत वज्रयान ने महासुख नामक नए तत्त्व का समावेश किया तथा इसी शाखा में पंचध्यानी बुद्धों को पंच स्कंधों का स्वामी मान कर कुल का सिद्धान्त प्रचारित किया।[६]

---

१. लं सू० पृ० २५६ और सद्धर्म पु० मूल पृ० २१८। ९, ४।

२. गुह्य समाज पृ० १४। ३. तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० ९४ और बुद्ध० इक० पृ० २।

४. तथागत गु० मू० पृ० १८। ५. तथागत गु० मूल० पृ० ७।

६. साध० मा० मू० पृ० २६।

उपास्य रूप

उपास्य अर्चा विग्रहों के सदृश ध्यानी बुद्ध किसी भी समय आवश्यकता पड़ने पर उपासक के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। सिद्धों में पद्म वज्र ने 'गुह्यसमाज' की पद्धति का अनुसरण करते हुए पंच ध्यानी बुद्धों को अपना उपास्य माना। इनका कहना है कि बिना इनकी सहायता के समाधि की अवस्था उपलब्ध नहीं की जा सकती।[1] 'ज्ञानसिद्धि' के अनुसार जिस ज्ञान के माध्यम से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है वह ज्ञान पंच तथागत या पंच ध्यानी बुद्धों के ज्ञान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यहाँ तक कि मंत्र, मंडल और मुद्रा इनकी सहायता के बिना तुच्छ हैं।[2]

इस प्रकार सिद्ध युग में पंच ध्यानी बुद्ध इष्टदेव के अतिरिक्त स्वयं ज्ञान-स्वरूप समझे गए। फलतः सिद्धों में ज्ञानस्वरूप तथागतों की उपासना अनिवार्य मानी गई। सिद्ध साहित्य में इनका सम्बन्ध पाँच प्रकार के ज्ञानों से स्थापित किया गया। वे हैं क्रमशः आदर्श ज्ञान, समता ज्ञान, प्रत्यवेक्षा ज्ञान, कृत्यानुष्ठान ज्ञान और सुविशुद्ध ज्ञान, इनमें से प्रत्येक के एक-एक बुद्ध स्वामी माने गए हैं। वज्रयानियों के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अद्वय-सिद्धि' में पंच ध्यानी बुद्ध और उनके असंख्य प्रादुर्भावों की उपासना का प्रतिपादन किया गया है। 'सेकोद्देशटीका' में पंच बुद्ध समन्वित रूप में उपास्य माने गए हैं। ये पाचों नासिकेन्द्र पर पंचरत्न रूप में स्थित कहे गए हैं।[3] चर्यापदों में वज्रधर शरीर का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि सभी वैरोचन आदि तथागत सम्बोधि लक्षण से युक्त वज्रधर शरीर वाले हुए हैं। ये रूपादि पंच स्कंधों को क्षीर-नीरवत् समरसी भाव में स्थापित करने वाले हैं।[4]

अवतार प्रयोजन

वज्रयानी साहित्य में ध्यानी बुद्धों का अवतार-प्रयोजन मंत्र और मुद्राओं का अवतारण और प्रचार रहा है। ये योग तन्त्रों के अवतार हेतु भी अवतरित होते हैं।[5] सिद्ध कृष्णाचार्य के अनुसार ये महासुखरूपी नौका लेकर मायाजालवत् स्कन्धादि के समुद्र में उपस्थित होकर रक्षा करते हैं।[6] इन ध्यानी बुद्धों के पृथक् अवतार भी बौद्ध साहित्य में मिलते रहे हैं। 'सद्धर्म पुंडरीक' के अनुसार अमिताभ का अवतार सद्धर्म की स्थापना के निमित्त माना

---

१. साध० मा० मू० पृ० ४९।
२. साध० मा० मू० पृ० ५२।
३. सेकोद्देशटीका पृ० ४१।
४. बौ० गा० दो० पृ० १२५।
५. बौ० गा० दो० पृ० १५३।
६. बौ० गा० दो० पृ० २५।

जाता रहा है ।[१] अमिताभ तिब्बत में अवलोकितेश्वर के अवतारक रूप में भी विख्यात हैं ।[२] अक्षोभ्य के वज्रधृक् अवतार की चर्चा सिद्धों में मिलती है । ये अपने काल में अवतरित होकर वैरोचन की मुद्रा और अवधूतों के ३६ मंत्रों का प्रवर्तन करते हैं ।[3] इस प्रकार ये तन्त्रों और सिद्ध मन्त्रों के अवतारक होने के नाते सिद्धों के उपास्य रूप में प्रचलित रहे हैं। ये तथागत महाकरुणात्मक निग्रह और अनुग्रह में समर्थ, दान्त, दुर्दान्त और सौम्य सभी प्रकार के जीवों को तारने वाले हैं ।[४] इससे सिद्ध है कि पञ्च ध्यानी बुद्ध अवतारक और उद्धारक उपास्य दोनों रूपों में प्रचलित रहे हैं ।

सिद्धों के अन्तर्यामी

सहजयानी बाउलों ने इन देवों की पूजा बाहर से करने की अपेक्षा अन्तर में करने के लिए बताया क्योंकि शरीर में ही ये सभी देवता स्थित रहते हैं । सिद्धों में भी अक्षोभ्य, वैरोचन और अमिताभ आदि बुद्धों का अन्तर्यामी इष्टदेव के रूप में प्रचार रहा है । सिद्ध पदों में सिद्ध देह में उपस्थित अक्षोभ्य को अन्तर्यामी इष्टदेव के रूप में संकेत किया गया है और गगन नीर अमिताभ की कल्पना की गई है । जिससे अवधूति-कृत मूल-नाल स्वरूप अहंकार का जन्म होता है ।[५]

इस प्रकार उपास्य के रूप में अन्तर्यामी रूप ही सिद्धों को अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है । अवतारवादी प्रयोजन के रूप में भी पंच ध्यानी बुद्ध ज्ञान और ध्यान से अधिक सम्बद्ध रहे हैं ।

बोधिसत्त्ववाद

वैष्णव अवतारवाद में अवतरित शक्ति कार्य करती है परन्तु बौद्ध अवतारवाद के मूल में उत्क्रमणशील साधनात्मक शक्तियों का विशेष योग रहा है । बौद्ध साहित्य में बुद्ध के तथागत रूप के अतिरिक्त एक बोधिसत्त्व रूप मिलता है । विशेषकर महायान सम्प्रदाय में उनका बोधिसत्त्व रूप ही अधिक प्रचलित रहा है । बोधिसत्त्व के रूप में बुद्ध केवल निर्वाण प्राप्त करने वाले व्यक्तिगत साधक नहीं हैं अपितु लोकव्यापी दुःख को देखकर असीम करुणा से द्रवित होने वाले लोकहितैषी भी हैं । लोकहित के निमित्त भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में पुनः पुनः अवतरित होते रहते हैं ।

---

१. सद्धर्म पु० पृ० २१८ । २. बुद्ध० लि० पृ० २३२ ।
३. बौ० गा० दो० पृ० १५३ । ४. गुह्यसमाज पृ० १५२ ।
५. दोहाकोश । बागची । पृ० ४०, ३, ४ ।

उत्क्रमणशीलता

पर कल्याण की भावना से युक्त महायान में बोधिसत्त्व रूप को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। बोधिसत्त्व मुख्य रूप से उत्क्रमणशील साधक है। वह बोधिचित्त की साधना शून्यता और करुणा की अभिन्नता द्वारा करता है। इसे अद्वय कहा जाता है। इस अद्वय से सामान्य शरीर भी सिद्ध शरीर हो जाता है।[१] यह बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित दश भूमिकाओं का एकमात्र साधक कहा गया है। दश भूमियों में प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्ज्या, अभिमुखी, दुरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा का नाम लिया जाता है।[२] इन दश भूमियों को एक-एक कर पार करने के उपरान्त बोधिसत्त्व बोधिचित्त में निर्वाण प्राप्त करता है और तब वह सर्वव्यापी हो जाता है। 'लंकावतार सूत्र' के अनुसार बोधिसत्त्वों में यौगिक और अवतारवादी दो प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। समाधि और सम्पत्ति के रूप में वह यौगिक शक्तियों से युक्त रहता है और अवतरित शक्ति के रूप में स्वयं बुद्ध व्यक्ति रूप में अवतरित होकर अपने हाथों से उसे दीक्षित करते हैं। तदुपरान्त सहस्रों प्रत्येक बुद्ध, तथागत बुद्ध, अर्हत्, सम्बुद्ध अपनी अनेक कल्प से संजोयी हुई शक्तियों से उसे अभिसिंचित करते हैं।[३] इस प्रक्रिया को धर्ममेघ कहा गया है। इस प्रकार बोधिसत्त्व अनेक कल्पों की संचित तथागत-शक्ति प्राप्त करता है। वह जन्म लेने के बाद प्रज्ञापारमिता की साधना के द्वारा योग्यता उपलब्ध करता है। शून्यता और करुणा का अद्वय ही उसमें अवतारवादी विकास का द्योतक है। बोधिसत्त्व के लिये करुणा और शून्यता दोनों आवश्यक हैं। चर्यापदों के अनुसार जो करुणा छोड़ कर शून्य से सम्बन्ध रखता है वह उत्तम गति नहीं पाता। जिसे केवल करुणा ही भाती है वह भी सहस्रों जन्मों तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।[४] शून्यता और करुणा का यह अद्वय रूप ही युगनद्ध, महासुख आदि विविध रूपों में वज्रयानी साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। चर्यापदों में बोधिसत्त्व भूमि की चर्चा करते हुये कहा गया है कि धारण-ग्रहण स्वभाव रहित एक तत्त्व है।[५] यहाँ एक सत्त्व अद्वय का ही द्योतक प्रतीत होता है। सामान्यतः सिद्ध साहित्य में अद्वय का व्यापक रूप परिलक्षित होता है। सिद्ध अद्वय स्वरूप को तथागत मानते हैं।[६] यह तथागत रूप

---

१. साध० मा० पृ० ७५-८०। २. साध० मा पृ० ७४।
३. लं० सू० पृ० ८७-८८। ४. दो० को०। बागची। पृ० ४८।
५. दो० को०। राहुल। पृ० १७, दो० ८३।
६. दो० को०। राहुल। पृ० २२१ 'जो ही अद्वय स्वरूप सो तथागत है।'

बोधिसत्त्व का ही सिद्ध रूप विदित होता है। इसी कोटि के बोधिसत्त्व को सरहपाद ने सम्बुद्ध होने की सम्भावना की है।[1]

इन उपादानों से स्पष्ट है कि उत्क्रमणशील साधक शून्यता और करुणा के अद्वय द्वारा बोधिसत्त्व की स्थिति प्राप्त करता है। वह सिद्ध बोधिसत्त्व होने पर स्वयं तथागत स्वरूप हो जाता है।

बोधिसत्त्व का अवतार

उपर्युक्त साधनात्मक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में बुद्ध द्वारा विविध बोधिसत्त्वों के रूप में अवतरित होने के भी उल्लेख मिलते हैं। 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है कि बुद्ध दान पारमिता के कारण करुणायमान होकर बोधिसत्त्व रूप धारण करते हैं।[2] सरहपाद के अनुसार सम्भवतः बुद्ध ने ही स्वयं बोधिसत्त्व स्थिति से युक्त होकर शील धर्म अर्थात् तारने का धर्म किया।[3] बुद्ध के अतिरिक्त अन्य बोधिसत्त्वों के अवतरित होने की चर्चा भी बौद्ध साहित्य में हुई है। एकनिष्ठ स्वर्ग में सर्वज्ञ होने के उपरान्त बोधिसत्त्व का बुद्धावतार होता है।[4] 'तत्त्व संग्रह' के भाष्यकारों के अनुसार एकनिष्ठ स्वर्ग के ऊपर माहेश्वर मदन लोक है। वहाँ कारुणिक बोधिसत्त्व सर्वज्ञ होते हैं। सरहपा के अनुसार विकल्प मार्ग के अवगाहन के लिए सम्भवतः ये ही बोधिसत्त्व अंकपित अवतरित होते हैं।[5] इस प्रकार बुद्ध और अन्य बोधिसत्त्वों की अवतार-परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। इन परम्पराओं में अवतार प्रयोजन का अत्यन्त सबल आग्रह दीख पड़ता है।

अवतार प्रयोजन

महायानी बोधिसत्त्ववाद अवतार-प्रयोजन की दृष्टि से अवतारवादी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। क्योंकि बिना अवतार कार्य के केवल बोधिचित्त का साधक बोधिसत्त्व नहीं कहा जा सकता, अपितु बोधिसत्त्व वही हो सकता है जो महाकरुणा से द्रवित होकर निर्वाण के बाद प्राणियों के कल्याण में तबतक रत रहे जबतक सृष्टि का प्रत्येक जन

---

१. दो० को०। राहुल। पृ० २३३ दो० ४९
'यहाँ जहाँ बोधिसत्त्व हो, सो सम्बुद्ध होवे दुष्कर नहीं।'
२. बोधिचर्यावतार पृ० ३७३। ३. दो० को० राहुल। पृ० २४१ दो० ७४।
४. साध० मा० भू० पृ० ७६। ५. दो० को०। राहुल। पृ० २३३ दो० ६१।

बोधिज्ञान न प्राप्त कर ले।[1] ये संसार के आवर्तन-विवर्तन युक्त होने पर भी करुणावश लोक-कल्याण से डरते नहीं। अतएव बोधिसत्त्वों की करुणा इनके निर्वाण फल भोग से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[2] 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चय सिद्धि' के अनुसार बुद्ध के धर्मकाय को अग्रसर करने के लिए इस जगत में अनेक बोधिसत्त्व सम्बुद्ध, श्रावक और सौगत गुणों से संयुक्त उत्पन्न होते हैं। बोधिसत्त्व अशेष दुःख के क्षय होने तक यत्नशील रहता है। जब तक सभी प्राणियों का दुःख दूर नहीं हो जाता तब तब उनके कल्याण में वह लगा रहता है।[3]

पंच बोधिसत्त्व

जन कल्याण में लीन बोधिसत्त्वों की संख्या गंगा की बालुका की भाँति असंख्य मानी गई है।[4] वैपुल्य सूत्रों में प्रसिद्ध 'सद्धर्म पुंडरीक' में अनेक भावी बुद्धावतार बोधिसत्त्वों की कथाएँ वर्णित हुई हैं। किंतु बौद्ध साहित्य में उनमें से कुछ ही बुद्ध अधिक प्रचलित रहे हैं। विशेषकर बौद्ध साहित्य में पंच ध्यानी बुद्धों से पंच बोधिसत्त्वों की अवतारणा मानी जाती है। वैरोचन से सामन्तभद्र, अक्षोभ्य से वज्रपाणि, अमिताभ से पद्मपाणि, रत्नसम्भव से रत्नपाणि और अमोघसिद्धि से विश्वपाणि उत्पन्न कहे गए हैं। इनमें सामन्तभद्र का विस्तृत प्रसंग 'सद्धर्म पुंडरीक' के पच्चीसवें परिवर्त में मिलता है। ये महाकारुणिक हैं और प्राणियों के हित के लिए सदैव देशना करते हैं। ये शाक्यमुनि से स्वतः धर्मपर्याय श्रवण करते हैं तथा धर्मोपदेशक के अद्वितीय गुणों से युक्त हैं।[5] 'तथागत गुह्यक' के अनुसार महाकारुणिक बोधिसत्त्व सामन्तभद्र परम निर्मल तथा कृपा करनेवाले हैं। ये क्रूर कर्म करने वाले दुष्टों को भी बुद्धत्व प्रदान करते हैं।[6] वज्रपाणि का उल्लेख 'सेकोद्देशटीका' के प्रारम्भ में ही हुआ है। ये मुख्यतः उपास्य बौद्ध देवों के रूप में प्रचलित हैं। 'सेकोद्देशटीका' के अनुसार राज-सुचन्द्र को सम्भवतः परम भक्त होने के कारण वज्रपाणि का निर्माणकाय या अवतार कहा गया है।[7] उक्त दोनों बोधिसत्त्वों के अतिरिक्त रत्नपाणि और विश्वपाणि का बौद्ध साहित्य में अपेक्षित प्रचार नहीं हुआ। परन्तु इनमें परिगणित पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर सबसे अधिक लोकप्रिय हुए।

---

१. साध० मा० पृ० ७६। २. साध० मा० पृ० २५ और इन० बु० ई० पृ० २८।
३. टू० वज्र० प्रज्ञो० पृ० १८-१९। ४, १९-२५। ४. सद्धर्म पु० पृ० ९, ३।
५. सद्धर्म पु० पृ० ४३७। ६, तथागत गुह्यक पृ० १६९।
७. सेकोद्देशटीका पृ० ३।

इनके बाद मंजुश्री और मैत्रेय भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। अतः क्रमशः इन तीनों पर विचार किया जाता है।

अवलोकितेश्वर

बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर का अद्वितीय स्थान माना जा सकता है। 'कारण्ड व्यूह' के प्रसंगानुसार ये निर्वाण प्राप्त करने के बाद शून्य में लीन हो चुके थे। बहुत दूर सुमेरु गिरि से शोर गुल सुनाई देने पर जब इन्होंने ध्यान लगाकर देखा, तो विदित हुआ कि महाकरुणामय बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के अभाव में अखिल मानवता कराह रही है। अवलोकितेश्वर एकमात्र उनके रक्षक और उद्धारक हैं। ये तब से दयार्द्र होकर पृथ्वी पर आये और प्रतिज्ञा की कि जब तक एक भी व्यक्ति पृथ्वी पर रह जाएगा तब तक ये पृथ्वी को नहीं छोड़ेंगे।[1] 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है कि अवलोकितेश्वर दुःखी और दीन के कातर स्वर से व्याकुल होकर चल पड़ते हैं। ये परम कारुणिक और पर दुःख दुःखी हैं। इनके दर्शन मात्र से यमदूत आदि दुष्ट पलायमान हो जाते हैं।[2] 'मंजुश्रीमूलकल्प' के अनुसार मुनिश्रेष्ठ बोधिसत्त्व अवलोकिता सत्त्ववत्सल होने के कारण स्वेच्छा से लोक में अवतीर्ण होते हैं।[3]

विविध रूपधारी

'कारण्ड व्यूह' और 'सद्धर्मपुंडरीक' में इनके केवल बोधिसत्त्व रूप ही नहीं अपितु विविध रूपों का उल्लेख हुआ है। 'कारण्ड व्यूह' में इनके अवतार-कार्य सम्बन्धी प्रतिज्ञा के क्रम में कहा गया है कि ये विष्णु का रूप धारण कर धर्म की शिक्षा देंगे और अपने उपासकों को धर्म-देशना करने के निमित्त शिव का रूप धारण करेंगे। ये गाणपत्यों को गणेश रूप में तथा राजभक्तों को राजा के रूप में धर्म-देशना करेंगे।[4] इस प्रकार अवलोकितेश्वर में अभिनव सर्वधर्म समन्य की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। 'सद्धर्म पुंडरीक' के २४ वें परिवर्त में इनके उपास्यवादी अवतार रूप का अपेक्षाकृत व्यापक प्रसार हुआ है। विष्णु की भांति अवलोकितेश्वर भी सैकड़ों कल्पों में करोड़ों बुद्धों के रूप में प्रणियों के हित के लिये अवतरित होते हैं। दोनों में अन्तर यह है विष्णु युद्ध में स्वयं उपस्थित होते हैं। उनमें रक्षा की भावना अधिक है किन्तु अवलोकितेश्वर

---

१. इन० बु० ई० पृ० २९।   २. बोधिचर्यावतार पृ० ६६-६७।

३. म० मू० क० पृ० २३९।

४. इन० बु० ई० ४६। और कारण्ड व्यूह (चौथी शती) पृ० २१ २२।

विविध रूपों में आविर्भूत होकर अधिकतर धर्म-देशना करते हैं। ये उपासकों के कल्याण के लिये विविध प्राणियों में बुद्ध, बोधिसत्त्व प्रत्येक बुद्ध, श्रावक, ब्रह्मा, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, ईश्वर, महेश्वर, चक्रवर्ती, पिशाच, कुबेर, सेनापति, ब्राह्मण, वज्रपाणि आदि रूपों में उपासकों की इच्छानुरूप देवों का रूप धारण करते हैं।[1] तिब्बती बौद्ध धर्म में अवलोकितेश्वर पितृदेवता समझे जाते हैं। लामा धर्म का प्रथम प्रचारक अतिशा अवलोकितेश्वर का अवतार कहा जाता है। लामा मत में पुनर्जन्म और अवतारवाद साथ-साथ चलते हैं। अतएव यहाँ की परम्परा में जो भी लामा अवतरित होता है वह देव अवलोकितेश्वर का अवतार या प्रतिनिधि समझा जाता है।[2] इसी परम्परा में प्रत्येक दलाई लामा को अवलोकितेश्वर के शरीर से युक्त माना जाता है।[3] 'साधनमाला' के मंत्रों में इनका महाकारुणिक रूप विशेषकर अधिक प्रचलित है।[4]

युगल रूप

चौथी शताब्दी तक अवलोकितेश्वर का सम्बन्ध तारा नाम की एक देवी से स्थापित हो गया। इनके लोकेश्वर, लोकनाथ और वज्रपाणि आदि रूपों के सदृश तारा के भी विविध रूप बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। स्वभाव एवं गुण की दृष्टि से तारा भी विद्यार्जिनी, महाकरुणामयी, तथा प्राणियों के हित में सदैव तत्पर रहने वाली कही गई।

विष्णु के तद्रूप

बौद्ध साहित्य में यों तो अवलोकितेश्वर शिव और विष्णु दोनों से अभिहित किए गए हैं। परन्तु इनकी मूर्तियाँ बनावट की दृष्टि से विष्णु के निकट अधिक जान पड़ती हैं।[5] इनकी मूर्तियों में चतुर्भुज अवलोकितेश्वर के दोनों ओर सुखमाला और हयग्रीव हैं। हाथ में कमल होने के कारण ये पद्मपाणि हैं।[6] 'मंजुश्री मूल कल्प' में ये कृष्णवर्ण के महात्मा बतलाए गए हैं।[7] तिब्बत में लामा अपने को हिलमहंजी का वंशज कहते हैं, जो सम्भवतः हनुमान जी का विकृत रूप है। कहा जाता है कि इन्हें अवलोकितेश्वर ने ही तिब्बत में भेजा था।[8] इन उपादानों के अतिरिक्त इनका व्यापक अवतारवादी रूप भी इन्हें विष्णु के अधिक निकट ला देता है। जिस अमित आभा वाले अमिताभ से

---

१. सद्धर्म पु० पृ० ४११।
२. बुद्ध० ति० पृ० ३५, ३८–३९।
३. बुद्ध ति० पृ० ४०।
४. साध० मा० पृ० ५२।
५. इम्पीरियल कनौज पृ० २७७।
६. इम्पीरियल कनौज पृ० २०९।
७. म० मू० क० पृ० २४०।
८. बुद्ध ति० पृ० १५।

इनकी उत्पत्ति मानी जाती है वे सूर्य के ही एक रूप विशेष हैं। विष्णु केवल द्वादश आदित्यों में ही नहीं अपितु अन्य प्रसंगों के आधार पर भी सूर्य के एक रूप विशेष रहे हैं। इन उपादानों के आधार पर अवलोकितेश्वर को विष्णु का तद्रूप कहा जा सकता है। क्योंकि दोनों के अवतारवादी सिद्धान्तों में अपूर्व धर्म-समन्वय की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

मंजुश्री

महायान में मंजुश्री की गणना श्रेष्ठ देवों में होती है। वज्रयानी साहित्य में भी ये प्रमुख उपास्य देवों में माने जाते हैं। इस साहित्य में इनके अनेक रूप और मंत्र प्रचलित हैं। ये उपासक को बुद्धि और मेधा शक्ति प्रदान करते हैं। 'साधन माला' के अनुसार मंजुश्री लोक पर अनुग्रह करने के लिए कुमार रूप में प्रकट होते हैं।[1] इनके भावी अवतार की चर्चा करते हुए 'मंजुश्री मूल कल्प' में शाक्य मुनि से कहवाया गया है कि बुद्ध के बाद मंजुश्री ही बाल रूप में बुद्ध-कृत्य करेंगे।[2] इस तंत्र ग्रन्थ में इनका अवतार-क्षेत्र व्यापक प्रतीत होता है, क्योंकि कुमार और बाल रूप के अतिरिक्त ये और भी विविध आकार के रूप धारण करने वाले कहे गए हैं।[3]

अवतार प्रयोजन

वज्रयानी तंत्रों के अनुसार मंजुश्री का बोधिसत्त्व की दृष्टि से मुख्य प्रयोजन लोकों पर अनुग्रह करना है। परन्तु 'साधनमाला' के अनुसार इन्होंने 'प्रतीत्यसमुत्पादकर्मक्रिया' अवतरित की थी।[4] अवलोकितेश्वर के समान ये भी जब तक सभी लोकबान्धवों को सृष्टि से मुक्त नहीं कर लेते हैं, तब तक युग युग में प्रकट होते रहते हैं। ये लोक में बालदारक या मंत्र रूप में सर्वत्र विचरण करते हैं। विभिन्न स्थानों में जा जा कर सत्त्वों का दुःख नष्ट किया करते हैं।[5]

उपास्य और प्रवर्तक

बौद्ध साहित्य में जब दैवीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ तो अनेक बौद्ध भावनाओं और सिद्धान्तों के भी मानवीकृत रूप उपास्य होकर प्रचलित हुए। कालान्तर में उनके नाना प्रकार के विग्रह बौद्ध सम्प्रदायों में पूजे जाने

१. साध० मा० पृ० ११०।　　२. म० मू० क० पृ० ३५४, ४९२।
३. म० मू० क० पृ० १४२।　　४. साध० मा० पृ० ११०।
५. साध० मा० पृ० १६६।

लगे। सरस्वती के समान मंजुश्री भी वाणी, ज्ञान, मेधा, या विद्या के प्रतीक स्वरूप हैं। इनके मंजुघोष नाम से भी इस तरह का आभास मिलता है। 'मंजुश्री मूल कल्प' में इनका उपास्य रूप दृष्टिगत होता है। यहां ये महाकारुणिक और विश्व रूपधारी हैं। शत-सहस्र ज्योति रश्मियों से इनका शरीर मंडित है।[1] इस कल्प में इन्हें शिव, विष्णु, विनायक, जैन आदि देवों से भी अभिहित किया गया है।[2] इस प्रकार मंजुश्री में भी सर्वधर्म समन्वय की भावना लक्षित होती है। तिब्बती बौद्धधर्म में इनके प्रवर्तक एवं अवतारी रूप का पता चलता है। क्योंकि तिब्बत का धर्म प्रचारक अतिशा मुख्य रूप से मंजुश्री का अवतार माना जाता है।[3] यह भी कहा जाता है कि दलाईलामा के समकालीन एक प्रमुख लामा जब अवलोकितेश्वर के अवतार नहीं माने जा सके तो उन्हें मंजुश्री का अवतार कहा गया।[4] इस प्रकार तिब्बती बौद्ध धर्म में इनका प्रवर्तक और अवतारी रूप भी प्रचलित जान पड़ता है।

विष्णु के स्वरूप

मंजुश्री का स्वरूप भी विष्णु से कुछ साम्य रखता है। क्योंकि 'साधनमाला' में इनकी जिस मूर्ति का उल्लेख हुआ है उसके हाथों में वज्र और खड्ग के अतिरिक्त चक्र और पद्म हैं।[5] 'मंजुश्री मूल कल्प' में चक्रपाणि के सदृश वे गदा शंख युक्त हैं।[6] उपास्य विष्णु के सदृश मंजुश्री सर्वसत्त्वों के हितकारक और दुष्ट सत्त्वों के निवारक हैं।[7] उनकी सभा में अन्य बुद्धों के अतिरिक्त रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण और वाल्मीकि मंजुश्री की वन्दना करते हुए लक्षित होते हैं।[8] इन तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मंजुश्री पर भी मुख्यतः विष्णु के रूप और अवतारवादी गुणों का आरोप किया गया। उन्हीं के समान इनमें समन्वयवादी प्रवृत्ति का भी विकास हुआ जिसके फलस्वरूप ये अधिक लोकप्रिय हो सके।

मैत्रेय

वैष्णव कल्कि के समान महायानी बौद्ध धर्म में भी एक ऐसे बुद्ध की कल्पना की गई है जो भविष्य में अवतरित होंगे। भावी मैत्रेय [illegible] अभी

---

१. म० मू० क० पृ० २७-२८।
२. म० मू० क० पृ० ३४-३५।
३. बुद्ध० ति० पृ० ६२।
४. बुद्ध० ति० पृ० ३[illegible]।
५. साध० मा० पृ० १६६।
६. म० मू० क० पृ० [illegible]।
७. म० मू० क० पृ० ३२।
८. म० मू० क० पृ० १७।

बोधिसत्व के रूप में तुषित स्वर्ग में निवास कर रहे हैं।[१] ये भविष्य में गौतम बुद्ध के चार हजार वर्ष बाद अवतरित होंगे। हीनयानी और महायानी दोनों इनकी पूजा करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार बौद्धधर्म में बोधिसत्ववाद एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें उत्क्रमण और अवतरण दोनों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है। दोनों का अभिनव सम्बन्ध अनिवार्य रूप से अवतार-प्रयोजनों से रहा है। बोधिसत्व केवल करुणावश बहुजन हिताय रत नहीं रहता अपितु जब तक वह लोक कल्याण में प्रवृत्त नहीं होता तब तक उसे बोधिसत्व ही नहीं कहा जाता। इसीसे बोधिसत्व अवतारवाद वैष्णव अवतारवाद से भी अधिक व्यापक और लोकपरक प्रतीत होता है। क्योंकि इस मत के अनुयायी कितने बोधिसत्व केवल जीवन पर्यन्त ही नहीं अपितु जब तक सृष्टि का उद्धार कार्य समाप्त नहीं हो जाता तब तक अनेक जन्मों में अवतरित होकर मानव-कल्याण के लिए सक्रिय हैं। यह भावना कम से कम मध्ययुगीन होते हुए भी एक बहु जन-व्यापी लोकादर्श को प्रतिष्ठित करती है।

बौद्ध सिद्ध

बौद्धधर्म में महायान के बाद जब वज्रयानी तंत्रों का प्रवेश हुआ उस समय तक बोधिसत्वों के रूप और लक्ष्य दोनों बदल गए थे। बोधिसत्वों में प्रचलित प्रज्ञापारमिता की साधना का स्थान पंच मकारों ने ले लिया था। यद्यपि सिद्धों ने भी करुणा और शून्यता-भावना के अद्वय रूप में ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति मानी है,[२] परन्तु तंत्र युग में अद्वय युगनद्ध के रूप में और निर्वाण महासुख के रूप में परिवर्तित हो चुके थे।

चर्यापद का प्रतिपाद्य चर्या

सिद्धों के चर्यापद में जैसा कि चर्या शब्द से स्पष्ट है, गुह्य साधना, विशिष्ट आचरण, गुरुवाणी, गुरु संकेत, मंत्र और मुद्रा को अधिक महत्त्व दिया गया है। उन पदों में इनके जो रूप मिलते हैं वे प्रयोगाजनित सिद्ध वाक्य अधिक हैं और सिद्धान्त की मात्रा उनमें बहुत कम है। परिणामतः बोधिसत्वों की बोधिचर्या से सम्बद्ध अवतारकारिणी करुणा के जो उल्लेख सिद्धों में मिलते हैं, उनमें भी बौधसिद्धों की महासुख-भावना की अभिव्यक्ति अधिक हुई

१. बुद्ध० इकां० पृ० १३। २. दो० को० (राहुल) पृ० ३२।

है। और करुणा से प्रेरित अवतारवाद की 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' की प्रवृत्ति क्षीण पड़ गई है। इससे विदित होता है कि सिद्धावस्था में सैद्धान्तिक पद्धति या तथ्यों की अपेक्षा गुरुओं द्वारा व्यवहृत और अनुभूति सम्पन्न विचारों का अधिक प्रचार हुआ।

फिर भी सिद्धचर्यापदों को एक प्रकार से अवतारवादी प्रवृत्ति से अधिक पृथक् नहीं माना जा सकता। क्योंकि बौद्ध साहित्य में जन समुदाय को निर्वाणोन्मुख करना एक विशिष्ट कोटि का अवतार कार्य रहा है, जिसे बुद्ध या बोधिसत्त्व करुणावश विविध उपायों द्वारा करते रहे हैं। महायानी बोधिसत्त्वों के अनन्तर वज्रयानी वज्रधर गुरुओं का भी एकमात्र कार्य स्वयं बुद्धत्व या सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् अन्य लोगों को निर्वाणोन्मुख ही करना रहा है। सिद्ध भी चर्यापदों में महासुख या निर्वाण प्राप्ति के उपाय व्यक्त करते हुए दीख पड़ते हैं। अतः वैष्णव अवतारों की परम्परा में न आते हुए भी इनका उद्धार कार्य सगुण उपास्यों, भक्तों, विग्रहों और आचार्यों के सदृश जान पड़ता है।

उत्क्रमणशील सिद्ध उपास्य

मुनि सरह को अद्वयवज्र ने "मुनि भगवान" एवं "परमार्थ रूप" कहा है।[1] इससे जान पड़ता है कि गुरु ही सिद्धों में सिद्ध गुरु या बुद्ध हो जाने पर भगवानवत् हो जाता है। सिद्ध भगवान का यह रूप उपास्यों के सदृश नित्य, पारमार्थिक या अवतारी होता है। अद्वयवज्र ने उत्क्रमणशील सिद्ध का लक्षण 'हेवज तंत्र' के अनुसार बतलाते हुए कहा है—वही सर्व जगत और तीनों भुवन है।[2] जो सिद्ध योगी निरंजन में लीन हो जाता है, सिद्धों में संभवतः उसी को सबसे अधिक परमार्थ प्रवीण माना जाता है।[3] सिद्धों में भी यह धारणा प्रचलित है कि करुणा और शून्यता के अद्वय से सामान्य शरीर सिद्धशरीर हो जाता है।[4] तिलोपाद के अनुसार शून्यता और करुणा को समरस करने की जो इच्छा साधक में स्वयं सिद्ध होने के लिए लक्षित होती है उसमें परोपकार की भी इच्छा विदित होती है।[5] परन्तु सिद्ध युग में उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के सिद्धों में करुणावश बहुजन हित करने वाले सिद्ध को मध्यम कोटि का माना गया उत्तम कोटि का नहीं।[6]

---

१. बौ० गा० दो० पृ० ९३। २. बौ० गा० दो० पृ० १०८।
३. दो० को० बागची पृ० १५८, बौ० गा० दो० पृ० ११७।
४. साध० मा० पृ० ८०। ५. दो० को० बागची पृ० १-२।
६. साध० मा० पृ० ८१।

इससे विदित होता है कि बहुजन हिताय कार्य गौंण और "महासुख" का लक्ष्य मुख्य हो गया था।

सिद्धों के सगुण उपास्य

गुह्य योगी सिद्धों के चर्यापदों से अकसर यह भ्रम हो जाता है कि सिद्ध निराकारोपासक या विशुद्ध योगी थे। किंतु 'तत्त्वरत्नावली' में साकार और निराकारभेद से सिद्ध योगियों के भी दो भेद किए गए हैं।[१] इससे प्रतीत होता है कि सिद्धों में यदि सभी नहीं तो कुछ ऐसे अवश्य थे जो सगुण उपास्य और अवतार-भावना में विश्वास रखते थे। क्योंकि सिद्धों में मनोरथ रचित अवलोकितेश्वर के उपासक रहे हैं और मंगल सेन ने ध्यानी बुद्धों पर स्तोत्र लिखा है।[२] रत्नाकर गुप्त और सरहपाद क्रमशः सम्वर और रक्त लोकेश्वर के उपासक रहे हैं।[३] संभवतः पूर्ववर्ती सामन्तभद्र जैसे सिद्धाचार्य भी वज्री भगवान की सेवा करते हैं।[४] इससे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि कतिपय सिद्ध इष्टदेव के रूप में उक्त विग्रह मूर्तियों की उपासना करते थे।

सिद्ध-उपास्यों में अवतार-भावना

सरहपाद के नाम से विख्यात 'त्रैलोक्य वशंकर' के प्रति कहे गए एक मंत्र में 'अवतर अवतर अवतरन्तु' का प्रयोग हुआ है।[५] इससे विदित होता है कि बौद्ध सिद्ध अपने उपास्य देवों को अर्चा विग्रहों की प्राणप्रतिष्ठा के समान अवतरित किया करते थे। उनके चर्यापदों के कुछ दोहों से एकेश्वरवादी उपास्यों के अवतरित होने का आभास मिलता है। सिद्धों के कथनानुसार एक ही देवता नाना शास्त्रों में दृष्टिगत होता है और वही स्वेच्छा से स्फुट रूप में प्रतिभासित होता है।[६] सम्भवतः सरहपाद ने एक अन्य दोहे में उसी का लक्षण 'स्मृति विस्मृति अजन्मा युग में उतरे' माना है।[७] 'अद्वय वज्र' के अनुसार वही स्वयं भर्ता, हर्ता, राजा और स्वयं प्रभु है।[८]

इस प्रकार सिद्धों ने जिन सगुण उपास्यों की इष्टदेवरूप में उपासना की थी उनमें अवतारवाद के भी कुछ उपादान मिलते हैं।

---

१. अद्वय वज्र सं० पृ० १४। २. साध० मा० पृ० १०५, १०४।
३. साध० मा० पृ० ११३, ११५। ४. दू० वज्र० प्रज्ञोपाय० पृ० २१-५, ८।
५. साध० मा० पृ० ८३ मूल। ६. बौ० गा० दो० पृ० १०७, बागची १३२।
'एक्कु देव बहु आगम दीसइ। अप्पणु इच्छें फुड़ पड़ि हासइ॥'
७. दो० को० (राहुल) पृ० १६३, दो० ६८। ८. दो० को० बागची पृ० १३२।

सिद्ध गुरु

वज्रयानी सिद्धों ने गुरु को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वह सिद्धों के लिए बुद्ध मूर्त्ति है, सुगत है, धर्मकाय है और उद्धारपरक सभी शक्तियों से युक्त है। वह सर्वव्यापी है। बिना उसके अनुग्रह के कुछ भी नहीं हो सकता।[१] इस प्रकार सिद्धों में अवतार-रूप की अपेक्षा उपास्य-रूप अधिक प्रचलित है। चर्यापद के 'गुरु उअएसे विमल मई' से इसका निराकरण हो जाता है।[२] बौद्ध सिद्धों में जो उत्क्रमणशील सिद्ध विरमानन्द में निमग्न रहते हैं उन्हीं को बुद्ध स्वरूप देखा जाता है।[३] यही बुद्ध सिद्ध गुरु उपास्य-वादी अवतारों के सदृश भवबन्धन तोड़ने का कार्य करता है। सिद्धों की साधना में भी सद्गुरु बोध की पग पग पर आवश्यकता होती है। इष्टदेव के सदृश वह और उसके वचन पतवार की तरह सहायक होते हैं।[४]

गुरु में उपास्य इष्टदेव के उद्धार सम्बन्धी कुछ अवतार-कार्य भी दृष्टिगत होते हैं। सिद्ध पदों के अनुसार गुरु जरा-मरण और राग-दुःख आदि नाना बाण शल्यसमूह से अशान्त शारीरियों को ज्ञानामृत दान करता है।[५] सिद्ध अद्वय वज्र गुरु को कभी जगन्नाथ स्वरूप मान कर उसकी स्तुति करते हैं और कभी तथागत के रूप में उसका स्मरण करते हैं।[६] वे गुरु-मार्ग की आराधना श्रेयस्कर मानते हैं। उनके मतानुसार गुरु-मार्ग का स्मरण सिद्ध का परम लक्ष्य है।[७] इस प्रकार सहज निर्वाण या सहज सिद्धि के लिए गुरु वचन में दृढ़ भक्ति आवश्यक है।[८] सरहपा ने गुरु को वैरोचन कह कर नमस्कार करते हुए कहा कि उसने 'करुणा-किरण से विश्व प्रपंचित किया तथा उसी के रत्नप्रभा मण्डल से सरह ने तन समूह को प्रध्वस्त किया'।[९] सिद्धों की इन उक्तियों में गुरु के किंचित् अवतार-कार्य का आभास मिलता है। परन्तु वज्रयान की प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानसिद्धि' में गुरु का व्यापक अवतारवादी उपास्य रूप दृष्टिगोचर होता है।

ज्ञानसिद्धि के अनुसार गुरु ही बुद्ध, धर्म और संघ स्वरूप है। श्रेष्ठ रत्नत्रय उसी के प्रसाद से जाने जा सकते हैं। वह अज्ञान रूपी तिमिरान्धकार

---

१. साध० मा० भू० पृ० ६३। २. पुरा० निब० पृ० १६९।

३. पुरा० निब० पृ० १७६

'विरमानन्द विलक्षण सुध, जो एकु बुझइ सो एथु बुद्ध।'

४. बौ० गा० दो० पृ० ५८ 'सद्गुरु वअने धर पतवाल।'

५. दो० को० (राहुल) पृ० २८१। ६. बौ० गा० दो० पृ० ७७।

७. बौ० गा० दो० पृ० ८६। ८. बौ० गा० दो० पृ० ९८-९९।

९. दो० को० (राहुल) पृ० २७९।

में मार्ग प्रदर्शक है, सर्व काम प्रदायक सखा है और धार्मिक या धर्म में गम्भीर करुणा से युक्त निष्ठात्मा है।[१] वह सर्व बुद्धात्मा और सभी देवों के द्वारा वंद्य जगत्पति तथा रक्षा करने में महाबलवान् बोधिसत्त्व है। वह बुद्ध और महात्मा के समान सदैव वज्रकाय में स्थित रहता है। वह बुद्ध धर्म का प्रवर्तक है। वह महाबलवान् पराक्रमी लोकपालों के सदृश सर्वत्र जाकर रक्षा करता है। वह मार के विघ्नों को दूर करता है।[२] वह अवलोकितेश्वर के सदृश वैनायकों के लिए गणेश रूप में, सम्भोगिकों के लिए बुद्धों के सम्भोग काय से तथा निर्माणिकों के मत से सर्व लक्षण युक्त नाना बुद्धों के रूप में आविर्भूत होता है।[३]

इस प्रकार सिद्ध साहित्य में उपास्य इष्टदेव और उपास्य गुरु दोनों का समान रूप से एकेश्वरवादी विकास हुआ। सिद्धों ने इन्हें विभिन्न साधनात्मक अवतार प्रयोजनों से सन्निविष्ट कर इनमें उस प्रकार के समन्वयात्मक अवतार वाद का समावेश किया जो पहले से बोधिसत्त्वों की अवतार परम्परा में प्रचलित था।

कायवाद

बौद्धधर्म के प्रारम्भ में तो विविध प्रकार के बुद्धों का विकास हुआ। किंतु बाद में धर्मबुद्ध और अन्य बुद्धों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया। कायवाद के विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों दृष्टियों से इस प्रवृत्ति का विशेष योग था। पर काय के जो रूप सम्प्रदायों में प्रचलित हुए उनमें संख्या और रूपरेखा की दृष्टि से बहुत मतभेद रहा है। फिर भी बौद्ध सम्प्रदायों में प्रायः धर्म, सम्भोग और निर्माण इन तीन कायों का बहुत प्रचार हुआ। सिद्ध साहित्य में कभी काय चतुष्टय और कभी त्रिकाय का उल्लेख मिलता है। अद्वय वज्र का कहना है कि धर्म, सम्भोग, निर्माण और महासुख ये काय चतुष्टय सद्गुरु के चरणों की विमल मति युक्त उपासना से ही ऊपलब्ध होते हैं।[४] सुगत वचन के अनुसार क्रिया के लिए धर्मकाय, सम्भोग, निर्माण और स्वभाव काय ही हेतु मूल-फल कहे गए हैं।[५] सरहपाद के दोहों में उक्त कायों का प्रायः उल्लेख हुआ है। इनके दोहों में विशेष कर त्रिकायों को रज्जुसर्पवत् या मायात्मक माना गया है।

---

१. टू० वज्र० ज्ञानसिद्धि १, २४–२५। २. टू० वज्र० ज्ञानसिद्धि १, २६–३२।
३. टू० वज्र० ज्ञानसिद्धि १, ५४–५५। ४. बौ० गा० दो० पृ० १०४।
५. दो० को० (राहुल) पृ० ११९।

धर्मकाय

बौद्ध धर्म में कार्यों का मुख्य जनक धर्मकाय ही रहा है। जबसे बुद्ध ने कहा कि मैं ही धर्म हूँ तब से उनका एक धर्मकाय भी प्रचलित हो गया। सम्प्रदायों में धर्मकाय शाश्वत काय है। तथागत का यह धर्मकाय गङ्गा की वालुका राशि की भांति कभी नष्ट नहीं होता।[१] बौद्ध धर्म के विचारकों ने इसे ब्रह्म से मिलता जुलता होने के कारण ब्रह्म काय माना है।[२] 'सेकोद्देशटीका' में कहा गया है कि समस्त बुद्ध धर्म स्वभाव से संवृति सत्य है और द्वैधी भाव होने पर वह सत्य युगनद्ध कहा गया। इसलिए युगनद्ध काय ही धर्मकाय है।[3] इसी ग्रन्थ में पुनः बताया गया है कि जो अनित्य और नित्य नहीं है, जो एक और अनेक नहीं है, जो भाव और अभाव नहीं है वह धर्मकाय निराश्रय है।[४] 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' में उस बुद्ध को नमस्कार किया गया है। जो सद्धर्म को बढ़ाने वाला है, जिसके धर्मकाय से सम्भोग और निर्माणकाय उत्पन्न होते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में धर्मकाय का उद्भव बुद्ध के धर्म स्वरूप से था। इसी से सम्भोग और सम्भोगकाय से निर्माणकाय की उत्पत्ति हुई।

विविधकाय

सिद्धों में इसी काय को शुद्धकाय, स्वाभाविककाय, वज्रकाय और सहजकाय भी माना गया है।[५] 'सेकोद्देशटीका' के अनुसार महासुख संज्ञक शुद्धकाय से विपरीत जो काय बिंदु है वह तुरीयावस्था क्षय होने पर शुद्ध काय होता है।[६] शून्यता और करुणा से भिन्न, राग-विराग और प्रज्ञा-उपाय से रहित काय स्वाभाविक काय है।[७] महायानियों का धर्मकाय ही वज्रयान में वज्रकाय या वज्रसत्त्व के रूप में परिणत हो गया। क्योंकि वज्रकाय को प्रायः धर्मकाय से अभिहित किया जाता है।[८] सहजिया बौद्धों में शून्यता और करुणा ही परिवर्तित होकर प्रज्ञा और उपाय हो जाते हैं। सहज के ये ही दो प्राथमिक गुण माने गये है।[९] 'सेकोद्देशटीका' के अनुसार रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श ये षड़ाक्षर कहे गये हैं। वे जब एक या समरस हो जाते हैं तो विंदु शून्य हो जाता है। विंदु अच्युत है और अच्युत परमाक्षर कहा जाता है।

---

१. लं० सू० पृ० २००।
२. बौ० ध० पृ० ११२, महा० पृ० ७४।
३. सेकोद्देशटीका पृ० ५७।
४. सेकोद्देशटीका पृ० ६१।
५. इन० ता० बुद्ध० पृ० ८९।
६. सेकोद्देशटीका पृ० ५६।
७. सेकोद्देशटीका पृ० ६१।
८. इन० ता० बुद्ध० पृ० ८९।
९. ओ० रे० क० भू० पृ० ३२।

परमाक्षर अकार होता है और अकार से सम्बुद्ध उत्पन्न होता है। उसका प्रज्ञोपायात्मक वज्रसत्त्व नपुंसक पद सहजकाय के रूप में प्रचलित हुआ।[1] कायों के इन विविध रूपों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी कायों में शून्यता और करुणा के ही विविध रूप अद्वय होकर इनमें सन्निविष्ट हुए हैं। अतः विवेच्य सभी कायों को धर्मकाय का विकसित रूप माना जा सकता है।

सम्भोगकाय

सम्भोगकाय धर्मकाय से ही निर्गत एक अवतारवादी काय प्रतीत होता है। क्योंकि यह वह काय है जिसको बुद्ध दूसरों के कल्याण के लिए बोधिसत्त्व के रूप में अपने पुण्य संभार के फल स्वरूप तब तक धारण करते हैं जबतक वे निर्वाण में प्रवेश नहीं करते।[2] बौद्ध सम्प्रदायों में अभिताभ बुद्ध का सम्भोगकाय है। भगवान इस काय के द्वारा अपनी विभूति को प्रकट करते हैं। धर्मकाय के विपरीत यह काय रूपवान् है पर यह रूप अपार्थिव है। कतिपय सम्प्रदायों में इस 'रूपकाय' को नाना रूपवाला कहा जाता है क्योंकि सम्भोग काय अपने को अनेक रूपों में प्रकट करने की क्षमता रखता है।[3] अतः सम्भोगकाय अपार्थिवकाय है। यह अमिताभ से सम्बद्ध होने के कारण रश्मियुक्त काय भी माना जा सकता है क्योंकि निर्माणकायों का विकास अधिकतर बुद्ध रश्मियों से ही होता है।

निर्माणकाय

निर्माणकाय को इसकी विशेषताओं के अनुरूप अवतारकाय कहा जा सकता है। यह काय भी दिव्य अवतार कायों के सदृश अस्थि और रुधिर रहित है। केवल सत्त्वों के परिपाक के लिए निर्मित काय के दर्शन होते हैं। 'लङ्कावतार सूत्र' के अनुसार बुद्ध असंख्य निर्माणकायों के रूप में अवतरित होकर अज्ञानियों को धर्म-देशना से तृप्त करते हैं।[4] इन निर्माणकायों के रूप में श्रावक, प्रत्येक बुद्ध नहीं अपितु केवल कारुणिक स्वभाव से युक्त बोधिसत्त्व ही बुद्ध रूप होते हैं।[5] इस सूत्र ग्रन्थ में स्वाभाविक बुद्ध के पंचनिर्मिता नाम से पांच निर्माणकाय भी माने जाते हैं।[6] सम्भवतः ये पंचध्यानी बुद्धों के प्रारम्भिक रूप हैं। इसी ग्रन्थ में धर्म बुद्धों से निःष्यन्द

---

१. सेकोद्देशटीका पृ० ६९।
२. बौ० ध० द० पृ० ११९।
३. बौ० ध० द० पृ० १२०।
४. लं० सू० पृ० २२९, ४०।
५. लं० सू० पृ० २३२।
६. लं० सू० पृ० २५६।

और निष्यन्द से निर्मिता बुद्धों की परम्परा चलती है।[1] कालान्तर में इसका त्रिकायात्मक रूप विदित होता है।

सिद्धों में सरहपाद के एक रूपान्तरित दोहे से ऐसा जान पड़ता है कि महामुद्रा ही सम्भवतः अवतरित बुद्ध है। वह प्राणियों के हित के लिये रूपकाय में अवतीर्ण होती है।[2] सरहपाद के अन्य रूपान्तरित दोहों में नाना निर्माण-कायों के आविर्भाव का पता चलता है।[3] इन दोहों में निर्माण काय की चर्चा करते हुए कहा गया है कि नाना भासित निर्माणकाय निज स्वभाव का काय है। करुणा और शून्यता के अद्वय तथा कर्ममुद्रा के आश्रय से इसका अनुभव होता है।[4] अद्वयवज्र ने 'चाहन्ते चाहन्ते दिट्ठा निरुद्धा' की व्याख्या करते हुए चाक्षुषदर्शन के लिए विशिष्ट निर्माणकाय की उत्पत्ति मानी है।[5] सरहपाद के दोहों में निर्माण विशिष्ट आविर्भावों का भी उल्लेख हुआ है। जिनके अनुसार जिन इत्यादि सर्वत्र नाना रूप निर्मित करते हैं। अचिंत्य स्वयंभू करुणावश निर्मित होकर शुद्ध न्याय का आचरण करता है।[6] सिद्ध सरह ने त्रिकायवादी अवतार या निर्माणों को स्वीकार किया है। किंतु वे सब रूप इनकी दृष्टि में मायात्मक हैं। सरह के एक पद से इसकी पुष्टि होती है। वे कहते हैं कि अजात धातु के स्वभाव को बन्धन में उतरने से भेद नहीं, दृष्टान्त लक्षण या प्रतीक के माध्यम से उसे स्वीकार किया जा सकता है। पुनः उनके मायोपम रूप की चर्चा करते हुए उनका कथन है कि विनय मार्ग में आरूढ़ बल वाले शास्ता अवतारी बोधिसत्त्व के जिस मार्ग की चर्चा उन्होंने की वह माया विशिष्ट होने के कारण आलम्बन रहित है।[7]

इससे स्पष्ट है कि सिद्धों में निर्माणकाय रूपकाय से नाना रूपों में आविर्भूत होने वाला काय रहा है। इसके अवतार प्रयोजनों में बोधिसत्त्वों के दर्शन, धर्मदेशना और धर्मप्रवर्तन प्रमुख रहे हैं। लामा मत में पुनरा-वतार निर्माणकाय का ही एक प्रचलित रूप है। जिसके अनुसार दिव्य लोक निवासी बुद्ध सम्भवतः धर्मप्रचार के निमित्त मठों में अवतरित होते हैं। इस प्रकार मठों के प्रवर्तक प्रायः किसी न किसी बुद्ध के अवतार होते हैं। जिनकी परम्परा प्रथम दलाई लामा से आरम्भ होती है।[8]

---

१. लं० सू० पृ० २५९।
२. दो० को० (राहुल) पृ० १६७
महामुद्रा क्षणिक पूर्व बुद्ध (है), सोई प्राणी के अर्थ रूप-काय में होइ।'
३. दो० को० (राहुल) पृ० १२१, ६५।
४. दो० को० (राहुल) पृ० १६५, ७०।
५. बौ० गा० दो० पृ० ९१।
६. दो० को० (राहुल) पृ० २२७, ३५।
७. दो० को० (राहुल) पृ० २९१–१५, १६।
८. बुद्ध० ति० २३०।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निर्माणकाय बुद्ध का उपपादुक अवतार-काय रहा है। इस काय में प्रकट होने का उनका प्रयोजन भक्तों को दर्शन और धर्मदेशना है। सिद्धों ने निर्माणकाय को मायोपम मानते हुए भी विविध रूपों का अवतारक माना है। तिब्बती लामा मत में निर्माणकाय तिब्बत में प्रचलित पुनरावतार का द्योतक रहा है।

अवतारी शून्य

वज्रयानी तंत्रों में अद्वयवज्र के अनुसार सभी बौद्ध देवता शून्य या शून्यता के व्यक्त रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ये क्षणिक अस्तित्ववाले होने के कारण स्वभावतः निःस्वभाव हैं। अर्थात् शून्य ही बौद्ध देवताओं के रूप में मायोपम या क्षणिक होकर अवतरित होता है। अतः जब भी कोई अवतार होता है वह मुख्य रूप से शून्य का ही सार स्वरूप है। शून्य के अतिरिक्त इन अवतरित देवों का सम्बन्ध विज्ञान और महासुख से भी है।[१] चर्यापदों के अनुसार शून्यता-ज्ञान के धारण करने से महासुख लाभ होता है।[२] शून्यता के अवतारीकरण में देवताओं की क्षणिकता और महासुख दोनों का योग माना जा सकता है।

अद्वयवज्र में शून्य का अवतारवादी विकास चार रूपों में कहा गया है। शून्यता से बीज, बीज से बिम्ब और बिम्ब से देवताओं का न्यास-विन्यास उत्पन्न होता है। कभी-कभी बौद्ध दैवीकरण में एक ही बुद्ध में सभी बुद्धों को समाविष्ट किया गया है।[3] इस दृष्टि से मंजुश्री उल्लेखनीय हैं। मंजुश्री को 'साधनमाला' में सर्वतथागत स्वरूप कहा गया है। इसके मूल में 'ज्ञानसिद्धि' की यह प्रवृत्ति हो सकती है जिसमें कहा गया है कि एक बौद्ध देवता में पांच स्कंधों का अस्तित्व होता है। जिसमें प्रत्येक स्कंध का एक एक ध्यानी बुद्ध प्रतिनिधित्व करता है।[४]

शून्य से अवतरित इन देवों का अवतार-प्रयोजन पांचरात्र अर्चा विग्रहों के सदृश सामान्यतः वरदान, शक्ति, सफलता, रक्षा और नाश रहा है।[५] वज्रयानी विश्वासों के अनुसार शून्य नाना रूप धारण कर लोक-कल्याण का कार्य किया करता है।[६] वज्रयान में प्रज्ञापारमिता का भी जब दैवीकरण हुआ तो कहा गया कि शून्य ही प्रज्ञापारमिता देवी के रूप में आविर्भूत

---

१. साध० मा० पृ० १२३। २. चर्यापद पृ० २३०।
३. साध० मा० पृ० ११७। ४. ज्ञानसिद्धि पृ० ४७।
५. साध० मा० पृ० १२५। ६. साध० मा० पृ० १२९।

होता है।[1] कहा जाता है कि इन विविध देवों और मूर्तियों के रूप में धर्मबुद्ध ही जन समूह पर अपनी अनन्त करुणा और कृपा बिखेरते हैं।[2]

इस प्रकार वज्रयान में शून्य करुणा के साथ साधकों की साधना का केवल लक्ष्य मात्र ही नहीं रहा अपितु वह विविध बौद्ध देवता और देवियों के अवतारक रूप में भी प्रचलित हुआ।

उत्तर मध्यकाल में वह शून्यता का प्रतीक नहीं रहा बल्कि वह पुरुष, निराकार या निर्गुण ब्रह्म का वाचक हो गया। उड़िया पुराणों में उसे 'अलेख पुरुष शून्य दुई एकइ समान' तथा 'अलेख पुरुषर नहीं शून्य वर्ण' कहा गया है।[3] इन पुराणों में उसका विचित्र ढंग से वैष्णवीकरण हो गया। इनके मतानुसार अब ब्रह्म ही शून्य रूप में आविर्भूत होता है। इसी से वह शून्य पुरुष के नाम से विख्यात है। वह विराट गीता के अनुसार रूप-चिन्ह रहित है।[4] यही शून्य पुरुष विष्णुगर्भपुराण में महाविष्णु कहा गया है, जो 'एते बोलि अलेख महाविष्णु हेल' से स्पष्ट है। यों तो वह शून्य पुरुष तटस्थ रहता है किन्तु शून्य से परे होकर यह लीला करता है।[5] शून्य का प्रभाव संतों और मध्यकालीन सगुण भक्तों पर भी देखा जा साकता है। विशेषकर गोस्वामी तुलसीदास जैसे सगुणोपासक में पांचरात्र पर रूप के रहते हुए भी 'निर्गुण ब्रह्म सगुण होइ आयी' का प्रयोग शून्य भावना से भी संवलित कहा जा सकता है।

अतः बौद्धधर्म में जिस शून्य की अभिव्यक्ति सृष्टि की क्षणिकता के अर्थ में हुई थी वज्रयानी तंत्रों में वही बौद्ध देवताओं का अवतार अवतारी हो गया। फलतः उत्तर मध्यकाल में उसे निराकार, निर्गुण और पुरुष के साथ महाविष्णु से भी अभिहित किया गया और विष्णु से अभिहित होने के उपरान्त वह लीलात्मक रूप का धारक हो गया।

अवतार हेतु करुणा

शून्यता और करुणा का अपूर्व अवतारवादी रूप वज्रयानी साहित्य में दृष्टिगत होने लगता है। वहां यदि शून्य अवतारी पुरुष है तो करुणा ही उसका मुख्य अवतार-प्रयोजन है। यों तो बोधिचित्त करुणा और शून्यता

१. साध० मा० पृ० ६७-६८। २. साध० मा० पृ० १२७।

३. मे० वै० उ० पृ० ९२ और विष्णु गर्भ० पु० अ० ३, २७१, २७२।

४. मे० वै० उ० पृ० ९३ विराट गीता १ 'याहार रूप रेख नहिं शून्य पुरुष शून्य देही'

५. मे० वै० उ० पृ० ९३ शून्य संहिता, ८

'शून्य पुरुष अलगे रहिछि शून्य परिवसि लीला करुछि।'

का अभिन्न रूप है जिनके अद्वय से सामान्य शरीर होता है। परन्तु साधकों की भावात्मक प्रवृत्ति ने दैवी करुणा और आनन्द को ही अतिमानुषी या पूर्ण रूप में अवतरित करने का प्रयास किया है। बोधिसत्वों की साधना और कार्य के रूप में आनन्द और करुणा ही चरम फल के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों फल केवल व्यक्तिमात्र के लिए नहीं अपितु समस्त लोक हित के विधायक होते हैं। चर्यापद में करुणा और आनन्द बोधिचित्त के सहज धर्म माने गए हैं।[१] महासुख का अधिक प्रयोग होने पर भी सिद्ध-पदों में करुणा का वहिष्कार नहीं हुआ है। सिद्ध जिस साधना से सम्बद्ध रहे हैं उसमें निरन्तर करुणा का स्फुरण होता है।[२] चर्यापदों में आए हुए 'अक्ट करुना डमरुलि बाजय' में करुणा का सिद्धावस्था का रूप लक्षित होता है।[३] करुणा या कृपा साधक के हृदय में डमरू की तरह बज रही है। यही करुणा पहले साधक को आपादमस्तक अभिभूत कर उसे महाकारुणिक बना देती है। सिद्ध पदों में कहा गया है कि इस अद्वय चित्त रूपी तरुवर ने ही त्रिभुवन में अपना विस्तार कर रक्खा है। जिस तरुवर से निर्गत करुणा पुष्पफल वहते हैं, यद्यपि वह तरुवर शून्य ही है फिर भी उस पर विविध विचित्र करुणा फलती रहती है। जो शून्य तरुवर निष्करुण (हीनयानी) है उसकी न मूल है न शाखा। वह मूल और शाखा के विना ही विच्छिन्न हो जाता है।[४] अद्वय वज्र के अनुसार परम निर्वाण रूपी चिंतामणि की प्राप्ति में जगदर्थात्मिका महाकरुणा ही संभवतः सबसे बड़ी सहायिका है।[५] सरहपाद के मत से करुणा रहित शून्य का उपासक उत्तम मार्ग नहीं पाता अपितु दोनों का साधक निर्वाण प्राप्त करता है।[६] पर इन दोनों में करुण बल से ही रूप काय द्विविध होता है।[७] सिद्ध साधना में गुरु तरुण करुणा से आद्र मार्ग शिष्य को दर्शाता है।[८] वह करुणा को उपाय से देखने तथा दृष्टान्त से दिखाने की आवश्यकता बतलाता है।[९] यहां दृष्टान्त से दिखाने का तात्पर्य बहुजन हिताय करुणा के उपयोग से माना जा सकता है।

इस प्रकार सिद्धों ने अपनी साधना में जिस करुणा को स्थान दिया है वह केवल उनके व्यक्तिगत निर्वाण की ही साधिका नहीं है अपितु उसमें परार्थ भाव और बहुजन हिताय की भावना भी निहित है। चर्यापदों के

---

१. चर्यापद भू० पृ० २७।
२. चर्यापद पृ० १४७।
३. चर्यापद पृ० १५०।
४. बौ० गा० दो० पृ० ३८ दो० १०७।
५. बौ० गा० दो० पृ० ९४।
६. दो० को० (राहुल) पृ० ५।
७. दो० को० (राहुल) पृ० १२१।
८. दो० को० (राहुल) पृ० २८३, १६।
९. दो० को० (राहुल। पृ० १६५, ७३।

नाम से प्रसिद्ध दोहों में करुणा का महत्त्व स्थापित हुआ है। क्योंकि दोहाकोश में कुमारभूत मंजुश्री को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि 'सरह ने करुणयुक्त यह अवबोध गीत रचा'।[1] इस करुणा में बहुजन हिताय की मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित होती है।

धर्ममेघ या करुणमेघ

महायानी बोधिसत्त्ववाद में धर्ममेघ से बोधिसत्त्वों में अवतार-कार्य की क्षमता प्रदान की जाती रही है। सिद्धचर्या पदों में भी करुणमेघ की वर्षा का प्रायः प्रयोग होता रहा है। भुसुकपाद ने निरन्तर करुणमेघ के फलने की चर्चा की है। बोधिसत्त्वों के समान सिद्धों का भी करुणमेघ के सदृश बरसना प्रधान अवतार-कार्य रहा है।[2] क्योंकि करुणा की वर्षा में साधक के साथ साथ बहुजन हित की भी भावना विद्यमान है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में शून्यता यदि अवतारी है तो करुणा उसका अवतार प्रयोजन है। एक करुणा में ही सभी पारमार्थिक और बहुजन हित के भाव समाहित हो जाते हैं।

वज्रयान के अवतारी उपास्य देव

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि वज्रयानी सम्प्रदाय में शून्य ही विविध उपास्य देवों के रूप में अवतरित हुआ। इसके परिणाम स्वरूप वज्रयान में नाना प्रकार के देवता प्रचलित हुए। इनमें से कतिपय ऐसे हैं जिनका अवतारवादी उपास्य रूप सिद्ध एवं उत्तरवर्ती साहित्य में मिलता है।

आदि बुद्ध

पूर्व मध्यकालीन बौद्ध धर्म के उपास्यों और इष्टदेवों पर सम्भवतः पांचरात्रों के प्रभाव स्वरूप एकेश्वरवादी प्रवृत्ति का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। अनेक या पंच तथागत बुद्धों की अपेक्षा उन्हें पुनः आदि बुद्ध की आवश्यकता विदित हुई। कदाचित् इसी प्रेरणा से आदि बुद्ध की उत्पत्ति १०वीं शती के प्रथम चरण में नालन्दा में हुई।[3] कुछ लोग पंच बुद्धों की उत्पत्ति के बाद सर्वश्रेष्ठ बुद्ध की उत्पत्ति मानते हैं, जिन्हें आदि बुद्ध कहा गया। वज्रसत्त्व भी इनका ही नाम है।[4] किंतु कुछ लोग आदि बुद्धों से ही पंच ध्यानी बुद्धों की उत्पत्ति मानते हैं।

---

१. दो० को० (राहुल) पृ० ३५१, १५।

२. बौ० गा० दो० पृ० २७ दो० ३० चर्यापद पृ० १४६।

३. बुद्ध० इको० पृ० २७।

४. ल० वि० अनु० नोट पृ० ११।

जो हो, वज्रयान में आदि बुद्ध ही सबसे बड़े देवता माने जाते हैं। इनकी शक्ति का नाम प्रज्ञापारमिता है। आदि बुद्ध का प्रचार कालचक्रयान में भी दीख पड़ता है। अद्वयवज्र के अनुसार सम्भवतः आदि बुद्ध महाकारुणिक तथा करुणाशाली है।[1] सरोजवज्र के दोहे की टीका में आदि बुद्ध विष्णु के सदृश निर्माणकय के द्वारा विश्वस्रष्टा रूप में विश्व की नाना विभूतियों का निर्माण करते हुए लक्षित होते हैं।[2] प्रायः इनके साथ वज्रधर, वज्रसत्त्व, ध्यानी बुद्ध, सामन्तभद्र, वज्रपाणि आदि देवता अभिहित किए गए हैं।[3] 'सेकोद्देशटीका' में आदि बुद्ध का विस्तृत प्रतिपादन हुआ है। यहाँ ये वैष्णवों और पांचरात्रों के उपास्य देवों के सदृश छः गुणों से युक्त बताए गए है।[4]

षाड्गुण्ययुक्त

इस तंत्र ग्रन्थ के अनुसार आदि बुद्ध समग्र ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, ज्ञान और प्रयत्न इन छः भगों से युक्त हैं। इसी क्रम में बौद्ध सम्प्रदाय के अनुरूप 'भग' शब्द की व्याख्या की गई है। 'हेवज्रतंत्र' में कहा गया है कि 'क्लेश मार आदि दुःखों का भंजन करने के कारण प्रज्ञा उन क्लेशों का नाशक है इसलिए वह भग कही जाती है।[5] अतः निश्चय ही प्रज्ञायुक्त होने के कारण आदि बुद्ध वज्रयान में भगवान कहे गए।

निर्गुण और सगुण रूप

निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के रूपों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि आदि बुद्ध समाधि सम्पन्न, परमाक्षर, अच्युत, सर्वाकार, सर्वेन्द्रिय, विन्दु रूप, विश्वमायाधर भगवान के शरीर हैं।[6]

अवतार रूप

आदि बुद्ध स्वयं तो अजन्मा हैं किंतु असंख्य गुणों और रूपों में आविर्भूत होते हैं। वह जब अपने को अभिव्यक्त करता है तो कतिपय भागों में व्यक्त होता है। एक रूप में तो वह स्वयं तथा द्वितीय रूप में वह संवृत्ति रूपिणि शक्ति का प्रादुर्भाव करता है।[7] इस युगल रूप के अतिरिक्त आदि बुद्ध से प्रादुर्भूत ध्यानी बुद्धों की संख्या इतनी बढ़ी कि वह ३३ कोटि से भी अधिक

---

१. बौ० गा० दो० पृ० ९१। २. बौ० गा० दो० पृ० ११३।
३. इन० बु० इ० पृ० १२८। ४. सेको० पृ० २१।
५. सेको० पृ० ३। ६. सेको० पृ० ३।
७. सेको० भू० पृ० २२।

हो गई।[१] वज्रयान में इनके व्यक्तिगत अवतारके अन्य उल्लेख मिलते हैं। आदि बुद्ध स्वयं मनुष्य रूप में अवतरित होकर वज्रधर का स्वरूप धारण करते हैं।[२] काल स्वरूप होने के कारण वे काल रूप में भी अवतरित होते हैं।

अवतार हेतु

आदि बुद्ध प्राणियों के प्रति महाकारुणिक होने के कारण स्वयं आविर्भूत होते हैं। उपास्य के अवतार हेतु की यह प्रवृत्ति पांचरात्र पर उपास्य के समानान्तर विदित होती है। वह भी भक्तों के अनुग्रह वश आविर्भूत होता है।

मायात्मक और लीलात्मक

सिद्ध साहित्य में सभी बुद्ध भावाभाव युक्त मायवत् माने जाते रहे हैं।[३] बौद्ध धर्म का नाना सम्प्रदायों में प्रचार होने पर बुद्ध का ऐतिहासिक जन्म भी मायिक या लीलात्मक मान्य हुआ। 'ज्ञानसिद्धि' में बुद्ध-जीवन के व्यापारों को क्रीड़ा मात्र बताया गया है। उनका गर्भ चक्र में प्रवेश, सर्वत्र भ्रमण, कुमार रूप की क्रीड़ा, शिल्प दर्शन, अन्तःपुर से निष्क्रमण, मार का दमन, देवावतरण, धर्मचक्र-प्रवर्तन और महानिर्वाण, सब क्रीड़ा मात्र हैं।[४] विष्णु के अवतार-कार्यों के सदृश मायिक भगवान बुद्ध भी अपने पराक्रम से सभी लोकों को मर्दित करते हैं। वे अत्यन्त दुष्ट सत्त्वों का विशोधन करते हैं। माया से छलनेवाले मार से वे सभी लोकों को अभय दान करते हैं।[५]

इस प्रकार वज्रयानी साहित्य में आदि बुद्ध का जो रूप प्रचलित हुआ है वह मायिक और लीलात्मक होने के कारण पूर्ण रूप से अवतार रूप रहा है। उपास्य रूप में प्रचलित होने पर अनेक ध्यानी बुद्धों और वज्रयानी उपास्यों के अवतार आदि बुद्ध अवतारी रूप में भी प्रचलित हुए।

वज्रधर या वज्रसत्त्व

वज्रयान में आदि बुद्ध के बाद जिन देवताओं का प्रचार रहा है उनमें वज्रधर या वज्रसत्त्व प्रमुख हैं। इनके उद्गम को लेकर वज्रयान के विचारकों में मतभेद रहा है। प्रायः वज्रसत्त्व का विकास वज्रपाणि से माना जाता है

---

१. बुद्ध इक्नो० पृ० २८।
२. इन० बु० इ० पृ० १२८।
३. बौ० गा० दो० पृ० ९८।
४. टू० वज्र० ज्ञान० १, ५८-६०।
५. टू० वज्र० ज्ञानसिद्धि १८, ९-११।

जो अक्षोभ्य से निकले हैं और उधर आदि बुद्ध जब मनुष्य रूप धारण करते हैं तब उन्हें वज्रधर कहा जाता है। इससे लगता है कि वज्रसत्त्व और वज्रधर दो उपास्य रूप हों। परन्तु वज्रयानी साहित्य में इनसे सम्बद्ध जो उपादान मिलते हैं उस आधार पर इन्हें एक दूसरे का पर्याय भी माना जा सकता है।

'बौद्ध गान ओ दोहा' में संगृहीत 'डाकार्णव' के अनुसार वज्रधर के अवतार की पुष्टि होती है। इस तंत्र के अनुसार बुद्धमार्ग की स्थापना के हेतु वज्रधर मनुष्य रूप में बार बार उत्पन्न होते हैं। ये माया के कारण हैं फिर भी अपनी आत्मा को माया में स्थित कर प्रत्यवेक्षण करते हैं। अतः वज्रधर के अवतरण में 'तदात्मानं सृजाम्यहं' और 'सम्भवाम्यात्म मायया' की प्रवृत्ति लक्षित होती है।[१]

उपास्य रूप

मध्यस्थ परमेश्वर में तथा उसके दर्शन में सरहपाद का विश्वास नहीं है, किंतु संसार से मुक्ति के लिए वे गुरु वज्रधर की उपासना अभीष्ट मानते हैं। गुरु बौद्ध प्रणाली में एक प्रकार का अवतारी पुरुष होता है। सरहपाद के दोहों की व्याख्या में 'नमः श्री वज्रसत्वाय' के प्रयोग से उसके उपास्य रूप का पता चलता है। उसे पुनः जगन्नाथ और गुरु कहा गया है।[२] इससे उपास्य वज्रधर के गुरु इष्टदेव रूप का अनुमान किया जा सकता है।

सिद्धों के अनुसार बुद्ध वज्रधर भावाभाव तथा करुणा-शून्यता के अद्वय से रहित है। उसे सकल जगत से अशेष बुद्ध वज्रधर परिकल्पित किया जाता है।[3] कृष्णाचार्य ने पदारम्भ में उसे 'नमो वज्रधराय' कह कर उपास्य रूप में स्वीकार किया है।[४] 'चर्यापद' के एक दोहे में कहा गया है कि गगन रूपी नीर में महासुख स्वरूप अमिताभ बोधिचित्तानन्द रूप पंक उत्पन्न करता है। वही कमल के मूल नाल का प्रधान कारण है। उसीसे अहंकार रूपी शब्दाक्षर, अनाहत स्वरूप वज्रानङ्ग अक्षररूप वज्रधर उत्पन्न होता है।[५] यहां निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप के सदृश वज्रधर उपास्य की उत्पत्ति विदित होती है। 'हेवज तंत्र' के अनुसार वह स्वयं कर्ता, स्वयं हर्ता, स्वयं राजा और प्रभु है।[६] वह कर्ता के रूप में स्रष्टा और हर्ता रूप में स्वयं सृष्टि का संहारक

१. बौ० गा० दो० पृ० १४८।
२. दो० को० बागची पृ० ७२।
३. बौ० गा० दो० पृ० ९८।
४. बौ० गा० दो० पृ० ११७।
५. दो० को० बागची पृ०१५०।
६. दो० को० बागची पृ० १५२।

है। यही महासुख, धर्मकाय और स्वयं बुद्ध है।[१] सिद्ध पदों में वज्रधर शरीर का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि सभी वैरोचन आदि तथागत, सम्बोधि लक्षण युक्त वज्रधर शरीरवाले हुए हैं। वे ही रूपादि पंचस्कंध शरीर स्वरूप के क्षीर-नीर भाव से समरस करनेवाले रहे हैं।[२] इस कथन के अनुसार सभी तथागत वज्रधर के शरीर में समाविष्ट विदित होते हैं। सम्भवतः पंचध्यानी बुद्धों से युक्त होने के कारण वज्रसत्त्व छठे ध्यानी बुद्ध रूप में भी मान्य हैं।[३]

वज्रसत्त्व बौद्ध तंत्रों में परब्रह्म के समकक्ष हैं। वे छः पारमिताओं से युक्त भगवान हैं। भगयुक्त होने के कारण ही इन्हें भगवान कहा जाता है। शून्यता को भी भग कहा गया है। कदाचित् शून्यता और भग का यह सम्बन्ध अवतारी षड्गुणों से भी शून्यता का सम्बन्ध स्थापित करता है।[४] इनमें महाकरुणा विद्यमान है। महासंगीति की तरह वज्रसत्त्व का प्रवचन सुनने के लिए अनेक बुद्ध, बोधिसत्त्व देवता, दानव, भूत इत्यादि इतर लोकों से आकर एकत्र होते हैं।[५] वज्रसत्त्व ही महासत्त्व, समयसत्त्व और ज्ञानसत्त्व भी कहे जाते हैं। वज्रसत्त्व ही आदि बुद्ध हैं। इनमें ध्यान, रूप, वेदना, संज्ञान, संस्कार और विज्ञान विद्यमान हैं। इसीसे ये पंच तथागत भी हैं। ये ही वज्र और हेरुक नाम से भी प्रचलित हैं।[६]

विभूति रूप

उपास्य रूप के ही क्रम में वज्रधर बुद्ध का विभूतिवादी रूप भी सिद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। सिद्धों के अनुसार बोधि वज्रधर मायोपम हैं। वे अखिल सृष्टि के स्थावर और जंगम प्राणियों से पूर्ण महाविश्व में चन्द्र रूप में दृश्यमान हैं। दो या एक महाकाय तथा निर्माणकाय के वे सहज धारण कर्ता तथा सभी प्रकार के धर्मकाय भी वे ही हैं। वे आदि बुद्ध स्वरूप हैं। वे योग तंत्रों के प्रचार हेतु वज्राचार्यों के चित्त में गोचर होते हैं। ये वज्रधर बुद्ध योगी, आचार्य और सिद्धों में प्रत्यक्ष रूप से और आम्नायों में अनुमान से गुरुओं के मुख में ज्ञेय होते हैं। सभी पंडितों में बुद्ध ही गोचर होते हैं।[७] ये महाबोधिसत्वों के विश्व स्वरूप स्थावर और जंगम सभी में विद्यमान इनके तीनों पूर्व रूप सद्भाव के लक्षक हैं। तार्किक, ज्ञानी, आगमी और बालयोगी भी उस रूप को नहीं जानते। योगिनियों से वर प्राप्त करने पर ही

१. ओ० रे० क० पृ० ३७।
२. बौ० गा० दो० पृ० १२५, २७।
३. इन० बु० इ० पृ० १२९।
४. इन० ता० बु० पृ० ८८।
५. इन० ता० बु० पृ० ९०–९१।
६. इन०ता०बु०क्रमशः पृ० ९२, ९४,९६,९८
७. बौ० गा० दो० पृ० १५४।

उसे अनेक रूपों में जाना जा सकता है। वह वज्रधर सत्य, अभेद रूप तारने वाला स्वयंभू है।[1]

सगुण विष्णु के समान सिद्धों के उपास्य वज्रधर उपास्य रूप में निर्गुण-सगुण रूपों के साथ उपर्युक्त विभूतियों से युक्त माने गए।

युगल रूप

विभूति रूप के अन्तर युगल रूप का विस्तार भी सिद्ध साहित्य में लक्षित होता है। सिद्ध व्याख्याकारों के अनुसार विलक्षण विरमानन्द सुख जो योगीन्द्र गुरुओं के प्रसाद से मिलता है वह स्वयं भगवान वज्रधर स्वरूप है।

'विरमानन्द विलक्षण सुख जो एहु बूझइ सो एथु बूद्ध' में बुद्ध का अर्थ वज्रधर से लिया जाता है।[2] सारांशतः उपास्य वज्रधर भी आनन्द स्वरूप है। इसके अतिरिक्त बौद्ध शून्यता ही वज्रयान वज्र के रूप में परिणत हो जाता है। वज्रयान के सर्वश्रेष्ठ देवता वज्रसत्त्व शून्यता और सत्त्व के मिश्रित रूप हैं।[3] वज्रसत्त्व शब्द में 'वज्र' का अर्थ शून्यता और 'सत्त्व' का अर्थ सिद्धान्त होता है।[4] वज्रसत्त्व से सम्बद्ध बोधिचित्त भी शून्यता और करुणा का मिश्रित रूप हैं। इस प्रकार विरमानन्द के साथ साथ बौद्ध उपास्य और साधक दोनों में शून्यता और करुणा के द्विविध रूप दृष्टिगत होते हैं। ये ही शून्यता और करुणा कालान्तर में प्रज्ञा और उपाय के रूप में परिवर्तित हुए। पुनः इनका रूपान्तरण स्त्री और पुरुष रूप में हुआ तथा इनके मिश्रित रूप को अद्वय, युगनद्ध, समरस, महासुख आदि नामों से अभिव्यक्त किया गया।[5] सिद्धों ने इन्हीं उपादानों से निर्मित युगल उपास्य रूपों को ग्रहण किया है।

'गुह्य सिद्धि' में कहा गया है कि भगवान वज्रसत्त्व और प्रज्ञा महासुख के लिए केलि-क्रीड़ा रत रहते हैं।[6] चर्यापदों की व्याख्या में शून्यता-करुणा अभिन्नरूपा महामुद्रा धर्मकाय से निर्गत धर्मकारण्डक रूपा कही गयी है। वही रस बोधन के लिए निज प्रभु वज्रधर के वेश में आभरण अलंकार के साथ शोभित होती है।[7] इस प्रकार वज्रधर और वज्री (ज्ञान मुद्रा) का

१. बौ० गा० दो० पृ० १५५। २. चर्यापद पृ० २९।
३. ओ० रे० क० पृ० २८।
४. अद्वय वज्र संग्रह—प्रस्तावना। ह० प्र० शा०। पृ० ९।
५. ओ० रे० क० पृ० ३३। ६. ओ० रे० क० पृ० ११२।
७. बौ० गा० दो० पृ० १५९।

युगनद्ध रूप सिद्धों में बहुत प्रचलित हुआ। उन्होंने वज्री-वज्रधर को काय-वाक्-चित-प्रभु माना है।[1] सिद्धों ने ज्ञान मुद्रा के लिए घरिणी और तरुणी का प्रायः प्रयोग किया है।[2] इससे विदित होता है कि तरुणी या घरनी ज्ञानमुद्रा या महामुद्रा का स्वरूप है। सिद्ध योगियों के समाधि मंदिर में प्रभु वज्रधर इसी निज घरनी और तरुणी महामुद्रा के साथ केलि या रतिक्रीड़ा करता है।[3] वज्री और वज्रधर दोनों इस केलि में राधा-माधव और माधव-राधा की तरह अद्वय हो जाते हैं। यही नहीं राधा के सदृश ज्ञानमुद्रा भी वज्रधर का वेश धारण करती है।

अतः युगल रूप में ही वज्री और वजधर का युगनद्ध या अद्वय रूप अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें शून्यता और करुणा का अद्वय भाव भी विद्यमान है। 'डाकार्णव तंत्र' के महावीरेश्वर और वीरेश्वरी[4] वज्रधर और वज्री के एक स्वरूप विशेष के रूप में प्रचलित हैं।

अवतार प्रयोजन

बौद्ध तंत्र और सिद्धों का उपास्य होने के कारण इनका अवतार प्रयोजन भी तंत्रों से सम्बद्ध रहा है। वज्रधर के अवतार रूप के प्रति कहा गया है कि भगवान तथागत बुद्ध मार्ग की स्थापना के हेतु वज्रधर मानव के रूप में बार बार उत्पन्न होते हैं। फिर भी वे अपनी आत्मा को माया में स्थित कर प्रत्यवेक्षण करते हैं।[5] 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' के अनुसार वज्रनाथ साधकों के हित के लिए अवतरित या निर्मित होते हैं। ये दुर्जन कुटिल स्व-पर सभी के लिए समान रूप से हितकारी हैं।[6] 'डाकार्णव तंत्र' के अनुसार वज्रधर या वज्रसत्त्व तंत्रों के अवतरण के निमित्त अवतरित होते हैं। ये युग युग में अवतरित होकर बुद्ध धर्म में लोगों को प्रवृत्त किया करते हैं। अनुग्रह, निग्रह और रक्षा इनके स्वाभाविक धर्म हैं।[7] जनमुक्ति के लिए करुणारूप में इनका उद्भव सिद्धों में मान्य है।[8] ये योग को प्रभावित करने वाले प्रज्ञा और मोक्ष के दाता, अद्वय आकार और धर्मात्मा हैं तथा द्वयात्मक तत्त्वों से

---

१. बौ० गा० दो० पृ० १२६ दो० को० बागची १६४।

२. दो० को० बागची पृ० १६२ दो० २८ 'णिअ घरिणी लइ केलि करन्त' दो० २९ में तरुणी और दो० ३१, ३२ में घरिणी के प्रयोग हुए हैं।

३. दो० को० बागची पृ० १६२ दो० २८ 'णिअ घरिणी लइ केलि करन्त' और 'णअ घरे घरिणी जावण मज्जइ ताव कि पंच वण्ण विहरिज्जइ।'

४. बौ० गा० दो० पृ० १३२।

५. बौ० गा० दो० पृ० ११२।

६. टू० वज्र० प्रज्ञो० ५, ३१, ४९।

७. बौ० गा० दो० पृ० १५३।

८. बौ० गा० दो० पृ० १३३।

सन्निविष्ट हैं।[१] इस प्रकार इनके सिद्धात्मक अवतार-कार्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान, स्वामी, वाराही सुखनन्दन हैं। ये योगात्मा इन्द्रिय विषय के मारक, ज्यों ज्यों सत्त्वों में विषय उत्पन्न होता है त्यों त्यों उनका नाश कर कर्म के प्रभाव को नष्ट करने वाले हैं। ये साधकों को तंत्रों का सार ज्ञान प्रदान करते हैं।[२] ये भगवान शास्त्र तथा महाभयनाशक आज्ञा सिद्धि या आज्ञा चक्र के प्रवर्तक हैं और स्वाभाविक ज्ञान भूमि स्वरूप हैं।[३] वज्रधर के अतिरिक्त सिद्धों में प्रचलित योगिनियां भी तंत्रों के प्रचार हेतु अपने अपने क्षेत्रों में प्रादुर्भूत होती हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदिबुद्ध के अवतार वज्रधर केवल अवतार ही नहीं हैं अपितु सिद्धों में उनके उपास्य रूप में भी मान्य हैं। इनके विभूति रूप और वज्री-वज्रधर के रूप में युगल रूप सिद्धों में पर्याप्त प्रचलित रहे हैं। इनके अवतार का मुख्य प्रयोजन तंत्रों का प्रचार और उसके माध्यम से साधकों का उद्धार रहा है। इनके ही सदृश योगिनियों का अवतार हेतु भी तंत्रों का प्रचार ही विदित होता है।

हेरुक

सिद्ध साहित्य में हेरुक का उपास्यवादी अवतार रूप दृष्टिगोचर होता है। सिद्धों के मतानुसार हेरुक वेष में स्वयं आदि भगवान ही प्रकट होते हैं।[५] कहा जाता है कि वज्रयान में अद्वय का जब दैवीकरण हुआ तो शून्यता और करुणा के प्रतीक प्रज्ञा और हेरुक नामक दो देवता संयुक्त होकर युगनद्ध या अद्वय कहे गए।[६] कृष्णपाद के एक दोहे में कहा गया है कि हेरुक की वीणा बज रही है। वहां वीणापाद नृत्य कर रहे हैं और उनकी सहचरी नैरात्मा गान कर रही है। इस भाव से बुद्ध निर्वाण-नाटक चल रहा है। यहां हेरुक बीना में बुद्ध का उपास्यवादी रूप प्रतीत होता है। टीका के अनुसार बुद्ध का यह लीलात्मक नाटक सत्त्वों के निर्वाण हेतु चल रहा है।[७] इन उपादानों में हेरुक के अवतार के साथ साथ उपास्य और युगल लीलात्मक अवतार हेतु की पुष्टि होती है। हेरुक अन्य वज्रयानी उपास्यों के सदृश

---

१. बौ० गा० दो० १४५।
२. बौ० गा० दो० पृ० १४६।
३. बौ० गा० दो० १४७।
४. बौ० गा० दो० पृ० १३३।
५. बौ० गा० दो० पृ० २२।
६. साध० मा० पृ० ८ भू० ८०।
७. बौ० गा० दो० पृ० ३० दो० १७
'वाजइ आलो सहि हेरुअ वीना शून तान्ति धनि विलसइ रूना।'
'नायन्ति बाजिल जान्ति देवी। बुद्ध नाटक विसमा होई॥'

सर्वतथागताकार हैं। इसी प्रसंग में इन्हें जालनायक भी कहा गया है।[1] राहुल जी द्वारा संकलित सरहपाद दोहा कोश में प्रायः 'नमो भागवते हेरुकाय' के रूप में इनके षाड्गुण्य युक्त रूप का आभास मिलता है।[2] 'डाकार्णव तंत्र' में 'हेरुकाकृति से हेरुक की मूर्ति का बोध होता है। इस तंत्र के मंगल कर्ता हेरुक वाराही मथ हेरुक हैं।[3] वाराही के अनन्त रूप हैं। काया भाव से उसके भेद भी अनन्त हैं। बुद्धकाय महारस युक्त विश्व में स्फुरित हुआ। इस प्रकार नर रूप में माया सदा महासुख से विस्फुरित होती रहती है।[4] इससे विदित होता है कि वज्री-वज्रधर के सदृश इनका युगल रूप भी महारस और महासुख युक्त सिद्ध साहित्य में प्रचलित था।

अवतार-प्रयोजन

उक्त रूप के अतिरिक्त इनके उपास्यवादी अवतार-प्रयोजन की चर्चा भी सिद्ध साहित्य में हुई है। 'साधन माला' में कहा गया है कि श्री हेरुक जगन्नाथ स्वरूप होकर जगत हित के लिए विभावित होते हैं और सर्वार्थ सम्पत्ति प्रदान करते हैं।[5] ये परमानन्द सुख स्वरूप हैं तथा परमार्थ के लिए मायाकार रूप धारण करते हैं।[6] इस प्रकार हेरुक में भी अवतार, अवतार-हेतु युगल उपास्य और लीलात्मक आदि वे सभी रूप मिलते हैं जिनका विवेचन उपर्युक्त देवों में किया गया है।

आदि बुद्ध के अर्चा विग्रह

उपर्युक्त उपास्य रूपों में जिन बौद्ध देवों का परिचय दिया गया है उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों के दर्शन समान रूप से होते हैं। किंतु ऐसा लगता है कि सगुण सम्प्रदायों के समान मध्यकालीन बौद्ध सम्प्रदायों में भी आदि बुद्ध के अर्चा विग्रहों को परब्रह्म की समकक्षता प्रदान की गई थी। उन पर पांचरात्र विग्रहवाद का यथेष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

उत्तरवर्ती बौद्ध धर्म में प्रचलित कतिपय अर्चाविग्रह रूप विभिन्न स्थानों में प्रचलित हुए। इनमें स्वयम्भू का नेपाल क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचार हुआ। इस काल में आदि बुद्ध स्वयम्भू कहे गए। पूर्ववर्त्ती बौद्ध धर्म में पंचध्यानी बुद्धों का निर्माण आदि बुद्ध से माना जाता था। किंतु इस युग में इधर आदि बुद्ध

---

१. बौ० गा० दो० पृ० १२८।
२. दो० को० (राहुल) पृ० १२९, २९९।
३. बौ० गा० दो० पृ० १३२।
४. बौ० गा० दो०क्रमशः पृ० १४९, १५१–१५२।
५. साध० मा० पृ० ४७२।
६. साध० मा० पृ० ४७३ और ४८५।

तो स्वयम्भू विग्रह रूप में गृहीत हुए और इनकी घरनी प्रज्ञापारमिता को भी सम्भवतः पंचध्यानी बुद्धों की आदि माता कहा गया।[1] आदि बुद्ध के इन विग्रह रूपों के सम्बन्ध में बताया गया कि बुद्ध कलियुग में इस गुप्त रूप को पुनः प्रकाशित करते हैं।[2]

स्वयम्भू

'स्वयम्भू पुराण' (रचनाकाल वि० सं० ९१९) के प्रारम्भ में बुद्ध के स्वयम्भू रूप की प्रार्थना की गई है। उसी क्रम में यह कहा गया है कि ये सत्ययुग में पद्मगिरी, त्रेता में वज्रकूट, द्वापर में गोश्टंग तथा कलि में गोपुच्छ पर्वत पर पूजे जाते हैं।[3] विद्वानों का कहना है कि शिव-शक्ति के अनुकरण पर परवर्ती बौद्ध धर्म में भी विशेष कर नेपाल में आदि बुद्ध और आदि प्रज्ञा का प्रचार हुआ। ये आदि बुद्ध जो देवों और यक्ष राक्षसों के स्वामी हैं गौरी श्रृंग में पूजे जाते हैं। ये धर्मधातु, वैरोचन, जगन्नाथ, धर्मराज, स्वयम्भू और शुम्भु दोनों हैं।[4] इनकी विग्रह मूर्ति के साथ तारा और पंचबुद्ध का अस्तित्व मिलता है। इस आधार पर ये अवलोकितेश्वर से भी सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। सद्धर्म पुंडरीक के २४वें परिवर्त में जिस प्रकार अवलोकितेश्वर को विविध रूप धारी कहा गया है स्वयम्भू से भी उसका सम्बन्ध स्वयम्भू पुराण में लक्षित होता है। उनके समान स्वयम्भू ज्योति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, काम, गन्धर्व, नाग, यक्ष, अप्सरा, किन्नर, खगेश, ब्राह्मण, राजा, वैश्य, शूद्र, कृषि, वाणिज्य, मोक्ष, लोक, धाम, सूर्य, धर्म, सर्वज्ञ, बौद्ध आदि अनेक रूप धारण करते हैं। इनका यह रूप विस्तार वैष्णव विभूतिवाद की परम्परा में विदित होता है।[5] इसके बाद कहा गया है कि नाना रूप और विश्वरूप ये ही हैं।[6]

अवतार प्रयोजन

'स्वयम्भू पुराण' में इनके अवतार प्रयोजन के प्रति कहा गया है कि ये देवता और मनुष्य के हित, सुख और मोक्ष के निमित्त अवतरित हुए।[7] इसके पूर्व ही यह कहा गया है कि स्वयम्भू भगवान् ने जगत को आह्लादित

---

१. मे० वें० उ० पृ० १०९ शून्य संहिता ११, ३५२

'बुद्ध माता आदि शक्ति सखी छन्ति कहि'

२. मे० वै० उ० पृ० १११ शून्य संहिता

'कलि युगे बुद्ध रूपे प्रकाशिलु पुणि, कलि युगे बौद्ध रूपे निज रूप गोप्य।'

३. स्वयम्भू पु० पृ० ८।

४. ओ० रे० क० पृ० ३२५।

५. स्वयम्भू पु० पृ० ६०।

६. स्वयम्भू० पु० पृ० ६२।

७. स्वयम्भू पु० पृ० ५०।

करने के लिए सर्वलोकानुकम्पार्थ अवतार ग्रहण किया है। ये त्रिदेव और सभी देवों द्वारा पूजित स्वयं प्रभु हैं।[1] कलि के दुष्टों का नाश भी इनके अवतार का प्रमुख प्रयोजन है।[2]

इस प्रकार अवतार, उपास्य रूप, विभूतिरूप और अवतार प्रयोजन इन सभी दृष्टियों से बौद्ध उपास्य देव तथा आदि बुद्ध के अर्चा विग्रह रूप हैं।

स्वयम्भू और जगन्नाथ

'स्वयम्भू पुराण' में इन्हें प्रायः जगन्नाथ से अभिहित किया गया है।[3] सामान्य रूप से कहा गया है कि ये ही त्रिजगन्नाथ धर्मधातुक हैं।[4] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पुरी जगन्नाथ के विग्रह रूप को भी इनसे सम्बद्ध करने की चेष्टा की गई है। यों बौद्ध या वज्रयानी बौद्ध साहित्य में यह शब्द अपरिचित नहीं है। प्रज्ञाकार मति कृत 'बोधिचर्यावतार' में महाबली जगन्नाथ (बुद्ध) की शरण में जाने के लिये कहा गया है, जो जगत के रक्षक, मुक्तिदाता, सर्वत्रास हरनेवाले जिन हैं।[5] 'प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि' के अनुसार गुरु जगन्नाथ उपास्य निरन्तर परहित की कामना से युक्त सर्वार्थ सिद्धि दाता हैं।[6] 'ज्ञान सिद्धि' के प्रारम्भ में भी जगन्नाथ स्तुति के प्रसंग में गृहीत हुए हैं।[7]

इन तथ्यों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जगन्नाथ शब्द का प्रयोग बौद्ध उपास्यों के लिए भी बौद्ध साहित्य में होता था और स्वयम्भू के काल तक वे विग्रह रूप जगन्नाथ के नाम से स्वरूपित किए गये। अतः विष्णु अवतार पुरी जगन्नाथ के भी बौद्ध रूप में प्रचलित होने में इन उपादानों का योग माना जा सकता है। मध्यकालीन उड़िया साहित्य में प्रचलित रूपों के अनुसार उन पर बौद्ध प्रभाव भी कम विदित नहीं होता। क्योंकि जगन्नाथ केवल बुद्ध ही नहीं अपितु त्रिरत्नों से भी सम्बन्धित माने जाते हैं। जगन्नाथ की रथयात्रा तो स्पष्टतः नैपाल में प्रचलित बुद्ध रथयात्रा की देन है।[8] 'शून्य संहिता' में जगन्नाथ को बुद्ध रूप माना गया है। 'शून्य संहिता' के उड़िया पदों के अनुसार ये बौद्ध रूप में महोदधि के किनारे अवतीर्ण होकर विलास करते हैं।[9] 'दारु ब्रह्म गीता'

---

१. स्वयम्भू पु० पृ० १६।
२. स्वयम्भू पु० पृ० १७।
३. स्वयम्भू पु० पृ० २, २१ इत्यादि।
४. स्वयम्भू पु० पृ० १७।
५. बोधिचर्यावतार पृ० ६५।
६. टू० वज्र० प्रज्ञो० पृ० २, २६।
७. टू० वज्र० ज्ञान० पृ० ३१।
८. मे० वै० उ० पृ० १७-१९।
९. मे० वै० उ० पृ० १२२ शून्य संहिता
'बउद्ध रूपे महोदधि कूले, भोग विलसिबु ते सेते वेळे।'

में कहा गया है कि बुद्ध अवतार कलियुग में जगन्नाथ दास ब्रह्म के रूप में पूजित होंगे।[1]

बुद्ध और जगन्नाथ के इस अवतारवादी सम्बन्ध के मूल में पर्यायवाची नामों के प्रयोग का मूल्य भी आंका जा सकता है। क्योंकि उक्त तथ्यों के आकलन से यह प्रकट होता है कि पूर्वमध्यकाल में जगन्नाथ भी आदि बुद्ध और उनके अन्य रूपों के नाम-पर्याय के रूप में प्रचलित थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें बुद्ध का अवतार माना गया।

मुनीन्द्र

कबीर पन्थी सन्तों की परम्परा में मान्य कबीर के शिष्य धर्मदास ने चतुर्युगी अवतारों में त्रेता युग का अवतार मुनीन्द्र को माना है।[2] बौद्ध साहित्य में बुद्ध का एक मुनीन्द्र रूप प्रचलित रहा है जिसका सम्बन्ध उत्तरकालीन बौद्ध विग्रहों से भी दीख पड़ता है। अतः धर्मदास ने मुनीन्द्र के जिस रूप को ग्रहण किया है राम के अतिरिक्त बौद्ध रूप से भी उसका सम्बन्ध माना जा सकता है।

'बोधिचर्यावतार' में मुनीन्द्र का प्रयोग बुद्ध अवतार के लिए हुआ है। वहाँ वे संसार के दुःख महार्णव से सत्वों का उद्धार करने वाले मुनीन्द्र हैं। सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि एक कल्प में सर्वार्थ हित-साधन के लिए बुद्ध भगवान् मुनीन्द्र बोधिसत्त्व के रूप में अवतरित हुए।[3] इस ग्रंथ में बुद्ध के अवतारवादी कार्य से भी उनके मुनीन्द्रत्व का भान होता है। क्योंकि एक स्थल पर उन्हें साधुओं का परित्राता या परित्राण कर्त्ता कहा गया है तथा 'पूज्यमान मुनीन्द्रान पूजयामि' जैसे पदों का उल्लेख मिलता है।[4] वज्रयानी तंत्रों में विख्यात 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' में मुनीन्द्र के अवतारवादी उपास्य-रूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि 'त्रिभुवन के समस्त दुःखों को ध्वस्त करने में प्रवृत्त, अनुपम करुणा से युक्त, मुक्तों के अग्रबुद्ध, अपरिमित ज्ञेयराशि युक्त स्व-पर-अपर सुखों से मुक्त होने के लिए प्रवृत्त होते हैं।'[5] इसी प्रकार 'ज्ञानसिद्धि' में भी बुद्ध को प्रायः मुनीन्द्र या भगवान् मुनि कहा गया

१. मे० वै० उ० पृ० १५४ दारु ब्रह्म गीता
समुद्रे मैलिण दिअ प्रभु देव राजा, कलियुगे पार्श्वे से दारु ब्रह्म पूजा।

२. धर्मदास जी शब्दावली पृ० ६८ शब्द ३
'त्रेतानाम मुनीन्द्र कहाए, मधुकर विप्र को दई सरना'

३. बोधिचर्यावतार (प्रज्ञाकर मति) पृ १२, ७।

४. बोधिचर्यावतार (प्रज्ञाकर मति) पृ० ६५, ४६ और पृ० ५३, १५।

५. टू० वज्र० प्रज्ञो० १, २८।

है ।[१] सरह-पाद विरचित 'दोहाकोश' में मुनीन्द्र का प्रयोग अक्सर देखने में आता है।[२] 'स्वयम्भू पुराण' में स्वयम्भू प्रायः मुनीन्द्र के रूप में भी विख्यात हैं।[३] 'धर्म-पूजा-विधान' में धर्म ठाकुर के अवतारी विष्णु को ही मुनीन्द्र कहा गया है।[४]

इससे प्रतीत होता है कि मुनीन्द्र बुद्ध के बोधिसत्त्व अवतारों में से थे। प्रायः बुद्ध के पर्याय स्वरूप भी इनका प्रयोग होता रहा है। मुनीन्द्र का यह सम्बन्ध उत्तरवर्ती आदि बुद्ध के विग्रह रूपों तक अक्षुण दीख पड़ता है। कालान्तर में ये विष्णु से अभिहित किये गये और साधु परित्राण इनका एक अवतार हेतु माना गया।

निरंजन

कबीर पंथ में निरंजन के जिस रूप का अत्यधिक प्रचार हुआ है[५] उसका एक रूप वज्रयानी सिद्ध तथा उत्तरवर्ती बौद्ध प्रभावित पूर्वी सम्प्रदायों में दृष्टिगत होता है। वज्रयानी सिद्धों में आदि बुद्ध ही निरंजन कहा जाता है।[६] 'दोहा कोश' में संकलित तिल्लोपाद के एक दोहे में कहा गया है कि 'मैं ही जगत, मैं ही बुद्ध और मैं ही निरंजन रूप अमनस्कार और भवभञ्जन हूँ।[७] पुनः एक दूसरे दोहे में शून्य निरंजन परम महासुख को पुनः न पाने का अर्थात् दुर्लभ होने का उल्लेख किया गया है।[८] अद्वय वज्र के मत से निरंजन का शाश्वत रूप निराकार है।[९] कृष्णाचार्य के प्रथम पद की टीका में योगियों को निरंजन (सहजकाय) में लीन होने के लिए कहा गया है।[१०] यहाँ निरंजन सहजकाय का द्योतक प्रतीत होता है। राहुल जी ने सरहपाद के विचारों को लेकर कहा है कि सरह ने परमपद को लोकभाषा में शून्य निरंजन कहा है। उपनिषदों ने भी ब्रह्म का निरंजन होना स्वीकार किया। परन्तु ब्रह्मवादियों के विपरीत सरह ने उसे स्वप्नोपम स्वभाव का माना है।[११] 'साधन माला' में करुणामय बुद्ध की शरण जाने के पूर्व संभवतः सर्वधर्म समन्वित निरंजन को रस रूप कहा गया है।[१२]

---

१. द्र० वज्र० ज्ञानसिद्धि १, २९। २. दो० को० राहुल पृ० ३४५, १३० छायानुवाद 'मुनीन्द्र के हाथ का वज्रपाल न रुके पंक से निकला उत्पल देख रे।'
३. स्वयम्भू पृ० ७। ४. धर्मपूजा-विधान पृ० १९।
५. कबीर-अध्याय ५ में निरंजन का विस्तृत परिचय द्रष्टव्य।
६. ओ० रे० क० पृ० ३२६। ७. दो० को० (बागची) पृ० ५, १६
हंउ जगु हंउ बुद्ध हंउ णिरंजण। हंउ अमणसिआर भवभंजण।
८. दो० को० (बागची) पृ० ५४, ४। ९. बौ० गा० दो० पृ० ८८।
१०. बौ० गा० दो० पृ० ११७। ११. दो० को० राहुल। भू० पृ० ३६।
१२. साध० मा० मूल पृ० ३९।

इस प्रकार वज्रयानी सिद्धों में निरंजन का जो रूप मिलता है वहाँ उसे बुद्ध के अतिरिक्त महासुख, सहजकाय, परमपद, और रस रूप माना गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अन्य वज्रयानी उपास्यों की भाँति निरंजन भी आदि बुद्ध के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में प्रचलित था।

उत्तरवर्ती बौद्ध धर्म से प्रभावित पूर्वी अंचल के धर्म सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ 'शून्य पुराण' में शून्य पुरुष से निरंजन का प्रथम अवतार बताया गया है।[1] उस निरञ्जन का दर्शन सर्वप्रथम भगवान् ने ही उलूक मुनि के रूप में किया। यह उलूक निरञ्जन नारायण भी कहा गया है। 'शून्य पुराण' के अनुसार निरञ्जन का यह अवतार विना माता-पिता या विना रज-वीर्य का हुआ था।[2] निरञ्जन का यह अवतार जल में हुआ था। हंस से मिलने पर वह अपने जल निवास सम्बन्धी कष्ट की कथा बताता है। इसके फल स्वरूप कूर्मका प्रादुर्भाव होता है।

निरंजन और कूर्म

'शून्य पुराण' में अधिकांश स्थलों पर निरंजन और नारायण एक ही विदित होते हैं। अतः इस ग्रंथ में कूर्म के जिस अवतार का प्रसंग आया है उसका प्राथमिक सम्बन्ध नारायण से रहा है। कथा-क्रम में बताया गया है कि स्थल निर्माण के लिए पद्म हस्त नारायण ने जल को थिर थिर कहा, फलतः उसी पद्म हस्त से कूर्म का प्रादुर्भाव हुआ।[3] कबीर पंथी साहित्य में कूर्म और निरंजन की यही कथा विख्यात है। वह इधर उधर घूम कर नारायण के पास आया। निरंजन-नारायण ने कहा कि जल में मैं बहुत कष्ट पाता हूं अतएव अब मैं तुम्हारी पीठ पर निवास करूँगा। इस प्रकार कूर्म और उलूक के मध्य में निरंजन-नारायण का निवास हुआ।[4]

कूर्म और निरंजन का यह सम्बन्ध मध्यकालीन युग के सम्प्रदायों में स्थापित हुआ। कूर्म बौद्ध तथा कूर्म निरंजन के सम्बन्ध की परिचायिका किसी पूर्ववर्ती वैष्णव या बौद्ध परम्परा का पता नहीं चलता। सद्धर्म पुंडरीक में कूर्म-ग्रीवा का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है। यहां यही कहा गया है कि 'माता और पिता के लिए बुद्ध का दर्शन उतना ही असंभव है जितना कि उदुम्बर का फूल या महासमुद्र के छिद्र द्वय में कूर्म ग्रीवा का प्रवेश।'[5]

---

१. शून्य पु० पृ० ३
'देहेत जनमिल परभूर नाम निरञ्जन'।

२. शून्य पु० पृ० ५–७।

३. शून्य पु० पृ० ८।

४. शून्य पु० पृ० ९।

५. सद्धर्म पु० पृ० ४६३।

इस प्रसंग से केवल समुद्र और कूर्म के सम्बन्ध का आभास मिलता है किन्तु निरंजन या बुद्ध के साथ कूर्म के सम्बन्ध का स्पष्ट निराकरण नहीं होता।

वज्रयानियों के विख्यात क्षेत्र उड़ीसा में कूर्म पूजा ग्यारहवीं शती से प्रचलित दीख पड़ती है। उड़ीसा और बंगाल में जिस कूर्म पूजा का प्रभाव था वह जनश्रुति के अनुसार प्रारम्भ में शैव मूर्ति थी। कहा जाता है कि शैव कूर्म ने रामानुज के अनुरोध से कूर्म-नारायण का रूप धारण किया था।[१] अतः बहुत सम्भव है कि इसी कूर्म-नारायण का सम्बन्ध निरंजन से भी स्थापित किया गया हो। क्योंकि उस काल में बौद्ध, वैष्णव, शाक्त या सूफी मतों में जो अवतार संपृक्त समन्वयवादी प्रवृत्ति लक्षित होती है उस आधार पर निरंजन और कूर्म नारायणका सम्बन्ध सहज प्रतीत होता है।

निरंजन और हिन्दू देवों का इस्लामीकरण

'शून्य पुराण' में केवल वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्धों का ही समन्वय नहीं हुआ है अपितु इस्लामीसूफियों के समन्वय का भी अपूर्व प्रयत्न दीख पड़ता है। इस हिन्दू-मुस्लीम समन्वय में निरंजन मुख्य माध्यम रहा है। 'शून्य पुराण' के अनुसार निराकार निरंजन वहिस्त से अवतरित होता है। उस समय सभी देवता एकमन हो जाते हैं। निरंजन के पश्चात ब्रह्मा मुहम्मद, विष्णु पैगम्बर, शूलपाणि (महादेव) आदम, गणेश गाजी, कार्तिक काजी, सभी मुनि फकीर, नारद शेख तथा पुरन्दर मलना हुए। इस प्रकार 'शून्य पुराण' में निरंजन के साथ मुख्य हिन्दू देवों का इस्लाम के साथ समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।[२] इससे मुख्य निष्कर्ष यह निकलता है कि मध्यकालीन संतों में हिन्दू-मुसलमान ऐक्य की जो भावना मिलती है उसके अनुरूप निरंजन का रूप प्रचलित था। भारतीय सूफियों के सम्प्रदाय भी इस ऐक्य का प्रचार और प्रसार कर रहे थे। अतः सम्भव है कि निरंजन हिन्दू-मुसलमान समन्वित रूप संतों में प्रचलित होने का मुख्य कारण रहा हो।

धर्म ठाकुर

आदि बुद्ध से सम्बद्ध उत्तरकालीन विग्रह रूपों में धर्मठाकुर अवतारवाद की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि नेपाल के आदि बुद्ध जो धर्मराज के रूप में प्रचलित थे वे ही बंगाल और उड़ीसा में धर्म ठाकुर कहे गए हैं।[३]

---

१. मे० बैं० उ० पृ० २६–२८।   २. शून्य पु० पृ० १४१।

३. ओ० रे० क० पृ० ३२७।

वैष्णव मिश्रित रूप कहे जा सकते हैं। क्योंकि एक ओर तो ये आदि बुद्ध के पुत्र हैं और दूसरी ओर इन्हें स्वयं विष्णु भी माना जाता है।[1]

निरंजन रूप

इस सम्प्रदाय में प्रचलित 'धर्म-पूजा-विधान' नामक पुस्तक में धर्म ठाकुर को निरंजन और शून्य देवेश कहा गया है।[2] प्रायः 'धर्म-पूजा-विधान' और 'शून्य पुराण' दोनों में धर्म ठाकुर और निरंजन अभिन्न हैं।

'धर्म-पूजा-विधान' के अनुसार ये शुद्ध सत्त्व और करुणामयी मूर्ति हैं। ये निरंजन कच्छप वाहन, शून्य देव निरंजन और ब्रह्म रूप निरंजन हैं।[3] इन्हें सूक्ष्म रूप धर, विराट काय, और विश्व रूप निरंजन भी कहा गया है।[4]

विष्णु और दशावतार रूप

'शून्य पुराण' में तो ये नारायण के अवतार हैं ही 'धर्म-पूजा-विधान' में भी ये नाना मूर्ति और महाविष्णु हैं।[5] इसके अतिरिक्त 'धर्म-पूजा-विधान' में दो या तीन बार इनसे सम्बद्ध दशावतार परम्पराओं का वर्णन हुआ है। जिनका विशेष परिचय 'दशावतार' नामक अध्याय में मिलेगा।

वृद्ध रूप

दादू पन्थ में दादू के आदि गुरु बुड्ढनदेव या वृद्धदेव नामक एक ब्राह्मण माने जाते हैं। उसी वृद्धदेव के सदृश धर्म सम्प्रदाय में भी धर्म ठाकुर का एक वृद्ध रूप प्रचलित है। इन्हें 'धर्म-पूजा-विधान' में 'वृद्धरूप' और 'अनादि मंगल' में 'वृद्ध योगी' कहा गया है।[6] अतः निरञ्जन के रूप का कबीर पंथ में प्रचार देख कर धर्म सम्प्रदाय के वृद्धदेव का सम्बन्ध भी दादू पन्थ से आंका जा सकता है।

उत्तरकालीन रूप

इस प्रकार धर्म ठाकुर के प्रारम्भिक विकास में बौद्ध तत्त्वों का योग तो अवश्य था, क्योंकि इनके पूर्व रूपों में शून्य का बहुत प्रयोग दीख पड़ता है। किन्तु उत्तरवर्ती काल के मयूर भट्ट (१७वीं शती), रामदास प्रभृति बंगला

---

१. मे० वै० उ० पृ० १९–२०। २. धर्म० पु० वि० पृ० २३, ७०।
३. धर्म पु० वि० पृ० ८८–८९। ४. धर्म पु० वि० पृ० ९२।
५. धर्म पु० वि० पृ० ८०। ६. धर्म पु० वि० पृ० ९० अनादि मंगल पृ० ११
'मायापति धर्म्मराय निर्मान करेन कायं अशीति अधिक वृद्ध योगी'।

पौराणिक कवियों में धर्म ठाकुर का अत्यधिक वैष्णवीकरण हो गया है। मयूर भट्ट के अनुसार सावित्री के शाप वश विष्णु धर्मशिला के रूप में अवतीर्ण हुए थे।[1] अब धर्म ठाकुर की मूर्ति शंख, चक्र, गदा, पद्म युक्त कूर्म की आकृति में प्रचलित हुई। ठाकुर निरंजन कमठाकार विग्रह शिला की आकृति में भक्तों के लिये आविर्भूत होते हैं।[2] 'अनादि मङ्गल' में भी निरंजन और नारायण दोनों से अभिहित धर्मराज युग-युग के भक्तों द्वारा पूजित हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन बौद्ध धर्म भी सन्त सम्प्रदायों की भाँति समन्वयवादी होता गया। इस काल में बौद्ध, वैष्णव और इस्लामी तत्वों का अपूर्व मिश्रण लक्षित होने लगता है। इस समन्वयवादी धारणा से मध्यकालीन निर्गुण संत प्रभावित हुए। उन्होंने निरंजन, कूर्म, वृद्ध देव जैसे उपास्यों को अपने सम्प्रदायों में भी प्रश्रय दिया। इस काल में जगन्नाथ, धर्म ठाकुर आदि विग्रह रूपों पर वैष्णव अवतारवाद का इतना प्रभाव पड़ा कि उनके बौद्ध रूप गौण हो गए और वैष्णव रूप ही अत्यधिक मुख्य हो गये। 'धर्म-पूजा-विधान' जैसी पुस्तकों में सम्भवतः तत्कालीन युग में व्याप्त दशावतार परम्परा में भी उन्हें समाहित किया गया।

---

१. धर्म पु० मू० पृ० २५। २. धर्म पु० क्रमशः पृ० २७, ३२।
३. अनादि मंगल (१६६२ ई० सन्) पृ० २।

दूसरा अध्याय

जैन साहित्य

हिन्दी साहित्य की आदिकालीन परम्परा में बौद्ध सिद्धों के समकालीन जैन कवियों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य का स्थान आता है। सामान्य रूप से अपभ्रंश भाषा का काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है, जिसमें जैन अपभ्रंश कवियों की रचनाएँ ८वीं सदी से मिलने लगती हैं। आलोच्य साहित्य में मुक्तक रचनाओं की अपेक्षा जैन प्रबन्ध काव्यों और पुराणों में ही वैष्णव और जैन अवतारवादी उपादान मिलते हैं। यों तो प्रायः कतिपय जैन कृतियों में जैन तीर्थंकरों के उपास्य रूप वर्णित हुए हैं, किन्तु जैन परम्परा में प्रसिद्ध उनके अवतारवादी रूप विशेष कर जैन पुराणों में मिलते हैं। मध्यकालीन साहित्य में राम और कृष्ण की अवतार लीलाएँ सबसे अधिक व्याप्त रही हैं। 'रामायण', 'महाभारत' और 'हरिवंश पुराण' से गृहीत जैनों में भी जैनीकृत रूप में अभिव्यक्त होकर वे प्रचलित हुई हैं।

पउम चरिउ

जैन अपभ्रंश साहित्य के सम्भवतः आदि महाकवि स्वयम्भू (वि० सं० ७०० काल) ने स्वयं राम कथा पर आधारित 'पउम चरिउ' का प्रणयन किया है। जैन धर्म किसी भी प्रकार के अवतारवादी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता इसलिए 'पउम चरिउ' में रामावतार का वर्णन उनका अभीष्ट नहीं है, फिर भी परम्परा से गृहीत कतिपय उपादान अनायास प्रसङ्गों में उपस्थित हो गए हैं। इनके आकलन और विवेचन के फलस्वरूप राम और लक्ष्मण के अवतार रूपों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

यों तो स्वयम्भू देव कृत इस 'पउम चरिउ' महाकाव्य के आधार 'आर्ष' रामायण रहे हैं किन्तु इस महाकाव्य में आर्ष परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा को ही मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है। आर्ष और जैन परम्पराओं में मुख्य अन्तर यह रहा है कि जहाँ आर्ष परम्परा में राम प्रबन्ध काव्यों के प्रमुख नायक रहे हैं, जैन परम्परा में वह स्थान लक्ष्मण ने ले लिया है। जैन काव्यों में लक्ष्मण को ही अधिक महत्त्व मिलता है। इसी से वाल्मीकि या अन्य

रामायणों के विपरीत 'पउम चरिउ' में महाकाव्योचित औदात्य लक्ष्मण के चरित्र में अधिक दृष्टिगत होता है।

लक्ष्मण और राम हरि-हलधर के अवतार

विष्णु अवतार की परम्परा में आने वाले रामायणों में जहाँ भी राम का अवतार सिद्ध करना होता है, वहाँ उन्हें विष्णु का अवतार कहा जाता है। ठीक इसके विपरीत 'पउम चरिउ' में यों तो 'राम हो'[1] के आधार पर 'रामावतार-विष्णोः' से तात्पर्य ग्रहण किया गया है, किन्तु 'पउम चरिउ' की परम्परा विष्णु की अपेक्षा हरि-हलधर की परम्परा अधिक कही जा सकती है। इस प्रबन्ध काव्य में कतिपय स्थलों पर लक्ष्मण और राम को हरि-हलधर का अवतार बता कर या स्वयं उन्हीं नामों से उन्हें अभिहित कर उनका जैनीकृत अवतारत्व स्पष्ट किया जाता रहा है। 'आर्ष रामायण' में जिस प्रकार विष्णु अपने अवतारत्व के प्रतिमान हैं उसी प्रकार हरि-हलधर जैन साहित्य में प्रचलित वैष्णव अवतार रूपों के प्रतिमान हैं। अतः 'पउम चरिउ' में हरि-हलधर की अवतार-परम्परा को अपनाया गया है।

'पउम चरिउ' के प्रारम्भ में ही कवि ने दशरथ-पुत्र लक्ष्मण और राम को क्रमशः वासुदेव और बलदेव से अभिहित किया है।[2] पदों के अध्ययन के अनन्तर यह स्पष्ट विदित होता है कि अवतार शब्द से सूचित न होने पर भी वे हरिहलधर अवतार हैं। इसी स्थल पर कहा गया है कि धुरन्धर दशरथ पुत्र ही धनुषधारी वासुदेव-बलदेव हैं।[3] यह प्रवृत्ति 'पउम चरिउ' में अन्य स्थलों पर भी दीख पड़ती है। अन्य कतिपय स्थलों पर लक्ष्मण और राम वासुदेव और बलदेव से अभिहित किए गये हैं। सीता-स्वयंवर के समय भी इन्हें लक्ष्मण-राम न कह कर 'हरि-बलएव' कहा गया है।[4] २७वीं संधि में रुद्रभूति राम-लक्ष्मण से पराजित होने के उपरान्त इन्हें बलदेव-वासुदेव के रूप में पहचानता है।

---

१. पउम च० १, १०, ३
'जइ रामहो-तिहुअणु उवरे माइ तो रावणु कहिँ तिय लेवि जाइ।'

२. पउम च० २१, १, २
सुणु अक्खमि रहुवंस पहाणउ दसरह अत्थि आउज्झहें राणउ।
तासु पुत्त होसन्ति धुरन्धर वासुएव-बलएव धणुद्धर।

३. पउम च० २५, ११, ९ 'हरिहलधर-जलचर-परिचुम्बिय' जैसे कतिपय प्रसंगों में उन्हें स्वरूपित किया गया है।

४. पउम च० २१, १३, २
हरि-बलएव पढुक्किय तेतहे, सीय-स्वयम्वर-मण्डउ जेतहे।

इससे स्पष्ट है कि स्वयम्भू के पूर्व ही जैन साहित्य में विष्णु की जगह आठवें वासुदेव और बलदेव की अवतार परम्पराएं प्रचलित रही हैं जिनमें नौ वासुदेव और नौ बलदेव माने जाते रहे हैं। स्वयम्भू ने इसी अवतार परम्परा में लक्ष्मण और राम को वासुदेव और बलदेव का अवतार माना है। साम्प्रदायिक रंग से स्वयम्भू मुक्त नहीं हैं। 'पउम चरिउ' के नायक द्वय लक्ष्मण और राम स्वयं जैन धर्मावलम्वी ही नहीं[1] बल्कि जैन धर्म के प्रचारक भी विदित होते हैं। २८वीं संधि के एक प्रसंग के अनुसार जैन अनुयायी को लक्ष्मण और राम अधिक पुरष्कृत करते हैं। कपिल नामका एक संत जैन धर्म अपना कर इनके द्वारा पुरष्कृत होता है। ये रामचन्द्रप्रभा जिन की स्तुति करते समय उन्हें अरहंत, बुद्ध, हरि, हर, निरंजन, परमपद, रवि, ब्रह्मा, स्वयम्भू और शिव कहते हैं।[2]

लक्ष्मण में विष्णु सूचक संकेत

वासुदेव के अवतार होने के अतिरिक्त लक्ष्मण में कुछ ऐसे विष्णु सूचक संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर लक्ष्मण को विष्णु से स्वरूपित माना जा सकता है। यों तो 'पउम चरिउ' में लक्ष्मण के लिए अधिकतर हरि (२१, १३, २-२३, ५, १०-२५, ११, ९), वासुदेव (२१, १, ३-२३, ९, ७), कृष्ण (कण्ह२१, १४, ४-३१, ८, ८), गोविंद (३२, ७, १०-३७, १२, ९-३८, ११, १), गोवद्धण (३८, ७, ७) आदि नाम अधिक प्रयोग में आये हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त उन्हें विष्णु (३७, १२, ४) के पर्याय' 'केसव' (३२, २, ११), 'जणाद्दण' (जनार्दन २४, १०, १), 'सिरिकन्त' (श्रीकान्त ४४, ११, ५), 'सिरिवच्छ' (श्रीवत्स ३६, ४, १), 'सिरिहर' (श्रीधर २७-२८, ११, १), 'सारंगधर' (शार्ङ्गधर २६, १६, १) आदि नामों से भी ज्ञापित किया गया है। एक स्थल पर कहा गया है कि ये पद्म दशरथ वंश प्रकाशित करने वाले हैं। इनके वक्षस्थल में जय लक्ष्मी का निवास है।[3] 'पउम सिरि चरिउ' आदि परवर्ती काव्य में भी लक्ष्मी-जनार्दन उपमान बन कर आते रहे हैं।[4]

---

१. पउम च० २५, ८, १२ में राम-लक्ष्मण जिन वंदना करते हुए प्रस्तुत किए गये हैं।

२. पउम च० ४३, १९, ९
अरहन्तु बुद्धु तुहुं हरि हरुवि तुहुं अणाण-तमोह-रिउ।
तुहुं सुहुमु णिरंजणु परमपउ तुहुं रवि वम्भ सयम्भु सिउ॥

३. पउम च० ५०, १३, ७
अण्णु वि दसरह-वंस पगास हों, वच्छत्थले जय-लच्छि-णिवास हो।

४. पउम सिरि० च० पृ० २४, २, २१ 'सुहरिस लच्छी व जणाद्दणेण'

इन संकेतों से स्पष्ट है कि जैन वासुदेव के साथ ही लक्ष्मण 'पउम चरिउ' में विष्णु से भी स्वरूपित किए गए हैं। इतना अवश्य है कि वासुदेव की तुलना में उनका विष्णु-स्वरूप गौण रहा है।

अवतार प्रयोजन

बलदेव-वासुदेव के अवतार राम-लक्ष्मण की कथा का लक्ष्य 'पउम चरिउ' में अवतारवादी नहीं रहा है। फलतः इनके अवतार-प्रयोजन की चर्चा कवि को अभीष्ट नहीं है। इसी से राम-लक्ष्मण के अवतार-प्रयोजन का आभास कथा-प्रसंगों में कहीं कहीं मिल जाता है। आर्ष रामायणों के सदृश 'पउम चरिउ' में भी इनका प्रयोजन असुर-संहार रहा है। 'पउम चरिउ' के अनुसार राम और लक्ष्मण बलदेव और वासुदेव ही नहीं बल्कि दशरथ वंश का मनोरथ पूर्ण करने वाले असुरारि हैं।[१] ३१वीं संधि में लक्ष्मण अपना और राम का परिचय देते हैं, उसमें उनके असुर-संहारक रूप का परिचय मिलता है।[२]

इस प्रकार पउम चरिउ में राम और लक्ष्मण जैन परम्परा में प्रसिद्ध बलदेव और वासुदेव के अवतार हैं। विष्णु से केवल कुछ स्थानों पर लक्ष्मण अभिहित किए गए हैं। इस ग्रंथ के अनुसार इनका अवतार-प्रयोजन असुर-संहार जान पड़ता है किन्तु उससे अधिक प्रबलतर प्रयोजन जैन धर्म का प्रचार रहा है। जैन धर्म का अनुयायी होने के साथ साथ 'पउम चरिउ' के राम-लक्ष्मण जैन धर्म का प्रचार भी करते हैं।

यों तो जैन अपभ्रंश साहित्य में अभी तक जितने महाकाव्य उपलब्ध हो सके हैं, सभी में धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य रहा है। इनमें 'पउम चरिउ' के उपरान्त स्वयम्भू तथा अन्य जैन कवियों द्वारा लिखे गए 'रिट्ठणेमि चरिउ' 'हरिवंश पुराण' हेमचन्द्र का 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित', पुष्पदंत के 'महा-पुराण' और 'उत्तर पुराण' इन प्रमुख ग्रंथों में वैष्णाव अवतारों के जैनीकृत रूप तथा जैन अवतारवाद के कतिपय उपादान मिलते हैं। उपर्युक्त सभी कवियों ने जैन परम्परा का अनुसरण किया है, इसलिए एक साथ इनमें उपलब्ध अवतारपरक तथ्यों का निरूपण युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

---

१. पउम च० २६, ६, १–२
तहिं उववेणं पइसेवि विणु खेवें पभणिउ वासुएवु बलएवें।
मो असुरारि–वहरि–मुसुमूरण दसरह–वंस–मणोरह–पूरण।

२. पउम च० ३१, १५, ६–७
वे अम्हइं लक्खण–राम भाय वणवासहो रज्जु मुएवि आय।
उज्जारणें तुम्हारए असुर–मद्दु सहुं सीयएं अच्छइ रामभद्दु।

जैन साहित्य में अवतारवाद प्रमुख अभिव्यक्ति का विषय नहीं है, फिर भी उसमें कतिपय अवतारवादी तत्त्वों के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से इस साहित्य में व्याप्त ६३ महापुरुषों की परम्परा उल्लेखनीय है। क्योंकि एक ओर तो इनमें गृहीत २४ तीर्थंकरों के आविर्भाव पर अवतारवादी रंग चढ़ाया गया और नौ बलदेव, नौ वासुदेव और प्रतिवासुदेवों के रूप में वैष्णव परम्परा में प्रचलित अवतारवादी रूपों का जैनीकरण किया गया।

त्रिषष्ठि महापुरुष

जैन साहित्यकारों ने ग्रंथारम्भ के पूर्व जिन महापुरुषों का मंगलचरण किया है, उनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, और नौ प्रति-वासुदेव ये तिरसठ महापुरुष वंद्य माने गये हैं।[1] जिस प्रकार वैष्णव या शैव पुराणों के कथात्मक उपादान संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में ग्रहण किये गये हैं, वैसे ही जैन साहित्य में भी जिन ६३ महापुरुषों का वर्णन हुआ है, उनके सारे उपादान जैन पुराणों से लिए गये हैं। इनमें गृहीत चौबीस तीर्थंकर ही मौलिक रूप से पूर्णतः जैन परम्परा के महापुरुष हैं। अन्य महापुरुषों में १२ पौराणिक राजा तथा शेष ९ बलराम, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव किसी न किसी रूप में विष्णु के पौराणिक अवतारों के ही जैनीकृत रूप हैं।

चौबीस तीर्थंकर

उक्त महापुरुषों में जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक ऋषभ, अजित, संभव, अभि-नन्दन, सुमति, पद्मप्रभा, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभा, सुविधि या पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्लि, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर ये चौबीस जैन धर्म के प्रवर्तक माने गये हैं।[2] इनमें ऐतिहासिकता की दृष्टि से केवल महावीर ही विशेष रूप से सुपरिचित हैं। अन्य तेईस तीर्थंकरों का जीवनवृत्त अत्यधिक पौराणिक है।

प्रारम्भ में आचरण प्रधान जिन उत्कर्षोन्मुख आदर्शों के आधार पर जैन धर्म का आविर्भाव हुआ था, आलोच्यकाल के पूर्व ही अन्य भारतीय ईश्वर-वादी मतों के प्रभावानुरूप उसमें भक्ति एवं अवतारवादी तत्त्वों का समावेश होने लगा। फलतः महावीर एवं अन्य तीर्थंकर केवल महापुरुष ही नहीं रह गये थे, अपितु जैन पुराणों में उनका पूर्णतः दैवीकरण हो चुका था। सहस्रों

---

१. पद्मानन्द महाकाव्य, (१३वीं शती) पृ० ७-८ तीर्थंकर श्लो० ६७-७६।

२. इनमें शान्ति, कुंथु और अर चक्रवर्तियों में भी गृहीत हुए हैं।

की संख्या में उनकी मूर्तियों एवं मंदिरों के निर्माण होने लगे थे तथा वैष्णवों के सदृश उनमें साकार विग्रहों की पूजा होने लगी थी।[1] 'तिलोयपण्णत्ति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) के अनुसार जीवों का मल गलाने वाला और उन्हें आनन्द प्रदान करने वाला मंगल रूप नाम और स्थापना के भेद से दो प्रकार का तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से प्रायः छः प्रकार का माना जाता है।[2]

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य और साधु, इनके नामों को नाम मंगल कहा जाता है।[3] यह पांचरात्रों की नामोपासना के निकट प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जिन भगवान के अकृत्रिम और कृत्रिम दो प्रकार के प्रतिबिम्ब माने गये हैं, जो स्थापना मंगल कहे जाते हैं। उन्हें विग्रह रूपों के समानान्तर माना जा सकता है तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य मंगल की कोटि में आते हैं।[4]

जैन पुराणों में उनके रूप एवं आविर्भाव सम्बन्धी जो कथायें मिलती हैं, वे अवतारवादी तत्वों से आपूरित हैं। वैष्णव पर रूप उपास्य ईश्वर के नित्यलोक की कल्पना जिस प्रकार भागवत और पांचरात्र साहित्य में मिलती है उसी प्रकार लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिये सूर्य के समान भगवान अरहन्त देव उन सिंहासनों के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अंतराल से स्थित रहते हैं,[5] जहां से भूत, भविष्य और वर्त्तमान में वे अवतीर्ण होते रहते हैं।[6] इनके विभिन्न विमानों से अवतीर्ण होने की चर्चा करते हुये कहा गया है कि ऋषभ और धर्मादिक अर्थात् धर्म, शान्ति और कुंथु आदि तीर्थंकर सर्वसिद्धि विमान से अवतीर्ण हुये थे। अभिनन्दन और अजितनाथ विजय विमान से, चन्द्रप्रभ वैजयंत से, अर, नमि, मल्लि और नेमिनाथ अपराजित विमान से, सुमति जयंत विमान से, पुष्पदन्त और शीतल क्रमशः आरण और युगल विमान से अवतरित हुए थे।[7] इस प्रकार प्रायः सभी तीर्थंकारों के विमानों पर स्थित रहने और वहीं से अवतरित होने की परम्परा जैन पुराणों में दृष्टिगत होती है।

---

१. तिलोय प० (काल शक० सं० ३८०–३७८, वि० ५१५–८७३) पृ० २, १ महाधिकार पंक्ति १६–१७।
२. वही पृ० ३, १, १८।
३. वही पृ० ३, १, १९।
४. वही पृ० ३, १, २०।
५. तिलोय प० पृ० २६२, ४, ८९५।
६. महापुराण, पुष्पदंत पृ० २०। २, ६–७।
७. तिलोय प० पृ० २०७। ४, ५२२–५२४।

इनका शरीर साधारण मनुष्य के सदृश प्राकृतिक न होकर अप्राकृतिक एवं दिव्य[१] होता है। जैन पुराणों के अनुसार उनका शरीर स्वेदरहित, निर्मल दूध के समान धवल, रुधिर युक्त, अनुपम नृप चंपक की उत्तम गंध से युक्त एवं अनन्त बल, वीर्य तथा एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त होता है।[२]

चौबीस तीर्थंकर

जैन धर्म में उक्त वैशिष्ट्य दस अतिशय के रूप में प्रसिद्ध है। 'अभिधान चिन्तामणि' के अनुसार जिनों में चौतीस अतिशय माने गये हैं।[3] जिनमें दस जिन शरीर में प्रमुख हैं। 'हरिवंश पुराण' के अनुसार जिनेन्द्र भगवान स्वयं निर्मित होने के कारण स्वयं सिद्ध हैं। वे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि और प्रयायार्थिक नय की अपेक्षा सादि हैं।[४] वे शुद्ध केवल ज्ञान के धारण-कर्त्ता, लोक अलोक को प्रकाशित करने में अद्वितीय सूर्य हैं। वे अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य रूपी अंतरंग लक्ष्मी और समवसरण आदि वाह्य लक्ष्मी के स्वामी हैं।[५] पूर्ववर्ती रचना 'प्रवचन सार' के प्रारम्भ में वर्द्धमान तीर्थंकर को देवाधिदेव और उक्त अनन्त चतुष्टय से युक्त कहा गया है। इन तीर्थंकरों में भव्य जीवों को संसार-समुद्र से तारने की भी सामर्थ्य है।[६] 'परमात्म प्रकाश' के अनुसार जो जिनेन्द्र देव हैं वही परमात्म प्रकाश हैं।[७] केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त चतुष्टय से युक्त होने के कारण वही जिन देव हैं। वही परम मुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं।[८] जिस परमात्मा को मुनि परमपद हरि, महादेव, ब्रह्म, बुद्ध और परमप्रकाश नाम से कहते हैं, वह रागादि रहित शुद्ध जिन देव ही है। उसी के ये सब नाम हैं।[९] पर ब्रह्म ईश्वर के सदृश उसके साथ भी अशोक, सुर, पुष्प वृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर, सिंहासन भामण्डल, दुन्दुभि और त्रिछत्र आदि अष्टप्रतिहार साथ रहते हैं।[१०] वह देव, नारक, तिर्यक् और मनुष्य

---

१. वही पृ० १, पक्ति ३ पंचसय धणुण्णु य दिव्य तणुं।

२. तिलोय प० पृ० २६३, ४, ८९६–८९७।

३. महा० पु० जी० १ नोट पृ० ५९४, १, १ में संकलित अभिधान चिंतामणि १, ५७–६४।

४. हरिवंश पु० जिनसेन पृ० १, १, १।   ५. हरिवंश पु० पृ० १, १ २।

६. प्रवचन सार (काल ८१–१६५ ई० के बीच) पृ० ३–४।

७. परमात्मप्रकाश पृ० ३३६, २, १९८।   ८. परमात्मप्रकाश पृ० ३३७, २, १९९।

९. परमात्मप्रकाश पृ० ३३७–३३८, २, २०० जो परमप्पउ परम पउ हरि हरू बभुवि बुद्ध परम पयासु भणंति मुणि सो जिण देंउ विसुद्ध।

१०. महा० पु० जी० १ नोट ५९०, २, १८ (अठ्ठविहपाडिहेर की व्याख्या)

जाति से सिद्धावस्था की गति प्रदान करता है।[1] उपास्य परमेश्वर के रूप में होते हुये भी इनका जैनीकृत रूप अपना पृथक् वैशिष्ट्य रखता है। 'तिलोय-पण्णत्ति' में इनके विग्रह रूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उनके पास यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्जवल ऐसे चार दिव्य धर्म चक्रों को देख कर लोगों को आश्चर्य होता है। तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में छप्पन सुवर्ण कमल, एक पाद पीठ और विविध प्रकार के दिव्य पूजन द्रव्य होते हैं।[2]

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि तीर्थंकरों के उपास्य रूपों में एकेश्वरवादी तत्त्वों का विकास हुआ, जो सर्वोत्कर्षवादी (हीनोथिष्टिक) प्रवृत्ति के अनुसार सभी तीर्थंकरों पर समान रूप से आरोपित होता है। ये ही तीर्थंकर उपास्य रूप में नित्य स्थित रहते हैं। इन जैन उपास्य रूपों में साम्प्रदायिक अवतार तत्त्व विद्यमान हैं। वैष्णव अवतारी उपास्यों के सदृश ये भी अपने नित्य लोकों से जैन-धर्म-प्रवर्तन के लिए अवतरित हुआ करते हैं।

वैष्णव अवतारों में प्रसिद्ध २४ अवतार हैं। परन्तु भागवत के अनुसार विष्णु के अवतार अनन्त माने गये हैं।[3] उसी प्रकार महापुराणकार पुष्पदंत ने भी भूत और भविष्य में आये हुये और आने वाले जिनों की अनन्त संख्या मानी है।[4] यद्यपि निश्चित संख्या चौबीस विशेष रूप से जैन साहित्य में भी प्रचलित है।

तीर्थंकरों की कथाओं में सर्वप्रथम इनके जन्म का ऐसा दिव्य वर्णन किया गया है, जो अवतारों के अवतरण से कम महत्त्व नहीं रखता। दिव्य जन्म की एक ही प्रणाली प्रायः सभी तीर्थंकरों पर आरोपित की गई है। अतएव एक ऋषभ के दिव्य अवतरण सम्बन्धी व्यापारों के निदर्शन से अन्य सभी तीर्थंकरों के आविर्भाव का निराकरण हो जायगा।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के उत्पन्न होने के पूर्व राजा नाभि की पत्नी मेरु देवी ऋषभ रूप में लोकेश के उत्पन्न होने का स्वप्न देखती हैं।[5] इनके जन्म के पूर्व ही 'सिरि', 'हिरि', 'दिहि', 'कंति', 'कित्ती', 'लच्छी' आदि देवियाँ

१. महा० पु० जी० १ पृ० ५९८, २, ३, ३५ में प्रयुक्त 'पंचमाइहे' की व्याख्या में पञ्चम गति सिद्धावस्था को माना गया है।

२. तिलोय प० पृ० २६३, ४, ९१३-९१४।

३. भा० १, २, ५, भा० २, ६, ४१-४५।

४. णाह णन्तु भाविणिहि णिरूत्तउ, एहउ बीरजिणिंदे वुत्तउ।
पढ़तु समासमि कालु अणाइउ, सो अणन्तु जिणणणि जाइउ ॥ महा० पु० २, ४।

५. इसमें चौदह स्वप्नों का उल्लेख है। पद्मानन्द महाकाव्य पृ० १४३, ७, २९६।

आकर जिन माता का गर्भ स्वच्छ करती हैं। तत्पश्चात् जिन माता सोलह स्वप्न देखती हैं। उन सोलह स्वप्नों से जिन ऋषभ के अवतरित होने के संकेत मिलते हैं। इन संकेतों में ऋषभ से सम्बद्ध एवं प्रचलित वृषभ है।[1] ऋषभ का जन्म होते ही इन्द्र का सिंहासन डोलने लगता है। वे देवों के दल का स्वामित्व करते हुये पहुँचते हैं। कुबेर रत्नों की वर्षा करते हैं और सभी मिलकर उनकी परिक्रमा एवं प्रार्थना करते हैं। वे उन्हें मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक करते हैं। यही कारण है कि मेरु पर्वत भी देवताओं के लिये वंद्य है।[2] 'तिलोय पण्णत्ति' के अनुसार इनके प्रादुर्भाव के अनन्तर अनेक योजनों तक वन असमय में ही पत्र, पुष्प और फूलों से लद जाते हैं।[3] कंटक, रेती आदि को दूर करता हुआ सुखदायक समीर चलने लगता है। जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं। भूमि दर्पणतल के सदृश स्वच्छ और रत्नमयी हो जाती है। सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से सुमेध कुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करते हैं। कूप, तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं; समस्त जीव रोगरहित हो जाते हैं।[4] इस प्रकार प्रायः सभी तीर्थंकरों के प्रादुर्भाव में देवता, इन्द्र, कुबेर आदि देवों और दिव्य उपादानों का प्रयोग होता है। इन उपादानों के अतिरिक्त पद्मानन्द महाकाव्य में इनके असाधारण जन्म का उल्लेख हुआ है। उस काव्य के एक श्लोक में कहा गया है कि इनके जन्म में जरायु, रुधिर आदि मल नहीं गिरते अपितु निर्धूम मणि के समान जिस प्रकार दीप से दीप उत्पन्न होता है, उसी प्रकार 'जिन' भगवान प्रादुर्भूत होते हैं।[5] इस श्लोक में 'प्रदीपो दीपि', के प्रयोग से पांचरात्रों में प्रचलित 'दीपादुत्पन्न दीपवत्' की स्मृति आती है। अवतारों की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने में जिस प्रकार इन्द्र का भय, देवताओं का स्वामित्व तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव से श्रेष्ठतर सिद्ध करने वाली पुराण-रूढ़ियों का प्रयोग होता रहा है, उसी प्रकार जैन तीर्थंकरों पर भी उन्हीं रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। जब इन्द्र का आसन हिलने लगता है तब इन्द्र समझते

---

१. महा० पु० १ जी० पृ० ५५

विसुधम्मु तेण भाई त्ति पहु। भासियउ पुरंदरेण विसहु ॥

वि० सहस्रनाम शां० भा० पृ० प्र० ९९, २५ में विष्णु के लिये 'वृषाकृतिः' शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकर के अनुसार (पृ० १०२) धर्म की स्थापना के लिये यह आकृति है।

'धर्मार्थमाकृतिः शरीरमस्येति स वृषाकृतिः।'

२. महा० पु० जी० १ पृ० ५९९-६००। ३. तिलोय प० पृ० २६३, ४, ९०७-९१४

४. तिलोय प० पृ० २६३। ५. पद्मानन्द महाकाव्य पृ० १४८, ७, ३२९।

जरायुरुधिरप्रायैर्मलैरमलिनाकृतिः। निर्धूम इव माणिक्यप्रदीपोऽदीपि च प्रभुः ॥

हैं कि जिन का जन्म हुआ है।[1] जैन तीर्थंकरों को शिव, ब्रह्मा और विष्णु से इस आधार पर श्रेष्ठ बतलाया गया है कि ये तीनों सदैव अपनी पत्नियों के साथ रहते हैं, जबकि जिन ने उनका त्याग कर दिया।[2] महाकवि पुष्पदंत ने संभवनाथ को ब्रह्मा, विष्णु और शिव की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है।[3] अमित गति ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को वीतराग और सर्वज्ञ जिन की[4] अपेक्षा तुच्छ बतलाते हुए कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश न तो वैरागी हैं न सर्वज्ञ हैं, उनमें भी मद, क्रोध, लोभ आदि वर्तमान हैं।[5]

'हरिवंश पुराण' में ऋषभ के प्रति की गई स्तुतियों में कहा गया है कि आप मति, श्रुति और अवधि इन तीन सर्वोत्तम ज्ञानरूपी नेत्रों से सुशोभित हैं। आपने इस भारत क्षेत्र में उत्पन्न होकर तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया।[6] मनुष्य भव में आते ही आपने समस्त जगत् को कृतार्थ कर दिया।[7] आपका अतिशय मनोहर शरीर मनुष्य, सुर, असुरों को सर्वथा दुर्लभ, सर्वोत्तम एक हजार आठ लक्षणों से युक्त है।[8] आप चरम शरीरियों में प्रथम हैं। यह आपका शरीर विना युद्ध के ही अपने अतिशय मनोहर रूप में समस्त जगत् को नत बनाये रखता है। आपके गर्भस्थ होने के समय सुवर्ण वर्षा हुई थी। इसलिये देवता हिरण्यगर्भ नाम से आपकी स्तुति करते हैं।[9] इस भव से पूर्व तीसरे भव में आप ने अपने आप तीर्थंकर प्रकृति का बंध बाँधा था और इस भव में आप तीनों ज्ञान के धारक उत्पन्न हुए हैं, इसलिए स्वयंभू कहे जाते हैं।[10]

विष्णु एवं अवतारों के तद्रूप

जैन साहित्य में ऋषभ आदि तीर्थंकरों का उपास्य रूप अधिक ग्राह्य हुआ है। इसलिए स्वभावतः वे अपने सम्प्रदाय में देवाधिदेव परमात्मा के

---

१. महा० पु० जी० २, ४०, ६।　　२. महा० पु० जी० १, १०५।

३. दसिय पर इणं हरणयं, पुसिय बंभ हरि हरणयं।
विणि वारिय परदारयं, परदरिसिय परदारयं॥ महा० पु० जी० २, ४०, १।

४. वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते।
अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदूषितः॥ श्रावकाचार पृ० १०७, ४, ७०।

५. न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादि योगतः॥ श्रावकाचार पृ० १०७, ४, ७१।

६. हरिवंश पुराण पृ० १२२, ८, १९६।　　७. वही पृ० १२२, ८, १९८।

८. वही पृ० १२३, ८, २०४।　　९. वही पृ० १२३, ८, २०५-२०६।

१०. हरिवंश पुराण पृ० १२३, ८, २०७।

रूप में गृहीत हुये हैं। परन्तु पुष्पदंत के महापुराण में अनेक स्थलों पर इन्हें पौराणिक देवों की अपेक्षा विष्णु से अधिक अभिहित किया गया है। यह तद्रूपता कतिपय स्थलों पर इतनी स्पष्ट है कि कवि इन्हें वीतराग और सर्वज्ञ आदि जैन वैशिष्ट्यों के द्वारा पृथक् करते हैं।

मध्यकालीन सगुण भक्ति साहित्य में राम और कृष्ण के जिन अवतारी रूपों का प्रचार है उनमें उपास्यतत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वे स्वयं राम-कृष्णादि परब्रह्म रूप से सीधे अवतार धारण करते हैं। त्रिदेवों में मान्य विष्णु का रूप वहाँ गौण हो जाता है। फिर भी उनमें परम्परा की अवहेलना नहीं दीख पड़ती है। वे राम और कृष्ण के स्वयं अवतारी होते हुये भी, महाकाव्यों एवं पुराणों से आती हुई क्षीरशायी विष्णु से अवतरित होने वाली परम्परा में उनके विष्णु-अवतार का उल्लेख अवश्य करते हैं।

परन्तु जैन साहित्य की परम्परा भिन्न होने के कारण तीर्थंकर स्वयं जिन रूप से मनुष्य भव में प्रवेश करते हैं। साधारणतः विष्णु की परम्परा में आविर्भूत होने का उल्लेख जैन साहित्य में नहीं मिलता। फिर भी महापुराण में वर्णित तीर्थंकरों में कतिपय ऐसे चिह्न या संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर वे विष्णु से सम्बद्ध विदित होते हैं।

महापुराण में ऋषभ की प्रार्थना करते हुए उन्हें आदि वराह के रूप में पृथ्वी का उद्धारक कहा गया है।[1] वे तीनों लोकों के स्वामी माधव और मधु को मारने वाले मधुसूदन हैं।[2] वे गोवर्द्धनधारी[3] परमहंस केशव हैं।[4] अजित नाथ तीर्थंकर (वसुवई) श्री और (वसुमई) पृथ्वी के पति हैं।[5] जबकि पुराणों के अनुसार ये दोनों विष्णु की स्त्रियाँ मानी जाती हैं। संभवनाथ धरणी के समुद्धारक हैं।[6] एक अन्य तीर्थंकर को सम्भवतः लक्ष्मी को शरीर में धारण करने वाला या भार ढोने वाला कहा गया है।[7] एक दूसरे तीर्थंकर

---

१. वेयंगववाई जय कमलजोणि आईवराह उद्धरिय खोणि। महा० पु० जी०, १,१०,५,१०

२. जय माहव तिहुवणमाहवेस, महुमूयण दुसिय महुं विसेस।
महा० पु० जी० १, १०, ५, १४।

३. 'गोबद्धण' का अर्थ श्री वैद्य ने ज्ञान वर्द्धन किया है, किन्तु अन्य स्थलों पर कृष्ण से सम्बन्धित गोवर्द्धन के लिये भी 'गोबद्धण' का प्रयोग हुआ है। जैसे महा० पु० जी० ३, ८५, १६ घत्ता १६,
'गिरि गोद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइउ'।

४. जयालोअणि ओइय परमहंस योवद्धण केसव परमहंस। वही, पृ० १, १०, ४, १५।

५. वसुवइवसुमई कंताकंते। महा० पु० जी० २, ३८, १८, १०।

६. धरणिंद धरणि समुद्धरणु। महा० पु० जी० २, ४०, ७, ८।

७. महि भुजैवि सइरु णिव्वइउ लच्छिमारु णियतणयहु ढोइउ। वही, पृ० २, ४४, २, ३।

'वेरि संघारण' भी हैं।[1] एक तीर्थंकर को गोपाल (गोवालु) नाम से अभिहित किया गया है।[2]

इसके अतिरिक्त महापुराण में वर्णित कृष्ण-कथा में कंस को यह पता चलता है कि यह नाग के सेज पर सोने वाला, शंख बजाने वाला और धनुष धारण करने वाला उसका शत्रु है।[3] वह इन्हीं तीनों प्रतिज्ञाओं का पालन करने वाले से अपनी पुत्री के विवाह की घोषणा करता है।[4] कृष्ण उन प्रतिज्ञाओं का पालन करते हैं।[5] बाद में सत्यभामा के द्वारा व्यंग किये जाने पर तीर्थंकर नेमिनाथ भी उक्त कौशल का प्रदर्शन करते हैं।[6] इन तीनों का स्पष्टतः संबंध शेषशायी, पंचजन्य शंख एवं शार्ङ्गधारी विष्णु से प्रतीत होता है। अतः उक्त तथ्यों के आधार पर कम से कम महापुराण में विष्णु से इनके स्वरूपित होने का अनुमान किया जा सकता है।

अवतार प्रयोजन

सामान्यतः पुराणों में विष्णु के अवतारों के साथ अवतार प्रयोजन अवश्य सन्निविष्ट रहता है। इसी से केवल प्रयोजन के चलते साधारण जन्म और अवतार में अन्तर पड़ जाता है। सैद्धान्तिक रूप से जैन धर्म में उक्त कोटि के अवतारवाद को मान्यता प्राप्त नहीं है। इसका मुख्य कारण है उनका अवतारण की अपेक्षा साधनात्मक उत्क्रमण में विश्वास जिस पर आगे चलकर विचार किया गया है।

---

१. तत्थ जभारिणा, वैरि संघारिणां। वही, पृ० २, ४५, ७, १७।

२. जई तुहुं गोवालु णियारिचंडु तो काइं णत्थि करि तुज्झ दंडु।
वही, पृ० २, ४८, १०, २।

३. णायो मिज्जई विसहर समणें जो जलयरुआऊरइ वयणें
जो सारंगकोठि गुण पावई, सो तुज्झु वि जमपुरि पहु दावइ।
महा० पु० जी० ३, ८५, १७, ११-१२।

४. जो फणि सयणि सुयई घणु णावइ, संखु ससासें पूरिवि दावइ।
तहुं पहु देइ देसु दुहियइ सहुं, ता घाइयउ णिवहु संइ महुं महुं॥
वही, जी० ३, पृ० ८५, १८, ९-१०।

५. महा० पु० जी० ३, पृ० ८५, २२-२४।

६. इय जं खर दुव्वयणीणं हउ तं लग्गउ तह अहिमाणमउ।
णारायणंपहरणंसाल जहिं परमेसरू पत्तउ झति तहिं॥
चप्पिउ कुप्परेहिं फणिसयणु षणाविउ वाम पाएणं।
धणु करि णिहिंउ संखुआऊरिउ जगु बहिरिउं णियाएणं॥
महा० पु० जी० ३, पृ० ८८, १९ दो० १९ और २०।

उनके दिव्य एवं अवतारानुरूप जन्मों का वर्णन करते समय प्रयोजन विशेष की ओर संकेत नहीं किया गया है, फिर भी महापुरुषों के जन्म के साथ कालान्तर में उनके जीवन से सम्बद्ध सम्प्रदायों या धर्मों में निहित मुख्य लक्ष्य ही प्रयोजन के रूप में स्वाभाविक ढंग से आरोपित हो जाते हैं। ऋषभ आदि तीर्थंकरों के अवतरण में भी इसी प्रकार के साम्प्रदायिक प्रयोजनों का समावेश किया गया है। 'भागवत' में इनके आदि तीर्थंकर को केवल विष्णु का अवतार भर माना गया है। क्योंकि ऋषभ वहाँ मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये[1] तथा मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये[2] अवतरित कहे गये हैं। इन प्रयोजनों का स्पष्ट सम्बन्ध जैन धर्म से प्रतीत होता है। जैन साहित्य में प्रायः यही प्रयोजन अन्य तीर्थंकरों के साथ सम्बद्ध है। 'तिलोय पण्णत्ति' में सभी मोक्ष मार्ग के नेता बतलाये गये हैं।[3] हरिवंश पुराण के अनुसार ऋषभ चतुर्थ काल के आदि में असि, मसि और कृषि आदि समस्त रीतियों को बतलाने वाले और सबसे प्रथम धर्मतीर्थ के प्रवर्तक माने गये हैं।[4] 'महापुराण' में ऋषभ को जैन मार्ग का प्रवर्तन करने के लिये, इन्द्र की नीलंजसा नाम की उस अप्सरा द्वारा, जो उनके दरबार में नृत्य करते करते मर जाती है, जीवन की क्षणिकता से परिचय कराना पड़ता है।[5] इस कथा के आधार पर जैन मत के प्रवर्तन के निमित्त उनका अवतार प्रयोजन स्पष्ट है। इनके विरक्त होने पर इन्द्रादि देवता इन्हें जैन मत का प्रचार करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं[6]; जिसके फलस्वरूप ये दिगम्बर वृत्ति अपना लेते हैं[7] और जैन मत के प्रचार के निमित्त कटिबद्ध होते हैं।

इससे सिद्ध है कि जैन तीर्थंकरों के अवतरित होने का मुख्य प्रयोजन जैन मुनियों के आचरण का आदर्श प्रस्तुत करना, आचार और नियम पालन की शिक्षा देना तथा जैन धर्म का प्रचार करना रहा है। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में उन धर्मों और सम्प्रदायों में भी अवतार-भावना प्रचलित

---

१. भा० ५, ३, २०।
२. भा० ५, ६, १२।
३. तिलोय पण्णत्ति ४, ९२८।
४. हरिवंश पु० पृ० ११६, ८, ९२।
५. म० पु० ६, ४।
६. उट्ठिय देव महाकुल कलयलि पुणु वंदारएहिं णिय णहयलि।
चल्लिउ अणुमग्गों सिय सेविइ णाहिणराहिउ संहू मरु एविइ॥
.... ।
तुरिउ चलंतु खलंतु विसंठुलु णीससंतु चलभोक्कलकोंतलु। म० पु०, ७, २३-२४
७. महापुराण ७, २६, १५।
मोह जालु जिह मेल्लिवि अंबरु झति महामुणि हुवउ दियंवरु।

हो जाती है, जो एक प्रकार से अवतारवाद के विरोधी रहे हैं। इसका मूल कारण सम्प्रदाय प्रवर्तन या विस्तार को समझा जा सकता है। क्योंकि उस काल में वैष्णव अवतार प्रवर्तकों की तुलना में आने के लिए अवतारवाद सहज और सुलभ माध्यम हो गया था।

उत्क्रमणशील प्रवृत्ति

जैन पुराणों में वर्णित तीर्थंकरों का अवतारवाद वैष्णव अवतारवाद से कुछ अंशों में भिन्न प्रतीत होता है। वैष्णव अवतारों में परमपुरुष परमात्माविष्णु अवतरित होते हैं। उनको यह पद किसी साधना के बल पर नहीं प्राप्त हुआ है अपितु वे स्वयं अद्वितीय ब्रह्म, स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। इसके विपरीत जैन तीर्थंकर प्रारम्भ में ही अद्वितीय ब्रह्म या परमात्मा न होकर साधना के द्वारा उत्क्रमित होकर परमात्मा या लोकेश होते हैं। सन्तों एवं साम्प्रदायिक आचार्यों के सदृश जैन मत में भावना की अपेक्षा साधना का अत्यधिक मूल्य समझा जाता है। 'परमात्म प्रकाश' के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है किन्तु कर्म बंध के कारण वह परमात्मा नहीं बन पाता। कर्म बन्धन से मुक्त होने और स्वयं रूप से परिचित होते ही वह परमात्मा बन जाता है।[1] जैन साधक तीर्थंकर से लेकर साधारण साधक तक सभी इस आत्म साधना के द्वारा स्वयं ईश्वर बनने की चेष्टा करते हैं और अन्त में वे स्वयं ईश्वर हो जाते हैं। 'प्रवचनसार' के अनुसार आत्मा में ईश्वर होने की शक्ति होती है, जो कर्म क्षीण होने पर पूर्णता को प्राप्त होती है।[2] प्राचीन जैन शास्त्रों के अनुसार आत्मा गुण स्थानों पर आरोहण करता हुआ उन्नत, उन्नततर होता जाता है। प्रत्येक गुण स्थान में उसके कर्म नष्ट होते जाते हैं।[3] वे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरिताचार, तपश्चरणाचार और वीर्याचार इन पंचाचारों द्वारा अपने कर्म बंधन का नाश करते हैं।[4] इसी से वे पंच परमेष्ठि कहलाते हैं।[5] इन आचारों के वीतराग और सराग भेद से चरित्र दो प्रकार के माने गये हैं। वीतराग चरित्र मोक्षप्रधान है और सराग चरित्र इन्द्र या चक्रवर्ती आदि पदों की ओर प्रवृत्त करने वाला विभूति स्वरूप है।[6] प्रारम्भ में ऋषभ आदि तीर्थंकर केवल दस गुणों या अतिशयों से युक्त रहते हैं। केवल जिन होने पर ये चौवीस अतिशाय

---

१. परमात्मप्रकाश पृ० १०२। २. प्रवचन सार भू० ९२-९३।
३. परमात्मप्रकाश पृ० १०५। ४. परमात्मप्रकाश पृ० १२-१४।
५. प्रवचन सार पृ० ५। ६. प्रवचन सार पृ० ८-९।

से युक्त हो जाते हैं।[1] केवली या कैवल्य का ज्ञान होने पर वे केवल जिन या अरहंत कहे जाते हैं।[2] वही जिनेन्द्र देव और परमात्म प्रकाश भी हैं। सम्भवतः कालान्तर में जैनों में भी परमात्मा के सकल और विकल भेद से दो स्वरूप माने गये,[3] जो सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। सकल परमात्मा रूपस्थ, पिंडस्थ[4] या साकार होने के कारण तो अर्हत भगवान् है।[5] और विकल परमात्मा निराकार सिद्ध परमेष्ठि है। सम्भवतः सिद्धों के ध्यान गम्य परमात्मा होने के कारण निराकार परमात्मा को सिद्ध परमात्मा भी कहा जाता है, जो लक्षणों के अनुसार सन्तों के अन्तर्यामी या आत्म ब्रह्म के समकक्ष प्रतीत होता है। जैन पुराणों में तीर्थंकरों के पूर्व जन्म में धारण किये गये रूपों का भी उल्लेख हुआ है, जिनमें तीर्थंकर बनने के पूर्व प्रचलित पुनर्जन्म के साथ-साथ उनके उत्कर्षोन्मुख रूपों का भान होता है। चन्द्रप्रभ तीर्थंकर पूर्वजन्म में श्री शर्मा नामक राजपुत्र थे। वे द्वितीय जन्म में तपस्या के फलस्वरूप श्रीधर नाथ नाम के देवता हुए। तीसरे जन्म में तपस्या के फलस्वरूप वे अजितसेन नाम के चक्रवर्ती हुये। तत्पश्चात् तपस्या के बल पर अच्युत स्वर्ग के स्वामी हुये। पुनः क्रमशः दूसरे जन्मों में क्रमशः पद्मनाभ, वैजयन्त और अहमिन्द्र स्वर्ग में उत्पन्न हुये। पुनः वहाँ से वे तीर्थंकर रूप में आविर्भूत हुये हैं।[6] इसी प्रकार तीर्थंकर शांतिनाथ भी अपने पूर्ववर्ती जन्मों में क्रमशः श्रीषेण, कुरुनरदेव, विद्याधर, देव, बलदेव, वज्रायुध, चक्रवर्तिन् देव, मेघरथ, सवार्थसिद्धिदेव, शांति और चक्रायुद्ध इन द्वादश रूपों के अनन्तर अन्त में शांतिनाथ हुये।[7] इस आधार पर इनकी उत्क्रमणशील प्रवृत्तियों का पता चलता है। और यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर मूल रूप में साधक सन्त हैं। कालान्तर में पौराणिक तत्वों के समावेश से इनके अवतारवादी रूपों का विकास हुआ। फिर भी उन पौराणिक रूपों में उनके साधनात्मक अस्तित्व का ह्रास नहीं हुआ है।

---

१. अइसय दह जाया सह भवे ग, चउवीस अवरणणुब्भेवेण।
जगि अरहंतु पर संभवंति जे ते एहर गणहरु कहंति॥
महा० पु० जी० १, १०, २, १-२।

२. केवल णाणि अणवरउ लीया लोउ मुणंतु।
णिय में परमाणंद मउ अप्पा हुइ अरहंतु॥ परमात्म प्रकाश पृ० ३३४, २, १९६।

३. परमात्म प्रकाश पृ० ३३६, २, १९८।

४. परमात्म प्रकाश पृ० ३२, १, २४ 'सं० १७९५ की दौलत राम की हिन्दी टीका'।

५. परमात्म प्रकाश हि० टीका, पृ० ५।

६. परमात्म प्रकाश हि० टीका, पृ० ३२। ७. महापुराण जी० २, ४५ वीं संधी।

बारह चक्रवर्ती

तीर्थंकरों के पश्चात् तिरसठ महापुरुषों में बारह चक्रवर्ती परिगणित होते हैं। ये भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शांति, कुंथु, अर, सूभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] जैन पुराणों में ये पृथ्वी मंडल को सिद्ध करने वाले वतलाये गये हैं।[2] अवतारवाद से इनका संबंध नहीं प्रतीत होता।

बलदेव-वासुदेव और प्रतिवासुदेव

जैन साहित्य में क्रमशः नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव को त्रिषष्टि महापुरुषों में ग्रहण किया गया है। अनेक विषमताओं के होते हुये भी इन तीनों का सम्वन्ध विष्णु के पौराणिक अवतारों और उनके शत्रुओं से विदित होता है। जैन पुराणों में दी हुई इनकी कथाओं से यत्किंचित् वैषम्य होते हुए भी तीर्थंकरों के सदृश इनकी कथाओं में भी पुनरावृत्ति हुई है। सामान्यतः सभी कथाओं में एक बलदेव, एक वासुदेव और एक प्रतिवासुदेव गृहीत हुए हैं। अतः प्रथम त्रिपृष्ठ वासुदेव (जिन्हें नारायण और विष्णु भी कहा जाता है) के साथ विजय-बलदेव और अश्वग्रीव (हयग्रीव) प्रतिवासुदेव हैं। तदनन्तर क्रमशः द्विपृष्ठ के साथ अचल और तारक, स्वयम्भू के साथ धर्म और मधु, पुरुषोत्तम के साथ सुप्रभ और मधुसूदन, पुरुषसिंह के साथ सुदर्शन और मधुक्रीड़, पुंडरीक के साथ नन्दिषेण और निशुम्भ, दत्त के साथ नन्दिमित्र और वलि, लक्ष्मण के साथ राम और रावण और कृष्ण के साथ बलदेव और जरासंध संयोजित हैं।

उक्त सूची में बलरामों की योजना जैन साहित्य की अपनी विशेषता है। इस योजना के आधार अन्तिम बलदेव प्रतीत होते हैं। क्योंकि इस सूची में वैसे बलदेवों की संख्या सर्वाधिक है जो पूर्ण रूप से जैन साहित्य की कल्पना हैं। राम और बलराम को छोड़ कर अन्य किसी भी बलराम का वैष्णव पुराणों में उल्लेख नहीं मिलता है। आठवीं जोड़ी में लक्ष्मण के स्थान पर राम बलराम से नाम साम्य के कारण आठवें बलदेव हो गये और लक्ष्मण, कृष्ण-विष्णु के स्थान में बड़े भाई बलराम की तुलना में ही कृष्ण वर्ण

---

१. महापुराण जी० २, ६५, ११।
२. तिलोयपण्णत्ति पृ० २०४, ४, ५१५–५१६।

राम तथा रावण को मारने वाले माने गये।[1] इस प्रकार जैन महाकवि पुष्पदंत वाल्मीकि और व्यास की भूलों को सुधारते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त जहाँ तक वासुदेव और प्रतिवासुदेव का प्रश्न है, इनकी संयोजना भी कृष्ण-बलराम या हरि-हलधर के आधार पर की गई विदित होती है। क्योंकि विजय और त्रिपृष्ठ से लेकर लक्ष्मण[3] और राम तक सभी विष्णु की अपेक्षा बलराम और वासुदेव से अत्यधिक अभिहित किये गये हैं।[4] इन नौ जोड़ियों में परम्परागत विशेषता यह है कि प्रायः सभी बलदेव जैन हो जाते हैं, और मोक्ष प्राप्त करते हैं, जबकि वासुदेव और प्रतिवासुदेव नरक में जाते हैं।

हरि-हलधर के अतिरिक्त वासुदेव और प्रतिवासुदेव का घनिष्ठ सम्बन्ध विष्णु और उनके पौराणिक अवतारों से है। अनेक विषमताओं के होते हुए भी इन तीनों जोड़ियों की कथाओं में प्रायः विष्णु की अवतार कथाओं का जैनीकरण किया गया है। विष्णु से इनका सम्बन्ध केवल कुछ उपादानों, कतिपय चिह्नों और लक्षणों के आधार पर ही जाना जा सकता है। प्रथम बलदेव, विजय और त्रिपृष्ठ प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के शत्रु हैं। अश्वग्रीव विष्णु द्वारा मत्स्यावतार में मारा गया हयग्रीव है। इस दृष्टि से त्रिपृष्ठ को मत्स्यावतार का पर्याय माना जा सकता है। इस कथा में विजय और त्रिपृष्ठ के लिये धरणीधर, पुरुषोत्तम[5] और संकर्षण, नारायण[6] आदि नामों का प्रयोग हुआ है। अश्वग्रीव से लड़ने के लिये जब त्रिपृष्ठ तैयार होते हैं, तब देवियाँ

---

१. महापुराण ७४, ११, ११।
लक्खण दामोदरणमियकमु, अट्ठम हलहरु रणरस विसमु।

२. महापुराण ६९, ३, १०–११।
किं महिसं सहासहि घउलइइ लइ लोउ असच्चु सव्वु कहइ।
वम्मीय वासवयणिहि पहिउ अण्णाणु कुम्मग्गकवि पडिउ॥

३. पद्मानन्द पृ० ८, १, ७५ 'दत्तो नारायणं कृष्णः' और तिलोय पण्णत्ति में पृ० २०७, ४, ५१७ में लक्ष्मण नारायण माने गये हैं।

४. विशेष कर इस राम कथा में लक्ष्मण–राम को कतिपय स्थलों में हरि–हलधर से अभिहित किया गया है। महापुराण ७४, २, ७, 'वलएवहुं', महा० पु० ७४, ६, ५, 'तो हलि हरि जय कालि जलिउ'। महा० पु० ७४, ३, १, 'सीराउहेण उक्सामिओं अणंती'। महा० पु० ७९, ४, २ 'तइयहुं हरिहलहर दिव्व पुरिस'।

५. तुहुं पुरुषोत्तमु तुहुं धरणीहरु णिवडंतंह वधुंहुं लगग्गणतरु। महा० पु० ५१, १३, ६।

६. का वि भणइ हहु सो संकरिसणु, हलहरु हलि अकरंतु विकरिसणु।
का वि भणइ रह सो णारायण, हलिहरु हलि अकरंत विकरिसणु॥
महा० पु० ५१, १४, ७–८।

शार्ङ्गधनुष, पंचजन्य शंख, कौस्तुभ मणि और कौमोदकी नाम की गदा जो विष्णु की आयुध मानी जाती है, त्रिपृष्ठ को प्रदान करती हैं।[१] साथ ही हलधर को हल, मूसल और गदा देती हैं।[२] यहाँ हलधर के साहचर्य के कारण कृष्ण स्पष्ट हैं परन्तु विष्णु के आयुधों से युक्त होने के फलस्वरूप वे विष्णु के अवतार कृष्ण हैं। त्रिपृष्ठ के रूप में अश्वग्रीव से युद्ध करते समय इनका ध्वज गरुड़ के चिह्न से अंकित गरुड़ध्वज है।[३] आठवें बलदेव राम भी कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु या वासुदेव से अभिहित किए गये हैं।[४] इसी प्रकार सुप्रभ और पुरुषोत्तम पर विष्णु की विशेषताओं का आरोप किया गया है।[५] आठवें बलदेव की राम-कथा के प्रसंग में उनकी स्तुति करते समय विष्णु के प्रयासों का प्रयोग हुआ है।[६] उक्त उपादानों के आधार पर जैनों में मान्य उक्त तीनों जोड़ियों में से कुछ का विष्णु से स्पष्ट सम्बन्ध विदित होता है। इनके अतिरिक्त स्वयं पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुंडरीक, दत्त आदि नाम भी विष्णु के प्रचलित नामों में हैं। द्वितीय प्रतिवासुदेव तारक और निशुम्भ का संबंध पुराणों में विष्णु से न होकर क्रमशः कार्तिकेय और दुर्गा से रहा है। इसके अतिरिक्त चौथे प्रतिवासुदेव मधुसूदन का नाम भी विष्णु के प्रतिद्वन्द्वियों की

---

१. कण्हहु देवयहिं पुण्णगयहिं गुण पणाम संपण्णउं।
सत्ति ओमोह मुहि तू सक्यि सुहि घणु सारंग विइण्णउ॥
आणिनि सुखोहिं चिरु रक्खिउ, मंगलझुणिणिणाइओं।
जलयरु पंचयण्णु कोत्थुहु मणि अंसि हरिणों णिवेइओं॥
अण्णु वि गय हय गय दिण्ण तासु को मुइ णामें दामोयरासु।
महा० पु० ५२, ९, १५ और ५२, ९, १–३।

२. वलएवहु लंगलु मुसलु चारु गय चंदिम णमै हत्थि यारु। महा० पु० ५२, १०, ४।

३. सांधाणु ण इच्छइ गरुडकेउ, दीसह भीसणु णं धूमकेउ। महा० पु० ५२, ९, ६।

४. हंउ विठ देउ दसरह कुमारु हंउ विट्ठु सदुट्ठिय कुठारु।
पाउ दिण्ण हत्थि रे देहि धाय, तुह एव्वहिं कुद्धा रामपाय॥ म० पु० ७५, ७, ८।

५. सुप्पहु पुरिसुत्तमु णामधारि ते वेणि वि हलहरदाणवारि।
ते वेण्णि वि पंडुर कसणवण्ण वि उण्णय पुण्णधण्ण॥
ते वेण्ण वि साहिय सिद्ध विज्ज ते वेण्णि वि स्वयराम रंह पुज्ज।
महापु० ५८, १७, ७, ९।

अण्णहु पंचयण्णु किं वज्जइ, अण्णु एव किं लच्छिइ छज्जइ।
अण्णे धरणि धेणु किह वज्झई, गारुड़विज्जेण अण्णहु सिज्झई॥
महापुराण ७६, ३, ६–१०।

६. सिरिसिरिह रामण राहिवेहि। सिवगुत्तु जणेसरु दिट्ठ तेहिं।
वदेप्पिणु पुच्छिउ परमधम्मु, जिणु कहइ उयारविचारगम्मु॥ महा पु० ७९, ५, २-३
एक्कहिं णिसि समइ हरि फणि सयणि पसुतउ। महा पु० ७९, १, १२।

अपेक्षा विष्णु से ही अधिक सम्बद्ध है। फिर भी कुछ को छोड़ कर अन्य वासुदेव और प्रतिवासुदेवों से विष्णु के अवतारवादी संबंध का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। 'महापुराण' के पूर्व की रचना 'तिलोयपण्णत्ति' में नौ वासुदेवों को वासुदेव के स्थान में विष्णु कहा गया है।[1] 'पद्मानन्द महाकाव्य' (१३वीं शती) में भी इन्हें विष्णु माना गया है।[2] साथ ही प्रतिवासुदेवों में गृहीत अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निशुंभ, बलि, प्रह्लाद, दशकन्धर, जरासन्ध आदि विष्णुवध्य और प्रतिविष्णु कहे गये हैं।[3] 'महापुराण' की सूची की अपेक्षा अन्य जैन साहित्य में उपलब्ध प्रतिवासुदेवों की सूची में न्यूनाधिक अन्तर दीख पड़ता है। 'महापुराण' की पूर्ववर्ती रचना 'तिलोयपण्णत्ति' में मधुसूदन और मधुक्रीड़ का उल्लेख न होकर मेरक और प्रहरण का उल्लेख हुआ है।[4] 'महापुराण' के सम्भवतः बाद की रचना 'पद्मानन्द' में भी 'तिलोयपण्णत्ति' के सदृश मेरक का उल्लेख हुआ है किन्तु प्रहरण के स्थान में प्रह्लाद का नाम दिया गया है। नामों के अतिरिक्त इनके क्रम में भी किंचित् अन्तर दीख पड़ता है। 'महापुराण' के अतिरिक्त अन्य दो सूचियाँ प्रायः क्रम की दृष्टि से एक सी हैं। यहाँ मधु का स्थान चौथा और प्रह्लाद का छठा है जबकि 'महापुराण' में मधु का स्थान तीसरा है। निष्कर्षतः विष्णु के पौराणिक अवतार ही परिवर्तित एवं असम्बद्ध तथा जैनीकृत रूप में जैन साहित्य में भी गृहीत हुये हैं।

कृष्ण बलदेव पूर्वकालीन जैन मुनि

'हरिवंश पुराण' ८८, ९ में कृष्ण गोपाल को पृथ्वी का रक्षक कहा गया है। ये शेषशायी तथा पंचजन्य और धनुष धारण करने वाले हैं। जैन पुराणकार के अनुसार भी इनका अवतार प्रयोजन कंस वध ही रहा है।[5] फिर भी सम्भवतः बलदेव-कृष्ण को जैन परम्परा में समेटने के लिये बताया गया है कि पूर्वकालीन जन्मों में कृष्ण और बलदेव जैन मुनि थे। दूसरे जन्म में वे मुनि द्वय बलदेव-कृष्ण के रूप में अवतरित होते हैं।[6] पुनः दूसरे स्थल पर

---

१. तह य तिविट्ठ दुविट्ठा संयमु पुरिसुत्तमो पुरिससीहो।
पुंडरिय दंत नारायण य हुवंति णव विण्हु। तिलोय प० पृ० २०७, ४, ५१८।

२. दत्तो नारायणः कृष्ण इत्येते नव विष्णवः। पद्मानन्द महा० पृ० ८, १, ७५।

३. विष्णुवध्या अश्वग्रीवस्तारको मेरको मधुः।
निशुम्भो बलिसंज्ञोऽथ प्रह्लादो दशकन्धरः॥
जरासन्धश्च विख्याता नवै ते प्रतिविष्णवः। पद्मानन्द महा० पृ० ८, १, ७६।

४. अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रहरण, रावण, जरासंध नौ प्रतिशत्रु हैं। तिलोय प० पृ० २०७, २०, ५१-५३।

५. हरिवंश पु० ८५, १७।

६. हरिवंश पु० ८९, ८-१८।

बताया गया है कि कृष्ण जो विष्णु-वामन के अवतार हैं, उनका वध करने के लिए वामनावतार के देव पुनः अवतरित होते हैं।[1]

इन प्रसंगों से स्वतः स्पष्ट है कि कृष्ण की अवतार कथाओं को वैष्णव पुराणों से ही ग्रहण किया गया है। साम्प्रदायिक रंग देकर केवल बलराम-कृष्ण को जैन मुनि ही प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं हुई है अपितु अन्य अवतार प्रसंगों को भी विकृत रूप में सम्बद्ध किया गया है।

दशावतार

हरिषेण द्वारा रचित 'धर्मपरीक्षा' नामक (रचना का० सं० १०४०) एक अप्रकाशित ग्रन्थ की चौथी संधी में अवतारवाद पर व्यंग किया गया है। विशेषकर दशावतारों पर व्यंग करते हुए कहा गया है कि विष्णु सम्भवतः दशावतारों के रूप में दस जन्म लेते हैं, फिर भी कहा जाता है कि वे अजन्मा हैं। ये परस्पर विरोधी बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं ?[2]

दशावतार सम्बन्धी इस प्रकार की आलोचना नाथ पंथी साहित्य में भी मिलती है, जिसका यथास्थान निरूपण किया गया है। परन्तु आलोच्यकालीन जैन कवि के इस व्यंग से प्रतीत होता है कि अमितगति जैसे जैन कवि दशावतार के समर्थक थे[3] तो उसी युग में हरिषेण जैसे आलोचक भी थे।

विष्णु से सम्बद्ध कुछ प्राचीन संकेतों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य जैन काव्यों के काल तक विष्णु के अवतारों का तत्कालीन समाज और साहित्य दोनों में प्रचार था जिसके फलस्वरूप जैन काव्यों में भी उनकी अवतारणा हुई।

अन्य वैष्णव अवतारों के रूप

उपर्युक्त बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेवों के अतिरिक्त विष्णु के कुछ अन्य अवतारों की भी कथायें जैन साहित्य में मिलती हैं। राम-कृष्ण के अतिरिक्त कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, बुद्ध, कपिल आदि की प्रासंगिक कथायें दी गई हैं। इनमें कुछ से कथात्मक साम्य होते हुए भी विष्णु से अवतारवादी सम्बन्धों का अत्यन्त अभाव है। परन्तु शेष अवतारों का विष्णु से सम्बन्ध दीख पड़ता है।

---

१. हरिवंश पु० ८५, ८।
२. अपभ्रंश साहित्य (कोछड़) पृ० ३४५।
३. दशावतार शीर्षक द्रष्टव्य।

कूर्म

स्वयम्भू के 'पउम चरिउ' में कूर्म की पौराणिक कथा का उल्लेख हुआ है। यहाँ कूर्म विष्णु पृथ्वी धारण करने वाले बताए गए हैं।[1] 'णयकुमार चरिउ' में देवताओं द्वारा समुद्र मंथन की कथा में भी कूर्म का आभास मिलता है।[2]

वराह और नृसिंह

वराह के भी प्रासंगिक उल्लेख जैन प्रबन्ध काव्यों में हुए हैं। पुष्पदंत के 'महापुराण' में संभवतः विष्णु अवतार ऋषभ आदि वराह का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करने वाले बताए गये हैं।[3] पुनः 'णयकुमार चरिउ' में विष्णु के वराहावतार की कथा प्रसंग क्रम में आई है। यहाँ विष्णु वराह रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं।[4] इन प्रसंगों के अनुसार वराह का पौराणिक रूप अधिक प्रचलित दीख पड़ता है। नृसिंहावतार का उल्लेख जैन साहित्य में अत्यन्त विरल जान पड़ता है। प्राकृत काव्य 'लीलावई कहा' के प्रारम्भ में विविध देवताओं को स्मरण करते समय हिरण्यकशिपु के संहारक अवतारवादी विष्णु को स्मरण किया गया है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से नृसिंहावतार का अनुमान किया जा सकता है।[5]

वामन

जैनों के 'हरिवंश पुराण' के अनुसार विष्णुकुमार ने वामन स्वरूप धारण कर ध्यानमग्न जैन मुनियों के लिये केवल तीन पग जमीन माँगी।[6] बलि के स्वीकार करने पर विक्रय ऋद्धि के प्रभाव से सूर्य आदि ज्योतिर्मय विमानों तक अपना पैर बढ़ा कर मेरु पर्वत की चोटी पर रक्खा और दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा। तीसरा पैर रखने का कोई स्थान नहीं मिला तो वह आकाश में घूमने लगा। इससे डर कर देवता गंधर्व आदि उनकी स्तुति करने लगे।[7] जैनों के अनुसार विष्णु कुमार का यह चरित्र भक्तों के सम्यक् दर्शन की शुद्धि कराता है।[8]

---

१. पउम च० १, १०, २।
जइ कुम्में धरियउ धरणि-वीढु तो कुम्मु पउन्तउ केण गीढु।
२. णयकुमार चरिउ १, ४, १०।
३. महा० पु० जी० १-१०, ५, १०।
४. णयकुमार चरिउ १, ४, ८।
५. लीलावई कहा पृ० ५३।
६. हरिवंश पुराण पृ० २३७, २०-२।
७. हरिवंश पुराण २३८, २०, ५१-५३।
८. हरिवंश पुराण २३८, २०, ६५।

'हरिवंश पुराण' में कृष्ण की कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ कृष्ण शंख, चक्र, गदा और असिधारण करने वाले विष्णु के अवतार हैं।[1]

अन्य वैष्णव अवतार

महापुराण में परशुराम और कार्तवीर्य की कथा है। किन्तु वहाँ विष्णु से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।[2] चौबीस अवतारों में गृहीत कपिल का मणिकेतु के रूप में उल्लेख हुआ है।[3] इसी प्रकार सनत्कुमार की कथा जैन साहित्य में चतुर्थ चक्रवर्ती के रूप में मिलती है।[4] दशावतारों में मान्य बुद्ध का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु वे दशावतारों से न आकर सीधे बौद्धधर्म से गृहीत हुए हैं 'संइंबुद्ध' या स्वयं बुद्ध नाम से ही यह स्पष्ट है।[5]

रामायण में राम के सहायकों में मान्य वायुपुत्र हनुमान जैन पुराण के अनुसार बीसवें कामदेव हैं। जिनका 'मयरकेउ' नाम से उल्लेख हुआ है।[6] 'हरिवंश पुराण' के अनुसार श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्न वैष्णव पुराणों की परम्परा में कामदेव के अवतार माने गए हैं।[7]

इस प्रकार जैन साहित्य में जैन तीर्थंकरों के दिव्य जन्म में अवतारवादी तत्त्वों के दर्शन होते हैं। असंख्य अवतारों के सदृश तीनों कालों में होने वाले जिनों की संख्या भी अनन्त विदित होती है। वे नित्य रूप में स्थित विमानों से सम्भवतः जैन धर्म के निमित्त अवतरित होते हैं। इनमें ऋषभ तो विष्णु एवं उनके अवतारों से भी अभिहित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त उस साहित्य में उपलब्ध उपादानों से राम, कृष्ण प्रभृति वैष्णव अवतारों के ही संकेत नहीं मिलते अपितु बलदेव, वासुदेव का आधार स्पष्ट लक्षित होता है। जैन महाकाव्यों में विष्णु की अपेक्षा हरि-हलधर की अवतार परम्परा प्रचलित हुई है।

---

१. हरिवंश पुराण पृ० ३३०, ३३, ९२–९४।   २. महापुराण पृ० ६५ वीं संधि।
३. महापुराण पृ० ३९ वीं संधि।   ४. महापुराण पृ० ५९ वीं संधि।
५. जइ रुणि जि खउ सइबद्धें जीवहु दिढ्ढउ।
ता चिरु महिणिहिउ वसु संचउ केण गविट्ठउ॥ म० पु० जी० २, ७९, ६।
६. पंडिउ पडु मडु विण्णाणि केउ, जगि वुच्चइ एहु जि मयरकेउ।
महापुराण जी० २, ७३, ८, ६।
७. हरिवंश पुराण ९१, १६।
'ढोइय हरि पुत्तहु पंचबाण'

तीसरा अध्याय

नाथ साहित्य

सिद्धों और जैनों के अनन्तर आलोच्यकाल के प्रारम्भ में नाथों एवं गोरखपंथी योगियों की हिन्दी रचनाएँ मिलती हैं। अभी तक इस सम्प्रदाय की ४० हिन्दी रचनाएँ डा० बड़थ्वाल की खोज के फलस्वरूप उपलब्ध हुई हैं। 'गोरखवानी' नाम से इनका संग्रह प्रकाशित हो चुका है। साथ ही नाथों और सिद्धों की बानियों के नाम से संगृहीत कुछ पदों का पता चला है जिनका प्रकाशन अभी हाल में ही नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ है। इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय की अनेक संस्कृत रचनाएँ भी मिलती हैं।

नाथ सम्प्रदाय में व्याप्त अवतारवादी प्रवृत्तियों और रूपों के, अध्ययन की दृष्टि से केवल 'गोरखबानी' या 'नाथ सिद्धों की बानियों' में संगृहीत हिन्दी रचनाएँ पर्याप्त नहीं हैं। अतएव अवतारवादी तत्त्वों के विशेष रूप से स्पष्टीकरण का ध्यान रखते हुए, कतिपय संस्कृत रचनाओं का सहारा लिया गया है।

आलोच्यकाल में व्याप्त केवल प्रवृत्ति मात्र का अध्ययन अभीष्ट होने के कारण, कई एक रचनाओं का काल अनिश्चित या परवर्ती होने का संदेह होने पर भी, उनके मत को यत् किंचित स्थान मिला है। रचनाकाल की दृष्टि में नाथ सिद्धों की बानियों के पद भी संदिग्ध कहे जा सकते हैं, फिर भी प्रवृत्ति-गत अध्ययन की दृष्टि से इनकी उपयोगिता कम नहीं है।

पूर्व मध्यकालीन भारत में अनेक सम्प्रदायों के साथ कनफटा योगियों और साधकों का भी एक सम्प्रदाय वर्त्तमान था। इनकी परम्परा में शिव इष्टदेव तथा मत्स्येन्द्र, गोरखनाथ आदि नौ नाथ प्रवर्तक विख्यात हैं। इस सम्प्रदाय का विशेष सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा शिव से रहा है। उत्क्रमणशील साधना से सम्बद्ध होने के कारण ये नाथ एक प्रकार से अवतारवाद के आलोचक ही रहे हैं। फिर भी ये तत्कालीन पौराणिक अवतारवादी प्रवृत्तियों से बहुत कुछ प्रभावित प्रतीत होते हैं।

यों तो विष्णु के चौबीस अवतारों में जिन नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिल आदि साधकों का नाम आता है, उनके पौराणिक रूपों को देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि ये किसी न किसी प्रकार की योग साधना से सम्बद्ध थे। परन्तु आलोच्यकाल के नाथों का विष्णु या विष्णु की अवतार परम्परा से कोई विशेष सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता।[1]

मत्स्येन्द्रनाथ

शिव के अतिरिक्त इन नाथों का विभिन्न संबंध बौद्ध वज्रयानी शाखा से भी रहा है। फलतः नौ नाथों में मुख्य गोरखनाथ एक ओर तो शिव के अवतार हैं।[2] और दूसरी ओर वे वज्रयानी चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा के नाम से गृहीत हुये हैं।[3] इन्हीं की पूर्व परम्परा में आने वाले मत्स्येन्द्रनाथ 'कौल ज्ञान निर्णय' के अनुसार एक ओर तो भैरव शिव की अवतार परम्परा में हैं[4] और दूसरी ओर नेपाल में ये अवलोकिलेश्वर के अवतार रूप में भी प्रचलित हैं।[5] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरक्ष पूर्व शैव मतों को गोरखनाथ के १२ पंथों में अन्तर्भुक्त[6] माना है, जब कि वज्रयानियों में इन्हें किसी सम्प्रदाय या पंथ-प्रवर्तक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। तिब्बत और नैपाल में बौद्ध सिद्धों का प्रभाव है; तो हिमालय क्षेत्र भी शैव साधकों एवं योगियों का प्रमुख साधना-स्थल रहा है। विशेष कर यौगिक प्रणालियों का प्रचार दोनों में समान रूप से हैं। इस आधार पर दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है। जिसके फल स्वरूप गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और चौरंगीनाथ का सिद्धों और नाथों दोनों की सूचियों में होना अधिक आश्चर्यजनक नहीं है।[7]

अवलोकितेश्वर के अवतार

नौ नाथों में मत्स्येन्द्रनाथ का प्रमुख स्थान है। इस सम्प्रदाय में ये

---

१. केवल इनमें प्रचलित कपिलानी शाखा का संबंध विष्णु अवतार कपिल से माना गया है 'कपिलात्कपिलः पंथा शिष्यवंशमयोऽभवत्। कपिलायनमित्याहुर्योगीन्द्राः सूक्ष्मवेदिनः'॥ श्री सिद्धधीरज नाथ चरितम् पृ० ३ श्लो० ८। तथा गोरखबानी पृ० २२८ में गोरखदत्तगोष्टि, में दत्तात्रेय की चर्चा हुई है। गो० सि० सं० पृ० ४५। 'दत्तात्रेयो महानाथः पश्चिमायां वसे दिशि।'

२. ब्रिग्स पृ० ७९। ३. हिन्दी साहित्य पृ० २४।

४. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ७८।

५. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६१ तथा नाथ सम्प्रदायेरइतिहास ओ साधन प्रणाली, कल्याणी मल्लिक पृ० २५।

६. पाटल् संत साहित्य विशेषांक, वर्ष ३, १९५५ अंक ५ पृ० ९१।

७. सिद्ध साहित्य पृ० ३०-३३।

गोरखनाथ के गुरु कहे जाते हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ मुख्यतः नेपाल में अवलोकितेश्वर के अवतार-रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका यह अवतार-सम्बन्ध प्राचीन साहित्य की अपेक्षा अनुश्रुति में अधिक प्रचलित है।[2] विशेष कर तिब्बती परम्परा और नेपाल के बौद्धों में वे अवलोकितेश्वर के अवतार-रूप में मान्य हैं।[3]

परन्तु उनकी रचना 'कौल ज्ञान निर्णय' में उन्हें अवलोकितेश्वर या किसी अन्य बोधिसत्व का अवतार नहीं कहा गया है। 'कौल ज्ञान निर्णय' या डा० बागची द्वारा संगृहीत 'अकुल वीर तंत्र' आदि ग्रन्थों में भी तत्सम्बन्धी किसी प्रकार के संकेत नहीं मिलते।[4]

पर इस सम्प्रदाय के श्री शंकरनाथ फलेग्राहि ने नेपाल से सम्बद्ध एवं नेपाल में ही उपलब्ध कुछ ऐसे शिलालेखों का उल्लेख किया है, जिनसे मत्स्येन्द्र नाथ के अवलोकितेश्वर-सम्बद्ध रूप का पता चलता है। इसके अतिरिक्त ललित पत्तन के राजा श्री निवासमल्ल के राज-दरबारी कवि श्री नीलकंठ भट्ट द्वारा रचित वि० सं० १७३३ की एक रचना 'मत्स्येन्द्रपद शतकम्' में भी मत्स्येन्द्र-नाथ मुख्य रूप से अवलोकितेश्वर के ही अवतार माने गये हैं।

इनके अनुसार नेपाल संवत् ७९२ वि० सं० ११७२ की एक वंशावली में लिखा है—

मत्स्येन्द्रं योगिनो मुख्याः, शाक्ताः शक्तिं वदन्ति यम्।
बौद्धलोकेश्वरं तस्मै नमो ब्रह्मस्वरूपिणे॥
नेपालाब्दे, लोचनच्छिद्रसप्तौ, श्री पंचम्यां, श्री निवासेन राज्ञा।
स्वर्णद्वारं स्थापितं तोरणेन, सार्धश्रीमल्लोकनाथस्य गेहे॥[5]

इसमें योगियों के मुख्य मत्स्येन्द्र को बौद्ध लोकेश्वर[6] से अभिहित किया गया है।

---

१. इनके द्वारा रचित कही जाने वाली रचना, महार्थ मंजरी के प्रथम श्लोक के अंश 'नत्वा नित्य शुद्धो गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य' में प्रयुक्त 'महा प्रकाश' को मत्स्येन्द्र से अभिहित किया जाता है। महार्थ मंजरी गोरक्ष टिला पृ० ३ श्लो० १।

२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६१।

३. केवल अंकुल वीर तंत्र, कौ० ज्ञां० पृ० ५६ अकुल ए० २६, में अकुल रूप योगी के लिये 'अर्हन्त बुद्ध एव च' का प्रयोग हुआ है।

४. म० प० शतकम् अव पृ० ग।

५. म० प० शतकम् अव० पृ० ग।

६. बुद्धिस्ट इकानोग्राफी भट्टाचार्य, पृ० ३२ 'साधन माला' के अनुसार अवलोकितेश्वर का एक नाम लोकेश्वर भी है।

एक दूसरे नेपालभक्तपुर शिलालेख का अंश इस प्रकार है[1]—

'मत्स्येन्द्रं मुनयो वदन्ति सततं, लोकेश्वरं बुद्धका।
अन्ये तं करुणामयं प्रतिदिनं, तन्नौमि लोकेश्वरम् ॥'

नेपालाब्द १५३, वि० सं० १०९०, के दूसरे शिलालेख में 'किं पद्मं करुणाकरस्य करता, लोकेश्वरस्यागतम्' अंश से नेपाल में प्रचलित इस उक्ति की पुष्टि होती है कि लोकेश्वर मत्स्येन्द्र के कर कमल में सदैव अम्लान कमल रहता है।[2]

इसके अतिरिक्त नेपाल सुवर्णधारा ध्रुव (धरारा) के पास उपलब्ध मत्स्येन्द्र पादपीठ के शिलालेख में लिखा है—सम्भवतः (कलि गत ३६००)

'अतीतकलिवर्षेषु, शून्यद्वन्द्वरसाग्निषु।
नेपाले जयति श्रीमानार्यावलोकितेश्वरः ॥[3]

नेपाल में प्रचलित स्तोत्रों में भी प्रायः शिव और लोकेश्वर दोनों नामों से इन्हें संबोधित किया जाता है, जो निम्न स्तोत्र से स्पष्ट है—

लोकेशो लोकनाथः शिव सुतगिरिजा, सूनुमत्स्येन्द्रनाथो,
गौरीपुत्रः सरोजी, सकरुणहृदयो, रोगहा नित्यनाथः।
अब्जीशान्तो निताभः, सुरमुनिमहितो, भास्करः पद्मपाणिः
कुर्यादार्यावलोकेश्वर इति विदितः सिद्धनाथः श्रियो वः ॥

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्रनाथ कम से कम नेपाल में अवलोकितेश्वर और शिव दोनों के अवतार-रूप में प्रचलित थे।

नेपाल की एक सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार महाराजा नरेन्द्रदेव के शासन काल में किसी कारण कुपित हो कर गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं होने दी। उनको प्रसन्न करने के निमित्त कामाख्या पीठ से मत्स्येन्द्रनाथ को बुलाया गया। उनके आने पर गोरखनाथ के अनुकूल हो जाने से पर्याप्त वृष्टि हुई। तभी से नेपाल में इनकी स्मृति में रथ यात्रा और महास्नानोत्सव का प्रतिवर्ष विराट आयोजन हुआ करता है।

परवर्ती रचना 'मत्स्येन्द्र पदशतकम्'में पूर्णतः उपास्यदेव के रूप में इनका वर्णन किया गया है। प्रथम श्लोक में प्रयुक्त 'नमोऽस्त्वादिनाथाय लोकेश्वराय'[4] से शिव और अवलोकितेश्वर दोनों से स्वरूपित होने का भान होता है। ये

---

१. काल स्पष्ट नहीं दिया गया है। २. मत्स्येन्द्र पदशतकम् अव० पृ० ग०।
३. मत्स्येन्द्र पदशतकम् अव पृ० ङ०।
४. म० प० श० पृ० १ श्लोक १, पृ० ७ श्लोक० १२।

भक्तों की विपत्तियों के भंजन करने वाले, सज्जनों के अनुरंजन करने वाले तथा भक्त-शत्रुओं के नाशक हैं।[1] ये ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं।[2] वसंत ऋतु में ये रथ-यात्रा करते हैं।[3] इनका पौराणिक सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहा गया है कि इन्होंने ही ज्ञान योग से श्रीकृष्ण को कृतार्थ किया था।[4] ये भक्तों के कल्याण के लिये अवतरित हुआ करते हैं।[5] एक दूसरे श्लोक में इन्हें हनुमान से भी सम्बद्ध किया गया है।[6] ये लीला से जगत का भार धारण करते हैं।[7] ये सदैव सहस्रार से निःसृत अमृतपान करने वाले लोकनाथ हैं।[8] आदित्य रूप होने के कारण इनके रथ में एक ही चक्र है।[9] ये वर्ष में एक बार लोक लीला के लिये नया शरीर धारण करते हैं।[10]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नेपाली क्षेत्र में मत्स्येन्द्र नाथ बाहर से आये। उनके आने के पश्चात् वृष्टि हुई, जिसके फलस्वरूप राज एवं लोक सम्मान उन्हें प्राप्त हुये। उनके आने के पूर्व अवलोकितेश्वर वहाँ के लोकप्रिय देवता थे, जिनके अवतार-रूप में मत्स्येन्द्रनाथ विख्यात हुये। संभवतः बौद्धों में रथ-यात्रा जैसे उत्सवों का प्रचार था, क्योंकि बुद्ध के परिवर्तित रूप पुरी जगन्नाथ के उत्सव में भी रथयात्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[11]

शिव के अवतार

नेपाल आने के पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ का विशेष सम्बन्ध शिव से सम्बद्ध शाखा विशेष कौलमत से प्रतीत होता है। शिव से ही सम्बद्ध नाथ सम्प्रदाय में भी मत्स्येन्द्रनाथ का स्थान आदि नाथ शिव के पश्चात् आता है। ये गोरख नाथ के मानव गुरु तथा नाथ सम्प्रदाय के सर्व प्रथम आचार्य के रूप में मान्य हैं।[12] कहा जाता है कि कार्तिकेय ने 'कुलागम शास्त्र' को उठा कर समुद्र में फेंक दिया था, उसी का उद्धार करने के लिये स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्य रूप धारण कर उस शास्त्र के भक्षक मत्स्य को मार कर उसका उद्धार किया; जिससे उनका नाम 'मत्स्यघन' पड़ गया।[13] इस अनुश्रुति से शिव के

---

१ म० म० श० पृ० २ श्लोक २। २. म० प० श० पृ० ३ श्लोक ४।

३. म० प० श पृ० ३१ श्लोक ५९।

४. म० प० श० पृ० ५ श्लोक ८ 'कृतार्थीकृतो बोधतो येन पार्थः।'

५. म० प० श० पृ० ६ श्लोक १०। ६. म० प० श० पृ० १५ श्लोक २७।

७. वही पृ० १६ श्लोक ३०। ८. म० प० श० पृ० १९।

९. वही पृ० ३२ श्लोक ६१। १०. म० प० श० पृ० ३० श्लोक ५७।

११. इंडिया थ्रू दी एजेज पृ० ३२-३३ में यदुनाथ सरकार ने 'दारु ब्रह्म' नाम की कविता के आधार पर जगन्नाथ और बुद्ध का संबंध सिद्ध किया है।

१२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ३८। १३. नाथ सम्प्रदाय पृ० ३६।

मत्स्येन्द्र रूप में अवतरित होने का अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'बुद्ध पुराण' में भी महादेव के मत्स्येन्द्र रूप धारण करने का उल्लेख मिलता है।[१] मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित कही जाने वाली रचना 'कौल ज्ञान निर्णय' में भैरव कहते हैं कि 'मैं ही त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमशः महाकौल, सिद्धकौल और मत्स्योदर के रूप में अवतरित होता हूँ'।[२] इसी आधार पर डा० बागची ने मत्स्येन्द्रनाथ के शिवावतार-रूप का धीरे-धीरे विकसित होना माना है,[३] जो युक्तिसंगत प्रतीत होता है। निष्कर्षतः मत्स्येन्द्र नाथ बौद्ध अवलोकितेश्वर और भैरव-शिव दोनों के अवतार विभिन्न स्थलों पर माने गये हैं। नेपाल जाने से पूर्व कौल मत से सम्बद्ध होने के कारण सर्वप्रथम इन्हें शिव का अवतार माना जा सकता है। कालान्तर में नेपाल में इन्हें लोकप्रिय बौद्ध देवता अवलोकितेश्वर का अवतार माना गया। इसके पश्चात् ये परवर्तीकाल में शिव और अवलोकितेश्वर दोनों के समन्वित रूप में भी गृहीत हुये, जैसा कि 'मत्स्येन्द्रपद शतकम्' से स्पष्ट है।

गोरखनाथ

अवतार, उपास्य और अवतारी

नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथों में गोरखनाथ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोरखनाथ नाथ योगियों की परम्परा में शिव के अवतार माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय में इनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के अवतार और उपास्य रूप का उल्लेख हो चुका है। परन्तु गोरखनाथ के सदृश मत्स्येन्द्रनाथ के विभिन्न अवतार ग्रहण करने का कहीं उल्लेख न होने के कारण प्रायः इनके अवतारी रूप का अभाव विदित होता है। गोरखपंथी योगियों में यह धारणा अधिक व्याप्त है कि गोरखनाथ ही भिन्न-भिन्न नाथों के रूप में समय-समय पर अवतरित होते हैं।[४] पर एक विचित्रता यह देखने में आती है कि पूर्व मध्य काल में बौद्धों से आच्छन्न गोरखों की भूमि नेपाल में गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तो अवलोकितेश्वर के अवतार हो गये, परन्तु वहाँ सर्वाधिक पूज्य एवं मान्य गोरखनाथ शिवावतार के रूप में ही पूजे जाते हैं। प्रत्युत इनका शिवावतार रूप बौद्ध वातावरण में भी अक्षत प्रतीत होता है। या यह भी सम्भव है कि मत्स्येन्द्रनाथ के काल में जो बौद्ध प्रभाव विद्यमान था, वह

---

१. नाथ सम्प्रदाय पृ० ४८। २. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ६१, १६, ४८।
३. कौल ज्ञा० निर्णय, रचनाकाल ११ वीं शती भू० पृ० २६।
४. नाथ सम्प्रदाय पृ० २५।

गोरखनाथ के प्रसिद्ध होते होते कुछ गौण हो गया हो। इतना अवश्य है है कि एक गोरखनाथ वज्रयानी सिद्धों में गोरक्षपा नाम से गृहीत बौद्धों में पूज्य हैं, और दूसरी ओर गोरखपंथी भी नाथों के साथ ८४ सिद्धों की पूजा करते हैं।[1] फिर भी नेपाल में गोरखनाथ अवलोकितेश्वर की अपेक्षा पशुपतिनाथ जी के अवतार हैं,[2] तथा नेपाल के बाहर श्रीनगर, गढ़वाल आदि क्षेत्रों में ये शिव के अवतार रूप में ही मान्य हैं।[3] शिव सम्प्रदाय से सम्बद्ध लाकुलीश सम्प्रदाय की रावल शाखा में भी गोरखनाथ लाकुलीश के अवतार कहे जाते हैं।[4] स्वयं लाकुलीश पुराणों के अनुसार शिव के प्रथम अवतार हैं।

प्रयोजन

गोरखनाथ के योगी होने के कारण, योग-साधना एवं इसका प्रचार उनके अवतार का प्रयोजन माना गया। 'सिद्धसिद्धांतपद्धति' में शिवजी कहते हैं कि 'मैं ही गोरखनाथ हूँ। लोगों के कल्याण एवं योग के प्रचार के निमित्त गोरक्ष रूप में स्वयं अवतरित होता हूँ'।[5] उनका यह अवतार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि, चारों युगों, में होता है।[6] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में 'गोरक्ष' शब्द की व्याख्या से भी अवतारोचित प्रयोजनों का पता चलता है। इनकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति सभी धर्मों के संस्थापक, सज्जनों, साधुओं, गो, ब्राह्मण प्रभृति की रक्षा करने वाले, आत्मस्वरूप का बोध कराने वाले तथा संसार सागर से मुक्त कर मोक्ष देने वाले को गोरक्ष कहते हैं।[7]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि गोरखनाथ योग मार्ग के आदि प्रवर्तक शिव के अवतार कहे जाते थे। इनके इस अवतारीकरण से अवतारवाद की एक विशेष प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। सामान्य रूप से पूर्व मध्यकालीन सम्प्रदायों की यह विशेषता रही है कि अवतारवादी या अवतारविरोधी सभी सम्प्रदायों के प्रवर्तक अपने सम्प्रदायों में अवतार रूप में मान्य होते थे। उनके इस आविर्भाव का प्रयोजन स्वयं उनका साम्प्रदायिक कार्य ही होता

---

१. ब्रिग्स पृ० १३६। २. हिन्दुत्व पृ० ७०७।

३. ब्रिग्स पृ० ७९। ४. नाथ सम्प्रदाय पृ० १५९-१६०।

५. अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम्॥ सि० सि० प० पूर्णनाथ जी० पृ० १३।

६. चारों युगों में योगीराज पृ० ४२-४३, में लेखक ने 'शिव पुराण' तथा 'कल्पद्रुम तंत्र' के उद्धरणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

७. स्थापयित्वा च यो धर्मान् सज्जनानभिरक्षति।
स्वात्मस्वरूप बोधेन गोरक्षोऽसौ निगद्यते॥ सि० सि० प० पूर्णनाथ पृ० १५।

था। इस धारणा के अनुसार गोरखनाथ के भी अवतार माने जाने पर इनका अवतार-प्रयोजन योग मार्ग का प्रवर्तन करना रहा है।

उपास्य एवं अवतारी

अवतारवाद के उत्तरोत्तर विकास की एक परम्परा, साहित्य और सम्प्रदाय दोनों के समन्वित रूप में इस प्रकार देखने में आती है कि यदि कोई महापुरुष किसी देवता का अवतार माना गया तो सम्प्रदाय में गृहीत होते ही वह प्रायः इष्टदेव या उपास्य रूप में प्रचलित हो जाता है। फलतः अब वह अवतारमात्र होने के बदले स्वयं अंशी या अवतारी हो जाता है। तत् सम्प्रदायों में उसके प्रति रचित सर्वोत्कर्षवादी स्तोत्रों में उसके विराट रूप, सर्वात्मवादी रूप तथा निर्गुण और सगुण रूपों के वर्णन किये जाते हैं।

गोरखनाथ का अवतारवादी विकास भी इसी परम्परा में दृष्टिगत होता है। कालान्तर में गोरखनाथ अब केवल अवतार ही नहीं रहे अपितु युग-युग में अवतार धारण करने वाले अवतारी हो गये। और नौ नाथ भी गोरखनाथ के ही अवतार माने गये।[1] विष्णु के सदृश उन्हें भी समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष षड्गुणों से युक्त माना गया।[2] विचित्रता तो यह है कि सिद्धों ने षड्गुणों का खंडन करते हुए कहा है—'के ते षट् पदार्था अमी ?' पुनः, उत्तर देते हैं—'षट् पदार्था यत्र भवन्ति स भगवान्' और अंत में प्रत्येक गुण के खंडन के पश्चात् सिद्ध किया है कि षड्गुणों से युक्त तो नाथ हैं।[3]

गोरखनाथ उपास्य रूपों में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव से भी ऊपर उठ गये तथा ये तीनों त्रिदेव इनके प्रथम शिष्य के रूप में विख्यात हुए।[4] इस सम्प्रदाय में यह भी माना जाता है कि गोरखनाथ इस पृथ्वी पर सदैव विद्यमान रहते हैं। श्री ब्रिग्स के अनुसार ये सत्ययुग में पेशावर में, त्रेता में

---

१. गोरखनाथ ऐण्ड मेडिवल मिस्टीसिज्म पृ० २ में डा० मोहन सिंह ने 'कौल-ज्ञान निर्णय' और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' के आधार पर कहा है—'एकारडिङ्ग टू देम दी नाइन नाथ्ज आर दी इनकारनेशन आफ गोरखनाथ स्टैंडिङ्ग फार शिवा हिमसेल्फ'।

२. चारों युगों में योगीराज पृ० १९ में उद्धृत निम्न श्लोक में ज्ञान के स्थान में मोक्ष को ग्रहण किया गया है। "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीर्गना" प्रयोग हुआ है। सुश्री कल्याणी मल्लिक ने 'नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधन प्रणाली' पृ० २५४ में इस सम्प्रदाय में गृहीत ६ गुणों में मोक्ष के स्थान में ज्ञान को माना है सि० सि० स० पृ० ६९ में भी ज्ञान, गृहीत हुआ है।

३. गोरक्ष सि० स० पृ० गोपीनाथ कविराज, पृ० ६९। ४. ब्रिग्स पृ० २२८।

गोरखपुर में, द्वापर में हरमुंज में तथा कलियुग में गोरखमंडी (काठियावाड़) में निवास करते हैं।[1]

'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में संकलित, राजगुह्य श्रीकृष्ण कृत 'गोरक्षनाथ स्तोत्र' में गोरखनाथ का चरमोत्कर्ष लक्षित होता है। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि स्वयं श्रीकृष्ण ने गोरक्षनाथ के इस स्तोत्र का निर्माण किया।[2] उस स्तुति में इन्हें तीनों लोकों का स्रष्टा, ब्रह्म, रुद्र आदि का शिरोमणि कहा गया है।[3] उक्त पुस्तक में संगृहीत 'कल्पद्रुम तंत्र' के 'गोरक्ष सहस्त्रनाम' नाम के स्तोत्र में पांचरात्र उपास्य के सदृश गोरखनाथ को निर्गुण और सगुण युक्त ब्रह्म के रूपों और उपाधियों से अभिहित किया गया है।[4]

'गोरखबानी' में गोरखनाथ के उक्त रूपों का दर्शन नहीं होता। अधिक से अधिक यहाँ केवल गोरख और विष्णु में संघर्ष दिखाया गया है, जिसमें अन्ततोगत्वा सिंगी बजाकर गोरखनाथ अपनी जीत की ओर इंगित करते हैं।

अतः अवतारवादी सम्प्रदायों से पृथक् होने पर भी गोरखनाथ के साम्प्रदायिक रूप में उन सभी अवतारवादी प्रवृत्तियों का समावेश दीख पड़ता है, जो अवतारवाद की अपनी देन हैं। गोरखनाथ का यह विकास भी प्रारम्भ में अवतार रूप में तथा कालान्तर में उपास्य एवं अवतारी रूप में होता रहा है। इनके अवतार का प्रयोजन भी अपने सम्प्रदाय के अनुरूप योग मार्ग का प्रदर्शन करना रहा है।

नौ नाथ

नौ नाथ, नाथ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तकों में प्रसिद्ध हैं, किन्तु आज तक इनकी किसी सर्वसम्मत परम्परा का पता नहीं चल सका है। नाथ साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध और जैन साहित्य से भी इनके सम्बन्ध दृष्टिगत होते हैं। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में कहा गया है कि महादेव जी ने नारद जी को नौ नारायणों के पास भेजा। ये नौ नारायण (१) कवि, (२) करभंजन, (३) अंतरिक्ष, (४) प्रबुद्ध, (५) अविहोत्र, (६) पिप्पलायन, (७) चमस, (८) हरि

---

१. ब्रिग्स २२८।

२. श्रीगोरक्षस्येन्द स्वयं कृष्णेन निर्मितम्। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृ० ४२।

३. त्रैलोक्यं निर्मितं येन श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते।
ब्रह्मणां च परं ब्रह्म रुद्रादीनां शिरोमणिः॥ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृ० ४२।

४. निरंजनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम्। त्रिमूर्तिश्च त्रिलोकीश्च विधि विष्णु महेश्वरम्॥
विश्व रूपं सदाकारं गोरक्षनाथ दैवतम्॥ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृ० ४३।

और (९) द्रुमिल ऋषभ राजा के पुत्र थे।[१] नारदजी ने बदरिकाश्रम में इन्हें योग मार्ग का प्रचार करने के लिये कहा।[२] अतः प्राणियों के कल्याण एवं मुमुक्षुजन के हित के लिये विष्णु का परामर्श लेकर तथा महादेवजी की आज्ञा से ये भारतवर्ष में अवतरित हुए।[3] कवि मत्स्येन्द्र, करभंजन गहनिनाथ, अंतरिक्ष ज्वालेन्द्र, प्रबुद्ध करणिपानाथ, पिप्पलायन चर्पटनाथ, चमस देवानाथ, द्रुमिलगोपीचंदनाथ तथा अविहोत्रनागनाथ के रूप में अवतरित हुए।[४] इन आठ नाथों के साथ आदिनाथ महादेव का नाम जोड़ने से संख्या नौ होगी और गोरक्षनाथ दसवें नाथ हुए।[५]

जहाँ तक जैनों में मान्य नौ नारायणों से इनके सम्बन्ध का प्रश्न है, उपर्युक्त नारायण जैनों में मान्य नौ नारायणों से भिन्न प्रतीत होते हैं। क्योंकि जैन धर्म में जिन नौ नारायणों का नाम प्रचलित है, उनमें से किसी का भी नाम उपर्युक्त नौ नारायणों से नहीं मिलता। 'तिलोय पण्णत्ति' के अनुसार (१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयम्भू, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुषसिंह, (६) पुंडरीक, (७) दत्त, (८) नारायण और (९) कृष्ण ये नौ विष्णु नारायण माने गये हैं।[६]

'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में इन्हें ऋषभ राजा का पुत्र कहा गया है।[७] 'भागवत' के अनुसार ऋषभ के सौ पुत्रों में उपर्युक्त नौ पुत्रों का नाम भी आया है।[९] ये भागवत धर्म के प्रचारक महाभागवत कहे गये हैं।[८] पुनः एकादश अध्याय के 'वासुदेव-नारद-संवाद' में कहा गया है कि ये आत्मविद्या विशारद श्रमण होकर दिगम्बर वेष में रहा करते हैं।[१०] इससे इनके जैन रूप का आभास मिलता है।

अतः उक्त तथ्यों से इनके नारायण एवं योगी दोनों रूपों का स्पष्टीकरण तो हो जाता है, परन्तु जहाँ तक इनका अवतारवादी सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय के नौ नाथों से स्थापित किया गया है, वह पूर्णतः पौराणिक तत्त्वों। (मीथिक एलिमेंट्स) के आधार पर हुआ है क्योंकि इस प्रकार का वैष्णव, जैन और शैव

---

१. योगीसम्प्रदायाविष्कृति पृ० १२। २. योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृ० १३-१४

३. वही पृ० १४। ४- वही पृ० १००।

५. नाथ सम्प्रदाय पृ० २५।

६. तिलोय पण्णत्ति पृ० २०७, ४, ५१८।

तइय तिपिट्ठ दुविट्ठा संयमु पुरिसुतो पुरिससीहो,

पुंडरिय दत्तनारायण य हुवन्ति णव विण्हु।

७. योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृ० १२। ८. भा० ५, ४, ११, और ११, २, २१।

९. भा० ४, १२। १०. भा० ५, ४, १२।

समन्वय पौराणिक तत्वों (मीथिक एलिमेंट्स) से सम्पृक्त अवतारवाद के ही आधार पर संभव है।

उपर्युक्त नौ नाथों का यह अवतारवादी सम्बन्ध साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य से पूरित है। 'योगीसम्प्रदायाविष्कृति' के अनुसार उनकी विशेषता यह है कि ये आपस में ही एक दूसरे से दीक्षा लेते हैं[1] और कुछ काल के अनन्तर यत्रतत्र अवतार लेने का निश्चय करते हैं।[2]

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में संगृहीत 'षोडश नित्यातंत्र' के उद्धरणों के अनुसार शिव को ही नौ नाथों का रूप कहा गया है।[3] जिसके आधार पर शिव के नौ नाथों के रूप में अवतरित होने की संभावना की जा सकती है।

आदिशिव से उद्भूत सृष्टि अवतार क्रम में भी नौ नाथों का अवतार नाथ पंथी पद्धति के रूप में लक्षित होता है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' के अनुसार आदि शिव से दो प्रकार की सृष्टि हुई एक नाद रूपा और दूसरी विन्दुरूपा।[4] नाद क्रम में नव नाथों की उत्पत्ति बतलाई गई है जो बाद में १२ तथा अन्त में ८४ सिद्धों तक पहुँच गई।

इस प्रकार मत्स्येन्द्र और गोरखनाथ के सदृश नौ नाथ भी पौराणिक रूप में अवतारवाद से संयोजित हुए और कालान्तर में नाथ सम्प्रदाय में इनके उपास्य रूप का प्रचार हुआ। क्योंकि नाथ भी मुक्तिदाता माने गये।[5] परन्तु इन नाथों का जिस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा है, वह मूल रूप में शैव विदित होता है। इसीसे इनका अवतारवादी सम्बन्ध भी शिव से स्थापित किया गया। फिर भी यहाँ यह देखना आवश्यक जान पड़ता है कि जिस शिव से नाथ पंथ का सम्बन्ध है, उनके उद्भव एवं विकास में उपास्यवादी अवतारवाद के तत्त्व किस रूप में विद्यमान हैं? यदि शिव की भी कोई

---

१. योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृ० १४।

२. योगिसम्प्रदायाविष्कृति पृ० १५।

नमस्ते भगवान शिवाय गुरुरूपिणे।

— — — —

नवाय नव रूपाय परमार्थैकरूपिणे।

३. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० ४५।

विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह।

सर्वज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते॥

४. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, कविराज सं० पृ० ७२।

५. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, कविराज सं० पृ० ७० नाथो मुक्तिं ददाति, तथा पृ० ४४ में उद्धृत 'तंत्र महार्णव' के उद्धरणों में दसों दिग्पालों के सदृश नव नाथों को भी नौ दिशाओं में स्थित बतलाया गया है।

अवतार-परम्परा है, तो उसमें गोरखनाथ प्रभृति नौ नाथ गृहीत हुए हैं या नहीं।

शिव और उनके अवतार

भारतीय देवतावाद में विष्णु के पश्चात् या समकक्ष शिव का स्थान आता है। विष्णु और वैष्णवों के सदृश शिव और शैव भी प्राचीन पौराणिक साहित्य में व्याप्त हैं। ऋ० सं० में रुद्र का भयंकर रूप दृष्टिगत होता है। जहाँ वे पर्वतवासी पशु चर्म पहनने वाले नीलकंठ धनुर्धारी के रूप में वर्णित हुए हैं।[१] इसका विकास 'यजुर्वेद' १६वें अध्याय के 'शतरुद्रीय' में लक्षित होता है। किन्तु 'यजुर्वेद' में ही, पुराणों तथा मध्यकालीन साहित्य में प्रचलित नाम शिव, शम्भु, शंकर आदि मिलने लगते हैं।[२] इनसे लिंग पूजा के रूप में सम्बन्धित, शिश्नदेव को फर्कुहर ने आदि वासियों से उत्पन्न माना है तथा इनके मतानुसार ये प्रचलित हिन्दू धर्म में दूसरी शती के लगभग गृहीत हुए हैं।[३] भारतीय इतिहासकारों के अनुसार शिव और उमा द्रविड़ देवता हैं।[४] जो कालान्तर में आर्यदेवों में माने गये। परिवर्द्धित 'रामायण' और 'महाभारत' में भी शिव का उल्लेख हुआ है। 'रामायण' में गंगा और उमा से शिव का संबंध स्थापित किया गया है।[५] 'महाभारत' में कतिपय प्रासंगिक उल्लेखों के अतिरिक्त अर्जुन की परीक्षा लेने के लिये शिव किरात का रूप धारण करते हैं।[६] इसके अतिरिक्त 'महाभारत' के पात्रों में यम, काम और क्रोध के साथ अश्वत्थामा में महादेव का भी अंश बतलाया गया है।[७]

इससे स्पष्ट है कि शिव प्राचीन काल से ही उपास्य के रूप में भारतीय वाङ्मय में प्रचलित रहे हैं। ये अवसर के अनुरूप रूप परिवर्तित करते हुए दिखाई पड़ते हैं तथा ऐतिहासिक पुरुषों में इनके अंशाविर्भाव की भी कल्पना होती रही है।

उक्त रूपों के अतिरिक्त शिव के अवतारवादी रूप का विकास पूर्णतः पौराणिक है। क्योंकि 'महाभारत' में शिव के जिन आविर्भावों की चर्चा हुई है, वे पुराणों से अधिक प्राचीन नहीं हैं।

सर्वप्रथम प्रायः शैवमत प्रधान 'शिव', 'वायु', 'लिंग', 'कूर्म' आदि पुराणों में शिव के अवतारों का उल्लेख हुआ है। 'वायु पुराण' में शिव के अवतारों की

---

१. दी इवोल्युशन आफ ऋग्वेदिक पेंथियन, पृ० १७६। २. यजु० वे० १६, ४१।
३. फर्कुहर, आउटलाइन आफ रेलिजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृ० १०२ पारा ११०।
४. दी वैदिक एज पृ० १६२। ५. वा० रा० १, ३५–३६।
६. महा० ३, ३९, १–२। ७. महा० १, ६७, ७२–७३।

सूची मिलती है। फर्कुहर के अनुसार वही सूची 'लिंग' और 'कूर्म' पुराण में भी देखने में आती है।[1] यों तो शैवों में प्रचलित अनेक सम्प्रदाय शिव के कोई अवतार ही नहीं मानते।[2] केवल पाशुपत मत में शिव के अनेक अवतार मान्य हैं। इस मत के संस्थापक लकुलीश या नकुलीश, 'वायु पुराण', अ० २३ और 'लिंग पुराण' अ० २४ के अनुसार एक ओर तो वासुदेव के अवतार बतलाये गये हैं[3] और दूसरी ओर एकलिंग जी के मंदिर के निकट नाथों के मंदिर में विद्यमान वि० सं० १०२८ के एक शिलालेख तथा वि० सं० १३३१ (१२६४ ई०) के लगभग की 'शिंत्र प्रशस्ति' के अनुसार लाकुलीश[4] शिव के अवतार माने गये हैं।[5]

इस प्रकार शैव सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास में शिव के अवतारवादी रूपों का दर्शन होता है। विशेषकर लाकुलीश सम्प्रदाय के अनुयायी विष्णु के सदृश भिन्न-भिन्न युगों में हुए शिव के १८ या २८ अवतार मानते हैं।[6] अभिलेखों के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र, माध्व और राजशेखर सूरि की कृतियों में भी शिव के अवतारों का पता चलता है। हरिभद्रसूरि और राजशेखर दोनों ने शिव के १८ अवतारों का और विशुद्ध मुनि ने इनके २८ अवतारों का उल्लेख किया है।[7] 'शिंत्र प्रशस्ति' में इनमें से लाकुलीश, कौशिक, गार्गेय, कौरुष और मैत्रेय इन पाँच के नाम मिलते हैं। अन्य १३ अवतारों में दर्शन, पारगार्गेय, कपिलांद, मनुष्यक, कुशिक, अत्रि, पिंगल, पुष्पक, बृहदार्य, आस्ति, संतान, राशिकर और विद्यागुरु ये नाम मिलते हैं। ये २८ अवतारों के उल्लेख कर्त्ता विशुद्ध मुनि द्वारा उल्लिखित अवतारों से भिन्न हैं।[8]

उक्त उल्लेखों से शिव की अवतार परम्पराओं का तो स्पष्टीकरण होता है, परन्तु यह पता नहीं चलता कि नाथों या योगियों से इनका कहाँ तक अवतारवादी सम्बन्ध रहा है। इस दृष्टि से 'लिंग पुराण' में शिव को योगाचार्य सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि कलि में शिवजी योग के प्रचार के

---

१. फर्कुहर पृ० १९२। २. ज० बी० री० सो० जी० ३९, १९५३ पृ० १।
३. कौ० व० भंडारकर जी० ४, पृ० १६५।
४. ज० बी० री० सो० जी० ३९ पृ० २।
यहाँ लाकुलीश का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है।
५. कौ० व० भंडारकर जी० ४ पृ० १६५–१६६।
६. ज० बी० री० सो० जी० ३९ पृ० १–२।
७. ज० बी० री० सो० जी० ३९ पृ० १–२।
८. ज० बी० री० सो० जी ३९ पृ० १–२।

पुरुषों से चलने वाली परम्पराओं का अधिक प्रचलन है। नाथसम्प्रदाय में शिव भी इष्टदेव के रूप में आदि नाथ से सम्बद्ध होने पर आदि गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। संभवतः इसी आधार पर शिव की नाथों से सन्निविष्ट अवतार-परम्परा का भी प्रचार हुआ।

'कौल ज्ञान निर्णय' में भैरव अपने उपास्य एवं अवतारी रूप का परिचय देते हुये स्वयं अपने को परमतत्त्व, भैरव, सदाशिव, ईश, श्रीकंठ और रुद्र कहते हैं।[1] वे ही धीवर, वीरेश्वर, अनन्त, विश्व संहारक,[2] स्रष्टा और पालक हैं।[3] इनके विश्वपाद से अखिल विश्व उत्पन्न होता है।[4] वे अपनी इच्छापूर्वक श्वेत पाद से क्रीड़ा। (विष्णु के लीलावतार के सदृश) का आयोजन करते हैं और समाप्त करते हैं।[5]

उनके कथनानुसार उनके शिव भैरव के साथ-साथ शक्ति का भी अवतार होता है।[6] उन्होंने ही मत्स्य रूप धारण कर 'कौलागम शास्त्र' का उद्धार किया था।[7] ये चारों युगों में स्वयं महाकौल के रूप में तथा महाकौल से सिद्धकौल और सिद्धकौल से मसादर (मत्स्योदर) के रूप में अवतरित होते हैं।[8]

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में शिव को गुरु स्वयं कह कर नमस्कार किया गया है और कहा गया है कि विद्या के प्रकाश के निमित्त उसी ने नाना रूप धारण किया। साथ ही यह भी कहा गया है कि आप यों तो नौ रूप हैं परन्तु वास्तव में आपका रूप एक ही है।[9]

'शिव संहिता' में इन्हें सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है।[10] 'गो सि० सं०' के मत से ये शिव विष्णु के सदृश पालन का कार्य करते हैं।[11] शरीर से युक्त होने पर आत्मा जीव कहा जाता है, वही मुक्त होकर शिव हो जाता है।[12]

---

१. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, ५९, १६, ११।
२. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, १६, १२-१३।
३. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, १६, १४। ४. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, १६, १५।
५. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, १६, १६
स्वेच्छया क्रीड़ितोऽहं च करोमि विकरोमि च।
श्वेतपादस्त्वहं देवि श्वेतपादेति गीयते॥
६. वही पृ० ५८-५९, १६, २१। ७. वही पृ० ५९, १६, २५-२६।
८. वही पृ० ६१, १६, ४७-४८। ९. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ स० पृ० ६०।
१०. शिव संहिता पृ० ५ अ० ९, ५४।
११. 'अस्माकं मते शक्तिः सृष्टिं करोति शिव : पालन करोति कालः संहरति नाथो मुक्तिं ददाति', गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, कविराज सं० पृ० ७०।
१२. कौल ज्ञान निर्णय पृ० १५, ६, ७।

शिव के विग्रह रूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उनका रसात्मक विग्रह स्वतंत्र एवं मायाशक्ति से युक्त है। ये भक्तों के अधीन हैं तथा परम मनोहर रूप धारण करने वाले हैं। इस प्रकार शिव भी इस युग में विष्णु एवं उनके अवतारों के समान अवतारी और उपास्य रूप में गृहीत हुये हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से इतना तो पता चलता है कि विष्णु के सदृश शिव का भी उनसे सम्बद्ध सम्प्रदायों में विविध अवतार-परम्पराओं का प्रसार हुआ। उन अवतार-परम्पराओं में शिव का अवतार-हेतु भी गोरखनाथ के सदृश योग-मार्ग का प्रवर्तन करना ही रहा है। परन्तु नाथ पंथ या नौ नाथों में प्रसिद्ध किसी भी नाथ का नाम उन परम्पराओं में नहीं मिलता है। केवल जनश्रुतियों के आधार पर लाकुलीश का सम्बन्ध नाथ पंथ की रावल शाखा से विदित होता है। इससे स्पष्ट है कि नाथ पंथ का अवतारवादी सम्बन्ध शिव की पौराणिक अवतार-परम्परा से नहीं था। नाथपंथ में तत्कालीन अवतारवादी प्रवृत्तियों के प्रभावानुरूप स्वतंत्र रूप से अवतारवादी तत्त्वों का समावेश हुआ तथा योग साधना सम्बन्धी साम्य होने के कारण नाथपंथी अवतार-परम्परा में शिव भी समाविष्ट किये गये।

शक्ति में अवतारत्व

नाथ साहित्य में परमशिव या शुद्ध शिव को सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था में कर्तृत्व शक्ति से परे कहा गया है।[1] सृष्टि की इच्छा होने पर वह अपने को शक्ति से युक्त करता है। डा० द्विवेदी ने परम शिव को ही इच्छा युक्त होने के कारण सगुण शिव कहा है तथा उनकी सृष्टि करने की शक्ति ही इच्छा शक्ति है।[2] 'शिव संहिता' के अनुसार पुरुष ने स्वयं सृष्टि एवं प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की। उसकी इच्छा को यहाँ अविद्या कहा गया है।[3] अतएव शुद्ध ब्रह्म अविद्या से युक्त होने पर आकाश रूप में आविर्भूत होता है, जिससे क्रमशः वायु, अग्नि, आदि पंचतत्त्व प्रकट होते हैं और सृष्टि का विकास होता है।[4]

इसी से नाथ सम्प्रदाय में विद्वानों ने शैव और शाक्त दोनों तत्त्वों का

---

१. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० ६०।

२. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पृ० ३० तथा नाथ सम्प्रदाय पृ० १०३ में डा० द्विवेदी ने सिद्ध सिद्धान्त संग्रह १, ४, का भी इससे मिलता जुलता श्लोक उद्धृत किया है।

३. नाथ सम्प्रदाय पृ० १०३।

४. शिव संहिता पृ० १२, १, ७२–७५।

समावेश माना है। गोरखनाथ ने यदि इस मत को शैव तत्त्वों से युक्त किया,[1] तो मत्स्येन्द्रनाथ ने शाक्त तत्त्वों से।[2]

'शिव संहिता' में विक्षेप और आवरण दो प्रकार की शक्तियों से युक्त माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है।[3] यही माया आवरण शक्ति द्वारा ब्रह्म को छिपाये रखती है और विक्षेप शक्ति द्वारा ब्रह्म को विश्व रूप में प्रगट करती है।[4] भागवत में मान्य ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आदि गुणावतारों के इसी त्रिगुणात्मिका माया से संयुक्त होने के कारण 'गोरखबानी' में उन्हें माया द्वारा छला गया बताया गया है।[5]

इस माया में जब तमोगुण का आधिक्य होता है, तो वह दुर्गा रूप में आविर्भूत होती है और ईश्वर, महादेव द्वारा शासित होती है।[6] सत्वगुण के आधिक्य होने पर यही लक्ष्मी रूप में प्रकट होती हैं और विष्णु रूप चैतन्य द्वारा शासित होती हैं।[7] रजोगुण के आधिक्य से सरस्वती रूप में प्रकट होती हैं तथा ब्रह्मा द्वारा शासित होती हैं।[8]

यहाँ माया और शिव के समावेश से एक प्रकार के गुणात्मक अवतारवाद का ही परिचय दिया गया है।

कौल साहित्य में शिव को अकुल और शक्ति को कुल कहा गया है[9] तथा 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में शिव और शक्ति का स्फुरण पांच रूपों में माना गया है। फलतः पांचों शिव पांच प्रकार की शक्तियों से युक्त रहते हैं। अपर शिव निजा शक्ति से, परम शिव परा शक्ति से, शून्य अपरा शक्ति से, निरंजन सूक्ष्मा शक्ति से और परमात्म कुण्डलिनी शक्ति से युक्त रहते हैं। शिव के साथ इन पांचों शक्तियों का भी आविर्भाव माना गया है।[10]

यों तो इन पांचों शक्तियों के पांच कार्य बतलाये गये हैं। परन्तु इनमें निजा शक्ति का सम्बन्ध उस अपरशिव की इच्छा या संकल्प से प्रतीत होता

---

१. पाटल संत साहित्य अंक, १९५५ अंक ४ पृ० ९२।
२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६१।
३. शिव संहिता पृ० १४, १, ८२।
४. शिव संहिसा पृ० १४, १, ८३।
५. गोरखबानी पृ० 'न्यान्द्रा कहै मैं अलिया बलिया ब्रह्मा बिस्न महादेव छलिया।'
६. शिव संहिता पृ० १४, १, ८४।
७. शिव संहिता पृ० १४, १, ८५।
८. शिव संहिता पृ० १४, १, ८६।
९. अकुलं शिव इत्युक्तः कुलं शक्तिः प्रकीर्त्तिता। कौल ज्ञान निर्णय भूमिका पृ० ४०।
१०. नाथ सम्प्रदाय पृ० १०४ और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पूर्णनाथ सं०, पृ० ३३-३७।

है,[१] जो गीता[२] और भागवत[३] में प्रतिपादित ईश्वर के सदृश एक बार विश्व रूप में और फिर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अवतार रूप में प्रकट हुआ करता है। कहा जाता है कि शक्ति समस्त लोक के कल्याणार्थ, इच्छा मात्र धर्म को धारण करने वाली नाथ की चित्स्वरूपा निजा शक्ति है। इस निजा शक्ति का धर्म इच्छा है। उसी को परमेश्वर का सत्य संकल्प भी कहा जा सकता है। इसका दूसरा नाम निग्रहानुग्रह शक्ति भी है। प्राणियों को भोग प्रदान करने का कार्य निग्रह शक्ति करती है और मोक्ष देने का कार्य अनुग्रह शक्ति का है।[४] अतः निग्रह और अनुग्रह से युक्त होने के नाते इस शक्ति के निग्रह रूप में सृष्टि कार्य और अनुग्रह रूप में अवतार कार्य भी परिलक्षित होता है।

वैष्णव अवतारों से सम्बन्ध

कतिपय शाक्त तंत्रों में प्रचलित विभिन्न शक्तियों का विष्णु के अवतारों से अनोखा सामंजस्य स्थापित किया गया है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में 'शक्ति संगम तंत्र' आठवें पटल से उद्धृत अंश में कहा गया है कि किसी समय आद्या सुन्दरी ललिता देवी ने लोगों को मोहने के लिये अत्यन्त सुन्दर पुरुष रूप धारण किया था।[५] आद्या शक्ति श्री काली रूप पार्वती रामावतार में तारा रूप धारण करती हैं।[६] वाममार्गियों में प्रचलित है कि शिव की शक्ति उमा ने दक्ष यज्ञ के पूर्व सती रूप में शिव के सामने अपने को दस प्रसिद्ध रूपों में प्रकट किया था। ये ही दस रूप काली, बगला, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, मातंगी, षोडशी, धूमावती, त्रिपुरसुंदरी; तारा और भैरवी दस महाविद्याओं के रूप में

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पृ० ३३–३७। प्रथमोपदेश ५।

२. गीता में ९, ८ तथा गी० ४, ६ और गी० ७, २५ श्री शंकर ने गी० ७, २५ की व्याख्या में योगमाया–समावृत रूप को भक्तों के निमित्त माना है, जो 'स्वं मद्-भक्तानां प्रकाशः अहम् इति अभिप्रायः' से स्पष्ट है।

३. भा० ३, ९, १–२ माया द्वारा प्रादुर्भूत आदि रूप को शतशः अवतारों का बीज कहा गया है। जो भा० २, ५, १८ के अनुसार व्यक्त होने वाला रूप मायिक या त्रिगुणात्मक है।

४. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पूर्णनाथ सं० पृ० ३७।

५. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह कविराज सं० पृ० ४७–४८ पूर्णनाथ सं० पृ० १६२।

६. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह कविराज सं० पृ० ४७–४८।
कदाचिदाद्या श्रीकाली सैव तारास्ति पार्वती।
कदाचित्ताद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा॥

मान्य हैं।[1] 'मुंडमाला तंत्र' में इन्हीं महाविद्याओं का विलक्षण सम्बन्ध दशावतारों के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ काली कृष्ण-रूप में, तारिणी राम-रूप में, बगलामुखी कूर्म-रूप में, धूमावती मत्स्यरूप में, छिन्नमस्ता नृसिंह-रूप में, भैरवी वराह-रूप में, सुन्दरी परशुराम-रूप में, भुवनेश्वरी वामन-रूप में, कमला बुद्ध-रूप में और मातंगी कल्कि-रूप में अवतरित मानी[2] गयी हैं। इसके अतिरिक्त 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में राम शब्द के साथ शक्ति और शिव का अनोखा सामंजस्य स्थापित किया गया है। इस श्लोक के अनुसार 'रा' शक्ति है और 'म' शिव है। इस प्रकार शक्तिसहित शिवरूप राम ही ब्रह्म कहा जाता है।[3] 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में ही पुनः 'पद्म पुराण' पाताल खंड के अनुसार शक्ति ही ललिता देवी या राधा देवी कही गई हैं, जो पुरुष रूप में कृष्णस्वरूप धारण करती हैं।[4]

इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय में सन्निविष्ट शाक्तों में शक्ति के अवतारत्व के साथ-साथ तत्कालीन युग में प्रचलित वैष्णव अवतारों के साथ विचित्र समन्वय लक्षित होता है।

इन कथनों के अनुसार शक्ति का अवतारपरक सम्बन्ध दो प्रकार का लक्षित होता है। प्रथम तो शक्ति का वह दार्शनिक रूप जिसका सम्बन्ध आदि शिव से है, सृष्टि अवतार की सांख्यवादी परम्परा के आधार पर अभिव्यक्त हुआ है और दूसरे प्रकार के अवतारवादी तत्त्वों का सम्बन्ध साम्प्रदायिक रूढ़िवादी पद्धतियों से रहा है, जिनमें साम्प्रदायिक समन्वय की मनोवृत्ति जान पड़ती है।

सृष्टि अवतार क्रम

'भागवत' में सृष्टि विकास-क्रम को भी सृष्टि अवतारक्रम के रूप में माना गया है। 'भागवत' के अनुसार जो ईश्वर का अभिव्यक्त रूप है, वही गेय है।[5]

---

१. वाममार्ग पृ० १६।

२. हिन्दी विश्वकोश सं० नगेन्द्रनाथ वसु, भाग २, पृ० २७९ में मुण्डमाला तंत्र से संगृहीत।

३. रा शक्तिरिति विख्याता म शिवः परिकीर्तितः।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म राम रामेति गीयते॥
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० १६२ गोपीनाथ कविराज सं० पृ० ४७-४८।

४. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० १६३।

५. यस्यावतार कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः। न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥ भा० २, ६, ३७।

वह आदि पुरुष ही कल्प-कल्प में सृष्टि, पालन और संहार किया करता है।[१] उसी पुरुष को भागवत में 'आद्यावतार' कहा गया है।[२]

नाथ साहित्य में भी जिस सृष्टि क्रम का उल्लेख हुआ है, वह एक प्रकार से सृष्टि अवतार क्रम प्रतीत होता है।

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' के अनुसार संभवतः उपास्य-तत्त्व-युक्त होने के कारण अद्वैत के ऊपर निराकार और साकार तथा इनसे भी परे नाथ माने गये हैं।[३] पुनः उनसे निराकार ज्योति-स्वरूप नाथ प्रकट हुए, उनसे साकार नाथ उत्पन्न हुए तथा उनकी इच्छा से सदाशिव भैरव हुए। उनसे भैरवी शक्ति और शक्ति से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सारी सृष्टि हुई।[४] इस सृष्टि-क्रम के अतिरिक्त नाथजी से नाद और विंदु दो प्रकार की सृष्टि मानी गई है।[५] नाद क्रम ही संभवतः शब्द क्रम में रूपान्तरित हुआ प्रतीत होता है। शब्द क्रम के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप होते हैं। सूक्ष्म सृष्टि के अन्तर्गत महागायत्री और योगशास्त्र आते हैं तथा इसी योगशास्त्र से तंत्रशास्त्र का उद्भव हुआ है।[६] तत्पश्चात् इस योगशास्त्र से पातंजल योग, सांख्य योग आदि अनेक योगशास्त्र उत्पन्न हुए। उन विभिन्न योगशास्त्रों से न्याय और ज्योतिष की उत्पत्ति मानी गई है।[७]

स्थूलरूपा शब्द या नाद सृष्टि से ब्रह्म गायत्री और तीन वेद स्थूल सृष्टि के रूप में उत्पन्न हुए, जिससे स्मृति, धर्मशास्त्र, व्याकरण, पुराण और उपपुराणों का क्रम चला।[८]

नाद सृष्टि से ही नव नाथों की परम्परा का विकास माना जाता है, जिनसे आगे चलकर १२ नाथ और इनके पश्चात् ८४ सिद्ध हुए, जिसके फलस्वरूप १२ पंथों और अनन्त सिद्धों की परम्परा का विकास हुआ।[९]

---

१. स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। भा० २, ६, ३८।

२. भा० २, ६, ४१। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य।

३. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४२, गोपीनाथ कविराज सं० ७२।

४. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४३, गोपीनाथ कविराज सं० पृ० ७२।

५. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४३, गोपीनाथ सं० पृ० ७२।

६. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४३, गोपीनाथ सं० पृ० ७२।

७. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४२-२४४, गोपीनाथ सं० पृ० ७२।

८. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४३-२४४ और गोपीनाथ सं० पृ० ७२। शब्द या नाद क्रम दोनों प्रायः एक ही हैं 'पुनः नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणी प्रकारद्वयात्मिका जाता' से स्पष्ट है।

९. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, गोपीनाथ पृ० ७२।

इस प्रकार नाथ साहित्य में सृष्टि अवतार की दो परम्पराएँ मिलती हैं। इनमें से पहली परम्परा तो भागवत की सृष्टि परम्परा के अनुरूप है, परन्तु दूसरी परम्परा नाद और विंदु क्रम के रूप में तंत्रों से अधिक सम्बद्ध विदित होती है, क्योंकि पांचरात्र संहिताओं में भी अवतारवाद की शस्त्र और शास्त्र नाम की दो परम्पराओं का उल्लेख हुआ है। शस्त्र अवतार की वह परम्परा है, जिसमें राम-कृष्ण जैसे महापुरुष अवतरित होकर अस्त्र-शस्त्र से अवतार-कार्य करते हैं। शास्त्र-परम्परा वह है, जिसमें विविध सम्प्रदायों के प्रवर्तक उत्पन्न होकर विभिन्न शास्त्रों का प्रवर्तन करते हैं।

इस अवतार-परम्परा का सम्बन्ध चूँकि योगमार्ग से है, इसलिए विंदु-परम्परा के अनुसार योगी अवतरित होते हैं और योग साधना का प्रवर्तन करते हैं तथा नाद-परम्परा के अनुसार शास्त्रवेत्ता अवतरित होते हैं और शास्त्रों का प्रचार करते हैं। अतः आन्तरिक दृष्टि से देखने पर पांचरात्र और प्रस्तुत अवतार-परम्परा में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है।

नाथ सम्प्रदाय में मान्य सृष्टि अवतारण के नाद-क्रम में शास्त्रों और सिद्धों की दो अवतार परम्पराओं का परिचय मिलता है। सिद्ध साहित्य में कतिपय स्थलों पर शास्त्र और सिद्धों या नाथों की इस प्रकार की परम्पराओं का दर्शन होता है। उदाहरण के लिये 'कौल ज्ञान निर्णय' में भैरव के चतुर्युगी कौल रूपों के साथ चतुर्युगी शास्त्रों के भी अवतार का भान होता है। 'कौल ज्ञान निर्णय' के अनुसार जो कौल ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध था यही त्रेता में महत्कौल, द्वापर में सिद्धामृत कौल और कलियुग में मत्स्योदर कौल के रूप में अवतीर्ण हुआ।[1] इस शास्त्र के अवतार-स्थल के प्रति भैरव कहते हैं कि यह चन्द्रद्वीप कामाख्या (आसाम) में अवतीर्ण हुआ है।[2]

शास्त्रावतार का प्रयोजन भी सिद्धों और तत्कालीन अन्य अवतारवादी साम्प्रदायिक प्रयोजनों के सदृश अनुग्रह माना गया है। 'अकुलवीर तंत्र' में कहा गया है कि यह तंत्र लोकों पर अनुग्रह[3] एवं लोकहित के निमित्त प्रकट किया गया था। सृष्टि-अवतार-क्रम में नाद-क्रम के अतिरिक्त विंदु-क्रम माना जाता है। इस क्रम में शिष्य की अपेक्षा पुत्र-क्रम चलता है अतः इसके अनुसार सदाशिव भैरव से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सूर्य, चंद्रमा, इन्द्रादि देवता हुए।[4]

---

१. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ६१, १६, ४७–४८।

२. कौल ज्ञान निर्णय पृ० ७८, २२, १२।

३. कौल ज्ञान निर्णय में संकलित अकुलवीर तंत्र पृ० ८४ और वी० पृ० ९७।

४. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ सं० पृ० २४२–२४३ गोपीनाथ सं० पृ० ७२।

सुश्री कल्याणी मल्लिक ने वैष्णव सृष्टि-कल्पना से भेद प्रदर्शित करते हुए वैष्णव सृष्टि-क्रम को अधोगामी एवं नाथों के सृष्टि-क्रम को ऊर्ध्वगामी बतलाया है।[1] सम्भव है उत्क्रमणशील साधनात्मक नाथ सम्प्रदाय में पिंड-ब्रह्माण्ड सम्बन्ध के सदृश इस प्रकार की भी किसी कल्पना का विकास हुआ हो। परन्तु जहाँ तक सृष्टि अवतरण से इसका सम्बन्ध है[1] इसमें अधोगामी और ऊर्ध्वगामी की अपेक्षा अभिव्यक्ति मात्र युक्तिसंगत प्रतीत होता है। साधारणतः शैव ईश्वरों का क्रम शिव से भैरव, भैरव से श्रीकंठ, श्रीकंठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र और रुद्र से विष्णु या विष्णु से ब्रह्मा माना जाता है। इस क्रम में आये हुए आठों मूर्ति महासाकार पिंड के रूप में माने जाते हैं।[2] ये सम्भवतः विंदु परम्परा के द्योतक हैं।

इसके अतिरिक्त शिव और शक्ति के योग से सांख्य सृष्टि के समानान्तर भी सृष्टिक्रम मिलता है। उसके अनुसार अनामा और अव्यक्त ईश्वर[3] से निजा शक्ति[4] तथा उससे क्रमशः परा[5], अपरा[6], सूक्ष्मा[7], और कुंडलिनी[8] इन पाँच शक्तियों का विकास हुआ। प्रत्येक शक्तियों में पाँच गुणों का समावेश है। इन शक्तियों के सम्मिलित २५ गुणों से ही पर पिंड की उत्पत्ति हुई।[9] ये पर पिंड भी पाँच प्रकार के हुए। इनमें शक्ति क्रम से युक्त अधिष्ठातृ देवता उत्पन्न हुये।[10]

ये अपरम्पर, परमपद, शून्य, निरंजन, और परमात्मा पाँच रूप कहे गये हैं। भाष्यकारों ने इनका सम्बन्ध क्रमशः सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु,[11] और ब्रह्मा से स्थापित किया है।[12] ये पाँचों ईश्वर भी पाँचों गुणों से युक्त बतलाये गये हैं।[13]

सारांशतः सृष्टिकाल में पाँच-पाँच गुणों से पाँच-पाँच महाशक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। प्रत्येक पंचशक्ति में पंचदेव आविर्भूत होते हैं। इस शक्ति और चेतन-युक्त पिंड का नाम अनाद्यपिंड है, और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव पंचदेवों से अवयव के रूप में युक्त होकर इसमें स्थित है। ये

१. नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधन प्रणाली पृ० २५२।

२. नाथ सम्प्रदाय पृ० १०६। ३. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पृ० ३० प्रथमोपदेश श्लो० ४।

४. सि० सि० प० पूर्णनाथ सं० पृ० ३३, १, ५।

५. सि० सि० प० पूर्णनाथ सं० पृ० ३७, १, ६।

६. सि० सि० प० पूर्णनाथ सं० पृ० ३९, १, ७।

७. सि० सि० पृ० ४०, १, ८।

८. सि० सि० पृ० ४२, १, ९।

९. सि० सि० प० पृ० ५८, १, १५।

१०. सि० सि० प० पृ० ६०, १, १६।

११. सि० सि० प० पृ० ६१, १, १७।

१२. सि० सि० प० पृ० ६२।

१३. सि० सि० प० पृ० १, १९, २३।

एक-एक देवता रचना, पालन, संहार आदि कार्य करते हैं[1] और पाँचों में क्रमशः परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, चित्प्रकाश और सोहं भाव आदि पंचानन्दों का भी समावेश माना जाता है।[2]

उक्त अनाद्य पिंड से ही आद्यपिंड की उत्पत्ति होती है।[3] इस प्रकार उक्त क्रम में सांख्यवादी क्रम के अतिरिक्त आद्यावतार पुरुष और हिरण्यगर्भ आदि वैष्णव सृष्टि अवतार क्रम का स्पष्ट आभास मिलता है, क्योंकि इसी आद्यपिंड से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदि पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं।[4] इन पंच महाभूतों से क्रमशः सदाशिव, शिव, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा की स्थिति बतलाई गई है।[5]

अतएव अनेक विषमताओं के होते हुए भी सिद्धों का उपर्युक्त क्रम 'भागवत' के सांख्यवादी अवतार क्रम से भिन्न नहीं प्रतीत होता। अनादिपिंड सम्भवतः पर पुरुष और आदि पिंड पुरुष के समानान्तर विदित होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सृष्टि-अवतार की परम्परा में शैव, शाक्त, भागवत और पांचरात्र अवतार परम्पराओं का समन्वित रूप दृष्टिगत होता है। सृष्टि-अवतार की सांख्यवादी परम्परा को भी शैव परम्परा के अनुरूप परिवर्तित किया गया है। पांचरात्रों के शस्त्र और शास्त्र परम्परा के समानान्तर नाद और विंदु परम्पराएँ भी विशिष्ट रूप में दीख पड़ती हैं। कालान्तर में उत्तरवर्ती सम्प्रदायों में नाद-परम्परा निर्गुण सम्प्रदायों में तथा विंदु-परम्परा वल्लभ आदि सगुण सम्प्रदायों में मिलती है।

पिंड–ब्रह्माण्ड और विराट पुरुष

सामान्यतः अवतारवाद के विकास में ऋ० १०।९० के 'पुरुष सूक्त' से विकसित विराट रूप का अपूर्व योग रहा है, क्योंकि महाकाव्यों एवं पुराणों में विष्णु एवं अवतारों के साथ विशेषकर उनका एकेश्वरवादी उपास्य रूपों का प्रचार होने पर उनके साथ विराट रूप की संयोजना अनिवार्य सी हो गई। परिवर्द्धित 'महाभारत' में श्रीकृष्ण के अवतारत्व का परिचायक एक मात्र उनका विराट रूप ही लक्षित होता है। जहाँ भी उनके अवतारत्व में संदेह किया जाता है, वहीं उनका विराट रूप प्रस्तुत किया गया है।[6]

---

१. सि० सि० प० पृ० ६७–६८। २. सि० सि० प० पृ० ६८, १, २५।
३. सि० सि० प० पृ० ७२। ४. सि० सि० प० पृ० २१८, ५, ५५।
५. सि० सि० प० पृ० २१८, ५, ५५।
६. महाभारत, वन पर्व १८८ अध्याय, उद्योग पर्व १३१ अध्याय, भीष्मपर्व ३५ गीता० ११ अध्याय, शान्ति पर्व। ५०–५२ अध्याय। अश्वमेध ५४–५५ अध्याय।

इसी प्रकार 'वाल्मीकिरामायण' ६, १२० में राम के विश्व-रूप का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में वामन, वराह, मत्स्य आदि के विराट रूप प्रस्तुत किये गये हैं।

वैदिक साहित्य में ही 'पुरुषसूक्त' के अतिरिक्त विराट रूप के आभ्यंतरिक और बाह्य दो रूप लक्षित होने लगते हैं। कतिपय स्थलों पर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अवतारवाद के विकास में केवल किसी बाह्य ईश्वर के अवतरित होने का ही मुख्य हाथ नहीं रहा है, अपितु साधना के बल पर उत्क्रमित आत्मोत्कर्ष का भी अपूर्व योग रहा है। इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा के मध्य में अवतारवाद वह विंदु या स्थल रहा है, जहाँ ब्रह्म अवतरित होकर अवतार हो जाता है और आत्मा उत्क्रमित होकर अवतारी ब्रह्म हो जाता है। इस दृष्टि से अवतारवाद में ब्रह्म और आत्मा दोनों का लय होना महत्वपूर्ण स्थान रखता है; वहाँ आत्मा और ब्रह्म की स्थिति एक सी रहती है।

अतएव वैदिक साहित्य में एक ओर ईश्वर 'पुरुष एव इदं सर्वम्' के रूप में पुरुष का विश्वरूपात्मक विकास दिखाई पड़ता है, तो दूसरी ओर उपनिषदों में मानवशरीर में ही अखिल ब्रह्माण्ड के अस्तित्व की कल्पना मिलती है। फिर भी पिण्ड, (शरीर) और ब्रह्माण्ड दोनों में समान रूप से यदि किसी का अस्तित्व है, तो केवल विराट रूप का, जिसकी प्रथम झाँकी 'पुरुषसूक्त' में ही मिलती है।

'पुरुषसूक्त' के पूर्व ही। ऋ० १०।८१।३ में इसका विशिष्ट रूप लक्षित होता है। वहाँ परमेश्वर सब ओर चक्षु, मुख, बाहु और पाँव वाला तथा अनन्त बाहुओं और पाँवों से प्रेरित द्युलोक और पृथ्वी लोक को उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[1] अथर्व सं० में इसका संबंध सभी इन्द्रियों से दीख पड़ता है तथा देह में ब्रह्म की स्थिति का संकेत मिलने लगता है। अथर्व सं० में एक स्थल पर कहा गया है कि जो इस देह में ही ब्रह्म को जानते हैं वे परमेष्ठि परमात्मा को जानते हैं।[2] वह इस शरीर में ही सूर्य, चक्षु, वायु और प्राण बनकर स्थित हैं।[3] इसी कारण विद्वान् इस पुरुष को ब्रह्म कहते हैं[4], क्योंकि सब देवता उसमें उसी प्रकार रहते हैं, जैसे गौएँ गोशाला में रहती हैं।[5] इस प्रकार एक ओर तो परमात्मा की समष्टि देह में सभी देवता निवास करते हैं और मानव शरीर में जीवात्मा के साथ उनके अंश विद्यमान रहते हैं। वही पुरुष द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोधकर्ता[6] परमात्मा में भली-भाँति

१. ऋ० १०।८१।३। २. अथर्व ९।७।२५।
३. अथर्व० १०, ७, १७। ४. अथर्व० ११, ८, ३१।
५. अथर्व० ११।८।३२। ६. प्रश्न० उ० ४।९।

स्थित है। 'मुंडकोपनिषद्' में उस ईश्वर का अग्नि-मस्तक, चन्द्र-सूर्य नेत्र, दिशायें-कान, वेद-वाणी, वायु-प्राण, विश्व-हृदय तथा पैर-पृथ्वी कहे गये हैं।[१] 'ऐतरेय उपनिषद्' में इसका और विशद रूप मिलता है।[२]

दूसरी ओर मानव शरीर में सम्पूर्ण विश्व की सत्ता का विकास हुआ। जहाँ ईश्वर के विराट रूपों का विशेष प्रचार सगुण भक्तों में हुआ, वहाँ आत्मा का विश्वरूपात्मक रूप साधकों में अधिक प्रचलित हुआ। आत्मवादी साधकों ने समस्त विश्व की कल्पना किसी बाह्य ईश्वर में न मानकर स्वयं मानव-पिंड में किया। 'ऋक् संहिता' के 'वामदेव सूक्त' में इस आत्मोत्कर्ष का बीज मिलने लगता है। वामदेव कहते हैं—'मैं मनु हुआ था। मैं सूर्य हुआ था। मैं ही बुद्धिमान कक्षीवान ऋषि था। मैंने ही अर्जुनी के पुत्र कुत्स को वश में किया था। मैं ही उशना कवि हूँ।[३] इस प्रकार सूक्तों में मनु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, वायु, भूमि, मनुष्य, मेघ आदि से इन्होंने अपने को स्वरूपित किया है।[४] इस प्रवृत्ति के साथ उपनिषदों में ब्रह्मविद् के ब्रह्म[५] होने की भावना का यथेष्ट प्रचार हुआ। मानव शरीर में देवताओं[६], ऋषियों[७] एवं ब्रह्म का[८] अस्तित्व माना गया। विश्व के कतिपय उपादानों से लेकर शरीर के उपादानों तक 'अन्तर्यामी' आत्मा के शरीर बतलाये गये।[९] कालान्तर में दस इन्द्रियों के दस अधिष्ठातृ देवों का स्थान प्रायः निश्चित सा हो गया। 'भागवत' में मन और इन्द्रियों के दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति आदि दस अधिष्ठातृ देवता माने गये।[१०]

शरीर के दैवी एवं ब्राह्मीकरण के अतिरिक्त उत्कर्षोन्मुख साधना का विकास उपनिषद् काल से ही योगसाधना से समन्वित रहा है। ब्राह्मीभूत या योगसिद्ध पुरुष जिस समय ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करते हैं; उस समय कहा जाता है कि उनकी आत्मा अखिल विश्वात्मा के साथ एकाकार हो जाती है,[११] जिसके फलस्वरूप अखिल ब्रह्माण्ड उसके शरीर में ही प्रतीत होता है। योगाभ्यासियों का ऐसा विश्वास है कि सिद्ध योगी को अष्टसिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं। उन अष्टसिद्धियों में 'ईशित्व' और 'वशित्व' अखिल विश्व के साथ अन्योन्याश्रित संबंध रखने की क्षमता रखती हैं।

---

१. मुंडक० उ० २, १, ४।
२. ऐत० उ० १, १-४।
३. ऋ० ४। २६।
४. ऋ० ४। २६ १-३।
५. मु० उ० ३। २। ९।
६. बृ० उ० ९-१०-१७।
७. यजु० वे० ३४। ५५।
८. अथर्व० सं० १०। २। २८-३३।
९. बृ० उ० ३। ३। २३।
१०. भा० २, ५. ३०।
११. गोरखबानी पृ० १५, ३८।

नाथ साहित्य में इस उत्क्रमणशील भावना का यथेष्ट विकास हुआ। योगी अपनी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत कर उसे मूलाधार से सहस्रार तक पहुँचा कर परम शिव से अपनी आत्मा को संयुक्तकर लेता है। ये योगी कुण्डलिनी द्वारा चक्रभेदन[1] के पूर्व अष्टयाम साधना से अपना शरीर दिव्य एवं अप्राकृतिक[2] बनाते हैं। इस प्रकार अवतारों के सदृश योगी का शरीर अप्राकृतिक एवं दिव्य होता है। वह अवतारों के समान माया के वशवर्ती नहीं होता। यहाँ तक सिद्ध योगी और पौराणिक अवतारों में साम्य होते हुये भी अवतारवादी प्रयोजनों की दृष्टि से पर्याप्त अंतर हो जाता है। साथ ही पौराणिक अवतारों का अवतारत्व जन्मगत है ओर सिद्धों की अवतार-तुल्यता साधनागत है। योगेश्वर के रूप में श्रीकृष्ण भी प्रसिद्ध हैं, गीता के अनुसार उनका विराट रूप योग-ऐश्वर्य-प्रधान है।[3] परन्तु जिन पौराणिक प्रयोजनों से इनका अवतार मान्य है उसका योगियों में सर्वथा अभाव है।

परन्तु साम्प्रदायिक रूप में श्रीकृष्ण आदि उपास्य अवतारों के समान योगी भी देवताओं से श्रेष्ठ तथा इच्छानुसार विश्व में नाना रूप धारण कर लीला करता है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के अनुसार इस शरीर में ही योगी अखिल चराचर को जानता है। उसे पिंड संविति कहते हैं।[4] इसके अतिरिक्त उसके शरीर के समस्त अंगों में अनेक देवताओं, लोकों और देशों की स्थिति का वर्णन किया गया है।[5] 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में संगृहीत 'योग बीज' के अनुसार इच्छानुरूप धारण कर मृत्यु आदि से स्वतंत्र हो समस्त लोकों में वह क्रीड़ा करता रहा है।[6] माया से परे होने वाले योगी का चरण विष्णु भी

---

१. गोरखबानी पृ० ३६, पद १७। २. गोरखबानी पृ० ३२-३३ पद, ९२, ९३, ९५।
३. गी० १०।७ में विभूतियाँ भी 'एतां विभूति योगं च' विभूति योग से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। शां० भा० में कहा गया है 'एतां यथोक्तां विभूतिं विस्तारं योगं च युक्तिं च आत्मनो घटनम्' अथवा 'योगैश्वर्यं सामर्थ्यं सर्वज्ञत्वं योगश्च योग उच्यते।' गी० ७।१७ में कृष्ण को योगी कह कर संबोधित किया गया है और गी० ७।१८ में 'योगं विभूति' को कहने के लिये कहा गया है। गी० ११।४ के योगेश्वर कृष्ण जिस विश्व रूप का दर्शन कराते हैं वह योग ऐश्वर्य रूप है, जो गी० ११।८ 'पश्य मे योगमैश्वरम्' से स्पष्ट है।
४. सि० सि० प०। पूर्णनाथ सं०। पृ० १४७, ३।१।
५. सि० सि० प०। पूर्णनाथ। तृतीयोपदेश।
६. (क) गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह गोपीनाथ सं० पृ० ३०-३१।
(ख) गोरखबानी पृ० ४८, १३८।

धोता है।[1] इस प्रकार लीलावतारों के सदृश तत्कालीन युग में योगियों को श्रेष्ठतर करने का प्रयास किया गया है।

अतः योग के ऐश्वर्य की दृष्टि से योगियों की पिंड-ब्रह्माण्ड सम्बन्धी धारणा अवतारवादी विराट रूप के समानान्तर प्रतीत होती है। दोनों में अवतारवादी लीला और क्रीड़ा के भाव भी विद्यमान हैं।

नाथ गुरु और अवतार तत्त्व

भारत में प्रचलित योग या भक्ति जनित साधनाओं में गुरु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पुराणों के अनन्तर मध्यकाल में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय में गुरु का इष्टदेव से कम महत्त्व नहीं था। विशेषकर अत्यन्त दुरूह योग-साधना में तो गुरु की अवहेलना करने की बात दूर रही पग-पग पर उसकी आवश्यकता पड़ती थी।

यों तो सांख्य शास्त्र के २५ तत्त्वों के अतिरिक्त योगशास्त्र में एक छब्बीसवां तत्त्व ईश्वर भी माना जाता है। योगशास्त्रियों के अनुसार यह ईश्वर ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा है। नित्य होने से वह भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों में अनवच्छिन्न गुरुओं का भी गुरु है।[2]

इस काल में सगुणोपासक पांचरात्र, वैष्णव यदि निर्गुण, सगुण से युक्त साकार ईश्वर एवं गुरु की उपासना करते थे, तो योगी निर्गुण-सगुण विशिष्ट आत्म ब्रह्म और गुरु को इष्टदेव मानते थे। दोनों के उपास्य सर्वात्मा, स्रष्टा, विश्वरूप आदि परम्परागत रूपों से युक्त हैं और समान रूप से भक्तों के उद्धार की क्षमता रखते हैं।[3]

दोनों में गुरु इष्टदेव के रूप में परब्रह्म के साकार स्वरूप मान कर पूजे जाते हैं। इनमें विशेष अन्तर केवल साधना सम्बन्धी लक्षित होता है, क्योंकि पांचरात्र भक्त या श्री वैष्णव यदि भावात्मक एवं हृदय प्रधान प्रेम पूरित भक्ति को अपना सम्बल बनाते हैं तो योगी ज्ञान मार्ग एवं यौगिक साधना का सहारा लेते हैं।

---

१. गोरखबानी पृ० ७, पद १७।

२. भारतीय दर्शन उपाध्याय पृ० ३६७।

३. (क) महानिर्वाण तन्त्र २,५२ और गोरखबानी पृ० १२९–१३० (उपनिषदिकरूप)

(ख) अतोऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबंधनात्।
अतएव सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत्॥
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह गोपीनाथ कविराज पृ० ३३, ४३, ४४।

नाथ पंथ में शिव, भैरव, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि नवनाथ उपास्य ब्रह्म या इष्टदेव में परिवर्तित होने के पूर्व इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक या आदि गुरु के रूप में मान्य हुये।[१] विचित्रता यह है कि योगी एक ओर तो सगुण उपास्यों एवं अवतारों को माया-परवश मानते हैं और अपने गुरुओं को ब्रह्म का प्रतीक या साक्षात् ब्रह्म मानकर पूजते हुये भी माया-स्वतंत्र समझते हैं।

सामान्यतः जिस प्रकार सगुणोपासक इस युग में अपने गुरुओं को साकार इष्टदेव से स्वरूपित करते हैं, उसी प्रकार नाथ पंथी अपने गुरु को आत्मब्रह्म का प्रतिरूप मानते हैं। 'गोरखबानी' में आत्मा को ही शरीर के भीतर स्थित गुरु और शिव कहा गया है।[२] वह माया से बने एक से बहुत रूपों को दिखाने वाला है।[३]

सारा संसार नाथ परब्रह्म का चेला है। ब्रह्म-साक्षात्कार ही ज्ञान प्राप्त करना है। इसलिये नाथ को सद्गुरु कहा गया है-[४] क्योंकि उस ब्रह्म से सान्निध्य प्राप्त करने के कारण वह जाग्रत या ब्रह्म स्वरूप हो गया है।[५] ब्रह्म-ज्ञानी होने पर उसे किसी देव-पूजा की आवश्यकता नहीं पड़ती अपितु सभी देवता उसी की पूजा करते हैं।[६] गोरखनाथ ऐसे ही ब्रह्म रूप गुरु मत्स्येन्द्र नाथ को स्वयं घट-घट में रह कर गुरु को भी घट-घट में देखते हैं।[७]

इस मार्ग में गुरु ही सर्वेसर्वा है।[८] उस अवधूत गुरु का प्रत्येक वचन वेद है। प्रत्येक चरण तीर्थ है, उसमें दूसरों को तारने की शक्ति है। उसकी दया-दृष्टि में कैवल्य है। उसके एक हाथ में भोग और दूसरे हाथ में त्याग है, किन्तु

---

१. नमस्ते भगवान शिवाय गुरु रूपिणो। विद्यावतार ससिद्ध्यै स्वीकृतोऽनेकविग्रहः॥
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पूर्णनाथ सं० पृ० ४५।

२. गुरुस्यंमदेवसरीर भीतरिये। आत्मा अन्तिम देव ताही को न जाणो सेव।
गोरखबानी पृ० ९४।

३. एकै सुवैनाना वणियां, बहु भांति दिखलाये।
भणंत गोरषि त्रिगुणी माया सतगुरु होई लखावै॥ गोरखबानी पृ० १३७।

४. चेला सब सूता नाथ सतगुर जागै, दसवें द्वारि अवध मधुकरि माँगे।
गो० बा० पृ० १४९।

५. श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे आनन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः॥
ब्रिग्स पृ० २८४ में संकलित गोरख शतक श्लोक १।

६. गोरखबानी पृ० १५२-१५३
काह ससत्र पूजै देव, भूप करै करसा की सेव।

७. घटि घटि गोरख घटि घटि मीन आपा परचै गुरमुखि चीन्ह। गोरखबानी पृ० ६।

८. अस्मिन् मार्गे सर्वाश्रयो मूलभूतो गुरुरेव। गोरक्ष सिद्धान्त सं० पूर्णनाथ सं० पृ० २।

वह दोनों से अलिप्त है।[1] वह अपने स्वरूप में स्थित योगी स्वयं अपने भाग्य का विधाता होता है। वह अपनी लीला से अजर और अमर तथा देव और दैत्य से अवध्य होता है।[2]

गुरु को अवतारी उद्धारकों के समान सामर्थ्यवान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि गुरु से बढ़ कर संसार में अधिक कुछ भी नहीं है। वह सद्गुरु अपनी दया की लेशमात्र अनुकम्पा से शिष्यों एवं प्राणियों के आठों पाश काट कर आनन्दित करता है।[3] इस्लाम में जिस प्रकार पीरों का मान है उसी प्रकार योग मार्ग में गुरु का।[4] गुरु के बिना ज्ञान तो असंभव है ही[5], उसके मिलने पर ही उद्धार की भी सम्भावना हो सकती है। अन्यथा प्रलय समझिये।[6] 'कौल ज्ञान निर्णय' के अनुसार कलियुग के भीषण रौरव नरक से उद्धार करने वाले सिद्ध कृतयुग, त्रेता और द्वापर में भी वंद्य हैं।[7] 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नाम की पुस्तक में प्रेमदास लिखित सिद्ध वन्दना में जिन सिद्धों की वन्दना की गई है उनमें उपास्य अवतारी के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ में ही निरंजन को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि ये भरम का बिहंडन करते हैं। इनके नमस्य गुरुदेव अगम पंथ के भेदों से परिचित हैं।[8] पुनः विज्ञान को प्रकाशित करने वाले चौरासी सिद्ध तथा परमेश्वर की साधना में लीन नौ योगेश्वरों (जो सम्भवतः नौ नाथों के रूप में विख्यात हैं) को उपास्य रूप में नमस्कार किया गया है।[9] चौबीस अवतारों में गृहीत कपिल और सनक-सनंदन सिद्धों की प्रस्तुत उपास्य परम्परा में मिलते हैं।[10] चौरंगी नाथ द्वारा वर्णित 'श्रीनाथाष्टक' में गोरख आदि नाथ गुरुओं की वन्दना उपास्य इष्टदेव के रूप में की गयी है। यहाँ उनके सर्वोत्कृष्ट उपास्य रूप को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि गुरु गोरखनाथ योगेन्द्र युगपति का निगम और

---

१. वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे...। गोरक्ष सिद्धान्त सं० पूर्णनाथ स० पृ० ३।

२. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ पृ० १०३।

३. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पूर्णनाथ पृ० १०३।

४. उतपति हिंदू जरणां योगी अकलि वीर मुसलमानी।
ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्म विस्नु महादेव मानी। गोरखबानी पृ० ६।

५. गुरु बिन ग्यानं न पायला रे भाईला। गोरखबानी पृ० १२८।

६. सतगुरु मिले तो उबरै बाबू नहीं तो परले हूआ।
बिगुरी पिरथी परले जाती, थाते हम उलटी थांपना थापी।
गोरखबानी पृ० १२८ और पृ० ५०।

७. कौल ज्ञान निर्णय पृ० २९, ९, ८। ८. नाथ सि० बा० पृ० ३।
नमो नमो निरञ्जनं भरम कौ विहण्डनं। नमो गुरुदेवं आम पंथ भेवं॥

९. नाथ सि० बा० पृ० ४ पद २४। १०. नाथ सि० बा० पृ० ५ पद २५।

अगम भी यश गान करते हैं। शंकर, शेष, विरंचि, शारदा, नारद बीन बजा कर उनकी प्रशस्ति गाते हैं। उस उपास्य गुरु को ये निर्गुण ब्रह्म से अभिहित करते हैं।[1]

'नाथाष्टक' में ही उनके उद्धार-कार्य का परिचय देते हुए बताया गया है कि इन्होंने सुशंख रावल के पुत्र का स्मरण करते ही यम-फांस नष्ट कर सुन्दर शरीर प्रदान किया था।[2]

इससे स्पष्ट है कि नाथ गुरु केवल उपास्य रूप में ही पूजित नहीं होते थे, अपितु अवतारी उपास्यों के उद्धार के सदृश उनके उद्धारक रूप भी प्रचलित थे। इस युग की प्रधान अवतारवादी प्रवृत्ति उपास्य एवं उद्धार रूपों से गुरु का अत्यधिक साम्य विदित होता है।

वैष्णव अवतारों के रूप

तत्कालीन युग में नाथ सम्प्रदाय यों तो योगप्रधान सम्प्रदाय था। इससे स्वभावतः वह योगियों में मान्य आदि प्रवर्तक शिव या शैवमत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता था परन्तु उस पर बौद्धों और जैनों का भी न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट रूप से विदित होता है।[3]

अवतारों की आलोचना

किन्तु जहाँ तक वैष्णव-प्रभाव का प्रश्न है, वहाँ नाथ सम्प्रदाय में वैष्णव धर्म और सामान्यतः वैष्णव अवतारों का विलक्षण रूप दृष्टिगत होता है। नाथ पंथी योगियों ने अपनी रचनाओं में कहीं तो अवतारवाद की भर्त्सना की है और किसी स्थल पर उसका प्रतिद्वन्द्वी रूप उपस्थित किया है। विशेष-कर इन्होंने हिन्दू देवताओं और उनके अवतारों पर यह लांछन लगाया है कि ये सभी भोगी थे। कोई भी कामदेव को पराभूत नहीं कर सका। सुग्रीव ने बालि को मरा समझ कर उसकी स्त्री रख ली। ब्रह्मा ने सरस्वती से भोग किया। इन्द्र ने गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या से छल किया। फलतः गौतम के शाप के कारण उसके सहस्र भग हो गये। अट्ठासी सहस्र ऋषि भी कामदेव के प्रभाव तथा विष्णु की असाध्य माया से अपने को मुक्त नहीं कर सके। नाट्यकला के अधिष्ठाता शिव को भी कामदेव ने नचाया।[4] विष्णु के दशावतार

१. नाथ सि० बा० पृ० ४९ पद १, ५।
२. नाथ सि० बा० पृ० ५० पद ६
३. ब्रिग्स पृ० १५०-१५१।
४. ये योगियों के शिव से भिन्न संभवतः महाकाव्यों एवं पुराणों के शिव विदित होते हैं।

भी स्त्री वाले हुए। एकमात्र योगी गोरखनाथ ने ही कामदेव को परास्त किया था[1]। 'गोरखबानी' में पीर को लोहा तकबीर (तदबीर) अर्थात् युक्ति को ताम्बा कहा गया है। जब कि मुहम्मद चांदी और खुदा सोने के समान हैं। लोहा और ताम्बा जितना उपयोगी है उतना चांदी और सोना नहीं। उसी प्रकार गुरु और युक्ति जितने उपयोगी हैं, उतने मुहम्मद और खुदा या ईश्वर और अवतार नहीं। इनकी दृष्टि में सारी दुनिया उपर्युक्त दोनों के बीच गोता खाती रही है। उनसे बचने वाले केवल योगी भर हैं।[2]

'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संकलित 'अथ अष्टी जी का श्लोक' में दशावतारों की प्रासंगिक आलोचना दृष्टिगत होती है। उन पदों के अनुसार विष्णु ने दशावतार क्रम में गर्भवास कर सम्भवतः बार-बार जन्म लेकर महासंकटों का सामना किया था।[3] इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि विष्णु को भी अनेक बार जन्म लेने का कष्ट भोगना पड़ता है, जब कि योगी एक ही जन्म में अमर हो जाता है।

इसी प्रकार 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में कापालिकों और विष्णु के चौबीस अवतारों के बीच अद्भुत संघर्ष का वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि विष्णु के चौबीस अवतार हुए, वे अपने-अपने कार्य के अन्त में मदोन्मत्त हो गये। जिस प्रकार अन्य जीव-जन्तु क्रीड़ा करते हैं, वैसे ही वराह, नृसिंह आदि ने पृथ्वी को फाड़ना और जंगली जीवों को भयभीत करना शुरू कर दिया। वे नगर और गाँवों को पीड़ित करते थे। उस पर कृष्ण ने बहुत व्यभिचार फैलाया। परशुराम ने एक क्षत्रिय के दोष से सभी क्षत्रियों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया। तब इन अवतारों के आचरणों से श्रीनाथ जी ने क्रुद्ध होकर चौबीस कापालिकों के रूप में आविर्भूत होकर चौबीस अवतारों से युद्ध

---

१. असाध कंद्रप विरला साधंत कोई।
सुरनर गण गंध्रप व्याप्या बालि सुग्रीव भाई।
ब्रह्म देवता कंद्रप व्याप्या यंद्र संहस्र भग पाई॥
अठ्यासी सहस्र रषीसर कंद्रप व्याप्या असाधि विष्न की माया।
येन कंद्रप ईश्वर महादेव नाटारम्भ नचाया।
विस्न दस अवतार थाप्या असाधि कंद्रप जती गोरखनाथ साध्या।
जनि नीझंर झरता राख्या। गोरखबानी पृ० ६६-६७ पद १९८-२००।

२. गोरखबानी पृ० ४१-६२
लोहा पीर तांबा तकबीर।
रूपा मुहम्मद सोना खुदाई। दुहुँ बिचि दुनियां गोता षाई।

३. नाथ सि० बा० पृ० १०७ पद ६४९। विसन जेन दस ओतारं।
महा संकट ग्रभ वासं।

किया और उनके सिर काट कर हाथ में ले लिये। इसी से वे कापालिक कहलाये। सिर कट जाने के फलस्वरूप सभी अवतार मदहीन हो गये। तब श्रीनाथ जी ने उन्हीं के कपाल उनके सिर पर रख कर जीवित कर दिये।[१] 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संकलित सतवंती के पद में सभी के मायात्मक रूप की चर्चा करते हुए रावण और राघव दोनों को मायास्वरूप बतलाया गया है।[२]

इस प्रकार नाथ साहित्य में देववाद और अवतारवाद दोनों के विलक्षण आलोचनात्मक रूप मिलते हैं। उन्हीं आलोचनाओं में अवतारों और देवों के कहीं तो भोगी होने पर कटाक्ष है और कहीं उनके पुराणगर्भित अवतारी कार्यों को विचित्र ढंग से मोड़ा गया है। यों साधना की दृष्टि से भोग और योग दोनों दो प्रकार के आचरणों की अपेक्षा रखते हैं। इसी से योगियों की साधना में काम-विजय यथेष्ट महत्त्व रखता है। परन्तु कापालिकों से सम्बद्ध अवतारों की कथाओं में अभूतपूर्व कल्पना का पुट है। अवतारवाद की वैज्ञानिक आलोचना का इनमें अभाव है।

उक्त रूपों के अतिरिक्त नाथ साहित्य एवं सम्प्रदाय में अवतारों के विशिष्ट रूपों के भी दर्शन होते हैं।

'कौल ज्ञान निर्णय' के नवम पटल में कलियुग के महाघोर नरक से उद्धार करने वाले पूर्व तीनों युगों में वंद्य तथा कुल कौल के अवतारक जिन षोडश सिद्धों का उल्लेख हुआ है[३], उनमें पूर्व महासिद्ध के रूप में मान्य दस ऐसे नाम प्रस्तुत किये गये हैं जिनका न कौल मार्ग से सम्बन्ध विदित होता है न नाथ पंथ से। वे नाम इस प्रकार हैं—मृण्णिपाद, अवतारपाद, सूर्यपाद, द्युतिपाद, ओमपाद, व्याघ्रपाद, हरिणिपाद, पंचशिखपाद, कोमलपाद, लम्बोदरपाद।[४]

उक्त सिद्धों के नामों में सूर्यपाद, लंबोदरपाद, अवतारपाद प्रभृति के रूप में निश्चय ही समसामयिक, सौर्य, गाणपत्य और वैष्णव संप्रदायों के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस सूची में प्रयुक्त पंचशिख नाम भी सांख्य के आचार्यों में प्रसिद्ध पंचशिख हो सकते हैं।[५] संभव है अतिरिक्त नाम

१. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृ० २०।

२. नाथ सि० बा० पृ० १२२। हम भी माया तुम भी माया माया रावन राघौ।

३. कौल ज्ञान निर्णय पृ० २९, ९, ९। ४. कौल ज्ञान निर्णय पृ० २९।

५. ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका पृ० १ में ये सांख्य आचार्यों में माने गये हैं— 'आसुरिः कपिलश्चैव वढुः पंचशिखस्तथा।' भारतीय दर्शन पृ० ३१६ में महाभारत शान्तिपर्व ३०२–३०८ अध्याय, के पंचशिख का उल्लेख किया गया है।

भी समन्वयात्मक रूप में ही विभिन्न सम्प्रदायों से ग्रहण किये गये हों, क्योंकि परवर्ती (१८वीं शती की पुस्तक) 'मत्स्येन्द्रपद शतकम्' में बौद्ध, श्रौत शैव, शाक्त, सौर और वैनायक सभी द्वारा उपास्य मत्स्येन्द्रनाथ को वंद्य कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त ब्रिग्स ने नौ नाथों की एक ऐसी सूची प्रस्तुत की है जिसमें कई एक किसी न किसी हिन्दू देवता से स्वरूपित किये जा सकते हैं। स्वयं ब्रिग्स ने ही उनमें से कतिपय के स्वरूपण का प्रयास इस प्रकार किया है—(१) ओंकार आदिनाथ-शिव, (२) शैलनाथ-कृष्ण या रामचन्द्र, (३) संतोषनाथ, (४) अचलंकम्बुनाथ-हनुमान या लक्ष्मण, (५) गजबली गजकंठनाथ-गणेश गजकर्ण, (६) प्रज्ञानाथ या उदयनाथ-पार्वती, (७) पुरुष सिद्ध चौरंगी नाथ-पूरन भगत।[2]

पुनः ब्रिग्स द्वारा प्रस्तुत की गई दूसरी सूची के अनुसार ओंकारनाथ-विष्णु, संतोषनाथ-विष्णु, गजबली, गजान-हनुमान, अचलेश्वर-गणपति, उदयनाथ-सूर्य; पार्वती प्रेम-महादेव, संतनाथ-ब्रह्मा, ज्ञान जी सिद्धेश्वरंगी-जगन्नाथ, मायारूपी-मत्स्य[3] से स्वरूपित किये गये हैं।

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में 'तंत्र महार्णव' के आधार पर नौ नाथों को विभिन्न दिशाओं में स्थित बतलाया गया है। गोरखनाथ पूर्व दिशा, जगन्नाथ वन में, जालन्धरनाथ उत्तरापथ में, नागार्जुन महानाथ सप्तकोशवन में, सहस्रार्जुन दक्षिण गोदावरी वन में, दत्तात्रेय महानाथ पश्चिम दिशा में, आदिनाथ, भरत और मत्स्येन्द्र आदि विभिन्न दिशाओं में बतलाये गये हैं।[4]

उपर्युक्त चारों सूचियों से विभिन्न सम्प्रदाय के भारतीय देवताओं, आचार्यों और अवतारों का समन्वय करने की प्रवृत्ति का पता चलता है।

'नाथ सिद्धों की बानियों' में संगृहीत 'घोड़ा चौली जी की सबदी' के ११वें पद में रामावतार की कथा वर्णित हुई है। उन पदों के अनुसार समुद्र में पुल बाँध कर सम्भवतः राम रावण का वध कर लक्ष्मी सीता को घर ले आए।[5] इसी प्रकार उसी ग्रन्थ में संकलित 'प्रिथीनाथ जी का ग्रंथ साध प्रच्ण' में सिद्ध प्रिथीनाथ ने कतिपय पदों में वैष्णव अवतारों का प्रासंगिक

---

१. परे बौद्धमार्गैः परे श्रौतमार्गैः, परे शैवशाक्तार्कवैनायकाद्यैः।
भवन्तं भजन्तेऽयमैः किंतु तेषां, प्रसादं करोष्यैव मत्स्येन्द्रनाथ॥

मत्स्येन्द्रपदशतकम् पृ० ३५ श्लोक ६७।

२. ब्रिग्स पृ० १३६–१३७। ३. ब्रिग्स पृ० १३७।

४. जगन्नाथ–'गोरखनाथो वसेत् पूर्वं, जगन्नाथो वने स्थितः'।
दत्तात्रेय–'दत्तात्रेयो महानाथः पश्चिमायां वसेदिशि'॥

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, गोपीनाथ कविराज सं० ४४–४५।

५. नाथ सि० बा० पृ० २३ पद १३६।

उल्लेख किया है। इनके मतानुसार जिस राम ने अवतार धारण कर योग वासिष्ठ का कथन किया, उन्हें भी संसार से मुक्त होने के लिए गुरु का आश्रय ग्रहण करना पड़ा।[1] कृष्ण ने भी भक्तिभजन के निमित्त गीता का कथन किया।[2] इनके ७०वें पद में बलि-वामन अवतार की भी प्रासंगिक चर्चा हुई है।[3]

इन पदों में राम और कृष्ण को साधारण मनुष्य जैसा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विशेषकर रामावतार की चर्चा से केवल तत्कालीन युग के अवतारवादी प्रभाव का ही अनुमान किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित कतिपय ऐसे चिह्नों एवं मूर्त्तियों की पूजा का उल्लेख ब्रिग्स ने किया है जो तत्कालीन अवतारवादी प्रवृत्तियों से यथेष्ट मात्रा में प्रभावित प्रतीत होते हैं। यों तो योगी द्वारा अनेक प्रकार की रुद्राक्ष की मालाओं का प्रयोग होता है किंतु उनमें दस मुखों वाले रुद्राक्षों का सम्बन्ध दशावतारों से स्थापित किया जाता है।[4] ब्रिग्स के अनुसार गोरखपंथियों के धीनोदर नामक स्थान के मठों में हनुमान और राम की मूर्तियां मिलती हैं तथा पुरी में गरुड़ की मूर्ति स्थापित की गई है। हनुमान एक प्रकार की टीका के रूप में भी इस सम्प्रदाय में अंकित किये जाते हैं। पश्चिम के अनेक वैष्णव भक्तों की परम्परा नौ नाथों में समाविष्ट की गई है। गोरखपुर में समाधियों पर वैष्णव प्रतीक एवं मूर्तियाँ भी समाई हुई मिलती हैं। इनके कथनानुसार चक्र-साधना में 'शिव संहिता' २, ३५ के अनुसार विष्णु के नामों का प्रयोग अनिवार्य है।[5] इन्होंने शिवराम मंडप और धीनोधर नामक स्थानों में कल्कि की मूर्ति पूजा का भी उल्लेख किया है।[6]

इससे स्पष्ट है कि शैव-शाक्त प्रधान नाथ साहित्य एवं सम्प्रदाय में अवतारों का विरोध होते हुये भी संभवतः कालान्तर में उनमें बहुत से अवतारवादी उपकरणों का प्रवेश समय-समय पर होता रहा था। उपर्युक्त साम्प्रदायिक प्रथाओं में अवतारवादी समावेशों के अतिरिक्त गोरखपंथी 'सहस्र-नाम' में भी विष्णु के विभिन्न अवतारी नामों को गोरखनाथ पर आरोपित किया गया है।

---

१. नाथ सि० बा० पृ० ७१।
जो पद कथ्या योग वासिष्ट धरि यहु रामा औतार।
तिन भी आइर गुर कीया तिरिबे कूं संसारं।
२. नाथ सि० बा० पृ० ७१। गीता होइ कृष्ण कथी भगति भजन को भेवं।
३. नाथ सि० बा० पृ० ७९ 'ज्यू बलि ले दीया पतालि।'
४. ब्रिग्स पृ० १५। ५. ब्रिग्स पृ० १५०। ६. ब्रिग्स पृ० १३०।

'गोरक्ष सहस्त्रनाम' में गोरखनाथ के प्रति यों तो शिव के ही पर्यायवाची नामों को ग्रहण किया गया है। किन्तु कतिपय स्थलों पर वैष्णव अवतारों के नाम से भी वे अभिहित किये गये हैं। उन पर्यायवाची नामों में वासुदेव,[1] कूर्म,[2] वामन,[3] वराह,[4] राम,[5] भार्गव, कल्कि, ऋषभ, कपिल,[6] और बुद्ध[7] गृहीत हुये हैं।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अवतारोंकी भर्त्सना करने के बाद भी अवतारवादी प्रभाव से नाथ पंथ और उसका साहित्य दोनों मुक्त नहीं हो सके। जाने या अनजाने विविध रूपों में वैष्णव अवतारों का समावेश उनकी साम्प्रदायिक पद्धतियों, परम्पराओं और उपास्यवादी रूपों में होता ही रहा।

आत्म स्वरूप राम

नाथ साहित्य में विष्णु के अन्य अवतारों की अपेक्षा राम के अवतार या अवतारी रूप का तो नहीं किन्तु अन्तर्यामी रूप का अथेष्ट परिचय मिलता है। 'गोरखबानी' में संगृहीत एक पद में सर्वात्मवादी आत्मरूप के प्रति कहा गया है कि यही राजा राम है जिसका सभी अंगों में निवास है। यही पाचों तत्त्वों को सहज प्रकाशित करता है। इसके बिना पांचों तत्त्वों का अस्तित्व नहीं रह सकता। इसका बोध हो जाने पर इसी में पांचों तत्त्व समा जाते हैं।

---

१. अव्यक्तो वासुदेवश्च शतमूर्तिः सनातनः।
पूर्णनाथः कान्तिनाथः सर्वेषां हृदये स्थितः॥ गोरक्ष स० ना० पृ० १९ श्लो० १९।

२. धीमान् श्रीमान् धरधरो ध्वान्तनाथो धर्मोद्धरः।
धर्मिष्ठो धार्मिको धुर्यो धीरो धीरोगतनाशनः॥
टीकाकार ने 'धरधरो' का अर्थ कूर्म या शेष से किया है।
गोरक्ष स० ना० पृ० २८ श्लोक ४०।

३. वंवंप्रियो वकारश्च वामनो वरुणोंऽवरः।
वरदस्तु वराधीशो बालो बालप्रियो वलः॥ गोरक्ष स० ना० पृ० २९ श्लोक ४४।

४. वराहो वारुणीनाथो विद्वान् विद्वत्प्रियो वली।
भवानीपूजको भौमो भद्रकारो भवान्तकः॥ गोरक्ष स० ना० पृ० ३० श्लोक ४५।

५. रमणो रामनाथश्च रामभद्रो रमापतिः।
रां रां रामो राम रामो रामाराधनतत्परः॥ गोरक्ष स० ना० पृ० ३३ श्लो० ५१।

६. गजारिः करुणासिंधुः शत्रुतापनः कमठो भार्गवः कल्कि ऋषभः कपिलो भवः।
गोरक्ष स० ना० पृ० ५३ श्लो० ९१।

७. ऋषभो गौतमः स्रग्वी बुद्धो बुद्धिमतां गुरुः,
निरूपो निर्ममोऽकूरो निरवद्यो निराग्रहः। गोरक्ष स० ना० पृ० ५६ श्लोक ९१।

गोरख कहते हैं कि इस प्रकार यह ब्रह्म जाना जाता है।[१] एक स्थल पर वे कहते हैं कि 'हे अवधूत राज किससे युद्ध करूँ' विपक्षी तो कोई दिखाई नहीं देता। जिससे युद्ध करता हूँ वही तो आत्मस्वरूप राम है। स्वयं मच्छ-कच्छ है; और स्वयं ही उनको बंधन में डालने वाला जाल है तथा स्वयं वही धीवर, मच्छमार और स्वयं काल है'।[२] जीवात्मा इस विश्व में अकेले ही आता है और अकेले ही जाता है। इसी से गोरखनाथ राम में रम रहा है।[३] इस प्रकार योगियों ने उपास्य आत्मब्रह्म के निमित्त राम का पर्याय ग्रहण किया है, परन्तु यह अवतार राम का वाचक न होकर इनमें विशेषकर परब्रह्म के आत्म रूप में गृहीत हुआ है। वे इसी परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेलते हैं तथा ब्रह्म और आत्मा में कोई भेद नहीं मानते।[४]

छः गुणों से युक्त कौन है?

सगुणोपासना में ब्रह्म, अकल, अनीह, अव्यक्त, अज और अविनाशी आदि उपाधियों से युक्त होने पर भी निर्गुण क्यों नहीं माना गया?[५] यह सदैव एक दुरूह प्रश्न रहा है। क्योंकि निराकार या निर्गुणोपासक, साकार या सगुणोपासक दोनों ने जिस ब्रह्म की रूप-रेखा प्रस्तुत की है उसमें साकारत्व और अवतारत्व के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी विशेषण दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।[६] इसके अतिरिक्त उसके भगवत या भगवान रूप में सगुणो-

---

१. एही राजा राम आछै सर्वे अंगे वासा, ये ही पांचों तत बापू सहजि प्रकासा।
ये ही पांचौ तत बाबू सहजि समझि समानां, बदंत गोरख हम हरि पद जाना॥
गोरखबानी पृ० १००।

२. कसौ झूझौ अवध राइ, विपष न दीसै कोई।
जासौ अब झूझौ रे आत्मा राम सोई।
आपण ही मच्छ कछ अपण ही जाल,
आपण ही धीवर आपण ही काल। गोरखबानी पृ० १३५–१३६।

३. आवै संगे जाइ अकेला तार्थे गोरख राम रमेला। गोरखबानी पृ० १४८।

४. राम रमिता सौ गहि चौगानं, काहे भूलत हौ अभिमानं।
धरन मगन विचि नहीं अंतरा केवल मुक्ति मैदानं। गोरखबानी पृ० १०२।

५. वि० पु० ६, ५, ६६-७।

६. वि० पु० ६, ५, ६४ में ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—शब्द ब्रह्म और पर ब्रह्म। साधारणतः निर्गुण-सगुण आदि सभी उपास्यों से ब्रह्म के दोनों रूपों को सन्निविष्ट किया जाता रहा है।

पासकों ने छः गुणों का भी अस्तित्व माना है जो उसे सगुण विशिष्ट रूप प्रदान करता है।[1]

'सिद्ध सिद्धान्न पद्धति' में षाड्गुण्यों की विचित्र व्याख्या की गई है। वे षाड्गुण्यों के आधार पर विष्णु और उनके अवतारों का खंडन करते हुए बड़े व्यंग पूर्वक कहते हैं—जहाँ ये षट्पदार्थ हैं वही भगवान हैं।[2] किन्तु ये षट्-पदार्थ समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य उनमें हैं कहाँ? तत्पश्चात् आरोपित इन एक-एक गुणों का वे खंडन करते हैं। उनके कथनानुसार सर्वप्रथम योग रूप ऐश्वर्य ही उनमें नहीं है। स्त्री के संग रहने वाले कामियों में भला ऐश्वर्य कहाँ से हो सकता है? विष्णु के छल प्रधान पौराणिक घटनाओं के आधार पर उनमें निहित धर्म का खंडन करते हुए कहा गया है कि जो सदैव छल करता रहा है उसमें धर्म कहाँ? विष्णु ही तो छल से नारद को बानर मुख प्रदान करने वाले के रूप में प्रसिद्ध है। साथ ही जिस रावण को बालि और सहस्त्रार्जुन ने बाँध लिया; उसे मारने से यश कैसे प्राप्त हुआ? जो राम भगवान कहे जाते हैं उनकी स्त्री का हरण होना तो और महाअपयश है। जिसकी परमार्थ में मुक्ति नहीं है और इस लोक में यश नहीं प्राप्त है, उसके पास श्री कैसे हो सकती है? यदि वे ज्ञानी हैं तो उन्होंने अज्ञानियों के सदृश कार्य क्यों किया और वैराग्य तो इन कल्पित ईश्वरों में है ही नहीं। जो दासी और वेश्याओं में असक्त थे उनमें वैराग्य कहाँ।[3] इस प्रकार विशेषकर इनके गार्हस्थ्य एवं पौराणिक रूपों पर इनका विशेष कटाक्ष रहा है।

कपिलानी शाखा

नाथ सम्प्रदाय में विष्णु अवतार कपिल से सम्बद्ध एक कपिलानी शाखा भी प्रचलित है। इस सम्प्रदाय में इस शाखा के प्रवर्तक कपिल[4] एक ओर तो

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। में वैराग्य के स्थान में तेज को समाविष्ट किया गया है।

वि० पु० ६, ५, ७४, वि० पु० ६, ५, ७।

२. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, गोपीनाथ पृ० ६९।
षट् पदार्था यत्र भवन्ति से भगवान। के ते षट् पदार्थाअमी।

३. सिद्ध सिद्धान्त प० ६९।
'षट् पदार्था अत्र भवन्ति स भगवान''' ''' '''तदा वैराग्य कुत्र।' तक

४. श्री सिद्ध धीरजनाथ चरित्र पृ० ३ श्लोक ९
कपिलात्कपिलः पंथाः शिष्य वंशमयो भवत्।
कपिलायन मित्याहु योगिन्द्राः सूक्ष्म वेदिनः॥

विष्णु के अवतार माने गये हैं[1] और दूसरी ओर उन्हें गोरक्षनाथ का शिष्य कहा गया है ।[2] नाथों में प्रचलित इधर हाल की एक कृति 'श्री सिद्धधीरजनाथ चरित्र' में इस परम्परा का विस्तृत वर्णन मिलता है। स्वयं धीरजनाथ उसी शाखा के योगियों में मान्य हैं।

निष्कर्षतः नाथ सम्प्रदाय में विशेषकर उत्तरकाल में वैष्णव सम्प्रदायों का यत्किञ्चित प्रभाव लक्षित होने लगता है, जिसके फलस्वरूप किसी न किसी रूप में इनके उपर्युक्त रूपों का अस्तित्व मिलता है।

---

१. श्री सिद्ध धीरजनाथ चरित्र पृ० २ श्लोक ४
वैष्णवावतारेषु कपिलः सांख्य शास्त्र कृत्।
उच्छेतुं बन्धनं जैवं प्राक्सिन्धो रोधसु स्थितः ॥

२. श्री सिद्ध धीरजनाथ चरित्र पृ० ३ श्लोक ८
ततस्तो दक्षितौ तन्त्र दीक्षितौ तत्र कृतकृत्यौगतज्वरौ।
साक्षात् गोरक्षनाथेन कपिलस्य भगीरथः।

चौथा अध्याय

दशावतार और सामूहिक अवतार परम्परा

दशावतार

मध्यकालीन साहित्य में दशावतारों की जो परम्परा लक्षित होती हैं, उसका प्रारम्भिक परिचय 'महाभारत' एवं पुराणों में मिलने लगता है। प्राचीन इतिहास के विद्वानों और इतिहासकारों ने संख्यात्मक दृष्टि से अवतारों के उद्गम एवं उनके विकास को सोचने का प्रयास किया है। विशेषकर 'महाभारत' का 'नारायणीयोपाख्यान' प्रारम्भिक रूपों के निमित्त इनका मध्यविन्दु रहा है। इस उपाख्यान में न्यून अन्तर के साथ चार, छः, और दस के क्रम से अवतारों की तीन सूचियाँ मिलती हैं।[1] श्री भंडारकर ने इस उपाख्यान के विश्लेषण में महा० १२, ३३९, ७६–९८, में उपलब्ध वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम दाशरथी और कृष्ण इन छः अवतारों को प्रथम सूची में स्वीकार किया है।[2] पुनः दूसरी सूची महा० १२, ३२९, १०३–१०४, में हंस, कूर्म, मत्स्य, और कल्कि को मिलाकर प्रस्तुत की गई है जिससे इनकी संख्या दस हो गई हैं।[3] आगे चलकर पुराणों में इनकी संख्या और क्रम दोनों दृष्टि से अधिक वैषम्य दिखाई पड़ता है। श्री भंडारकर ने 'हरिवंश' और 'वायु पुराण' की सूचियों की तुलना कर उनकी संख्या और नाम सम्बन्धी दोनों प्रकार की विषमतायें बतलायी हैं।[4] 'विष्णु पुराण' में दशावतारों का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु परवर्ती 'अग्नि', 'वराह' आदि पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि का क्रम मिलने लगता

---

१. फर्कुहर ने आउट लाइन आफ रे० लि० इं० पृ० ९९ में 'नारायणीयोपाख्यान' की उक्त सूची में गृहीत दो अवतारों के कुछ बाद होने के कारण उनकी संख्या चार या छः मानी है।

२. भण्डारकर कौ० वर्क्स जी० ४ पृ० ५८।

३. कृत्वा लोकान्नमिष्यामि स्वानहं ब्रह्म सत्कृतान्।
हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम्॥
वाराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥ महा० १२, ३३९, १०३–१०४।

४. भंडारकर कौ० व० जी० ४ पृ० ५९।

है।[1] मध्यकाल में यही क्रम सर्वाधिक प्रचलित रहा है। 'श्रीमद्भागवत पुराण' १०, २, ४०, में कृष्ण को छोड़ कर इसी क्रम से नौ अवतारों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त भा० १०, ४०, १६–२२ में हयग्रीव और चतुर्व्यूह के अतिरिक्त शेष क्रम दशावतारों का प्रतीत होता है। महाकाव्यों और पुराणों के इस उल्लेख के अतिरिक्त देवगढ़ में निर्मित दशावतार मंदिर गुप्तकाल के निकटवर्ती काल में प्रचलित दशावतारों की उपासना का स्पष्ट पता देता है। विशेषज्ञों ने इसका समय ईसा की छठी शताब्दी माना है।[2] श्री प्रबोध चन्द्र बागची के मतानुसार लक्ष्मण सेन के काल में दशावतारों की मूर्तियों के निर्माण का पता चलता है।[3] श्री वासुदेव उपाध्याय ने १० वीं शती में बहुत अधिक संख्या में दशावतारों की मूर्तियों के निर्माण का उल्लेख किया है।[4] 'पृथ्वीराज विजय'-नामक महाकाव्य में दशावतारों के नाम से एक ताबीज के प्रचलन का भी पता चलता है।[5]

अतएव यह स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र और जयदेव के पूर्व ही भारत के बृहत् क्षेत्र में धार्मिक मान्यताओं में दशावतारों का महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका था; जिसके फलस्वरूप मध्यकाल में नाथ, संत, सूफी तथा कृष्ण और राम प्रधान वैष्णव सम्प्रदायों के व्याप्त रहने पर भी विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर १७ वीं तक दशावतारों से सम्बद्ध पद्य-रचना की अविच्छिन्न परम्परा मिलती है।

श्री भंडारकर ने अमितगति नाम के एक दिगम्बर जैन द्वारा लिखी हुई सं० १०७० की 'धर्मपरीक्षा' नाम की एक पुस्तक में दशावतारों पर एक श्लोक प्राप्त किया था।[6] उन्होंने इसे प्रारम्भिक रचनाओं में माना है वह श्लोक इस प्रकार है:—

मीनः कूर्म पृथुः प्रोक्तो नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कि दश स्मृताः॥

इसमें मत्स्य, कूर्म, पृथु, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि के नाम आये हैं। जो मध्यकालीन परम्परा से किंचित भिन्न प्रतीत होते हैं। इसके कुछ ही काल पश्चात् काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र का 'दशावतार चरित्र' नामका एक काव्य ग्रन्थ मिलता है, जिसमें उन्होंने दशावतारों का प्रारम्भ में ही इस प्रकार उल्लेख किया है:—

---

१. भंडारकर कौ० व० जी० ४, पृ० ५९, अग्नि पुराण १६, १।
२. ए स्टडी आफ वैष्णविज्म के० जी० गोस्वामी १९५६ सं०, पृ० ३६।
३. हिस्ट्री आफ बंगाल पृ० ४९३। ४. पूर्वकालीन भारत पृ० १६१।
५. पृथ्वीराज विजय पृ० २००, २; ४३।
६. भंडारकर कौलक्टेड वर्क्स जी० १, पृ० ३०१।

मत्स्यः कूर्मो वराहः पुरुषहरिवपुर्वामनो जामदग्न्यः ।
काकुत्स्थः कंसहन्ता स च सुगत मुनिः कल्किनामा च विष्णुः ॥[१]

इसमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि का उल्लेख हुआ है।

इनके पश्चात् बंगाल के कवि गुरु जयदेव (१२वीं शती) ने 'गीत गोविंद' के प्रारम्भ में दशावतारों का पृथक्-पृथक् श्लोकों में वर्णन करने के पश्चात् उस पद्य के अंत में पुनः दशावतारों को समाविष्ट कर उनकी स्तुति की है।[२]

इसमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि कृष्ण के दशविध अवतार कहे गये हैं। उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के अध्ययन से स्पष्ट है कि देश और धर्म दोनों में दशावतारों की भावना व्याप्त थी। क्योंकि यदि अमितगति दिगम्बर जैन हैं तो क्षेमेन्द्र बौद्ध और जयदेव वैष्णव। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्ध कवियों में दशावतार विष्णु के माने गये हैं, किन्तु 'गीत गोविन्द' में कृष्ण के कहे गये हैं। अवतार-क्रम की दृष्टि से केवल अमित गति ने वराह के स्थान में पृथु का उल्लेख किया है और जयदेव ने कृष्ण के अवतारी होने के कारण बलराम का उल्लेख किया है, किन्तु मध्ययुग में विशेष कर जयदेव और क्षेमेन्द्र दोनों की परम्परायें अधिक प्रचलित रही हैं। अमित गति ने दूसरे स्थान पर दशावतारों में नौ अवतारों का उल्लेख किया है, जिसमें परम्परागत आते हुये दशावतारों का क्रम लक्षित होता है।[3] मुख्यरूप से तीन रामों का उल्लेख होने के कारण यहाँ जयदेव की पूर्व परंपरा विदित होती है। इस युग में दशावतारों की व्यापकता के उदाहरण स्वरूप एक और उदाहरण 'प्रभावक चरित्र'[४] में दृष्टिगत होता है, जिसमें जैन कवि प्रभाचन्द्राचार्य ने पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए दशावतारों से उनकी तुलना की है।[५]

इसी युग के महाकाव्य 'पृथ्वीराज विजय' में दशावतारों का कतिपय

---

१. दशावतार चरित मत्स्यावतार, श्लोक २, पृ० १।

२. गीत गोविन्द प्रथम सर्ग प्रथम प्रबन्ध।

३. स मत्स्यः कच्छपः कस्मात्सूकरो नर केशरी।
वामनो भूत्रिधा रामः पर प्राणीव दुखितः॥ भण्डार जी० १ पृ० ३०२ में संगृहीत

४. प्रभावक चरित्र की भूमिका के अनुसार १३वीं शती के पूर्व की रचना।

५. दशावतारो वः पायात् कमनीयाञ्जनद्युतिः।
किं श्रीपतिः प्रदीपः किं न तु श्रीपार्श्वतीर्थंकृते॥
प्रभावक चरित्र पृ० १ श्लोक पंक्ति ४।

स्थलों पर प्रासंगिक उल्लेख हुआ है।[१] इस महाकाव्य के श्लोक ९, ५३ की टीका से दशावतारों का स्पष्टीकरण होता है।[२]

वदने दशोश्च वनजंश्रिया स्थितं। हरिता च वामन तथा सहोदरे॥
धियि भार्गवत्वमभिराम कृष्णता। त्रिकुरेषु सर्वं विषयेषु बुद्धता॥

उक्त श्लोक की टीका में दशावतारपरक, अर्थ स्पष्ट किया गया है।[३] इसके नीचे ही पूर्व के नौ अवतारों का उल्लेख किया गया है। जिसमें दसवें स्थान में पृथ्वीराज के अवतार का आभास मिलता है।[४] राहुल जी ने 'हिन्दी काव्यधारा' में तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध के एक अज्ञात कवि, संभवतः कवि वृंद, की कविताओं का उदाहरण दिया है; जिनमें कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, नारायण, बुद्ध और कल्कि का उल्लेख हुआ है।[५] 'गोरखबानी' में विष्णु के दशावतारों को क्षीण कहा गया है।[६] नाथ सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के एक पद में दशावतार का प्रासंगिक उल्लेख भरथरी के सम्वाद में हुआ है। वहाँ विष्णु के अवतारजनित कष्टों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। विष्णु ने दश अवतार क्या धारण किये; उसे गर्भ में निवास कर पुनर्जन्म सम्बन्धी महा संकट का सामना करना पड़ा।[७]

आलोच्यकाल में बौद्ध धर्म से प्रभावित धर्म ठाकुर सम्प्रदाय के प्रवर्तक

---

१. पृथ्वीराज विजय पृ० १६१, ६, ५० पृ० २००, ८, ४३ पृ० २२६–२२९, ९, ५१–५४

२. पृथ्वीराज विजय पृ० २२८, ९, ५३।

३. वनजं पद्मुत्पलंच तच्छोभया मुखे दशोश्च स्थितिम् केशेषु मनोहरोसितता स्थिता सर्व पदार्थेषु प्रबुद्धता स्थिता वनजा मत्स्य कूर्म वराहाः हरिर्नरसिंह वामनों वलिजित भार्गवः परशुरामः अभिरामश्री रामः कृष्णेवासुदेव बुद्धसुगतः।
पृथ्वीराज विजय पृ० २२८, ९, ५३।

४. नव लक्षणन्यपि पुरातनान्यान्यमवलम्व्य भूपतिराधत्ततद्दलम्।
निरूपप्लवां रचयितुं क्षितिंयतो दशमावतार करणीयमग्रहीत्॥
टीका—एतानि नव संख्यानि पूर्व जन्मभवानि अपि लक्षणान्यवलम्व्याश्रित्य राजा तद्दलमवहत् तत्समवलोभूदित्यर्थः ततो भूमेरूपद्रवं निवारयितुं दशमावतारे कर्त्तव्यमग्रहीत्। पृथ्वीराज विजय पृ० २२८–२२९, १, ५४।

५. जिण वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे, पिट्ठिहि दंत ठाउ धरा।
रिउ-वच्छ विआरें छल तणु धारे, बंधिअ सत्तु सुरज्जहरा॥
कुल खत्तिअ कप्पे तप्पे दहमुह कप्पे कंसअ केसि विणास करा।
करुण पअले मेच्छह विअलेसो देउणाराअण तुम्ह वरा॥ हिन्दी का० पृ० ४५७।

६. विस्न दस अवतार थाप्या असाध कन्द्रप।
जती गोरखनाथ साध्या। पद २००, गोरखबानी पृ० ६७।

७. नाथ सि० बा० पृ० १०७ पद १३ 'विसन जेन दस ओतारं महा संकट ग्रभवासं।'

रमाई पंडित भी वैष्णव तत्वों से अनुरंजित प्रतीत होते हैं। इस सम्प्रदाय की पद्धतियों का विस्तृत ज्ञान प्रस्तुत करने वाली रचना 'धर्म-पूजा-विधान' (रचना काल १२वीं शती) में दो-तीन स्थलों पर दशावतारों का विवरण साम्प्रदायिक रूप में उपस्थित किया गया है। दशावतार का प्रथम सम्बन्ध परम कारण निरंजनदेव से बताते हुए कहा गया है कि उसने मीन अवतार-रूप में वेदों का उद्धार कर उन्हें स्वयम्भू सदन में जाकर दे दिया।[1] वह प्रभु जो चक्रपाणिदेव जगन्नाथ है, उसने कूर्म-रूप होकर अवनी को सिर पर धारण किया।[2] यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्रायः धर्म मंगल साहित्य में पुरी जगन्नाथ को कूर्म-रूप से अभिहित किया जाता था। कूर्मावतार से सम्बन्धित कतिपय पदों में जगन्नाथ से ही उन्हें स्वरूपित किया जाता रहा है।[3] यहाँ जगन्नाथ निरंजन के पर्याय होकर व्यवहृत हुए हैं। वे 'निरानन्द निरय ठाकुर' वराहरूप में सारी क्षिति को वसुन्धरा का रूप प्रदान करते हैं। नृसिंह रूप में हिरण्यकशिपु का वध कर प्रह्लाद का कष्ट दूर करते हैं।[4] वामन रूप धारण कर गोसाईं ने बलि को भुलावे में डाल दिया और उससे धरा दान ग्रहण किया। उन्होंने ही वीर भृगुराम होकर कई एक बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया था। बलराम के रूप में अवतरित होकर मूसल के द्वारा उन्होंने असुरों का संहार किया। रामावतार के प्रसंग में उन्होंने सीता-उद्धार की घटना ग्रहण की है। अतः राम ने सागर में सेतु बाँध कर रावण का बध किया तथा कपियों की सहायता से जनकदुहिता का उद्धार किया।[5] नवम अवतार में हरिमूर्त्ति ने जगन्नाथ नाम धारण कर जलधि के तीर पर निवास किया।[6] यहाँ इनका अवतार-कार्य विग्रहप्रधान कार्य प्रतीत होता है। क्योंकि अगले पद में कहा गया है कि ये वहाँ प्रसाद-दान करते हैं और नर-लीला के समाधान के निमित्त निवास करते हैं।[7] यहाँ एक बात और ज्ञातव्य है कि दशावतार-परम्परा में नवम अवतार के स्थान में प्रायः बुद्ध का नाम आता है। इस पद में बुद्ध के स्थान में जगन्नाथ का प्रयोग हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः दशावतार-परम्परा के नवम स्थान में कभी बुद्ध और कभी जगन्नाथ का प्रयोग होने के कारण जगन्नाथ और बुद्ध परस्पर अभिहित किए गये। इस क्रम के दसवें अवतार हैं—

१. धर्मपूजा विधान पृ० २०५। २. धर्मपूजा विधान पृ० २०६।
३. धर्मपुरान। मयूर भट्ट १७वीं शती पृ० ३७। ४. धर्मपूजा विधान पृ० २०६।
५. धर्मपूजा विधान पृ० २०६। ६. धर्मपूजा विधान पृ० २०६।
७. धर्मपूजा विधान पृ० २०७।
'प्रशाद कोरिया दान् नरे लीला सन्निधान समनेर करिले नेवास'।

कल्कि। यहाँ इनके किञ्चित् विस्तृत रूप का वर्णन किया गया है।[1] इस रूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि कल्कि-युग में चारों वर्ण एकाकार हो गये थे और प्रायः सभी लोग धर्म-पथ से विमुख हो रहे थे।[2] सम्भवतः उस समय कल्कि ने धर्म की रक्षा की।

उपर्युक्त दशावतार-क्रम की अपनी कुछ विशेषताएँ लक्षित होती हैं। अभी तक दशावतार-परम्परा की चर्चा करने वाले कवियों में जैन, बौद्ध आदि भी रहे हैं, परन्तु उन्होंने दशावतार की परम्परा का कहीं सम्प्रदायीकरण नहीं किया। पर प्रस्तुत क्रम में अवतारी या अवतार-धारक रूप निरंजनदेव नाम के एक साम्प्रदायिक उपास्य का विदित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ववर्ती मध्यकाल में विष्णु या कृष्ण की दशावतार-परम्पराओं का सम्बन्ध वैष्णव प्रवृत्ति से किंचित् भिन्न साम्प्रदायिक उपास्यों के साथ भी स्थापित किया जाता था।

'धर्म-पूजा-विधान' की दूसरी दशावतार-परम्परा निरंजन ठाकुर के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप में गुणात्मक अवतार की चर्चा करने के अनन्तर आरंभ होती है। इस परम्परा के अनुसार निराकार ठाकुर मीन, कूर्म, वराह, नरसिंह, बटु ब्रह्मदण्ड, भृगुपति, दशरथ-सूत, बलभद्र-रूप, बुद्ध-रूप तथा कल्कि-रूप धारण करते हैं।[3] इसमें पांचवाँ रूप 'बटु ब्रह्मदण्ड' सम्भवतः वामन से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। जैसा कि उस स्थल के प्रसंग से स्पष्ट है।[4] किंतु नवम अवतार का रूप जगन्नाथ के स्थान में बुद्ध का है।[5] इससे ऐसा लगता है कि उस काल में जगन्नाथ और बुद्ध अभिन्न ही नहीं थे, अपितु परस्पर एक दूसरे के पर्याय-रूप में भी प्रचलित थे। क्योंकि बौद्ध साहित्य में भी बुद्ध के लिए कतिपय स्थलों पर जगन्नाथ का प्रयोग मिलता है। इस क्रम के अन्त में कहा गया है कि जो इस कथा को सुनता है उसे निरंजन वर देते हैं।[6] इससे विदित होता है कि तत्कालीन युग में दशावतार अत्यन्त लोकप्रिय थे, क्योंकि जनसमूह का मन आकर्षित करने के लिए ही धर्म ठाकुर या निरंजन-देव से उपर्युक्त दशावतार-परम्परा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इन दो परम्पराओं के अतिरिक्त एक तीसरी परम्परा भी 'धर्म-पूजा-

---

१. धर्मपूजा विधान पृ० २०७। २. धर्मपूजा विधान पृ० २०७।
३. धर्मपूजा विधान पृ० २०८।
४. धर्मपूजा विधान पृ० २०७ : 'वटू ब्रह्मदण्ड धरि बोलि रसातल पूरि।'
५. धर्म पू० वि० पृ० २०८ : 'जलधिर तिरे स्थान बोध रूपे भगवान्'।
६. धर्म पू० वि० पृ० २०८ : 'ए कथा जे जन शुने तारे वर देन निरंजन'।

विधान' में मिलती है। यह परम्परा आगम-परम्परा के आधार पर गृहीत हुई विदित होती है। जैसा कि इसके शीर्षक 'आगमेर ञिनय' से स्पष्ट है। इसमें धर्म ठाकुर के शून्य रूप की चर्चा करने के अनन्तर उनके दशावतार-रूप का वर्णन किया गया है। इस क्रम के अनुसार उनका प्रथम रूप मीन का है परन्तु दूसरा रूप 'वायवन्न' बताया गया है। इस रूप में वे सम्भवतः बालू का समुद्र बाँधते हैं। तीसरा रूप वराह, चतुर्थ नृसिंह, पंचम वामन (वामन का पर्याय) रूप तथा षष्ठ श्रीराम-रूप है। इस क्रम का सप्तम रूप कृष्ण का ही एक रूपविशेष विदित होता है। गोपियों के कृष्ण का कालिदह और कंस-वध से सम्बन्ध होते हुए भी वे विप्रकुल में जन्म लेने वाले तथा 'गोयालाकुल' नाम वाले व्यक्ति बताये गए हैं।[1] आठवें अवतार हलधर माने गये हैं। इस अवतार में गोसाईं ने पृथ्वी का सम्बन्ध 'नङ्गल' से स्थापित किया। नवम अवतार 'कलंकिनी' रूप में सम्भवतः कल्कि का ही परिवर्तित रूप विदित होता है। इस अवतार में वे 'घड़ाय राउत' का वध करने वाले कहे गए हैं।[2] दसवाँ अवतार यहाँ पुनः जगन्नाथ को माना गया है। दसवाँ अवतार में उनकी प्रतिमा का वर्णन किया गया है।[3]

इस परम्परा की विशेषता यह है कि सर्वप्रथम इसे आगम-परम्परा में ग्रहण किया गया है। इसके अवतारी या अवतार ग्रहण करने वाले धर्म ठाकुर स्वयं भी प्रतिमा-विग्रह होने के नाते आगमों द्वारा प्रवर्तित विग्रहवाद के ही परिचायक हैं। सम्भव है कि उपर्युक्त उनकी दशावतार-परम्परा के अन्य रूप भी उस क्षेत्र और सम्प्रदाय में प्रचलित विभिन्न विग्रहों के ही प्रतीक रूप हों। उनमें अन्तिम जगन्नाथ तो निर्विवाद रूप से विग्रह मूर्त्ति हैं। किंतु अन्य रूप भी पौराणिक दशावतार-परम्परा से किंचित् भिन्न होने के कारण स्थानीय प्रभावों से युक्त प्रतिमा-विग्रह ही विदित होते हैं।

निष्कर्षतः 'धर्म-पूजा-विधान' की उपर्युक्त तीन परम्पराओं से स्पष्ट है कि वैष्णवेतर सम्प्रदायों में जिन समन्वयवादी प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था, उसके फलस्वरूप दशावतारों को भी अन्य सम्प्रदायों में अपनाया गया। आलोच्यकालीन दशावतार परम्पराओं के विकास में विग्रह मूर्तियों का ही अधिक प्रयोग होने के कारण पांचरात्र या आगम-सम्मत तत्त्वों का अधिक योग था। परिणामतः ये केवल अवतारमात्र नहीं थे, अपितु उपास्य के रूप में नित्य

---

१. धर्म पू० वि० पृ० २१४ : 'विप्रकूले जन्मि गोयालाकूले नाम'

२. धर्म पू० वि० पृ० २१४ : 'कलंख मारिया वले घड़ाय रायूत'।

३. धर्म पू० वि० पृ० २१४।

पूजित और भक्तों का उद्धार करने वाले अवतार विग्रह थे। तत्कालीन संदिग्ध एवं 'डिडेक्टिक' महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के एक अध्याय का नाम ही 'दसम' है। जिसमें प्रथम संक्षेप में और तदनन्तर विस्तारपूर्वक दशावतारों का वर्णन किया गया है।[1] 'पृथ्वीराज रासो' के विचारक डॉ० नामवर सिंह के कथनानुसार पृथ्वीराज रासो की प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों में दशावतारों का उल्लेख हुआ है। 'दसम' के अतिरिक्त इस महाकाव्य में अन्य स्थलों पर भी दशावतारों का उल्लेख या वर्णन हुआ है।[2] 'दसम' के प्रारम्भ में महाकवि चंद ने इस प्रकार प्रार्थना की है :

मछ्छ कछ्छ वाराह प्रनम्मिय नारसिंघ वामन फरसम्मिय।
सुअ दसरथ हलधर नम्मिय बुद्ध कलंक नमो दह नम्मिय ॥[3]

'पृथ्वीराज रासो' के उक्त उद्धरण में कृष्ण के स्थान में हलधर बलराम का नाम आया है तथा क्रम जयदेव की परम्परा में है। साथ ही 'दसम' में जहाँ विस्तारपूर्वक दशावतारों का वर्णन हुआ है, राधा-कृष्ण के श्रृङ्गारी रूप का और श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं का वर्णन हुआ है।[4]

निर्गुण और निराकार ईश्वर के उपासक, संत भक्तों के पदों में भी दशावतारों का कहीं प्रासंगिक उल्लेख और कहीं विस्तृत वर्णन हुआ है। यों तो इस वर्ग के प्रायः सभी संत अवतारवाद के साथ ही दशावतारों के भी आलोचक रहे हैं। परन्तु इन आलोचक संतों के अतिरिक्त कुछ संत ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने सगुणोपासक भक्तों की भांति दशावतारों का विस्तृत वर्णन किया है। इन संतों को यदि क्षेत्र की दृष्टि से देखा जाय तो सम्भवतः समस्त भारतीय भक्ति-काव्यों में ही दशावतारों के पक्ष या विपक्ष रूप में वर्णन किये जाने का अनुमान किया जा सकता है।

परन्तु मध्यकालीन हिन्दी या उससे मिलती-जुलती मराठी और बंगाली संतों की कुछ रचनाओं में भी दशावतारों की चर्चा हुई है।

निर्गुण भक्त कवियों में प्रमुख कबीर के साहित्य में दशावतारों की भर्त्सना

---

१. पृथ्वीराज रासो। ना० प्र० स०। जी० १ दूसरा समय, दसम।

२. कहै ब्रह्म अवतार दस धरे भगत हित काज।
रूप रूप अति दैत्य दलि द्रुपद सुता रषि लाज ॥
पृथ्वीराज रासो। ना० प्र० स०। जी० ३, पृ० १२४७, सर्ग ४५ छंद १४५ पुनः १४६ वें कवित्त में विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

३. पृथ्वीराज रासो जी० १ दूसरा समय, दसम, पृ० ८१।

४. पृथ्वीराज रासो जी० १ दूसरा समय, दसम, पृ० २१८–२३३ तक।

करने वाले कतिपय पद मिलते हैं। इन पदों में अन्य रूढ़ियों के सदृश कबीर ने दशावतारों का भी खंडन किया है। 'कबीर बीजक' में संगृहीत एक पद में कहा गया है कि जो अवतरित होकर पुनः लुप्त हो जाते हैं, वे ईश्वर के अवतार नहीं हैं अपितु यह सब माया का कार्य है।[1] न तो कभी मत्स्य-कूर्म हुए, न संखासुर का संहार किया। न किसी वराह ने कभी पृथ्वी धारण की। हिरण्यकशिपु को नख से विदीर्ण करने वाला कर्ता नहीं हो सकता। इसी प्रकार बलि के वामन द्वारा छलने की जो बात कही जाती है यह सब माया है। परशुराम ने भी क्षत्रिय वर्ग का संहार नहीं किया अपितु यह सब माया की करतूत रही है।[2] गोपी-ग्वाल तथा कंस-बध की कथाएं भी मायिक हैं। न तो उसे कभी बुद्ध कहा गया और न कभी उसने असुरों का संहार किया। वह करता भला कल्कि क्यों होता है। इस प्रकार यह दस अवतार की सारी क्रिया माया की ही रचना है।[3] 'कबीर वचनावली' के एक पद में कहा गया है कि ये दशावतार निरंजन कहे जाने पर भी अपना नहीं हो सकते, क्योंकि इन्होंने भी साधारण मनुष्यों की तरह अपनी-अपनी करनी का फल भोगा है।[4]

कबीर के ही समान अन्य निर्गुण शाखा के संतों ने भी दशावतारों की आलोचना की है। मलूकदास को दशावतारों के मूल-उद्गम में ही संदेह है। वे बड़े आश्चर्य से पूछते हैं कि ये दशावतार कहाँ से आए और किस करतार ने इनका निर्माण किया? ऐसे रूप तो अनेक हैं इन रूपों के भ्रम में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए।[5]

संत कवि रज्जब को दशावतारों की विविध संख्या पर ही संदेह है। वे विशेष कर अवतारों की दस और चौबीस की संख्या ही देख कर भड़कते हैं। इसी से वे ऐसे धनी का स्मरण करते हैं जो अकेला सभी का सिरमौर है।[6] सुन्दर दास के मतानुसार वे अवतार दूसरे की कहाँ तक रक्षा कर सकते हैं,

---

१. कबीर बीजक पृ० ३१ पद ८। २. वही पृ० ३१ पद ८।

३. वही पृ० ३१ पद ८ 'दस औतार ईसरी माया, करता कै दिन पूजा।'

४. कबीर वचनावली पृ० १३ दस औतार निरंजन कहिये, सो अपना न होई।
यह तो अपनी करनी भोगै, कर्ता और ही कोई॥

५. मलूकदास की बानी पृ० १५-१६ दस औतार कहां ते आये, किन के गढ़े करतार
तथा—दस औतार देखि मत भूलो ऐसे रूप घनेरे।

६. रज्जब जी की बानी पृ० ११८ पद ७७
एक कहै औतार दस, एक कहै चौबीस।
रज्जब सुमिरै सो धणी, जो सब ही कै सीस॥

जिन दशावतारों के अवतरित होने की चर्चा की जाती है उन्हें तो स्वयं काल झपटा मार कर ले जाता है।[1]

संत कवियों की दशावतार सम्बन्धी इस आलोचना से स्पष्ट है कि उनके युग में दशावतारों की उपासना अधिक प्रचलित थी। इसी से दशावतारों की ओर लक्ष्य करके उनके पद लिखे गए हैं। इन पदों से स्पष्ट है कि वे पर ब्रह्म के अवतरित उपास्य विग्रह के रूप में पूजित होते थे, इसी से अपने शाश्वत, सनातन और निराकार ईश्वर के साथ संतों ने उनकी नश्वरता तथा मानवोचित कार्यों की विरोधात्मक तुलना की है।

उपर्युक्त आलोचक संतों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी संत दृष्टिगत होते हैं जिन्होंने प्रकारान्तर से अवतारवाद का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनके दशावतारपरक पदों से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। सिख गुरुओं में गुरु अर्जुन का एक ऐसा पद 'गुरु ग्रन्थ साहब' में मिलता है जिसमें उनके उपास्य के अनेक विष्णुवाची पर्यायों का प्रयोग हुआ है। उसी क्रम में क्रमबद्ध दशावतारों का तो नहीं परन्तु बिना क्रम के ही दशावतारों में से बुद्ध और कल्कि को छोड़ अन्य सभी का उल्लेख हुआ है।[2] इनके अतिरिक्त 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' नामक पुस्तक में सत्रहवीं शती के दो मराठी संतों की रचनाओं में दशावतारों का उल्लेख हुआ है। मराठी संत देवदास की एक स्फुट रचना में राम-कृष्ण दोनों को अवतारी मान कर उन्हें दशावतार-रूप में अवतरित होने वाला कहा गया गया है।[3] इनके समकालीन बाल कृष्ण लक्ष्मण पाठक के 'ललित संग्रह' नामक स्वांगों में दशावतारपरक वार्तालाप दृष्टिगत होते हैं। इन वार्तालापों में दशावतारों की चर्चा के साथ-साथ उनके दुष्ट-संहारक और दीनोद्धारक प्रयोजनों का भी उल्लेख किया गया है।[4] इन स्वांगों में छड़ीदार और पाटील के वार्तालाप में छड़ीदार पाटील को उत्तर देता है कि उसने दशावतारों में नौकरी बनाई। पुनः वह प्रत्येक अवतार का नाम लेता है।[5]

---

१. सु० ग्रं० भा० २ पृ० २९८ पद ६ : कहत दस औतार जग में, औतरे आई।
काल तेऊ झपटि लीने, बस नहीं कोई॥

२. गु० ग्र० सा० पृ० १०८२-१०८३।

३. हिं० म० सं० देन पृ० भूमिका घ : अजेब बने नंदलाल
दस अवतार राम कृष्ण बन्यो है
सब गोपी खुशाल

४. हिं० म० सं० देन पृ० ४५-४६।
ऐसे महाराज निर्गुण निराकार, उन्ने लिए दश अवतार।
किया दुष्टन का संहार, वो दीनोद्धार महाराज हैं, मेहेरबान सलाम।

५. हिं० म० सं० देन पृ० ४६ : पाटील—तुमने कहां नौकरी बनाई?

इन स्वांगों में प्रचलित दशावतारपरक वार्तालापों से सिद्ध होता है कि १० वीं शती से पूर्व और समकालीन समाज में दशावतार बहुत अधिक लोकप्रिय थे; क्योंकि महाराष्ट्री नाटकों के प्रारम्भिक स्रोत हिन्दी भाषा में लिखित इन ललित नामक स्वांगों में ही माने जाते हैं।[1] अतः लोकप्रिय स्वांगों में दशावतारों का उल्लेख स्वतः उनके अत्यधिक प्रचार का परिचय देता है।

इसी प्रकार बंगाल के १७ वीं शती के कवि मयूर भट्ट की रचना 'श्री धर्मपुराण' में दशावतारों का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में धर्म के अनेक विग्रह-रूपों की चर्चा करते समय सम्भवतः धर्म सम्प्रदाय में विग्रह-रूप में मान्य कूर्म के दशावतार-रूप का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है।[2] इस पुराण के अनुसार धर्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक जब निरंजन की स्तुति करते हैं, तब अपने उपास्य को ब्रह्म सनातन, परमेश, परात्पर प्रभृति कहने के उपरान्त 'मत्स्यादि मूर्त्तिभेदे' भगवान बतलाते हैं। वह कभी निराकार और साकार भी होता है।[3] इस पुराण में दशावतारों का संख्यात्मक प्रभाव भी 'दश इन्दीवर दले कमठ आकृति' के रूप में दृष्टिगत होता है।[4]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिन्दी से इतर क्षेत्र के सम्प्रदायों में भी दशावतारों का पर्याप्त प्रभाव था।

मैथिल कवि विद्यापति की दशावतारों पर कोई रचना नहीं मिलती, परन्तु पदावली में इन्होंने कतिपय स्थलों पर अपने आश्रयदाता शिवसिंह रूप नारायण को एकादश अवतार कहा है।[5]

इससे सिद्ध होता है कि विद्यापति तत्कालीन युग में प्रचलित दशावतार की प्रवृत्ति से पूर्णतः परिचित थे। एकादश अवतार-सम्बन्धी इनके कतिपय उल्लेखों को देखते यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने पूर्ववर्ती जयदेव के सदृश दशावतार-सम्बन्धी भी कोई रचना की हो जो अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हो। क्योंकि बंगाल के प्रसिद्ध भक्त कवि चण्डीदास जो लगभग इनके समकालीन माने जाते हैं, उनके 'श्रीकृष्णकीर्त्तन' नाम से

छड़ीदार—दश अवतार में। पाटील—कोने से दस अवतार में।
छड़ीदार—मच्छ, कच्छ, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, श्रीकृष्ण, बौद्ध कल्की ऐसे महाराज के दश अवतार में नौकरी बनाई।

१. हि० म० सं० देन पृ० ४५। २. धर्म पुरान (बंगला) पृ० ३७।
३. धर्म पुरान पृ० २८। ४. धर्म पुरान पृ० ३७।
५. विद्यापति (खगेन्द्रनाथ मित्र) पृ० १३२-१३३ पद १७५ और पृ० १५१ पद १९७।
'राजासिवसिंह रूपनारायन एकादश अवतारे।'

संगृहीत पद-संग्रह में फुटकर प्रासंगिक रूप से कतिपय अवतारों के उल्लेखों के अतिरिक्त दशावतार-सम्बन्धी भी एक पद मिलता है। चण्डीदास ने इस पद में श्रीकृष्ण हरि का सर्ववादी रूप चित्रित करते हुए कहा है कि वही देवता हरि जल, थल, वन, गिरि, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि भी है। वही सूर्य, चन्द्र, दिग्पाल-स्वरूप हरि लीलातनु धारण कर गोपाल-रूप में अवतरित हुआ है। उसी ने मीन-रूप में वेदों का उद्धार किया, कमठ-शरीर से पृथ्वी धारण किया, महाकाल-रूप (संभवतः वराह का ही महाकार) होकर मेदिनी तोलन किया, नरहरि-रूप से हिरण्य का विदारण किया, वामन-रूप से बलि को छला, परशुराम-रूप से क्षत्रियों का नाश किया, श्रीराम-रूप से रावण का वध किया, बुद्ध-रूप धारण कर निरंजन का चिंतन किया तथा कल्कि-रूप धारण कर दुष्टजनों का दलन किया। इस प्रकार कंस के वध के निमित्त भी वे ही उत्पन्न हुए थे।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि चण्डीदास का यह दशावतार-वर्णन तत्कालीन परम्परा के ही अनुगमन-स्वरूप है। इसमें एक ओर अवतार तथा वहीं संक्षेप में अवतारों के प्रयोजन का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु अन्य अवतारों के प्रयोजनों की अपेक्षा बुद्ध का अवतार-प्रयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2] उसमें बुद्ध निरंजन का चिंतन करने वाले बताए गए हैं। अतः इस पंक्ति से शून्य पुराणकारों का बुद्ध से सम्बन्ध स्पष्ट है।

'रागकल्पद्रुम' में तानसेन के पूर्व के[3] एक गायक बैजूबावरा की एकादशावतार सम्बन्धी रचनायें मिलती हैं।[4] उस पद में पूर्णकाम कृष्ण-विष्णु के जगनिस्तार, जनप्रतिपालन, कंसवध, सन्त-उद्धार, भुव-भार-हरण आदि अवतारी कार्यों की चर्चा करते हुये 'मछ, कछ, वराह, नरहर, वामन, परसराम, राम, हलधर, नारायण, बुद्ध और कल्कि' के नाम प्रयुक्त हुये हैं।[5] उपर्युक्त अवतरणों से विदित होता है कि दशावतारों की आगे चलकर

---

१. श्रीकृष्ण कीर्तन (चंडीदास) पृ० ९२।

२. श्रीकृष्ण कीर्तन पृ० ९२ : 'बुद्ध रूप धरि चिन्तले निरंजन।'

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास सं० २००५ वि०, पृ० १६८, श्री रामचन्द्र शुक्ल ने इनका समय तानसेन से पूर्व माना है।

४. भा: १०, ४०, १७–२२ में वासुदेव के अतिरिक्त उनके व्यूह को छोड़कर एकादश अवतारों का उल्लेख हुआ है, परन्तु इसमें नारायण न होकर हयग्रीव हैं।

५. मछ कछ वराह नरहर वामन परसराम,
राम हलधर नारायण बुध कल्की नाना विध वपु धारण।
बैजू के प्रभु एक ते अनेक होय बहुरूप बहुभेष धरे अपने सेवक के जन्म मरण निवारण।
रागकल्पद्रुम जी० १, पृ० १२७ पद २।

रूढ़िबद्ध और रूढ़िमुक्त दो प्रकार की परम्पराएँ चल पड़ी थीं; क्योंकि महाकवि सूरदास के सूर सागर में दशावतारों के क्रम से अवतारों के नाम प्रयुक्त हुये हैं। परन्तु दस-संख्या की परम्परा का पालन नहीं हुआ है। इस क्रम से प्रयुक्त उनके पदों में एक साथ अर्थात् मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम और राम की ही चर्चा हुई है।[1] कृष्ण-पूर्व के अवतारों को अभिव्यक्त करने की यह प्रवृत्ति श्रीमद्भागवत में भी लक्षित होती है।[2] 'सूरसागर' में, पृथक् पदों में दशावतार-सम्बन्धी पद नहीं मिलते।[3] किन्तु 'रागकल्पद्रुम' में सूर के नाम से दशावतार-सम्बन्धी एक रचना मिलती हैं, जिसकी एक पंक्ति इस प्रकार है :—

'दशम स्कन्ध भागवत गावै रूप शरण भगवंतं।'

इस पद में ब्रह्म, नारायण, श्रीपति, कमलाकान्त के दशावतारों का वर्णन है। अवतार-क्रम में श्रीकृष्ण के स्थान में बलभद्र और बुद्ध के स्थान में जगन्नाथ का प्रयोग हुआ है।[4] सूर के अतिरिक्त दशावतारों पर परमानन्द दास के नाम से भी एक पद मिलता है। उसमें दशावतार धारण करने वाले पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, तथा अवतार-क्रम मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, राम, नृसिंह, परशुराम, बुद्ध और कल्कि है।[5] इसकी भाषा में खड़ी बोली की प्रवृत्ति

---

१. सूर सागर पृ० ३०४, पद १०, १२७। २. भा १०, २, ४०
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।

३. सूरसागर पृ० १२६, पद ३६ में अवतारों के वर्णन में ही दस अवतारों को एक स्थान पर और पुनः उसी पद में चौदह अवतारों को कहा गया है। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि सूरदास तत्कालीन युग में प्रचलित दशावतार-परम्परा से अवगत थे।

४. जै नारायण ब्रह्म परायण श्रीपति कमला कान्तं।
नाम अनन्त कहाँ लगि बरणौं शेष न पार लहंतं॥
मच्छ कच्छ शूकर नरहर प्रभू वामन रूप धरंतं।
परशुराम अहि रामचन्द्र होय, लीला कोटि करंतं॥
है बलभद्र सब दैत संहारे कंस के केश गहंतं।
जगन्नाथ जगमग चितो बैठे हैं निवन्तं॥
कल्पीक होय कलंक ज्यों हरिये जग दशं गुणवन्तं।
दशम स्कन्ध भागवत गावें रूप शरण भगवन्तं।
परब्रह्म पूरण पुरुषोत्तम आगम निगम भनन्तं॥
सूरदास प्रभु को पार न पावत अलख अनादि अनन्तं।

रागकल्पद्रुम जी० १, पृ० ४४३, पद २।

५. परमेश्वर पुरुषोत्तम स्वामी यशुमति सुत कहलाया है।
मच्छ कच्छ वराह औ वामन रामरूप दर्शाया है॥

दमन कर, भू-भार हरोगे, बौद्ध होकर दया करोगे और पुनः कल्कि-रूप में म्लेच्छ-समूह का नाश करोगे।[1] श्रीराम के द्वारा दशावतार-धारण-सम्बन्धी एक पद कान्हर दास का मिलता है। इस पद के अनुसार रामचन्द्र जी ने मीन-रूप में शङ्खासुर का वध कर ब्रह्मा को वेद प्रदान किया और देवताओं का काम किया। कच्छप-रूप में मन्दराचल पीठ पर धारण किया। इसमें वराह अवतार के कार्यों का उल्लेख नहीं है। उन्होंने नृसिंह अवतार में प्रह्लाद की प्रतिज्ञा पूरी की है। ये ही वामन बलि के स्वामी और परशुराम वरनामी हैं। इन्होंने ही रघुवंश को उज्ज्वल किया है। ये ही नागर कृष्णानन्द हैं; बुद्ध और निकलंक इन्हीं के रूप हैं।[2]

इसके अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि परशुरामाचार्य ने 'परशुराम-सागर' में 'दस औतार को जोड़ौ' शीर्षक में पृथक्-पृथक् क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, जगन्नाथ (जगन्नाथपुरी) और कल्कि का वर्णन किया है। इन अवतारों के कार्यों में परम्परागत अवतारी कार्यों का ही उल्लेख है।[3] किन्तु इस दश में बुद्ध के स्थान में उड़ीसा के जगन्नाथ जी गृहीत हुए हैं।[4] रसिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचक एक परवर्ती संस्कृत रचना 'पुराण संहिता' में भी दशावतारों का उल्लेख पृथक्-पृथक् श्लोकों में

---

१. रामचन्द्रिका केशव कौमुदी पूर्वार्द्ध पृ० ३६०-३६१।

२. श्री रघुनाथ जी मेरे का वरन सके गुण तेरे।
प्रभु प्रथम मीन बपु धरयो संखासुर गरव प्रहारयो ॥
ब्रह्मा को वेद जो दीनै तुम काज सुख के कीने।
प्रभु कच्छप रूप बनायो मन्दराचल पीठ धराओ ॥
शूकर नरहरि वपुधारी प्रह्लाद प्रतिज्ञा पारी।
तुम ही बल वामन स्वामी तुम परशुराम वरनामी ॥
तुम ही रघुवंश उजागर तुम कृष्णानन्द के नागर।
बुद्ध निकलंक रूप तिहारो हर भक्तन के रखवारो ॥
अवगत गत नाथ तिहारो जाए दास कान्हर बलिहारी।

रागकल्पद्रुम जी० १, पृ० ६७९।

३. परशुराम सागर (हस्तलिखित प्रति) ना० प्र० सभा काशी पृ० नहीं दिया हुआ है। दशावतार को जोड़ौ।

४. जगनाथ जगदीस सकल पति भोग पुरन्दर बैठि आई।
पूरण ब्रह्म सकल सुख की निधि प्रगट उडीसै है हरिराई ॥
जाकै हीरानाम जोग विधि सुन्दर चन्दन देह चर्म सुखदाई।
परसराम कहै प्रभु को द्रस पावत गावत सुणत सबै दुष जाई ॥
परशुराम सागर, 'दस औतार को जोड़ौ' और बुद्ध जगन्नाथ संबंध बौद्धावतार शीर्षक में द्रष्टव्य है।

हुआ है; उसमें क्रमशः मत्स्य, वराह, नृसिंह, दाशरथी राम, जमदग्नि सुत राम, हलधर, बुद्ध और कल्कि वर्णित हुए हैं।[1] निम्बार्क सम्प्रदाय के औदुम्बराचार्य ने सर्वेश्वर श्याम सुन्दर की स्तुति करते हुए उनके द्वारा धारण किये हुये उक्त दशावतारों का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त 'रागकल्पद्रुम' में कुछ अज्ञात कवियों की दशावतार-सम्बन्धी रचनायें मिलती हैं।[3] इनमें दो पदों के रचयिता क्रमशः शिवकृपाल और रणबहादुर विदित होते हैं। तीसरे का नामोल्लेख नहीं है। इनका इतिहास ग्रंथों में उल्लेख न होने के कारण तत्कालीन या परवर्ती होने का कुछ पता नहीं चलता। रीतिकालीन देव कवि ने भी दशावतारों का वर्णन रीति-शैली में किया है।[4] 'रागकल्पद्रुम' में अपरिचित कवि का एक और पद मिलता है। उसकी प्रथम पंक्ति में जगन्नाथ, बलभद्र और सहोदरा का नाम रटने का आग्रह होने के कारण उसका जगन्नाथ अर्चा से सम्बन्ध विदित होता है। इसकी अंतिम पंक्ति में वृन्दावन के वासी महाप्रभु को 'कल्की-रूप' में आविर्भूत होने के लिये कहा गया है।[5]

उपर्युक्त अपरिचित कवियों के परवर्ती होने की संभावना हो सकती है। परन्तु उनके पूर्व ११वीं से १७वीं के अन्त तक के कवियों की रचनाओं को देख कर आलोच्यकाल में दशावतार की अविच्छिन्न परम्परा का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है।

निष्कर्ष

दशावतार-परम्परा के क्रमिक अध्ययन से मध्यकालीन साहित्य-सम्बन्धी कतिपय मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है।

---

१. पुराण संहिता, चौखम्बा संस्कृत ग्रंथमाला पृ० ४६ अ० ८, ३३-४२।

२. मत्स्याय कूर्माय वराहभासे श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्याय रामाय रघूत्तमाय भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय॥
बुद्धाय वै कल्किन एवमादिनानावतारौघधराय नित्यम्।
सच्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे॥
कल्याण ३० वर्ष अङ्क २, पृ० ७२१ में निम्बार्क विक्रान्ति से उद्धृत श्लोक ५, ६।

३. रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ५१ पद ३२ शिवकृपाल, पृ० १२३, पद ८५ रणबहादुर, पृ० १८७, पद १० नाम अज्ञात।

४. देव ग्रन्थावली पृ० ६१ क, ४४।

५. जगन्नाथ बलभद्र सहोदरा चक्र सुदरसन रट रे।
ब्रह्म शेष महेश शारदा पार न पावे भट रे॥
मच्छ कच्छ वाराह अवतार रूप धारे जो नट रे।
नरहरि वामन परसराम मुनि राम कृष्ण भए भट रे॥

उद्गम की दृष्टि से दशावतारों का उद्भव 'महाभारत' से माना जा सकता है। क्योंकि अवतारों के चार, छः और दस का जो क्रम 'महाभारत' में मिलता है, उससे दशावतारों के क्रमिक विकास का पता चलता है।

पौराणिक साहित्य के दशावतार-रूपों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनतर पुराणों में दशावतारों की दस संख्या के प्रति विशेष महत्त्व नहीं दीख पड़ता। परन्तु परवर्ती पुराणों में दशावतारों की संख्या रूढ़ सी हो जाती है।

इसी क्रम में यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'महाभारत' में जहाँ दशावतारों के उद्भव और विकास का क्रम दीख पड़ता है, वहीं ये विशुद्ध अवतार की अपेक्षा उपास्य रूप में अधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। आगे चल कर परवर्ती पुराणों में भी अवतार-रूप की अपेक्षा इनका उपास्य रूप ही मुख्य हो जाता है।

गुप्तकाल में शेषशायी विष्णु के साथ उनके वराह प्रभृति अन्य अवतारों की मूर्तियों का निर्माण भी आरम्भ हो जाता है। किन्तु परवर्ती काल में शेषशायी विष्णु के साथ दशावतारों की मूर्तियाँ बनने लगती हैं। इस प्रकार दशावतारों की मूर्ति-पूजा का प्रचलन होने पर परवर्ती पुराणों के द्वारा उनके उपास्य विग्रह-रूप का अधिकाधिक प्रसार होता है। यह प्रारम्भिक प्रवृत्ति छठी से लेकर बारहवीं तक अधिक दिखाई पड़ती है। क्योंकि जहाँ तक मेरा अनुमान है दसवीं शताब्दी से पूर्व के संस्कृत या प्राकृत साहित्य में दशावतार उतने लोकप्रिय नहीं प्रतीत होते। किन्तु फिर भी दसवीं शताब्दी के पश्चात् भी बौद्ध और जैन कवियों में इनका प्रचार दीख पड़ता है।

क्योंकि काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र, जैन कवि अमितगति, वैष्णव जयदेव, धर्मठाकुर सम्प्रदाय के प्रवर्तक रमाई पंडित, और राजस्थान के कवि चन्दबरदाई द्वारा दशावतारों का वर्णन किए गये देख कर दो तथ्यों की ओर ध्यान जाता है। एक तो यह कि विभिन्न क्षेत्रों के इन कवियों को देखते हुए दशावतारों के लोकव्यापी प्रसार की भौगोलिक सीमा बहुत विस्तृत हो जाती है। साथ ही इन कवियों को विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों से सम्बद्ध देखते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्यकाल में दशावतार की परंपरा साम्प्रदायिक सीमा का अतिक्रमण कर चुकी थी।

मा हिंसा परमोधरम इति वाक्य परगट रे।
वृन्दावन के वासी महाप्रभू कलकी होय परगट रे॥
रागकल्पद्रुम जी० १, पृ० ३४४, पद सं० १६।

हिन्दी में दशावतारों की परम्परा रीतिकालीन युग तक मिलती है। हिन्दी की दशावतार-परम्परा में निर्गुण-सगुण भक्त कवियों तथा रीतिकालीन कवियों का विशिष्ट योग दीख पड़ता है। चाहे पक्ष या विपक्ष में सगुण या निर्गुण दोनों शाखा के भक्त कवि दशावतारों की चर्चा किसी न किसी रूप में करते हैं। विरोधी सन्तों की आलोचना से तथा महाराष्ट्री स्वांगों में प्रयुक्त दशावतारों से भी दशावतार-परम्परा की लोकप्रियता ही सिद्ध होती है।

इसमें संदेह नहीं कि दशावतार-परम्परा का उत्कर्ष आठवीं से लेकर १७वीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रहा है। परन्तु दसवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक प्रचार की दृष्टि से दशावतारों का सर्वोत्कृष्ट युग रहा है। कालान्तर में उनकी वह लोकप्रियता नहीं रही जो इस काल में दीख पड़ती है।

इस ह्रास के मुख्य कारणों में संत सम्प्रदायों की विरोधी भावना के अतिरिक्त राम-कृष्ण प्रभृति विशिष्ट अवतारों की अधिक लोकप्रियता भी मानी जा सकती है।

सामूहिक अवतार

इस युग में पर ब्रह्म के अवतार के अतिरिक्त अन्य देवों के सामूहिक रूप से अवतरित होने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। अवतारवाद की अन्य सामान्य प्रवृत्तियों के सदृश सामूहिक अवतार की प्रवृत्तियाँ, परम्परा की कड़ियों से तत्कालीन प्रभाव रखते हुए भी किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं।

अतएव इस दृष्टि से मुख्यतः तीन प्रकार की परम्परायें मिलती हैं। इनमें सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' की परम्परा का स्थान आता है। जिसका सम्बन्ध रामावतार की कथा से है। इसके अतिरिक्त कृष्ण से सम्बन्धित दो परम्परायें मिलती हैं जिनमें एक का सम्बन्ध 'महाभारत' से और दूसरी का सम्बन्ध 'हरिवंश', 'विष्णु' और 'भागवतपुराण' से है। अन्य पुराणों में भी जहाँ सामूहिक अवतार के प्रसंग आये हैं, वहाँ उपर्युक्त तीन परम्पराओं का ही अनुसरण होता रहा है।

प्रयोजन की दृष्टि से महाकाव्य और पौराणिक दोनों में भू-भार-हरण और देव-शत्रुओं का वध ही मुख्य माने गये हैं। साधारणतः पृथ्वी अत्याचारों से भारान्वित होकर देवताओं के पास जाती है तथा देवता ब्रह्मा के पास और ब्रह्मा देवताओं के साथ परब्रह्म-एकेश्वर (विष्णु) के यहाँ जाते हैं। वहाँ विष्णु के साथ-साथ देवताओं के सामूहिक रूप से अवतरित होने की योजना बनती

है।[1] यहाँ बहुदेवता और एकेश्वर विष्णु के सामूहिक अवतार में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद में विचित्र सामंजस्य उपस्थित होता है। विष्णु भी यहाँ देव-पक्षीय होने के कारण प्रारम्भ में देवों में एक श्रेष्ठ देवता मात्र ही विदित होते हैं। इसके अतिरिक्त सामूहिक अवतारों में जो देवता भाग लेते हैं, उनमें तत्कालीन यक्ष, नाग आदि देवों के होते हुये भी वैदिक इन्द्र, सूर्य-और वायु, प्रजापति या ब्रह्मा, आदि की प्रधानता दृष्टिगत होती है। वा० रा० १७ में क्रमशः ब्रह्मा-जाम्बवान, इन्द्र-बालि, सूर्य-सुग्रीव 'बृहस्पति-तार' कुबेर-गंधमादन, विश्वकर्मा-नल, अग्नि-नील, अश्विनी कुमार मैंद और द्विविद, वरुण-सुषेण, पर्जन्य-शरभ, मारुत-हनुमान तथा अन्य सहस्रों देवता यक्ष, किन्नर, नाग आदि उत्पन्न होते हैं।[2] आदि कवि वाल्मीकि के अनन्तर जितनी रामायणों की रचनायें हुईं उनमें प्रायः विस्तृत या न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में यही परम्परा मिलती है।

'रामायण' के पश्चात् 'महाभारत' (उपदेशात्मक) में अंशावतरण और सम्भव नाम से दो पर्व ही विख्यात हैं। उनमें 'महाभारत' के आकारानुरूप सहस्रों देव, राक्षस, यक्ष, किन्नर आदि के अवतारों का वर्णन हुआ है।[3] उनमें एक पक्ष में दुर्योधन-कलि[4] और कर्ण-सूर्य[5] अवतार माने गये, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर-धर्म, भीम-वायु, अर्जुन-इन्द्र, नकुल और सहदेव-अश्विनीकुमार, अभिमन्यु-चन्द्रमापुत्र-वर्चा (बुध)[6] बतलाये गये हैं। श्रीकृष्ण से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यहीं भागवत कृष्ण और उनके सहयोगियों के अवतारों का भी उल्लेख हुआ है। इसी अध्याय में श्रीकृष्ण-नारायण, बलदेव-शेषनाग, और प्रद्युम्न-सनत्कुमार के अवतार कहे गये हैं।[7] वासुदेव कुल के सभी राजा देवांश और श्रीकृष्ण की १६ सहस्र स्त्रियाँ अप्सराओं का अवतार कही गई हैं, तथा रुक्मिणी को लक्ष्मी का अवतार बतलाया गया है।

---

१. वा० रा० १, १६, २५ 'वधाय देवशत्रूणाम् ।'
महा० १, ६४, ५४ भूभार, देव-शत्रुवध, हरि० ५१, २६-२७ भूभार।
विष्णु० ५, ७, २८ भूभार, भा० १०, १, २२।

२. वा० रा० १, १७, ७-२२। इलाहाबाद सं० १९४९। महा० वन पर्व २७६-७ में इनके सामूहिक अवतार मात्र का उल्लेख।

३. महा० आदि पर्व अन्तर्गत अंशावतरण पर्व।

४. महा० १, ६७, ८७। ५. महा० १, ६७, १५०।

६. महा० १, ६७, ११०-११३।

७. महा० १, ६६, १५१-१५६। यहाँ व्रज-कुल के अवतार का बिलकुल उल्लेख नहीं हुआ है, केवल द्वारका कृष्ण के अवतार ही गृहीत हुए हैं।

इसके अतिरिक्त सामूहिक अवतार की तीसरी परम्परा 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' और 'भागवतपुराणों' में मिलती है। हरिवंश पु० के अनुसार देवता विष्णु को जगाकर भूभार-हरणार्थ मंत्रणा करते हैं[1] तथा आकाश और पृथ्वी के देवता अपने अंश से विप्र, राजा और अयोनिज शरीरों में उत्पन्न होने का आदेश चाहते हैं।[2] 'विष्णुपुराण' के पाँचवें अंश में सामूहिक अवतार श्रीकृष्ण से सम्बद्ध गोप गोपियों, देव और देवियों के अवतार बतलाये गये हैं।[3] यहाँ सर्वप्रथम प्रयोजन के अतिरिक्त उनका लीलात्मक रूप दृष्टिगत होता है।[4]

'विष्णुपुराण' के सदृश 'भागवतपुराण' में भी ब्रह्मा जी देवताओं को सामूहिक रूप से यदुकुल में उत्पन्न होकर श्रीकृष्ण की लीला में सहयोग देने का आदेश देते हैं।[5] और इन तीनों पुराणों में एक विशेष अन्तर यह दिखलाई पड़ता है कि जहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' में वैदिक, यक्ष आदि देवों का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है, वहाँ इनमें देवों के अवतीर्ण होने की सूचना भर मिलती है। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अथर्ववेदीय उपनिषदों में इस कसर को पूरा कर दिया गया है। 'श्रीकृष्णोपनिषद्' में नन्द-भगवान के आनन्दांश, यशोदा-मुक्ति, वैष्णवी माया-देवकी, निगम-वासुदेव, ब्रह्म-श्री बलराम और श्रीकृष्ण, ऋचाएं गो-गोपियाँ, ब्रह्मा-लकुटी, रुद्र-वंशी, इन्द्र-सींगा, वैकुंठ-गोकुल, महात्मा-वृक्ष के रूप में अवतरित हुए।[6] पुनः आगे चलकर शेष—बलराम, ब्रह्म-श्रीकृष्ण, और सोलह सहस्र एक सौ आठ रुक्मिणी आदि रानियाँ-वेद की ऋचाएं तथा उपनिषद् और ब्रह्म रूपा ऋचाएं गोपियाँ कही गई हैं।[7] तापनीय उपनिषदों की अपेक्षा 'कृष्णोपनिषद्' 'भागवत' की परंपरा के निकट प्रतीत होता है; क्योंकि इसमें राधा का उल्लेख नहीं है। उपर्युक्त तीनों सामूहिक अवतार-परंपराएं हिन्दी साहित्य में मिलने लगती हैं। विशेष कर रासो में 'रामायण' या 'महाभारत' के पात्रों का अवतारीकरण दृष्टिगत होता है। संभवतः युद्ध और वीर भावों की प्रधानता के कारण ऐसा विदित होता है। इस प्रकार 'रामायण' और 'महाभारत' में वर्णित सामूहिक अवतारों की रूपरेखा केवल सम्प्रदायों में ही नहीं बल्कि सम्प्रदाय से बाहर

---

१. हरि॰ पु॰ हरिवंश पर्व, ५१, २२-२३।

२. हरि॰ पु॰ हरिवंश पर्व १, ५३, १०।

कथमंशावतरणं कुर्मः सर्वे पितामह। अन्तरिक्षगता येच पृथिव्यां पार्थिवाश्च ये।
सदस्यानां च विप्राणां पार्थिवानां कुलेषु च अयोनिजाश्चैव तनूः सृजामो जगतीतले।

३. वि॰ पु॰ ५, ७, ३९, ४१। ४. वि॰ पु॰ ५, ७, ४०। ५. भा॰ १०, १, २२।

६. वैष्णव उपनिषद् अन्तर्गत कृष्णोपनिषद् ३-९ श्लोक। ७. वही श्लोक १०।

के साहित्य में भी विभिन्न रूपों में प्रचलित हुई। कालान्तर में शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में राम-कृष्ण-सम्बन्धी जितने महाकाव्यों की रचना हुई वे 'रामायण' और 'महाभारत' से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुए। मध्यकालीन प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के महाकाव्यों पर भी उनका यथेष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। विशेषकर स्वयम्भू आदि जैन कवियों ने तो एक विशुद्ध साहित्यकार की भावना से वाल्मीकि तथा उनकी परंपरा में आने वाले अन्य कवियों का आभार प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। इस युग के प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य 'पृथ्वीराज-विजय' में 'रामायण' का अवतारवादी सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

'पृथ्वीराज-विजय' में पृथ्वीराज राम के अवतार माने गये हैं।[1] इनकी रानी तिलोत्तमा सीता का अवतार है।[2] इसके अतिरिक्त एकादश अध्याय में पृथ्वीराज के पूर्व जन्म की कथा वर्णित करते हुए एक प्रकार से कवि ने रामकथा का ही वर्णन किया है।[3]

किन्तु महाकवि चंद के परिवर्द्धित 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज को अजित नाम के किसी दानव पुरुष का अवतार कहा गया है।[4] साथ ही पृथ्वीराज की सहायता के लिए दुर्योधन-कन्ह के रूप में आविर्भूत होता है।[5] पुनः पृथ्वीराज की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि पृथ्वीराज चौहान कलि में कर्ण का अवतार है।[6] इस प्रकार कतिपय स्थलों पर पृथ्वीराज कहीं इन्द्र और कहीं कामदेव के अवतार भी बतलाये गये हैं।[7] उपर्युक्त अवतारीकरण की चेष्टाओं में उपमा का ही स्पष्ट प्रभाव विदित होता है। प्रस्तुत रासो में पृथ्वीराज की रानियाँ भी अप्सराओं का अवतार कही गई हैं।[8] इससे सिद्ध

---

१. पृथ्वीराज विजय पृ० २४०, ६, २९। २. वही पृ० २८९, ११, १०२।
३. वही पृ० २६२, २९०। ४. पृथ्वीराज रासो जी० पृ० २६० समय ३, ५५।
'अवतार अजित दानव मनुष्य, उपजि सूर सोमह करम'।
५. 'प्रथिराज कुंअर साइाय कज्ज। दुरजोधन अवतार लिय'।
वही जी० १, पृ० २९६ समय ५, १२८।
६. 'प्रथीराज चहुआन पहु, कली करन अवतार कहि'।
पृथ्वीराज रासो पृ० ३१२, समय ६, १२८।
७. 'तहाँ इन्द्र अवतार चहुआनं। तहं प्रथिराज सूर सुमारं'
तथा 'कामदेव अवतार हुअ। सुअ सोमेश्वर नंद'।
पृथ्वीराज रासो जि० २, पृ० ६३२ समय २०, ९५ और इ० २२।
८. तबै हंस उच्चर्‌यो। सुनहि शशिव्रता नारी।
चित्र देख अपछरि। सगी न अति रूप धरारी॥
पृथ्वीराज रासो जि० २ पृ० ७७१, २५, ७२ में शशिव्रता चित्ररेखा का अवतार।

होता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' की सामूहिक अवतारवादी परंपराओं के अतिरिक्त इन महाकाव्यों में एक स्वतंत्र अवतारवादी शैली का विकास भी हो रहा था। इस शैली में प्रारम्भिक विकास के बीज होने के कारण ही महाकाव्यकालीन एकरूपता और एकसूत्रता नहीं दीख पड़ती है। 'परमाल रासो' में महाकाव्यों की परंपरा में ही अवतारवाद का अस्तित्व मिलता है। इसमें कहा गया है कि द्वापर के समाप्त होने के उपरान्त पृथ्वी की पुकार सुनकर 'चाहुवान' पृथ्वीराज का अवतार हुआ।[1] इस रासो में शायद चंद की रचना के आधार पर ही पृथ्वीराज को दुर्योधन का अवतार बतलाया गया है।[2] इसके अतिरिक्त महाकाव्य-परंपरा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हरि ने तारकासुर और उसके पुत्रों से संग्राम किया और कालनेमि को चक्र से मारा। त्रेता में राम ने भीषण युद्ध में रावण और कुम्भकर्ण को मारा। द्वापर में पांडव दल आपस में कट गये तथा पांडव दल घास (यहाँ मास है)-से छिन्न-भिन्न हो गये। अब कलि में पुनः भूमि भाग कर ब्रह्मा के समक्ष पुकार कर रही है।[3]

इस महाकाव्य में परमाल की ओर से असाधारण वीरता दिखाने वाले आल्हा-उदल को 'वल्लि-सल्लि'[4] का तथा उनकी माता देवल को दुर्गा का अवतार कहा गया है।[5] काव्य की पंक्तियों से पता चलता है कि प्रारंभ में

---

१. द्वापर गत कलि आदिमह्रां पुहमिय करी पुकार।
तब संबोधन विधि करी, चाहुवान अवतार॥
परमाल रासो (ना० प्र० सभा) पृ० ९६१, ६०।

२. भारथ सम किय भुवन लोक मंह। गनतिय लक्ष प्रमान।
चाहुवान जस चंद कवि, किन्हिय ताहि समान॥
दुर्योधन अवतार नृप, सत सावंत एक बंध।
भारत सम किय भुवन मंह तातें चंद प्रबन्ध॥
परमाल रासो (ना० प्र० सभा) पृ० १, १, ५।

३. तारक मय सुत युग संगर करि, कालनेम गहि चक्र हते हरि।
त्रेता राम भीम करि रारिय, कुम्भ करन रावन रन मारिय॥ ६६॥
द्वापर तंवर पंडुदल कट्टिय, जादव कट्टि मास (शायद घास) सिर बट्टिय
जब कल सांस लेत अधिकरिय, भूमि भाजि विधि अग्ग पुकारिय॥
वही पृ० ७, १, ६६-६७।

४. वल्लि सल्लि अवतार रूप जनु भार है। गहिरवार चंदेल कौ, सुनियो प्रगट बनाफर आल्ह उद अवतार है॥ वंस अपार। वल्लि सल्लि जहँ अवतरे, सो कहि कल करतार। वही पृ० ७१, ९६ पुनः पृ० ३४१, १७१ पृ० ५१

५. देवल तु नहि मानवी, दुर्गा कव अवतार। परमालरासो पृ० २३६ ११, ८७।

ये पंक्तियाँ उपमित हैं और बाद में अपने उपमानों के अवतार-रूप में हो गई हैं। 'परमाल रासो' में ही गद्य में लिखित एक 'वाचनीक' में विभिन्न पात्रों के अवतार-धारण का सामूहिक विवरण इस प्रकार दिया गया है :—
"जब बेला ब्रह्मजीत के रंग महल में एकान्त भये, तब बेला भवानी को रूप धारि ये बातें कहत भई के कंत सुनो ! कलि के अवतार राजा पृथ्वीराज दुरजोधन को अवतार है। सत सावंत बंधु है। चंद भवानी है। गुरुराम सुर-गुरु है। चावंड दुसासन है। कैमास करनु है। कान्ह चहुवान भगदंतरानो है। राजा जयचंद जुरासिंध है। लाखन विप्र वाहन है। राजा परिमाल धर्मु है। रानी मल्हन दे द्रौपदी है। अल्ह-उद वह्नि सह्नि हैं। मलखान भैरो है। जगनायक भीष्म है। छत्रसाल गहिरवार सात्युक है। सकतसिंह भूरिश्रवा है। थां कंत अहिवरन है। अरु म्हां उत्तरा है। ताते हमारो तमारौ व्यौहार सत्यपुर को है, मृत्वलोक को थोरो है। सो या क्रम से भारथ के वीर हैं। सों आपु विचारे देखिया।"[1]

उपर्युक्त अवतरण के प्रक्षिप्त होने पर भी कम से कम आलोच्यकाल की 'महाभारत' की परंपरा में गृहीत अवतारीकरण की प्रवृत्तियों का परिचय अवश्य मिलता है।

सामूहिक देवावतार की शेष दो परंपराएँ सगुण-भक्ति की राम-भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखाओं में मिलती है। 'वाल्मीकिरामायण' के सामूहिक अवतार की परंपरा आलोच्यकाल के रामायणों में लक्षित होती है। 'अध्यात्मरामायण' में ब्रह्मा जी के कथनानुसार देवता वानर वंश में अवतरित होते हैं।[2] परन्तु प्रत्येक देवता के पृथक्-पृथक् अवतार का उल्लेख नहीं हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में पुनः इसी परम्परा का अनुसरण किया है। ब्रह्मा जी विष्णु के अवतरित होने का आश्वासन पाकर पृथ्वी को समझाकर विदा करते हैं; और देवताओं को वानरों के रूप में अवतरित होने का आदेश देते हैं।[3] इस संस्करण के अनुसार देवताओं के

---

१. वही पृ० २७८-२७९।

२. 'देवाश्च सर्वे हरिरूपधारिणः स्थिताः सहायार्थमितस्ततो हरेः'
अध्यात्म रा० बालकांड सर्ग २, २९-३२।

३. गगन ब्रह्म बानी सुनि काना। तुरत फिरेउ सुर हृदय जुड़ाना।
तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा।
निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहै सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ॥ राम० मा० स० सं० पृ० ९६, १८७

पृथक्-पृथक् अवतार का वर्णन नहीं हुआ है। 'रामचरितमानस' के पश्चात् केशवदास की 'रामचंद्रिका' में सामूहिक अवतार का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे प्रकट होता है कि रामोपासक कवियों ने राम के अवतार की अपेक्षा उनके उपास्य विग्रह-रूप का अधिक वर्णन किया है, जिसके अनुसार नित्य ब्रह्म राम स्वयं लीला अथवा भक्त-रक्षा के लिए अवतार लेते रहते हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से सामूहिक देवावतार गौण हो जाता है; क्योंकि नित्य विग्रहों का जहाँ लीलात्मक अवतार होता है, उसमें उनके पार्षद, परिकर और भक्त ही लीला में भाग लेने के लिए अवतरित होते हैं। सम्भवतः इसी से इस युग के भक्ति काव्यों में देवावतार की सामूहिक भावना क्षीण होने लगती है और उसका स्थान पार्षद या भक्त ग्रहण कर लेते हैं।

सामूहिक अवतार की तीसरी परम्परा 'हरिवंशपुराण', 'विष्णुपुराण' होती हुई 'भागवत' से गृहीत सूरदास के 'सूरसागर' में मिलती है। मध्यकाल में लीला का प्राधान्य होने पर भी अवतारवादी प्रयोजनों की धारणा लुप्त नहीं हुई थी। इसी से सूरदास ने 'सूरसागर' दशम स्कंध में अवतार के निमित्त धेनु रूप पृथ्वी की पुकार की और शिव-विरंचि द्वारा किये गये अनुरोध की चर्चा की है।[1] क्षीर-समुद्र-मध्यवासी हरि ने अपने दीर्घ वचनों में सुर, नर, नाग तथा पशु और पक्षी सभी को यह आदेश दिया कि यदि सुख करना चाहते हो तो गोकुल में मेरे साथ जन्म लो।[2] इस पद में सामूहिक अवतार के आदेश मात्र के अतिरिक्त पृथक् अवतारों का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु कतिपय स्थलों पर उनके सहवासियों और सहयोगियों के अवतीर्ण होने के उल्लेख हुये हैं। उसी पद के प्रारम्भ में आदि ब्रह्म की जननी, देवकी को सुर-देवी कहा गया है।[3] इनमें गोपों के अवतारों के संकेत कुछ पदों में मिलते हैं। जैसे एक पद में बतलाया गया है कि जहाँ-जहाँ तुम देह धारण

---

१. धेनु रूप धरि पुहुमि पुकारी, सिव-विरंचि के द्वारा।
सब मिलि गये जहां पुरुषोत्तम, जिहिं गति अगम अपारा॥
सूरसागर सभा सं० । २००९ वि० सं० । पृ० २६७ पद १०, ४।

२. क्षीर-समुद्र मध्य तैं यौं हरि, दीरघ वचन उचारा।
उधरौं धरनि, असुर कुल मारौं, धरि नर-तन अवतारा॥
सुर, नर-नाग तथा पशु-पच्छी, सबको आयसु दीन्हो।
गोकुल जनम लेहु संग मेरे, जो चाहत सुख कीन्हो॥

३. सूरसागर सभा० सं० २००९ पृ० २५६
आदि-ब्रह्म-जननी, सुर-देवी, नाम देवकी बाला।

करते हो, वहाँ-वहाँ अपने चरणों से दूर मत करो।[1] एक दूसरे पद में कहते हैं कि गोकुल में मेरे साथ गुप्त विलास करने वाले तथा पृथक् रूप से कुतूहल करने वाले सभी ग्वाल देव-रूप हैं।[2] एक स्थल पर गोपियों की पदरज-महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें श्रुतियों का अवतार बतलाया गया है। ये कहते हैं कि ब्रज-सुन्दरियाँ नारी नहीं हैं, अपितु श्रुति की ऋचाएँ हैं। उन्होंने गोपिका के रूप में पूर्ण परमानन्द से केलि करने का वर प्राप्त किया है।[3] सूर के अतिरिक्त नंददास ने 'भाषा दशम स्कन्ध' में श्रीकृष्ण के साथ सामूहिक अवतारवाद का वर्णन किया है। राजाओं के रूप में राक्षसों ने भूमि को भारान्वित कर दिया है, इसलिये पृथ्वी गाय का रूप धारण कर क्रन्दन करती हुई ब्रह्मा के पास गई और उसने अपना दुःख निवेदित किया जिसे सुनकर ब्रह्मा विचलित हो गये। फलतः देवताओं को साथ लेकर इन्होंने क्षीर-सागर के किनारे देवाधिदेव पुरुषोत्तम की स्तुति की। तत्पश्चात् ब्रह्मा ने समाधि में परम देव की आकाशवाणी सुनी। उन्होंने ब्रह्मा और देवताओं को संबोधित करते हुए अविलम्ब यदुकुल में जाकर अवतरित होने का आदेश दिया।[4] उनके इस आदेश के अनुसार श्री वासुदेव के रूप में प्रभु पूर्णकाम तथा उनके भाई के रूप में शेषनाग प्रकट होंगे। गुणमयी योगमाया को भी उन्होंने अवतरित होने का आदेश दिया।[5]

---

१. सूरसागर पृ० ४१५।
ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।
जहां जहां तुम देह धरत हौ, तहां तहां जनि चरन छुड़ावहु॥

२. सूरसागर पृ० ८१९। देव रूप सब ग्वाल करत कौतूहल न्यारे।
गोकुल गुप्त विलास सखा सब संग हमारे॥

३. सूरसागर पृ० ६६३। ब्रज सुंदरि नहिं नारि, रिचा स्तुति की सब आहीं।
स्रुतिनि कह्यो है गोपिका, केलि करे तुम संग॥

४. भूप रूप है असुर विकारी। कीनी भूमि भार करि भारी।
तब यह गाइ रूप धरि धरती। क्रन्दन करती अंसुवन भरती॥
विधि सो जाइ कही सब बात। सुनि कलमल्यो कमल कौ तात।
अमर निकर सकर संग लये। तीर क्षीर सागर के गये॥
देव देव पुरुषोत्तम जहां। स्तुति करि विनती कीनी तहां।
गगन में भई देव की धुनी। सो ब्रह्मा समाधि मैं सुनी॥
सुनि के बोल्यो अंबुज तात। सुनहु अमर गन मोतैं बात।
आग्या भई विलंब न करौ। जदुकुल विषै जाइ अवतरौ॥ नं० ग्रं० पृ० २२०

५. नंद ग्र० पृ० २२० : अरु जु जोगमाया गुनमई। ताहू कौं प्रभु आज्ञा दई।

देवकी के रूप में ब्रह्म-विद्या आविर्भूत हुई।[1] लीला के निमित्त प्रभु के जितने परिकर हैं वे सभी अवतीर्ण हुये।[2]

महाकाव्यों की अपेक्षा नंददास द्वारा वर्णित सामूहिक अवतारवाद के रूपों में किंचित् वैषम्य लक्षित होता है। वह यह है कि इस अवतार के नायक भगवान् पौराणिक नारायण की अपेक्षा पांचरात्र पर वासुदेव या परब्रह्म हैं, क्योंकि इनके साथ देवताओं के अतिरिक्त इनके नित्य परिकरों का भी अवतार होता है।

उपर्युक्त परम्पराओं के अतिरिक्त 'दशम स्कन्ध' से ही सम्बद्ध किन्तु परवर्ती 'गर्गसंहिता' में सामूहिक अवतारवाद का विशद वर्णन मिलता है।[3] 'भागवत दशमस्कन्ध' के विपरीत इसमें राधा-कृष्ण के चरित्र का विस्तार हुआ है[4] और अवतरित गोपों और गोपियों की बृहत् संख्या दी गई है। वहाँ श्री-रुक्मिणी, तुलसी-सत्या, पृथ्वी-सत्यभामा और शिवा-जाम्बवती के रूप में अवतरित बतलाई गई हैं।[5] द्रोण-वसुनंद, धरा-यशोदा, सुनन्द-वृषभान और कलावती-कीर्ति-रूप में आविर्भूत हुए हैं।[6] इस संहिता में सहस्त्रों गोपियों का विलक्षण अवतारवादी सामंजस्य किया गया है। केवल रामावतार से सम्बद्ध कोशल-देशवासिनी, अयोध्यावासिनी, मिथिलावासिनी तथा मुनि रूपा प्रभृति अनेक प्रकार की गोपियाँ बतलाई गई हैं। इसके अतिरिक्त अन्य २४ अवतारों में अधिकांश से सम्बद्ध स्त्रियों को गोपियों का अवतार बतलाया गया है।[7] सूरदास के अनुसार ब्रह्मा ने जिन्हें आदेश दिया वे ही सखी-सखा के रूप में उनके संग आविर्भूत हुए। गोपी, ग्वाल और कान्ह दो नहीं हैं। जहाँ-जहाँ हरि अवतरित होते हैं, वे इनको कभी विस्मृत नहीं करते; उनका शरीर तो एक ही है, लेकिन गोपी-ग्वालों के रूप में उसे अनेक बनाया है।[8] इस प्रकार सूरदास ने सामूहिक अवतार पर विलक्षण ढंग से दार्शनिक रंग चढ़ा दिया है।

---

१. देवक जादव के इक कन्या। देव भई देवकी सु धन्या।
सब सुभ लच्छन भरी, गुनभरी, आनि ब्रह्मविद्या अवतरी। वही पृ० २२१।

२. तिनके प्रभु कौ परिकर जितो। प्रगट होत लीला हित तितौ। वही पृ० २२०।

३. गर्गसंहिता गोलोक खंड अध्याय, १ से ४ तक।

४. प्रारम्भ में ही 'कथा गोपालकृष्णस्य राधेशस्य महात्मनः' का उल्लेख हुआ है।

५. गर्गसंहिता १, ३, ३७–३८। ६. गर्गसंहिता १, ३, ४०, ४१।

७. गर्गसंहिता १, ४, ५ अध्याय।

८. ब्रह्म जिनहिं यह आयसु दीन्हों।
तिन तिन संग जन्म लियौ परगट, सखी सखा करि कीन्हौ।

निष्कर्ष

इससे प्रकट है कि अवतारवाद के प्रारम्भ में ही महाकाव्य-नायकों के अवतारवादी विकास के साथ सामूहिक अवतारवाद की भावनाओं का प्रसार हुआ। एकेश्वरवादी उपास्य के साथ-साथ 'रामायण,' 'महाभारत' और 'हरिवंश' में विविध देवताओं के अवतार भी उनके सहायक रूप में मान्य हुए। इन तीनों ग्रन्थों में तीन प्रकार की सामूहिक अवतरण की परम्पराएँ लक्षित होती हैं। इनमें 'वाल्मीकि रामायण' की परम्परा अन्य परम्पराओं से सर्वथा पृथक् रही है। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में दो सामूहिक अवतार-परम्परायें मिलती हैं, जिनमें से एक का सम्बन्ध मुख्यतः पाण्डव-कौरव वर्ग से तथा दूसरी परम्परा का सम्बन्ध श्रीकृष्ण और उनके परिवार से है।

इन परम्पराओं के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि सामूहिक अवतारवाद की परम्परा साम्प्रदायिक से अधिक साहित्यिक रही है। 'रामायण' और 'महाभारत' में इसका अवतारवादी सभी सांप्रदायिक रूप भले ही मिलता हो, परन्तु उनके प्रारम्भिक रूपों का अनुमान करने पर ऐसा लगता है कि आरम्भ में इनका आलंकारिक विकास हुआ होगा। बाद में वे उपमायें अवतारवादी रूप में रूढ़ हो गयी होंगी। क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो,' 'परमाल रासो' आदि चारण काव्यों में महाकाव्यात्मक अवतारवादी परम्पराओं के अतिरिक्त उपमाओं और रूपकों के आधार पर विकसित ऐसे अनेक रूप मिलते हैं जिनका कालान्तर में अवतारवादी रूपान्तर हुआ होगा।

यदि इसकी मूल प्रवृत्ति पर ध्यान से विचारा जाय, तो स्पष्ट विदित होगा कि महाकाव्यों का सामूहिक अवतारवाद प्रारम्भ में पात्रों के वैशिष्टी-करण के निमित्त प्रयुक्त हुआ। महाकाव्यों के विविध पात्रों में रूप, गुण, शील, सौन्दर्य, कार्य, शक्ति आदि की दृष्टि से जिन चरित्रगत विशेषताओं के विकास की आवश्यकता थी, उसमें अवतारवाद सबसे अधिक सहायक हो सकता था। इसके परिणाम स्वरूप विभिन्न पात्रों के वैशिष्टीकरण के निमित्त ही प्रस्तुत अवतारवादी शैली का विकास हुआ।

इसके अतिरिक्त इन पात्रों में जिन अतिमानवीय गुणों की सर्जना अपेक्षित थी वे सभी अवतारवादी सम्बन्धों के माध्यम से अधिक-से-अधिक

गोपी ग्वाल कान्ह द्वै नाहीं, ये कहुं नैकु न न्यारे॥
जहां जहां अवतार धरत हरि, ये नहि नैकु बिसारे।
एकै देह बहुत करि राखे, गोपी ग्वाल मुरारी॥ सूरसागर पद २२२३

उदात्त और भव्य बनाए जा सकते थे। साथ ही पूर्व प्रतिष्ठित वैदिक देवताओं के रूप और भाव भी आसानी से इन पात्रों पर आरोपित हो सकते थे। यही कारण है कि सहज और सुगम सामूहिक अवतारीकरण की पद्धति को अपनाया गया।

मध्यकालीन महाकाव्यों या पौराणिक मुक्तक काव्यों पर इन सामूहिक अवतारवादी प्रवृत्तियों का यथेष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

फिर भी अवतारवादी प्रवृत्तियों में यथेष्ट परिवर्तन होते हुए भी महाकाव्यों एवं पुराणों की सामूहिक अवतार-परम्परा किसी-न-किसी रूप में आलोच्य-कालीन महाकाव्यों या उनसे सम्बद्ध रचनाओं में व्याप्त विदित होती है।

पाँचवाँ अध्याय

संत साहित्य

संत साहित्य में मानव-मूल्य की प्रतिष्ठा

प्राचीन साहित्य में देवताओं के मानवीकरण तथा ईश्वर के विभिन्न प्राणियों एवं मनुष्यों में अवतरित होने की जिस प्रवृत्ति का दर्शन होता है, उसके विपरीत संत-साहित्य में उत्क्रमणवाद की अधिक प्रतिष्ठा हुई। इस प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य ही उत्कर्ष करते-करते स्वयं एकेश्वरवादी ईश्वर के सदृश या उसका पर्याय बन जाता है। संतों के अनुसार मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास उसके चरम उत्कर्ष में दीख पड़ता है, जहाँ कि वह स्वयं ईश्वर या उपास्य के समकक्ष हो जाता है। यह धारणा अवतारवाद से भी भिन्न नहीं जान पड़ती, क्योंकि अवतारवाद की परम्परा में जिन महापुरुषों को अवतार माना गया है, उनके अवतारत्व का विकास भी उनमें निहित कतिपय उत्कर्षोन्मुख प्रवृत्तियों के फलस्वरूप हुआ है।

संतों ने मनुष्य योनि में जन्म पाने को अत्यन्त श्रेष्ठ एवं देवदुर्लभ फल माना है।[1] उनकी यह भावना प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में प्राप्त होती रही है। यों तो अपने में श्रेष्ठ होने की भावना वर्तमान होने के कारण मनुष्य अपने को श्रेष्ठ मानता ही रहा है। साथ ही अपने सुपरिचित निष्ठावानों या श्रद्धावानों को भी वह श्रेष्ठ समझता रहा है।

वैदिक काल में मानव के लिए कल्याणकारी होने के कारण देवता उसके पूज्य, आराध्य और श्रेष्ठ थे। बाद में उसी काल में ऋषियों को देवताओं की समकक्षता प्राप्त हुई।[2] इसी परंपरा में ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्वानों[3], ब्राह्मणों[4]

---

१. क० ग्र० पृ० २८३ पद ६५ 'इस देही को सिमरही देव' दादूदयाल की बानी भाग १. पृ० १५५ पद ३६३। कायावेली। मलूकदास की बानी पृ० ११, सुंदरदास ग्रन्थ भाग २, पृ० ९६।

२. ऋ० ४, ३४, ३ ऋभुगण मनुष्य से देवता हो गये थे।

३. श० ब्रा० ३, ७, ३, १० विद्वांसो हि देवाः। ४. श० ब्रा० २, २, २, ६।

तथा राजाओं[1] को देवताओं के तुल्य माना गया। उपनिषदों में माता, पिता, गुरु एवं अतिथि का भी देवताओं की तुलना में मूल्यांकन किया गया।[2] इस प्रकार व्यावहारिक समाज में एक ओर तो मनुष्य का देवता के रूप में मूल्यांकन होता गया और दूसरी ओर देवताओं की साकार-कल्पना में जब-से मानवीकरण का प्रवेश हुआ तब-से अनेक देवताओं के मानव-रूप स्पष्ट प्रतिभासित होने लगे।

किन्तु जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है—'मनुष्य की जिज्ञासा की इतिश्री केवल देवताओं के अपूर्ण या आंशिक मानवीकरण की ओर ही नहीं थी, अपितु एक ऐसे परम पुरुष वा महामानव की ओर थी जो मनुष्य मात्र से श्रेष्ठ, महान् तथा स्वयं पूर्ण मानवरूप में अत्यन्त महान हो।'[3] उनकी यही कल्पना 'पुरुषसूक्त' में साकार हुई।[4] इस प्रकार देवताओं के आंशिक मानवीकरण की कल्पनाओं में पूर्ण पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। उपनिषदों में ही पुरुष मानव और पुरुष ब्रह्म की कल्पना का विकास 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के रूप में लक्षित होने लगता है।[5] ब्रह्मवाद और एकेश्वरवाद के उत्थान काल में ब्रह्म और ईश्वर दोनों का परस्पर समाहार हो गया। विशेषकर उपास्य इष्टदेव दोनों के विशेषणों से सम्बद्ध किये गये। इन्हीं समन्वित विशेषणों का आरोप उपास्य-रूप में गृहीत होने पर संतों और भक्तों पर भी किया गया।

यथार्थ में कुछ पौराणिक (मिथिक) अवतारों की बात अगर छोड़ दी जाय तो निर्गुणोपासक भक्तों में भी ऐसे विचार मिल जाएँगे जो अवतारवादी परंपरा के अनुकूल सिद्ध होंगे। सगुणवादी महापुरुषों में ऊपर से अवतरित ईश्वर-शक्ति की कल्पना करते हैं, और निर्गुण संत अपने उत्क्रमणशील साधक, योगी एवं संतों में विकासोन्मुख ईश्वरत्व का अस्तित्व पाते हैं।

अतः सन्तों में मान्य यह साधनात्मक ईश्वरोन्मुख विकास गीता एवं उपनिषदों में सोपानवत् दृष्टिगत होता है। गीता में कर्मियों, ज्ञानियों एवं तपस्वियों

१. अथर्व० सं० ६, ८४, २।   २. त० उ० शिक्षावल्ली ११ अनुवाक्य।

३. दी रेलिजन आफ मैन पृ० ५९।   ४. ऋ० १०, ९०।

५. मु० ३, ३,२, ९,४, ४,२५, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी। जी० २ पृ० ५३८ में दास गुप्त के अनुसार उपनिषदों में पुरुष का प्रयोग मानव और ब्रह्म दोनों के लिये हुआ है। दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १५१–१५६ में दादू ने मानव-काया में अखिल ब्रह्माण्ड की अवतारणा की। जिसमें अखिल सृष्टि-व्यापार के साथ साथ आत्मा और देवताओं के अमर स्थान काया में पुनः पुनः अवतार भी हुआ करते हैं। 'काया माहैं ले अवतार। काथा माहैं बारम्बार।' पद १०।

से श्रेष्ठ योगी एवं उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धावान भक्त को माना गया है।[1] उपनिषदों में ब्रह्मानन्द की उपलब्धि की दृष्टि से विचार करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में मनुष्य के आनन्द से लेकर क्रमशः गन्धर्व, देव गंधर्व, पितर, देवता, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा के आनन्द की मात्रा में शतगुणाधिक वृद्धि दिखलाते हुए क्रमशः श्रोत्रिय वेदज्ञ में आनन्द की मात्रा सबसे अधिक मानी गई है।[2]

इसके अतिरिक्त ईश्वर अनेक वर्ग के महापुरुषों में गीता के अनुसार अपनी विभूति के रूप में अभिव्यक्त होता है।[3] साथ ही अगले अध्याय के अनुसार 'पुरुष सूक्त' का विराट पुरुष अपने विराटतम रूप में सर्वसत्तायुक्त एवं सर्वशक्तिमान, पूर्ण मानव या पुरुषोत्तम के रूप में उपस्थित होता है। उसी प्रकार योगी भी योग की सर्वोच्च सिद्धि में ईश्वर या विराट्पुरुष से तादात्म्य होने पर स्वतः पूर्ण ईश्वर हो जाता है। डा० एनीबेसेन्ट ने उसे ही पूर्णावतार की संज्ञा से अभिहित किया है;[4] क्योंकि यह विराट्रूप भी 'योग ऐश्वर्य' रूप है। साथ ही 'अयमात्मा ब्रह्म' 'पुरुषं एवेदं सर्वम्' में ससीम की असीम में अभिव्यक्ति स्पष्ट लक्षित होती है।[5] सर्व रूप होने पर भी उसमें निहित पुरुष या पुरुषाकार का अस्तित्व, मनुष्य-रूप से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है।

इस प्रकार मनुष्य का ईश्वरोन्मुख तथा ईश्वर का पुरुषोन्मुख विकास भारतीय वाङ्मय में उस स्थान तक पहुँच जाता है जहाँ कि पुरुष पुरुषोत्तम के रूप में अभिव्यक्त होता है।

तब से सदैव भारतीय साधकों एवं महापुरुषों के मूल्य की अभिव्यक्ति पूर्ण, अंश या कला के रूप में होती रही है। भा० ११, ४, १७ में इस कोटि के कतिपय प्राचीन साधकों को कलावतार कहा गया है। वीर पुरुषों में मान्य राम और कृष्ण अंशावतार से विकसित होकर पूर्णावतार के रूप में अभिव्यक्त हुये। अतः यह स्पष्ट है कि जिस प्रवृत्ति के द्वारा पुरुषों का ईश्वरीकरण हुआ, वह केवल श्रद्धा या भावना मात्र पर आधारित नहीं थी, अपितु उसे योग एवं साधना का समुचित सम्बल मिला था।

मध्ययुग में साधना का साफल्य ही मनुष्य की श्रेष्ठता एवं चरमोत्कर्ष का कारण हुआ, क्योंकि इस युग में अन्य योनियों को भोग-योनि और

---

१. गीता ६, ४६-४७। २. तै० उ० ५, ८।
३. गी० १०, अ०। ४. अवतार पृ० १८
५. गीता ११, ८।

केवल मानव-योनि को ही साधना की योनि माना गया।[1] साधना के फलस्वरूप जो पद मनुष्य ने प्राप्त किया वह पद देवता भी नहीं पा सके।[2] इसी से मध्ययुग के साधक यह सोचते थे कि इस जगत का सबसे बड़ा साफल्य केवल मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अतएव यह साधनाजनित ईश्वरीय गुणों एवं आदर्शों का मानवीकरण अवतारवाद का भी द्योतक है; क्योंकि इनके आधार पर ही पूर्णावतार या पूर्णमानवता की कल्पना का विकास हुआ और ब्रह्म की महत्ता भी आदर्श मनुष्य के रूप में सोलह या बारह कलाओं में आँकी गई। संत साहित्य के चिंतक क्षितिमोहन सेन ने इस 'सवार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाई' की सत्यता अपने एक निबन्ध में स्वीकार की है।[3]

इस प्रकार मनुष्य प्रत्येक युग में मानव-आदर्श एवं उसकी महानता का एक युगानुरूप मानदंड प्रस्तुत करता है। अवतारवाद पर से भी यदि पौराणिक आवरण को हटा दिया जाय तो टैगोर की यह उक्ति, अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती है कि प्रत्येक युग का एक महान व्यक्ति नये मानव धर्म का प्रादुर्भाव करता है। इस प्रकार प्रत्येक युग उसके रूप में अपना एक व्यक्तित्व प्रकट करता है।[4]

मध्ययुगीन सन्तों ने भी पौराणिक अन्धविश्वासपूर्ण तथ्यों को हटाकर एक नये व्यक्तित्व को जन्म दिया था। वह था इस युग का सहज और भोले भाव की 'रहनि' में रहने वाला संत। जो अपने संत भाव में ब्रह्म और ईश्वर से किसी प्रकार कम नहीं है। संभवतः ऐसे ही संतों को कबीर ने राम से अभिन्न माना है[5] तथा साकार प्रतीक-पूजा की अपेक्षा संतों को ही प्रत्यक्ष देवता स्वीकार किया है[6] जो कि सगुण संतों की भाषा में अवतार की संज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं। आधुनिक युग के संत

---

१. संत रविदास और उनका काव्य पृ० ११३ पद ३९।
त्रिगुण योनि अचेत सम्भव पाप पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ तिहूं संगति पोच॥

२. क० ग्र० पृ० २०५ गोब्यन्द भूलि जिनि जाहु, मनिसा जनम कौ एही लाहु।
गुरु सेवा करि भगति कमाई, जौं तैं मनिषा देही पाई।
या देही कूं लोचै देवा, सो देही करि हरि की सेवा।

३. संत अंक कल्याण पृ० ११६। वर्ष ६ सं० २।

४. दी रेलिजन आफ मैन पृ० ५९। ५. क० ग्र० पृ० २७३ परिशिष्ट पद पृ० ३०
'संता को मति कोई निंदहु संत राम है एकौ'

६. क० ग्रं० ४४ साखी ५ जेती देषों आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहि पाथर सूं काम॥

महात्मा गांधी के विचारों से भी मनुष्य के अवतारवादी मूल्यांकन की पुष्टि होती है। उनके कथनानुसार अवतार से तात्पर्य है—शरीरधारी पुरुषविशेष—"जीव मात्र ईश्वर के आधार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में हम सबको अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवतार-रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुँचता है। 'आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।' जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक हो वह विशेषावतार है।" वे पुनः कहते हैं 'मनुष्य को ईश्वर-रूप हुये बिना चैन नहीं मिलता, शांति नहीं मिलती। ईश्वर-रूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र नाम पुरुषार्थ है, यही आत्म-दर्शन है।[1]

गांधी जी का उपर्युक्त कथन, संतों में जहाँ तक अवतारत्व के समावेश का प्रश्न है, अत्यन्त सटीक उतरता है; क्योंकि आगे विस्तृत रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस युग के सन्त ही अवतार रहे हैं। कम-से-कम मध्ययुग की बहुदेवोपासक जनता सन्तों और अवतारों में विशेष भेद नहीं देखती थी। उसके लिये संत ही ईश्वर के मूर्त्तिमान प्रतीक थे।

मध्ययुगीन अवतार संत

इस युग में सगुणोपासना के विरोधी सन्तों ने सन्तों के जिन रूपों की चर्चा अपने पदों में की है वे सगुणमार्गी भक्तों में प्रचलित अवतारी उपास्यों के समानान्तर प्रतीत होते हैं। उनमें अवतारी भगवान् की भगवत्ता यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। कबीर को केवल राम का निर्मल गुणगान करने वाले संत ही भाते हैं। जिसके हृदय में राम ब्रह्म का निवास है उसी की चरणधूलि के वे अभिलाषी हैं।[2] गुरु अर्जुन संत और गोविन्द की एकता बताते हुए—संत के तत्क्षण उद्धारक होने के कारण दोनों में एक ही प्रकार का कार्य-साम्य मानते हैं।[3] संत दादू ने संत और भगवान् को अभिन्न माना है। उनके

---

१. अनासक्ति योग। गीता। पृ० ५०, ६।

२. निरमल निरमल रामं गुंण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै।
जे जन लेहि राम कौं नांउ, ताकी मैं बलिहारी जांउ॥
जिहि घटि राम रहै भरपूर, ताकी मैं चरनन की धूरि।
क० ग्रं० पृ० १२८ पद १२४।

३. संत राखेउ अपने जीअ नालि, संत उधारउ तत खिण तालि।
सोई संत जि भावै राम, संत गोविन्द कै एकै काम। गु० ग्र० सा० पृ० ८६७।

अनुसार राम संत को जपता है और संत राम को जपते हैं।[1] मलूकदास कहते हैं कि वह माता सुन्दरी है जिसके गर्भ से भक्त अवतीर्ण होते हैं। जिनमें केवल खर-कतवार जैसे लोग उत्पन्न होते हैं, वे सभी बाँझ सदृश हैं।[2] दादू ने पुनः संत एवं राम का स्थान एक बतलाया है। राम के ही समान साधु की आराधना भी आवश्यक है; क्योंकि संत की संगति से हरि मिलते हैं और हरि की संगति से या भक्ति से सन्त। इस प्रकार साधु में राम है और राम में ही साधु है। दोनों एकरस हैं; उन्हें परस्पर विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जो सेवक अपने सेव्य ईश्वर का अपना हो गया तो उसमें और ईश्वर में फिर कोई अन्तर नहीं है।[3]

इन साखियों में संत ही ईश्वर नहीं है, अपितु ईश्वर भी एक आदर्श संत के रूप में प्रतिभासित होता है। संत उपास्य-रूप में स्वयं भगवान का भी भजनीय हो जाता है। सुन्दरदास के कथनानुसार दोनों में माता-पुत्रवत् सम्बन्ध है।[4] मन, वचन, और कर्म से भजने वाले संत के ईश्वर अधीन हो

---

१. दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० ६४।
आतम आसण राम का। तहां वसै भगवान।
दादू दुन्यूं परस्पर, हरि आतम का थान॥
राम जपै रुचि साधकौ. साध जपै रुचिराम।
दादू दुन्यूं एक टग, यहु आरँभ यहु काम॥

२. मलूकदास की बानी। द्वि० सं०। पृ० ३५ सा० ३२।
मलूक सो माता सुंदरी, जहां भक्त औतार।
और सकल बाँझैं भईं, जनमें खर कतवार॥

३. जहाँ राम तहं संत जन, जहाँ साधु तहं राम।
दादू दुन्यूं एक है, अरस परस विसराम॥
हरि साधू यौं पाइये, अविगत के आराध।
साधू संगति हरि मिलै, हरि संगत पै साध॥
साध समाणा राम में, राम रह्या भरपूरि।
दादू दुन्यूं एक रस, क्यों करि कीजै दूरि॥
सेवक साईं का भया, सेवग का सब कोइ।
सेवक साईं को मिल्या, तब साईं सरीखा होइ॥
दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० ६४-६५ क०।

४. सुन्दर जन हरिकों भजै हरिजन को आधीन।
पुत्र न जीवै मात बिन माता सुत सो लीन॥
सुन्दर ग्रन्थावली भाग २ पृ० ६८० साखी ४६।

जाता है।[१] इस कोटि का संत लोक-परलोक सर्वत्र दुर्लभ है।[२] ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि देवता सभी सुलभ हो सकते हैं, परन्तु संत इतने सुलभ नहीं हैं।[३] इस प्रकार संत कवियों ने संतों को देवताओं और अवतारों से श्रेष्ठतर प्रमाणित करने का प्रयास किया है। सुन्दर दास कहते हैं कि संतों के चरण धोने के लिये गंगा भी इच्छुक रहती हैं।[४] ब्रह्मा, इन्द्रादि मन, कर्म और वचन से उसकी सेवा करने की कामना करते हैं।[५] श्रीकृष्ण ने स्वयं संतों का अनुगमन करने के लिए अवतार ग्रहण किया था।[६] संतों का महिमागान श्रीपति अपने श्रीमुख से गाते हैं। हरि और हरिजन अभिन्न होने के कारण संत-सेवा से स्वयं हरि प्रसन्न होते हैं। क्योंकि सन्तों में हरि का विश्वास है और हरि में सन्तों का। अतः संतों की सेवा से हरि की भी सेवा होती है।[७] इस प्रकार इन्होंने दादू का समर्थन किया है। गुरु अर्जुन के अनुसार संत की महिमा वेदों के लिए भी वर्णनातीत है। जितना उन्हें मालूम है उतना ही उन्होंने वर्णन किया है। यह संत तीनों गुणों से भी परे हैं।[८]

संत एवं ब्रह्मज्ञानियों का लक्षण गुरु नानक ने एक सदृश माना है।[९]

---

१. सुंदर सुरति समेटि कें सुमिरन सौं लौलीन।
मन वच क्रम करि होत है हरि ताके आधीन॥
सुन्दर ग्रन्थावली भा० २ पृ० ६८१ साखी ५२।

२. लोक प्रलोक सबै मिलै, देव इन्द्र हू होइ।
सुन्दर दुर्लभ संतजन क्यों करि पावै कोइ॥
सुन्दर ग्रन्थावली भा० २ पृ० ७४४ साखी २६।

३. ब्रह्मा शिव के लौं है बैकुण्ठहु में बास। सुन्दर और सबै मिलै दुर्लभ हरि के दास।
सुन्दर ग्रं० भाग २ पृ० ७४४ साखी २७।

४. धोवत है संसार सब गंगा मांही पाप। सुंदर संतनि के चरण गंगा बंछे आप।
सुन्दर ग्र० भाग २ पृ० ७४५ साखी ४३।

५. ब्रह्मादिक इन्द्रादि पुनि सुन्दर बंछहिं देव। मनसा वाचा कर्मना करि संतनि की सेव।
सुंदर ग्र० भाग २ पृ० ७४५ साखी ४४।

६. सुन्दर कृष्ण प्रकट कहै मैं धारी यह देह। संतनि के पीछे फिरौं सुद्ध करन कौं येह।
सुन्दर ग्रं० भा० २ पृ० ७४५ साखी ४५।

७. सुन्दर ग्र० साखी ४५-४९।

८. साध की महिमा वेद न जानहि। जेता सुनहि तेता बखिआनहिं।
... ...
साध की शोभा तिहु गुण ते दूरि। साध की उपमा रहि भरपूरि।
गुरु ग्रन्थ साहिब पृ० २७२।

९. गुरु ग्रंथ साहिब पृ० २७२, 'नानक इह लक्षण ब्रह्म गिआनी होइ'।

ब्रह्मज्ञानी भी संतों के समान समस्त विश्व का उपास्य एवं उद्धारक है।[१] वह स्वयं परमेश्वर है, इसी से महेश्वर भी उसकी खोज में प्रयत्नशील रहते हैं।[२] ब्रह्मज्ञानी की अनन्त विशेषताएँ हैं, उसके भेदों का अंत नहीं है। वह सबका ठाकुर है। उसकी सीमा का वर्णन कौन कर सकता है। वह इतना महान है कि उसकी महानता को स्वयं ब्रह्मज्ञानी ही समझ सकता है।[३] वह अखिल सृष्टि का कर्ता है। वह स्वयं न तो जीता है न मरता है अर्थात् वह सदैव एक सदृश रहता है; और जीव के लिये मुक्ति और युक्ति का दाता है। इस प्रकार वह पूर्ण ब्रह्म और सब अनाथों का नाथ है। उसका हाथ सभी के ऊपर है; वह स्थूल सृष्टि-रूप या साकार होते हुए भी स्वयम् निराकार है।[४] इस प्रकार संतों ने संत को परब्रह्म की कोटि में माना है। संत का यह रूप केवल काव्यात्मक महत्त्व नहीं रखता अपितु ईश्वर के सदृश उन्हीं को पूज्य एवं आराध्य भी मानता है।[५]

उपास्य-रूप के साथ ही संत का नित्य-रूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि संत-वर्ग का स्थान अत्यन्त निश्चित है। वह पृथ्वी पर पाप विनष्ट करता है। संतों का कभी विनाश नहीं होता बल्कि पृथ्वी पर हरि के गुणों की अभिव्यक्ति संतों के रूप में होती है। इस प्रकार संत इस पृथ्वी पर ईश्वरत्व एवं भगवत्ता से ओत-प्रोत हैं।[६]

---

१. ब्रह्म गिआनी सगल उधारु। नानक ब्रह्म गिआनि गये सगल संसारू।
ब्रह्म गिआनी सुख सहज निवास, नानक ब्रह्म गिआनी गये सगल संसारू।
गुरु ग्रंथ साहिब पृ० २७३।

२. ब्रह्म गिआनी कउ खोजहिं महेसुर, नानक ब्रह्मगिआनी आप परमेसुर।
गुरु ग्रंथ साहिब पृ० २७३ पद ६।

३. गुरु ग्रंथ साहिब पृ० २७३ पद ७ 'ब्रह्म गिआनी सरब का ठाकुर'।

४. ब्रह्म गिआनी सब सृष्टि का करता। ब्रह्म गिआनी सब जीवे नहीं मरता।
ब्रह्म गिआनी मुकति जुगति जीअ का दाता। ब्रह्म गिआनी पूरण परुख विधाता॥
ब्रह्म गिआनी अनाथ का नाथु। ब्रह्म गिआनी का सम ऊपरि हाथु।
ब्रह्म गिआनी का सगल अकारु। ब्रह्म गिआनी आपि निरकारु॥
गुरु ग्रंथ साहिब पृ० २७३–२७४ पद ६।

५. जिहि घरि साध न पूजिये हरि की सेवा नाहि।
ते घर मड़हट सारषे, भूत बसै तिन माहिं॥ क० ग्रं० पृ० ५३ साखी ३।

६. संत मंडल का नहीं विनासु। संत मंडल महि हरि गुणतासु।
संत मंडल ठाकुर बिस्स्रामु। नानक ओति पोति भगवानु।
गुरु ग्रंथ साहिब ११४६, ४, २४, ३७, महला ५।

जहाँ तक संत के आविर्भाव का प्रश्न है सूफियों के सदृश इन्हें ज्योति का अवतार कहा गया है। संत रज्जब कहते हैं—'संत इस विश्व में आभै (ज्योति) का अवतार है। वह एक ओर तो शून्य में समाधिस्थ रहता है और दूसरी ओर परोपकार में रत रहता है।[1] ये पैगम्बरों के सदृश ईश्वर की पृथ्वी पर आविर्भूत होते हैं तथा प्रीतम (ईश्वर) का संदेश उसके साधकों एवं भक्तों तक पहुँचाते हैं।[2] यह सारी अभिव्यक्ति या लीला तो राम की है किन्तु सन्त ही उसके अभिनेता हैं। वे लीला के समाप्त हो जाने पर पुनः एक ही हो जाते हैं।[3]

मध्यकालीन सगुण अवतारों के सदृश इनके अवतार का भी प्रमुख प्रयोजन उद्धार कार्य रहा है। सन्त सुन्दरदास के अनुसार सन्तों का आविर्भाव अज्ञान मिटाकर जीव को शिव करने के निमित्त होता है।[4]

सन्त दादू के अनुसार इनका आविर्भाव कलियुग में परोपकार के निमित्त होता है; ये स्वयं तो तटस्थ या निष्काम रहते हैं, परन्तु निःस्वार्थ होकर रामरस दूसरों को पान कराते हैं।[5] अतः सन्त ही इस कलियुग में परमार्थी परमेश्वर और अवतारी-ईश्वर का कार्य करते हैं।[6] ब्रह्मा, शङ्कर, शेष, मुनि, नारद, ध्रुव, शुकदेव आदि सभी सन्त इस युग में हरि की सेवा में रत रहते हैं।[7] इस प्रकार सन्तों ने एक प्रकार से सन्तों और भक्तों को ही इस युग में ईश्वर

---

१. साधू जन संसार में आभै का औतार। सींचि समोवै शून्य में, आवैं पर उपकार।
रज्जबजी की बानी पृ० ७६ अंक ३१ साखी ३।

२. साधू जन उस देस का, कौ आया यहि संसार।
दादू उस कूं पूछिये, प्रीतम के समाचार।
दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १६६, साखी ९८।

३. लीला राजा राम की। खेलें सब ही संत॥ आपा परं एकै भया। छूटी सबै भरंत॥
दादूदयाल की बानी भाग १, पृ० १६४ साखी ४७।

४. सुन्दर आये संत सब मुक्त करन कौं जीव। सब अज्ञान मिटाइ करि करत जीव ते सीव।
सुंदर ग्रं० भाग २ पृ० ७४३ साखी १७।

५. पर उपगारी संत सब, आये यहि कलि माहिं।
पिवै पिलावैं राम रस, आप सवारथ नाहिं॥
दादूदयाल की बानी भाग १ पृ० १६२ साखी ५१।

६. परमारथ कूं सब किया, आप सवारथ नाहिं।
परमेसुर परमारथी, के साधू कलि माहिं॥
दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० १६२ साखी ५०।

७. ब्रह्मा संकर सेस मुनि, नारद ध्रू सुकदेव। सकल साधु दादू सही, जे लागे हरि सेव।
दादू दयाल की बानी भाग १ पृ० १६८ साखी ११६।

के अवतार के रूप में ग्रहण किया है। इस अवतारत्व में सगुण-निर्गुण का कोई भेद किये बिना प्रायः समान रूप से पौराणिक भक्तों एवं सन्तों के नाम लिए गये हैं।

सम्भवतः उक्त प्रवृत्तियों के आधार पर[1] परवर्ती सन्तों ने पौराणिक पद्धति में ही सन्तों का अवतार माना। साथ ही इनकी यह धारणा हो गई कि भगवान् भी सन्तों के रूप में सम्प्रदाय एवं भक्ति-प्रवर्तन के निमित्त आविर्भूत होता है। सगुण और निर्गुण सन्त-अवतार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अन्य अवतारों में तो वह निर्गुण से संयुक्त रहता है, परन्तु सन्त-अवतार में वह निर्गुण से मुक्त रहता है।[2] इस प्रकार सन्त कवियों में सन्त ही ईश्वर के अवतार माने गये हैं। इनके अवतार का मुख्य प्रयोजन सन्त-मत का प्रवर्तन करना रहा है। फलतः सन्तों के अवतार एक प्रकार से साम्प्रदायिक अवतारों की कोटि में गृहीत होते हैं।

अन्तर्यामी

मनुष्य और ईश्वर का सम्बन्ध पूर्वकाल से ही एक ऐसी मानवीय भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहा है जहाँ एक के उत्क्रमण और दूसरे के अवतरण द्वारा परस्पर उनमें आकर्षण की कल्पना की जाती है। सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं के अतिरिक्त यहाँ उसकी वैयक्तिक रुचि और उसके अन्तरोन्मुख भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा उसके मनोनुकूल ईश्वर के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। मनुष्य की स्वानुभूतियों से उद्भूत यह ईश्वर ही कवि गुरु रवीन्द्र और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इच्छामय, प्रेममय और आनन्दमय है।[3]

उपर्युक्त दोनों का सम्बन्ध विभिन्न कोटि के लोगों में विभिन्न रूपों में प्रचलित है। सामान्यतः सामान्य मनुष्य और बहुदेवता, योगी और परमात्मा, ज्ञानी और ब्रह्म, भक्त और भगवान् तथा सन्त और अन्तर्यामी के रूप में इन्हें व्यक्त किया जा सकता है।

---

१. पलटू साहिब की बानी भाग १ पृ० ३ संत रूप अवतार लियो परस्वारथ काजां।

२. संत रूप अवतार लियो हरि धरि कै आये।
भक्ति करै उपदेश जगत को राह चलाये॥
और धरै अवतार रहै निर्गुन संयुक्ता।
संत रूप जब धरे रहे निर्गुन से मुक्ता॥
पलटू साहिब की बानी भाग १ पृ० १५।

३. कबीर, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १२५।

एक ही भावभूमि से उद्भूत होने के कारण उपर्युक्त दोनों के सम्बन्धों में एक विशेष प्रकार की एकता लक्षित होती है। साधनावस्था में भी भाव ग्रन्थियों से आपूरित संवेदनशील मानव अपनी रुचि और भावों का यथेष्ट आरोप अपने उपास्य पर करता है। जिसके फलस्वरूप साधना में पूजा या अर्चना, आसक्ति या आत्मार्पण, तप, संयम, मनन या चिंतन, आत्मानुभूति या आत्मविह्वलता आदि के माध्यम से किसी न किसी प्रकार के वैविध्य की सृष्टि होती रहती है। उपासक और उपास्य में जबतक तादात्म्य की स्थिति नहीं आती, तब तक बहिर्मुख या अंतर्मुख रूप में उस वैविध्य की अभिव्यक्ति का व्यापक अस्तित्व विदित होता है। सामान्य मनुष्य की अभिव्यक्ति में बहिर्मुख भावों का प्राधान्य होता है। पुरातन या अधुनातन व्यावहारिक रूप में प्रचलित अनेक देवताओं और अनगिनत मूर्तियों की पूजा में इसका भान होता है। विभिन्न देवता विशिष्ट भावों मुद्राओं एवं कार्यों के प्रतीक होते हैं। जिनका व्यक्तित्व-विशेष समाज में उसी रूप में प्रचलित हो जाता है।

यही वैविध्य सामान्य मनुष्य की देववादी आस्था को अधिक दृढ़तर बनाने में सहायक होता है।

योगी भी प्रारम्भ से लेकर सिद्धावस्था तक नाना अवस्थाओं में परमात्मा के अनेक रूपों, रंगों या अलौकिक स्थितियों में उसी वैविध्य का अनुभव करता है जो उसके अदम्य उत्साह को सतत क्रियाशील रखता है।

ज्ञानी ब्रह्म की अद्वैत स्थिति तक पहुँचने के पूर्व उसके विवर्त या माया को अपने तर्क और युक्तियों द्वारा सुलझाने में कुछ उसी प्रकार के रुचिवर्द्धक वैविध्य का अनुभव करता है।

सगुणोपासक भक्त के भगवान् या इष्टदेव तो एक ही होते हैं, किन्तु उस भगवान् के ही ऐतिहासिक, पौराणिक, दार्शनिक आदि रूपों में विविध प्रकार की लीलाओं का समावेश होने के कारण भक्त अपनी रुचि नित्यवर्द्धन करने में सक्षम होता है।

सन्त भी अपने अन्तर्यामी के साथ जिस प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं वह उनकी अन्तर्मुखी वृत्तियों तथा आत्मानुभूति से संवलित एक प्रकार का भावात्मक रहस्यवाद है। इस रहस्य-भाव में बुद्धि की अपेक्षा हृदयतत्त्व की प्रधानता है, क्योंकि बुद्धि-विश्लेषण के द्वारा एक ओर तो वे उसके एकेश्वरवादी रूप को सुरक्षित रखते हैं और दूसरी ओर उसमें वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा पौराणिक, स्रष्टा, द्रष्टा आदि रूपों का आरोप करते हैं। फलतः निर्गुण और निराकार होते हुये भी उसमें सगुण, लीला-

युक्त ईश्वर के वैशिष्ट्य का योग हो जाता है। यही योग संत-साहित्य की सर्जना में भक्त एवं लोक-रंजन का निमित्त बन कर अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करता है।

यों सन्त किसी विशेष सिद्धान्त या मत के प्रतिपक्षी विदित नहीं होते। इसीसे उनके आत्माभिव्यंजन की अजस्रधारा सर्वत्र प्रवाहित होती हुई लक्षित होती है। उनका अन्तर्यामी अलख, अविनाशी, निर्गुण-निराकार और निरुपाधि होते हुए भी मनुष्य के सामने संवेदनशील, एक आदर्श हृदय सन्त के सदृश व्यक्तित्व रखता है।

संतों ने अपने उपास्य को राम, रहीम, केशव, करीम अनेक नामों से अभिहित किया है।[1] नामोपासना ही उनके साधन का मूल मंत्र रही है। इस युग तक निर्गुण संतों के उत्कर्षकाल में इस्लामी एकेश्वरवाद को यथोचित स्थान प्राप्त हो चुका था। इसलिए संतों ने भारतीय नामों के साथ इस्लामी रहीम, करीम आदि नामों को भी अपनाया। अपनी इस उदारता के कारण वे तत्कालीन युग के धर्मसम्प्रदाय-निष्पक्ष व्यक्तियों में माने जा सकते हैं। यद्यपि संभवतः रामानन्द आदि प्रवर्तकों द्वारा प्रवर्तित गुरु-परम्परा में गृहीत होने के कारण राम-नाम को संतों ने बहुत मुख्यता प्रदान की है। किन्तु संत-साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी नाम-विशेष के पक्षपाती नहीं थे।[2] यह सोचते हुये उनके उपास्य ईश्वर का उपयुक्त नाम 'अन्तर्यामी' समीचीन प्रतीत होता है।

क्योंकि इनका उपास्य मुख्य रूप से हृदय में स्थित ब्रह्म ही है।[3] यह बहुत कुछ अंशों में उपनिषदों का आत्म ब्रह्म है। उपनिषदों में उसे प्रायः 'सर्वभूतान्तरात्मा'[4], 'पुरुषोन्तरात्मा'[5], 'आत्म रूप'[6], 'पुरुषज्योति'[7], 'षोडश कला युक्त पुरुष'[8] तथा 'अन्तर्यामी'[9] कहा गया है। परन्तु 'अन्तर्यामी' शब्द

---

१. हमारे राम रहीम करीमा केसो, अहल राम सति सोई।
 बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै, और न दूजा कोई॥ क० ग्रं० पृ० १०६ पद ५८

२. कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
 हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥ क० ग्रं० पृ० १०६, ५८।

३. क० ग्रं० पृ० १६४ हूं तेरा पंथ निहारूं स्वामी कबरे मिलहुंगे अन्तरयामी।

४. कठो० उ० २, २, १२ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति

५. कठो० उ० २, ३, १७ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः

६. छा० उ० १२, ३। ७. छा० उ० ३, ७।

८. प्रश्नो० उ० ६। ९. मांडूक्यो ६।

में आत्मब्रह्म की निरपेक्षता या उदासीनता का भाव न होकर मानवोचित संवेदना, भावुकता और जिज्ञासा का भान होता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि 'वह यह आत्मतत्त्व पुत्र से अधिक प्रिय है, धन से अधिक प्रिय है, और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है, क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। अतः आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करें। जो आत्म रूप प्रिय की ही उपासना करता है, उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता।[1]" पुनः हृदय की व्याख्या करते हुए इसे हृदय ब्रह्म के नाम से अभिहित किया गया है।[2] शंकर के अनुसार वह सर्वरूप हृदय ब्रह्म ही उपास्य है।[3] वह अन्य मंत्रों में मनोमय पुरुष कहा गया है। प्रकाश ही जिसका रूप है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है। वह हृदय के अन्दर स्थित धान या यव के परिमाण स्वरूप है। वह सबका स्वामी, अधिपति और यह जो कुछ है, सभी का शासन कर्ता है।[4] उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में उसकी संवेदना, भावुकता और जिज्ञासा का अनुमान किया जा सकता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में 'अन्तर्यामी' रूप की विस्तृत चर्चा उद्दालक और याज्ञवल्क्य के वार्तालाप में मिलती है। याज्ञवल्क्य 'अन्तर्यामी' का रूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'जो पृथ्वी में रहने वाला पृथ्वी के भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है'।[5] 'वह 'अन्तर्यामी' जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, तारागण, आकाश, तम, तेज, भूत, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, विज्ञान और वीर्य के अन्दर स्थित है। किन्तु वे उसको नहीं जानते। ये सभी उसके शरीर हैं और वह इन सभी का नियमन करता है'।[6]

पांचरात्रों में ब्रह्म के चार रूपों में एक 'अन्तर्यामी' रूप माना गया है। श्रेडर के अनुसार अन्तर्यामी अवतार ईश्वर की वह शक्ति या रूप है जो निर्धूम ज्वाला के रूप में मनुष्य के हृत्कमल में स्थित रहता है। यह योगियों के लिये साध्य है।[7] श्रीगोपीनाथ कविराज के अनुसार इस चतुर्थ रूप से वे जीवों के हृदय में प्रविष्ट होकर उनकी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हैं। 'अन्तर्यामी' दो प्रकार के होते हैं। एक रूप में मंगलमय विग्रह

---

१. बृ० उ० १, ४, ७। २. बृ० उ० ५, ३, १।
३. बृ० उ० ५, ३, १। शांकर भाष्य 'तत् सर्वं यस्मात् तत्स्यादुपास्यं हृदयं ब्रह्म।'
४. बृ० उ० ५, ६, १। ५. बृ० उ० ३, ७, ३।
६. बृ० उ० ३, ७, ४-२३। ७. श्रेडर पृ० ४९।

के साथ जीव के सखा रूप से हृदय-कमल में वे वास करते हैं। वहाँ उनका उद्देश्य है उसकी रक्षा करना और उसके ध्येय-रूप में उसके साथ-साथ अवस्थित रहना[1] और अपने दूसरे रूप में वे अन्तरात्मा के रूप में जीवों की सभी अवस्थाओं, स्वर्ग, नरक तथा गर्भावस्था तक उसकी रक्षा करते हैं।[2] मनुष्य में वह 'अन्तर्यामी' बाल्य या यौवन आदि अवस्थाओं से अप्रभावित होकर स्थित रहता है। डा० दासगुप्त ने व्यूहवाद में गृहीत अनिरुद्ध को 'अन्तर्यामी' अवतार का प्रतिरूप माना है।[3]

संतों ने हृदय में स्थित 'अन्तर्यामी' को अपना सहज सौम्य व्यक्तित्व प्रदान किया है। संतों में 'अन्तर्यामी' आदि अवतारों की कोटि में माना जाता है।[4] कबीर अपने हृदय में नित्य प्रति उसके प्राकट्य का आनन्द लेते हैं।[5] उनमें जिस निर्गुण राम का प्रचार है, वे हृदय-स्थित ब्रह्म के रूप में ही गृहीत हुए हैं।[6] इनके पूर्व ही 'राम तापनीय' उपनिषदों में राम की व्याख्या इस प्रकार की गई थी कि योगी लोग जिस नित्यानन्द स्वरूप, चिन्मय ब्रह्म में रमण करते हैं, वह परब्रह्म परमात्मा 'राम' शब्द द्वारा अभिहित होता है।[7] निर्गुणिया नाम से प्रसिद्ध संतों में अपने इस उपास्य 'अन्तर्यामी राम' के प्रति प्रायः उसी प्रकार के व्यक्तिगत आत्मनिवेदन का परिचय मिलता है, जैसा कि सगुणमार्गी भक्तों में देखा जाता है।

नामदेव अपने सर्वव्यापक अन्तर्यामी राम के समक्ष अपने मन की व्यथा प्रकट करते हैं। उनके राजा राम उसी प्रकार अन्तर्यामी हैं जैसे दर्पण में शरीर लक्षित होता है।[8] फिर भी प्रायः दोनों की उपासना-पद्धति में पर्याप्त वैषम्य रहा है। सगुणोपासक अपने इष्टदेव की उपासना विधि-निषेध द्वारा

---

१. कृष्णांक कल्याण पृ० ४६। २. तत्त्वत्रय पृ० ११६–११७ और ७४–७५।

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलौसोफी जी० २ पृ० ४०।

४. औतार आतमा आरसी, आदि नारायन दीप।
रज्जब एक अनेक विधि, ये दीपक दीप उदीप।
रज्जब जी की बानी पृ० ११६ साखी ४६।

५. क० ग्रं० पृ० १५ साखी ३०। हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप।

६. कौन विचारि करत हौ पूजा। आतम राम अवर नहिं दूजा।
क० ग्रं० पृ० १३१ पद १३५।

७. दी वैष्णव उपनिषद्स। अड्यार पुस्तकालय। रामतापनीयोपनिषद् पृ० ३०६ प्रथमोपनिषद् ६।

८. ऐसो राम राइ अंतरजामी। जैसें दरपन माहि वदन परवानी।
संतकाव्य–नामदेव पृ० १४९।

करते हैं तथा उसके नाम, रूप, गुण, लीला, धाम की चर्चा के साथ अष्टयाम पूजा और अर्चना करते हैं।[1] वहाँ संत केवल नामोपासना एवं यौगिक पद्धतियों का उपयोग करते हैं। किन्तु संत-साहित्य में जहाँ तक उनका ईश्वर विवेच्य है उसमें सगुण-साकार तथा अवतारवादी ईश्वर की विशिष्टताओं का प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है। इतना अवश्य है कि संतों ने सगुणमार्गी भक्तों के समान किसी मूर्त्ति या रूप को स्वीकार नहीं किया है; फिर भी विश्व में जितनी आत्माएँ हैं, उन सभी को शालग्राम के सदृश भगवान के प्रतीक रूप में माना है।[2] यद्यपि इस आत्ममूर्त्ति में स्थूल-रूप का अभाव है, फिर भी इसमें सगुण-साकार के गुण वर्तमान हैं।

इनका आत्माराम या अन्तर्यामी ईश्वर निष्क्रिय या अनासक्त ब्रह्म नहीं है अपितु संतों और भक्तों का पालक और अभीष्टदाता है।[3] इस प्रकार उपनिषदों में कथित उसके आत्म रूप के अतिरिक्त इन्होंने मध्यकालीन युग में प्रचलित पौराणिक, पांचरात्र, सूफी, और इस्लामी प्रायः सभी रूपों का अपूर्व समन्वय किया है; जिसके फलस्वरूप उस ईश्वर का एक विशिष्ट व्यक्तित्व बन गया है। संत विनोबा ने ठीक ही कहा है कि हमारे संतों की पाचन शक्ति प्रखर होने के कारण ये सारे भिन्न-भिन्न दर्शन उनको विरोधी नहीं मालूम होते, बल्कि इन सबको वे एक साथ हजम कर लेते हैं।[4] अतः संतों ने ईश्वर से भाई, बंधु, माता, पिता, सखा, स्वामी, गुरु, दास, पति, प्रियतम, आदि अनेक प्रकार के वैयक्तिक और सामाजिक संबंध स्थापित किये हैं।[5] इतना अवश्य है कि सगुणोपासकों की साधना बहिर्मुखी है। पर संतों में

---

१. दी वैष्णव उपनिषद् पृ० ३०६, १, ४ में कहा गया है कि ये राम, नामोच्चारण करने पर ज्ञानमार्ग की प्राप्ति कराते हैं।

२. जेती देषों आत्मा, तेता सालिगराम। क० ग्रं० पृ० ४४ साखी ५।

३. घटि घटि पारब्रह्म तिणि जनि डीठा।
थानि थनन्तरि तूं है तूं इकी इकु वरतावणिया।
सगल मनोरथ तू देवण हारा, भगती भाई भरे भण्डारा।
दइआ धारि राखे तुधु सेइ पूरे करनि समावणिआ। गु० ग्रं० सा० पृ० १३१।

४. संत सुधा सार की प्रस्तावना पृ० १५।

५. तूं ही तूं आधार हमारे, सेवग सुत हम राम तुम्हारे।
माई बाप तू साहिब मेरा, भगति हीन मैं सेवग तेरा॥
मात पिता तूं बंधव भाई, तुमही मेरे सजन सहाई।..
तुम ही तात तुम ही मात, तुम ही जात तुम ही नात॥
कुल कुटुम्ब तू सब परिवार, दादू का तूं तारण हारा।
दादूदयाल की बानी भा० २ पृ० ४६।

आभ्यन्तरिक पूजा एवं आरती की योग-सम्पृक्त रचनायें मिलती हैं।[1] इसके अतिरिक्त संतों में अपने इष्टदेव के प्रति जितने प्रकार के वैयक्तिक संबंध दिखाई पड़ते हैं, उनमें सगुणोपासकों की भांति ऐश्वर्य-माधुर्य-युक्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य, दाम्पत्य आदि भावों की यथेष्ट अभिव्यक्ति हुई है। दादू ऐसे राजा की सेवा करने की कामना करते हैं, जिसके तीनों लोक घर हैं। चांद और सूर्य दीपक हैं, पवन आंगन बुहारता है। जहां छप्पन कोटि जल है। रात-दिन शंकर और ब्रह्मा उसकी सेवा करने पर भी उसके भेद नहीं जान पाते। वेद जिसे नेति नेति गाता है।[2] सभी देवता जिसकी सेवा करते हैं। मुनि ध्यान धरते हैं; चित्र-विचित्र जिसके दरबार के लिपिक हैं। धर्मराज गुण-सार पर खड़े हैं। ऋद्धियां-सिद्धियां उसकी दासी हैं। चारों पदार्थ (धर्म-अर्थादि) जी हुजूरी करते हैं। कोश-भंडार भरपूर हैं। नारद, शारदा आदि जिसके गुण गान करते हैं। नट नाचते हैं और विचित्र प्रकार के बाजे बजते हैं। जो चौदह भुवन में अवस्थित है। जो इस विश्व की सृष्टि कर उसे धारण किये हुये है, वही दादू का सेव्य है।

यहां दादू का इष्टदेव राजा रूप में चित्रित हुआ है। सगुणोपासकों में भी अपने इष्टदेव के नित्यलोक और ठाकुर-दरबार का इसी प्रकार का चित्रण हुआ है। अंतर केवल इतना ही है कि जहां उनमें अर्चारूप का प्राधान्य है, वहां संतों में आत्मब्रह्म या अन्तर्यामी का ऐश्वर्य-रूप दृष्टिगत होता है। इस उद्धरण में दास्य भाव भी स्पष्ट है। दादू के अतिरिक्त कबीर ने भी पूर्ण ब्रह्म राम के ऐश्वर्य-रूप का वर्णन किया है। उनके पदों में 'सारंगपानी' का प्रयोग

---

१. (क) क० ग्रं० पृ० ९४ 'हिंडोला तहां झूलैं आतमराम' में इस पूजा का भान होता है।
(ख) एहि विधि आरति राम की कीजै। आतम अन्तरि वारणा लीजै।
तन मन चन्दन प्रेम की माला, अनहद घण्टा दीन दयाला।
दादू दयाल की बानी भाग २ पृ० १८८ पद ४४१।

२. एसौ राजा सेऊं ताहि। और अनेक सब लागे जाहि।
तीनि लोक गृह धरे रचाइ, चंद सूर दोउ दीपक लाइ॥
पवन बुहारे गृह आंगणा, छप्पन कोटि जल जा के घरां।
रति सेवा शंकर देव, ब्रह्म कुलाल न जाने भेव॥
कीरति करण चारयू वेद, नेति नेति नवि जाणै भेद।
... ...
ऐसो राजा सोई आहि। चौदह भुवन में रह्यो समाई।
दादू ताकी सेवा करे, जिन नइ रचिले अधर धरे॥
दादू दयाल की बानी पृ० १६७ पद ३९२।

होने के कारण वे विष्णु से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।[1] कबीर का दास्य भाव एक ऐसे ठाकुर के प्रति लक्षित होता है, जो सगुण इष्टदेवों के सदृश भक्तरक्षक है।[2] गुरु अर्जुन ऐसे धनी गोविंद का गुणगान करते हैं, जिसने विष्णु के रूप में करोड़ों अवतार धारण किये हैं। करोड़ों ब्रह्माण्डों में जिसका विस्तार है। करोड़ों ब्रह्मा-शिव, जिसमें स्थित हैं। करोड़ों उसके विभिन्न अंगों से उत्पन्न होते हैं। करोड़ों भक्त (सगुणोपासकों के नित्य पार्षदों के सदृश) उसके संग रहते हैं। करोड़ों वैकुण्ठ उसकी दृष्टि में विद्यमान हैं।[3]

सगुणोपासकों की भाँति सन्तों में भी इष्टदेव के प्रति माधुर्यभाव की अभिव्यक्ति हुई है। विशेषकर कृष्णोपासक तथा कालान्तर में रामोपासक सम्प्रदायों में जिस दाम्पत्य, सखी या सहचरीभाव का विकास हुआ, उसकी अभिव्यक्ति सन्तों में भी हुई। कबीर 'हरि प्रीतम' के साथ अपना अत्यन्त सुदृढ़ सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुये कहते हैं कि हरि मेरा प्रीतम है। हरि के बिना मेरे जीव का अस्तित्व नहीं रह सकता। मैं इस प्रिय की बहुरिया हूँ। वे राम बड़े हैं और मैं उनकी छोटी सी लहुरिया हूँ। मैंने तो उनसे मिलने के लिये इतना श्रृङ्गार किया, परन्तु पता नहीं क्यों वे राजा राम नहीं मिले। यदि अबकी बार मिल जाऊँ तो पुनः इस भवसिन्धु में नहीं आना पड़ेगा।[4] दादू ने सारी सृष्टि को नारी और केवल एक ईश्वर मात्र को स्वामी बतलाया है। एक विरहिणी के समान आतुर होकर वे कहते हैं कि हम सभी उसकी स्त्री हैं, और वही एक मात्र पति है। सभी अपने शरीर का श्रृङ्गार करते हैं। वे घर-घर में अपनी सेज संवारते हैं और प्रिय कन्त का पथ निहारते

---

१. क० ग्रं० पृ० २०२-२०३ पद ३४०। २. क० ग्रं० पृ० १२७ पद १२२।

राजा अंवरीष के कारणि चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर को ठाकुर ऐसौ, भगत की सरन उबारै॥

३. कोटि विसन कीने अवतार। कोटि ब्रह्माण्ड जाके ध्रमसाल।
कोटि महेश उपाइ समाए। कोटि ब्रह्म जगु साजण लाए॥
एसो धणी गोविन्द हमारा। बरनि न सकउ गुण विसथारा।
कोटि उपारजना तेरे अङ्गि। कोटि भगत वसत हरि संगि॥
कोटि बैकुंठ जाकि दृष्टि माहि।

गुरु ग्रन्थ साहिब पृ० ११५६ गुरु अर्जुन।

४. हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सके मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया स्यंगार मिलन कै ताई, कहि न मिलौ राजा राम गुसाई।
अबकी बेर मिलन जो पाऊं, कहै कबीर मैं जलि नहीं जांऊ।

क० ग्रं० १२५ पद ११७।

हैं। वे विह्वल होकर अपने पति का ध्यान करते हैं कि कब नाथ को गले लगाऊँ। इस प्रकार अत्यन्त आतुर वियोगिनी के सदृश वे अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करते हैं।[1] सुन्दर दास 'पतिव्रत को अंग' में कहते हैं कि भगवान् के अतिरिक्त इस विश्व में और कुछ नहीं है। सभी सन्तों के अनुसार वह पतिव्रत या दाम्पत्य भाव से उपास्य है।[2] इस प्रकार सन्तों ने भी अपने इष्टदेव के प्रति स्वकीयाजनित दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति की है।

उक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त सन्तों ने अपने इष्टदेव से विभिन्न प्रकार के अन्य सम्बन्ध भी स्थापित किये हैं। कबीर अपने इष्टदेव को माता के रूप में सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि—हरि तूँ हमारी माता है; मैं तुम्हारा पुत्र हूँ; तुम हमारे अवगुणों को क्यों नहीं क्षमा करोगे। पुत्र विविध प्रकार के अपराध किया करते हैं, किन्तु माता कभी भी उधर ध्यान नहीं देती। कबीर खूब सोच-विचार कर कहते हैं कि बालक यदि दुखी है तो माता भी उतनी ही दुखी है।[3] गुरु रामदास अपने प्रीतम से विविध सम्बन्ध जोड़ते हैं। उनका उपास्य जो मित्र है, सखा है, वही प्रीतम भी है।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सन्तों ने अपने अलख और अविनाशी पुरुष में सगुण ईश्वर के व्यक्तित्व का पूर्ण समावेश किया है। इन सम्बन्धों में किसी सिद्धान्त, दर्शन, या सम्प्रदाय मात्र का विशेष प्रभाव लक्षित नहीं

---

१. हम सब नारी एक भरतार, सब कोई तन करै सिंगार।
धरि धरि अपुणे सेज संवारे। कन्त पियारे पंथ निहारे॥
आरति अपने पिव कौ ध्यावै, मिले नाह कब अङ्ग लगावे।
अति आतुर ये खोजत डोले, बानि परी वियोगनि बोले॥
सब हम नारी दादू दीन, देई सुहाग काहू संग लीन।
दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० २७ पद ६३।

२. सुन्दर और कहू नहीं एक बिना भगवन्त।
ताषो पतिव्रत राषिये टेरि कहैं सब संत॥ सुन्दर ग्रं० भाग २, पृ० ६९०—६९१।

३. हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करे दिन केते, जननी के चित रहे न तेते।
कर गहि केश करे जो धाता, तऊ न हेत उतारे माता।
कहे कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥
क० ग्रं० पृ० १२३ पद १११।

४. आउ सखी हरि मेलु करेहा, मेरे प्रीतम का मैं देह सनेहा।
मेरा मित्र सखा सो प्रीतमु भाई, मैं दसे हरि नरहरी से जीउ॥
गुरु ग्रं० सा० पृ० ९५।

होता। अपितु उनके व्यक्तिगत रूप में सहानुभूतिपरक आत्मनिवेदन, दैन्य, आदि स्वाभाविक उद्गारों से संवलित सामरस्य विदित होता है।

इसके अतिरिक्त सगुणोपासकों के इष्टदेव में जिस परम्परागत स्रष्टा, सर्वात्मवादी एवं विराट रूप का दर्शन होता है, सन्तों के इष्टदेव में भी यत्किंचित् उसकी अभिव्यक्ति हुई है। गुरु अर्जुन एक पद में कहते हैं कि वह अपनी माया का विस्तार स्वयं करता है और स्वयं उसका दर्शक है। वह अनेक प्रकार के रूप धारण करता है, किन्तु सबसे पृथक रहता है।[1] गीता में जिस प्रकार कहा गया है कि जो सर्वत्र मुझको और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।[2] उसी प्रकार सन्त रविदास भी सब में हरि को तथा हरि में सबको देखते हैं। सृष्टि-रचना के द्वारा वह अपना ही विस्तार करता है।[3] सन्त रविदास ने उसके विराट् रूप का परिचय देते हुये कहा है कि जिस विराट् पुरुष के चरण पाताल है और सिर आसमान है, वही ठाकुर सम्पुट के समान है।[4] अर्थात् वही 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' है।

इष्टदेव में अवतारवादी पौराणिक तत्त्व

संत साहित्य में वर्णित निराकार ईश्वर में पर, अपर और सर्वात्मावादी रूपों के अतिरिक्त[5] अवतारवाद की दृष्टि से जो विवेच्य है, वह है उसका पौराणिक अवतारवादी कथाओं से सम्बद्ध रूप, जिसके फलस्वरूप उसका अवतारवाद से भी विशिष्ट संबंध हो जाता है। पीछे कतिपय उद्धरणों के आधार पर उसके व्यक्तिगत रूपों एवं संबंधों पर विचार किया जा चुका है। किन्तु पौराणिक अवतारों के समान उसके ऊपर विष्णु के अवतारों से सम्बद्ध कथाओं का आरोप भी संतों की बानियों में यथेष्ट मात्रा में हुआ

---

१. अपनी माइआ आपि पसारी आपहि देखन हारा।
नाना रूप धरे बहुरंगी सभते रहै निजारा॥
गुरु ग्रं० सा० पृ० ५३७।

२. गीता ६, ३०।

३. सब में हरि है, हरि में सब है, हरि अपने जिता।
अपनी आप शाख नहिं दूसर, जानन हार सुयाना॥
संत रविदास और उनका काव्य पृ० १०० पद १०।

४. चरण पताल सीस आसमान, सो ठाकुर करु संपुट समान।
संत रविदास और उनका काव्य पृ० १८६।

५. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय १५६-१५७।

है। पुराणों में साधारणतः ब्रह्मा, विष्णु और शिव को एक माना गया है। परन्तु साम्प्रदायिक उत्कर्ष के कारण कहीं शिव का और कहीं विष्णु का उत्कर्ष लक्षित होता है। विशेषकर वैष्णव पुराणों में विष्णु तीनों में श्रेष्ठ माने गये हैं। संतों की बानियों में साधारणतः ब्रह्मा, विष्णु और महेश को गौण स्थान प्राप्त हुआ है। वहाँ विष्णु के अवतार राम के गौण रूप का उल्लेख कम हुआ है।[1] साथ ही कतिपय स्थलों में त्रिदेवों का गौण रूप प्रस्तुत करते समय ब्रह्मा और शिव का उल्लेख तो होता है किन्तु विष्णु का नहीं।[2] इसके अतिरिक्त संतों ने अपने ईश्वर को पुराणों की जिन कथाओं से सम्बद्ध किया है, उनमें प्रायः सभी का सम्बन्ध विष्णु एवं उनके अवतारों से है। ब्रह्मा और शिव सम्बन्धी पौराणिक कथाओं का संत-साहित्य में नितान्त अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि माया, त्रिगुणी माया या काल से ग्रस्त या अधीनस्थ देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का नाम समान रूप से लिया गया है; किन्तु यह अंश संभवतः नाथ-पंथी साहित्य से गृहीत हुआ है। क्योंकि नाथ-साहित्य में अक्सर ब्रह्मा, विष्णु और महेश माया के वशवर्ती एवं उससे उत्पन्न कहे गये हैं।[3] संतों ने विष्णु के पर्यायवाची राम ही नहीं अपितु कृष्ण, गोविन्द, हरि, नारायण, माधव आदि नामों का स्वच्छन्दता से

---

१. (क) क० ग्रं० पृ० १०६ पद ५७।

रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई।
कहैं कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न होई॥
ब्रह्मा पाती विष्नु डारी, फूल संकर देव।
तीन देव प्रतख्य तोरहि करहि किसकी सेव॥

क० ग्रं० पृ० ३०५ पद १३७।

(ख) ब्रह्मा विसुन महेस महाबलि मोटे मुनि जन गये सबै चलि।

दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० ९२ पद २२७।

ब्रह्म विसुन महेसुर, बूझें केता कोई बतावै रे।

दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० १०५ पद २४६।

(ग) ब्रह्म विसुन महेसु त्रै मूरति त्रिगुणि भरमि भुलाई।

गुरु ग्रं० सा० पृ० ९०९। गोरखबानी पृ० ९३।

२. दादूदयाल की बानी भाग २ पृ० १०७ पद २५०।

(क) जाके ब्रह्मा ईसुर शिव, बंदा, सब मुनि जन लागे अंगा।

(ख) क० ग्रं० पृ० १२९ के एक पद में महेश राम के भक्त कहे गये हैं।

(ग) क० ग्रं० २७५ पद ३६ 'ब्रह्मे कथि कथि अंत न पाया' जैसे प्रयोग मिलते हैं।

३. ब्रह्मा विष्न मै आदि महेश्वर, वे तीन्यूं मैं जाया।
इन तिहुबानी में घर घरणी, ढ़ैकर मोरी माया जी॥ गोरखबानी पृ० ९३।

हैं, जिसका नाम शुक, जनक आदि जपते हैं।[१] सुदामा, ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर आदि जिसका नाम जपकर तर गये।[२] उन भक्तों के साथ नाम-जप के रूप में जिस 'गुरुमुखि' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह विष्णु भक्तों से सम्बद्ध होने के कारण विष्णु का भी एक पर्याय मात्र रह जाता है। संतों के अनुसार केवल नारायण मात्र कहने से अजामिल का उद्धार हुआ तथा नाम-जप से ही उग्रसेन ने बंधन-मुक्त होकर सुन्दर गति प्राप्त की।[3] जनक के ऊपर स्वयं उन्होंने अनुग्रह किया। वे अपने सेवकों की प्रतिज्ञा का पालन करते हैं तथा जो भी उनकी शरण में जाते हैं उसका उद्धार करते हैं।[४] इसमें संदेह नहीं कि संतों की एकमात्र उपासना नामोपासना रही है।[५] किन्तु उसकी विशेषता यह है कि अधिकांश नाम इस्लामी नामों के अतिरिक्त विष्णु और उनके प्रादुर्भावों के प्रचलित नाम हैं। इस दृष्टि से नामोपासक संतों ने कहीं-कहीं सगुण भक्तों से भी बाजी मार ली है। गुरु अर्जुन ने एक पद में विष्णु के पौराणिक रूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[६] जिसमें विष्णु के विभिन्न प्रचलित नामों के अतिरिक्त[७] उनके अवतारों[८] एवं अवतारी-कार्यों का भी

१-२. जपियो नाम सुक जनक गुर वचनी हरि हरि सरणि परे।
दालदु भंजि सुदामे मिलिआ भातीभाइ तरे।
भगति वछलु हरि नाम कृतारथु गुरमुखि कृपा करे।
मेरे मन नाम जपत उधरे। ध्रू प्रहिलाद विदरन दासी सुतु गुरमुखी ना तरे॥
गुरु ग्रं० सा० पृ० ९९५।

३. बेमुआ खत अजामलु उधरिओ मुखि बोलै नाराइणु नर हरे।
नाम जपत उग्रसेणि गति पाइ तोड़ि बंधन मुकति करे॥
गुरु ग्रं० सा० पृ० ९९५।

४. जनकउ आपि अनुग्रह कीआ हरि अंगीकार न करे।
सेवक पैज राखे मेरा गोविंदु सरणि पर उधरे।
जन नानक हरि किरपाधारी उरधारिओ नामु हरे॥
गु० ग्रं० सा० पृ० ९९५।

५. छा० ७, १, ५ तथा बृ० उ० ५, ५, १ में नामोपासना का उल्लेख हुआ है।

६. गुरु ग्रं० सा० पृ० १०८३ 'अच्युत पार ब्रह्म परमेसुर।
आपहुँ कोइ न पावेगा' तक २८ पंक्तियों का पद।

७. अच्युत पारब्रह्म परमेसुर अंतरजामी मधुसूदन दामोदर सुआमी।
रिखीकेस गोवरधन धारी मुरली मनोहर हरि रंगा।
मोहन माधव कृष्ण मुरारे, जगदीसुर हरि जीउ असुर संघारे॥
गुरु ग्रं० सा० १०८३ पृ० १-२।

८. धरणी धर ईस नरसिंघ नारायण, दाड़ा अग्रे प्रथमि धराइण।
बावन रूपु कीआ तुधु करते समही सेती है चंगा॥

वर्णन हुआ है।[1] सिख गुरुओं में गुरु अर्जुन और परवर्ती गुरु गोविंद सिंह दोनों अवतारवाद के प्रबल समर्थक विदित होते हैं।[2] अकबर-कालीन गुरु अर्जुन के पदों में प्राप्त अवतारवादी तत्त्वों के अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि एक बार इन्होंने अकबर के सामने कहा था कि गुरु ग्रंथ साहिब में अवतार-विरोधी कोई पद नहीं है।[3] यों इनके पूर्व के कबीर आदि संतों के पदों में अवतारवादी तत्त्व यत्र तत्र मिलते हैं।

इसका विशेष कारण यह है कि सगुणोपासकों की अपेक्षा संतों में नामोपासना का अत्यधिक प्रचार था। प्रायः इस उपासना के महत्त्व की चर्चा सभी ने की है।[4] इस नामोपासना में भजन एक मात्र सहारा रहा है; जिसमें पौराणिक अवतारवादी तत्त्वों के समावेश के लिये पर्याप्त स्थान मिला। संत कबीर हरिभजन का प्रमाण प्रस्तुत करते हुये पौराणिक भक्तों के उद्धार की भी चर्चा करते हैं। उनके कथनानुसार हरिभजन के प्रताप से ही नीच ऊँच पद पाता है। पत्थर जल पर तैरने लगते हैं। अधम भील और अजाति गनिका विमान पर चढ़कर जाते हैं।[5] नामदेव 'सावलें विट्ठल राइ' की महिमा गाते हुये कहते हैं कि ये वैकुण्ठ से हाथ में चक्र लिये आये और गजराज की

... ...

श्री रंग बैकुंठ के वासी, मछु कछु कुरमु आगिआ अउतरासी।

केशव चलत करहि निराले कीता लोढ़हि सा होइगा।

गुरु ग्रं० सा० पृ० १०८३, ३ और ८।

१. मुकुंद मनोहर लखमी नारायण, द्रोपती लजा निवारि उधारण।

कमलाकान्त करहि कैतूहल अनद विनोदी निहसंगा।

गुरु ग्रं० सा० पृ० १०८३ पृ० ६।

२. गुरु गोविन्द सिंह के पदों में भी पौराणिक २४ अवतारों की लीला का वर्णन हुआ है। विचितर नाटक में वर्णित २४ अवतार।

३. संत सुधासार पृ० ३४२।

४. संतों में प्रचलित नामोपासना का आभास उपनिषदों से ही मिलने लगता है। छा० ७, १, ५ में सनत्कुमार नारद को नामोपासना का उपदेश देते हैं। प्र० उ० ५, ५, १ में अक्षरोपासना की ओर इङ्गित किया है। भागवत पुराण ११, ५, ३२ तथा १२, ३, ४४-४५ में कलियुग के लिए नामोपासना या कीर्तन को ही अधिक महत्त्व मिला है। गुरु अर्जुन ने गुरु ग्रन्थ सा० पृ० १०७५ में 'कलियुग महि कीरतन परवाना' को स्वीकार किया है।

५. है हरिभजन को प्रवान।

नीच पावै ऊंच पदवी, बाजते नीसान।

भजन को प्रताप ऐसो, तिरे जल पाखान॥

अधम चील अजाति गनिका, चढ़ैं जात बिमांन। क० ग्रं० पृ० १९० पद ३०१।

रक्षा की। सभा में वस्त्र उतारते हुये दुःशासन से द्रौपदी को उबारा तथा अहल्या या अनेक पापियों को मुक्त किया।[1]

इन तथ्यों के आधार पर यह विदित होता है कि वस्तुतः सन्तों ने जिस अवतारवाद का विरोध किया है—वह परम्परावादी एवं कट्टरपन्थी पण्डितों एवं व्यासों द्वारा उपदिष्ट[2], हिन्दू-मुसलमान में विद्वेष पैदा करने वाला रूढिग्रस्त एवं अन्ध-परम्पराओं से आवृत और मूर्तिपूजा पर आश्रित अवतारवाद है।[3] क्योंकि एक ओर सन्तों में जहाँ अवतारवाद की आलोचना मिलती है, वहीं दूसरी ओर उसके परिनिष्ठित रूप का भी दर्शन होता है। इन्होंने पौराणिक भक्तों को चाहे वे सगुण हों या निर्गुण केवल हरि के भक्त-रूप में ग्रहण किया है। कबीर के अनुसार सभी के सखा और स्वामी भगवान् वे ही हैं जिन्होंने हिरण्यकशिपु को नख से विदीर्ण किया तथा सन्त प्रह्लाद के वचनों की रक्षा की।[4] नामदेव भक्तों पर की गई भगवान् की कृपा-सम्बन्धी पौराणिक उदाहरणों को देते हुये कहते हैं कि उन्होंने अम्बरीष को अभय पद दिया, विभीषण को राज्य प्रदान किया, सुदामा को नव निधि या अतुल सम्पत्ति प्रदान की तथा ध्रुव को ऐसा पद दिया जो अटल एवं अचल है। उन्होंने नृसिंह-रूप धारण कर भक्त के हित के लिये हिरण्यकशिपु को मारा। वे केशव तो आजभी

---

१. कर धरे चक्र बैकुण्ठ ते आयो, तू रे गज के प्रान उधार्‌यो।
दुह्सासन की सभा द्रौपदी अंबर लेत उबार्‌यो॥
गौतम नारी अहल्या तारी, पापिन केतिक तार्‌यो।
ऐसा अधम अजाति नामदेव तव सरनागति आयो॥ संत सुधासार पृ० ५० पद ९

२. क० ग्र० पृ० ३०२ पद १३२:
पंडिया कौन कुमति तुम लागे।
बूड़हुगे परवार सकल स्यो राम न जपहु अभागे।
वेद पुरान पढ़े का किया गुन खर चंदन जस भारा॥

३. कबीर बीजक पृ० २९-३० पद ४।
संतों देखत जग बौराना।
आतम मारि पषानहि पूजे। उनमहं कहूँ न ग्याना।
... ...
हिंदू कहै मोहि राम पियारा। तुरक कहैं रहिमाना॥
आपस में दोउ लरिलरि मूये। मर्म न काहू जाना॥

४. सर्व सखा का एक हरिस्वामी सो गुरु नाम दयो।
संत प्रह्लाद की पैज जिन राखी हरनाखुश नख विदर्‌यो॥
क० ग्र० पृ० ३०२ पद १२९।

भक्ति के वशीभूत हो वलि के द्वार पर खड़े हैं।[1] सन्त त्रिलोचन कहते हैं कि जो अन्तकाल में नारायण का स्मरण करते हुये मरते हैं, वे ही मुक्त पुरुष हैं। उन्हीं के हृदय में पीतवसनधारी (विष्णु) निवास करते हैं।[2] इस प्रकार सन्तों के भगवान् भी केवल निष्क्रिय, निर्गुण ब्रह्म न होकर भक्तों के पालक एवं रक्षक हैं। रामानन्द के अनुसार उनके विना अन्य कोई संकट से मुक्त करने वाला है ही नहीं।[3] रैदास संत-पालक ईश्वर में अटल विश्वास प्रकट करते हुये कहते हैं कि जिन्होंने अजामिल, गज और गणिका का उद्धार किया और कुंजर को बन्धन मुक्त किया; जिन्होंने ऐसे 'दुरमत' भक्तों को मुक्त किया वे रैदास को क्यों नहीं मुक्त करेंगे।[4] 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत एक अन्य पद में त्रिलोचन कहते हैं कि नारायण की निन्दा करना मूर्खता है। भला या बुरा सबके कर्त्ता वे ही हैं। अनेक पातकियों का उन्होंने उद्धार किया।[5] इन्होंने अमृत, चन्द्रमा, धेनु, लक्ष्मी, कल्पतरु आदि समुद्र मन्थन द्वारा आविर्भूत वस्तुओं तथा राम द्वारा लङ्कादहन और रावण वध की भी चर्चा की है।[6] सन्त गुरु नानक का राम एक ओर तो घट-घट में रमने वाला है और दूसरी

---

१. अम्बरीष कूदियो अभयपद, राज विभीषन अधिक करयो।
नौ निधि ठाकुर रहे सुदामहि, ध्रुव जी अटल अजहूँ न टरयो।
भगत हेत मारयो हरनाकुस, नृसिंह रूप के देह धर्यो।
नामा कहे भगति बस केशव, अजहुं वलि के द्वार खर्यो।
संत सुधासार पृ० ५४ पद १९।

२. अंतकालि नाराइणु सिमरै, जैसी चिंता महि जे मरे।
वदसि त्रिलोचन ते नर मुकता, पीतंबरु वाके रिदै बसै। संतकाव्य पृ० १४२ पद २

३. है हरि बिना कूण रखवारो, चित है सिवरौ सिरजण हारो।
संकट में हरि बेइ उबारी, तिस दिन सिमरौ नाम मुरारी।
रामानन्द की हिन्दी रचनायें पृ० ६ ग्यान लीला १२।

४. लाग वाकी कहां जानै, तीन लोक पवेत रे।
अजामील गज गनिका तारी, तारी कुंजर की वास रे।
ऐसे दुरमत मुक्त किये, तो क्यों न तरै रैदास रे।
संतवाणी अङ्क। कल्याण २९ वर्ष। संख्या १ पृ० २१९।

५. नारायण निंदि काइ भूली गवारी। दुक्रितु सुक्रितु थारो करनुरी।
अनेक पातिक हरता त्रिभवण नाथु री।
तीरथि तीरथि भ्रमता लहै न पार री, करम करि थपालु मफीटसिरी।
अमृत ससीज धेन लछिमी कलपतर सिखारि सुनागर नदी चे नाथं।
करम करि खारु मफीटसिरी। गु० ग्रं० सा० पृ ५९५।

६. दावीले लंकागडु उपाड़ी ले रावणु वणु सलि विसलि प्राणि तोखीले हरी।
काम करि वछ उटी मफीटसिरी। गु० ग्रं० सा० पृ० ६९५।

और वह असुरों का संहार भी करता है।[1] सुन्दरदास के अनुसार भी भगवान् द्वारा अनेक सन्तों का उद्धार हुआ। वे अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।[2] इन्होंने सगुणोपासक तुलसीदास के सदृश रामोपासना की परम्परा का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जिस राम-नाम का उपदेश शङ्कर ने गौरी को किया था, शेष उसी नाम को सदैव जपते हैं। उसी का प्रचार नारद ने किया, ध्रुव के ध्यान में तथा प्रह्लाद के निमित्त वे ही प्रकट हुये।[3] जिस रूप में उन्हें स्मरण किया जाता है उसी रूप में वे आविर्भूत होते हैं।[4] इन्होंने इस प्रकार 'गीता' एवं 'महाभारत' की उक्तियों का समर्थन किया है।[5]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि निर्गुण ईश्वर के उपासक होते हुए भी वे सगुण और अवतारी विष्णु के कट्टर विरोधी नहीं थे। अन्यथा वे पुराणों में प्रचलित विष्णु के अवतारवादी उद्धार-कार्यों का समावेश अपने पदों में नहीं करते।

दूसरा तथ्य जो उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् उपलब्ध होता है वह यह कि सन्तों ने यदि किसी निर्गुण ईश्वर को अपना उपास्य माना है तो वह निर्गुण-रूप अवतार धारण करने वाले विष्णु का ही है। सन्तों ने अपने उपास्य के लिए जिन नामों का प्रयोग किया है उसमें अल्लाह के विविध पर्यायों के साथ विष्णु के ही प्रचलित पर्यायों का समन्वय किया गया है।

अतः सन्त विष्णु-मूर्ति और अष्टयाम पूजा के विरोधी होते हुए भी विष्णु के एक विशिष्ट निराकार रूप के पूजक प्रतीत होते हैं। यों तो तत्कालीन युग में उपास्य के रूप में प्रचलित विष्णु-मूर्ति के साथ दशावतारों की पूजा का भी उन्होंने विरोध किया है, परन्तु नामोपासक होने के नाते उन्होंने विष्णु एवं उनके अवतार-नामों की सदैव उपासना की है। उनके ये नामात्मक विष्णु पौराणिक

---

१. असुर सहांरण रामु हमारा घटि घटि रमइया राम पिआरा। गु० ग्रं० सा० १०२८

२. सुन्दर भजि भगवंत को उधरे संत अनेक।
सदा कसौटी सीस पर, तजी न अपनी टेक। सु० ग्रं० पृ० ६८० साखी ४४।

३. राम नाम शंकर कह्यो गौरी को उपदेश।
सुन्दर ताही राम को सदा जपतु है सेस॥
राम नाम नारद कह्यो सोई ध्रुव के ध्यान।
प्रकट भये प्रह्लाद पुनि सुन्दर भजि भगवान॥
सुन्दर ग्रन्थावली पृ० ६८० सा० ४७-४८।

४. जाही कौ सुमिरन करै है ताही कौ रूप। सुमिरन कीये ब्रह्म के सुन्दर है चिद्रूप॥
सुन्दर ग्रन्थावली पृ० ६८१ सा० ५६।

५. गीता ७, २१ मह० १२, ३४७, ७९।

अवतारवादी कार्य वैसे ही करते दीख पड़ते हैं, जैसे सगुण भक्तों के विष्णु और अवतार।

अतः ऐसा लगता है कि उपास्य की दृष्टि से निर्गुण और सगुण सन्तों में केवल नामोपासना और मूर्ति-उपासना को लेकर जितना मतभेद था, उतना विष्णु के अवतारवादी रूपों को लेकर नहीं।

जनश्रुतिपरक अवतारी कार्य

सन्तों के ईश्वर में उक्त पौराणिक अवतारी कार्यों के अतिरिक्त जनश्रुति-परक कुछ ऐसे अवतारी कार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनका उत्तर मध्यकालीन सन्तकाव्यों एवं भक्तमालों में पर्याप्त प्रचार हुआ। इनमें से प्रायः अधिकांश का सम्बन्ध भगवान् द्वारा की गई सन्तों की अनायास सहायता, सहयोग या सहवास से है। इन चमत्कारपूर्ण जनश्रुतियों के प्रभाववश तत्कालीन सन्त गाथाओं को भी पौराणिक कथाओं के सदृश अतिरंजित किया गया। यह प्रवृत्ति विशेषकर उस परवर्ती सन्त-साहित्य में मिलती है जिन पर साम्प्रदायिक रंग पर्याप्त मात्रा में चढ़ चुका था। सगुणोपासक वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति पूर्ववर्ती नामोपासक सन्तों के राम पर भी अनेक सम्प्रदायों का अस्तित्व कायम हो चुका था। कालान्तर में यह प्रवृत्ति इस प्रकार बढ़ती गई कि सन्त सम्प्रदायों से सम्बद्ध अधिकांश पूर्ववर्ती (अब प्रवर्तक रूप में मान्य) सन्तों-को स्वयं अवतार या अवतारी रूप प्रदान किया गया। इस पर यथास्थान इस निबन्ध में विचार किया गया है।

संत जयदेव[1] से सम्बद्ध एक अनुश्रुति है कि जगन्नाथ जी ने एक ब्राह्मण की कन्या ब्याहने के लिए इन्हें प्रेरित किया था।[2] संत सधना के 'शालिग्राम' इनकी तराजू में ही रहना पसंद करते थे। एक वैष्णव के ले जाने पर उन्होंने उसे वहीं रखने को बाध्य किया।[3] संत सधना ने बढ़ई और एक राजकुमारी की कथा का एक पद में वर्णन किया है, जिसमें विष्णु ने बढ़ई की सहायता

---

१. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ० ९७ उक्त कवि जयदेव और कृष्णभक्त कवि जयदेव का एकीकरण अभी सन्दिग्ध माना जाता है।

२. भक्तमाल पृ. ३४४ प्रियादास कवित्त १४४ तथा छप्पय ३१ के अनुसार राधारमन इनकी रचना गीत गोविन्द सुनने के लिये आते थे। 'राधारमन प्रसन्न निश्चय तहँ आवे।'

३. गंडकी कौ सुत बिन जाने तासौ तौल्यो करै,
भरेढ़ग साधु आनि पूजे, पै न भाई है।
कहि निसि सुपने मैं वाही ठौर मोंकौ देवौ, सुनो गुनगान,
रीझौ हिय की सचाई है। भक्तमाल पृ० ६३१ कवित्त ३९४।

की थी।[1] इस प्रकार की नामदेव और अर्चामूर्त्ति विट्ठलदेव से भी सम्बद्ध कथाएँ प्रचलित हैं।[2] कृष्ण के साथ इनकी सत्य भक्ति प्रसिद्ध है। पंगारकार के अनुसार नामदेव के घर के आदमी के सदृश ही भगवान उनके साथ दिन-रात रहने वाले, खेलने वाले, बोलने वाले और प्रेम-कलह करने वाले बन गये थे।[3] इनके इष्टदेव के विषय में दूध पिलाने, अपनी छान छवाने, विठोवा-मंदिर का द्वार पश्चिम की ओर करा देने की बहुत सी कथायें प्रचलित हैं।[4] जिनका उपयोग संतों ने अपने पदों में किया है।[5] स्वयं नामदेव की कविता में दूध पिलाने वाली घटना का वर्णन हुआ है। उस पद के अनुसार गोविंद से नामदेव दूध पीने का आग्रह करते हैं, और हरि उन्हें दर्शन देकर उनका दूध पीते हैं।[6] संत त्रिलोचन के घर स्वयं भगवान अन्तर्यामी नाम के नौकर के रूप में इनके घर नौकरी करते थे।[7] 'भक्तमाल' (प्रियादास की टीका)

---

१. त्रिप कंनिआ कै कारनै, इकु भइआ भेषधारी।
कामारथी सुआरथी, वाकी पैज संवारी ॥ संतकाव्य पृ० १३८।

२. भक्तमाल पृ० ३१२ छप्पय ५३ के अतिरिक्त प्रियादास ने अधिक विस्तारपूर्वक उनका वर्णन किया है।

३. श्री तुकाराम चरित्र पृ० २४०।

४. 'नामदेव' प्रतिज्ञा निर्बही, ज्यों त्रेता नरहरिदास की।
बाल दसा बीठलपानि जाके, पै पीयौ।
मृतक गउ जिवाय परयो असुरन कौ दीयौ ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यौ देखि सकुचि रहे सबही सोती ॥
'पंडुरनाथ' कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही, ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥
भ० रूपकला पृ० ३२२ छप्पय ४३।

५. उ० भा० सं० पृ० १०८ में गुरु ग्रन्थ साहिब। भाई गुरू दयाल सिंह ऐन्ड सन्स, अमृतसर। पृ० ११०४ के आधार पर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उल्लेख किया है।
दुधु कटोरै गड़वै पानी। कपल गाइ नामै दुहि आनी।

६. दुधु पीउ गोविन्दे राई।
दुधु पीउ मेरौ मन पतीआइ। नाही त घर के वापु रिसाइ।
सो इन कटोरी अमृत भरी। ले नामे हरि आगे धरी।
एक भगत मेरे हिरदै बसै, नामे देखु नाराइनु हसै।
दुधु पीआइ भगतु घरि गइआ, नामे हरि का दरसनु भइआ।
गु० ग्रन्थ साहिब पृ० ११६३-११६४।

७. अंत्रजामी नाम मेरौ चेरो भयो तेरो हौ तो,
बोल्यो भक्त भाव खानौं निशंक अघाइ कै।
भ०, रूपकला पृ० ३८४ प्रियादास कवित १८२।

में कबीर का भी अर्चा-विग्रह से संबंध जोड़ा गया है।[1] सेन नाई अर्चावतार विट्ठल के प्रति अनेक पदों के रचयिता के रूप में मान्य हैं।[2] कहा जाता है कि इन्हें पूजा में रत देखकर इनके इष्टदेव इनके स्थान में राजा की सेवा करते थे।[3] संत पीपा को समुद्र में श्रीकृष्ण और रुक्मिणी युगल रूप में दर्शन देते हैं।[4] रैदास १२ वर्ष की अवस्था से ही राम-जानकी की मूर्त्ति की उपासना के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके इष्टदेव राम इन्हें भक्त के रूप में दर्शन देते हैं।[5] धन्ना भक्त ने भगवान की मूर्ति का लड़कपन में ही दर्शन किया तथा उन्हें भोजन कराया था।[6] संत दादू दयाल के गुरु वृद्धानन्द या 'बुढ़ा बाबा' नाम के कोई व्यक्ति माने जाते हैं। जनश्रुति के अनुसार स्वयं भगवान ने ही 'वृद्धानन्द' के रूप में इन्हें दीक्षा दी थी।[7] सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में वृद्धानन्द का उल्लेख किया है।[8] संभवतः 'वृद्धानन्द' परब्रह्म के प्रतीक या अवतार थे, क्योंकि अन्यत्र इन्होंने परब्रह्म से अपनी गुरु-परंपरा स्वीकार की है।[9] मलूकदास के साथ कहा जाता है कि भगवान

---

१. भक्तमाल पृ० ४८४–४८७ प्रियादास के कवित्त २७५
'जगन्नाथ पण्डा पांव जात बचायो है'।

२. उ० भा० सं० प० पृ० २३०–२३१ भक्तमाल पृ० ५२५ छप्पय ६३। तथा परवर्ती गरीब दास ने ग० दा० बानी पृ० ८७ पद २१
सेना के घर साहिब आये करी हजामत सेवा।
संतों की तो सरधा राखी पारब्रह्म जिन देवा।'
के रूप में उल्लेख किया है।

३. विदित बात जग जानियै, हरि भये सहायक सेन के।
प्रभुदास के काज रूप नापित कौ कीनौ।
छिप्र छुड़हरि गही पानि दर्पन तह लीनौ॥
ताद्दस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायौ। भक्तमाल० पृ० ५२५ छप्पय ६३।

४. आये आगे लैन आप, दिये हैं पठाय जन, देखि द्वारवती कृष्ण मिलै बहु भाग कै।
भक्तमाल पृ० ४९८ प्रियादास क० २८८।

५. सहे अति कष्ट अंग हिये सुख शील रंग आए हरि प्यारे लियौ भक्त भेष धरिकै।
भक्तमाल पृ० ४७४ प्रियादास क० २६२।

६. बार बार पांव परै अरै मुख प्यास तजी, धरै हिये सांचौ भाव पाई प्रभु प्यारियै।
भक्तमाल पृ० ५२३ प्रियादास क० ३०७।

७. सुन्दर ग्रन्थावली पृ० १९८। ८. सुन्दर ग्रन्थावली पृ० १९८।

९. परम्पर परब्रह्म तै आयौ चलि उपदेश।
सुन्दर गुरु ते पाइये, गुरु बिन लहै न लेश॥ सुंदर ग्रन्थावली पृ० २०२।

ने मजदूर बनकर इनका कार्य किया था।[१] बावरी साहिबा श्रीकृष्ण मनमोहन के दर्शन के निमित्त बावरी बन गई थीं।[२]

इन उदाहरणों के आधार पर संतों के ईश्वर को अवतारवादी ईश्वर से पृथक् नहीं किया जा सकता। क्योंकि सगुण भक्तों ने भी 'निर्गुण ब्रह्म सगुण वपु सोई' के रूप में निर्गुण ब्रह्म के ही साकार रूप का प्रतिपादन किया है। किन्तु जहाँ तक इन उदाहरणों की सत्यता का प्रश्न है, इनमें ऐतिहासिक से अधिक पौराणिकता विद्यमान है। पर भारतीय साहित्य की यह परम्परा रही है कि उसमें ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा लोकरंजन-कारिणी पौराणिक घटनाओं का अधिक समावेश होता रहा है। आलोच्यकाल में भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव ज्ञानाश्रयी शाखा पर सगुण-भक्ति-मत के प्राबल्य के कारण प्रतीत होता है। संतों के वैयक्तिक उपदेश, एवं आलोचना-सम्बन्धी रचनाओं को छोड़कर उन पदों में जहाँ भी ईश्वर-कृपा-सम्बन्धी उदाहरण या प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, उनमें प्राचीन पौराणिक उदाहरणों के साथ तत्कालीन जनश्रुतिपरक अवतारी कार्यसम्बन्धी घटनाओं का उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त संतों की जीवनियों का जहाँ भी संतों की रचनाओं में आश्रय मिला है, वहाँ उनका चमत्कार बहुल पौराणिक तथ्य ही अधिक संगृहीत हुआ है। नाभा जी या अन्य संतों द्वारा रचित भक्तमालों की रचनाओं से इसका निराकरण होता है।

निर्गुण-संतों के उपास्य देव के उक्त सेवा-कार्य सगुण-सम्प्रदायों में प्रचलित अर्चावतारों के अवतारी कार्य से अधिकाधिक समानता रखते हैं। क्योंकि उस इष्टदेव में जिस सेवा-भाव का परिचय मिलता है, वह अर्चा-विग्रह के अधिक निकट है। 'तत्त्वत्रय' के अनुसार अर्चावतार अपने स्वामी-सेवक-भाव को बदलकर सेवक-स्वामी के भाव में भी उपस्थित होता है।[३]

विशेषकर मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में जब संत सम्प्रदायों का विकास हुआ, तो इस युग में अनेक द्वारों से संत-काव्यों में अवतारवाद का प्रवेश और उसका विलक्षण विकास परिलक्षित होता है, जिनका यथास्थान विवेचन किया गया है।

---

१. मलूकदास की बानी जीवनी पृ० २।

२. सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
उ० भा० सं० प० पृ० ४७७।

३. तत्त्वत्रय पृ० ११९।

सन्तों के अवतारवादी दृष्टिकोण

नामोपासना के द्वारा निराकार की उपासना करने वाले सन्त केवल अवतारवाद के आलोचक ही नहीं रहे हैं, अपितु अवतारवाद के कुछ विशिष्ट रूपों के समर्थक भी रहे हैं। प्राचीन परम्परा में गीता में सर्व-प्रथम अवतार-वाद की पुष्टि होती है। 'गीता' में कर्मयोग की परम्परा के वर्णन में अचानक श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे अजन्मा और अविनाशी भूतों एवं प्राणियों के ईश्वर होते हुये भी अपने स्वभाव को साथ लेकर माया से प्रकट होते हैं।[1]

उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट है कि उनका आविर्भूत रूप माया से सम्बद्ध है। पुनः 'गीता' में ही कहते हैं कि वे अपनी प्रकृति का अवलम्बन करके नाना प्रकार की सृष्टि करते हैं।[2] इस प्रकार स्रष्टा ईश्वर की सृष्टि में व्याप्त और आविर्भूत रूपों का माया से स्पष्ट सम्बन्ध विदित होता है।[3] सन्तों ने अवतारवाद का यही माया–संवलित रूप ग्रहण किया है। उनके मतानुसार अखिल सृष्टि का आविर्भाव तो माया के द्वारा होता ही है,[4] उनका उपास्य 'अन्तर्यामी' आत्म ब्रह्म माया के द्वारा ही जिस शरीर में अवतीर्ण होता है[5] वह शरीर कंचन के सदृश दिव्य हो जाता है।[6] सगुण सन्तों ने भी माया-विशिष्ट ब्रह्म को ही अवतार-स्वरूप माना है। परन्तु इनमें और सन्तों की माया में विशेष अन्तर यह है कि जहाँ सगुणोपासकों में माया दिव्य शक्ति के रूप में मान्य होती है और श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती है, वहाँ सन्तों में वह जीव, जगत् तथा ब्रह्म के बीच में भ्रम में डालने वाली व्यवधान के रूप में मानी जाती है।

साथ ही तत्कालीन सगुण सम्प्रदायों में जब अवतारवाद का विकास अर्चावतारों और ईश्वर के जड़ प्रतीकों एवं ऐसे राम, कृष्ण आदि ऐतिहासिक

---

१. गीता ४, ६। २. गीता ९, ८।

३. 'इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते' के रूप में प्राचीन वैदिक संहिता एवं उपनिषद् में मायिक रूप का बीज मिलता है। ऋ० ६, ४७, १८ और बृ० उ० २, ५, १९।

४. जें नाही सो ऊपजै, हैसौ उपजै नाहिं। अलख आदि अनादि है, उपजै माया मांहि।
दादूदयाल वा० पृ० १९२ साखी २०।

५. रज्जब माया ब्रह्म में। आतम ले अवतार॥
भूत भेद जाने नहीं। सिर दे सिरजनहार॥ रज्जब जी की बानी पृ० ११५।

६. सबै रसाइण में किया हरि सा और न कोइ।
तिल इक घट में संचरै। तौ सब तन कञ्चन होइ॥ क० ग्रन्थ पृ० १७ साखी १६८
अब घट प्रगट भये राम राइ। सोधि सरीर कनक की नांइ।
क० ग्र० पृ० ९४ साखी १७।

अवतारों को लेकर हुआ जिनमें साम्प्रदायिक मान्यताओं का अत्यधिक समावेश हो चुका था। विशेषकर अर्चावतार का सम्बन्ध विधि-निषेध-युक्त संहितात्मक पूजा-पद्धतियों एवं बाह्याचारों से पूर्ण था; उनमें साम्प्रदायिक विद्वेष उत्पन्न करने वाले तत्त्व विद्यमान थे। इसी से मानव-एकता के पुजारी सन्तों द्वारा इसकी भर्त्सना हुई।

दूसरी ओर सन्तों ने ईश्वर के जिस 'अन्तर्यामी' रूप को ग्रहण किया था वह मनुष्य की संवेदना के अत्यधिक निकट होने के अतिरिक्त विधि-निषेध या किसी प्रकार की पूजा-सम्बन्धी बाह्याडम्बर से परे था।[1] इस प्रकार अन्तर्यामी अवतार सम्प्रदायों की कठोर पूजा-विधियों से बिल्कुल पृथक् था। साथ ही वह हिन्दू-मुसलमान सभी के लिये सहज ग्राह्य था।[2] सन्तों ने उसे ही अपना उपास्य माना। उपास्य-रूप में अलख या सूक्ष्म होने पर भी उसके ऐश्वर्य-विशिष्ट वैयक्तिक गुण पृथक् नहीं हुये। इस युग तक साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश एवं धर्मसम्बन्धी हेतुओं पर भक्ति का पर्याप्त रंग चढ़ा चुका था। फलतः सगुणोपासकों का उपास्य यदि मूक को वाचाल, तथा पंगु को गिरि पर चढ़ने योग्य[3] बना सकता था तो सन्तों का उपास्य धरती को आकाश, तथा आकाश को धरती, दिन को रात और रात को दिन[4] तथा जल के स्थान में स्थल और स्थल के स्थान में जल करने में समर्थ था।[5] इस प्रकार सन्तों का ईश्वर तटस्थ और उदासीन न होकर सन्तों के निमित्त सदैव चिंतित रहने वाला उनका पालक, उद्धारक एवं सहायक है। इनकी सहायता के निमित्त वह अवतीर्ण हो कर उनकी सहायता करता है। दादू एक पद में कहते हैं कि प्रियतम इनका सभी कार्य संवार देता है। वह सन्तों के निमित्त दुष्टों का नाश करता है। वह सभी कार्यों में समर्थ, प्रेम-प्रीति का निर्वाह

---

१. जिन कङ्कर पत्थर सेविया। सो अपना मूल गंवाइ।
अलख देव अंतरि बसै, क्या दूजी जागह जाइ। दादू द० बा० भाग १ पृ० १४७।

२ सब हम देख्या सोध करि, दूजा नाहीं आन।
सब घर एकै आतिमा क्या हिन्दू मुसलमान॥ दादू द० बा० भाग १, पृ० २३५

३. मूक होइ वाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन। रा० मा०, ना० प्र० पृ० ३।

४. धरती को अम्बर करै, अम्बर धरती होइ।
निसि अंधियारी दिन करै, दिन कूं रजनी सोइ। दादू० बा० भाग १ पृ० १९५।

५. कर्ता करै निमिष में। जल माहैं थल थाप॥
थल माहैं जल हर करै। ऐसा समरथ आप॥ दादू० बा० भाग १ पृ० १९५ साखी ५।

करने वाला है।[1] मलूकदास के अनुसार निराकार पुरुष सन्तों के निमित्त नाना प्रकार के वेष धारण करता है। प्रत्येक युग में अपने भक्तों के कार्य-सिद्धि के निमित्त अवतीर्ण हुआ करता है। सम्भवतः उसकी इस अवतार-लीला का शिव और शेष भी वर्णन नहीं कर सकते हैं।[2] सन्तों में अवतार-वाद के समर्थक गुरु अर्जुन के मतानुसार जहाँ-जहाँ सन्त उनकी उपासना करते हैं, वहाँ-वहाँ वे प्रकट होकर अपनी महिमा का आप ही विस्तार करते हैं।[3] धन्ना उस गोपाल की आरती करते हैं जो अपने भक्तों का कार्य सिद्ध किया करता है।[4] गुरु अर्जुन के अनुसार वह आप ही रक्षा करता है और भक्तों को कष्टों से उबारता है। वह साधुओं को तो भवसागर से तारता है, किन्तु निन्दा करने वाले और दुष्टों को क्षण मात्र में नष्ट करता है।[5] कबीर के भी एकमात्र पद में कहा गया है कि अखिल सृष्टि का जो स्वामी है उसी का नाम गुरु से प्राप्त हुआ था। उसी ने हिरण्यकशिपु को नख से विदीर्ण कर प्रह्लाद के वचनों की रक्षा की थी। वह सभी पाप खंडित कर संतों

---

१. पीव तैं अपने काज संवारे।
कोई दुष्ट दीन कौं मारण, सोई गहि तैं मारैं।
मेर समान ताप तन व्यापे, सहजै ही सो हारे॥
संतनु कौं सुखदाई माधौ, बिन पावक कंध जारे।
तुम थें होइ सबै विधि सिमरथ, आगम सबै विचारे॥
संत उबारि दुष्ट दुख दीन्हा अंध कूप में ठारे।
ऐसा है सिर खसम हमारे, तुम जीते खल हारे॥
दादू सों ऐसे निर्वहिये, प्रेम प्रीति पिव प्यारे। दादू० बा० भाग २ पृ० ४५।

२. नमो निरञ्जन निरङ्कार। अविगत पुरुष अलेख।
जिन संतन के हित धर्यो, युग युग नाना भेख॥
हरि भक्तन के काज हित, युग युग करी सहाय।
सो सिव सेसन कहि सकै कहा कहूं मैं गाय॥ मलूकदास की बानी पृ० ३४।

३. भगति बछलु हरि बिरदु आपि बनाइआ।
जहँ जहँ संत अराधहिं तहं तहं प्रगटाइया॥
प्रभि आपि लीए समाइ सहजि सुभाइ भगत कारज सारियां।
आनन्द हरि जस मह मंगल सरब दुख बिसराइया॥
गुरु ग्रं० सा० पृ० ४५६-४५७।

४. गोपाल तेरा आरता।
जे जन तुमरी भगति करे वें तिनके काज सवारता। गुरु ग्रं० सा० पृ० ६९५।

५. रखै रखण हरि आपि उबारिअनु। गुरु की पैरी पाइ काज सवारिअनु।
होआ आपि दइआलु मनुहु न विसारिअनु।
साकत निंदक दुसट खिन माँहि विदारिअनु॥ गुरु ग्रं० सा० पृ० ५१७।

का उद्धार करता है।[१] सुन्दरदास का कथन है कि भगवान के जिस रूप का स्मरण किया जाता है वही रूप वे धारण कर लेते हैं।[२] इस प्रकार वे केवल समय-समय पर आविर्भूत होने वाले पौराणिक ईश्वर ही नहीं हैं, अपितु अर्चा-विग्रहों के सदृश इष्टदेव के रूप में सदैव भक्त के साथ रहने वाले भगवान भी हैं। 'गीता' में व्यक्तिगत ईश्वर की चर्चा के प्रसंग में कहा गया है कि भक्त जिस रूप की अर्चना करना चाहता है, उसकी श्रद्धा को उसी में स्थिर कर देता हूँ।[3] 'महाभारत' में अवतारवाद का व्यापक अवतारवादी रूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि परमात्मा विभिन्न कार्यों के निमित्त जिस-जिस प्रकार का रूप धारण करना चाहते हैं, उस शरीर में अपनी आत्मा को वे स्वयं स्थापित कर लेते हैं।[४] संतों के अनुसार भी ईश्वर एक रूप एवं अविनाशी होते हुए भी विभिन्न रंगों और विभिन्न रूपों में नाना प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति का विस्तार करता है।[५] गुरु अर्जुन के अनुसार नाम ही अभिव्यक्ति का कारण है। नाम ही सभी आकार धारण करता है।[६] कबीर कहते हैं कि मिट्टी एक है परन्तु 'भेष' उसके अनेक हैं, उसी में ब्रह्म को पहचानो।[७] संतों ने समस्त ईश्वर की अभिव्यक्ति के आविर्भूत रूप का भी समर्थन किया है, जिसकी सर्जना का मूल आधार उनका निर्गुण-निराकार ईश्वर है। गुरु अमरदास के मतानुसार वही सृष्टि का कर्ता, पालक एवं संहारक, सत्यवादी एवं न्यायी है। उसके करोड़ों आकार हैं, जो माया के आधार पर सर्वत्र फैले हुए हैं।[८] करोड़ों शरीरों का निर्माण

---

१. सर्व सखा का एक हरि स्वामी, जो गुरु नाम दयो।
संत प्रह्लाद की पैज जिन राखी, हरनाखुस नख विद्र्यो॥
घर के देव पिता की छोड़ो गुरु को सबद लयो।
कहत कबीर सकल पाप खंडन, संतन्ह लै उधर्यो॥ क० ग्रं० ३०२ पृ० १२९।

२. जाही कौ सुमिरन करै, है ताही कौ रूप।
सुमिरन कीयै ब्रह्म कै, सुन्दर ह्वै चिद्रूप॥ सु० ग्रं० भाग २ पृ० ६८१ साखी ५६।

३. गीता ७, २१। ४. महा० १२, ३४७, ७९।

५. नाना रूप जाके रंग, नाना भेख करहि इक रंग।
नाना विधि कीनो विसथारु, प्रभु अविनासी एकंकारु। गुरु ग्रं० सा० पृ० २८४।

६. नाम के धारे सकल आकार। गुरु ग्रन्थ सा० पृ० २८४।

७. माटी एक भेख धरि नाना ता महि ब्रह्मु पछाना।
कहै कबीरा मिलत छोड़ि करि दोजक सिउ मनुमाना॥
गुरु ग्रन्थ सा० पृ० ४८० कबीर।

८. आपे सृसटि हुकमि सभसाजी, आपे थापि उथापि निवाजी।
आपे निआउ करे सभु साचा, साचे साच मिलाइदा॥

कर ईश्वर उसमें स्थित रहता है।[1] इस प्रकार दादू के अनुसार काया में ही वह बार बार अवतार लेता है।[2] वह प्रभु ही सत्य नहीं है अपितु उसके ये सभी आकार और रूप भी सत्य हैं।[3] 'तत्त्वत्रय' के अनुसार ईश्वर अनन्त अवतारों के रूप में सभी का रक्षक एवं सबका ताप हरने वाला है।[4] गुरु अर्जुन के अनुसार विष्णु-स्वरूप ईश्वर के करोड़ों ब्रह्माण्ड एवं करोड़ों अवतार हैं।[5]

तत्कालीन भक्ति ने जिस अवतारवाद को आत्मसात् कर लिया था वह उपास्य एवं उपासक-सम्बन्ध के भाव पर आधारित था। इष्टदेव का अवतार भी भक्त की कल्पना या भाव के अनुकूल होता है। संतों का यह विश्वास था कि वह स्वेच्छा से भक्त का ध्यान रखता है एवं आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए अवतीर्ण होता है। संत सुन्दरदास एक पद में कहते हैं कि अपने भाव से सेवक-साहिब भक्तों का ध्यान करता है। दुष्टों का संहार करता है और अपनी इच्छा से अवतीर्ण होकर जैसा भक्त का भाव है, उसी प्रकार का आचरण करता है।[6] वह राजाओं में राजा, योगियों में योगी, तपस्वियों में तपस्वी, गृहस्थों में भोगी के रूप में अवतीर्ण हुआ करता है। उस अनन्त पुरुष का ध्यान कर सभी भक्त सुखी होते हैं। उसकी लीला अनन्त है सभी देवता उसका अवगाहन करके हार गये।[7] इस प्रकार एक ओर तो वह पूर्ण ब्रह्म है

काइआ कोट्ट है आकारा, माइआ मोहु पसरिआ पसारा।

गुरु ग्रन्थ सा० पृ० १०५९।

१. काइआ हरि मंदरु हरि आपि सवारे। तिसु विचि हरि जीव बसै मुरारे॥

गुरु० ग्रं० सा० पृ० १०५९।

२. काया माहैं ले अवतार काया माहैं बारम्बार। दादू० बानी पृ० १५१।

३. सो प्रभु साचा सब ही साचा साचा सभु आकारा।
नानक सति गुरि सोयी पाइ सचि नामि निस्तारा॥ गुरु ग्रं० सा० पृ० ११३१।

४. सकल ताप हरोऽनन्तावतार कंदं सर्वरक्षकः। तत्त्वत्रय पृ० ९८।

५. कोटि बिसन कीने अवतार, कोटि ब्रह्मण्ड जाके ध्रमसाल। गु० ग्रं० सा० पृ० ११५६।

६. (क) आपुने भाव ते सेवक साहिब आपुने भाव सबै कोइ ध्यावै।
आपुने भाव ते अन्य उपासत आपुने भाव ते भक्तहु गावैं॥
आपुने भाव ते दुष्ट संघारत आपुने भाव ते बाहर आवै।
जैसे ही आपुनो भाव है सुन्दर ताहि कौ तैसोंहि होइ दिखावै॥

सुन्दर ग्रन्थावली भाग २ पृ० ५७८।

(ख) सुन्दर ग्रन्थावली पृ० ६८० साखी ४६।

७. राज महि राजु जोग महि जोगी। तप महि तपेसन गृहसत माहि भोगी॥
धिआइ धिआइ भगतन्ह सुखु पाइआ।
जाकी लीला की मिति नाहि सगल देव हारे अवगाहि। गु० ग्रं० सा० पृ० २८४।

और दूसरी ओर कोटि-कोटि अपराध क्षमा करने वाला करुणामय पूर्ण परमेश्वर है।[1] गुरु नानक के अनुसार उसकी अकथ कहानी विचित्र है वह युग-युग में आविर्भूत गोपाल ही संतों का गुरु है।[2]

इस प्रकार संतों ने अपने उपास्य ईश्वर के पौराणिक अवतारवादी कथाओं का ही वर्णन नहीं किया है, बल्कि दिनानुदिन भक्त और भगवान के बीच निरंतर बढ़ने वाले सम्बन्धों की भी चर्चा की है। इन सम्बन्धों में उपास्य-वादी अवतारवाद की एक विशिष्ट प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

अवतारवाद के प्रारम्भिक रूपों में विष्णु के जो अवतार हुआ करते थे, उनमें विशिष्ट काल और कार्य की भावना विद्यमान थी। सामान्य रूप से उन अवतारी घटनाओं का महत्त्व ऐतिहासिक घटनाओं के समकक्ष था। पर संत-युग के अवतारवाद पर विभिन्न सम्प्रदायों और उपास्यों का इतना प्रभाव पड़ा कि ऐतिहासिक महत्त्व के अवतार-प्रयोजन दैनिक-प्रयोजन के रूप में परिवर्तित हो गये। इस युग का भक्त जब भी जिस कार्य के लिए उनका स्मरण करता था, तभी वे सर्व-सामान्य रूपों में उसके समक्ष उपस्थित हो जाते थे। इतना ही नहीं कभी-कभी तो भगवान् भक्त को विशेष परिस्थिति में देख कर इतने व्याकुल हो जाते हैं कि स्वयं उसके स्थान पर वे उसके कार्य में लग जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन अवतारवाद में उपास्य और उपासक के नित्य-सम्बन्ध को लेकर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन में सगुण-भक्तों के साथ निर्गुण-सन्तों का भी समान योग माना जा सकता है।

साम्प्रदायिक रूप

मध्यकाल में ईश्वर के आविर्भाव की अपेक्षा तत्कालीन सन्तों एवं महा-पुरुषों के अवतरण की प्रवृत्ति का विशेष प्रचार हुआ। श्री मैकलिफ ने 'दी सिख रेलिजन' की भूमिका में लिखा है कि मध्ययुग में यूरोप और एशिया में प्रचलित प्रायः सभी धर्मों में यह विश्वास प्रचलित था कि जब राजनीतिक और सामाजिक पतन होता है, तब किसी न किसी पैगम्बर, अवतार या महापुरुष का प्रादुर्भाव होता है।[3] इनके कथनानुसार सिख गुरुओं की भी यही

---

१. कोटि पराध महाअकृतघन बहुरि बहुरि प्रभु सहीऐ।
करुणामय पूरन परमेसुर नानक तिसु सरनहीए॥ गु० ग्रं० सा० पृ० ५२१।

२. अकथ कथा ले रहउ निराला नानक जुगि जुगि गुरु गोपाला।
गु० ग्रं० सा० पृ० ९४३।

३. दी सिख रेलिजन जी० १ पृ० ४०-४१।

धारणा है कि अत्याचार से पीड़ित विश्व में ईश्वर कोई न कोई दैवी मार्गदर्शक (डिवाइन गाइड) भेजता है।[1] गुरु अमरदास के अनुसार अत्याचार से पीड़ित होकर जब पृथ्वी भाराक्रांत हो उठती है, तब ईश्वर से प्रार्थना करती है। फलतः गुरु ईश्वर की आज्ञा से अवतरित होता है और अपने उपदेशों की वर्षा करता है।[2]

इस प्रकार मध्यकालीन और अवतारकालीन साम्प्रदायिक एवं पैगम्बरी अवतारवादी प्रवृत्तियों में प्रायः धर्म या सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक अपने धर्म या सम्प्रदाय का ब्रह्म और उपास्य, अवतार और अवतारी, रसूल या पैगम्बर तथा दिव्य मानव या दैवी गुरु के रूप में मान्य होता है।

प्रायः सभी धर्मों या सम्प्रदायों में वेद-पुराण, बाइबिल, कुरान, गुरु ग्रन्थ साहिब, भागवत, गीता, आदि ग्रन्थ मान्य होते हैं, जिसके आधार पर धर्म या सम्प्रदाय की भावना-पुष्टि होती है।

इसी प्रकार प्रायः आलोच्यकाल के सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में एक मूल भावना (सेंटिमेंट) की भी प्रधानता मिलती है, जो जन साधारण से लेकर उस धर्म या सम्प्रदाय के आचार्यों एवं पण्डितों या मुल्लाओं तक समान रूप से व्याप्त रहती है। कबीर के पश्चात् इनकी परम्परा में आने वाले सन्तों में उन्हीं रूढ़ियों एवं साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का पुनः उदय हुआ जिनका उन्होंने सदैव विरोध किया था। विशेषकर जिन अवतारवादी रूढ़ियों का कबीर ने उन्मूलन किया था, धर्मदास आदि उनके शिष्यों ने उन्हीं का व्यापक प्रचार अपनी रचनाओं में किया है। इसके फलस्वरूप तत्कालीन सन्त-सम्प्रदायों में एक विशेष साम्प्रदायिक अवतारवाद का परिचय मिलता है।

धर्मदास की रचना 'अनुराग सागर' में अवतारवाद के इसी साम्प्रदायिक रूप का दर्शन होता है। यहाँ धर्मराज कहते हैं कि ईश्वर तुम कम से कम कलियुग में सबको अपनी शरण में ले लेना। इस पर उन्हें ईश्वर-अंश के अवतरित होने का आश्वासन मिलता है, जिसके फलस्वरूप ईश्वर सुकृत, सुरति आदि आठ अंशों के सहित इस जगती पर आविर्भूत होते हैं।[3]

यहाँ इस साम्प्रदायिक अवतार का प्रयोजन स्पष्टतः जीवों का उद्धार और पन्थ का निर्माण बतलाया गया है।[4] इनके कथनानुसार काल स्वयं द्वादश

---

१. दी सिख रेलिजन जी० २ पृ० २४४। २. दी सिख रेलिजन जी० १ पृ० ४१।

३. सुरति आठो अंश सुकृत, प्रगटि हैं जग जा सके।
ता पीछे पुनि सूरत नौतन, जाय गृह धर्मदास के।। अ० सागर पृ० ६८।

४. अंश ब्यालिस पुरुष के वे, जीव कारण आवई।
कलि पंथ प्रकट पसारिके, वह जीव लोक पठावई।। अ० सागर पृ० ६८।

पन्थों का निर्माण कर, द्वादश यमराजों को इस लोक में सम्भवतः उद्धार-कार्य के लिये भेजेगा जो सुकृत के घर अवतीर्ण होंगे।[1]

इसके अतिरिक्त नाथपन्थियों के सदृश इन्होंने भी नाद-अंशावतार का उल्लेख किया है। इनका कथन है कि जब-जब काल पर आक्रमण होगा, नाद अंश रूप से अवतरित होकर विश्व में सभी भ्रम मिटाकर भक्तिपथ दृढ़ करेगा तथा उससे इन पंथों को प्रकाश मिलेगा।[2]

इससे विदित होता है कि परवर्ती साहित्य में एक ऐसी अवतारवादी धारणा का उद्भव हुआ जिसके विकास में साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों का विशेष योग था।

अभी तक निर्गुण-सन्तों में जिन पारिभाषिक शब्दों का तात्त्विक महत्त्व था, उनका बाद में अभिनव ढंग से अवतारीकरण किया गया। इसके अतिरिक्त वैष्णवेतर सम्प्रदायों में प्रचलित बहुत से रूढ़ शब्दों को भी उनके पौराणिक रूपों के साथ अपनाने का प्रयास किया गया है। विशेषकर 'सुकृत' शब्द यदि उपनिषदों से लिया गया तो 'धर्मराय', 'निरंजन' और 'मुनीन्द्र' शब्द पूर्वी भारत में व्याप्त उस 'धर्म ठाकुरेर सम्प्रदाय' से गृहीत हुए जिनका सम्बन्ध परवर्ती बौद्ध धर्म से था। आरम्भ के सिद्ध-साहित्य में इनके उद्भव और विकास का निरूपण किया गया है।

पैगम्बरी रूप

सन्त-साहित्य में इस्लाम एवं सूफी मत के प्रभाव के कारण एक विशिष्ट प्रकार के अवतारवाद का परिचय मिलता है।

सूफी साहित्य में साधारणतः ईश्वर के दो प्रकार के आविर्भाव लक्षित होते हैं—प्रथम आविर्भाव के रूप में जीव और जगत को माना जाता है, जो उसकी ज्योति के अंश-स्वरूप विभिन्न रूपों में आविर्भूत होते हैं तथा द्वितीय आविर्भाव के रूप में उसकी ज्योति के अंश से मुहम्मद आदि पैगम्बरों का निर्माण होता है, जो विश्व में आकर ईश्वर का संदेश सुनाते हैं और सम्प्रदायों का प्रवर्तन करते हैं।

---

१. मृतु अन्धा इक दूत हमारा, सुकृत ग्रह लै हैं अवतारा।
प्रथम इत मम प्रगटे जायी, पीछे अंश तुम्हारा आयी॥ अ० सागर पृ० ६८।

२. जब जब काल झपाटा लाई। तब तब हम होव सहाई।
नाद अँश तबहिं प्रगटायब, भरम तोड़ि जगभक्ति दृढाइब॥
नाद पुत्र अंश सो पुत्र हमारा, तिनते होय पंथ उजियारा।
अ० सागर पृ० १४६-१४७

उक्त प्रवृत्तियों का दर्शन 'गीता', 'भागवत', तथा पांचरात्र संहिताओं में होता है। परन्तु दोनों में विशेष अंतर यह है कि जहाँ 'भागवत' में सृष्टि का आविर्भाव क्रमिक विकास के रूप में होता है तथा यह धारा भारतीय दर्शन की एक विशेष विचारधारा सांख्य दर्शन से प्रभावित है[1], वहाँ सूफी या इस्लामी अवतारवाद में सृष्टि के क्रमबद्ध एवं विकासोन्मुख अवतारवाद के स्थान में एक ही ईश्वर की परम ज्योति से अखिल विश्व एवं उसके विभिन्न उपादानों का आविर्भाव माना गया है।[2] परन्तु सृष्टि-आत्मा और जीवात्मा के आविर्भाव की दृष्टि से प्रायः दोनों विचारधाराओं में अत्यधिक साम्य है। क्योंकि दोनों सर्वात्मवादी पद्धति को समान रूप से ग्रहण करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त महापुरुषों के अवतार की दृष्टि से भारतीय एवं इस्लामी दोनों की पद्धतियों में न्यूनाधिक अंतर लक्षित होता है। 'गीता' के अनुसार ईश्वर महापुरुष, अवतारों के रूप में स्वयं रूप धारण करता है। किन्तु इस्लामी मत के अनुसार अल्लाह संभवतः अलग से अपने ज्योति-अंश से पैगम्बरों का निर्माण करता है, जो जायसी के शब्दों में 'कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा नाम मुहम्मद पूनौ करा' से स्पष्ट है।

प्रयोजन की दृष्टि से भारतीय अवतारवाद में साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दमन प्रधान उद्देश्य माना गया है। किन्तु पैगम्बरों के अवतारवाद में ईश्वरीय संदेश एवं ईश्वरवाद का प्रवर्तन मुख्य प्रयोजन विदित होते हैं। इसके समानान्तर पांचरात्र संहिताओं के चतुर्व्यूह अवतार में प्रवर्तक वासुदेव के अतिरिक्त अन्य तीन साधक, उपदेशक एवं प्रचारक हैं। अवतारवाद का यह रूप विशुद्धतः भारतीय प्रतीत होता है; क्योंकि इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव

---

१. भा० ३, ५, २३, २६।

२. कीन्हेसि प्रथम ज्योति परकासू, कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू।
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल खेहा, कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा।
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू, कीन्हेसि बरन बरन औतारु।
कीन्हेसि दिनकर ससि राती, कीन्हेसि नखत तराइन पांती।
जा० ग्रं०। शुक्ल। पृ० २२० स्तुति खंड।

३. जौ उतपति उपराजै चहा आपनि प्रभुता आपुसौं कहा।
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा, बरसा सहस अठारह बुंदा।
सोई अंस घटे घट मेला, और सोइ बरन बरन कोई खेला।
जा० ग्रं०। शुक्ल। अखरावट पृ० ३५०।

(ख) भगवानेक असेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥ भा० ३, ५, २३।

के पूर्व की रचना 'गीता' में प्रतिपादित 'धर्मसंस्थापनार्थाय' प्रयोजन में सम्प्रदायों के प्रवर्तन और ईश्वरवाद के प्रचार की झलक मिलती है।

आलोच्यकाल में संत कवि रज्जब ने 'श्रीमद्भागवत' एवं सूफी अवतारवाद का अपूर्व समन्वय अपने पदों में किया है। उनके मतानुसार सबका आदि कारण नारायण है, जो कार्य रूप या विश्व के रूप में अभिव्यक्त संभवतः प्रथम अवतार है।[1] वही ब्रह्म, माया के द्वारा जीव-रूप में आविर्भूत होता है।[2] जीवात्मा उत्क्रमित होने पर आत्मब्रह्म के रूप में परिणत हो जाता है।[3] रज्जब ने उक्त संबंध को दीप और प्रतिबिम्ब के सदृश माना है। वे कहते हैं—आदि नारायण दीप हैं और आविर्भूत आत्माएँ दर्पण के सदृश उसका प्रकाश प्रतिबिम्बित करने वाली हैं।[4] इस प्रकार आदि नारायण अकल है और उसका अभिव्यक्त रूप कला-युक्त है।[5] वह अकल, कला-रूप में कार्यब्रह्म या स्रष्टा है।[6] पुनः 'औतार अतीत महात्म को अंग' में उक्त धारणाओं का समर्थन करते हुए इन्होंने सृष्टि के विभिन्न उपादानों का, जो संभवतः 'गीता' 'भागवत' आदि पुराणों में विभूति के रूप में मान्य हैं, सूर्य एवं प्रतिबिम्ब-संबंध से समर्थन किया है। रज्जब के अनुसार आदि नारायण सूर्य हैं और कुंभ के सदृश सृष्टि के विभिन्न उपादानों में आत्म रूप से दृष्टिगत होने वाला उसका प्रतिबिम्ब है।[7] आकाश में दिखाई पड़ने वाले लघु या दीर्घ ग्रह,

---

१. सबका कारण आदि नारायण। कारिज में औतार।
रज्जब कही विचारि कर, तामे फेर न सार।
र० जी की बानी पृ० ११४ साखी १०।

२, रज्जब माया ब्रह्म में आतम ले अवतार।
भूत भेद जाने नहीं, सिर दे सिरजन हार। र० जी० की बा० पृ० ११५ सा० २४

३. रज्जब जीव जोति मधि औतरे, जीवै माया मांहि।
बैठे उठै आतमा, हलै चलै सो नाहिं॥ र० जी की बानी पृ० ११५ साखी २३।

४. औतार आतमां आरसी। आदि नारायन दीप।
रज्जब एक अनेक विधि, ये दीपक दीप उदीप।
रज्जब जी की बानी पृ० ११६ साखी ४६।

५. आदि नारायण अकलि है, कला रूप औतार।
आदम आतम बदि विधी, वेत्वा करो विचार।
रज्जब की बानी पृ० ११८ साखी ६७।

६. अकल कला कारिज है सो सिरी सिरजन हार।
रज्जब जीव घटधरि करै, सो कछु भिन्न विचार॥
रज्जब जी की बानी पृ० ११८ साखी ६८।

७. औतार कुंभ प्रतिव्यंब परि। आदि नारायण भान।
रज्जब दरपन दास दिल, अगनि उदै पहिचान॥

नक्षत्र, तारे[1] सूर्य और चन्द्रमा आदि नाना रूपों में अभिव्यक्त उसके अतीत अवतार हैं।[2]

तत्कालीन निम्बार्क सम्प्रदाय में भी प्रतिविम्बवाद के रूप में इस सम्प्रदाय के कवि परशुरामाचार्य ने अपने पदों में प्रतिबिम्बवादी दृष्टिकोण से अवतारवाद का एक विशिष्ट रूप प्रस्तुत किया है।[3]

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर अवतारवाद अपनी चरम सीमा पर लक्षित होता है। क्योंकि प्राचीन साहित्य के अवतारवाद में प्रयोजन का जो महत्त्वपूर्ण स्थान था, इस युग के ईश्वर की समष्टिगत अभिव्यक्ति में उसका पूर्णतः लोप हो गया। फलतः अवतार शब्द एवं उसकी विचारणा दोनों में अतिव्याप्ति का दर्शन होने लगा है।

सगुण सम्प्रदायों में भी अवतारों का ब्राह्मीकरण होने के कारण उनके प्रयोजन को लीलात्मक एवं रसात्मक रूप प्रदान किया गया है। इस प्रकार प्रारंभ में जिस अवतारवाद का संबंध केवल अवतरण जन्म या किसी विशेष प्रयोजन वश आविर्भाव मात्र से था, इस युग में ईश्वर की समस्त अभिव्यक्तियों के निमित्त उसका प्रयोग किया गया।

इसके साथ ही अवतारवाद के प्रयोजनात्मक रूप का संबंध आचार्यों एवं प्रवर्त्तकों या पैगम्बरों से स्थापित किया गया। परवर्ती संतों पर प्रवर्तकों के अवतारवाद की दृष्टि से भारतीय विचारधारा की अपेक्षा इस्लामी या सूफी

रज्जब के प्रस्तुत संग्रह में पाठ भेदों के कारण अर्थ-वैषम्य भी सम्भव है।
औतार मद, उज्जल उभै आया अब सुहोय।
रज्जब उड़िगन अनिन जन, कष्ट कलंक न कोय॥
अरक ईंद औनार विधि, सोखै पोखै प्राण।
रज्जब उड़े अतीत गति, साखी भूत सुजान॥
रज्जब जी की बानी पृ० १२१ साखी १-३।

१. अरक इंद औतार तलि, ऊपरि उड़ग अतीत।
रज्जब लघु दीरघ लखै परयौं उपर प्रतीत॥
रज्जब जी की बानी पृ० ११२ साखी ४।

२. रज्जब सुव्यान सूरज शशि, अचया सोज अगसत।
यों अवतार अतीत का, लह्या भेद बल वसत॥
रज्जब जी की बानी पृ० १२२ साखी ५।

३. ब्रह्मन जादुं परसराम जादुं कृष्ण कहाहिं।
जग मंडल रवि किरण ज्यों उपजिवसै जामाहिं।
परशुराम सागर। ह० लि० ना० प्र० स० ब्रह्म औतार को जोड़ों। १।

विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। भारतीय परंपरा में मान्य अवतार जहाँ ईश्वर के अंश, आवेश या कला जनित शक्तियों से समाविष्ट माने गये हैं, वहाँ सूफी या इस्लामी परंपरा में ईश्वर, पैगम्बर या रसूलों का निर्माण कर ईश्वरीय संदेश के प्रचार के लिये पृथ्वी पर भेजता है। ऐसा लगता है कि 'निरमरा' या निर्माण शब्द पैगम्बर एवं शेख आदि के लिए विशेष रूप से प्रयोग किया गया है।[१] एलिसन के कथनानुसार साध सम्प्रदाय में यह माना जाता है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी पूजा और उपासना के निमित्त रचा।[२] अतः पैगम्बरी मत जिसका एकमात्र प्रयोजन ईश्वरवाद का प्रचार है, वह विशेषकर परवर्ती संतों में व्याप्त लक्षित होता है।

इस पद्धति का प्रयोग परवर्ती संत गुरु गोविन्द सिंह के 'विचित्तर नाटक' में किया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है—हेमकूट पर्वत पर स्थित सप्तसृङ्ग नामक स्थान में गुरु गोविन्द सिंह की भक्ति से प्रसन्न हो उन्हें ईश्वर ने कलियुग में अवतरित होने के लिए कहा। यहाँ उनके अवतार का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि 'सृष्टि में सर्वप्रथम उन्होंने राक्षसों को अधिकारी बनाया। उन्होंने ईश्वर की पूजा बंद कर दी और पृथ्वी पर अत्याचार करना आरम्भ किया। तब उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को भेजा; उन्होंने भी अपने को ईश्वर कहना शुरू किया तब अष्टदिग्पाल भेजे गये। वे यहाँ अपनी पूजा करवाने लगे। तब मनुष्य आये। मनुष्य भी अहंकारी हो गये और पत्थरों को देवता मानने लगे। तब सिद्ध एवं नाथ आये। उन्होंने ईश्वर को भूलकर पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का निर्माण किया। तब ईश्वर ने ऋषियों को बनाया। उन्होंने ईश्वर को भुलाकर अपनी स्मृतियों का प्रचार करना आरम्भ किया। तब ईश्वर ने दत्तात्रेय को बनाया। ये भी अपना पंथ चलाने लगे। इनके बाद ईश्वर ने गोरखनाथ का निर्माण किया। ये बड़े-बड़े राजाओं को चेला मूड़ने लगे। तब रामानन्द भेजे गये, जिन्होंने वैरागियों का चोला पहन लिया पर ईश्वर का ख्याल नहीं किया; तब ईश्वर ने मुहम्मद को बनाया और अरब का राज्य प्रदान किया। उन्होंने भी मुसलमान बना कर धर्म चलाया। अन्त में इन्होंने गुरु गोविन्द सिंह को

---

१. (क) कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पूनौकरा।
(ख) ओहि घर रतन एक निरमरा, हाजी सेख सबै गुन भरा॥ पद्मा० शुक्ल पृ० ४
(ग) सेख मुहम्मद पून्योकरा, सेख कमाल जगत निरमरा। वही पृ० ७।

२. दी साध पृ० ५४ 'गाड हैज़ मेड मैन इन हिज़ ओन इमेज़, ही हैज़ मेड मैन टु वरसिप हिम ऐण्ड टू ग्लोरिफाई हिज़ नेम।'

भेजा। इसी से गुरु गोविन्द सिंह कहते हैं कि जो कोई मुझे ईश्वर कहेगा वह नर्क में गिरेगा।'[1]

उपर्युक्त सारांश में इस्लामी एवं सूफी परंपरा में प्रचलित आदम से लेकर मुहम्मद तक के प्रवर्तकों या पैगम्बरों के स्थान में, यहाँ मुहम्मद को एक अनोखी भारतीय परंपरा से सम्बद्ध किया गया है। साथ ही इस परंपरा में गृहीत प्रायः सभी ईश्वरवाद के संदेशवाहक या प्रचारक के रूप में मान्य हैं। यहाँ संदेशवहन मुख्य प्रयोजन होने के कारण इसका पैगम्बरी रूप स्पष्ट विदित होता है।

अवतारवाद की आलोचना

संतों ने मध्यकाल में प्रचलित अवतारवाद के विविध रूपों का कहीं तो विरोध किया है, और कहीं उनका प्रासंगिक रूप से निराकरण कर अपनी मान्यताओं की स्थापना की है। संत कबीर अवतारों के नित्य रूप की आलोचना करते हुए कहते हैं—जिस समय न तो यह पृथ्वी थी, न यह आकाश था, उस समय नंद के नन्दन कहाँ थे? अनादि और अविनाशी तो निरंजन है। सगुणोपासकों का नंद तो चौरासी लक्ष्य योनियों में भ्रमण करते-करते थक गया है।[2] संतों ने माया को सदैव अनादर की दृष्टि से देखा है।[3] जिसके फलस्वरूप ईश्वर के ब्रह्मा, विष्णु आदि रूपों को गुणात्मक और राम आदि अन्य मायाजनित अवतारों को मायिक माना है।[4] जबकि इनका ईश्वर माया से परे अलख और अनादि है। दादू कहते हैं कि सब लोग माया रूपी राम का ध्यान करते हैं जब कि दादू अलख, आदि और अनादि ईश्वर का।[5] विचित्रता तो यह है कि माया ही राम और कृष्ण का रूप धर कर स्वयं अपनी पूजा कराती है।[6] रज्जब कहते हैं—राम और परशुराम

---

१. दि सिख रेलिजन, मकलिफ जी० ५ पृ० २९६–२९९।

२. क० ग्रं० पृ० १०३।

३-४. ब्रह्मा का वेद विस्नु की मूरति पूजै सब संसारा।
महादेव की सेवा लागै कहँ है सिरजन हारा॥
माया की ठाकुर किया, माया की महिमाइ।
ऐसे देव अनंत करि, सब जग पूजन जाइ॥
दादू० बा० भा० १ पृ० १२९ साखी १४१, १४२।

५. माया रूपी राम कूं सब कोइ ध्यावै। अलख आदि अनादि है, सो दादू गावै॥
दादू० २, बा० भा० १ पृ० १२९ साखी १४०।

६. माया बैठी राम है कहै मैं ही मोहन राइ।
ब्रह्मा विस्नु महेस लौं जोनीं आवै जाइ॥
दादू० बा० भा० १ पृ० १२९ साखी १४३।

तो एक बार अवतरित होकर चले गये तो उन्हें करतार कैसे कहा जाय? ।[1]

कबीर उस साहब का साहचर्य चाहते हैं जिसने न तो दशरथ के घर अवतार लिया है, न लंकाधीश को सताया है, न तो देवताओं की योनि में अवतरित हुआ है, न यशोदा ने उसे गोद में खेलाया है, न ग्वालिनों के संग फिरा है, न गोबरधन धारण किया है, न वराह होकर वेद एवं धरती का उद्धार किया है, न वह गंडक का शालिग्राम है, न इसने मत्स्य या कूर्म होकर जल में भ्रमण किया है, न बद्रीनाथ में तप किया है, न परशुराम के रूप में क्षत्रियों को दंडित किया है, न द्वारिका में उसने शरीर त्यागा, न तो जगन्नाथपुरी में उसका पिंड रखा गया है। कबीर के विचारानुसार ये उसके आरोपित रूप हैं।[2] रज्जब कहते हैं—कृष्ण ने गोबरधन धारण किया और हनुमान ने द्रोणगिरि को और शेष ने सृष्टि को धारण कर रखा है, तो फिर किसको भगवान कहा जाय? ।[3] गुरुनानक के कथनानुसार अवतारों ने भी उसी प्रकार दंड भोगा है, जिस प्रकार साधारण मनुष्य राम के चलते परशुराम को रोना पड़ा और सीता के लिए राम[4] रावण को मार कर और अमृत मथ कर क्या अवतार ईश्वर से भी बड़े हो गये? ।[5] अतः अवतारों के नाम से ईश्वर की पूजा करने से ईश्वर की महिमा नहीं बढ़ती है।[6] उसका न तो कोई पिता है न माता न भाई।[7] पुनः गुरुनानक ने कृष्णावतार की अनित्यता बतलाते हुये कृष्ण और गोपी सभी को साधारण मनुष्य के सदृश काल कवलित कहा है।[8]

---

१. परशुराम अरु रामचन्द्रः हुए सु येकहि बार।
तो रज्जब छै देखि करि, को कहिये करतार॥
रज्जब जी की बानी पृ० ११४ साखी १६ और सर्वंगी पृ० ४२ साखी २६।

२. क० ग्रं० पृ० २४३ संभवतः नामोपासक संत की परम्परा से नृसिंह-प्रह्लाद का संबंध होने के कारण कबीर ने उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया है।

३. गोवर्द्धन धारया कृष्ण, द्रोणागिरि हनुमंत।
शेष सृष्टि शिर पर धरी, को कहिये भगवंत॥
रज्जब जी की बानी पृ० १२१ सा० ५, ६।

४. दी सिख रेलिजन, मैकलिफ, जी० १ पृ० १६८।

५. दी सिख रेलिजन, मैकलिफ, जी० १ पृ० ३०५।

६. दी सिख रेलिजन, मैकलिफ, जी० १ पृ० ३४६।

७. दी सिख रेलिजन, मैकलिफ, जी० १ पृ० ३६२।

८. घड़िआ सभे गोपीआ पहर कन्ह गोपाल।
गहणे पउणु पाणी वैसंतरु चंदु सूरजु अवतार॥
सगली धरती मालु धनु वरतणि सरब जंजाल।
नानक मुसै गिआन विहूणी खाइ गइआ जमकालु॥
गु० ग्रं० सा० पृ० ४६५, नानक।

गुरु अमरदास का कथन है कि युग-युग में तुम्हारे द्वारा जितने अवतारों की सृष्टि हुई वे तुम्हारे अवतार के रूप में गाये जाते हैं। परन्तु वे भी तुम्हारा अंत नहीं पा सकते।[१] कबीर ने उस काल के पाखंडी एवं अवतारवादी और अंधविश्वासी ब्राह्मणों पर कटु प्रहार करते हुए अवतारों में मान्य ब्राह्मणों से विचित्र संबंध जोड़ा है। उनके कथनानुसार ब्राह्मण सदैव छली एवं पाखंडी रहे हैं। वामन के रूप में उन्होंने बलि से छल किया तथा सदैव उन्होंने अनेक आपत्तिजनक कार्य किये।[२] जितने ग्रन्थ, पुराण आदि निर्मित हुए हैं, सब ब्राह्मणों ने किया। उन्होंने ही अनेक प्रकार के पंथ और पूजा आदि का प्रचार किया। कबीर ने इन सभी की अवहेलना की तथा ऐसे भ्रामक ईश्वर को कभी नहीं माना।[3] कबीर ने इनकी ठाकुर-पूजा की आलोचना अधिक उग्र रूप में की है। क्योंकि आलोच्यकाल में मूर्ति-पूजा भी राजनैतिक या सामाजिक संघर्ष का कारण रही है।

इसी से कबीर अर्चावतार और आचारवाद दोनों की आलोचना करते हुये कहते हैं—सबके जल और पवन एक हैं, किन्तु ये लोग (सगुणोपासक) इन्हें अलग मान कर भोजन करते हैं तथा शालिग्राम को भोग लगाते हैं, और स्वयं चट कर जाते हैं।[४] दादू वैष्णवों और शैवों की मूर्तिपूजा का समान रूप से विरोध करते हुये कहते हैं—मैं उसी देवता की पूजा करता हूँ जो गढ़े हुये नहीं हैं तथा जिन्होंने गर्भवास नहीं किया; जो बिना जल एवं संयम के केवल भाव—भक्ति से प्रसन्न रहते हैं, उसी हरि की सेवा करता हूँ।[५] सन्त

---

१. जुगह जुगह के राजे कीए गावहि करि अवतारी।
तिन भी अंतु न पाइआ ता का किआकरि आखि बीचारी॥
गु० ग्रं० सा० पृ० ४२३ अमरदास और दी० सिख० रे० जी २ पृ० १९३।

२. बावन रूप छलो बलिराजा। ब्रह्म कीन कौन को काजा॥
ब्राह्मन ही कीन्हा सब चोरी। ब्राह्मन ही को लागत खोरी॥
ब्राह्मन कीन्हों ग्रन्थ पुराना, कैसहु कै मोहि मानुष जाना।
एक से ब्रह्मे पंथ चलाया, एक से भूत प्रेत मन लाया॥

३. कोउ काहु को कहा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना।
कबीर बीजक पृ० ६ रमैनी।

४. एकै पवन एक ही पाणी, करी रसोई न्यारी जानी।
... ...
सालिगराम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया न दूजा। क० ग्रं० पृ० २४५।

५. सोइ देव पूजौं जे टांकी नहिं घड़िया, गरभवास नहीं औतरिआ।
बिना जल संजम सदा सोइ देवा, भाव भगति करौं हरि सेवा॥
दादू द० बा० भाग २ पृ० १३२ पद ३११।

सुन्दरदास के अनुसार 'सर्व सुखदाई' ईश्वर का कोई ध्यान नहीं करता। सभी शिव, ब्रह्मा, और विष्णु के अवतारों तथा अन्य देवी-देवताओं में उलझे हुये हैं।[1]

पौराणिक अवतारवाद एवं बहुदेवतावाद के प्रति सन्तों की सामान्य विप्रतिपत्ति यह रही है कि देवता या अवतार स्थूल या शरीरी रूप में क्षणिक तथा काल के शिकार हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, एवं दशावतार आदि कोई भी कालातीत या मृत्यु से परे नहीं है। केवल निराकार परमात्मा ही अपवाद-स्वरूप है, जिस पर काल का कोई प्रभाव नहीं है।[2] रामानन्द की रचना में भी चौबीस अवतारों को नश्वर कहा गया है।[3] रज्जब के अनुसार कोई दस अवतार कहता है और कोई चौबीस अवतार परन्तु रज्जब इन सभी के स्वामी का स्मरण करते हैं।[4]

मलूकदास ने दशावतारों के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट किया है[5] तथा चेतावनी देते हुये कहा है कि दशावतारों को देख कर मत भूलो, इस प्रकार के रूप अनेकों हैं।[6] कबीर साहित्य में इन्हें निरंजन का रूप बतलाते हुए कहा गया है कि दस अवतार निरंजन के रूप हैं, जिन्हें अपनी करनी का फल भोगना पड़ा; इनका कर्त्ता तो कोई और ही है।[7] रज्जब ने इनका अनुमोदन करते हुये कहा है कि सभी अवतार अपना स्वरूप छोड़ कर निरंजन-रूप

---

१. ताहि न यह जगध्यावई, जातैं सब सुख आनन्द होइ रे।
आन देवकौं ध्यावतें, सुख नहीं पावै कोइ रे॥
कोई शिव ब्रह्मा जपै रे, कोई विष्णु अवतार।
कोई देवी देवता इंद्रा, उरझ रह्यौ ससार॥
सु० ग्र० भाग २ पृ० ८२५।

२. विष्णु ब्रह्मा शेष शंकर, सो न थिर थाई। देव दानव इन्द्र केते, गये विनसाई॥
कहत दश अवतार जग में, औतरे आई। काल तेऊ झपटि लीने, बस नहीकाई॥
सु० ग्र० भाग २ पृ० ८९८ पद ६।

३. न तहाँ ब्रह्मा स्यौ विसन, न तहाँ चौबीसू वप वरन।
रामानन्द की हिंदी रचनायें पृ० ८ पद ६।

४. एक कहै औतार दस एक कहै चौबीस।
रज्जब सुमिरे सो धणी, जो सबही के सीस॥
रज्जब जी की बानी पृ० ११८, ७७।

५. दस औतार कहाँ ते आये। किन रे गढ़े करतार। मलूकदास की बानी पृ० १५।

६. दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे।
मलूकदास की बानी पृ० १६ शब्द १।

७. दस अवतार निरंजन कहिये, सो अपना न कोई।
यह तो अपनी करनी भोगे, कर्ता और ही कोई॥ क० वचनावली पृ० १३।

हो गये, इसलिये पंडित लोग निर्गुण तत्त्व 'सोहं' की उपासना करते हैं।[1] 'कबीर बीजक' के संगृहीत पदों में दशावतारों पर आक्षेप करते हुये कहा गया है कि ब्रह्मा, शिव, कृष्ण और दशावतार सभी मर गये।[2] इन अवतारों द्वारा किये गये सभी कार्य मायाजनित हैं।[3] ईश्वर तो काल से परे है वह न तो कहीं आता है न जाता है।[4] न तो वह कभी मत्स्य और कूर्म हुआ न उसने शंखासुर का संहार किया।[5] वह न तो कभी वराह हुआ न उसने कभी पृथ्वी का भार धारण किया।[6] हिरण्यकशिपु का उदर नख से विदीर्ण करने वाला कर्त्ता नहीं हो सकता।[7] वामन होकर उसने बलि की परीक्षा नहीं की थी। यह सब तो माया ने किया।[8] परशुराम-रूप में माया ने ही क्षत्रियों को मारा।[9] ईश्वर ने न तो सीता से विवाह किया न पत्थरों का पुल बाँधा[10] न कभी गोकुल आया न कंस को मारा।[11] वह न तो कभी बौद्ध कहा गया और न उसने असुरों को संहारा।[12] न कलंकी हुआ न उसने कलि का नाश किया।[13] अतः दशावतार ईश्वर की माया है।[14] यह सब छलबल माया ही किया करती है।[15] इस प्रकार सन्तों के अनुसार प्रायः सभी अवतार साधारण मनुष्य के समान ही जन्म, कर्म और मृत्यु के भोक्ता हैं। इन्होंने सगुण रूपों में मान्य उनकी नित्य लीलाओं और नित्य स्थूल रूपों का विशेष रूप से खंडन किया

---

१. सब औतार आकार तजि, भये निरंजन रूप।
सोंह सेवे पंडितहु निरगुण तत्त्व अनूप॥ रज्जब जी की बानी पृ० १५ साखी ३२।
२. मरि गये ब्रह्मा कासी के वासी, सीव सहित मुये अविनासी।
मथुरा मरिगौ कृष्ण गुवारा, मरि मरि गये दसो औतारा॥ कबीर बी० पृ० १८।
३. संतो आवे जाय सो माया। कबीर बीजक पृ० ३१ पद ८।
४. है प्रतिपाल काल नही थाके ना कहूँ गया न आया। क० बी० पृ० ३१ पद ८।
५. क्या मकसूद मछ कछ होना, संखा सुर न संघारा। क० बी० पृ० ३१ पद ८।
६. वै करता नहि ब्राह कहाये धरनि धरौ न मारा। वही पृ० ३१ पद ८।
७. हरिनाकुस नखवोद्र विदारो, सो नहि करता होई। वही पृ० ३१ पद ८।
८. बावन रूप बालि को जांचो जो जाचो सो माया। वही पृ० ३१ पद ८।
९. परसराम छत्री नहि मारा ई छल माये कीन्हा। वही पृ० ३१ पद ८।
१०. सिरजन हार न ब्याही सीता, जल पषान नहिं बांधा। वही पृ० ३१ पद ८।
११. गोपी ग्वाल न गोकुल आया, करते कंस न मारा। वही पृ० ३८ पद ८।
१२. वै करता नहि बोध कहायो नहि असुर संहारा। वही पृ० ३१ पद ८।
१३. वै करता नहीं भए कलंकी, नहिं कलिहिं गहि मारा। वही पृ० ३१ पद ८।
१४. दस औतार ईसरी माया, करता कै दिन पूजा। वही पृ० ३१ पद ८।
१५. इ छल बल सब माये कीन्हा जती सती समटारा। क० बी० पृ० ३१ पद ८।

है। अधिक से अधिक सन्तों ने उसी अनन्त पुरुष का भक्त एवं स्तोता मात्र तक उनका रूप माना है।[१]

इस प्रकार सन्त-साहित्य में अवतारवाद के जिस रूप की आलोचना हुई है वह है—विष्णु के अवतारों के रूप में मनुष्य-विशेष की पूजा तथा उसमें ईश्वरवादी तत्त्वों का समावेश। जहाँ तक मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध है, सन्त विष्णु के ऐतिहासिक अवतारी पुरुषों में विश्वास नहीं करते। उनके मानव-रूप को भी वे उतना ही मायात्मक मानते हैं, जितना अन्य मनुष्यों के रूप को। राम और कृष्ण उनकी दृष्टि में ईश्वर के पूर्ण रूप नहीं थे।

उनकी यह आलोचना उस युग में प्रचलित उनके रूपों को देखते हुए अनुचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि मध्यकाल में राम और कृष्ण तथा विष्णु के अन्य अवतारों के जिन रूपों का प्रचार था, वे रूप मानवीय न होकर अधिक दिव्य और इतने मानवेतर हो गए थे कि उनके उचित-अनुचित सभी कार्य दिव्य और ईश्वरीय समझे जाने लगे थे। जिसका फल यह हुआ था कि अवतारों की उपासना के नाम पर अनेक प्रकार के धार्मिक आडम्बर बढ़ते जा रहे थे।

यों इष्टदेववाद की दृष्टि से एकेश्वरवादी होते हुए भी हिन्दू, इस्लामी एकेश्वरवाद को घृणा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु समन्वयवादी संतों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के उपास्यों के एकीकरण का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। उन्होंने मुसलमानों की बुत परस्त-विरोधी भावना को ध्यान में रख कर एक ओर तो तत्कालीन अवतारवाद के अन्धविश्वासों का खण्डन किया और दूसरी ओर विष्णु के ही एकेश्वरवादी निराकार रूप का उपास्य-रूप में प्रवर्तन किया।

इस उपास्य-रूप की विशेषता यह जान पड़ती है कि यह निराकार होते हुए भी भक्त-वत्सल है। इसमें करुणा और कृपा साकार उपास्य जैसी है। किंतु जिन्होंने इसके नाम से प्रचलित विविध अवतारों को शाश्वत् माना है, वे शाश्वत न होकर मायिक और नश्वर रहे हैं।

युगावतार परम्परा

मध्यकालीन योगी, वैरागी एवं संत-सम्प्रदायों में व्याप्त एक विचित्र युगावतार-परम्परा का दर्शन होता है। अपने सम्प्रदायों की सम्भवतः श्रेष्ठता सिद्ध

---

१. कबीर बी० पृ० ५९ पद ८६।
सकल औतार जाके महि मंडल अनंत खड़ा कर जोरे।

करने के लिये उनमें अपने सम्प्रदायों को किसी प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध करना मानों आवश्यक सा हो गया था।

सगुण भक्ति सम्प्रदायों में जिन परंपराओं का आधार लिया गया है उनमें उक्त सम्प्रदायों के सदृश युगानुबद्ध करने की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती।

अतएव विष्णु के अवतारों तथा सगुण भक्ति में मान्य परंपराओं के अतिरिक्त इस युगावतार के स्वतन्त्र विकास का अनुमान किया जा सकता है।

सर्वप्रथम सत्ययुग से लेकर कलियुग तक प्रत्येक युग में प्रत्येक अवतार का उल्लेख 'विष्णुपुराण' में मिलता है।[1] इसके पूर्व 'छान्दोग्योपनिषद्' में आत्मज्ञान की एक परंपरा का उल्लेख हुआ है, जिसमें क्रमशः ब्रह्मा, प्रजापति, मनु और प्रजावर्ग चार नाम आये हैं।[2] तथा 'गीता' के चौथे अध्याय में कर्मयोग की परंपरा का वर्णन करते हुए भी क्रमशः भगवान, सूर्य, मनु और इक्ष्वाकु के रूप में केवल चार ही नाम आये हैं।[3] परंतु 'छान्दोग्य' एवं 'गीता' दोनों की उपर्युक्त परंपराओं में युग और अवतार का कोई सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। इस आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः उस काल तक युग और अवतार दोनों की कल्पनाओं को ठोस रूप नहीं दिया गया था।

इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में उल्लिखित पांचरात्रों के चतुर्व्यूह रूप भी युगावतारों के सदृश एक दूसरे से उत्पन्न कहे गये हैं।[4] परंतु इनमें युगानुबद्ध सम्बन्ध का अभाव है। 'महाभारत नारायणीयोपाख्यान' में सर्वप्रथम चार आविर्भावों का उल्लेख हुआ है। जिनमें कहा गया है; कि सनातन नारायण ने चार मूर्त्तियों वाले धर्म-पुत्र-रूप में जन्म लिया था। पहले कृतयुग स्वायंभुव मन्वन्तर में नर-नारायण, हरि और स्वायंभुव कृष्ण हुये थे।[5] यहाँ उक्त रूपों के अवतारोचित आविर्भाव तथा युग से उनके सम्बन्ध का भान होता है। किन्तु केवल कृतयुग का ही उल्लेख होने के कारण युगानुरूप क्रम या किसी परंपरा का स्पष्टीकरण नहीं होता है।

---

१. विष्णुपुराण ३, २, ५४-५८। २. छा० उ० ८, १५, १।

३. गीता ४, १-२।

४. सहि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजोजनत्।
प्रद्युम्नादिनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः॥ महा० १२, ३३९, ७३।

५. नारायणोहि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः।
धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवंमिऽप्य भाषत॥
कृते युगे महाराज पुरा स्वायंभुऽवेन्तरे।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयंभुवः॥ महा० १२, ३३४, ८-९।

'गीता' में अवतारवाद के प्रयोजन के क्रम में कहा गया है कि साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ।[१] इस कथन में साधु, धर्म और युग इन तीनों का समन्वित रूप लक्षित होता है। संभव है इस युगावतार-परंपरा का विकास 'संभवामि युगे युगे' की अनुकृति में हुआ हो, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'धर्म' शब्द भी कालान्तर में सम्प्रदाय या मत का पर्यायवाची हो गया था।

'गीता' की अपेक्षा 'विष्णुपुराण' में युगावतार की परंपरा स्पष्ट दी गई है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार समस्त प्राणियों के कल्याण में तत्पर सर्वभूतात्मा विष्णु सत्ययुग में कपिल का रूप धारण कर परमज्ञान का उपदेश देते हैं[२]; त्रेता में चक्रवर्ती राजा होकर दुष्टों का दमन करते हैं[३]; द्वापर में वेदव्यास के रूप में अवतीर्ण होकर वेद-विभाजन एवं उसका विस्तार करते हैं[४] तथा कलियुग में कल्कि-रूप धारण कर लोगों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं।[५] उपर्युक्त उदाहरणों में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि में क्रमशः कपिल, चक्रवर्ती (संभवतः राम), वेदव्यास और कल्कि चारों को युगानुरूप बताया गया है।

'भागवत' में एक ही नारायण या विष्णु के प्रत्येक युग में पृथक्-पृथक् रूप माने गये हैं, जो क्रमशः सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में रूप एवं रंग भेद से शुक्ल, रक्त, श्याम और कृष्ण माने गये हैं।[६] 'लघुभागवतामृत' में इसे ही युगावतार के रूप में ग्रहण किया गया है।[७] किन्तु भावगत की इस परंपरा का संबंध संतों की परंपरा की अपेक्षा, अर्चाविग्रहों से अधिक सम्बद्ध जान पड़ता है; क्योंकि साधारणतः इसमें अर्चा मूर्तियों के ही प्रत्येक युग के विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ है।

पूर्व मध्यकालीन संहिताओं में प्रचलित पांचरात्रों के व्यूहात्मक चतुर्मूर्तियों में प्रथम वासुदेव को इष्टदेव मानकर अन्य तीन संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमश; पांचरात्र सिद्धान्त के उपदेशक, मार्ग-क्रिया के शिक्षक और मोक्ष-रहस्य के निर्देशक माने गये हैं।[८] किन्तु युगात्मक संबंध का इनमें कोई

---

१. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ गीता ४, ८।

२. विष्णु पुराण ३, २, ५५।
३. वि० पु० ३, २, ५६।
४. वि० पु० ३, २, ५७।
५. वि० पु० ३, २, ५८।
६. भा० पु० ११, ५, २०—३२।
७. ल० भा० पृ० ७९।
८. अहिं० सं० ५, २१—२४।

संकेत नहीं मिलता। इस व्यूहात्मक परंपरा का विशेष प्रचार सगुण संप्रदायों में ही अधिक हुआ।

इसके अतिरिक्त सन्तों के पूर्व नाथ-साहित्य में कौल-ज्ञान अवतरित करने के निमित्त प्रत्येक युगों के विभिन्न सिद्ध कौलों की परंपरा का उल्लेख हुआ है। 'कौन-ज्ञान-निर्णय' के अनुसार भैरव शिव चारों युगों में कौल-ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के निमित्त सत्ययुग में स्वयं तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमशः महाकौल, सिद्धकौल और मत्स्योदर कौल के रूप में आविर्भूत हुये। इन चारों ने क्रमशः अपने युगों में कौलज्ञान, महाकौल, सिद्धामृत और मत्स्योदर कौल के नाम से अभिहित ज्ञान का प्रचार किया।[1]

कहा जाता है कि तेरहवीं या चौदहवीं शती के लगभग आविर्भूत महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ के मान्य ग्रन्थ 'सिद्धान्त-सूत्र-पाठ' में उस सम्प्रदाय में प्रचलित चतुर्युगी अवतार का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमशः हंस, दत्तात्रेय, कृष्ण और चक्रधर प्रत्येक युग के अवतार माने गये हैं।[2]

इसी प्रकार की परंपरा सन्त-सम्प्रदाय एवं साहित्य में भी व्याप्त लक्षित होती है। कबीर-पंथ में स्वयं कबीर ने इस प्रकार की किसी परन्परा का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उनके शिष्य धर्मदास ने चतुर्युगी अवतार-परंपरा का विस्तृत वर्णन अपनी रचनाओं में किया है।

धर्मदास के अनुसार सत्ययुग में 'सत्त', त्रेता में 'मंदर', द्वापर में 'करुणामय' और कलियुग में केवल 'नाम' का अवतार माना गया है।[3] इसके अतिरिक्त शब्दावली में अन्य दो स्थलों पर कबीर-पंथ के चतुर्युगी अवतारों का वर्णन किया गया है। द्वितीय स्थल पर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में

---

१. महाकौलात् सिद्ध कौलं सिद्धकौलात् मसादरम्।
चतुर्युग विभागेन अवतारश्चोदितं मया॥
ज्ञानादौ निर्णीतः कौलं द्वितीये महत् संज्ञितम्।
तृतीये सिद्धामृतन्नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये॥
कौ० ज्ञा० नि० पृ० ६१, १६, ४७–४८।

२. भागवत सम्प्रदाय पृ० ५६२।

३. आरति सो भूमी पग धारे। सतयुग में सत शब्द उचारे॥
आरति सो जग प्रगटे आई। त्रेता मंदर नाम कहाई॥
आरति सों मुख मंगल गाये। द्वापर करुनामय कहवाये॥
आरति सों जग बंधी आसा। कलयुग केवल नाम प्रकाशा॥
चारों जुगधर प्रगट सरीरा। आरत गावे धर्मदास कबीरा॥
धरमदास जी की शब्दावली पृ० १८ शब्द ६।

कलियुग में क्रमशः 'अचिंत', 'मुनीन्द्र', 'करुणामय' और 'कबीर' नाम आये हैं।[१] प्रायः यही नाम तृतीय स्थल[२] या अन्य[३] कबीर पंथी साहित्य में भी प्रचलित हैं। केवल सत्ययुग के आविर्भूत अवतार के नाम प्रायः 'अचिंत',[४] 'सत्त',[५] तथा 'सत्त सुकृत'[६] कहे गये हैं। परवर्ती रचनाओं में उपर्युक्त नाम 'सत्तनाम', 'सत्सुकृत' आदि 'असली', 'अजर', 'अचिंत पुरुष', 'मुनीन्द्र', 'करुणामय', 'कबीर' प्रभृति प्रचलित हैं।[७] उक्त नामों में 'सुकृत' का उल्लेख 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि असत से सतरूप में उसने अपने को प्रकट किया इसलिये 'सुकृत' कहा जाता है।[८]

'सुकृत' के अतिरिक्त कबीर के 'मुनीन्द्र' और 'करुणामय' नाम से प्रसिद्ध क्रमशः त्रेता और द्वापर के अवतारों का नाम विष्णु के प्रसिद्ध अवतार राम और कृष्ण से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। 'अनुराग सागर' में 'मुनीन्द्र' विशेषकर राम के ही मुनिवेश का नाम है। क्योंकि रावण और मंदोदरी से इनके भेंट की चर्चा हुई है।[९] परन्तु एक विचित्र बात यह देखने में आती है कि सिद्ध और धर्म ठाकुर सम्प्रदायों के नाम से विख्यात् उत्तर बौद्धकालीन सम्प्रदायों में 'मुनीन्द्र' नाम का विशेष प्रचार रहा है। विशेषकर पूर्वी-भारत में प्रचलित 'धर्म ठाकुर सम्प्रदाय' में विष्णु तथा अन्य अवतारों से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रही। अतः 'मुनीन्द्र' का प्रचार तो हुआ बौद्ध सम्प्रदायों में और कालान्तर में इसका सम्बन्ध वैष्णव अवतारों से भी स्थापित किया गया। सम्भवतः धर्मदास ने इस रूप को संयुक्त रूप में उन्हीं सम्प्रदायों से ग्रहण किया।

'करुणामय' का पर्यायवाची नाम 'करुणानिधि' का प्रयोग ध्रुवदास ने कृष्ण के लिये किया है।[१०]

---

१. सतजुग नाम अचिंत कहाये, खोड़स हंस को दई सरना।
त्रेता नाम मुनीन्द्र कहाये, मधुकर विप्र को दई सरना॥
द्वापर करुणामय कहलाये, इन्द्रमती के दुःख हरना।
कलजुग नाम कबीर कहाये, धर्मदास अतुति बरना॥
धरमदास जी की शब्दावली पृ० ६८ शब्द ३।

२. धरमदास जी की शब्दावली पृ० ७८। ३. अनुराग सागर पृ० ७३ पृ० ११५।

४. धर्मदास की शब्दावली पृ० ६८। ५. धरमदास जी की श० पृ० १८।

६. धर्मदास जी की श० पृ० ७८ संत, सत सुकृत दोनों।

७. बड़ा संतोष बोध पृ० ४।

८. तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली ७, १ तस्मात्तत्सुकृत मुच्यत इति।

९. अनुराग सागर पृ० ७९। १०. ध्रुवदास ग्रंथावली पृ० ७५ और पृ० १८१।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के अनुसार कबीर पंथ की परंपरा में मान्य परवर्ती संत कवि दरिया ने 'ज्ञानदीपक' नामक रचना में कबीर के सुकृत, मुनीन्द्र, करुणामय आदि अवतारों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[१] इनके मतानुसार ये अवतार सत्तनाम की आस्था बढ़ाने और संतों एवं आत्माओं के उद्धार के निमित्त हुये थे। इससे निष्कर्षतः यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीर से सम्बद्ध सोलह अन्य पंथों में भी कबीर के अवतारों की परंपरा मान्य थी।[२]

कबीर पंथ के अतिरिक्त 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी नानक पंथ से सम्बद्ध चतुर्युगी अवतार की परंपरा का वर्णन हुआ है। यहाँ विष्णु के अवतारों से इसका संबंध स्थापित किया गया है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उपलब्ध पदों के अनुसार वे सतयुग में बलि को छलने के लिये वामन हुये। त्रेता में रघुवंशी राम के नाम से प्रसिद्ध हुये। द्वापर में कृष्ण-मुरारी ने कंस को कृतार्थ किया तथा उग्रसेन को राज्य और भक्तों को अभय प्रदान किया। कलियुग में प्रमाणानुसार वे गुरुनानक, गुरु अंगद और गुरु अमरदास के रूप में विख्यात हुये।[३]

कालान्तर में सिख सम्प्रदाय की परवर्ती रचनाओं में दसवें गुरु गोविंद सिंह के साथ इसी प्रकार की एक परंपरा का सम्बन्ध जोड़ा गया है; जिसमें चारों युगों के अवतार क्रमशः परशुराम, राम, कृष्ण और गुरु गोविंद सिंह बतलाये गये हैं।[४]

उक्त संप्रदायों के अतिरिक्त साध संप्रदाय में चारों युगों में साधुओं का सामान्य अवतार तथा कलियुग में पूर्णावतार माना गया है।[५] साथ ही सतयुग में गोविंद-परमेश्वर, त्रेता में रामचन्द्र-लक्ष्मण, द्वापर में कृष्ण-बलभद्र और कलियुग में वीरभान-जोगीदास अवतार कहे गये हैं।[६] इस प्रकार संतों में

---

१. संत कवि दरिया एक अनुशीलन पृ० १४–१५।

२. संत कवि दरिया एक अनुशीलन पृ० १५।

३. सतिजुगि तै माणिओ छलियोबलि बावनभाइओ।
तते तै माणिओ राम रघुवंसु कहाइओ॥
दुआपरि क्रिसन मुरारि कंसकिरतारथु कीओ।
उग्रसैण कउ राजु अभै भगतह जन दी ओ॥
कलिजुगि प्रमाणु नानक गुरु अंगद अमरु कहाइआ। गु० ग्रं० सा० पृ० १३९०, ७।

४. सूर्य प्रकाश ऋतु ५, अंशु ५१।　　५. दी साध्स पृ० ८ और ५७।

६. दी साध्स ६–७।

विष्णु के या शिव के अवतारों से सम्बद्ध विलक्षण साम्प्रदायिक अवतार-परंपराओं का प्रचार विदित होता है।

अतएव इसमें संदेह नहीं कि संतों ने प्रायः अवतारवाद का खंडन किया है, परन्तु खंडन के अतिरिक्त उनमें अनेक अवतारवादी प्रवृत्तियों का समावेश भी मिलता है। जिनका उल्लेख यथास्थल होता आया है।

उपर्युक्त आकलन से स्पष्ट है कि संत-साहित्य में युगावतार-परंपरा का विशेष प्रसार हुआ। इस परंपरा के महाभारतकालीन रूप को देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि उस युग में भी यह परंपरा संतों और साधकों से ही सम्बद्ध थी। उसका उत्तरोत्तर प्रचार सम्भवतः इसी से संतों, योगियों और मान्य सिद्धों में हुआ। उसी का उत्तरकालीन रूप संत-साहित्य में लक्षित होता है।

इस अवतार-परंपरा की विशेषता यह है कि प्रत्येक युग में जिन व्यक्तियों ने अवतार लिया उनका मुख्य प्रयोजन ज्ञान, योग, तंत्र, मंत्र या अन्य संतोपयोगी शास्त्रों का प्रवर्तन करना था।

इसी से इस परंपरा में एक ओर जहाँ योगियों, सिद्धों और ज्ञानियों के अवतार होते हैं। वहाँ दूसरी ओर इनके द्वारा अवतरित शास्त्रों को भी शास्त्रावतार या ज्ञानावतार की संज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार सिद्धों और संतों के द्वारा अवतरित यहाँ ज्ञानावतार की परंपरा प्राचीन युग से लेकर उत्तर मध्ययुग तक दृष्टिगत होती है।

परन्तु इसका परवर्ती रूप प्राचीन रूप की तुलना में विशुद्ध ज्ञानावतार-रूप नहीं रहा। उसके साथ यथा सम्भव पौराणिक अवतारों का भी समन्वय किया गया, जो 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में प्रचलित अवतार-परंपरा से स्पष्ट है।

वैष्णव अवतारों के रूप

संत-साहित्य में अवतारों के संबंध में जो कुछ उल्लेख हुये हैं, इस विशाल वाङ्मय की तुलना में उनकी मात्रा अत्यन्त अल्प है। इसके मुख्यतः दो कारण प्रतीत होते हैं। उनमें एक तो है निराकारोपासना और दूसरा है मुक्तक काव्यों का प्रयोग। इनकी रचनाओं में विशेषकर मुक्तक काव्यों का अधिक प्राधान्य होने के कारण महाकाव्य या पौराणिक अवतारों का पूर्ण एवं विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। फिर भी प्रसंगवश या उदाहरण स्वरूप उनका विविध रूपों में उल्लेख हुआ है।

नृसिंह

संतों की रचनाओं में नृसिंहावतार या प्रह्लाद-कथा का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। राम, कृष्ण आदि अवतारों की अपेक्षा नृसिंह-अवतार के अवतार विरोधी रूप कम मिलते हैं। अवतारवाद के कट्टर आलोचकों ने भी कम से कम नृसिंहावतार का उल्लेख उसके पूर्ववर्ती रूप में किया है।

इस अवतार के इतना उल्लेख का कारण सम्भवतः संतों की नामोपासना प्रतीत होती है। 'विष्णुपुराण' में नृसिंहावतार की जो कथा मिलती है उसमें संतों में मान्य नामोपासना[1], एकेश्वरवादी निराकार ईश्वर[2] तथा उसके 'सर्वान्तर्यामी' रूप[3] का समावेश हुआ है। संभव है इन्हीं उपादानों के आधार पर इस अवतार को संतों का समर्थन प्राप्त हुआ हो।

कबीर-रचित नृसिंहावतार का एक ही पद मिलता है, जो 'कबीर ग्रंथावली' और 'गुरु ग्रंथ साहब' दोनों में न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ संगृहीत है।[4] उस पद में नृसिंह-प्रह्लाद की कथा के साथ नामोपासना का महत्त्व भी वर्णित है।[5] इस पद के अनुसार खम्भे में प्रकट होकर नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को नख से विदीर्ण किया।[6] भक्ति-भाव के कारण उस देवाधिदेव का प्राकट्य हुआ।[7] इस प्रकार इन्होंने प्रह्लाद को अनेक बार उबारा।[8] नामदेव ने भी प्रासंगिक रूप से नृसिंहावतार का उल्लेख किया है।[9] इनके अनुसार हिरण्य-

---

१. प्रयासः स्मरणे कोऽस्य स्मृतो यच्छति शोभनम्।
पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्॥ वि० पु० ७, १७, ७७-७८।

२. अनादिमध्यान्तमजमवृद्धिक्षयमच्युतम्।
प्रणतोऽस्म्यन्तसन्तान सर्व कारण कारणम्॥ वि० पु० १, १७, १५।

३. शस्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं त्वात कः केन शास्यते॥ वि० पु० १, १७, २०।

४. गुरु ग्रंथ साहिब से संगृहीत अंश में क० ग्रं० पृ० २१४ पद ३७९, पृ० ३०६-३०७ पद १४२ गु० ग्रं० सा० पृ० ११९४ कबीर।

५. नहीं छाड़ोरे बला राम नाम, मोहि और पढन सूं कौन काम।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीये बहुत बाल। क० ग्रं० २१४ पद ३७९।

६. खम्भा में प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मार्‌यो नख विदारि।
क० ग्रं० पृ० २१४ पद ३७९।

७. महापुरुष देवाधि देव, नरस्यंघ प्रगट कियो भगति भेव।
क० ग्रं० पृ० २१४ पद ३७९।

८. कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबार्‌यो अनेक बार।
क० ग्रं० पृ० २१४ पद ३७९।

९. हरि हरनाखस हो परान, अजैमल कीजो बैकुंठहि थान। गु० ग्रं० सा० ८७४।

कशिपु को मार कर उन्होंने देवता और मनुष्यों को सनाथ किया।[1] इनके अतिरिक्त संत तुकाराम ने भी अपने पदों में कहा है कि वही हमारा साईं है जिन्होंने हिरण्यकशिपु को मार दिया था।[2] गुरु अमरदास ने ईश्वर के भक्त-रक्षण की चर्चा करते हुये उक्त अवतार का उदाहरण दिया है।[3] पुनः एक दूसरे पद में नृसिंह-कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[4] उसमें कहा गया है कि अहंकारी दैत को मार कर अपने भक्त को नृसिंह ने महिमान्वित किया।[5] वे इस प्रकार प्रह्लाद भक्त की पुकार पर प्रकट होते हैं।[6] संत दादू ने दो साखियों में इस अवतार का प्रासंगिक उल्लेख किया है।[7] प्रह्लाद-लीला के नाम से सन्त रैदास की भी एक रचना मिलती है।[8] उसमें पौराणिक नृसिंहावतार की कथा का ही विस्तृत वर्णन है। इसमें प्रह्लाद के पिता को मार कर नृसिंह प्रह्लाद को राजतिलक प्रदान करते हैं।[9]

इस प्रकार नृसिंह अवतार संतों में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। ऐसा लगता है कि प्रह्लाद की कथा में खड्ग; खम्भ आदि में विद्यमान, विष्णु के

---

१. भगत हेति मारिओं हरनाखसु नरसिंघ रूप होइ देह धरिओं। गु० ग्रं० सा० ११०५।
हरिनाखसु जिनि नखई विदारिओं सुरि नर कीए सनाथा। गु० ग्रं० सा० ११६५।

२. हि० म० सं० दे० पृ० ३३३।
कहे तुका जो सांई हमारा, हिरनकश्यप जिन्ह मारहि डारा।

३. भगता दी सदा तू रखदा हरि जीउ धुरि तू रखदा आइआ। गु० ग्रं० सा० पृ० ६१७।
प्रहिलाद जन तुधु राखि लए हरि जीउ हरणाखसु मारि पचाइआ।
गु० ग्रं० सा० पृ० ६१७।

४. गु० ग्रं० सा० पृ० ११५४।

५. थम्हु उपाड़ि हरि आप दिखाईया अहङ्कारी दैत मारि पचाइआ।
गु० ग्रं० सा० पृ० ११५४।

६. प्रह्लाद के कारिज हरि आपु दिखाईआ। भगत का बोलु आगे आइआ।
गु० ग्रं० सा० पृ० ११५४।

७. कीमति नहिं करतार के, ऐसा है भगवंत।
निरसंध नुर अपार है, तेज पुंज सब मांहि।
दादू द० बा० भा० १ पृ० १९३ सा० २६।
केवल निरंतर नरहरि प्रगट भये भगवंत।
जहां विरहिन गुण बीन वै, खेले फाग बसंत।
दादू दयाल बा० भा० २ पृ० ७ पद १६७।

८. रैदास और उनका काव्य पृ० १३५-१३८।

९. नख सों उदर विडारिआ, तिलक दिया महराजा।
सप्तदीप नव खंड में तीन लोक भई गाजा।
रैदास और उनका काव्य पृ० १३८ पद १७।

जिस सर्वात्मवादी रूप का परिचय मिलता है, वही संतों का निर्गुण-निराकार किन्तु भक्त-वत्सल और संत-सुखदाई उपास्य रहा है। प्रह्लाद ने उस निराकार या निर्गुण विष्णु की उपासना नाम-कीर्तन या नाम-जप के माध्यम से की थी। संतों ने इसी नामोपासना को ग्रहण किया है। इसीसे नृसिंह अवतार उनके पदों में अधिक चर्चा का विषय रहा है।

इससे एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि संतों का उपास्य जो निर्गुण निराकार कहा गया है, वह विष्णु का ही एक विशिष्ट रूप है और संतों में नामोपासना के द्वारा उसकी उपासना का प्रचार हुआ। विष्णु के अवतारी रूपों में नृसिंह का नामोपासना से सम्बन्ध होने के कारण, संतों ने इसे तो अपना लिया और शेष उन अवतारों की ध्वंसात्मक आलोचना की जो आलोच्यकालीन युग में सगुण या अवतारवादी उपास्यों की मूर्ति-रूप में पूजित होते थे।

राम

संत-साहित्य में जिस राम का परिचय मिलता है वे रामानुज राघवानन्द और रामानन्द की परम्परा में कबीर आदि सन्तों द्वारा गृहीत माने जाते हैं। अन्तर्यामी शीर्षक में विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कबीर आदि संतों ने राम को भी आत्मब्रह्म के रूप में ग्रहण किया है।[1] उनके गुरु रामानन्द के नाम से प्रसिद्ध एक रचना 'ग्यान तिलक' में जिस राम के प्राकट्य का उल्लेख हुआ है, वे भी आत्मब्रह्म राम हैं।[2] संतों में निराकारोपासना के साथ ही नामोपासना का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, इसी से दशरथ-पुत्र एवं व्यक्ति राम की अपेक्षा[3] राम नाम को अधिक महत्त्व दिया गया।[4]

'अध्यात्म रामायण' के राम-हृदय में राम के 'आत्मब्रह्म' रूप के 'बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन' (बुद्धि में व्याप्त), सर्वत्र परिपूर्ण और आभास (बुद्धि में प्रतिबिम्बित) इन तीन रूपों का परिचय दिया गया है, और 'इदं रहस्यं हृदयं ममात्मनो' कह कर स्पष्टीकरण किया गया है।[5] सन्तों में राम के अवतारी रूप की अपेक्षा इन्हीं रूपों का अधिक प्रचार रहा है।

---

१. छाकि परयो आतम मतिपारा, पीवत राम रस करत विचारा। क० ग्रं० पृ० १११

२. आतम माहिं जब भये अनंदा, मिटि गये तिमिर प्रगटे रघुचंदा।
रामानन्द दि० र० पृ० ११।

३. ना दसरथ घरि औतरि आवा। क० ग्रन्थ पृ० २४३ पद।

४. क० ग्रन्थ पृ० १२९ पद १२८। ५. अ० रा० १, १, ४६।

परन्तु जहाँ तक उनके पौराणिक रूपों का प्रश्न है, उसका प्रासंगिक उल्लेख मात्र हुआ है। इस उल्लेख में विचित्रता यह है कि कबीर या दादू आदि ने अवतार राम से अपने निर्गुण राम को विशिष्ट या भिन्न सिद्ध करने के प्रवाह में ही अवतार राम एवं उनके अवतारत्व की चर्चा की है। दादू के अनुसार सभी मायिकराम की उपासना करते हैं, परन्तु दादू अलख आदि-अनादि राम को भजते हैं।[1]

इससे विदित होता है कि संतों ने राम के जिस रूप को लिया है, वे सगुण विष्णु के सगुण अवतार न होकर निर्गुण निराकार विष्णु के एक भिन्न रूप में प्रचलित पर्याय मात्र हैं। जिस प्रकार इस्लाम और सूफी मत से प्रभावित होने के पश्चात् अल्लाह, खुदा, करीम, रहीम आदि पर्यायों का प्रयोग भी संतों ने अपने निर्गुण-निराकार और एकेश्वरवादी उपास्य के लिए किया था; वैसे ही राम को संत-साहित्य में निर्गुण विष्णु का ही पर्याय कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कबीर के अनुसार अवतार राम भी उसी प्रकार काल के शिकार हुए, जिस प्रकार अन्य लोग; और उन्हीं के साथ लछमण और सीता भी चली गयीं।[2] इनके सृष्टिकर्ता राम ने न तो सीता से विवाह किया न जल में पुल बाँधा।[3] कितने ही राम और कृष्ण जैसे लोग माया के भ्रम में पड़ गये, फिर भी उन्हें ईश्वर का अन्त नहीं मिला।[4] जो कर्ता एवं स्रष्टा राम कहा जाता है वह भी ब्रह्म के आक्रमण से नहीं बच सका।[5] इस प्रकार उक्त संतों ने एक प्रकार से अवतार राम को मायिक एवं नश्वर माना है।

इनके अतिरिक्त नामदेव और गुरु अर्जुन आदि संतों के पदों में राम के पौराणिक अवतारवादी रूप के भी दर्शन होते हैं। नामदेव ने अपने इष्टदेव के अवतारी कार्यों की चर्चा करते समय राम द्वारा अहल्या के तारे जाने का

---

१. माया रूपी राम कूं सब कोई ध्यावै। अलख आदि अनादि है, सो दादू गावै॥
दा० द० वा० भाग १, पृ० १२९ साखी १४०, अ० रा० १, १, ४१-४३ में भी अवतार राम का रूप मायिक माना गया है।

२. गये राम ओ गये लक्ष्मण, संग गई सीता ऐसी धना।
अपनी अपनी करि गये लागि न काहु के साथ।
अपनी करि गये रावन अपनी दसरथ नाथ। कबीर बी० पृ० १८।

३. सिरजन हार न व्याह्या सीता, जल पषान नहीं बंधा। क० बी० पृ० ३१ पद ८।

४. केतिक रामचन्द्र तपसी से जिन यह जग विरमाया।
केतिक कान्ह भये मुरलीधर, तिन भी अंत न पाया॥ क० बी० पृ० ३५, पद १८

५. जाहि राम को करता कहिये, तिनहुं को काल न राखा। क० बी० पृ० ६६ पद ११०

उल्लेख किया है।[1] गुरु अर्जुन के घट घट व्यापी राम, असुर-संहारक भी हैं।[2] गुरु नानक के गुरुमुखि राम सेतु बंधवाते हैं और लंका लूटकर दैत्यों को सताते हैं, अहिरावण को मारते हैं, विभीषण से परिचय करते हैं, तथा तैंतीस कोटि देवताओं का उद्धार करते हैं।[3]

इस प्रकार कुछ संतों ने राम के पौराणिक रूप का खंडन किया है, और कुछ ने उनके अवतारवादी रूपों को स्वीकार किया है। परन्तु संत-साहित्य के अधिकांश वाङ्मय के अध्ययन के पश्चात् यही स्पष्ट विदित होता है कि संतों में मूर्त्ति-पूजा का प्रचार न होने के कारण, इनके राम अवतारवादी उद्धार कार्यों से युक्त होते हुए भी निराकार राम हैं। वे हृदय में स्थित 'अन्तर्यामी उपास्य' के रूप में संतों में विशेष रूप से मान्य हुए।

कृष्ण

राम के सदृश कृष्ण के प्रति भी संतों के दो प्रकार के दृष्टिकोण विदित होते हैं। एक ओर तो कबीर, दादू, नानक आदि संतों ने कृष्ण के पौराणिक एवं अर्चावतारी रूपों की आलोचना की है, और दूसरी ओर नामदेव, गुरु अर्जुन, बावरी साहिबा आदि ने इनके सगुण या अवतारी रूपों का भी वर्णन किया है। कबीर ने अन्तर्यामी के पर्याय के रूप में गोविंद का नाम लिया है।[4]

आलोचक संतों के अनुसार अन्य अवतारों के सदृश कृष्ण भी मायाग्रस्त एवं साधारण मनुष्य के सदृश मृत्यु के पात्र हैं।[5] एक भक्त के सदृश इनका रूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि कितने कान्ह मुरलीधर हो गये परन्तु उन्हें भी ईश्वर का अंत नहीं मिला।[6] संभवतः अक्षर साम्य के कारण सिद्ध

१. गौतम मारि अहलिआ तारो पावन केतक तारीअले। गु० ग्रं० सा० ९८८ नामदेव

२. असुर संघारणु राम हमारा, घटि घटि रमइआ रामु पिआरा।
गु० ग्रं० सा० पृ० १०२८ गुरु अर्जुन।

३. गुरमुखि बाँधिओ सेतु विधाते लंका लूटी दैत संतापै।
रामचन्द्र मारिओ अहिरावणु भेदु बभीषण गुरमुखि परचाइणु।
गुरमुखि साइर पाइण तारे, गुरमुखि कोटि तेतीस अधारे॥
गु० ग्रन्थ सा० पृ० ९४२ गुरु नानक।

४. फूलनि में जैसे रहै बास, यूं घटि घटि गोविन्द है निवास।
क० ग्रन्थ पृ० २१५ पद ३८२।

५. मुये कृष्ण मुये करतारा एक न मुआ जो सिरजन हारा।
कबीर बी० पृ० ४५, पद ४५।

६. केतिक कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अंत न पाया। क० बी० पृ० ३५ पद १८

गुरुओं ने गुरु और गोविंद की एकता बतलाई है। गुरु नानक ने युग-युग में गुरु को गोपाल माना है।[1] गुरु अर्जुन ने भी गुरु गोविंद और गुरु गोपाल का प्रयोग किया है,[2] तथा संत और गोविंद के कार्य एक सदृश माने हैं।[3] नामदेव एक पद में विट्ठल के तद्रूप कृष्ण के पौराणिक रूप का परिचय देते हुये कहते हैं कि देवकी धन्य है जिसके घर कमलापति का प्रादुर्भाव हुआ।[4] वह वृन्दावन का वन-खंड भी धन्य है जहाँ श्रीनारायण स्वयं क्रीड़ा करते हैं। नामदेव के स्वामी वेणु बजा रहे हैं और गाय चरा रहे हैं।[5] वे पिता माधव के नाम से प्रसिद्ध सांवले विट्ठल धन्य हैं। संत-बावरी साहिबा ने अपने एक पद में जिस आत्माभिव्यक्ति का परिचय दिया है, उसमें निराकार कृष्ण के साथ साकार कृष्ण का रूप भी लक्षित होता है।[6] गुरु नानक ने राम के सदृश गुरमति कह कर इनके अवतारी कार्यों का उल्लेख किया है।[7]

संत-साहित्य में आलोचक और समर्थक संतों के अतिरिक्त नामदेव और बावरी साहिबा कृष्ण के उपासक प्रतीत होते हैं। नामदेव के पदों से तो कृष्ण के केवल सगुण रूप का ही नहीं बल्कि अर्चारूप की उपासना का पता चलता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि नामदेव निराकार ईश्वर के भक्त होते हुए भी कृष्ण के सगुण रूप के विरोधी नहीं थे। संत बावरी साहिबा कृष्ण की भक्ति करती हुई भी उनके अन्तर्यामी रूप की ही उपासिका प्रतीत होती हैं। इन दोनों के अलावा अन्य संतों के पदों में अवतार-कार्यों का

---

१. नानक जुगि जुगि गुरु गोपाला। गु० ग्रन्थ सा० पृ० ९४३।

२. गुरु गोविंद गुरु गोपाल। गु० ग्रं० सा० पृ० ८६९ म० ५।

३. संत गोविंद के एकै काम। गु० ग्रं० सा० पृ० ८६७ म० ५।

४. धनि धनि मेघा रोमावली, धनि धनि क्रिसन ओढ़ै कांवली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमइआ कवला पती॥
गु० ग्रं० सा० पृ० ९८८ नामदेव।

५. धनि धनि वनखण्ड विंद्रावना, जह खेलै श्रीनाराइना।
वेनु बजावै गोधनु चरै, नामे का सुआमी आनन्द करै॥
मेरो बापु माधउ तू धनु केसौ सांवलिओ विठुलाइ। गु० ग्रं० सा० ९८८ नामदेव।

६. बावरी रावरी का कहिये मन ह्वै के पतंग भरे नित भांवरी।
भांवरी जानहि संत सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी॥
सांवरी सूरत मोहनी मूरत, देकरि ज्ञान अनन्त लखावरी।
सांवरी सौंह ते हारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी॥ संत का० पृ० ३१५

७. गुरमति क्रिसनि गोबरधन धारे, गुरमति साइरि पाहण तारे।
गु० ग्रं० सा० पृ० १०४१ म० १।

उल्लेख होते हुए भी कृष्ण निराकार विष्णु के पर्याय के रूप में अधिक गृहीत हुए हैं।

गुरु में अवतारत्व

सिद्धों और नाथों के समान संतों में भी गुरु का महत्त्व चरम सीमा पर पहुँच चुका था। विभिन्न सम्प्रदायों में गुरु इष्टदेव के रूप में पूजे जाते थे। जहाँ सगुणोपासक सम्प्रदायों में मान्य इष्टदेव की विधिवत् पूजा होती है, तथा गुरु और परम्परा में ईश्वर या अवतार के सदृश भावना रखी जाती है, वहाँ निर्गुणोपासकों में अन्तर्यामी या निराकार इष्टदेव के प्रति उपास्य-भावना रहती है। किन्तु कतिपय संत-सम्प्रदायों में गुरुदेव या सम्प्रदाय-प्रवर्तक संतों की ही यत्किंचित् विधिपूर्वक पूजा होती है।

संतों की रचनाओं में 'गुरु देव को अंग' को, जिनमें गुरु-महिमा और उसके अवतारोचित कार्य की चर्चा है, प्रमुख स्थान प्राप्त है। कबीर के गुरु गोविंद तो एक हैं, 'दूजा यहू आकार' में गुरु गोविंद का समान महत्त्व स्पष्ट है।[1] दादू के अनुसार गुरु अंधे को नेत्रयुक्त तथा जीव को ब्रह्म करने की शक्ति रखता है।[2] गुरु नानक ने गुरु को विष्णु, शिव, पार्वती आदि से स्वरूपित किया है।[3] विशेषकर सिख सम्प्रदाय में 'गुरु' शब्द उपास्य ब्रह्म का पर्यायवाची है। गुरु अमरदास ने गुरु को प्रभु, नारायण आदि सब कुछ बतलाया है।[4] गुरु नानक ने गुरु को गोपाल से एकरूपित किया है[5] तथा गुरु की सामर्थ्य एवं महिमा का वर्णन करते हुए राम के अवतारी कार्यों से सम्बद्ध किया है।[6] धरमदास के अनुसार गुरु-पद सबसे बड़ा पद है। उसकी तुलना में ब्रह्मा, विष्णु, ब्रह्मचारी सनकादि नहीं हैं। नारद, शेष, शंकर एवं अन्य सुर-नर राम और जानकी आदि सभी उस गुरु-पद का गुणगान करते हैं।[7] मलूकदास

---

१. गुर गोविंद तौ एक है दूजा यहू आकार। क० ग्र० पृ० ३ साखा २६।

२. दादू काढ़े काल मुख अंधे लोचन देइ। दादू ऐसा गुर मिल्या जीव ब्रह्म कर लेइ।
दादूदयाल की बानी भा० १ पृ० १ सा० ७।

३. गुरु ईसरु गोरख बरमा, गुरु पारवती माई।
जे हउ जाणा आखा नाही, कृष्ण कथनु न जाई। संत सुधा सार पृ० २१२ पद ५।

४. गुरु सालाही सदा सुखदाता प्रभुनाराइणु सोई। गु० ग्र० सा० पृ० १५५८ म० ३।

५. अकथ कथा ले रहउ निराला, नानक जुगि जुगि गुर गोपाला।
गु० ग्र० सा० ९४३ म० १।

६. गु० ग्र० सा० पृ० ५४३ म० १ राम शीर्षक में द्रष्टव्य।

७. गुरुपद अहै सबन से भारी।
चारो वेद तुले नहि गुरुपद, ब्रह्म विष्णु ब्रह्मचारी।

अपने गुरु का रूप बतलाते हुए कहते हैं कि वह अद्भुत गुरु न खाता है, न पीता है, न सोता है, न जागता है, न मरता है, न जीता है। यह जो कुछ भी सृष्टि-विस्तार दिखाई दे रहा है, यह सब उसके चेलों का कार्य है। वह तो क्षण मात्र में अनेकों रूप धारण करता है।[1] सुन्दरदास ने अपने गुरु दादू के अवतारोचित रूप एवं कार्यों का वर्णन किया है। उनके कथनानुसार गुरु तो अविनाशी पुरुष है। परन्तु जिस घट में वह निवास करता है उस घट का नाम दादू है।[2] वह पूर्ण चन्द्र के सदृश जगत में आविर्भूत होता है। वह घट में रहते हुये घटातीत रहता है, उसमें लिप्त नहीं होता।[3] श्री अरविंद ने भी गीता के अवतारवाद पर विचार करते हुये अवतार-पुरुष में यही वैशिष्ट्य माना है। इनके अनुसार अवतार-पुरुष माया के आधार से आविर्भूत होकर माया के वशवर्ती नहीं रहता।[4] साथ ही संत-गुरुओं के अवतरण में इस्लामी मध्यकालीन साम्प्रदायिक अवतरण का भी आभास मिलता है। संत सुन्दरदास के अनुसार ईश्वर के मन में अपने को विविध प्रकार से अभिव्यक्त एवं विस्तृत करने का अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ है। उन्होंने संतों को भी उपदेश के द्वारा कार्य करने के निमित्त अपने को प्रकट किया।[5] गुरु दादू को भी ईश्वर ने इसी उद्धार-कार्य के निमित्त इस लोक में भेजा।[6]

नारद मुनि भये गुरुपद भजि के, जपत सेस संकर की नारी।
सुरनर मुनि भये गुरुपद भजि कै, जपत राम अरु जनक दुलारी।
धर्मदास मैं गुरुपद भजिहौं, साहेब कबीर समरथ बलिहारी।
धर्म० श० पृ० ३ शब्द ८।

१. हमरे गुरु की अद्भुत लीला, न कछूं खाय न पीवैं।
ना वह सोवै न वह जागै, ना वह मरे न जीवै।
बिन तरुवर फलफूल लगावै, सो तो वा का चेला।
छिन में रूप अनेक धरत है, छिन में रहे अकेला। मलूक० बा० पृ० १०२ शब्द २।

२. गुरु अविनाशी पुरुष है घटका दादू नांव।
सुंदर शोभा का कहूं नख शिख पर बलि जांव।
सु० ग्र० भा० १ पृ० २१७ बांवनी १।

३. सदगुरु प्रगटे जगत में मानहु पूरण चंद।
घट माहे घट सों पृथक् लिप्त न कोउ द्वन्द। सु० ग्र० भा० १ पृ० २४३ दो० ८।

४. एसेज ऑन गीता, अरविंद, पृ० २३१।

५. अद्भुत ख्याल रच्यौ प्रभु, बहुत भांति विस्तार।
संत किये उपदेश कौं पार उतारन हार। सुं० ग्र० भा० १ पृ० २१७ दो० १।

६. पार उतारन हार जी गुरु दादू आया, जीवनि के उद्धार कौ हरि आपु पठाया।
सु० ग्र० भाग १ पृ० १११ नीसंनी २।

दादू ने अवतीर्ण होकर राम-नाम के उपदेश द्वारा ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य दृढ़ कर विविध प्रकार के भ्रम दूर किये।[१] उन्होंने विमुख जीवों को ईश्वर-भक्त बनाया तथा हरि-पंथ का प्रवर्तन कर एक ईश्वर को सत्य बतलाया।[२]

परवर्ती गुरु गोविंद सिंह की रचना 'विचित्तर नाटक' में गुरु के अवतार[3] एवं प्रयोजन[४] का और अधिक स्पष्ट रूप मिलता है। युगावतार-परम्पराओं के अतिरिक्त सिख सम्प्रदाय में दलाईलामा के अवतार के सदृश गुरु ही पुनः दूसरे गुरु के रूप में अवतीर्ण होता है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में इस परम्परा का वर्णन करते हुये कहा गया है कि ज्योतिरूपी हरि आविर्भूत होकर गुरु नानक के नाम से प्रसिद्ध हुये। उनके पश्चात् गुरु अंगद हुये। गुरु अङ्गद कृपाकर गुरु अमरदास होकर पुनः अवतीर्ण हुये। इनके पश्चात् क्रमशः गुरु रामदास और गुरु अर्जुन हुये।[५] इन पाँचों को 'मूरति पञ्च प्रमाण पुरुष' कहा गया है। श्री मैकलिफ द्वारा अनूदित कुछ पदों में इनकी अवतार-परम्परा की चर्चा करते हुये कहा गया है—तुम्हीं नानक हो, तुम्हीं लाहिना हो, तुम्हीं अमरदास हो।[६] एक पद में गुरु अर्जुन के प्रति कहा गया है कि तुम्हारे पूर्व चार गुरुओं ने चारों युगों को आलोकित किया। गुरु अर्जुन! तुम उन्हीं के स्थान में पाँचवें हो।[७] एक अन्य पद में इन्हें

---

१. सु० ग्र० भाग १ पृ० १११ नीसंनी ३।

२. विमुख जीव सन्मुख किये हरि पंथ चलाया,
झूठ क्रिया सब छाड़ि कै प्रभु सत्य बताया। सु०ग्र० भाग १ पृ० १११ नीसंनी ४।

३. हम एह काज जगत में आये, धर्महेत गुरुदेव पठाये।
जहां जहां तुम धर्म बिचारो दुष्ट दुखियन पकर पछारो॥
दी हिस्ट्री ऐण्ड फिलोसोफी आफ सिख रेलिजन। सुजान सिंह पृ० ३५४ में उद्धृत

४. एक काज धारा हम जनमंग, समझ लेहु साधु सभ मनभंग।
धरम चलावन संत उबारन, दुष्ट सभन को मूल उबारन॥
दी हिस्ट्री ऐण्ड फिलोसोफी आफ सिक्ख रेलिजन। सुजान सिंह पृ० ३५४।

५. जोति रूपि हरि आपिगुरु नानकु कहायउ।
ताते अंगदु भयउ तत सिउ ततु मिलायउ।
अंगद किरपा धारि अमरन सति गुर थिरु कीअउ।
अमरदासि अमरतु छत्रु गुर रामहि दीअउ।
गुर रामदास करसनु परसि कहि मथुरा अंमृत वयण।
मूरति पंच प्रमाण पुरखु गुरु अरजुनु पिखहु नयण। गु० ग्रं० सा० पृ० १४०८।

६. दी सिख रेलिजन जी० २ पृ० २५४। ७. दी सिख रेलिजन जी० ३ पृ० ६१।

गुरु रामदास की ज्योति का अवतार[1] बता कर इनके उद्धार-संबंधी प्रयोजन का उल्लेख किया गया है।[2]

इससे स्पष्ट है कि संतों में गुरु केवल प्रवर्तक ही नहीं था अपितु अपने अनुयायियों के मध्य में वह इष्टदेव या उपास्य के रूप में भी प्रचलित हो जाता था। प्रायः किसी परम्परा से सम्बद्ध करने के निमित्त उसे किसी पूर्ववर्ती संत का अवतार माना जाता था। यदि वह स्वयं किसी परम्परा का प्रवर्तक हुआ तो सामान्य रूप से वह स्वयं अवतारी होता था और उसके शिष्य उसके अवतार-रूप में विख्यात होते थे। संतों की इस गुरु-अवतार-परम्परा का एक क्रमबद्ध रूप सिख गुरुओं में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार वे अवतार-रूप में गृहीत होने के साथ ही उपास्य-रूप में भी पूज्य होते हैं। सिख मत में प्रचलित 'मूरति पंच प्रमाण' से इस प्रवृत्ति का विशेष परिचय मिलता है।

अवतारी कबीर

कबीर की मृत्यु के कुछ ही काल उपरान्त कबीरपंथी इनके शिष्यों ने इनके अवतारत्व का प्रचार करना आरम्भ किया। युगावतार-परम्परा में कबीर पंथ की चतुर्युगी अवतार-परम्परा का परिचय दिया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त अवतार कबीर केवल उपास्य के ही रूप में नहीं गृहीत हुए, अपितु पौराणिक प्रणाली में इनके जीवन से सम्बद्ध घटनाओं में अवतारोचित कार्यों का भी समावेश किया गया। यों तो परमहंसों के उद्धार के निमित्त कबीर काशी में अवतीर्ण हुए थे।[3] परन्तु इसके पूर्व भी इनका 'महाभारत' के पांडवों से विलक्षण संबंध स्थापित किया गया है।

इनके शिष्य धर्मदास अवतारोचित कार्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि साहेब की बलिहारी है कि उन्होंने गणिका के साहचर्य से काशी में अपनी हँसी करवाई और अपने चरण से जल ढार कर हरि की जलती हुई संभवतः पगड़ी की रक्षा की। मगहर में हिन्दू-तुरुकों का संघर्ष मिटाने के

---

१. रामदास गुरु जगतारनु कउ गुर जोति अरजुन माहि धरा।

गु० ग्रं० सा० पृ० १४०९।

२. जग अउरुनयाहि महातम में अवतारु उजागरु आनि कीअउ।
तिनके दुख कोटिक दूरि गये, मथुरा जिन्ह अमृत नामु पीअउ।

गु० ग्रं० सा० पृ० १४०९।

३. हंस उबारन सतगुरु, जग में आइआ। प्रगट भये कासी में दास कबीर कहाइया।

धरम० श० पृ० ३ शब्द ९।

लिये कब्र से प्रकट हो गये।[1] पूर्वकालीन घटनाओं से इनका सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहते हैं कि करोड़ों आचारियों के उपस्थित रहने पर भी पांडवों[2] का यज्ञ सफल नहीं हो रहा था। सुपच भक्त (कबीर के संभवतः पूर्वरूप) के ग्रास उठाते ही भारी घंटा बजने लगा। इन्होंने ही तच्छक द्वारा काटी हुई रानी का विष उतारा था।[3]

जगन्नाथ मन्दिर से इन्हें सम्बद्ध करते हुये कहा गया है कि समुद्र की भारी लहरों के कारण हरि का मंदिर नहीं बनाया जा सकता था। इन्होंने ही उस स्थान से समुद्र को हटाया जहाँ सब लोग तीर्थ करने जाते हैं। सगुण उपास्य के सदृश जो इनका जिस रूप में स्मरण करता है, उसी रूप में उसके निमित्त ये प्रकट होते हैं। हंसराज के रूप में प्रकट होकर इन्होंने स्वयं धर्मदास पर कृपा की थी। पुरुष या स्त्री जो इनकी शरण में आये उनका उद्धार हुआ। इस प्रकार धरमदास को उबारने वाले कबीर मुक्ति-दाता हैं।[4]

'अमर सुख निधान' के अनुसार धर्मदास पहले सगुणोपासक थे बाद में कबीर ने इन्हें शिष्य बना कर निराकारोपासना की शिक्षा प्रदान की। अतएव 'अनुरागसागर' एवं अन्य रचनाओं के देखने पर विदित होता है कि निराकारोपासक होने पर भी सगुणोपासना का संस्कार इनके मन से दूर नहीं हुआ था। उक्त उदाहरणों के आधार पर कालान्तर में संत-मत पर सगुणो-

---

१. धन हो धन साहेब बलिहारी।
कासी में हांसी करवाई, गनिका संग लगाई।
हरि के पग धरत उबारे, अपने चरन जल ढारी।
मगहर में एक लीला कीन्हीं, हिन्दू तुरुक व्रतधारी।
कबर खोदाइ के परचा दीन्हीं, मिटि गयो झगरा भारी।
धरम० श० पृ० ४ शब्द १०।

२. पांडव जज्ञ सुफल न होई कोटिन जुरे आचारी।
सुपच भक्त ने ग्रास उठायो, घंट बज्यो तब भारी। धरम० श० पृ० ५ शब्द २०।

३. तच्छक आन डस्यो रानी को, विषम लहर तन भारी।
रानी पर जब किरपा कीन्हीं, उनहुं, को हैं उबारी। धरम० श० पृ० ५ शब्द १०।

४. हरि को मंदिर बनन न पावै, समुद लहर उठि भारी।
आसा रूप के समुद हटायो, तीरथ करे संसारी।
जो जा सुमिरे सो ता प्रगटे, जग में नर अरु नारी।
धरमदास पर किरपा कीन्हीं, हंसराज लखे भारी।
जो जो सरन गही सतगुरु की, उबरे नर अरु नारी।
साहेब कबीर मुक्ति के दाता, हमको लियो उबारी। धरम० श० पृ० ५ शब्द १०।

पासना के पर्याप्त प्रभाव का भी अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि संतों को लेकर उद्भूत सम्प्रदायों में इष्टदेव ईश्वर के निराकार रूप होने के कारण सगुण सम्प्रदायों के प्रभावानुरूप उनके गुरु ही इष्टदेव के साकार प्रतीक या स्वयं उपास्य-रूप में गृहीत हुये। यहाँ तक कि कतिपय सम्प्रदायों में अर्चा-विग्रहों के सदृश उनकी मूर्तियों, चित्रों और 'गुरु ग्रंथ साहिब' जैसी पुस्तकों की विधिवत् पूजा का भी प्रचार हुआ।

विशेषकर कबीर उपास्य होने के साथ-साथ विभिन्न संत सम्प्रदायों में अवतारी रूप में भी मान्य हुए।

श्री परशुराम चतुर्वेदी के कथनानुसार साध लोग अपने आदि गुरु उदादास को कबीर का अवतार तथा दोनों को परमात्मा का प्रतीक समझते हैं।[1] धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के अनुसार दरियादास (बिहारी) भी अपने को कबीर का अवतार मानते हैं।[2] कबीर इस पंथ में पुनः-पुनः अवतार धारण करने वाले सत्पुरुष के सोलह पुत्रों में से एक के रूप में मान्य हैं।[3] डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'ज्ञानदीपक' के एक उदाहरण का भाव इस प्रकार किया है कि सत्पुरुष ने उन्हें बताया कि कबीर और धर्मदास उनके ही पूर्वावतार थे।[4] धरनीश्वरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक धरनीदास भी कालान्तर में कबीरदास के अवतार कहे गये। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने तत्संबंधी संभवतः एक परवर्ती उदाहरण दिया है; जिसमें कहा गया है कि शाहजहाँ के राज्य में कबीर पुनः धरनीदास के रूप में अवतीर्ण हुये।[5] साध सम्प्रदाय में कबीर ईश्वर के पर्याय माने जाते हैं। साध लोग उदादास को कबीर से स्वरूपित करते हैं।[6] उक्त तथ्यों के आधार पर कतिपय परवर्ती सम्प्रदायों में अनेक संतों के कबीर-अवतार होने की संभावना की जा सकती है।

निर्गुण संत निराकार ईश्वर के उपासक होते हुए भी विष्णु और उनके कतिपय अवतारवादी रूपों को अपने पदों में अभिव्यक्त करते हैं।

इनका उपास्य निराकार होते हुए भी विष्णु का ही निर्गुण रूप प्रतीत होता है। राम, कृष्ण, वासुदेव, नारायण आदि नाम मुख्यतः इस साहित्य में विष्णु के पर्याय के रूप में अधिक प्रचलित हैं।

---

१. उ० भा० स० प० पृ० ४००। २. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन पृ० १६९।

३. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन पृ० १७।

४. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन पृ० २३३, पृ० २०।

५. उ० भा० सं२ प० पृ० ५६१।

कबिरा पुनि धरनी भयो शाहजहां के राज।

६. दी साधस पृ० ५६।

यदि कबीर आदि संत रामानन्द के शिष्य हैं, तो रामानन्द ने अवतारी राम के सगुण रूप को मानते हुए भी राम के ऐसे अन्तर्यामी या आत्मरूप का इनमें प्रचार किया होगा जिसकी रूपरेखा 'अध्यात्म रामायण' में मिलती है।

यों जहाँ तक विष्णु के अवतारों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, मंडनात्मक अथवा खंडनात्मक दोनों प्रकार से संतों ने इनका विस्तृत वर्णन किया है। नामदेव, गुरु अर्जुन ऐसे संत तो अवतारवाद का इतना समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं कि उन्हें निर्गुणोपासक मानने के पूर्व विचारने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यों सम्प्रदाय-सम्बन्ध के नाते उन्हें निर्गुणोपासक भले ही कहा जाय, किन्तु अपने पदों के आधार पर तो वे अवतारोपासक अधिक प्रतीत होते हैं।

अंतः संतों ने जहाँ अवतारवाद का खंडन किया है, वहीं इनकी अवतारवादी देन भी महत्त्वपूर्ण हैं। संतों ने मानव-मूल्य के रूप में अवतारवाद का सापेक्ष मूल्य आंका है। उनकी दृष्टि में वे सभी संत अवतार हैं जिनका समाज में विशिष्ट स्थान है तथा जो परम हरि-भक्त हैं।

इसके अतिरिक्त संतों ने सर्वप्रथम इस्लाम और हिन्दू दोनों के समन्वित रूप से एक नये पैगम्बरी अवतारवाद का प्रवर्तन किया, जिसके मूल में एकेश्वरवादी उपासना का बीज विद्यमान है।

परन्तु परवर्ती संतों ने युगावतार-परंपरा के द्वारा प्राचीन संतों की परंपरा से अपने सम्प्रदायों को तो सम्बद्ध किया ही, साथ ही अपने कबीर आदि संत प्रवर्तकों का भी इस प्रकार अवतारीकरण किया कि जीवन भर अवतारवाद का विरोध करने वाले कबीर भी अन्त में अवतार क्या अवतारी होकर रहे।

छठा अध्याय

सूफी साहित्य

मध्यकाल में मुसलमानों के भारत में प्रवेश करने के अनन्तर एक ऐसे साहित्य का विकास हुआ जिसका मूल स्रोत भारतीय धर्मों की अपेक्षा इस्लाम में माना जाता है। भारत में मुसलमानों के राज्य का विस्तार होने के साथ-साथ इस्लाम का प्रचार होने लगा था। इस प्रचार में दो प्रकार के व्यक्ति रत थे और दोनों की दो प्रकार की पद्धतियाँ थीं। इनमें एक ओर तो वे राजे या सम्राट् थे जो तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करते थे और दूसरी ओर इस्लाम धर्म से उद्भूत 'तस्व्वुफ' या सूफी नाम की एक प्रेममार्गी शाखा के अनुयायी, साधक या संत थे, जो भारत में प्रचलित लोक रचनाओं को अनन्य प्रेम से सम्पृक्त कर जन साधारण को मुग्ध किया करते थे।

सूफी संत एवं उनकी प्रेमोपासना का इस्लाम से कैसा सम्बन्ध रहा है, इसका अभी तक पूर्णतः निराकरण नहीं हो सका है। यद्यपि इसका मूल स्रोत 'कुरान' से खोजने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु अल्लाह के ऐश्वर्य-प्रधान इस्लामी रूप में और सूफी माधुर्य-प्रधान या माशूक के रूप में गृहीत अल्लाह में पर्याप्त अन्तर हो जाता है। फिर भी मध्यकाल में यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि प्रायः सम्प्रदायों के व्यक्ति किसी न किसी प्राचीन धर्म या परम्परा से अपना संबंध जोड़ा करते थे।

भारत में प्रचलित होने के पूर्व सूफी मत विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो चुका था। उसमें इस्लाम के कतिपय विश्वासों का समावेश हो गया था, जिनमें अल्लाह का तत्कालीन प्रचलित रूप और सृष्टि-विकास-क्रम प्रधान हैं। अल्लाह के नूर से विकसित सृष्टि में ही अल्लाह के साकार साक्षात्कार के विश्वासों का इन सम्प्रदायों में पर्याप्त प्रचार हुआ। इन प्रवृत्तियों के आधार पर हुलमन आदि कतिपय सूफी साधकों ने अल्लाह के व्यक्त रूप को अवतारवादी दृष्टिकोण से अभिव्यक्त किया। किन्तु सूफी विचारकों ने अवतारवाद के विरोधी होने के

कारण सदैव इस धारणा को सशंक होकर देखा। तत्कालीन सूफी मत की बारह शाखाओं में से दस को तो स्वीकार किया गया और उनमें से अवतारवादी हुलूली तथा अद्वैतवादी हल्लाजी को मरदूद ठहराया गया। हुज्विरी के अनुसार अवतारवादी हुलूली सम्प्रदाय का प्रवर्तक दश्मिक का अबू हुल्मान नामक सूफी था[1]। संभवतः हुल्मन के आधार पर ही उसको हुलूली कहा गया है। उक्त गैर इस्लामी दोनों सम्प्रदायों पर आर्य-संस्कृति के प्रभाव का अनुमान किया जाता है, क्योंकि इराक का प्रधान शहर बसरा फारस की खाड़ी में स्थित होने के कारण आर्य-संस्कृति के सम्पर्क में था।

जो हो, मध्यकालीन सूफी साहित्य में जिस परम्परा का दिग्दर्शन हुआ है, उसमें अनेक भारतीय तत्वों से संवलित होते हुये भी इस्लामी परम्परा को यथेष्ट मात्रा में ग्रहण किया गया है। किन्तु इस्लाम धर्म का मूल उद्देश्य एकेश्वरवादी ईश्वर का प्रतिपादन और प्रचार रहा है। इस मत में एकमात्र अल्लाह ही सर्वशक्तिमान रहा है। फलतः हिन्दू धर्म में बहुदेववादी देवताओं का जिस प्रकार सर्वोत्कृष्ट (हीनोथिस्टिक) रूप मिलता है, उसका इस्लाम धर्म में नितान्त अभाव है।

अपने सैद्धान्तिक रूप में इस्लाम किसी भी अवतारवादी ईश्वर को स्वीकार नहीं करता और न तो मूर्तिपूजा के सदृश किसी पैगम्बर या अल्लाह के रूप की पूजा को मानता है।[1] कालान्तर में यह कट्टरता इस सीमा तक पहुँच गई कि इस्लाम के अवतारविरोधी सम्प्रदायों ने अवतारवादियों की खुल कर भर्त्सना की जिसके फल-स्वरूप हल्लाज मंसूर जैसे अवतारवादी सूफी भक्तों को शूली पर चढ़ा दिया गया[2] तथा उसके अनुयायियों को भी प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा।

परन्तु विचित्रता तो यह है कि सगुण रूप या अवतारवादी रूपों का इतना उग्र विरोध होने पर भी अल्लाह सिद्धान्त में चाहे जो हो, किंतु उपास्य-रूप में प्रचलित होने पर भक्तों का पक्ष लेने वाला सगुण और ससीम ही रहा। आगे चल कर अल्लाह शीर्षक में विस्तार से विचार किया गया है।

अनीश्वरवादी मतों के अतिरिक्त विश्व के समस्त ईश्वरवादी दर्शन और साम्प्रदायिक मान्यताओं से अवतारवादी तत्वों को पृथक् करना अत्यन्त कठिन है। इसका मुख्य कारण है, युग-युग और देश-देश में प्रकट होते रहने वाले अवतारवादी मानदंड और दृष्टिकोण। दर्शन में ईश्वर को शून्य और 'नेति-नेति' से विभूषित किया जा सकता है किन्तु व्यवहार में नहीं, क्योंकि

---

१. सूफीज्म पृ० १२। २. सूफीज्म पृ० ९३।

मनुष्य का व्यवहारपक्ष मानसिक चिंतन के अतिरिक्त अनन्त संस्कारों और हृदयगत भावनाओं से युक्त रहता है। ज्ञानियों के लिये जो शून्य, निर्गुण, अकल, अनादि है वही भक्तों का उपास्य होने पर उक्त उपाधियों से युक्त रहते हुये भी मानव है। जिसे 'पुरुष एव इदम्' कहा गया है।

इस प्रकार अवतारवाद की सीमा में मनुष्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही मनुष्य है। 'गीता' में जिस अवतारवाद की अभिव्यक्ति हुई है, उसमें अज और अव्यय आत्मा ईश्वर आत्ममाया से प्रादुर्भूत होता है।[१] उसका यह प्रादुर्भाव धर्म और साधुओं की रक्षा, तथा धर्म के विकास या संभवतः धर्म को युगानुरूप बनाने के लिये होता है। दैवीकरण के पश्चात् ईश्वर के प्रयोजनवश अवतरित होने में अवतारवाद की प्रारम्भिक अवस्था कुछ आगे हो जाती है। फिर भी अवतारवाद के इस रूप का दार्शनिक चिन्तन की अपेक्षा अभावग्रस्त मनुष्य के सहज विश्वास से अधिक सम्बन्ध है, क्योंकि आप्तकाम ईश्वर में मनुष्य होने पर ही प्रयोजन की कल्पना हो सकती है। यह प्रयोजन अभावग्रस्त, अपूर्ण मनुष्य की आवश्यकता है, पूर्ण ईश्वर का नहीं।

इसी से तीसरी अवस्था में ईश्वर की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही अवतारवाद की सीमा में लाई गई। 'विष्णुपुराण' में कहा गया कि जो कुछ भी व्यक्त है वह सब अवतारवाद है[२] और अभिव्यक्ति की उसकी इच्छा ही प्रयोजन है। अवतारवाद की इस अतिव्याप्ति में समस्त विश्व में जो कुछ भी ज्ञेय है, वह उसका व्यक्त या अवतारवादी रूप ही है। इस परिभाषा के आधार पर ईश्वरवाद और अवतारवाद में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। अतः मध्यकाल का ईश्वर निर्गुण-सगुण-विशिष्ट उपास्य मात्र है।[3] वह सन्तों का हो या सूफियों का, अवतारोपासकों का हो या अन्योपासकों का, निर्गुण-सगुण-विशिष्ट उपास्य-तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में सभी में विद्यमान है। साथ ही उक्त विवेचन से अवतारवाद के प्रयोजन-जनित और इच्छा-जनित अवतारवाद के दो रूपों का भी पता चलता है। इन दो रूपों का समानान्तर या

---

१. गीता० ४, ६।

२. भवतो यत्परं तत्त्वं तन्न जानाति कश्चन।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः॥ वि० पु० १, ४, १७।

३. अलख अरूप अबरन सो कर्ता। वह सबसों, सब ओहि सो बर्ता।
परगट गुपुत सो सरब बियापी। धरमी चीन्ह' न चीन्है पापी।
जायसी ग्र० शुक्ल पृ० ३।

परिवर्तित रूप[1] सूफी साहित्य में दृष्टिगत होता है, जो इस्लामी परम्परा से गृहीत हुआ है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफियों ने प्रेमसाधना और मादन भाव इस्लाम से भले न ग्रहण किये हों, पर इस्लाम के कतिपय संस्कारों और विश्वासों को उन्होंने भरपूर मात्रा में ग्रहण किया है। विशेषकर प्रेमाख्यानक काव्यों के आरम्भ में जिस सृष्टि और पैगम्बर के अवतरण का वर्णन हुआ है, वह पूर्णतः इस्लाम की परम्परा से आपूरित है। इन परम्पराओं का बीज आसमानी किताब 'कुरान' से ही मिलने लगता है। 'कुरान' के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता और पालक है, उसने प्रत्येक पदार्थ पैदा कर उसे दुरुस्त किया। फिर हर एक के लिये उसका क्षेत्र निश्चित कर उसके सामने कर्म का पथ खोल दिया।[2] संभवतः ईश्वर के इसी स्रष्टा रूप की परम्परा का विकास सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में दीखता है।

'गीता' में धर्म-स्थापना और साधुओं की रक्षा के रूप में जिस प्रयोजन की चर्चा हुई है, उसमें ईश्वरवाद की पुष्टि का आभास मिलता है। यद्यपि 'गीता' के स्वयं ईश्वर के अवतरित होने और कुरान-अल्लाह के समय-समय पर हर कौम में पैगम्बरों के भेजने के उल्लेख हुए हैं,[3] तथापि प्रयोजन की दृष्टि से दोनों में अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है। यदि अवतार धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश करता है, तो पैगम्बर भी हर कौम के लोगों को कुकर्मों के परिणामों से डराते हैं, हिदायत करते हैं, और सारे कौम के लड़ाई-झगड़े का फैसला करते हैं।[4] उक्त उद्धरणों में स्थानगत और संस्कृतिगत वैषम्य होते हुये भी आंतरिक एकता लक्षित होती है।

अल्लाह

अरब के इस्लाम धर्म में एकेश्वरवाद का प्रचार होने के पूर्व जिस देववाद की प्रतिष्ठा थी, वह एक प्रकार से बहुदेववाद था। इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद

---

१. (क) कृष्ण पृ० १७ डा० भगवान दास ने ईश्वर और मनुष्य के मध्य में मसीहा, पैगम्बर, प्रोफेट, अवतार आदि को समान रूप से परमात्मा तक पहुंचाने वाला माना है।

(ख) इ० आर० इ० जी० पृ० ३ में इमामों के अवतारीकरण को 'गीता' से प्रभावित कहा गया है।

२. कुरान और धार्मिक मतभेद, मौलाना अबुलकलाम आजाद लिखित, 'तर्जमानुल कुरान' का हिन्दी अनुवाद पृ० २ सूरा ८७, आयत २।

३. कुरान और धार्मिक मतभेद, पृ० २० सू० ३५ आ० २५।

४. कुरान और धार्मिक मतभेद पृ० २० सू० ३५, आ० २५ सू० १३ आ० ९ सू० १० आ० ४८।

साहब ने अनेक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से ग्रस्त उस बहुदेव-पूजा को पाप या अपराध बतलाया और उसके स्थान में एकदेव या एकेश्वर-पूजा की प्रतिष्ठा की।[1] फलतः एकमात्र अल्लाह ही इस धर्म के उपास्य माने गये।

आदि रूप

अल्लाह का ज्ञान चिंतन की दृष्टि से इल्मी (विशुद्ध ज्ञान) और हाली (भावात्मक) दो प्रकार का माना जाता है।[2] सैद्धान्तिक दृष्टि से वह असीम, अनन्त, अदृश्य, अगोचर और अजन्मा है।[3] परन्तु उसकी आदि सनातन सत्ता ब्रह्म के समान इस मत में भी स्वीकार की जाती है।

सृष्टि निर्माण के पूर्व केवल वही विद्यमान था। वह अकेला होने के कारण केवल स्वयं को ही देखता था। वह अपने अहं को जानता था। वह केवल पूर्ण स्वरूप था, क्योंकि अपूर्ण तो वह केवल रूप में आबद्ध होने पर होता था। वह अपने विशुद्ध रूप में शाश्वत, अपरिवर्तित और सनातन-सत्ता-युक्त है। नश्वरता, परिवर्तनशीलता और लोप या गोचर भाव का सम्बन्ध तो केवल उसके रूप से है।[4] वह जात (सत्ता), सिफत (गुण) और कर्म में अद्वितीय है, वह अतुलनीय तथा सृष्टि के सभी उपादानों से भिन्न है।[5] निरपेक्ष होते हुए भी सृष्टि में केवल वही व्याप्त है और एकमात्र सत्य है।

निर्गुण (तनज़ीह) और सगुण (तसबीह)[6]

अल्लाह के आदि रूप में ही दो प्रकार के रूपों की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें एक को निर्गुण-निराकार और दूसरे को सगुण-साकार कहा जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त कथन के अनन्त, अगोचर और अजन्मा विशेषणों में उसके निर्गुण रूप की अभिव्यक्ति होती है तथा दूसरी ओर उसकी विविध सत्ताओं में सगुण रूप का भी आभास मिलता है। इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-निराकार उसका सनातन रूप है और सगुण-साकार क्षणिक और ससीम रूप। फारस के शेख मुहम्मद इब्राहिम की पुस्तक 'इर्शादत' के अनुसार ईश्वर सृष्टि और सृजन से परे है, क्योंकि सृष्टि-कार्य का

---

१. दी मुसलिम क्रीड पृ० ३९। २. हुज्विरी २६७।

३. हुज्विरी पृ० २८४।

४. सि० अ० इ० ४। ५. पू० सा० सा० पृ० २५०।

६. अलहुज्विरी द्वारा प्रयुक्त तनज़ीह और तसबीह का अर्थ क्रमशः विशुद्ध, सर्वातीत तथा समीकरण या समन्वित भी माना गया है। हुज्विरी पृ० २३८, २७०।

मूलगत सम्बन्ध उनकी नामाभिव्यक्ति मात्र से है। परमात्मा पूर्ण रूप से स्वाधीन और स्वतन्त्र है। उसकी सत्ता के दो पहलू हैं तनज़ीह और तसबीह। इनमें अज्माए-साल्बी वे नाम हैं जो और किसी नाम पर निर्भर या आधारित नहीं हैं; जैसे—क़ैवी (शक्तिमान), गनी (स्वतन्त्र), आदि। इनके विपरीत अज्माए-तुबुती वे नाम हैं जो दूसरे नामों पर आधारित हैं। जैसे—रज़ाक (दाता), ख़ालिक (स्रष्टा) और गफ़ार (क्षमाशील)।[1]

इस प्रकार असीम और ससीम उसके दो रूप सिद्ध होते हैं। असीम निर्गुण या तनज़ीह का परिचायक है और ससीम सगुण या तसबीह का। अतः तसबीह परमात्मा की ससीम अभिव्यक्ति है और तनज़ीह उसकी सर्वोपरि सत्ता है। यदि वह तसबीह रूप में विद्यमान है तो भी तनज़ीह से परे नहीं है तथा तनज़ीह में उपस्थित होते हुए भी, वह तसबीह में व्यक्त होता है।[2] इसी तथ्य को दूसरे ढंग से इस प्रकार कहा गया है कि उसका जलाल तो सदैव अव्यक्त रहता है और जमाल आविर्भूत होता है।[3]

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि एकेश्वरवादी अल्लाह के रूप में उपनिषद् ब्रह्म के सदृश सगुण और निर्गुण तत्वों का भी समावेश किया गया था।

व्यूह के समानान्तर रूप

सूफी साधकों ने अल्लाह के रूप को चार भागों में विभाजित किया है, जो वैष्णव एवं पाञ्चरात्र मतों में प्रचलित वैष्णव व्यूह के समानान्तर प्रतीत होता है। इस व्यूहवाद की विशेषता यह रही है कि इसमें गृहीत वासुदेव, संकर्पण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का सम्बन्ध एक ओर तो परमात्मा वासुदेव की सृष्टि या जीव सम्बन्धी विभिन्न अभिव्यक्तियों तथा वासुदेव-रूप में परमात्मा की नित्य स्थिति से रहा है। दूसरी ओर साधक की ओर से इनका सम्बन्ध क्रमशः चित्त, अहंकार, मन और बुद्धि से प्रतीत होता है। इन चारों अवस्थाओं का सम्बन्ध साधक की आंतरिक अवस्थाओं से भी माना जा सकता है। अतः इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें उपास्य-उपासक दोनों के क्रमशः अवरोह और आरोहसूचक तत्त्व विद्यमान हैं।

अवरोह-आरोह से मेरा तात्पर्य परमात्मा की क्रमशः अभिव्यक्ति तथा पुरुष साधक के क्रमशः ईश्वरोन्मुख आरोहण से है। क्योंकि 'भागवत' में सांख्यवादी सृष्टि-आविर्भाव का क्रम वासुदेव-व्यूह के क्रम से संयुक्त किया गया है। वहाँ वासुदेव से महत्तत्त्व, संकर्षण सहस्रशीर्षा, अनन्त देव, से अहंकार एवं

१. सि० अ० इ० पृ० १४। २. सि० अ० इ० पृ० १७।
३. सि० अ० इ० पृ० १८।

प्रद्युम्न से बुद्धि और अनिरुद्ध से मन का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[१] इस क्रम में सृष्टि-आविर्भाव का क्रम विद्यमान है। दूसरी ओर पांचरात्रों में व्यूह का प्रयोजन उपासकों के अनुग्रहार्थ सृष्टि, स्थिति, संहार और संरक्षण कहा गया है।[२] इसके अतिरिक्त इस व्यूह का सम्बन्ध चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन जिन चारों अवस्थाओं से स्थापित किया जाता है, वे साधक के भी साधनात्मक विकास की चार अवस्थाएँ हैं, क्योंकि साधना में इन्द्रियों के दमन द्वारा मन का केन्द्रीकरण प्रथम अभ्यास माना जाता है। मन के केन्द्रित होने पर साधक क्रमशः मन को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में और अहंकार को चित्त में लय करके परमात्मस्वरूप से तादात्म्य स्थापित करता है।

इस प्रकार व्यूहवाद में परमात्मा के अवरोह और उपासक के आरोह के रूप में दोनों का क्रम विद्यमान है।

सूफी मत में भी अल्लाह के रूप का विभाजन चार रूपों में दृष्टिगत होता है। उसका प्रथम रूप है अहदिय्यत जो गैबुलगैब या गुह्यातिगुह्य है। अहदिय्यत के ईश्वर के विषय में कहा जाता है कि वह अपरिमित, अचिंत्य और असंख्य गुणों से विभूषित है।[३] उसकी यह गुणात्मक रूपरेखा 'तत्त्वत्रय' में प्रतिपादित नित्य ईश्वर के समकक्ष विदित होती है। 'तत्त्वत्रय' में भी उस ईश्वर के ज्ञान, शक्ति आदि कल्याणकारी गुणों को नित्य, निःसीम, निसंख्य, निरुपाधिक, निर्दोष तथा समाधिकरहिता कहा गया है।[४] अल्लाह के अव्यक्त और व्यक्त रूप की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जलाल उसका अव्यक्त रूप है और जमाल व्यक्त रूप।[५] 'तत्त्वत्रय' में भी उसे सकल जगत का कारणभूत माना गया है।[६] इसके अतिरक्त जिस प्रकार ईश्वर को 'तत्त्वत्रय' में 'अनन्तावतारकंदमिति' (अनन्त अवतार धारण करने वाला) बताया गया है,[७] उसी प्रकार अल्लाह भी अनेक अनन्त ससीम रूपों में आविर्भूत होता है।[८] व्यूह रूप में जिस प्रकार चित्त का सम्बन्ध वासुदेव से स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार अदीय्यत से अभिहित खुदा की अवस्था सम्भवतः हाहूत के समानान्तर बाहूत की अवस्था है। साधक की दृष्टि से यह अन्तिम वह हकीकी अवस्था है, जब कि साधक और साध्य दोनों परस्पर तदाकार हो जाते हैं।

उसका दूसरा रूप है उलूहिय्यत, जिसका सम्बन्ध समष्टि या व्यष्टि तथा विराट विश्वरूप या अनन्त प्राणियों के सत्तात्मक आविर्भाव से है। यह रूप

१. भा० ३, २६, २१-३१। २. तत्त्वत्रय पृ० १०२।
३. सि० अ० इ० पृ० १२। ४. तत्त्वत्रय पृ० ७५।
५. सि० अ० इ० पृ० १५। ६. तत्त्वत्रय पृ० ८५।
७. तत्त्वत्रय पृ० ८९। ८. सि० अ० इ० पृ० १५।

विशेषता की दृष्टि से संकर्षण के समकक्ष प्रतीत होता है। संभवतः उसके द्विविध आविर्भाव की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उसकी सत्ता दो प्रकार की है। इनमें प्रथम है—वाजिबुल वजूद (अनिवार्य सत्ता) और दूसरा है—मुमकीनुल वजूद (सम्भावित सत्ता)। इन दोनों का सम्बन्ध हाहूत और लाहूत अवस्थाओं से है[१]।

उसका तीसरा रूप है रूबुबिय्यत या स्वामीभाव जो प्रद्युम्न के समकक्ष है। सूफी मत में इसे आलमे अर्वह या आत्म जगत का बोधक समझा जाता है। यों तो सूफी फरीस्ता और मनुष्य के रूह में अन्तर करते हैं, फिर भी मनुष्य की आत्मा ईश्वर का ही ससीम गुह्य रूप है। एक ही आत्मा का व्यष्टि भाव से खेत में बीज के सदृश प्रसार होता है। या जिस प्रकार एक दीपक की ज्योति से अनेक दीप प्रज्वलित होते हैं (यह दृष्टान्त पांचरात्रों के 'दीपाद्-दुत्पन्न दीपवत्' के समकक्ष प्रतीत होता है)[२]। उसी प्रकार एक मनुष्य से अनेक मनुष्य होते हैं। विचित्रता यह है कि इस प्रवृत्ति का समर्थन करने के उपरान्त पुनर्जन्म और हुलूल या अवतारवाद से इसका वैषम्य प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि इस अभिव्यक्तिवाद का साम्य न तो पुनर्जन्म से है न अवतारवाद से। शरीर इस आत्मा का वस्त्र है। आत्मा अश्वारोही है, शरीर उसका अश्व है। आत्मा ही ईश्वर है। बिना उसके आदेश के कुछ भी नहीं होता।[३] इन लक्षणों में बुद्धि और उसके उपास्य प्रद्युम्न के साथ आत्मा–शासक का भाव दृष्टिगत होता है। इस रूप के अन्तर्गत जबरूत की अवस्था आती है। यह नासूत के ऊपर की अवस्था है। इस अवस्था में साधक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है :

उसका चौथा रूप है उबूदिय्यत सेवक या बंदा रूप। इस रूप में वह पूर्णतः इनसान की अवस्था में विदित होता है। इसे बीज का उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया जाता है कि जिस प्रकार बीज रूप में बीज केवल अपने बीजत्व को जानता है ; उसी प्रकार इनसान के रूप में वह केवल अपनी ससीमता से ही अवगत रहता है। साधना की दृष्टि से इसका सम्बन्ध मलकूत और नासूत की अवस्था से है। सूफी साधक मनुष्य की प्रकृत अवस्था को नासूत की अवस्था मानते हैं।[४] अतः सूफी इनसान की वह प्रारम्भिक अवस्था है, जब वह मन को ईश्वर की ओर केन्द्रित करता है। परिणामतः इसको मन और उसके उपास्य अनिरुद्ध के समकक्ष माना जा सकता है। उपर्युक्त चारों रूपों का व्यूहवादी क्रम निम्न ढंग से विदित होता है:—

१. सि० अ० इ० भू० ४। २. सि० अ० इ० पृ० ५७
३. सि० अ० इ० पृ० ५९। ४. सू० सा० सा० पृ० ३३०।

१—अहदिय्यत	बाहूत (हाहूत)	वासुदेव	चित्त ।
२—उलूहिय्यत	लाहूत	संकर्षण	अहंकार ।
३—सवूविय्यत	जबरूत	प्रद्युम्न	बुद्धि ।
४—उबूदिय्यत	नासूत	अनिरुद्ध	मन ।

सूफी और वैष्णव दोनों रूपों में अनेक विषमताओं के होते हुए भी बहुत कुछ साम्य दीख पड़ता है। दोनों का सम्बन्ध उपास्य और उपासक की दृष्टि से समान रूप में परिलक्षित होता है। क्योंकि अहदिय्यत से लेकर उबूदिय्यत तक अल्लाह का असीम और अव्यक्त रूप से ससीम या इनसान तक व्यक्त होने का जो भाव है, वह वासुदेव से लेकर अनिरुद्ध तक भी देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि परमात्मा के आविर्भाव का यह अवरोह-क्रम दोनों में समान रूप से चरितार्थ हुआ है।

पुनः उपासक के साधनात्मक आरोह-क्रम को भी नासूत से लेकर आहूत तक या मन से लेकर चित्त तक देखा जा सकता है। वैष्णव व्यूह-क्रम में उपासक जिस प्रकार मन को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में और अहंकार को चित्त में लय कर देता है, उसी प्रकार सूफी साधक भी क्रमशः नासूत से जबरूत, जबरूत से लाहूत और लाहूत से हाहूत या बाहूत में जाकर उपास्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

इस प्रकार उपास्य और उपासक दोनों दृष्टियों से इनमें साम्य प्रतीत होता है।

यों इस्लाम में व्यावहारिक रूप से अल्लाह का रूप निराकार माना जाता है, किन्तु 'कुरान' में अल्लाह का जैसा वर्णन मिलता है, वहाँ वह निराकार की अपेक्षा साकार अधिक है। पांचरात्रों में निर्गुण-सगुण उभय उपाधियों से युक्त उपास्य ब्रह्म 'पर' रूप में जिस प्रकार अनुचरों, परिकरों और नित्य पार्षदों से सेवित, स्थान विशेष वैकुण्ठ या नित्यलोक में विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार कुरान के अल्लाह भी बहिस्त में भव्य सिंहासन पर अपने फरिस्तों के साथ निवास करते हैं।[1] कहा जाता है कि अल्लाह के आठ रूप हैं, जो उसका दिव्य सिंहासन ढोया करते हैं।[2] इसके अतिरिक्त उसके अन्य देव-रूपों में कुछ देव तो सृष्टि की रक्षा या संचालन करते हैं, और कुछ निरन्तर उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।[3] 'कुरान' के उक्त रूपों के आधार पर ही इस्लामी साहित्य में इसके मानवीकृत (एन्थ्रोपोमार्फिक) रूपों का विस्तृत वर्णन

१. स्ट० इस्० मि० पृ० ११०। २. सू० हि० सा० पृ० ५३।
३. दी मुसलीम क्रीड पृ० ६७।

मिलता है।[१] उपास्य ब्रह्म निरपेक्ष उपाधियों से युक्त होने पर भी साधारणतः अपने भक्तों के प्रति उदासीन नहीं रहता। विष्णु देव-शत्रुओं का विनाश करते समय देवों के पक्ष में अवश्य विदित होते हैं, परन्तु उपास्य-रूप में गृहीत होने पर वे भक्तों की रक्षा और रंजन करते हैं। इन भक्तों की कोटि में इनके प्रतिद्वन्द्वी रावण आदि भी द्वारपाल के रूप में गृहीत होते हैं। इसी प्रकार अल्लाह में भी मनुष्य जाति एवं उसके अनुयायियों के पालन-संबंधी उपादान मिलते हैं।[२]

मानवीय भाव

इस्लामी या सूफी दोनों अल्लाह पर मानवीय भावों का आरोप करते हैं। इस दृष्टि से वह मनुष्य के सदृश अल् हाफिज (द्रष्टा), अल् खालिक (स्रष्टा), अल् मुसावीर (चित्रकार), अल् हयी (जीवन दाता), अल् कादिर (शक्तिमान) और अल्कबीर (ज्ञाता है)[३]। अल् रहमान उसका वह नाम है जिसके अनुसार वह व्यक्त होकर जीवों पर कृपा करता है।[४] हिन्दू इष्टदेवों के सदृश कार्य, नाम, गुण और सत्ता इन चार रूपों में अभिव्यक्त होने के अतिरिक्त वह मुहम्मद कह कर पुकारने पर तत्काल उत्तर देता है। यहाँ मुहम्मद शब्द अल्लाह का पर्यायवाची विदित होता है। वह सिद्ध-साधक पर अनुग्रह करने के लिये अपने को विभिन्न नामों में व्यक्त करता है। इसी से वह उपासक के लिए अल् रहमान (करुणामय), अल् रब (स्वामी), अल् मालिक (सम्राट्), अल् अलीम (सर्व शक्तिमान), अल् कादिर (सर्व-व्यापी) है। इनमें संभवतः उपास्य की दृष्टि से ही अल् रहमान रूप सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[५]

मनुष्य के समान अल्लाह भी सुख और दुःख (अलहिकाम) से युक्त है। वह इष्टदेव के रूप में ससीम या रब है, जिसका प्रत्येक मरबूब से विशिष्ट सम्बन्ध है।[६] अन्य भावों की अपेक्षा इसके करुणामय भाव पर सूफी विद्वान बौद्ध प्रभाव स्वीकार करते हैं।[७] इसी से वे अल्लाह के निमित्त प्रेमोपासना को सर्वोत्तम उपासना समझते हैं।

अल्लाह मध्यकालीन सगुण इष्टदेवों या अर्चा रूपों के सदृश अपने धर्म या

---

१. दी मुसलीम क्रीड पृ० ६७।

२. कुरान और धार्मिक मतभेद पृ० १२, सूरा ४१ आ० १६ और सूरा २९ आयत ६९।

३. सि० अ० इ० ५३। ४. स्ट० इस० मि० पृ० ९९।

५. स्ट० इस० मि० १२६-१२७। ६. स्ट० इस० मि० १५८।

७. स्ट० इस० मि० १६०-१६१।

सम्प्रदाय के प्रति भी सचेष्ट प्रतीत होता है। इसी से अल्लाह इस्लाम का कार्य प्रवर्तक के समान करता है। यहाँ उसमें मानवीय राग-द्वेष के भाव विद्यमान हैं। वह मनुष्य के समान अनुभव करता है, प्रसन्न होता है, दुखी होता है, विश्वास करता है या प्यार करता है।[1] एक कहानी के आधार पर अल् हुज्विरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अल्लाह अपने भक्तों और संतों की रक्षा भी शैतान के उत्पात से किया करता है।[2]

इस प्रकार इस्लाम का अल्लाह निराकार होते हुए भी अनेक मानवीय स्वभाव, गुण और धर्म से युक्त है।

अवतारी उपास्य विष्णु या वासुदेव विश्व-कल्याण के निमित्त अंश या पूर्ण रूप में स्वयं अवतरित होते हैं और अपने भक्तों को दर्शन देते हैं। उसी प्रकार कहा जाता है कि अल्लाह का दर्शन मुहम्मद साहब ने किशोर रूप में किया था।[3] साथ ही अल्लाह ने अपने रूप के प्रतिरूप आदम या मनुष्य की रचना कर उसमें अपनी रूह फूंकी थी।[4]

पूर्व मध्यकालीन युग के आल्वारों एवं अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में प्रयोजन अर्थात् वैष्णव भक्ति के प्रचार के निमित्त विष्णु के स्थान में उनके नित्य पार्षद और आयुधों के ही अवतार प्रचलित हो चुके थे। इस अवतार के प्रयोजन में विष्णु या ईश्वरवाद का प्रचार स्पष्ट विदित होता है।

इसी प्रकार इस्लाम में अल्लाह भी मनुष्य जाति पर कृपा करने के लिये समय-समय पर पैगम्बर भेजता है। साथ ही अपौरुषेय वेदों के सदृश कुराने-पाक को प्रकट करता है। उसके फरिस्ते स्वयं उसकी आज्ञानुसार मनुष्य के कर्मभाग्य संबंधी कार्य करते हैं। किन्तु फरिस्तों के अलावे वह भी मानव जाति की देख-रेख किया करता है। इस धर्म में यह धारणा अत्यधिक प्रचलित है कि अल्लाह प्रत्येक रात में अपने निम्नतम स्वर्ग में उतरता है। वह यहाँ आकर भक्तों की मनोभिलाषा पूर्ण करता है।[5]

विविध गुण

वैष्णव अवतारवाद में अवतारी ईश्वर का केवल निर्गुण या सगुण सम्मत

---

१. आइ० प० सू० पृ० १२। २. हुज्विरी पृ० १३०।

३. स्ट० इस० मि० पृ० ९७ तथा दी रेलिजस लाइफ एन्ड ऐटीचियुड इन इस्लाम पृ० ४६।

४. स्ट० इस० मि० पृ० १५५ और जा० ग्र० अखरावट शङ्क, पृ० ३०८ खा खेलार जस है दुइकरा उहै रूप आदम अवतारा।

५. दी मुसलीम क्रीड पृ० ९०।

नहीं मिलता अपितु उन दिव्य षाड्गुण्यों से भी युक्त माना जाता है,
कारण वह भगवत् या भगवान् रूप में सगुण या पूज्य[1] तथा महाविभूति
क और अपनी सृष्टि का कर्ता, पालक और संहारक होता है।[2] निष्कर्षतः
ही उसके सगुणत्व के विशेष परिचायक होते हैं।[3]
ी प्रकार अल्लाह में भी कुछ ऐसे विशेषण या उपाधियाँ आरोपित की
जिन्हें विचारकों ने गुण कह कर अभिहित किया है। 'दी मुस्लीम क्रीड'
ने अल्लाह को ज्ञान, शक्ति और चेतन से युक्त माना है।[4] उनके द्वारा
'दी फ़ीके अकबर' में कहा गया है कि वह अलौकिक अल्लाह, शाश्वत
और अपने नाम और गुण के साथ शाश्वत रहेगा। उसकी अपनी सत्ता
यात्मक शक्तियाँ भी शाश्वत हैं।[5] उसकी अपनी सत्ता में चेतन, शक्ति,
ाक्, श्रवण, दृश्य, इच्छा आदि माने गये हैं तथा क्रियात्मक सत्ता में
ालन, उत्पत्ति, पुनर्निर्माण, निर्माण आदि गृहीत हुये हैं।[6] वह सदैव
र गुण से युक्त रहा है और रहेगा। उसके कोई भी नाम या गुण
ान्य जीव में नहीं मिलते। वह अनादि काल से अपनी ज्ञान शक्ति के
ाने को जानता है। ज्ञान उसका शाश्वत गुण है। अपनी ऐश्वर्य-शक्ति
सर्वशक्तिमान है। ऐश्वर्य उसका शाश्वत गुण है। वह अपनी वाक्
द्वारा बोलता है। यह वाक् उसका अनादि गुण है। वह अपनी सृजन-
द्वारा सृष्टि करता है, उसकी यह सृजन-शक्ति अनादि है। वह अपनी
क्ति के द्वारा कार्य करता है, उसकी यह क्रिया शक्ति अनादि है।[7]
ा प्रकार अल्लाह में उपलब्ध गुणों को क्रमशः जात, जमाल, जलाल
ाल इन चार भागों में विभक्त किया जाता है। जिनमें एकता, नित्यता,
आदि उसकी सत्ता से सम्बद्ध गुण जात हैं; उदारता, क्षमा, आदि
धान गुण जमाल हैं; शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य-प्रधान गुण
और वाह्य या आन्तरिक परस्पर विरोधी गुण कमाल कहे जाते हैं।
युक्त गुणों से युक्त अल्लाह के साकार और सक्रिय रूपों का भान होता
तीय सूफी कवियों ने संभवतः उसी परम्परा में प्रेमाख्यानक काव्यों में
ास्यों का माधुर्य-प्रधान रूप प्रस्तुत करने के पूर्व आरम्भ में ही उसके
ेत स्रष्टा और सगुण रूपों का वर्णन किया है।
ँ यह स्पष्ट कर देना असंगत नहीं होगा कि संत या सूफी साहित्य के
इस ईश्वर में उपलब्ध निर्गुण तत्त्वों को देख कर उसे निराकार

ाo पुo ६, ५, ७१। २. विo पुo ६, ५, ७३। ३. विo पुo ६, ५, ७९।
ी मुसलीम क्रीड पृo ७६–७७। ५. दी मुसलीम क्रीड पृo १८८–१८९।
ी मुसलीम क्रीड पृo १८८। ७. दी मुसलीम क्रीड पृo १८८–१८९।

कहने लगे। किन्तु शून्य और निराकार में मानवीय भाव आरोपित किये जा सकते हैं या नहीं यह एक दुरूह प्रश्न है। उनकी कल्पना गोस्वामीजी के शब्दों में 'शून्य भित्ति' के चित्रों के सदृश लक्षित होती है। संतों और सूफियों का निराकार स्रष्टा और पालक होता है, तो सगुणोपासकों में 'निर्गुण वपु सोई' के रूप में सगुण हो जाता है। यहाँ दोनों के ब्रह्म में कोई वैषम्य नहीं प्रतीत होता। फिर भी इसका समाधान अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या प्रतिबिम्ब-वाद से नहीं हो सकता, क्योंकि इन दार्शनिक विचारणाओं में मस्तिष्क-प्रधान एवं तर्क-सम्मत रूप लिया गया है, जिनके द्वारा निराकार को ही साकार, निर्गुण को ही सगुण और विभु को ही लघु तथा मनुष्य को ही पूर्णावतार या पूर्ण ब्रह्म सिद्ध करना तर्क-सम्मत नहीं प्रतीत होता।

परन्तु मानवीय भावों का आरोप पांचरात्र विहित उपास्य ब्रह्म पर किया जा सकता है, जो अनेक दिव्य गुणों से युक्त हैं। यह उपास्य संत, सूफी या सगुणोपासक सभी में कहीं अन्तर्यामी[1] और कहीं अर्चा, कहीं पुरुष और कहीं स्त्री, कहीं बालक और किशोर के रूप में गृहीत हुआ है। यह हृदयप्रधान भावनात्मक तत्त्वों के आधार पर निर्गुण-सगुण-युक्त ब्रह्म की सभी उपाधियों का संश्लिष्ट रूप है। साधारणतः मस्तिष्क विश्लेषणप्रधान होता है और हृदय समन्वय या संश्लेषणप्रधान। अतः इस एकेश्वरवादी उपास्य ब्रह्म का संश्लिष्ट रूप पूर्णतः मानवहृदय की देन है। यही कारण है कि मध्यकालीन साहित्य में नाना मत-मतान्तरों और मतभेदों के होते हुये भी उपास्य के उपासक-जनित व्यक्तिगत सम्बन्ध के दर्शन के लिये ज्ञानचक्षु की अपेक्षा साहित्य का भावचक्षु अधिक सक्षम रहा है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि जायसी मुसलमान थे, इससे उनकी उपासना निराकारोपासना ही कही जायेगी। पर सूफी मत की ओर पूरी तरह झुकी होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की सी ही सहृदयता थी।[2] उनका यह विचार संभवतः केवल उपास्य की दृष्टि से विचार न करने के कारण हुआ था। दर्शन से पृथक् कर केवल उपास्य रूप की दृष्टि से देखने पर वह अनन्त सौंदर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त गुणों से सहज ही युक्त हो सकता है, क्योंकि उपास्य ब्रह्म मनुष्य की भावना का ब्रह्म है, मनुष्य के ज्ञान का नहीं। वह राम, रहीम, पद्मावती, बालकृष्ण, किशोर कृष्ण, चाहे जिस

---

१. भा० १, ३, ३२ में स्थूल के अतिरिक्त सूक्ष्म अव्यक्त रूप माना गया है, जो निर्गुण और आत्मरूप दोनों से सम्बद्ध है।

२. जायसी ग्रन्थावली, द्वितीय सं० पृ० १३०।

चरित्र से जोड़ दिया जाय वही है। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि मनुष्य अपनी भावना से जैसा उसका रूप सोचता है वैसा ही वह होता है। उन भावनाओं से परम्परा और संस्कार को दूर करना अत्यन्त कठिन है।

अतः सूफी साहित्य में ईश्वर के जिस रूप का वर्णन किया गया है वह केवल उनकी भावना का ही ईश्वर नहीं है, अपितु उसमें परम्परा और संस्कार का भी यथेष्ट योग है। जायसी आदि सूफी कवियों में इस्लामी और भारतीय दोनों तत्त्वों का स्वाभाविक समावेश हुआ है। जायसी के अनुसार जो ईश्वर अलख, अरूप और अवर्ण है वही कर्ता और सबका मान्य है। वह प्रकट गुप्त और सर्वव्यापी है। धरमी उसे पहचानते हैं किन्तु पापी नहीं।[1] इससे उसके उपास्य-रूप का भी आभास मिलता है क्योंकि भक्तों के भगवान् की तरह वह धरमी के द्वारा ज्ञेय है। उसके ऐश्वर्य रूप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जिस आदि ईश्वर का वर्णन किया गया है उसी का यह आदि-अन्त-रहित राज्य है।[2]

वही एकमात्र सर्वदा राज्य करता है। जिसे चाहता है उसे शासक बनाता है। कितने छत्रधारियों को छत्रहीन और छत्रहीनों को छत्रधारी बनाता है। कोई उसके सदृश नहीं है। वह पर्वत से धूल और चींटी से हाथी बनाने की सामर्थ्य रखता है।[3] वह वज्र को तिनका और तिनके को वज्र कर सकता है। वह अपनी स्वेच्छा से सब कुछ करता है—किसी को तो अनेक प्रकार की भोग की सामग्री प्रदान करता है, और किसी को अनेक प्रकार की यंत्रणा दे कर मार डालता है।[4] वही एकमात्र इस विश्व में ऐश्वर्यवान् है, जिसकी सम्पत्ति

---

१. जा० ग्र० शुक्ल पृ० ३ और गुप्त पृ० १२४।
अलख अरूप अवरन सो करता, वह सबसो सब ओहि सो वरता।
परगट गुपुत सो सरब बिआपी, धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी॥

२. जा० ग्र० शुक्ल पृ० ३
आदि एक बरणो सोइ राजा, आदि न अन्त राज जेहि छाजा।

३. सदा सरबदा राज करेई। और जेहि चहै राज तेहि देई।
छत्रहि अछत निछत्रहि छावा, दूसर नाहि जो सरवरि पावा।
परबत ढाह देख सब लोगू, चांटहि करै हस्ति सरिजोगू।
जा० ग्रं० पद्मावत, शुक्ल, पृ० ३, ६।

४. ताकर कीन्ह न जानै कोई, करै सोइ जो चित्र न होई।
काहू भोग भुगुति सुख सारा, काहू बहुत भूख दुख मारा।
जा० ग्र० पद्मावत, पृ० ३, ६।

नित्य देने पर भी घटती नहीं।[१] वह अन्तर्यामी रूप में घट-घट की बात से अवगत रहता है।[२] उसका कर्तृत्व अनन्त और असीम है।[३]

उपर्युक्त कर्तृत्व और सामर्थ्य के अतिरिक्त उसके अनन्त गुणों की चर्चा करते हुये कहते हैं कि इस प्रकार उसने अपने अनन्त गुण प्रकट किये हैं। फिर भी समुद्र में बूंद के सदृश वह कम नहीं हुआ।[४] उस निराकार ईश्वर में अभिव्यक्तिजनित अस्तित्व का भान होता है। वे पुनः स्पष्ट कहते हैं कि वह गोसाईं ईश्वर अनेक गुणों वाला है, जैसा वह चाहता है वैसा उसके द्वारा तुरत हो जाता है।[५]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है सूफियों का ईश्वर निराकार होते हुए भी निर्गुण और निष्क्रिय नहीं है, अपितु सगुण और सक्रिय इष्टदेव की भाँति स्रष्टा और पालक है।

निर्माण और प्राकट्य

सगुण रूप वर्जित होने के कारण निराकार अल्लाह सदैव इस्लामी और सूफी साधकों के सामने एक प्रश्न बन कर खड़ा रहा है। अवतारवाद के विरोधी होते हुए भी वे उसके दर्शन या 'साच्छात्कार' के लिए सदैव व्यग्र रहते हैं।[६] रूप उपेक्षित होते हुए भी वे विविध रूपों में उसका आभास या दर्शन करते हैं। यह स्थिति एक सामान्य साधक से लेकर पैगम्बर तक की रही है। निराकार ईश्वर इस्लामी पैगम्बरों के समक्ष भी सदैव एक प्रश्न बना रहा। जब मूसा खुदा का दर्शन करना चाहते हैं तो खुदा उत्तर देता है कि तुम मुझे नहीं देख सकते, किंतु मुहम्मद से खुदा स्वयं कहता है कि तुम मुझे देख सकते हो।[७] इस प्रकार विचित्र परिस्थितियों का दर्शन इस्लामी सम्प्रदायों में होता है।

---

१. धनपति उहै जेहिक संसारू। सबै देई निति, घट न भंडारू।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० २, ५।

२. काया मरम जान पै रोगी, भोगी रहै निचिंत।
सबकर मरम गोसाईं जान, जे घट घट रहै निंत। जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ९।

३. अति अपार करता कर करना, बरनि न कोई पावै बरना॥
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, १०।

४. ऐस कीन्ह सब गुन परगटा, अबहुं समुद मंह बुंद न घटा।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, १०।

५. बड़ गुनवंत गोसाईं चहै संवारे बेग। औ अस गुनी संवारे, जो गुन करै अनेग।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, १०।

६. सि० अ० इ० पृ० १८५। ७. अ० मा० पृ० ११८।

इसके मूल में पैठने पर इस्लामी अवतारवाद सम्बन्धी एक विचित्र रहस्य का उद्घाटन होता है। वह यह कि इस्लाम या सूफी सम्प्रदायों ने जिस हुलूल का विरोध किया है, उसका तात्पर्य सैद्धान्तिक अवतारवाद का द्योतक होने की अपेक्षा साम्प्रदायिक अधिक रहा है। निकोलसन के अनुसार मुस्लिम मस्तिष्क में 'हुलूल' का अर्थगत सम्बन्ध ईसाई अवतारवाद से था।[1] अतः ईसाई और मुस्लिम समाज में परस्पर वैमनस्य होने के कारण 'ईसाईयों में प्रचलित हुलूल की प्रवृत्ति का विरोध होना भी स्वाभाविक था। इसी से इस्लाम हुलूली प्रवृत्ति का विरोधकर्ता ही नहीं कट्टर शत्रु रहा है।

केवल साम्प्रदायिक विरोध होने के कारण ही सैद्धान्तिक दृष्टि से इस्लाम अवतारवाद की कतिपय प्रवृत्तियों की अवहेलना नहीं कर सका है। इतना अवश्य हुआ कि 'हुलूल' या हुलूल के पर्यायवाची अवतारपरक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ। किंतु फिर भी जिन निर्माण या प्राकट्यबोधक शब्दों का प्रयोग इस्लामी साहित्य में हुआ है वे अवतारवाद से पृथक् नहीं कहे जा सकते, क्योंकि निर्माण और प्राकट्य दोनों अवतार या जन्म के सदृश कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रखते हैं।

यह प्रयोजन भारतीय अवतारवादी ग्रंथ गीता में भी दृष्टिगत होता है। गीता ४।६ में (संभव) के अतिरिक्त गीता ४।७ में 'तदात्मानं सृजाम्यहं' का प्रयोग हुआ है।

इस्लाम के अल्लाह ने भारतीय ईश्वर के सदृश न तो गी० ४।५ के समान अनेक जन्म धारण किया है न गी० ४।९ की तुलना में वह कोई 'दिव्य जन्म' धारण करता है। किन्तु फिर भी वह निर्माण और प्राकट्य से पृथक् नहीं है। यही नहीं, सूफी साधक उसके मूर्त रूप पर भी विचारते हुए दिखाई पड़ते हैं। अकबर मुहीउद्दीन इब्न अल् अरबी ने लकड़ी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि लकड़ी का अपना रूप तो है ही, अन्य रूप भी उसी से निर्मित हुए हैं। किंतु इन रूपों का निर्विशेष रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह स्वयं इच्छा करता है और अपने को मूर्त रूप में व्यक्त करता है।[2]

इस प्रकार अपने निराकार किंतु मानवीय भावों से समाविष्ट ईश्वर को देखने की जिज्ञासा का विकास सूफी साधकों में विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होता रहा है। वे कभी फरिस्ता और कभी पैगम्बर की आत्माओं में उसका दर्शन किया करते हैं और कभी वहिस्त से उसकी आवाज सुनते हैं। कुछ हुलूली यदि उसके अवतरित रूप में विश्वास करते हैं तो कुछ उसको इन्तहाद या

---

१. आद० प० सू० पृ० ३० ।   २. सि० अ० इ० पृ० ५ ।

परिचय के रूप में जानते हैं। कुछ साधक प्रतीकात्मक संयोग या वस्ल के द्वारा उसके प्रेम का अनुभव करते हैं।[1] हिन्दू प्रवृत्तियों से प्रभावित अल् गज्जाली भी प्रकारान्तर से अवतारवाद या पैगम्बरवाद में विश्वास प्रकट करता है। उसके कथनानुसार असीम या अनन्त ईश्वर का ज्ञान कभी भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। अतः उसे कुछ पैगम्बरी या व्यक्तिगत अनुभूतिजनित रहस्यों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस विचारणा के अनुसार ईश्वर का प्रवृत्तिगत और गुणात्मक साम्य मनुष्य के स्वरूप और गुण से है। अतः मनुष्य के माध्यम से ही ईश्वर जाना जा सकता है।[2] सूफी अवतारवादी प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कथन बहुत युक्तिसंगत प्रतीत होता है; क्योंकि इस्लाम में अल्लाह के निर्मित या प्रकट जो रूप मिलते हैं उनमें पशु रूपों की अपेक्षा मानव रूप का अधिक प्राधान्य रहा है।

सूफी साधकों के अनुसार यों तो वह अरूप है फिर भी अनेक रूपों का आधार है।[3] उसने रहमान की मूर्ति के रूप में ही मनुष्य का निर्माण किया।[4] इस्लामी अवतारवाद में तत्कालीन कतिपय धर्मों का मिश्रित अवतारवादी रूप मिलता है: जैसे यहूदियों में जो यह परम्परा थी कि ईश्वर ने आदम का निर्माण अपने अंश से किया था, उसी का हदीस के माध्यम से इस्लाम में यह प्रचार किया गया कि खुदा ने भी मुहम्मद साहब को अपने अंश से बनाया था।[5] सामान्य रूप से इस्लाम में हकीकते मुहम्मदी केवल उसका ससीम, गोचर या सत्य रूप है, जिसके परे असीम और अनन्त ईश्वर विद्यमान है। ये मुहम्मद सांख्य-पुरुष के समानान्तर विदित होते हैं। अवतारवादी सम्प्रदायों में सांख्य-पुरुष के प्रथम अवतार के सदृश हकीकते मुहम्मदी के रूप में मुहम्मद प्रथम अवतार माने गए हैं: इन्हें भा० १, ३, ५ के पुरुष के समान अवतारों का अक्षय कोष बताया गया है।[6]

इब्न अल् अरबी ने अपने पदों में अल्लाह के अद्भुत रूपों में आविर्भूत होने की चर्चा की है।[7] इसकी पुष्टि इस्लामी साहित्य में प्रचलित कतिपय प्रसंगों से होती है। मूसा जो अग्नि की खोज में थे उन्होंने प्रज्वलित झाड़ी में उसकी आवाज सुनी थी। जब तक वह किसी रूप में अवतरित होता, मूसा वहाँ से चले गए। कुछ साधकों के सामने वह श्मश्रुहीन किशोर रूप में प्रकट

---

१. दी कनफे० अल् गज्जाली पृ० २८।
२. इ० इ० इ० क० ५६–६०।
३. सि० अ० इ० पृ० ५।
४. सि० अ० इ० पृ० ६।
५. स्ट० इस० मि० पृ० ७९।
६. सि० अ० इ० पृ० १९।
७. निकोलसन पृ० १४६।

होता है। शेख बहाउद्दीन नक्शबंदी के सामने वह अश्व (हयग्रीव के समानन्तर) रूप में प्रकट हुआ था। दिल्ली के खुशरू ने उसे निजामुद्दीन औलिया के रूप में देखा।[१] मुहम्मद साहब की पुत्री फातिमा ने मुहम्मद के रूप में ही खुदा को देखा था।[२] इस्लामी ईश्वर के प्रत्येक गुण और नाम किसी रूप में आविर्भूत होते हैं। शाहे आलम ने उसके जिस नाम को जपा वही नामात्मक गुण जलाल या जमाल, वही रूप वह हो गया। उसने कहा—अल्-जबार या अल्-कादर तो वह सचमुच सिंह और हाथी-रूप हो गया। उसके सभी शिष्य उससे दूर भाग गए। जब उसने कहा अल्-जामिल तो वह एक सुन्दर किशोर-रूप हो गया।[३] यहाँ इन साधकों के विश्वासों में आविर्भाव या अवतारवादी तत्त्वों की स्पष्ट गंध है। यों तो यह विश्वास उचित प्रतीत होता है कि मनुष्य जिस प्रकार का अपना हृदय बनाता है ईश्वर वैसा ही हो जाता है। मूसा जब तक दर्शन के योग्य नहीं होता तब तक वह केवल खुदा को सुन भर सकता था। जब वह (खुदा को) देखने योग्य होता है तभी पैगम्बर उसे देख पाते हैं।[४] एक ही खुदा कभी खुदा रहता है और वही कभी बंदा होता है।[५] खुदा अपने प्रथम आविर्भाव में अयन या दर्पण था। अतः वह उस दर्पण का पिता था। वह दर्पण अस्मा और सिफत के द्वारा पाला-पोसा गया। इर्शादत के अनुसार अव्यक्त से व्यक्त प्रकट होता है और अजन्मा जन्मा होता है।[६] प्रारम्भ में वह अल्लाह अकबर अत्यन्त गुह्य स्थान में था। वह एकाएक आदम का शरीर धारण कर प्रकट हुआ। यहाँ आदम के रूप में उसके अवतार-प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि सृष्टि में वह अपनी पूजा या अर्चना का दृश्य देखना चाहता था। अतएव शिकार के लिए वह आदम का रूप धारण कर प्रकट हुआ।[७]

इस प्रकार पैगम्बरों ने खुदा को साक्षात् तो नहीं देखा, किंतु जिस प्रकार का आभास उन्होंने पदार्थों और मनुष्यों में पाया है वह एक प्रकार का अवतारवादी रूप ही कहा जा सकता है। शिया सम्प्रदाय के इमामों के मानव-शरीर में ही अल्लाह के गुणों का आविर्भाव प्रचलित है। इस विश्वास पर ईसाई अवतारवाद का प्रभाव बताया जाता है।[८] इस्लाम के अवतारवादी सम्प्रदायों में इमाम केवल अवतार ही नहीं माने जाते अपितु पैगम्बरों के

---

१. सि० अ० ह० पृ० १८१।
२. सि० अ० ह० पृ० १८१।
३. सि० अ० ह० पृ० १७९।
४. सि० अ० ह० पृ० १८२।
५. सि० अ० ह० पृ० २३।
६. सि० अ० ह० पृ० ३४।
७. सि० अ० ह० पृ० ७२।
८. दी हेट्रो-शिया भा० २ पृ० १०१।

सदृश उनकी अवतार-परम्पराएँ भी चलती हैं। इस्माइली सम्प्रदाय का अबदुल्ला अपने को स्वयं इमामों का दैवी अवतार तथा पैगम्बर मानता था।[1]

इससे विदित होता है कि अल्लाह भी विभिन्न रूपों में अवतरित होता है। अवतारवादी सम्प्रदायों में पांचरात्र-विभवों के सदृश उसके असंख्य रूप माने गए हैं और कहा गया है कि उसके ससीम रूप की पूजा ही मूर्ति-पूजा है।[2] आदम, मुहम्मद, इमाम प्रभृति उसके अवतरित रूप हैं तथा इनकी भी अवतार-परम्पराएँ इस्लामी और सूफी सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। फिर भी इस्लामी अवतार-भावना की अपनी कोई मौलिक रूप-रेखा नहीं विदित होती, अपितु इस्लामी अवतारवाद बौद्ध, ईसाई, यहूदी, हिन्दू आदि धर्मों के अवतारवादी विचारों का मिश्रित रूप विदित होता है। एक ही ईश्वर ईसाई के लिए ईसा में और हिन्दुओं के लिए अवतार-रूप में प्रकट होता है। वही मुसलमानों के लिए मुहम्मद आदि पैगम्बरों में भी प्रकट होता है।

युगल रूप और किशोर-किशोरी रूप में प्राकट्य

उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त सूफी साधकों का यह परम विश्वास रहा है कि अल्लाह का अव्यक्त रूप जलाल है और व्यक्त रूप ही जमाल या सौन्दर्य रूप है।[3] यही नहीं प्रेम या खत्र से निर्गत एक अवतारवादी परम्परा भी इनमें प्रचलित है। उस परम्परा के अनुसार खत्र (प्रेम) से नूर, नूर से शेर, शेर से रूह, रूह से कल्ब और कल्ब से कालिब (शरीर) का अवतार माना गया है।[4] इस क्रम से सम्भवतः यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार अल्लाह का प्रेम क्रमशः अवतरित होकर शरीर में व्याप्त हो जाता है, क्योंकि अन्य स्थलों पर भी कहा गया है कि प्रेम अल्लाह की ओर से प्रेरित होता है और आलम उसका अनुभव करता है।[5] इस प्रकार सूफी साधना में प्रेमोपासना को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उस सर्वोत्तम प्रेमोपासना के आलम्बन प्रिया-प्रियतम हो सकते हैं या किशोर-किशोरी। इन सभी रूपों में अल्लाह की अभिव्यक्ति मानी गई है।

एक स्थल पर उसके युगल रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रथम ससीम रूप में वाजीब की ओर से प्रेम होने के कारण वाजीब (सनातन सत्ता) प्रेमी था और मुमकीन (सम्भावित सत्ता) उसकी प्रेमिका थी। दूसरे ससीम रूप में मुमकीन आविर्भूत हुआ और वह प्रेमी

---

१. हि० प० लि० 'ब्राउन' जी० १, पृ० ३३८।   २. सि० अ० इ० पृ० २८।
३. सि० अ० इ० पृ० १८। ४. सि० अ० इ० पृ० १९। ५. सि० अ० इ० पृ० २९।

हुआ तथा वाजीब उसकी प्रेमिका हुई।[1] यहाँ मुमकीन और वाजीब का सम्बन्ध राधा-कृष्ण, कृष्ण-राधावत् दृष्टिगोचर होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमोपासना में जिस प्रिया-प्रियतम भाव की आवश्यकता होती है वह सूफी सम्प्रदायों में भी विद्यमान था। कहा जाता है कि अरब में मनुष्य प्रेमी होता है और स्त्री उसकी प्रेमिका होती है। फारस में प्रायः दोनों प्रेमी-प्रेमिका होते हैं। इन दोनों व्यवहारों का प्रयोग सूफी उपास्य और उपासक में भी लक्षित होता है।

उपर्युक्त युगल रूप के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् किशोर और किशोरी रूप में अल्लाह का आविर्भाव भी मध्यकालीन सूफी साहित्य में मिलता है। सूफियों में कतिपय साधक अपने उपास्य अल्लाह को दाढ़ी-मूँछ-रहित किशोर के रूप में आविर्भूत मानते थे।[2] इनके मतानुसार अल्लाह अपने अन्यतम प्रेम की अभिव्यक्ति के निमित्त या तो किशोर हो सकता है या किशोरी। सूफियों के अनन्य प्रेम का आलम्बन अल्लाह का सौन्दर्य या जमाल है। जमाल या नूर की साकार अभिव्यक्ति या तो किशोर में हो सकती है या किशोरी में।[3] इसी से कुछ सूफी साधक किशोर को ईश्वर का प्रतीक मान कर उसकी उपासना करते हैं और कुछ पद्मावती के समान किशोरी को अपनी प्रेमाभक्ति का आलम्बन बनाते हैं। घनानन्द की सुजान नाम की युवती वेश्या और रसखान के बनिये का पुत्र तत्कालीन सूफियों में प्रचलित प्रवृत्ति के भी द्योतक कहे जा सकते हैं।

पर सूफी किशोर-किशोरी और भारतीय युगल-उपासना में अंतर यह है कि भारतीय माधुर्योपासक रसिक भक्त राधा-कृष्ण या जानकी-राघव की संयुक्त रूप से उपासना करते हैं, जबकि सूफी अल्लाह के किशोर या किशोरी में से किसी एक रूप के प्रति अनन्य भाव रखते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय युगल रूप में पुरुष और प्रकृति का दार्शनिक भाव बद्धमूल है। परन्तु सूफी किशोर उपास्य सम्भवतः इतिवृत्त की दृष्टि से यूनानी धर्म की किशोर-पूजा से गृहीत हुआ है, क्योंकि ग्रीस में किशोर प्रेम आदर्श प्रेम माना जाता है।[4] अतः यह सम्भव है कि फारसी साहित्य एवं सम्प्रदाय में ईश्वर का किशोर रूप ग्रीक परम्परा से प्रभावित हो।

भारतीय सूफी साधकों में भी किशोर प्रेम का साम्प्रदायिक रूप दृष्टिगोचर होता है। सुलतानबाहु नामक सूफी के विषय में कहा जाता है कि किशोर

१. सि० अ० इ० पृ० २७।
२. सि० अ० इ० पृ० १८१।
३. स्ट० इस० मि० पृ० २२२।
४. पा० सू० पो० पृ० १९।

काल में ही सुलतानबाहु के चेहरे पर एक ऐसी ज्योति थी कि उसे हिन्दू देखते ही मुसलमान हो जाते थे ।[१] इस कथन में किशोर भाव अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है ।

किशोर के अतिरिक्त सूफी साधकों में किशोरी को भी अल्लाह के जमाल का अवतार मानकर उपासना करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है । इस किशोरी उपासना की परम्परा को आदम तक खींचा जाता है । सम्भवतः अल्लाह ही सृष्टि के आरम्भ में आदम को ईव के रूप में दृष्टिगोचर हुआ था ।[२] इब्न अल् फरीद (१३वीं शती) के पदों के अनुसार वह (किशोरी) अपने अद्भुत सौन्दर्य से युक्त होकर प्रत्येक युग में अपने प्रेमी भक्तों के सामने प्रकट होती है ।[3]

भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों के रचयिता जायसी आदि सूफी कवियों ने अल्लाह के इसी जमाल रूप को पद्मावती आदि किशोरी या षोड़शी युवतियों में साकार देखने का प्रयास किया है । विशेषकर पद्मावती के नख-शिख-वर्णन में जो द्वाभा दृष्टिगत होती है उसमें एक ओर तो उसका ऐहिक सौन्दर्य है और दूसरी ओर अलंकारों के माध्यम से अल्लाह के जमाल की भी अलौकिक अभिव्यक्ति हुई है ।[४] यही दशा 'मधुमालती' के शृंगार खंड में वर्णित शृङ्गार की भी है । उस स्थल पर मधुमालती के माध्यम से ऐहिक और अलौकिक वर्णन साथ-साथ किए गये हैं ।

इससे स्पष्ट है कि सूफियों ने अपने जिस रति भाव का आलम्बन ईश्वर के बनाना चाहा था, वह यत्नसाध्य नहीं था । इसलिए उन्होंने रमणियों तथा किशोरों को अपने आध्यात्मिक प्रणय का प्रतीक माना । अतः उपर्युक्त प्राकट्य सगुणोपासकों के समानान्तर अवतारवादी प्रवृत्तियों के अनुरूप है ।

अवतार प्रयोजन

इस्लामी साहित्य में अवतारवाद का विरोध होने के कारण उसके अवतार-प्रयोजन की कोई चर्चा अपेक्षित नहीं थी । किन्तु जब अनायास उसके आविर्भाव के प्रसंग उपस्थित हुए, तब उसी क्रम में स्वाभाविक रूप से कतिपय अवतार-प्रयोजन भी दृष्टिगोचर होते हैं । इन प्रयोजनों की विशेषता यह है कि ये स्थानीय प्रभाव से युक्त होते हुए भी हिन्दू-अवतार-प्रयोजनों से कुछ अंशों में समानता रखते हैं ।

---

१. पा० सू० पो० २७ ।
२. स्ट० इस० मि० इ०.२२३ ।
३. स्ट० इ० मि० २२३ ।
४. पद्मावत-नख-शिख वर्णन खंड ।

'भागवत' के पुरुष के समान अल्लाह में भी स्वयं अभिव्यक्ति की इच्छा होती है। सूफी साधकों के कथनानुसार जब खुदा अपने को देखना चाहता है, तो उसे एक ऐसे दर्पण की आवश्यकता होती है जो एक ओर से स्वच्छ और दूसरी ओर से धुंधला या काला होता है। मनुष्य का हृदय एक ओर से निर्मल और दूसरी ओर से रंगीन या गंदा होता है। इसीसे मनुष्य के निर्मल भाग की ओर से मानव दर्पण में आविर्भूत होकर वह अपना प्रतिविम्ब देखता है।[1]

सम्भवतः हुलूल के प्रबल विरोध के कारण ही यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि भ्रम से इस कथन को कहीं हुलूल या अवतार न समझ लिया जाय। अतएव यह स्पष्टीकरण इस बात का द्योतक है कि यह प्रवृत्ति विशुद्ध अवतार-वाद यदि नहीं है तो भी उसके कुछ तत्त्वों से संवलित अवश्य है।

मध्यकाल में जिस प्रकार अवतारवाद का प्रमुख स्वर उपास्य भाव रहा है, वह इस युग के अल्लाह के साथ भी संयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि कुछ सूफी विचारकों के अनुसार अल्लाह सृष्टिकाल में उपासना के निमित्त अपने को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक नाम और रूप उसके वैशिष्ट्य की ही चर्चा करते हैं। इस प्रकार उसके उन्हीं नामों और रूपों की उपासना सृष्टि में होती रहती है।[2] यदि किसी कारणवश उसकी उपासना बंद हो जाती है तो वह अक्सर पुनः पूजा, प्रचार, मार्ग-दर्शन तथा दुष्टों को दंड देने के लिए और भक्तों को मोक्ष प्रदान करने के लिए पैगम्बरों को भेजता है।

उक्त प्रयोजन में उपास्यवादी साम्प्रदायिक अवतारवाद प्रतिभासित होता है। उसकी पूजा और आराधना सम्बन्धी इसी वैविध्य के कारण सूफी मत में अनेक प्रकार के सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं। इनमें मूर्ति-पूजक, प्रकृति-पूजक, दार्शनिक, द्वैतवादी, अग्नि-पूजक, भौतिकवादी नास्तिक, अब्राह्मण (अब्राहम से), यहूदी, ईसाई, इस्लामी इत्यादि विख्यात रहे हैं।

इस प्रकार अवतार-प्रयोजन साम्प्रदायिक वैषम्य के भी मुख्य कारणों में से रहा है।

फारसी मसनवी काव्यों में भी भारतीय महाकाव्यों के सदृश अल्लाह के अवतार के साथ उसके अवतार-प्रयोजन की रूपरेखा मिलती है। रूमी ने मसनवी में अल्लाह के अवतार-प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा है कि अल्लाह जो अत्यन्त क्षमाशील और करुणामय है, उसने पैगम्बरों को अपने लिए अर्थात् अपनी पूजा के निमित्त नहीं बल्कि अपने अनुग्रह के कारण भेजा।[3]

---

१. सि० अ० इ० पृ० ५९। २. स्ट० इस० मि० पृ० १३१

३. मसनवी 'रूमी' जी० १ पृ० ८१।

यों इस्लाम के कुछ विचारक तो यही मानते हैं कि मनुष्य को चेतावनी देने के लिए वह बार-बार पैगम्बरों को अवतरित करता है,[1] तथा मनुष्य मात्र को ही उसके अवतार-स्वरूप मानने वाले कुरान के आधार पर यह कहते हैं कि इनसान की रचना उसने अपनी सेवा के लिए की है।[2]

उपर्युक्त विवेचन में जिन विविध अवतारवादी प्रयोजनों का उल्लेख हुआ है वे प्रायः साम्प्रदायिक उपास्यवादी अवतारवाद के ही बोधक प्रतीत होते हैं। अन्य देशों में भी इस प्रवृत्ति का विशेष प्रचार रहा है। अतः ये मध्य-कालीन युग की विशिष्ट धारणाओं के अन्तर्गत गृहीत हो सकते हैं।

लीलात्मक प्रयोजन

पौराणिक अवतारवाद का एक मुख्य परवर्ती प्रयोजन लीलात्मक भी रहा है, जिसका सर्वाधिक विस्तार मध्यकालीन भक्ति-काव्यों में हुआ है। कुछ अवतार-समर्थक सूफियों में अल्लाह का लीलात्मक प्रयोजन भी दृष्टिगोचर होता है। उनके मतानुसार ईश्वर जब अकेला था तो वह केवल अपने को प्यार करता था और स्वयं ही अपने द्वारा प्यार किया जाता था और प्रशंसित होता था। उपनिषदों के शब्दों में वह 'रसो वै सः' था। यह उसके रस या प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति थी, जब उसने एक से बहुत होने का निश्चय किया। उसने अपने गुणों और नामों को व्यक्त किया। उनमें उसने अपने दिव्य चरमानन्द की विविध सत्ताओं को नियोजित किया। उसने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए सनातन सत्ता से एक मूर्त्ति प्रकट की। वह उसकी ही मूर्त्ति थी, जिसमें उसके गुण और नाम की अभिव्यक्ति हुयी थी। उसका नाम था—आदम, उसी से उसने हौवा का निर्माण किया।[3]

इस कथा में भारतीय परम्परा के समानान्तर उसके लीलात्मक रूप का परिचय मिलता है। आगमों के सदृश एक से दो होने की प्रवृत्ति एक अन्य प्रसंग में भी दीख पड़ती है। इस प्रसंग के अनुसार अल्लाह का जमाल सृष्टि के आरंभ में 'ईव'—किशोरी के रूप में दृष्टिगत हुआ था।[4] जिस प्रकार उपनिषदों की अभिव्यक्तिपरक कथाओं में ईश्वर का प्रारम्भिक लीलात्मक प्रयोजन अन्तर्निहित है, उसी प्रकार उक्त सूफी कथाओं में भी उसके लीलात्मक रूप का विकास जान पड़ता है। पर भारत के परवर्ती सूफी कवियों पर मध्यकालीन लीलावतार का व्यापक प्रभाव दीख पड़ता है। भागवत में जिस

१. इ० इ० इ० क्रo ५६।
२. हुज्वीरी पृ० २६७।
३. आइ० प० सू० पृ० २९।
४. स्ट० इस० मि० २२३।

प्रकार श्रीकृष्ण की लीला को नटवत् कहा गया है[1], उसी प्रकार शेख निसार भी कहते हैं कि वह (अल्लाह) नट के सदृश अनेक प्रकार की लीलाएँ किया करता है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस्लाम या सूफी अल्लाह में हुलूल के प्रति विरोध की जो भावना है वह साम्प्रदायिक कट्टरता का परिणाम है। क्योंकि एक ओर तो हुलूल का विरोध किया गया और दूसरी ओर निर्माण, प्राकट्य इत्यादि के रूप में पुनः उसके आविर्भूत रूप का ही विस्तार हुआ है, क्योंकि उसके आविर्भाव के साथ उपर्युक्त विविध अवतार-प्रयोजन उसके परम्परानुमोदित अवतार-रूप की ही पुष्टि करते हैं। इन सभी प्रयोजनों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय प्रभाव भी अवश्य पड़ता रहा है।

सृष्टि अवतारक

जायसी आदि सूफी कवियों ने अल्लाह या ईश्वर के वैयक्तिक अवतार का अधिक उल्लेख नहीं किया है। इसका मुख्य कारण अवतारवाद के स्थान में पैगम्बरवाद का प्राधान्य होना है। मध्यकाल में अवतारवाद और पैगम्बरवाद के जो रूप मिलते हैं, उनमें केवल एकेश्वर या उपास्य के वैयक्तिक आविर्भाव को लेकर मतभेद दिखाई पड़ता है। क्योंकि अवतारवाद में सामान्यतः जहाँ अंश, कला, या पूर्ण रूप में ईश्वर स्वयं अवतरित होता है,[3] वहाँ पैगम्बरवाद में वह स्वयं न जा कर अपना दूत बनाकर रसूलों या पैगम्बरों को भेजा करता है। फिर भी पैगम्बरी पद्धति में उसके पूर्ण अवतारत्व का भान भले ही न हो, परन्तु ज्योति-अंश या कला-अंश के रूप में उसके अवतरित होने का अवश्य पता चलता है[4] जो अंशावतार की कोटि में गृहीत हो सकता है। साथ ही आदम के रूप में उसके स्वयं अवतार का भी आभास मिलता है।[5]

इस्लामी और सूफी साहित्य में उसके सृष्टि-अवतारक रूप का विविध रूपों में उल्लेख होता रहा है। सूफी साधकों के अनुसार खुदा ने अंधकार में

---

१. भा० १, १, २०।

२. 'शेखनिसार' यूसुफ जुलेखा–सब महं आप सु खेले खेला। नट नाटक चाटक जस मेला।

३. 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' या 'सम्भवाम्यात्ममायया' से स्पष्ट है। गीता ४, ७।

४. जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ११

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पुनौं करा।

५. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३०८

खा खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा।

सृष्टि की रचना की।[1] कुछ लोग मुहम्मद साहब के विश्वात्मक रूप को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि यद्यपि मुहम्मद स्थूल शरीर में थे किंतु उनका सत्य अखिल सृष्टि का सत्य था।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार खुदा स्वयं ही आलम के रूप में आविर्भूत होता है। उसका वह रूप 'कमालए अज्माए' कहा जाता है। वह सनातन में सनातन और नश्वर में नश्वर है।[3] फारसी सूफी कवियों का कथन है कि उसने सृष्टि का निर्माण इसलिए किया जिसमें वह जाना जा सके।[4] इस प्रकार भारतीय सृष्टि अवतारपरम्परा के सदृश इस्लामी सृष्टि का विस्तार भी ईश्वरवादी रहा है। भारतीय विभूतिवाद के अनुरूप अल्लाह ने भी चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य लोकों का निर्माण अपने विभिन्न गुणों और शक्तियों से किया था।[5]

परन्तु भारतीय सूफी साहित्य में सृष्टि अवतरण का जहाँ वर्णन हुआ है उसमें मुख्य रूप से ईश्वर तटस्थ निर्माता और कर्ता है।[6] उसका सृष्टि के साथ कुम्हार और कुम्भ का संबंध प्रतीत होता है,[7] क्योंकि 'भागवत' में प्रचलित 'जगृहे पौरुषं रूपम्' के सदृश वह स्वयं सृष्टि या सृष्टि के विभिन्न उपादानों का रूप धारण नहीं करता। यद्यपि इसका मूल कारण उसका अलख और निराकार होना है परन्तु यथार्थ में वह कर्त्ता के रूप में पूर्णतः साकार विदित होता है।

इसका समाधान इस्लामी परम्परा में ज्योति-ज्योतिर्मय द्वारा किया गया है[8] जो भारतीय प्रतिविम्बवाद का एक रूप प्रतीत होता है। ज्योति का विलक्षण संबंध जायसी ने पुरुष से स्थापित किया है। वह पुरुष अन्य कोई नहीं, स्वयं मुहम्मद साहब हैं। उसने उनकी प्रीतिवश सृष्टि उत्पन्न की और

---

१. सि० अ० इ० पृ० १९। २. सि० अ० इ० पृ० २०।
३. सि० अ० इ० पृ० ३०। ४. हि० प० लि० जी० १ पृ० ४४०।
५. स्ट० इस० मि० पृ० १२२।
६. जायसी द्वारा प्रयुक्त 'किन्हेसि' शब्द से प्रतीत होता है। जैसे—
किन्हेसि अगिनि पवन, जलखेहा, कीन्हेसि बहुतै संगउरेहा।
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू, कीन्हेसि बरन बरन औतारू॥
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० १, १।
७. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३०७
एक चाक सब पिंडा चढ़े भांति भांति के भांडा गढै।
८. जा० ग्र० पद्मावत पृ० १, १
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू।

सृष्टि का मार्ग आलोकित करने के लिए दीपकस्वरूप विश्व में भेजा।[1] यहाँ सृष्टि-अवतरण का प्रयोजन उसकी इच्छा के स्थान में पैगम्बर की प्रीति विदित होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सगुण साहित्य में विरल है। 'भागवत' में सृष्टि के पूर्व जिस पुरुष का अस्तित्व माना गया है, वह स्वयं सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त एवं आद्यावतार है, किन्तु उस पुरुष की सृष्टिरूपात्मक अभिव्यक्ति का प्रयोजन उसकी लीलात्मक भावना या जिज्ञासा है। फिर भी सगुणोपासकों में उपास्य से जहाँ भक्त और भगवान् का सेवक-सेव्य संबंध है, वहाँ भक्त के लिए भक्त-भगवान दोनों रूपों में सारी लीलायें वह स्वयं करता है।

इस दृष्टि से जायसी की 'अखरावट' में और 'भागवत' में निहित सृष्टि-अवतरण में बहुत साम्य लक्षित होता है। यद्यपि दोनों दो परम्पराओं से गृहीत हुयी हैं, फिर भी जायसी तत्कालीन भागवत आदि पुराणों से प्रभावित हो सकते हैं। 'अखरावट' के अनुसार जब आकाश नहीं था, चाँद-सूर्य नहीं थे। केवल चारों ओर अन्धकार था, उस समय मुहम्मद रूपी नूर या ज्योति की रचना हुई।[2] 'भागवत' के 'विराट पुरुष' के सदृश मुहम्मद के रूप में वह स्वयं आविर्भूत हुआ,[3] क्योंकि पुनः कहा गया है कि वे आदि ईश्वर के आदेश से शून्य से स्थूल हुये। महत्तत्त्व आदि मुहम्मद के परिच्छिन्न रूप में वही प्रकट हुआ।[4] इसके अतिरिक्त आदम के रूप में उसके स्वयं अवतार का भी दो स्थलों पर उल्लेख किया गया है।[5] द्वितीय स्थल पर तो स्पष्ट कहा गया है कि वह अपनी लीला सृष्टि के निमित्त स्वयं आदम के रूप में अवतरित हुआ।[6] अतः मुहम्मद या आदम का अवतार सृष्टि-अवतरण के क्रम में विराट पुरुष और आत्म रूप के समानान्तर प्रतीत होता है। इसका स्पष्ट आभास जायसी द्वारा

---

१. कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पुनौकरा।
प्रथम जोति विधि ताकर साजी, औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ११।

२. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३०३, ऐसइ अंधकूप महँ रचा मुहम्मद नूर।
भा० ३, ६, १० में भी तेज से विराट पुरुष को प्रकाशित किया।

३. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३०४, तहां पाप नहीं पुन्न, मुहमद आपुहि आपु महं।
भा० २, ६, ४१ आद्यावतारः पुरुषः परस्य।

४. आदि कियेउ आदेस, सुन्नहि ते स्थूल भए।
आपु करै सब भेस, मुहम्मद चादर ओट जेउं। जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३०८।

५. जा० ग्र० अखरावट पृ० ३०८, उहै रूप आदम अवतरा।

६. खा खेलन और खेल पसारा, कठिन खेल और खेलन हारा।
आपुहि आप चाह देखावा, आदम रूप भेस धरि आवा।
जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३३०।

प्रस्तुत एक उदाहरण में मिलता है। जायसी कहते हैं कि एक कौतुक देखिये कि वृक्ष ही बीज में समा गया है। शुक्ल जी की इस पर टीका इस प्रकार है— सारा संसार-वृक्ष बीज रूपी ब्रह्म में ही अव्यक्त भाव से निहित रहता है और वह बीज आप अपने को जमाता है और फल-भोक्ता भी आप ही होता है।[1] यह उक्ति 'भागवत' के उस 'पुरुष' या 'विराट पुरुष' की कल्पना से अधिक भिन्न नहीं विदित होती जो एक से बहुत होने की इच्छा करता है।[2] वह ज्योति-रूप से पुरुष को जाग्रत करता है और उसी ज्योति-रूप में समस्त विश्व को प्रकाशित करता है।[3] वह सभी प्राणियों में स्वयं उत्पन्न होता है[4] और अंत में सारी लीलाओं को अपने में लय कर लेने के बाद स्वयं बच रहता है।[5]

अतः जायसी ने उसके जागतिक या विश्वरूपात्मक अवतार को ही माना है। इस अभिव्यक्ति का प्रयोजन इनके मतानुसार मुहम्मद की प्रीति है। परन्तु उसके साथ ही उसकी अपनी इच्छा भी है।[6] वे ईश्वर के इस अभिव्यक्त विश्वरूपात्मक अवतारवाद को स्वीकार करते हैं पर उसके वैयक्तिक अवतार को नहीं। इसी अवतारवाद से परिचित होने के लिए वे दूसरों से अनुरोध भी करते हैं।[7]

---

१. देखहु कौतुक आइ, रूख समाना बीज महँ।
आपुहि खोदि जगाइ, मुहम्मद सो फल चाखई। जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३११।

२. आदि हुते जो आदि गोसाईं, जेइ सब खेल रचा दुनिआईं।
जस खेलेसि तस जाइ न कहा, चौदह भुवन पूरि सब रहा।
एक अकेल न दूसर जाती, उपजे सहस अठारह भांती।
भा० २, ५, ११, जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३०३।

३. (क) तब भा पुनि अङ्कुर, सिरजा दीपक निरमला।
रचा मुहम्मद नूर, जात रहा उजियार होइ।
भा० ३, ६, २० और भा० २, ६, १६ जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३०४।
(ख) चित्रावली पृ० ५
वही ज्योति पुनि किरिन पसारी किरिन किरिन सब सृष्टि संवारी।

४. जो उतपति उपराजै चहा, आपनि प्रभुता आप सों कहा।
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा, बरसा सहस अठारह बुंदा।
सोई अंस घटे घट मेला, जो सोइ बरन बरन होइ खेला।
भा० १, ८, ३०, जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३०५।

५. भा० २, ९, ३२।

६. आपुहि आपु जो देखै चहा, आपनि प्रभुता आप सों कहा।
जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३१७।

७. जेइ अवतरि उन्ह कहँ नहि चीन्हा, तेइ यह जनम अबिरथा कीन्हा।
जा० ग्रं०, अखरावट पृ० ३१७।

पैगम्बर

किसी धर्म का प्रवर्तक वही व्यक्ति होता है जो अपनी आध्यात्मिक साधना या चिन्तन को समाज में व्यक्त करता है। वह अपनी दैवी शक्ति को खुले हाथों समाज में खर्च करता है। इस्लाम धर्म में प्रवर्तक से ही मिलते-जुलते धर्म के प्रादुर्भावक जो व्यक्ति होते हैं, उन्हें पैगम्बर के नाम से अभिहित किया जाता है। यदि समस्त रूप में देखा जाय तो जहाँ तक साम्प्रदायिक धर्मों के उद्भव और विकास का प्रश्न है वहाँ प्रौफेट, पैगम्बर और प्रवर्तक समान कोटि में आते हैं। प्रायः तीनों किसी न किसी नये मत के प्रतिपादक के रूप में विख्यात होते हैं। तत्पश्चात् संत, पुरोहित, धर्म प्रवक्ता या सुधारक उन्हीं धर्मों के प्रचार में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। इन मतों के प्रचार के साथ-साथ इनकी मूर्ति या स्मृति पूजा किसी न किसी रूप में प्रचलित हो जाती है। ये जिस ईश्वर का प्रचार करते हैं, उसी के अवतार या निर्मित दूत के रूप में समाज में स्थान पाते हैं। बाद में इनके भक्तों में ज्यों ज्यों श्रद्धा-भावना का विकास होता है, त्यों-त्यों इनके जीवन में जनश्रुतिपरक असाधारण घटनाओं का समावेश हो जाता है; जिसके फलस्वरूप बुद्ध यदि बिना नाव के नदी पार कर लेते हैं, तो जेसस क्राइस्ट समुद्र में टहल लेते हैं और मुहम्मद आकाश मार्ग से यात्रा करते हैं।[१] बहुतों का जन्म भी कुमारियों के द्वारा अज्ञात रूप से ईसा या कबीर के समान माना जाने लगता है। इनकी सहायता, रक्षा, कृपा या आशीर्वाद संबन्धी सभी कार्यों में दैवी तत्त्व पाया जाता है। कृष्ण द्रौपदी की हाँड़ी का शाक खाकर दुर्वासा आदि का पेट भर देते हैं। तो राम अहल्या को पत्थर से स्त्री बना देते हैं। इसी प्रकार गोरखनाथ आदि सिद्धों तथा कबीर या नानक आदि संतों में उपर्युक्त प्रकार की अनेक कथायें प्रचलित हैं, तथा मुहम्मद ईसा आदि पैगम्बरों से सम्बन्धित अनेक कथायें मिलती हैं। यही नहीं—शंकर, रामानुज आदि आचार्यों के नाम से भी संबंधित अनेक दैवी जनश्रुतियाँ मिलती हैं। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रवर्तक बुद्ध और ऋषभ भी बाद में चलकर अवतार के रूप में गृहीत हुये।

हिन्दू अवतारवाद और पैगम्बरवाद

इस्लामी पैगम्बरवाद में 'सम्भवामि युगे-युगे' की भावना विद्यमान है। क्योंकि इस्लाम में भी यह धारणा प्रचलित है कि प्रत्येक युग में पैगम्बर

---

१. भट्टाचार्य-फाउन्डेशन्स आफ लिभिग फेथ, पृ० ४१।

पूर्ण मानव रूप में प्रकट होता है। उसके प्राकट्य का प्रयोजन अपने सत्-पथ का परिष्कार करना है।[1] पैगम्बरी अवतार-परम्परा का यह रूप केवल मुहम्मद से ही नहीं शुरू होता बल्कि सर्वप्रथम खुदा ने आदम के नफ्स का निर्माण किया तदनन्तर उसी की अनुकृति-स्वरूप मुहम्मद का नफ्स भी बनाया।[2] इस उक्ति में आदम से लेकर मुहम्मद तक पैगम्बरों की एक अवतार-परम्परा स्पष्ट विदित होती है।

किन्तु हिन्दू अवतरण और इस्लामी निर्माण में अंतर केवल इतना ही है कि हिन्दू अवतारवाद अवतार-रूप में ईश्वर के जन्म को स्वीकार करता है और इस्लामी पैगम्बरवाद हुलूल या जन्म-विरोधी होने के कारण अल्लाह का जन्म नहीं स्वीकार करता। फिर भी इस्लामी सम्प्रदायों में प्रकारान्तर से अवतार से साम्य रखने वाले 'निर्माण', 'प्राकट्य' और 'प्रतिरूप' शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। शेख शहाबुद्दीन के अनुसार अल्लाह ने अपने स्वरूप से आदम का निर्माण किया। इन्होंने आदम को ब्रह्मा का प्रतिरूप माना है।[3] संभवतः मुहम्मद को भी अवतार-दोष से बचाने के लिए मुसलमान साधक कहा करते हैं कि मुहम्मद अल्लाह के अवतार नहीं बल्कि उसके प्रतिरूप हैं।[4] इस प्रतिरूपता में आवरण का छद्म वेष लक्षित होता है। अतः सम्भव है कि हिन्दू अवतारवाद की माया या आवरण जैसी कल्पना के अभाव में मुस्लिम चिन्तकों ने प्रतिरूपता या समकक्षता का सहारा लिया हो, क्योंकि पैगम्बर ईश्वर का प्रतिरूप कैसे है, इसका तार्किक समाधान उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि पैगम्बर 'मीम' अक्षर से युक्त होने के कारण अहमद (ससीम) है और 'मीम' रहित होने पर वह अहद (असीम) हो जाता है।[5] यहाँ 'मीम' जैसे माध्यम को माया या आवरण का बोधक भी माना जा सकता है। कुछ हदीसों के आधार पर इस्लाम में पूर्णावतार के सदृश पूर्ण आविर्भाव माना गया है; वहदत से लेकर आजम तक सभी आविर्भावों में वह 'खातुम' या 'खातिम' कहा गया है।[6]

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम में अवतार-विरोध की भावना होते हुए भी ऐसे अनेक अवतार-तत्त्व मिलते हैं जिनका हिन्दू अवतारवाद से अत्यधिक साम्य है।

---

१. स्ट० इस० मि० पृ० १०६। २. स्ट० इस० मि० पृ० ११९, कु० २, सू० ४८।
३. अ० मा० पृ० १२५। ४. स्ट० इस० मि० पृ० ८७।
५. सि० अ० इ० पृ० ७३। ६. सि० अ० इ० पृ० ८३।

बोधिसत्त्ववाद और पैगम्बरवाद

हिन्दू अवतारवाद के अनन्तर बौद्ध बोधिसत्त्व या बौद्ध अवतारवाद का भी व्यापक प्रभाव पैगम्बर मत पर देखा जा सकता है। विशेषकर महायान में जिस प्रकार बुद्ध को महाकरुणा से युक्त माना जाता है,[1] उसी प्रकार इस्लाम का अल्लाह भी अत्यन्त क्षमाशील और सृष्टि के प्राणियों के प्रति करुणा से आपूरित है। 'अल्‌रहमान' (करुणामय) उसका वह रूप है जिसके अनुसार व्यक्त होकर वह जीवों पर कृपा करता है।[2] इस प्रकार एक ओर करुणा की दृष्टि से दोनों धर्मों के उपास्य बुद्ध और अल्लाह में यथेष्ट साम्य दृष्टिगोचर होता है और दूसरी ओर बोधिसत्त्व और पैगम्बर भी परंपरा, आविर्भाव और कार्य की दृष्टि से परस्पर निकट प्रतीत होते हैं। शेख शहाबुद्दीन के अनुसार पैगम्बर वे हैं जो महायानी बोधिसत्त्वों के सदृश निर्वाण प्राप्त करने या सिद्ध होने के बाद जन-कल्याण के लिये ईश्वर द्वारा पृथ्वी पर भेजे जाते हैं।[3] इनके प्रयोजनों में बौद्ध अवतारवाद के तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। ठीक पैगम्बरों के विपरीत हीनयानी प्रत्येक बुद्धों के सदृश शेख वे हैं जो साधन की सिद्धि के उपरान्त ईश्वर में लीन हो जाते हैं या निर्वाण प्राप्त कर बुद्ध हो जाते हैं। निर्वाण के उपरान्त महाकरुणा से द्रवित होकर 'बहुजनहिताय' कार्य करने की भावना इनमें नहीं होती। अतः शेख और प्रत्येक बुद्ध दोनों 'स्वान्तः-सुखाय' साधक प्रतीत होते हैं। किन्तु बोधिसत्त्वों के समान पैगम्बर सिद्ध या 'इनसानुलामिल' होने के उपरान्त जन-कल्याण किया करते हैं। जिस प्रकार बौद्ध-धर्म में अतीत, वर्तमान और अनागत बुद्धों के रूप में तीनों कालों में बोधिसत्त्वों की स्थिति मानी गई है, उसी प्रकार सूफी साधकों ने भी पैगम्बरों का त्रैकालिक अस्तित्व स्वीकार किया है।[4]

इस प्रकार इस्लामी पैगम्बरों पर बौद्ध बोधिसत्त्वों के अवतार-कार्य का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है।

उपर्युक्त सभी पैगम्बरों के मूल में धर्म-शिक्षा या धर्म-संदेश की भावना लक्षित होती है जिसके फलस्वरूप उनमें अवतारवादी भावना का समावेश होता है।[5]

कुरान में पैगम्बर

इस्लाम धर्म में जिस पैगम्बर की कल्पना की गई है वह प्रथम या सर्व-

१. बौद्ध धर्म और दर्शन पृ० १०६। २. स्ट० इस० मि० पृ० ९९।
३. अ० भा० पृ० १३३। ४. सू० सा० सा० पृ० ३५१।
५. भट्टाचार्य पृ० १४७।

व्यक्ति रहे हैं। 'कुरान' के एक सूरा में कहा गया है कि हमने तुम्हारे पास उसी तरह अपना वही ईश्वरीय आदेश भेजा है जिस तरह नूह और उनके बाद वाले इब्राहिम, इस्माइल, इसहाक, याकूव और उनके वंशजों ने ईसा, अय्यूब, युनुस, हारून, सुलेमान आदि के पास भेजा था और जिस तरह हमने दाऊद को जबूर प्रदान की थी। इनके सिवा और भी पैगम्बर हुये हैं जिनमें से कुछ का हाल हम तुम्हें सुना चुके हैं और कुछ का नहीं। पुनः दूसरे सूरा में उनका उल्लेख करते हुये इस्लाम के पैगम्बर से कहा गया है कि ये वे लोग हैं जिनको परमात्मा ने सत्य का मार्ग दिखाया।[१]

इससे स्पष्ट है कि 'कुरान' का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उसमें अन्य धर्मों और मतावलम्बियों को समाविष्ट करने की सहज प्रवृत्ति थी। यथार्थ में यह प्रवृत्ति अवतारवादी समन्वयात्मक पद्धति के अत्यन्त निकट विदित होती है। भागवत २, ७ में जिन २४ अवतारों का उल्लेख हुआ है उनमें पौराणिक अवतारों को छोड़कर अधिकांश वे बुद्ध, ऋषभ, कृष्ण, कपिल, दत्तात्रेय आदि महापुरुष हैं जो विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के प्रवर्तक रहे हैं।

बाद में चलकर इस्लाम में इस व्यापक प्रवृत्ति का अभाव हो गया, क्योंकि बाद में होने वाले प्रवर्त्तकों में केवल इस्लाम के ही धार्मिक नेताओं को सम्मिलित किया गया। इस्लामी साहित्य में पैगम्बरों और रसूलों की उक्त परम्परा कहीं सात या कहीं बारह, विभिन्न संख्या में मिलती है। इसके अतिरिक्त आदम, नूह, अब्राहम, मूसा, क्राइष्ट, मुहम्मद अंतिम पैगम्बर इस्माइल के पुत्र, मुहम्मद हबीब का सात सहकर्मियों से भी संबंध स्थापित किया गया। वे क्रमशः आदम के सेठ, नूह के शर्म, अब्राहम के इस्माइल, मूसा के अरो, जेसस के साइमन सूफ और मुहम्मद साहब के अली आदि सहायक के रूप में प्रसिद्ध हैं।[२]

सूफी सम्प्रदाय में अहमद फारुखी के कयुमियत के अनुसार पैगम्बरों या प्रवर्तकों को इंसान कामिल या पूर्णतम मानव के रूप में मानने की प्रवृत्ति प्रचलित है। कयूम परमेश्वर का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। फारुखी के अनुसार उनके शरीर की रचना मुहम्मद साहब के द्वारा बची हुई सामग्री से हुई थी और स्वयं रसूल ने इन्हें नौ नबियों की कोटि में गिना था जो नूर, इब्राहिम, दाऊद, जेकब, युसुफ, जौब, मूसा, ईसा और मुहम्मद के नाम से प्रसिद्ध हैं। अलौकिक शक्ति से युक्त होने के कारण इन्हें उल्ले आजम भी

१. कुरान और धार्मिक मतभेद पृ० ७४ सू० ४.आ० १६३ और सू० ६ आ० ९०।
२. दी एस्टडिज इन इस्लाम पृ० ९०।

कहा जाता है।[1] कालान्तर में इनका दैवीकरण पूर्ण रूप से हो गया तथा रसूल, पैगम्बर, प्रोफेट आदि के रूपों में नवीन वैशिष्ट्यों की उद्भावना की गई।[2]

पैगम्बर मुहम्मद साहब

अल्लाह के अन्दर इस्लाम में पैगम्बर मुहम्मद साहब दूसरे व्यक्ति थे जिनके माध्यम से इस्लाम और सूफी सम्प्रदायों में कतिपय अवतारवादी और उपास्यवादी विचारों का प्रचार हुआ। यद्यपि मुहम्मद साहब का शरीर स्थूल था फिर भी साम्प्रदायिक रूप में उनका सत्य अखिल विश्व का सत्य माना गया। एक हदीश के अनुसार उनका कथन है कि मैं खुदा का नूर हूँ और सारी सृष्टि हमारी ज्योति है। यहाँ नूर-मुहम्मदी ईश्वरीय ज्योति का परिवर्तित रूप है।[3] इब्न हाशिम (८३४ ई०) की कविता के अनुसार मुहम्मद पैगम्बर अल्लाह के दूत कहे गये हैं। अल्लाह ने इन्हें अपना रूप प्रदान किया और पैगम्बर रूप में चतुर्दिक यात्रा करने का आदेश दिया। जिब्राइल ने आकर वह अनुग्रह इन्हें प्रदान किया।[4] इस उक्ति से मुहम्मद साहब के अवतारवादी रूप की ही पुष्टि होती है। एक दूसरी उक्ति में उनके अवतारवादी दिव्यत्व का भी आभास मिलता है। वे कहा करते थे कि जिसने मुझे देखा है उसने खुदा को देखा है।[5]

मुहम्मद अवतारों के मूल स्रोत

सूफियों के अवतारवादी संप्रदायों में मुहम्मद साहब को हकीकते मुहम्मदी के रूप में 'पुरुष नारायण' के सदृश प्रथम अवतार तथा अन्य सभी अवतारों या आविर्भावों का मूल स्रोत कहा गया है।[6] इनकी यह अवतार-परम्परा चार प्रकार की है। इनमें प्रथम है अखिल विश्व जो इनकी प्रथम ज्योति या नूर से उत्पन्न है। द्वितीय आविर्भावों में सभी वली या संत हैं। तृतीय कोटि में फरिश्ते तथा चतुर्थ कोटि में वीर्य से उत्पन्न उनके वंशज कहे जाते हैं।[7] अतएव मुहम्मद केवल अल्लाह के अवतार ही नहीं अपितु नारायण के सदृश अवतारों के मूल स्रोत या अवतारी भी हैं जिनसे अवतारवादी इस्लामी या सूफी संप्रदायों में अनेक प्रकार की अवतार-परम्पराओं का प्रचार हुआ।

---

१. सूफी काव्य संग्रह पृ० ४५।
२. दी मुसलीम क्रीड पृ० २०४।
३. सि० अ० इ० पृ० २० और पृ० २९।
४. ट्रा० इ० पो० प्रो० पृ० ३७-३९।
५. सि० अ० इ० पृ० १६०।
६. सि० अ० इ० पृ० १९।
७. सि० अ० इ० पृ० २०।

उपास्य मुहम्मद साहब

जीली के कथनानुसार समय के अनुरूप मुहम्मद साहब भी सम्भवतः अपने उपासकों के निमित्त विविध वेष धारण किया करते हैं। जीली को उसके शेख के रूप में स्वयं मुहम्मद साहब ने ही दर्शन दिया था।[1] इससे विदित होता है कि मध्यकालीन राम, कृष्ण आदि उपास्यों की भांति मुहम्मद साहब भी काल-क्रम से अवतारवादी इस्लामी और सूफी संप्रदायों में क्रमशः अवतार, अवतारी और अन्त में उपास्य-रूप में प्रचलित हुए। जीली शेख के रूप में जिस मुहम्मद का दर्शन करता है, वहाँ वे पैगम्बर की अपेक्षा उपास्य अधिक प्रतीत होते हैं।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आलोच्यकाल से पूर्व ही मुहम्मद साहब एवं उनके सहकारियों का संदेशवाहक या पैगम्बर-पक्ष गौण होता गया और अंशावतार से विकसित पूर्णावतारों के सदृश वे स्वतः रसूल अल्लाह के रूप में मान्य हुये। भारतीय सूफी साहित्य में उनके जिस रूप का वर्णन हुआ है, उसमें एक ओर तो वे अल्लाह की ज्योति के अवतार हैं और दूसरी ओर कतिपय स्थलों पर उनके उपास्य-रूप का भी परिचय मिलता है।

भारतीय सूफी काव्यों में मुहम्मद साहब

सूफी साहित्य में सामान्यतः मुहम्मद साहब को आदि पुरुष की प्रथम ज्योति से अभिहित किया गया है। जायसी के कथनानुसार परमात्मा ने पूर्ण ज्योति के कला या अंश-रूप में पुरुष का निर्माण किया।[2] उन्हीं की प्रीतिवश रचे हुये संसार में ईश्वर ने उन्हें विश्व को दीपक-स्वरूप प्रदान किया जिसके फलस्वरूप सभी ने अपनी राह पहचान ली।[3]

अतः अवतारवादी सूफी सम्प्रदायों में मुहम्मद साहब के जिस प्रथम अवतार या प्रथम पुरुष की परम्परा प्रचलित है, भारतीय सूफी कवियों ने उसी को अपने प्रेमाख्यानक काव्यों में ग्रहण किया है। मुहम्मद साहब के पुरुषावतार की यह परंपरा जायसी के पूर्ववर्ती मंझन तथा परवर्ती उसमान

---

१. हि० सू० क० का० पृ० ६४।

२. कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पूनौ करा।
प्रथम जोति विधि ताकर साजी, औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी॥
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ११।

३. दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा, भा निरमल जग मारग चीन्हा।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ११।

प्रभृति सूफी कवियों में मिलती है। पूर्ववर्ती कवि मंझन के अनुसार जो अगोचर परमात्मा था वही साकार होकर मुहम्मद-रूप में प्रकट हुआ।[१]

यहाँ मुहम्मद-रूप से आदि पुरुष का ही अर्थ व्यंजित होता है। क्योंकि नीचे की पंक्ति में उस प्रथम रूप का एकमात्र नाम मुहम्मद बताया गया है।[२]

उसमान ने 'चित्रावली' नामक काव्य में मुहम्मद की प्रशंसा करते हुये कहा है कि परमात्मा ने अखिल सृष्टि के सार-स्वरूप विश्व में एक पुरुष की अवतारणा की। वह पुरुष उनके द्वारा पैगाम लेकर भेजे हुये दूत के सदृश कोई अन्य पुरुष नहीं था, अपितु ईश्वर ने स्वयं अपना अंश दो भागों में विभक्त कर उसमें से एक का नाम मुहम्मद रक्खा।[३] 'अखरावट' में जायसी ने मुहम्मद साहब के, आदि पुरुष के सदृश, सर्वप्रथम अवतार का उल्लेख करते हुए कहा है कि शून्य अंधकार में सर्वप्रथम ईश्वर ने मुहम्मद नाम की ज्योति उत्पन्न की।[४] मुहम्मद के इस आदि ज्योति-अवतार का उन्होंने अनेक बार उल्लेख किया है।[५]

यद्यपि कतिपय स्थलों पर इनके आदि अवतार का बोध होता है, परन्तु इस्लाम की परंपरा के अनुसार पैगम्बर मुहम्मद साहब का आविर्भाव पूर्णतः साम्प्रदायिक प्रयोजन के कारण हुआ था। भारतीय अवतारवाद में प्रयोजनहीन या लीलात्मक अवतार केवल आदि ब्रह्म या पर पुरुष का ही माना जाता रहा है। शेष अंश या कलावतारों में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य निहित रहता है। यही कारण है कि मध्यकाल में आचार्यों और भक्तों के अवतार में भक्तिमार्ग का प्रचार या अपने परंपरागत साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मुख्य प्रयोजन था। यों अवतार शब्द मात्र से केवल अवतरण का ही अर्थ लक्षित होता है। उसमें प्रयोजन का आभास नहीं मिलता। किन्तु पैगम्बर का संबंध उत्पत्ति या अवतरण की अपेक्षा पैगाम से अधिक है। पैगाम में संदेशवहन का प्रयोजन सन्निविष्ट है। इसके अतिरिक्त इस्लामी परंपरा में

---

१. मधुमालती पृ० ५ अलख लखे जे पार न कोई, रूप मुहम्मद काछे सोई।
२. वही पृ० ५ रूप क नाम महम्मद धरा, अरथ न दूसर जाकर करा।
३. पुरुष एक जिन्ह जा अवतारा, सबन्ह सरीर सार संसारा।
आपन अंश कीन्ह दुइ ठाऊँ एकक धरा मुहम्मद नाऊँ॥ चित्रावली पृ० ५।
४. गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसेइ अंधकूप महं, रचा मुहम्मद नूर॥ जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ३०३।
५. जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ३०४, पृ० ३०८ अखरावट में मुहम्मद से मलिक मुहम्मद जायसी के नाम का भी बोध होता है।

यह प्रसिद्ध है कि ईश्वर अपनी उपासना के निमित्त पैगम्बरों को भेजता है। अतः इनके प्रादुर्भाव में साम्प्रदायिक प्रयोजन स्पष्ट विदित होता है। जायसी ने इनके साम्प्रदायिक प्रयोजन की ओर ही इङ्गित करते हुये कहा है कि यदि इस प्रकार के ज्योतिस्वरूप पुरुष का आविर्भाव नहीं होता तो सर्वत्र अंधेरा छाया हुआ रहता और मार्ग स्पष्ट नहीं होता।[1] यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मध्यकाल में ज्योति का ज्ञान से, पंथ का संप्रदाय या विशिष्ट उपासना पद्धति से तथा अंधकार का अर्थ अज्ञान से किया जाता था। अतएव सांप्रदायिक या विशिष्ट मार्ग से संप्रदाय का प्रवर्तन इनका प्रमुख प्रयोजन रहा है। ये पुनः कहते हैं कि परलोक में उन सभी लोगों का नाम लिखा जा रहा है जो उसकी उपासना करते हैं। और जो नहीं करते हैं मरने के पश्चात् उन्हें क्रमशः कर्मानुसार स्वर्ग या नरक में स्थान मिलेगा, क्योंकि इस पैगम्बर या बसीठ को अल्लाह ने अपनी उपासना का पैगाम देकर भेजा है।[2]

उसमान जायसी का ही अनुमोदन करते हुये कहते हैं कि कर्ता के हृदय में सर्वप्रथम प्रेम उत्पन्न हुआ; उस प्रेम-ज्योति से जिसका नाम मुहम्मद था, संभवतः उसने अखिल सृष्टि का निर्माण किया।[3] यहाँ सृष्टि और मुहम्मद का ज्योति-संबंध ही अधिक स्पष्ट है। परन्तु ज्योति के एक भाग से सृष्टि-रचना और दूसरी ज्योति से सृष्टि का मार्ग-दर्शन होने का भी अनुमान किया जा सकता है। निष्कर्षतः ज्योति-अवतार मुहम्मद से ज्ञान-ज्योति के प्रवर्तन का भान होता है।

परवर्ती उपास्य रूप

मध्यकाल में निर्गुण या निराकार जितना सिद्धान्त में माना जाता था

---

१. जो न होत अस पुरुष उजारा, सूझिन परत पंथ अँधियारा।
जा० ग्रं० पद्मावत पृ० ४, ११।

२. दुसरे ठाँव देव वे लिखे, भए धरमी जे पाढ़त सिखे।
जेहि नहिं लीन्ह जनमभरि नाऊँ ता कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ।
जगत बसीठ दइ ओहि कीन्हा, दुइ जा तरा नाँव जा लीन्हा॥
जा० ग्रं० पद्मावत, ४, ११।

३. पहिले उठा प्रेम बिधि हिये, उपजी जोति प्रेम की दिये।
वही जोति पुनि किरिन पसारी, किरिन किरिन सब सृष्टि सँवारी।
जोतिक नाऊ मुहम्मद राखा, सुनत सरोस कहा अभलाषा॥
चित्रावली पृ० ५।

उतना व्यवहार में नहीं। निराकार एकेश्वरवादी उपास्य की स्मृति-पूजा करने वाले लोग अपनी परंपरा में मान्य अनेक महापुरुषों की समाधि की पूजा करने लगे थे।[1] विशेषकर मुहम्मद साहब तो अल्लाह के साकारस्वरूप तथा उपास्य-रूप में पूर्णतः गृहीत हो चुके थे। उनका उपास्य-नाम रसूल अल्लाह बहुत अधिक प्रचलित हो गया था। परवर्ती कवि शेख नवी के 'ज्ञान दीप' के अनुसार मुहम्मद के मर्त्यलोक में अवतरित होते ही कलियुग के सभी पापी तर गये। उन्होंने कलि में कलुषनाशक कलमा का प्रचार किया।[2]

इससे विदित होता है कि हिन्दू अवतारों के सदृश ही मुहम्मद साहब आरंभ में केवल अवतार थे बाद में प्रथम पुरुष से अभिहित होकर वे अनेक नबियों और रसूलों के रूप में अवतरित होने वाले अवतारी हो गये। अंत में उन्हें अवतारी के पश्चात् उपास्य-रूप प्रदान किया गया। इस प्रकार आलोच्यकालीन सूफी काव्यों में उनका उपास्य-रूप ही अधिक प्रचलित रहा है।

ज्योति अवतार-परंपरा

इस्लामी और सूफी साहित्य में अल्लाह के जिस प्रथम अवतार का उल्लेख मिलता है, वह है नूर या ज्योति-अवतार। कहा जाता है कि सृष्टि में जितने रूप हैं उनके पूर्व ज्योति दिखाई पड़ती है। अतः ज्योति से ही रूपों का आविर्भाव हुआ है।[3] अवतारवादी सूफियों में ज्योति-अवतार का क्रम इस प्रकार माना जाता है—सर्वप्रथम खुदा के प्रेम या खत्र से नूर उत्पन्न होता है, उसके बाद नूर से शेर, शेर से रुह, रुह से कल्ब, कल्ब से कालिब (शरीर) का आविर्भाव-क्रम प्रचलित है।[4] इस परंपरा के अतिरिक्त संभवतः एक दूसरी परंपरा के अनुसार मुहम्मद स्वयं अपने को अल्लाह का नूर कहते हैं और सारी सृष्टि उनकी ज्योति का विस्तार है।

इस्लाम से सैकड़ों वर्ष पूर्व इस ज्योति-अवतार का विकास बौद्ध धर्म में हो चुका था। महायानी 'वैपुल्य सूत्रों' में विख्यात 'सद्धर्मपुंडरीक' में बुद्ध के ज्योति-अवतार का प्रायः उल्लेख होता रहा है। 'सद्धर्मपुंडरीक' के अनुसार बुद्ध जब धर्म का उपदेश करना चाहते हैं, तब भ्रूमध्य के ऊर्णकोश से एक

---

१. इण्डियन इस्लाम पृ० १३५।

२. हि० सू० क० का० पृ० ४१७ से उद्धृत

मिर्तु लोक मँह तोही अवतरे, कलजुग के पापी सबतरे।
कलि में कलमा कलुष नेवारन, सलाव कीन्ह जगतारन॥

३. सि० अ० इ० पृ० ६।

४. सि० अ० इ० पृ० १९।

रश्मि प्रसूत करते हैं, जिससे अट्ठारह-सहस्र-बुद्धक्षेत्र अवभासित होते हैं।[1] इस्लाम परम्परा पर भी बौद्ध ज्योति-अवतार-परम्परा के प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि ज्योति से प्रभावित अनन्त बुद्धों के सदृश इस्लाम में भी बाद में चल कर लाखों पैगम्बर मान्य हुए।

भारतीय सूफी मसनवी काव्यों के पूर्व इस ज्योति-अवतार-परम्परा का अवतारवादी क्रम जलालुद्दीन रूमी की 'मसनवी' में विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। 'मसनवी' के अनुसार एक ही ज्योति जो अल्लाह के द्वारा प्रसारित की गई वह क्रमशः आदम, नोह, अब्राहम, इस्माइल, दाउद, सालमन, जैकुब, जौसेफ, मूसा, जेसस में प्रविष्ट होती गई। उन्हीं की ज्योति-परम्परा में जब मुहम्मद हुए तो उन्होंने अल्लाह से शक्ति और अनुग्रह प्राप्त किया। उसी परम्परा में अबूबकर दैवी कृपा के अन्यतम उदाहरण हैं तथा उमर, उस्मान आदि प्रवर्तक भी उसी ज्योति-परम्परा में गृहीत हुए हैं।[2]

इस ज्योति-अवतार-परम्परा में विभिन्न धर्मों के पैगम्बरों का समन्वयवादी रूप भारतीय अवतारवादी समन्वय के समानान्तर प्रतीत होता है। परन्तु मुहम्मद साहब के अनन्तर इस्लाम धर्म के शिया सम्प्रदाय एवं सूफियों में इस ज्योति-अवतार की साम्प्रदायिक परम्परा का विकास दृष्टिगत होता है।

विशेषकर शिया सम्प्रदाय में यह माना जाता है कि सृष्टि के बहुत पूर्व अल्लाह ने अपनी ऐश्वर्य शक्ति में से एक किरण-ज्योति लेकर मुहम्मद साहब के साथ संयुक्त कर दिया वही ज्योति वली आदि इमामों में होती हुई एक परम्परा के रूप में सच्चे इमामों में आविर्भूत होती रही है।[3] इस प्रकार शिया सम्प्रदाय में पुरोहित का कार्य करनेवाले इमामों का पूर्णतः दैवीकरण हो गया है। अली इमाम से इनकी परम्परा आरम्भ होती है। कहा जाता है कि अली अभी भी जीवित हैं और उनमें ईश्वर का अंश वर्तमान है। वे सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे तथा अल्लाह के सिंहासन के दाहिने पार्श्व में वे स्थित रहते हैं।[4] इस मत में नबियों और पैगम्बरों से इनका विशेष वैषम्य दिखाया जाता है और कहा जाता है कि नबी ज्ञान लाने वाले देवदूत को सुनता है और देखता भी है; किन्तु इमाम उसे देखता नहीं केवल सुनता है।[5] जायसी ने चार प्रसिद्ध इमामों को चार स्तम्भ के सदृश माना है।[6] संभवतः

१. बौद्धधर्म और दर्शन पृ० ११० और सद्धर्म पु० (कर्ण) पृ० ९।

२. मसनवी (रूमी) जी० १ पृ० ८१-८२।

३. दी स्टडिज इन इस्लाम पृ० ६९-७०।

४. दी स्टडिज इन इस्लाम पृ० ६९। ५. वही पृ० ६८।

६. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३१० भावै चारि इमाम जे आगे, भावै चारि खम्भ जे लागे।

साम्प्रदायिक व्यूहवाद के सदृश इस्लाम धर्म के चार स्तम्भों के रूप में ये प्रचलित हैं।

वली

अवतारवादी तत्त्वों की दृष्टि से इस्लाम धर्म में पैगम्बर के बाद वली का दूसरा स्थान है। कहा जाता है कि पैगम्बर अल्लाह का प्रथम अवतार है और वली दूसरा।[१] यों वली एक प्रकार का वह साधक संत है, जो खुदा से तदाकार या नैकट्य प्राप्त कर लेने पर वली कहा जाता है।[२] पैगम्बर के समान वली भी खुदा और इन्सान के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। वे दुःखी को त्राण, रुग्ण को स्वास्थ्य, पुत्रहीन को पुत्र, भूखे को भोजन, भक्त को मार्ग तथा अल्लाह के मजार-पूजकों को वर देता है। सम्भवतः इसी से सूफियों में कुछ लोग वली को पैगम्बर से भी ऊँचा मानते हैं।[३]

इस प्रकार सूफियों के बहुत से अवतारवादी विश्वास मध्यकालीन संतों और भक्तों के विचारों से साम्य रखते हैं। सूफी कुरान के इस आयत को स्वीकार करते हैं कि अल्लाह अवतारवादी उपास्यों के सदृश केवल भक्तों का ही रक्षक है।[४] वे संतों के प्रति की जाने वाली कृपा को अपने प्रति की गई समझते हैं। हुज्वीरी के अनुसार सूफी वली या औलिया में जिन ईश्वरीय दिव्य तत्त्वों का समावेश माना जाता है, वे अवतारी पुरुषों के समानान्तर हैं। साम्प्रदायिक पैगम्बरों के सदृश सूफी संत भी युग-युग में धर्मरक्षा के लिए बाध्य हैं। क्योंकि अल्लाह ने संतों को ही विश्व का स्वामी बनाया है।[५] अवतारों में जिस प्रकार पूर्ण, अंश, कला और विभूति की दृष्टि से अंतर होता है, उसी प्रकार विभिन्न वली भी करामात की दृष्टि से कुछ कम या कुछ अधिक प्रभावशाली होते हैं।[६]

वली और पैगम्बर

कार्य की समानता होने के कारण वली और पैगम्बर में यह प्रश्न उठता है कि दोनों में बड़ा कौन है। सम्प्रदायों में कुछ लोग वली को श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ लोग पैगम्बर को।[७] यों तो वली और पैगम्बर में साधना की दृष्टि से ठीक वही अंतर जान पड़ता है जो हीनयानी प्रत्येक बुद्ध और महायानी

---

१. सि० अ० इ० पृ० ११।
२. स्ट० इस० मि० पृ० ७८।
३. दी हेट्रो-शिया भा० २, पृ० १३।
४. हुज्वीरी पृ० २११।
५. हुज्वीरी पृ० २१२-२१३।
६. हुज्वीरी पृ० ११९।
७. सि० अ० इ० पृ० १२५।

बोधिसत्त्व में हैं, क्योंकि वली प्रत्येक बुद्ध के सदृश 'स्वांतःसुखाय' साधक होता है। उसका ईश्वरीय सम्बन्ध गुप्त रहता है। किंतु पैगम्बर साधना के उपरान्त 'बहुजनहिताय' कार्य करता है और जन समूह को आमंत्रित करता है। बोधिसत्त्वों के सदृश यदि कोई सालिक दूसरों को शिक्षा देना चाहता है तो वह अपने लोक या अवस्था से अवतरित होता है। यह अवतार उस साधक के लिए है जो किसी विशेष कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है। जब तक उसे कोई कार्य भार नहीं सौंपा जाता तब तक उसे खुदा से पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं है।[1] यहाँ वली ही भावी पैगम्बर का रूप विदित होता है। पर शेख शहाबुद्दीन की 'अवारिफुल मारिफ़' में पैगम्बर या औलिया का अवतारवादी पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनके कथनानुसार पैगम्बर अल्लाह का प्रतिरूप या सगुण रूप है जब कि औलिया इलहामी-रब्बानी या उसका आविष्ट रूप कहा जा सकता है।[2] हुज्वीरी के अनुसार भी पैगम्बर की कथनी और करनी में बहुत कुछ समानता होती है।[3] वली का अंतिम रूप ही पैगम्बर का आदि रूप है।[4] अवतारवादी सूफी सम्प्रदायों के प्रवर्तक और समर्थक अबूमजीद, दुल्लन नून, मुहम्मद कफ़ीफ, मंसूर अल् हल्लाज और राजी, वली और पैगम्बर की करामातों में अंतर मानते हैं। वली या औलिया करामातों से जनता को मुग्ध करने के लिए बाध्य नहीं होते, किन्तु पैगम्बर जनता के लिए ही उत्पन्न होते हैं। आवश्यकतानुसार वे अपनी करामातों को प्रकट भी करते हैं और छिपाते भी हैं।[5]

अंत में पैगम्बर को ही श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कहा गया है कि पैगम्बर संत या वली से श्रेष्ठ है। क्योंकि जहाँ वली का कार्य समाप्त होता है वहाँ से पैगम्बर का कार्य आरम्भ होता है।[6] वली के आदि और अंत हैं परन्तु पैगम्बर के नहीं। प्रत्येक युग में अल्लाह के इच्छानुरूप उनका क्रम सतत चलता रहता है।[7]

इस तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि पैगम्बर के समान दिव्य गुण-सम्पन्न होने पर भी वली वह साधक है जो आवश्यकतानुसार पैगम्बर का अवतार-कार्य किया करता है।

---

१. सि० अ० ह० पृ० १३१। २. दी अवारिफुल मारिफ पृ० १२१।
३. हुज्वीरी पृ० २२०। ४. हुज्वीरी पृ० २२३।
५. हुज्वीरी पृ० २२६। ६. हुज्वीरी पृ० २३६।
७. हुज्वीरी पृ० २३८।

इमाम

वली के अनन्तर इस्लाम के अवतारवादी सम्प्रदायों में इमाम को अल्लाह का अवतार माना जाता है। किन्तु वली और इमाम में मौलिक अन्तर यह है कि वली उत्क्रमणशील साधक है, जो व्यक्तिगत साधना के बल पर अल्लाह के तद्‌रूप हो जाता है। पर इमाम अली इमाम से आती हुई ज्योति-अवतार-परम्परा में गृहीत वंशगत अवतार है। इसी से शिया सम्प्रदाय में इमाम मनुष्य-रूप में ही अल्लाह के सभी गुणों से विभूषित रहता है। कहा जाता है कि स्वयं अल्लाह ने उसके मानव शरीर में अपने दिव्य गुणों को भरा।[1] यद्यपि भारतीय वल्लभ प्रभृति सम्प्रदायों में भी वंशगत अवतारवाद के रूप मिलते हैं किन्तु इमामों में प्रचलित यह अवतारवाद ईसाई अवतारवाद से विकसित हुआ है।

मानव अवतार

संतों के समान सूफियों ने भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को अधिक मूल्यवान समझा है। वे एकमात्र मानव-हृदय को ही अल्लाह का निवास स्थान मानते हैं। कुछ सूफियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही मूर्त्ति के रूप में निर्मित किया है।[2] किन्तु अधिकांश उसके 'अन्तर्यामी रूप' को मानव हृदय में स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि मानव हृदय दर्पण के सदृश एक ओर से स्वच्छ और दूसरी ओर से रंगीन या धूमिल है। ईश्वर स्वच्छ दर्पण की ओर से अपना स्वरूप देखने के लिए उसमें आविर्भूत होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह फरिश्तों और पशुओं के शरीर में क्यों नहीं प्रतिबिम्बित होता? तो इसका कारण यह बताया जाता है कि फरिश्तों का सारा शरीर केवल ज्योतिर्मय है और दूसरी ओर पशुओं का शरीर दोनों ओर से तमाच्छन्न है। इसी से दोनों में से किसी में खुदा का स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता। किन्तु मनुष्य का हृदय एक ओर से स्वच्छ होने के कारण ईश्वर के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता रखता है।[3] सूफी दर्शन का सबसे बड़ा विचारक इब्न अल् अरबी इस उक्ति का समर्थन करते हुए कहता है कि प्रकृति और मानव वे दर्पण हैं जिनमें ईश्वर का प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। यों तो वह सृष्टि के प्रत्येक अणु-परमाणु में व्याप्त है। किन्तु जहाँ तक उसका

---

१. दी हेट्रो-शिया भा० २ पृ० १०१। २. सि० अ० इ० पृ० १५१।
३. सि० अ० इ० पृ० ६१।

सम्बन्ध मनुष्य से है, मनुष्य उस अल्लाह का ही रूप है और अल्लाह उस मनुष्य की आत्मा है।[1] मनुष्य में उसके सभी गुण विद्यमान हैं। वह मनुष्य को ही माध्यम बनाकर अपनी सृष्टि को देखता है तथा संसार के लोगों पर कृपा करता है।[2] जलालुद्दीन रूमी की 'मसनवी' में भी एक ऐसे मानव-अवतारवाद की रूपरेखा मिलती है जो शैली की दृष्टि से 'रामायण' या 'महा-भारत' के अवतारवाद के अनुरूप जान पड़ती है। भारतीय महाकाव्यों में जिस प्रकार अवतरित होने के पूर्व विष्णु देवताओं से परामर्श करते हैं उसी प्रकार रूमी-मसनवी में भी अल्लाह फरिश्तों के साथ मनुष्य के निर्माण का विचार करता है।[3] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हुलूल का विरोध होने के कारण अवतार-वाद के बोधक 'प्रतिबिम्ब' या 'निर्माण' शब्द इस्लामी साहित्य में अधिक प्रच-लित रहे हैं।[4] रूमी के फुटकर पदों में मानव-अवतार का रचात्मक प्रयोजन भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है।[5]

शेख शहाबुद्दीन ने दिव्य शक्ति-सम्पन्नता की दृष्टि से इन्सान के तीन भेद किए हैं। इनके मतानुसार खुदाई शक्तियों के आवेश के अनुपात से तीन प्रकार के इन्सान होते हैं। इनमें प्रथम वासिल वे हैं जो ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं वे ही 'इन्सानुल कामिल' या पूर्ण मानव हैं। वासिल ईश्वर के निकट रहते हैं और साविक ईश्वर में पहले से ही दृढ़ विश्वास रखते हैं। दूसरे सालिक साधन की पूर्णता प्राप्त करने वाले पथिक हैं तथा तीसरे मुक़ीम दोषों से युक्त इन्सान हैं।

इस प्रकार सूफियों के इस मानव-अवतार-रूप में अल्लाह और मनुष्य दोनों के प्रयत्न विदित होते हैं। अल्लाह मनुष्य में अवतरित होता है और मनुष्य अल्लाह में तदाकार होने की चेष्टा करता है। अल्लाह द्वारा मानव के प्रतिरूप होने या मनुष्य का निर्माण करने में जो प्रयोजन परिलक्षित होता है, वह एक प्रकार से अवतारवादी प्रयोजन कहा जा सकता है। इब्न अल् अरबी के अनुसार वह अपनी सृजित सृष्टि को देखता है। मनुष्य में वह अपने सभी गुणों की ससीम अभिव्यक्ति करता है। अतः जब मनुष्य ईश्वर की चिन्ता करता है तो वह स्वयं को ही सोचता है। और जब ईश्वर अपने स्वरूप का ध्यान करता है तो वह अपने को मनुष्य पाता है।[6] हुज्वीरी

---

१. इ० इ० इ० क० पृ० ७४। २. ट्रा० इ० पो० प्रो० (निकोलसन) पृ० १४७।
३. मसनवी (रूमी) जी० १ पृ० १८। ४. सि० अ० इ० पृ० ५९-६१।
५. अ० मा० पृ० ३३। ६. इ० इ० इ० क० पृ० ७४।

ने कुरान के एक आयत के आधार पर कहा है कि अल्लाह ने इन्सान की रचना अपनी सेवा के लिए की है।[1]

इन कथनों से स्पष्ट है कि सूफी साधकों ने मनुष्य को ईश्वर तुल्य समझा है। मनुष्य-अवतार भी पैगम्बर या अवतारों की भाँति कतिपय अवतार-प्रयोजनों से समन्वित है।

इन्सानुल कामिल या पूर्ण मानव

मनुष्य मात्र में अल्लाह की भावना होते हुए भी सूफियों ने मनुष्य को पूर्णता की ओर अग्रसर करने वाली साधना को बहुत महत्त्व दिया है। साधना के बल से ही सिद्ध होकर उनके मतानुसार मनुष्य पूर्ण मानव हो जाता है। सूफी साहित्य में जिस प्रकार के इन्सानुल कामिल की कल्पना की गई है, वह बहुत कुछ अंशों में भारतीय पूर्णावतार के निकट प्रतीत होती है। पूर्णावतारी पुरुषों में जिस प्रकार कला, विभूति या अंश-स्वरूप पूर्णता देखी जाती है उसी प्रकार पूर्ण मानव में भी ईश्वर के समस्त गुणों की अभिव्यक्ति होती है। इब्न ए अरबी के कथनानुसार खुदा ने इच्छा प्रकट की कि उसके गुणों की अभिव्यक्ति हो। उसने एक पूर्णमानव का निर्माण किया। उसकी सीर (चेतन सत्ता) ही स्वयं उसमें आविर्भूत हुई। उसके सभी गुणों से संवलित वह पूर्ण मानव अपने दिव्य गुणों से अवगत होने पर रिसाला कहा गया तथा उसने फना की अवस्था में प्रवेश किया।[2]

इस प्रकार मनुष्य की पूर्णता केवल आदम से लेकर मुहम्मद तक होने वाले रसूलों या पैगम्बरों तक ही सीमित नहीं है, अपितु सूफी दर्शन के अनुसार वली की कोटि के साधक भी पूर्ण मानव हो सकते हैं।[3] पूर्ण मानव में परमात्मा के समान गुण प्रकाशित होते हैं। अल्लाह उसी में पूर्ण रूप से अपने को व्यक्त करता है। सभी पैगम्बर, औलिया संत पूर्णमानव की कोटि में आते हैं। इसी से सूफी पूर्ण मानव को अल्लाह और मनुष्य के बीच की कड़ी मानते हैं।[4] पूर्णावतार जिस प्रकार षाड्गुण्य युक्त होता है, उसी प्रकार पूर्ण मानव में ईश्वर की शक्ति या विभूति मात्र ही नहीं, अपितु उसका पूर्ण ईश्वरत्व ससीम रूप होकर उसमें परिलक्षित होता है। इसी से सिद्ध मनुष्य अपनी साधना की पूर्णावस्था में ईश्वर का नुस्खा या रूप समझा जाता है।[5]

---

१. हुज्वीरी पृ० २६७ (कु० ५६)।　२. स्ट० इस० मि० पृ० ७७।
३. स्ट० इस० मि० पृ० ७८।　४. सू० सा० सा० पृ० २७७।
५. इ० इ० इ० क० पृ० ७६।

सूफियों में साहिली सम्प्रदाय के लोग पूर्ण मानव में एक विराट विश्व या विश्वरूपात्मक रूप का अस्तित्व मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि के सभी तत्त्वों से निर्मित होने के कारण मनुष्य स्वयं एक लघु विश्व है।[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ण मानव की कल्पना छः गुणों से युक्त भारतीय पूर्णावतार के अत्यन्त निकट है। उसमें विराट रूप या विश्व रूप की कल्पना उसे पूर्णावतार के निकट ला देती है।

सम्भवतः पूर्ण मानव की बढ़ती हुई संख्या के फलस्वरूप ही इस्लाम धर्म में चार फरिश्तों के अतिरिक्त सवालाख पैगम्बरों का आविर्भाव माना जाता है। जायसी ने आखिरी कलाम में उनका वर्णन किया है।[2]

कुरान

अपौरुषेय वेदों, तंत्रों, नाथों और सिद्धों में ज्ञानावतार या शास्त्रावतार के सदृश इस्लामी 'कुरान' भी आसमानी पुस्तक के रूप में माना गया है। कहा जाता है कि 'कुरान' का अवतरण निम्नतम सातवें स्वर्ग से हुआ था।[3] जायसी ने इसे चार आसमानी पुस्तकों में माना है।[4]

इस्लामी और सूफी अवतारवादी सम्प्रदाय

अवतारवाद की दृष्टि से इस्लामी और सूफी दोनों में दो प्रकार के सम्प्रदाय मिलते हैं। उनमें अधिकांश अवतारविरोधी हैं और कुछ अवतारवादी हैं।

शिया मत एवं सम्प्रदाय

इस्लाम धर्म में दो प्रकार के सम्प्रदाय सर्वत्र व्यापक रहे हैं। इनमें खारिजी तो अवतार-विरोधी रहे हैं परन्तु शिया और उनके अन्तर्गत आने वाले विविध सम्प्रदायों में से अधिकांश कट्टर अवतारवादी रहे हैं। शिया सम्प्रदाय में इस्माइली, द्रुज, नुसेरी और यज़ीदी चार अधिक विख्यात रहे हैं।[5]

शिया

इस्माइली | द्रुज | नुसेरी | यज़ीदी

१. हुज्वारी पृ० १९९।

२. चार फिरिश्तिन जइ औतारेउँ, सात खंड बैकुंठ संवारेउ।
सवा लाख पैगम्बर सिरजेउ, कर करतूति उन्हहिंधै बंधेऊ॥
जा० ग्रं० आखिरी कलाम पृ० ३५२।

३. स्टडीज इन इस्लाम पृ० १९८।

४. जा० ग्रं० अखरावट पृ० ३१०, 'भावै चारि किताबै पढ़ऊ'।

५. सू० सा० सा० पृ० १४०।

शिया के प्रायः सभी सम्प्रदायों में अली तथा उनके बेटों और वंशजों को इमाम माना गया, क्योंकि शिया मत के लोग अली के समर्थक रहे हैं जब कि शुन्नी खलीफा के। वंश परम्परा के अनुगामी होने के कारण ये ईरान वंशीय खलीफा को अपना खलीफा तथा उसे ईश्वरीय विभूति से युक्त मानते हैं। अली के जिन वंशधरों को ये इमाम के रूप में पूजते हैं, वे भी ईश्वरीय अंश या ईश्वर के अवतार ही माने जाते हैं।[1] कहा जाता है कि इमामों को घोर अवतारवादी रूप प्रदान करने में अबदुल्ला इब्न सबा का बहुत हाथ रहा है। वह अली को केवल ईश्वर का अवतार ही नहीं मानता था बल्कि उसके मतानुसार ईसा के सदृश मुहम्मद भी पुनः-पुनः अवतरित होते हैं।[2] इस प्रकार इमामों की अक्षुण्ण परम्परा शिया मत में प्रचलित है। अब्दुल्ला इब्न सबा ने अंत में अली को ही परमात्मा घोषित किया।

भारतीय अवतारवाद से साम्य

शिया मत के कुछ सम्प्रदायों में प्रचलित अवतारवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त भारतीय अवतारवाद से बहुत साम्य रखते हैं। विशेषकर शिया सम्प्रदाय के फारस निवासी गुलात नामक विचारक के कतिपय सिद्धान्त हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इनके दो शब्द विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। उनमें पहला है 'गुलुब' और दूसरा है 'तकसीर'। 'गुलुब' से इनका तात्पर्य है कि मनुष्य उत्क्रमण करते-करते ईश्वर की अवस्था तक पहुँच जाय और 'तकसीर' के अनुसार ईश्वर संकुचित होते-होते मनुष्य की अवस्था तक आ जाय।[3] इनकी धारणा है कि अल्लाह मनुष्य-रूप में अवतार लेता है। वे तनासुख के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि तनासुख के रूप में अल्लाह विभूतियों के सदृश विभिन्न रूपों में अपनी शक्तियों को प्रसारित करता है। उसका तसवोह रूप ही इस बात में सगुण उपास्य के रूप में प्रचलित है।[4] शिया मत के अन्य अवतारवादी सम्प्रदायों में अल् इलहिया खुरमियाँ, कैदिया, मजदाकिया, सिंदबादिया, मुहम्मरियाँ, मबुयज़ा आदि विख्यात हैं। किन्तु इनमें अल् इलहिया सम्प्रदाय के लोग अधिक कट्टर अवतारपंथी हैं। ये अली को केवल अवतार ही नहीं बल्कि अवतारी उपास्य मानते हैं।[5]

---

१. सू० सा० सा० पृ० १४४।
२. सू० सा० सा० पृ० १४५।
३. इ० इ० इ० क० पृ० ५१।
४. इ० इ० इ० क० पृ० ५२।
५. इ० इ० इ० क० पृ० ५२।

सात इमाम

शिया मत के कुछ अधिक कट्टर सम्प्रदायों में अनेक इमामों की अवतार-परम्परा प्रचलित है। कुछ लोग सात इमामों की अवतार-परम्परा मानते हैं और कुछ १२ इमामों को। सात इमामों की परम्परा का प्रचारक अब्दुल्ल इब्न मैमून नामक एक फारस निवासी था। उसके मतानुसार सातों इमाम पैगम्बरों के अवतार-क्रम में, हैं जिनमें वह सबसे अंतिम और सबसे बड़ा है।[१]

बारह इमाम

असीरिया के शिया लोगों में बारह इमामों की अवतार-परम्परा प्रचलित है जिनका आरम्भ अली से होता है। इस परम्परा में इब्न हसन अंतिम कहे जाते हैं। बारह इमामों की इस अवतार-परम्परा का विकास ईरान में हुआ था। बारह इमामों के समर्थक ईरान के सफादियों ने अपने को सातवें इमाम मूसा अल् काजिम का वंशज माना। उपर्युक्त इमामों के अतिरिक्त ईरान का अंतिम सासानी वंश भी मुहम्मद साहब की पुत्री फतिमा से आरम्भ होने के कारण ईश्वरीय अंश से युक्त माना जाता है।

इससे स्पष्ट है कि शिया सम्प्रदाय के लोग केवल इमामों को अवतार ही नहीं मानते थे, अपितु भारतीय अवतारवाद के सदृश इमामों का पुनः-पुनः अवतार या उनकी वंशगत अवतार-परम्परा में भी विश्वास रखते थे। इन परम्पराओं की कुछ विशेषताएँ अपने मौलिक स्वरूप का परिचय देती हैं; जिससे भारतीय अवतारवाद से उनका अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दू अवतार-परम्परा में साम्प्रदायिक और राज दैवी उत्पत्ति दोनों का विकास एक ही विष्णु से आरम्भ हुआ। किन्तु सम्प्रदाय प्रवर्तक-रूप में स्वीकृत राम, कृष्ण, बुद्ध और ऋषण इन चार राज पुत्रों को छोड़ कर प्रायः उनके राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों रूप पृथक्-पृथक् प्रचलित हुए। दोनों को एक साथ मिलाकर साम्प्रदायिक या धार्मिक राज परम्परा का अवतारवादी विकास कभी भी वैसा प्रचलित नहीं रहा जैसा कि वह ईरान के इमामों की परम्परा में लक्षित होता है। कहने का तात्पर्य यह कि शिया सम्प्रदाय के इमाम साम्प्रदायिक और राजनैतिक दोनों एक साथ ही मान्य रहे। अतः शिया मत में प्रचलित इस अवतारवाद की अपनी विशेषता है।

अवतारवादी सूफी सम्प्रदाय

मध्यकालीन युग में इस्लामी देशों में जितने सूफी सम्प्रदायों का पता

---

१. इ० इ० इ० क० पृ० ५४।

चलता है उनमें अधिकांश अवतारविरोधी और कुछ अवतारवादी दीख पड़ते हैं। यों तो अवतारविरोधी सम्प्रदायों में भी कतिपय अवतारपरक तत्त्वों का दर्शन होता है। किन्तु उनका महत्त्व नगण्य-सा रहा है। हुज्वीरी ने मध्ययुगीन जिन १२ सम्प्रदायों का नाम लिया है उन्हें निम्नलिखित अवतार-विरोधी और अवतारवादी ढंग से विभाजित किया जा सकता है :—

सूफी सम्प्रदाय
- मरदूद या अवतारवादी
  - हुलूली
    - सलीमी
  - हल्लाजी
    - इल्लाती
    - फारीजी
- मकबूल या अवतारविरोधी
  - तैफुरीजी, जुनयारी, नूरी, साहिली, हक्रीकी, ख़राजी, खफीफी, सैयारी, मुहासिबी, कैसारी
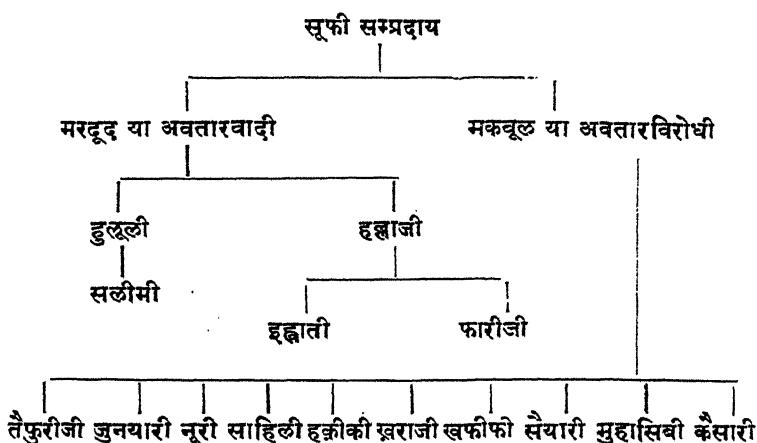
उक्त बारह सम्प्रदायों में से दो अवतारवादी सम्प्रदाय हैं, इसलिए मरदूद कह कर उनकी आलोचना की गई और शेष १० अवतार विरोधी सम्प्रदायों को मकबूल किया गया। फिर भी सूफी अवतारवाद के अध्ययन के निमित्त हुलूली और हल्लाजी सम्प्रदायों का विशिष्ट महत्त्व रहा है। क्योंकि प्रबल विरोध होने पर भी अप्रत्यक्ष ढंग से इन सम्प्रदायों ने केवल सूफी समाज को ही नहीं अपितु समस्त मुस्लिम जाति को प्रभावित किया है।

हुलूली

हुलूली अवतार-परम्परा के विरोध का मुख्य कारण रहा है उसका इस्लाम की जन्म भूमि में जन्म न लेना। क्योंकि मुस्लिम मस्तिष्क में 'हुलूल' शब्द, जिस अवतारवाद का बोधक रहा है वह विदेशी यहूदी या ईसाई अवतारवाद रहा है। तत्कालीन युग में यहूदियों और ईसाइयों से शत्रुता होने के कारण उनका प्रमुख अवतारवादी सिद्धान्त भी हुलूल-रूप में मुसलमानों की घृणा का पात्र बन गया। इस मत की दूसरी विचित्रता यह है कि इस मत के अनुयायी अधिकतर वे ही मुसलमान सूफी थे जो इस्लाम में दीक्षित होने के पूर्व ईसाई या यहूदी रहे थे। कालान्तर में इस्लाम धर्म का अनुयायी

होने पर भी वे अपने प्राचीन अवतारवादी विश्वासों को छोड़ नहीं सके थे। इसी से हुलूल में विश्वास रखने वालों को कट्टरपंथी इस्लाम के अनुयायी घृणा या अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। इस्लाम में जिब्राइल जैसे दिव्य दूतों या लव को यहूदी या ईसाइयों के विपरीत हुलूल से भिन्न माना जाता था। हुलूलियों के प्रति घृणा का यह भी एक मुख्य कारण था।

उस घृणा-भाव का अनुमान इस कथन से किया जा सकता है कि सूफी विचारक जीली यह तो स्वीकार करता है कि मुहम्मद साहब ही उसे शेख के रूप में दृष्टिगोचर हुए थे। फिर भी उसका यह कठोर आग्रह है कि कहीं इस कथन को लोग हुलूल न समझ लें।[1]

हुलूली सम्प्रदाय का प्रवर्तक अबू हुल्मान नामका एक दमिश्क का निवासी सूफी था।[2] सम्भवतः इस्लामेतर होने के कारण ही मुस्लीम उसे इस्लाम के अन्तर्गत नहीं मानते। हुलूली सम्प्रदाय के लोगों में हुलूल, इम्तिजाज और नस्खे अरवह इन तीन विश्वासों का अत्यधिक प्रचार रहा है। हुलूल से उनका तात्पर्य है कि ईश्वर जन्म या अवतार लेता है। इम्तिजाज से वे ईश्वर के साथ संयोग की भावना करते हैं। नस्खे अरवह के अनुसार मानव आत्माओं के स्थानान्तरण या पुनः शरीर-प्रवेश में इनका दृढ़ विश्वास है।[3] सारांशतः अल्लाह के जन्म और आत्माओं के पुनर्जन्म दोनों में ये आस्था रखते हैं।

किन्तु मुस्लिम समाज में हुलूलियों का मत इतना व्यापक नहीं हो सका।

हल्लाजी

सूफियों में हुलूली विचारधारा का सर्वाधिक विख्यात प्रवर्तक मंसूर अल् हल्लाज था।[4] उसने हुलूल या अवतारवाद की विचारधारा को अपने जीवन के मूल्य पर प्रतिपादित किया। इस्लाम के विपरीत होते हुए भी मंसूर अल् हल्लाज के अवतारवादी सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव कालान्तर में होने वाले सूफी चिंतकों और कवियों पर पड़ा। इनमें इब्न अल् अरबी, अब्दुल करीम जीली, इब्न अल् फरीद, अबुसैयद और इब्न अबुल खैर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[5] भारतीय इस्लामी और सूफी साधक भी उसके विचारों से अत्यधिक मात्रा में प्रभावित हुए तथा गज़ाली, हुज्वीरी और अत्तार ने भी उसके विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

---

१. त० सू० पृ० १४२। २. हुज्वीरी पृ० २६०।
३. शाहरस्तानी—हरबुक का अनु० भा० २ पृ० ४१७।
४. हुज्वीरी पृ० २६० ५. इ० इ० इ० क० पृ० ७०।

हुलूली और हल्लाजी सम्प्रदायों के अवतारवादी विचारों में अंतर का एक मुख्य कारण रहा है। वह यह कि हुलूलियों का प्रवर्तक हुलमन ईसाई या यहूदी प्रधान क्षेत्र दमिश्क का होने के कारण यहूदी या ईसाई अवतारवाद से प्रभावित था। जब कि मंसूर अल् हल्लाज वर्षों तक भारतीय साधकों के बीच रह चुका था।[1] उसने भारत से केवल वेदान्त ही नहीं प्राप्त किया, अपितु अवतारवाद, पुनर्जन्म, देवों का मानवीकरण प्रभृति प्रवृत्तियों से भी प्रभावित हुआ। यों तो उसके अवतारवादी सिद्धान्तों पर भी भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। पर विशेष रूप से वह आवेशावतार की भावना से अधिक ग्रस्त रहा है। क्योंकि भावावेश में वह अपने को तो स्वयं अल्लाह का अवतार मानता ही था, साथ ही अपने शिष्यों को भी सम्बोधित कर कहता था कि तुम्हीं नोह हो, तुम मूसा हो, तुम मुहम्मद हो। मैंने उनकी आत्माओं को तुम लोगों के शरीर में आने के लिए निमंत्रित किया है।[2] हल्लाजियों के अनुसार आत्मा ईश्वर के सभी गुणों से युक्त है। वह शरीर में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार ईंधन में अग्नि। अबु बकर वज़ीती ने साधक आत्माओं की स्थिति के अनुसार आत्माओं के दस स्थान निश्चित किए हैं।[3] प्रायः सभी स्थान ईश्वर के सान्निध्य में रहने वाली आत्माओं के ही माने गए हैं। इनमें चौथी कोटि की वे आत्माएँ होती हैं जिनका सम्बन्ध रक्षा, दया, कृपा, आदि से होने के कारण अवतारवाद से भी प्रतीत होता है।

इस प्रकार हल्लाजी अवतारवाद मुख्यतः आत्मवादी अवतारवाद रहा है। इस मत में अल्लाह या पैगम्बरों की आत्माओं के पुनः-पुनः आवेश प्रधान अवतार का प्रचार रहा है। सामान्य रूप से फना की चरम साधनात्मक अवस्था में सूफी साधक भी खुदाई आवेश का अनुभव करते हैं। इसी आवेशात्मक भाव को सम्भवतः हल्लाज ने अवतारवादी रूप प्रदान किया। आगे चलकर इस आवेश का व्यापक प्रभाव सूफी साधकों पर लक्षित होता है।

अन्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं जो सूफी होने का दावा करते हैं, परन्तु वे मुसाबीह या मानव पूजा में विश्वास रखते हैं।

१. हि० प० लि०, ब्राउन जी० १ पृ० ४३०।
२. हि० प० लि०, ब्राउन जी० १ पृ० ४३०।
३. हुज्वीरी पृ० २६५।

यही नहीं अवतारवादी सिद्धान्तों में भी उनकी दृढ़ आस्था जान पड़ती है। उनके मतानुसार अल्लाह मनुष्य के शरीर में अपनी सत्ता के इंतिकाल (स्थानान्तरण) या ताजिया (विभाजन) के द्वारा आविर्भूत होता है। अल् हुज्वीरी ने इन सिद्धान्तों को भारतीय ब्राह्मणों के समकक्ष माना है; क्योंकि इस वर्ग के सूफी इबादत या पूजा के लिए भी अल्लाह-दर्शन का महत्त्व स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि अब्राहम ने भी सूर्य, चन्द्र और तारों को देख कर कहा—यही अल्लाह है।[1]

इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन विदेशी सूफी सम्प्रदायों पर भारतीय अवतारवादी और उपास्यवादी सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। फलतः भारत में आने वाले सूफी केवल भारत में आकर ही नहीं अपितु अपने पूर्व स्थानों से ही भारतीय अवतारवादी विचारों से प्रभावित थे। भारत आने के पूर्व ही मध्यकालीन अवतार, अवतारी और उपास्य-क्रम का उनमें प्रचार हो चुका था।

भारतीय अवतारवादी सूफी सम्प्रदाय

मध्यकालीन भारत में अनेक इस्लामी और सूफी सम्प्रदाय सारे देश में फैले हुए थे। ये सभी एक ओर तो मजार-पूजा करते थे या प्रवर्तकों को अल्लाह या मुहम्मद के प्रतिरूप मानते थे किन्तु भारतीय अवतारवाद और मूर्तिपूजा को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे।

फिर भी कतिपय सम्प्रदायों और सूफी कवियों में अवतारवादी विश्वासों के सूत्र मिलते हैं। आलोच्यकालीन सूफी सम्प्रदायों में दो प्रकार की अवतार-वादी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। प्रथम कोटि के सूफी सम्प्रदाय अपनी साम्प्रदायिक अवतार-परम्परा अल्लाह, मुहम्मद या अली से स्थापित करते हैं। भारतीय अवतारों की परम्परा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु दूसरे वर्ग के कुछ ऐसे सूफी सम्प्रदाय हैं जो मुहम्मद आदि पैगम्बरों के साथ भारतीय ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओं या अवतारों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। इनके धार्मिक ग्रंथों में अद्भुत समन्वय का दर्शन होता है।

प्रथम वर्ग के सूफी सम्प्रदायों में अवतारवाद की सप्रयोजन चर्चा नहीं दीखती अपितु उनके करामातों या चमत्कारों में अवतारवादी प्रसंग मात्र मिल जाते हैं, जो साम्प्रदायिक विश्वास के रूप में तत् सम्प्रदायों में प्रचलित हैं।

---

१. हुज्वीरी पृ० २३७।

भारत के प्रसिद्ध चिश्ती सम्प्रदाय में अली को अल्लाह और मुहम्मद के बराबर उपास्य समझा जाता है।[१] सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बहाउद्दीन जकरिया में लोग अल्लाह का आवेश मानते थे। कहा जाता है कि अल्लाह की आवाज ने उनको समस्त जगत का गौस बनाया जो पैगम्बर के पूर्व का स्थान है।[२] कादिरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक अब्दुल कादिर का जन्म भी अवतारवादी तत्त्वों से संवलित रहा है।[३] नक्शबंदी सम्प्रदाय के प्रवर्तक अहमद फारूकी के अवतरण की भविष्यवाणी अब्दुल कादिर जिलानी ५०० वर्ष पूर्व होकर देते हैं। इसके अतिरिक्त हजरत मुहम्मद अन्य सभी पैगम्बरों के साथ आकर इनके कानों में अजां दुहरा जाते हैं।[४] इस सम्प्रदाय में प्रचलित क्यूमों के प्रति कहा जाता है कि अल्लाह ने मुहम्मद साहब की रचना के उपरान्त उनसे बचे अवशिष्ट अंश से तीन क्यूमों की सृष्टि की। इनका कार्य भी पैगम्बरी या अवतारवादी विदित होता है; क्योंकि सम्प्रदायों में यह समझा जाता है कि अल्लाह ने दयावितरण और भक्तोद्धार का पैगम्बरी भार अहमद फारूकी को दिया है। फारूकी के पुत्रों को भी अक्षरों का रहस्य परमात्मा ही उन पर प्रकट होकर करते हैं।[५] बहाउद्दीन शाह मदार को पैगम्बर की कृपा से मुहम्मद और अली का साक्षात् दर्शन मिलता है।[६]

उपर्युक्त विश्वासों के अतिरिक्त भारतीय सूफी साधकों में मंसूर के प्रति बहुत आदर भाव रहा है। उनका विश्वास है कि ईश्वर ने जिस सत्य का निर्माण किया था, मंसूर ने उसी सत्य का प्रवर्तन किया इससे उसे शूली पर चढ़ा दिया गया।[७] भारतीय सूफी भी मंसूर अल् हल्लाज के अवतारवादी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अल्लाह स्वयं संदेश प्रसारित करता है, अपने आप की सेवा करता है और स्वयं वह अपने निर्माण के प्रति इच्छुक रहता है।[८] सिन्ध प्रदेश के निवासी अनेक सूफी अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास था कि ये संत मुर्शीद सर्वदा कल्याणकारी कार्य में रत रहते हैं। ये केवल नाम से ही ईश्वर हैं अन्यथा ये सन्त हैं।[९]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय इस्लामी और सूफी सम्प्रदायों में अनेक प्रकार की अवतारवादी धाराएँ प्रचलित थीं। एक ओर तो विभिन्न

---

१. सू० सा० सा० पृ० ४४६।
२. सू० सा० सा० पृ० ४६७।
३. वही पृ० ४७८।
४. सू० सा० पृ० ४९७।
५. सू० सा० सा० पृ० ५०३–५०५।
६. सू० सा० सा० पृ० ५१७।
७. सिन्ध० पृ० २०६।
८. सिन्ध० पृ० १२१।
९. सिन्ध० पृ० १२७।

सम्प्रदायों के लोग अपने सम्प्रदायों को विशुद्ध इस्लामी सिद्ध करने की होड़ में अपने प्रवर्तकों को अली या मुहम्मद का अवतार मानते हैं, तो दूसरी ओर कुछ सम्प्रदायों के प्रवर्तक सीधे अल्लाह से ही दीक्षित होकर सम्प्रदाय प्रवर्तन करते हैं। अतएव इन सम्प्रदायों का अवतारवादी रूप पूर्ण रूप से साम्प्रदायिक रहा है। इनके अतिरिक्त सिन्ध प्रदेश के सूफियों में अनेक ऐसे सूफी दृष्टिगत होते हैं जिन्होंने अल् हल्लाज के अवतारवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस वर्ग के सूफी वली या सन्तों को भी अवतारी पुरुष मानते हैं। इस्लामी विश्वासों के अनन्तर भारतीय अवतारवादी विश्वासों का प्रभाव भी मध्यकालीन सूफी सम्प्रदायों पर यथेष्ट मात्रा में पड़ चुका था। इस्लाम के मुख्य पैगम्बर परवर्ती सूफी सम्प्रदायों में मध्यकालीन उपास्यों के सदृश सूफी संतों के उपास्य हो चुके थे। समय समय पर उनका दर्शन और साक्षात्कार भी सूफी किया करते थे।

हिन्दू अवतार समन्वय

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त आलोच्यकालीन भारत में कुछ ऐसे सूफी संत कवि और सम्प्रदाय भी दीख पड़ते हैं, जिन्होंने इस्लामी पैगम्बरों और हिन्दू अवतारों में समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं। इन संतों की रचनाओं पर भी अवतारवादी साहित्य एवं तत्कालीन व्यवहारों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। पंजाब के सूफी संत शेख इब्राहिम की रचनाओं पर भागवत पुराण का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त सूफी सम्प्रदायों में कुछ ऐसे हिन्दू भी दीक्षित हुए जिनपर हिन्दू अवतारवादी संस्कार पहले से विद्यमान था। इसी प्रकार के एक उदाहरण माधोलाल हुसेन नामक सूफी हैं। आरम्भ में ये कायस्थ थे किन्तु बाद में इन्होंने इस्लाम को अपना लिया।[१] इसीसे इनकी रचनाओं में हिन्दू अवतारवादी रूप देखा जा सकता है। इस काल के सूफी साधकों में भी हिन्दू धर्म के प्रति उनकी यथेष्ट उदारता का परिचय मिलता है। शाह हुसेन नामक एक सूफी ने राम जी का नाम भी अपने उपास्य के रूप में लिया है। इन्होंने एक पद में राम से कुंद, सोंटा, फोटी, भांग और साधु-संगति की याचना की है।[२] पंजाबी सूफी संतों में इनायत शाह के विचारों पर हिन्दू धर्म एवं दर्शन का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है[3], जो इनकी पुस्तक 'दस्तूर-अल्-अमल' से स्पष्ट है। पंजाब के प्रसिद्ध

---

१. पा० सू० पो० पृ० १२।

२. पा० सू० पो० पृ० २४। 'जती जेती दुनिया रामजी, तेरे कोलु मांगदी।'

३. पा० सू० पो० पृ० ४५।

सूफी संत बुल्लेशाह भी गुरु और गोविंद को अभेद मानते हैं। इन्होंने अपने पदों में कई स्थानों पर ईश्वर या अपने उपास्य इष्टदेव को श्याम कह कर सम्बोधित किया है।[1] भारतीय अवतारवादी सिद्धान्तों की झलक भी इनके एक पद में मिलती है। उस पद में इनका कहना है कि गुरु ही अव्यक्त और अजन्मा ईश्वर को जन्मा या व्यक्त दिखाता है।[2]

बुल्लेशाह के पदों में एक विचित्र समन्वयवादी मनोवृत्ति का पता चलता है। ये प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर को देखते हुए अपने एकमात्र उपास्य ईश्वर को क्राइस्ट, कृष्ण, राम, मुहम्मद आदि विभिन्न सम्प्रदायों के वैशेषीकृत रूपों में भी देखते हैं। उनके पद्यों में अल्लाह तथा पैगम्बरों के अतिरिक्त हिन्दू अवतारों में विख्यात कृष्ण, राम या मुहम्मद आदि के अवतार-प्रसंगों को एक ही देव में समाहित किया गया है। एक ही परमात्मा वृंदावन में गो चराता है, लंका में विजय का डंका बजाता है और मक्का में हाजी होकर आता है। इस प्रकार एक ही ईश्वर विचित्र ढंग से रूप बदलता है।[3] बुल्लेशाह के इन पदों में अवतारवादी समन्वय का अत्यन्त उदार और व्यापक रूप दृष्टिगत होता है।

अतः मध्यकाल में इस्लाम के कट्टर राजाओं के कारण विभिन्न धर्मों में जहाँ संघर्ष की प्रवृत्ति रही है, उसी काल में सूफी साधकों का धर्म-समन्वय उनकी व्यापक उदारता का परिचय देता है। चौबीस अवतारों के अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतीय अवतारवाद प्रारम्भ से ही समन्वयवादी था। स्वयं अवतार धारण करने वाले विष्णु ही क्रमशः नारायण, वासुदेव, ब्रह्म, पुरुष, परमात्मा आदि विभिन्न साम्प्रदायिक उपास्यों से समन्वित होते होते सहस्र शीर्षा से सहस्र नामधारी हो चुके थे। उनके अवतारों में भी विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक समन्वित होते रहे। अतएव आलोच्यकालीन सूफी संतों ने इस समन्वयवादी अवतार-परम्परा में मुहम्मद, अली प्रभृति को समाहित कर उसके समन्वयवादी क्षेत्र और धारणा को और व्यापक बना दिया।

उस काल के सूफी अब यह विश्वास करने लगे थे कि प्रत्येक देश में अपौरुषेय धर्मग्रंथ कुरान और पैगम्बर जैसे दिव्य पुरुष हैं। यही कारण है कि राम और कृष्ण के प्रति इनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर अधिक बढ़ती गई। परवर्ती सूफियों पर श्रीकृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के रसिक भक्तों का भी अधिक प्रभाव

१. पा० सू० पो० पृ० ४५। 'बाहु पर कै लैं चले शाम भी कोई सङ्ग न सार्था।'

२. पा० सू० पो० पृ० ५५। 'पाया है कुछ पाया है सद्गुरु ने अलख लखाया है।'

३. पा० सू० पो० पृ० ५८। वृंदावन में गउ चरावे, लङ्का कड़के नाद बजावे।
मक्के दा बण हाजी आवै, वाह वाह रङ्ग बटाईंदा, हुन किये आप चपाईंदा।

पड़ा। उन्होंने वृंदावन, गोकुल और राधा-कृष्ण का समाहार मक्का-मदीना और राधा के स्थान में स्वयं तथा कृष्ण के स्थान पर मुहम्मद के रूप में किया।[१] पंजाब के शम्सी सम्प्रदाय के लोगों में भी हिन्दू-मुस्लिम धर्म का अभूतपूर्व समन्वय मिलता है। वे आगा खाँ को ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवों का अवतार मानते हैं।[२] उसी प्रकार इस्माइली सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने जाने वाले खोजा सम्प्रदाय के प्रवर्तक पीर सदर-अल् दीन। (१४३० ई०) ने ब्रह्मा को मुहम्मद, विष्णु को अली और आदम को शिव माना है।[३]

इससे स्पष्ट है कि सूफियों के उदार दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप हिन्दू-मुस्लीम उपास्य देवों के परस्पर समन्वय के प्रयास होने लगे थे। सम्भवतः हिन्दू भी सूफियों की इस समन्वय प्रवृत्ति से प्रभावित हुए; क्योंकि अल्लाह को हिन्दू देवताओं की परम्परा में ग्रहण करने के निमित्त 'अल्लोपनिषद्' का प्रणयन इसी युग में हुआ।

दशावतार

आलोच्यकाल में पीर सदर-अल् दीन नामक एक व्यक्ति खोजा सम्प्रदाय का प्रधान था। उसने 'दशावतार' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें अंतिम अवतार कल्कि को न मान कर अली को विष्णु का दसवाँ अवतार माना। इसमें नौ अवतारों तक तो हिन्दुओं की आलोच्यकालीन दशावतार परम्परा ही गृहीत हुई है, किन्तु अंतिम दसवाँ अवतार अली को मान कर विचित्र समन्वय का परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ खोजा सम्प्रदाय का धार्मिक ग्रंथ है। प्रायः सभी खोजा इसे अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।[४] खोजा सम्प्रदाय के अतिरिक्त पीरजाद सम्प्रदाय में भी विष्णु की दशावतार परम्परा का प्रचार है। इस सम्प्रदाय के लोग दसवें निष्कलंक अवतार को भविष्य में आने वाला परमदेव मानते हैं।[५]

इससे विदित होता है कि दशावतार की भावना मध्यकालीन युग में हिन्दू, जैन, बौद्ध सम्प्रदायों[६] में ही नहीं अपितु सूफी या इस्लामी सम्प्रदायों में भी व्याप्त थी।

---

१. सू० सा० सा० पृ० ४२६। २. सू० सा० सा० पृ० ४२६।
३. प्री० इस० पृ० २७५। ४. प्रि० इस० पृ० २७४।
५. सू० सा० पृ० ४२७।
६. अन्य सम्प्रदायिकों के निमित्त दशावतार नामक अध्याय द्रष्टव्य।

आलोच्यकाल में एक ओर तो सूफियों ने राम, कृष्ण या दशावतारों को अपनाया और दूसरी ओर उस काल के हिन्दू पुराणकार भी इस प्रवृत्ति से विशेष प्रभावित हुए। 'अल्लोपनिषद्' की रचना करने के अनन्तर भविष्यपुराण के २५५, २५६ और २५७वें अध्यायों में सम्भवतः सूफियों से ही प्रभावित होने के कारण उन्होंने इस्लामी पैगम्बरों को पुराणों में ग्रहण किया। उक्त अध्यायों में आदम और नूह की वंश-परम्परा का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ आदम की पत्नी हौवा का सम्भवतः परिष्कृत नाम हव्यवती बताया गया है।[1] इसी स्थल पर नूह की कथा का अपूर्व वैष्णवीकरण हुआ है। मनु के सदृश नूह से सम्बद्ध जल-प्रलय की कथा तो प्रसिद्ध है ही यहाँ वे एक विष्णु भक्त के रूप में प्रस्तुत किए गये हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन सूफी सम्प्रदायों ने इस्लाम के शिया सम्प्रदायों से प्रचलित अवतारवादी तत्त्वों को ग्रहण किया। क्योंकि शिया सम्प्रदायों के अवतारी और उपास्य अली इमाम शिया सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारतीय सूफियों में भी बहुत अधिक प्रचलित हुए। इसके अतिरिक्त अवतारवादी भारतीय सूफी सम्प्रदायों ने हिन्दू अवतारवादी सिद्धान्तों और राम, कृष्ण तथा दशावतारों को उदारता पूर्वक अपने सम्प्रदायों में इष्टदेव का स्थान दिया। जिसके प्रभावस्वरूप परवर्ती पुराणों में इस्लामी पैगम्बरों की भी कथाएँ गृहीत हुईं।[2] इस प्रकार मध्यकाल में हिन्दू-मुस्लीम धर्म-समन्वय के महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए। इस्लामी और भारतीय अवतारवाद ही इस समन्वय के मुख्य आधार स्थल थे।

प्रेमाख्यानक काव्यों के पात्रों में अवतारत्व

साम्प्रदायिक रूप ग्रहण करने के पूर्व अवतारवाद का प्रारम्भिक रूप लोक व्यवहार के अतिरिक्त सर्वप्रथम काव्यों में ही मिलता है। आदि युग से लेकर अब तक शायद ही कोई ऐसा काव्य होगा जिसमें अवतारवाद के मूल जनक उपमा या रूपक का प्रयोग न हुआ हो। क्योंकि किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति में सादृश्य सहज एवं स्वाभाविक स्थान रखता है। अतएव काव्यों में प्रयुक्त अवतारवाद मूलतः उपमा, रूपक आदि अलंकारों की देन है। बाद में पौराणिक तत्त्वों के योग से उसका पौराणीकरण हुआ तथा एकेश्वरवाद और उपास्य रूपों से संबंध होने पर साम्प्रदायिक विकास हुआ।

---

१. भविष्य पु० अ० २५६। 'आदमो नाम पुरुषः हव्यवती तथा'।
२. भविष्य पु० अ० २५६।

वस्तुतः अवतारवादी प्रवृत्तियों एवं रूपों के विकास में आलंकारिक और पौराणिक दो तत्त्वों का विशेष योग माना जा सकता है। मध्यकालीन साहित्य में जिन अवतारवादी काव्यों की रूपरेखा मिलती है। उनका विशुद्ध काव्यात्मक तत्त्वों के स्थान में पौराणिक परम्पराओं से सम्पृक्त साम्प्रदायिक तत्त्वों का ही आधिक्य रहा है। जिसके फलस्वरूप उनमें व्यंजित अवतारवाद में आलंकारिक तत्त्वों की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का विशेष समावेश हुआ है।

उसके विपरीत प्रेमाख्यानक काव्यों में अवतारवादी सम्प्रदायों से पृथक् होने के कारण इनमें उपलब्ध अवतारवादी अभिव्यक्तियों में आलंकारिक तत्त्वों का अधिक योग दीख पड़ता है। साथ ही जिन पौराणिक तत्त्वों का समावेश हुआ है, उनके रूप विशुद्धतः पौराणिक न होकर काव्य रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

भारतीय प्रेमाख्यानों में दो प्रकार के काव्य दीख पड़ते हैं उनमें प्रथम कोटि के काव्य भारतीय प्रेम कथाओं की परम्परा में आते हैं और दूसरी कोटि में मध्यकालीन मुसलमान कवियों द्वारा रचित वे काव्य हैं जिन पर प्रेममार्गी सूफी संतों का प्रभाव है। इस दृष्टि से उन्हें सम्प्रदाय मुक्त और सम्प्रदाय बद्ध दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है।

आलंकारिक और साम्प्रदायिक अवतार पद्धति

सूफी मसनवी शैली के काव्यों में आये हुए पात्रों को एक ओर तो अपनी परम्परा के अनुरूप ज्योति अवतार के रूप में ग्रहण किया गया है और दूसरी ओर उन्हें विभिन्न आध्यात्मिक प्रतीकों से भी संयोजित किया गया है। जायसी पद्मावती के अवतार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जो ज्योति सर्वप्रथम आकाश में उद्भूत हुई वही पुनः अपने पिता के सिर में मणि के रूप में स्थित हुई। वही ज्योति पुनः माता के गर्भ से अवतरित हुई।[1] इन उद्धरणों में पद्मावती को केवल ज्योति का अवतार माना गया है। उसके अतिरिक्त जायसी ने आलंकारिक पद्धति में सामान्यतः पद्मावती को चन्द्रमा का ही अवतार कहा है।[2] जो प्रायः अन्य सुन्दरी स्त्रियों के लिए प्रयुक्त

---

१. प्रथम सो जोति गगन निरमई, पुनि सो पिता माथे मनि भई।
पुनि वह जोति मातु घट आई, तेहि ओदर आदर बहु पाई।

पद्मावत, अग्रवाल पृ० ५०।

२. पद्मावती राजा कै बारी, पदुम गंध ससि विधि अवतारी।

जा० ग्रं० पद्मावत, शुक्ल, पृ० ३८।

होता रहा है ।[1] जायसी के पूर्व ही मंझन ने वर और कामिनी दोनों को मिला कर सोलह कलायुक्त कहा है ।[2] इसके अतिरिक्त कुमार और मधुमालती का सम्बन्ध उसने ज्योति से भी स्थापित किया है । उसके पदों के अनुसार एक ही ज्योति इन दो रूपों में उत्पन्न हुई है ।[3] उसमान ने भी इसी परम्परा में कहा है कि ब्रह्मा ने राजा के घर में सहस्र कलाओं से युक्त चन्द्रमा से चित्रावली को अवतरित किया । एक दीप से प्रकाशित चारों दिशाओं के सदृश उसका भी अद्वितीय प्रकाश था ।[4]

इस प्रकार सूफी कवियों ने आलंकारिक परम्परा में रूप, गुण और धर्म के अनुसार अपने पात्रों को गन्धर्व, चन्द्रमा और अप्सराओं का अवतार कहा है । 'चित्रावली' के नायक सुजान को आलंकारिक परम्परा में ही उसकी सखियाँ गन्धर्व का अवतार बतलाती हैं ।[5] उसी प्रकार चित्रावली को भी कतिपय स्थलों पर अप्सराओं से उपमित किया गया है ।[6] इस आलंकारिक पद्धति का प्रयोग परवर्ती सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में भी दीख पड़ता है । 'इन्द्रावती' में मालती नाम की एक राजकुमारी का वर्णन करते हुए कवि उसे कभी शशि और कभी अप्सरा का अवतार बतलाता है ।[7]

उसमान ने 'चित्रावली' के नायक सुजान को शिव का अंशावतार भी बतलाया है । नाथ साहित्य पर विचार करते समय शिव के अवतारों की चर्चा हो चुकी है । वहाँ यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'वायु', 'लिंग' आदि पुराणों में शिव जी द्वारा अवतरित योगियों का परम्परा मिलती है । परन्तु आलोच्य प्रेमाख्यानों में शिव प्रायः उपास्य देव अधिक रहे हैं ।

---

१. सब रनिवास बैठ चहुपासा, ससि मंडल जनु बै अकासा ।
जा० ग्रं० पद्मावत शुक्ल, पृ० १४४ ।

२. मधुमालती पृ० २४, 'बर कामिनि मुख सोरह कला'

३. मधुमालती पृ० ३७, 'एक जोति दुइ भाव देखाई ।'

४. चित्रावली पृ० ५,
राजा गेह चित्रावली नारी, सहस कला विधि ससि औतारी ।
दूसर कोऊ न पाव तहि जोरा, एक दीप चहुखंड अंजोरा ।

५. चित्रावली पृ० १९४
जिन देखा तिन मुख अनुसारा यह सोई गन्धरव औतारा ।

६. चित्रावली पृ० २०१
चित्रसेन परिवार की बारी, जनु विधने अछरी औतारी ।

७. मालति वास मालती वासा, मालति पास मालती पासा ।
जानहु ससि भुई पर अवतरा, पुहमी पर उतरी अपछरा ॥
इन्द्रावती प्रथम, पृ० १०२ ।

फिर भी पौराणिक परम्परा में शिव, विष्णु आदि इष्टदेवों के वरदान स्वरूप जिनके पुत्र उत्पन्न होते हैं, प्रभावशाली होने पर उनके जीवन चरितों में इष्ट-देव के अंशावतार के रूप में उल्लेख किया जाता है। सुजान का भी अवतार संबंध इसी प्रकार का लक्षित होता है, क्योंकि सुजान के पिता धरनीधर के सिरदान से प्रसन्न होकर शिव जी कहते हैं कि देखो मैं अपना अंश तुम्हें दे रहा हूँ। अब तुमको पुत्र होगा।[1] वही योगी के रूप में अवतरित होगा।[2] शिव के वरदान या अंशावतार की परम्परा अन्य परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों में भी लक्षित होती है। नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' में शिव के आशीर्वाद के फलस्वरूप इन्द्रावती का अवतार होता है। उसे कवि ने रत्नावतार के रूप में भी उपमित किया है।[3]

इस प्रकार प्रेमाख्यानक काव्यों में उनके नायक-नायिकाओं के अवतारी-करण की दो पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। इनमें प्रथम है आलंकारिक पद्धति जिसके अनुसार नायक-नायिकाओं का अवतारवादी सम्बन्ध कवि-परम्परा में विख्यात उपमानों से स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरी है पौराणिक या साम्प्रदायिक पद्धति जो पुरातन काल से ही अवतारवाद के उन्नयन में विशेष योगदान करती आ रही है। इस पद्धति के अनुसार विष्णु, शिव, पार्वती, दुर्गा प्रभृति देव-देवियाँ अपने अनन्य भक्तों को पुत्र या पुत्री के लिए वरदान देकर स्वयं या अपने अंश से अवतरित होते हैं। तथा कुछ गन्धर्व या अप्सरा भी शापवश इन प्रेमाख्यानक काव्यों के नायक-नायिकाओं के रूप में अवतरित होते हैं। अतः साम्प्रदायिक अवतार के शाप और वरदान दो अमोघ अस्त्र रहे हैं जिससे नायक नायिकाओं का अवतार-सम्बन्ध अधिक सुगमतापूर्वक स्थापित किया जाता रहा है।

कामदेव-रति

भारतीय देवताओं में कामदेव और रति, काम और रति नामक मानवी प्रवृत्तियों के ही मानवीकृत रूप रहे हैं। पुराणों की कथाओं में साधारणतः इनका कार्य योगियों या तपस्वियों को पथभ्रष्ट करना रहा है। परन्तु प्रेम

१. देखु देत हौं आपन अंसा, अब तोरे है हैं निज वंसा। चित्रावली पृ० १९।

२. योगी अंस जो जग अवतरई, दिन दस साज जोगि कर करई।

चित्रावली पृ० १९।

३. सिवा अलख सो विनती कीया, जस है रतन जोत सो दीया।
दीप रतन सम कन्या होई, करइ निकेत अंजोरो सोई।
भा दयाल दाता तेहि घरी, वोहि रतन कन्या अवतरी॥ इन्द्रावती पृ० १८।

के अभिव्यञ्जक प्रेमाख्यानक काव्यों में वर्णित नायक और नायिकाओं को प्रायः कामदेव और रति का अवतार माना जाता रहा है। इस कोटि के प्रेमाख्यानों में 'माधवानल कामकंदला' अत्यन्त प्रसिद्ध है। विभिन्न कालों में कुशलाभ, गणपति और आलम इन कवियों ने अपने काव्यों में माधवानल और कामकंदला को नायक नायिकाओं के रूप में ग्रहण किया है। इनमें से गणपति की रचना में माधवानल और कामकंदला, काम और रति के अवतार बतलाये गये हैं। जिस प्रकार सगुण भक्ति काव्यों में विष्णु और लक्ष्मी के अवतार शापवश वर्णित किये गये हैं, वैसे ही इस प्रेमाख्यानक काव्य में भी काम और रति का अवतार शुक के शाप से होता है।[1] परवर्ती कवि आलम ने इन्हें कामदेव से केवल उपमित भर किया है।[2] चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' के नायक और नायिका भी इसी परम्परा में कामदेव और रति के अवतार माने गये हैं। 'मधुमालती' के अनुसार शंकर के द्वारा भस्म होने पर उसकी राख से पाटलि और भ्रमर अर्थात् मालती और मधु उत्पन्न हुये और पास ही में स्थित सेवती वृक्ष से जैतमाल अवतरित हुई।[3] ना० प्र० सभा में सुरक्षित चतुर्भुजदास की ह० लि० 'मधुमालती' की प्रति में मधु स्वयं अपने को कामदेव का अवतार कहता है।[4] पुहकर कवि की प्रसिद्ध रचना 'रसरतन' के नायक वैरागर का राजकुमार सोम और चम्पावती की राजकुमारी रम्भा के रूप में कामदेव और रति का प्रासंगिक अवतार-रूप वर्णित हुआ है।[5] उसी प्रति में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न से भी उसका संबंध स्थापित किया गया है। मधु को श्रीकृष्ण-पुत्र, प्रद्युम्न का अंश कहा गया है।[6]

इस प्रकार प्रेमाख्यानक काव्यों का संबंध श्रीकृष्ण और उनके परिवार से लक्षित होता है। डा० कुलश्रेष्ठ ने प्रेमाख्यानक काव्यों का जो विवरण प्रस्तुत किया है उनमें श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, कामदेव और रति के अवतार माने जाने

---

१. कांइ कारण शुक चिंतवइ, न्यान-नयण अविलोय।
ब्राह्मण काम करी गणिउ, वेश्या ते रति होई॥
माधवानल कामकंदला, गायकवाड़ सीरीज, पृ० १४, १०२।

२. विद्या सोइ बृहस्पति जानो, रूप सोइ मकरध्वज मानो।
हिन्दी प्रेमगाथा काव्य द्वितीय सं० पृ० १८।

३. ना० प्र० पत्रिका सं० २०१०, डा० माता प्रसाद गुप्त का निबंध पृ० १८९।

४. मधुमालती ह० लि० पृ० १२५।
हम हैं काम अंश अवतारी, यह कछु कहै सुनै की न्यारी।

५. भा० प्रे० काव्य पृ० १९४।

६. मधुमालती ह० लि० पृ० १२६
श्रीकृष्ण देवकी कुंवर कहावै, प्रद्युम्न अंश नाम मधु गावै।

वाले उषा-अनिरुद्ध और स्वयं कामदेव से भी सम्बद्ध प्रेमाख्यानक काव्यों का पता चलता है।[1]

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि भारतीय प्रेमाख्यानों का प्रमुख लक्ष्य प्रेम की अभिव्यंजना करना था। भारतीय साहित्य में पूर्व काल से ही दम्पतियों में काम और रति का संचार करने के लिए काम और रति नाम के देव-देवी की अवतारणा की गई थी। इन दोनों का मुख्य अवतार-कार्य प्रेम उत्पन्न करना तथा प्रेमसूत्र को अधिकाधिक दृढ़ करना रहा है। इसी से सामान्य रूप से प्रेमी नायक और प्रिया नायिका काम और रति के ही अवतार माने जाते रहे हैं।

क्रम विकास की दृष्टि से काम और रति अत्यन्त प्राचीन देवता ज्ञात होते हैं। वैदिक संहिताओं में सूक्तों के देवता के रूप में इनका उल्लेख हुआ है। इस दम्पति में काम की अपेक्षा रति का पहले पता मिलता है।[2] ऋग्वेद के प्रथम मंडल में ही 'एक सौ उनहत्तरवें सूक्त' के देवता-रूप में रति का नाम आया है। इस सूक्त के तीसरे मंत्र में 'मिथुन' तथा चौथे मंत्र में 'काम' का प्रयोग हुआ है। इससे यहाँ रति के काम एवं सम्भोग से सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है। इस तथ्य से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि काम की अपेक्षा रति का दैवीकरण पहले ही हो चुका था। क्योंकि ऋग्वेद में देवता-रूप में काम का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। 'रति सूक्त' के चौथे मंत्र के अतिरिक्त ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कामना के अर्थ में काम का प्रयोग हुआ है।[3] काम का यही अर्थ प्रायः 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' २,४,१,१० तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक' १, २३, १ में दृष्टिगत होता है।

परन्तु काम का सर्वप्रथम दैवीकृत रूप 'अथर्व सं०' नवम कांड में लक्षित होता है। यहाँ काम इस कांड के दूसरे सूक्त के देवता-रूप में गृहीत हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि काम का दैवीकरण रति के पश्चात् अथर्वकाल में हुआ। फिर भी दोनों के सम्बन्ध का भान 'रति सूक्त' से ही होने लगता है। 'अथर्ववेदीय 'कामसूक्त' के मंत्र में रति का अस्तित्व विरल जान पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि रति और काम का प्रारम्भिक दैवीकरण पृथक्-पृथक् होता रहा है। भाव या कार्य साम्य के कारण ही इनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। क्योंकि एक ओर तो रति का

---

१. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य पृ० १३ उषा-अनिरुद्ध पृ० १६ 'मदनशतक'।

२. ऋ० १, १७९, १-६।   ३. ऋ० १०, १२९, ४।

सम्बन्ध मिथुन से रहा है और दूसरी ओर 'कामसूक्त' के सर्वाधिक मंत्रों में दम्पति के कल्याण की याचना विदित होती है।

रति के अतिरिक्त कामदेव का दूसरा सम्बन्ध प्राचीन साहित्य में विष्णु से भी मिलता है। 'महाभारत' के 'विष्णु-सहस्रनाम' में काम और कामदेव दोनों शब्द विष्णु के पर्याय हैं।[1] शांकर भाष्य के अनुसार दोनों का अर्थ पुरुषार्थ चतुष्टय की कामना विदित होती है।[2] इन उदाहरणों से उनके उपास्यवादी सम्बन्ध मात्र का पता चलता है। किन्तु अवतारवादी सम्बन्ध की दृष्टि से अथर्ववेदीय 'कामसूक्त' के कुछ मंत्र विचारणीय हैं। अथर्व ९, २, १९ में काम को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला कहा गया है। इस मंत्र के अनुसार विष्णु की तुलना में काम के प्रथम अवतार का भान होता है। इसके अतिरिक्त अवतारवादी प्रयोजन की दृष्टि से काम भी विष्णु के सदृश धन और प्रदेश के निमित्त शत्रुओं का नाश करता है।[3] अन्य मंत्रों के अनुसार वह भक्तों के शत्रुओं का संहार करता है।[4]

इन मंत्रों के भावों से विदित होता है कि कामदेव भी प्रारम्भ में विष्णु के अवतारी गुणों और कार्यों से युक्त था। इसी से दोनों का समन्वित होना सहज सम्भव था। महाकाव्य काल में एक ओर तो विष्णु इष्टदेव या देवाधिदेव हो गए और कामदेव अन्य देवताओं के साथ केवल काम विशेष के अधिष्ठाता देवता मात्र रह गये।

महभारत काल में काम और रति का दाम्पत्य दृष्टिगत होने लगता है। 'महाभारत' के 'आदि पर्व' में कहा गया है कि काम धर्मपुत्र है और इनकी पत्नी का नाम रति है।[5] यहाँ इनके अवतार का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत काल तक काम और रति दोनों अवतार ग्रहण करने वाले देवता के रूप में अधिक प्रचलित नहीं थे। क्योंकि जिस प्रद्युम्न को काम का अवतार 'महाभारत' के 'अनुशासन पर्व' में कहा गया है[6] वे ही 'महाभारत' 'आदि पर्व' में सनत्कुमार के अंश से अवतरित कहे गए हैं।[7] दो अवतारों से सम्बद्ध होने के कारण श्रीकृष्ण के सदृश प्रद्युम्न भी भोग और योग दोनों से संवलित विदित होते हैं परन्तु

---

१. महाः अनु० १४९, ४५ और ८३।
२. शां. भा० वि० स० पृ० १३५, १९७।
३. अथर्व ९, २, ११।
४. अथर्व ९, २, १७-१८।
५. महा० आदि० ६६, ३३।
६. महा अनु० १४८, २०-२१।
७. महा० आदि० ६७, १५२।

इतना स्पष्ट है कि महाभारत काल से ही काम अवतार ग्रहण करने लगता है। 'महाभारत' अनु० १४८, २, १ में प्रद्युम्न के उत्पन्न होने पर कहा गया है कि 'वह कामदेव ही भगवान श्रीकृष्ण का वंशधर है।' यहाँ रति के अवतार का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। अतः कामदेव के इस रूप को, पौराणिक रूप की अपेक्षा आलंकारिक अधिक कहा जा सकता है। बाद में चल कर कामदेव का प्रद्युम्न रूप पुराणों में रूढ़ सा हो गया है। किन्तु यों सामान्य रूप से भी पुराणों में कामदेव और रति का सम्बन्ध पुत्र और पुत्रवधु से स्थापित किया जाता रहा है। सम्भवतः इसी परम्परा में श्रीकृष्ण, रुक्मिणी को प्रद्युम्न और मायावती का परिचय देते हुए उन्हें कामदेव और रति का अवतार बतलाते हैं।[1]

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि काम और रति का देवता रूप में पृथक्-पृथक् विकास हुआ। 'महाभारत' में दोनों एक साथ दिखाई पड़ने लगते हैं। परन्तु 'महाभारत' में ही केवल काम के अवतारवादी रूप का आरम्भ होता है। 'विष्णु पुराण' के युग तक कामदेव-रति दोनों का संयुक्त अवतार प्रचलित हो जाता है। मध्यकालीन प्रेमाख्यानों में इनका संयुक्त अवतार और अधिक प्रसार पाता है।

मध्यकाल में ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी और सगुण भक्तों की त्रिवेणी लगभग एक साथ प्रवाहित हो रही थी। कबीर (वि० १४५५–१४५१), मुल्लादाउद, (वि० १४२७) और विद्यापति, (वि० १४२५-१४७५) आदि प्रायः तीनों एक ही काल में हुये थे। अतः तीनों धाराओं का परस्पर प्रभावित होना असंभव नहीं कहा जा सकता। फिर भी सूफी कवि सगुण भक्ति या अवतारवाद से बहुत कम प्रभावित हुये हैं।

प्रेमाख्यानों में विष्णु के अवतार पात्र

सूफी काव्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रेमाख्यानक काव्यों का भी पता चलता है जिनके पात्र भारतीय साहित्य में विष्णु के अवतार रूप में अधिक विख्यात हैं। डा० कुलश्रेष्ठ द्वारा प्रस्तुत विवरण में कृष्ण-गोपी, राम-सीता, कृष्ण-राधा, कृष्ण-चन्द्रावली आदि प्रेमाख्यानों के नायक-नायिका विशेषकर अवतारवादी प्रतीत होते हैं।[2] इन अवतारवादी प्रेमाख्यानक काव्यों में कुछ तो सूफियों से प्रभावित हैं और कुछ विशुद्ध रूप से भारतीय प्रेमास्थानों की

---

१. वि० पु० ५, २७, ३०। २. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य पृ० ३१–३२।

शैली एवं उपादान दोनों ग्रहण करते हैं। जैसे 'रूप मंजरी' और 'मधुमालती' में सूफी प्रभाव के दर्शन होते हैं तो 'बेलिक्रिसन रुक्मिणिरी' पर सूफी प्रभाव लक्षित नहीं होता।

सूफी प्रेमाख्यानों में विष्णु के अवतार प्रसंग

उपर्युक्त अवतारवादी प्रेमाख्यानक काव्यों के अतिरिक्त सूफी काव्यों में विष्णु के अवतारों के प्रासंगिक वर्णन मिलते हैं। इन प्रासंगिक उल्लेखों की विशेषता यह है कि इन काव्यों के नायक और नायिकायें स्थान-स्थान पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विष्णु के अवतारों एवं उनके कार्यों की तुलना में प्रस्तुत की गयी हैं। पौराणिक अवतार इनके रूपों और जीवन की विभिन्न घटनाओं की तुलनात्मक अभिव्यक्ति के लिये अनिवार्य माध्यम बन गये हैं। इन कवियों की एक विशेषता यह भी है कि नायक-नायिकाओं में सूफी प्रेमादर्श की उद्भावना करते हुये भी वे उनके हिन्दुत्व से सम्बद्ध धार्मिक विश्वासों को बिल्कुल सुरक्षित रखते हैं। इसके फलस्वरूप तत्कालीन युग में प्रचलित राम-कृष्ण आदि अवतारों के उपास्य रूपों के भी प्रासंगिक वर्णन हुये हैं। इस प्रकार इन काव्यों के हिन्दू पात्रों के जीवन से सम्बद्ध तत्कालीन अवतारवाद को विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

जायसी पद्मावती के जन्म के पश्चात् उसके भावी जीवन की तुलना राम-सीता के जीवन से करते हुये कहते हैं कि इसकी वही गति होगी जो सीता की हुई थी। सीता अयोध्या में जन्मीं और उसकी देह में बत्तीस लक्षण प्रकट हुए। परन्तु दुष्ट रावण उसके साथ रमण करने के लिये पतंगों की भाँति सब भूल गया।[1] ये पद्मावती की भौंहों का वर्णन करते हुए अवतारों के द्वारा प्रयुक्त धनुष एवं उनके कार्यों के साथ विलक्षण सादृश्य स्थापित करते हैं। ये कहते हैं कि काली भौंहें तने हुये धनुष के सदृश विषाक्त बाण मारती हैं। स्वयं काल ने ही यह धनुष ताना है। यही धनुष कृष्ण के पास था। यही धनुष राम ने सीता स्वयंवर के समय धारण किया था और उसी से रावण का संहार किया था। उस धनुषधारी ने सारे संसार को अपना लक्ष्य बनाया है। उसे कोई नहीं जीत सका, उससे लजा कर स्वर्ग

---

१. सिंघल दीप भएउ अवतारू, जंबू दीप जाइ जम वारू।
राम आइ अयोध्या अपने लखन बतीसौ अंग।
रावन राइ रूप सब भूलै दीपक जैस पतंग। पद्मावत, अग्रवाल, पृ० ५२–५३।
बौद्धों के दशरथ जातक में सीता का जन्म अयोध्या में माना गया है।

की अप्सरायें तथा वृंदावन की गोपियाँ भी छिप गई हैं।[1] उसी प्रकार वरुनियों की तुलना राम-रावण की सेना से की गई है।[2]

अलाउद्दीन द्वारा बंदी रत्नसेन की दशा के साथ जायसी ने विष्णु के विभिन्न अवतारों एवं उनके कार्यों का विचित्र समन्वय किया है। वे बेड़ियों से जकड़े हुए रत्नसेन की अवस्था देख कहते हैं कि आज नारायण ने पुनः संसार को खूँद डाला है। आज सिंह को मंजूषा में बंद किया गया है। आज रावण के दसों मस्तक गिर गये हैं। आज कृष्ण ने कालीनाथ का फन नाथ दिया है। आज कंससेन ने अपने प्राण त्याग दिये हैं। आज मत्स्य-रूपधारी विष्णु ने शंखासुर को निगल लिया है। आज पांडव बंदी हो गये हैं। आज दुःशासन की भुजा उखड़ गई है। आज बलि पकड़ कर पाताल में डाल दिया गया है।[3] इस प्रकार रत्नसेन की दशा का ही वर्णन करने में संभवतः वराह[4], राम, कृष्ण, वामन, मत्स्य, आदि अवतारों के पराक्रम का उल्लेख किया है। उसके अतिरिक्त अन्य कतिपय स्थलों पर भी प्रासंगिक उल्लेख हुये हैं जो अवतारी रूपों की अपेक्षा काव्यों में प्रचलित रूढ़िगत रूप अधिक हैं। जैसे पृथ्वी धारण करने वाले कूर्म के लिए कहा गया है कि जो कूर्म धरती रोके हुए था वह भी हाथियों के भार से नीचे धँस गया है।[5] मत्स्यावतार में विष्णु ने सात पाताल खोज कर वेदों का उद्धार किया था,

---

१. भौंहें स्याम धनुक जनु ताना, जासौं हरै मार विख बाना।
उहै धनुक उन्ह भौंहन्ह, चढ़ा, केइ हथियार काल उस गढ़ा॥
उहै धनुक किरसुन यहं अहा, उहै धनुक राघौ कर गहा।
उहै धनुक रावन संघारा, उहै धनुक कंसासुर मारा॥
उहै धनुक बेधा हुतराहू, मारा ओही सहस्सर बाहू।
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा, धानुक ओपु बेझ जग कीन्हा॥
उहै मोहन्हंहि सरि केउन जीता, अछरी छपी छपी गोपीता।
पद्मावत, अग्रवाल पृ० ९९, १०२।

२. बरुनी का बरनौ इमि बानी, साधे बाम आज इह अनी।
जुरी राम रावन कै सेना, बीच समुंद भए दुइ नैना॥ पद्मा० अग्र० पृ० १०१

३. आज नरायन फिर जग खूँदा, आजु सिंध मंजूषा मूँदा।
आज खसे रावन दस माथा, आजु कान्ह करी फन नाथा॥
आजु परान कंस सेनि ढीला, आजु मीन संखासुर लीला।
आजु परे पंडौ बंदि माहाँ, आजु दुसासन उपरी बाहाँ॥
आजु सुरदिन अथवा भा, चितउर अंधियारा। पद्मा०, अग्र०, पृ० ६२७

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यहाँ परशुराम से तात्पर्य लिया है। परन्तु 'फिर जग खूंदा' का वराह से अधिक साम्य प्रतीत होता है। पद्मा० अग्र० पृ० ६२७।

५. कुरुम लिहें हुत धरती बैठि गयेउ गजभार। पद्मावत, अग्रवाल, पृ० ५२३, ४९७।

वैसे ही रत्नसेन कहता है कि मैं भी पद्मावती को पाने के लिये सात आकाश तक चढ़ूँगा।[1] नारायण की भी पद्मावत में चर्चा हुई है। रत्नसेन नारायण को उपास्य देव के रूप में प्रणाम करता है।[2] एक स्थान पर गोरा कहता है कि आज मैं वह चतुर्भुज कृष्ण बनूंगा जिनके सामने कंस नहीं रह सकता और राजाओं की तो बात ही क्या।[3] इस प्रकार के प्रासंगिक उल्लेख उसमान की 'चित्रावली' या अन्य सूफी काव्यों में भी मिलते हैं।[4]

परवर्ती कवियों में नूर मुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' को श्रीकृष्ण की बांसुरी से श्रेष्ठतर बतलाते हुये व्यंग्यपूर्वक कहा है कि इस बांसुरी की ध्वनि सुन कर अपनी बांसुरी से गोपियों को अचेत करने वाले[5] कृष्ण स्वयं अचेत हो जाते हैं।[6] इनके कथनानुसार इनके ईश्वर दर्शनराय को देखकर कृष्ण, रामादि अवतार भी मुग्ध हो जाते हैं।[7] तथा सर्वमंगला का रूप देख कर परशुराम भी हार जाते हैं।[8] जायसी की अपेक्षा नूर मुहम्मद ने वैष्णव अवतारों का अत्यन्त गौण रूप प्रस्तुत किया है जो उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है।

उक्त सूफी काव्यों के अतिरिक्त सूफी शैली से प्रभावित[9] हिन्दू कवियों द्वारा लिखे गये 'रूपमंजरी', 'मधुमालती' और 'पुहुपावती' में तत्कालीन सगुणोपासकों के अवतारवादी रूपों का परिचय मिलता है।

---

१. सप्त पतार खोजि जस काढ़े बेद गरंथ।
सात सरग चढ़ि धावौं पद्मावती जेहि पंथ॥ पद्मावत, अग्रवाल पृ० १४४, १४९।

२. नमो नमो नारायन देवा, का मोहि जोग सको कर सेवा।
तू दयाल सबके उपराहीं, सेवा केरि आस तोहि नाहीं॥
पद्मावत, अग्रवाल पृ० १४९, १९६।

३. चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू, कंस न रहा औरू को राजू। पद्मा० अग्र० पृ० ६८७

४. चित्रावली पृ० १६० कृष्ण, और पृ० १७२, १७३, १७८, १८१, राम और अन्य।

५. कृष्ण बांसुरी मोही गोपी, अब यह बंसी गई अलोपी। अनुराग बांसुरी पृ० ६।

६. सुनते जो यह शब्द मनोहर, होत अचेत कृष्ण मुरलीधर। वही पृ० ४।

७. दरसनराय तहाँ एक राजा, जाके दरसन सों दुख भाजा।
ताके भोग रीझ बनमाली, ताके भोग लजान कपाली॥
द्वैमातर (गणेश) तेहि विद्या लोभा, रीझउ रामचन्द्र तहि सोभा।
अनुराग बांसुरी पृ० ११।

८. हारे परसुराम और रामू, तेहि न चढ़ाई सके अभिरामू। अनुराग बांसुरी पृ० १२

९. ज्यों जल भरि जल भाजन मोही, इन्दु एक सबही में छाहीं।
नं० ग्रं० रूप० पृ० ११६।

हिन्दू प्रेमाख्यानों में वैष्णव अवतारवाद

अष्टछाप के वैष्णव कवि नंददास द्वारा रचित 'रूपमंजरी' में प्रेमाख्यानक शैली की कथाओं में ही श्रीकृष्ण को अवतार माना गया है। 'रूपमंजरी' जहाँ एक साधारण राजकन्या है, वहाँ इसके नायक स्वयं अवतारी श्रीकृष्ण हैं। वे कलिकाल में प्रकट नहीं होते हुये भी स्वप्न में इससे मिलते हैं।[1] सूफियों की अपेक्षा 'रूपमंजरी' में भारतीय संस्कृति और संस्कार अधिक विद्यमान हैं। क्योंकि इसमें नायक के स्थान में भारतीय परम्परा के अनुरूप स्वयं नायिका ही अधिक आकुल रहती है। 'रूपमंजरी' में नंददास जी ने केवल उसी के विरह का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के प्रति वे कहते हैं कि यद्यपि उन्हें वेदों में अगम कहा गया है फिर भी वे रंगीले प्रेमवश अवतीर्ण होते हैं।[2]

'रूपमंजरी' के अतिरिक्त 'मधुमालती' में श्रीकृष्ण एवं अन्य विष्णु के अवतारों का यथेष्ट परिचय मिलता है। इसमें श्रीकृष्ण के अवतार की चर्चा करते हुये कहा गया है कि वासुदेव और नंद गोप के गृह में निवास करने वाले और कंस का विनाश करने वाले कृष्ण प्रकट हुये। इन्होंने सर्वत्र अपनी माया का विस्तार किया है और वे ही आकर भूभार उतारते हैं।[3] 'मधुमालती' के पात्र विष्णु की स्तुति करते समय उनके अवतार-कार्यों एवं रूपों की चर्चा करते हैं। उस स्तुति के अनुसार हरि भक्तवत्सल एवं अवतार धारण करने वाले हैं। उस प्रभु की महिमा उनका स्मरण करने वाले संत ही जानते हैं। ये मिथ्या भक्ति को भी सत्य समझ लेते हैं। करोड़ों अपराध करने वाले के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते। बिना गुण-अवगुण का विचार किये इन्होंने न जाने कितनी गणिका और भीलनी को तारा। भक्त भृगु का लात प्रेम पूर्वक हृदय में धारण किया। इस प्रकार ये अत्यन्त सुख प्रदान करने वाले हैं। भक्तों के निमित्त इन्होंने इस बार अवतार ग्रहण किया। मत्स्यावतार में वेद छीन कर ब्रह्मा को दिया। वराह रूप में पृथ्वी का आग्रह पूर्ण

---

१. तिहू काल में प्रगट प्रभु, प्रगट न इहि कलि काल।
तातें, सपनों ओट दे, मैटे गिरिधर लाल॥ नं० ग्रं० रूपमंजरी पृ० १४३।

२. जदपि अगम ते अगम अति, निगम कहत है जाहि।
तदपि रंगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि॥ नं० ग्रं० रूपमंजरी पृ० १४३।

३. वासुदेव नंद गोप गृहवासी प्रगट्यो कृष्ण कंस विनासी।
माया सकल मांहि विस्तारे, ऐसो कोई आन भुइभार उतारे॥
मधुमालती ह० लि० पृ० १२५।

किया। द्रौपदी-चीरहरण के समय वस्त्र होकर छा गये।[१] इसके अतिरिक्त इस काव्य का नायक विष्णु का परम भक्त बतलाया गया है।[२] इनकी प्रार्थना सुनकर वे गरुड़ पर चढ़ कर वेग से आते हैं और मधु और मालती को शीघ्र ही मुक्त करते हैं।[३]

इस प्रकार वैष्णव तत्त्व-सम्पृक्त इन प्रेमाख्यानक काव्यों में शिव के स्थान में विष्णु की सहायता की संयोजना की गई है। इसमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रेमाख्यान के नायक-नायिका अन्य प्रेममाख्यानों की परम्परा के अनुरूप कामदेव और रति के ही अवतार रहे हैं। अतः विष्णु के जिस अवतार-रूप की चर्चा हुई है वह स्पष्ट ही मध्यकालीन उपास्यवादी-रूप है। विष्णु अवतार ग्रहण कर भक्तों की रक्षा ग्रहण करने वाले इष्टदेव हैं।

ईश्वरदास की रचना 'सत्यवती कथा' के प्रारम्भ में स्मार्त देवताओं की वंदना के साथ राम की भी वंदना की गई है। ईश्वरदास ग्रंथ रचना के पूर्व रामचन्द्र की कृपा के अभिलाषुक हैं।[४] इसके अतिरिक्त इस प्रेमाख्यान में यत्र तत्र नारायण का भी उल्लेख हुआ है।[५]

परवर्ती भारतीय प्रेमाख्यानों में दुखहरनदास कृत 'पुहपावती' विशिष्ट

---

१. हे हरिवत्सल भक्त विहारी, यह अवतार सवन मैं कारी।
स्मिरत संत करे प्रभु जाने, झूठी भक्ति सो सांची प्रभु जानै॥
संतन संत की वाचा राखी, जात ध्यावै सनियों साखी।
जिन अपराध कोटि ऐ करई, तू दयाल चित नेक न धरई॥
गुण अवगुण जौ यही विचारै तौ गनिका भीलन कित तारे।
भृगु लात आइ उन पारी, भक्त जान प्रीत चित धारी॥
एसो ही पर्म पूर्ण सुखदाई, तुम ऐसो पूरन सुख छाई।
ते दशरूप भक्त हित किन्हें, आन बढ़े ब्रह्मा को दीन्हें॥
धरनी छाड़ अग्रह जो राखी, मानो लगी पहार सो भाषी।
द्रोपदी चीर दुसान चुराये, ते कृपाल वह अंबर छाये॥
अति प्रवाह अंबर बाढ़्यो, तेरी जस उहि पानी काढ़्यो। मधुमालती पृ० ८८-८०।
२. सेवक सत जिय जान विष्णाते, यह सज्या निबही दोनोते। मधु० पृ० ८९।
३. मालती की उस्तुत सुनि लीन्ही, गरुड़ काज हरि आज्ञा दीन्ही।
गरुड़ वेग भारंढ बुलाये मधुमालती वेग छुड़ाये॥ मधु० पृ० ८९।
४. हिन्दुस्तानी १९३७, में उद्धृत सत्यवती कथा, १५५८ वि० का अंक पृ० ८४।
पहिले रामचन्द्र के दाया, तेहि पाछे जालप कै माया।
तेहि प्रसार होइ ग्रंथ पसारा, अपनी मति को जोरइ पारा॥
५. हिन्दुस्तानी पृ० ८६—नारायण बिनु सदा अभागी।

महत्त्व की है। इसके अन्य कथात्मक प्रसंग तो सूफियों की परम्परा में दीखते हैं किन्तु प्रारम्भिक मंगलाचरण के स्थान में अल्लाह और मुहम्मद के बदले इन्होंने राम का इष्टदेववादी रूप प्रस्तुत किया है। ये आरम्भ में उपास्य राम का नाम स्मरण करते हुये कहते हैं कि वह अलक्ष्य होकर भी सभी स्थानों में व्याप्त है। घट-घट में उसी की ज्योति विद्यमान है। शशी, सूर्य, दीपक और तारागण उसकी ही ज्योति से सारी सृष्टि को आलोकित करते हैं।[1] इन्होंने सूफियों के सदृश सृष्टि और समस्त प्राणियों की चेतना को अवतारी रूप प्रदान किया है। इनके पदों के अनुसार स्रष्टा राम ने जल से विश्व-पिंड की रचना की तथा सभी की देह में प्राण देकर उन्हें अवतरित किया।[2] 'पद्मावत' के समान 'पुहुपावती' में भी प्रासंगिक रूप से राम-विष्णु के पौराणिक अवतारी कार्यों की चर्चा की गई है।[3] जायसी के सदृश इन्होंने अवतारी धनुष का प्रसंग उपस्थित किया है। उनका कहना है कि राम और कृष्ण के जो अवतार हुए वे मूलतः एक ही राम के अवतार हैं। क्योंकि एक ही धनुष से रावण और कंस मारे गये थे। उसी धनुष को कामदेव ने अपने पास रक्खा था। अब वही धनुष नायिका के पास है। इस प्रकार इन्होंने भी नायिका की भौंहों को अवतारी धनुष से उपमित किया है।[4]

निष्कर्षतः सूफी या वैष्णव प्रेमाख्यानक काव्यों में विष्णु के अवतारों की प्रासंगिक चर्चा अधिक हुई है। वैष्णव प्रेमाख्यानों में वे स्वयं अवतार होने के साथ नायिकाओं के संबन्धगत उपास्य हैं। उपर्युक्त उपादानों से उनके उपास्य रूपों का ही पता चलता है।

कल्कि पुराण और जायसी की पद्मावती कथा

जायसी और 'कल्कि पुराण' की सिंघल द्वीप की निवासिनी पद्मावती की कथा में पर्याप्त समानता लक्षित होती है। अन्तर यही है कि एक का विवाह रत्नसेन से होता है और दूसरी का कल्कि से।

---

१. पुहुपावती। ना० प्र० स० ह: लि०। पृ० १
प्रथमहि सुमिरौ सम का नाउ, अलष रूप व्यापक सब ठाउ।
घट घट माह रहा मिलि सोई, अस वह जोति न देखौ कोई।
ससी सुरज दीपक जन तारा, इन्ह की जोति जगत उजियारा।

२. पुहुपावती पृ० २—तुही नीर से पिंड संवारा। तुही प्रान देइ सब औतारा।

३. पुहुपावती पृ० ३४—
मारत कै प्रहलाद उबारा.........तब तस मन मनसा प्रभु दीन्हा।

४. पुहुपावती पृ० ६२—राम कृष्ण जो भा अवतारा, रावन कंस वोही धनु मारा।
जवन धनुक मनमथ कर माहा, सोइ धनुक अब धनी के पाहा।

योगसाधना का अत्यधिक प्रभाव है किन्तु इसमें केवल शिव पार्वती का उल्लेख है और योग साधना संबंधी तत्त्वों का सर्वथा अभाव है।

यदि 'कल्किपुराण' का अस्तित्व जायसी की अपेक्षा प्राचीन है तो निःसन्देह जायसी की कथात्मक पृष्ठभूमि में कल्कि-कथा का भी कुछ योग माना जा सकता है।

निष्कर्ष

सूफी और हिन्दू प्रेमाख्यानों तथा उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य काव्य और सम्प्रदाय मध्ययुगीन अवतारवादी प्रवृत्तियों से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित थे। सूफी कवियों ने अल्लाह, मुहम्मद आदि का जो रूप ग्रहण किया था वह ईरान के सूफी काव्यों में तथा अवतारवादी सूफी सम्प्रदायों में पहले से व्याप्त था।

सूफी विचारकों ने जिस अवतारवाद को अपनाया था उसमें यहूदी, ईसाई, बौद्ध और हिन्दू अवतारवादी प्रवृत्तियों का प्रायः समन्वय हो गया था। भारतीय सूफी कवियों ने हिन्दू अवतारों को वह स्थान नहीं दिया जो ज्योति-अवतार मुहम्मद को मिला। किन्तु कुछ अवतारवादी सूफी-सम्प्रदायों के ग्रंथों में इस्लामी और हिन्दू अवतारों का अपूर्व समन्वय लक्षित होता है। भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों के रचयिता हिन्दू कवियों ने भी अपने काव्यों में राम और रहीम के समन्वय का प्रयास न कर केवल राम, कृष्ण आदि मयध्कालीन उपास्यों के विविध रूपों का वर्णन किया, जिनमें उनका अवतार-वादी रूप भी गृहीत हुआ है।

अवतारवाद की दृष्टि से हिन्दू प्रेमाख्यान 'रामायण' या 'महाभारत' की परंपरा में नहीं आते, प्रत्युत भारतीय प्रेम के देवता काम और रति ही कहीं नायक-नायिकाओं के उपमान बनते हैं और कहीं स्वयं उनके अवतार-रूप में उपस्थित होते हैं। यों काम और रति वैदिक देवताओं में से प्रचलित देवों में हैं; पर 'महाभारत' के पूर्व इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् मिलता है। ये सर्वप्रथम 'महाभारत' में युगलरूप में लक्षित होते हैं तथा 'विष्णुपुराण' (चौथी शती) में प्रद्युम्न-मायावती के अवतार-रूप में अभिहित किए जाते हैं। तब से लेकर आलोच्यकाल तक किसी न किसी रूप में इनका अवतार-वादी रूप मिलता है।

विष्णु के अवतारों में केवल कृष्ण ही ऐसे रहे हैं, जिन्हें कुछ प्रेमाख्यानों का नायक माना गया है। अन्यथा राम आदि अन्य अवतारों के उपास्य रूप और अवतार या उद्धार कार्य के केवल प्रासंगिक उल्लेख अधिक हुये हैं।

सातवाँ अध्याय

पांचरात्र, भागवत एवं वैष्णव सम्प्रदाय

मध्यकाल में संतों और सूफियों के साथ ही सगुण भक्ति का सर्वाधिक प्रचार हुआ। इस भक्ति के प्रचार में वैष्णव आचार्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो शंकर के समान इन आचार्यों ने अपने विशिष्ट मतों के प्रतिपादन में 'प्रस्थानत्रयी' या 'प्रस्थानचतुष्टय' का आधार ग्रहण किया, किन्तु जहाँ तक इनका सम्बन्ध अवतारवाद और सगुण उपास्यों के प्रतिपादन से है, वहाँ ये पांचरात्र साहित्य, और 'श्रीमद्भागवत' से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

पांचरात्र और भागवत दोनों में जिन अवतारवादी रूपों के दर्शन होते हैं, वे कतिपय विषमताओं के कारण, पृथक्-पृथक् परम्पराओं से गृहीत विदित होते हैं, क्योंकि पांचरात्रों में 'पर वासुदेव' के व्यक्त जिन व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा रूपों का वर्णन हुआ है, उनमें लीला या चरितप्रधान तत्त्वों की अपेक्षा उपास्य तत्त्वों का ही अधिक प्राधान्य है। जबकि 'भागवत पुराण' में निर्गुण ब्रह्म से उद्भूत क्रमशः पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतारों का वर्णन करते हुए विशेषकर लीलावतारों के चरितों या लीलाओं का पर्याप्त परिचय दिया गया है।

भागवत

परवर्ती पुराणों और आलोच्यकालीन वैष्णव आचार्यों ने उक्त दोनों अवतारवादी प्रवृत्तियों का अपूर्व समन्वय किया है, जिसकी स्पष्ट रूपरेखा इस युग के वैष्णव आचार्यों एवं कवियों की रचनाओं में मिलती है। फिर भी इस युग में जो महत्त्व 'भागवत पुराण' को मिला वह अन्य किसी को नहीं। मध्यकालीन अवतारवाद को यदि 'भागवत' का अवतारवाद कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

'श्रीमद्भागवत' अवतारवादी तथ्यों के विवेचन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। क्योंकि समस्त पुराणों में अनेक प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं का अवतारवाद के आधार पर विचार किया गया है। इस पुराण में अवतारवाद का अत्यन्त व्यापक रूप प्रस्तुत करते हुए परमात्मा की समस्त अभिव्यक्ति को उसका अवतरित रूप माना गया है।[1] परमात्मा का आदि रूप 'विराट पुरुष नारायण' है जो अवतारों का 'अक्षयकोष' है।[2] इस प्रकार 'भागवत' में मुख्यतः सृष्टि से लेकर वैयक्तिक अवतार तक तीन रूप लक्षित होते हैं। उनमें प्रथम उसका पुरुष रूप है। इस रूप में वह सृष्टि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। दूसरा उसका रजः, सत्व और तम से युक्त त्रिगुणात्मक रूप है जिसमें वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में कर्ता, पालक और संहर्ता है, और तृतीय उसका व्यक्तिगत रूप है, जिसमें वह रंजन एवं रक्षण के निमित्त लीलात्मक रूप धारण करता है।[3] इन लीलावतारों में पुराणों में प्रचलित परम्परागत अवतारों को ग्रहण किया गया है।

मध्यकालीन सम्प्रदायों में 'भागवत' में प्रचलित रूप विभिन्न प्रकार से गृहीत हुए। किसी न किसी रूप में प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों में उन रूपों को अपनाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'भागवत' का अवतारवादी सिद्धान्त पक्ष गौण हो गया और उसके स्थान में उन रूपों का ही अधिकाधिक प्रचार हुआ। इस युग में प्रचलित अन्य पुराणों में भी अवतारी उपास्यों का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। पुराणों में अब उनकी मूर्त्ति, मन्त्र, मन्दिर, मुद्रा, तीर्थ, व्रत और त्योहारों का भी विधान किया गया, जिनका प्रचार तत्कालीन जनसमाज में बढ़ता गया। इधर साम्प्रदायिक ग्रन्थों में अवतारों के वर्गीकरण के विविध प्रयास हुये। यों तो अवतारों का वर्गीकृत रूप 'भागवत' में ही लक्षित होने लगता है, किन्तु मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में उसका और अधिक प्रसार हुआ।

वैष्णव सम्प्रदायों में अवतारों के जो वर्गीकृत रूप दृष्टिगत होते हैं, 'भागवत' के उपादानों के अनुसार उन्हें मुख्य रूप से स्थानगत, कालगत और कार्यगत तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। इनका क्रम निम्न रूप में देखा जा सकता है—

---

१. भा०, १, ३, ३–५, भा० २, ४, ९ और भा० २, ६, ३७।

२. भा० १, ३, २३। ३. भा० २, ६, ४५, भा० २, ९. २६–२७।

भागवत

स्थानगत कालगत कार्यगत

जलजा, वनजा, लोकजा
नौ वर्षों के क्रमानुसार

कालावतार कल्पावतार मन्वन्तरावतार युगावतार

पूर्ण अंश कला विभूति पुरुषावतार गुणावतार
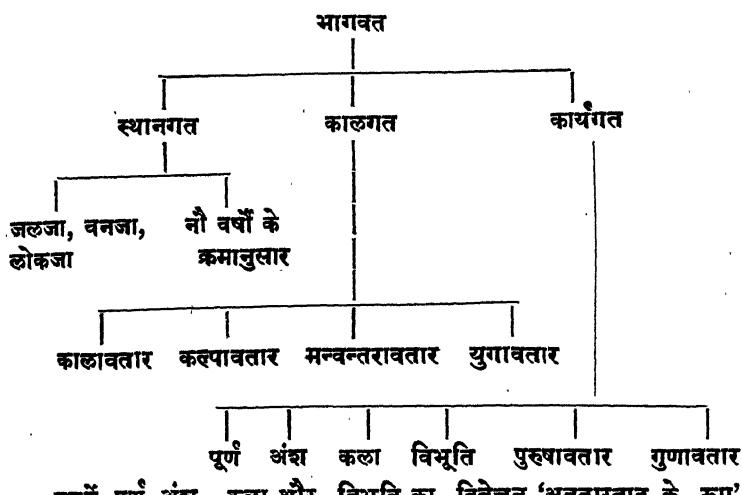
इनमें पूर्ण, अंश, कला और विभूति का विवेचन 'अवतारवाद के रूप' शीर्षक अध्याय में किया गया है। कार्यगत रूपों में आवेशावतार को भी लिया जा सकता है किन्तु 'भागवत' में उसका स्थान गौण है।

स्थानगत रूप

स्थानगत या स्थानानुरूप वर्गीकरण का मुख्य कारण पुराणों में पृथ्वी का कतिपय द्वीपों और वर्षों में विभाजन रहा है। पृथ्वी का भारत, केतुमाल आदि वर्षों में विभाजन करने के बाद मुख्यतः दशावतारों में से प्रत्येक को विभिन्न द्वीपों के पूज्य अर्चा विग्रह रूपों से सुसज्जित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। अतः अवतारों के स्थानगत वर्गीकरण का मुख्य आधार अर्चा-रूपों को माना जा सकता है। मध्यकाल में यह प्रवृत्ति श्रीकृष्ण के उपास्य अर्चा-रूपों के साथ दीख पड़ती है, जब श्रीकृष्ण की स्थानीय विशेषताओं को लेकर गोलोक, गोकुल, ब्रज, मथुरा, द्वारका, जगन्नाथ पुरी आदि विभिन्न स्थानों में विशिष्ट अर्चा विग्रह-रूपों की स्थापना की गई। इन सभी स्थानों में श्रीकृष्ण के व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है। आलोच्य स्थानगत अवतारों में भी ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं।

पुराणों में पृथ्वी को द्वीपों और प्रत्येक द्वीप को पुनः वर्षों में विभक्त किया गया है।[1] इनमें से क्रमशः अन्य द्वीपों के मध्य में कमल की कर्णिका के सदृश जम्बू द्वीप की स्थिति कही गयी है।[2] पुनः जम्बू द्वीप को इलावृत,

१. वि० पु० २, २, ५–६ में जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप बताए गए हैं।

२. वि० पु० २, २, ७ और भा० ५, १६, ५।

भद्राश्व, हरिवर्ष, केतुमाल, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, किम्पुरुष और भारतवर्ष इन नौ वर्षों में विभक्त किया गया है।[1] 'भागवत' के अनुसार इन नौ वर्षों में परम पुरुष भगवान् नारायण वहाँ के भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इस समय भी अपनी विभिन्न मूर्त्तियों में विराजमान रहते हैं। वे क्रमशः इलावृत में शंकर और वासुदेव व्यूह, भद्राश्व में हयग्रीव, हरिवर्ष में नृसिंह, केतुमाल में लक्ष्मी, कामदेव आदि, रम्यक में मत्स्य, हिरण्यमय में कूर्म, कुरुवर्ष में वराह, किंपुरुष में श्रीराम तथा भारतवर्ष में नर-नारायण रूप में निवास करते हैं।[2] इसके पूर्व ही 'विष्णुपुराण' में इससे किंचित् भिन्न परम्परा मिलती है। वहाँ केवल भद्राश्व में हयग्रीव, केतुमाल में वराह, भारतवर्ष में कूर्म और कुरुवर्ष में मत्स्य का उल्लेख हुआ है।[3] उक्त रूपों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इन पौराणिक वर्षों में अर्चा मूर्त्तियों का निवास है, तथा उन प्रदेशों में उनकी पूजा-अर्चना हुआ करती है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि कालान्तर में ज्यों-ज्यों विष्णु-भक्ति का प्रचार होता गया उसी अनुपात में उनकी अवतार मूर्त्तियों का भी पर्याप्त प्रचार हुआ। उपर्युक्त सूची में उनकी जिस स्थानीय प्रधानता की चर्चा हुई है वह ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक अधिक है, क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना कठिन है कि कुरु और भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य प्रदेश कौन थे, तथा किस युग में वैष्णव अवतारों की ये मूर्त्तियाँ वहाँ प्रचलित थीं। अतः इस विवेचन से इतना ही सिद्ध होता है कि पुराणों में अवतारों को स्थान के अनुरूप विभाजित करने के प्रयत्न हुए। मध्यकालीन साहित्य में इनका उसी रूप में प्रचार हुआ। नाभादास जी ने 'भक्तमाल' के एक छप्पय में जम्बूद्वीप नव खंड में उपस्थित इन अवतार मूर्त्तियों के साथ इनके भक्तों का नाम भी दिया है। इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, कुरुवर्ष, हरिवर्ष, किंपुरुष, भारतवर्ष, भद्राश्व और केतुमाल खंड के क्रमशः सदाशिव, मनु, अर्यमा, भूदेवी, प्रह्लाद, हनुमान, नारद, भद्रश्रवा और लक्ष्मी जी ये नौ भक्त भी हैं जो उनकी सेवा में सदा उपस्थित रहते हैं।[4] इनके मतानुसार मध्य द्वीप नौ खंड के जितने भगवद्भक्त हैं, वे सब राजा हैं और ये उनका सुयश कहने वाले बंदी हैं।[5] इस प्रकार अवतारों के उपर्युक्त रूप की चर्चा में भागवत का ही अनुसरण किया गया है।

---

१. भा० ५, १७–१८।
२. भा० ५, १७ से ५, १८ और ५, १९।
३. वि० पु० २, २, ५०–५१।
४. भक्तमाल छप्पय २५।
५. भक्तमाल छप्पय २५। 'मध्यदीप नौ खंड में, भक्त जिते मम भूप'।

मध्यकालीन आचार्यों में श्री वल्लभाचार्य ने भागवत १०, २, ४० में वर्णित दशावतार मूर्त्तियों का वर्गीकरण स्थानीय विशेषताओं के आधार पर किया है। उनके मतानुसार दशावतारों में नौ अवतारों की स्थिति जल, वन और लोक तीन स्थानों में है। अतएव मत्स्य, कूर्म और हयग्रीव जलजा; नृसिंह, वराह और हंस वनजा; तथा वामन, परशुराम और राम लोकजा माने गये हैं।[1] गोस्वामी तुलसीदास ने भी दशावतारों का स्थितिगत और स्थानगत वर्गीकरण करते हुए कहा है कि इनमें दो वनचर, दो वारिचर, चार विप्र और दो राउ हैं।[2]

इससे विदित होता है कि अवतारों के स्थानगत भेद से भी वर्गीकरण के प्रयास हुए थे; जिनमें पौराणिक प्रणाली में नौ खण्डों का आधार ग्रहण किया गया। बाद में नाभादास ने उन्हीं को अपनाया है। इसके अतिरिक्त स्थानगत वर्गीकरण के अन्य प्रयास वल्लभाचार्य और गोस्वामी तुलसीदास में दिखाई पड़ते हैं। इनकी प्रणाली पौराणिक न होकर स्वतन्त्र प्रतीत होती है। दूसरी बात जो यहाँ उल्लेखनीय है, वह यह कि यहाँ अवतारों का वस्तुतः अवतार रूप में वर्गीकरण नहीं हुआ है, अपितु उनके तत्कालीन उपास्य या अर्चा विग्रह-रूपों को स्थान या स्थितिभेद से अभिव्यक्त किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास भी उनका यश गाकर भव से तरना चाहते हैं।

कालागत रूप

वैष्णव पुराणों में स्थानानुरूप वर्गीकरण के अनन्तर कालगत भेद भी किए गये। इन भेदों में स्वयं काल को तो किसी भेद में नहीं लिया गया, फिर भी काल के अवतारवादी रूप का व्यापक परिचय पुराणों में मिलता है।

कालावतार

विशेषकर 'विष्णुपुराण' में काल का व्यापक रूप प्रस्तुत कर उसके अवतरित रूप का भी उल्लेख किया गया है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार परब्रह्म—व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल रूप से स्थित है।[3] उस परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है तथा अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त (महत्तत्व) आदि

---

१. सुबोधिनी टीका पृ० १२८ भा० १०, २, ४० की व्याख्या।

२. भक्तमाल पृ० ४८। दुइ वनचर, दुइ वारिचर, चार विप्र दो राउ।
तुलसी दश यश गाइके, भवसागर तरि जाउ॥

३. वि० पु० १, २, १४।

उसके अन्य रूप हैं। इनमें सबका प्रेरक होने के कारण काल उसका परम रूप है।[1] 'भागवत' में भी कपिल-देवहूति के वार्तालाप में कहा गया है कि 'परब्रह्म के अद्भुत प्रभाव-युक्त जागतिक पदार्थों के वैचित्र्य का कारण काल है। प्रकृति और पुरुष इसी के रूप हैं तथा यह इनसे भी पृथक् है।[2] 'विष्णुपुराण' में उत्पत्ति, पालन और संहार के निमित्त विष्णु के प्रधान, पुरुष आदि व्यक्त रूपों के साथ एक काल रूप भी माना गया है।[3] काल का रूप और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में विष्णु से प्रधान और पुरुष दो रूप हुए। इनका संयोगात्मक और वियोगात्मक रूपान्तर या सक्रियता ही काल का स्वरूप है।[4] 'भागवत' में तो कुछ और आगे बढ़ कर बताया गया है कि काल ही विष्णु है।[5] इस प्रकार 'भागवत' द्वारा प्रतिपादित सांख्यवादी अवतार-सृष्टि के विकास में काल सक्रिय तत्त्व विदित होता है। क्योंकि महदादि २३ तत्त्वों को सक्रिय करने के लिये भगवान काल-रूप में प्रवेश कर उन्हें क्षुब्ध करते हैं।[6]

'विष्णुपुराण' में विष्णु को कालस्वरूप कहा गया है और उनके अवतारत्व की चर्चा करते हुये कहा गया है कि 'विष्णु का परतत्त्व तो कोई नहीं जानता, अतः उसके जो रूप अवतारों में अभिव्यक्त होते हैं, देवतागण उसी की पूजा करते हैं।[7] 'विष्णुपुराण' में सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए प्रत्येक में चार आविर्भाव माने गये हैं, जिनमें से प्रत्येक में तीसरा आविर्भाव काल का है।[8] इसके पश्चात् काल, सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त अनिवार्य बताया गया है।[9] इससे प्रकट होता है कि 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' तक काल की सक्रियता अनिवार्य मानी गई तथा तीनों स्थितियों में कालावतार आवश्यक माना गया। किन्तु आगे चल कर काल का एक मात्र अवतार संहारक रुद्र-रूप में प्रकाशित हुआ।[10] मध्यकालीन कवियों में काल के संहारक अवतार का ही प्रचार रहा अन्य रूप गौण हो गए। 'विष्णुपुराण' के पाचवें अंश में कृष्ण को साक्षात् कालस्वरूप कहा गया है।[11] यहाँ काल-कृष्ण का अवतार-प्रयोजन भाराक्रान्त पृथ्वी पर दुष्ट राजाओं का दमन और

---

१. वि० पु० १, २, १५।
२. भा० ३, २९, ३६–३७।
३. वि० पु० १, २, १७।
४. वि० पु० १, ४, १४–१७।
५. भा० ३, २९, ३८।
६. भा० ३, ८, १–४ और ३, ८, ११।
७. वि० पु० १, ४, १४–१७।
८. वि० पु० १, २२, २६–२७।
९. वि० पु० १, २२, २८–२९।
१०. वि० पु० ३, १७ २५–२६।
११. वि० पु० ३५, ३८, ५८।

संहार माना गया है।[1] इसकी पुनः चर्चा 'भागवत' में भी हुई है और काल रूप में कृष्णावतार का प्रयोजन संहार करना है।

मध्यकालीन आचार्यों ने ईश्वर के काल रूप को प्रकृति और पुरुष के साथ लीला का उपकरण मात्र माना है।[2] क्योंकि इस काल तक यह धारणा अधिक व्याप्त हो गई थी कि ईश्वर में जो भी क्रियात्मक भाव हैं ये सब लीला मात्र हैं।[3] निम्बार्क के 'दशश्लोकी' में अचेतन के अप्राकृत, प्राकृत और काल तीन रूप बताए गए हैं।[4] पुरुषोत्तमाचार्य ने 'कालस्वरूप' की व्याख्या करते हुए उसे नित्य और विभु कहा है।[5] वैष्णव शास्त्रों के अनुसार काल और अनन्त दो रूप हैं। इनका सम्बन्ध वैष्णव सम्प्रदायों में लीला विभूति से है। क्योंकि लीला विभूति में परमेश्वर काल के अधीन होने का अनुकरण मात्र करता है।[6] इससे प्रकट होता है कि आलोच्यकाल में अवतारी उपास्यों की लीला का जब अधिक प्राधान्य हुआ तो काल उपास्यों की लीला का एक साधन मात्र रह गया। परन्तु वल्लभाचार्य ने 'भागवत' के कथनों की पुष्टि करते हुए काल को 'पर' भगवान स्वीकार किया है।[7] वल्लभ ने इसी परम्परा में काल की सक्रियता को भी माना है। उनके मतानुसार कालावतार में क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है, तथा सृष्टि और सृष्टि के विविध रूपों में काल स्वयं आविर्भूत होता है।[8] इस प्रकार पुनः वल्लभ ने 'विष्णुपुराण' की परम्परा में काल के व्यापक आविर्भूत रूप को ग्रहण किया है।[9] संत साहित्य में धरमदास ने केवल कालावतार का समर्थन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैष्णव पुराणों में काल का व्यापक रूप माना जाता रहा है। विष्णु और कृष्ण भी स्वयं कालस्वरूप समझे गये। अतएव विष्णु और कृष्ण से स्वरूपित होने के कारण काल की अवतार परिधि स्वतः अधिक व्यापक हो जाती है। फिर भी मुख्य रूप से काल के सृष्टिगत और व्यक्तिगत दो अवतार कहे जा सकते हैं। सृष्टि के आदि तत्त्वों में स्वयं प्रवेश कर काल उन्हें सक्रिय बनाता है, तथा श्रीकृष्ण आदि अवतारों के रूप में क्रूर राजाओं का संहार कर पृथ्वी का उद्धार करता है। मध्यकालीन

---

१. वि० पु० ५, ३८, ५९-६०। २. तत्त्वत्रय पृ० ६३।
३. तत्त्वत्रय पृ० ८९ 'अस्य प्रयोजनं केवल लीला'
४. वे० र० म० पृ० २२ श्लो० ३। ५. वे० र० म० पृ० ३७।
६. वे० र० म० पृ० ३७-३८।
७. तत्त्व दी० नि० सर्व निर्णय प्रकरण पृ० २९१ श्लो० ९७।
८. तत्त्व दी० नि० स० नि० प्र० पृ० २९९ श्लो० १०५।
९. तत्त्व दी० नि० स० नि० प्र० पृ० ३०३ श्लो० १११।

सम्प्रदायों में रामानुज और निम्बार्क ने काल को लीला का केवल उपकरण मात्र माना, किन्तु वल्लभ ने उसके व्यापक अवतार स्वरूप की पुष्टि की है।

कल्पावतार

पुराणों में काल को कल्प, मन्वन्तर और युग आदि के रूप में जब से वर्गीकरण करने की रीति का विकास हुआ तब से विष्णु के अवतारों को भी कल्पानुबद्ध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। 'विष्णुपुराण' में ब्रह्मा और रुद्र द्वारा सृष्टि और संहार का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कल्प के अन्त तक सत्वगुण-विशिष्ट विष्णु युग-युग में पालन करते हैं।[1] इस प्रकार इस पुराण के अनुसार प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और रुद्र संहार किया करते हैं। गीता में भी कृष्ण का कथन है कि कल्प के अन्त में सारे भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में पुनः उनको उत्पन्न करता हूँ।[2]

उपर्युक्त कथनों के अनुसार कल्पावतार का घनिष्ठ सम्बन्ध गुणावतार या सृष्टि, पालन और संहार से विदित होता है। किन्तु मध्यकालीन सम्प्रदायों में कल्पावतार की विचित्र रूपरेखा मिलती है। चैतन्य सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी ने 'लघु भागवतामृत' में चौबीस और एक पच्चीस पौराणिक अवतारों का अवतार प्रत्येक कल्प में बताया है।[3] पुनः कहा गया है कि प्रायः प्रत्येक कल्प में मनु गणों की स्वायम्भू प्रभृति नाम से मनुओं की उत्पत्ति होती है और यज्ञादि नाम से मन्वन्तरावतारों की अभिव्यक्ति होती है।[4] इसके अतिरिक्त इन्होंने युगावतार और मन्वन्तरावतार को अभिन्न माना है।[5]

इस प्रकार कल्पावतार में किसी नवीन अवतार की कल्पना नहीं की गई है, अपितु गुणावतार, २५ लीलावतार, मन्वन्तरावतार, और युगावतार इन सभी को कल्पावतार में ही समाविष्ट किया गया है।

मन्वन्तरावतार

युग, कल्पादि के सदृश कुछ विशेष मन्वन्तरावतारों का उल्लेख भी पुराणों में हुआ है। युग और कल्प के अवतारों तथा मन्वन्तरावतारों में एक वैषम्य यह है कि जहाँ 'विष्णुपुराण' या अन्य पुराणों में युग और कल्पावतार के रूप में प्रसिद्ध चौबीस अवतार ही गृहीत हुए हैं, वहाँ मन्वन्तरावतारों में

---

१. वि० पु० १, २, ६२। २. गीता ९, ७। ३. लघु० भा० पृ० ७० श्लो० ३२। ४, लघु० भा० पृ० ८० श्लोक २०। ५. लघु० भा० पृ० ७८ श्लोक २६।

अधिकांश नए अवतार समाविष्ट हुये हैं। 'विष्णुपुराण' में सात पूर्व मन्वन्तरों का उल्लेख करते हुए उनमें आविर्भूत सात अवतारों का वर्णन हुआ है। स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, और वैवस्वत मन्वन्तरों के क्रमशः यज्ञ, अजित, सत्य, हरि, मानस, वैकुण्ठ और वामन सात अवतार वर्णित हैं।[1] यों इस पुराण के पुनः दूसरे अध्याय में शेष सात मनु, देवता, ऋषि और इन्द्र का उल्लेख हुआ है।[2] किन्तु शेष सात अवतारों की कोई चर्चा नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मन्वन्तरावतारों की कल्पना में क्रमिक विकास हुआ है। उसी क्रमिक अवस्था का पूर्ववर्ती रूप 'विष्णुपुराण' के आलोच्य अध्यायों में आया है। साथ ही जिन शेष सात अवतारों का 'भागवत' में वर्णन हुआ है वे इसी क्रमिक विकास के परिणाम तथा परवर्ती रूप हैं।

परवर्ती पुराणों में प्रायः १४ मन्वन्तरों की संख्या रूढ़ होने के कारण शेष सात अवतार भी अस्तित्व में आ गए। 'भागवतपुराण' में १४ मन्वन्तरों के साथ १४ अवतारों का उल्लेख हुआ है। इस पुराण के अनुसार स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सर्वाणि, दक्ष सर्वाणि, ब्रह्म सर्वाणि, धर्म सर्वाणि, रुद्र सर्वाणि, देव सर्वाणि और इन्द्र सर्वाणि इन चौदह मन्वन्तरों के क्रमशः यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुंठ, अजित, वामन, सर्वभौम, ऋषभ, विष्वकसेन, धर्मसेतु, स्वधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु ये १२ मन्वन्तरावतार कहे गए हैं।[3]

'विष्णुपुराण' और 'भागवतपुराण' के उपर्युक्त क्रम में कुछ परिवर्तन दीख पड़ता है। स्वारोचिष मन्वन्तर में अजित के स्थान में भागवतकार ने विभु का नाम दिया है। इसी प्रकार चाक्षुष में वैकुंठ के स्थान में अजित और रैवत म० में मानस के स्थान में वैकुंठ गृहीत हुए हैं। इसके अतिरिक्त उक्त मन्वन्तरावतारों में से यज्ञ, हरि, वामन, और ऋषभ चौबीस पौराणिक लीलावतारों में भी विख्यात हैं।

फिर भी मध्यकालीन सम्प्रदायों में इनके रूप यथावत् गृहीत हुये। विशेषकर 'लघु भागवतामृत' में रूप गोस्वामी ने उपर्युक्त क्रम को अपनाया है।[4] और अन्त में इनके अवतार प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि देवताओं के मध्य में इन्द्र की सहायता के निमित्त जो मुकुन्द के आविर्भाव हैं—वे मन्वन्तरावतार कहे जाते हैं।[5]

---

१. वि० पु० ३, १।
२. वि० पु० ३, २।
३. भा० ८, १, ५-३०, भा० ८, ५, ४-९ और भा० ८, १३ १७-३५।
४. लघु० भा० पृ० ७२-७८।
५. लघु० भा० पृ० ७२।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'विष्णुपुराण' में वर्णित सात मन्वन्तर और उनके अवतार प्रारम्भ में निर्मित हुए। भविष्य में होने वाले मन्वन्तरों में बार-बार 'सर्वाणि' नाम के प्रयोग से स्पष्ट है कि संख्या पूर्ति का निर्वाह इन नामों में किया गया और अवतारों की संख्या घटने पर कुछ अवतार चौबीस अवतारों में से ही अपना लिए गए। मध्यकालीन सम्प्रदाय एवं साहित्य दोनों में पौराणिक रूपों का ही प्रचार हुआ।

युगावतार

संत साहित्य के अध्ययन क्रम में एक युगान्वद्ध चतुर्युगी अवतार-परंपरा पर विचार किया जा चुका है। पुराणों से सीधे गृहीत वही परंपरा सगुण साहित्य और सम्प्रदाय में भी व्याप्त रही है। पौराणिक युगावतार का मूल आधार 'गीता' ४, ८ में प्रयुक्त 'सम्भवामि युगे युगे' की भावना जान पड़ती है। 'विष्णुपुराण' में युगावतार का विस्तृत विवरण मिलता है। इस पुराण के अनुसार भगवान युग-युग में आविर्भूत होकर वैदिक धर्म की सन्तति की रक्षा करते हैं। वे तपस्या भाव, वर्णाश्रम आदि की मर्यादा विविध शास्त्रों के प्रणयन द्वारा पुनः-पुनः स्थापित करते हैं।[1] युगावतार की परंपरा का आगमन यहाँ पुर्नजन्म की प्रवृत्ति से प्रेरित है। क्योंकि इस पुराण के अनुसार पूर्ववर्ती धर्म प्रवर्तक ही अपनी परवर्ती सन्तान के घर उत्पन्न होते हैं, और फिर उत्तरकालीन धर्म प्रवर्तक अपने ही घर में सन्तान-रूप से उत्पन्न हुए पितृगणों के कुलों में जन्म लेते हैं।[2] इस पुनरावर्तन का कारण बताते हुए कहा गया है कि प्रत्येक चतुर्युग के अंत में वेदों का लोप हो जाता है। उस समय सप्तर्षिगण स्वर्ग से पृथ्वी में अवतीर्ण होकर वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सत्ययुग के आदि में स्मृति के रचयिता मनु का प्रादुर्भाव होता है और देवता यज्ञ फल ग्रहण करते हैं। इसी अध्याय में चारों युगों में अवतरित होने वाले कपिल, चक्रवर्ती भूपाल, व्यास और कल्कि का उल्लेख किया गया है। युगावतार में विष्णु समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए सत्ययुग में कपिल आदि रूप धारण कर परम ज्ञान का उपदेश करते हैं। त्रेता युग में वे चक्रवर्ती भूपाल होकर दुष्टों का दमन करके जगत की रक्षा करते हैं। द्वापर युग में वे वेद व्यास का रूप धर कर एक वेद के चार विभाग करते हैं और पुनः सैकड़ों शाखाओं में विभक्त कर उसका बहुत विस्तार कर देते हैं। इस प्रकार द्वापर में वेदों

---

१. वि० पु० ३, ८, २९। २. वि० पु० ३, ८, ३०।

का विस्तार करने के उपरान्त कलियुग के अंत में वे कल्कि रूप धारण कर दुराचारी लोगों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं।[1]

मध्य युग में ये अवतार तो चौबीस लीलावतारों में गृहीत हुए परन्तु युगावतार की प्रवृत्ति पुनः दूसरे रूप में सम्प्रदायों में प्रचलित हुई। विशेषकर संत साहित्य में इस परंपरा का विशेष प्रचार हुआ। किन्तु गौड़ीय वैष्णव मत में युगावतार के रूप में भा० ११, ५, २०–३२ में चारों युगों की चार मूर्त्तियों को और मन्वन्तरावतारों को ही अपनाया गया है।[2] इस प्रकार ल० भा० में युगावतार की विचित्र रूपरेखा लक्षित होती है। क्योंकि एक ओर तो संतों में यह अवतार-परंपरा के रूप में प्रचलित हुई पर वैष्णव सम्प्रदायों में अवतरित परंपरा के स्थान में चारों युग में प्रचलित कही जाने वाली अवतार मूर्त्तियाँ ही अधिक लोकप्रिय हुईं।

कार्यगत

'भागवत' में प्रचलित अवतारों के स्थानगत और कालगत विशेषता के अनन्तर अवतार-कार्य की दृष्टि से विभिन्न रूपों का उल्लेख किया जा चुका है। उनमें से केवल पुरुषावतार और गुणावतार यहाँ विचारणीय हैं।

पुरुषावतार

'भागवत' के अध्ययन से यह विदित होता है कि तत्कालीन युग में अन्य प्रवृत्तियों के साथ कतिपय वैदिक विचारधाराओं को आत्मसात् करने के प्रयत्न होने लगे थे। उनमें देव रूपों का अवतारीकरण अधिक उल्लेखनीय है। भागवत काल में अवतारवाद के सिद्धान्त को भी अधिक व्यापक, वैज्ञानिक और शास्त्रीय बनाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस दृष्टि से 'पुरुष सूक्त' के पुरुष को आद्यावतार और अवतारों का जनक[3] कह कर पुरुष और अवतारवाद में अभूतपूर्व सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

क्योंकि 'गीता', 'महाभारत' और 'विष्णुपुराण' तथा अन्य प्राचीनतर पुराणों में पुरुष का अस्तित्व तो मिलता है किन्तु अवतारवाद से उसका स्पष्टतर सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इस दृष्टि से 'भागवत' के पुरुष पर विचार के पूर्व उसकी पूर्व पृष्ठभूमि का अवलोकन भी अपेक्षित जान पड़ता है।

पुरुष का क्रमिक विकास

वैदिक साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों का केवल दैवीकरण होकर सीमित

---

१. वि० पु० ३, २, ५४–५८। २. ल० भा० पृ० ७८ श्लोक १६।

३. भा० २, ६, ४१, और १, ३, ५।

नहीं रहा अपितु उनमें मानवीकरण की प्रवृत्ति का भी उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। उसी मानवीकरण के विकास-क्रम में पूर्ण पुरुष की कल्पना की गई जिसके शरीर में अखिल सृष्टि को समाहित किया गया। इस प्रकार दैव जगत में एक ऐसे विराट पुरुष (ऐन्थ्रोपोसेंन्ट्रिक मैन) की सर्जना की गई जो कालान्तर में ईश्वर की स्थूल अभिव्यक्ति का प्रतीक माना गया। वैदिक साहित्य में यह कल्पना नारायण ऋषि द्वारा 'पुरुष सूक्त' में प्रारम्भ में अभिव्यक्त हुई। 'पुरुष सूक्त' की यह कल्पना केवल 'ऋक संहिता' में ही नहीं अपितु अन्य तीनों संहिताओं में भी अभिव्याप्त है।[1] विचित्रता तो यह है कि सर्वत्र इसका सम्बन्ध नारायण ऋषि से ही रहा है। इससे पुरुष-कल्पना की लोकप्रियता का भान होता है।

यह सहस्रों सिर, चक्षु और चरणों से युक्त पुरुष अखिल सृष्टि को चारों ओर से आवृत कर उससे दश अंगुल ऊँचा है।[2] यहीं उसके सर्वव्यापी, कारण-कार्य रूप, जगत स्रष्टा, नियंता आदि पुराणों में प्रचलित रूपों का आभास मिलने लगता है, तथा सृष्टि और जीव के आविर्भाव का उससे सम्बद्ध होना भी स्पष्ट प्रतीत होता है।[3] 'यजुर्वेद' में पुनः पुरुष-रूप का अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय मिलता है। वहाँ उसके 'अजायमान' होने पर भी 'जायमान' होने की चर्चा की गई है।[4] इसके पूर्व ही 'ऋग्वेदिक संहिता' में पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु आदि पंच देवों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है।[5] सम्भवतः 'भागवत' ८, ५ में उसी का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार पुरुष से सृष्टि के विकास तथा सृष्टि के नाना जीव ओर देवताओं की उत्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है। संहिताओं के पश्चात् पुरुष-रूप का उत्तरोत्तर विकास होता गया। 'ब्राह्मणों' में 'पुरुष मेध' के रूप में उसका विस्तार हुआ है।[6] वहाँ उसे षोडश कलाओं से युक्त कहा गया है तथा 'पुरुषो हि नारायणोऽकामयत' के रूप में नारायण से सम्बन्ध स्थापित कर उसकी कामना का उल्लेख किया गया है।[7] 'बृहदारण्यक' में कहा गया है कि 'इस पृथ्वी में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है।[8] पुनः पुरुष

---

१. ऋ० १०, ९०, यजु० ३१,१–२२, अथर्व० १०, २, साम० पूर्व० ४ सू० ३–७।
२. ऋ० १०, ९०, १। ३. ऋ० १०, ९०, ५। ४. यजु० ३१, १९।
५. ऋ० १० ९०, २। ६. श० ब्रा० १३, ६, १।
७. श० ब्रा० ११, १, ७, ३६, और १३, १६, १, १। ८. बृ० उ० २, ५, १।

द्वारा व्यवहृत आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् और आत्मज्योतियों का क्रमशः उत्कर्ष दिखाते हुए कहा गया है कि 'आत्मा ही उसकी ज्योति है। यह आत्मज्योति के द्वारा बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है।[1] उपर्युक्त कथनों में पुरुष ब्रह्म के कार्यावस्थ रूप की अभिव्यक्ति होती है। 'छान्दोग्यो' में आदित्य और नेत्र दोनों में स्थित पुरुष को एक ही माना गया है।[2] एक दूसरे मंत्र में नेत्र स्थित पुरुष को आत्मा कहा गया है तथा 'कठोपनिषद्' में वही पुरुष सभी की अवधि और परम गति है।[3] इन तथ्यों से स्पष्ट है कि कालान्तर में पुरुष के साथ सृष्टि और मानव आत्मा के क्रिया व्यापारों को सम्बद्ध करने के प्रयत्न होते गए। उपनिषदों में उसका आत्म रूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि वह आत्मा गुह्य रूप से स्थित है और सूक्ष्म है।[4] इस प्रकार ऋ० १०, ९०, १ का पुरुष ही उपनिषदों में अंगुष्ठ मात्र' का पुरुष बन कर आया।[5] वही धूमरहित आन्तरात्मा के रूप में सभी के हृदय में स्थित है।[6]

'प्रश्नोपनिषद्' में उसी पुरुष आत्मा को सोलह कलाओं से युक्त एवं शरीरस्थ बतलाया गया है।[7] परन्तु पुरुष सूक्त का पूर्ण विकसित रूप 'मुंडकोपनिषद्' में मिलता है। वहाँ दिव्य मूर्त्ति पुरुष वाह्य और आभ्यन्तर में व्याप्त अज, अप्राण, अमना, शुभ्र, अक्षर, 'परतः परः' कहा गया है। यह पुरुष का तटस्थ ब्रह्म के सदृश निष्क्रिय रूप जान पड़ता है। परन्तु दूसरे मंत्र में इसके सक्रिय या कार्य रूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इससे प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्व धारिणी पृथ्वी आदि तत्व उत्पन्न होते हैं। अगले मन्त्र में उसका परम्परागत विराट रूप प्रस्तुत करने के उपरान्त कहा गया है कि इसी से देवता एवं नाना प्रकार की प्रजाओं की उत्पत्ति होती है।[8] इस प्रकार उपनिषदों में पुरुष का रूप उत्तरोत्तर विकसित होकर विस्तार पाता गया। उसके इन रूपों में कार्य और कारण दोनों का समान रूप से समावेश हुआ है। वह परब्रह्म तथा सृष्टि और व्यष्टि आत्मा के रूप में भी उपनिषदों में व्यवहृत हुआ।

परन्तु 'भागवत' की परम्परा को पुष्ट करने वाला सबसे अधिक महत्त्व का उपादान है, उसका सर्वप्रथम जन्म लेना और उसके विराट् रूप में अखिल सृष्टि का विकसित होना। सम्भवतः इसी आधार पर भागवत ३, ६, ८ में

१. बृ० उ० ४, ३, २–६। २. छा० १, ७, ५।
३. छा० ४, १५, १ और कठो० १, ३, ११। ४. कठो० १, ३, १२।
५. कठो० २, १, १२। ६. कठो० २, १, १३, २, १, १७।
७. प्रश्नो० ६, २। ८. मुं २, १, २–५।

विराट पुरुष को प्रथम अंश या प्रथम जीव और आद्यावतार माना गया है। सामान्य पुरुष के सदृश सृष्टि के विकास का कारण स्वयं उस प्रथम पुरुष की कामना है, जिसने उपनिषदों में इच्छा का रूप धारण कर लिया है।[1] इस इच्छा के अस्तित्व से अवतारवाद के विकास में यथेष्ट सहायता मिली है। क्योंकि पुरुष आद्यावतार के रूप में केवल सृष्टि की ही इच्छा नहीं करता अपितु व्यक्तिगत रूप से विशेष प्रयोजनवश (रक्षा, संहार इत्यादि) या स्वेच्छा से लीला या रसानन्द के लिए स्वयं आविर्भूत होता है। इस इच्छा ने सृष्टि अवतार के अतिरिक्त व्यक्तिगत अवतार की भी आधार भूमि प्रस्तुत की। जिसके फलस्वरूप सामान्य विष्णु के अवतारों के साथ-साथ उपास्यवादी अवतारवाद का भी विकास हुआ। जो ब्रह्म युग-युग में जनहित के लिए अवतरित होता था वह भक्त की भावुक प्रार्थनावश अर्चाविग्रह-रूप में भी अवतरित होने के लिए लालायित रहने लगा।

इस प्रकार इच्छा तत्व ने अवतार क्षेत्र को अधिक सहज एवं व्यापक बनाया। शास्त्रों के आप्त वाक्य-रूप में प्रचलित होने के कारण इच्छा या कामना से अवतारवाद के सैद्धान्तिक रूपों को और अधिक परिपुष्ट किया किया गया।

'महाभारत' में व्यक्ताव्यक्त सनातन और अक्षर ब्रह्म को आद्य पुरुष तो कहा गया किन्तु आद्यावतार नहीं। उसके विराट रूप की चर्चा करते हुए बताया गया कि उस अप्रमेयात्मा पुरुष से विश्वदेव, आदित्य, वसु, अश्विनी-कुमार आदि देवता उपर्युक्त कथित अंड से प्रजापति और ऋषियों के साथ उत्पन्न हुये।[2] 'गीता' दसवें अध्याय में विराट रूप धारण करने के उपरान्त आदि देव पुरातन पुरुष कहा गया है।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में जिन पुरुष रूपों का उल्लेख हुआ है उनमें विश्वातीत और विश्वान्तर्गत (विश्वाधीन) दो रूप लक्षित होते हैं। जिनमें प्रथम रूप तो परब्रह्म या पाँचरात्रों का 'पर रूप' है, जो नित्य रूप में सदैव एक सा स्थित रहता है। यह प्राचीन अव्यक्त पुरुष विश्वातीत होने के कारण अज, अविनाशी आदि परब्रह्म की उपाधियों से संयुक्त होकर उपनिषद् ब्रह्म से स्वरूपित हुआ। विद्वान् इस पररूप में जिस इच्छा या कामना भाव को मानते हैं उसी के कारण वह स्रष्टा, भोक्ता और संहर्ता आदि ब्रह्म के सगुणात्मक भावों से युक्त होकर सगुण साकार भी बन बैठा।

---

१. एत० उ० १, १, १–३। २. महा० १, १, ३०–३४।
३. गी० १०, १२ और ११, ३८।

कालान्तर में सांख्यवादियों ने सृष्टि के उद्भव और विकास में प्रकृति के साथ पुरुष का योग स्वीकार किया। वह चेतन पुरुष के रूप में सर्वप्रथम अन्तर्यामी होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है।[1]

वैष्णव पुराणों में पुरुष का सांख्यवादी रूप विविध रूपों में प्रचलित हुआ। 'विष्णुपुराण' के अनुसार विष्णु के परम स्वरूप से प्रधान और पुरुष ये दो रूप हुए। इन्होंने संयोगात्मक और वियोगात्मक रूपों में रूपान्तरित होकर काल की संज्ञा धारण की।[2] पुरुष और प्रकृति ही सम्भवतः पुराणों में पुरुष और प्रधान कहे गये हैं। 'विष्णुपुराण' में अजन्मा परब्रह्म के पुरुष, प्रधान, व्यक्त और काल चार भेद माने गए हैं। इन चारों का सम्बन्ध कारण, सृष्टि, पालन और संहार से स्थापित किया गया है। फिर भी परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है।[3] अतः पुराणों में ब्रह्म के विविध रूपों की चर्चा करते हुये भी प्रथम रूप को पुरुष कहा गया। इस युग तक सम्भवतः पाञ्चरात्रों के प्रभाव-स्वरूप पुराणों में भी विविध उपास्यों का सर्वोपरि रूप जैसा कि 'विष्णुपुराण' के परम रूप विष्णु से स्पष्ट है, यहाँ पुरुष, विष्णु का एक रूप विशेष मात्र है। इस वर्गीकरण में उपास्य रूप का प्राधान्य विदित होता है।

पाञ्चरात्र 'परमसंहिता' में ब्रह्मा, शिव और विष्णु को प्रथम पुरुषों में ग्रहण किया गया है, जिनमें विष्णु के उच्चतम होने के तीन कारण बताए गए हैं। उनके सर्वश्रेष्ठ होने का प्रथम कारण है, सत्त्व-प्रधान होना। द्वितीय कारण के अनुसार वे विश्व के रक्षक हैं और तृतीय यह कि वे अपवर्ग या अनुग्रह की शक्ति रखते हैं।[4] 'भागवत पुराण' में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। 'भागवत' १, २, २३–२६ में एक ब्रह्म के उक्त तीन रूपों में सत्त्वप्रधान विष्णु को श्रेष्ठ माना गया है। पर यहाँ उनके अनुग्रह भाव की चर्चा करने की अपेक्षा उनके अंश, कला आदि विविध रूपों की उपासना की ओर इंगित किया गया है।[5] 'परमसंहिता' में ब्रह्म में पंच शक्तियों का समावेश माना गया है। परमेष्ठि, पुमान (पुरुष), विश्व, विवृत्ति और सर्व ये परब्रह्म की वे शक्तियाँ हैं जिनके माध्यम से वह शब्द रूप में आकाश और श्रवण में, स्पर्श होकर पृथ्वी और त्वचा में, दृष्टि होकर तेज और नेत्र में, स्वाद होकर जल और जिह्वा में और गंध होकर वायु और प्राण में

१. भारतीय दर्शन पृ० ३२९। २. वि० पु० १, १, २४।

३. वि० पु० १, २, १४, १५।

४. परम संहिता। गायकवाड़ सीरीज पृ० १८। २, ९४–९५।

५. भा० १, २, २६।

समान रूप से व्याप्त रहता है।[१] इससे जान पड़ता है कि पाञ्चरात्र संहिताओं में पुरुष का अभिव्यक्तिजनित सांख्यावादी विकास हुआ। इस पुरुष को व्यक्त होने के पूर्व पाँच शक्तियों से समाविष्ट किया गया। पर 'जयाख्य संहिता' में परब्रह्म के किंचित भिन्न रूपों का उल्लेख हुआ है। इस संहिता के अनुसार परब्रह्म के वासुदेव, अच्युत, सत्य और पुरुष चार रूप हैं। यहाँ पुरुष को चौथा स्थान मिला है पर 'भागवत' के सदृश वह अवतारों का उत्पादक है।[२]

उपर्युक्त तथ्य से यह प्रमाणित है कि पाँचरात्र संहिताओं में उपास्य 'पर' रूप की प्रधानता होते हुए भी उसके विविध रूप हो गए थे। उन रूपों के द्वारा वह स्रष्टा, संहारक, पालक तथा कर्ता, तटस्थ और भोक्ता माना जाता था। उक्त सभी रूपों में केवल पुरुष रूप की, सृष्टि और जीवात्माओं के रूप में अभिव्यक्ति हुई। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व वह स्वयं सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ तथा अब भी वही नाना प्रकार के अवतारों का मूल कारण है।

सम्भवतः भागवतकार ने पुरुष के उपर्युक्त परम्पराओं को ग्रहण करते हुए पुरुष का अवतारीकृत रूप स्वीकार किया है। क्योंकि 'ऋग्वेद' में पुरुष की सर्वप्रथम कल्पना, 'यजुर्वेद' के अनुसार उसका जन्म, ब्राह्मणों के अनुसार नारायण और षोडश कला से सम्बन्ध, उपनिषदों में सृष्टि और आत्मा के रूप में उसका विस्तार, 'महाभारत' में आद्य पुरुष की संज्ञा, पुराणों में प्रकृति के साथ पुरुष तथा उपास्य परब्रह्म का एक रूप विशेष, पाञ्चरात्रों में परब्रह्म के विविध रूपों में से एक, आदि अवतार और अवतारों का जनक प्रभृति जितने रूप वैष्णव साहित्य में प्रचलित थे, एक प्रकार से 'भागवत' में उन सभी का आकलन कर दिया गया है।

अतएव 'भागवत' के अनुसार सृष्टि के आदि में भगवान् ने (भगवान् से उनका पर उपास्य रूप स्पष्ट है) लोकों के निर्माण की इच्छा की। इच्छा होते ही उसने महत्तत्त्व आदि से निष्पन्न पुरुष रूप ग्रहण किया। उस समय वे षोडश कलाओं से युक्त थे।[3] यहीं उसके कारण अर्थात् जलशायी रूप, सहस्रांगमय विराट् रूप और उस पुरुष नारायण रूप का परिचय दिया गया है, जो अनेक प्रकार के अवतारों का अक्षय कोश तथा लघुत्तम से महानतम प्राणियों तक की योनि है।[४] यही पुरुष नारायण अन्य स्थलों पर 'आद्यावतार' बताया गया है।[५]

१. परम संहिता २, ३१–३३। २. जयाख्य संहिता, शुद्ध सर्ग ४, ६–७।
३. भा० १, ३, १। ४. भा० १, ३, २–५।
५. भा० २, ६, ४१ और १, ६ ८।

नारायणावतार पर विचार करते समय नारायण और पुरुष का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। और यह प्रमाणित किया गया है कि पुरुष से ब्राह्मण काल में ही नारायण को सम्बद्ध किया गया था। अतः पुरुष का नारायण से सम्बन्ध प्रचलित होने के कारण 'भागवत' में शेषशायी नारायण और पुरुष नारायण दोनों का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उपादानों का विश्लेषण करने पर आलोच्य पुरुष को तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। उसमें प्रथम है विश्वातीत, कालातीत पर या परम रूप जिसे उपनिषदों में परपुरुष या परब्रह्म कहा गया है। दूसरा है उसका विश्वमय, विराट्, विश्वात्मा, सर्वान्तर्यामी या समष्टि-आत्मा रूप जो अखिल सृष्टि में व्याप्त है। और तीसरा है, प्रत्येक प्राणियों का आत्मा या अन्तर्यामी रूप। आदि अवतार एवं अवतारों के अक्षय कोष पुरुष का मुख्यतः इन तीन रूपों से ही सम्बन्ध रहा है; विविध मतों एवं सम्प्रदायों में इन्हीं रूपों को भिन्न प्रकार से ग्रहण करने की चेष्टा की गई है।

पुरुषावतार पर विचार करने वाले मध्यकालीन आचार्यों ने मुख्य रूप से उक्त तीन रूपों को ही ग्रहण किया है। वल्लभाचार्य ने 'तत्त्व दीप निबन्ध सर्व निर्णय प्रकरण' में कहा है कि यद्यपि पुरुषावतार तीन प्रकार के होते हैं तथापि देहाभिमानी होने पर जीव भेद के रूप में भी वे ही गृहीत होते हैं। अतः अन्तर्यामी, अक्षर और कृष्ण भेद से ब्रह्म तीन प्रकार का होता है। इन तीनों के अवतीर्ण होने पर पुनः जीव भेद से व्यष्टि, समष्टि और पुरुष इनके तीन भेद होते हैं।[1] इस प्रकार वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के तीन रूपों को ही आविर्भूत होने पर पुरुषावतार माना है। निम्बार्क मतानुयायी पुरुषोत्तमाचार्य के अनुसार भी पुरुषावतार तीन प्रकार के हैं। प्रथम पुरुष कारणार्णवशायी (कारणार्णव में शयन करने वाले) प्रकृति को नियन्त्रित करनेवाले जिनसे महत् की उत्पत्ति हुई, द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी (विश्वात्मा या सर्वात्मन्तर्यामी), तृतीय पुरुष हैं क्षीरोदशायी (अन्तर्यामी या व्यष्ट्यात्मा)।[2]

उपर्युक्त तीनों पुरुषाकार रूपों में निर्मिति का स्थूल पक्ष न होकर आत्मतत्त्व की मात्रा अधिक लक्षित होती है। अतएव इन तीनों पुरुषों को परमात्मा, विश्वात्मा और अन्तरात्मा कहा जा सकता है। चैतन्यमतानुयायी रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में सात्वततन्त्र' के आधार पर गृहीत विष्णु के ही तीन रूपों को पुरुष रूप माना है। उनमें प्रथम रूप है महत् सृष्टि-प्रकृति-

---

१. तत्त्वदीप निबन्ध सर्व नि० प्र० पृ० ३१५ श्लो० ११९।
२. वेदान्त रत्न मञ्जूषा पृ० ४८, रोमा बोस जी० ३, पृ० ७६।

अन्तर्यामी संकर्षण रूप, द्वितीय है चतुर्मुख अन्तर्यामी-प्रद्युम्न रूप, तृतीय है सर्व जीवान्तर्यामी अनिरुद्ध रूप।[1] इस प्रकार रूप गोस्वामी ने चतुर्व्यूह के तीन रूपों से ही तीन पुरुषावतारों को अभिहित किया है। इस स्थल पर पाञ्चरात्रों में प्रचलित प्रथम वासुदेव रूप के नहीं रखने में उनका प्रयोजन सम्भवतः उसको नित्य या तटस्थ रूप में प्रस्तुत करना है। क्योंकि पुराण और पांचरात्र दोनों में एक तटस्थ पर उपास्य विग्रह रूप माना गया है। और तीनों पुरुषावतार उसके आविर्भूत या व्यक्त रूप हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि वासुदेव को 'तैत्तिरीय आरण्यक' में पुरुष नारायण से अभिहित किया जा चुका है, अब वह उनसे परे कैसे होगया?

इससे ऐसा लगता है कि मध्यकालीन युग में उपास्यवाद की प्रधानता हो जाने पर विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण, राम आदि परब्रह्म हो गए और इनकी अपेक्षा पुरुष का स्थान किंचित गौण हो गया। अवतारवाद के व्यापक रूप में प्रचलित होने पर पुरुष के परमात्मा, विश्वात्मा और जीवात्मा तीन रूप पुरुषावतार के रूप में मान्य हुए। उपास्यों के लीला, अंश, विभूति, कला, आवेश इत्यादि अवतारों से उक्त तीनों अवतार कुछ विशिष्ट प्रतीत होते हैं। लीला आदि प्रयोजन वाले अवतार व्यक्तिगत हैं, उनका सीधे पर रूप से सम्बन्ध है, किन्तु आलोच्य तीनों पुरुषावतार क्रमशः एक दूसरे से आविर्भूत अवतार हैं और इनका मुख्य प्रयोजन सृष्टि विस्तार जान पड़ता है।

गुणावतार

'विष्णुपुराण' और 'भागवतपुराण' दोनों में अवतारवाद अब केवल विष्णु के व्यक्तिगत अवतारों तक ही सीमित नहीं था, अपितु इस काल तक उस पर उपास्यवाद का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। परब्रह्म के नित्य लोकी रूप को अब अज्ञेय तथा समष्टि, व्यष्टि और आविर्भूत रूपों को ही ज्ञेय समझा जाने लगा था।[2] इस काल तक अवतारवादी धारणाओं पर षड्दर्शनों का प्रभाव पड़ने लगा था, जिसके फलस्वरूप अखिल अभिव्यक्ति को ही अवतारवाद की सीमा में आवृत किया गया। ब्रह्म, सृष्टि और जीव जो अभी तक दार्शनिक जिज्ञासा के ही विषय रहे थे, इनके अवतारवादी विकास की भी चर्चा पुराणों में चल पड़ी थी। फलतः अनेक रूपों में इनकी अवतार प्रणालियों का प्रचार होता जा रहा था। इनमें से पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार तीन प्रमुख भेद मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में लक्षित होते हैं। इनमें लीलावतारों का सम्बन्ध तो उपास्य विष्णु के व्यक्तिगत अवतारों के रूप में माना

१. लघुभागवतामृत पृ० १९।   २. वि० पु० १, ४, १७ और भा० २ ६ ३ ।

गया परन्तु पुरुषावतार और गुणावतार बाद की अवतारवादी कल्पनाएँ हैं। इन दोनों का मुख्य सम्बन्ध सृष्टिजनित अभिव्यक्ति से रहा है।

सांख्य दर्शन में जिस सृष्टि-विकास-क्रम का परिचय दिया गया है उसमें एक त्रिगुणात्मक अवस्था भी मानी जाती है जिसमें रज, सत्व और तम इन तीन गुणों का अस्तित्व रहता है। सांख्यवादियों द्वारा प्रतिपादित सृष्टिवाद का प्रचार जब पुराणों में हुआ तो रज, सत्व और तम इन तीनों गुणों से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों प्रमुख पौराणिक त्रिदेवों का सम्बन्ध स्थापित किया गया। यद्यपि प्राचीन साहित्य में तीनों गुणों और त्रिदेवों का कोई सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। प्रायः इन सभी का पृथक्-पृथक् विकास स्वतन्त्र रूप से होता रहा है। फिर भी इनका अपूर्व अवतारवादी समन्वय पुराणों में मिलने लगता है।[१] इस समन्वय का क्रमिक विकास विचारणीय है।

विकास की दृष्टि से तीनों गुणों का अस्तित्व भी प्राचीन साहित्य में पृथक्-पृथक् मिलता है। यों इन तीनों गुणों का प्राचीन रूप विद्वानों ने 'छान्दोग्योपनिषद्' के एक मन्त्र में निहित माना है। उस मन्त्र में कहा गया है कि अग्नि का रूप लाल है, जल का शुक्ल और पृथ्वी का कृष्ण।[२] यहाँ रज, सत्व और तम इन तीनों गुणों का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु 'छान्दोग्योपनिषद्' के अगले मन्त्र में उक्त तीनों रंगों का सम्बन्ध आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत इन तीन देवताओं से स्थापित किया गया है।[३] इसके पूर्व ही तीन देवताओं के आविर्भाव का उल्लेख छान्दोग्यों के ही एक मन्त्र से मिलता है। उस मन्त्र के अनुसार सत् देवता ने तीन रूपों में अभिव्यक्त करने के लिए तीन देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम-रूप का व्याकरण किया।[४] अतः 'छान्दोग्यो' में तीन उन आविर्भूत देवताओं के उल्लेख तथा रक्त, शुक्ल और कृष्ण रंगों से उनके सम्बन्ध की पुष्टि की जा सकती है। इन रंगों में तीन गुणों का स्वभावजनित किंचित सम्बन्ध अवश्य दिखाई पड़ता है। अतः बहुत सम्भव है कि बाद में चल कर उक्त उपादानों को अपनी आधार भूमि बनाई गई हो। इसके अतिरिक्त 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् ५, २ में सम्भवतः सांख्यवेत्ता कपिल का ही उल्लेख हुआ है जिनका अर्थगत सम्बन्ध ब्रह्मा के प्राचीन पर्याय 'हिरण्यगर्भ' से स्थापित किया गया है। परन्तु केवल इस सम्बन्ध मात्र से त्रिगुण और त्रिदेव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण

---

१. भा० ११, ४, ५। २. छा० ६, ४, १।
३. छा० ६, ४, १-४। ४. छा० ६, ३, ३।

नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के प्राचीन उल्लेख कपिल के सांख्यसूत्र में मिलते हैं।[1]

'सांख्यसूत्र' के अनुसार तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति बतलाया गया है। अखिलसृष्टि त्रैगुण्यसम्पन्न मानी जाती है, और उसमें चैतन्य भाव पुरुष का अंश कहा जाता है। इसी त्रिगुणात्मक प्रकृति-पुरुष को वैष्णव पुराणों में ग्रहण किया गया है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार सर्ग काल में क्षेत्रज्ञ से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ जो सत्व, रज और तम भेद से तीन प्रकार का है।[2] अन्य वैष्णव पुराणों में भी जहाँ सृष्टि उद्भव और विकास का वर्णन किया गया है वहाँ किसी न किसी क्रम में सांख्यवादी गुण गृहीत हुए हैं।

किन्तु सांख्य दर्शन में रज, सत्व और तम का ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है। बल्कि इन त्रिदेवों का विकास भी प्राचीन वाङ्मय में स्वतन्त्र रूप से हुआ है। वैदिक बहुदेवतावाद के मध्य में तीन मुख्य देवताओं का उल्लेख निरुक्त में हुआ है। यास्क ने अग्नि, वायु (इन्द्र) और सूर्य को क्रमशः पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्युस्थानीय तीन प्रमुख देवों में माना है।[3] भट्टाचार्य ने वैदिक एवं पौराणिक देवताओं के अध्ययन-क्रम में अग्नि, वायु और सूर्य को क्रमशः ब्रह्मा, शिव और विष्णु से समन्वित किया है।[4] पुराणों में इनके रूपों और कार्यों को ब्रह्मा, शिव और विष्णु पर आरोपित किया जाने लगा था। साथ ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र देवों के विशिष्ट व्यक्तित्व का भी पर्याप्त निर्माण हो चुका था। वे अपने नाम और सम्प्रदाय से सम्बन्धित पुराणों में श्रेष्ठतम घोषित किये गये थे। इस क्रम में जिन पुराणों में विष्णु की प्रधानता थी वहाँ ये एक ही विष्णु के तीनों रूप माने गए। 'विष्णु पुराण' के अनुसार तीनों पौराणिक देव सृष्टि के आरम्भ में रज, सत्व और तम इन तीनों गुणों से सम्बद्ध किए गये तथा सृष्टि, पालन और संहार का उत्तरदायित्व इन पर दिया गया।[5] तब से प्रायः त्रिदेवों का त्रिगुणात्मक सम्बन्ध उत्तरोत्तर पुराणों एवं मध्यकालीन सम्प्रदायों में व्याप्त होता गया। त्रिगुणों के अतिरिक्त कर्म, ज्ञान और भक्ति का विकास होने पर ब्रह्मा को कर्म (कर्मकाण्ड) या सृष्टि कर्म का तथा शिव के निर्गुण होने के कारण ज्ञान का विष्णु के रमणशील पालक होने के कारण भक्ति का द्योतक समझा गया। यद्यपि साम्प्रदायिक प्रचार की प्रतिद्वन्द्विता में ब्रह्मा, विष्णु और शिव

१. भारतीय दर्शन पृ० ३१५ और सांख्य सूत्र १, ६९।
२. वि० पु० १, २, ३३-३४।
३. यास्क निरुक्त ७, अध्याय २, १, ५।
४. ब्राह्मनिक इमेजेज जी० १ पृ० ५।
५. वि० पु० १, २, ६१-६४।

की अपेक्षा पीछे पड़ गए। परिणामतः भयंकर रुद्र भी भक्ति से समाहित होकर सम्प्रदायों में शिव उपास्य हुए तथा विष्णु और इनके अवतारों की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। किन्तु विचित्रता तो यह है कि शिव और विष्णु तत् सम्प्रदायों में परमशिव और महाविष्णु उपास्य-रूप में प्रचलित हुए फिर भी इनका गुणात्मक रूप पूर्ववत् प्रचलित रहा। मध्यकालीन सम्प्रदायों और कवियों ने त्रिविध गुणात्मक रूपों का प्रायः उल्लेख किया है। इनके गुणात्मक रूपों की परम्परा का भी सुनियोजन ब्रह्म के साथ हो गया था। इसी से उपास्यवादी युग में भी इनका त्रिगुण त्रिदेव रूप सुरक्षित रहा।

'विष्णुपुराण' ने अन्य शक्तियों और विभूतियों के सदृश ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी ब्रह्म की तीन शक्तियों में माना।[1] चूँकि 'विष्णुपुराण' में विष्णु ब्रह्म के मूर्त्त स्वरूप माने जा चुके थे[2], इसलिए विष्णु ही प्रत्येक कल्प में रजोगुणी ब्रह्मा-रूप में सृष्टि करते हैं, सत्वोगुणी विष्णु-रूप में पालन और तमोगुणी रुद्र-रूप में संहार किया करते हैं।[3] वैष्णव पाञ्चरात्र संहिताओं में भी ब्रह्मा और शिव की अपेक्षा विष्णु को श्रेष्ठ बताया गया है। 'परम संहिता' के अनुसार ब्रह्मा और शिव के मध्य में विष्णु प्रधान एवं प्रथम पुरुष माने गए हैं। सत्वगुण, रक्षा कार्य और अनुग्रह का भाव ये तीन वैशिष्ट्य इनकी प्रधानता के कारण बताये गये हैं।[4] 'भागवत पुराण' और पाँचरात्र दोनों परम्पराओं को समाहित करते हुए विष्णु या हरि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[5] विष्णु की श्रेष्ठता में सत्वगुण के भी सहायक होने का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि गीता १४, १४ और २८ में अन्य गुणों की तुलना में सत्व गुण की श्रेष्ठता प्रतिबिम्बित होती है। परन्तु श्रेष्ठ या उपास्य होने पर भी विष्णु को गुणावतारों की परिधि से पृथक् नहीं किया गया।

जहाँ तक गुणावतार का सम्बन्ध है इस वर्ग में तीनों रूपों को भागवतकार ने ग्रहण किया है।[6] भागवत की यही परम्परा मध्यकालीन साहित्य में पल्लवित हुई है। सात्वत तन्त्र में रजांश, तमांश और सत्वांश से क्रमशः ब्रह्मा, शिव और विष्णु आदि गुणावतारों को विष्णु का गुणावतार बताया गया है।[7] यहाँ ब्रह्मा से मरीचि आदि प्रजापति, रुद्र से रुद्रगण और विष्णु से

---

१. वि० पु० १, २२, ५८।
२. वि० पु० १, २२, ६२-६३।
३. वि० पु० १, २, ६१-६३।
४. परम संहिता २, ९४-९५।
५. भा० १, २, २३।
६. भा० ११, ४, ५।
७. सात्वत तंत्र पृ० ४ पटल १, ४१-४२।

धर्म यज्ञादि (मनु आदि) का विस्तार भी एक प्रकार से गुणात्मक विदित होता है।[1] निम्बार्कानुयायी पुरुषोत्तमाचार्य ने गुणावतार का क्रम बतलाते हुये कहा है कि 'गुण के नियंत्रित करने वाले उनके अभिमानी काल एवं सृष्टि कर्ता आदि गुणावतार हैं। ब्रह्म, रजोगुणी ब्रह्मा, काल और दक्ष आदि प्रजापतियों द्वारा सृष्टि करता है, विष्णु, मनु और काल आदि द्वारा पालन करता है तथा रुद्र, काल आदि द्वारा सृष्टि का संहार करता है।[2] इस प्रकार पुरुषोत्तमाचार्य ने गुणावतार की दृष्टि से 'विष्णुपुराण' का अनुसरण किया है। 'विष्णुपुराण' में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के सृष्टि, पालन और संहार सम्बन्धी कार्यों को चार-चार पादों में विभक्त किया गया है।[3] वल्लभाचार्य ने सगुण न मानते हुए भी गुणाभिमान से सृष्टि का कर्ता, पालक इत्यादि ब्रह्म को माना है।[4] गुणावतार का सर्वाधिक सम्बन्ध सृष्टि कार्य से है। किन्तु वल्लभाचार्य सृष्टि कार्य की दृष्टि से त्रिगुणात्मक उत्पत्ति, स्थिति और संहार की अपेक्षा 'विष्णुपुराण' में प्रतिपादित आविर्भाव और तिरोभाव के विशेष पक्षपाती हैं।[5] इन्होंने गुणावतार को केवल निवास या लोक भेद से विभिन्न माना है। ये स्वयं कहते हैं कि गुणावतार तो उन लोगों के लिये भिन्न कहा गया जिन्होंने कमलोद्भव, कैलासवासी, वैकुण्ठवासी के स्थान भेद से त्रिगुणात्मक रूपों को ग्रहण किया है।[6] चैतन्य सम्प्रदायानुयायी रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में गुणावतारों की चर्चा की है जिसकी टीकाकारों ने और विस्तृत व्याख्या की है। इनके मतानुसार द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी से विश्व की सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त आविर्भूत ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति बतायी गयी है।[7] इसी प्रसंग में रूप गोस्वामी ने ब्रह्मा के हिरण्यगर्भ और वैराज दो भेद किये हैं। हिरण्यगर्भ ब्रह्मलोक में निवास करते हैं और वैराज सृष्टि कार्य करते हैं।[8] इसी प्रकार रुद्र को एकादश भागों या सम्भवतः एकादश रुद्रों में विभक्त किया गया है।[9] गुणात्मक रूपों में विष्णु के गर्भोदशायी अर्थात् विश्वात्मक तथा क्षीराब्धिशायी विलास

---

१. सात्वत तंत्र पृ० ४१ पटल १, ४४–४९।   २. वे० र० म० पृ० ४८।
३. वि० पु० १, २२, २४–२९।
४. तत्व० दी० नि० शास्त्रार्थ प्र० पृ० १३२ श्लोक ७९।
५. वि० पु० १, २२, ६० और त० दी० नि० सर्व नि० प्र० पृ० ३३९ श्लोक १३८।
६. त० दी नि० सर्व नि० प्र० पृ० ३२१–३२२ श्लोक १३०।
७. ल० भा० पृ० २४ श्लोक ११।   ८. ल० भा० पृ० २६ श्लोक १३।
९. ल० भा० पृ० २९ श्लोक १८।

रूप ही नारायण तथा विराटान्तर्यामी के नाम से प्रचलित रूढ़िगत रूप गृहीत हुए हैं।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणों के त्रिगुणात्मक सृष्टि से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु और शिव वैष्णवपुराण एवं मध्यकालीन वैष्णव परम्परा में गुणावतार के रूप में गृहीत हुए। आरम्भिक रूप में तो त्रिदेवों का अस्तित्व समान कोटि में स्वीकृत हुआ। किन्तु सम्प्रदायों में उपास्य रूपों का अधिक प्रचार पाने के कारण शिव और विष्णु तत् सम्प्रदायों में उपास्य ब्रह्म के रूप में मान्य हुए। इनके उपास्य रूप में गृहीत होने पर भी त्रिदेवों का गुणात्मक अवतार मध्यकालीन साहित्य में पूर्ववत् प्रचलित रहा। केवल 'विष्णुपुराण' तथा पाञ्चरात्र संहिताओं में त्रिदेवों के प्रसंगों में भी सतोगुणी विष्णु को इनमें श्रेष्ठ बताया गया। किन्तु मध्यकाल में गुणावतार के देवता समान रूप से मान्य हुए। इन सम्प्रदायों में केवल आविर्भाव और तिरोभाव सृष्टि का दो ही कार्य मानने के कारण वल्लभाचार्य ने गुणावतारों के गुणात्मक रूप को तो नहीं माना किन्तु कमलोद्भव, कैलासवासी और वैकुण्ठवासी की स्थिति को ही त्रिगुणात्मक बताया। परन्तु आलोच्यकाल में इनके उक्त मत का विशेष प्रचार नहीं हुआ।

वैष्णव सम्प्रदायों में पांचरात्र और 'श्रीमद्भागवत' में प्रचलित अवतारों के जिन रूपों और भेदों को अपनाया गया है उनमें परस्पर न्यूनाधिक अन्तर दीख पड़ता है।[2] श्री, ब्रह्म, सनकादि, रुद्र और गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों में श्री, ब्रह्म और रुद्र सम्प्रदायों के आचार्यों ने पाञ्चरात्र अवतार रूपों को तथा सनकादि और गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने 'भागवत' के रूपों को अधिक प्रमुखता दी है।

श्री सम्प्रदायः

इस सम्प्रदाय में लोकाचार्य (१२६० वि०) ने पांचरात्र रूपों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। इनके मतानुसार ईश्वर के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा पाँच स्वरूप होते हैं।[3] जिनमें पर रूप कालातीत एवं नित्य उपास्य रूप है, और व्यूह रूप सृष्टि, पालन और संहार से सम्बद्ध है। पर वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आदि रूपों में सृष्टि का कल्याण कर्त्ता और भक्तों का रक्षक है।[4] इसके अतिरिक्त गौण, मुख्य भेद से विभव दो

---

१. ल० भा० पृ० ३५ श्लोक २५। २. भा० २, ६, ४५, भा० २, ९, २६-२७।
३. तत्त्वत्रय पृ० १०१। ४. तत्त्वत्रय पृ० १०२।

प्रकार के माने गये हैं। गौण आवेशावतार कहे जाते हैं। तथा मुख्य साक्षात् अवतार के रूप में प्रसिद्ध हैं। आवेशावतार, स्वरूपावेश और सहावेश दो प्रकार के होते हैं। स्वरूपावेश में ईश्वर का केवल सहावेश होता है। जैसे परशुराम आदि के शरीर में समय पर सहावेश हुआ था। शक्त्यावेश में कार्यकाल में केवल शक्तिमात्र का स्फुरण होता है।[1] अन्तर्यामी-रूप से ईश्वर जीवों की सभी अवस्थाओं में स्वर्ग, नरक, यहाँ तक कि गर्भावस्था में भी उनमें स्थित होकर उनकी रक्षा और सहायता करता है।[2] अर्चा-रूप में वह विभिन्न द्रव्यों में देश, काल और अधिकारी के भेद से रहित होकर भक्तों की उपासना के लिये स्थित रहता है।[3] उनका क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है :—

पर (वासुदेव)
- व्यूह
  - संकर्षण
  - प्रद्युम्न
  - अनिरुद्ध
- विभव
  - मुख्य
    - साक्षात अवतार
  - गौण
    - आवेशावतार
      - स्वरूपावेश, सहावेश परशुराम आदि।
      - शक्त्यावेश ब्रह्मा शिव आदि।
- अन्तर्यामी
- अर्चा
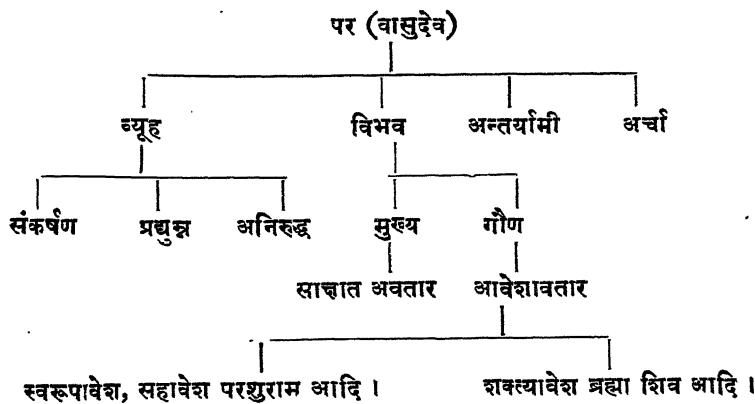
ब्रह्म सम्प्रदायः—

इसमें अवतारी विष्णु असंख्य नामों और रूपों में अभिव्यक्त और आविर्भूत होता है। विष्णु के मत्स्यादि अनेक रूप तथा नारायणादि सहस्रों रूप बतलाये गये हैं। वे सभी रूप अमित और अनन्त रूप हैं। विष्णु परमात्मा का मूल रूप तो पूर्ण है ही मत्स्यादि अवतार-रूप भी पूर्ण हैं। जिस प्रकार मूल रूप आनन्दात्मक और कल्याणकारी गुणों से युक्त और दोषरहित है, उसी प्रकार उनके अवतार रूप भी हैं।[4] इन्होंने भगवान् विष्णु के परम, प्रतिबिम्ब और

---

१. तत्त्वत्रय पृ० १०८।
२. तत्त्वत्रय पृ० ११६-११७।
३. तत्त्वत्रय पृ० ११७।
४. श्रीमध्वसिद्धान्त सार संग्रह पृ० ३६।

आरोपित तीन रूप बतलाये हैं। इसमें नारायण, वराह आदि विष्णु के श्रेष्ठ एवं परम रूप, जीव आदि प्रतिबिम्बरूप और जड़ आदि आरोपित रूप हैं।[1] पौराणिक एवं पाञ्चरात्र अवतारों को इन्होंने पूर्ण तथा 'दीपादुत्पन्नदीपवत्' माना है। ये भी अवतारी विष्णु के समान सच्चिदानन्दात्मक तथा जन्म आदि से रहित प्रादुर्भाव हैं।[2] पूर्णावतारों के अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, शेष, शुक्र, नारद, सनकादि, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, विनायक, सुदर्शन आदि आयुध, पृथ्वी, चक्रवर्ती प्रभृति अवतारी विष्णु से भिन्न आविष्ट रूप कहे गये हैं।[3] 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' में पुनः इनकी विस्तृत चर्चा करते हुए इन आवेश रूपों के विशेष और किञ्चित् दो भेद बतलाए गये हैं; जिनमें ब्रह्मा, रुद्र, आदि विशेषावेश और बालि और साम्ब किञ्चित् आवेशावतार हैं।[4] उक्त रूपों को इस क्रम में देखा जा सकता है।

- विष्णु
  - परम-विभिन्नअवतार
    - पूर्णावतार, वराह कूर्मादि लीलावतार
    - आवेशावतार
      - विशेष-ब्रह्मा, रुद्र, शक्र, शेष, प्रभृति अंश, विभूति और कलावतार
      - किंचित्, बालि और साम्ब
  - प्रतिबिम्ब जीव
  - आरोपित जड़
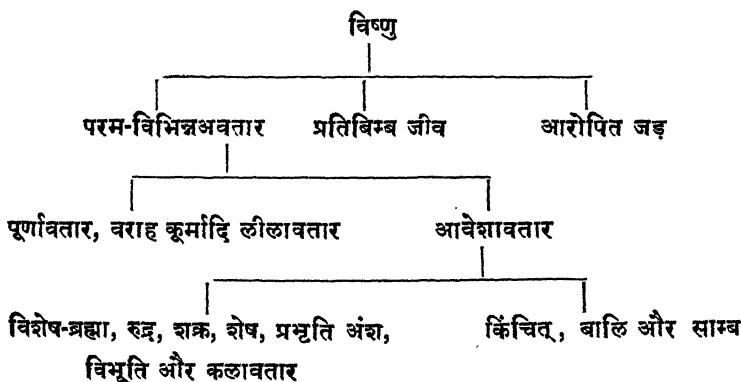
रुद्र या वल्लभ सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य ने अवतारवादी रूपों की पुष्टि में पाञ्चरात्र एवं भागवत दोनों का समाविष्ट रूप ग्रहण किया है। उन्होंने 'तत्त्वदीप निबन्ध' और भागवत की सुबोधिनी टीका में ब्रह्म एवं अन्य पौराणिक अवतारों तथा कृष्ण आदि उपास्यों के अवतारवादी रूपों पर विचार किया है। इस मत में उपास्य

---

१. नारायणवराहाद्याः परमंरूप मीशितुः। जैवंतु प्रतिबिम्बास्थं जड़मारोपितं हरेः।
भागवत तात्पर्य निर्णय। सर्वमूलम्। पृ० ५ स्कं० १, ३, ६।

२. श्रीमन्मध्वसिद्धान्त सार संग्रह पृ० ३७-३७ सर्वाण्यापि रूपाणि पूर्णानि।

३. गीता तात्पर्य निर्णय पृ० १० अ० २।

४. महाभारत तात्पर्य निर्णय पृ० ७ अ० २ श्लो० ३० ३२ पृ० ८ अ० २। श्लो० ३३-३४।

श्रीकृष्ण ही कारण ब्रह्म या उपनिषद् ब्रह्म माना गया है। श्रीवल्लभ का यह ब्रह्म अवतारी ब्रह्म है। क्योंकि इनके कथनानुसार हरि के जितने अवतार हैं, उनमें ब्रह्म स्वयं जाता है।[1] इन्होंने संभवतः 'अजायमानो बहुधा विजायते' और 'तत्सृष्ट्वा तदेवा नु प्रविशत' आदि श्रुति-वाक्यों के आधार पर ब्रह्म-प्राकट्य के जन्म और प्रवेश दो भेद माने हैं।[2] जिसमें उत्पत्ति, अनित्य, जनन, नित्य, अपरिछिन्न और समागम पाँच प्रकार की मानी गई है। यहाँ नित्य और अपरिच्छिन्न प्राकट्य स्वयं भगवान के सत्वमय आविर्भूत रूप हैं।[3] प्रकाशकारों ने आवेश और अवतार नाम से इनके दो भेद किये हैं।[4] इन्होंने पुनः पृथक् स्थलों पर आवेश और अवतार रूपों पर विचार किया है। यह जान लेना आवश्यक है कि पाञ्चरात्रों में आवेशावतार का सम्बन्ध आविर्भावों या आविर्भूत विभवों से है। अभी पीछे विभवों के वर्गीकरण के क्रम में आवेश उनका एक विशिष्ट रूप बतलाया जा चुका है। अतः वल्लभाचार्य ने 'तत्वदीप निबन्ध भागवत प्रकरण' या 'सुबोधिनी' भा० २, ७ में गृहीत लीलावतारों पर विचार करते समय कहा है कि आविर्भाव और अवतार तुल्य सात्विक शरीर में होते हैं। शुद्ध और अशुद्ध के भेद से अजन्मा एवं निर्गुण भगवान कृष्ण ही ज्ञान और क्रिया शक्ति से अवतार लेते हैं। वे वराह आदि अवतारों के रूप में वह कार्य करते हैं, जिनमें क्रिया की अधिक प्रधानता होती है। और वे ही व्यास आदि के रूप में ज्ञान कार्य करते हैं, जिनमें ज्ञानशक्ति का प्राधान्य होता है।[5] 'सुबोधिनी'

---

१. 'अवतारो हरेर्यावान् तत्र, ब्रह्मा स्वयं व्रजेत।'
त० दी० नि० भा० प्र० पृ० १४४, श्लोक १७४।

२. तत्वदीप निबन्ध भागवत प्रकरण पृ० ७१ श्लोक ३५।
जन्मादयः प्रवेश्च प्रकार द्वय मेव च। यजु० ३१, १९, तै० उ० २, ६।

३. अनित्ये जननं नित्येऽपरिच्छिन्नेसमागमः।
नित्यापरिच्छिन्नेतनौ प्राकट्यं सत्वतः स्वतः।
त० दी० नि० पृ० ७१ द्वितीय स्कंध श्लो० २९।

४. प्रकाश-नित्यापरिच्छिन्न तनावपि द्वेधा प्राकट्यम्। आवेशित्वेनावतारत्वेन न च।
त० दी० नि० भा० पृ० ७१ द्वितीय स्कंध श्लो० २९।

५. आविर्भावोऽवतारश्च तुल्य सत्वशरीरगः। अशुद्ध शुद्ध भेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि।
ज्ञान शक्त्या क्रिया शक्त्वाचावतारः करोत्यजः।
वराहादि स्वरूपेण बलकार्ये जनार्दनः।
दत्त व्यासादि रूपेण ज्ञान कार्यं तथा विभुः।
तत्वदीप नि० भा० प्र० पृ० २६ तथा सुबोधिनी भा० १, ३, ६ की व्याख्या।

में उन्होंने अवतरित रूपों की तुल्यता के निरूपण में विशेष रूप से आवेशावतार को वैष्णव तंत्रों के आधार पर ग्रहण किया है। जो इनके उल्लेखों से स्पष्ट है।[1] इस दृष्टि से ये मध्वाचार्य के पूर्णतः अनुगामी हैं। क्योंकि आवेशावतारों की जो सूची मध्व द्वारा 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' में प्रस्तुत की गई है, वल्लभ ने भी 'तत्त्वदीपनिबन्ध' एवं 'सुबोधिनी' में उसी का अनुसरण किया है। इस सूची में 'भागवत' के लीला या अन्य अवतारों के साथ पाञ्चरात्र विभवों को भी समाविष्ट किया गया है।[2] वल्लभाचार्य ने कार्य की दृष्टि से भागवत के लीलावतारों का विभाजन करते समय, सम्भवतः आवेश शक्तियों के ही आधार पर अवतारों को क्रियायुक्त, ज्ञानयुक्त और क्रियाज्ञान उभययुक्त तीन वर्गों में विभक्त किया है।[3] ऊपर क्रिया प्रधान वराह तथा ज्ञान प्रधान दत्त, व्यासादि रूपों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त क्रिया एवं ज्ञान दोनों प्रकार के कार्यों का कर्त्ता होने के कारण वल्लभ ने कृष्ण को क्रियाज्ञान उभययुक्त अवतार माना है।[4] 'सुबोधिनी' भा० १०, २, ४० में आये हुए दशावतार-क्रम के नौ अवतारों को इन्होंने स्थल भेद से जलजा, वनजा और लोकजा बतलाया है। जिनमें मत्स्य, हयग्रीव और कूर्म जलजा, नृसिंह, वराह और हंस वनजा तथा राम, परशुराम और वामन लोकजा माने गये हैं। पुनः भा० ११, ४ में आये हुये अवतारों का भी वल्लभ ने सुबोधिनी में सहजरूप, समागत और शुद्ध सत्त्व शरीराविर्भूत इन तीन रूपों में विभक्त किया है। इस विभाजन में अवतारों में विद्यमान देहाभिमान को मुख्य आधार माना गया है। इसप्रकार वल्लभ ने पाञ्चरात्र एवं भागवत दोनों का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने का प्रयास किया है। उक्त रूप क्रमशः निम्न प्रकार से विदित होते हैं।

---

१. 'अवतरण रूपस्य तुल्यत्वेन आवेशावतारयोरविशेषेण।
निरूपणम् तथा तत्र निर्णयो वैष्णाव तंत्रेनिरूपितः।
सुबोधिनी भा० १, ३, ६ की व्याख्या।

२. इनके नाम आवेशावतार शीर्षक में द्रष्टव्य।

३. स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रिया ज्ञान विभेदतः।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया ज्ञानवतो हरेः।
त० दी० नि० सर्व निर्णय प्रकरण पृ० २८६–२८७ श्लो० ८९।

४. ज्ञान क्रियोभययुतः कृष्णास्तु भगवान स्वयम्।
त. दी. नि. भा. प्र. पृ. २७, ६५।

- ब्रह्म
  - उत्पत्ति
    - अनित्य
    - जनन
    - नित्य
    - अपरिच्छिन्न
    - समागम
      - (नित्य, अपरिच्छिन्न)
        - आवेश
          - क्रियावेश वाराह आदि
          - ज्ञानावेश व्यास आदि
          - क्रियाज्ञानोभयावेश कृष्ण
        - अवतार
          - स्थान भेद से
            - जलजा
            - वनजा
            - लोकजा
          - देहाभिमान की दृष्टि से
            - सहजरूपा
            - समागता
            - शुद्धसत्व शरीराविर्भूता
  - प्रवेश
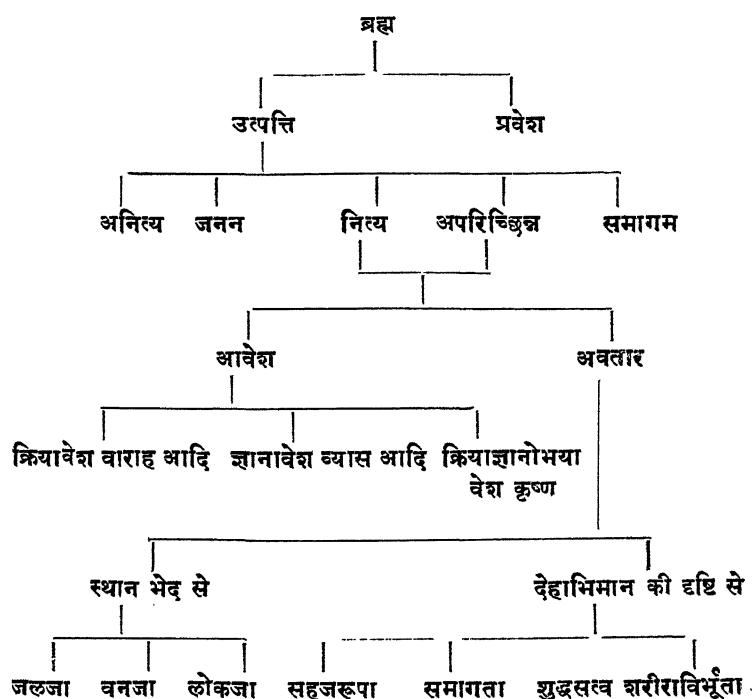
निम्बार्क सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में अवतारवाद की जिस रूपरेखा का विवेचन हुआ है वह निम्बार्क द्वारा रचित 'दशश्लोकी' के चौथे श्लोक में प्रयुक्त 'व्यूहाङ्गिनं' पर आधारित है। 'दशश्लोकी' के भाष्यकारों ने प्रायः इसी पद के आधार पर श्रीकृष्ण के अवतारी एवं उनके सम्बद्ध पौराणिक अवतारों पर विचार किया है। 'दशश्लोकी' के एक प्रमुख भाष्यकार श्री हरिव्यास देव ने 'अमरकोश' के आधार पर व्यूह का अर्थ 'समूह' किया है। साथ ही व्यूह और अवतारों को अंग-स्वरूप माना है।[1] इस मत में श्रीकृष्ण ब्रह्म अंशी और जीव अंश है। इनकी शक्ति समस्त सृष्टि में अंश तथा व्यक्त और अव्यक्त रूप में व्याप्त है। अवतारी श्रीकृष्ण ही अवतार रूप में सत् चित् एवं आनन्दात्मक स्वरूप से प्रकट होते हैं।[2] अचिंत्य और अनन्त शक्तियों का आश्रय होने के कारण

---

१. व्यूहः समूहः समूह निवह व्यूह इत्याद्यमरकोशात्।

दशश्लोकी सिद्धान्त कुसुमाञ्जलीभाष्य पृ० २१।

२. अर्थ पञ्चक निर्णय पृ० ५१।

श्रीहरि, प्रभु आदि अनेक नाम इनके ही स्वरूप के परिचायक हैं।[1] 'श्रीकृष्ण-स्तव राज' के १०वें श्लोक में श्रीकृष्ण के जन्म, कर्म, गुण, रूप, यौवन प्रभृति को दिव्य कह कर सम्भवतः गीता के 'जन्म कर्म च में दिव्यं' का ही अनुमोदन किया गया है।[2] इस प्रकार अन्य सम्प्रदायों के सदृश इस सम्प्रदाय में भी श्रीकृष्ण अपने उपास्य रूप में पर रूप से लेकर व्यूह, अन्तर्यामी, विभव, अर्चा आदि सभी विग्रह रूपों में मान्य हैं। वे पर रूप में नित्यधाम एवं नित्य विभूति में स्थित हैं। और वे ही लीला विभूति में स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। वे अपने नित्यधाम व्रज में तो द्विभुज रूप हैं और द्वारावती में चतुर्भुज हैं। इनका शरीर इस प्रकार नित्य और अनित्य दो प्रकार का है; जिसमें समस्त मंगलों के निधि उपास्य के ध्यान करने वालों को, समस्त पुरुषार्थ प्रदान करने वाले रमाकान्त श्रीकृष्ण एवं उनके सहचर नित्य हैं। उसके अतिरिक्त उनका अनित्य शरीर कर्मज और अकर्मज भेद से दो प्रकार का है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का विराट् शरीर तथा उनकी इच्छा से नित्य मुक्त जीवों के साथ धर्म संरक्षार्थ भूतल पर परिगृहीत शरीर अकर्मज शरीर है। कर्मज शरीर स्थावर, जंगम, आदि प्राणियों के रूप में उत्पन्न चौरासी लक्ष प्रकार का माना गया है।[3] अतः श्रीकृष्ण का पर विभूति जनित रूप प्रकृति मंडल से भिन्न देशीय भगवद्धाम में स्थिर आचरणशून्य, प्रकाशमान और माया से परे है, किन्तु लीला विभूति-रूप जगत् में क्रीड़ा के निमित्त अवतरित द्वारका, मथुरा, अयोध्या आदि में दृष्टिगत होता है। वह परिच्छिन्न के समान दीखने पर भी अपरिच्छिन्न, स्वयं प्रकाशमान एवं माया से रहित है।[4] इन्होंने 'विष्णु पुराण' के युगल रूप का अनुसरण करते हुए 'दशश्लोकी' के पाँचवें श्लोक की व्याख्या में कहा है कि जब आप देव-विग्रह धारण करते हैं तब लक्ष्मी देवी स्वरूपा होती है। और जब मनुष्य विग्रह धारण करते हैं तब लक्ष्मी भी मानुषी रूप धारण करती हैं। इस प्रकार राधा-माधव और माधव-राधा-स्वरूप में विराजमान एवं क्रीडार्थ अवतरित युगल अवतार की चर्चा की है।[5]

'दशश्लोकी' के भाष्यकारों में श्रीपुरुषोत्तमाचार्य[6] एवं उनके अनुगामी

---

१. वेदान्त तत्त्वसुधा पृ० ३ श्लोक। २. वेदान्त तत्त्व सुधा पृ० १२।
३. अर्थ पञ्चक निर्णय पृ० ३६। ४. अर्थ पञ्चक निर्णय पृ० ४२।
५. अर्थ पञ्चक निर्णय पृ० ७९–८०।
६. वेदान्त पारिजात कौस्तुभ आफ निम्बार्क एण्ड वेदान्त कौस्तुभ आफ श्रीनिवास की लेखिका सुश्री रोमा बोस ने (जी० ३ पृ० ६५ में) क्रमशः निम्बार्क, श्रीनिवास एवं विश्वाचार्य के पश्चात् पुरुषोत्तमाचार्य का स्थान माना है!

श्रीहरिहर प्रपन्न ने 'व्यूहांङ्गिनं' की व्याख्या करते हुए अवतारवाद के पांचरात्र एवं भागवत दोनों का समाविष्ट रूप ग्रहण किया है। इनके मतानुसार एक ही ब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी 'अघट-घटनापटीयसी शक्ति' से विभिन्न नाम-रूप धारण करते हैं, और स्थित रहते हैं।[1] वे अवतारावस्था में भी अजहद् गुण शक्ति तथा अतिशय साम्य से सम्पन्न एवं परिपूर्ण हैं।[2] वे सृष्टि कार्य एवं उपासना के निमित्त व्यूह रूप में स्थित होते हैं। उस व्यूह में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चार रूप मान्य हैं। पुनः इन्हीं से विकसित द्वादश व्यूह मूर्तियाँ भी प्रचलित हैं।[3] श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने अवतारों के प्रयोजन के निमित्त गीता और पांचरात्र का समान्वित रूप प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण, अपनी इच्छा से धर्मस्थापना, अधर्मशमन और अपने भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के निमित्त विविध विग्रह रूपों और आविर्भावों में लक्षित होते हैं।[4]

इसके अतिरिक्त इन्होंने भागवत परम्परा में भी प्रचलित विविध अवतारवादी रूपों का उल्लेख किया है। इस परम्परा में गुण, पुरुष और लीला भेद से तीन प्रकार के अवतार माने गये हैं। गुणावतारों में रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। पुरुषावतार के कारणार्णवशायी, गर्भोदशायी और क्षीरोदशायी तीन भेद बतलाये गये हैं। ये क्रमशः प्रकृति एवं उसके तत्वों के नियंता, समष्टि अन्तर्यामी और व्यष्टि अन्तर्यामी हैं। ये तीनों रूप पुरुष, समष्टि एवं व्यष्टि अन्तर्यामी या आत्मा तथा संभवतः ईश्वर, जगत और जीव के पर्याय या परिवर्तित रूप विदित होते हैं।[5] तीसरा भेद लीलावतारों का है। आवेश और स्वरूप भेद से लीलावतार दो प्रकार के होते हैं। इनमें आवेश के स्वांशावेश और शक्त्यांशावेश दो भेद कहे गये हैं। किसी जीव के व्यवधान के बिना अपने अंश से प्राकृत विग्रह-रूप में आविर्भूत होने को स्वांशावेशावतार कहते हैं। जैसे, नर-नारायण आदि रूप। किसी जीव विशेष में अपनी शक्ति के कुछ अंश को प्रकट कर किसी अभिष्ट कार्य

---

१. दशश्लोकी लघुमञ्जूषा भाष्य पृ० १५। २. वेदान्त रत्न मञ्जूषा पृ० ४७।

३. श्रेडर पृ० ४१ में द्वादश नाम तथा गोपालोत्तर तापनीयोपनिषद् ३०-३८ में द्वादश व्यूह मूर्त्तियों का उल्लेख हुआ है। श्रेडर के अनुसार वासुदेव से केशव, नारायण, माधव, संकर्षण से गोविंद और मधुसूदन, प्रद्युम्न, से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर ये द्वादश रूप उत्पन्न हुए हैं।

४. वे० र० म० पृ० ४८। ५. वे० र० म० पृ० ४८।

के सिद्धकर्ता अवतार को शक्त्यांशावतार कहा गया है। जैसे कपिल, ऋषभ, चतुः सनकादि, नारद, व्यास प्रभृति।[1] विभिन्न मतों के प्रवर्तक, दार्शनिक तथा चिंतक जो भा० ११, ४ में कलावतार माने गये हैं; संभवतः उन्हीं को यहाँ शक्त्यांशावतार बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त शक्ति के तारतम्य या अन्तर से शक्त्यांशावतार के प्रभव और विभव दो भेद होते हैं। इनमें धन्वन्तरि और परशुराम आदि प्रभव और कपिल, ऋषभ प्रभृति विभव-संज्ञक हैं।

इन्होंने तीसरा अवतार भेद स्वरूपावतार माना है। सत्-चित्त और आनन्दात्मक स्वरूप से प्रकट होने वाले रूप को स्वरूपावतार कहा गया है। दीप से प्रज्वलित दीप के समान श्रीकृष्ण से प्रकट होने वाले स्वरूपावतार भी स्वरूप गुण और शक्ति में समान हैं। फिर भी इसके पूर्ण और अंश भेद बतलाये गए हैं; क्योंकि, संभवतः कार्य एवं प्रभाव के अनुरूप स्वरूपावतार पूर्ण होने पर भी अल्प गुण, शक्ति आदि प्रकट करने के कारण अंशावतार कहा जाता है। इन्होंने मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, ह्यग्रीव, हंस, प्रभृति अवतारों को अंशावतार और नृसिंह, दाशरथी राम और श्रीकृष्ण को पूर्णावतारों में माना है।[2]

अंश और पूर्ण प्रभृति भेदों को देखते हुये इनके पौराणिक परम्परा से गृहीत होने का भान होता है, क्योंकि 'विष्णुपुराण' में अंश या पूर्ण के उल्लेख या संकेत मिलते हैं। परन्तु इन रूपों में तत्कालीन युग के पूर्व से ही प्रचलित पाञ्चरात्र विभवों का भी समावेश किया गया है; क्योंकि सामान्यतः जहाँ अवतारों का विग्रह रूप प्रचलित दीखता है, वहाँ उनमें पौराणिक कथाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त सम्प्रदायों के प्रचलित उपास्य अवतार अंशावतार की अपेक्षा पूर्ण रूप में अधिक प्रचलित होते हैं। दाक्षिणात्य साहित्य में यह प्रवृत्ति पूर्व मध्यकाल में ही लक्षित होती है।[3] अतः इस आधार पर राम, कृष्ण और नृसिंह दक्षिण में प्रचलित सम्प्रदायों के उपास्य होने के कारण भी पूर्णावतार कहे गये हैं।[4]

---

१. वे० र० म० पृ० ४८।
२. वे० र० म० पृ० ४८-४९।
३. डिभाइन विज्डम आफ द्रविड़ सेंट्स पृ० ३८ में राम पूर्ण और अन्य अवतार गौण कहे गए हैं।
४. फर्कुहर पृ० १८८ में इनसे सम्बद्ध सम्प्रदायों का अनुमान किया गया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अवतारवादी एवं उपास्य रूपों को इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

- परब्रह्म श्रीकृष्ण
  - नित्यशरीर
    - नित्य विभूति
    - लीला विभूति
  - अनित्यशरीर
    - कर्मज
    - अकर्मज (अवतार)
      - गुणावतार
        - रज (ब्रह्म) सृष्टि, दक्ष प्रजापति, काल
        - सत्व (विष्णु) पालन, मनु, काल
        - तम (रुद्र) संहार, रुद्रगण, काल
      - पुरुषावतार
        - कारणार्णवशायी
        - गर्भोदशायी
        - क्षीरोदशायी
      - लीलावतार
        - आवेशावतार
          - स्वांशावेश (नारायण)
          - शक्त्यांशावेश
            - प्रभव (धन्वन्तरि, परशुराम आदि)
            - विभव (कपिल, नारद आदि)
        - स्वरूपावतार
          - पूर्ण (राम, कृष्ण, नृसिंह)
          - अंश (मत्स्य, वराह आदि)
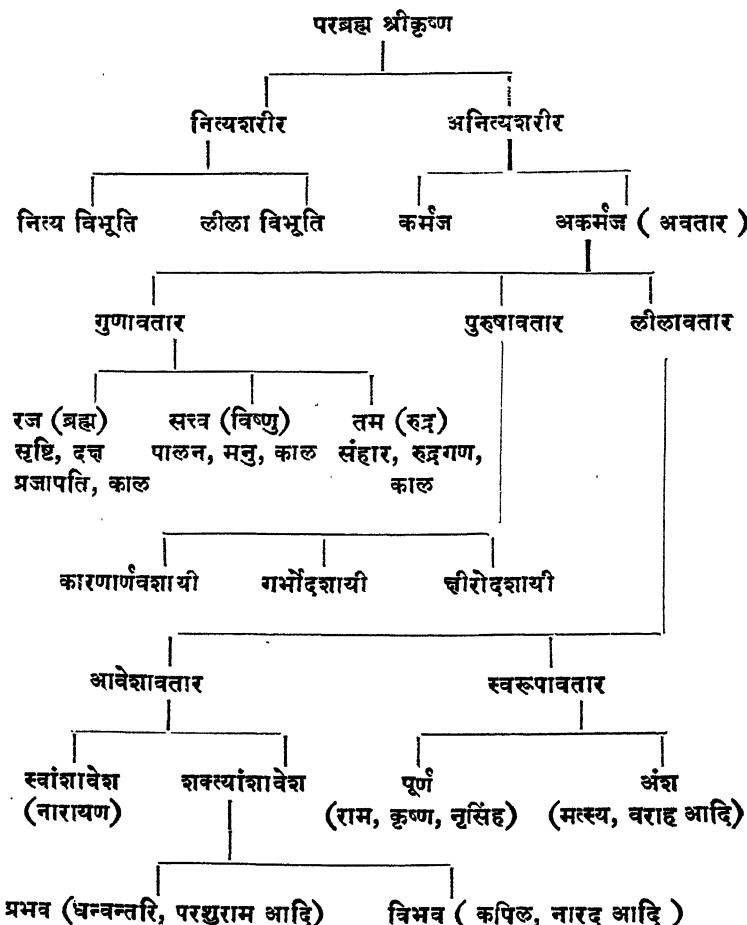
चैतन्य सम्प्रदाय

'श्रीमद्भागवत' के अनुयायी सम्प्रदायों में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है। इस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध गोस्वामियों ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों के साथ पाञ्चरात्र एवं भागवत दोनों अवतारी पद्धतियों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। फिर भी इनमें रूप गोस्वामी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'लघुभागवतामृत' में श्रीकृष्ण के विविध रूपों तथा उक्त अवतार-

परम्परा का विस्तृत वर्णन किया है। श्रीकृष्ण इस मत के भी उपास्य माने गये हैं। 'लघुभागवतामृत' के अनुसार स्वयंरूप, तदेकात्म रूप और आवेश रूप उनके ये तीन मुख्य रूप हैं।[१] इनमें स्वयं रूप अनन्यापेक्षी या स्वतः सिद्ध रूप है। दूसरा तदेकात्मक रूप शक्ति सामर्थ्य आदि में समान होने पर भी आकृति से भिन्न प्रतीत होता है। इसके विलास और स्वांश दो भेद हैं। विलास रूप लीला के निमित्त परिवर्तित रूप है। शक्ति एवं सामर्थ्य की दृष्टि से यह स्वयं रूप की समकक्षता में है। नारायण और वासुदेव को रूप गोस्वामी ने श्रीकृष्ण का विलास रूप बतलाया है।[२] स्वांश रूप विलास रूप की अपेक्षा अल्प शक्ति से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त आवेश का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जिन महान् जीवों में ईश्वर अपनी ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा आविष्ट हुआ करते हैं, वे आवेश रूप हैं।[३] जैसे शेष शक्ति के, सनकादि ज्ञान के और नारद भक्ति के आवेश माने जाते हैं।[४]

श्रीकृष्ण के उक्त रूपों में रूप, मायिक या माया निर्मित न होकर सत्य और नित्य रूप है। अतः इनके स्वांश और आवेश रूप ही आविर्भूत होते हैं। स्वयं रूप केवल द्वापर युग में कृष्ण-रूप में अवतरित होता है।[५] श्रीकृष्ण के इन रूपों के अतिरिक्त रासलीला एवं द्वारका में गृहीत एक सदृश अनेक रूपों के आधार पर प्रकाश रूप माना गया है।[६] सामान्यतः स्वयं रूप ही मुख्य प्रकाश या प्राभव के रूप में बृन्दावन रासलीला और द्वारका के रनिवास में प्रकट होता है।[७] तथा गौण प्रकाश देवकी पुत्र द्विभुज कृष्ण एवं बलराम आदि रूपों में अवतरित होता है। साथ ही कृष्ण के अवतार-रूप का भी स्वयं रूप से सम्बन्ध बतलाया गया है। इनके अवतारत्व की चर्चा करते हुए रूप गोस्वामी ने कहा है कि उपर्युक्त स्वयंरूपादि, विश्व-कार्य के निमित्त अभूतपूर्व ढङ्ग से अवतरित होते हैं इसलिये अवतार कहे जाते हैं।[८] बलदेव विद्याभूषण ने इसकी व्याख्या में कतिपय प्रयोजनों की चर्चा की है। इनके कथनानुसार सृष्टि, उत्पत्ति एवं विस्तार, दुष्ट विमर्दन, देवताओं का सुखवर्द्धन, समुत्कंठित साधकों को साक्षात् दर्शन, प्रेमानन्द का विस्तार और विशुद्ध भक्ति का प्रचार इनके मुख्य प्रयोजन हैं।

रूप गोस्वामी ने भागवत की परम्परा में प्रचलित अवतारवाद के पुरुषावतार

---

१. ल० भा० पृ० ९ श्लोक ११-१२। २. ल० भा० पृ० ११ श्लोक १४-१५।
३. ल० भा० पृ० १२-१३ श्लोक १६-१७। ४. वैष्णव फेथ ऐण्ड मूवमेंट पृ० १८२।
५. ल० भा० पृ० १२३। ६. ल० भा० पृ० १३ श्लोक १८।
७. टीचिंग्स आफ श्री गौरांग पृ० १६४। ८. ल० भा० पृ० १६ श्लोक १ टिप्पणी।

गुणावतार और लीलावतार प्रभृति भेदों को ग्रहण किया है। इनके मतानुसार इन तीन कोटि के अवतारों में अधिकांश स्वांश और आवेश हैं।[1]

पुरुषावतार में प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरुष महत् एवं स्रष्टा, हिरण्यगर्भ और सर्वभूतात्मा माने गये हैं। बलदेव विद्याभूषण ने इन्हें क्रमशः संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से भी अभिहित किया है।[2] इन्होंने उसी परम्परा में ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु को गुणावतार माना है। इन त्रिदेवों का अवतार सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त द्वितीय पुरुष से होता है।[3] यहाँ ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ सूक्ष्म और वैराज (स्थूल) भेद से दो प्रकार के हैं। हिरण्यगर्भ ब्रह्म लोक के निवासी और वैराज सृष्टि कार्य में रत हैं। ये वैराज ही सृष्टि कार्य और वेद-प्रचार के लिए प्रायः चतुर्मुख, अष्टनेत्र और अष्टबाहु होकर अभिव्यक्त होते हैं। 'पद्मपुराण' के आधार पर इनका कथन है कि किसी-किसी महाकाल्प में जीव भी उपासना के प्रभाव से ब्रह्मा होता है। तथा किसी कल्प में विष्णु ही ब्रह्मा होते हैं। अतएव विष्णु जब सृष्टि कार्य करते हैं तब जीवात्मक ब्रह्म (वैराज), ब्रह्मलोक की सुख सम्पदा भोगते हैं। इस प्रकार काल भेद से ब्रह्मा कभी ईश्वर और कभी जीव भी होते हैं।[4]

रूप गोस्वामी ने रुद्र के एकादश रूपों की चर्चा करते हुए कहा है कि ये निर्गुण होकर भी तमोगुण के योग से तमोगुण की सहायता करते हैं।[5] कल्प भेद से इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा, विष्णु या संकर्षण से मानी गई है।[6] किन्तु वायुपुराणादि में बतलाए हुये शिव लोक में स्थित सदाशिव की शिव मूर्त्ति को इन्होंने कृष्ण का विलास रूप माना है।[7] यह रूप शिव के अवतार रूप की अपेक्षा उपास्य रूप अधिक विदित होता है।

इन्होंने गुणावतार विष्णु के आविर्भूत रूप को पद्म से उत्पन्न बतलाया है। जिसमें जीव की समस्त भोग्य वस्तु निहित है, उस लोकात्मक पद्म में गर्भोदशायी होकर विष्णु प्रवेश करते हैं। मुनिगण जिनको स्वयम्भु कहते हैं। यों तो विष्णु क्षीराब्धिशायी हैं, परन्तु मुनियों ने उन्हें गर्भोदशायी का विलास रूप तथा नारायण और विराट् रूप का अन्तर्यामी भी माना है।[8] इस प्रकार विष्णु से ही विभिन्न रूपों का विकास होने के कारण तथा इसके साथ ही

---

१. ल० भा० पृ० १७ श्लोक ३।
२. ल० भा० पृ० १९ श्लोक ५।
३. ल० भा० पृ० २४ श्लोक ११ की टिप्पणी।
४. ल० भा० पृ० २६-२७ श्लोक १३-१४।
५. ल० भा० पृ० ३१ श्लोक २०।
६. ल० भा० पृ० ३२ श्लोक २२।
७. ल० भा० पृ० ३२ श्लोक २३।
८. ल० भा० पृ० ३५ श्लोक २५।

सत्त्वतनु, निर्गुण, नित्य आदि रूपों के कारण इनका गुणात्मक रूप अधिक स्पष्ट नहीं हो सका है।[1] यों पुराणों में सत्त्वगुण और पालन से सम्बद्ध होने के कारण विष्णु का गुणात्मक सम्बन्ध ज्ञात होता है। रूप गोस्वामी ने 'भागवत' १, ३, २, ७ और ११, ४ के ही लीलावतारों में भाः २, ७ के २४ अवतारों को विशेष रूप से ग्रहण किया है। उक्त सूची से केवल भाः २, ७, १५ के हरि और भाः २, ७, २० के मनु को नहीं लिया गया है। दूसरी ओर भाः १, ३, ८ के नारद और भाः १, ३, १७ की मोहिनी को इन्होंने अपने पच्चीस अवतारों की सूची में ग्रहण किया है।[2] इस युग के पूर्व ही पुराणों में वर्णित अवतारों को युग, मन्वन्तर, कल्प प्रभृति कालानुरूप तथा द्वीप, वर्ष आदि स्थानानुरूप भेदों के द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयास हो चुका था। अतः रूप गोस्वामी ने प्रत्येक कल्प में अवतरित होने के कारण इन्हें कल्पावतार भी बतलाया है।[3] इस प्रकार भागवत आदि पुराणों में वर्णित १२ मन्वन्तरावतारों और चार युगावतारों को मिलाकर इन्होंने ४१ अवतारों का उल्लेख किया है।[4] पुनः इन्होंने लीलावतारों की आवेश, प्राभव, वैभव और परावस्थ, इन चार रूपों में विभक्त किया है। इन्होंने पाञ्चरात्रों की अपेक्षा 'पद्मपुराण' के आधार पर, ज्ञान, भक्ति एवं शक्ति आदि से युक्त चतुःकुमार, नारद, पृथु और परशुराम प्रभृति को आवेशावतार माना है। ये अवतार हरि कि विभिन्न कलात्मक शक्तियों से आविष्ट कहे गये हैं।[5] इन्हीं शक्तियों के अल्प या अधिक मायात्मक भेद के कारण प्राभव और वैभव नाम भी प्रचलित हुये हैं। इन शक्तियों के कालात्मक प्रभावस्वरूप प्राभव रूप भी अल्पकालीन और दीर्घकालीन दो प्रकार के होते हैं। जैसे मोहिनी, हंस, प्रभृति अल्पकालीन, तथा धन्वन्तरि, ऋषभ, व्यास, दत्त और कपिल आदि दीर्घकालीन प्राभव के द्योतक हैं।[6] कूर्म, मत्स्य, नर, नारायण, वराह, हयग्रीव पृश्निगर्भ, बलदेव, यज्ञ और १४ मन्वन्तरावतार मिलाकर २१ अवतारों को वैभवस्थ माना है। 'दीपादुत्पन्नदीपवत्' समानरूप वाले षड्गुणसम्पन्न राम-कृष्ण और नृसिंह इन तीन पूर्णावतारों को ही परावस्थ रूप कहा गया है। अतः परावस्थ सम्भवतः पूर्णावतार का ही पर्याय है।[7] उपर्युक्त प्रभाव कार्य एवं कालानुरूप विभाजनों के अतिरिक्त कुछ अवतारों के निवास लोकों के भी परिचय दिये गये हैं।

---

१. ल० भा० पृ० ३८-३९ श्लोक २९-३१।

२. ल० भा० पृ० ४४-७० विशेष सूची २४ अवतार शीर्षक में द्रष्टव्य।

३. ल० भा० पृ० ७० श्लोक ३२ 'कल्पावतारा इत्येते कथिता पंचविंशतिः'।

४. ल० भा० पृ० ७९ श्लोक १७। ५. ल० भा० पृ० ८२ श्लोक २३-२४।

६. ल० भा० पृ० ८४-८५ श्लोक २७-२८। ७. ल० भा० ८६-९० श्लोक ३०-४३।

जैसे, कूर्म–महातल में, मत्स्य–रसातल में, नर–नारायण–बदरिकाश्रम में, नृवराह–महर्लोक में, पशु वराह–पाताल में, हयशीर्ष-तलातल में, पृश्निगर्भ-ब्रह्मा के तल लोक के ऊपर, बलराम-कृष्ण–गोकुल में, संकर्षण–पाताल में, वैकुण्ठ–स्वर्ग में, अजित–ध्रुव लोक में, त्रिविक्रम–तपलोक में और वामन–भुर्वलोक में, नृसिंह–जन और विष्णुलोक, श्रीराम–अयोध्या और महावैकुंठ तथा श्रीकृष्ण व्रज, मधुपुर द्वारका और गोलोक में रहते हैं।[1]

श्रीकृष्ण के उपर्युक्त रूपों एवं अवतारों के क्रम एवं विभाजन-क्रम निम्न रूप में लक्षित होते हैं :—

- श्रीकृष्ण (उपास्य ब्रह्म)
  - स्वयं रूप, प्रकाश रूप
  - तदेकात्मरूप
    - विलास-नारायण, वासुदेव
    - स्वांश-अवतार
      - पुरुषावतार
        - महत समष्टि संकर्षण, अन्तर्यामी प्रद्युम्न
        - सर्वान्तर्यामी अनिरुद्ध
      - गुणावतार
        - विष्णु
        - ब्रह्मा
          - हिरण्यगर्भ
          - वैराज
        - रुद्र
      - कालानुरूप
        - लीलावतार पच्चीस कल्पावतार
          - आवेश–सनकादि, पृथु, नारद, आदि
          - प्राभव
            - अल्पकालीन मोहिनी, हंस आदि
            - दीर्घकालीन धन्वन्तरि, ऋषभ आदि
          - वैभव कूर्म, मत्स्य, नर नारायण आदि तथा १४ मन्वन्तरावतार
          - परावस्थ–राम, कृष्ण और नृसिंह
        - युगावतार चार
        - मन्वन्तरावतार बारह
        - कल्पावतार पच्चीस
  - आवेशरूप

1. ल० भा० पृ० ८६ श्लोक ३० से पृ० १०४ श्लोक २३ तक।
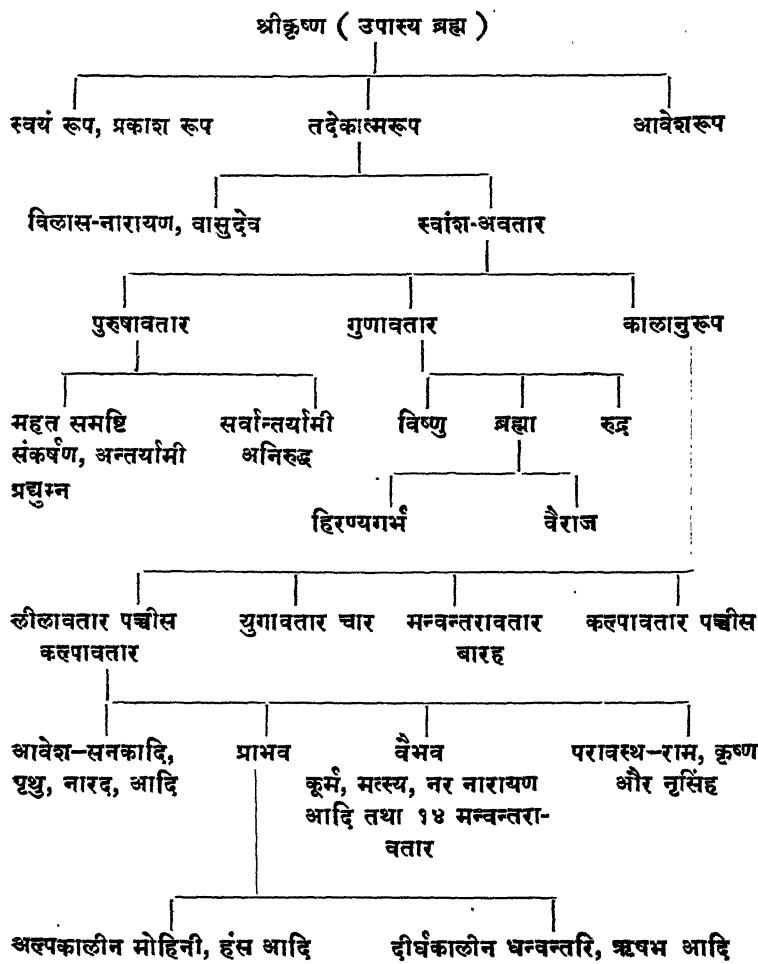
आठवाँ अध्याय

अवतारवाद के विविध रूप

आलोच्यकाल में परम्परा से ही विकसित होते हुये अवतारवाद के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। इनमें अंश, कला, विभूति, आवेश, पूर्ण, व्यूह, लीला, युगल और रस रूप उल्लेखनीय हैं। इस युग में सामान्यतः जिस अवतारवाद की अभिव्यक्ति हुई है वह प्राचीन एवं पूर्ववर्ती साहित्य का ही किञ्चित परिवर्तित एवं तत्कालीन प्रभावों से संवलित रूप है। प्रायः अवतारवाद के जिन सिद्धान्तों और परम्परागत पारिभाषिक शब्दों का विवेचन सम्प्रदायों में होता रहा है, उन्हीं के व्यावहारिक रूपों का प्रयोग तत्कालीन कवियों में दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अवतारवाद से सम्बद्ध अंश, कला, विभूति, और आवेश इन चार रूपों का जिन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में विचार किया गया है, उन्हीं सम्प्रदायों के मध्यकालीन कवियों में इनका प्रायः उल्लेख मात्र दीखता है। साथ ही लीला, युगल और रस रूपों का इनमें यथोचित विस्तार हुआ है। इतना अवश्य है कि अंश, कला, विभूति आदि शब्दों का इन कवियों द्वारा जहाँ प्रयोग हुआ है, वहाँ पारिभाषिक रूपों में प्रयुक्त होने के कारण वे अपने विकसित रूप तथा पूर्व परम्परा का सम्पूर्ण रहस्य अपने में ही अन्तर्हित रखते हैं। अतः मध्यकालीन कवियों में इनकी विशेष चर्चा न होते हुये भी इनके क्रमशः विकास और साम्प्रदायिक रूपों का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि पदों में इनका प्रयोग प्रायः अभिधात्मक न होकर रूढ़ि के रूप में हुआ है।

इस काल के कवियों ने विभिन्न प्रसंगों में इन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। नन्ददास ने श्रीकृष्णावतार की चर्चा करते हुये कहा है कि यदुकुल में ईश्वर अनेक अंश, कला और विभूति के साथ अवतरित हुये।[1]

---

१. तिहि कुल में ईश्वर अवतरे, अंश कला विभूति करि भरे।

न० ग्रं० भाषादसमस्कंध, पृ० १९९

'वैष्णव धर्म-रत्नाकर' में 'वशिष्ठ संहिता' के आधार कहा गया है कि जिस राम (उपास्य) के अनन्त अवतार हैं, उनमें कोई कलावतार हैं, कोई अंशावतार हैं, कोई विभूति अवतार हैं और कोई आवेश अवतार हैं।[1] इसके अतिरिक्त राम-कृष्ण आदि मध्यकालीन उपास्यों के अधिक एकोन्मुख होने पर उनकी तुलना में इन रूपों का गौणत्व भी प्रदर्शित किया गया है। ध्रुवदास ने वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हुये कहा है कि श्रीकृष्ण के अंश, कला आदि जितने प्रकार के अवतार हैं सभी वृन्दावन का सेवन करते हैं।[2] भक्त कवि व्यास जी अपने उपास्य राधावल्लभ को आदि देव बतलाते हुये कहते हैं कि राधावल्लभ मूल फल हैं और अन्य रूप फूलदल और डाल के सदृश हैं। इसी आदि देव से अंश, कला आदि विभिन्न अवतार होते हैं।[3] श्री करुणानिधि ने विट्ठलनाथ के प्रति अपनी ऐकान्तिक निष्ठा प्रकट करते हुये अंश, कला, क्षर, अक्षर आदि रूपों के भजने वालों की भी चर्चा की है।[4] युगल-भावना की श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुये श्रीभगवत मुदित ने कहा है कि जो युगल भावना में नित्य निरन्तर रहते हैं उन्हें अंश, कला आदि सभी चाहते हैं। समस्त विभूतियाँ उन्हीं को मानी गई हैं और इस प्रकार उन्हीं में निमग्न हृदय अन्य किसी को नहीं जानता।[5] इससे अंश, कला आदि रूपों का प्रयोग विशेष अर्थ में या पारिभाषिक प्रतीत होता है, जिनका प्रासंगिक प्रयोग उक्त कवियों ने अपने पूर्ण उपास्यों की तुलना में की है। इस दृष्टि से इन रूपों का पृथक् विवेचन किया जाता है।

अंश

अवतारवाद के यथोचित विकास के मूल में सर्वप्रथम अंशावतार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। दार्शनिक विचारकों की दृष्टि से परब्रह्म का असीम

---

१. यस्यानन्तावतारश्च कला अंश विभूतयः। आवेश विष्णु ब्रह्मेशः परब्रह्मस्वरूप भाः॥
वै० ध० र० पृ० १२५।

२. अंस कला अवतार जेते सेवत हैं ताहि।
ऐसे वृंदाविपिन को मन वचके अवगाहि॥ ध्रु० ग्रं० वृंदावन शतक पृ० ५।

३. राधा वल्लभ मूल फल, और फूल दल डार।
व्यास इनहिं ते होत हैं, अंस कला अवतार॥ भक्त कवि व्यास जी पृ० ४१४।

४. हमतो श्री विट्ठलनाथ ही जाने।
कोऊ भजो अंसकला अवतारि कोऊ अक्षरक्षर थाने॥ रा० कल्पद्रुम जी २। पृ० १७१।

५. जुगल भावना में नित रहैं, तिनके अंस कला सब चहैं।
तिनही की विभूति सब मानै, यौ विचरत उर और न जानै॥
रसिक माल। ह० लि०, ना० प्र० स० (पृ० ५१)

रूप ससीम रूप में गृहीत होने पर पूर्ण की अपेक्षा अंश विदित होता है। क्योंकि ईश्वर व्यक्तिमात्र के रूप में ससीम हो सकता है असीम नहीं।[1] संभवतः इसी से आचार्य शङ्कर ने भी गीताभाष्य में श्रीकृष्ण को अंशावतार ही स्वीकार किया है।[2] पूर्णावतार के विपरीत आलोचकों का समीचीन आरोप यह रहा है कि अवतार-रूप में निरपेक्ष ब्रह्म भी सामान्यतः देवता, साधु, भक्त या अपने आराधकों का पक्ष लेने वाला होने के कारण एक पक्षीय या एकांगी हो जाता है।[3] फलतः वह निरपेक्ष ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों का भाजन उपास्य और उनका अभिमत दाता है। वैदिक साहित्य में अवतारवाद की भावना बद्धमूल न होने के कारण मनुष्य-रूप में आविर्भूत होने की प्रवृत्ति अवश्य ही दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु फिर भी कतिपय मन्त्रों में एक ही ईश्वर के विभिन्न देवताओं या दिव्य शक्तियों के अस्तित्व का पता चलता है। 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ती' या 'एकोहं बहुस्याम प्रजायेय' में जो एक से अनेक होने की भावना विद्यमान है; इसकी परम्परा उत्तरोत्तर उपनिषदों में भी विकसित होती हुई दिखाई पड़ती है। 'कठोपनिषद' के अनुसार एक ही परमधामवासी परमात्मा अंतरिक्ष में वसु, घरों में अतिथि, यज्ञ में अग्नि और होता मनुष्य तथा मनुष्य से श्रेष्ठतर प्राणियों में आकाश, जल, पृथ्वी, ऋत और पर्वतों में प्रकट होने वाला बृहत ऋत है।[4] अग्नि, वायु, सूर्य आदि के रूप में एक ही वह विविध रूपधारण करता है।[5] मध्यकालीन कवियों ने भी उपनिषद के उक्त रूपों से संवलित सगुण उपास्यों पर इन्हीं के समानान्तर विभिन्न अंशात्मक रूपों के उत्पन्न होने की कल्पना की है। गोस्वामी तुलसीदास के कथनानुसार उपास्य राम से शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि नाना प्रकार के अंश-रूप उत्पन्न होते हैं।[6] केशवदास उपास्य राम की स्तुति करते हुये कहते हैं कि तुम्हीं सृष्टि-रहस्य के ज्ञाता आदि देव हो! तुम्हीं से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि अंशावतार प्रकट हुये हैं।[7]

---

१. दी क्रिटिकल एग्जामिनेशन आफ फिलौसौफी आफ रेलिजन जी० २ पृ० ८९४-८९५।

२. गी० शां० भा० पृ० १४ 'अंशेन कृष्णः किल सम्बभूव'।

३. वा० रा० १, १५, २६ महा० २, ३६, १३-१८, गीता ४, ८, भा: ११, ४, २०।

४. कठो० २, २, २।

५. एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकरूपं बहुधा यः करोति। कठो २, २, ९-१२।

६. संभू विरंचि विष्णु भगवाना, उपजहि जासु अंस ते नाना।

रा० मा० ना० प्र० स० पृ० ७६।

७. कह कुशल कहौं तुम आदि देव, सब जानत हो संसार भेव।
विधि विष्णु शंभु रवि ससि उदार सब पावकादि अंशावतार॥

रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध पृ० ३७४।

ईश्वर के एकदेशीय या अंश-स्वरूप होने की भावना 'पुरुषसुक्त' के 'पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्य मृतं दिवि' में भी लक्षित होती है।[1] छान्दोग्यो में पुनः इसका विकास क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और अद्वैत पादों में माना गया है।[2] 'विष्णुपुराण' में सृष्टि, पालन और संहार से सम्बद्ध, ब्रह्मा, मरीचि, काल और प्राणी, विष्णु, मनु, काल, सर्वभूतात्मा, रुद्र, अग्नि, काल, अखिलभूत आदि को चार-चार अंशों में विभक्त बतलाया गया है।[3] इस प्रकार परमात्मा के विषय में जो कुछ भी ज्ञात है वह ज्ञेय रूप इसका केवल अंश मात्र है। 'केनोपनिषद्' में ब्रह्म के इस अल्परूपात्मक ज्ञान का उल्लेख हुआ है।[4] इसके अतिरिक्त मनुष्य आदि सभी प्राणियों को जीवात्मा, परमात्मा का अंश माना जाता रहा है। मध्यकालीन साहित्य के निर्गुण या सगुण सभी भावधाराओं में यह प्रवृत्ति समान रूप से गृहीत हुई है। निर्गुण काव्यों में अंश रूपों का वैशेषीकरण निश्चय ही नहीं लक्षित होता किन्तु फिर भी इस वर्ग के काव्यों के विकास में अंश-रूपों का योग माना जा सकता है; क्योंकि सन्तों में परमात्मा और आत्मा के कार्यगत और भावगत विविध रूपों की अनेक स्थलों पर मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। आरण्यकों एवं उपनिषदों में विश्वात्मा और व्यष्टि-आत्मा के अभिव्यक्त रूपों का परिचय मिलने लगता है।[5] इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों में अंशाविर्भाव या अंशाभिव्यक्ति के मूल रूपों का आभास देखा जा सकता है।

किन्तु अंशावतार की सर्वाधिक व्याप्ति बहुदेववादी अवतारवाद में मिलती हैं जहाँ परमात्मा के साथ देवता, दैत्य आदि सभी का सामूहिक अवतरण होता है। 'रामायण' 'वाल्मीकि' एवं 'महाभारत' दोनों प्राचीन महाकाव्यों में सामूहिक अंशावतरण की यह भावना विशिष्ट गुणों और रूपों से युक्त वैदिक देवों के व्यक्तिगत या चरित्रगत रूपों में प्रचलित होने के कारण विदित होती है। इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, वरुण, सूर्य आदि वैदिक देवताओं का संभवतः एक मानवीकृत रूप प्रस्तुत हो चुका था। राधाकृष्णन् के मतानुसार वैदिक

---

१. ऋ० १०, ९०, ३।   २. छा० २, १२, ६।

३. वि० पु० १, २२, २४-२९।

४. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम् त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥   केनो० २, १।

५. एष ह देवः प्रादिशोऽनु सर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥   श्वेत २, १६।
यही मन्त्र न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ तै० आ० १०, १, महा० ना० २, १, में भी मिलता है।

साहित्य में उपलब्ध कतिपय तथ्यों के आधार पर यह माना जाता है कि इन देवताओं के मनुष्य के समान हाथ-पैर हैं और मनुष्य का स्वरूप मिलने के कारण उनमें वासना और काम की भावना विद्यमान है। उनके ऊपरी शरीर पर स्वच्छ चर्म है। लम्बी दाढ़ी है। वे मनुष्य के समान युद्ध करते हैं और दूध-घी, पीते हैं और खाते हैं। वे नृत्य करते हैं और आनन्द मनाते हैं। इन देवताओं के समाज में अग्नि और बृहस्पति यदि पुरोहित माने गये हैं तो मरुत और इन्द्र योद्धा।[1] हिन्दी टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थों के अनुसार कतिपय ऋचाओं में उनके आविर्भाव या अंशाविर्भाव का आभास मिलता है। अग्नि का द्युलोक से अवतरण[2] और तेज बल से जन्म ग्रहण;[3] इन्द्र के बलवीर्य और तेज से जन्म लेने[4] तथा सूर्य और साम के जन्म लेने के उदाहरण मिलते हैं।[5] इन्द्र प्रजापति के शरीर से विश्वमित्रादि सप्तऋषि, आठ बालखिल्य और दस अंगिराओं की उत्पत्ति बतलाई गई है।[6] साथ ही मानव शरीर में अग्नि, वायु और सूर्य के अंश कहे गये हैं।[7] संभव है महाकाव्यों में इन देवों के रूपों एवं सम्बन्धों का विकास पौराणिक पद्धति (मिथिक स्टाइल) से महाकाव्यों में गृहीत हुआ हो। 'महाभारत' आदि पर्व के सतसठवें अध्याय में अंशावतार का व्यापक रूप दृष्टिगत होता है। इसका विशद रूप देखते हुये उसके अकस्मात् या अचानक समावेश का भान नहीं होता। मनुष्य तथा विभिन्न योनि में अवतरित देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, हरिण, सर्प, पक्षी आदि के जिन अंशावतारों का विस्तृत वर्णन हुआ है,[8] वह प्राचीन पौराणिक प्रवृत्तियों के क्रमशः विकास के फलस्वरूप प्रतीत होता है। क्योंकि इनमें मुख्य नायकों के रूप में वैदिक देवताओं का अंशावतार होता है;[9] जिसमें वैदिक काल के मुख्य देवता नर और इन्द्र के अंश से अर्जुन तथा तत्कालीन उपास्य नारायण के अंश से कृष्ण का अवतार होता है।[10] 'महाभारत' की यही परम्परा 'पृथ्वीराजरासो' एवं 'परमालरासो' में दृष्टिगत होती है।

'वाल्मीकि रामायण' में भी ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता पुनः अपने अंश से

---

१. हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसोफी। राधाकृष्णन्। जी० १, पृ० १०५-१०६।
२. ऋ० ६. १५, १।
३. ऋ० ८, ७, ३६।
४. ऋ० १०, १५३, २।
५. ऋ० ९, ६८, ५।
६. ऋ० १०, २७, १५।
७. ऋ० १०, ५६. १।
८. महा० १, ६७।
९. महा० १, ६७, ११०-११३।
१०. महा० १, ६७, ११६ और महा० १. ६७, १५१।

आविर्भूत होते हैं।[1] विष्णु, राम आदि अपने भाइयों के रूप में चार अंशों में विभक्त होकर अवतीर्ण होते हैं।[2] जिसकी परम्परा 'अध्यात्मरामायण',[3] 'आनन्दरामायण'[4] और गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस'[5] में न्यूनाधिक अंतर के साथ गृहीत हुई है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी परम्परा 'विष्णुपुराण' एवं 'भागवत' में मिलती है जिसमें विष्णु के साथ देताओं के अंशावतार होते हैं।[6] इस परम्परा को मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने ग्रहण किया है।

इस प्रकार महाकाव्य एवं पौराणिक बहुदेववादी अंशावतार का परम्परागत समावेश मध्यकालीन काव्यों में लक्षित होता है। सामूहिक अवतार शीर्षक में जिस पर विचार किया गया है।

अंशावतार की एक भिन्न प्रवृत्ति राजाओं के अंशावतार में भी लक्षित होती है। इनमें विविध देवताओं के अंश पृथक्-पृथक् आविर्भूत न होकर एक राजा में ही समन्वित कहे गये हैं। संभवतः देववाद की परम्परा में जो शासक देवता माने गये हैं उन्हीं के अंशों से राजा की उत्पत्ति बतलाई गई है। मनुस्मृति के अनुसार इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवताओं के नित्य अंश से राजा का निर्माण ईश्वर ने किया है।[7] 'वाल्मीकिरामायण' में भी कहा गया है कि राजा राम, अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण इन पाँच देवताओं के स्वरूप को धारण किये रहते हैं।[8] यह अंशावतार का बहुदेववादी रूप प्रतीत होता है। क्योंकि बाद में उपास्य भाव का प्राधान्य होने पर राजा को केवल विष्णु का ही अंश माना गया है।[9]

अवतारवाद का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों विष्णु या पुरुष के एकेश्वरवादी रूप से घनिष्ठतर होता गया त्यों-त्यों उनसे आविर्भूत अखिल सृष्टि भी पुराणों में उनके अंशावतार के रूप में मान्य हुई। 'विष्णुपुराण' में अखिल सृष्टि को परब्रह्म का अयुतांश कहा गया है[10] और 'भागवत' में अवतारों के 'अक्षयकोष पुरुष नारायण' के लघुत्तम अंश से देवता, पक्षी और मनुष्य आदि की उत्पत्ति बतलाई गई है।[11] इस प्रकार अंशावतार के बहुदेववादी एवं एकेश्वरवादी

---

१. वा० रा० १, १७ और ६, ३०, २०-२३। २. वा० रा० १, १५, ३०-३१।
३. अध्यात्म रामायण १, २, ३१-३२। ४. आनन्द रामायण सार कांड, सर्ग० ४।
५. रा० मा०, ना० प्र० स० पृ० ९७। ६. वि० पु० ५, १, ६२।
७. मनुस्मृति ७, ४। ८. वा० रा० ३, ४०, १२-१३।
९. वि० पु० १, २२, १६ और ४, २४, १३८। १०. वि० पु० १, ९, ५३।
११. भा० १, ३, ५।

रूपों का विकास महाकाव्यों एवं पुराणों में यथेष्ट मात्रा में लक्षित होता है; साथ ही पुराणों में परमकर्ता, आदि देव और उपास्य के व्यक्त रूप से अखिल ब्रह्माण्ड या सम्पूर्ण निर्मिति को अंशावतार रूप में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया गया।

निष्कर्षतः अंशावतार या अंश-रूप की प्रवृत्ति अवतारवाद की उन प्रारम्भिक मूल भावनाओं में से है जिसके आधार पर वैदिक काल से ही किसी न किसी रूप में अवतारवाद का क्रमशः विकास होता आया।

प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में व्याप्त अवतारवाद के अन्य रूपों की अपेक्षा यह रूप सर्वाधिक वैज्ञानिक, युक्तिसंगत और बुद्धिग्राह्य रहा है; क्योंकि ईश्वर की पूर्ण सत्ता का मनुष्य या रूप विशेष में केन्द्रित होना तर्कशील या बुद्धिवादी विचारक के लिए उतना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता जितना कि असीम ईश्वर के अंश रूप को सम्भाव्य समझा जा सकता है।

वैदिक, ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य में जो ब्रह्म विविध शक्तियों में पृथक्-पृथक् स्थित दीख पड़ता है, महाकाव्य काल से लेकर मध्यकालीन काव्यों तक उसके ही विविध रूपों का विस्तार पुनः पौराणिक तत्त्वों (मिथिक एलिमेंट्स) से समाविष्ट होकर इस काल के साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। अंतर इतना ही है कि एक में ब्रह्मज्ञानी की प्रबल जिज्ञासा और कुतूहल की मात्रा विद्यमान है तथा दूसरे में एक भावुक भक्त की अपूर्व श्रद्धा, भक्ति और विश्वास। इसके अतिरिक्त कतिपय महाकाव्यों और स्मृतियों में उपलब्ध एक ही राजा में विभिन्न देवताओं के समावेश की कल्पना भी उपर्युक्त भावनाओं से पृथक् नहीं है; क्योंकि प्राचीन साहित्य में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनों प्रायः साथ-साथ व्यक्त होते रहे हैं।

अतः अंशावतार पर निश्चय ही बहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनों का समान प्रभाव रहा है।

इसके अतिरिक्त पुराणों में अंशावतार या अंश-रूपों के साथ कला और विभूति का भी इस प्रकार समन्वय दीख पड़ता है कि अंश, कला और विभूति का मौलिक वैषम्य समझना कठिन हो जाता है। फलतः अवतारवाद के वर्गीकरण में अंश, कला और विभूति का भेद अत्यन्त विरल विदित होता है।

कला

भारतीय साहित्य में यों तो 'कला' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता रहा है। किन्तु अवतारवादी साहित्य में यह शब्द अंश के ही विशिष्ट

मात्रात्मक बोध का सूचक रहा है। प्राचीन साहित्य में अग्नि की दस, सूर्य की द्वादश और चन्द्रमा की सोलह कलाओं का प्रचार तो हुआ किन्तु इनका सम्बन्ध सीधा अवतारवाद से न होकर संभवतः ज्योति, उष्णता या अन्य गुणों और रूपात्मक परिवर्तन से रहा है। पर कला के ये ही पर्याय प्रारम्भ में ब्रह्म, पुरुष या ईश्वर के आंशिक रूपों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होते रहे हैं। कालान्तर में अवतारवादी उपास्य पुरुष या अवतारी विष्णु के विविध अवतार-रूपों के लिये भी इनका प्रयोग किया गया।

'भागवत' १, ३ में विभिन्न अवतारों का वर्णन करने के उपरान्त ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र आदि सभी महान् एवं शक्तिमान व्यक्तियों को हरि की कलायें कहा गया है।[१] पुनः अगले श्लोक में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों को अंश या कलावतार माना गया है।[२] 'भागवत' के एकादश स्कन्ध में हंस, दत्तात्रेय, सनत्कुमार, ऋषभ आदि अंशावतार-रूप में प्रसिद्ध प्राचीन प्रवर्त्तकों को कला से सम्बद्ध करते हुये कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने अपने स्वरूप में एक रस स्थित रहते हुये भी, समस्त जगत् के कल्याण के लिये बहुत से कलावतार ग्रहण किये हैं।[३] इससे कलावतार की रूपरेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, किन्तु 'भागवत' १०, १, २४ में शेषनाग को कलावतार और ११, २, ८ में अंशावतार बतलाया गया है।[४] इससे विशेषकर कलावतार अंश का ही एक विशिष्ट रूप विदित होता है। क्योंकि 'विष्णु-पुराण' में पृथु और कपिल जो केवल अंशावतार कहे गये हैं, वे ही 'भागवत' में विष्णु की विभिन्न कलाओं के अवतार माने गये हैं। 'भागवत' के अनुसार पृथु भुवन-पालनी कला[५] और कपिल ज्ञानकलावतार हैं।[६] इसके अतिरिक्त 'भागवत' के विभिन्न स्थलों पर पौराणिक राजा गय, और नाभिपुत्र ऋषभ भी कलावतार ही माने गये हैं।[७] इससे स्पष्ट है कि भागवतकाल में अंशावतारों के साथ कला-रूपों या कला-शक्तियों का व्यवहार होने लगा था।

यों वैदिक साहित्य में स्फुट रूप से कला का प्रयोग मिलता है, जिसका अंश या अंशावतार से सम्बद्ध होने की अपेक्षा स्वतन्त्र विकास ही अधिक स्पष्ट है।

---

१. भा० १, ३, २७ 'कलाः सर्वे हरेरेव'। २. 'एते चांशकला पुंसः' भा० १, ३, २८।
३. भा० ११, ४, २७। ४. पृथु, वि० पु० १, १३, ४५ कपिल, वि० पु० ४. ४. १२।
५. 'एष विष्णोर्भगवतः कला भुवन पालिनी' भाः ४, १५, ३।
६. 'ज्ञानकलावतीर्णम्'। भा० ५, १४, १९। ७. भा० ५, १५, ६ और भा० ५, ३, १८।

'शतपथ ब्राह्मण' में प्रायः कला और षोडश कला का प्रयोग हुआ है।[1] सामान्यतः वहाँ प्रजापति और पुरुष को षोडशकला से सम्बन्धित किया गया है,[2] जिसकी परम्परा उपनिषदों में लक्षित होती है। 'बृहदारण्यक' में षोडशकला वाले प्रजापति और 'छान्दोग्य' में षोडश कला वाले पुरुष का उल्लेख हुआ है।[3] 'प्रश्नोपनिषद्' में कहा गया है कि इस शरीर के भीतर ही वह पुरुष है जिसमें षोडश कलाएँ प्रकट होती हैं।[4] रथ-चक्र में निहित सोलह अरों की भाँति पुरुष में षोडश कलाओं का अस्तित्व माना गया है।[5] उपर्युक्त उल्लेखों में कला या षोडशकला के अस्तित्व मात्र का ही नहीं अपितु पुरुष से उसके अभिन्न सम्बन्ध का भी पता चलता है। कालान्तर में 'भागवत' के एक श्लोक में कहा गया है कि सृष्टि निर्माण की इच्छा होने पर भगवान् ने पुरुष रूप ग्रहण किया; जिसमें महत्तत्व अर्थात् दस इन्द्रियाँ, पाँच भूत और एक मन के रूप में सोलह कलायें विद्यमान् थीं।[6] यही पुरुष अवतारों का अक्षयकोष तथा आदि अवतार के रूप में 'भागवत' में गृहीत हुआ।[7] पुरुष से सम्बद्ध सोलह कलाओं से मध्यकालीन कवियों ने भी अपने कृष्ण, राम आदि उपास्यों को अभिहित किया है।[8] अतएव आलोच्य काल में वैदिक षोडश-कला युक्त पुरुष 'भागवत' द्वारा अवतारवादी पुरुष के रूप में गृहीत होकर जिन षोडश कलाओं से सन्निविष्ट कहा गया है, वे वही सांख्यवादी तत्त्व हैं जिनसे सृष्टि-आविर्भाव तथा कर्ता ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध है। मध्यकालीन सम्प्रदायों में पुरुष के इन षोडश तत्त्वों के स्थान में षोडश कलात्मक शक्तियों का समावेश किया गया। 'लघुभागवतामृत' के अनुसार

---

१. श० ब्रा० १०, ४, १, ६। श० ब्रा० १०, ४, १, १७। श० ब्रा० १०, ४, १, १८। श० ब्रा० १२, ८, ३, १३।

२. श० ब्रा० १४, ४, ३, २२। श० ब्रा० ११, १, ७, ३६।

३. बृ० उ० १, ५, १४। छा० उ० ६, ७, १।

४. प्रश्न उ० ६, २। ५. प्रश्न उ० ६, ६।

६. 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया'। भा० १, ३, १।

७. 'एतन्नावताराणां निधानं बीजमव्ययम्'। भा० १, ३, ५ और भा: २, ६, ४१ 'आद्योवतारः पुरुषः परस्य'।

८. वीस कमल परगट देखियत है, राधानन्द किसोर।
सोरह कला संपूरन गोह्यौ, ब्रज अरुनोदय भोर॥ सूरसागर पृ० ६८५ पद।
सोलह कला जुग चारी प्रगटो सात दीप नव खंड हैं।
आदि अंत मध्य खोजी देखी श्री राम जी पूरन ब्रह्म हैं॥
रा० हि० र० परिशष्ट, रामाष्टक।

श्री, भू, कीर्ति, इला, लीला, कान्ति और विद्या ये सात और विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा ये नौ मिलकर सोलह शक्तियाँ मानी गई हैं। ये शक्तियाँ उपनिषदों में उपलब्ध कतिपय सत्ताओं या पौराणिक गुणों के ही शक्तिकृत रूप विदित होती हैं।[1] क्योंकि 'सात्वततन्त्र' के अनुसार सभी अवतारों के समान गुणों से युक्त रहने पर भी विशिष्ट कार्य में विशिष्ट गुण की प्रधानता मानी गई है। ये गुण ईश्वरीय शक्ति-संवलित सत्ताओं के ही बोधक हैं। जैसे कुमार, नारद, व्यास आदि ज्ञानांश प्रधान विष्णु के कलावतार हैं और गय, पृथु, भरत आदि राजा शक्ति युक्त कलावतार माने गये हैं।[2] 'भागवत' अष्टम स्कन्ध में भाः १, ३, २७ और ११, ४, १७ में गृहीत कलावतारों के प्रति कहा गया है कि मनु, मनुपुत्र, धर्मानुष्ठान, प्रजापालन और धर्मपालन करते हैं और भगवान् युग-युग में सनकादि सिद्धों का रूप धारण कर ज्ञान का, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों का रूप धारण कर कर्म का और दत्तात्रेय आदि रूप में योग का उपदेश देते हैं। वे मरीचि और प्रजापतियों के रूप में सृष्टि-विस्तार करते हैं, सम्राट्-रूप से लुटेरों का वध और काल-रूप से संहार करते हैं।[3] अतएव कलावतार के विकास में तथा कलाशक्तियों के निर्माण में वि० पु० ६, ५, ७४ के ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और वि० पु० ६, ५, ७९ के शक्ति, बल, वीर्य, तेज तथा भाः १, १०, २५ के ऐश्वर्य आदि के अतिरिक्त सत्य, अमृत, दया आदि के न्यूनाधिक योग का अनुमान किया जा सकता है।[4] क्योंकि कलावतारों के विशिष्ट कार्यों में कलात्मक शक्तियों की अपेक्षा उपर्युक्त गुणों का अधिक समावेश हुआ है। 'सात्वत तन्त्र' के अनुसार इन अवतारों में कार्य की प्रधानता होने का कारण भग भेद या षाड्गुण्य भेद बतलाया गया है।

---

१. ऐ० उ० ३, २ में भी ब्रह्म में निहित संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान-प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वासना आदि उसके नाम और सत्ता के लगभग सोलह लक्षणों की चर्चा हुई है तथा तै० ३, १० में शरीर के अन्तर्गत विभिन्न ईश्वर प्रदत्त शक्तियों से सम्बन्ध का भान कराने वाली १५ कलाओं के लय होने का उल्लेख हुआ है।

२. सात्वत तंत्र पृ० २०, ३, ३२-३३।

३. सुबोधिनी पृ० १५४ भाः १, १०, २४-२५ की व्याख्या में श्रीवल्लभ ने विभिन्न कार्यों से इनका संबंध स्थापित किया है।

४. एषामया ते कथिता सम्पूर्णांश कलाभिदा।
कार्यानुरूपा विप्रेन्द्र भगभेद प्रदर्शनात्॥ सात्वत तंत्र पृ० २०, ३, ३४।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अवतारवादी साहित्य में कलावतार का उद्भव वैदिक पुरुष के लिए प्रचलित षोडश रूप को लेकर हुआ; क्योंकि भागवत युग तक विष्णु पुरुष के पर्याय-रूप में प्रचलित हो चुके थे; जिसके फलस्वरूप षोडश कलायुक्त पुरुष और विष्णु में कोई अंतर नहीं रह गया था। इस युग तक छः भगों या गुणों से संयुक्त विष्णु के ऐसे अवतारों का भी विकास हुआ जो इन छः गुणों में से केवल एक या दो ही गुणों से समाविष्ट थे। राम, कृष्ण आदि पूर्वकालीन अंशावतारों के अब पूर्णावतार रूप में प्रचलित होने के कारण, इस काल में अनेक नये पौराणिक राजाओं और महापुरुषों को अंशावतार के रूप में ग्रहण किया गया, जिनकी संख्या परवर्ती 'भागवत' तथा 'पद्मपुराण' में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। इन पुराणों में अनेक अंशावतारों में से कतिपय अवतारों को उनके विशिष्ट गुण, कार्य और रूपादि के आधार पर अंश के ही एक विशेष पर्याय कलावतार के रूप में प्रचलित किया गया।

मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में इन कला-रूपों की निरन्तर वृद्धि होती ही गई, जिसका संबंध विशेषकर चैतन्य सम्प्रदाय में विभिन्न कलात्मक शक्तियों से स्थापित हुआ। चैतन्य सम्प्रदाय में इन कलात्मक शक्तियों के प्रसार का कारण स्पष्टतः बंगाल के अत्यन्त लोकप्रिय शाक्त-मत के प्रभाववश माना जा सकता है। इस प्रकार अवतारवादी कला-रूप का प्रारम्भ तो अंशावतार के पर्याय के रूप में हुआ किन्तु मध्यकालीन युग तक इसका रूप ही पृथक् नहीं हुआ, अपितु इस वर्ग में उन कलात्मक शक्तियों का भी आविर्भाव हुआ, जिनके समावेश से कला-रूप का अपना पृथक् महत्त्व हो गया।

विभूति

ईश्वर के साकार रूप और अवतारवादी रूप में महान अन्तर सर्वाभिव्यक्ति और विशिष्टाभिव्यक्ति की दृष्टि से किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वेश्वरवादी मान्यताओं के अनुसार परमेश्वर सभी जड़-चेतन में समान रूप और मात्रा में विद्यमान है। फिर भी व्यक्त परमात्मा का विश्वास रखने वाले भावुक मनुष्य के लिए उसमें ऐसे विशिष्ट पदार्थ या प्राणी भी हैं जो उसके मर्म को विशेष रूप से प्रभावित करते रहे हैं। फलतः ज्ञान की दृष्टि से जो ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, भक्त के लिए वह उन ऐश्वर्यशालिनी सत्ताओं में विशेष रूप से विद्यमान है जो पदार्थ या प्राणी अपनी विशेष शक्ति या अपूर्व क्षमता का प्रभाव उसके मन पर रख छोड़ते हैं। अतः ईश्वर के विशिष्ट अस्तित्व के कारण ही कालान्तर में विभूतिवाद को अवतारवाद में समाहित किया गया।

क्योंकि विभूतिवाद में सृष्टि के उन प्रतिनिधियों को ग्रहण किया गया जो अपनी जाति या वर्ग के सर्वोत्तम या सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। अवतारवाद की सदैव ही यह सामान्य प्रवृत्ति रही है कि वह परमात्मा के आविर्भाव के निमित्त सर्वोत्तम तथा अत्यधिक विख्यात प्रतीकों को ही ग्रहण करता रहा है। अवतारवाद में सर्वोत्तम प्रतीकों के चुने जाने का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वह ज्ञान, तर्क या सूक्ष्म पद्धतियों का आश्रय न लेकर समाज में व्याप्त व्यावहारिक और सामान्य जन की श्रद्धा एवं भक्ति से संवलित बोधगम्य उपादानों का आश्रय लेता है। विशेषकर वे प्रतीक जो अपने स्थूलतम रूप, गुण, ऐश्वर्य, चेष्टा, क्रिया, व्यवहार, चिन्तन, त्याग, तपस्या, साहस और अद्भुत कार्यों से मनुष्येतर या दिव्य परमात्मा के ऐश्वर्य या उसकी दिव्य शक्तियों के उद्बोधक, ज्ञापक या प्रकाशक रहे हों। इस भावना के अंतराल में अवश्य ही वह साहित्यिक मनीषी प्रतिबिम्बित हो रहा है, जिसने प्रत्येक सर्वोत्कृष्ट वस्तु में उसके ऐश्वर्य को आँकने का प्रयास किया है।

पुराणों में उक्त शक्तियों एवं गुणों का संबंध केवल कलाकारों से ही नहीं, अपितु कुछ ऐसे रूपों से भी है जो सामान्यतः विभूति के रूप में प्रचलित हैं। मध्ययुग में अंश और कला के साथ विभूति को भी अवतारों का एक विशिष्ट भेद माना गया। यह संभवतः 'गीता' के दसवें अध्याय के ही विभूतिवाद का प्रचलित रूप था। 'गीता' के अनुसार अनन्त विभूतियों में केवल शुभ विभूतियों का ही वर्णन है।[1] शंकराचार्य ने 'गीता' १०, ७ में 'एतां विभूतिं योगं च' की व्याख्या करते हुये उसे योगेश्वर्य-जनित सर्वज्ञता आदि सामर्थ्य माना है।[2] रामानुज ने विभूति को ऐश्वर्य का पर्याय बतलाया है।[3] आनन्दगिरि ने विभूति योग को विविध भूतों में आर्विभूत वैभव माना है।[4] इस प्रकार विभूतियों के विकास में ऐश्वर्य आदि गुणों का सहयोग विदित होता है। विभूतिवाद की यह प्रवृत्ति 'गीता' से प्राचीन नहीं मिलती यद्यपि 'पुरुष सूक्त' के ग्यारहवें और बारहवें-तेरहवें मन्त्रों में कतिपय कार्यों के निमित्त विभिन्न शक्तियों से उत्पन्न चतुर्वर्ण, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, आकाश तथा

---

१. गीता १०, १९।

२. योगेश्वर्यसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वं जोगजं योग उच्यते। गीता १०, ७. शां० भा०।

३. 'विभूतिः ऐश्वर्यम्, एतां सर्वस्यमदायत्तोत्पत्तिप्रवृत्तिरूपां विभूतिं' मम हेयप्रत्यनीककल्याणगुणरूपम्। गी० १०, ७, रा० भा०।

४. विविधभूतिरभावनां वैभवं सर्वात्मा-त्वम्।
गी० राधाकृष्णन पृ० २५८ में उद्धृत।

अन्य लोकों में विभूतिवाद के बीज का अनुमान किया जा सकता है।[1] क्योंकि 'गीता' में भी सर्वात्मरूप में कर्त्ता की स्थिति बतलाने के बाद विष्णु, सूर्य, मरीचि, चन्द्रमा, सामवेद, इन्द्र, मनु, शंकर, कुबेर, पावक, सुमेरु, बृहस्पति, स्कन्द, सागर, भृगु, एकाक्षर, जपयज्ञ, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, राजा, वज्र, कामधेनु, कामदेव, वासुकी, अनन्तनाग, वरुण, अर्यमा, यम, प्रह्लाद, काल, मृगेन्द्र, गरुड़, पवन, राम, मगर, गंगा, वासुदेव, अर्जुन, व्यास, उशनाकवि आदि अनेक वर्गों के प्रधानों को विभूति-रूप में समाविष्ट किया गया है। 'विष्णुपुराण' में इसका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुये शासन एवं लोक पालन में प्रवृत्त सभी भूताधिपतियों को विष्णु की विभूति माना गया है। इस पुराण के अनुसार देवता, दैत्य, दानव, मांसभोजी, पशु, पक्षी, मनुष्य, सर्प, नाग, वृक्ष, पर्वत, ग्रह अदि विविध वर्ग के भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानकालीन जितने अधिपति एवं भूतेश्वर हैं, सभी विष्णु के अंश बतलाये गये हैं।[2] 'भागवत' में ११, १६, ६ के अनुसार 'गीता' की ही विभूतियों का पुनः विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ इन विभूतियों के, अवतारों के सदृश उपास्य रूप में पूजित होने का भी पता चलता है। क्योंकि भा० ११, १६, ३ में उन्हीं रूपों और विभूतियों के विषय में उद्धव प्रश्न करते हैं जिनकी ऋषि-महर्षि उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं।[3] इसीसे गीतोक्त एवं अन्य अनेक विभूतियों के समाविष्ट होने के साथ-साथ संभवतः तत्कालीन युग के अर्चा या विग्रह रूप में उपास्य भाव से प्रचलित वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह आदि नौ अर्चा मूर्त्तियों को भी विभूतियों में समाहित किया गया है।[4] अवतारों के समान इन विभूतियों की भी गणना नहीं हो सकती।[5]

विभूतिवाद के पौराणिक और मध्यकालीन रूप को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो इसकी रूपरेखा वैष्णव साहित्य में परवर्ती काल में निर्मित हुई हो। किन्तु प्राचीन साहित्य में उपलब्ध अनेक समीचीन तथ्यों को अपने दृष्टि-पथ में रखने पर विभूतिवाद की कल्पना भी परम्परा-विच्छिन्न नहीं जान पड़ती है। प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि ईश्वर के सर्वाभिव्यक्त रूपों में कुछ विशेष विभूति सम्पन्न और शक्तिमान रूपों के विशेषीकरण के आधार पर ही विभूतिवाद की कल्पना का विकास हुआ। इस धारणा के उद्गम के द्योतक

---

१. ऋ० १०, ९०। २. वि० पु० १, २२, १६-२२।
३. येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्वमे॥ भा० ११, १६, ३।
४. भा० ११, १६, ३२। ५. भा० ११, १६, ३९।

मूल तत्त्व 'पुरुषसूक्त' के मन्त्रों में ही प्रतिभासित होने लगते हैं, जिनका क्रमशः विकसित और अविच्छिन्न रूप 'बृहद्देवता', 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य' तथा अन्य उपनिषदों में दृष्टिगत होता है।

इस दृष्टि से विभूतिवाद में बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद का समाहित रूप मिलता है। क्योंकि जिस प्रकार विभूतिवाद की नाना विभूतियों में एक ही ईश्वरीय ऐश्वर्य की सत्ता प्रतिबिम्बित होती है उसका मूल रूप वैदिक बहुदेवतावाद से अधिक भिन्न नहीं है। यास्क ने 'निरुक्त' ७।४।८, ९ में वैदिक साहित्य में प्रतिपादित सभी देवताओं को एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में माना है। जिसकी पुष्टि 'बृहद्देवता' अ० १, श्लो० ६१-६५ से भी होती है। 'बृहद्देवता' और 'निरुक्त' की ये मान्यतायें अवश्य ही ऋक् या अन्य संहिताओं की उन ऋचाओं पर आधारित हैं जिनमें (ऋ० १, १६४, ४६ साम पूर्व० ९, १) प्रायः सोम, वरुण, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, बृहस्पति प्रभृति देवताओं में उसी की नाना दिव्य शक्तियों को अभिव्यक्ति मानी गई है।

कालान्तर में इन प्रवृत्तियों का विशेषीकरण विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। ऋग्वेदीय 'पुरुषसूक्त' के ११वें, १२वें और १३वें मन्त्रों में उसकी अनेक प्रकार से अभिव्यक्त सामर्थ्य की चर्चा करते हुए मन (मनन या ज्ञान) से चन्द्रमा, चक्षु (तेज) से सूर्य, श्रोत्र (अवकाश) से आकाश, प्राण से वायु और मुख से अग्नि इत्यादि की उत्पत्ति बतलाई गई है। आगे चलकर 'छान्दोग्योपनिषद्' (४।११, १३) में प्रत्येक चार पदार्थों में से किसी एक वस्तु-विशेष में पुरुष को देखने की विशिष्ट प्रवृत्ति लक्षित होती है। यहाँ पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य में से केवल आदित्य में, जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा में से केवल चन्द्रमा में, प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत में से केवल विद्युत में पुरुष के विशेषीकरण की मनोवृत्ति स्पष्ट है। संभवतः इसी का व्यूहवद्ध, परिवर्द्धित और विस्तृत रूप वि० पु० २२।२३-३३ में भी दृष्टिगत होता है 'विष्णुपुराण' के उस स्थल पर उस व्यूहवद्ध रूप-विस्तार को विभूति-विस्तार की ही संज्ञा प्रदान की गई है। इससे विभूतिवाद के परम्परावद्ध विकास का अनुमान किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के गार्ग्य-अजातशत्रु सम्वाद (२, १, १-१३) में गार्ग्य क्रमशः एक ही ब्रह्म की उपासना आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, शब्द, दिशामयपुरुष, छायामयपुरुष और

आत्मपुरुष में विहित मानते हैं। वे अपनी इस विशिष्टोपासना का कारण उपस्थित करते हुए प्रायः अपने प्रतिपाद्य देवों की श्रेष्ठता और महानता का निरूपण करते हैं। उनके मतानुसार आदित्य सबका अतिक्रमण करके स्थित है, समस्त भूतों का मस्तक और राजा है, इसलिए उपास्य है। चन्द्रमा, महान, शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा होने के कारण उपास्य है। विद्युत तेज के कारण, आकाश पूर्ण और 'अपवर्ति' होने के कारण, वायु, इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना के कारण, अग्नि 'विषासहि' (दूसरों को सहन करने वाला) होने के कारण ब्रह्म रूप से उपास्य है। इसी प्रकार जल, शब्द, दिशा, छाया और आत्मा के वैशिष्ट्य का भी उल्लेख हुआ है। इन उक्तियों में विभूतिवाद के परिचायक गुणों और चारित्रिक विशेषताओं का निदर्शन किया गया है; जिसके फलस्वरूप उक्त पदार्थ वर्गविशेष में महान और श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं। यह श्रेष्ठता की मनोवृत्ति पुनः 'बृहदारण्यकोपनिषद्' १, ४, ११-१४ में और अधिक क्रमबद्ध तथा स्पष्टरूप में दृष्टिगत होती है। बृ० उ० १, ४, ११ में कहा गया है कि आरम्भ में यह ब्रह्म एक ही था। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने कुछ श्रेय रूपों की रचना की जिन्हें सम्भवतः शासक भाव से युक्त होने के कारण क्षत्रिय कहा गया। अर्थात् देवताओं में जो इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशनादि क्षत्रिय देव हैं, उन्हें उत्पन्न किया। इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है।

यहाँ विभूतिवाद और अवतारवाद की उन प्रारम्भिक भावनाओं का संकेत मिलता है, जिनका सम्बल पाकर परवर्ती विभूतियों और विशेषकर कुछ क्षत्रिय अवतारों का अत्यधिक प्रस्तार हुआ। इस उद्देश्य से तीन तथ्य यहाँ विचारणीय प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम विभूतिवाद की दृष्टि से यहाँ उन क्षत्रिय या शासक देवताओं का उल्लेख हुआ है जो आगे चल कर अपने वर्गविशेष के प्रतिनिधि मात्र न होकर उनके सर्वोत्तम रूप में उपस्थित होते हैं। जाति या वर्ग विशेष में आदर्श या श्रेष्ठतम रूप की अभिव्यक्ति ही तो विभूतिवाद का मूल सत्य है, जिसकी परिधि में उसका समुचित विस्तार होता रहा।

दूसरा यह कि इस मंत्र में क्षत्रिय संज्ञा के प्रयोग ने परवर्ती काल में अवश्य ही एक ऐसी आधार-भूमि का कार्य किया होगा, जिससे प्रेरित होकर राम, कृष्ण प्रभृति क्षत्रिय राजाओं को ईश्वर की विभूति ही नहीं अपितु उन्हें अवतार के रूप में उद्घोषित किया गया। इतना ही नहीं उक्त मंत्र में क्षत्रिय उपास्य है और ब्राह्मण उपासक। ऐसा लगता है कि राम-कृष्ण आदि

क्षत्रिय महापुरुषों को लेकर जिस अवतारवादी उपासना का विकास महाकाव्य युग से लेकर आलोच्यकाल तक इङ्गित होता है; इस धारणा के उन्नयन में 'क्षत्रिय उपास्य-भाव' का मौलिक योग रहा होगा। अतः अवतारवाद की उपासना पद्धति के प्रसार में विभूतिवाद की प्रारम्भिक विचारणाओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। निश्चय ही प्रारम्भिक विभूतियों में गृहीत राजाओं को ही अवतारवादी और उपास्यवादी रूप प्रदान किया गया।

इस मंत्र में विष्णु का उल्लेख न होने के कारण यह भी सम्भव है कि यज्ञ-स्वरूप विष्णु को कालान्तर में ब्रह्म से स्वरूपित कर श्रेष्ठतम उपास्य का रूप प्रदान किया गया हो और इस संगति की योजना क्षत्रिय देवताओं और क्षत्रिय राजाओं के साथ की गई हो। पर स्पष्ट प्रमाणों का अभाव होने के कारण इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस धारणा में विभूतिवाद और अवतारवाद के मूल में निहित क्षत्रिय-प्रभाव की उपेक्षा भी न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। अतः प्रारम्भिक संकेतों के रूप में इनका मूल्य सदैव सुरक्षित है।

यों तो 'गीता', 'विष्णुपुराण' और 'श्रीमद्भागवतपुराण' में विभूतिवाद का विस्तृत परिचय दिया गया है, किन्तु 'महाभारत अनुशासन पर्व' १४।३१७-३२४ तथा 'अणुगीता' में भी विभूतिवाद की संक्षिप्त रूपरेखा मिलती है। पर उपर्युक्त विभूतियों के वर्णन में 'अनुशासनपर्व' का विभूतिवाद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसकी विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध न तो विष्णु से है न श्रीकृष्ण से या अन्य किसी अवतार से; इसका सीधा सम्बन्ध शिव से स्थापित किया गया है। शिव ही आश्रमियों में गृहस्थ, ईश्वरों में महेश्वर, यक्षों में कुबेर, यज्ञों में विष्णु, पर्वतों में मेरू, नक्षत्रों में चन्द्रमा, ऋषियों में वसिष्ठ तथा ग्रहों में सूर्य कहलाते हैं। इस प्रकार 'गीता' की अधिकांश विभूतियों का सम्बन्ध शिव से जोड़ा गया है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न उपास्यों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में सर्वोत्कर्षवादी (हीनोथिस्टिक) प्रवृत्तियों के सदृश विभूतिवाद का भी यथेष्ट प्रयोग होता रहा है।

अतएव उपर्युक्त तथ्यों तथा विवेचनों के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतीय धर्म एवं अवतारवाद में विभूतिवाद, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद तथा विश्वरूपवाद के सदृश एक पारिभाषिक महत्त्व का सिद्धान्त है। विशेषकर वैष्णव अवतारवाद और मध्यकालीन अवतारवादी उपास्यवाद के उद्गम और विकास में इसका अन्यतम योग प्राप्त होता रहा है।

अंश, कला और विभूति

'भागवत' के इस विभूतिवाद का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, ह्र, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों वह मेरा ही अंश है।[1] अतः शक्ति एवं गुणों की दृष्टि से अंश, कला एवं विभूति एक ही समानान्तर भूमि पर लक्षित होते हैं; क्योंकि विभूति की पूर्वपरम्परा में मान्य 'गीता' में इन दिव्य विभूतियों को अनन्त बतलाते हुए कहा गया है कि जो जो विभूतिमान, श्रीमान् और ऊर्जित हैं वे ईश्वर के अंश से ही उत्पन्न हुए हैं।[2] भा० २, ६, ४१–४४ में वर्णित अंशावतार विराट् पुरुष से आविर्भूत ब्रह्मा, शिव, विष्णु, दक्ष आदि प्रजापति, भक्तगण, स्वर्गलोक के रक्षक, पक्षियों के राजा, गन्धर्व, विद्याधर, चारणों के अधिनायक, यक्ष, राक्षस, सर्प, नागों के स्वामी, महर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानवराज, प्रेत, पिशाच, भूत, कुष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग और पक्षियों के स्वामी, एवं संसार में और भी जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियबल, मनोबल, शरीरबल, क्षमा, सौन्दर्य, लज्जा, वैभव तथा विभूति से युक्त हैं, रूपवान या अरूपवान हैं; वे सभी भगवत्स्वरूप हैं। उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि कला एवं विभूति सामान्यतः अंश के ही विशिष्ट रूप हैं। किन्तु बाद में अंश, कला, एवं, विभूति तीनों के रूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट करने के प्रयास हुये हैं। 'भागवत' के मत का अनुसरण करनेवाले 'सात्वत तन्त्र' में विशिष्ट गुणों और अल्प या अधिक मात्रा के आधार पर अंश, कला एवं विभूति का रूप पृथक्-पृथक् माना गया है।[3] इस तन्त्र के अनुसार अंश के चार, कला के सोलह[4] तथा विभूति के सौ भाग बतलाये गये हैं।[5] इन भेदों का उस स्थल पर उल्लेख नहीं हुआ है फिर भी विशिष्ट भेदों के साथ इनके वैष्णव साहित्य में प्रचलित होने की संभावना की जा सकती है।

---

१. तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥ भा० ११, १६, ४०।

२. गीता १०, ४०, ४१।

३. एतेषामपि भागानामल्पाल्पदर्शनादसौ।
विभात्यंशः कला भेदो भगवान्भगभेदधृक्॥ सात्वत पृ० १८, ३, ८।

४. परम्परा में अग्नि की दस, सूर्य की बारह और चंद्रमा की सोलह कलायें प्रसिद्ध हैं।

५. अंशस्तुरीयो भागः स्यात्कला तु षोडशी मता।
शतंभागो विभूतिश्च वर्ण्यते कविभिः पृथक्॥ सात्वत तंत्र पृ० १८, ३, ९।

आवेश

अवतारवाद का क्षेत्र व्यापक होने के अनन्तर अंश, कला, विभूति के अतिरिक्त अवतारों का वर्गीकरण आवेशावतार के रूप में लक्षित होता है। अंश, कला आदि रूपों की तुलना में प्रारम्भिक वैष्णव पुराणों में आवेश रूप का अभाव है। यों तो 'विष्णुपुराण' में अंशावतार, 'भागवतपुराण' में कलावतार और परवर्ती 'पद्मपुराण' में आवेशावतार का अस्तित्व अधिक मिलता है। किन्तु सामान्यतः अन्य पुराणों में अंश एवं कला की अपेक्षा आवेश का व्यापक रूप दृष्टिगत नहीं होता। इस आधार पर आवेश रूप के पुराणेतर साहित्य से गृहीत होने का अनुमान किया जा सकता है।

उक्त पुराणों के समसामयिक मानी जाने वाली पांचरात्रों की 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में आवेशावतार का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है। साथ ही जिस 'आवेश' या 'आविवेश' का आवेश रूप से सम्बन्ध है इनके प्रारम्भिक बीज पांचरात्रों की पूर्व परम्परा में मान्य 'महानारायणोपनिषद्' में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पांचरात्रों की परवर्ती परम्परा में प्रचलित लोकाचार्य द्वारा रचित 'तत्वत्रय' में अंश या कला-रूपों के विपरीत आवेश रूप ही गृहीत हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन सम्प्रदाय एवं साहित्य में पांचरात्र साहित्य के उपास्य-रूपों के साथ-साथ आवेशावतार की प्रवृत्ति को भी ग्रहण किया गया। अवतारवाद का सम्बन्ध जहाँ तक उत्पत्ति या प्रादुर्भाव से है, वहाँ आवेश का किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष में प्रवेश करने या अपनी शक्ति या तेज द्वारा आविष्ट करने से प्रतीत होता है। किन्तु 'विष्णुपुराण' में जिस पृथु को अंशावतार और 'भागवत' में कलावतार कहा गया है[1] 'पद्मपुराण' में वे ही आवेशावतार बतलाए गये हैं। यहाँ आवेशावतार पृथु के लिये 'आविवेश' का प्रयोग किया गया है।[2] 'महानारायणोपनिषद्' १०, १ में ऋ० ४, ५८ ३ तथा 'वाजसनेयी संहिता' १७, ९१ की एक ऋचा उद्धृत की गई है, जिसमें 'महादेवो मर्त्यां आविवेश' का प्रयोग हुआ है।[3] दीपिका के अनुसार 'आविवेश' का अर्थ 'प्रविशति', से किया गया है।[4] अतः आवेश या आविवेश का

१. वि० पु० और भाः।

२. लघुभागवतामृत पृ० ८२ में पद्मपुराण से उद्धृत
'आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः'।

३. 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश'। महाभा० उ० १०, १।

४. 'महोदेवो महान्देवः स्वप्रकाश आत्मा मर्त्यं मरणधर्माण देहमाविवेश।
महाभा० उ० १०, १ दीपिका पृ० १६। 'लिडर्थे लेट्'। पा० ३, ४, ७। प्रविशति।

'प्रविशति' या प्रवेश से संबंध विदित होता है। आदि कर्ता या ईश्वर-प्रवेश के पृथक्-पृथक् उल्लेख भी तै० आ० में मिलते हैं।[1] इसके अतिरिक्त 'गीता' में प्रवेश के अर्थ में 'आविश्य' का प्रयोग हुआ है।[2] 'ब्रह्मसूत्र' ४, ४, ११५ के एक सूत्र में दीपक के समान सभी शरीरों में मुक्तात्मा का आवेश या प्रवेश होना कहा गया है।[3] श्री वल्लभाचार्य ने तै० आ० ३, १४ का उद्धरण 'एको देवो बहुधा निविष्टः' देते हुये 'प्रवेश' से ही उसका तात्पर्य लिया है।[4] साथ ही इस सूत्र में प्रयुक्त 'प्रदीपावेश' पद से पांचरात्रों का विभवों से सम्बद्ध प्रसिद्ध सिद्धान्त 'दीपादुत्पन्नदीपवत्' का भी आभास मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आवेश रूप का प्रारम्भिक संबंध किसी-न-किसी प्रकार परमात्मा या आत्मा के विभिन्न शरीरों में प्रवेश करने से रहा है। फिर भी उक्त तथ्यों से आविष्ट या प्रविष्ट रूपों का अवतारवादी संबंध नहीं लक्षित होता।

इस दृष्टि से 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में ईश्वर के अवतरित होने की चर्चा करते समय कहा गया है कि वे अपने माया-रूप से भूतों में प्रविष्ट होकर धर्मस्थापना करते हैं। इस धर्म स्थापना में शस्त्र एवं अस्त्ररूपी व्यूह और शास्त्र-अधर्म और द्वेष के निराकरण के लिए प्रमुख अवतारवादी साधन माने गये हैं।[5] यहाँ पौराणिक अवतारवादी प्रयोजनों को प्रस्तुत करते हुये अवतार, आविर्भाव या प्रादुर्भाव के स्थान में आवेश का प्रयोग हुआ है।[6] पांचरात्र साहित्य में अर्चा विग्रह या विभवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस साहित्य में ईश्वर के अभिव्यक्त जिन 'पर' व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी रूपों का वर्गीकरण हुआ है, उनमें अवतारवादी प्रयोजनों की अपेक्षा साम्प्रदायिक उपास्य तत्त्व का अधिक प्राधान्य है। फलतः ये सभी रूप वैषम्य रखते हुये भी उपास्य विग्रह रूप ही हैं। इस दृष्टि से पौराणिक और पांचरात्र अवतारवाद में प्रमुख भेद यह लक्षित होता है कि पौराणिक अवतार रूपों में जहाँ कथात्मक तत्त्वों का आधिक्य है, वहाँ पांचरात्र रूपों में कथात्मक तत्त्वों का अत्यन्त अभाव है। पुराणों में जहाँ अंश, पूर्ण, कला आदि वर्गीकरण के रूप प्रचलित हुये हैं, वहाँ पांचरात्र साहित्य में उपास्य का दृष्टिकोण रखते हुये, मुख्य और गौण, या साक्षात और आवेश स्वरूप गृहीत

---

१. 'तदेवानुप्रविशत्' तै० आ० १, २३, ८। २. गीता १५, १३ और १५, २७।

३. ब्र० सू० ४, ४, १५ प्रदीपावेशस्तथा हि दर्शयति।

४. ब्र० सू० ४, ४, १५ अणुभाष्य।

५. साधनं च द्विधा कार्यं धर्मद्वेषिनिराकृतौ।
शस्त्रास्त्रव्यूहरूपेण शास्त्ररूपेण चैव हि॥ अहि० सं० ११, १२, १३।

६. आविश्याविश्य भूतानि स्वेन रूपेण मायया।
तैस्तैः साधनसंभेदैर्निरस्य सुकृतद्विषः॥ अहि० सं० ११, १।

हुये हैं। इसका मुख्य कारण दोनों में दृष्टिकोण भेद विदित होता है; क्योंकि जहाँ पौराणिकों ने अवतारों के वर्गीकरण में तत्कालीन साहित्य के कथात्मक रूपों और समाज में व्याप्त उनके कार्यों और प्रभावों का ध्यान रखा है, वहाँ पांचरात्रों में उनके इष्टदेवात्मक रूपों और प्रभावों को ही विशेष रूप से ग्रहण किया गया है।

यों तो पांचरात्र पद्धति में आविर्भावों या विभवों की उत्पत्ति 'दीपादुत्पन्नदीपवत्' होने के कारण प्रायः सभी अवतार पूर्णावतार माने जाते हैं; फिर भी पांचरात्रानुमोदित श्री सम्प्रदाय में विभवों का वर्गीकरण मुख्य और गौण रूप में अधिक प्रचलित है।[1] मुख्य विभव श्रेष्ठ एवं साक्षात् अवतार हैं, और गौण विभव आवेशावतार बतलाये गये हैं।[2] आवेश के स्वरूपावेश और शक्त्यावेश दो रूप हैं।[3] स्वरूपावेश में भगवान का केवल सहावेश होता है। जैसे परशुराम आदि के शरीर में उपयुक्त समय पर ईश्वर का सहावेश हुआ था।[4]

लोकाचार्य ने इस वर्गीकरण का मुख्य आधार उपास्य-रूप को माना है। उनके कथनानुसार जिनकी उपासना में मुक्ति का लक्ष्य होता है उसे मुख्य विभव और जिनमें ऐहिक सुख का लक्ष्य होता है उन्हें गौण विभव कहा जाता है।[5] इससे स्पष्ट है कि आवेश रूप की प्रवृत्ति पांचरात्रों में प्रचलित हुई और पौराणिक अवतारों की अपेक्षा पांचरात्र विभवों का ही विभाजन आवेशावतार के रूप में हुआ।

आलोच्यकाल के वैष्णव सम्प्रदायों में पौराणिक एवं पांचरात्र दोनों रूपों का समावेश किया गया। मध्वाचार्य ने आवेशावतार के विशेषावेश और किंचिदावेश दो प्रकार माने हैं। 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' के अनुसार ब्रह्म, रुद्र, शेष, इन्द्र, काम, कामपुत्र, अनिरुद्ध, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, धर्म और इनकी सभी स्त्रियाँ, दक्ष, प्रजापति, सभी मनु ऋषिगण, मनु-पुत्रादि, नारद, पर्वत ऋषि, कश्यप, सनकादि, अग्नि आदि देवता, भरत, कार्तवीर्य, पृथु आदि चक्रवर्ती राजा गण, गय, लक्ष्मण, आदि तीनों भाई, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नर, फाल्गुन इत्यादि हरि के विशेषावेश अवतार बतलाए गये हैं।

---

१. विभवोऽनन्तोपि द्विविधो गौण मुख्य भेदेन भिन्नश्च। तत्त्वत्रय पृ० १०८।

२. तत्त्वत्रय पृ० ८। गौण आवेशावतार; मुख्यसाक्षाद्वतारः।

३. आवेशश्च स्वरूपावेशः शक्त्यावेश इति द्विविधः। तत्त्वत्रय पृ० १०८।

४. तत्र स्वरूपावेशः स्वेन रूपेण सहावेशः।

५. तत्त्वत्रय पृ० १०९।

तथा बालि और साम्ब को किंचित् आवेशावतार कहा गया है।[1] उक्त सूची में पूर्ण, अंश, कला, विभूति आदि रूपों में विभक्त सभी पौराणिक अवतारों का विशेषावेश रूप में ही आकलन हुआ है।

निम्बार्क साहित्य में श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने 'वेदान्त रत्न मंजूषा' में अवतारवाद पर विचार करते हुये लीलावतारों का एक विशेष वर्ग आवेशावतार माना है। इस आवेशावतार के स्वांशावेश और शक्त्यंशावेश दो भेद हैं। स्वांशावतार भगवान का जीवन-व्यवधान अभाव-स्वरूप साक्षात् प्राकृता-विग्रहदावेश है, जैसे नर-नारायण आदि रूप। शक्त्यंशावेशावतार ईश्वर की शक्ति के अंश हैं। इस अवतार में जीव पर ही भगवत् शक्ति का भगवत् कार्य के निमित्त आवेश होता है। अतः भगवत् रूप से इसका स्वरूप भिन्न होता है। स्वांशावेशावतार के अल्प या अधिक मात्रा की दृष्टि से प्रभव और विभव दो भेद बतलाए गये हैं।[2] ऋषभ, कपिल, पृथु, कुमार, नारद, व्यास आदि विभव और धन्वन्तरि, परशुराम आदि प्रभव माने गये हैं।[3] इन्होंने भा० १, ३, २७ और ११, ४, १७ में गृहीत अंश और कलावतारों को आवेशावतार की विभिन्न श्रेणियों में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मध्यकालीन साहित्य में पौराणिक अवतारों की संख्या और कथाओं में पौराणिक काव्यात्मक उपादान की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय वैषम्य न होते हुए भी उनके वर्गीकरण या कोटि-निर्धारण में विशेष परिवर्तन किये गये। इसके मूल में निश्चय ही अवतारों या विभवों के तत्कालीन साम्प्रदायिक महत्त्व की भावना कार्य कर रही थी। जो अवतार इस युग तक जितना महत्त्व प्राप्त कर सका था, उसके लिए उसी के उपयुक्त स्थान का निश्चय किया गया था। इस परिवर्तित वर्गीकरण में पांचरात्रों के साथ पांचरात्र साहित्य से अनुप्राणित 'पद्म', 'स्कन्द' आदि परवर्ती पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण योग लक्षित होता है। क्योंकि पांचरात्र साहित्य और उक्त पुराणों में अवतारवाद के अंश, कला आदि रूपों के साथ आवेशावतार के विभिन्न भेदों और प्रभेदों का व्यापक प्रसार हो चुका था। अतः मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदाय एक ओर तो पुराणों से अवतारों के कथात्मक उपादान ग्रहण

---

१. महाभारत तात्पर्य निर्णय सर्वमूलम् में संगृहीत, पृ० ७ आ० २ श्लोक० ३०-३२। और पृ० ८ अ० २ श्लोक० ३३ ३४।

३४. नरः फाल्गुन इत्याद्याविशेषावेशिनो हरेः।
बालिसांवादयश्चैव किंचिदावेशिनो हरेः॥

२. रोमावोस जी० ३ पृ० ७६-७७ और वेदान्तरत्नमंजूषा पृ० ४८।

३. वे० र० मं० पृ० ४८।

करते हैं, तो दूसरी ओर अर्चावतार की मूल वृत्तियों से अभिव्याप्त आवेशावतार की कोटियों को भी अत्यधिक मात्रा में अपना लेते हैं।

वल्लभाचार्य ने 'तत्त्वदीप निबन्ध' 'भागवत प्रकरण' और 'सुबोधिनी टीका' में कतिपय स्थलों पर आवेशावतार पर विचार किया है। इन्होंने 'सुबोधिनी' में भा० १, ३, ६ की व्याख्या करते हुये मध्वाचार्य की ही परम्परा में वैष्णव तंत्रों के अवतारों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।[1] इनके मतानुसार इन अवतारों में प्रयोजनानुसार या कार्यानुरूप क्रियाशक्ति या ज्ञानशक्ति का विभिन्न अवतारों में आविर्भाव या आवेश हुआ करता है। उदाहरणस्वरूप वराह आदि रूपों में बलकार्य तथा दत्तव्यासादि रूपों में ज्ञान कार्य की प्रधानता विदित होती है।[2] त० दी० नि० भा० प्र० में सभी मन्वन्तरों के देवता भी आवेश रूप में गृहीत हैं।[3] इन्होंने कृष्ण के विशिष्ट अवतारवादी एवं उपास्य रूप की चर्चा करते हुए आवेशप्रधान, खंडरूप, और प्रवेश-प्रधान, पूर्ण, दो रूप माना है।[4] यहाँ आवेश और प्रवेश का विलक्षण संबंध खंड और पूर्ण रूप से विदित होता है। क्योंकि पांचरात्रों में सामान्यतः अवतार-विभव पूर्ण ही माने जाते हैं। संभवतः वल्लभाचार्य के द्वारा खंड एवं पूर्ण रूपों के माध्यम से अवतारवादी एवं अवतारी उपास्य के निराकरण का प्रयास हुआ है। निष्कर्षतः वल्लभाचार्य ने विभिन्न अवतारों और कलात्मक शक्तियों का आवेश रूपों से सामञ्जस्य स्थापित कर पौराणिक एवं पांचरात्र दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया है। फिर भी इनके साहित्य में आवेशरूपों का विस्तार आवेशावतार के उद्गम स्थल वैष्णव तंत्रों के आधार पर हुआ है, जो 'तंत्र निर्णयो वैष्णव तंत्रे निरूपितः' से स्पष्ट है।[5]

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी श्री रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में स्वयं और तदेकात्म रूपों के साथ आवेश रूप भी ग्रहण किया है। इनके मतानुसार किसी महत्तम जीव में भगवान ज्ञान या अन्य शक्तियों के द्वारा आविष्ट होते हैं।[6] इन्होंने विशेष विभाजन की चर्चा करते हुए अवतारों को पुनः आवेश, प्राभव, वैभव और परावस्थ आदि चार भागों में विभक्त किया है।[7] और

१. तत्त्वदीप निबन्धभागवत प्रकरण पृ० २६, २७ प्रथम स्कन्धार्थ श्लो० ५४-६४ और सुबोधिनी भा० १, ३, ६ की व्याख्या।

२. सुबोधिनी भा० १, ३, ६ की टीका।

३. त० दी० नि० भा० प्र० पृ० ४०२, ८ स्कन्ध श्लोक ७९।

४. आवेशार्थं प्रवेशार्थं कृष्णात्सर्वं भवेदिति। एतावता द्वितीयस्तु खण्डः पूर्णो निरूपितः।
त० दी० नी० भा० प्र० पृ० ५४१, ११, स्कं० ७५।

५. सुबोधिनी पृ० ३५-३६ भा० १, ३, ६ की व्याख्या।

६. ल० भा० पृ० १३।

७. ल० भा० पृ० ८१।

आवेशावतार के उदाहरणस्वरूप 'पद्मपुराण' में मान्य पृथु, चतुः सनकादि, नारद, परशुराम, आदि आवेश रूपों को प्रस्तुत किया है। 'पद्मपुराण' के अनुसार हरि इनमें आविष्ट होते हैं।[1] साथ ही 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में कल्कि भी आवेशावतार लक्षित होते हैं।[2]

इससे विदित होता है कि वैष्णव सम्प्रदायों और परवर्ती पुराणों में आवेशावतार एवं उसके अर्चाविशिष्ट विभव, प्राभव आदि रूपों का यथेष्ट प्रचार हुआ। इसकी पुष्टि भागवत के विभिन्न टीकाकारों से होती है; क्योंकि भागवत में केवल अंश और कला का उल्लेख हुआ है। जब कि टीकाकारों ने अंश और कला के साथ आवेश का भी समन्वय किया है।

भागवत के ग्यारहवीं शती के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भा० १, ३, २७ की व्याख्या में उपर्युक्त अवतारों पर विचार करते हुए मत्स्यादि अवतारों में ज्ञान, क्रिया शक्ति जनित आवेशों का यथा स्थान समावेश माना है। तथा अंश, कला और आवेश का समन्वय कर कुमारादि को ज्ञानावेश और पृथु आदि को शक्त्यावेश के रूप में ग्रहण किया है।[3] श्रीधर के अतिरिक्त अन्य टीकाकारों ने भी अंश, कला के साथ आवेश का प्रयोग किया है।[4]

अतः मध्यकालीन साहित्य में अन्य रूपों के साथ आवेश भी अवतारवाद का एक रूप विशेष मात्र होकर प्रचलित हुआ। इस युग में उपर्युक्त चारों रूपों में केवल शक्तिजनित मात्रात्मक भेद माना गया।[5] फिर भी तत्कालीन कवियों में अंश और पूर्ण की तुलना में आवेश का बहुत कम प्रयोग हुआ है। केवल वार्त्ताओं एवं भक्तमाल में कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख हुआ है जिनमें उपास्य इष्टदेवों का आवेश भक्त में होता है। किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा इसमें भावावेश का ही अधिक योग दीख पड़ता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में ठाकुर जी का आवेश पा आविर्भाव अपने भक्त में होता है। एक प्रसंग में हरिदास और मोहनदास में सत्संग वार्ता होते समय हरिदास मोहनदास से बेहद प्रभावित होते हैं। और उनमें साक्षात् ठाकुर जी का आवेश मानते हैं।[6] उस काल में वार्ताओं के आधार पर इस सामान्य धारणा का पता चलता है कि जो ठाकुर जी या भागवत की कथा कहता था, उसमें भक्त ठाकुर जी या भागवत का आवेश मानते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार दामोदर दास हरसानी नामक भक्त में उसके आचार्य का ही आवेश

१. ल० भा० पृ० ८२ में उद्धृत।　　२. ल० भा० पृ० ८२।

३. भा० १, ३, २७ जी० १ पृ० १३३ वृन्दावन सं०।

४. (क) सुबोधिनी भा० १, ३, २७।　　(ख) क्रम सन्दर्भ १, ३, २७।

५. वै० मूवमेंट २४०।　　६. दो० वां० वै० वा० पृ० १८२।

आठों पहर रहता है।[1] इसी प्रकार लीला में भी सखियों के आवेश रूप में स्थिर रहने के प्रसंग मिलते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में श्री जमुना जी की सखी की चर्चा करते हुये कहा गया है 'लीला में इनको नाम कृष्णवेसिनि है। सदा कृष्ण के स्वरूप को आवेश रहती सो द्वापर में विदुर जी के स्त्री यह लौंडी हती'।[2] 'भक्तमाल' में भी लीलाओं के प्रभाव-स्वरूप भक्तों में आवेश की स्थिति बतलाई गई है। सीता हरण की कथा श्रवण करते ही राम भक्त कुलशेखर प्रेमावेश में रावण को मारने के लिये तैयार हो जाते हैं।[3] एक भक्त ने इसी प्रकार लीलावेश में नृसिंह का अनुकरण करते हुये नृसिंहवेश में अभिनय कर्त्ता हिरण्यकशिपु को मार दिया तथा दशरथ का अभिनय करते समय राम के वियोग में स्वयं शरीर भी छोड़ दिया।[4] इस प्रकार इस युग में लीलावेश का अत्यधिक प्रभाव दीख पड़ता है। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य के अवतारत्व का विकास भी लीलावेश के फलस्वरूप विदित होता है।[5]

किन्तु इनका अवतारवाद के वर्गीकरण से सम्बद्ध आवेश रूप से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि परवर्ती कवियों एवं वैष्णव संहिताओं में 'भागवत'[6] के ही अवतार के वर्गीकरण में आवेश आदि रूपों को समाविष्ट किया गया है। 'गर्गसंहिता' में अंश, अंशांश, कला, आवेश, और पूर्ण अवतारों के ये पाँच रूप बतलाए गये हैं,[7] जिनमें उत्पत्ति, पालन और संहार के कार्याधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव अंशावतार हैं। इनसे उत्पन्न मरीच्यादि अंशांश, कपिल आदि कलावतार, कूर्मादि आवेशावतार और नृसिंह, राम, श्वेत द्वीप के हरि, वैकुंठ, यज्ञ और नारायण ये पूर्णावतार हैं।[8] उक्त रूपों को पृथक्-पृथक् स्पष्ट

---

१. 'तथा दामोदर दास की देह मात्र दीसत है परन्तु श्री आचार्य जी को आवेस अष्टप्रहर रहते हैं। चौ० वै० वा० पृ० १५।

२. चौ० वै० वा० पृ० ५७।

३. भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनौ।
मार मार करि खड्‌क बाजि सागर में दीनौं॥ भक्तमाल पृ० ३९१ छ० ४९।

४. नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुश मार्‍यो।
वहै भयो दशरथ, राम बिछुरत तन छार्‍यो॥ भक्तमाल, पृ० ३९१ छ० ४९।

५. शेष लीला नाम धरैं श्रीकृष्ण चैतन्य,
श्रीकृष्ण विदित कर विश्व कियो। चैतन्य चरितामृत ब्र० ध्वनि लीला पृ० १५।

६. प्रकट आध सौ राम नाना विधि लीला करी।
धरि चौबीस अवतार, कला अंश आवेश युत॥ अवधविलास, धर्मदास, पृ० ३।

७. अंशांशोशक्त्यावेशः कला पूर्ण प्रकथ्यते। गर्ग संहिता १, १, १६।

८. यहाँ एक छठा रूप भी माना गया है, जिसमें परिपूर्णतम रूप गोलोकवासी श्रीकृष्ण कहे गये हैं। गर्गसंहिता १, १, १७–१८।

करते हुए कहा गया है कि कार्याधिकार के कर्त्ता उसके अंश और उन कार्यों के प्रतिपादक अंशांश हैं।[1] जिसके अन्तर में प्रविष्ट होकर विष्णु कार्य करते हैं, वे आवेशावतार हैं।[2] जो युग धर्म को जानकर और उन्हें प्रवर्तित कर पुनः तिरोभूत हो जाते हैं, वे कलावतार हैं।[3] यहाँ अंश, आवेश और कला का रूप अत्यधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही इससे तत्कालीन युग में उनके रूपों के विशेष रूप से निर्धारित होने की भी संभावना हो जाती है।

इस प्रकार अवतारवाद के विविध रूपों में विशेषकर आवेशावतार के अनुशीलन से कतिपय नवीन प्रवृत्तियों का पता चलता है। सर्वप्रथम तो यह कि अवतारवाद के अंश, कला, विभूति और पूर्ण रूपों के विस्तार-मूल में जहाँ अंश का प्राधान्य रहा है, वहाँ आवेशावतार अंश-रूप से बिलकुल पृथक् प्रतीत होता है।

यदि इसकी आंतरिक परीक्षा की जाय तो उससे स्पष्ट पता चलता है कि 'आवेश' का प्रवृत्तिगत सम्बन्ध समष्टिगत सामाजिक व्यवहार में प्रचलित नहीं हो सकता; क्योंकि आवेश का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति से है। ईश्वर का आवेश व्यक्तिमात्र में विभिन्न असाधारण अवस्थाओं अथवा मानसिक दशाओं में सम्भव है। फलतः अवतारवाद की दृष्टि से इसमें हेतु या प्रयोजन की प्रमुखता न होकर केवल मानसिक अवस्था या मनोवेगों का भावावेशपूर्ण आग्रह दीख पड़ता है।

दूसरी बात यह कि इस प्रणाली में ईश्वर की अवतारात्मक उत्पत्ति की भावना किंचित कमजोर पड़ जाती है। वहाँ ईश्वर की स्वेच्छा का प्राधान्य न होकर आविष्ट व्यक्ति का अनुरोध अधिक दृढ़ रहता है।

अतएव निश्चय ही 'आवेश' का सम्बन्ध पर-ब्रह्म या सगुण ब्रह्म के स्थान में केवल उपास्यवादी इष्टदेव से रहा है; क्योंकि सामान्य रूप से इष्टदेव का ही आवेश अपने भक्त में हुआ करता है। यही कारण है कि आवेशावतार की भावना का मूल स्रोत पुराणों में न होकर पांचरात्र संहिताओं में मिलता है। पांचरात्रों का सम्बन्ध केवल पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी भेदों में विभक्त उन विग्रह या उपास्य रूपों से रहा है, जिनको भक्त अपनी अभिरुचि के अनुकूल अपनाता रहा है।

अतः 'आवेशावतार' अवतारवाद के विभिन्न रूपों में एकमात्र विग्रहवादी अवतारवाद का सिद्धान्त है, जिसका उद्गम पांचरात्र संहिताओं से हुआ; और

---

१. गर्ग संहिता १, १, २०।
२. गर्ग संहिता १, १, २१।
३. गर्ग संहिता १, १, २२।

उसे मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में आगे चलकर पौराणिक अवतारवाद के साथ समाहित कर लिया गया।

पूर्णावतार

परन्तु मध्यकालीन कवियों में अवतारों के विभिन्न रूपों और वर्गों की अपेक्षा पूर्णावतार राम और कृष्ण विशेष ग्राह्य हुए। इसके मुख्य कारण राम और कृष्ण के उपासक वैष्णव सम्प्रदाय थे। यों अवतारवाद के प्रारम्भ में पूर्णावतार की अपेक्षा अंशावतार अधिक प्रचलित दीख पड़ता है। इनके प्रतिपादक रामायण और महाभारत में राम और कृष्ण अंशावतार हैं। अतः पूर्णावतार का क्रमिक विकास अंशावतार से ही हुआ है। इस क्रमिक विकास के आधार-स्वरूप प्रमाणों या तथ्यों का कोई विशेष क्रम नहीं लक्षित होता, केवल कुछ प्राचीन समानान्तर प्रवृत्तियों के आधार पर इनके पूर्णत्व का अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि से इनका विकास-क्रम उल्लेखनीय है। अन्य वैदिक देवताओं के सदृश विष्णु भी प्रारम्भ में केवल देवता मात्र हैं। वैदिक साहित्य में ही वामन रूप में तीनों लोक मांपने के कारण ये देवताओं में श्रेष्ठ माने जाते हैं। कालान्तर में पुरुष एवं षोड़शकला युक्त पुरुष से इन्हें स्वरूपित किया गया; जिसके फलस्वरूप ये महाकाव्यों में केवल ब्रह्म ही नहीं अपितु निर्गुण-सगुण-विशिष्ट, विराट रूपधारी, सर्वात्मा और एकेश्वरवादी उपास्य-रूप में गृहीत हुए। इसी प्रकार दोनों महाकाव्यों के नायक राम और कृष्ण साम्प्रदायिक एवं वैष्णवीकृत महाकाव्यों में भी अंशावतार हैं किन्तु विष्णु या वासुदेव के स्थान में कृष्णावत और रामावत सम्प्रदायों में उपास्य रूप में प्रचलित होते ही ये पूर्णावतार माने गये।

'भागवतपुराण' में विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन करते समय कृष्ण को स्वयं भगवान कहा गया है।[१] इसी प्रकार 'आनन्दरामायण' में विभिन्न अवतारों का वर्णन करते समय कुछ न कुछ दोष या अभाव दिखलाते हुए रामावतार की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। तत्पश्चात् अंत में राम से कहवाया गया है कि सभी प्रकार के गृहस्थ-सुख प्राप्त होने के कारण इस अवतार में मैंने पूर्ण रूप धारण किया था।[२]

यों जिन सम्प्रदायों में कृष्ण, राम और नृसिंह को पूर्णावतार माना गया था, उन पर दक्षिण में प्रचलित पांचरात्रों का यथेष्ट प्रभाव था। इन

१. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। भा०, ३, २८।

२. अतएवाऽवतारो यं पूर्णभावोमया धृतः।

आनन्दरामायण राज्य उत्तरकांड सर्ग २०, ६७ तथा २०, ८२।

पांचरात्रों में पूर्णावतार का एक व्यापक दृष्टिकोण लक्षित होता है। विशेषकर विष्णु के विभिन्न अवतारों को जिन विभवों में ग्रहण किया गया है, उन्हें पांचरात्रों में अंशावतार के रूप में उत्पन्न न कह कर दीप से प्रज्वलित दीप के समान कहा गया है।[1] मध्यकालीन संप्रदाय-प्रवर्तकों में मध्वाचार्य ने विष्णु के आविर्भूत अनन्त रूपों में संभवतः पांचरात्रों से प्रभावित होकर अंश या पूर्ण का भेद स्वीकार नहीं किया।[2] उनके मतानुसार परमात्मा का मूल रूप पूर्ण है और उसके अन्य सभी रूप भी पूर्ण हैं।[3] 'भागवत-तात्पर्य निर्णय' में इन्होंने कहा है कि विष्णु एवं विष्णु के अवतारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि देह और देही का भेद परतत्त्व भगवान् में नहीं है।[4] इनकी इस मान्यता का माध्व-संप्रदाय में प्रचार विदित होता है; क्योंकि भक्तमाल में नाभादास ने मध्वमतानुयायी कमलाकर भट्ट के प्रति कहा है कि वे हरि के सभी अवतारों को पूर्णावतार मानते थे।[5]

इस युग तक विष्णु या उनके अवतार उपास्य-रूप में अत्यधिक प्रचलित हो चुके थे। नारायण, राम, कृष्ण और नृसिंह आदि रूप इस काल में अपने विशिष्ट सम्प्रदायों में अवतारी एवं परब्रह्म के बोधक हो गये थे।[6] निम्बार्क सम्प्रदाय में इसी से पुनः इन्हें पूर्णावतार न कहकर 'स्वयंरूप' या स्वरूपावतार कहा गया। पुरुषोत्तमाचार्य के अनुसार सत्, चित् और आनन्द स्वरूप से प्रकट होने वाले अवतार को स्वरूपावतार माना गया है।[7] इन्होंने स्वरूपावतार में रूप, गुण और शक्ति का वैषम्य स्थापित कर केवल नृसिंह, राम, और कृष्ण को पूर्णावतार माना है।[8] किन्तु यथार्थतः नृसिंह की उपस्थिति से पूर्व मध्यकालीन युग में प्रचलित साम्प्रदायिक प्रभावों का भी भान होता है; क्योंकि कालान्तर में केवल राम और कृष्ण के षाड्गुण्य और व्यूहवादी तथा लीलापुरुषोत्तम और मर्यादा पुरुषोत्तम आदि उपादानों के आधार पर

---

१. 'तत्र प्राकृतविग्रहा अजहत्स्वभावविभवा दीपादुत्पन्नदीपवत्स्थिता।
जयाख्य संहिता शुद्ध सर्ग ४ पटल ३ और तत्वत्रय पृ० १०९।

२. माध्वसी० आर० के० राव पृ० १०५।

३. सर्वाण्यपि रूपाणि पूर्णानि। श्रीमन्मध्वसिद्धान्तसारसंग्रह पृ० ३६।

४. भागवत-तात्पर्य-निर्णय सर्वमूलम्' में संगृहीत पृ० ११, १, ४।
तस्य सर्वावतारेषु न विशेषोस्ति कश्चन। देहे देही विभेदश्च न परे विद्यते क्वचित्।

५. 'जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जाने'। भक्तमाल पृ० छ० ८६।

६. पर ब्रह्म से यहाँ केवल वेदान्तियों के ब्रह्म ही नहीं अपितु पांचरात्रों के उपास्य 'पररूप' से भी है।

७. वे० र० म० पृ० ४८।

८. वे० र० म० पृ० ४९।

पूर्णावतार की मान्यता स्थापित की गई थी। उनका नृसिंह रूप में नितान्त अभाव लक्षित होता है।

श्री वल्लभाचार्य ने सभी अवतारों में क्रिया और ज्ञान की दृष्टि से वैषम्य माना है। यदि मत्स्य, कूर्मादि में क्रिया की प्रधानता है तो दत्त, व्यास आदि में ज्ञान की। इस आधार पर इन्होंने क्रिया और ज्ञान दोनों से युक्त केवल कृष्ण को स्वयं भगवान् माना है।[1] 'लघुभागवतामृत' में रूप गोस्वामी ने नृसिंह, राम और कृष्णादि पूर्णावतारों को 'पद्मपुराण' के आधार पर षाड्गुण्य-युक्त, दीपादुत्पन्न-दीपवत् एवं परावस्थापन्न माना है।[2] इन्होंने हिरण्यकशिपु और रावण की अपेक्षा शिशुपाल के मुक्त होने के कारण उक्त अवतारों को क्रमशः श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम माना है।[3] फिर भी उक्त तीनों के पूर्णावतार होने के कारण गौड़ीय वैष्णव-साहित्य में अंश-अंशी एवं अवतार-अवतारी का संबंध स्थापित कर इस सम्प्रदाय के उपास्य श्रीकृष्ण को अंशी और अवतारी कहा गया। 'लघुभागवतामृत' के अनुसार जिसमें सर्वदा अल्प मात्रा में शक्ति का विकास होता है, वह अंश, और जिसमें स्वेच्छानुसार विविध शक्तियों का विकास होता है, वह पूर्ण या अंशी है।[4] 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' में पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण को सभी अवतारों का मूल उद्गम होने के कारण अवतारी माना गया।[5] 'भक्तिरसतरंगिणी' के अनुसार भी रसावतार में आलम्बन कृष्ण पूर्णावतार कहे गये हैं।[6] साथ ही उक्त दोनों ग्रंथों में भक्तों या संभवतः स्थान या कार्य की दृष्टि से द्वारका, मथुरा और गोकुल के कृष्ण को पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम माना गया है।[7]

इससे स्पष्ट है कि विभिन्न सम्प्रदायों में उपास्य होने के कारण कृष्ण पूर्ण ही नहीं अपितु पूर्णतम रूपों तक प्रचलित हुए। इन वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित संभवतः परवर्ती 'गर्गसंहिता' में पूर्णावतार का विशेष चिह्न छः गुणों के साथ 'व्यूहवाद' भी बतलाया गया है। साथ ही पूर्णावतार के अतिरिक्त पूर्णतम अवतार की चर्चा करते हुए कहा है कि जिसके तेज में

---

१. ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

तत्त्वदीप निबन्ध भा० प्र० पृ० २७, १, ६५।

२. ल० भा० पृ० ९६। ३. ल० भा० पृ० श्लो० १४ और पृ० १२० श्लो० ४३।

४. अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता।

पूर्णत्वञ्च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता॥ ल० भा० पृ० १२२ श्लो० ४६।

५. अवतारावली बीजं अवतारी निगद्यते। हरिभक्ति रसामृत सिंधु पृ० ५८ श्लो० ७२।

६. भक्तिरसतरंगिणी पृ० ५९-६० श्लो० ५।

७. भक्तिरसतरंगिणी पृ० ७४ श्लो० १५ और हरिभक्तिरसामृतसिंधु पृ० १७९ श्लोक ७६-७८।

सभी लीन हो जाते हैं, उन्हें स्वयं साक्षात् परिपूर्णतम अवतार कहते हैं।[1] इस प्रकार महाकाव्य काल से लेकर आलोच्य काल तक अवतारों के उपास्य-रूप में गृहीत होने के फलस्वरूप अंशावतार की भावना का पूर्णतम रूपों तक विकास हुआ।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा के तत्कालीन कवियों ने राम या कृष्ण के पूर्णत्व पर कोई तर्क नहीं किया है, अपितु उनके प्रचलित उपास्य रूपों को ही कहीं पूर्णावतार कहीं पूर्ण ब्रह्म कह कर संबोधित किया है।

'सूरसारावली' में सूरदास ने राम को वासुदेव का पूर्णावतार कहा है।[2] यहाँ राम अवतारी कृष्ण के पूर्णावतार विदित होते हैं। परन्तु रामावत सम्प्रदाय में राम परब्रह्म होने के कारण स्वयं उपास्य हैं।[3] गोस्वामी तुलसीदास ने इन्हें स्पष्ट रूप से कहीं पूर्णावतार नहीं कहा है। केवल एक स्थल पर उन्हें 'पुरुष पुराण' कहा गया है।[4] गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त 'पुरुष पुराण' से अभिहित करने की परम्परा केशव और सेनापति में भी दृष्टिगत होती है। किन्तु इन दोनों ने राम को पुरुष का पूर्ण अवतार कहा है।[5] 'हनुमन्नाटक' में लक्ष्मण राम के पूर्ण रूप का परिचय देते हैं।[6]

सूरदास ने यों तो श्रीकृष्ण को प्रायः पूर्ण ब्रह्म कहा है,[7] परन्तु प्रसंगवश उनके पूर्णत्व की भी चर्चा हुई है। 'सूरसागर' के एक पद के अनुसार ब्रह्मा इन्हें पूर्णावतार जान कर इनके पैरों पर गिरते हैं।[8] गोविन्द स्वामी ने 'नंद-

---

१. चतुर्व्यूहो भवेद्यत्र दृश्यन्ते चरसानव। अतः परञ्च वीर्याणि स तु पूर्णः प्रकथ्यते॥
यस्मिन् सर्वाणि तेजांसि विलीयन्ते स्वतेजसि। तम्वदन्ति परे साक्षात्तत्परिपूर्णतमं स्वयम्
गर्गसंहिता १, १, २३–२५।

२. वासुदेव यों कहत वेद में हैं पूरण अवतार।
... ...
प्रकट भए दशरथ ग्रह पूरण चतुर्व्यूह अवतार। सूरसारावली पृ० ६।

३. परमात्मा ब्रह्म नररूपा, होइहि रघुकुल भूषन भूपा।
रा० मा० ना० प्र० स० पृ० ५१९।

४. जान्यौ अवतार भयौ पुरुष पुरान को। तु० ग्रं० गीतावली पृ० २६४।

५. (क) पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण।
बतावै न बतावै और उक्ति को। रामचंद्रिका पूर्वार्द्ध पृ० ३, ३।
(ख) तेज पुंज रूरो, चंद सूरौ न समान जाके।
पूरन अवतार भयौ पूरन पुरष कौ॥ कवित्त रत्नाकर पृ० ७६, ७।

६. सूरन के सूर एई पूरन हैं रामचन्द्र मारे अन्धकार अरु कंदरा पठाए हैं।
हनुमन्नाटक पृ० १२५–१२६।३, ४१।

७. देह धरि प्रभु सूर बिलसत, ब्रह्म पूरन सार। सूरसागर पृ० १२०१ पद ३४५४।

८. जानि जिय अवतार रन, पर्यो पाइनि धाइ। सूरसागर पृ० ४२५ पद ११०३

सुवन' श्रीकृष्ण को पूर्ण परमानन्द एवं पूर्ण चन्द्र के सदृश षोडश कलायुक्त माना है।[१] इस प्रकार षोडश कलायुक्त पूर्णावतार का भान इनके पदों से होता है।[२] साथ ही एक पद में उनके पूर्णत्व-सूचक होने की अपेक्षा चन्द्रमा से उपमित होने का अधिक बोध होता है।[३] इसका पारिभाषिक प्रयोग 'सूरसारावली' के पदों में मिलता है। 'सूरसारावली' के एक पद में कहा गया है कि यशोदा के गर्भ से सोलह-कला-युक्त चन्द्र ने प्रकट होकर अन्धकार का नाश किया।[४] पुनः इनके देवकी से उत्पन्न होने और पूर्ण रूप में प्रकट होने का उल्लेख अगले पद में किया गया है।[५] नन्ददास ने भी 'दशम स्कंध' में इनके पूर्णावतार की चर्चा की है। 'दशम स्कंध' में अपने पूर्णावतार की सूचना श्रीकृष्ण स्वयं देते हैं।[६] फलतः वे इस प्रेम भरे विश्व में पूर्ण रूप में प्रकट होते हैं।[७] इस प्रकार परब्रह्म या उपास्य रूप में अधिक प्रचलित होने पर भी राम, कृष्ण आदि अवतारों के पूर्णत्व की चर्चा मध्यकालीन भक्त कवियों ने की है। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने श्रीवल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ को भी पूर्णब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का अवतार माना है।[८] इनमें स्पष्टतः इनके पूर्णरूप से अवतरित होने की चर्चा न होते हुए भी, 'पूर्ण ब्रह्म' या 'पूर्ण पुरुषोत्तम' आदि के प्रयोग से इनके पूर्णावतार का भान होता है।

---

१. नंद महर घर ढोटा जायो, पूरन परमानन्द।
गोविन्द स्वामी पद संग्रह पृ० २, पद २।

२. सब गुन पूरन जे इु बलि, गोविंद प्रभु जै नमो नमो।
गोविंद स्वामी, पद संग्रह पृ० ५।

३. जसुमति उदर उदधि विधु प्रगटे सकल कला सुखदाई।
गोविंद स्वामी, पद संग्रह पृ० ३।

४. विधा ब्रह्म कही यशुमतिसों, जाको कोखि उद्धार।
सोरह कला चन्द्र जो प्रकटे दीन्हों तिमिर विदार॥ सूरसारावली पृ० १३ पद ३८३।

५. पुनि वसुदेव देवकी कहियतु पहिले हरिवर पायो।
पूरन भाग्य आय हरि प्रकटे यदुकुल ताप नशायो॥
सूरसारावली पृ० १३ पद ३६४।

६. तदन्तर तिहि जठर अनूप, ऐहूँ हम परि पूरन रूप।
नं० ग्र० दशम स्कन्ध पृ० २२४।

७. और पृ० २२७। प्रेम भरे जग प्रगटि हैं। हरि परि पूरन रूप।

८. (क) कुंभनदास, पद संग्रह पृ० ३१ पद ५९।
प्रगट भए पूरन पुरुषोत्तम श्री वल्लभ सुखदाई।
(ख) प्रकट ब्रह्म पूरन या कलि में प्रगटे श्री विट्ठलनाथ।
छीतस्वामी पद-संग्रह पृ० ५ पद १०।

अतः इससे स्पष्ट है कि पूर्णावतार आलोच्यकाल में अवतार की अपेक्षा पूर्ण ब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम के उपास्य रूप-उपास्य विग्रह का बोधक अधिक रहा है; क्योंकि राम, कृष्ण आदि अवतार और वल्लभ आदि आचार्य विभिन्न सम्प्रदायों के उपास्य होने के कारण ही पूर्णावतार या पूर्ण ब्रह्म से अभिहित किये गये।

व्यूह रूप

मध्ययुग में श्रीकृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध के व्यूहवादी रूप का उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही इसके अनुकरण में अन्य विभिन्न प्रकार के चतुर्व्यूह रूप भी दृष्टिगत होते हैं।

किन्तु व्यूहवाद का प्राचीनतम रूप वासुदेव-व्यूह का ही मिलता है।[1] महाभारत में श्रीकृष्ण के चार रूपों का या उपर्युक्त व्यूह-रूपों का कतिपय स्थलों पर उल्लेख हुआ है, पर 'गीता' में इसकी कोई रूपरेखा नहीं मिलती। 'नारायणीयोपाख्यान' के ३५१वें अध्याय में कहा गया है कि भगवान् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, और वासुदेव चार भागों में विभक्त हैं।[2] इसके पूर्व के पर्वों में ईश्वर की चार मूर्त्तियों का उल्लेख है। किन्तु व्यूहबद्ध नामों से उनका कोई संबंध नहीं बतलाया गया है।[3] 'नारायणीयोपाख्यान' में ही पुनः एक स्थान पर सांख्य समन्वित रूपों में व्यूहवाद का पुनः उल्लेख हुआ है।[4] जिसका सांख्यबद्ध रूप कुछ विस्तार के साथ 'भागवत' में दिखाई पड़ता है।[5] 'विष्णुपुराण' में सृष्टि, पालन और संहार से सम्बद्ध, ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की चार-चार अंशों में स्थिति बतलाई गई है, पर वासुदेव-व्यूह से इनका कोई सबंध नहीं स्थापित किया गया है।[6] 'भागवत' के अनुसार नौ वर्षों में नारायण सदैव व्यूह-रूप में उपस्थित रहते हैं।[7] यह वासुदेव-व्यूह का अर्चाविशिष्ट रूप विदित होता है; क्योंकि विधिपूर्वक पूजित नारायण के चतुर्व्यूह-रूप का पुनः दशम स्कंध में उल्लेख हुआ है।[8] इसी अध्याय में एकादश अवतारों में श्रीकृष्ण के स्थान में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और

---

१. व्यूहवाद के विकास की दृष्टि से ऋ० १०, ९०, २-४ अथर्व वेद १०, १०, २९, तै० आ० ३, १२, २, छा० उ० ४, ५-९, श्वेत उ० २, १६ १ ज्ञातव्य हैं।

२. महा० १२, ३५१, २२।

३. महा० ७, २९, २५-२९।

४. महा० १२, १२, ३४९, २५, ३६-३९।

५. भा० ३, २६, २१-३०।

६. वि० पु० १, २२, २३-२९।

७. भा० ५५, १७, १४।

८. भा० १०, ४०, ७।

अनिरुद्ध का प्रयोग हुआ है।[१] और एकादश स्कंध में वैष्णवों की पूज्य नौ मूर्तियों में वासुदेव-व्यूह को भी गिना गया है।[२]

इससे वासुदेव-व्यूह का उपास्य-रूप ही अधिक प्रचलित विदित होता है। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में वासुदेव षड्गुणों से युक्त हैं, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमशः ज्ञान, बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा तेज और शक्ति-युक्त बतलाये गये हैं। यहीं इनके ऐकान्तिक पांचरात्र मत के प्रवर्तक, उपदेशक, शिक्षक, आदि साम्प्रदायिक रूपों का परिचय भी मिलता है।[३] जिसके अनुकरण पर मध्यकालीन सम्प्रदायों को व्यूहबद्ध किया गया है। पांचरात्र साहित्य में इनका द्वादश अर्चावतारों से सामंजस्य स्थापित किया गया है।[४] 'गोपालोत्तरतापनीय उपनिषद्' में वासुदेव-व्यूह का संबंध जाग्रत, स्वप्न प्रभृति अवस्थाओं और ओंकार आदि मंत्रों से किया गया है।[५]

'रामोत्तरतापनीय उपनिषद्' में वासुदेव-व्यूह के अनुकरण पर ही राम और उनके तीनों भाइयों को मिलाकर राम-व्यूह का निर्माण किया गया।[६] यहाँ चारों भाइयों को मिलाकर ही राम पूर्ण पुरुषोत्तम या पूर्ण परमेश्वर माने गये हैं। 'सूरसारावली' में राम के व्यूहात्मक प्राकट्य एवं वासुदेव-व्यूह से संबंध स्थापित किया गया है।[७] इस प्रकार आलोच्यकाल के पूर्व ही व्यूहवाद का अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र दृष्टिगत होता है। वल्लभ सम्प्रदायानुयायी पं० गदाधर दास द्विवेदी ने 'सम्प्रदाय प्रदीप' में 'पद्मपुराण' के उन उद्धरणों को ग्रहण किया है, जिनमें बतलाया गया है कि कलिकाल में उत्कल देश-स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम-स्वरूप भगवान जगदीश के अंश से भक्तिप्रवर्तक चार सम्प्रदायों के आचार्यों का प्राकट्य होता है।[८] इनका व्यूहात्मक संबंध प्रस्तुत करते हुये नाभादास जी ने कहा है कि जिस प्रकार हरि ने 'चौबीस बपु' धारण किये, उसी प्रकार कलियुग में इस चतुर्व्यूह का आविर्भाव हुआ। जिसमें श्री रामानुज उदार, और

---

१. भा० १०, ४०, २१। २. भा० १, १६, ३२।

३. अहि सं० ५, २१–२३। ४. श्रेडर पृ० ४०।

५. वैष्णव उपनिषद् में संकलित गोपालोत्तरतापनीय श्लो० ५५–५६।

६. वैष्णव उपनिषद् में संगृहीत रामोत्तर तापनीयोपनिषद् पृ० ३२८, २, ५–८।

७. तीनों व्यूह संग ले प्रगटे पुरुषोत्तम श्री राम।
संकरषन प्रद्युम्न लक्ष्मण, भरत महासुखधाम॥
शत्रुघ्न अनुरुद्ध कहियतु है चतुर्व्यूह निज रूप।
रामचन्द्र जब प्रकटे गृह में हरषे कोशल भूप॥
सूरसारावली (मीतल) पृ० १४, १५८–१५९।

८. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० २४ टीका, मूल पृ० १५।

सुधानिधि पृथ्वी पर कल्पतरु के सदृश हुये। श्री विष्णु स्वामी भवसागर से पार करने वाले जलपोत के समान, श्री मध्वाचार्य वर्षा रूपी भक्ति से मरुस्थल को भी हरा-भरा बनाने वाले तथा श्री निम्बादित्य सूर्य के सदृश कुहा रूपी अज्ञान को हरने वाले हुये।[1] 'लघुभागवतामृत' के अनुसार नारायण के महावस्था नाम से प्रसिद्ध चतुर्व्यूह में वासुदेव आदि व्यूह हैं।

ये क्रमशः उत्पन्न एक दूसरे के विलास-रूप बतलाए गये हैं। इनका पाद विभूति के क्रम से चार लोकों में निवास बतलाया गया है।[2] श्री लोकाचार्य ने संकर्षण आदि व्यूहों की स्थिति, सृष्टि, पालन, संहार, संसार-संरक्षण और उपासकों पर अनुग्रह के निमित्त बतलाया है।[3] श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने निम्बार्क की 'दशश्लोकी' के 'व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं' में प्रयुक्त 'व्यूह' शब्द का तात्पर्य अन्य अवतार मूर्त्तियों से लिया है।[4]

श्री वल्लभाचार्य ने त० दी० नि० भा० प्र० में धर्म-रक्षा के निमित्त चतुर्मूर्त्तियों का प्रादुर्भाव माना है।[5]

उपर्युक्त उदाहरणों में व्यूह-रूपों के विभिन्न मध्यकालीन रूपों और प्रयोजनों का परिचय मिलता है।

फिर भी इनके मूल में साम्प्रदायिक प्रवर्तक रूप ही अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, जो आगे चलकर उपास्य-रूपों में गृहीत हुआ। संभव है, प्रवर्तक परम्परा से व्यूह का संबंध होने के कारण नाभा जी ने तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायों को व्यूहात्मक रूप प्रदान किया।

यों व्यूहवाद की प्रवृत्ति अपने प्रारम्भिक रूप में अवतारवाद से पृथक् रही है; क्योंकि 'ऋग् संहिता' से लेकर 'महाभारत' काल तक के वैदिक साहित्य में ब्रह्म के चार पादों की एक परम्परा बराबर स्वतंत्र रूप में

---

१. चौबीस प्रथम हरि बपु धरे, त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट।
श्री रामानुज उदार सुधानिधि अवनि कल्प तरु॥
विष्णु स्वामि बोहित्थ सिंधु संसार पार करु।
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया॥
निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया।
जनम करम भागवत धरम सम्प्रदाय थापी अघट॥
चौबीस प्रथम हरिबपु धरे, चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट।
भक्तमाल टी० पृ० २५७-२५८।

२. ल० भा० पृ० १४९-१५२। ३. तत्त्वत्रय पृ० १०२।

४. 'उपलक्षणार्थीयं व्यूहशब्दोन्यावतारमूर्त्तीनाम्'। वे० र० म० पृ० ४७।

५. तं० दी० नि० भा० पृ० ४४९ स्कन्ध १० जन्म प्रकरण श्लो० २८-२९।

मिलती रही है। कालान्तर में जब पुरुष का सम्बन्ध नारायण, विष्णु, वासुदेव से स्थापित किया गया, तब बहुत सम्भव है कि बाद में चल कर ब्रह्म के चार पादों के समानान्तर चतुर्व्यूह की कल्पना की गई हो।

परन्तु महाभारत काल से लेकर मध्यकालीन भक्त कवियों तक व्यूहवाद की जो रूपरेखा मिलती है, वह निश्चय ही अवतारवाद का एक विशिष्ट रूप है। व्यूहवाद का यह रूप पुराणों के अतिरिक्त पांचरात्र साहित्य और परवर्ती वैष्णव उपनिषदों में भी विविध रूपों में दृष्टिगत होता है।

अतः मध्यकाल में व्यूहवाद का जो रूप मिलता है, उसे पुराण और पांचरात्र दोनों का समन्वित रूप भी कहा जा सकता है। यों 'सम्प्रदाय प्रदीप' और 'भक्तमाल' में व्यूहवाद के जो रूप दृष्टिगत होते हैं, वे प्राचीन व्यूहवाद के स्थान में तत्कालीन सम्प्रदायों को समन्वित कर नवीन व्यूहवाद की कल्पना करते हैं। इससे यह पता चलता है कि व्यूहवाद में अवतारवाद के सदृश युगानुरूप नव्य रूप धारण करने की क्षमता भी विद्यमान है।

लीला रूप

मध्ययुग में अवतारवाद के जिन रूपों का सर्वाधिक प्रचार हुआ, उनमें लीलावतार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लीलात्मक रूप अवतारवाद का प्राचीनतम या प्रारम्भिक रूप नहीं है; क्योंकि प्रारम्भ के अवतारों में लीला या क्रीड़ाजनित कोई प्रयोजन नहीं था। विष्णु के वैदिक, महाकाव्य और पौराणिक तीनों साहित्य में उनके अवतार के निमित्त, देव-शत्रुओं का विनाश, वैदिक धर्म की रक्षा[1], साधुओं का परित्राण, दुष्टदमन, एवं धर्म-स्थापना[2] तथा वेद, ब्राह्मण, गो, पृथ्वी और भक्त की रक्षा[3] आदि विविध प्रयोजन माने जाते रहे हैं।

कालान्तर में विष्णु अपने एकेश्वर एवं उपास्य-रूप में वेदान्ती ब्रह्म से स्वरूपित किये गये। जिसका फल यह हुआ कि उनके व्यक्त रूप से सम्बद्ध

---

१. ऋ० १, २२, २९ 'इन्द्रस्य युज्यः सखा', ए० ब्रा० ६, ५ और श० ब्रा० १, २, ५ वामन रूप में देवों का पक्षपात, महा० २, ३७, १५ देवशत्रु विनाश।

२. महा० १, ६५, ३, १२, ३४९, ३५-३७ भूभार हरण, गीता, ४, ६-८ महा० १४, ५४, ३३, हरि० पु० ४४, १४, १५ मानव कल्याण।

३. भा० ३, ५ तुं ग्रं० दोहावली पृ० ९५ दो० १२४ में तुलसीदास ने एकत्रित रूप दिया है—भगत, भूमि भूसुर, सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥

किसी प्रकार का प्रयोजन उनकी निरपेक्षता में दोषस्वरूप समझा गया। इसका निराकरण उनकी बालवत् क्रीड़ा या लीला में किया गया।[1]

उपनिषदों में जिस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ था, वहाँ, वह एक ओर तो निर्गुण, निष्क्रिय और निराकार था और दूसरी ओर सगुण सक्रिय, साकार और स्रष्टा भी।[2] भारतीय दर्शन में जगत और जीव से उसके संबंधों को लेकर विभिन्न प्रकार के तर्क उपस्थित किए गये थे। नैयायिकों के निमित्तकारण, वैशेषिकों के उपदान कारण तथा सांख्य द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के कर्तृत्व ये सभी ब्रह्म के ब्रह्मत्व में कोई न कोई दोष उपस्थित करने के कारण आलोचना के विषय बन चुके थे।[3] ब्रह्म में किसी प्रकार का प्रयोजन उसके पूर्णत्व में बाधक माना जाने लगा था।[4] दूसरी ओर वैदिक साहित्य में ब्रह्म से सम्बद्ध कामना इच्छा आदि शब्द, उनमें किसी न किसी प्रयोजन की ओर संकेत करते थे,[5] तथा कामना और इच्छा के अतिरिक्त उसमें निहित आनन्द, क्रीड़ा आदि उपादानों की अभिव्यक्ति भी हुई थी।[6]

अतः वेदान्तिकों ने उपर्युक्त तथ्यों का सामंजस्य 'लीला' में खोज निकाला; क्योंकि आनन्द, क्रीड़ा आदि में लीला का भाव होने पर भी प्रयोजन आवश्यक नहीं था। जिस प्रकार नर्तक या नट आनन्द के निमित्त अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं तथा बालक अपनी इच्छानुसार विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म भी नट्वत् या बालकवत् लीलाएँ करता है। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में 'लोक लीलावत्तु कैवल्यम्' की व्याख्या करते हुए संतुष्ट राजा या मंत्री के सदृश पूर्णकाम ब्रह्म की लीलाओं को भी निष्प्रयोजन केवल

---

१. व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय॥ वि० पु० १, २, १८।

२. बृ० उ० ३, ८, ८, निर्गुण छा० उ० ३, १४, १-४ सगुण।

३. भारतीय दर्शन पृ० २६९, २९८ और ३४१।

४. ब्र० सू० २, १, ३२ न प्रयोजनवत्वात्।

५. (क) कामना ऋ० १०, १२९, ४।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत।
श० ब्रा० १३, ६१, १।
'पुरुषोह नारायणोऽकामयते' तै० उ० २, ६ सोऽकामयत; ब्र० सू० १, १, १८।
(ख) 'इच्छा' छा० उ० ६, २, ३, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, प्र० उ० ५, ५
'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। ऐ० उ० १, १, १ स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति, ब्र० सु० १, ३, १३, ईक्षति कर्मव्यपदेशात्।

६. 'आनन्द', तै० उ० २, ९, ३, ६ प्र० उ० ३, ९, २९, ब्र० सू० १, १, १२, मु० उ० ३, १४ में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी उस आत्मरूप के साथ क्रीड़ा करते हैं।

लीला या मनोरंजन के निमित्त बतलाया है ।[1] उपनिषदों में व्याप्त ब्रह्म की इच्छा और कामना का ही विकास सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा), युयुत्सा (युद्ध की इच्छा), और रिरंसा (आस्वादन की इच्छा) वृत्ति में लक्षित होता है । इन तीनों वृत्तियों का संबंध लीलात्मक अवतारवाद से स्थापित किया गया ।

विशेषकर 'भागवतपुराण' में वैदिक एवं पौराणिक परम्पराओं को परस्पर समन्वित करने का अभूतपूर्व प्रयास हुआ है । इस समन्वय का प्रमुख आधार लीलात्मक अवतारवाद रहा है । यों तो 'विष्णुपुराण' में ही देव, तिर्यक, मनुष्य आदि योनियों में उनकी उत्पत्ति को ब्रह्म की स्वाधीन चेष्टा की उपलक्षिका लीला कहा गया है ।[2] किन्तु 'भागवतपुराण' में लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को 'परब्रह्म' से अभिहित कर सृष्टिगत, जीवनगत एवं वैयक्तिक सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों को लीलात्मक रूप प्रदान किया गया । 'भागवतपुराण' के प्रथम स्कन्ध में ही श्रीकृष्ण के प्रति कहा गया है कि ये लीला से अवतार धारण करते हैं ।[3] इनकी यह लीला कपट मानुषी या नटवत् होती है ।[4] सृष्टि, पालन, संहार और पशु-पक्षी आदि विभिन्न योनियों में होने वाले उनके सभी अवतार लीला के ही रूप हैं ।[5] फलतः पौराणिक परम्परा या मध्यकाल में प्रचलित विष्णु के चौबीस अवतार भी, जो विष्णु के प्रधान अवतारों में माने जाते हैं, भागवत में उन्हें लीलावतार कहा गया है ।[6] इस प्रकार इस युग में अवतार-लीला के साथ ही भू-भारहरण या भक्तों के मोक्ष-दान आदि प्रयोजनों को लीला में ही समाहित कर लिया गया ।[7] जिसका फल यह हुआ कि लीला एवं प्रयोजन में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा ।

मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में श्री सम्प्रदाय के अनुयायी लोकाचार्य ने तो लीला को ही एकमात्र प्रयोजन माना ।[8] 'मध्व-सिद्धान्त-सार-संग्रह' के अनुसार उनके सभी अवतार-कार्य फल के निमित्त न होकर लीला के लिये और कभी-कभी असुर जनों को मोहने के लिये होते हैं ।[9] इन सम्प्रदायों में 'भागवत' के ही भेदों एवं रूपों का विशेष रूप से प्रचार हुआ । विशेषकर श्रीकृष्णोपासक सम्प्रदायों में अवतारी कृष्ण के विविध प्रकार के अवतारों में

---

१. शारीरक भाष्यः ब्र० सू० २, १, ३३ ।

२. देवतिर्यङ्मनुष्येषु शरीरग्रहणात्मिका ।
लीला या सर्वभूतस्य तव चेष्टोपलक्षणा ॥ वि० पु० ५, ३३, ४२ ।

३. भा० १, १, १७ । ४. भा० १, १, १८ और भा० १, ३, ३७ ।

५. भा० १, ३, ३८ और १, २, ३४ । ६. भा० २, ७ और २, ६, ४५ ।

७. भा० १, १६, २३ । ८. तत्वत्रय पृ० ८९ 'अस्य प्रयोजनं केवल लीला' ।

९. 'लक्ष्मीनारायण योस्तु लीलया मोहनाय वा ।' मध्व-सिद्धान्त-सार संग्रह पृ० ५ ।

भागवतोक्त चौबीस अवतार लीलावतार के रूप में मान्य हुए। निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने चौबीस अवतारों को आवेश, स्वरूप आदि लीलावतार के विविध विभागों में विभक्त किया है।[१] चैतन्य सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी ने भी 'भागवत' के उक्त चौबीस लीलावतारों को अंश, आवेश आदि विविध भेदों के साथ ग्रहण किया है।[२]

परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि ये सभी लीलावतार इस युग में प्रमुख रूप से प्रचलित राम या कृष्ण के लीलावतार माने गये; क्योंकि विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण ही इस युग के प्रधान उपास्य या अवतारी पर ब्रह्म थे। श्री वल्लभाचार्य ने 'तत्त्वदीप निबन्ध' में 'भागवत' के सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, विरोध, मुक्ति, आश्रय आदि प्रधान लक्षणों को श्रीकृष्ण की ही दशविध लीलाओं के रूप में माना है।[३] इस प्रकार अन्य अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण के प्रति कहा गया है कि जिस प्रकार बालक खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार ये ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि देवताओं से सदैव क्रीड़ा करते रहते हैं।[४] किन्तु आलोच्यकाल में मुख्य रूप से 'भागवत' के ही श्रीकृष्ण चरित्र या लीला का व्यापक प्रसार हुआ।

इस काल में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतरित दो रूप मान्य हुए। 'लघु-भागवतामृत' के अनुसार इनकी जन्म-लीला अनादि है।[५] भक्त-रक्षण और भूभारहरण ही लीलाविस्तार के प्रयोजन हैं। रूप गोस्वामी ने उक्त दोनों रूपों से सम्बद्ध प्रकट और अप्रकट दो प्रकार की लीलाएँ मानी हैं।[६] इनमें अप्रकट लीला पर विग्रह, उपास्य एवं नित्य श्रीकृष्ण की लीला है। उस लीला में उनके नित्य पारिकर एवं पार्षद नित्य गोलोक में भाग लेते हैं। इनके उपासकों का यह विश्वास है कि श्रीकृष्ण अप्रकट रूप से सदा ब्रज में विहार करते हैं।[७] और इस लीला में केवल अत्यन्त प्रिय ब्रजवासी भक्त सम्मिलित होते है।[८] इसके अतिरिक्त मथुरा, गोकुल आदि का अवतरण ही प्रकट लीला है।[९] इस प्रकट लीला में श्रीकृष्ण देवताओं के साथ अवतीर्ण होते हैं।[१०] अतः प्रकट लीला अवतार लीला का ही दूसरा नाम है।

---

१. वै० रै० म० पृ० ४८-४९। २. लघुभागवतामृत पृ० ४३-७०।

३. श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीला युतं सदा। सर्व भक्त समुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः। त० दी० नि० भा० पृ० १, श्लो० १।

४. ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः। क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव। महा० ३, १२, ५४।

५. ल० भा० पृ० २०८-२०९ श्लो० १२५। ६. ल० भा० पृ० २१५ श्लो० १४१।

७. ल० भा० पृ० २२९ श्लो० १५६। ८. ल० भा० पृ० २४६ श्लो० १७२।

९. ल० भा० पृ० २३० श्लो० १५८। १०. ल० भा० पृ० २४१ श्लो० १५९।

करने वाली सगुण लीला का रामचरित के रूप में गान किया है।[1] इस प्रकार चरित और लीला परस्पर पर्याय विदित होते हैं।[2] इनके मतानुसार व्यापक, अकल, अनीह, अज, निर्गुण, राम भक्त के लिये चौबीस प्रकार के चरित करते हैं।[3] ये सदा स्वतंत्र अद्वितीय होते हुये भी नट के समान नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं।[4]

इस प्रकार तत्कालीन कवियों ने राम और कृष्ण दोनों के लीला चरित का गान करते हुए उनके सभी कार्य व्यापारों को नटवत् माना है। अवश्य ही यह ब्रह्म और उसकी लीला के अवतारवादी सामंजस्य के प्रयास हैं।

परन्तु दो महाकाव्यों के चरित से सम्बद्ध होने के कारण राम और कृष्ण के ही लीलात्मक रूपों का विशेष प्रसार हुआ, जिनका विवेचन 'रामावतार' और 'कृष्णावतार' नामक अध्यायों में हुआ है।

युगल रूप

राम और कृष्ण के विभिन्न लीलात्मक रूपों का, तुलसी और सूरदास के अनन्तर उत्तरोत्तर संकोच होकर, केवल युगल रूप तक सीमित रह गया। बाद के कवियों ने जितनी चर्चा इनके युगल रूपों की की है उतना इनकी अन्य लीलाओं की नहीं। यों महाकाव्यों की पृष्ठभूमि से संवलित विष्णु के विभिन्न अवतारों में राम और कृष्ण ही ऐसे अवतार थे जिनमें युगल रूप की अभिव्यक्ति की संभावना हो सकती थी।

किन्तु उक्त महाकाव्यों में एकमात्र उनके युगल रूप पर ही इतना बल नहीं दिया गया है, जितना कि मध्यकालीन रसिक भक्तों में दृष्टिगत होता है। विशेषकर युगल अवतार के रूप में जिन राधा-कृष्ण और राम-जानकी-रूपों का आविर्भाव माना जाता है, उनका परम्परागत विकास युगल रूपात्मक न होकर स्वतंत्र विदित होता है।

अवतारवादी विकास की दृष्टि से अवतार धारण कर्ता विष्णु और लक्ष्मी के जिस युगल रूप का अस्तित्व पुराणों में लक्षित होता है, उसका वैदिक विष्णु के साथ कोई स्पष्ट संबंध नहीं दीख पड़ता; क्योंकि वैदिक साहित्य

---

१. लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करै मल हानी। रा० मा० पृ० २३

२. रा० मा० पृ० ५९, कहौ सुनहु अब रघुपति लीला।
तथा पृ० ६६ सुनहु राम अवतार चरित, परम सुन्दर अनघ।

३. व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥ रा० मा० पृ० १०५।

४. नटइव कपट चरित कर नाना, सदा स्वतंत्र एक भगवाना। रा० मा० पृ० ४५४।

में श्री या लक्ष्मी का स्वतंत्र रूप मिलता है। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञों ने श्री और लक्ष्मी के स्वतंत्र रूपों को सौंदर्य और धन की देवी माना है,[१] जिनका बाद में एकीकरण हो जाना सहज संभव है। किन्तु जहाँ तक इनके विष्णु से दाम्पत्य संबंध का प्रश्न है, वह विष्णु की अपेक्षा ईश और इन्द्र से अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके विपरीत विष्णु का संबंध पृथक् अस्तित्ववाली एक वैदिक देवी सिनीवाली से विदित होता है। क्योंकि 'अथर्ववेद' की एक ऋचा में सिनीवाली के लिये 'विष्णोर्पत्नि' का प्रयोग हुआ है।[२] परन्तु जे गोंद ने श० ब्र० ३, ४, २, १ के एक आख्यान के आधार पर विष्णु के पूर्व उनके सखा इन्द्र से श्री के संबंध का अनुमान किया है।[३] उस आख्यान के अनुसार देवताओं ने अपनी श्री इन्द्र को प्रदान की। फलतः देवताओं की श्री प्राप्त कर इन्द्र असुरों पर विजय पाने में समर्थ होते हैं। यह संबंध महाभारत में भी दृष्टिगत होता है। 'महाभारत' १, १९६, ३४-३५ में अर्जुन को इन्द्र और द्रौपदी को इन्द्र की पूर्व भार्या लक्ष्मी कहा गया है।[४] 'शतपथ ब्राह्मण' में अर्जुन इन्द्र का गुह्य नाम बतलाया गया है।[५] साथ ही महाभारत १, ६७, १५७ में इन्द्राणी द्रौपदी है और 'महाभारत' १८, ४, १२ में द्रौपदी लक्ष्मी है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वकाल में लक्ष्मी विष्णु की अपेक्षा इन्द्र-पत्नी के रूप में प्रचलित थी। परन्तु एक ओर तो ब्राह्मणकाल में ही पुरुष से स्वरूपित नारायण[६] को तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु से सम्बद्ध किया गया है,[७] और दूसरे स्थल पर ह्री और लक्ष्मी नाम की दो ऐश्वर्य की देवियों को सृष्टिकर्ता पुरुष की पत्नी कहा गया है।[८] इसके अतिरिक्त 'यजुर्वेद' ३१, २२ के 'पुरुषसूक्त' के मंत्रो में श्री और लक्ष्मी को पुरुष की पत्नी कहा

---

१. इ० आर० इ० जी० पृ० ८०८ ऋ० १, १३९, ३, श्रीयः, अथर्व ११, ७, १७- लक्ष्मी, ऋ० १०, ७१, २, में प्रयुक्त लक्ष्मी का सम्बन्ध विद्वानों में निवास करने वाले वाक् से बताया गया है।

२. या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुका भियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व॥ अथर्व ७, ४६, ३।

३. ऐस्पेक्ट्स आफ वैष्णविज्म पृ० १९३।

४. लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा माया यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा।
महा० १, १९६, ३४-३५।

५. अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम। श० ब्रा० २, १, २, ११।

६. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। श० ब्रा०, १३, ६, १, १।

७. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
तै० आ० १०, १, ६।

८. ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्य। तै० आ० ३, १३, २।

गया है। इस तथ्य के आधार पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि इस युग तक श्री और लक्ष्मी पुरुष की दो पत्नियों के रूप में प्रचलित थीं। कालान्तर में जब पुरुष को विष्णु, नारायण और वासुदेव से सम्बन्धित किया गया तब बहुत सम्भव है कि श्री और लक्ष्मी का सम्बन्ध भी आसानी से विष्णु से स्थापित किया गया हो। इससे लक्ष्मी एवं विष्णु के संबंध की एक पृष्ठभूमि दृष्टिगत होती है, किन्तु स्पष्ट संबंध का भान नहीं होता। परन्तु 'विष्णुपुराण' के अनुसार विष्णु और लक्ष्मी का सर्वप्रथम संयोग समुद्र-मंथन के पौराणिक आख्यान में हुआ है।[1] यद्यपि 'महाभारत' के समुद्रमंथन में विभिन्न रत्नों की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि सुरा, सुरभि और चन्द्रमा के साथ उत्पन्न लक्ष्मी भी देवलोक चली गई।[2] परन्तु 'विष्णुपुराण' के अनुसार वे देवताओं के देखते-देखते विष्णु के वक्षस्थल में विराजमान होती हैं।[3] अतः यह स्पष्ट है कि समुद्र मंथन के ही परिवर्द्धित आख्यान में विष्णु और लक्ष्मी का योग परवर्तीकाल में हुआ।

क्योंकि महाकाव्यों के अंशावतार-क्रम में विशेषकर 'महाभारत' में कृष्ण और रुक्मिणी, विष्णु और लक्ष्मी के पृथक्-पृथक् अवतार बतलाए गये हैं।[4] संभवतः इनसे भी प्राचीनतर 'वाल्मीकि रामायण' में राम को तो विष्णु-अवतार बतलाया गया है।[5] किन्तु सीता यहाँ स्पष्टतः लक्ष्मी का अवतार नहीं बतलाई गई हैं। वे प्रायः देवमाया या देवकन्या के समान जनक कुल में उत्पन्न[6] या अयोनिजा कही गई हैं।[7] इससे 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार लक्ष्मी से उनके अवतार का विकास नहीं प्रतीत होता। फिर भी इस महाकाव्य के तीसरे स्थल पर इन्हें 'पद्मा श्री इव रूपिणी' के रूप में अलंकृत किया गया है।[8] अतः इस उद्धरण में श्री या पद्मा लक्ष्मी से उपमित होने के कारण आलंकारिक पद्धति में उनके अवतारवादी विकास की संभावना की जा सकती है।

जो हो 'विष्णुपुराण' में विष्णु और लक्ष्मी का युगल रूप अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इनके न्याय-नीति, बोध-बुद्धि, स्रष्टा-सृष्टि, पर्वत-भूमि, संतोष-तुष्टि, काम-इच्छा, यज्ञ-दक्षिणा, पुरोडाश-आहुति, शंकर-गौरी,

---

१. वि० पु० १, ९।

२. महा० १, १८, ३७।

३. वि० पु० १, १८, १०५।

४. महा० १, ६७, १५१ और १, ६७, १५६ महा० १, ६५, ३८ के अनुसार परवर्ती एवं पौराणिक प्रतीत होता है।

५. वा० रा० १, १५, ३०।

६. वा० रा० १, १, २७ और १, ७१, २१।

७. वा० रा० १, ६६, १४, १७।

८. वा० रा० २, ६०, १३।

सूर्य-प्रभा, समुद्र-तरंग, दीपक-ज्योति,[1] प्रभृति अनेक अभिन्न युगल रूपों के वर्णन के पश्चात् कहा गया है कि देव, तिर्यक और मनुष्य आदि में पुरुषवाची भगवान हरि और स्त्रीवाची लक्ष्मी हैं। इनसे परे अन्य कोई नहीं है।[2]

इनके युगल अवतार की चर्चा करते हुए कहा गया है कि देवाधिदेव विष्णु जब-जब अवतार धारण करते हैं तब-तब लक्ष्मी उनके साथ रहती हैं।[3] जब ये आदित्यरूप हुये तो वे पद्मा के रूप में अवतरित हुईं। परशुराम होने पर भूमि, राम होने पर सीता और श्रीकृष्ण होने पर रुक्मिणी के रूप में उत्पन्न हुईं। इस प्रकार अन्य अवतार होने पर भी ये विष्णु से कभी पृथक नहीं होतीं। जब ये देव-रूप में अवतरित होते हैं, तो ये देवी होती हैं और जब वे मनुष्य होते हैं, तब मानवी होती हैं। इस प्रकार विष्णु के अनुरूप ही ये अपना शरीर बना लेती हैं।[4]

इससे विदित होता है कि विष्णु और लक्ष्मी से सम्बद्ध युगल अवतार की भावना 'विष्णुपुराण' में अत्यन्त व्यापक रूप में प्रचलित थी, क्योंकि यहीं उनके पुरुष-प्रकृति के सदृश नित्य और नैमित्तिक दोनों रूपों को भी प्रस्तुत किया गया है।

'विष्णुपुराण' के इन कथनों में युगल रूप के विकास में सहायक दो पद्धतियों का दर्शन होता है। प्रथम पद्धति में न्याय-नीति, बोद्ध-बुद्धि इत्यादि जिन युगल सम्बन्धों का नाम लिया गया है, उसी क्रम में स्रष्टा और सृष्टि को भी रक्खा गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्रष्टा और सृष्टि के भाव को लेकर युगल रूप की भावना का विकास हुआ। स्रष्टा और सृष्टि तथा पुरुष और प्रकृति का युगल सम्बन्ध पौराणिक युगल रूपों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत और वैज्ञानिक जान पड़ता है। अतः मध्यकालीन युगल अवतार या युगल भावना के मूल तत्त्व के रूप में इसका यथार्थ महत्त्व आँका जा सकता है।

इसके अतिरिक्त 'विष्णुपुराण' के द्वितीय कथन में देवाधिदेव और लक्ष्मी के जिन विविध युगल अवतार-रूपों की परम्परा दी गई है, निश्चय ही वह युगल अवतार की परवर्ती प्रवृत्ति है। वहाँ विष्णु और लक्ष्मी पुरुष और प्रकृति के समान केवल सांख्यवादी प्रवृत्ति के ही द्योतक नहीं अपितु पुराणों में प्रचलित वे उपास्य हैं जिनका युग विशेष में युगल अवतार हुआ करता है।

---

१. वि० पु० १, ८, १७-३३।

२. देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान्हरिः।
स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नैवान्यो विद्यते परम्। वि० पु० १, ८, ३५।

३. वि० पु० १, ९, १४१।   ४. वि० पु० १, ९, १४३-१४५।

मध्यकालीन साहित्य में विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण के युगल रूपों का अधिक विस्तार हुआ। इनमें भी 'विष्णु' एवं 'भागवत' की परम्परा से विकसित एक ओर तो ऐश्वर्य प्रधान श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का युगल रूप गृहीत हुआ और दूसरी ओर ब्रज-लीला या वृंदावन-लीला से सम्बद्ध राधा-कृष्ण के रूप का यथेष्ट विकास हुआ।

विशेषकर 'भागवत' की परम्परा में मान्य कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में भागवत में राधा का स्पष्ट उल्लेख न होते हुये भी राधा-कृष्ण के युगल रूप का अत्यधिक प्रचार हुआ है। परन्तु आज भी कहना कठिन है कि 'भागवत' से राधा का कोई संबंध रहा है या नहीं, क्योंकि विकास की दृष्टि से राधा के पौराणिक एवं पांचरात्र दो रूप दृष्टिगत होते हैं। 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' में कृष्ण की रासलीला में भाग लेने वाली अनेक गोपियों में राधा का नाम न आने पर भी एक गोपी विशेष का प्रसंग अवश्य मिलता है।[1] 'राधिकोपनिषद्' में राधा नाम की व्याख्या करते हुए राधा को श्रीकृष्ण की आराधिका कहा गया है।[2] इस आधार पर 'भागवत' में प्रयुक्त उस गोपी विशेष के प्रति 'आराधितो' से राधिका का विकास सम्भव है।[3] जो परवर्ती पुराणों में वृषभानु-नन्दिनी के रूप में प्रचलित हुई।

एक विचित्र बात यह है कि 'पंचतंत्र' में जिस राधा का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध विष्णु से है। कौलिक चतुर्भुज विष्णु के रूप में राजकन्या से कहता है कि तुम पूर्वकाल में गोपकुल में उत्पन्न मेरी पत्नी राधा हो जो यहाँ अवतीर्ण हुई हो।[4] फिर भी अवतारवादी परम्परा में पुराणों में ज स्थान रुक्मिणी को मिला वह राधा को नहीं।[5] यद्यपि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में राधा और कृष्ण का सर्वोत्कर्षवादी उपास्य रूप मिलता है किन्तु उसका किसी पौराणिक परम्परा से संबंध नहीं जान पड़ता है। संभव है गोपी विशेष के रूप में राधा का नाम प्रचलित हुआ हो। परन्तु इस पुराण में राधा का साम्प्रदायिक रूप स्पष्ट लक्षित होता है। श्रीकृष्ण से एक ओर

---

१. वि० पु० ५, १३, ३३–४६ और भा० १०, ३०, २७–४२।

२. उपनिषदांक कल्याण पृ० ६६२।

३. भा०, १०, ३०, ३८ अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्द प्रीतो यामनाद्रहः॥

४. पञ्चतन्त्र पृ० ८० प्रथम तन्त्र कथा ५ कौलिक आह सुभगे! सत्यम् अभिहितं भवत्या परं किन्तु राधा नाम मे भार्या गोपकुल प्रसूता प्रथमं आसीत् सा त्वं अत्र अवतीर्णा।

५. वि० पु० १, ९, १४०–१४५।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि अंशावतार होते हैं तथा दूसरी ओर राधा से महालक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती प्रभृति अवतीर्ण होती हैं।[1]

उक्त रूपों के अतिरिक्त राधा और कृष्ण के अन्य रूप की चर्चा श्री भंडारकर ने की है। इनके कथनानुसार 'नारदपांचरात्र' में संगृहीत 'ज्ञानामृतसार' २, ३, २४ में कहा गया है कि कृष्ण और राधा अभिन्न हैं। कृष्ण ही लीला के लिये राधा और कृष्ण दो रूपों में अवतीर्ण होते हैं।[2] इन दोनों की इस उत्पत्ति का उल्लेख राधा के नाम से सम्बद्ध 'राधोपनिषद्' और 'राधिका तापनीयोपनिषद्' में भी हुआ है।[3] इससे विदित होता है कि राधाकृष्ण के युगल रूपात्मक विकास में सम्प्रदायों में प्रचलित रास लीला का विशेष प्रभाव रहा है, जो रुक्मिणीकृष्ण की अपेक्षा अधिक उदात्त, रसात्मक और माधुर्यपूर्ण है। राधा-कृष्ण के अत्यधिक श्रृंगारी रूपों का जो वर्णन 'गीतगोविन्द' और 'विद्यापति' में मिलता है, उनमें अन्य गोपियों का पक्ष गौण हो जाने से केवल राधा-कृष्ण ही विशेष लक्षित होते हैं। अतः इस युगल रूप पर बौद्ध सहजयानी प्रवृत्तियों या विशेष कर युगनद्ध का प्रभाव माना जाता है। जो दक्षिण के गीतगोविंद 'कृष्णकर्णामृत' को इनकी तुलना में देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। 'गीतगोविंद' एवं 'कृष्णकर्णामृत' दोनों कृष्णलीला का वर्णन करते हैं। किन्तु एकमात्र राधाकृष्ण की युगल केलि या युगल रति की जो अतिव्याप्ति 'गीतगोविंद' में मिलती है वह 'कृष्णकर्णामृत' में नहीं। उधर 'कृष्णकर्णामृत' में राधा के साथ अन्य गोपियों को समाविष्ट तो किया ही गया है, साथ ही शिशु लीला तथा अन्य अवतार लीलाओं की भी चर्चा हुई है। यहाँ कृष्ण केवल राधा के ही अंक में सोने वाले नहीं अपितु शेषशायी भी हैं। ये 'धेनुपालक लोकपालक'[4] गोप वेष में विष्णु हैं।[5] साथ ही इनकी लीलाओं की चर्चा में राम, नृसिंह प्रभृति अवतारों की भी चर्चा हुई है[6] जो 'गीतगोविन्द' की युगल केलि में अत्यन्त विरल हैं। इसके अतिरिक्त डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'भागवत' की शारदीय रासलीला तथा 'गीतगोविन्द' के मधुऋतु की रास लीला का मौलिक अंतर बतलाया है जो अत्यन्त समीचीन है।[7] इससे 'भागवत' की

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्ण खण्ड ४, ६७, ४८–६० ।

२. कौ० व० वै० शै० पृ० ५८ चौथी शती के लगभग की रचना ।

३. उपनिषदांक में अनूदित पृ० २६१ श्लो० १२ और पृ० ६६२ ।

४. तजेसेऽस्तु नमो धेनु पालिने लोकपालिने ।
राधापयोधरोत्संग शायिने शेषशायिने ॥ कृष्णकर्णामृत १, ७५ ।

५. 'प्रायश्चितं गुणगणनया गोपवेषस्य विष्णोः' । कृष्णकर्णामृत २, ४ ।

६. कृष्णकर्णामृत २, २७, २८, २९ और २, ६९, ७० ।

७. मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० १३५ ।

परम्परा में विकसित गोपीजनवल्लभ या गोपी-कृष्ण और 'गीतगोविन्द' की परम्परा में विकसित राधा-कृष्ण का भिन्न रूप स्पष्ट हो जाता है।

मध्यकालीन कवियों में सूरदास ने युगल अवतार का वर्णन किया है। सूरदास कहते हैं कि राधा और हरि दोहों एक ही हैं। वे एक ही शरीर के आधे-आधे दो रूपों में होकर अवतरित हुए हैं। उनके अंगों में रस भरे उमंग और उनकी अपूर्व छवि देखकर स्वयं कामदेव भी डर जाते हैं।[1] व्रज में राधा-कान्ह और कान्ह-राधा दोनों एक होकर विराजमान हैं।[2] उनके इस अवतार का प्रमुख प्रयोजन रमण-सुख है। इसी रमण-सुख के लिये वे वृन्दावन में बार-बार अवतरित होते हैं।[3] राधा-कृष्ण के उपर्युक्त युगल रूप की परम्परा को सूरदास ने प्रकृति-पुरुष, श्रीपति और सीतापति के क्रम में माना है।[4]

इस प्रकार मध्यकालीन कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में अवतारवाद के अन्य रूपों की अपेक्षा युगल रूप का ही उत्तरोत्तर अधिक विकास होता गया। सूरदास प्रभृति अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त निम्बार्क, राधावल्लभी, चैतन्य और हरिदासी सम्प्रदायों में भी श्रीकृष्ण और श्रीराधा के युगल रूप और युगल अवतार की विविध अभिव्यक्त रूपों की चर्चा हुई है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्तों में मूर्धन्य श्रीभट्ट ने अपनी रचना 'युगल शतक' में राधा-कृष्ण के युगल किशोर-रूप का वर्णन किया है। अपने उपास्य युगल-किशोर की जिन लीलाओं का वर्णन इन्होंने किया है, उसके आधार पर इनके किशोर राधा-कृष्ण अर्चा-विग्रह के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित विदित होते हैं।[5] ये युगल-किशोर वृन्दाविपिन में नित्य विलास करते हुए निवास

---

१. राधा हरि आधा आधा तनु, एकै है द्वै व्रज में अवतरि।
सूर स्याम रस भरी उमंगि अंग, वह छवि देखि रह्यो रति पति॥
सूरसागर ८४३ पद २३११।

२. राधा कान्ह कान्ह राधा व्रज है रह्यो अतिहि लाजति।
सूरसागर ८४८ पद २३२७।

३. जा कारन बैकुण्ठ विसारत निज स्थल मन मैं नहिं भावत।
राधा कान्ह देह धरि पुनि जा सुख कौ वृन्दावन आवत॥
सूरसागर ९९४ पद २८०३।

४. प्रकृति पुरुष, श्रीपति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई।
सूरसागर पृ० १५१२ पद ४३५३।

५. युगल श० पृ० ३ पद ७।
जनम जनम जिनके सदा, हम चाकर निशि भोर।
त्रिभुवन पोषण सुधाकर, ठाकुर युगल किशोर॥

करते हैं ।[१] राधा उनके मनोरञ्जन के निमित्त विविध रूपों में प्रकट हुआ करती हैं ।[२] श्रीभट्ट ने श्यामा और श्याम के द्वैत और अद्वैत या अभिन्न रूप प्रस्तुत करते समय दोनों के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का भी काव्यात्मक संकेत किया है । कृष्ण और राधा के श्याम और गौर रङ्ग एक दूसरे के शरीर पर प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । इस प्रकार श्यामा-श्याम और श्याम-श्यामा दोनों अभिन्न दीख पड़ते हैं ।[३] इसी सम्प्रदाय के आचार्य श्री हरिव्यासदेवाचार्य ने राधा-कृष्ण दोनों के युगल प्राकट्य का विशद वर्णन किया है । इनके मतानुसार इस सम्प्रदाय में राधा, कृष्ण स्वरूप हैं और कृष्ण, राधा स्वरूप ।[४] दोनों के एक ही तन-मन हैं; एक साँचे में दोनों ढले हैं; दोनों की जोड़ी अद्भुत है और दोनों सहज आनन्द पा रहे हैं ।[५] 'सिद्धान्त सुख' में इन्होंने राधा-कृष्ण के नित्य और अवतरित रूप की चर्चा की है। 'राधा-कृष्ण' के नित्य और नैमित्तिक रूप के निरूपण की यह विशेषता रही है कि इन कवियों ने प्रायः इस युगल रूप को उपनिषद् ब्रह्म से रूपकात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है । इसी प्रकार के एक रूपक की कल्पना करते हुए श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी कहते हैं कि वेद और तन्त्रों के मन्त्र ही श्री वृन्दावन के नित्यविहार हैं । इस सूक्ष्म कलरव से युक्त परमधाम में नित्य अखण्ड गौर-श्यामल युगल-किशोर की जोड़ी विराजती है । ये दोनों आदि, अनादि, एकरस तथा अद्भुत मुक्ति और पर सुखदाता हैं । ये अनन्त, अनीह, अनावृत, अव्यय, अखिल अण्ड, आधीश और अपार हैं । चरणकमलों में पहने हुए आभूषणों के द्वारा रव करते हुए घर-घर में अवतार लेते हैं ।[६] यह सदा, सनातन, इकरस जोड़ी

---

१. वही पृ० ४ पद १० ।

जहाँ जुगल मंगलमयी, करत निरन्तर बास ।
सेऊँ सो सुख रूप श्री, वृन्दाविपिन विलास ॥

२. वही पृ० ८ पद २३ ।

बहुत रूप धरि हरि प्रिया, मन रञ्जन रस हेत ।
मन्मथ मन मोहन मिथुन, मण्डल मधि छवि देत ॥

३. वही पृ० २२, पद ५४ ।

जोरी गौरी श्याम की, थोरी रचन बनाय ।
प्रतिबिम्बित तन परस्पर, श्रीभट उलट लखाय ॥

४. महावाणी पृ० २९, सखी नाम रत्नावली श्लोक २ ।

५. महावाणी पृ० १५०, सहज सुख, १ ।

६. महावाणी पृ० १७१ सिद्धान्त सुख पद २ ।

'अंघ्रि अब्ज आभूषन-रव करि केतन केल लेत अवतार ।'

सत्-चित् आनन्दमयी स्वरूपा है।[1] वृन्दावन के स्वामी ये युगल-किशोर अनन्त शक्ति और पूर्ण पुरुषोत्तम हैं।[2] वही बार-बार प्रकट होकर दर्शन देते हैं और नित्यप्रति सभी लोगों को सभी प्रकार के सुख प्रदान करते हैं।[3] उनका यह प्राकट्य नित्य और नैमित्तिक दो प्रकार का है। श्रीहरिव्यास-देव जी की एक पद-पंक्ति से इसका संकेत मिलता है।[4] सामान्यतः पाञ्चरात्रों में ईश्वर के नित्य परतत्त्व की कल्पना का विकास हुआ और अन्य व्यक्त रूपों को नैमित्तिक माना गया। प्रायः यही ईश्वर या उपास्य इष्टदेव के दो रूप वैष्णव सम्प्रदायों में विविध संज्ञाओं के रूप में प्रचलित रहे हैं। इन्हें अंशी-अंश, अवतारी-अवतार, नित्य-नैमित्तिक आदि शब्दों से भी अभिहित किया जाता है। यहाँ नित्य रूप से उस शाश्वत और सनातन ईश्वर का अर्थ लिया जाता है, जिसके अस्तित्व में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु भक्त समुदाय उसी के एक नैमितिक रूप को भी मानता है, जो अंश या पूर्ण अवतार-रूप में उपस्थित होकर भक्तजन का कल्याण या उनके साथ नाना प्रकार की लीलाएँ किया करता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में जिन युगल-किशोर को आराध्य माना गया है, उनके भी नित्य और अवतरित दो रूप विदित होते हैं। नित्य रूप तो उनका शाश्वत रूप है, जो किसी नित्य वृन्दावन में सदैव क्रीड़ारत रहता है। उसी अगम, अगोचर अधिपति के पद-नख-अणु से आभा या ज्योति-अवतार की कल्पना भक्त कवियों ने की है। वे अपनी इच्छा के अनुरूप विविध प्रकार के विग्रह धारण करते हैं।[5] इनमें अपने इष्टदेव को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ भी सिद्ध करने की भावना परिलक्षित होती है, क्योंकि परमात्मा, प्रकृति-पुरुष, ईश, जगदीश आदि सभी ईश पर्यायों का उनका

---

१. महावाणी पृ० १७३ पद ४।
सदा सनातन इकरस जोरी सतचित् आनन्दमयी स्वरूप।

२. महावाणी पृ० १७४ पद ४।
अनन्त शक्ति पूरन पुरुषोत्तम जुगल किशोर विपिनपति भूप।

३. वही पृ० १७६ पद ८।
सोइ सोइ प्रगट दिखावत अनुदिन सब भाँतिन सो सब सुख देत।

४. महावाणी पृ० १७६ पद ९।
ओज औदार्य्य ऊर्ध्वंग उशत्तम ऊर्ध्व नित्य नैमित्य प्रति कृपा कूपार।

५. महावाणी पृ० १७७, पद १४।
आगम अगम अगोचर अधिपति पद-नख-अणु-आभा अवतार।
विवि सरूप इच्छा-विग्रह करि अमित कोटि वैकुंठ-विलास॥

अंश और सम्भवतः अपने युगल-किशोर के आधीन माना है।[1] इस अनन्त विश्व में जो कुछ भी व्यक्त है वह सब एक से ही अनेक हुआ है। इस प्रकार इन्होंने एक प्रकार से 'एकोऽहं बहुस्याम्' का ही प्रतिपादन किया है। वही निर्विकार निरसंश होकर भी परमात्मा के रूप में अवतरित होता है।[2]

हरिव्यासदेव जी की इस अवतारवादी कल्पना में अवतारवाद का एक व्यापक रूप दृष्टिगत होता है, क्योंकि ज्योति-अवतार और परमात्म-अवतार दोनों में उस सर्वात्मवाद की झलक मिलती है, जिसमें समस्त सृष्टि और उसके उपादान सभी उसके अवतरित रूप हैं। उनमें उसकी अनादि लीला चल रही है। उस लीला का दर्शन केवल अधिकारीगण ही कर सकते हैं। एक दूसरे पद में इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि उस निर्विशेष उपास्य ब्रह्म के चिदंश के एक ही अंश से परमात्मा का अवतार हुआ। इन्होंने उसकी इच्छा के अधीन होकर अखिल विश्व का विस्तार किया।[3] उसने एक से दो और तीन पुनः चार, पाँच और बहुत रूप धारण कर, स्वयं ही अपार और अपूर्व लीलाएँ की हैं।[4] परन्तु अपने वास्तविक रूप में वह सदैव एक ही स्वरूप है जिसके नाम दो हैं।[5] इस प्रकार अपने उपास्य के ये एक स्वरूप और दो नाम स्वीकार करते हैं। वह नित्य-वैभव विहार, युगल-किशोर स्वयं सत्य है। अखिल ब्रह्माण्ड उसके चरण-नख की आभा है। वह जगजिष्णु धर्मी है और परमात्मा, विश्वकाय, नारायण, विष्णु आदि धर्म हैं। वह स्वयं बाल, कौमार, पौगंड रूप धारण कर अपने जन के निमित्त विहार करता है। उसकी लीला अनन्त और अगाध है।[6] इस प्रकार अपने युगल

---

१. महावाणी पृ० १८४, पद १६।
जाकौ अंश परमात्मा प्रकृति पुरुष की ईश।
पर ईच्छा आधीन है जगमगात जगदीश॥

२. महावाणी पृ० १८४, पद १६।
ऐसे विश्व अनन्त में एकहिं ए बहु अंश। परमातम अवतार है निर्विकार निरसंश॥

३. महावाणी पृ० १८५ पद १७।
जकि एकहिं अंश करि परमातम अवतार।
परइच्छा आधीन है कीनो सब विस्तार॥

४. वही पृ० १८५, पद १७।
एक दोय अरु तीन पुनि चार पाँच बहुत रूप।
धरि धरि लीला धारहीं आप अपार अनूप॥

५. वही पृ० १८६, पद २६। 'एक स्वरूप सदा द्वै नाम'।

६. महावाणी पृ० १८८, पद ३३।
परमातम विश्वकाय नारायन विष्णु। धर्म है तिहारे तुम धर्मी जगजिष्णु॥

किशोर उपास्य को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि वे केवल धर्मों के धर्मी ही नहीं अपितु अंशों के अंशी, अवतारों के अवतारी और कारणों के कारण मंगलमय स्वरूप हैं।[१]

इससे स्पष्ट है कि हरिव्यासदेव ने अपने उपास्य युगल-किशोर में उनके नित्य और नैमित्तिक प्राकट्य को तो स्वीकार किया ही है, साथ ही धर्मी, अंशी, अवतारी और कारण होने के नाते धर्म, अंश, अवतार आदि रूपों में उनके व्यापक एवं विशद प्राकट्य की चर्चा की है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश ने 'हित चौरासी' के पदों में राधा-भाव के नित्य युगल और क्रीड़ारत रूप का अधिक चित्रण किया है। राधा और माधव दोनों प्रेमाभिभूत होकर कुञ्ज-द्वार पर खड़े, आमोद-प्रमोद में डूबे हुए रतिरस लूटने की घात में खड़े हैं।[२] हित सेवक जी ने श्यामा-श्याम के नित्य स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि दोनों एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं होते। वे एक प्राण दो देह होकर स्थित हैं।[३] श्री हरिराम व्यास जी ने भी राधा-माधव को 'एक प्राण द्वै देही' कहा है। वे परस्पर सहज स्नेह रखने वाले हैं।[४] इस प्रकार अपने नित्य रूप में राधा और माधव सदैव प्रेम-रस की क्रीड़ा में मत्त रहने वाले उपास्य हैं। श्री हरिराम व्यास जी ने नित्य रूप के अतिरिक्त इनके नैमित्तिक या अवतार-रूप का भी उल्लेख किया है। उनके पदों के अनुसार ये ही मोहन अपनी इच्छा से अंश, कला तथा कपिल आदि अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं।[५] इसी सम्प्रदाय के श्री रसिकदास ने नित्यविहारी राधाकृष्ण की चर्चा करते हुए इन्हें परब्रह्म, ऐश्वर्यशाली, षड्गुणयुक्त, अंशी और मूल कहा है। उनके मतानुसार संभवतः

---

१. महावाणी पृ० १८८, पद ३४।
अंशन के अंशी अवतार अवतारी, कारन के कारनीक मंगल महा री।

२. राधा० स० सि० सा० पृ० ३२१ में संकलित स्फुट वाणी पद सं० २३।

३. वही पृ० ३५६ में सेवक वाणी से संकलित।
श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ श्यामा श्याम एक संग गाऊँ।
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई, प्राण सु एक देह हैं दोई॥

४. वही पृ० ३८७ में संकलित।
राधामाधव सहज सनेही।
सहज रूप गुन सहज लाड़िले, एक प्रान द्वै देही॥

५. वही पृ० ३९३ में संकलित 'मोहन की मनसा ते प्रकटित अंश कला कपिलादि'।

ये ही कारणोदशायी और दशावतारों के रूप में अवतरित होने वाले नित्य युगल किशोर हैं।[1]

इससे स्पष्ट है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य राधा-कृष्ण या राधा-माधव एक ओर तो नित्य वृंदावन धाम में क्रीड़ा करते हैं, दूसरी ओर अंश, कला, कारणोदशायी या दशावतारों के रूप में अवतरित होने वाले अवतारी भी हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास के पदों में श्यामा-श्याम के अधिकतर नित्य-युगल रूप का ही वर्णन हुआ है। इन्होंने श्यामा-श्याम के श्याम-गौर रूप को घन-दामिनी जैसा परस्पर सम्बन्धित बताया है।[2] इससे राधा-कृष्ण के भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों का स्पष्टीकरण हो जाता है। वे प्रायः अपने पदों में उनके इस सम्बन्ध को घन-दामिनी सम्बन्ध से ही अभिव्यक्त करते हैं।[3] इनके उक्त सम्बन्ध वाले श्यामा-श्याम रस में सराबोर होकर कुञ्ज में विहार करते हैं।[4]

अतः स्वामी हरिदास के पदों में उनके युगल उपास्य का नित्य रूप तो वर्णित है, जिनमें वे घन-दामिनी के सदृश कभी एक और कभी दो हो जाते हैं, किन्तु इनके अन्य अवतरित रूपों की चर्चा का अभाव जान पड़ता है।

युगनद्ध और चैतन्य सम्प्रदाय

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण के युगल रूप का विस्तार किया है। सामान्य रूप से चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित युगल रूप पर स्थानीय बौद्ध सहजिया मत के युगनद्ध का प्रभाव कहा जाता है।

परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों में युगनद्ध का स्वरूप प्रज्ञा और उपाय, शून्यता और करुणा के अद्वय या अभेद रूप को लेकर विकसित हुआ। वज्रयानी

---

१. राधा० स० सि० सा० पृ० ५१० में संकलित।
राधा कृष्ण किशोर की नित्य बिहारी नाम।
....
परब्रह्म सम्पन्नवेष षड्गुन अंशी मूल।
....
कारनोंद सोई कहे दस अवतारिन भव।

२. केलिमाल पृ० ६ पद १।
माई री सहज जोरी प्रगट भई रंग की गौर श्याम घन दामिनी जैसे।
प्रथम हूँ हुति अबहू आगेहूँ रहिहैं न टरिहैं तैसें॥

३. केलिमाल पृ० ६ पद ४, और पृ० ३६, पद ११०।

४. केलिमाल पृ० १३ पद २६।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुञ्जविहारी रस बसकर लीन।

तंत्रों के अनुसार युगनद्ध अद्वय का एक प्रकार से पर्याय कहा जा सकता है। अद्वय का अर्थ होता है द्वैत का अद्वैत हो जाना। युगनद्ध में भी यही भावना बद्धमूल है। वज्रयान में शून्यता और करुणा तथा प्रज्ञा और उपाय सर्वप्रथम क्रमशः स्त्री और पुरुष के रूप में परिवर्तित किए गये।[1] इसका फल यह हुआ कि स्त्री और पुरुष के संयुक्त रूप में रस की भावना का आविर्भाव हुआ। फलतः युगनद्ध, शून्यता और करुणा तथा प्रज्ञा और उपाय के समन्वित रूप अद्वय का ही पर्याय मात्र न रहकर समरस या ऐक्य का भी द्योतक हो गया। 'अद्वयवज्र' में संकलित 'युगनद्ध प्रकाश' में निःस्वभाव और भावा-भाव की अवस्थाओं में युगनद्ध का आभास माना गया है।[2] 'गुह्यसिद्धि' के अनुसार भगवान और प्रज्ञा संभवतः पुरुष-स्त्री रूप में महासुख के लिए लीला रत हैं।[3] अतः महासुख भी उनके अभिन्न रूप का द्योतक होने के कारण युगनद्ध से भिन्न नहीं प्रतीत होता। 'साधनमाला' में शून्यता और करुणा के अद्वय रूप से स्वरूपित एक ऐसे स्वाभाविक काम का उल्लेख किया गया है, जो नपुंसक के नाम से विख्यात युगनद्ध भी कहा जा सकता है।[4] इस कथन में निःस्वभाव को ही विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि युगनद्ध के मूल रूपों में शून्यता और करुणा आवश्यक तत्त्व रहे हैं।

परवर्ती बौद्धधर्म में शून्यता और करुणा तथा प्रज्ञा और उपाय ही क्रमशः स्त्री-पुरुष के रूप में युगनद्ध से सम्बद्ध किए गये। शैव तन्त्रों में इसी प्रकार शक्ति और शिव के अद्वैत रूप को भी समरस किया गया। परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों में अवलोकितेश्वर और तारा के संयुक्त रूप में पुनः युगनद्ध की कल्पना का विस्तार हुआ। यहाँ सर्वप्रथम भावात्मक तत्त्वों से आगे चलकर साम्प्रदायिक उपास्यों या इष्टदेवों के एकीकरण की प्रवृत्ति दीख पड़ने लगती है। अतः राधा और कृष्ण भी इस परम्परा से पृथक् नहीं प्रतीत होते।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में कृष्ण और राधा, रस और रति के प्रतीक माने जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कृष्ण और राधा का अस्तित्व विद्यमान है। जिस स्त्री या पुरुष में रूप की भावना है तथा उसके अन्तर में स्त्री स्वरूप विद्यमान है वह राधा की प्रकृति का है। उसके मन में कृष्ण के सुन्दर रूप के प्रति सहज आसक्ति है। इस प्रकार राधा और कृष्ण तो मनुष्य और स्त्री में स्थित हैं ही, उन दोनों की शाश्वत लीला भी अन्तर में लगातार चल रही

---

१. ओब्सक्योर रे० क० पृ० ३३। २. अद्वय वज्र पृ० ४९।
३. इन० तां० बु० पृ० ११२। ४. साधनमाला पृ० ५०५।

है। ये ही राधा-कृष्ण के रूप और स्वरूप कहे गये हैं और इनकी लीला को प्राकृत और अप्राकृत लीला कहा गया है।[1]

तन्त्र दर्शन में सभी स्त्री-पुरुष शक्ति और शिव के अवतार समझे जाते हैं। वे ही बौद्ध-दर्शन में प्रज्ञा और उपाय के स्वरूप भी कहे गए हैं। इसी प्रकार सहजिया मत में राधा और कृष्ण स्वरूप सभी स्त्री-पुरुष माने जाते हैं। इस प्रवृत्ति से वैष्णव तन्त्र भी अधिक दूर नहीं जान पड़ते। 'श्री हयशीर्ष तन्त्र' में हरि परमात्मा भगवान है और श्री शक्ति है। श्री प्रकृति है और केशव पुरुष है। श्री और विष्णु कभी पृथक् नहीं हो सकते।[2] इससे प्रतीत होता है कि शैव, बौद्ध, वैष्णव और सहजिया इन सभी मतों में युगनद्ध की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है।

परन्तु चैतन्य आदि जिन रसिक सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण की युगल केलि या युगल रति का प्रचार हुआ वह वैष्णव सहजिया मत की देन मानी जा सकती है।

वैष्णव सहजिया मत में काम-स्वरूप कृष्ण सभी प्राणियों के मन को आकर्षित करते हैं। राधा भी जो इस मत में मदन स्वरूपा कही गई हैं, प्राणियों को आनन्द प्रदान किया करती हैं। सहज मत के अनुसार कृष्ण रस तथा राधा रति की प्रतीक हैं। दोनों के परस्पर समागम का अनुभव ही अपूर्व ब्रह्मानन्द का अनुभव है। परन्तु यह अनुभव पार्थिव अनुभव से परे की वस्तु है। पार्थिव अनुभव जहाँ सीमित है, वहाँ यह असीम तथा इन्द्रियेतर है। फिर भी राधा-कृष्ण केलि की चरम अनुभूति के पूर्व सहजिया मत के अनुसार प्रारम्भिक अनुभूति के लिए आरम्भ में ही स्त्री-पुरुष में प्रेम-सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यही प्रेम उत्तरोत्तर जब बढ़ने लगता है, तो स्त्री और पुरुष दोनों राधा-कृष्णवत् प्रेम का विकास कर लेते हैं। अन्त में स्वयं उस प्रेम में तदाकार हो जाते हैं।[3] अतः सहजिया मत में प्रेम का यही राधा-कृष्णवत् अनुभव सहज अनुभव माना जाता है।

यों तो उपर्युक्त धारणा ने सभी मध्यकालीन रसिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया है, किन्तु चैतन्य सम्प्रदाय में अन्य प्रभावों के अतिरिक्त राधा-कृष्ण के अवतारवादी रूप पर भी इसकी छाया परिलक्षित होती है।

'चैतन्य चरितामृत' के अनुसार राधा और कृष्ण एक आत्मा हैं। वे दो

---

१. ओब्स्क्योर रे० क० पृ० १४८-१४९। २. ओब्स्क्योर रे० क० पृ० पृ० १४९।
३. ओब्स्क्योर रे० क० पृ० १५५।

देह में प्रकट होकर रस आस्वादन करते हुए विलास करते हैं।[1] पुनः दूसरे स्थल पर राधा को कृष्ण की स्वरूप शक्ति ह्लादिनी और प्रणय-विकार कहा गया है।[2] फिर भी 'चैतन्यचरितामृत' में प्रायः राधा और कृष्ण की एकता ही प्रतिपादित की गई है, क्योंकि राधा यदि पूर्ण शक्ति है तो कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। शास्त्र के आधार पर भी ये दोनों में कोई भेद नहीं मानते हैं। अग्नि-ज्वाला के सदृश राधा-कृष्ण सदा एक ही स्वरूप हैं। केवल लीला रस के आस्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं।[3]

इसी सम्प्रदाय के ब्रजभाषा-कवि सूरदास मदनमोहन ने राधा के प्राकट्य की चर्चा करते समय कृष्ण के अवतार-प्रयोजन की ओर इङ्गित किया है। उनके मतानुसार कृष्ण का प्राकट्य राधा के प्रेम के चलते हुआ।[4] 'विष्णु पुराण' में प्रतिपादित युगल सम्बन्धों के सदृश ये राधा-कृष्ण के भेदाभेद रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राधा-वल्लभ और वल्लभ-राधा परस्पर एक दूसरे में निवास करते हैं। उनका यह सम्बन्ध धूप-छाँह, घन-दामिनी, कसौटी-लीक, दृष्टि-नैन, स्वांस-बैन और ऐन-मैन के सदृश है। प्रिय और प्रियतम एक दूसरे को देखकर मुस्कुरा रहे हैं।[5]

इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय में प्रतिपादित राधा-कृष्ण के युगल रूप को भेदाभेद मानकर प्रतिपादित किया गया है। किन्तु जहाँ तक दोनों के अवतारी या अंशी रूप का सम्बन्ध है, दोनों पृथक्-पृथक् गोप-गोपियों या अन्य रूपों में अवतरित होते हैं।

फिर भी युगल प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन उस रस-रूप में दृष्टिगत होता है, जिसके अधीन होकर राधा और कृष्ण पुनः-पुनः अवतार लिया करते हैं।

---

१. चै० च० पृ० ३५।
आदि लीला 'राधा कृष्ण आदि लीला दूई देह धरि।
अन्यान्य विलासे रस आश्वादन करि'॥

२. चै० च० पृ० ३५ आदि लीला।
राधिका ह्येन कृष्ण प्रणय विकार। स्वरूप शक्ति ह्लादिनी नाम जाहांर।

३. चै० च० आदि लीला पृ० ३७।
राधा कृष्ण एछे सदा एकइ स्वरूप। लीला रस आश्वादिते धरे दूई रूप॥

४. मदनमोहन प० जी० पृ० ३३, पद, २१।
प्रकट भई सोभा त्रिभुवन की भानु गोप कै जाय।
....
जाहित प्रगट भए ब्रजभूषन, धन्य पिता धनि गाय॥

५. मदनमोहन प० जी० पृ० ५३, पद ६०।
घाम-छाँह इत घन-दामिनी, उत कसौटी-लीक ज्यों लसत।
दृष्टि-नैन ज्यों, स्वाँस बैन त्यों, ऐन मैन ज्यों गसत॥

रसरूप

मध्यकालीन उपास्यों का रसात्मक रूप लीला का ही एक विकसित रूप है, क्योंकि कृष्ण और राम के ब्रह्म से स्वरूपित होने के अनन्तर पहले तो लीलात्मक रूपों की कल्पना की गई किन्तु बाद में वैष्णव सम्प्रदायों से ही रसिक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, जिनमें कृष्ण और राधा तथा राम और जानकी के रसात्मक रूप गृहीत हुए।

इन रसात्मक रूपों के विकास में 'रसो वै सः' की मूल प्रेरणा अवश्य विद्यमान रही है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'ब्रह्मानन्द वल्ली' में ब्रह्म के प्रथम आविर्भाव की चर्चा करते हुये कहा गया है कि इससे पहले केवल असत् था। उससे सत् उत्पन्न हुआ। उसने स्वयं अपने को अभिव्यक्त किया इसीलिए उसे सुकृत कहा जाता है। यह जो सुकृत है वही रस है। यह रस उपलब्ध करके ही आनन्दित होता है। यदि यह आकाश की भाँति व्यापक आनन्द-स्वरूप नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता। निःसन्देह यही सबको आनन्द प्रदान करता है।[1] यहाँ असत् से उत्पन्न सत् सुकृत को ही रस-स्वरूप या रसाभिलाषी माना गया है।[2]

इसके पूर्व 'अथर्व संहिता' (१०, ८, ४४ 'रसेन तृप्तः कुतश्चनोनः') में ब्रह्म के रसात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वह स्वयं रस से तृप्त है। उपनिषदों में उस रसाभिभूत ब्रह्म की रसाभिव्यक्ति की किंचित विस्तार से चर्चा की गई है। उपनिषदों के अनुसार वह ब्रह्म अकेला था। एक होने के कारण वह रमण नहीं कर सकता था। जब उसके मन में रमण की इच्छा हुई तो उसने एक से बहुत होने की कामना की। 'एकाकी नैव रमते। सोऽकामयत एकोऽहं बहुस्याम्'। इस कामना में आनन्द की मात्रा अवश्य ही विद्यमान है; क्योंकि तै० उ० २, ७ के मंत्र में ब्रह्म के जिस रसात्मक रूप की चर्चा हुई है उसके 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' से

---

१. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः तै० उ० २, ७।

२. संत मत में सुकृत को प्रथम सतयुगी अवतार माना गया है और दूसरी ओर राधावल्लभी हरिव्यास ने सेना, धन्ना, पीपा, कबीर, रैदास आदि का नाम रसिकों में लिया है। भक्त कवि व्यास जी पृ० १९६ 'इतनो है सब कुटुम हमारो'। 'सैन, धना, अरू नामा, पीपा और कबीर रैदास चमारो' इस प्रकार रसावतार सत् सुकृत एवं रसिक सन्तों का विचित्र सम्बन्ध मध्यकालीन काव्यों में दृष्टिगत होता है।

स्पष्ट है कि जीवात्मा इस रस को प्राप्त कर आनन्दयुक्त होता है। इससे रस का अन्तिम परिणाम आनन्द ही विदित होता है, क्योंकि इसी मंत्र के दूसरे पद में रस को आनन्दित करने वाला भी बताया गया है। 'एष ह्येवानन्दयति'। अतः ब्रह्म के रसात्मक रूप सत् और चित् की अपेक्षा आनन्द-स्वरूप है। उपनिषदों में उसके आनन्द-स्वरूप की जितनी भी चर्चा की गई है, उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के विकास में आनन्द ही मूलभूत कारण है, क्योंकि 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'भृगु वल्ली' २, ६ में कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सचमुच समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' ४।३।३२ में तो उससे आगे बढ़कर कहा गया है कि इस आनन्द के अंश मात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं। ब्रह्मसूत्र के १, १, १२ तथा ३, ३, ११ 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' और 'आनन्दादयः प्रधानस्य' आदि सूत्रों के अनुसार बाद में 'आनन्द' शब्द भी ब्रह्म का वाचक या पर्याय माना गया तथा आनन्द को ब्रह्म का धर्म भी बताया गया।

इससे विदित होता है कि ब्रह्म के आनन्द-रूप का उद्भव और विकास वैदिक काल से ही उसके रसात्मक रूप के साथ होता रहा है। किन्तु ब्रह्मानन्द और रसानन्द के साथ विषयानन्द का सम्बन्ध जिस पार्थिव स्त्री-पुरुष के साथ माना जाता है, वह वैष्णव सहजिया बाउल सम्प्रदायों से होता हुआ मध्यकालीन रसिक सम्प्रदायों में पूर्ण रूप से प्रचलित हुआ। इन सम्प्रदायों में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्त्री-पुरुषवत् माना गया जिसका चरम लक्ष्य ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है। इसकी भी एक मूल रूपरेखा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के कुछ मंत्रों में दृष्टिगत होती है। इसी क्रम में एक बात और विचारणीय है कि प्रायः बाउल या रसिक भक्त स्वप्न में ही अधिक उसके रसात्मक सम्पर्क का अनुभव करते हैं। यह अनुभव सेन्द्रिय से अतीन्द्रिय की ओर उन्मुख होता हुआ प्रतीत होता है। बृ० उ० ४, ३, ११ के अनुसार स्वप्न में आत्मा इन्द्रिय मात्रा रूप को लेकर पुनः जागरित स्थान में आता है। वह हिरण्मय पुरुष जहाँ वासना होती है, वहाँ चला जाता है। वह देव स्वप्नावस्था में ऊँच-नीच भावों को प्राप्त हुआ बहुत से रूप बना लेता है। इसी प्रकार वह स्त्रियों के साथ आनन्द मनाता हुआ, हँसता हुआ तथा भय देखता हुआ सा रहता है।[1] इसी प्रकार सुषुप्ति में भी वह आत्मा रमण और विहार कर जैसे आया था, वैसे स्वप्नावस्था में लौट जाता है।[2]

---

१. बृ० उ० ४, ३, १२-१३। २. बृ० उ० ४।३।१५।

उपर्युक्त कथनों में वासना, रमण, विहार इत्यादि आत्मा के कवि रसिक सम्प्रदाय में प्रचलित तत्वों का यथेष्ट परिचय देते हैं। मध्यकालीन काव्यों में इनका अत्यधिक विकास हुआ।

इसी क्रम में जीवात्मा और परमात्मा के स्त्री-पुरुषवत् सम्बन्ध का भी मूल रूप बृ० उ० ४, ३, २१ में दृष्टिगत होता है। उस स्थल पर कहा गया है—कि यों तो वह कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। परन्तु व्यवहार में जिस प्रकार प्रियाभार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगन होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का, यह इसका आप्त काम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।

इस कथन में जीवात्मा और पुरुष का स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्पष्ट है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि परस्पर आलिंगित होने पर वह आप्तकाम या आत्मकाम हो जाता है। रसिक सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण को उपास्य मानकर उनमें इसी भाव की स्थापना की गई।

मध्यकाल के सम्भवतः पूर्व ही राम और कृष्ण के ब्रह्म रूपों का अस्तित्व उनके नामों से प्रचलित 'तापनीय' उपनिषदों में मिलता है। जो उपास्य रूप में प्रेमा या रागानुगा भक्ति से उत्तरोत्तर घनिष्टतम सम्बन्ध रखता हुआ प्रतीत होता है। शङ्कराचार्य ने गीता २, ५९, की व्याख्या करते हुए 'रस' शब्द को राग का वाचक माना है।[1] प्रायः अवतारवाद और भक्ति की प्रेरणा और प्रसार में राग या प्रेम का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, क्योंकि भक्ति के प्रतिपादकों में शाण्डिल्य एवं नारद आदि सूत्रकारों ने भक्ति को 'परम अनुराग' या 'परम प्रेम रूपा' कहा है।[2] भक्ति के इन रागात्मक तत्त्वों के प्रभावानुरूप आलोच्य-कालीन राम-कृष्ण आदि उपास्यों की लीलाएँ लीला रस के रूप में परिणत हो गईं।

विशेषकर इन लीलात्मक रूपों की जिन लीलाओं में शृङ्गार की प्रधानता हुई, उनमें रसात्मक तत्वों का विकास हुआ। फिर भी लीला-रूप और रस-रूप में विशेष अन्तर यह विदित होता है कि लीला में सामान्यतः जहाँ अनेक रसयुक्त घटनाओं का विस्तार है, वहाँ रसावतार का सर्वाधिक सम्बन्ध रासलीला, निकुञ्ज लीला या युगल केलि से है। जिसमें नायक श्रीकृष्ण और

---

१. गीता, शाँ० भा० २, ५९। 'रस शब्दो रागो प्रसिद्धः'।

२. शांडिल्य भक्ति सूत्र १, १, २ सा परानुरक्तिरीश्वरे और नारद भक्ति सूत्र २, सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा।

नायिका राधिका हैं। यों तो विकास की दृष्टि से राधा का संयोग पौराणिक परम्परा से गृहीत होने की अपेक्षा भावात्मक तत्वों से अधिक संयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि विष्णु या उनके अवतारों में विद्यमान जिन ह्लादिनी, संवित् और सन्धिनी शक्तियों का समावेश माना जाता है[1], बाद में राधा को उसी ह्लादिनी शक्ति से स्वरूपित किया गया।[2] इसके अतिरिक्त उपनिषदों के आत्मक्रीड़ा प्रभृति तत्वों का संयोग भी ब्रह्म-आत्मा के समानान्तर, कृष्ण-राधा से किया गया। 'स्कन्द पुराण' में राधा और कृष्ण के रसरूप की चर्चा करते समय कहा गया है कि राधा-श्रीकृष्ण की आत्मा हैं और श्रीकृष्ण उन्हीं में रमण करते हैं।[3] यहाँ राधा और कृष्ण की वास्तवी लीला नित्य गोलोक में होने वाली लीला है। किन्तु व्यवहारिकी लीला प्रकट लीला के सदृश अवतार लीला है।[4] आस्वादन मुख्य प्रयोजन होने के कारण राधा-कृष्ण के रसरूप को लीलावतार की अपेक्षा रसावतार कहना अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। 'स्कन्द पुराण' के अनुसार द्वापर के अन्त में जब रहस्य लीला के अधिकारी भक्तों एवं अन्तरङ्ग प्रेमियों के साथ श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं तो उनके अवतार का प्रयोजन होता है—रहस्य लीला का आस्वादन।[5] इस रस-लीला में कृष्ण को नित्य सहचरी राधा का नित्य संयोग प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण-लीला से सम्बद्ध रानियों को यहाँ राधा का अंशावतार माना गया है[6] तथा श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ उपास्य रूप की चर्चा करते समय कहा गया है कि इनकी आज्ञा से विष्णु बार-बार अवतार लेकर धर्म की स्थापना करते हैं।[7] इससे स्पष्ट है कि रसिकों के उपास्य राधाकृष्ण ही व्यावहारिक रसावतार के रूप में अवतरित होते हैं। अतः रसावतार नित्य रूप का अवतारवादी पौराणिक रूप है। इस रूप में श्रीकृष्ण और राधा नित्य एक दूसरे के सम्मुख हैं। दोनों का परस्पर

---

१. वि० पु० १, १२, ६९। राधिका हयेन कृष्णेर प्रनय विकार।

२. स्वरूपशक्ति ह्लादिनी नाम जाहार चै० च० पृ० ३५ आदि लीला चतुर्थ परि०।
 आत्मा तु राधिका तस्य तथैव रमणादसौ।

३. आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढ वेदिभिः।
 स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड २ अ० १ श्लो०।

४. स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड अ० १ श्लो० २५।
 'लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी।'

५. कदाचिद् द्वापरस्यान्ते रहोलीलाधिकारिणः। समवेता यदात्रस्युर्यथेदानीं तदा हरिः॥
 स्वैः सहावतरेत् स्वेषु समावेशार्थमीप्सिताः। तदा देवादयोऽप्यन्यऽवतरन्ति समन्ततः॥
 स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड २ भा० म० अ० १, २९।

६. स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड २, भा० भ० २, १२।

७. स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड २, भा० भ० ३, ३०।

संयोग नित्य है तथा दोनों के अभिन्न होने के कारण श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा भी श्रीकृष्ण हैं। इन दोनों का प्रेम ही वंशी है।[१]

इसके अतिरिक्त रस रूप श्रीकृष्ण की एक अन्य परम्परा भी तत्कालीन साहित्य में लक्षित होती है। जिसमें राधाकृष्ण की अपेक्षा गोपीजनवल्लभकृष्ण अधिक स्पष्ट हैं। पुराणों के अनुसार सारस्वत कल्प के द्वापर युग में श्रुतियों के अनुरोध से परब्रह्म श्रीकृष्ण ने वृंदावन में रास लीला स्वीकार की जिसमें श्रुतियाँ गोपियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं।[२] रसावतार की यह परम्परा राधाकृष्ण की अपेक्षा भागवत-परम्परा के अधिक निकट विदित होती है।

मध्यकाल में 'गीतगोविंद' एवं 'कृष्णकर्णामृत' में श्रीकृष्ण के रसात्मक रूपों का विस्तृत वर्णन हुआ है। जिसमें रस का प्रमुख प्रयोजन स्पष्ट लक्षित होता है। रास क्रीड़ा निकुञ्ज-लीला और निकुञ्ज-विहार का वर्णन करने वाले जयदेव ने 'गीतगोविंद' के कृष्ण को प्रारम्भ में ही लक्ष्मी के कुचमंडल के आश्रित रहने वाला बतलाया है।[३] उसी प्रकार 'कृष्णकर्णामृत' में श्रीकृष्ण की माधुर्य-पूरित लीलाओं का वर्णन करते हुए लीलाशुक ने इन्हें शृंगार रस-सर्वस्व की उपाधि से तो विभूषित किया ही है, साथ ही संभवतः लीला रस के ही निमित्त कृष्ण का नराकार रूप स्वीकार करने का उल्लेख किया है।[४] इन रसात्मक रूपों का यथेष्ट प्रसार तत्कालीन वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभी, हरिदासी प्रभृति सम्प्रदायों के साहित्य में हुआ है। किन्तु तत् सम्प्रदाय के कवियों ने जितना बल उनकी रसात्मक लीलाओं के वर्णन पर दिया है, इतना उनके अवतारवादी रसरूपात्मक प्रसङ्गों पर नहीं। फिर भी कतिपय कवियों के पदों में श्रीकृष्ण के उक्त पौराणिक रसावतार परम्पराओं की प्रासङ्गिक चर्चा हुई है। उनकी चर्चा के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि रसावतार में

---

१. 'स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका'।
स्कन्द पु० वै० खण्ड २ भा० म० २, १२, १३।

२. आगामिनि विरंचौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥
पृथिव्यां भारते क्षेत्रे, माथुरे मम मण्डले।
वृंदावने भविष्यामि, प्रेयान्वो रासमण्डले॥
जार धर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्।
मयि सम्प्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥
सम्प्रदाय प्रदीप पृ० २२-२३ श्लो० २३-२५।

३. श्रितकमला कुचमण्डल धृत कुण्डल ए। कलित ललित वनमाल जय जय देव हरे॥
गीत गोविंद, प्रथम सर्ग, द्वितीय प्रबन्ध १।

४. शृङ्गार रस सर्वस्वम् शिखिपिच्छविभूषणम्। अङ्गीकृत नराकारमाश्रयेभुवनाश्रयम्॥
कृष्णकर्णामृत पृ० ४७, १, ९२।

कृष्ण विष्णु के अवतार नहीं अपितु गोलोक के निवासी और नित्य लीला में रत परब्रह्म एवं रसिकों के उपास्य राधाकृष्ण या गोपीजन-वल्लभ-कृष्ण हैं। कल्प विशेष में पृथ्वी पर स्थित वृन्दावन में रसिकों के रञ्जन के निमित्त प्रकट वा व्यावहारिकी रस लीला करते हैं। वह रस लीला इसी वृन्दावन में गुप्त रूप से होने वाली नित्य लीला का अवतारित रूप है। अतएव इस युग के कवियों में दोनों प्रकार की रस केलियों का अपूर्व समावेश हुआ है। सूरदास के कथनानुसार इस अवतार की नायिका राधा समस्त गुणों से पूरित है। श्याम इस रूप में राधा के अधीन हैं। दोनों रस केलि में इस प्रकार लीन हैं कि वे परस्पर क्षण भर के लिये भी पृथक् नहीं होते हैं।[1] राधा और कृष्ण इस रस केलि के लिये बार-बार वृन्दावन में अवतरित होते हैं।[2] नन्ददास के कथनानुसार वे अपने शब्द ब्रह्ममय वेणु से सुर, नर, गंधर्व आदि सभी को मोह लेते हैं।[3] इन्होंने ब्रह्म की सभी अवतरित होने वाली ज्योतियों को रसमय माना है।[4] 'चैतन्य चरितामृत' में इनके युगल रसात्मक रूप की चर्चा करते हुये कहा गया है कि राधा-कृष्ण स्वरूपतः एक ही हैं, किन्तु अनन्य विलास रस के आस्वादन के निमित्त ये दो देह धारण करते हैं।[5] 'सूरसारावली' के पदों के अनुसार वृन्दावन में सदैव क्रीड़ा-रत कृष्ण को मथुरा की स्मृति हो आई, परन्तु राधा रानी ने वहाँ जाने से रोक दिया।[6] इस प्रकार रस

---

१. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन।
सँग ते होत नहीं कहुँ न्यारे, भए रहत अति लीन॥
सूरसागर पृ० ६२६ पद १६७८।

२. जा कारन वैकुण्ठ बिसारत, निज अस्थल मन में नहीं भावत।
राधा कान्ह देह धरि पुनि पुनि, जा सुख को वृन्दावन आवत॥
सूरसागर पृ० ९९४, २८०३।

३. शब्द ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहै।
सुर नर गन गंधर्व कुछ न जानै हम को हैं॥
नं० ग्रं० श्रीकृष्ण सिद्धान्त पञ्चाध्यायी पृ० ४०, २६।

४. जो कोउ जोति ब्रह्ममय, रसमय सबही भाइ।
सो प्रगटित निज रूप करि, इहि तिसरे अध्याइ॥
नं० ग्रं० भाषा दशम स्कन्ध पृ० २३१ अ० ३।

५. राधाकृष्ण एक आत्मा दोय देह धरें, अन्यान्य विलास रस आस्वादन करें।
चै० च० आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद पृ० ३५।

६. वृन्द्रावन हरि यहि विधि क्रीड़त राधिका संग।
... ...
सघन कुंज में खेलत गिरिधर मथुरा की सुधि आई।
राखे बरजि राधिका रानी अबन सकोगे जाई। सूरसारावली पृ० ३८।

रूप में राधा का अधिक प्राधान्य लक्षित होता है। 'युगल-शतक' के अनुसार वे स्वयं इस रस के निमित्त विविध प्रकार के रूप धारण करती हैं।[१] ध्रुवदास ने पौराणिक रसावतार की चर्चा करते हुये कहा है कि जो सर्वोपरि कृष्ण प्राणों के सदृश प्रिय प्रियतम हैं, जो ललिता आदि सखियों के द्वारा सेवित हैं[२], उन्होंने अपने रसिक भक्तों के निमित्त यह लीला रूप धारण किया है।[३] अपने अनन्त भक्तों के निमित्त उन्होंने उस लीला का विस्तार किया है।[४] इस प्रकार व्रज में जितने लीला-चरित हुए हैं इनमें निकुञ्ज केलि संभवतः सबका सार स्वरूप है।[५] 'चैतन्य चरितामृत' में 'स्कन्द पुराण' के रसावतार का वर्णन करते हुये कहा गया है कि अट्ठाइसवें द्वापर में व्रज के सहित कृष्ण का अवतार हुआ।[६] यों तो गोलोक में श्रीकृष्ण नित्य विहार करते हैं, किन्तु एक-एक बार ब्रह्मा के एक दिन भर अवतरित होकर प्रकट विहार करते हैं।[७]

इसके अतिरिक्त सूरदास ने गोपीजन-वल्लभ-कृष्ण के रसावतार की चर्चा करते हुये कहा है कि श्रुतियों ने सच्चिदानन्द कृष्ण से त्रिगुणातीत एवं मनवाणी से अगम रूप को दिखाने की याचना की।[८] उनकी याचना पर श्रीकृष्ण ने वृन्दावन की रासलीला स्वीकार की, जिसमें वेद की ऋचाओं ने गोपियों के

---

१. बहुत रूप धरि हरि प्रिया, मनरंजन रस हेत।
मन्मथ मन-मोहन मिथुन, मण्डल मधि छवि देत॥ युगल शतक पृ० ८, २३।

२. सर्वोपरि राधा कुवँरि प्रिय प्राननि के प्रान।
ललितादिक सेवत तिनहि, अति प्रवीन रस जान॥
ध्रुवदास ग्रन्थावली, बृहद वामन पुराण की भाषा पृ० १८१।

३. पहली पैरी प्रेम की व्रज कीनी विस्तार।
भक्तन हित लीलाधरी करुणानिधि सुकुमार॥ वही पृ० १८१।

४. बहुत भाँति लीला रचत तैसइ भक्त अपार।
अपनी अपनी रुचि लिये, करत भक्ति विस्तार॥ ध्रुवदास ग्रन्थावली पृ० १८१।

५. व्रज में सो लीला चरित भयो जु बहुत प्रकार।
सबकौ सार विहार है रसिकनि कौ निरधार॥ ध्रुवदास ग्रं० पृ० १८३।

६. अट्ठाइस चतुर्युगी द्वापर के शेष, व्रज के सहित होय कृष्ण को प्रवेश।
चै० च० आदि लीला परिच्छेद।

७. पूर्ण भगवान कृष्ण व्रजेन्द्र कुमार, गोलोक में व्रज संग नित्य विहार।
ब्रह्मा एक दिन मध्य वह एक बार, अवतीर्ण होकै करैं प्रकट विहार॥
चै० च० आदि लीला, ३, परिच्छेद।

८. श्रुतिनि कह्यौ कर जोरि, सच्चिदानन्द देव तुम।
जो नारायन आदि रूप तुम्हारे सो लखे हम॥
त्रिगुन रहित निज रूप जो, लख्यौ न ताको भेव।
मन बानी तैं अगम जो, दिखरावहु सो देव॥ सूर० पृ० ६६३ पद १७०३

रूप में अवतरित होकर उनके सङ्ग विहार किया।[1] ध्रुवदास जी के अनुसार किशोर कृष्ण ने श्रुतियों से कहा कि मैं व्रज में अवतरित होने वाला हूँ इसलिये तुम लोग भी वहीं उत्पन्न हो। फलतः वे सखियों के रूप में अवतरित हुईं।[2] उन सखियों के स्मरण करने के फलस्वरूप श्रीपति भी अवतरित हुए।[3] उन्होंने सभी अवतारों को अपने कार्य में लग जाने का आदेश दिया।[4]

इस प्रकार एक ही अवतरित रूप विभिन्न प्रयोजनों के फलस्वरूप विविध रूपों में पुराणों एवं तत्कालीन साहित्य में प्रस्तुत किया गया, जिनमें अन्तिम रसावतार रसात्मक प्रयोजन के निमित्त विकसित श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा और युगल केलि से सम्बद्ध रसात्मक रूप है। जो कालान्तर में रसिक सम्प्रदायों में नित्य लीला एवं अवतरित लीला के रूप में प्रचलित हुआ।

इसके अतिरिक्त 'भागवतपुराण' के चौबीस लीलावतारों का मध्यकालीन भक्त कवियों ने विस्तृत वर्णन किया है, जिनके रूपों के क्रमिक विकास एवं मध्यकालीन रूप का विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

---

१. वृंदावन निज धाम, कृपा करि तहाँ दिखायौ।
क्रीड़त स्याम किसोर, तहँ लिए गोपिका साथ॥
... ...
वेद ऋचा है गोपिका, हरि संग कियौ विहार॥ सूर० पृ० ६६३, १७९३।

२. तिन प्रति तब बाति भाइ, यह श्रुति लीनी मानि।
प्रगट होहु व्रज जाइ तुम, हमहूँ प्रगटि हैं आनि॥
ध्रुवदास ग्रन्थावली 'वृहद वामन पुराण की भासा' पृ० १८४।

३. जाकी बानी भइहि सो, सखी प्रगट भई आइ।
वेदहुँ के आनन्द भयौ, अद्‌भुत दरसन पाइ॥
ध्रुव० ग्रन्थवली 'वृ० वा० पु० की भाषा' पृ० १८५।

४. ध्रुवदास ग्रन्थावली 'वृहद् वामन पुराण की भाषा' पृ० १८५।

नौवाँ अध्याय

चौबीस अवतार

परवर्ती पुराणों में सर्वाधिक प्रचलित दशावतारों के अतिरिक्त विष्णु के अवतारों की संख्या सदैव एक-सी नहीं रही। 'भागवतपुराण' में अवतारों के तीन विवरण मिलते हैं जो अन्य पुराणों में पाई जाने वाली दशावतार-परम्परा से थोड़ा भिन्न प्रतीत होते हैं। 'भागवत' में भगवान के असंख्य अवतार बताये गये हैं।[1] यथा प्रसङ्ग कभी इन अवतारों में २२ कभी २४ और कभी १६ को प्रमुख रूप से गिना दिया गया है।[2] कभी-कभी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातिवाची शब्दों में उनका सामाजिक उल्लेख मिल जाता है।[3] इसके अतिरिक्त 'दशम स्कन्ध' में एक सूची मिलती है, जिसमें बारह अवतारों के नाम गिनाये गये हैं; परन्तु इनके क्रम में दशावतारों की परम्परा का भान होता है।[4] उक्त सूचियों में पांचरात्र साहित्य में वासुदेव के अवतारों के ही पर्याय विभवों की संख्या २४ से बढ़कर ३९ तक हो गई है।[5]

---

१. भा० १, ३, २६।
२. भा० १०, २, ४०।
३. भा० १, ३ भा० ३, ७ और ११, ४।
४. भा० १०, २, ४०।
५. भाण्डारकर ने हेमाद्रि द्वारा उद्धृत और 'वृहद्हारीत स्मृति' १०, ५, १४५ में उपलब्ध उन २४ विभवों का उल्लेख किया है जिनकी पूजा का वासुदेव कृष्ण के साथ ही उल्लेख हुआ है। उन २४ विभवों के नाम इस प्रकार हैं—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हरिकेश, पद्मनाभ, दामोदर, संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नरसिंह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि, श्रीकृष्ण हैं। ये विष्णु के २४ अवतारों की अपेक्षा २४ नाम ही उचित प्रतीत होते हैं; क्योंकि अवतारों और विभवों में अन्तर यह है कि जहाँ अवतार उत्पन्न होने वाले माने जाते हैं वहाँ विभव अजहत् स्वभाव वाले दीप से प्रज्ज्वलित दीप के समान उत्पन्न कहे गये हैं। ये विष्णु के ऐश्वर्य के ज्ञापक विभिन्न नाम और रूप प्रतीत होते हैं। 'तत्त्वत्रय' पृ० १९२ के अनुसार पांचरात्रों में पृ० २६ एवं पृ० ११२–११३ में उद्धृत 'विष्वकसेन संहिता' और 'अहिंबुध्न्य संहिता' ५, ५०–५७ में ३९ विभवों के नाम दिये गये हैं। श्रेडर ने 'इन्ट्रोडक्शन टू अहिंबुध्न्य संहिता' पृ० ४२–४९ में 'भागवत' के अवतारों के

उधर 'भागवत' के आधार पर विकसित 'लघुभागवतामृत' में यह संख्या २५ और 'सात्वत तन्त्र' में लगभग ४१ से भी अधिक हो गई है।[1] इस प्रकार मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में भी कोई सर्वमान्य सूची गृहीत नहीं हुई है। रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदायों में भागवत एवं पांचरात्र दोनों परम्पराओं के अवतारों को समाविष्ट कर निश्चित संख्या की अपेक्षा प्रायः अंश, कला, आवेश आदि रूपों में अवतारों पर विचार किया है, जिनका इस निवन्ध में यथास्थान विवेचन किया गया है।

परन्तु उक्त सूचियों में दशावतारों के अतिरिक्त भागवत के २४ अवतार ही मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में अधिक गृहीत हुये हैं। हिन्दी साहित्य में जहाँ चौबीस अवतारों का विस्तृत वर्णन किया गया है उसमें प्रायः 'भागवत' की तीनों सूचियों का समावेश हुआ है। 'श्रीमद्भागवत' के अतिरिक्त अन्य परवर्ती पुराणों में २४ अवतारों का भागवत जैसा वर्णन नहीं मिलता। 'भागवत' की प्रचलित चौबीस अवतार परम्परा को इतिहासकारों ने बौद्धों और जैनों से प्रभावित माना है। श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का कथन है कि चौबीस अवतारों की यह कल्पना भी बौद्धों के २४ बुद्ध और जैनों के २४ तीर्थंकरों की कल्पना के आधार पर हुई है।[2] परन्तु यह कहना कठिन है कि किसकी परम्परा का अनुकरण हुआ है।

जो हो, हिन्दी साहित्य में 'भागवत' के चौबीस अवतारों का अत्यधिक प्रचार हुआ। विशेषकर सूरदास और बारहट ने चौबीस अवतारों के वर्णन में 'भागवत' को ही आधार-स्वरूप ग्रहण किया है।[3] इन कवियों द्वारा किये

साथ तुलना करते हुए इनमें २४ अवतारों का समावेश माना है। ३९ विभवों के नाम इस प्रकार हैं—पद्मनाभ, ध्रुव, अनन्त, शक्त्यात्मन, मधूसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, विहङ्गम, क्रोधात्मन, वाड़वायक्त्र, धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायी, कमठेश्वर, वराह, नृसिंह, पीयूष-हरन, श्रीपति, कान्तात्मन, राहुजीत, कालनेमिघ्न, पारिजातहर, लोकनाथ, शान्तात्मा, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायी, एकशृङ्गतनु, वामनदेव, त्रिविक्रम, नर, नारायन, हरि, कृष्ण, परशुराम, राम, देवविधि, कल्कि, पाताल-शयन। कौ० व० जी० ४ पृ० ६६–६७।

१. लघुभागवतामृत पृ० ७० श्लो० ३२, सात्वत तन्त्र द्वितीय पटल।

२. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति। (१९५१ सं०) पृ० १३।

३. सूरदास—सूरसारावली पृ० ३–११ सूरसागर पृ० १२५–१२७ पद ३७८, अवतार चरित सं० १७३३, ना० प्र० स० (ह० लि० प्रति) सम्पूर्ण ग्रन्थ में चौबीस अवतारों का वर्णन और अन्त में एकत्र भी उनका उल्लेख हुआ है 'विदित तीन अरुबीस भए अवतार अनंगी।'

गये विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त सन्तों में रामानन्द[1] और रज्जब[2] आदि तथा सगुण भक्तों में बैजू[3] लषनदास,[4] नाभादास आदि ने केवल चौबीस अवतार शब्द का प्रयोग किया है और नाम सामान्यतः गिनाया है। इससे प्रतीत होता है कि चौबीस अवतार शब्द भी दशावतारों के सदृश रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो गया था। इस युग में चौबीस अवतारों के लिये 'चौबीस लीलावपु' का प्रयोग होने के कारण 'श्रीमद्भागवत' के ही लीलावतारों की पुष्टि होती है।[5] 'भागवत' २, ७ में क्रमशः वराह, सुयज्ञ, कपिल, दत्तात्रेय, चतुःकुमार (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) नर-नारायण, ध्रुवप्रिय, पृथु, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, गजेन्द्र हरि, वामन, हंस, मनु, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, कृष्ण, बलराम, व्यास, बुद्ध, कल्कि, इन चौबीस अवतारों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रथम सूची में गृहीत भा० १, ३, ८ और भा० १, ३, ८ के मोहिनी अवतार का भी हिन्दी कवियों ने वर्णन किया है। सम्भवतः लीलावतार की प्रवृत्ति से प्रभावित होने के कारण 'भागवत' में दशावतारों का क्रम अधिक प्रचलित नहीं हुआ। तत्कालीन कवियों में नरहरिदास बारहट का क्रम बहुत कुछ भिन्न होते हुये भी इससे कुछ मिलता जुलता है। बारहट ने बराह, सनकादि, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, ध्रुव, पृथु, हयग्रीव, कूर्म, सफर (मत्स्य) नृसिंह, वामन, हरि, हंस, मन्वन्तर, धन्वन्तरि, जामदग्नेय, व्यास, रघुनाथ, कृष्ण, बौद्ध, आदि २३ अवतारों का एक साथ और कल्कि का पृथक् उल्लेख किया है।[6] परन्तु तत्कालीन साहित्य में अन्यत्र यह क्रम लक्षित नहीं होता।

---

१. न तहां चौबीसू बप बरन, रा० हि० र० । ना० प्र० स० पृ० ८६ ।

२. एक कहै अवतार दस, एक कहै चौबीस । रज्जबजी की बानी पृ० ११८ ।

३. आप अवतार भये चौबीस बपुधर । राग कल्पद्रुम जी० १ पृ० ४५ ।

४. चतुर्विंश लीलावतारी । राग कल्पद्रुम जी० १ पृ० ५१९ ।

५. चौबीस रूप लीला रूचिर, भक्तमाल, रूपकला पृ० ४७ छ० ५ चौबीस प्रथम हरि वपुधरे, पृ० २५७ छ० ।

६. बिसदि आदि बाराह भए सनकादिक स्वामी ।
तथा जग्य अवतार नर जू नारायण नामी ॥
कपिल सु दत्तत्रेय ऋषभ ध्रुव पृथु हयग्रीवा ।
कुरम सफर नृसिंह द्विजनु वामन हरि देवा ॥
हुव हंस मन्वन्तनुतरहि जामदग्नि जग व्यास जय ।
रघुनाथ कृष्ण अरुबौध प्रभु जू एते अवतार भय ॥
... ...
विदित तीन अरु बीस भए अवतार अनंगी ॥
... ...

सूरदास, लषनदास और अग्रदास या नाभादास आदि ने प्रारम्भ में दशावतारों का क्रम रखकर अन्त में शेष चौदह अवतारों को समाविष्ट किया है। अतः सूरदास के अनुसार मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, वासुदेव, बुद्ध, कल्कि आदि दशावतारों के साथ सनकादि, व्यास, हंस, नारायन, ऋषभ, नारद, धन्वन्तरि, दत्तात्रेय, पृथु, यज्ञपुरुष, कपिल, मनू, हयग्रीव, ध्रुव-अवतार आदि नारद को लेकर १५ अवतारों को संयुक्त किया है।[1] लषनदास ने भी दशावतारों के साथ चौदह अवतारों को मिलाया है परन्तु नारद को इन्होंने ग्रहण नहीं किया है, अपितु बलराम और अनन्त दो नये अवतारों का समावेश किया है।[2] इन्हीं के सदृश नाभादास ने 'भक्तमाल' में चौबीस अवतारों की चर्चा करते समय दशावतार और तत्पश्चात् चतुर्दश अवतारों का वर्णन किया है।[3] चौबीस अवतार के उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त इनका पृथक्-पृथक् विस्तृत वर्णन भी कतिपय कवियों ने किया है। इस दृष्टि से प्रत्येक अवतार का क्रमिक विकास एवं उनके मध्यकालीन रूप का विवेचन अपेक्षित जान पड़ता है, क्योंकि आलोच्यकाल में अवतारों के जिन रूपों का वर्णन हुआ है वे प्राचीन साहित्य एवं पौराणिक परम्पराओं से विकसित होकर प्रायः परम्परागत रूपों में गृहीत हुये हैं। उनके पृथक्-पृथक् विकास के निमित्त सर्व प्रथम मत्स्य, बराह, कूर्म, नृसिंह, वामन, आदि पाँच पौराणिक अवतारों तथा परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि

अषिलेष सखे सद्य आरुहित प्रभु कल्की त्रयलोक पति ॥
इस पद में प्रयुक्त सम्भवतः 'तनुतरहि' धन्वन्तरि का वाचक है।

अवतार चरित। ह० ले०।

१. मच्छ, कच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि।
बामन बहुरौ परसुराम, पुनि राम रूप करि॥
वासुदेव सोइ भयौ बुद्ध भयौ पुनि सोइ।
सोइ कल्की होइ है, और न द्वितीया कोइ॥
... ...

सनकादिक, पुनि व्यास बहुरि भए हंस रूप हरि।
पुनि नारायन, ऋषभ देव, नारद, धन्वन्तरि॥
दत्तात्रेय अरु पृथु, बहुरि जज्ञपुरुष बपुधार।
कपिल, मनू, हयग्रीव पुनि कीन्हों ध्रुव अवतार॥ सूरसागर पृ० १२६ पद ३७८

२. मच्छ कच्छ शूकर नरसिंह वामन परसुराम अनुधर बलिराम बिबुध यज्ञ निंदोडारो।
कलकीं मनुव्यास हंस यज्ञ ह्यग्रीव बद्रीपति, कपिलदत्त सनकादिक चारो।
पृथु अनन्त धन्वन्तरि दुष्टदलन जानरा गुप्तय प्रगट चतुर्विंश लीलावतारो।
राग कल्पद्रुम जी १ पृ० ५१९।

३. भक्तमाल, रूपकला पृ० ४७ छ० ५।

ऐतिहासिक पुरुषों तथा चौदह अन्य अवतारों में क्रमशः हयग्रीव, व्यास, पृथु, हरि, हंस, मन्वन्तर, यज्ञ, ऋषभ, ध्रुववरदैन, धन्वन्तरि, नर-नारायण, दत्त, कपिल तथा स्फुट अवतारों में नारद और मोहिनी का विचार किया गया है।

मत्स्य

विष्णु के अवतारों में मत्स्यावतार को प्रायः प्रथम स्थान दिया जाता है। आलोच्य-काल में मत्स्यावतार के जिन रूपों को विष्णु से सम्बद्ध किया गया है, वह विष्णु और मत्स्य-संबंध का प्राचीनतम रूप नहीं है।

मत्स्यावतार का प्राचीनतम रूप ब्राह्मण साहित्य में मिलता है और इसका संबंध जलप्लावन के उस कथन से सम्बद्ध है जो इतर साहित्य में भी मिलता है।[1]

प्रजापति का अवतार

'शतपथ ब्राह्मण' में (१, ८, १) इस कथा का विस्तृत वर्णन हुआ है; इसका सारांश इस प्रकार है कि मनु प्रातःकाल में आचमन कर रहे थे। उसी समय उनके हाथ में एक मछली आ गई। उसने कहा कि मेरी रक्षा करो और मुझे पालो, जल-प्रलय में मैं भी तुम्हारी रक्षा करूँगी। मनु ने उसे एक सुरक्षित घड़े में रख दिया परन्तु ज्यों-ज्यों उसका शरीर बड़ा होता गया मनु ने क्रमशः उसको घड़े से तालाब, तालाब से नदी और अंत में महासमुद्र में डाल दिया। प्रलय होने पर ये अनेक सृष्टि के बीजों को लेकर नाव पर चढ़ गये और रस्सी से अपनी नाव को मत्स्य की एक मात्र सिंग में बाँध दिया। प्रलय समाप्त होने के पश्चात् मनु ने यज्ञ करके पुनः सृष्टि का विकास किया। यहाँ मत्स्य को विद्वानों के मतानुसार प्रजापति का रूप बतलाया गया है।[2] इसके अतिरिक्त 'महाभारत' 'वन पर्व' १८७ अध्याय में पुनः इसी कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। वहाँ मत्स्य स्वयं कहता है कि मैं प्रजापति ब्राह्मण हूँ। मुझ से परे कोई दूसरी वस्तु देखने में नहीं आती है। मैंने महामत्स्य का रूप धारण कर तुम्हें इस प्रलय से बचाया है। तदनन्तर वह देवता, असुर,

---

१. प्रलय-कथा की विचित्रता यह है कि वह ऋ० वे० में तो नहीं मिलती किन्तु आवेस्ता, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण और महाभारत में मिलती है।

२. श० ब्रा० १, ८, १, १–७ मनवे ह वैप्प्रातः··· मित्रावरुणौ सञ्जग्माते और ज० रा० ए० सो० जी० २४–२५ पृ० १२२ जलप्लावन की यह कथा जैनों और बौद्धों में नहीं मिलती है।

पुरुष, जंगम-स्थावर, चेतन-अचेतन आदि की सृष्टि करने का मनु को आदेश देता है।[1]

इस प्रकार 'महाभारत' तक मत्स्यावतार का विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से स्पष्ट संबंध प्रतीत होता है। 'वाल्मीकि रामायण' में मत्स्यावतार की कोई कथा नहीं मिलती केवल 'युद्ध कांड' में की गई राम की स्तुति में वराह के साथ 'एकशृंग' का प्रयोग हुआ है।[2] परन्तु 'एकशृंग' से मत्स्य का निराकरण नहीं होता क्योंकि वराह भी एकशृंग कहे गये हैं। साधारणतः यह अंश परवर्ती होते हुये भी दूसरी शती तक का माना गया है।

अतः महाकाव्यों के अंतिम काल तक मत्स्यावतार का संबंध विष्णु से माना जा सकता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि विष्णु के पूर्व मत्स्यावतार प्रजापति ने ही धारण किया था, क्योंकि विष्णु-महिमा के प्रतिपादक 'विष्णु-पुराण' (४ थी शती) में मत्स्यावतार की कथा नहीं मिलती। उसके विपरीत प्रजापति के वराह रूप धारण करने के क्रम में मत्स्य, कूर्म आदि रूप भी प्रजापति के द्वारा ही धारण करने का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है।[3] इससे स्पष्ट है कि मत्स्यावतार की कथा का संबंध प्राचीन साहित्य में प्रजापति से ही रहा है।

अन्य पुराणों में बाद में चलकर मत्स्यावतार का विष्णु से ही संबंध स्थापित किया गया है। 'भागवत पुराण' के अनुसार चाक्षुष मन्वन्तर के अंत में जब सारी सृष्टि समुद्र में लीन थी तब हरि ने दसवाँ अवतार ग्रहण किया और उन्होंने अगले मन्वन्तर के वैवस्वत मनु की रक्षा की थी।[4] 'भागवत' की दूसरी सूची में पुनः इनका संबंध प्रलय-कथा से है। परन्तु वैवस्वत का स्थान सत्यव्रत मनु ने ले लिया है। उनकी रक्षा के साथ साथ ये वेद के रक्षक भी यहाँ बतलाये गये हैं।[5] तीसरी सूची में ये मनु की रक्षा के अतिरिक्त दिति पुत्र को मार कर वेदों की रक्षा करने वाले कहे गये हैं।[6] 'भागवत' के मत्स्यावतार की विस्तृत कथा में भी सत्यव्रत एवं प्रलय संबंधी उक्त कथा का वर्णन किया गया है।[7] यहाँ एकशृंग मत्स्य सप्तर्षियों के साथ प्रलय से मनु की रक्षा करता है और हयग्रीव को मार कर वेदों का उद्धार करता है।[8]

---

१. महा० ३, १८७, ५२। २. वा० रा० ५, १२०, १२।

३. वि० पु० १, ४, ७–८। ४. भा० १, ३, १५।

५. भा० २, ७, १२। ६. भा० ११, ४, १८। ७. भा० ८, २४।

८. अतीत प्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे, हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः।' यह उल्लेखनीय है कि असुर हयग्रीव के अतिरिक्ति 'भागवत' २, ७११ में विष्णु के हयग्रीव अवतार का भी उल्लेख मिलता है। उस हयग्रीव अवतार का एकमात्र प्रयोजन

'भागवत' के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी प्रायः इन्हीं कथाओं की पुनरावृत्ति हुई है। 'मत्स्यपुराण' में मत्स्य मनु से कहते हैं कि प्रलय के अनन्तर सृष्टि का प्रारम्भ किये जाने पर वे वेदों का प्रवर्तन करेंगे।[१] उक्त कथन में मत्स्यावतार के पुराणों में विशेष रूप से प्रचलित रूप का परिचय मिलता है।

'अग्निपुराण' में मनु की रक्षा हयग्रीव-बध भी इनका प्रमुख प्रयोजन माना गया है।[२] मत्स्यरूपधारी विष्णु 'स्कंद-पुराण' के अनुसार वेदों के उद्धार के लिये शंखासुर का बध करते हैं।[३] 'पद्मपुराण' में मत्स्यरूप में भगवान् हयग्रीव के स्थान में मधुकैटभ का बध करते हैं।[४]

इस प्रकार पुराणों में मत्स्यावतार के प्रयोजनों में प्रायः मनु-रक्षा और वेदोद्धार संबंधी प्रयोजनों में साम्य होने पर भी असुरों के बध में किंचित परिवर्तन दीख पड़ता है।

मध्यकालीन साहित्य के कवियों ने स्वतंत्र रूप से तो नहीं पर दशावतारों के क्रम में मत्स्यावतार का वर्णन किया है। विशेषकर दसवीं या ग्यारवहीं शती के कवि क्षेमेन्द्र ने विष्णु के मत्स्यावतार का प्रारम्भ में ही वर्णन करते हुये मनु-मत्स्य-कथा का विस्तृत परिचय दिया है। उसमें हयग्रीव या वेदोद्धार कार्य का उल्लेख नहीं हुआ है।[५] परन्तु बारहवीं शती के जयदेव ने प्रलयकथा और वेदोद्धार दोनों प्रयोजनों की चर्चा पृथक्-पृथक् की है। 'पृथ्वीराज रासो' में मत्स्यावतार का वीर रस-पूर्ण वर्णन हुआ है। पर उक्त कवियों की अपेक्षा रासो की कथा में मनु-मत्स्या-कथा का उल्लेख न होकर वेदों को चुराने वाले असुरों के संहारक रूप का वर्णन है।[६] अंत में राक्षसों का पेट फाड़ और वेदों को निकाल कर विष्णु ब्रह्मा को प्रदान करते हैं।[७]

निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त कवि परशुरामाचार्य ने दशावतारों में मत्स्यरूप का वर्णन करते हुये पौराणिक उपादानों को ही ग्रहण किया है। इनके पदों के अनुसार हरि ने मत्स्य रूप धारण कर पाताल में सोये हुये शंखासुर को पकड़ा और उसका उदर फाड़कर वेदों का उद्धार किया।[८]

वेदों की रक्षा है। भा० २, ७, ११ में हयग्रीवके लिए 'हयशीर्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्भव है मत्स्यावतार से ही हयशीर्ष का विकास हुआ हो। भा० ८, २४,५७।

१. मत्स्यपुराण २, ३–१६। २. अग्निपुराण २ अध्याय।

३, स्कन्द पुराण, उत्तरखण्ड ९२, ९। ४. पद्मपुराण, सृष्टिखंड ३७ अध्याय।

५. दशावतार चरित, मत्स्यावतार। ६. गीत गोविन्द १, १।

७. पृथ्वीराज रासो, दूसरा समय।

८. प्रथमे मछ रूप धरयो जलसाइक सोधत नीर सुध्यान भए।
सोधित सोधि लीयो संषासुर सोवत जाय पतालि ग्रहे॥

दशावतारों के अतिरिक्त मत्स्यावतार को जिन कवियों ने चौबीस अवतारों में ग्रहण किया है उनमें 'भागवत' की परम्परा का पालन हुआ है। विशेषकर 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' दोनों में मत्स्यावतार का वर्णन सूरदास ने किया है। 'सूरसागर' के अनुसार सदैव भक्त का संकट निवारण करने वाले हरि ने वेदों की रक्षा के निमित्त मत्स्यरूप धारण किया, और सत्यव्रत की प्रलय से रक्षा की मत्स्यावतार से सम्बद्ध प्रथम पद में शंखासुर और सत्यव्रत दोनों का समावेश हुआ है।[1] परन्तु दूसरे पद का संबंध केवल शंखासुर और वेदोद्धार मात्र से है।[2] 'सूरसारावली' के अनुसार शंखासुर का वध हयग्रीव द्वारा हुआ है।[3] और प्रलय कथा को मत्स्यावतार से सम्बद्ध किया गया है।[4] गोस्वामी तुलसीदास ने राम की लीला का गान करते हुए कहा है कि भक्तों के विस्तार के लिए राम ने मत्स्य रूप में पृथ्वी की नौका बनाई।[5] नरहरिदास बारहट के अनुसार मत्स्यरूप में प्रलय से पृथ्वी की रक्षा तथा शंखासुर से वेदों का उद्धार किया।[6] संतों में परवर्ती गुरु गोविंद सिंह ने भी शंखासुर बध एवं वेदोद्धार के निमित्त मत्स्यावतार का प्रयोजन माना है।[7]

करसू उर फारि विहारि कीयो उर भीतरिते वेद निकारि लए।
प्रसराम कहै प्रभु त्यागी भलो दूसरे ब्रह्मा कूँ जु दान दए॥
परशुराम सागर। ह० लि०। दस औतार को जोड़ो।

१. सुतिनि हित हरि मच्छ रूप धार्यौ, सदा ही भक्त संकट निवार्यौ।
चतुरमुख कह्यो संख असुर स्तुति लै गयो, सत्यव्रत कह्यौ परलै दिखायौ॥
भक्त वत्सल, कृपाकरन, असरनसरन, मत्स्य को रूप तब धारि आयौ।
सूरसागर जी० १ ना० प्र० स० पद ४४२।

२. संखासुर मारि कै, वेद उद्धारि कै, आपदा चतुरमुख की निवारी।
सूरसागर जी १ पद ४४४।

३. लैगो संखासुर जल में रह्यो छिपाय। धरि हयग्रीव रूप हरि मार्यो लीन्हें वेद छुड़ाय
सूरसारावली। वे० प्रे० सूरसागर में संकलित पृ० ४ पद ९०।

४. सूरसारावली पृ० ४ पद ९२-९९ में।

५. तु० ग्रं० विनय पत्रिका पृ० ४०४ वारिचर-वपुषधर भक्त-निस्तार पर, धरनि कृत नाव महिमाति गुर्वी।

६. नरहर प्रभुकारन निषल सनउ जप्याक्रम संत।
पृथ्वी राषी प्रलय तै भए मीन भगवंत॥
द्रविड़ देश नरेस भयो, सत्यवृत्य इहिनाम।
... ...
संखासुर सौ निग्रह्यौ, आने वेद छुड़ाइ।
अवतार लीला ह० लि० पृ० ३१ मीनावतार।

७. चौबीस अवतार पृ० ६। संखासुर मारे बेद उधारे शत्रुसंहारे जसु लीनो।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में मत्स्यावतार के उन्हीं रूपों को लिया गया जो पुराणों में अधिक प्रचलित थे, क्योंकि पुराणों में जिस प्रकार का वैषम्य दृष्टिगत होता है, वही तत्कालीन कवियों में भी पाया जाता है। इस युग में भक्तोद्धार अवतारवाद के प्रमुख प्रयोजनों में प्रचलित था। अतः मत्स्यावतार का प्रयोजन भी भक्त की रक्षा कहा गया है।

वराह

विष्णु के प्रारम्भिक अवतारों में पशु, पशु-मानव और मानव तीन प्रकार के अवतार मिलते हैं। उनमें पशु-अवतार वराह का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। पौराणिक एवं तत्कालीन साहित्य में वराह अवतार का जो रूप मिलता है, वह सदियों के क्रमिक विकास के फलस्वरूप निर्मित हुआ है। मत्स्यावतार के सदृश वराह का प्राचीन संबंध भी प्रजापति से ही रहा है। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञों ने तत् साहित्य में उपलब्ध कतिपय उपादानों पर विचार किया है उनमें मैकडोनल, कीथ एवं जे गोंद विशेष उल्लेखनीय हैं।

वैदिक साहित्य के ऋ० वे० में वराह एवं विशेषकर 'एमुष' नामक वराह के उल्लेख मिलते हैं। ऋ० १, ६१, ७ में इन्द्र द्वारा वराह के मारे जाने का प्रसंग आया है।[1] ऋ० ८, ७७, १० में पुनः 'एमुष' नामक वराह का इन्द्र द्वारा मारे जाने की चर्चा हुई है।[2] ऋ० १०, ८६, ४ में भी वराह का इन्द्र से ही संबंध प्रतीत होता है[3] मैकडोनल ने ऋ० ८, ७७, १० के 'एमुष' वराह से ही वराहावतार के वीज का अनुमान किया है।[4] परन्तु कीथ ने इसे वृत्र-वध की कथा का एक रूपान्तरित रूप भर माना है।[5] जो हो पुराणों में वराहावतार का प्रमुख प्रयोजन जल से पृथ्वी को बाहर निकालना रहा है। इस दृष्टि से 'पृथ्वी सूक्त' का यह मंत्र अवश्य ही इस कथा का मूल रूप माना जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि शत्रु को भी धारण करने वाली, पुण्य और पाप करने वाले के शव को सहने वाली, बड़े बड़े पदार्थों को धारण करने वाली और वराह जिसको ढूँढ़ रहे थे वह पृथ्वी वराह को प्राप्त हुई थी।[6]

'तैत्तिरीय संहिता' ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में इनका किंचित विस्तृत एवं इन्द्र और प्रजापति से सम्बद्ध रूप मिलता है। 'तैत्तिरीय संहिता' में

१, ऋ० १, ६१, ७।
२. ऋ० ८, ७७, १०।
३. ऋ० १०, ८६, ४।
४. एपिक माइथौलोजी पृ० ४१।
५. रेलिजन ऐन्ड फिलोसोफी आफ ऋग्वेद एन्ड उपनिषद्स भू० पृ० ३।
६. मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय॥ अथर्व० सं० १२, १, ४८।

प्रजापति और वराह की कथा इस प्रकार है :—पहले सारे विश्व में जल ही जल था। उस पर प्रजापति हवा के रूप में घूमता था। उसने पृथ्वी को देख वराह बन कर ऊपर उठा लिया। उसने विश्वकर्मा का रूप धारण कर पृथ्वी का जल पोंछ दिया। उस पृथ्वी का विस्तार हुआ और वह पृथ्वी के नाम से विख्यात हुई।[1] इसके अतिरिक्त 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' की कथा में भी प्रजापति को ही वराह के रूप में पृथ्वी को उठाने वाला कहा गया है। जिसका सारांश इस प्रकार है—इस विश्व में पहले केवल जल ही जल था। उस जल के द्वारा प्रजापति तपस्या करते थे, और यह कहते थे कि किस प्रकार इस सृष्टि का विस्तार होगा। उन्होंने जल में खड़ा एक कमल-पत्र देखा। उन्होंने सोचा इसके नीचे अवश्य ही कुछ है जिस पर यह कमल पत्र स्थित है। उन्होंने एक वराह का रूप धारण किया और ठीक कमल पत्र के नीचे जल में घुसे। इसके नीचे उन्होंने पृथ्वी को पाया। उसके एक खंड को तोड़ कर वे ऊपरी स्थल पर ले आये। उन्होंने उसे ऊपर फैलाया तब से उसका नाम पृथ्वी (फैली हुई) पड़ गया।[2] 'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है कि एक कृष्ण वराह ने अपने शत-बाहुओं से पृथ्वी को ऊपर उठाया।[3] यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि वराह का रूप किस देवता ने धारण किया था। फिर भी उसका शत बाहुरूप उसमें निहित किसी दैवी तत्त्व का आभास देता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी एक वराह की कथा मिलती है। उसमें कहा गया है कि पूर्वकाल में पृथ्वी उतनी ही बड़ी थी जितनी बड़ी एक कड़ाही होती है। एक 'एमुष' नाम के वराह ने उसे ऊपर उठाया। यह ईश्वर प्रजापति की पृथ्वी थी।[4] यहाँ प्रजापति से वराह के स्पष्ट संबंध का पता नहीं चलता।

एमुष नामक वराह का उल्लेख 'काठक' एवं 'तैत्तिरीय संहिता' में भी मिलता है। 'तैत्तिरीय संहिता' की कथा में कहा गया है कि यज्ञ ने विष्णु का रूप धारण किया और वे देवताओं के बीच से लुप्त हो गये। वे पृथ्वी में प्रवेश कर गये। देवताओं ने एक साथ मिल कर उन्हें खोजा। इन्द्र नीचे ऊपर सर्वत्र घूम चुके। विष्णु ने पूछा—वह कौन है, जिसने हमारे ऊपर से परिक्रमा की है। इन्द्र ने उत्तर दिया मैं हूँ दुर्ग को ध्वस्त करने वाला और तुम कौन हो?[5]

---

१. तै० सं० ७, १, ५, १, और ज० रा० ए० सो० १८९५, पृ० १७९।

२. तै० सं० १, १, ३, ५ और ज० रा० ए० सो०। १८९५। पृ० १७९।
आपौ वा इदमग्रे सलिलमासीत् तेन प्रजापतिर् प्रम्यात्…तद्भूम्यै भूमित्वम्।

३. उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शत बाहुना।
भूमिर्धेनुर्धरणी लोक धारिणी, इति। तै० आ० १०, १, ८।

४. श० ब्रा० १४, १, २, ११।

५. तै० सं० ६, २, ४ .२–३ अनुवाद ज० रा० ए० सो। १८९५ ई०। पृ० १८०

विष्णु ने कहा मैं हूँ दुर्ग को ले जाने वाला। विष्णु ने कहा इस वराह ने देवताओं का धन लूट कर सात पहाड़ियों के उस पार असुरों के पास एकत्र कर रखा है। तुम दुर्गध्वस्त करने वाले हो। अतः इस वराह को मार डालो। इन्द्र ने एक कुश तोड़ कर सप्त पहाड़ियों को छेद दिया और उसे मार डाला। तब इन्द्र ने विष्णु से कहा तुम अपने को दुर्ग से बाहर ले जाने वाले कहते हो; अतः उसको (संभवतः वराह को या वह धन) बाहर ले जाओ। यज्ञ-रूप विष्णु देवताओं के लिये यज्ञ के रूप में उतना ले गये जितना देवता असुरों से प्राप्त कर सकते थे। यही कारण है कि उस चबूतरे का नाम वेदी हुआ[1] इस कथा में प्रजापति एवं पृथ्वी के ऊपर उठाने का उल्लेख नहीं हुआ है परन्तु विष्णु, यज्ञ और वराह का सन्निवेश हुआ है। इस आधार पर यज्ञ वराह की मूल कथा के रूप में इसे ग्रहण किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में उपलब्ध दो प्रकार की कथाओं में भूमि से सम्बद्ध वराह और यज्ञ-वराह का स्वतंत्र विकास स्पष्ट प्रतीत होता है। सम्भव है बाद में चल कर विष्णु एवं उनके वराह रूप से दोनों को उसी में समाहित किया गया हो।

'महाभारत' 'वन पर्व' में विष्णु के वराहावतार की कथा मिलती है। उस कथा में कहा गया है कि प्राणियों की वृद्धि के भार से पृथ्वी दब कर सैकड़ों योजन नीचे चली गई थी भार दूर करने के लिये उसने भगवान नारायण से प्रार्थना की।[2] विष्णु ने एक दाँत वाले वराह का रूप धारण कर पृथ्वी को सौ योजन ऊपर उठा दिया।[3] यहाँ उनके स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वे लाल-लाल नेत्रों से भय उत्पन्न कर रहे थे और अंगों से धूम प्रकट करते हुये बढ़ रहे थे।[4] इस स्थल पर धूम और ज्वाला के प्रयोग से उनके यज्ञ-वराह रूप का ही परिचय मिलता है।

इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में अन्य कतिपय स्थलों पर भी वराहावतार के उल्लेख हुए हैं। विशेषकर 'शान्ति पर्व' में पितृपिण्ड से सम्बद्ध एक कथा में कहा गया है कि पहले पृथ्वी पर कुश बिछाकर उन पितरों के निमित्त तीन पिण्ड रखे जाते हैं। पितरों का पिण्ड नाम क्यों पड़ा, इसके ऊपर नर-नारायण कहते हैं कि समुद्र मेखला वाली यह पृथ्वी पहले जल में डूब गई थी। उसको

---

१. तै० सं० ६, २, ४, २, १ अनुवाद ज० रा० ए० सो०। १८९५ ई०। पृ० १८०।

२. महा० ३, १४२, ३९, ४०। ३. महा० ३, १४२, ४५।

४. रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव।
धूमं च ज्वलयं लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत॥ महा० ३, १४२, ४६।

भगवान गोविंद ने वराह का रूप धारण कर ऊपर किया था। जल और कीचड़ से जिनका सारा शरीर भरा हुआ है और लोक-कल्याण में जो सदैव तत्पर रहते हैं, उन भगवान पुरुषोत्तम ने पृथ्वी को पुनः उसके स्थान में स्थापित कर दिया और अपनी दाढ़ में लगे तीन पिण्डों को कुश पर रख दिया।[1]

इसी पर्व में एक शृङ्ग वराह की व्याख्या करते हुये नारायण कहते हैं कि मैंने पहले सींग (या एक दाँत) वाले नन्दिवर्द्धन नामक वराह का रूप धारण कर इस पृथ्वी का उद्धार किया था और जब मैं कंधा, पोच, दाढ़, तीन उन्नत अंगोंवाला बना था, इससे मेरा नाम चित्रकुद पड़ा।[2] उक्त रूप में अनुमानतः अग्नि के मानवीकृत (एन्थोपोमौरफिक) रूप का परिचय मिलता है।[3] साथ ही उक्त कथांश पृथ्वी, यज्ञ, या कर्मकाण्ड से सम्बद्ध तो दीख पड़ता है परन्तु हिरण्याक्ष-वध की इनमें कहीं चर्चा नहीं हुई है। अतः हिरण्याक्ष-वध संभवतः परवर्ती-काल में वराहावतार के साथ संयोजित किया गया है। इसी पर्व के 'नारायणीयोपाख्यान' में वराहावतार के प्रसंग में पृथ्वी को ऊपर उठाने की और हिरण्याक्ष-वध की चर्चा हुई है।[4] 'वाल्मीकि रामायण' में वराह का उल्लेख भर हुआ है, जिसका संबंध विष्णु या राम से है।[5] किन्तु 'विष्णुपुराण' की कथा पुरानी प्रतीत होती है क्योंकि वहाँ वराह को प्रजापति का ही अवतार कहा गया है।[6] यहाँ वराह के विश्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उनके दाढ़-यज्ञ, रूप हैं, चारों वेद-चरण, दाँत-यज्ञ, मुख-चित्तियाँ, जिह्वा-हुताशन, और कुशायें-रोमावली हैं। रात-दिन इनके नेत्र, परब्रह्म सिर, समस्त सूक्त इनके सटाकलाप और समग्र हवि आपके प्राण हैं।[7] इन उपादनों से वराह एवं यज्ञ से किसी न किसी प्रकार का संबध ज्ञात होता है। 'विष्णुपुराण' की कथा में हिरण्याक्ष वध का समावेश नहीं हुआ है। परन्तु परवर्ती पुराणों में सृष्टि-उत्थान के साथ साथ हिरण्याक्षवध भी प्रमुख प्रयोजनों में गृहीत हुआ है।[8] इससे स्पष्ट है कि वराहावतार की कथा के मूलबीज स्वरूप वे कथायें हैं, जिनका संबंध भूमि और यज्ञ संबंधी प्रारम्भिक पुराण-कथाओं (मिथ) से है। 'भागवत' के कतिपय विवरणों से इसका आभास मिलता है। 'भागवत' के प्रथम संक्षिप्त विवरण के अनुसार विश्व-कल्याण के लिये समस्त यज्ञों के

१. महा० १२, ३४५, १२–१३।
२. महा० १२, ३४२, ९३–९३।
३. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी जी० १ पृ० १०५ में डा० राधाकृष्णन् ने इसी के सदृश अग्नि के मानवीकृत (एन्थ्रोपोमार्फिक) रूप पर विचार किया है।
४. महा० १२, ३३९, ७६–७८।
५. वा० रा० ६, १२०, २२।
६. वि० पु० १, ४, ७।
७. वि० पु० १, ४, ३२–३३।
८. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड ७३ अध्याय, ब्रह्म पुराण २१३ अध्याय।

स्वामी भगवान् ने ही रसातल में गई पृथ्वी को निकाल लाने के लिये सूकर रूप ग्रहण किया था।[1] पुनः 'भागवत' के दूसरे विवरण लीलावतारों के प्रसंग में दिये हुये वराहावतार की कथा में हिरण्याक्ष वध का भी उल्लेख किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त 'भागवत' में जहाँ वराहावतार की विस्तृत कथा दी गई हैं, वहाँ प्रजापति के पूर्व संबंध को विचित्र रूप दिया गया है। 'भागवत' की उस कथा के अनुसार रसातल में डूबी हुई पृथ्वी को निकालने के लिये ब्रह्माजी सोच रहे थे। तब तक उसी समय ब्रह्माजी के नासाछिद्र से अकस्मात् अंगूठे के बराबर आकार का एक वराह शिशु निकला। उसी ने युद्ध में हिरण्याक्ष को मारा तथा वे ही दाँतों की नोक से पृथ्वी को उठाये हुये बाहर निकले। इस स्थल पर भी वराह का विश्वरूप प्रस्तुत करते समय यज्ञ के अनेक उपकरणों के साथ सांगरूपक की योजना की गई है।[3]

पौराणिक अवतारों का यह रूप गुप्त काल में ही चरम सीमा पर पहुँच चुका था। विशेषकर वराह को राज-सम्मान प्राप्त होने के कारण उसके विभिन्न रूपों का प्रसार इस युग में लक्षित होता है।[4] उपर्युक्त पौराणिक रूपों के आधार पर ही भू-वराह, आदि-वराह, यज्ञ-वराह, नृ-वराह और, प्रलय-वराह की मूर्तियों का प्रसार हुआ। इन मूर्तियों के दो प्रकार के रूप मिलते हैं। प्रथम मूर्ति का रूप बिल्कुल पशुवत् तथा दूसरी का मनुष्य और पशु संयुक्त होता था।[5] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पौराणिक युग में वराह के पुराण-कथाओं के रूप में प्रचलित प्रायः सभी रूप गुप्तकालीन उपास्य रूपों में मान्य और पूज्य थे।

इस युग में प्रचलित 'विष्णुसहस्रनाम' में विष्णु के कतिपय नामों को वराहावतार से सम्बद्ध किया गया है। 'विष्णुसहस्रनाम', शांकर भाष्य में शंकर के अनुसार पृथ्वी का जल से उद्धार करने के कारण इनका नाम वृषाकपि[6] है। हिरण्याक्ष को मारने की इच्छा से वराह रूप धारण करने के कारण इनका नाम कुंदर है।[7] इसी प्रकार यज्ञ से सम्बद्ध होने के कारण इनका नाम यज्ञांग कहा गया है।[8] पंचरात्रों के ३९ विभवों में वराह नाम प्रचलित है।[9]

---

१. द्वितीय तु भवायास्य रसातल गतांमहीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः॥ भा० १, ३, ७।

२. भा० २, ७, १। ३. भा० ३, १३।

४. गुप्तसाम्राज्य का इतिहास जी २ पृ० २१८।

५. एलिमेंट आफ हिन्दू इकानोग्राफी (टी० ए० गोपीनाथ राव) पृ० १२९।

६. विष्णु सहस्रनाम शां० भा० पृ० २९९।

७. विष्णु सहस्रनाम शां० भा० पृ० २२६।

८. विष्णु सहस्रनाम शां० भा० पृ० २६०। ९. अहिर्बु० सं० ५, ५०-५७।

दसवीं एवं बारहवीं शताब्दी के साहित्यकारों में क्षेमेन्द्र ने पृथ्वी एवं हिरण्याक्ष-वध की कथा ग्रहण की है। परन्तु यज्ञ वराह नाम का इनमें अभाव है।[1] जयदेव ने केवल पृथ्वी धारण करने की घटना का दोनों स्थानों में वर्णन किया है।[2] 'पृथ्वीराजरासो' में वराहावतार का पौराणिक रूप गृहीत हुआ है। देवताओं की पुकार पर जगदीश हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं। यहाँ राम, कृष्ण आदि महाकाव्यों के अवतारों के सदृश इस अवतार को भी देव-शत्रु-बध एवं भूभार-हरण की परम्परा से सम्बद्ध किया गया है।[3] 'लघुभागवतामृत' में इनके विभिन्न रूपों का कल्प और मन्वन्तर-भेद-जनित सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। रूप गोस्वामी का कहना है कि यज्ञ वराह ने ही पृथ्वी का उद्धार और हिरण्याक्ष का बध किया था। ब्राह्म कल्प में वराह का दो बार आविर्भाव होता है। प्रथम आविर्भाव स्वयम्भूव मन्वन्तर में पृथ्वीका उद्धार करने के लिये ब्रह्मा जी की नासिका-रन्ध्र से और द्वितीय चाक्षुष मन्वन्तर में पृथ्वी का उद्धार और हिरण्याक्ष-बध के लिये हुआ।[4] इसके अतिरिक्त वराह के दो विग्रहों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वराह जी कभी चतुष्पद और कभी नृ-वराह मूर्ति प्रकट करते हैं। साथ ही इन वराह रूपों के श्वेत वराह और यज्ञ वराह आदि दो भेद भी माने गये हैं।[5]

मध्यकालीन कवियों ने वराह का पौराणिक रूप एवं प्रयोजन ही ग्रहण किया है। 'सूरसागर' में सूरदास कहते हैं कि ब्रह्मा ने हरिपद का ध्यान किया तब हरि वराह का शरीर धारण कर पृथ्वी को ऊपर ले आये।[6] एक दूसरे पद में जय-विजय के अवतार हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु में 'भागवत' के आधार पर सूरदास ने वराह के द्वारा हिरण्याक्ष-बध की चर्चा की है। इनके पदों के अनुसार हिरण्याक्ष ने पृथ्वी को लेजाकर पाताल में रख दिया था। इस पर ब्रह्मा ने दीन-बन्धु गोपाल से प्रार्थना की कि तुम्हारे बिना असुरों का संहार करने वाला और पृथ्वी का उद्धार करने वाला कौन है। फलतः हरि द्वारा पृथ्वी को ऊपर लाते समय हिरण्याक्ष ने रोका और क्रोधित होकर कहा कि तुमने

---

१. दशावतार। क्षेमेन्द्र। पृ० ११-१४।

२. गीतगोविन्द। जयदेव। पृ० ६ प० १० सर्ग० १।

३. पृथ्वीराजरासो पृ० १९३ दूसरा समय 'सूर राज काज उप्पर करन, कोल रूप जगदीसधरे'।

४. लघुभागवतामृत पृ० ४६। ५. लघुभागवतामृत पृ० ४६।

६. ब्रह्मा हरिपद ध्यान लगायौ, तब हरि बपु बराह धरि आयौ।
है बराह पृथ्वी ज्यौं ल्यायौ, सूरदास त्यौंही सुक गायौ।
सूरसागर। ना० प्र० स०। जी० १ पद ३९१।

है और श्री एस० वारिङ्ग के इन कथनों को उद्धृत किया है जिसमें कूर्म और विष्णु से सम्बद्ध आधारों का अनुमान किया गया है।[1] 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति के कूर्म-रूप धारण करने की चर्चा हुई है। जे० म्योर ने श० ब्रा०। ७, ५, १, ५। के आधार पर कहा है कि प्रजापति ने कूर्म-रूप धारण कर प्रजाओं की सृष्टि की। उनके मतानुसार कश्यप शब्द का अर्थ कूर्म होता है। अतएव सारी प्रजा कश्यप द्वारा उत्पन्न कही जाती है। यह कूर्म या कश्यप ही आदित्य है।[2] 'जैमिनि ब्राह्मण'। ३, २७२। के आधार पर कहा गया है कि प्रारम्भ में जल में से कूर्म-रूप में उत्पन्न होकर प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। जे० गोंद के अनुसार जल देवता वरुण से कूर्म को अभिहित किया जाता था। अतएव विष्णु और वरुण दोनों पृथ्वी के पति माने जाते थे।[3] इस आधार पर कूर्म का विष्णु से सम्बन्ध होने की सम्भावना हो सकती है।

'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है कि स्रष्टा प्रजापति में जो बहने[4] योग्य अंश था वही कछुये का रूप धारण कर पानी में इधर उधर घूम रहा था।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में मत्स्य वराह और कूर्म का सम्बन्ध सामान्यतः प्रजापति से ही रहा है। 'विष्णु पुराण' में प्रजापति के ही ये तीनों रूप स्वीकार किये गये हैं।[5] किन्तु कूर्मावतार का महाकाव्यों और पुराणों में जिस समुद्र मन्थन से सम्बन्ध रहा है, उसका मूल रूप वैदिक साहित्य में विरल है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में देवों और असुरों की एक कथा में स्वतन्त्र रूप से समुद्र मन्थन के बीज देखे जा सकते हैं। उसमें कहा गया है कि देवों और असुरों ने झगड़ा किया। देवों ने छठे दिन के कृत्य से इन असुरों को निकाल दिया। असुरों को जो कुछ हस्तगत हो सका उसको उन्होंने ले लिया और समुद्र में फेक दिया। देव पीछे दौड़े और इस छन्द के द्वारा जो कुछ उन्होंने लिया था उसे वे छीन लाये। इस सातवें पद ने कँटिया या अंकुश का काम किया जिसके द्वारा समुद्र से चीजें निकाल ली गईं।[6]

'महाभारत' के अनुसार समुद्रमन्थन के समय समुद्र से अनुमति लेने के पश्चात् देवताओं ने कूर्म से आग्रह किया। कूर्म ने मन्दराचल को पीठ पर रखना स्वीकार कर लिया।[7] यहाँ कूर्म को प्रजापति या विष्णु का अवतार नहीं बतलाया गया है। 'वाल्मीकि रामायण' में समुद्रमन्थन के समय पर्वत के

---

१. ग्रिफिथ का अनुवाद शुक्ल यजुर्वेद पृ० १४०, १४१, में यजुः १३–२७, ३० और ३१ की व्याख्या।

२. जे० म्योर ओ० सं० टे० जी ४ पृ० २५ तथा श० ब्रा० ७, ५, १, ५ सं०।

३. स्पैक्ट्स आफ वैष्णविज्म पृ० १२७। ४. तै० आ० १, २३, ३।

५. वि० पु० १, ४, ७, ८।

६. ए० ब्रा० ५, २, १०। ७. महा० १, १८, ११–१२।

पाताल में प्रवेश कर जाने पर भगवान् कूर्म-रूप धारण कर वहीं समुद्र में सो गये।[1] 'विष्णुपुराण' में भी भगवान् स्वयं कूर्म-रूप धारण कर क्षीरसागर में घूमते हुये मन्दराचल के आधार हुये।[2] 'भागवत' के तीनों विवरणों में वे विष्णु के अवतार-रूप में ही गृहीत हुये हैं।[3] किन्तु जहाँ कूर्म की विस्तृत कथा का वर्णन है वहाँ मन्वन्तरावतारों से इनका सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहा गया है कि चाक्षुष मन्वन्तर में भगवान् अजित-रूप में आविर्भूत हुये थे वे ही कच्छप-रूप धारण कर मन्दराचल की मथनी के भी आधार बने थे।[4] 'अग्नि पुराण'[5], 'पद्मपुराण'[6] आदि अन्य पुराणों में भी प्रायः कूर्म का एकमात्र सम्बन्ध समुद्रमन्थन से ही माना गया है। अन्य अवतारों के समान कूर्मावतार के भी पूर्ववर्ती और परवर्ती दो रूप विदित होते हैं। पूर्ववर्ती रूप का सम्बन्ध प्रजापति एवं सृष्टि-विकास से तथा परवर्ती रूप का विष्णु और समुद्रमन्थन से रहा है।

नृसिंह के सदृश कूर्मावतार का अपना सम्प्रदाय लक्षित नहीं होता और न तो वराह के सदृश स्वतन्त्र रूप से इनकी अधिक मूर्तियों के ही प्रचार का पता चलता है। केवल दशावतारों के साथ कूर्म की मूर्त्ति का भी अस्तित्व मिलता है।[7] क्षेमेन्द्र और जयदेव ने पौराणिक रूप ग्रहण करते हुये समुद्र मन्थन से सम्बद्ध कूर्म का विष्णु और कृष्णरूप का अवतार माना है।[8] 'पृथ्वीराजरासो' में कूर्मावतार सम्बन्धी अन्य कलाओं की अपेक्षा देवासुर संग्राम की ही प्रधानता है। इसी से इनका कूर्मावतार रासो के अनुसार दानवों के संहार के निमित्त होता है।[9] पञ्चरात्र एवं 'तत्त्वत्रय' के विभवों में ये कमठेश्वर के नाम से गृहीत हुये हैं।[10] वल्लभाचार्य ने 'भागवत' (११, ४, १८)

---

१. वा० रा० १, ४५, २९। २. वि० पु० १, ९, ८८।
३. भा० १, ३, १६, भा० २, ७, १३, भा० ११, ४, १८।
४. भा० ८, ५, ७–१०। ५. अग्नि पु० ३, अध्याय।
६. पद्म पु० उत्तरखण्ड अ० २६०।
७. इण्डियन इमेजेज पृ० १४ में कहा गया है कि कूर्मपूजा संथाल, मूंडा आदि आदिवासियों तथा परवर्ती कबीर सम्प्रदाय में कूर्म जी के नाम से प्रचलित है। इसी सम्प्रदाय में एक ऐसे कूर्म का उल्लेख मिलता है जिनके पेट में पड़े हुए मसाले से निरंजन ने सृष्टि रचना की थी। कबीर पृ० ५४–५५।
८. क्षेमेन्द्र : काव्यमाला। पृ० ८ कूर्म १० जयदेव : गीतगोविंद सर्ग १, २।
९. पृथ्वीराज रासो पृ० १८९–१९१ दूसरा समय।
'धरि कच्छप को रूप, भूप दानव संहारे।
तह लच्छि सागर सुमथि, रिष्ष आपन सुधारे।'
१०. तत्त्वत्रय पृ० ११२–११३।

की 'सुबोधनी व्याख्या' में मत्स्य, हयग्रीव और वराह के साथ इन्हें देहाभिमान-रहित माना है।[1] 'लघुभागवतामृत' और[2] 'सात्वततन्त्र' में[3] इनके भागवतानु-मोदित रूप गृहीत हुये हैं।

इससे स्पष्ट है कि परवर्ती पुराणों तथा उनके भाष्यों में विशेषकर 'भागवत' का ही रूप सर्वाधिक प्रचलित हुआ जिसका प्रभाव सगुण सम्प्रदायों पर लक्षित होता है। अतः मध्यकालीन कवियों ने कूर्मावतार के तत्कालीन युग में प्रचलित 'भागवत' के ही रूपों को ग्रहण किया है। सूरदास के कथनानुसार कूर्मावतार का सम्बन्ध तो समुद्र-मन्थन से ही रहा है परन्तु उसके प्रयोजन को देवहित से सम्बद्ध किया गया है। सूरदास के एक पद में कहा गया है कि 'प्रहलाद-पौत्र बलि' ने देवताओं को बहुत कष्ट दिया। फलतः देवता हरि की शरण में गये।[4] तब देवताओं के कल्याण के लिये हरि ने कूर्म-रूप धारण किया और समुद्र मथ कर अमृत निकाला।[5] पुनः पौराणिक रूप की चर्चा करते हुये कहा गया है कि समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल डूबने लगा। तब देवताओं की प्रार्थना सुनकर हरि ने कूर्म-रूप धर कर पीठ पर पर्वत रखा।[6] 'सूरसारावली' में इसका सारांश प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि देवता और दानवों ने मिलकर जब चौदह रत्न निकाले थे तब हरि ने कूर्म-रूप धारण कर पर्वत को अपनी पीठ पर रखा था।[7] 'अवतारलीला' के रचयिता नरहरिदास बारहठ ने भी कूर्म की कथावस्तु 'भागवत' से ही ग्रहण की है। समुद्र-मंथन के साथ-साथ देवताओं का उद्धार यहाँ भी प्रमुख प्रयोजन माना गया है।[8] राम-भक्ति-शाखा के कवियों में तुलसीदास, कान्हरदास और दरबारी कवि केशवदास ने मन्दराचल धारण करने वाले राम के कूर्म-रूप का वर्णन किया है।[9] इस प्रकार कूर्म भी अन्य अवतारों के साथ मध्यकालीन

---

१. सुबोधिनी भा० १०, २, ४० और ११, ४, १८ की व्याख्या।

२. लघुभागवतामृत पृ० ६२–६३। ३. सात्वत तंत्र पृ० ९।

४. बलि सुरपति को बहु दुख दयौ, तब सुरपति हरि सरने गयौ।
हरि जू अपने विरद संभारयौ, सूरज प्रभु कूरम तनु धारयौ।
सूरसागर पृ० १७२, पद ४३५।

५. सूरसागर पृ० १७२, पद ४३५। ६. सूरसागर पृ० १७३ पद ४३५।

७. सुर अरु असुर मथन कीन्हों निधि चौदह रत्न विकार।
पर्वत पीठ धरेउ हरि नीके लियो कूर्म अवतार। सूरसारावली प्र० पृ० ४।

८. उद्धरेरत्र क्रीडा उदार, हरि करयौ तहाँ कमठावतार।
अवतार लीला ह० लि० पृ० २७–३० 'समुद्रमन्थन कीनो समंथ'।

९. (क) तु० ग्रं० विनयपत्रिका पृ० ४० पद ५२।
कमठ, अति विकट तनु, कठिन पृष्ठोपरि भ्रमत, मंदर कंडु सुख मुरारी।

उपास्यों के अवतार माने गए हैं। किन्तु सगुण कवियों में इनके स्वतन्त्र उपास्य रूप का वर्णन नहीं मिलता है। पर निर्गुण पन्थी कबीर मत के साहित्य में एक नव निर्मित कूर्म-रूप का उल्लेख हुआ है जिनके पेट में पड़े हुए मसाले से निरञ्जन ने सृष्टि-रचना की। फलतः कूर्मावतार के सगुणवादी और निर्गुणवादी दो रूप आलोच्यकालीन साहित्य में मिलते हैं।

नृसिंह

नृसिंहावतार की कथा का रूप पुराण और वैष्णव साहित्य में प्रायः एक ही प्रकार का मिलता है। पुराणों के अनुसार हिरण्यकशिपु के पुत्र की रक्षा एवं उनके बध के निमित्त विष्णु का यह पशु मानव संयुक्त अवतार माना गया है। यों तो भारोपीय देवताओं में पशु या पशु-मानव (थेरियोएन्थ्रोपिक) देवताओं का रूप सर्वथा दुर्लभ नहीं है[1] जिनका वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र दर्शन होता है। परन्तु नृसिंहावतार से सम्बद्ध पुराणों की कथा के अनुरूप उसके निश्चित मूलस्रोत का वैदिक साहित्य में अभाव है। नृसिंह शब्द पुरुष सिंह के सदृश स्पष्ट ही किसी पुरुष विशेष के बल एवं पराक्रम का द्योतक प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में साधारणतः देवताओं के बल और शौर्य की अभिव्यक्ति के लिये सिंह, व्याघ्र आदि पशुओं के पराक्रम से तुलना की गई है या विशेषण के समान उपयोग किया गया है।[2] विष्णु के पराक्रम की तुलना करते हुये ऋ० सं० के एक मन्त्र में कहा गया है कि चूँकि विष्णु के तीन पादक्षेप में सारा संसार रहता है इसलिये भयङ्कर, हिंस्र, पार्वतीय प्रदेश में रहने वाले मृग या अन्य वन्य जानवर के समान संसार विष्णु के विक्रम की प्रशंसा करता है। इस ऋचा के भीम मृग से पराक्रमी सिंह का बोध होता है। 'नृसिंह तापनीय उपनिषद्' में भी इसे उद्धृत किया गया है।[3]

(ख) राग कल्पद्रुम जी १ पृ० ६७९।

प्रभु कच्छप रूप बनायो मंदराचल पीठ धरायो।

(ग) रामचंद्रिका पूर्वार्द्ध पृ० ३६०-३६१, २४।

१. प्राइमर आफ हिन्दूइज्म में फर्कुहर ने ईजिप्ट, असीरिया आदि देशों में मैन लोएन मैन, वर्ड, और मैन फिश आदि रूपों में उपलब्ध देवताओं का उल्लेख किया है।

२. शुक्ल यजुर्वेद १९, ९१, ९२ में इन्द्र की सिंह आदि पशुओं से तुलना की गई है।

३. (क) ऋ० १, १५४, २, प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

(ख) नृ० पू० ता० उ० २, ४ में नृसिंह को भी इन ऋचाओं के विशेषणों से अभिहित किया गया है।

इस विशेषण का सम्बन्ध 'यजुर्संहिता' में इन्द्र से स्थापित किया गया है।[१] इन कथनों के आधार पर उक्त रूप का विशेष प्रचार विदित होता है। मि० कीथ ने नृसिंहावतार का बीज यजुर्वेद २९, ८ तथा श० ब्रा० १३, २, ४, २ में प्रयुक्त 'पुरुष व्याघ्राय' से माना है।[२] विष्णु के विशेषण के रूप में 'पुरुष व्याघ्र' का प्रयोग 'महाभारत' में भी मिलता है।[३] किन्तु इन प्रयोगों से पौराणिक कथाओं के स्पष्ट सम्बन्ध का भान नहीं होता। कुछ विद्वानों ने कथा-तत्वों के साम्य को लेकर नृसिंह-कथा का सम्बन्ध वैदिक साहित्य में प्रचलित इन्द्र-नमुची कथा से माना है।[४] 'ऋग्वेद' एवं 'यजुर्वेद' दोनों में कहा गया है कि 'इन्द्र जिस समय तुमने सारे शत्रुओं को जीता था उस समय जल के फेन द्वारा ही नमुची का सिर छिन्न-भिन्न किया था।'[५] 'शतपथब्राह्मण' में इस आख्यान का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। वहाँ नमुची इन्द्र से वर माँगता है कि वे उसे वज्र से न शुष्क स्थान में, न आर्द्र स्थान में, न रात में, न दिन में उसका शिर काटेंगे।[६] इस कथा का यह अंश हिरण्यकशिपु की वर प्राप्ति की कथा से साम्य रखता है। 'भागवत' के अनुसार हिरण्यकशिपु भी वर मांगता है कि 'मैं ब्रह्मा द्वारा निर्मित मनुष्य, पशु, प्राणी, अप्राणी, देवता, दैत्य और नाग से अवध्य होऊँ। तथा भीतर या बाहर, दिन में या रात्रि में, अस्त्र या शस्त्र से, पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो।'[७] किन्तु 'भागवत' में इन्द्र-नमुची-बध की कथा भी गृहीत हुई है जिसमें नमुची सूखी या गीली वस्तु से नहीं मारा जा सकने के कारण इन्द्र द्वारा फेन से मारा जाता है।[८] इस आधार पर हिरण्यकशिपु के वरदान की घटना को इससे केवल प्रभावित माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त नाम साम्य की दृष्टि से 'अथर्वसंहिता' में हिरण्यकशिपु[९] का, तथा ऋ० सं० और 'तैत्तिरीय संहिता' में हिरण्यकशिपु के पुरोहित शण्डामर्क

---

१. शुक्ल यजुर्वेद १८, ७१।
२. रेलिजन ऐन्ड फिलोसोफी आफ दी ऋ० वेद ऐन्ड उपनिषदस पृ० १९३ तथा यजुर्वेद २९, ८ और श० ब्रा० १३, २, ४, २।
३. महा० ३, १८८, १८ स एष पुरुष व्याघ्र पीतवासा जनार्दनः।
४. ज० रा० ए० सो० ९ बम्बई जी० २४-२५, पृ० १२९।
५. शुक्ल यजु० १९, ७१ तथा ऋ० ८, १४, १३।
६. श० ब्रा० १२, ७, ३, १-४।
७. भा० ७, ३, ३५-३६।
८. भा० ८, ११, ३२-४०।
९. अथर्व सं० ५, ७, १०।

का उल्लेख मिलता है।[१] ऋ० सं० के अनुसार 'इन्द्र ने शूराभिमानी और स्पर्द्धावान् शाण्डिकों के प्रधान शण्डामर्क को मारा था।'[२] उक्त उपादानों से नृसिंह-हिरण्यकशिपु कथा के विभिन्न स्रोतों का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक नृसिंह-विष्णु का सम्बन्ध है 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें प्रपाठक के एक मन्त्र में वज्र नख वाले और तीक्ष्ण दाँतवाले नृसिंह का उल्लेख हुआ है।[३] यहाँ नृसिंह के कथात्मक रूप की अपेक्षा उपास्य रूप ही अधिक स्पष्ट है। अतः संभव है कि दक्षिण के प्राचीन नृसिंह-सम्प्रदाय के[४] प्रभावानुरूप इसका समन्वय किया गया हो।

'महाभारत' 'नारायणीयोपाख्यान' के पश्चात् नृसिंह-कथा में हिरण्यकशिपु के बध की चर्चा हुई है।[५] कालान्तर में पुराणों में भी नृसिंह-हिरण्यकशिपु की कथा में एकरूपता रहती है। क्योंकि विष्णुपुराण की विस्तृत कथा में प्रह्लाद की रक्षा के निमित्त विष्णु उक्त राक्षस का बध करते हैं।[६] वही कथा 'भागवत' के तीनों विवरणों में, तथा विस्तृत रूप में किञ्चित परिवर्तन के साथ गृहीत हुई है।[७] अन्य पुराणों में भी कथावस्तु एवं प्रयोजन में कोई उल्लेखनीय अन्तर लक्षित नहीं होता। फर्कुहर के अनुसार दक्षिण में नृसिंह-सम्प्रदाय का प्रचार माना जाता है। सम्भवतः उसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध रचना नृसिंह 'पूर्व' और 'उत्तर तापनीयोपनिषद्' में नृसिंह के अवतार-रूप की अपेक्षा उपास्य-रूप दृष्टिगत होता है।[८]

'नृसिंह पूर्व तापनीयोपनिषद्' के अनुसार भगवान् विष्णु का क्षीरसागर में शयन करने वाला विग्रह नृसिंह रूप है।[९] ये ही षोड़श कलाओं से युक्त एवं त्रिविध ज्योतियों में व्याप्त रहते हैं इसलिये महाविष्णु कहे जाते हैं।[१०] जगत के कल्याण के निमित्त नर और सिंह दोनों संयुक्त रूप धारण कर प्रकट

---

१. वैदिक साहित्य। रामगोविंद तिवारी। पृ० ५९ तथा ऋ० २, ३०, ८ और तै० सं० ६, ४, १०।

२. ऋ० २, ३०, ८।

३. वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्ण दंष्ट्राय धीमहि, तन्नो नारसिंह प्रचोदयात्।
तै० आ० १०, १, ६।

४. फर्कुहर ने पृ० १८८ में दक्षिण में एक नृसिंह सम्प्रदाय का अस्तित्व माना है।

५. महा० १२, ३३९, ७८।

६. वि० पु० १, १६-२०।

७. भा० पु० १, ३, १८, भा० २, ७, १४, भा० ७, २-१०।

८. फर्कुहर ने पृ० १८८ नृसिंह सम्प्रदाय का प्रचार दक्षिण में माना है तथा नृ० ता० उ० का समय ५५०-१००० ई० के मध्य में स्थिर किया है।

९. नृसिंह पू० ता० उ० १, ५।

१०. नृसिंह पूर्व० ता० उ० २, ४।

होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों रूपों में लीला करने के कारण नृसिंह कहे जाते हैं।[१]

परन्तु मध्यकालीन साहित्य में उनके साम्प्रदायिक एवं उपनिषद् रूप की अपेक्षा पौराणिक अवतार-रूप ही विशेषरूप से गृहीत हुआ। क्षेमेन्द्र और जयदेव दोनों ने पौराणिक रूपों का वर्णन किया है।[२] 'पृथ्वीराजरासो' में देवता भगवान् के इस अवतार के निमित्त पुकार करते हैं। जिसके फलस्वरूप वे आविर्भूत होकर हिरण्यकशिपु का नाश करते हैं। यहाँ प्रह्लाद ने अपनी स्तुति में उनके पूर्व अवतारों में किये हुये विभिन्न अवतारी कार्यों का उल्लेख किया है। उनकी स्तुति के अनुसार वे देवताओं के कार्य के लिये तथा सभी के कल्याण के लिये युग-युग में अवतार धारण करनेवाले हैं।[३] महाकवि सूरदास ने 'भागवत' की नृसिंह-कथा का विस्तार करते हुये कहा है कि हिरण्याक्ष के मारने के पश्चात् हिरण्यकशिपु ने बदला लेने के लिये कठिन तप किया।[४] इस तपस्या के वरदान-स्वरूप रात या दिन, आकाश या पृथ्वी में, अस्त्र या शस्त्र सभी से वह अवध्य हो गया है।[५] फिर भी अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिये और उसका वचन सत्य करने के लिये[६] खम्भ फाड़कर नृसिंह प्रकट हुए[७] उन्होंने संध्या समय नख से उसका उदर फाड़ दिया।[८] सूरदास के अनुसार भक्त की रक्षा ही इस अवतार का प्रमुख प्रयोजन है।[९] यद्यपि देवता भी इससे सुखी होते हैं,[१०] किन्तु उनका क्रोध शान्त करने के लिये वे प्रह्लाद से ही आग्रह करते हैं।[११] यहाँ नृसिंह अवतार ही नहीं अपितु उपास्य भी हैं। वे दीनानाथ, दयालु, भक्तों के निमित्त

---

१. नृसिंह पूर्व० ता० उ० २, ४।
२. दशावतार चरित नृसिंहवतार, गीतगोविंद १, ४।
३. पृथ्वीराजरासो पृ० २०२ दूसरा समय।
पधारे निजधाम, काम सुर सेव किए सब।
जुग जुग सब जन हेत लिये अवतार तबहि तब।
४. सूरसागर पृ० १६२ पद ४२१। ५. सूरसागर पृ० १६२ पद ४२१।
६. सूरसागर पृ० १६४ पद ४२१।
७. कटि तब खंभ भयौ है फारि बिकसे हरि नरहरि वपु धारि।
सूरसागर पृ० १६४ पद ४२१।
८. सू० सा० पृ० १६५ पद ४२१।
९. सूरसागर पृ० १६५ पद ४२१ भक्त हेत तुम असुर संहारी।
१०. मुयौ असुर सुर भए सुखारी। सूरसागर पृ० १६५ पद ४२१।
११. तुम्हरे हेत लियौ अवतार, अब तुम जाइ करौ मनुहार।
सूरसागर पृ० १६५ पद ४२१।

असुरों का संहार करने वाले हैं।[1] सूरदास ने 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' दोनों में इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि निर्गुण और सगुण दोनों दृष्टियों से देखा, किन्तु प्रह्लाद जैसा भक्त नहीं मिला।[2] उन्होंने भक्त प्रह्लाद को मन्वन्तर का राज्य प्रदान किया। सूरदास के अनुसार जहाँ-जहाँ भक्तों पर भीड़ पड़ती है वहाँ-वहाँ वे प्रकट हुआ करते हैं।[3]

नरहरिदास बारहट ने उक्त कथा का अनुमोदन करते हुये अन्त में कहा है कि असुरेश ने प्रह्लाद का उद्धार कर राज्य प्रदान किया तथा उसे अपना भक्त बना लिया।[4] तुलसीदास के कथनानुसार राम ने नृसिंह-रूप धर कर हिरण्यकशिपु को मारा और भक्त प्रह्लाद को प्रसन्न किया।[5] कान्हरदास और केशवदास के अनुसार इस अवतार में राम ने प्रह्लाद का दुःख दूर किया और उसकी प्रतिज्ञा पूरी की।[6]

अतः यह स्पष्ट है कि नृसिंह मध्यकाल में केवल अवतार ही नहीं रहे अपितु भक्तों की रक्षा करने वाले उपास्य भगवान् के रूप में प्रचलित हुये। इस प्रकार इस युग के अवतारवाद में उपास्य प्रवृत्ति का अत्यधिक समन्वय लक्षित होता है। सगुणोपासकों के अतिरिक्त सन्तों में नृसिंहावतार अधिक लोकप्रिय विदित होता है। सन्तसाहित्य पर विचार करते समय इसका विवेचन किया गया है।

वामन

नृतत्त्व विज्ञानवेत्ता टालयर ने पौराणिक कथाओं के विकास के प्रति लिखा है कि 'पौराणिक कहानियाँ सदैव अपना रूप और अर्थ बदलती रहती हैं।' कथा-गायकों द्वारा उनका इस प्रकार परिवर्तन होता है कि प्रत्येक युग में उनका

---

१. सूरसागर पृ० १६५ पद ४२१।
दीनानाथ दयाल मुरारि मम हित तुम लीन्हो अवतार।

२. सूरसागर पृ० १६७ पद ४२४।
निर्गुन सगुन होइ मैं देख्यौ, तोसों कहूँ नहिं पैहौं। सूरसारावली पृ० ५, १३२।

३. सूरसारावली पृ० ५, प० १३२।

४. अरु कीनौ असुरेस, दास अपनौ करि लीनौ। अवतार लीला। ह० ले०। पृ० ६२।

५. अतुल मृगराज वपु धरित, विद्धरित अरि, भक्त प्रह्लाद अह्लाद कर्ता।
तु० ग्रं० विनयपत्रिका पद ५२।

६. (क) रा० च० पूर्वार्द्ध पृ० ३६०–३६१
तुम ही नरसिंह को रूप संवारो, प्रह्लाद को दीरघ दुःख विदारो।
(ख) रा० कल्पद्रुम जी० १ पृ० ६७९
शूकर नरहरि बपुधारी, प्रह्लाद प्रतिज्ञा पारी।

एक नया रूप बन जाता है। क्योंकि कथा-गायक प्रत्येक युग की प्रवृत्तियों के अनुसार उनमें कुछ न कुछ नया तथ्य जोड़ते रहते हैं।[1]

इस धारणा का सर्वाधिक साम्य वामन आदि अवतारों के विकास में प्रतीत होता है। मध्यकालीन साहित्य में जिस वामन का परिचय मिलता है वे प्रारम्भिक वैदिक काल में सूर्य के एक रूप विशेष मात्र लक्षित होते हैं। अन्य अवतारों की अपेक्षा सर्वप्रथम वामन ही विष्णु से अधिक सम्बद्ध दीख पड़ते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध नाम की अपेक्षा 'तीन पगों' के पराक्रम को लेकर विशेष रूप से रहा है। क्योंकि वामन या विष्णु के 'त्रिविक्रम' या 'उरुक्रम' आदि नाम उनके तीन पदाक्षेप की ओर ही इङ्गित करते हैं। 'ऋ० संहिता' में प्रायः कतिपय स्थलों पर विष्णु के तीन पदाक्षेप का उल्लेख हुआ है। उन ऋचाओं के अनुसार वे सातों छन्दों द्वारा विविध प्रकार के पादक्रम करते हैं,[2] तथा जगत की परिक्रमा करते समय तीन प्रकार से अपने पैर रखते हैं और उनके धूलियुक्त पैर से जगत छिप सा जाता है।[3] वे जगत के रक्षक हैं। वे समस्त धर्मों को धारण करने वाले और तीन पग से विश्व की परिक्रमा करने वाले हैं।[4] तीन पग से तीनों लोकों को मापने के कारण वे कीर्तनीय हैं[5] तथा उसी तीन पग के बीच विश्व का निवास होने के कारण वे प्रशंसनीय हैं।[6] क्योंकि अकेले ही उन्होंने तीनों लोकों को मापा था और अकेले ही तीनों को धारण कर रखा है।[7] इस प्रकार विष्णु के तीन पग से सम्बद्ध ऋचायें 'यजु' एवं 'अथर्व' संहिताओं में भी मिलती हैं।[8] उक्त ऋचाओं में प्रयुक्त तीन पदाक्रम का भाव निरुक्तकार तथा दुर्गाचार्य ने क्रमशः पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग तथा अग्नि, वायु और सूर्य से माना है और अरुणाभ ने सूर्य के उदय-मध्य और अस्त से लिया है। किन्तु भाष्यकार सायण ने इन्हें विष्णु के वामनावतार के तीन पग माने हैं।[9] फिर भी कार्य साम्य के आधार पर यहाँ वामनावतार के मूल सूत्र देखे जा सकते हैं। बाद में चलकर वामन-विष्णु की कथा का 'तैत्तिरीय संहिता' एवं ब्राह्मणों में चलकर विशेष प्रसार हुआ है। यों तो 'तैत्तिरीय संहिता' में विष्णु-सखा इन्द्र से भी एक कथा सम्बद्ध है।

---

१. एन्थ्रोपौलोजी, टायलर, पृ० ३९६–३९७।

२. ऋ० १, २२, १६। ३. ऋ० १, २२, १७।

४. ऋ० १, २२, १८। ५. ऋ० १, १५४, १।

६. ऋ० १, १५४, २। ७. ऋ० १, १५४, ३ और ऋ० १, १५४, ४।

८. यजु ३, १५ और ३४, ४३ तथा अथर्व ७, २६, ४ में ऋ० १, २२, १८ का मंत्र पुनः प्रयुक्त हुआ है।

९. ओरिऍटल संस्कृत टेक्स्ट। जे म्योर। जी ४ पृ० ६५।

उसमें कहा गया है कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी पूर्वकाल में असुरों के अधीन थी। देवताओं को केवल इसका उतना ही भाग प्राप्त हुआ था जितनी दूर तक एक मनुष्य बैठकर देख सकता है। जब देवताओं ने असुरों से पृथ्वी पर अपना भाग माँगा तब असुरों ने पूछा कितना भाग दें। तो देवताओं ने उत्तर दिया कि लोमड़ी तीन पग में जितना जा सकती है। इन्द्र ने लोमड़ी का रूप धारण कर तीन ही पग में सारी पृथ्वी माप दी। इस प्रकार देवताओं ने पृथ्वी प्राप्त की।[1]

किन्तु इस प्रकार की कथाओं का सम्बन्ध विष्णु से भी मिलता है। 'तैत्तिरीय संहिता' में ही तीन पग से विष्णु वामन रूप धर कर तीनों लोकों को जीत लेते हैं। इसके अतिरिक्त इस उपाख्यान में विष्णु को देवताओं में श्रेष्ठ प्रमाणित किया गया है।[2] 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कहा गया है कि इन्द्र और विष्णु एक साथ असुरों से युद्ध में लड़े थे। बाद में असुरों और देवताओं में यह तय हुआ कि विष्णु तीन पग में जितना माप लेंगे उतनी ही पृथ्वी देवताओं को मिलेगी। विष्णु ने विश्व, वेद और वाक् को माप लिया।[3] यहाँ विष्णु और इन्द्र दोनों एक साथ लक्षित होते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार असुर और देवता दोनों में परस्पर श्रेष्ठतर होने की प्रतिद्वन्दिता थी इसमें देवता पीछे हट रहे थे और असुर समस्त विश्व को परस्पर बाँट लेने का प्रयत्न कर रहे थे। अतः देवता भी यज्ञ रूप विष्णु को अपना नेता बना कर उनके पास पहुँचे और अपना भाग उनसे माँगा। असुर देवताओं से ईर्ष्या करते थे। उन्होंने कहा कि जितनी पृथ्वी में विष्णु सो सकते हैं उतनी पृथ्वी हम दे सकते हैं। विष्णु सम्भवतः इसलिये चुने गये क्योंकि विष्णु वामन थे।[4] देवता इससे बहुत असन्तुष्ट हुये फिर भी उन्होंने विष्णु को मन्त्रों द्वारा प्रसन्न किया और इस प्रकार सारी पृथ्वी प्राप्त की।[5]

उक्त प्रसङ्ग में विष्णु का वामन से स्पष्ट सम्बन्ध होने के अतिरिक्त पृथ्वी से भी सम्बन्ध विदित होता है। इसमें सन्देह नहीं कि असुर-राज बलि का इन असुर-देव संघर्षों में नाम नहीं लिया गया है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तथ्य महाकाव्य एवं पौराणिक कथाओं के मूल उपादान

---

१. ज० रा० ए० सो०। लंदन १८९५। १६९ और तै० सं० ६, २, ४ तै० सं० १, ६, १।

२. तै० सं० ११, १, ३, १। ३. ऐ० ब्रा० ६, १५।

४. श० ब्रा० १, २, ५, ५।

५. हिस्ट्री आफ इंडियन फिलौसोफी दास गुप्त। जी २, ५३५-५३६, और श० ब्रा० १, २, ५।

अवश्य रहे हैं। क्योंकि बलि-वामन की पौराणिक कथा के अतिरिक्त विष्णु पुराण (३, ३, ४३-४३) और भा० ८, १३, ६ की मन्वन्तरावतार-कथाओं में जिस वामन का उल्लेख हुआ है उनका असुर राज बलि से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता,[१] फिर भी ब्राह्मणों के वामन-विष्णु अद्भुत ढङ्ग से अपने को इतना बढ़ा लेते हैं कि सारा विश्व आच्छादित हो जाता है।[२] वे वहाँ मुख्य रूप से कश्यप और अदिति के पुत्र कहे गये हैं। इस दृष्टि से वे पौराणिक वामन की अपेक्षा वैदिक वामन-विष्णु या सूर्य-रूप के अधिक निकट हैं।[३] 'महाभारत' 'नारायणीयोपाख्यान' की कथा में वामन का एक ओर तो सम्बन्ध अदिति एवं आदित्यों से है और दूसरी ओर देवताओं का कार्य करने के लिये तथा बलि को पाताल में भेजने के निमित्त अवतीर्ण होने से है।[४] इस प्रकार 'महाभारत' में वामनावतार का सम्बन्ध बलि से भी हो जाता है। 'पद्म'[५] या 'भागवत' आदि पुराणों में यही पौराणिक रूप विशेष रूप से गृहीत हुआ है। 'भागवत पुराण' के तीनों अवतार विवरणों में अदिति-पुत्र और बलि से सम्बद्ध घटनाओं का ही समावेश हुआ है।[६] पाञ्चरात्रों में वामन और त्रिविक्रम दोनों नाम ३९ विभवों में गृहीत हुये हैं।[७]

मध्यकालीन कवियों में क्षेमेन्द्र, जयदेव आदि संस्कृत कवियों ने दशा-वतारों में बलि-वामन की पौराणिक कथा का ही वर्णन किया है। जिनमें वामन मुख्य रूप से बलि को छलनेवाले माने गये हैं।[८] 'पृथ्वीराजरासो' में कहा गया है कि हरि के साथ-साथ देवता और ऋषि आदि सभी ने बहुत सुख किया। कालान्तर में बलि के सत्य से इन्द्र का सिंहासन डोलने लगा जिसके फलस्वरूप देवताओं की प्रार्थना से नृसिंह-विष्णु ने वामन अवतार धारण किया।[९]

सूरदास ने वामनावतार की चर्चा करते हुए कहा है कि अमृत मन्थन के

---

१. वि० पु० ३, १, ४२-४३ और भा० ८, १३, ६। २. तै० ब्रा० ३, २, ९, ७।

३. वि० पु० ३, १, ४२। ४. महा० १२, ३३९, ८१, ८३।

५. पद्म पु० सृष्टि खंड २५वां अध्याय, उत्तर खंड, २६६, २६७ कश्यप अदिति पुत्र वामन और बलि का छलना।

६. भा० १, ३, १९, भा० २, ७, १७-१८ भा० ८, १८, २३।

७. देवो वामन देहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः। अहि० सं० ५, ५५।

८. दशावतार-वामनावतार और गीत गोविंद पृ० १, ५, ६।

९. पृथ्वीराजरासो पृ० २०२ दूसरा समय।
जाइ जगाए श्रीपती, बलि आसुर अनपार।
तब सु पधारे नरहरी, धरि वामन अवतार।

पश्चात् बलि और असुर बहुत दुःखी हुये।[1] बलि के ९९ यज्ञ करने के फलस्वरूप देवता भी उनसे बहुत भयभीत हो गये।[2] अतः अदिति की तपस्या एवं देवताओं के कारण हरि ने वामन रूप धारण किया।[3] उन्होंने बलि के यज्ञ में जाकर पर्णकुटी छाने के बहाने तीन पद बसुधा माँगी।[4] दो पग में ही तीनों लोक समाप्त हो जाने के कारण[5] बलि ने विश्वेश को अपनी देह नापने के लिये कहा और पाताल का राज्य पाया।[6]

इस अवतार की कथा पर भी तत्कालीन युग की भक्तिजनित प्रवृत्तियों का रङ्ग पर्याप्त रूप से चढ़ चुका था। जिसके फलस्वरूप सूर्य के पादक्रम और असुर-सुर द्वन्द्व के रूप में विकसित होता हुआ बलि-वामन का रूप सेवक-सेव्य भाव में परिणत हो जाता है। सूरदास के पदों से इसका भान होता है।[7]

बारहट के कथनानुसार वामन ने बलि को बाँधते समय अपने शरीर का विस्तार किया जो तीनों लोकों में भी नहीं अँट सका।[8] अष्टछाप के कवि गोविन्द स्वामी ने वामन-जयन्ती के उपलक्ष में वामनावतार का वर्णन करते हुए कहा है कि आदिति के जीवन-आधार चतुर्भुज विष्णु-वामन बटुक होकर बलि के द्वार पर खड़े हैं।[9] एक दूसरे पद में वामन-लीला का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कहा है कि वामन ने बलि की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें बैकुण्ठ का राज्य प्रदान किया।[10]

---

१. हरि जब अमृत सरनि पियायौ, तब बलि असुर बहुत दुःख पायौ।
सूरसागर पृ० १०६ पद ४३९।

२. सूरसागर पृ० १७६ पद ४३९।

३. हरि हित उन पुनि बहुतप कर्यौ, सूर श्याम वामन बपुधर्यो।
सूरसागर पृ० १७६ पद ४३९।

४. सूरसागर पृ० १७६ पद ४४०। ५. सूरसागर पृ० १७७ पद ४४१।

६. सूरसागर पृ० १७७ पद ४४१।

७. सूरदास स्वामीपन तजि कै, सेवक पन रस भीन्यौ।
सूरसागर पृ० १७७ पद ४४२।

८. बलि बांधत बपु विस्तर्यो। तिंहुपुर मैन समाइ।
अवतार लीला। ह० लि०। पृ० ६२।

९. गोविंद स्वामी पद संग्रह पद ४८। प्रगटे श्री वामन अवतार।
निरखि अदिति करत प्रसंसा जुग जीवन आधार।
....
गोविंद प्रभु बटुक बामन है ठाढ़े है बलि द्वार।

१०. गोविंद स्वामी पद संग्रह ४९।
तीसरे ठीक ठोकि 'गोविन्द बैकुण्ठ दै रिझयौ।

तुलसीदास के कथनानुसार राम ने वामन-रूप में बलि से छल किया। पहले उससे तीन पैर पृथ्वी माँगी पर लेते समय तीनों लोक ही तीन पैर से नाप लिये। नापते समय इनके चरण नख से जो जल निकला वही 'गङ्गा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] 'दोहावली' के कतिपय दोहों में वामन के छली रूप की चर्चा हुई है।[2] सन्तों में कबीर पन्थ के परवर्ती कवियों ने भी बलि-चरित्र के रूप में वामन अवतार का वर्णन किया है। बलि के अश्वमेध यज्ञ में बाधा पहुँचाने के लिए तीन लोकों के स्वामी ने वामन-रूप धारण किया। इस प्रकार सगुणोपासकों के वामन अवतार की प्रचलित कथा का इनमें वर्णन हुआ है।[3]

चौबीस अवतारों के अतिरिक्त वामन का वि० पु० ३, १, ४२ तथा भा० ८, १३, ६ में मन्वन्तरावतारों में भी गृहीत हुआ है। सम्भवतः इसी से 'सूरसारावली' में वामन का वर्णन चौबीस अवतारों में न होकर मन्वन्तरावतारों के क्रम में हुआ है।[4]

इस प्रकार दशावतारों में गृहीत मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह और वामन पूर्णतः पौराणिक तत्वों (मीथिक एलिमेंटस) के आधार पर विकसित एवं परिवर्द्धित पौराणिक अवतार हैं। जिस प्रकार जनश्रुतियों के विकास में लोक-कल्पना का हाथ रहता है उसी प्रकार पुराणों में एवं उनसे सम्बद्ध साहित्य में गृहीत होने पर कल्पनाओं के योग से युग-युग में इन्हें नये रूपों से सुसज्जित किया गया।

परशुराम

दशावतारों में पाँच पौराणिक अवतारों के अतिरिक्त परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि जिन महापुरुषों को ग्रहण किया गया है वे इतिहास-वेत्ताओं के अनुसार ऐतिहासिक महापुरुष हैं। अतः मत्स्यादि पौराणिक अवतारों की अपेक्षा इनका अवतारवादी विकास अपना विशिष्ट स्थान रखता है। क्योंकि इनके ऐतिहासिक रूपों में जिन अवतारपरक तत्वों का

---

१. तु० ग्रं० विनयपत्रिका ५२।
छलन बलि कपट बटु रूप वामन ब्रह्म, भुवन पर्जंत पद तीन करन।
चरन-नख-नीर त्रैलोक-पावन, परह, विबुध-जननी-दुसह-सोक हरन।

२. तु० ग्रं० दोहावली दो० ३९४–३९६।

३. ज्ञानसागर पृ० २७–२८।
जानी तीन लोक के भूपा, तब पुनि कीन्हों बावन रूपा।

४. सूरसारावली पृ० १२ पद ३२९–३४५।

समावेश हुआ है उनका जनश्रुतिगत या साहित्यगत अभिव्यक्तियों से अधिक सम्बन्ध रहा है।

साहित्य में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के मूल्यङ्कन में गुण और चरित्र का विशेष योग होता है। प्रायः विभिन्न कालों में साहित्यकारों द्वारा इसके विभिन्न मापदण्ड प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। वैदिक काल में देववाद का प्राधान्य होने के कारण मानवी गुणों का दैवी और आसुरी दो भागों में विभाजन किया गया था।[1] अवतारवाद की दृष्टि से साधु एवं धर्म की रक्षा तथा दुष्टों के नाश के लिये बल, तेज और पराक्रम पुरुषों के प्रधान गुण या चिन्ह थे। ये गुण सामान्यतः वैदिक देवता इन्द्र या मुख्यतः विष्णु में माने गये थे।[2] यही कारण है कि वीर पुरुषों को प्रायः विष्णु के समान बलवान या पराक्रमी कहा जाता था।[3] वही धीरे-धीरे रूपकात्मक अभिव्यक्तियों के फलस्वरूप 'अवतार' नामक शब्द रूढ़ि के रूप में प्रचलित हुआ। उक्त ऐतिहासिक महापुरुषों में परशुराम, राम और कृष्ण के प्रारम्भिक अवतारवादी विकास में इन प्रवृत्तियों का विशेष योग रहा है।

ऐतिहासिक

परशुराम अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों में रहे हैं। अतः अबके इतिहासकार उस काल को परशुराम काल से अभिहित करते हैं तो आश्चर्य नहीं होता।[4] भार्गव परशुराम का प्राचीन भार्गव वंश से सम्बन्ध रहा है। शुकथंकर के कथनानुसार वैदिक साहित्य में इनसे सम्बद्ध अनेक पौराणिक कथायें एवं दन्तकथायें मिलती हैं।[5] जिनसे इनके पौराणिक रूपों का विकास होना सम्भव है। राम जमदग्नि का उल्लेख ऋ० १०, ११० में

---

१. गीता—१६ अध्याय ३, दैवी गुण और १६, ४, आसुरी गुणों को ही दैवी या आसुरी सम्पत्ति कहा गया है।

२. विष्णु ऋ० वेद में उरुक्रम, त्रिविक्रम के नाम से प्रसिद्ध होने के अतिरिक्त बलवान या वीर्यवान भी माने गये हैं। ऋ० १, १५४, १ के। 'विष्णोर्नु वीर्याणि प्रवोचं,' याः। ऋ० १, १५४, २ के 'प्रदत्त विष्णुः स्तवते वीर्येण' से इनके बल वीर्य का भान होता है।

३. वा० रा० १, १, १८ 'विष्णुना सदृशो वीर्ये' में राम को विष्णु के समान वीर्यवान कहा गया है।

४. दी वैदिक एज जी० १। सं० १९५१। पृ० २७९ में २५५०–२३५० ई० पू० को परशुराम काल माना गया है।

५. ऐ० भ० ओ० री० इं० जी० १८, पृ० २ निबन्ध। एपिक स्टडिज़, छठा ले० शुकथंकर।

मिलता है। तथा ऋ० १०, ९३, १४ के राम को भी इक्ष्वाकु या पृथुवंशी राम की अपेक्षा विद्वानों ने जामदग्नेयराम माना है।[1] श्री के० एम० मुंशी के अनुसार 'अथर्ववेद' में परशुराम के अवतारत्व के प्रमुख प्रयोजनों में से एक भृगु और हैहयवंशी लोगों के संघर्ष और गो सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख मिलता है।[2] मि० इलियट ने भी परशुराम को वैदिक काल के व्यक्तियों में माना है। इनके मतानुसार ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के संघर्ष में परशुराम ने क्षत्रियों को भगाकर मालावार तट पर ब्राह्मणों को बसाया।[3]

इन तथ्यों के आधार पर परशुराम को ऐतिहासिक व्यक्तियों में माना जा सकता है।

अवतारत्व का विकास—

राम-कृष्ण आदि के सदृश परशुराम भी प्रारम्भ में विष्णु के अंशावतार माने गये। सम्प्रदायों में गृहीत होने के अनन्तर राम और कृष्ण तो पूर्णावतार और अवतारी ब्रह्म के रूप में मान्य हुये। किन्तु परशुराम में एक विशेष बात यह लक्षित होती है कि विष्णु तेज और वीर्य से युक्त होने के कारण परशुराम विष्णु के अवतार तो बनते हैं, पर वही तेज वीर्य और पराक्रम राम द्वारा हरण कर लिये जाने पर वे अवतारत्व से हीन हो जाते हैं।[4] यह युग सत्य इतिहास एवं दर्शन की अपेक्षा साहित्यक अधिक है। क्योंकि सहस्रों वर्षों का अन्तर होने पर भी कवि अपने प्रतिपाद्य पात्र का महत्त्व पूर्ववर्ती पात्र का लघुत्व दिखा कर व्यक्त कर सकता है। अवतारवाद के इस रूप से यह अनुमान किया जा सकता है कि महाकाव्य काल के प्रारम्भ में यदि कोई रूपकात्मक या अंशावतार की भावना विद्यमान थी तो वह दर्शन या सम्प्रदाय की अपेक्षा काव्य या साहित्य में थी। यों ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारम्भिक 'महाभारत' में इन्हें अभी हाल ही के वीर पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है।[5] श्री शुकथंकर एवं के० एम० मुंशी का कथन है कि गीता (१०) में जिस राम को विभूतियों में ग्रहण किया गया है वे भार्गव राम हैं। गीता के

१. ऋ० १०, ९३, १४। में प्रयुक्त राम और न्यु० ई० एन्टी० (बम्बई) जी० ६ पृ० २२०।

२. न्यु० ई० एन्टीकेरी जी० ६ पृ० २२०, और दी अर्ली आर्यन्स इन गुजरात पृ० ५९।

३. हिन्दूइज्म ऐन्ड बुद्धिज्म जी० २ पृ० १४८।

४. वा० रा० १, ७६, ११-१२।

५. न्यु० इ० एन्टीकेरी जी० ६ पृ० २२०। महा० ७, ७०, ४-१४।

उस सम्बन्ध ने बाद में उन्हें विष्णु के अवतार होने में सहायता प्रदान की।[1] जो हो साम्प्रदायिक राम, कृष्ण, बुद्ध आदि की तुलना में परशुराम ही एक ऐसे ऐतिहासिक अवतार हैं जिनका पौराणिक से अधिक साहित्यिक अवतार-वादी रूप सुरक्षित है। क्योंकि पुराणों में उन्हें पूर्णावतार कभी नहीं कहा गया। उसके विपरीत उनका एक मात्र कार्य रह गया किसी अवतार (राम) की परीक्षा लेना,[2] किसी (कृष्ण) को परामर्श देना[3] तथा किसी (कल्कि) को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान करना।[4]

किन्तु इतिहासकारों ने इनके अवतारत्व से भी प्राचीन इनकी पूजा का अस्तित्व माना है। पश्चिमी भारत में दूसरी शती के एक शिलालेख के अनुसार परशुराम की पूजा प्रचलित थी। 'नासिक अभिलेख' (१९२४ ई०) में 'रामतीर्थ' की चर्चा हुई है जो 'महाभारत' के अनुसार जामदग्नेय राम की तीर्थभूमि थी।[5] इस आधार पर परशुराम से भी सम्बद्ध किसी सम्प्रदाय की सम्भावना की जा सकती है।

यों तो 'महाभारत' में कतिपय स्थलों पर परशुराम के प्रासंगिक वर्णन आये हैं परन्तु सर्वत्र इन्हें विष्णु का अवतार नहीं कहा गया है। 'महाभारत' 'वन पर्व' के एक प्रसङ्ग के अनुसार कार्त्तवीर्य के अत्याचार से घबरा कर इन्द्रादि देवताओं ने विष्णु से उसके वध की प्रार्थना की।[6] वहाँ पुनः कहा गया है कि हैहयराज ने इन्द्र पर आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप विष्णु ने उसके विनाश के निमित्त इन्द्र से मन्त्रणा की।[7] समस्त प्राणियों के कल्याण के निमित्त या सम्भवतः अवतार लेने के निमित्त ही उन्होंने बदरिकाश्रम की यात्रा की।[8] यहाँ उनके अवतार का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त 'नारायणीयोपाख्यान' में कहा गया है कि 'मैं त्रेता युग में भृगु-कुल का उद्धार करने वाला परशुराम-रूप से अवतरित होकर सेना तथा वाहनों की वृद्धि करने वाले क्षत्रियों का संहार करूँगा।[9] 'विष्णुपुराण' में कार्त्तवीर्य अर्जुन के बध करने वाले परशुराम को नारायण का अंशावतार माना गया है।[10] पुनः दूसरे स्थल पर नारायण-अंशावतार परशुराम समस्त क्षत्रियों का ध्वंस करने वाले कहे गये हैं।[11] उक्त विवरणों में सहस्रार्जुन-वध और क्षत्रियों का संहार

---

१. ऐ० भ० री० इं० जी० १८ पृ० ३८–३९ तथा न्यु० इ० एन्टीक्वेरी जी० ६, पृ० २२०।
२. वा० रा० १, ७६, १२।
३. दी वैदिक एज पृ० २८१।
४. कल्कि पु० १, ३, ४–६।
५. दी क्लासिकल एज० पृ० ४१६।
६. महा० ३, ११५, १५–१६।
७. महा० ३, ११५, १७।
८. महा० ३, ११५, १८।
९. महा० १२, ३३९, ८४।
१०. वि० पु० ३, ११, २०।
११. वि० पु० ४, ७, ३६।

दो पृथक् प्रयोजन प्रतीत होते हैं। किन्तु बाद में 'भागवत' में दोनों प्रयोजनों का समन्वय हो गया है। 'भागवत' के अनुसार परशुराम अंशावतार ने ही हैहयवंश का नाश किया और क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया था।[1]

मध्यकालीन कवियों में क्षेमेन्द्र ने कार्त्तवीर्य अर्जुन और क्षत्रियों के साथ हुये संघर्ष का विस्तृत वर्णन किया है तथा सहस्त्रार्जुन-वध को इस अवतार के प्रमुख प्रयोजनों में ग्रहण किया है।[2] जयदेव के अनुसार इस अवतार में परशुराम ने क्षत्रियों के रूधिर में जगत को स्नान करा कर संसार के पापों और तीनों तापों का नाश किया।[3] 'पृथ्वीराजरासो' में भी उक्त प्रयोजनों का समावेश हुआ है।[4]

'भागवत' के आधार पर वर्णन करने वाले तत्कालीन कवियों में सूरदास ने सहस्त्रार्जुन के अत्याचारों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके कथनानुसार सहस्त्रार्जुन ने एक दिन जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर आकर कामधेनु को बलपूर्वक लेना चाहा। परशुराम ने यह समाचार पाते ही आकर सहस्त्रार्जुन को मार डाला। सहस्त्रार्जुन का मारा जाना सुन कर उसके वंशजों ने जमदग्नि को मार दिया।

फलतः रेणुका की पुकार सुनकर परशुराम ने इक्कीसवीं बार क्षत्रियों का संहार किया।[5] 'सूरसारावली' में कहा गया है कि पृथ्वी पर दुष्ट क्षत्रियों की वृद्धि हो जाने पर, कृष्ण ने परशुरामावतार लेकर भूभार-हरण किया।[6] बारहठ ने भी भागवत की कथा के आधार पर इनके द्वारा किये गये मातृबध

---

१. भा० ९, १५, १५, तथा भा० १, ३, २०, भा० २, ७, २२ और ११, ४, २१ में भी यही प्रयोजन माने गये हैं।

२. दशावतार चरित, परशुरामावतार।

३. गीतगोविंद १, ६।

४. जमदग्नि सुतन दुज घर दियन, परसराम अवतार धर।
क्षत्रियन मारि वृंदह वरिय, करी टूक अज सहस कर।
पृथ्वीराज रासो पृ० २०५ दूसरा समय।

५. मारे छत्री इकइस आर, यौ भयौ परशुराम अवतार।
सुक नृप सौं ज्यौं कहि समुझायौ, सूरदास, त्यों ही कहि गयौ।
सूरसागर पृ० १९० पद ४५७।

६. सूरसारावली पृ० ११
दुष्ट नृपति जब बैठे भुव पर धरि भृगुपति को रूप।
क्षण में भुवको भार उतार ये परशुराम द्विज भूप।

एवं इक्कीस बार क्षत्रियों के बध की चर्चा की है।[1] किन्तु इनके पदों के अनुसार परब्रह्म ने धर्म की रक्षा के निमित्त स्वयं देह धारण किया।[2] उक्त कथन से स्पष्ट है कि इन्होंने परशुराम को विष्णु की अपेक्षा परब्रह्म का अवतार माना है। इसके मूल में दो तथ्य दृष्टिगत होते हैं। एक तो यह कि विष्णु आलोच्यकाल में परब्रह्म के पर्याय के रूप में प्रचलित थे और दूसरा अधिक सम्भव यह जान पड़ता है कि 'विष्णु' या 'परब्रह्म' प्रभृति ईश्वरवादी शब्दों के प्रयोग के प्रति ये उतना अधिक रूढ़िग्रस्त नहीं दीख पड़ते हैं जितना कि उन्हें प्रायः अवतारों के वर्णन-क्रम में देखा जा सकता है।

राम-भक्ति-शाखा में प्रचलित रामायणों में परशुराम की प्रासङ्गिक कथा का वर्णन हुआ है। सामान्यतः ये विष्णु के अवतार भी माने जाते रहे हैं। किन्तु 'अध्यात्मरामायण' में इन्हें विष्णु के अवतार होने के पूर्व नारायण या विष्णु का परम भक्त कहा गया है।[3] तुलसीदास ने 'राम-चरित-मानस' में राम-लक्ष्मण के साथ परशुराम का विस्तृत सम्वाद दिया है। वहाँ इनके अवतार होने का विस्तृत उल्लेख नहीं किया गया है।[4] पर 'विनयपत्रिका' की दशावतार-स्तुति में सहस्रबाहु और क्षत्रियों के नाश करता परशुराम के अवतार-रूप के प्रति कहा है कि उन्होंने ब्राह्मण रूपी धान हरा-भरा करने के लिए मेघ बन कर परशुराम-अवतार धारण किया।[5] गोस्वामी तुलसीदास के उक्त अवतार-हेतु में प्राचीन पुराणों में प्रचलित ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की प्रतिध्वनि भी मिलती है। इसके अतिरिक्त राम के दशावतार-रूप के ही प्रसंग में कान्हरदास और केशवदास ने भी क्षत्रिय-दल के नाशक परशुराम-रूप का उल्लेख किया है।[6]

---

१. मातबध पितु वचन हति चऊ पाप अलेपित।
कर्मक्षत्र द्विजुगेह, ब्रह्मचारी ब्रत धारीय।
कीय निक्षत्र इक्यीस, बार भूव भार उतारीय।
अवतार लीला। ह० लि०। पृ० ८३।

२. ब्रह्म गेह पर ब्रह्म धरयौ, निज देह धर्म हित।
अवतार लीला। ह० लि०। पृ० ८३।

३. अ० रा० १, ७, २१–२२।

४. सहस बाहु भुज छेदनिहारा, परसु बिलोकु महीप कुमारा।
रा० मा०। ना० प्र० स०। पृ० १३५।

५. 'छत्रियोधीस-करि-विकरि-वर-केसरी, परसुधर-विप्र-ससि जलद रूपं।
तु० ग्रं० विनय पत्रिका पद० ५२।

६. राग कल्पद्रुम, गीत १, ६७९ और रामचंद्रिका। केशव कौमुदी। पूर्वार्द्ध पृ० ३६०-३६१।

संत कवियों में गुरु गोविंद सिंह ने 'विचितर नाटक' में परशुरामावतार का वर्णन करते हुये क्षत्रियों को ही असुर बताया है।[1]

इस प्रकार मध्यकालीन काव्यों में परशुराम का अधिकांशतः पौराणिक रूप वर्णित हुआ है। किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध न होने के कारण ये केवल विष्णु के दशावतार या चौबीस अवतार-परम्परा में अंशावतार या शक्त्यावेशावतार के रूप में प्रचलित रहे।

रामावतार—दसवें अध्याय में द्रष्टव्य।

कृष्णावतार—ग्यारहवें अध्याय में द्रष्टव्य।

बुद्ध

दशावतारों में जिस बुद्ध को स्थान मिला है उनका अवतारवाद की दृष्टि से भारतीय साहित्य में विचित्र स्थान है। क्योंकि मूलतः बुद्ध के पौराणीकृत रूपों के प्रचलित होने पर भी वैष्णवेतर बौद्धधर्म एवं बौद्ध अवतारवाद से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

कृष्ण आदि ऐतिहासिक अवतारों के सदृश बुद्ध भी ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इनका जन्म ४४८ ई० पू० इतिहासकार मानते हैं। कृष्ण और महावीर के सदृश ये नये धार्मिक आन्दोलन के प्रवर्तकों में रहे हैं।

तीनों के धर्म परस्पर एक दूसरे से कितना प्रभावित हैं आज भी यह कहना कठिन है। कुछ लोग तो छठी शती पूर्व के भागवत धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म से ही वैष्णव अवतारवाद का विकास मानते हैं।[2] किन्तु श्री गोखुल डे ने बौद्ध और भागवतों के संबंध पर विचार करते हुये सिद्ध किया है कि बौद्धों की भक्ति जनित मान्यतायें भागवत धर्म से ही प्रभावित हैं। फिर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि वैष्णव अवतारों में गृहीत होने के पूर्व बुद्ध, बौद्ध धर्म में अवतार, अवतारी एवं उपास्य तीनों रूपों में प्रचलित हो चुके थे। क्योंकि बौद्ध स्तूपों में तीसरी शती पूर्व ही इनकी पूजा के उल्लेख मिलते हैं।[3]

बौद्धधर्म में अवतार बुद्ध

यों तो बुद्ध के जीवन में ही देवता के सदृश लोग इनकी पूजा करने लगे

---

१. चौबीस अवतार पृ० ३०, २।

क्षत्री रूप धरे सब असुरन, आवत कहा भूप तुमरे मन।

२. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ३१-३२।

३. सिग्नीफिकेंस ऐन्ड इम्पारटेंस आफ जातकाज् पृ० १५६-१५८।

थे।[1] परन्तु बाद में चलकर विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में इनके अवतार-रूपों का भी विकास हुआ। प्रारम्भ में बुद्ध ने साधना के बल पर ही बुद्धत्व प्राप्त किया था। विशेष कर भागवतोंके प्रसिद्ध षड़्गुणों के सदृश महायानी बौद्धों में जिन दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञान, आदि ६ पारमिताएं मानी गई हैं,[2] वे बौद्ध साधना के उत्कर्षप्रधान छः सोपान हैं। बुद्ध इसी साधना के द्वारा सिद्ध हुए थे। अतः सिद्ध बुद्ध के जीवन काल में ही लोगों ने उन्हें लोकोत्तर शक्तियों से युक्त एवं सर्वज्ञ कहना शुरू किया। फलतः उनके परिनिर्वाण के पश्चात् उनके जीवन के साथ अनेक लोकोत्तर एवं चमत्कारी बातें जुड़ गई।[3] बोधिसत्त्व की धारणाओं के विकास होने पर बुद्ध बोद्धिसत्त्व माने गये। महायान साहित्य के 'ललित विस्तर' के अनुसार विष्णु के नित्य लोक के समान इनका भी निवास स्थान 'तुषित स्वर्ग' में माना गया। वहाँ इनकी सेवा में सहस्रों देव-दासियाँ निरत रहती हैं। सर्वप्रथम उनको ही इन्होंने धर्म का उपदेश दिया और बारह वर्षों के पश्चात् पृथ्वी पर अवतरित होने का निश्चय किया।[4] देवताओं ने इसकी सूचना दी कि बुद्ध ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिये तथा प्रत्येक बुद्धों को सूचित करने के लिये अवतरित होने वाले हैं। इन्होंने स्वर्ग से अवतरित होने के पूर्व अपना स्वर्ण मुकुट मैत्रेय के सिर पर रख कर उनको अपना उत्तराधिकारी बनाया।[5] राम-कृष्ण आदि की अपेक्षा बुद्ध का यह आविर्भाव जैन तीर्थंकरों के अवतरण से साम्य रखता है। क्योंकि तीर्थंकरों के सदृश इनके जन्म लेने के पूर्व भी इनकी माता विशेष प्रकार के प्रतीकात्मक स्वप्न देखती हैं।[6] इस प्रकार बौद्ध धर्म में भी ज्यों-ज्यों पौराणिक तत्त्वों का समावेश होता गया बुद्धों एवं बोद्धिसत्त्वों की कल्पना में वृद्धि होती गई। पहले एक बुद्ध से छः बुद्ध, तदनन्तर सात तथा 'बुद्धवंश' में चौबीस बुद्धों का वर्णन किया गया। 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुंडरीक' में विष्णु के अनन्त अवतारों के समान इनकी संख्या भी करोड़ों तक पहुँच गई। बुद्धवंश में इनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन हुआ है और वहाँ गौतम बुद्ध पच्चीसवें तथा मैत्रेय बुद्ध २६वें माने गये हैं।[7] परिनिर्वाण के पश्चात् छः या चौबीस बुद्धों की उपस्थित नहीं मानी जाती थी किन्तु परवर्ती साहित्य में उनकी स्थिति अनेक कल्पों तक बतलाई गई।[8] बौद्ध मत के अनुसार ये बुद्ध और बोद्धिसत्त्व केवल जम्बूद्वीप के मध्यदेश में ही उत्पन्न होते हैं।[9] जब पृथ्वी क्षत्रियाक्रान्त

१. दी वैदिक एज, जी० १-पृ० ४५०। २. बौद्धदर्शन पृ० १२८।
३. महायान पृ० ६०। ४. दी स्पीरिट आफ बुद्धिज्म पृ० १८४।
५. दी स्पीरिट आफ बुद्धिज्म पृ० १८४। ६. दी स्पीरिट आफ बुद्धिज्म पृ० १८४।
७. पालि साहित्य का इतिहास पृ० ५८५। ८. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ३६।
९. महायान पृ० ८४।

होती है तब वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं और जब पृथ्वी ब्राह्मणाक्रान्त होती है तब ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होते हैं।[1]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि कालान्तर में बौद्ध साहित्य में भी पौराणिक तत्त्वों 'मिथिक एलिमेंट्स' का समावेश प्रचुर मात्रा में होता गया। साथ ही उसमें वैष्णव अवतारवाद के अनेक विचार तत्त्व किञ्चित परिवर्तित रूप में गृहीत हुए। इस दृष्टि से 'महावस्तु' का दृष्टिकोण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसमें प्रतिपादित 'क्षत्रियाक्रान्त' और 'ब्राह्मणाक्रान्त' पदों में 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' की भावना विद्यमान है। अतएव निश्चय ही बौद्ध साहित्य भी अवतारवाद की अत्यन्त लोकप्रिय और व्यापक भावना से आच्छन्न होने लगा था।

अवतारी एवं उपास्य

वैष्णव अवतारवाद जो बौद्धों को कभी मान्य नहीं था उसका आश्चर्यजनक रूप इस धर्म में लक्षित होता है। जो बुद्ध पहले केवल अर्हत् मात्र थे वे साक्षात परब्रह्म हो गये। महामति और बुद्ध की वार्त्ता में दी हुई परिभाषा के अनुसार वे स्वयंभू, सर्वशक्तिमान, अर्हत् या बुद्ध हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर, तथा सूर्य-चन्द्र के रूप हैं। वे कहते हैं कि मुझे कुछ लोग प्राचीन ऋषियों का अवतार, कुछ मुझे दशबल, कुछ लोग राम तथा कोई इन्द्र या वरुण कहते हैं; तथा कुछ लोग मुझे धर्मकाय, निर्माणकाय आदि शाश्वत रूपों में भी देखा करते हैं।[2] पांचरात्रों के पर विष्णु के अनेक कल्याणमय गुणों के सदृश अब बुद्ध के धर्मकाय में भी दश प्रकार के बल, चार प्रकार की योग्यता, तीन प्रकार की स्मृतियों का अस्तित्व माना गया।[3] इन अवतारी या नित्य बुद्धों के बौद्ध धर्म में तीन काय माने जाते हैं। जिनमें बलदेव उपाध्याय के अनुसार धर्मकाय वेदान्त ब्रह्म का, प्रतिनिधि तथा सम्भोग काय ईश्वर-सत्त्व का निर्देशक है।[4] परन्तु भदन्त शान्ति भिक्षु के अनुसार यह साधनात्मक एवं विकासोन्मुख अवस्थाओं का परिचायक है।[5] पर 'अवतंसक सूत्र' में उपलब्ध तथा श्री सुजुकी द्वारा प्रस्तुत धर्मकाय के प्रति कहा गया है कि धर्मकाय यद्यपि इस त्रिगुण विश्व में स्वयं प्रकट होता है, तथापि यह इच्छा और अविद्या से स्वतंत्र हैं। यह कार्यानुसार इधर, उधर, सर्वत्र प्रकट होता है।

---

१. महायान पृ० ८४, महावस्तु २ पृष्ठ १, २।

२. बुद्धिस्ट बाइबिल। गोडार्ड। पृ० १५८।

३. बौद्ध दर्शन। ब० उपाध्याय। पृ० १६२।

४. बौद्ध दर्शन पृ० १६५। ५. महायान पृ० ७३।

न इसका वैयक्तिक स्वरूप है न इसका अस्तित्व मिथ्या है। अपितु यह विश्वव्यापी एवं विशुद्ध है। यह न कहीं आता है, न जाता है, न कहता है, न नष्ट होता है। यह निर्मल और शाश्वत तथा अनेक संकल्पों से पृथक् और अकेला है। पांचरात्रों के अन्तर्यामी के सदृश यह सभी के शरीर में निवास करता है। वह प्रकृति और कर्म की अवस्थानुसार किसी भी स्थूल शरीर में प्रकट होकर सारी सृष्टि को ज्योतित कर सकता है। वह ज्ञान-स्वरूप है फिर भी विलक्षण वैशिष्ट्य से युक्त है। सृष्टि उससे उत्पन्न होती है किन्तु वह नित्य स्वरूप में स्थित रहता है। वह किसी भी प्रकार के विरोध और विपर्यय से परे है, तो भी जीवों को निर्वाणोन्मुख करने में प्रयत्नशील है।[1] इन निष्कर्षों से उसके अवतार एवं उपास्य दोनों रूपों का स्पष्टीकरण धर्मकाय में ही हो जाता है।

बुद्ध के निर्माणकाय का नारायण के अनन्त अवतारों की तरह अंत नहीं है।[2] विचारकों ने निर्माणकाय को ऐतिहासिक बुद्ध शक्यसिंह का अवतार-काय माना है। जो धर्मकाय का अवतरित रूप है।[3] दीपंकर, कश्यप, गौतमबुद्ध, मैत्रेय, एवं अन्य मानुषी बुद्ध निर्माणकाय का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।[4] बुद्ध का संभोगकाय बुद्ध या बोधिसत्वों का उपदेशक रूप विदित होता है।[5] जिसे पांचरात्रों के व्यूहवादी उपदेशक-रूप के समानान्तर कहा जा सकता है।

वैष्णव अवतार एवं विष्णु से संबंध

बौद्ध जातकों में उपलब्ध राम-कथाओं में राम के विचित्र प्रसंग ही नहीं आये हैं अपितु बुद्ध को राम का पुनरावतार माना गया है।[6] इसके अतिरिक्त विष्णु के अवतारों में जिस प्रकार एक भावी अवतार कल्कि की कल्पना की गई है, वैसे ही बौद्ध धर्म में भी भविष्य में होने वाले अवतारों में मैत्रेय बुद्ध कहे जाते हैं। भदन्त शान्तिभिक्षु के कथनानुसार अभी मैत्रेय बुद्ध होने के लिये प्रयत्नशील हैं। वे बोधिसत्व शक्यमुनि के सेवकों में हैं। उन्हीं से भावी बुद्ध होने की भविष्यवाणी भी उन्हें मिलती है।[7] 'कल्किपुराण' में

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० १२-१३ में उद्धृत।

२. बौद्धदर्शन पृ० १६२।

३. इन्ट्रोडक्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० १४।

४. महायान पृ० ७४।

५. बौद्धदर्शन पृ० १६४-१६५।

६. रामकथा बुल्के पृ० १०४ और पालि साहित्य का इतिहास पृ० २९३ में दशरथ जातक ४६१ और देवधम्म जातक ५१३।

७. महायान पृ० ७८।

कल्कि के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक शक्यसिंह बुद्ध का उल्लेख किया गया है, जो अपनी विशाल सेना के साथ कल्कि से युद्ध करते हैं।[1] मैत्रेय के स्थान में शक्यसिंह का यहाँ अनोखा सामंजस्य कल्कि से किया गया है। फिर भी वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म एक दूसरे के विरोधी होते हुये भी पूर्व मध्यकाल में एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हुये थे।[2] राय डेविड्स के अनुसार तत्कालीन बौद्ध सम्प्रदायों में अनेक हिन्दू देवताओं और देवियों के बौद्धीकृत रूप ग्रहण किये गये थे।[3] मूर्तियों और देवताओं के इस आदान-प्रदान ने महायान और ब्राह्मण धर्म को अत्यन्त निकट कर दिया था। विग्रहपाल द्वितीय जो परम सौगत कहा जाता था चन्द्रग्रहण के अवसर पर ब्राह्मणों को भी दान देता था। इससे सम्बद्ध एक लेख में शिव, विष्णु, तारा और बुद्ध की एक साथ स्तुति की गई है।[4] उड़िया में 'दारु ब्रह्म' के नाम से एक कविता प्रचलित है जिसमें पुरी के जगन्नाथ की बुद्ध-रूप में स्तुति की गई है।[5]

इसके अतिरिक्त कतिपय बौद्ध लेखकों के अनुसार बुद्ध के अन्य रूप या अवतार अमिताभ से उत्पन्न अवलोकितेश्वर में रूप और गुण की दृष्टि से विष्णु से साम्य प्रतीत होता है।

सिद्ध सम्प्रदायों या अन्य बौद्ध देशों में व्याप्त अवतारवाद की दृष्टि से अवलोकितेश्वर का विशिष्ट स्थान है। ये पाँच ध्यानी बुद्धों में अमिताभ से आविर्भूत होते हैं। और बौद्ध सम्प्रदायों में करुणा के मानवीकृत रूप हैं। असीम करुणा से पूरित होने के कारण ये दुखियों और त्रस्तों की सहायता के निमित्त सदैव तत्पर रहते हैं। ये किसी भी धर्म के किसी भी देवता के रूप धारण कर सकते हैं।[6] ये लोकनाथ तथा लोकेश्वर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनके साथ तारा और हयग्रीव रहते हैं।[7] हरि-हरि-हरि वामनोद्भव अर्थात् ये तीन हरि के वामन रूप हैं।[8] भदन्त शान्तिभिक्षु ने लोकेश्वर को बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का मिश्रित, ब्रह्मा का परिमार्जित रूप माना है।[9] इनके मतानुसार आदि बुद्ध विष्णु के दोषहीन स्वरूप हैं।[10]

किन्तु सामान्यतः अवलोकितेश्वर में कुछ ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनके आधार

---

१. कल्कि पुराण २, ७, ३८।
२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन जी० २, पृ० १०५१।
३. बुद्धिज्म—इट्स हिस्ट्री ऐन्ड लिटरेचर पृ० २०६–२०७।
४. पूर्वमध्यकालीन भारत पृ० ३४२। ५. इंडिया थ्रू दी एजेज पृ० ३२।
६. बुद्धिस्ट इकानोग्राफी पृ० ३२।
७. बुद्धिस्ट इकानोग्राफी पृ० ३८। ८. बुद्धिस्ट इकानोग्राफी पृ० ३८।
९. महायान पृ० ८३। १०. महायान पृ० ८३।

पर ये विष्णु के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये 'करण्ड व्यूह' के अनुसार ये स्वर्ग में एक शहद की झील का निर्माण करते हैं, जिनमें अद्भुत रथ-चक्र के आकार वाले कमल खिलते हैं।[१] इनके लङ्का में जाने पर राक्षसियाँ इनसे प्रेम करने लगती हैं किन्तु ये उन्हें सद्धर्म का उपदेश देते हैं।[२] ये बनारस में मधुमक्खी का रूप धरकर कीड़ों मकोड़ों को उपदेश देकर उनका उद्धार करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि 'दशरथ जातक' के अनुसार बुद्ध राम के रूप में बनारस में ही जन्म लेते हैं। 'करण्ड व्यूह' के अनुसार ये योग्यता, ज्ञान और प्रभाव की दृष्टि से बुद्ध से भी बड़े हैं।[३] ये सभी के माता पिता हैं।[४] इनके भक्तों में जो भी इनका नामोच्चारण करता है वह विविध कष्टों से मुक्त हो जाता है। जो पुष्प, पत्र द्वारा पूजा करता है वह देवयोनि में जन्म लेता है।[५] इसके अतिरिक्त विष्णु के समान 'करण्ड व्यूह' में इनके विराट रूप का भी वर्णन मिलता है। ये सहस्रबाहु और सहस्राक्ष हैं। सूर्य और चन्द्र इनके नेत्र हैं। ब्रह्मा और अन्य देवता इनके कन्धे और नारायण इनके हृदय हैं। सरस्वती इनके दाँत हैं; इनके अनन्त रोमों के प्रत्येक विवर में अनेक बुद्ध हैं।[६] इनका 'ओम मणि पद्मे हुँ' मन्त्र से जप किया जाता है। तिब्बत के दलाईलामा अवलोकितेश्वर के तथा पंचम लामा इनके अवतारक अमिताभ के अवतार माने जाते है।[७] संभवतः नेपाली धारणा के अनुसार नेपाल के राजे भी अवलोकितेश्वर के अवतार माने जाते हैं। श्री गिलसन ने इन्द्र, ब्रह्मा, नारायण, आदि से किंचित परिवर्तित रूपों का बौद्धों में उल्लेख करते हुये कहा है कि सूर्य ने अमित आभा वाले अमिताभ का और विष्णु या पद्मनाभ ने अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि का रूप धारण कर लिया।[८]

अतः उक्त तथ्यों में अवलोकितेश्वर के विष्णु के सदृश पर्याप्त चिह्न, विशेष कर उपास्य एवं अवतारी रूपों के मिलते हैं; जिनके आधार पर गिलसन का मत समीचीन प्रतीत होता है। निष्कर्षतः परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों में बुद्ध के जिन अवलोकितेश्वर, अमिताभ, मञ्जुश्री, मैत्रेय प्रभृति रूपों का सर्वाधिक

१. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४८ और करण्ड व्यूह पृ० ४३।
२. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४८ और करण्ड व्यूह पृ० ४७।
३. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४९ और करण्ड व्यूह पृ० १४, १९, २३।
४. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४९ और करण्ड व्यूह पृ० ४८, ६६।
५. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४९ और करण्ड व्यूह पृ० ४८।
६. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४९ और करण्ड व्यूह पृ० ६२।
७. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन पृ० ४९ और करण्ड व्यूह पृ० ६७।
८. बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया पृ० १८२–१८३।

प्रचार हुआ, उनमें अवलोकितेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। अवलोकितेश्वर केवल भारत में ही नहीं बल्कि नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान प्रभृति अन्य बौद्ध देशों में भी अत्यन्त विख्यात एवं प्रचलित हुये। विचित्रता तो यह है कि वहाँ भी विष्णु के सदृश इनके उपास्य रूप के साथ-साथ अवतारी रूप का बहुत अधिक प्रचार हुआ। उन देशों के प्रमुख महापुरुष, धर्मप्रवर्तक और धर्मप्रचारक, बौद्ध राजे तथा सम्राट इनके अवतार के रूप में उसी तरह मान्य हुये जिस प्रकार भारतीय वैष्णव धर्म में विष्णु के विभिन्न अवतार। इससे स्पष्ट है कि परवर्ती बौद्ध धर्म ने केवल विष्णु के ही परवर्ती रूप को नहीं ग्रहण किया अपितु उनसे सम्बद्ध अवतारवादी प्रवृत्तियों को भी अपने विश्वासों में आत्मसात कर लिया।

हिन्दू पुराणों में बुद्ध का रूप

बुद्ध के साम्प्रदायिक एवं अवलोकितेश्वर रूप का सम्बन्ध विशेष कर सिद्धों एवं नाथ सम्प्रदाय से रहा है। परन्तु दशावतारों या चौबीस अवतारों में जिस बुद्ध का उल्लेख हुआ है वे हिन्दू पुराणों के बुद्ध हैं। 'महाभारत' के दशावतारों में बुद्ध का नाम नहीं आता है। 'विष्णुपुराण' में कल्कि का उल्लेख तो हुआ है किन्तु बुद्ध का नहीं, पर 'भागवत' के तीनों विवरणों में बुद्ध के नाम का उल्लेख हुआ है। 'भागवत' १, ३, २४ के अनुसार कलियुग आने पर मगध देश में, देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र रूप में बुद्धावतार होगा।[1] पुनः भा० २, ७, ३७ में कहा गया है कि देवताओं के शत्रु दैत्य लोग भी वेद-मार्ग का सहारा लेकर मय दानव के बनाये हुये दृश्य वेग वाले नगरों में रहकर लोगों का सत्यानाश करेंगे। तब भगवान उनकी बुद्धि में मोह और लोभ उत्पन्न करने वाले धर्मों का उपदेश करेंगे।[2] भा० ११, ४, २२ के विवरण के अनुसार भी बुद्ध विविध वादों या तर्कों से मोहित कर असुरों को वेद विरुद्ध करने वाले कहे गये हैं।[3]

मध्यकालीन कवियों द्वारा वर्णित दशावतारों एवं चौबीस अवतारों में उनका यही वेद एवं यज्ञ-विरोधी रूप गृहीत हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि बुद्ध वेदों एवं यज्ञों के विरोधी थे किन्तु हिन्दू पुराणकारों ने उनको दैत्यों एवं असुरों या सुरद्वेषियों से सम्बद्ध कर विलक्षण रूप दे दिया। साथ ही अजन का पुत्र होने के कारण उनका ऐतिहासिक रूप भी अत्यधिक पौराणिक हो जाता है। किन्तु बौद्ध लेखक क्षेमेन्द्र ने उन्हें शाक्य-कुल में उत्पन्न शुद्धोद न

---

१. भा० १, ३, २४। २. भा० २, ७, ३७। ३. भा० ११, ४, २२।

का पुत्र माना है[1] और उनके बौद्धधर्म सम्मत जीवनी का ही विवरण दिया है। जयदेव के अनुसार इस अवतार में केशव ने यज्ञ और पशु-हिंसा की निन्दा की है।[2] 'पृथ्वीराजरासो' में पुराणों के अनुरूप कीकट देश में असुरों को यज्ञविहीन करने के लिये इनका अवतार हुआ।[3] सूरदास ने बुद्धावतार की चर्चा करते हुये कहा है कि अदिति पुत्रों के कार्य के निमित्त हरि ने बौद्ध रूप धारण किया।[4] क्योंकि असुर देवताओं के समान उन पर विजय पाने की इच्छा से शुक्र की आज्ञा पाकर यज्ञ करने लगे। देवों से यह वृतान्त जानकर हरि ने तुरन्त सेवरी का भेष धारण किया[5] और असुरों के पास जा कर कहने लगे कि जो यज्ञ में पशुओं का संहार करते हैं उनकी विजय नहीं होती अपितु जो दया-धर्म का पालन करते हैं वही विजयी होते हैं। यह सुनकर असुरों ने यज्ञ त्याग कर दया-धर्म-मार्ग का अनुसरण किया।[6] 'सूरसारावली' के अनुसार हरि ने बुद्ध-रूप में कलिधर्म का प्रकाश करते हुये दया-धर्म को मूल बताया और भक्तों के अनुकूल पाखण्डवाद को दूर किया।[7] तुलसीदास के एक दोहे में कहा गया है कि अतुलित महिमा वाले वेद की निन्दा के निमित्त बुद्ध का अवतार हुआ।[8] 'विनयपत्रिका' के दशावतार-क्रम में आये हुए पद के अनुसार बुद्ध ने पाखण्ड और दम्भ से व्याकुल संसार में यज्ञादि कर्मकाण्डों का खण्डन कर उन्हें तिरस्कृत कर दिया। यहाँ बुद्ध निर्मल बौद्ध स्वरूप, ज्ञानघन, सर्वगुण सम्पन्न, जन्मरहित और कृपालु बताये गये हैं।[9] सन्त कवियों में गुरु गोविन्द सिंह ने सम्भवतः अरहंत देव के रूप में बुद्धावतार का ही वर्णन किया है। क्योंकि असुरों के यज्ञ में विघ्न डालने के निमित्त विष्णु का यह अवतार कहा गया है।[10] 'अवतार-लीला' में भी असुरमोह, अहिंसा का उपदेश और पाखण्ड-

---

१. दशावतार चरित में बुद्धावतार श्लो० २। २. गीत गोविंद १, ९।

३. उतपन कैकट देस कलि, असुर जग्य जय हारि।
जय जय बुद्ध सरूप सजि, है सुर सिद्धि सुधारि।
पृथ्वीराजरासो पृ० २५२ दूसरा समय।

४. सूरसागर पृ० १७२१ पद ४९३३।
बौद्ध रूप जैसे हरि धार्यो, अदितिसुतनि कौ कारज सार्यो।

५. सूरसागर पृ० १७२१ पद ४९३३। ६. सूरसागर पृ० १७२१ पद ४९३३।

७. सूरसारावली पृ० ११। बुद्ध रूप कलि धर्म प्रकाश्यो दया सवन को मूल।
दूर कियो पाखंडवाद हरि भक्तन को अनुकूल॥

८. अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए विचार।
जो निंदत निंदित भयो विदित बुद्ध अवतार॥ तुलसी ग्रं० दोहावली दो० ४६२।

९. तु० ग्रं० विनय पत्रिका पद ५२।

१०. बिचित्तर नाटक से संकलित चौबीस अवतार पृ० ५६।
बिश्नु नवीन कह्यो वपु धरिहो, जग्ग विघन असुरन को करिहौं।

नाश का वर्णन किया गया है।[1] परशुराम कवि ने बुद्ध के स्थान में जगन्नाथ जी का वर्णन किया है।[2] इस प्रकार बौद्ध अहिंसा एवं यज्ञ विरोधी विचारधारा से सम्पृक्त होने पर भी बुद्ध का विचित्र ढङ्ग से वैष्णवीकरण हुआ है।

इस प्रकार चौबीस अवतारों में गृहीत बुद्ध का अस्तित्व अन्य अवतारों की अपेक्षा अधिक भिन्न और विलक्षण है। इनमें सबसे पहली बात तो यह है कि बुद्ध उस धर्म या सम्प्रदाय से गृहीत हुये हैं जो न तो वैदिक परम्परा को स्वीकार करता है न तत् साहित्य में व्याप्त बहुदेवतावाद और ब्रह्मवाद को तथा महाकाव्यों में प्रचलित ईश्वरवाद और उपास्यवाद को।

किन्तु ठीक इसके विपरीत दूसरी विशेषता यह भी है कि एक ओर तो वैष्णव अवतारवाद बुद्ध को अवतारों में मान कर अपनी पौराणिक शैली में उनसे सम्बद्ध कथाओं और रूपों का निर्माण करता है और दूसरी ओर बौद्ध देववाद भी विष्णु के अवलोकितेश्वरवत् रूप की उनके अवतारवादी कार्य के साथ ग्रहण करता है।

जिसके फलस्वरूप बुद्ध मध्यकालीन साहित्य में अपने बौद्ध रूप से पृथक् होकर वैष्णवीकृत पौराणिक रूप में वर्णित होते हैं। विष्णु और बुद्ध के समन्वय की यह परम्परा बुद्ध और जगन्नाथ तथा बङ्गाल के धर्म ठाकुर सम्प्रदाय के उपास्य, बौद्ध रूप धर्म ठाकुर, विष्णु और जगन्नाथ के समन्वय के रूप में और दृढ़तर होती हुई लक्षित होती है। जिसका यथेष्ट प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा है।

कल्कि

विष्णु के दशावतारों में कल्कि मैत्रेय के समान भविष्य में होने वाले अवतारों में माने जाते हैं। 'महाभारत' के बृहत् रूप में कल्कि का उल्लेख मिलने लगता है। किन्तु इन्हें अभी तक भावी अवतार की कल्पना समझ कर अधिक विद्वानों का ध्यान इनके ऐतिहासिक रूप के अन्वेषण की ओर समुचित रूप से नहीं जा सका था। जिसके फलस्वरूप इनके ऐतिहासिक रूप का निश्चय एवं वैष्णव धर्म से इनका सम्बन्ध दोनों का यथोचित निरूपण अभी तक

---

१. प्रगट रूप पाखंड देह, असुर मोह उपजाई।
निगम मष कीने बंद एक अहिंसा धर्म, विदित सुर सोक निषंदन॥
अवतार चरित्र। ह० लि०। बौद्धावतार।

२. जगनाथ जगदीस सकलपति भोग पुरंदर बैठि आई।
पूरण ब्रह्म सकल सुख की निधि प्रगट उड़ीसै है हरिराई॥
परशुराम सागर। ह० लि०। दशावतार को जोड़ो।

अस्पष्ट और दुरूह रहा है। क्योंकि कल्कि से सम्बद्ध ऐतिहासिक और साहित्यिक तथ्यों में एक ओर तो कल्कि सम्बन्धी राजाओं के नाम मिलते हैं और दूसरी ओर वैष्णवों के अतिरिक्त कल्कि के जैन और बौद्ध रूप भी इस समस्या को और गुरुतर कर देते हैं।

ऐतिहासिक रूप

इनके ऐतिहासिक रूप की गवेषणा करने के पश्चात् श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने कल्कि को ऐतिहासिक यशोवर्मन से स्वरूपित किया है। उनके अनुमानानुसार कल्कि के भावी अवतार की कल्पना परवर्ती है।[१] किन्तु इलियट ने कल्कि का 'महाभारत' 'वन पर्व' १९०, १९१, और 'नारायणीयोपाख्यान' में मिलने वाले उल्लेखों के आधार पर यह सन्देह उपस्थित किया है कि क्या 'महाभारत' के अंश यशोधर्मन से भी परवर्ती हैं? साथ ही यह अनुमान किया है कि या तो भावी अवतार की कोई परम्परा रही है या हूणों के हराने के पश्चात् यशोधर्मन ने इस नाम को धारण किया है।[२] किन्तु यशोधर्मन का कल्कि से किसी ऐतिहासिक सम्बन्ध का, या उसकी प्रशस्तियों में नाम या चरित्र सम्बन्धी पुष्ट प्रमाणों का अभाव है।

इसके अतिरिक्त श्री के० बी० पाठक ने जैन ग्रन्थों के आधार पर एक ऐसे सार्वभौम एवं सत्ताधारी शासक का उल्लेख किया है जो अत्यन्त अत्याचारी तथा 'चतुर्मुख कल्कि', 'कल्कि', एवं 'कल्किराज' के नाम से विख्यात था। जैनों ने इसे अत्याचारी इसलिये कहा है क्योंकि इसने जैनों पर कर लगाया था। फलतः निर्ग्रन्थों को भूखे मरते देख एक राक्षस ने उसे मार डाला। कल्कि राज रत्नप्रभा नामक नर्क में अनेक वर्षों तक कष्ट भोगता रहा। इसी प्रकार ह्वेनसांग ने मिहराकुल द्वारा बौद्ध भिक्षुकों पर किये गये अत्याचारों का वर्णन किया है। अतः कल्कि और मिहराकुल दोनों के समान रूप से अत्याचारी होने तथा जैनों और बौद्धों पर अत्याचार करने और दोनों का राज्यकाल ५२० ई० के लगभग होने के कारण कल्कि को मिहराकुल का ही दूसरा नाम माना है।[३]

श्री के० जी० शङ्कर ने अपने एक निबन्ध में तोरामन और उसके पुत्र मिहराकुल-सम्बन्धी अभिलेखों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया

---

१. हिन्दूइज्म ऐन्ड बुद्धिज्म। इलियट। जो० २ पृ० १४८ में उद्धृत सारांश और नौरमंस इन ट्रांस थर्ड इन्टरनेशनल कांग्रेस आफ रेलिजंस, २ पृ० ८५ इंडियन एन्टीक्वेरी १९१८, पृ० १४५।

२. हिन्दूइज्म ऐन्ड बुद्धिज्म। इलियट। जी० २ पृ० १४९।

३. इंडियन एन्टीक्वेरी जी० ४७ (१९१८) पृ० १८–१९।

है कि न तो दोनों अत्याचारी थे न बौद्धों को नष्ट करने वाले थे ।[1] कल्किराज भी केवल जैन महन्तों पर कर लगाने के कारण अत्याचारी कहा गया था ।[2] इन्होंने कतिपय तर्कों के आधार पर उसके पिता तोरामन से ही कल्किराज को अभिहित किया है। इनके कथनानुसार कल्किराज तोरामन था और वह पाटलिपुत्र के राजा शिशुपाल का पुत्र था ।[3] इन तथ्यों में 'कल्कि' नाम से राजाओं के अभिहित किये जाने का अनुमान किया जा सकता है।

श्री डी० आर० मनकड ने विशेषकर 'कल्किपुराण' के कल्कि को अपने विस्तृत विश्लेषण तथा तत्कालीन राजाओं की वंशावलियों के आधार पर कल्कि को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध किया है। इनके मतानुसार 'कल्किपुराण' में वर्णित विशाखयूप, महिष्मती का राजा तथा सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजा मरू और देवापी, जो सुमित्र और क्षेमक के नाम से प्रसिद्ध हैं[4], ऐतिहासिक व्यक्ति हैं कल्कि का सहयोगी विशाखयूप अवन्तिराज प्रद्योत का पुत्र था। इसी के काल में कल्कि ने सभी हिन्दू राजाओं को मिलाया और मगध की राजधानी कीकट पर हमला कर बौद्ध राजाओं को हराया। साथ ही काशी, और वैशाली के राजा भी इनके साथ सम्मिलित हो गये। इन सभी शक्तियों के मिल जाने से कल्कि बहुत प्रभावशाली हो गया था ।[5] फलतः विशाखयूप और अवन्तिवर्द्धन की मृत्यु कल्कि के जीवन काल में ही हो जाने के कारण कल्कि महिष्मती और अवन्ती के राजा हुये। अन्त में इन्होंने 'मृच्छकटिक' के शुद्रक को कल्कि माना है क्योंकि ब्राह्मण शुद्रक अवन्ती का राजा चुना गया था[6] इससे कल्कि के ऐतिहासिक होने की सम्भावना की जा सकती है।

श्री वासुदेव उपाध्याय ने कल्कि को बौद्ध धर्म से गृहीत माना है ।[7] परन्तु उन्होंने इसके प्रमाण नहीं दिये हैं। सम्भव है बौद्ध नरेश पालवंशी राजाओं (आठवीं शती) के काल की दशावतार की मूर्तियों के आधार पर या भावी मैत्रेय बुद्ध के अनुकरण के आधार पर कल्कि के बौद्ध होने की सम्भावना

---

१. न्यु इंडियन एन्टीक्वेरी जी० ४ पृ० ३९।
२. न्यु इंडियन एन्टीक्वेरी जी० ४ पृ० ३९।
३. न्यु इंडियन एन्टीक्वेरी जी० ४, पृ० ४०।
४. विष्णुपुराण में कलियुग की वंशावलियों का वर्णन करते हुये मागधवंशी राजाओं में (वि० पु० ४, २४। इक्ष्वाकु वंशी राजाओं में) वि० पु० ४, २२, १०, में सुमित्र का नाम आया है। कल्कि पु० १, २, ३३, में विशाखयूप, क० पु० ३, ४, ४ में मरू-सुमित्र तथा क० पु० ३, ४, १९ में देवापि का उल्लेख हुआ है।
५. न्यू इन्डियन ऐन्टीक्वेरी जी० ४ पृ० ३३७-३४१।
६. ,, ,, ६ पृ० २११-२१२।
७. पूर्वमध्यकालीन भारत पृ० २३३।

इन्होंने की हो। परन्तु बौद्ध साहित्य में कल्कि से सम्बद्ध उपादानों का अभाव प्रतीत होता है। 'सेकोद्देशटीका' में कल्क (पाप) का विचित्र सम्बन्ध मैत्रेय से स्थापित करते हुये कहा गया है कि, ब्राह्मणादि वर्णों में एक ही कल्क (पाप) होता है जिसका निवारण मैत्रेय आदि चतुर्ब्रह्म विहारों की परिपूर्ति से माना गया है।[1] इसमें ब्राह्मणों के कल्क या पाप का भावी अवतार मैत्रेय से विलक्षण सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। फिर भी कल्कि का इससे निराकरण नहीं होता।

किन्तु जैनों के 'प्रभावकचरित' में कल्काचार्य नामके एक ब्राह्मण का 'कल्कासूरिचरितम्' नाम से एक संक्षिप्त चरित मिलता है।[2] इस कल्कि का भी पौराणिक या अवतारवादी कल्कि से न्यूनाधिक ऐक्य दृष्टिगत होता है। इस कथा का कल्कि, बुद्धि में ब्राह्मण और पराक्रम में क्षत्रिय है। ये मध्यप्रदेश की धारानगरी के निवासी बतलाये गये हैं। जब कि पौराणिक कल्कि का जन्म स्थान जिस सम्भल ग्राम में माना जाता है उसे इतिहासकारों ने अभिलेखों के आधार पर मध्यप्रदेश के दमोह जिले में बतलाया है।[3] 'दमोह दीपिका' के अनुसार विजयसिंह नाम के राजा ने सम्भल ग्राम की स्थापना की थी।[4] कहा जाता है कि उज्जयिनी राज गर्द्दभील की कुदृष्टि कल्काचार्य की बहन सरस्वती पर होने के कारण दोनों में परस्पर मनमुटाव हो गया था। फलतः कल्कि उससे बदला लेने के लिये वहाँ से बाहर जाकर सिन्ध देश के शाही नामक शक राजाओं का सङ्गठन बनाते हैं। और उन्हीं की सहायता से गर्द्दभील को हराते हैं।[5] 'प्रभावक चरित्र' में वर्णित इनकी कथा में बाद में इन्हें जैन सम्प्रदाय में दीक्षित होना बतलाया गया है। किन्तु उसके पूर्व इनके ब्राह्मण धर्मावलम्बी होने का अनुमान किया जा सकता है। उस 'चरित्र' में पौराणिक कल्कि के क्षत्रिय गुणों के सदृश इनके अश्वारोही और धनुर्विद्या में दक्ष होने का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[6]

---

१. सेकोद्देशटीका पृ० २१।
ब्राह्मणादिवर्णनामेककल्कत्वाभिप्रायेणमुक्तवज्र इति
नामकरणान्मैत्र्यादिचतुर्ब्रह्मविहार परिपूर्त्या सर्वकालं राग-
द्वेषादिविशिष्टिनिवारणत्वेनेति नामाभिषेकः षष्ठः।

२. प्रभावक चरित्र, कल्कासूरि चरितम् ४ पृ० २२–२७।

३. न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी जी० १ पृ० ४६३।

४. न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी जी० १ पृ० ४६३, और दमोह दीपिका पृ० ११।

५. दी एज आफ इम्पिरियल युनिटी। द्वि० सं० १९५३। पृ० १५५।

६. (क) कालकोऽश्वकलाकेलि कलणयान्यादा बहिः।
पुरस्य भुवमायासीदनायासी हयश्रमे॥ प्रभावक चरित्र पृ० २२, ४।
(ख) पृ० २२।

मध्यकाल के प्रारम्भ में कल्कि के अश्व से विशिष्ट सम्बन्ध का पता चलता है। ११ वीं या १२ वीं शती की एक विष्णु की पञ्चमुखी मूर्ति में एक मुख अश्व का है। इसे इतिहासकारों ने हयग्रीव का मुख न मान कर कल्कि का माना है। क्योंकि इनके कथनानुसार 'वैखानस आगम' में कल्कि का मुख अश्वमुख तथा 'अग्निपुराण' में अश्व अग्नि के वाहन कहे गये हैं।[1] निष्कर्षतः साम्प्रदायिक रूप में गृहीत होने के पूर्व ऐतिहासिक कल्कि की सम्भावना की जा सकती है। इनमें से विशेषकर विभिन्न नाम के व्यक्तियों की अपेक्षा 'प्रभावक चरित्र' की कल्कि-कथा, चरित्र और व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से पौराणिक अवतार कल्कि के अधिक निकट प्रतीत होती है। अतएव पुराणों में कल्कि की जिस कथा का विकास हुआ है उनका कुछ न कुछ सम्बन्ध 'प्रभावक चरित्र' से भी अवश्य माना जा सकता है।

पौराणिक

उक्तरूपों के अतिरिक्त कल्कि का एक पौराणिक रूप भी मिलता है। 'महाभारत' से लेकर 'कल्कि पुराण' तक इसकी एक ही कथा मिलती है। उनमें अधिक वैषम्य दृष्टिगत नहीं होता। 'महाभारत' 'वन पर्व' में कलियुग की दुरावस्था का चित्रण करते हुये कहा गया है कि कलियुग में पाप के अत्यधिक बढ़ जाने पर युगान्त में किसी ब्राह्मण के गृह में एक महान शक्तिशाली बालक अवतीर्ण होगा, जिसका नाम होगा 'विष्णुयशा कल्कि'। वाहन, अस्त्र, शस्त्र, आदि उसकी इच्छा के अनुसार उसके पास पहुँच जायेंगे।[2] उसके अवतार का प्रयोजन म्लेच्छों का नाश एवं कलियुग का अन्त बतलाया गया है।[3]

यहाँ कल्कि के ही विष्णुयशा नाम होने का आभास मिलता है।[4] तथा विष्णु, वासुदेव या नारायण आदि में से स्पष्टतः किसी का अवतार नहीं बतलाया गया है किन्तु 'विष्णु पुराण' में सम्भलनिवासी विष्णुयश के पुत्र म्लेच्छों का नाश करने वाले वासुदेव के अंशावतार कल्कि हैं।[5] 'भागवत पुराण' में कल्कि का 'भागवत' के तीन विवरणों और पृथक् कलियुगी राजाओं के वर्णन के प्रसङ्ग में प्रायः एक ही प्रकार का रूप मिलता है। इनमें वे विष्णुयश के पुत्र कलियुग

१. ज० बा० ओ० री० सो० जी० ३७ पृ० ५१ और पृ० ६३।

२. महा० ३, १९०, ९३-९४।

३. महा० ३, १९०, ९६, ९७ महा० १२, ३४९, २९-३८ में भी उपर्युक्त कल्कि की कथा मिलती है।

४. तै० सं० ५, १, १, ३ में यज्ञ कर्ता के लिये प्रयुक्त 'यज्ञयशा' के सदृश 'विष्णुयशा' भी कल्कि का विशेषण प्रतीत होता है।

५. वि० पु० ४, २४ ९८।

के अन्त में दस्युदल के विनाशक एवं वैदिक धर्म के संस्थापक तथा सत्ययुग के प्रवर्तक माने गये हैं।[१]

मध्यकालीन कवियों ने कल्कि के उक्त रूपों एवं प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है। क्षेमेन्द्र ने कल्कि-अवतार के साथ कलियुग का वर्णन किया है और म्लेच्छों और दुष्ट राजाओं का वध उनके अवतार का प्रयोजन माना है।[२] जयदेव के कल्कि-रूप केशव का भी यही प्रयोजन रहा है।[३] 'पृथ्वीराजरासो' में दुष्ट राजाओं का वध तथा कलिमल का नाश मुख्य प्रयोजन माना गया है।[४]

सूरदास ने 'सूरसागर' में कल्कि-अवतार के प्रयोजन में पुराणों की परम्परा से आती हुई कलि की दुरावस्था का चित्रण किया है। उनके पदों के अनुसार कलि के राजा अत्यन्त अन्यायी होंगे। वे कृषकों से बलपूर्वक अन्न वसूल करेंगे।[५] प्रजाओं में भी धर्म-पालन की भावना का अभाव हो जायगा।[६] अतः इस प्रकार अधर्म बढ़ जाने पर विष्णुयश के घर में कल्कि अवतरित होंगे।[७] वे दुष्ट राजाओं का संहार करेंगे, जिसके फलस्वरूप सम दृष्टि वाले तथा अन्य लोग दुष्टभाव-हीन होकर ईश्वर का नाम लेंगे।[८] 'सूरसारावली' के अनुसार कलियुग के अन्त तथा कृत युग के आदि में कल्कि अवतरित होकर, म्लेच्छों को मार कर पुनः धर्म की स्थापना करेंगे।[९]

तुलसीदास के अनुसार कलिकाल के पापों से मलिन हुये संसार का अविद्या रूपी रात्रि में म्लेच्छ रूपी सघन अन्धकार का नाश करने के निमित्त वे विष्णुयश के पुत्र-रूप से प्रकट होंगे।[१०] नरिहर दास बारहठ के पदों के अनुसार वे अखिल भुवन का भार उतार कर कलि का प्रभाव निर्मूल करेंगे और अवनीगत धर्म का उद्धार करेंगे।[११] कबीर पन्थ के परवर्ती सन्तों में भी कल्कि अवतार की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वे म्लेच्छ रूपी तृण के लिये अग्नि के सदृश

---

१. भा० १, ३, २५, भा० २, ७, ३८, भा० ११, ४, २२ और भा० १२, २, १८–२३
२. दशावतार चरित, कल्क्यवतार श्लोक ३७। ३. गीत गोविन्द पृ० १, १०।
४. पृथ्वीराजरासो पृ० २५३। ५. सूरसागर भा० २ पृ० १७२१ पद ४९३४।
६. सूरसागर भा० २ पृ० १७२२ पद ४९३४।
७. सूरसागर भा० २ पृ० १७२२ पद ४९३४।
८. सूरसागर भा० २ पृ० १७२२ पद ४९३४।
९. कलि के अन्त आदि कृतयुग के हैं कलकी अवतार।
मारि म्लेच्छ धर्म फिर थप्यो भयो जग जय जयकार॥ सूरसारावली, पृ० ११।
१०. काल कलि जनित मल मलिन मन सर्व नर-मोह-निसि-निविड़ जमान्धकारं।
विष्णु-पुत्र कलकी दिवाकर उदित दास तुलसी हरन विपत्ति भारं॥
तु० ग्रं० विनय पत्रिका पद ५२।

११. बारहठ–अवतार लीला।

अवतरित होंगे। कल्कि की ज्योति से युक्त होकर निरञ्जन राम अनेक प्रकार के कौतुक करेंगे।[1]

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में भी कल्कि का पौराणिक रूप ही लिया गया है। तत्कालीन प्रभावों का उनपर किञ्चित असर दीख पड़ता है। भावी आशा के सूचक तथा आगामी सत्ययुग के प्रवर्तक कल्कि का कलियुग की तत्कालीन दशा से घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। अतः कल्कि मध्यकालीन युग की उस आशावादी धारणा के भी द्योतक हैं जिसके मूल में तत्कालीन दासता और दमन का निवारण और भविष्य के आदर्शवादी समाज की कल्पना सँजोई गई है। इससे भारतीय अवतारवाद की आशावादी प्रवृत्ति की भी पुष्टि होती है। यों तो प्रत्येक युग में अवतारवाद स्वतः एक नयी आशा का आविर्भावक रहा है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि भविष्य की आशा को भी वह उसी दृढ़ विश्वास के साथ धारण करने में सक्षम है।

हयग्रीव

विष्णु के दशावतारों में पौराणिक (मीथिक) एवं ऐतिहासिक दो प्रकार के अवतारों का विकास हुआ है। उसी प्रकार 'भागवत' और मध्यकालीन साहित्य में प्रचलित अन्य चौदह अवतारों में भी कुछ अवतार तो ऐतिहासिक महापुरुष हैं और कुछ वैदिक साहित्य के प्रतीकात्मक उपादान हैं, जिनका पौराणिक पद्धति से अवतारात्मक विकास हुआ है। इन प्रतीकात्मक रूपों में हयग्रीव का उल्लेखनीय स्थान है। विष्णु का हयग्रीव रूप यद्यपि दशावतारों में उतना प्रचलित नहीं हो सका फिर भी इसी आधार पर उसे अर्वाचीन या परवर्ती नहीं कहा जा सकता। 'विष्णुपुराण' में मत्स्य, वराह, कूर्म के साथ हयग्रीव का उल्लेख हुआ है[2], परन्तु आलोच्यकाल में उसे चौबीस अवतारों में ही ग्रहण किया गया।

अन्य पौराणिक अवतारों की अपेक्षा हयग्रीव या हयशीर्ष का विकास कथात्मक तत्त्वों से न होकर कुछ वैदिक पद्धतियों या प्रक्रियाओं से हुआ प्रतीत होता है। ऋ० एवं अन्य संहिताओं में 'हर्यश्व' का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है।[3] किन्तु उनमें हयग्रीव के विकास सूचक सङ्केतों का अभाव है। वैदिक

---

१. पावक रूप निकलंक अवतारा, तृन समान म्लेच्छ संहारा।
बहुर कलंकी ज्योति समाई, कौतुक करै निरंजन राई॥ ज्ञानसागर पृ० ५५।

२. वि० ५, १७, १० में मत्स्य, कूर्म वराह आदि के साथ हयग्रीव का भी उल्लेख हुआ है

३. ऋ० ७, ३१, १ ऋ० ८, २१, १०, अथर्व सं० २०, १४, ४, और २०, ६२, ४।

काल के यज्ञों में अश्वमेध का प्रमुख स्थान रहा है। सम्भवतः इसके प्रभावानुरूप इस साहित्य में अश्व एवं यज्ञ तथा ऋचाओं से सम्बधित रूपकात्मक उक्तियों के प्रयोग हुये हैं। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में यज्ञ की अश्वरूपात्मक कल्पना का विराट रूप प्रस्तुत किया गया है। उसमें उसकी हिनहिनाहट को वाणी से अभिहित किया गया है।[1] उसी क्रम में पुनः कहा गया है कि उसने हय होकर देवताओं को, बाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया है। समुद्र ही उसका बन्धु है और समुद्र ही उसका उद्गम स्थान है।[2] इस उक्ति में हय देवताओं का वहनकर्ता, समुद्र का बन्धु और समुद्र से उत्पन्न बताया गया है। अतएव इसमें समुद्र से सम्बद्ध हयग्रीव अवतार के बीज देखे जा सकते हैं। 'महाभारत' में गरुड़ की स्तुति करते समय उन्हें प्रजापति, शिव, विष्णु आदि के साथ हयमुख भी कहा गया है।[3] इससे देवताओं में हयमुख नाम के प्रचलन का अनुमान किया जा सकता है। 'महाभारत' में हयग्रीव का सम्बन्ध वैदिक उच्चारण एवं प्रजापति से लक्षित होता है। इस स्थल पर कहा गया है कि 'स्वर और वर्णों के उच्चारण मेरे ही किये हुये हैं और वरदान देने वाला हयग्रीव अवतार भी मेरा ही अवतार है।'[4] इस कथन में वेद एवं हयग्रीव का साहचर्य विदित होता है। पर महाभारत की एक दूसरी कथा में हयग्रीव के प्रचलित पौराणिक रूप का इस प्रकार उल्लेख हुआ है कि जब जलशायी हरि ने पुनः सृष्टि की इच्छा की तो उसी समय अहङ्कार से ब्रह्मा उत्पन्न हुये। उनके साथ ही जल की दो बूँदों में तमोगुणी मधु और रजोगुणी कैटभ उत्पन्न हुये। दोनों ने ब्रह्मा से वेद छीन लिया और वेदों को लेकर रसातल में घुस गये। उन्होंने वेदों के लिये हरि की स्तुति की। यहाँ ब्रह्मा के क्रमशः मन, यज्ञ, वचन, कर्ण, नासिका, ब्रह्माण्ड और पद्म से होने वाले सात जन्मों का वर्णन किया गया है। नारायण ने वेदों की रक्षा के निमित्त 'हयशिर' का रूप धारण किया।[5] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के सदृश यहाँ 'हयशिर' के विराट रूप का वर्णन हुआ है।[6] उन्होंने रसातल में घुस कर 'उद्गीथ' नामक स्वर का उच्चारण किया।[7] वे दोनों असुर वेदों को छोड़कर स्वर वाले स्थान पर दौड़े इसी बीच 'हयशिर' ने उन वेदों को लाकर ब्रह्मा जी को दे दिया।[8]

---

१. बृ० उ० १, १, १।
२. बृ० उ० १, १, २।
३. महा० १, २३, १६।
४. महा० १२, ३४२, ९६–१०२।
५. महा० १२, ३४७, १९–७१।
६. महा० १२, ३४७, ४९–५३।
७. महा० १२, ३४७, ५५।
८. महा० १२, ३४७, ७०।

उपर्युक्त उपादानों में हयग्रीव का सम्बन्ध यज्ञ, प्रजापति एवं वैदिक उच्चारण से स्पष्ट ज्ञात होता है। सम्भवतः इन्हीं उपादानों के आधार पर इन्हें पौराणिक कथा का रूप दिया गया। भा० २, ७, ११ के अनुसार ब्रह्मा जी कहते हैं कि यज्ञ पुरुष ने मेरे यज्ञ में हिरण्यमय हयग्रीव के रूप में अवतार लिया। भा० ७, ९, ३६-३७, में हयग्रीव के विराट रूप का भी वर्णन किया गया है। मधुकैटभ को मारकर वेदों का उद्धार ही इस अवतार का प्रमुख प्रयोजन रहा है। भा० ८, २४, ५७ में मत्स्य-रूप में भगवान हयग्रीव नामक एक असुर को मार कर वेदों का उद्धार करते हैं।[1] इस कथा की उपस्थिति में भी हयग्रीव का स्वतन्त्र प्रतीकात्मक विकास हुआ है। क्योंकि हयग्रीव, मधु और कैटभ अहङ्कार, तम और रज के प्रतीक रूप में भी गृहीत हुये हैं।[2] पांचरात्रों में हयग्रीव का वागीश्वर-रूप में उल्लेख हुआ है।[3] निष्कर्षतः चौबीस अवतारों में हयग्रीव ही एक ऐसा अवतार है जिसका पूर्णतः उद्गम और विकास विभिन्न प्रतीकात्मक उपादानों के संमिश्रण से हुआ है। इसका आरम्भिक रूप तो कुछ वैदिक ऋचाओं के विशेष स्वरोच्चार में दृष्टिगत होता है, जिनका रूप काल-क्रम से किसी न किसी रूप में परिवर्तित होते-होते पौराणिक कथा (मिथिक फार्म) का रूप धारण कर लेता है। जब उस कथा का अवतारीकरण होता है तब उसका सम्बन्ध केवल वेदों की रक्षामात्र से रह जाता है। इसी से हयग्रीव के पौराणिक कथा-क्रम में प्रायः वैसी सङ्गति दृष्टगत नहीं होती जो सामान्यतः अन्य अवतारों की कथाओं में मिलती है।

मध्यकालीन कवियों में हयग्रीव की पौराणिक कथा विशेषकर प्रचलित है सूरदास ने 'सूरसारावली' में हयग्रीव के प्रति कहा है कि चारों वेदों या सम्भवतः ब्रह्मा ने यज्ञ में जब वेदों का उच्चारण किया था तभी परब्रह्म हयग्रीव के रूप में अवतीर्ण हुये थे।[4] इसी समय शङ्खासुर वेदों को लेकर जल में छिप गया। हयग्रीव ने उसे मार कर वेदों को मुक्त किया।[5] नरहरि दास बारहठ ने हयग्रीव अवतार के क्रम में भागवत की कथा का ही वर्णन किया है। वेदों

---

१. भा० ६, १०, १९ में हयग्रीव नाम के दानव का भी उल्लेख हुआ है।

२. महा० १२, ३४७, २१, २५ और २६। ३. श्रेडर पृ० ४५।

४. चारवेद यज्ञ कियो जब करन वेद उच्चार।
प्रकट भये हयग्रीव महानिधि परब्रह्म अवतार॥
सूरसारावली। व्यं० प्रेस। पृ० ३, पद ८९।

५. लैगो संखासुर जल मे रह्यो छिपाय।
धरि हयग्रीव रूप हरि मार्‌यो लीन्हे वेद छुड़ाय॥
सूरसारावली। व्यं० प्रेस। पृ० ४ पद ९०।

के उद्धार के पश्चात् वे कहते हैं कि वैकुण्ठनाथ ने इस प्रकार पृथ्वी पर सुधर्म का प्रकाश किया और हयग्रीव-रूप में दुष्टों को मार कर उनकी माया नष्ट की। वे सदैव देवताओं के आनन्द तथा वेदों के हित में तत्पर रहते हैं। उन्होंने ब्रह्मा को भी अपनी इस कृपा से सनाथ किया।[१]

व्यास

परवर्ती काल में कतिपय विभूति-सम्पन्न व्यक्तियों को अवतारों की कोटि में ग्रहण किया गया। उनमें कृष्णद्वैपायन व्यास का भी नाम आता है। भारतीय साहित्य में केवल व्यास शब्द से एक व्यक्ति विशेष का ही नहीं अपितु एक वर्ग विशेष का बोध होता है। व्यास के साथ ही प्राचीन नाम बादरायण को[२] पौराणिक वेद व्यास से अभिहित किया जाता है। जहाँ तक इनका सम्बन्ध पराशर से है, तै० आ० में व्यास, पाराशर्य का उल्लेख हुआ है।[३] 'सामविधान ब्राह्मण' ३, ९, ३ में प्रस्तुत एक परम्परा में पाँचवें व्यास पाराशर्य और नौवें बादरायण बतलाये गये हैं।[४] इसमें वे विभिन्न व्यक्ति विदित होते हैं। परन्तु भारतीय परम्परा में शङ्कर, गोविन्दानन्द, वाचस्पति, आनन्दगिरि, आदि ने ब्रह्मसूत्र के बादरायण और व्यास को एक ही माना है तथा रामानुज, मध्व, वल्लभ और बलदेव ने व्यास को ही उसका कर्त्ता माना है।[५] इन विषमताओं के होते हुये भी व्यास के ऐतिहासिक व्यक्ति होने का भान होता है। क्योंकि भारतीय साहित्य में व्यास इस प्रकार व्याप्त हैं कि एकाएक उन्हें अऐतिहासिक सिद्ध करना अत्यन्त कठिन विदित होता

---

१. पृथवी सुधर्म प्रकटे प्रकास. वैकुण्ठ नाथ वैकुण्ठ वास।
इहि प्रकार अधिलेष; पुरुष हयग्रीव प्रगटीय॥
दुष्ट मारि संघारि, असुरमाया औदट्टीय।
अमरवृन्द आनन्द, निगम हित रहत निरंतर॥
विधि सनाथ कृत विश्वनाथ पर ब्रह्म दया पर। अवतार लीला पृ० २५-२७

२. व्यास से सम्बद्ध कतिपय नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं। ऋ० प्रातिशाख्य १४, २, ४ में बादरायण का नाम मिलता है। ये अथर्व सं० ४, ४, ७, ६१ तथा ७, ३९ सूक्तों के तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण नाम के व्यक्ति माने गये हैं।

३. तै० आ० १, ९, २।

४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास जी० २ पृ० ८८ प्रजापति, बृहस्पति, नारद, विष्वक्सेन, व्यास पाराशर्य, जैमिनि, पौस्पिराञ्य, वारशायण, बादरायण, ताण्डि, शाट्यानि।

५. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी। राधाकृष्णन्। जी० २। सं० १९२७। पृ० ४३३।

है। फिर भी उक्त तथ्यों से यह प्रकट है कि व्यास के सम्बन्ध में सबसे विचारणीय कठिनाई उनके ऐतिह्य की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व को लेकर है। वैदिक साहित्य सूत्र, महाकाव्य, पुराण, स्मृति आदि सभी साहित्य में प्रायः व्यास और बादरायण के इतने नाम आते हैं, जिससे निश्चय ही व्यास विशेष के व्यक्तित्व की स्थापना का प्रश्न अत्यन्त दुरूह हो जाता है। अतएव व्यास के अवतारवादी विकास का क्रम उपस्थित करने के उपरान्त भी इस समस्या का समाधान नहीं होता कि इतने व्यासों में किस व्यास को चौबीस अवतारों की कोटि में ग्रहण किया गया।

महाकाव्यों एवं पुराणों में एक ओर तो सत्यवती और पराशर से उत्पन्न, 'महाभारत' के रचयिता और वेदों के विभाजनकर्ता व्यास[1] को 'विष्णु' एवं 'भागवत' आदि पुराणों में अवतार माना गया और दूसरी ओर 'विष्णुपुराण' में व्यासों की एक अवतार-परम्परा भी प्रचलित है जिसमें क्रमशः २८ व्यासों के नाम आये हैं।[2]

अवतारवाद की दृष्टि से सर्वप्रथम गीता में, मुनियों में व्यास को विभूतियों में माना गया है।[3] 'विष्णुपुराण' के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग में वेदों के विभाजन के लिये भगवान व्यास रूप से अवतीर्ण होते हैं।[4] भा० १, ४, १४ में इन्हें योगी और भगवान का कलावतार कहा गया है। मध्यकालीन प्रवर्तकों में संभवतः इसी आधार पर माध्वमत में इन्हें गुण, बल और ज्ञान की दृष्टि से साक्षात् विष्णु-स्वरूप[5] निम्बार्क मत में 'शक्त्यावेशावतार'[6] तथा वल्लभमत में 'विशेषावेश' और 'ज्ञान शक्त्यावतारों' की कोटि में माना गया है।[7] पांचरात्रों के ३९ विभवों में इन्हें 'वेदविद' कहा गया है।[8]

---

१. महा० १, ६३, ८६।

२. वि० पु० ३, ३, ८, २०, में क्रमशः ब्रह्मा, प्रजापति, शुक्राचार्य, बृहस्पति, सूर्य, मृत्यु, इन्द्र, वसिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामा, त्रिशिख, भरद्वाज, अंतरिक्ष, वर्णी, त्र्ययारुण, धनञ्जय, क्रतुञ्जय, जय, भरद्वाज, गौतम, हर्यात्मा, वाजश्रवा, तृणविन्दु, ऋक्ष (वाल्मीकि भी नाम है) शक्ति, (पराशर के पिता) पराशर, जातुकर्ण और कृष्णद्वैपायन नाम आये हैं। इन २८ व्यासों की परम्परा वायु पु० अध्याय १०४ शिव पु०, वायवीय संहिता अध्याय ८, लिंग पु० अ० २४ में भी न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ मिलती है।

३. गी० १०, ३७। ४. वि० पु० ३, ३, ५।

५. महाभारत-तात्पर्य-निर्णय पु० ७ अ० २ श्लो० २६-२९।

६. वै० पा० सो० और वे० कौ० जी० ३ पृ० ७६।

७. त० दी० नि० भा० प्र० पृ० २६-२७। ८. तत्त्वत्रय पृ० ११३।

आलोच्यकाल में 'भागवत' १, ३, २१ और २, ७, ३६ में व्यासावतार के रूपों का वर्णन हुआ है। दोनों में पराशरनंदन व्यास का ही वेद-विभाजन के निमित्त अवतार कहा गया है। 'सूरसागर' में सूरदास ने व्यास की जन्म-कथा का विस्तृत वर्णन किया है।[1] उनके पदों में कहा गया है कि हरि ने व्यासावतार में संहिताओं और वेदों पर विचार किया और पुनः अट्ठारह पुराणों की रचना की फिर भी उन्हें शांति नहीं मिली।[2] तब उन्होंने नारद द्वारा परम्परा से चार श्लोकों में प्राप्त 'भागवत' का व्याख्यान किया।[3] यहाँ 'भागवत' का निर्माण भी उनके अवतार का एक प्रयोजन प्रतीत होता है। 'सूरसारावली' में वेद-विस्तार और पुराणों की रचना के द्वारा या नाना प्रकार की अभिव्यक्तियों के द्वारा ये धर्म की स्थापना कर विश्व का और पृथ्वी का भार हर लेते हैं।[4] नरहरि दास बारहट के अनुसार धर्म के निरूपणकर्त्ता, 'महाभारत' के रचयिता वेद-व्यास अखिलेश के अंशावतार हैं।[5] इस प्रकार इस काल के कवियों ने व्यास के पौराणिक रूपों का विशेषकर 'भागवत' के ही प्रचलित अवतारवादी रूपों को अभिव्यक्त किया है। इससे यहाँ किसी विशेष ऐतिहासिक व्यास की अपेक्षा पौराणिक व्यास को ही अवतारों की कोटि में मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ये पौराणिक व्यास, वेद व्यास, कृष्णद्वैपायन व्यास तथा भागवतकार व्यास प्रायः सभी के समन्वित रूप माने जाते रहे हैं।

पृथु

गीता में राजा ईश्वर की विभूति[6] और पुराणों में विणु का अवतार माना

---

१. सू० सा० जी० १ पद २२९।

२. तातैं हरि करि व्यासऽवतार करो संहिता वेद विचार।
बहुरि पुरान अठारह किये, पै तउ सांति न आई हिये॥
सूरसागर जी० १ पद २३०।

३. तब नारद तिनकैं ढिग आइ, चारि श्लोक कहे समुझाइ।
... ...
व्यास देव तब करि हरि ध्यान, कियौ भागवत कौ व्याख्यान।
सूरसागर जी० १ पद २३०।

४. व्यास रूप ह्वै वेद विस्तारे, कीन्हें प्रकट पुरानन।
नाना वाक्य धर्म थापन कों, तिमिर हरण भुव भारन॥
सूरसारावली। व्यं० प्रेस। पृ० ११।

५. धरम निरूपण करयौ, महाभारत मुष भाष्यौ।
वेद विचारि धरवि मंगल राख्यौ वेद व्यास विख्यात।
अवतार अंस अषिलेसको, व्यास नाम जग विस्तरयौ॥ अवतारलीला पृ० ८३-८६

६. गीता १०, २७।

गया है।[1] परन्तु पौराणिक राजाओं में राम-कृष्ण के अतिरिक्त पृथु को विशेष रूप से विष्णु के अवतार-रूप में ग्रहण किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से पृथु राम-कृष्ण आदि से भी प्राचीन विदित होते हैं। वे ऋ० संहिता काल से ही पृथु वैन्य के रूप में प्रसिद्ध हैं।[2] पुराणों में अत्याचारी वेन की भुजा से इनकी उत्पत्ति बतलाई गई है।[3] विष्णु के अंशावतार होने के पक्ष में कहा गया है कि उनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न विद्यमान था।[4] प्रायः राम-कृष्ण आदि अवतारों में पृथ्वी गो रूप में पुकार करती रही है। किन्तु इस अवतार में उसके विपरीत पृथु स्वतः पृथ्वी को ही भयभीत कर उससे औषधियों का दोहन करते हैं।[5] अतः यहाँ पृथु के प्रथम कृषि एवं खनिज के अन्वेषक होने का भान होता है। 'भागवत पुराण' के विभिन्न स्थलों पर उनके इन्हीं रूपों एवं कथाओं का विस्तार किया गया है।[6] परन्तु एक स्थल पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। 'भागवत' के चौथे 'स्कंध' में कहा गया है कि वेन की भुजाओं से एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ जिन्हें भगवान विष्णु और लक्ष्मी का अंशावतार माना गया।[7] किन्तु 'विष्णुपुराण' में केवल पृथु का ही अविर्भाव बताया गया है।[8] 'भागवत' के उक्त रूप में गुप्तकालीन युगल उपासना का प्रभाव स्पष्ट विदित होता है। पूर्व मध्यकाल या मध्यकाल में भी पृथु का राम या कृष्ण के सदृश सम्प्रदायीकरण नहीं हुआ जिस के फलस्वरूप वे अंशावतार या लीलावतार ही रहे। पांचरात्र विभवों में पृथु का उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव ऐसा विदित होता है कि पृथु को जिस अवतार-परम्परा में ग्रहण किया गया है वह पौराणिक उपास्यों की न होकर ज्ञान, विज्ञान के उन प्रवर्तकों की रही है जिन्होंने भारतीय साहित्य, दर्शन और विज्ञान को नई दृष्टि प्रदान की है। यों तो 'मनुस्मृति' और 'विष्णुपुराण' के अनुसार प्रायः सभी राजाओं में पंचदेवांश की कल्पना की जाती रही है और उनको विष्णु का अवतार भी समझा जाता रहा है। परन्तु चौबीस अवतारों की कोटि में सभी राजे गृहीत नहीं हुए हैं। इस वर्ग में केवल उन्हीं राजाओं का नाम आता रहा है जो सांस्कृतिक उन्नयन के नेता तथा किसी न किसी प्रकार के ज्ञान या विज्ञान के क्षेत्र में युग-प्रवर्तक रहे हैं। राम,

---

१. वि० पु० ४, २४, १३८। २. ऋ० १०, १४८।

३. वि० पु० १, १३, वायु० पु० ६२-६३, अध्याय, अग्नि पु० १८ अ०, ब्रह्म पु० ४ अ०. मत्स्य पु० १० अ०।

४. वि० पु० १, १३, ४५। ५. वि० पु० १, १३, ८७-८८।

६. भा० १, ३, १४, भा० २, ७, ८, भा० ४, १४-१६।

७. भा० ५, १५, १-३। ८. वि० पु० १, १३, ३८-३९।

कृष्ण, परशुराम, बुद्ध इत्यादि के प्रारम्भिक अवतारीकरण के मूल में भी यही भावना कार्य करती है। इस दृष्टि से पृथु ने भी कृषि और खनिज को अवश्य ही अपना महत्त्वपूर्ण अवदान दिया होगा। इसके फलस्वरूप राजा की अपेक्षा एक युग प्रवर्तक नेता के रूप में पाकर ही उन्हें चौबीस अवतारों में स्थान प्राप्त हुआ। किन्तु उनका सम्बन्ध राम, कृष्ण या बुद्ध की तरह किसी महकाव्य या धर्म-सम्प्रदाय से न होने के कारण चौबीस अवतारों में वह स्थान नहीं प्राप्त हुआ जो उपर्युक्त अवतार अपने सम्प्रदायों में प्राप्त कर सके हैं। जो हो यहाँ अवतारवाद के एक सम्यक् वैज्ञानिक दृष्टिकोण का कम से कम पता चलता है—वह यह कि ऐसे व्यक्ति भी ईश्वरीय अंश से संवलित हैं, जिन्होंने युग परिवर्तनकारी कार्य किया है।

मध्यकालीन 'भागवत' की परम्परा में मान्य 'लघुभागवतामृत' या 'सात्वत तंत्र' में भी वे लीलावतार में गृहीत हुये हैं।[1] अतएव पृथु इष्टदेव या उपास्य की अपेक्षा प्रवर्तक रूप में विशेष रूप से वर्णित हुये हैं। 'सूरसागर' के पदों के अनुसार हरि ने पृथु का रूप धारण कर राज्य किया। उन्होंने विश्व में विष्णु-भक्ति का प्रवर्तन किया और प्रजा को सब प्रकार से सुखी बनाया। सूरदास ने 'भागवत' की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये वेन की दक्षिण भुजा से उनके युगल प्राकट्य की चर्चा की है।[2] सूरदास ने उनके भक्त-रूप का भी वर्णन किया है। यज्ञ पूर्ण होने के अनन्तर हवन कुंड से प्रकट हुए पुरुष से पृथु एक मात्र भक्ति की याचना करते हैं।[3] 'सूरसारावली' में उनके अन्वेषक रूप का उल्लेख हुआ है। वे पृथु-रूप में पृथ्वी से विविध प्रकार के रसों के अन्वेषक तथा विश्व के आनन्ददाता हैं।[4] नरहरि दास बारहट ने भी 'भागवत' की कथा एवं प्रयोजनों को ग्रहण किया है और पृथु

---

१. लघुभागवतामृत पृ० ६१, सात्वत तंत्र २, १५।

२. धारि पृथु रूप हरि राज कीन्हो।
विष्णु की भक्ति परवर्त जंग में करि, प्रजा कौ सुख सकल भांति दीन्ही।
बहुरि जब रिषिन भुज दछिन कीन्ही मत्थन, लच्छमी सहित पृथु दास दीन्ही॥
सूरसागर जी० १ पृ० १४४–१४५ पद ४०५।

३. पृथु कह्यौ नाथ मेरै न कछु शत्रुता, अरु कछु कामना, भक्ति दीजै।
सूरसागर जी० १ पृ० १४५।

४. यह भुव-मंडल को रस काढ्यौ, भांति भांति निज हाथ।
धरि पृथु रूप कियो जग आनन्द अखिल लोक को नाथ॥
सूरसारावली। व्यं० प्रेस। पृ० ४।

को अनादि ईश्वर का अंशावतार माना है।[1] इस प्रकार मध्यकालीन कवियों ने प्रायः 'भागवत' और 'पद्म पुराण' में वर्णित उनके अन्वेषक और भक्त-रूप को ग्रहण किया है। सूरदास ने 'सूरसारावली' में तो पृथु को अन्वेषक माना है किन्तु सूरसागर में उन्हें विष्णु-भक्ति का प्रवर्तक बतलाया है। सम्भवतः चौबीस अवतारों में गृहीत होने के अनन्तर परवर्ती पुराणों में उन्हें विष्णु-भक्ति के प्रवर्तक-रूप में भी प्रचारित किया गया, जिसका आश्रय मध्यकालीन कवियों ने लिया है। पर वैष्णव अवतारवाद की यह विशेषता रही है कि युग प्रवर्तकों के अतिरिक्त विष्णु के मान्य भक्तों को भी उनके अवतारों में परिगणित किया जाता रहा है। परवर्ती 'पद्म पुराण' में पृथु विष्णु के भक्त भी माने गये हैं जिसके फलस्वरूप उनके विष्णु-भक्ति-जन्य प्रवर्तक रूप का भी प्रचार हुआ।

किन्तु 'विष्णु' और 'भागवत पुराण' में इनका कृषि और खनिज का अन्वेषक रूप ही प्रधान रहा है। 'भागवत' (४, १५, ३) में इन्हें विष्णु की भुवन-पालिनी कला का तथा उनके साथ उत्पन्न उनकी पत्नी अर्चि को लक्ष्मी-शक्ति का अवतार कहा गया है। चौबीस अवतारों में इस युगल आविर्भाव के कारण पृथु-अवतार का विलक्षण स्थान है। क्योंकि इस युगल उत्पत्ति से गुप्तकालीन युगल-उपासना की पुष्टि होती है।

गजेन्द्र-हरि

चौबीस अवतारों में गजेन्द्र और ध्रुव के उपास्य हरि या विष्णु को भी अवतारवाद की सीमा में समाविष्ट किया गया है। इन साक्षात् उपास्य रूपों तथा उत्पत्ति से सम्बद्ध रूपों में रूपात्मक वैषम्य होने के साथ-साथ प्रयोजनात्मक अंतर भी लक्षित होता है। क्योंकि इस अवतार का प्रयोजन देवता और पृथ्वी से सम्बद्ध न होकर पूर्णतः भक्तोद्धार या भक्त की कामना-प्राप्ति से है। पूर्ववर्ती अवतारों में उपास्य विष्णु के तत्वों के संन्निविष्ट हो जाने पर भी उनमें वैदिक विष्णु का देवपक्षीय रूप स्पष्ट प्रतिभासित होता है। किन्तु प्रस्तुत रूप में विष्णु या हरि पूर्णतः उपास्य एवं विग्रह रूप हैं।

'महाभारत' में विष्णु के 'हरि' अवतार की चर्चा हुई है। एक स्थल पर कहा गया है कि नारायण के पश्चात् कृष्ण ने 'हरि' का अवतार लिया।[2]

---

१. जिहि आदि न मध्य न अंत कछु कवि नरहर यो वेद कहि।
पृथु भयौ देव त्रयलोक पति महाराज अवतार महि।
अवतार लीला। ह० ले०। पृ० २५।

२. महा. ३, १२, २१।

'नारायणीयोपाख्यान' में वर्णित चार धर्म के चार पुत्रों में 'हरि' का नाम भी लिया गया है।[१] नारायण हरे रंग के होने के कारण हरि कहे जाते हैं।[२] गीता में विश्व-रूप के प्रसंग में 'हरि' का प्रयोग हुआ है।[३] 'विष्णुसहस्रनाम' में शंकर ने अविद्या एवं अज्ञान हर लेने के कारण विष्णु को 'हरि' कहा है।[४] 'विष्णुपुराण' के अनुसार तामस मन्वन्तर में 'हर्या' के गर्भ से हरि का अवतार बतलाया गया है।[५] पर 'महाभारत' और 'विष्णुपुराण' के इन रूपों में हरि का गज-ग्राह की कथा से संबंध नहीं स्थापित किया गया है। 'भागवत' १, ३ के विवरण में भी गजेन्द्र-हरि के अवतार का उल्लेख नहीं हुआ है।

इससे विदित होता है कि गज एवं ग्राह की अनुश्रुतिपरक या प्रतीकात्मक कथा का बाद में चलकर हरि से संबंध हुआ। साथ ही यह भी सम्भव है कि 'गज' के पर्यायवाची हरि शब्द से भी गज के उपास्य को 'हरि' से अभिहित किया गया हो। जो हो 'भागवत' के २, ७ के चौबीस अवतारों की कथा में जिस हरि का उल्लेख हुआ है वे गज-ग्राह से सम्बद्ध हरि हैं। वे गरुड़ पर चढ़ कर और चक्र हाथ में लेकर गज की रक्षा करने जाते हैं।[६] इससे उनके अवतारात्मक प्रादुर्भाव की अपेक्षा विग्रहात्मक प्राकट्य का अधिक आभास मिलता है। 'भागवत' में वर्णित मन्वन्तरावतार क्रम में भी गजेन्द्र-हरि का ही विस्तृत वर्णन हुआ है, जिसमें वे 'हरिमेधा' की पत्नी हरिणी से उत्पन्न कहे गये हैं।[७] इस प्रकार 'भागवत' २, ७, १५-१६, में एक ओर तो हरि के उपास्य एवं विग्रहप्रधान रूप का वर्णन हुआ है और दूसरी ओर मन्वन्तरावतारों में ८, २, २९-३०, हरिणी के गर्भ से उनकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है। इस वैषम्य के आधार पर उक्त अवतार की कथा का रूप विभिन्न कथाओं (फ्रेगमेंटस) के योग से निर्मित हुआ प्रतीत होता है। फिर भी चौबीस अवतारों में गजेन्द्र-हरि के अवतार की अपनी विशेषतायें हैं जो अन्य किसी भी अवतार में लक्षित नहीं होतीं। सर्वप्रथम इस अवतार-हेतु में गो के अतिरिक्त, देवता और पृथ्वी के स्थान में एक पशु-विशेष की प्रार्थना है, जिसकी परम्परा अन्यत्र विरल है। दूसरा यह कि इस अवतार में विष्णु की अन्य पशु या मानवीय रूप में उत्पत्ति नहीं होती है अपितु उनका साक्षात् प्राकट्य होता है। वे अपने पुराण-विख्यात चतुर्भुज रूप में सुदर्शन चक्र इत्यादि आयुधों

---

१. महा० १२, ३३४, ८-९। २. महा० १२, ३४२, ६८।
३ गीता ११, ९, और १८. ७७।
४. वि० सहस्रनाम शां० भा० पृ० १९५ श्लो० ८२।
५. वि० पु० ३, २, २९। ६. भा० २, ७, १५-१६।
७. भा० ८, १, २९-३०।

से युक्त गरुड़ पर सवार होकर उपस्थित होते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि मन्वन्तरावतार में भी इस अवतार को ऐसे रूप में उपस्थित किया गया है जिसमें हरि का विग्रहात्मक प्राकट्य नहीं होता बल्कि उत्पत्ति होती है।

प्रतीकात्मक व्याख्या

परन्तु गजेन्द्र-हरि का सर्वाधिक महत्त्व उसके प्रतीकात्मक रूप के कथात्मक रूप में परिवर्तित होने से है। यों अभी तक गजेन्द्र-हरि के प्रतीकात्मक विश्लेषण का प्रयास नहीं हुआ है किन्तु उक्त रूपान्तर के वैज्ञानिक अध्ययन के निमित्त मुझे इसका विश्लेषण समीचीन जान पड़ता है। सामान्यतः पुराणों में ऐसी अनेक कथाओं का प्रचलन दीख पड़ता है जिनका सम्बन्ध किसी न किसी प्राकृतिक कार्य-व्यापार से रहा है। इस दृष्टि से मत्स्य, वराह, कूर्म, वामन, नृसिंह, हयग्रीव का भी महत्त्व आँका जा सकता है, जिनका स्थल विशेष पर विचार किया गया है।

मेरे मत से गजेन्द्र-हरि की कथा का सम्बन्ध भी एक प्राकृतिक व्यापार से ही रहा है। इसमें ग्राह-जल, गजेन्द्र-बादल-हरि-सूर्य और चक्र-किरणों के प्रतीक जान पड़ते हैं। भावार्थ यह है कि जल से बादलों के निर्माण के लिए किरणों का जल में प्रवेश करना आवश्यक है। जो हो इन प्रतीकों का काव्य रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो जाने पर इनका कथात्मक रूप में प्रचलित हो जाना अधिक असम्भव नहीं विदित होता। पर मध्यकालीन साहित्य में गजेन्द्र-हरि का कथात्मक उपादान ही गृहीत हुआ है।

मध्यकाल के कवियों में सूरदास ने 'गजमोचन' नाम से 'सूरसागर' में इस अवतार का वर्णन किया है। भागवत-कथा का ही आश्रय लेते हुये सूरदास कहते हैं कि एक गंधर्व देवल ऋषि के शाप से ग्राह हो गया था। ऋषि के वचनानुसार गजेन्द्र के पैर पकड़ने से ही उसकी मुक्ति होती थी।[1] समय पाकर उसने गजेन्द्र का पैर पकड़ा।[2] फलतः गज की पुकार सुनकर हरि प्रकट होते हैं। सूरदास ने मन्वन्तरावतार के हरि की अपेक्षा 'अष्टम स्कंध' के उपास्य हरि का वर्णन किया है। वहाँ ये निगमातीत तथा मन-वचन से परे

---

१. गंधर्व एक नदी मैं जाइ। देवल ऋषि को पकर्‌यौ पाइ।
जब गजेन्द्र को पग तू गैहै, हरि जू ताको आनि छुटैहै ॥

सूरसागर जी० १ पृ० १७० पद ४२९।

२. कालहिं पाइ ग्राह गज गह्यौ। गज बल करि करिकै थकि रह्यौ।

सूरसागर जी० १ पृ० १७० पद ४२९।

रहने वाले उपास्य ब्रह्म हैं। वे करुणामय चक्र-सहित[1] गज के उद्धार के[2] निमित्त उपस्थित होते हैं। 'सूरसारावली' के अनुसार भी गज के स्मरण करते ही साँवले कृष्ण अपना सुखधाम छोड़कर भक्त को सुख प्रदान करते हैं।[3] इस प्रकार मध्यकालीन साहित्य में गजेन्द्र को अनन्य भक्त तथा हरि को करुणामय उपास्य के रूप में ही व्यक्त किया गया है। यह प्रवृत्ति इस काल की सर्वाधिक लोकप्रिय भावना के रूप में कार्य करती रही है। इसके निरन्तर गतिशील होने का पाथेय भी परवर्ती पुराणों से प्रचुर मात्रा में मिलता रहा है। यही कारण है कि यह उपास्यवाद केवल गजेन्द्र-हरि ही नहीं अपितु सभी अवतारों की अभिव्यक्तियों को किसी न किसी रूप में आच्छादित कर लेता है।

हंस

हंसावतार का तत्कालीन रूप कतिपय प्रतीकात्मक उपादानों का समाविष्ट रूप है। सामान्य रूप से विभिन्न प्रतीकों से विकसित अवतारों के पौराणिक रूपों में एकरूपता नहीं रहती। हंसावतार में भी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है। क्योंकि 'छान्दोग्योपनिषद्' से लेकर 'भागवत' तक हंस द्वारा किये गये उपदेश की प्रवृत्ति तो समान रूप से मिलती है, किन्तु हंस का रूप धारण करने वाले कहीं आदित्य, कहीं प्रजापति, कहीं विष्णु या कृष्ण दीख पड़ते हैं। वैदिक साहित्य में हंस का, पक्षी रूप के अतिरिक्त जीवात्मा और आदित्य के प्रतीकों के लिये प्रयोग हुआ है।[4] 'छान्दोग्योपनिषद्' में हंस सत्यकाम को ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करते हैं।[5] श्री शंकराचार्य ने शुक्लता तथा उड़ने में समानता होने के कारण इस मंत्र की व्याख्या करते समय हंस

---

१. निगमनि हूं मन वचन अगोचर, प्रगट सो रूप दिखायौ।
... ...
चिंतत ही चित मैं चिंतामनि, चक्र लिये कर धायौ।
अति करुना कातर करुनामय, गरूड़हु कौ छुटकायौ।
सूरसागर जी० १ पृ० १७१ पद ४३०।

२. गज हित धावन, जन मुकरावन् वेद विमल जग गावत।
सूरसागर जी० १ पृ० १७१ पद ४३१।

३. गज अरु ग्राह लड़ेउ जल भीतर तब हरि सुमिरण कीन्हों।
छोड़ि गरुड़ सुखधाम सांवरो भक्तन को सुख दीन्हों॥
सूरसारावली। व्यं० प्रेस। पृ० १२।

४. अथर्व सं० ८, ७, २४ पक्षी, १०, ८, १७ सं० जीवात्मा, अथर्व सं० १०, ८, १८ आदित्य।

५. छा० ४, ७, २-४।

को आदित्य का प्रतीक माना है। 'महाभारत' में हंस प्रजापति के अवतार-रूप में अवतीर्ण होकर साध्यों को उपदेश देते हैं।[1] 'विष्णुसहस्रनाम' में विष्णु के लिये प्रयुक्त हंस की व्याख्या करते हुए शंकर ने कहा है कि 'अहंस' (मैं वह हूँ) की तादात्म्य भावना से संसार का भय नष्ट कर देते हैं, इसलिये हंस हैं या आकाश में चलने वाले सूर्य के सदृश सब शरीरों में व्याप्त हो जाते हैं, इसलिये हंस हैं।[2] इन व्याख्याओं में विष्णु से हंस का आत्म-रूपात्मक संबंध दृष्टिगत होता है। 'महाभारत' के दशावतारों में हंस को परिगणित किया गया है[3] और एक स्थल पर हंस के एक अवतार-विग्रह रूप का भी प्रसंग मिलता है। 'आदि पर्व' में चेदिराज वसु द्वारा, हंस के रूप में आविर्भूत इन्द्र भगवान की पूजा का उल्लेख हुआ है।[4] इस प्रकार 'महाभारत' में हंस का प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, नारायण प्रभृति से सम्बद्ध विविध रूपों का पता चलता है। 'श्रीमद्भागवत' के सभी विवरणों में हंसावतार का उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी हंसावतार एवं हंस-उपास्य दोनों रूपों का वर्णन हुआ है। इस पुराण के द्वितीय विवरण के अनुसार भगवान नारद को 'भागवत' के उपदेश देने के निमित्त हंस-रूप में आविर्भूत होते हैं।[5] जब कि 'भागवत' के एक दूसरे स्थल के अनुसार ब्रह्मा ने नारद को 'भागवत' का उपदेश दिया था।[6] पुनः 'एकादश स्कंध' के अनुसार श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी को परमतत्त्व का उपदेश दिया था।[7] 'महाभारत' के अतिरिक्त इनमें भी हंस का ब्रह्मा से किसी न किसी प्रकार का संबंध लक्षित होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम हंस रूप का ब्रह्मा या प्रजापति से संबंध था। वही किसी स्थान में ब्रह्मा या कहीं हंस-रूप से उपदेश देता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म, ईश्वर या विशेषकर आत्मब्रह्म के प्रतीक या पर्यायवाची शब्दों के रूप में भी 'हंस' सुपर्ण या वैकुंठ का उल्लेख मिलता है। भा० ११, ५, २३ के अनुसार सत्ययुग के मनुष्य का संभवतः वैदिक कालीन पुरुष हंस, सुपर्ण, वैकुंठ, परमपद, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त

---

१. महा० १२, २९६, ३-४, छा० ३, १०, १-३ में कहा गया है कि जो पाँचवाँ अमृत है, साध्यगण ब्रह्मा की प्रधानता से उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। यहां साध्यों के साथ ब्रह्मा का सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

२. विष्णु सहस्रनाम। शां० भा०। पृ० ११६-११८।

३. महा० १२, ३३९, १०३-१०४, भा० १०, २, ४०, के भी दशावतार क्रम में इसका उल्लेख हुआ है।

४. महा० १, ६३, २१।

५. भा० २, ७, १९-२०।

६. भा० २, १०, ४२-४३।

७. भा० ११, १३, १९।

और परमात्मा आदि नामों से उपास्य का लीला-गान करते हैं।[1] इनमें प्रयोजनीय हंस और सुपर्ण आदि पक्षी सूचक नामों का उपनिषदों में कतिपय स्थलों पर प्रयोग हुआ है।[2] सुपर्ण या गरुड़, पुराणों में विष्णु का वाहन माना गया है। अतएव उपास्य विष्णु को हंस नाम से अभिहित कर हंसावतार की कल्पना असंभाव्य नहीं जान पड़ती।

मध्यकालीन कवियों में भा० ११, १३, १९ का रूप ही विशेष रूप से प्रचलित हुआ, जिसमें स्वयं हंस-रूप में उपदेशक ब्रह्मा स्वयं उपदेश-श्रोता हो गये हैं और उनका स्थान विष्णु या उनके अवतार कृष्ण ने ग्रहण कर लिया है। 'सूरसागर' में हंसावतार का वर्णन करते हुये कहा गया है कि सनकादिक ऋषियों ने ब्रह्मा से जाकर एक प्रश्न पूछा कि विषय और चित्त में क्या संबंध है।[3] ब्रह्मा से इसका उत्तर नहीं आ सका तब उन्होंने हरि का ध्यान किया और हरि ने हंस रूप में आकर इसका निराकरण किया[4] और यह उपदेश देने के अनन्तर वे लुप्त हो गये।[5] नरहरि दास बारहठ ने हंसावतार के निमित्त भागवत के ही उक्त उपादान को ग्रहण किया है। इनके पदों के अनुसार ब्रह्मा अपने सभा-भवन में सनकादि एवं नारद मुनि के सहित बैठे थे।[6] इन्हें उपदेश देने के लिये अनाथ नाथ, वैकुंठनाथ, परब्रह्म ही हंस-रूप धारण कर वहाँ उपस्थित हुये। किन्तु यहाँ आकर ब्रह्म केवल उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं।[7]

---

१. भा० ११, ५, २३।
हंसः सुपर्णो वैकुंठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः, ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्ममेति गीयते

२. परस्ताद्यशो गुहासु मम सुपर्णपक्षाय धीमहि।
'हंस' कठो उ० २, २, २, महानारा० उ० ९, ३ 'सुपर्ण' मु० उ० ३, १, १, श्वेत उ० ४, ६ महानारा पु० ६, ८।

३. सनकादिक ब्रह्मा पै जाइ, करि प्रनाम पुछ्यो या माइ।
किधौ विषय कौ चित गहि रह्यौ, कै विषयानि ही चित कौ गह्यौ।
सूरसागर जी० २ पृ० १७२० पद ४९३१।

४. ज्ञान हमारो अतिसये होइ, ब्रह्म रह्यो निरुत्तर होइ।
ब्रह्मा हरिपद ध्यान लगाए, तब हरि हंस रूप धरि आए॥ सूर० जी० २, पृ० १७२०

५. सनकादिक सों कहि यह ज्ञान, परम हंस भए अंतर्धान।
सूरसागर जी० २, पृ० १७२०।

६. एक समै विधि लोक विधि, बैठे सभा भवनाई।
सनकादिक नारद सहित, सब सुत बैठे जाइ॥ अवतारलीला ह० लि० पृ० ७२।

७. उतपति स्वयं अनाथ नाथ, वपु धर्‌यौ हंस वैकुण्ठ नाथ।
माया अजीत इच्वा मुरारि, पर ब्रह्म हंस तहां पाव धारि॥ अ० ली० वही पृ०

इस प्रकार हंसावतार का रूप, विभिन्न प्रतीकों एवं ब्रह्मा आदि से सम्बद्ध पौराणिक तत्वों से संयुक्त होकर तत्कालीन रूप में गृहीत हुआ है। उपर्युक्त तथ्यों के क्रमिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वैदिक एवं उपनिषद् साहित्य में हंस प्रायः प्रतीकात्मक रूप में ही प्रयुक्त होता था। भारतीय परम्परा में हंस को नीर-क्षीर-विवेकी माना गया है। नीर-क्षीर-विवेक से तात्पर्य है सत्य और मिथ्या के पृथक्-पृथक् स्पष्टीकरण से। इस गुण से सन्निविष्ट होने के नाते यह विद्या या सरस्वती का वाहन कहा जाता है। परन्तु वैदिक साहित्य में हंस संभवतः संकल्प और विकल्प का विवेक करने के कारण आत्मा का प्रतीक माना गया है। अंधकार और प्रकाश के विवेक की शक्ति से युक्त होने के नाते इसका आदित्य के लिए भी प्रयोग किया जाता रहा है। इसी प्रकार महाभारत में हंस का जो रूप प्रजापति या ब्रह्मा के रूप में मिलता है वहाँ भी साध्य कोटि के देवताओं के वार्तालाप से स्पष्ट है कि दोनों के प्रश्नोत्तर में विहित और निषिद्ध कार्यों और व्यवहारों का विवेकपूर्ण विश्लेषण किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' के 'तेरहवें अध्याय' में प्रजापति के स्थान में कृष्ण ही हंस का रूप धारण कर ब्रह्मा और सनकादिक के भ्रम का निवारण करते हैं। ब्रह्मा का स्थान कृष्ण द्वारा ग्रहण करने के मूल में परवर्ती पौराणिक साहित्य की वह प्रवृत्ति लक्षित होती है[1], जिसके अनुसार उस युग में यज्ञों का प्रभाव घट जाने के फलस्वरूप प्रजापति और इन्द्र की महत्ता भी अत्यन्त क्षीण हो गई थी। फिर भी उपनिषदों से लेकर पुराणों तक विविध परिवर्तनों के होते हुए भी हंस का नीर-क्षीर-विवेकी स्वभाव सर्वत्र एक सा दीख पड़ता है।

मनु

'भागवत' के अवतारों में मनुओं को चौबीस अवतारों में माना गया है। मनु एवं अन्य मनुओं का 'भागवत' के अवतारवाद से दो प्रकार का संबंध लक्षित होता है। एक ओर तो मनु व्यक्तिगत रूप में विष्णु के अंशावतारों में कहे गये हैं और दूसरी ओर विभिन्न मनुओं से प्रत्येक मन्वन्तर में विष्णु के भी विभिन्नअवतार माने गये हैं जिनका मन्वन्तरावतार से विशेष सम्बन्ध है।

इन मनुओं के पुराणों से पूर्व रूप का पता वैदिक संहिताओं में मिलता

---

१. ब्रह्मादि करे पूजन बनाइ, कारण भूत प्रभु हंस काइ।
जो कह्यौ ब्रह्म नारद ऋषीस, उत्तर सोइ दीनौ जगत इस॥
अवतारलीला। ह० लि०। पृ० ७३।

है। 'ऋ० संहिता' में 'मनु वैवस्वत्'[1], 'मनु संवरण'[2], 'मनु आप्लव'[3] और 'चक्षु मानव' के रूप में संभवतः 'चाक्षुष मनु' के नाम सूक्तों के रचयिता ऋषियों के रूप में आये हैं।[4] किन्तु ब्राह्मणों में ही उन पर पौराणिक रंग चढ़ने लगता है। श० ब्रा० १, ८, १, १ में प्रस्तुत मनु-मत्स्य-कथा इसका ज्वलंत उदाहरण है। 'छान्दोग्य' के मधुज्ञान की परम्परा में मनु का नाम लिया गया है।[5] गीता-ज्ञान की परम्परा में भी श्रीकृष्ण ने मनु को ग्रहण किया है।[6] इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य में मनु द्वारा रचित 'मनुस्मृति' का पता चलता है। फर्कुहर के अनुसार जिसका रचनाकाल २०० ई० पू० से २०० ई० तक माना गया है,[7] उपर्युक्त तथ्यों से मनु के केवल राजा ही नहीं अपितु आत्मज्ञानियों और शासन सूत्र के उन्नायकों के रूप में भी विख्यात होने का अनुमान होता है। 'महाभारत' में मनु, कश्यप अदिति से उत्पन्न विवस्वान् के पुत्र बतलाये गये हैं।[8] इन्हीं से सूर्यवंश या मानवों से सम्बद्ध मनुवंश विख्यात हुआ।[9] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी इन्हीं से उत्पन्न हुये।[10] इसके अतिरिक्त पुराणों में एक मनु से ही उत्पन्न मनुवंश और अनेक मनुओं के उल्लेख हुये हैं। 'गीता' में चार मनुओं को ईश्वर की विभूतियों में गिना गया है।[11] 'विष्णु पुराण' में सभी राजाओं को मनुवंशी और विष्णु का अंशावतार कहा गया है।[12] 'भागवत' में वर्णित अवतारों के प्रसंग में ऋषियों और देवताओं के साथ मनु और मनुपुत्रों को कलावतारों में माना गया है।[13] इससे स्पष्ट है कि चौबीस अवतारों में गृहीत होने के पूर्व ही मनु एवं मनुवंशियों को विभूति, अंश एवं कलावतारों के रूप में माना जा चुका था परन्तु 'भागवत' के जिन चौबीस अवतारों में इनका उल्लेख हुआ है वे उक्त अवतारवादी रूपों के साथ, उपास्य भगवान के प्रधान लीलावतार भी माने गये हैं।[14] इन लीला-रूपों में वर्णित मनु-अवतार के प्रति कहा गया है कि ये स्वायम्भुव आदि मन्वन्तरों में मनु-वंश की रक्षा करते हुये निर्विघ्न राज्य करते हैं और समय-समय पर दुष्ट राजाओं का दमन भी करते हैं।[15]

---

१. ऋ० ८, २७। २. ऋ० २, १३।
३. ऋ० ९, १०६। ४. ऋ० १, १०६।
५. छा० ६, ११, ४। ६. गीता ४, १–२। ७. फर्कुहर पृ० ८१।
८. महा० १, ७५, १०–११। ९. महा० १, ७५, १३।
१०. महा० १, ७५, १४। ११. गीता १०, ६।
१२. वि० पु० ४, २४, १३८। १३. भा० १, ३, २७।
१४. भा० २, ६, ४५। १५. भा० २, ७, २०।

इससे पता चलता है कि भारतीय सभ्यता और समाज के विकास में मनु वंश का श्लाघ्य योगदान रहा है। प्रारम्भिक काल से ही इस वंश के राजाओं को केवल योग्य शासक ही नहीं अपितु ऋचाकार, मनीषी, विचारक, मंत्र-द्रष्टा, और आदि स्मृतिकार के रूप में उनके अस्तित्व का पता चलता है। इसके अतिरिक्त स्मृति में राज की दैवी उत्पत्ति का प्रारम्भिक उल्लेख भी विद्वानों के मतानुसार 'मनु-स्मृति' में ही मिलता है। संभवतः उसके पश्चात ही भारतीय राजाओं में व्याप्त देवांश या ईश्वरांशावतार की भावना का प्रसार हुआ। इस आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से मनु द्वारा प्रतिपादित अवतारवाद के एक रूप विशेष के उद्गम का अनुमान किया जा सकता है। 'विष्णु' 'वायु' और अन्य परवर्ती पुराणों में राजाओं के अंशावतार की जो भावना लक्षित होती है, उसकी परम्परा का आरम्भ 'मनुस्मृति' से भी माना जा सकता है। 'महाभारत' (१, ७५) के अनुसार तो समस्त मानवजाति के उद्भव और प्रसार का श्रेय मनु को प्राप्त है।

किन्तु मनु-अवतार की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस वंश के एक ही मनु नहीं अपितु समस्त मनुवंशी शृंखला को ही अवतारवादी रूप प्रदान किया गया। इसी से चौबीस अवतारों की कोटि में भी किसी एक मनु के अवतारवादी रूप का स्पष्टतः पता नहीं चलता बल्कि उसके विपरीत 'भागवत' और उसके बाद के पुराणों में मन्वन्तरावतार के रूप में प्रचलित एक पृथक् अवतार-परम्परा का ही उल्लेख मिलने लगता है। फिर भी मनुओं के अवतारीकरण में 'दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त' का योग होने के अतिरिक्त उनके युग प्रवर्तनकारी कार्यों का मूल्य अधिक माना जा सका है। इसके फलस्वरूप अन्य ऋषियों और राजाओं के सदृश वे कला और विभूतियों के रूप में परिगणित हुए।

मध्यकालीन सम्प्रदायों में माध्व साहित्य में मनुओं को 'विशेषावतार'[1], निम्बार्क साहित्य में विष्णु के रक्षात्मक 'सत्त्व गुणावतार'[2] और वल्लभ साहित्य में 'विशेषावतार' एवं 'ज्ञान शक्त्यावतार' माना गया है।[3] मध्यकालीन भक्त कवियों में सूरदास ने मनु का चौबीस अवतारों में तो नाम लिया है[4] किन्तु इनका पृथक् वर्णन नहीं किया है। 'सूरसारावली' तथा नरहरिदास की 'अवतार-

---

१. महा० तात्पर्य नि० पृ० ७ अ० २–३०, ३२। २. वे० र० म० पृ० ४८।

३. त० नि० भा० प्र० पृ० २६–२७ स्कंध १, ५८, ६१–६२।

४. सूरसागर जी० १ पृ० १२६ पद ३७८ 'कपिल मनूहयग्रीव पूनि, कीन्हो ध्रुव अवतार'

लीला' में इन्हें चौदह मन्वन्तरावतारों में समाविष्ट किया गया है।[1] संभवतः मन्वन्तरावतारों के रूप में अधिक प्रचलित होने के कारण मध्यकालीन भक्त कवियों ने चौबीस अवतारों में इनका विस्तृत वर्णन नहीं किया।

यज्ञ-पुरुष

विष्णु के यज्ञावतार के एक ही रूप को 'भागवतपुराण' में चौबीस लीलावतार एवं मन्वन्तरावतार दोनों में वर्णन किया गया है। इस रूप के अतिरिक्त 'विष्णुपुराण' में उनके जिस यज्ञ पुरुष रूप का वर्णन हुआ है, इन यज्ञ से सम्बद्ध रूपों का मूल कारण विष्णु का यज्ञ से संबन्धित होना प्रतीत होता है। यों तो 'ऋ० संहिता' में यज्ञ के गर्भभूत विष्णु का उल्लेख हुआ है,[2] किन्तु 'तैत्तिरीय संहिता' एवं 'शतपथ ब्राह्मण' में स्पष्टतः उन्हें यज्ञ से स्वरूपित किया गया है।[3] इनके मंत्रों के अनुसार विष्णु यज्ञ-स्वरूप हैं। यज्ञसे स्वरूपित करने की यह परम्परा पुराणों में भी लक्षित होती है। 'विष्णुपुराण' में उन्हें 'आद्य यज्ञ-पुरुष' और 'यज्ञ-मूर्तिधर' कहा गया है।[4] 'महाभारत' एवं पुराणों में प्रचलित 'विष्णुसहस्रनाम' में यज्ञ तथा उसके अनेक अंगों और उपांगों के वाचक शब्दों को विष्णु का पर्याय माना गया है।[5] 'मत्स्यपुराण' के अनुसार वह 'वेदमय पुरुष' यज्ञों में स्थित रहता है।[6] किन्तु 'भागवत' में जिस यज्ञावतार का वर्णन किया गया है वह स्वायम्भुव मन्वन्तर में रूचि प्रजापति की पत्नी आकूति के गर्भ से उत्पन्न यज्ञ है।[7] अतः अवतारों के उल्लेख-क्रम में मन्वन्तरावतार-यज्ञ को ही चौबीस लीलावतारों में भी ग्रहण किया गया है। 'सात्वत तंत्र' में इनकी माता आकूति के स्थान में 'आहूति', का प्रयोग हुआ है।[8] इस प्रकार यज्ञ के

---

१. सूरसारावली पृ० १२-१३ और अवतारलीला पृ० ७३-७५।
२. ऋ० १, १५६, ३।
३. तै० सं० १, ७, ४ और श० ब्रा० १, १, २, १३ (यज्ञोवैं विष्णुः)
४. वि० पु० १, ९, ६१ (आद्यो यज्ञपुमानी यः) ६२ 'यज्ञ मूर्तिधरा'।
५. विष्णुसहस्रनाम (शां० भा०) पृ० २५९-२६३।
६. मत्स्यपुराण, (कलकत्ता सं०) पृ० ४८७-४८८ अध्याय, १६१।
७. भा० १, ३, १२, भा० २, ७, २ मन्वन्तरावतारों के लिये वि० पु० ३, १, १६, और भा० ८, १, ७।
८. यज्ञे स एव रूचिना मनु पुत्रि पुत्र, आहूतिसूतिरसुरारणिवाह्निकल्पः।
सात्वत तन्त्र पृ० ६ पटल, २, ९।

ही विभिन्न उपादानों के पुराणीकृत रूपों से यज्ञावतार का विकास विदित होता है।

मानवीकृत (एन्थ्रोपोमार्फिक) रूपों का विकास :—अतएव यज्ञ का जो अवतार-रूप पुराणों में मिलता है, अवश्य ही अवतारों में गृहीत होने से पूर्व यज्ञ के अभिधेय रूप से उसका विकास यज्ञ-पुरुष के रूप में मानवीकरण की ओर होता रहा है। मानवीकरण की यह प्रवृत्ति विभिन्न वैदिक देवों के आंशिक या सम्पूर्ण आकृति और शरीर के वर्त्तमान क्रम में दृष्टिगत होती है। विशेषकर वैदिक साहित्य में अग्नि का आकृतिगत वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस दृष्टि से बृ० उ० ६, २, १२—१३ तथा छा० ५, ८, १—२ में अग्नि से सम्बद्ध मंत्र विचारणीय हैं। इन मंत्रों में पुरुषोत्पत्ति के जो रूपक प्रस्तुत किये गये हैं उनमें क्रमशः 'छान्दोग्योपनिषद' में आहुति से गर्भ की उत्पत्ति और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में स्त्री में आहुति देने से पुरुष की उत्पत्ति बतलाई गई है। इस प्रकार यज्ञ के पृथक्-पृथक् 'यज्ञ-विष्णु' 'यज्ञ-पुरुष' तथा आहुति से उत्पन्न 'गर्भ' और 'पुरुष' के ऐसे खण्ड स्वरूप मिलते हैं, जिनके आधार पर यज्ञ के मानवीकृत रूप का विकास सम्भव है। कालान्तर में पुराणकारों ने इस पर कथात्मक आवरण चढ़ा कर पुराणों में इसे विष्णु के अवतार-रूप में प्रचलित किया।

मध्यकालीन कवियों में सूरदास ने 'सूरसारावली' में आकूति-पुत्र यज्ञ का वर्णन किया है। उनके पदों के अनुसार यज्ञावतार में यज्ञ ने इन्द्रासन पर बैठकर सुख-भोग किया और पृथ्वी का भार दूर किया।[1] नरहरिदास के पदों में कहा गया है कि 'स्वायंभू' मनु की रक्षा के निमित्त इन्होंने असुरों का संहार किया। यज्ञ-पुरुष का संसार में अवतरित होने का यही कारण है। वे लीला के कर्त्ता होने के साथ-साथ धर्म के आश्रय भी हैं।[2] इसके अतिरिक्त सूरदास ने 'भागवत' ४, ७, १८ में वर्णित एवं यज्ञ में आविर्भूत यज्ञपुरुष अर्थात् चतुर्भुज विष्णु के यज्ञ-पुरुष अवतार का 'सूरसागर' में वर्णन किया है। इस रूप में उनका आविर्भाव यज्ञ की सफलता का सूचक ही नहीं अपितु

---

१. आकूति दई रूचि प्रजापति भयो यज्ञ अवतार।
इन्द्रासन बैठे सुख विलसत दूर किये भुवभार॥
सूरसारावली (व्यं० प्रेस) पृ० २ पद ५०।

२. स्वायंभू मनु राषीयों कीनौ असुर संघार।
यज्ञ पुरुष हरि अवतरे, इहि कारण संसार॥
धर्म सहाइ निदान, निजइ बाल लीला करी। अवतार लीला पृ० ७।

वैष्णवीकृत दक्ष यज्ञ में उपास्य विष्णु के समावेश का परिचायक है। सभी द्वारा वंद्य होने का उल्लेख इसका यथेष्ट आभास देता है।[१]

इस प्रकार इस काल के कवियों ने यज्ञ के उन कथात्मक रूपकों को ही ग्रहण किया है जो परवर्ती पुराणों में किंचित भिन्न रूपों में प्रचलित हो चुके थे।

ऋषभ

'भागवत' में कुछ ऐसे पौराणिक व्यक्तियों को भी विष्णु के अवतारों में माना गया है जिनका पूर्वकाल में अन्य धर्मों एवं सिद्धान्तों से संबंध रहा है। इस पुराण में राजा नाभि की पत्नी मेरूदेवी से उत्पन्न ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा गया है। 'भागवत' के तीनों अवतार विवरणों और भा० ८, १३, २० में ऋषभ अवतार की चर्चा हुई है। इस अवतार में उन्होंने परमहंसों का मार्ग प्रशस्त किया।[२] उन्होंने अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर, समदर्शी होकर जड़ की भाँति योगचर्या का आचरण किया।[३] भा० ८, १३, २० के अनुसार सर्वाणि मन्वन्तर में आयुष्मान की पत्नी अम्बुधारा के गर्भ से ऋषभ का कलावतार बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त भा० १, ४, १७ के विवरण में भी इन्हें अन्य साधनों के साथ कलावतार कहा गया है। 'विष्णुपुराण' में २, १, २७ में नाभिपुत्र ऋषभ की चर्चा हुई है। किन्तु वहाँ ये विष्णु के अवतार नहीं बताए गये हैं। महा० १२।१२५–१२८ में 'ऋषभ गीता' के नाम से विख्यात ऋषभ ऋषि का वार्त्तालाप वर्णित है। किंतु उन अध्यायों में न तो ऋषभ के विषय में विशेष कुछ कहा गया है न वे वहाँ किसी के अवतार ही कहे गये हैं। इससे विदित होता है कि परवर्ती काल में ऋषभ का अवतारीकरण हुआ। 'भागवत' का रचनाकाल फर्कुहर के अनुसार ९०० ई० तक माना गया है।[४] जब कि इसी काल के जैन पुराणों में अवतारों के सदृश उनके दिव्य जन्म का विस्तृत वर्णन मिलने लगता है।[५] अतः 'भागवत' में अवतार-रूप में गृहीत होने के पूर्व ही ऋषभ का अवतार जैन साहित्य में प्रचलित हो चुका था। ऋषभ के विस्तृत वर्णन में विष्णु का अवतार बतलाते

१. कुण्ड तै प्रगटि जग पुरुष दरसन दियौ, स्याम सुन्दर चतुर्भुज मुरारी।
सूर प्रभु निरखि दंडवत सबहिनिकियौ, सुर रिषिनि सबनि अस्तुति उचारी॥
सूरसागर जी० १ पृ० १४१ पद ४००।

२. भा० १, ३, १३।

३. भा० २, ७, १०।

४. फर्कुहर पृ० २३२।

५. जैन साहित्य में इसे स्पष्ट किया गया है।

हुये भी इनके जैन रूप की अवहेलना नहीं की गई है। अपितु भा० ५, ३, २०, में कहा गया है कि ये दिगम्बर संन्यासी और उर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुये थे।

'भागवत' के उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर चौबीस अवतार सम्बन्धी एक विशेष धारणा की पुष्टि होती है। पूर्व अवतारों का विवेचन करते समय कहा जा चुका है कि 'भागवत' के चौबीस अवतारों की कोटि में जिन महापुरुषों को परिगणित किया गया है, उनमें विशिष्ट वर्ग के दार्शनिक, धर्मप्रवर्तक, अन्वेषक, आदर्श राजे, विचारक, तपस्वी, इत्यादि भी गृहीत हुए हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि ऋषभ भी जैन दिगम्बर मुनियों के धर्म-प्रवर्तक होने के नाते चौबीस अवतारों की कोटि में गृहीत हुए हैं। अवतारवादी शैली में उनके अवतार-प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए भा० ५।३, २० में उक्त कथन की ही पुष्टि की गई है। इससे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अवतारवाद के विस्तृत क्षेत्र और समन्वयवादी विचारधारा का भी आभास मिलता है। बौद्ध और जैन साहित्य में विष्णु और उनके अवतारों की रूपरेखा देखते हुए वैष्णव अवतारवाद का यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी अपने ढंग का अकेला दृष्टिगत होता है। इसकी सीमा में ऋषभ साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से नहीं अपितु अपने विशिष्ट आचरण और महापुरुषोचित चरित्र के कारण विष्णु के अवतार-रूप में मान्य हुए हैं।

आलोच्यकाल में सूरदास के 'सूरसागर' में उनके उक्त रूपों का वर्णन किया गया है। इनके पदों के अनुसार नाभि ने पुत्र के लिए यज्ञ किया और उसमें दर्शन देकर यज्ञ पुरुष[1] ने स्वयं जन्म लेने का वचन दिया, जिसके फलस्वरूप ऋषभ की उत्पत्ति हुई।[2]

'सूरसारावली' में कहा गया है कि प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न हरि के ही शरीर का नाम ऋषभदेव था। उन्होंने इस रूप में भक्तों के सभी कार्य पूर्ण किये।[3] अनावृष्टि होने पर स्वयं वर्षा होकर बरसे और ब्रह्मावर्त में अपने पुत्रों को ज्ञानोपदेश कर स्वयं संन्यास ग्रहण किया। हाथ जोड़े हुए प्रस्तुत अष्ट-

---

१. नाभि नृपनि सुत हित जग कियौ। जज्ञ-पुरुष तब दरसन दियौ॥
सूरसागर पृ० १५० पद ४०९।

२. मैं हरता करता संसार मैं लैहौ नृप गृह अवतार।
रिषभदेव तब जनमे आइ, राजा कै गृह बजी वधाइ॥ सूरसागर पृ० १५०।

३. प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु ऋषभ देव यह नाम।
किन्हें व्याज सकल भक्तन को अंग अंग अभिराम॥ सूरसारावली पृ० ४।

धन्वन्तरि

अवतारवाद के विकास-काल में बहुत से प्रवर्तकों, योगियों, आत्मज्ञानियों, अवधूतों, दार्शनिकों, उपदेशकों और अन्वेषकों को विष्णु के अंश, कला या विभूति रूप में मान्यता दी गई। पुराणों में आयुर्वेद के अधिष्ठाता धन्वन्तरि को भी उसी कोटि के अवतारों में माना गया। यों तो आदिम काल में पुरोहितों और सरदारों के साथ वैद्यों के देवीकरण का पता चलता है। परन्तु सामान्यतः धन्वन्तरि की कथा का विकास इस प्रकार की किसी कथा से न होकर समुद्र-मंथन की कथा से सम्बद्ध है। इस कथा के निर्माण में पौराणिक एवं प्रतीकात्मक तत्त्वों का योग माना जाता है। भारतीय साहित्य में धन्वन्तरि नाम के व्यक्तियों के स्फुट उल्लेखों के साथ आयुर्वेद के अधिष्ठाताओं की परम्परा में भी धन्वन्तरि का नाम लिया गया है।[1] सुश्रुत के अनुसार ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र के पश्चात् धन्वन्तरि का स्थान आता है।[2]

'महाभारत' में वर्णित समुद्र-मंथन की कथा में सर्वप्रथम दिव्य शरीरधारी धन्वन्तरि देव का उल्लेख हुआ है।[3] पर यहाँ उन्हें विष्णु का अवतार नहीं कहा गया है। अमृत-मंथन के ही प्रसंग में 'वाल्मीकि रामायण' और 'विष्णु पुराण' में भी क्रमशः आयुर्वेद पुरुष और श्वेत वस्त्रधारी धन्वन्तरि के प्रकट होने की चर्चा की गई है।[4] परन्तु इनमें भी उन्हें विष्णु से सम्बद्ध नहीं किया गया है। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार भगवान् धन्वन्तरि आयुर्वेद प्रजापति हैं।[5] 'भागवत' १, ३, १७ और २, ७, २१ में अमृत लेकर आविर्भूत एवं आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि को विष्णु के चौबीस अवतारों में माना गया है। पांचरात्रों के विभवों में इनके धन्वन्तरि नाम के स्थान में 'अमृतधारक' नाम का प्रयोग हुआ है।[6]

आलोच्यकाल में 'भागवत' के आधार पर निर्मित 'लघुभागवतामृत' में मन्वन्तर भेद से चाक्षुष एवं वैवस्वत में दो बार धन्वन्तरि के अवतरित होने की चर्चा की गई है। प्रथम अवतार में वे अमृत के साथ प्रकट होकर आयुर्वेद

---

१. अश्वलायन गृह्यसूत्र १, ३, १२ में धन्वन्तरि यज्ञ, शांख्यायन गृह्यसूत्र २, १४ में भरद्वाज धन्वन्तरि और सुश्रुत १, १, ७ में 'अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो' के उल्लेख हुये हैं।

२. हिन्दुत्व पृ० ९५। ३. महा० १, १८, ३८।

४. वा० रा० १, ४५, ३१, और विष्णुपुराण १, ९, ९८।

५. मत्स्य पुराण २५०, १। ६. तत्त्वत्रय पृ० ११२।

का प्रचार करते हैं और द्वितीय में वे काशिराज के पुत्र-रूप में आयुर्वेद के प्रचारक रूप में विख्यात होते हैं।[1] सूरदास एवं नरहरिदास बारहट ने 'भागवत' के आधार पर ही आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि का वर्णन किया है। 'सूरसारावली' में कहा गया है कि धन्वन्तरि के रूप में करुणाकर एवं सभी ब्रह्माण्डों के स्वामी आयुर्वेद के विस्तार के निमित्त अमृत-कलश लेकर समुद्र से निकले।[2] बारहट के पदों के अनुसार परब्रह्म ही धन्वन्तरि के रूप में पृथ्वी पर रोगनाश के निमित्त अवतीर्ण हुए।[3]

इस प्रकार महाकाव्यों, पुराणों और आयुर्वेद साहित्य में धन्वन्तरि के जिन रूपों का पता चलता है उनमें दो रूप प्रमुख हैं। इनमें प्रथम रूप का सम्बन्ध तो समुद्र-मंथन की उस प्रतीकात्मक पौराणिक कथा से है जिसमें चौदह रत्नों के साथ धन्वन्तरि भी अमृत-घट लेकर उत्पन्न हुए कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे रूप का सम्बन्ध आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि से है; जिनका आयुर्वेदीय परम्परा में भी उल्लेख मिलता है। परवर्ती 'पद्म' इत्यादि पुराणों में तथा उन्हींके सारांश के रूप में 'लघुभागवतामृत' में आयुर्वेद के प्रचारक धन्वन्तरि को काशिराज का पुत्र कहा गया है। उपर्युक्त दोनों रूपों में प्रथम पौराणिक तत्त्व से संवलित है और दूसरे में कुछ ऐतिहासिक सत्य का भी भान होता है। अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि दोनों का सम्बन्ध एक ही धन्वन्तरि से है अथवा दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहे हैं। फिर भी आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि का, कालगत अनिश्चितता के होते हुए भी उनके ऐतिहासिक अस्तित्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। सम्भव है समुद्र-मंथन की कथा के बहुत प्रचलित हो जाने के पश्चात् उसका सम्बन्ध धन्वन्तरि से भी जोड़ दिया गया हो। परन्तु जहाँ तक इन दोनों रूपों का सम्बन्ध अवतारवाद से है, प्रायः कहीं-कहीं दोनों रूपों का संयुक्त उल्लेख हुआ है और परवर्ती पुराणों में उनका पृथक् अवतारवादी अस्तित्व भी मिलता है।

---

१. लघुभागवतामृत पृ० ६४।

२. करुणाकर जलनिधि ते प्रकटे सुधा कलश लै हाथ।
आयुर्वेद विस्तार कारण सब ब्रह्माण्ड के नाथ॥ सूरसारावली पृ० ५ पद १३८

३. परब्रह्म भयौ पृथ्वी प्रकाश। निज धाम धनन्तरि रोगनाश॥
अवतारलीला (ह० लि०) पृ० ७६।

मध्यकालीन कवियों में पृथक् और संयुक्त दोनों रूप गृहीत हुए हैं। 'लघुभागवतामृत' में मन्वन्तरगत भेद स्थापित कर धन्वन्तरि के पृथक् अवतार का उल्लेख हुआ है, तो सूरदास ने दोनों धन्वन्तरि रूपों को संयुक्त रूप में प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट है कि धन्वन्तरि इत्यादि गौण अवतारों के कथा-सूत्र क्रमबद्ध या एकरूप नहीं हैं।

नर-नारायण

'भागवत' में नर और नारायण दो प्राचीन तपस्वी ऋषियों को तीनों अवतार विवरणों में ग्रहण किया गया है।[1] भारतीय साहित्य में इतिहासकारों ने केवल 'महाभारत' के आधार पर विभिन्न नारायणों का अस्तित्व माना है।[2] इससे यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि ये एक ही नारायण के विभिन्न रूप हैं या विभिन्न ऋषि नारायण से अभिहित किये गये हैं। सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में जहाँ भी 'पुरुषसूक्त' का उल्लेख हुआ है उसके निर्माता नारायण ऋषि ही हैं।[3] इस प्रकार वैदिक साहित्य में ही नारायण ऋषि का 'पुरुषसूक्त' के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। नारायण के साथ सम्बद्ध केवल नर का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। ऋ० ६, ३५ और ३६ सूक्त के रचयिता 'नरभरद्वाज' नाम के ऋषि कहे गये हैं। पर नारायण से इनका कहीं सम्बन्ध न होने के कारण इनका अस्तित्व पृथक मानना समीचीन प्रतीत होता है। अतः केवल नारायण ऋषि को ही बाद में चलकर ब्राह्मणों में पुरुष से स्वरूपित किया गया है।[4] वही 'पुरुष नारायण' पांचरात्र-यज्ञ का कर्त्ता होने के कारण सबको अतिक्रमण कर सर्वव्यापी और सर्वात्मा बन गया।[5] 'तैत्तिरीय आरण्यक' में नारायण को विष्णु और वासुदेव से भी सम्बद्ध किया

---

१. भा० १, ३, ९, भा० २, ७, ६ और भा० ११, ४, १६।

२. दी एज आफ इम्पीरियल युनीटी पृ० ४३६–४३७।
ऋषिनारायण, शिवपूजक नारायण, कृष्ण नारायण, धर्मपुत्र नारायण, श्वेतद्वीप निवासी नारायण और सूर्यपूजक नारायण का उल्लेख किया है।

३. ऋ० १०, ९० यजु: ३१, अथर्व० सं० १०, २ और १९, ६ साम पूर्वार्चिक, प्रपाठक ६. तृतीयार्धः ४ के ३ और ७ मन्त्र। इसके अतिरिक्त ऋ० १०, ९०, ८ यजु ३१, ६ और अथर्व १९, ६ के 'पुरुषसूक्त' से सम्बद्ध मन्त्रों में 'नारायण' का प्रयोग हुआ है।

४. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत्। श० ब्रा० १३, ६, १, १।

५. श० ब्रा० १३, ६, १, १।

गया।[1] इस प्रकार वैदिक साहित्य में ही नारायण उपास्य विष्णु या वासुदेव के पर्याय बन चुके थे। 'महाभारत' में अर्जुन और कृष्ण प्रायः नर और नारायण के अवतार बतलाये गये हैं। इनमें कृष्ण और नारायण का सम्बन्ध तो सर्वत्र एक-सा है परन्तु अर्जुन नर के अतिरिक्त इन्द्र के भी अवतार माने गये हैं।[2] इस स्थल के कुछ ही बाद कहा गया है कि 'नर' जिनके सखा नारायण हैं, इन्द्र के अंश से भूतल में अवतीर्ण होंगे। वहाँ उनका नाम अर्जुन होगा और वे पाण्डु के प्रतापी पुत्र माने जायेंगे।[3] यहाँ नर, इन्द्र और अर्जुन तीनों का अभिन्न सम्बन्ध विदित होता है। विशेषकर नर और इन्द्र का सम्बन्ध यहाँ उल्लेखनीय है। क्योंकि 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' के रूप में वैदिक काल में ही विष्णु उनके सखा माने जा चुके थे।[4] तथा 'शतपथ ब्राह्मण' में इंद्र को अर्जुन से[5] और 'बौधायन गृहसूत्र' में नारायण को विष्णु से सम्बद्ध किया गया है।[6] इसके अतिरिक्त ऋ० सं० की कुछ ऋचाओं में इंद्र और नर के सम्बन्ध का भान होता है।[7] 'ऋ० संहिता' की ही एक अन्य ऋचा के अनुसार इंद्र के पूर्वकाल में ऋषि होने का भी अनुमान किया जा सकता है।[8]

इन तथ्यों के आधार पर इन्द्र-विष्णु और नर-नारायण दोनों युग्मों के परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हो जाता है। फिर भी इतना अवश्य स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम काल तक नर-नारायण का साहचर्य उतना निकट नहीं प्रतीत होता जितना कि इन्द्र और विष्णु का रहा है। अतः नर-नारायण के साहचर्य के प्रति दो अनुमान किये जा सकते हैं। प्रथम यह कि यदि नर-नारायण प्राचीन वैदिक ऋषि ही हैं तो प्रारम्भ में इनका अस्तित्व पृथक् रूप से था। कालान्तर में इन्द्र और नर तथा विष्णु और नारायण के

---

१. तै० आ० १०, १, ५।
'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।'

२. भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्यचार्जुनम् महा० १, ६७ १११।

३. ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखाः।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान॥ महा० १, ६७, ११६।

४. ऋ० १, १, २२, १९।

५. 'अर्जुनो ह्वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम'। श० ब्रा० २, १, २, ११।

६. दी वैदिक एज पृ० ४३६।

७. 'इन्द्रवो नरः सख्याय सेपुर्महो यन्तः सुमतये चकानाः।'
'इन्द्रं नरः स्तुवन्तो ब्रह्मकारा।' ऋ० ६, २९, १, ६, २९, ४।

८. ऋषिर्हि पूर्वजा अस्ये क ईशान अजोसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु। ऋ० ८, ६, ४१।

एकीकरण के उपरान्त इन्द्र और विष्णु के स्थान में आद्याक्षर के साम्य होने के कारण नर-नारायण का संयुक्त प्रयोग प्रचलित हुआ जिसकी अंशतः पुष्टि महा० १, ६७, ११६ से होती है। दूसरा यह कि नर-नारायण अत्यधिक प्रचलित वैदिक परम्परा से किंचित भिन्न वर्ग के ऋषि थे। बाद में 'नारायणीयोपाख्यान' के 'महाभारत' में समाविष्ट हो जाने के अनन्तर 'महाभारत' और परवर्ती पुराणों में ये विष्णु के अवतार-रूप में प्रचलित हुए। इस दृष्टि से इनके स्थानगत पार्थक्य का अभास इनके श्वेतद्वीप के निवासी होने से भी मिलता है। इसके अतिरिक्त 'नारायणीयोपाख्यान' के महा० १२।३३४।१६ में सनातन नारायण के चार पुत्रों में से दो नर-नारायण एक साथ उपस्थित होते हैं।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों के तुलनात्मक विश्लेषण के पश्चात् चौबीस अवतारों के नर-नारायण प्रथम वैदिक रूप की अपेक्षा 'नारायणीयोपाख्यान' के नर-नारायण के अधिक निकट हैं। अतएव चौबीस अवतारों में इन्हीं को परिगणित किया गया है। इस कथन के और अधिक निराकरण के लिये यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैदिक साहित्य में जिस पुरुष-सूक्तकार नारायण का उल्लेख मिलता है, वे भी बाद में पुरुष, विष्णु और वासुदेव से संयुक्त होकर स्वयं अवतारों के 'अक्षयकोश' या अवतारी के रूप में मान्य हुए। इन स्थलों पर नर से उनका कोई सम्पर्क परिलक्षित नहीं होता।

अतः 'नारायणीयोपाख्यान' के ही नर-नारायण बाद में अपनी विलक्षण तपस्या के कारण चौबीस अवतारों में मान्य हुए।

महाकाव्य युग तक इन्द्र का स्थान गौण हो गया और विष्णु एकेश्वरवादी रूपों से संवलित उपास्य रूप में प्रचलित हुए। फलतः उनसे अभिहित होने वाले वासुदेव और नारायण भी एक ओर तो उपास्य हुए और दूसरी ओर नर-नारायण का प्राचीन ऋषि रूप भी विद्यमान रहा। पुरुष-नारायण और ऋषि नर-नारायण का यह विचित्र सम्बन्ध 'नारायणीयोपाख्यान' में अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। वहाँ कहा गया है कि सनातन नारायण ने चार मूर्तियों वाले धर्म के पुत्र-रूप में जन्म लिया था। उनके ये चार पुत्र नर-नारायण, हरि और कृष्ण बतलाये गये हैं।[1] इसके अनन्तर कहा गया है कि पहले ये एक रूप थे और कालान्तर में चार रूप हुये।[2]

अतः एक ओर तो उपास्य रूप में श्वेत द्वीपवासी नारायण और क्षीर-

---

१. महा १२, ३३४, ८–९। २. महा० १२, ३३४, १६।

सागर में शयन करने वाले नारायण के रूप में प्रचलित हुये। और दूसरी ओर नर-नारायण ऋषि पुराणों में इन्हीं के अंश या कलावतार-रूप में गृहीत हुये। 'भागवत' में भी उपास्य रूप से सम्बद्ध पुरुष-नारायण को 'आद्यावतार' और 'अनन्त अवतारों का अक्षयकोश'[1] माना गया और नर-नारायण का पौराणिक रूप उनके लीलावतारों में प्रचलित हुआ। इस प्रकार प्रतिपाद्य नर-नारायण यहाँ विष्णु के चौबीस अवतारों में साधक एवं तपस्वी अवतारों की कोटि में ही परिगणित हुये हैं। भा० १, ३, ९ और २, ७, ६ के अनुसार धर्म-पत्नी मूर्त्ति के गर्भ से नर-नारायण उत्पन्न हुये थे। उन्होंने ऋषि रूप में मन और इन्द्रियों का सर्वथा संयम करके बड़ी कठिन तपस्या की थी।

सूरदास ने 'सूरसागर' में नारायण के साथ नर का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु पदों में नारायण की ही विस्तृत कथा का वर्णन है। धर्म और मूर्त्ति के पुत्र नारायण के तप करते समय, भयभीत होकर इन्द्र ने अप्सराओं को उनकी तस्पया में विघ्न उपस्थित करने के निमित्त भेजा।[2] परन्तु उनके आने पर नारायण ने स्वयं सहस्रों अप्सराओं को उत्पन्न कर उन्हें चकित कर दिया। जिनमें से उर्वशी नाम की अप्सरा इंद्र को मिली। नरहरिदास ने भी मुख्यतः 'भागवत' के रूप को ग्रहण किया है, इसमें इंद्र परब्रह्म, पुरुष पुराण की परीक्षा लेकर क्षमा माँगते हैं।[3] किन्तु सामान्य रूप से इस अवतार में अवतारवादी प्रयोजनों का अभाव है, सम्भवतः जिसकी पूर्त्ति के स्वरूप एक 'सहस्र कवच' नाम के असुर-बध की पौराणिक कथा का संयोजन 'सूरसारावली' में किया गया है।[4] संतों में गुरु गोविंद सिंह ने भी नर-नारायण के योद्धा

---

१. भा० १, २, २६, भा० १, ३, ५, और, २, ६, ४१।

२. सहस अपसरा सुन्दर रूप, एक एक तें अधिक अनूप।
नारायन तहं परगट करी, इन्द्र अपसरा सोभा हरी।
काम देखि चकित ह्वै गयो, रूप दीख इम इनकौ नयो।
... ...
तब नारायण आज्ञाकारी, इनमें लेहु एक सुन्दरी।
सूरसागर पृ० १७१९, पद १९३०।

३. सूरराज लख्यौ अवतार सिद्ध, पर ब्रह्म पुरुष पुराण प्रसिद्ध।
यह जान इन्द्र प्रभु पास आइ, सविशेष दंडवत कीय सुभाइ।
अवतारलीला (ह० लि०) पृ० ८।

४. नारायण जब भये प्रकट बपु. तिन मैट्यो भुवभार।
सहस कवच इक असुर संहारेउ बहुरि कियो तप भारी। सूरसारावली पृ० ३।

रूप का वर्णन किया है।[3] इससे विदित होता है कि बाद में इनके प्रवर्तक रूप का लोप हो गया और उसके स्थान में असुर-संहारक रूप का समावेश किया गया।

इस प्रकार चौबीस अवतारों की कोटि में नर-नारायण का समावेश दो प्रकार से होता है। एक ओर तो केवल नारायण नामक प्राचीन ऋषि 'पुरुष-सूक्त' के रचयिता होने के कारण परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष से अभिहित किए गये और पुरुष के साथ स्थापित की गई इनकी इस एकरूपता ने कालान्तर में वैष्णव धर्म के प्रमुख उपास्य विष्णु और वासुदेव के साथ तद्रूप होने में सहायता प्रदान की। फलतः अवतारवाद के मूलस्रोत का उद्गम 'पुरुष-सूक्त' की प्रसिद्ध ऋचा 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' से माना गया और पुराणों में ज्यों-ज्यों इसका प्रसार होता गया त्यों-त्यों अपनी उपास्यवादी महिमा के वैष्णव साहित्य में व्याप्त होने के कारण पुरुष के साथ-साथ नारायण भी आदि अवतार माने गये। वैदिक साहित्य में स्रष्टा या सगुण ईश्वर के मानवीकरण (ऐन्थ्रोपोमार्फिज्म) की कल्पना एक ऐसे विराट ईश्वर को लेकर साकार हुई जो उपास्यवाद की विविध प्रवृत्तियों (हीनोथिस्टिक टेंडेंसिज्) का जनक कहा जा सकता है। उसके उन लक्षणों में अवतारवाद भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है, जिसका उत्तरोत्तर विकास विभिन्न रूपों में पौराणिक साहित्य में लक्षित होता है। नारायण पर भी उन प्रवृत्तियों का समान भाव से आरोप हुआ फलतः 'भागवत पुराण' (१, २, २६) में इन्हें 'आदि अवतार' तथा अवतारों का 'अक्षय कोश' या जनक भी माना गया। इस दृष्टि से अवतारवादी धारणा के उद्गम और विकास में नारायण का स्थान अपरिहार्य है। इसमें संदेह नहीं कि नारायण के सन्धिजनित अर्थ 'नार'-अयन के फलस्वरूप उनको पुराणों में श्वेतद्वीपवासी, क्षीरसागरवासी इत्यादि विविध रूपकात्मक कल्पनाओं से सन्निविष्ट किया गया है, जिसके चलते अनेक विवेचकों के मन में नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो गये थे। परन्तु उनमें भी उनके अवतारी और अवतारों का जनक रूप सुरक्षित रहा। इस संदर्भ में एक बात विचारणीय है—वह यह कि इसमें नारायण के साथ नर का अस्तित्व अत्यन्त विरल है। प्रायः प्रस्तुत नारायण के साथ नर का

---

३. नरं एक नाराइणं दुए स्वरूपं दियै जोति सउदरजु धारे अनूप।
उठे टूक टोपं गुरजं प्रहारे जुटे जंग कों जंग जोधा जुझारे।
चौबीस अवतार पृ० ११।

अस्तित्व वहीं मेरे देखने में नहीं आया। इससे यह विदित होता है कि वैष्णव साहित्य में प्रस्तुत नारायण का विकास प्रायः स्वतंत्र रूप से हुआ। वे इस रूप में विष्णु के किसी अवतार विशेष के रूप में मान्य न हो कर स्वयं विष्णु के तद्रूप अवतारी या अवतारों के स्रोत-रूप में मान्य हुए।

उपर्युक्त नारायण के अतिरिक्त 'महाभारत' और पुराणों में जिन नर-नारायण बंधुओं की कथा मिलती है उनका अस्तित्व उपर्युक्त नारायण से भिन्न विदित होता है। महा० १२।३३४।८ के अनुसार धर्म के पुत्र-रूप में विश्वात्मा, चतुर्मूर्त्ति और सनातन देवता नारायण के वे अवतार माने गये हैं। इस आधार पर नारायण और नर-नारायण के अवतारी-अवतार सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होता है।

इसके अतिरिक्त जिस प्रसंग में नर, नारायण, हरि और कृष्ण को चतुर्मूर्त्ति कहा गया है, उससे सर्वप्रथम उनके विग्रह-रूप का भी पता चलता है। क्योंकि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही प्रश्न यह उठता है: गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी जो भी सिद्धि प्राप्त करना चाहे वह किस देवता का पूजन करे ?[1] उसी के उत्तर में इन चार विग्रह रूपों का उल्लेख किया गया है। बाद के 'भागवत' इत्यादि पुराणों में धर्म और दक्ष-पुत्री मूर्त्ति के पुत्र रूप में नर-नारायण ही चौबीस अवतारों में प्रचलित हुए।

इन तथ्यों से केवल यही नहीं पता चलता कि भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी नर-नारायण आदि नारायण की ही परम्परा में हैं अपितु यहाँ सर्वप्रथम नारायण के विग्रह-रूप या उन मूर्त्तियों के प्रयोग का भी पता चलता है जिनका विधि-निषेध युक्त वैष्णव भक्ति में प्रचार हुआ है।

अतएव वैष्णव पूजाविधान की चर्चा करने वाले पांचरात्र या वैष्णव आगमों का आरम्भ भी यहीं से मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यदि नर-नारायण के जनक और जननी 'धर्म' और 'मूर्त्ति' के प्रतीकात्मक अर्थ को लिया जाय तो भी उससे 'धर्म' और 'मूर्त्ति' के अभिधात्मक अर्थ के अनुसार नर-नारायण के विग्रह और मूर्त्त रूपों की पुष्टि होती है।

सारांश यह कि नर-नारायण से सम्बद्ध तथ्यों के आधार पर केवल उनके चौबीस अवतारों में ही गृहीत होने का पता नहीं चलता प्रत्युत वैष्णव धर्म के मूल सिद्धान्त उपास्यवाद, अवतारवाद और वैष्णवागम या पांचरात्रों में प्रचलित विग्रह-पूजा-विधान के प्राचीनतम सूत्रों का भी पता चलता है।

---

१. महा० १२।३३४।१ 'य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः'

किंतु मध्यकालीन कवियों ने पौराणिक अवतारों के रूप में प्रचलित केवल उनके परवर्ती कथात्मक रूप को लिया है जिनमें उनसे सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण उपादानों का प्रायः लोप ही हो जाता है। फलतः इन कवियों में वे केवल विशुद्ध उपास्यवादी अवतार-रूप में वर्णित दीख पड़ते हैं, जिनका सम्बन्ध तत्कालीन प्रचलित उपास्यों से है। आलोच्य कालीन रूप में वे केवल तपस्या ही नहीं करते अपितु अन्य अवतारों की परम्परा का पालन करते हुए असुरों या राक्षसों के वध का भी कार्य करते हैं। इस प्रकार नर-नारायण की अवतार-कथा में युग सापेक्ष अवांतर प्रसंगों की संयोजना भी होती रही है।

दत्तात्रेय

ऐतिहासिक अस्तित्व की दृष्टि से नर-नारायण की अपेक्षा दत्तात्रेय अधिक परवर्ती विदित होते हैं। वैदिक साहित्य या प्राचीन वैष्णव महाकाव्यों में प्रायः इनका उल्लेख नहीं हुआ है।[१] 'गीता' की विभूतियों या 'विष्णुसहस्रनाम' में भी दत्तात्रेय नाम नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दत्तात्रेय का संबंध विष्णु की अपेक्षा किसी इतर सम्प्रदाय से रहा है। किन्तु 'भागवत' में अवतार संबंधी सभी विवरणों में इनका परिचय दिया गया है। भा० १, ३, ११ और ७, १३, ११ के अनुसार अनुसूया के वर माँगने पर छठे अवतार में अत्रि की संतान दत्तात्रेय हुये थे। इस अवतार में अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को उन्होंने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। भा० २, ७, ४ भा० ९, १६, १७ में कहा गया है कि राजा यदु और सहस्रार्जुन ने उनसे योग और मोक्ष दोनों प्राप्त किया था। भा० ११, ४, १७ में ऋषभ, सनत्कुमार आदि के साथ इनका नाम आत्मयोगियों में लिया गया। इस प्रकार पुराणों में वे प्रायः अवधूत या तपस्वी के रूप में विख्यात हैं। परमहंसों से सम्बद्ध परवर्ती उपनिषदों में भी इनके उल्लेख मिलते हैं। श्री घूरे के अनुसार जबाला और भिक्षुकोपनिषद् के परमहंसों की सूची में संवर्तक, असनी, श्वेतकेतु और जड़भरत के पश्चात् दत्तात्रेय का नाम आता है। ये संन्यासी सम्प्रदायों में इष्टदेव के रूप में पूज्य हैं और 'भागवत' में छठे अवतार माने गये हैं। 'ब्रह्माण्ड' और 'मार्कण्डेय' पुराण में तथा माघ रचित, 'शिशुपाल वध' में चौथे, तथा 'नैषधचरित' में दसवें अवतार के रूप में गृहीत हुये हैं।[२]

---

१. केवल महा० सभापर्व ३८ वाँ अध्याय के प्रक्षिप्त अंश में वेदों और यज्ञों के उद्धारक विष्णु-अवतार दत्तात्रेय की चर्चा हुई है।

२. इण्डियन साधुज पृ० ८३।

महाराष्ट्र के कतिपय वैष्णव पंथों में इनका परम्परागत संबंध दृष्टिगत होता है। महानुभाव पंथ के प्रवर्तक श्री चक्रधर के आदि गुरु दत्तात्रेय माने जाते हैं। इनके साम्प्रदायिक ग्रंथों के अनुसार चारों युगों में मान्य अवतार-क्रम में त्रेता में 'दत्तावतार' कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र के अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्तक और संत भी दत्तात्रेय के अवतार-रूप में प्रचलित हैं। सरस्वती गंगाधर द्वारा रचित 'गुरु-चरित्र' (रचनाकाल सन् १३७८) में दत्तात्रेय के कतिपय अवतारों का उल्लेख हुआ है। उसमें द्वितीय अवतार श्री पादवल्लभ और तृतीय नृसिंह सरस्वती बतलाये गये हैं।[2] कहा जाता है कि इसी मत में जनार्दन स्वामी हुये जिनके शिष्य एकनाथ ने 'मलंग फकीर' के वेष में दत्तात्रेय का साक्षात्कार किया। इस प्रकार मध्यकाल के विविध सम्प्रदाय एवं साहित्य में उपास्य दत्तात्रेय और उनके अवतारों का प्रचार विदित होता है।

इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र में दत्तात्रेय के नाम से एक सम्प्रदाय भी प्रचलित है। अन्य सम्प्रदायों के सदृश इस सम्प्रदाय को भी प्राचीन काल से ही प्रवर्तित कहा जाता है किंतु मुख्यतः पंद्रहवीं शती में इसका साम्प्रदायिक रूप परिलक्षित होता है।[3] दत्तात्रेय का पौराणिक रूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समावेश के कारण धर्मसहिष्णु या समन्वयवादी प्रकृति का ज्ञान पड़ता है। अतः मध्यकाल में जबकि शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में ईर्ष्या और द्वेष की भावना जग रही थी, उस संक्रान्तिकाल में दत्तात्रेय जैसे समन्वयवादी अवतारों का उपास्य होना उपयोगी सिद्ध हो सकता था। अतः महाराष्ट्र के अधिकांश सम्प्रदायों पर दत्तात्रेय के सिद्ध रूप के साथ-साथ समन्वित रूप का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता रहा है। इसी से वे ऐतिहासिक या दिवंगत अवधूत होने की अपेक्षा सम्प्रदायों में अमर या सनातन पुरुष माने गये हैं। उपास्यवादी रूप के गृहीत होने के कारण ही उन्हें केवल अवतार ही नहीं बल्कि पूर्ण ब्रह्म भी समझा जाता रहा है। साथ ही दत्तात्रेय का ईश्वर या उपास्य विग्रह-रूप सम्प्रदायों के अतिरिक्त जन-समाज में भी अधिक लोकप्रिय है। इसीसे सम्प्रदायों में विभिन्न महापुरुषों के रूप में अवतरित होने वाला उनका अवतारी रूप तो प्रचलित था ही, उसके अतिरिक्त वहाँ के जन-समाज में मराठी क्षेत्र में अधिक लोकप्रिय मलंग संतों में दत्तात्रेय के अवतरित मलंग रूप का भी प्रचार है।

---

१. भागवत सम्प्रदाय पृ० ५६२।

२. श्री एकनाथ चरित्र ३४, और मराठी संतों का सामाजिक कार्य पृ० ६६–६७।

३. हिन्दी को मराठी संतों की देन पृ० ७६।

अतः महाराष्ट्र क्षेत्र में मध्यकालीन सम्प्रदाय और समाज में अवतार की अपेक्षा वे अवतारी उपास्य के रूप में अधिक प्रचलित रहे हैं। परन्तु उत्तर भारत में इन सम्प्रदायों का कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं दीख पड़ता। फलतः उत्तर भारत के भक्त कवियों में साम्प्रदायिक उपास्य का प्रभाव न होकर पौराणिक अवतार-रूपों का प्रचार रहा है।

अतएव सूरदास ने दत्तात्रेय के भागवतानुमोदित रूपों को ही ग्रहण किया है। चौथे 'स्कंध' की विस्तृत कथा के आधार पर ये कहते हैं कि अत्रि एवं उनकी स्त्री ने पुत्र के निमित्त बहुत तप किया जिसके फलस्वरूप तीनों देवता वहाँ प्रकट हुये।[१] उन्होंने (त्रिदेवोंने) कहाकि एक परम पुरुष का दर्शन किसी को नहीं होता, हम उनकी शक्ति से युक्त होकर उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।[२] इन तीनों के वरदान-स्वरूप उनके अंश से तीन पुत्र हुये जिसमें ब्रह्मा के चन्द्रमा, रुद्र के दुर्वासा और विष्णु के अंश दत्तात्रेय हुये। बारहठ ने सहस्रार्जुन द्वारा की गई उनकी सेवा का भी उल्लेख किया है।[३] यहाँ अन्य अवतारों की अपेक्षा एक वैशिष्ट्य यह दृष्टिगत होता है कि दत्तात्रेय उपास्य विष्णु या उनके प्रतिरूपों के स्थान में गुणावतार त्रिदेवों में गृहीत विष्णु के अवतार माने गये हैं। अन्य ऋषभ आदि कलावतारों के सदृश इनमें भी रक्षा या दुष्टदमन आदि प्रयोजनों के स्थान में सम्प्रदाय-प्रवर्तन इनके अवतार का मुख्य प्रयोजन माना जा सकता है, जो विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित इनके उपास्य रूपों से स्पष्ट है।

कपिल

भारतीय साहित्य में कपिल सांख्य के प्रवर्तक माने गये हैं। ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी दोनों कोटि के सांख्यवेत्ताओं ने इन्हें मूल तत्ववेत्ता के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु भागवत एवं पांचरात्रों में इन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में ग्रहण किया गया है। ऐतिहासिक अस्तित्व की दृष्टि से दत्तात्रेय

---

१. सूरसागर पृ० १३८ पद ३९३।

२. कह्यो तुम एक पुरुष जो ध्यायौ, ताकौ दरसन काहु न पायौ।
ताकी सक्ति पाइ हम करै, प्रतिपालै बहुरौ संहरै।
हम तीनों है जग करतार, मागि लेहु हमसो वर सार।
कह्यौ विनय मेरी सुनि लीजै पुत्र सुज्ञानवान मोहि दीजै।
विष्णु अंश सौ दत अवतरे, रुद्र अंश दुर्वासा धरे।
ब्रह्मा अंश चन्द्रमा भयौ, अत्रि अनुसूया कौ सुख दयौ। सूरसागर पृ० १३८

३. अंसावतार तब उतर आइ, सुर कैहंत दतात्र सुभाइ।
तथा—सहसाअर्जुन राजे तब सेवा करी। अवतारलीला (ह० लि०) पृ० १२।

की तुलना में कपिल का व्यक्तित्व अधिक प्राचीन रहा है। वैदिक और महाकाव्य साहित्य में कपिल नाम के व्यक्तियों या संभवतः ऋषियों का उल्लेख मिलता है। ऋ० सं० में कपिल वर्ण वाले ऋषि का[1] तथा 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कपिल के रूप में संभवतः ऋषि कपिल का उल्लेख हुआ है।[2] किन्तु विद्वानों ने श्वेत० ३, ४, ४, १२, ६, १८ के आधार पर उन्हें 'हिरण्यगर्भ' का पर्यायवाची माना है।[3] इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में जिन कपिल नाम के व्यक्ति का उल्लेख हुआ है उनमें कुछ वैषम्य लक्षित होता है। 'महाभारत' 'वन पर्व' तथा 'वाल्मीकि रामायण' में सगर के साठ सहस्र पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल की कथा वर्णित है।[4] यहाँ कपिल को वासुदेव से अभिहित किया गया है।[5] 'महाभारत' में उक्त उल्लेख के पूर्व एक स्थल पर नर-नारायण के 'अर्जुन-कृष्ण' रूप का परिचय देते हुये कहा गया है कि इस समय पृथ्वी पर जिसका अवतार हुआ है वे श्रीमान् मधुसूदन विष्णु ही कपिल नाम से प्रसिद्ध देवता हुये हैं। वे ही भगवान् अपराजित हरि हैं।[6] उक्त प्रसंगों में कपिल का पौराणिक रूप विशेष रूप से स्पष्ट है। क्योंकि इन स्थलों पर उनकी सांख्यवेत्ता के रूप में कहीं भी चर्चा नहीं की गई है। 'वनपर्व' में भी अग्नि के विभिन्न नामों और रूपों की चर्चा करते हुये कहा गया है कि जो दीप्तिमान महापुरुष शुक्ल और कृष्ण गति के आधार हैं, जो अग्नि को धारण और उसका पोषण करते हैं, जिनमें किसी प्रकार का कल्मष या विकार नहीं है, तथा जो समस्त विकार-स्वरूप जगत के कर्त्ता हैं, यति लोग जिनको सदा महर्षि कपिल नाम से कहा करते हैं, जो सांख्य योग के प्रवर्तक हैं, वे क्रोधस्वरूप अग्नि के आश्रय कपिल नामक अग्नि हैं।[7] इस कपिल का संबंध सांख्यवादी आग्नेय कपिल से है। किन्तु क्रोधाग्नि स्वरूप और सगर-पुत्रों के भस्मकर्ता होने के कारण पौराणिक कपिल से भी इनके सम्बद्ध होने का भान होता है।[8] डा० दासगुप्त के अनुसार नीलकंठ आदि भाष्यकारों ने इसी

---

१. दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय। ऋ० १०, २७, १६।

२. ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानै विर्भाति जायमानं च पश्येत्। श्वेत ५, २।

३. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१४।

४. महा० ३, १०७ और वा० रा० १, ४०।

५. 'ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्'। वा० रा० १, ४०, २५, महा० ३, १०७, ३२, वा० रा० १, ४०, २।

६. महा० ३, ४७, १८।

७. महा० ३, २२१, २०–२१।

८. वा० रा० १, ४०, १ में कहा गया है कि इनकी कोपाग्नि से सगर-पुत्र जलकर भस्म हो जायेंगे।

अग्नि-अवतार कपिल को अनीश्वरवादी सांख्य का प्रवर्तक बतलाया है। इनके कथनानुसार शंकर ने 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' में सांख्य कपिल और ऋषि कपिल को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है।[१] इसके अतिरिक्त 'महाभारत' 'शान्ति पर्व' में ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों में एक कपिल का भी नाम आता है। ये सातों योग, सांख्य, धर्म, मोक्ष आदि के आचार्य बतलाये गये हैं।[२] 'भागवत' एवं 'गीता' की विभूतियों में कपिल मुनि को सिद्धों में स्थान मिला है।[३] 'विष्णुसहस्रनाम' 'शांकर भाष्य' में महर्षि कपिलाचार्य की व्याख्या के अनुसार वे समस्त वेदों के ज्ञाता होने के कारण महर्षि हैं, तथा वे ही सांख्यवेता कपिलाचार्य भी हैं।[४] महा० १२, ३३९, ६८ में सूर्य में निवास करने वाले संभवतः अग्नि के ही स्वरूप कपिल का अस्तित्व माना गया है। महा० १२, ३५०, ५ में कपिल द्वारा प्रवर्तित सांख्य को ईश्वरवादी रूप प्रदान करते हुये पांचरात्र व्यूहवाद से संबंध स्थापित किया गया है।

'महाभारत' के उक्त विविध रूपों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य देखते हुये यह कहना कठिन हो जाता है कि सांख्यवेता आग्नेय और सगर पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल एक ही हैं या भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि 'विष्णु' एवं 'भागवत' 'पुराणों' में भी इनके पृथक्-पृथक् दो रूपों के वर्णन हुये हैं। इन दोनों रूपों में विचित्रता यह है कि दोनों अपने-अपने स्थान पर विष्णु या वासुदेव के अवतार हैं। किन्तु न तो कर्दम प्रजापति के पुत्र एवं सांख्य के उपदेश कर्त्ता कपिल का सगर पुत्रों से कहीं संबंध स्थापित किया गया है, न सगर पुत्रों के भस्म-कर्त्ता कपिल को कहीं सांख्यवेत्ता कहा गया है। वि० पु० १, २२, १२ में केवल प्रजापति कर्दम के 'शंखपाद' नामक पुत्र का उल्लेख हुआ है 'शंखपाद' से सांख्यवेत्ता कपिल का आभास मिलता है। क्योंकि संभव है कि 'सांख्य' का विकृत रूप होकर 'शंख' हो गया हो। इसके अतिरिक्त वि० पु० ४, ४, १२–१६ में सगर पुत्रों के भस्मकर्ता और पुरुषोत्तम के अंश भूत कपिल का वर्णन हुआ है। वहाँ उनके सांख्यवेता होने का कोई संकेत नहीं मिलता। 'भागवत' में भी चार स्थलों पर, सिद्धों के स्वामी आसुरी को उपदेश देने वाले सांख्यवेत्ता, कर्दमपुत्र कपिलभगवान् के अंश और कला के अवतार माने गये हैं।[५] तथा भा० ९, ८ में सगरपुत्रों के भस्मकर्त्ता

१. हिस्ट्री आफ इंडियन फिलौसोफी जी० ४ पृ० ३८।

२. महा० १२, ३४०, ७२–७४। ३. गीता १०, २६।

४. विष्णुसहस्रनाम (शांकरभाष्य) पृ० १७७ श्लोक ७०।

५. भा० १, ३, १०, भा० २, ७, ३, भा० ३, २१, ३२ भा० ३, २४, ३०।

ऋषि कपिल भी भगवान् के अवतार हैं। किन्तु इन दोनों 'भागवत' के रूपों में कोई परस्पर संबंध दृष्टिगत नहीं होता।

निष्कर्षतः महाकाव्यों या पुराणों में दोनों कपिल का पृथक्-पृथक् विकास होने के अनन्तर उनका अवतारवादी रूप भी पृथक् प्रतीत होता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि विष्णु के चौबीस अवतारों में कर्दम-पुत्र तथा सांख्यवेत्ता कपिल ही प्रचलित हुये हैं। इससे चौबीस अवतारों में गृहीत होने वाले विशिष्ट विचारधारा के प्रवर्तक होने के नाते ही वे इस कोटि में कला या अंश-रूप माने गये।[1]

इस प्रकार अनेक कपिल नामक व्यक्तियों के होते हुए भी कपिल के मुख्यतः दो रूप भारतीय साहित्य में विशेष रूप से प्रचलित हुए। उनमें एक तो है इनका पौराणिक रूप जिसमें सगर पुत्रों के भस्मकर्ता ऋषि के रूप में ये प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यदि देखा जाय तो इनके उपर्युक्त रूप में ही आग्नेय कपिल का रूप भी समाहित हो जाता है। क्योंकि दोनों का संबंध अग्नि से स्पष्ट है। फिर भी प्रस्तुत कथा में चमत्कारपूर्ण तत्त्वों का समावेश देखते हुए कपिल के उक्त रूप को ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक अधिक कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कपिल के दूसरे रूप का अस्तित्व मिलता है, वह है उनका सांख्यवादी रूप। चौबीस अवतारों की कोटि में प्रायः सांख्यवादी कपिल का ही रूप मिलता है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कपिल, अवतारीकरण के पूर्व, षड्दर्शन के विभिन्न मनीषियों में सांख्य के प्रतिपादक होने के कारण उन चौबीस अवतारों की कोटि में गृहीत हुए, जिनमें अभूतपूर्व विभूति-सम्पन्न अनेक अन्वेषक, तपस्वी, वीर, साधक इत्यादि महापुरुष परिगणित हुए थे।

आलोच्यकाल में सूरदास ने 'सूरसागर' में सांख्यवेत्ता कपिल को ही अवतार माना है। उनके पदों के अनुसार कर्दम ऋषि की तपस्या से प्रसन्न होकर नारायण ने स्वयं उनके घर में अवतरित होने का वचन दिया।[2] उन्होंने कपिलदेव के रूप में अवतरित होकर अपनी माता देवहूति को आत्मज्ञान एवं भक्ति-तत्त्वों का उपदेश दिया।[3] उपास्य रूप की चर्चा करते

---

१. भा० १, ३, १०, और २, ७, ३ के दोनों विवरणों में सांख्य प्रवर्त्तक कपिल अवतार माने गये हैं।

२. नारायण तिनकौ वर दियौ, मोसौ और न कोउ बियौ।
मै लैहौ तुम गृह अवतार, तप तजि करौ भोग संसार। सूरसागर पृ० १३२।

३. तिनके कपिलदेव सुत भए, परम सुभाग्य मानि तिन लए।
आतम ज्ञान देहु समुझाइ, जातै जनम मरन दुख जाइ।

हुये वे चतुर्भुज श्याम का ध्यान करने का उपदेश देते हैं।[१] उपदेश समाप्त होने के अनन्तर उनकी माता कहती हैं कि अबतक तो मैं तुम्हें अपना पुत्र समझती थी, किन्तु अब मैं तुम्हें ईश्वर ही मानती हूँ।[२] इस प्रकार सूरदास ने इनके उपदेशों में तत्कालीन भक्ति जनित प्रवृत्तियों का समावेश करते हुए भी कपिलदेव के सांख्य की चर्चा की है।[३] किन्तु इस प्रसंग में सगर पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल का वर्णन नहीं किया है। केवल 'गंगावतरण' की कथा में कपिल द्वारा उनके भस्म किये जाने का उल्लेख हुआ है। किन्तु उस कपिल को सूरदास ने किसी का अवतार नहीं बतलाया है।[४] 'सूरसारावली' में भी हरि, कपिल-रूप में प्रकट होकर देवहूति को उपदेश देते हैं।[५] इनके विपरीत नरहरिदास ने सांख्य-प्रवर्त्तक कपिल के साथ सगर पुत्रों एवं गंगावतरण की कथाओं का भी समावेश किया है। उनकी रचना में कपिल के रूपों का उक्त वैषम्य लक्षित नहीं होता।[६] उनके पदों के अनुसार परब्रह्म, आदि पुरुष अखिल जगत् के हित के निमित्त अवतरित होते हैं।[७] अतः विष्णु के अन्य अवतारों के सदृश कपिल का भी पौराणिक रूप आलोच्यकाल में मध्यकालीन उपास्यों के अवतार-रूप में प्रचलित हुआ, क्योंकि आलोच्यकाल में आकर उनका सांख्यवादी रूप कुछ दब सा जाता है।

चौबीस अवतारों की कोटि में गृहीत होने के अतिरिक्त परवर्ती काल में नाथ पंथी सिद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों में मान्य कपिलानी शाखा के प्रवर्तक सांख्यवादी कपिल बताये जाते हैं। इस शाखा का संबंध नाथ पंथ में उस काल में लक्षित होता है जबकि वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव भी उसपर पड़ने लगा था। इससे लगता है कि कपिल से संयुक्त 'सिद्ध' (सिद्धानां कपिलो मुनिः) की संज्ञा ने उन्हें बाद में नाथ पंथी सिद्धों की पंक्ति में बिठा दिया हो।

कह्यौ कपिल कहौ तुमसौं ज्ञान मुक्त होइ नर ताकौ जान।
पृ० १३३ में भक्ति उपदेश, सूरसागर पृ० १३२।

१. बहुरौ धरै हृदय मंह ध्यान, रूप चतुरभुज स्याम सुजान। सूरसागर पृ० १३५।

२. आगे मैं तुमकौ सुत मान्यौ, अब मैं तुमकौ ईश्वर जान्यौ। सूरसागर पृ० १३७।

३. कपिलदेव सांख्यहि जो गायौ सो राजा मैं तुम्है सुनायौ। सूरसागर पृ० १३७।

४. कपिल कुलाहल सुनि अकुलायौ कोपदृष्टि करि तिन्है जरायौ।
सूरसागर पृ० १८८ पद ४५३।

५. सूरसारावली; पृ० ३, पद ५१-५६।

६. अवतारलीला (ह० लि०) कपिल अवतार पृ० ८-१२।

७, अवतारलीला (ह० लि०) पृ० १२।
'पर ब्रह्म आदि पुरन पुरुष अखिल जगत हित अवतरे'।

सनत्कुमार

'भागवत' में सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, इन चार कुमारों को विष्णु के चौबीस अवतारों में माना गया है। अन्य कतिपय अवतारों के सदृश इनका अवतारीकरण भी बाद में चल कर दीख पड़ता है। जहाँ तक इनके प्राचीन नामों का उल्लेख मिलता है, ये भिन्न-भिन्न और पृथक् अस्तित्व के महापुरुष दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि वैदिक साहित्य में एकत्र प्रायः चारों नामों का अभाव दीखता है। केवल कुमार नाम की दृष्टि से आग्नेयकुमार[1], आत्रेयकुमार[2], यामायन कुमार[3] आदि कुमार-संज्ञा से युक्त ऋषियों का पता ऋ० सं० में चलता है। इस कुमार नाम के साम्य से कुमार वर्ग विशेष के तपस्वियों की संभावना की जा सकती है, किन्तु प्रस्तुत चार कुमारों के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख इस आधार पर नहीं माना जा सकता। पर 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की 'याज्ञवल्कीय काण्ड' की वंश परम्परा में 'सन्' से प्रारम्भ होने वाले 'सन्', 'सनातन' और 'सनग्' का उल्लेख हुआ है।[4] इसी प्रकार सनत्कुमार का उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद्' में हुआ है। इस उपनिषद् के सातवें अध्याय में सनत्कुमार ने नारद को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है।[5] अतएव वैदिक साहित्य में स्पष्टतः सनग् (सनक) सनातन और सनत्कुमार केवल तीन नामों के स्पष्ट उल्लेख हुये हैं। संभव है 'सनग' का सनक तथा 'सनारु' का ही कालान्तर में सनन्दन नाम प्रचलित हुआ हो। 'महाभारत' में इनकी संख्या सात हो गई है। 'शांति पर्व' में सन्, सनत्सुजात्, सनन्द, सनन्दन, कपिल, सनातन आदि ब्रह्मा के सप्त मानस पुत्र कहे गये हैं। ये लोग यहाँ स्वयं उद्भुत ज्ञान के प्रतिपादक, निवृत्ति-धर्म पालन करने वाले, योग, सांख्य, धर्म के आचार्य, मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति वाले तथा यज्ञ में पशुहिंसा का विरोध करने वाले बतलाये गये हैं।[6] कपिल के अतिरिक्त इसमें सन और सनत्सुजात नाम भी संभवतः इसी कोटि के साधकों के लिये आये हैं। किन्तु बाद में चलकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार कुमारों की परम्परा पुराणों में रूढ़ि सी हो जाती है। वि० पु० २, १, २५ में वर्णित सर्गों में एक 'कौमार सर्ग' भी माना गया है। 'भागवत पुराण' १, ३, ६, के अनुसार भगवान् ने उक्त चार ब्राह्मणों के रूप में अवतार ग्रहण कर अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य का पालन किया था। पुनः भा० २, ७, ५ में कहा गया है कि भगवान् ने तप का पर्याय 'सन' नामक शब्द से प्रारम्भ

---

१. ऋ० ५, २।   २. ऋ० ७, १०१।

३. ऋ० १०, १३५।   ४. बृ० उ० २, ६, ३।

५. छा० ७, १, १।   ६. महा० १२, ३४०, ७२-८२।

होने वाले चतुः कुमारों का रूप धारण कर ऋषियों को आत्मज्ञान का उपदेश किया था। 'भागवत' के तीसरे विवरण में भी अन्य आत्मज्ञानियों के साथ 'कुमार' का उल्लेख हुआ है।[1] यहाँ ये भगवान् के कलावतारों में गृहीत हुये हैं। इस प्रकार 'भागवत' से इनका अवतारवादी संबंध होने के कारण इनका अवतारीकरण परवर्ती प्रतीत होता है।

सूरदास ने 'भागवत' की ही परम्परा में इन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में माना है। इनके पदों के अनुसार ब्रह्मा ने ब्रह्म का रूप हृदय में धारण कर मन से उक्त चतुः कुमारों को प्रकट किया।[2] इन्होंने सृष्टि-कार्य से विरक्त होकर हरि के चरणों में चित्त लगाया।[3] 'सूरसारावली'[4] और 'अवतारलीला'[5] में इनके उक्त रूढ़िगत रूपों का वर्णन हुआ है। इनमें सनकादि आत्मज्ञानियों की अपेक्षा विष्णु के भक्त अवतार विदित होते हैं। परन्तु उक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि चतुः कुमार नाम के ऋषि एक साथ और सम्भवतः एक काल में अस्तित्व न रखते हुए भी भारतीय परम्परा में आत्मज्ञानियों के रूप में प्रसिद्ध थे। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की परम्परा को देखते हुए इनका किसी परम्परा विशेष से सम्बद्ध होने का भी निश्चय हो जाता है। अतएव सम्भव है कि एक ही प्राचीन परम्परा से आबद्ध होने के फलस्वरूप ये अपने परवर्ती पौराणिक रूप में एक साथ रहने वाले प्रचलित किये गये हों। क्योंकि महा० १२।३४०, ७२-८२ में जहाँ इनकी संख्या कपिल को लेकर सात हो जाती है। वहाँ स्पष्ट ही काल और परम्परा के अन्तर की उपेक्षा की गई है। पुराणों में सामान्य रूप से इतने वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कभी कोई आवश्यकता नहीं समझी गई है। अतः विभिन्न कालों में होते हुए भी उनको एक ही सूत्र में बद्ध करना पुराणों के लिए विशेष असंभाव्य नहीं जान पड़ता।

---

१. भा० ११, ४, १७।

२. ब्रह्मां ब्रह्म रूप उर धारि, मनसौ प्रगट किए सुत चारि।
सनक, सनन्दन, सनतकुमार, बहुरि सनातन नाम ये चारि।
सूरसागर पृ० १२९ पद ३८७।

३. ब्रह्मा कह्यौ सृष्टि विस्तारौ, उन यह बचन हृदय नहिं धारौ।
... ...
कह्यौ यहै, हम तुमसौं चहै, पाँच बरष के नित ही रहै।
ब्रह्मा सौं तिन यह वर पाई, हरि चरननि चित राख्यौ लाइ। सूरसागर पृ० १२९

४. जब सृष्टि पर किरपा कीन्हीं ज्ञान कला विस्तार।
सनक, सनंदन और सनातन चारों सनतकुमार। सूरसारावली पृ० ३।

५. सनक सनन्दन द्वै भए, तीजे सनतकुमार।
चौथे भए सनातना आदि पुरुष अवतार। अवतारलीला (ह० लि०) पृ० ७।

पर चौबीस अवतारों की कोटि में आत्मज्ञानियों में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखने के कारण ही ये गृहीत हुए हैं।

उक्त चौबीस अवतारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं विष्णु के अवतारों में नारद और मोहिनी का भी वर्णन मिलता है।

नारद

वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में नारद का अस्तित्व इस प्रकार बिखरा हुआ है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि किस नारद को विष्णु के अवतारों में ग्रहण किया गया है। वैदिक साहित्य में 'नारद पर्वत' और 'नारद कण्व' नाम के ऋषियों का कुछ सूक्तों के निर्माताओं के रूप में उल्लेख हुआ है।[1] 'सामविधान ब्राह्मण' ३, ९, ३ की एक सामवेदीय परम्परा में नारद का नाम बताया जाता है।[2] छान्दोग्य ७, १, १ में अनेक विद्याओं के ज्ञाता नारद का नाम आया है। इसके अतिरिक्त महा० १२, २८ में नारद को पर्वत ऋषि का मामा कहा गया है। यहाँ भी नारद का 'सामवेद' से संबंध लक्षित होता है। यहाँ तक वैष्णव भक्त या अवतार नारद की अपेक्षा उनका वैदिक रूप ही अधिक स्पष्ट है। किन्तु महा० १२, १९० में तपस्या के फलस्वरूप नारद को सावित्री के पश्चात् विष्णु का दर्शन होता है। साथ ही 'नारायणीयोपाख्यान' में नारायण ऋषि सर्वप्रथम नारद को 'ऐकान्तिक मत' का परिचय देते हैं।[3] वे इनसे श्वेतद्वीप में निवास करने वाले ऐकान्तिक उपासकों की भी चर्चा करते हैं।[4] अतः 'महाभारत' के उक्त आख्यानों में विष्णु और नारायण भक्त तथा पांचरात्रों के ज्ञाता नारद का एक रूप लक्षित होता है। संभवतः इसी के फलस्वरूप 'गीता' १०, २६ की दिव्य विभूतियों में देवर्षि नारद को भी स्थान मिला है। बाद में वैष्णव या अन्य कतिपय धर्मों के प्रवर्तकों और उन्नयकों के अवतारीकरण के साथ 'भागवत' १, ३, ८ में देवर्षि नारद को भी ऋषियों की सृष्टि में तीसरा अवतार माना गया। इस अवतार में उन्होंने 'सात्वत तंत्र' या संभवतः 'नारद पांचरात्र' का उपदेश किया था। भा० २, ७ के चौबीस लीलावतारों के विवरण में इनका नाम नहीं है। भा० १, ५ में ये दासी-पुत्र बतलाये गये हैं साथ ही इसी अध्याय १, ५, ३८–३९ में इनका संबंध प्रेमाभक्ति से भी लक्षित होता है। निष्कर्षतः भक्तों और

---

१. ऋ० ८, १३; ऋ० ९, १०४, १०५; अथर्व ५, १९, १ और १२, ४, १६ में नारद का उल्लेख हुआ है।

२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० २८।

३. महा० १२, ३३४, ४–३३।

४. महा० १२, ३३६, २७–२८।

प्रवर्तकों की परम्परा में ही नारद को भी विष्णु का अवतार माना गया। किन्तु अन्य अवतारों के सदृश इनका यह क्रम अधिक प्रचलित नहीं प्रतीत होता।

आलोच्यकाल के कवियों में सूरदास ने इनका चौबीस अवतारों में तो उल्लेख किया है।[1] परन्तु स्वतंत्र रूप से इनके अवतारत्व का वर्णन 'सूरसागर' में नहीं हुआ है। फिर भी 'सूरसारावली' में कहा गया है कि हरि ने नारद-रूप में सर्वत्र घूम-घूम कर उपदेश दिया और भक्तों में ज्ञान और वैराग्य की भावना दृढ़ की।[2]

उपर्युक्त तथ्यों के क्रमबद्ध अनुशीलन से यह विदित होता है कि जिस प्रकार अन्य ऋषियों और तपस्वियों को अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य और भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण कार्यों में योगदान देने के नाते उन्हें चौबीस अवतारों की कोटि में परिगणित किया गया था, उसी प्रकार नारद भी पांचरात्र साहित्य के विशिष्ट उपदेशक तथा विष्णु के अनन्य भक्तों की कोटि में प्रचलित होने के कारण ही चौबीस अवतारों की परम्परा में गृहीत हुए।

मोहिनी

पुराणों में प्रचलित विष्णु के अवतारों में मोहिनी अवतार का भी उल्लेख हुआ है। यों तो विष्णु के पशु, पक्षी, मनुष्य आदि विभिन्न पौराणिक (मीथिक) अवतारों का वर्णन हुआ है किन्तु लिंग की दृष्टि से वे सभी प्रायः पुरुष या पुंल्लिंग हैं। अतएव मोहिनी का अवतार-वर्ग में विशिष्ट स्थान है। पुराणों में विष्णु और लक्ष्मी के युगल रूप का प्रचार होने के कारण संभवतः विष्णु को स्त्री के रूप में अवतरित होने की आवश्यकता नहीं हुई थी। पर पुराणों के आधार पर मोहिनी का आविर्भाव उस अवस्था में लक्षित होता है जबकि विष्णु-लक्ष्मी का युगल रूप उतना प्रचलित नहीं था। मोहिनी का विकास समुद्र-मंथन की कथा से सम्बद्ध होने के कारण पूर्णतः प्रतीकात्मक विदित होता है। यों तो समुद्र-मंथन और उससे प्रकट हुये चौदह रत्नों की सम्पूर्ण कथा प्रतीकात्मक तत्त्वों से संवलित एवं विकसित हुई है।[3] संभव है मोहिनी भी मोहिनी-माया का रूपान्तरित रूप हो। क्योंकि महा० १, १८, ४५ में कहा

---

१. 'पुनि नारायण ऋषभदेव नारद धनवंतरि'। सूरसागर पृ० १२६।

२. नारद रूप जगत उद्धारण विचरत लोकन माया करि उपदेश।
ज्ञान हरि भक्तहि अरू वैराग्य दृढ़ाय। सूरसारावली पृ० ५ पद १३६।

३. भारतीय विद्याभवन, भवन्स जर्नल, सेप्टेम्बर १, २५, १९५५ भाग २, संख्या ४ पृ० ३७।

भगवान की कृपा के फलस्वरूप देवता विजयी हुए और असुर हार गये।[1]

सूरदास ने दूसरे पद में मोहिनी पर उमा-शिव के विमोहित होने का भी वर्णन किया है।[2] परन्तु अवतारवादी परम्परा में मोहिनी के अमृत-दान द्वारा देवों की विजय ही इस अवतार का प्रमुख प्रयोजन प्रतीत होता है। इसमें सूरदास ने विष्णु या नारायण के स्थान में मोहिनी अवतार का रूप अपने उपास्य श्याम द्वारा गृहीत माना है।

इस प्रकार मध्यकालीन सगुण साहित्य में विष्णु के जिन चौबीस या अन्य अवतारों का वर्णन हुआ है, उनमें गृहीत रूपों का मुख्य आधार तत्कालीन कृष्ण-भक्ति या अन्य सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय श्रीमद्भागवत रहे हैं।

इन अवतारों के विकास एवं मध्यकालीन रूपों के विवेचन से यह विदित होता है कि विष्णु के कुछ अवतार सामान्यतः मत्स्य, वराह, कूर्म, वामन, हयग्रीव, प्रभृति का विकास पौराणिक तत्त्वों (मिथिक एलिमेंट्स) के आधार पर हुआ। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में उपलब्ध इनके पौराणिक आख्यानों का ही निरन्तर विकसित रूप मध्यकालीन साहित्य में गृहीत हुआ है। परन्तु परशुराम, राम, कृष्ण, कल्कि, बुद्ध प्रभृति अवतारों का विकास ऐतिहासिक रूपों के पुराणीकरण होने के फलस्वरूप विदित होता है। क्योंकि नेता, प्रवर्तक, अन्वेषक, उपदेशक श्रेणी के महापुरुषों को इस कोटि के अवतारों में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति का दशावतार एवं चौबीस अवतार की सूची से भान होता है। इनमें हंस और मोहिनी का प्रतीकात्मक विकास ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

किन्तु इनका मध्यकालीन रूप केवल पौराणिक, प्रतीकात्मक या ऐतिहासिक उपादानों से निर्मित नहीं है, अपितु तत्कालीन भक्ति का पर्याप्त रंग इन पर चढ़ चुका था। इस युग में विष्णु के साथ-साथ उक्त अवतार भी केवल अवतार ही नहीं बल्कि उपास्य-रूप में अधिक प्रचलित हुए। अतः चौबीस अवतारों के उद्भव, विकास और मध्यकालीन रूप का अध्ययन, विश्लेषण और अनुशीलन करने के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

प्रथम यह कि चौबीस अवतारों का सिद्धान्तगत अवतारवादी रूप उस

---

१. सुरनि की जीति भई असुर मारे बहुत जहां तहं गए सबही पराई।

सूरसागर पृ० १७४ पद ४३५।

२. सूरसागर पृ० १७५ पद ४३७।

आशावाद का परिचायक है जो जनकल्याण की भावना को अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सुरक्षित करने का प्रयास करता है।

दूसरा यह कि इनका रूप क्रमशः विकासोन्मुख और परिवर्तनशील है। क्योंकि सात से दस और दस से चौबीस की संख्या तक परिवर्द्धित होने में इसके विकासोन्मुख स्वरूप का परिचय मिलता है। अवतारवाद के हेतु या प्रयोजन की दृष्टि से भी इसमें प्रायः विकास और परिवर्त्तन होते रहे हैं। इससे अवतारवाद रूढ़िबद्धता का अतिक्रमण कर समुचित मात्रा में अपने को युग सापेक्ष भी सिद्ध करता रहा है। अवतारवाद के प्रारम्भिक हेतु में जहाँ केवल देवासुर संग्राम के निमित्त अवतार का एकमात्र लक्ष्य केवल देवों या दैवी सम्पत्ति की विजय में निहित रहा है, उसका दृष्टिकोण उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते, धर्मोत्थान, सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन, समाज और जाति-रक्षा, आदर्श-द्योतन, और युग-युग में नूतन सिद्धान्तों के प्रतिपादन तक हो जाता है।

तीसरा यह कि क्षेत्र की दृष्टि से इसका क्षेत्र व्यापक और मूलतः समन्वयवादी प्रतीत होता है। चौबीस अवतारों की कोटि में परस्पर विषम व्यक्तियों को ही नहीं आत्मसात् किया गया है अपितु सिद्धान्त की दृष्टि से भी अवतारवाद जहाँ एक ओर हृदय प्रधान भक्ति तत्त्वों को लेकर चलता है, वहाँ वह अन्वेषण, ज्ञान और विज्ञानमूलक मस्तिष्क प्रधान तत्त्वों की भी मान्यता ही नहीं देता अपितु उनका समाहार कर लेने का यत्न करता है। फिर भी इसका मूल लक्ष्य सिद्धान्तमूलक या विश्लेषणात्मक होने की अपेक्षा व्यावहारिक या श्रद्धाभिभूत अधिक रहता है। इसी से अवतारों के चयन या अवतारवाद के सिद्धान्तगत विवेचन-क्रम में ऐतिहासिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान में लोकप्रिय पौराणिक तत्त्वों के चयन की ओर अधिक प्रवृत्ति रहती है।

चौथा यह कि चौबीस अवतारों का वर्गीकरण विभिन्न विचार-धाराओं की दृष्टि से विविध रूपों में किया जा सकता है। उनके अवस्थागत अस्तित्व के अनुसार पौराणिक, ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक तीन वर्ग हो सकते हैं। जिनमें मत्स्य, कूर्म, वराह इत्यादि पौराणिक, राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि ऐतिहासिक तथा हयग्रीव, हंस, मोहिनी इत्यादि प्रतीकात्मक माने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके उत्पन्न होने की प्रणाली का विचार करते हुए उत्पन्न और प्रकट दो भेद मुख्य रूप में किये जा सकते हैं। इनमें राम-कृष्ण आदि उत्पन्न तथा गजेन्द्रहरि, ध्रुव-प्रिय प्रभृति अवतार प्रकट रूप हैं।

पाँचवाँ यह कि प्रचलित रूप में चौबीस अवतार विशुद्ध अवतारवादी

नहीं रहे हैं। इन पर इष्टदेव प्रधान उपास्यवाद का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा है; जिसके फलस्वरूप उपास्यवाद की मूल प्रवृत्ति सर्वोत्कर्षवाद (हीनोथिज्म) से अपने इष्टदेवात्मक या विग्रहप्रधान रूप से सभी अवतार आच्छन्न हैं। इसी-से सभी अवतार प्रायः सभी अवतारों का रूप धारण कर सकते हैं। उपास्यवाद के प्रभाव से आच्छन्न रहने के कारण ही अनेक ईश्वर विरोधी तत्त्व भी अवतारवाद में घुल-मिल कर ईश्वर-समर्थक हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि अवतारवाद अपने आंतरिक रूप में ईश्वरवादका समर्थक ही नहीं अविभाज्य अंग रहा है।

'वाल्मीकि रामायण' के प्रथम और अन्तिम काण्डों में राम के अवतारत्व का अधिक उल्लेख देखकर श्री विंटरनित्स ने उन दोनों अंशों को परवर्ती माना है।[1] अधिकांश इतिहासकारों की भी प्रायः यही धारणा रही है। अतएव जहाँ तक 'महाभारत' और 'रामायण' के वैष्णवीकरण का प्रश्न है, अनेक मतों की समीक्षा के पश्चात् वैष्णवीकृत महाकाव्यों का काल फर्कुहर ने २०० ई० माना है।[2] 'महाभारत' के प्राचीन अंश 'नारायणीयोपाख्यान' में अवतारों की छः और दस दोनों सूचियों में राम का नाम आया है।[3] फर्कुहर के अनुसार राम और कृष्ण महाकाव्यों के द्वितीय संस्करण के काल तक विष्णु के अंशावतार माने जा चुके थे।[4] 'वाल्मीकि रामायण' की आदि राम-कथा में राम को विष्णु के समान वीर्यवान कहा गया है।[5] पुनः प्रथम कांड में वे विष्णु के अंशावतार हैं।[6] यद्यपि षष्ठ कांड में उनके पूर्णावतार होने का भान होता है[7] फिर भी 'विष्णुपुराण' में वे अंशावतार हैं।[8] श्री भंडारकर रामावतार की प्राचीनता मानते हुये भी 'रघुवंश' के 'दसवें सर्ग' में वर्णित क्षीरशायी विष्णु के अवतार राम को अधिक प्रामाणिक मानते हैं[9], क्योंकि महाकाव्यों और पुराणों की तुलना में 'रघुवंश' के प्रक्षिप्त होने की आशंका नहीं है। फिर भी बौद्ध पालि साहित्य में बुद्ध को रामावतार एवं बोधिसत्त्व के रूप में तथा जैनों में राम के आठवें बलदेव के रूप में[10] माने जाते हुए देखकर, ईसा के पूर्व राम के अवतार रूप में विख्यात होने का अनुमान किया जा सकता है।

सांप्रदायिक राम

मध्यकाल में रामभक्ति, कृष्णभक्ति शाखा से कम व्यापक नहीं है, परन्तु कृष्ण-भक्ति शाखा के जितने प्राचीन चिह्न या प्रमाण मिलते हैं, रामभक्ति के उल्लेख उतने नहीं मिलते। डाक्टर भंडारकर ने राम और सीता की मूर्त्ति संबंधी एक घटना के आधार पर राम-पूजा का काल ग्यारहवीं शती माना

१. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, विंटरनित्स जी० १ पृ० ४९६।
२. फर्कुहर पृ० ९५। ३. महा० १२, ३३९, ७७-९० और १२, ३३९, १०३-१०४
४. फर्कुहर पृ० ८३-८४। ५. वा० रा० १, १, १८ 'विष्णुना सदृशोवीर्ये।'
६. वा० रा० १, १५, ३१। ७. वा० रा० ६, १२०।
८. वि० पु० ४, ४, २७
'तस्यापि भगवानब्यजनाभो जगतःस्थित्यर्थमात्मांशेन रामलक्ष्मण भरतशत्रुघ्न रूपेण चतुर्धा पुत्रमायासीत'।
९. कौ० व० जी० ४ पृ० ६५। १०. रामकथा बुल्के पृ० १४६।

था ।[1] उनका कहना है कि मध्वाचार्य वदरिकाश्रम से दिग्विजय राम की एक मूर्त्ति ले आये थे और १२६४ ई० (१३२१ सं०) के लगभग इन्होंने नरहरितीर्थ को जगन्नाथ जी से राम और सीता की मूर्त्ति लाने के लिये भेजा था । अतः रामसम्प्रदाय का अस्तित्व ग्यारहवीं शती में अवश्य होना चाहिए ।[2] किन्तु दक्षिण में इस काल से पूर्व भी राम-पूजा के संबंध में अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनके आधार पर राम-पूजा का प्रचार काल और अधिक प्राचीनतर माना जा सकता है । श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर ने 'हिस्ट्री ऑफ तिरुपति' में ऐसे अनेक तथ्य प्रस्तुत किये हैं जिनमें तामिल आल्वारों में विष्णु के अन्य अवतारों के साथ राम-पूजा के पर्याप्त प्रचार का उल्लेख मिलता है ।[3] विशेषकर नौवीं शती के कुलशेखर आल्वार की रचनाओं में राम-संबंधी अनेक घटनाओं का वर्णन हुआ है ।[4] कुलशेखर के विषय में यह भी कहा जाता है कि रामलीला देखते समय या काव्य पढ़ते समय वे भावावेश में आ जाते थे ।[5] तिरुमंगई आल्वार भी रामावतार पर सबसे अधिक मुग्ध दीख पड़ते हैं ।[6] कम्बन द्वारा रचित 'तमिल रामायण' (रचनाकाल ८८५ ई०) को आल्वारों ने साम्प्रदायिक ग्रन्थ के रूप में माना है ।[7] इससे आल्वारों का रामचरित से प्रभावित होना स्वाभाविक है । आल्वार साहित्य में राम का पूर्णोत्कर्ष दीख पड़ता है । क्योंकि उनकी रचनाओं में एक स्थल पर कहा गया है कि राम पूर्णावतार हैं और अन्य अवतार समुद्र में खुर के समान हैं ।[8] आल्वारों की रचनाओं में यत्र तत्र 'रामायण' (संभवतः कम्बन रामायण) के बहुत से प्रसंग मिलते हैं ।[9]

उक्त उद्धरणों से कम से कम विष्णु और उनके अन्य अवतारों की पूजा के साथ राम की पूजा का भी आभास मिलता है । दक्षिण में राम-पूजा का प्रारम्भ श्रीकृष्ण स्वामी ने रामानुज से माना है । इनका कहना है कि श्रीरंगम के मंदिर में रामानुज के अनुरोध से श्रीराम की मूर्त्ति स्थापित की गई ।[10] इस मूर्त्ति की स्थापना विश्वम्भर नामक एक योगी के चलते कही गई

१. कौ० व० जी० ४, पृ० ६६ । २. कौ० व० जी० ४ पृ० ६६ । २
३. हिस्ट्री आफ तिरुपति जी०, १ पृ० १५८ ।
४. हिस्ट्री आफ तिरुपति जी०, १ पृ० १६९ ।
५. हीम्स आफ दी आल्वार्स पृ० १३ । ६. तामिल और उसका साहित्य पृ० ५६ ।
७. साउथ इण्डियन हिस्ट्री जी० २, पृ० ७३३ ।
८. डिवाइन विज्डम आफ द्रविड़ सेन्टस–पृ० १५४ शीर्षक १३८ ।
९. हिस्ट्री आफ तिरुपति जी० १ पृ० १५८ तथा उदाहरण के लिये हीम्स आफ आल्वार्स में संकलित पृ० ३५ में एक पद, तिरूपलांडु-रचित ।
१०. हिस्ट्री आफ तिरुपति जी० १ पृ० ३०१ ।

है।[1] यों सामूहिक अवतारों के रूप में मंदिरों में अन्य मूर्त्तियों के साथ राम की मूर्त्तियाँ भी रखी जाती थीं।[2]

परन्तु राम-मूर्त्ति की पृथक् पूजा इनके कथनानुसार सर्वप्रथम रामानुज ने ही आरम्भ की थी। रामानुज ने 'परमेश्वर संहिता' के अनुसार श्रीराम की विधिवत् पूजा के लिये एक अविवाहित युवक को नियुक्त किया था और पूजा के लिये उसे राम जी की एक मूर्त्ति तथा खजाने के लिये हनुमान जी की एक मुहर प्रदान की थी।[3]

उस युवक की सहायता के लिए तीन या चार वैरागी भी रखे गये थे, जिनमें से एक वैष्णव सम्प्रदायों में प्रसिद्ध शठकोप यति (संभवतः शठकोपाचार्य) भी थे।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामानुज के काल में राम की विधिवत् पूजा का आरम्भ हो चुका था।

किन्तु 'अथर्वांगिरस' उपनिषदों में गृहीत 'राम पूर्व' और 'उत्तर तापनीय उपनिषदों' की दृष्टि से विचार करने पर राम-भक्ति का काल पूर्ववर्ती माना जा सकता है। फर्कुहर ने श्रेडर के मतों का खण्डन कर 'तापनीय उपनिषदों' के आधार पर रामावत सम्प्रदाय का अस्तित्व और पूर्ववर्ती होने का अनुमान किया है।[5] यदि फर्कुहर का अनुमान ठीक माना जाय तो उस काल में राम की अनेक प्रकार की मूर्त्तियों के निर्माण का भी अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि 'राम पूर्व तापनीय उपनिषद्' में राम के ब्रह्मत्व और मन्त्रों के साथ-साथ उनके विभिन्न प्रकार के क्रमशः दो, चार, छः, आठ, दस, बारह, सोलह और अठारह हाथ वाले स्वरूपों का भी उल्लेख हुआ है।[6]

इसके अतिरिक्त तीसरी शती के माने जाने वाले नाटककार भास के नाटकों में राम और सीता केवल अवतार ही नहीं हैं[7] अपितु उनमें भक्तिपरक

---

१. वही पृ० ३०२।　　२. वही, पृ० १५४।

३. वही, पृ० ३०७–३०८।　　४. वही, पृ० ३०८।

५. फर्कुहर पृ० १८९–१९० प० रा० २१९। इन्होंने तापनीय उपनिषदों का काल ५५० ई० से ९०० ई० के मध्य में माना है।

६. वैष्णव उपनिषद में संकलित पृ० ३–७ रामपूर्व तापनीय उ० प्रथम उपनिषद् ८–१०
रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यगाद्यादिकल्पना।
द्विचत्वारि षडष्टानां दश द्वादश षोडश॥
अष्टादशमी कथिता हस्ता शङ्खादिभिर्युताः।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहन कल्पना॥

७. प्रतिमा नाटक, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशित पृ० १०६ अङ्क ४ श्लोक ४
अत्र रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च महायशः।
सत्यं शीलं च भक्तिश्च येषु विग्रहवत् स्थिता॥

तथ्य भी आँके जा सकते हैं। उनके 'प्रतिमा' नाटक में राम, लक्ष्मण, सीता क्रमशः सत्य, शील और भक्ति के साक्षात् स्वरूप कहे गये हैं।[1] आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने भी गुप्त काल में राम-पूजा का अस्तित्व माना है। उनके मतानुसार चन्द्रगुप्त की पुत्री राम की उपासिका थी और साथ ही चौथी शती के वराहमिहिर की रचना में इक्ष्वाकुवंशी राम की मूर्त्ति के निर्माण का नियम बतलाया गया है।

इसमें संदेह नहीं कि वैष्णव धर्म का जितना उत्थान गुप्तकाल में हुआ उतना कदाचित् अन्य कालों में नहीं हो सका। अतः सम्भव है रामभक्ति का जन्म भी गुप्त काल में हो गया हो।

इसके फलस्वरूप राम के साम्प्रदायिक रूपों का विकास भी गुप्तकाल से ही माना जा सकता है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में राम के जिस साम्प्रदायिक रूप की प्रतिष्ठा हुई है वह चौदहवीं शती के प्रवर्तक रामानन्द की देन है। रामानन्द के द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों में 'अध्यात्म रामायण' मुख्य माना जाता है।

मध्यकालीन सम्प्रदाय में राम

तत्कालीन साहित्य में राम का रामभक्ति शाखा से सम्बन्ध रहा है। राम साहित्य के महान् कवि गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व या समकालीन राम के निर्गुण रूप से सम्बद्ध साहित्य संत सम्प्रदायों में मिलता है। रामानन्द के कबीर आदि जो बारह शिष्य कहे गये हैं, उनमें कबीर आदि सन्त मत के प्रवर्तक अवतारवाद एवं सगुणोपासना के विरोधी थे।

अतएव इस काल में रामभक्ति का प्रारम्भ इस धारा के प्रवर्तक अनन्तानन्द की परम्परा में आने वाले कील्हदास और उनके शिष्य द्वारकादास से माना जाता है।[2] किन्तु अवतारवादी राम-साहित्य की परम्परा गोस्वामी तुलसीदास से प्रारम्भ होती है।

श्रीकृष्ण के सदृश गोस्वामी जी के काल तक राम के अवतार-रूप के साथ-साथ उनका उपास्य-रूप भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित था। श्रीकृष्ण-चरित और श्रीकृष्ण-लीला के सदृश रामायणों की परम्परा को लेकर श्री तुलसीदास ने राम-चरित और रामलीला की परम्परा को आगे बढ़ाया।

---

१. दी क्लासिकल एज० पृ० ४१६–४१७।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास २००५ विं० पृ० १२१।

श्रीकृष्ण-साहित्य के पीछे आचार्यों की एक प्रबल परम्परा थी जिसके चलते कतिपय सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण के नाना रूपों का विकास हुआ।

किन्तु रामभक्ति में आचार्यों की अपेक्षा केवल रामायणों की परम्परा थी, जिसका वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक विकास होता आया था। इनमें मध्ययुग के पूर्ववर्तीकाल में लिखे गये 'अध्यात्म' या 'आनन्दरामायण' में भी एक विशिष्ट प्रकार के राम का साम्प्रदायिक रूप मिलता है। 'अध्यात्म रामायण' और 'आनन्दरामायण' दोनों में एक ओर तो राम का अवतार-रूप दृष्टिगत होता है और दूसरी ओर उपास्य-रूप भी मिलता है। अवतार के रूप में राम विष्णु के अवतार हैं और उपास्य-रूप में वे अवतारी या ब्रह्म हैं। अतएव गोस्वामी तुलसीदास ने भी एक ओर तो राम के अवतार-चरित का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर उनके ब्रह्मत्व को स्थापित किया।

राम-अवतार

रामावतार के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राम आदि से अन्त तक मर्यादापालक राजाराम हैं। व्रज के लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के समान इनके अवतारत्व में कोई ऐसी लीला नहीं प्रतीत होती। संभवतः इसीसे गोस्वामी तुलसीदास ने इनकी गाथा को रामचरित के नाम से अभिहित किया है।

अवतार-हेतु

जहाँ राम केवल अवतार हैं, वहाँ वाल्मीकि से लेकर मध्यकालीन कवियों तक इनके अवतार का मुख्य हेतु भू-भार-हरण[1] है। परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' में वैदिक विष्णु का पक्ष प्रबल दीखता है। इसलिये वहाँ देव-शत्रुओं का वध मुख्य प्रयोजन विदित होता है।[2] भू-भार-हरण के साथ ही 'अध्यात्म रामायण' में भी देवशत्रु का नाश प्रबल हेतु है।[3] किन्तु गोस्वामी तुलसीदास तक पुराणों में भी अनेक हेतु और निमित्त बन चुके थे। इन्होंने अपने अवतारवाद में सबका एकत्रीकरण कर दिया है। वे कहते हैं: भगवान् मनुष्य तन, भगत, भूमि-भूसुर, सुरभि, सुर इन पर कृपा करने के लिये अवतार

---

१. तेहि अवसर भञ्जन महि भारा। हरि रघुवंश लीन्ह अवतारा॥ रा० मा० पृ० ३०

२. वधाय देव शत्रूणां नृणां लोके मनः कुरू। एवमुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदश पुंगव॥ वा० रा० १, १५, २६।

३. मानुषेण मृतिस्तस्य मया कल्याण कल्पिता।
अतस्त्वं मानुषी मूर्त्या जहि देव रिपुंप्रभो॥ अ० रा० १, २, २४।

धारण करते हैं।[१] फिर भी तुलसीदास में विष्णु के 'सुर-हित-नर-तनु धारी'[२] की अवहेलना नहीं की गई है।

अवतारवाद से उसका समन्वय और सामंजस्य

गोस्वामी जी का अवतारवाद एवं उसके प्रयोजन दोनों अपनी स्वाभाविक परम्परा के अनुसार समन्वयवाद के ही एक रूप माने जा सकते हैं। क्योंकि इन्होंने अपने उपास्य ब्रह्म राम में अवतार ग्रहण करने वाले विष्णु, क्षीरशायी, विष्णु, ब्रह्म और पांचरात्र पर विग्रह रूप का समाहार किया है। फलतः 'सुरहित नर-तनु-धारी' और 'श्री-पति-असुरारी' विष्णु राम के एक अंगमात्र रह गये हैं या उन्हीं में समाहित हो गये हैं।

विष्णु के अवतारी रूप से राम का उतना ही सम्बन्ध विदित होता है, जहाँ वे वैदिक कार्यों के लिये आविर्भूत होते हैं। वैदिक कार्यों से तात्पर्य यहाँ भू-भार-हरण, ताड़का से रावण तक देवशत्रु असुरों का संहार, वेद, ब्राह्मण और गौ रक्षा से है। इन अवतारी कार्यों का प्राचीनतम रूप वैदिक प्रतीत होता है।

किन्तु 'रामचरित मानस' में जिस क्षीरशायी के अवतरित होने की घोषणा होती है, वे 'वाल्मीकि रामायण' के विष्णु कदापि नहीं हैं[३]; अपितु परवर्ती पुराणों के क्षीरशायी विष्णु या नारायण हैं।[४] गोस्वामी जी ने क्षीरसिंधु-वासी विष्णु को भी रामावतार में ही समाहित किया है, क्योंकि नारद के शाप-वश क्षीरशायी विष्णु का अवतार होता है[५] तथा 'नाना चरित' के लिये कल्प-कल्प में ये अवतीर्ण होते हैं।[६] इस प्रकार विष्णु के साथ ही पौराणिक कल्पावतार का समावेश किया गया है। पौराणिक भगवान् के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने उपनिषदों (संभवतः शंकर) द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म

---

१. तु० ग्रं० खं० १ पृ० ९५ दा० ११३।
भगत, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जंजाल॥

२. रा० मा० पृ० ३१।

३. वा० रा० १, १५, १६ में देवों और ब्रह्म के परामर्श-स्थान में विष्णु स्वयं आते हैं
एतास्मिन्नन्तरे विष्णुरूपायतो महाद्युतिः।
शङ्खचक्र गदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥

४. रा० मा० 'पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥'
अ० रा० १, २, ७ में क्षीरशायी विष्णु निवेदित हैं।

५. रा० मा० बालकाण्ड में नारद प्रसंग। ६. रा० मा० पृ० ७४।

का भी अवतार माना है[1], जो अगुन, अरूप, अलख और अज होते हुए भी भक्त के प्रेमवश सगुण रूप धारण करता है।[2] यह निर्गुण ब्रह्म उनका उपास्य राम है जो निर्गुण और बिना नाम और रूप का होकर भी भक्त के लिये अनेक प्रकार का चरित्र करता है।[3] इन्होंने उस ब्रह्म का मायावादी सामंजस्य प्रस्तुत करते हुये 'माया मानुषरूपिणे रघुवरो'[4] ही नहीं कहा अपितु उसके चरित को भी नट के समान 'कपट चरित' की संज्ञा प्रदान की है तथा पुनः इसकी व्याख्या करते हुये कहा है कि जिस प्रकार नट अनेक प्रकार का रूप धारण कर अभिनय करता है, और वह जो-जो भाव प्रदर्शित करता है वह स्वतः उस भाव में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार राजा राम का चरित भी प्राकृत नर के अनुरूप है।[5] इस ब्रह्म के आविर्भाव में 'भगत हेतु' या 'प्रेम वस' जैसे प्रयोजनों के चलते उसके एकांगी होने की संभावना की जा सकती है।[6] परन्तु गोस्वामी जी ने 'निज इच्छा निर्मित तनु' कहकर[7] रामानुज आदि के द्वारा प्रयुक्त 'सोऽकामयत' या 'अवताराणां हेतुरिच्छा' के सदृश उसका निराकरण करने का प्रयास किया है। फिर भी उपास्य होने के कारण गोस्वामी जी का यह ब्रह्म एक प्रकार का उपयोगितावादी ब्रह्म है। यह पारमार्थिक होते हुए भी व्यावहारिक अधिक है। यह निरपेक्ष और तटस्थ होने की अपेक्षा सक्रिय भी है।

गोस्वामी जी ने पांचरात्र एवं रामानुज सम्प्रदाय में मान्य 'पर विग्रह' रूप से भी उपास्य राम को सम्बद्ध कर उसका अवतार माना है। यहाँ यह

---

१. प्रथम सो कारन कहहु विचारी, निर्गुन ब्रह्म सगुन वपु धारी। रा० मा० पृ० ६१।

२. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवस सगुन सो होई॥ रा० मा० पृ० ६३

३. व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥ रा० मा० पृ० १०५।

४. रा० मा० पृ० ३६१।

५. नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतन्त्र एक भगवाना॥ रा० मा० पृ० ४५४

६. भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
तथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावे आपुन होइ न सोइ॥ रा० मा० पृ० ५३१-५७२।

७. ब्र० सू० २, १, ३२ में ब्रह्म के लिए 'न प्रयोजनवत्वात्' का प्रयोग हुआ है और पुनः २, १, ३३ 'लोकवतु लीलाकैवल्यम्' के अनुसार उसके सभी कृत्यों को लीला मात्र माना गया है।

८. रा० मा० पृ० ३७४ निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। तत्वत्रय पृ० ११४ 'अवताराणां हेतुरिच्छा'।

बतला देना असंगत नहीं होगा कि परब्रह्मरूप, पांचरात्रों में मान्य उपास्य ईश्वर का प्रथम एवं चरम रूप है।[1] वह ईश्वर का अद्वितीय रूप है। उससे परे कुछ भी नहीं है। ब्रह्मवादियों का निर्गुण निराकार रूप भी उसका एक विशिष्ट रूप मात्र है।[2]

कौशल्या उस अद्भुत, अखंड रूप को देखती हैं जिसके प्रत्येक रोम में करोड़ों ब्रह्मांड हैं।[3] असंख्य, रवि, चन्द्रमा, शिव, ब्रह्मा, अनेकों पर्वत, सरितायें-समुद्र, पृथ्वी, वन उसमें स्थित हैं।[4] 'पर विग्रह' के ही सर्वआश्रयत्व तथा रुचि जनकत्व और शुभाश्रयत्व आदि गुणों का आरोप उपास्य राम पर भी हुआ है।[5] अतएव 'अनपायनी प्रेम भगति' के दाता राम अनामय, अनंत, अनघ, अनेक और एक होते हुये भी करुणामय हैं।[6] वे अन्तर्यामी[7] रूप में सर्वदा सभी के हृदय में निवास कर उसका पालन करते हैं।[8] काग भुसुंडी उनके उदर में करोड़ों ब्रह्मांड और अनन्त लोकों और लोकपालों का दर्शन करते हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में राम का अवतार देखते हैं।[9] पुनः मायापति कृपालु भगवान् राम को इनसे परे देखते हैं।[10] इस प्रकार उपास्य राम जहाँ अपनी सृष्टि से परे हैं और इष्टदेवात्मक गुणों से सम्पन्न हैं वहाँ एकेश्वरवादी तत्त्वों से युक्त उनका 'पर-रूप' ही साकार विदित है।

प्रयोजन समन्वय

प्रारम्भ से ही प्रयोजन अवतारवाद का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। मध्यकाल

---

१. पुराणों में भी सर्वत्र यह रूप गृहीत हुआ है।

२. आहि बुं सं० २।५३ 'सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्तं सर्वोपाधि विवर्जितम्।
षाड्गुण्य तत् परं ब्रह्म सर्व कारण कारणम्॥'

३. देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥ रा० मा० पृ० १०३।

४. अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
बहु गिरि सरित सिंधु महिमानन॥ रा० मा० पृ० १०३

५. तत्वत्रय-पृ० ९८ और ११८।
नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत शृङ्गारू धरि मूरति परम अनूप॥ रा० मा० पृ० १२१।

६. जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय॥ रा० मा० पृ० ५१३

७. जय निर्गुन जय जय गुण सागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर॥
रा० मा० पृ० ५१३।

८. तत्वत्रय पृ० ११६ अन्तर्यामित्वमन्तः प्रविश्य नियन्तृत्यम्।

९. रा० मा० पृ० ५१३ सर्व सर्वगत सर्वउरालय। वससि सदा हम कहु परिपालय।

१०. रा० मा० पृ० ५३४-५३५ प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा।

में निज इच्छा से आविर्भूत होकर लीला एवं चरित्र का विधान करने वाले भगवान् का समस्त कार्य-काल किसी न किसी प्रयोजन से संयुक्त रहा है। गोस्वामी जी ने मध्यकाल तक प्रचलित प्रायः सभी प्रयोजनों को समाविष्ट किया है।

इन प्रयोजनों में सर्वप्रथम वैदिक विष्णु और इन्द्र आदि देवताओं के प्राचीन कार्य मुख्य हैं, जिनको अवतारवाद के युग में विष्णु के अवतारों एवं उनके सहायकों पर आरोपित किया गया। विशेषकर भगत, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर[1] से वैदिक काल में विष्णु के सम्बन्ध का कुछ मंत्रों से अनुमान किया जा सकता है। भू से सम्बन्धित विष्णु का तीन पादों का क्रम बहुत प्रसिद्ध रहा है, जिसके चलते वे त्रिविक्रम कहे गये।[2] हिन्दी टीकाकारों के अनुसार कुछ मंत्रों में विष्णु जगत के रक्षक एवं समस्त धर्मों के धारक बतलाये गये हैं।[3] विष्णु के कार्यों के बल पर ही यजमान अपने व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। वे इन्द्र के उपयुक्त सखा हैं।[4] स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णु के उस परम पद से अपने हृदय को प्रकाशित करते हैं।[5] एक मंत्र में उन्मत श्रृंगवाली और शीघ्रगामी गायों के स्थान में जाने के लिये विष्णु की प्रार्थना की गई है।[6] इसी प्रकार एक मंत्र में देवताओं को विष्णु का अंश कहा गया है।[7] शम्बरासुर की ९९ दृढ़ पुरियों को नष्ट करने में विष्णु इन्द्र का साथ देते हैं।[8]

महाकाव्य काल में विष्णु का अवतारवाद से सम्बन्ध होने पर अवतारवाद का प्रमुख प्रयोजन देव-शत्रु का वध रहा।[9] किन्तु गोस्वामी जी के अनुसार

---

१. भगत भूमि भूसुर, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहि जंजाल॥ तु० ग्रं० पृ० ९५ दा० १२३
२. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णु विचक्रमे। पृथिव्याःसप्त धामाभिः। ऋ० १।२२।१६
३. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्। ऋ० १।२२।१८
४. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखाः। वही १।२२।१९
५. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवशंसः समिन्यते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। वही १।२२।२१
६. ता वां वास्तून्युशासि गमध्यै यत्र गावो भूरि श्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरूगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ वही १।१५४।६
७. अस्य देवस्य मीड्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृयेहविर्भिः।
विदे हि रुद्रों रुद्रियं महित्वं यासिष्टं वर्त्तिरश्विनाविरावत्॥ वही ७।४०।५
८. ऋ० ९, ९९, ५।
९. वधाय देव शत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु।
एवमुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः॥ वा० रा० १।१५।२५।

विप्र, धेनु, सुर, संत आदि सभी के निमित्त असुरों का बध एक मात्र प्रयोजन प्रतीत होता हैं।[1] 'गीता' के अवतारवादी प्रयोजन से भी स्पष्ट है कि असुरों का उत्थान धर्म के पतन का कारण है।

अतएव 'गीता' युग तक अवतारवाद का पूर्णतः सम्बन्ध धर्म से प्रतीत होता है। क्योंकि 'गीता' ४।७ के अनुसार धर्मोत्थान के लिये ही आविर्भाव की आवश्यकता होती है।[2] साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्मस्थान की यह आवश्यकता युग-युग में होती रहती है[3] वैदिक, महाकाव्य और 'गीता' के असुरों का अध्ययन करने पर, मूल में एक विदित होने पर भी क्रमशः इन पर साम्प्रदायिक रंग बढ़ता हुआ प्रतिबिम्बित होता है। उसी प्रकार वैदिक विष्णु भी श्रेष्ठ देवता से महान् और अन्त में उपास्य विष्णु के रूप में परिवर्तित दीख पड़ते हैं। अतएव विष्णु के उपास्य-रूप में गृहीत होने पर इनका सम्बन्ध भक्ति, भक्त और भाव से होता है, जिसके फलस्वरूप विष्णु या इनके अवतारों का अवतार या तो अहेतुक[4] होता है अथवा भक्तों के प्रेमवश[5] या भक्तिवश[6] होता है। अवतारवाद और भक्ति का समन्वय पुराणों में भरपूर मात्रा में हुआ। भक्ति-संवलित अवतारवादी प्रवृत्तियों में भी वेद, ब्राह्मण, देवता, पृथ्वी और गो-रक्षा आदि की भावनाएँ लुप्त नहीं हुईं, अपितु पुराणों में ये रूढ़िग्रस्त परम्परा के रूप में यथावत् सर्वत्र समान रूप से प्रचलित रहीं। फिर भी भक्त के निमित्त उनका अवतार अत्यधिक मात्रा में प्रचारित हुआ। विशेषकर भारत के सहस्रों तीर्थस्थानों में स्थापित असंख्य अर्चावतारों की पौराणिक कथाओं ने इनके प्रसार में विशेष सहायता पहुँचाई।

---

१. 'विप्र धेनु सुरसंत हित लीन्ह मनुज अवतार'।
अमुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जगविस्तारहिं विषद जस राम जन्म कर हेतु। रा० मा० पृ० ९९।

२. यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं।
गीता ४।७।

३. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता ४।८
जब जब होइ धरम की हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। रा० मा० पृ० ६६

४. हेतु रहित जग जगु उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। रा० मा० पृ० ५१९

५. हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना। वही पृ० ९५।

६. व्यापक विस्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥ रा० मा० पृ० ११

इस प्रकार एक ओर भक्ति अवतारवाद के प्रमुख प्रयोजनों में मान्य हुई और दूसरी ओर विष्णु और उनके रामकृष्णादि अवतार उपास्य-रूप में प्रचलित हुये। इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि विष्णु के परम्परागत विरोधी असुर, जिन्हें विष्णु ने कतिपय अवतारों में मारा था, वे उनके जय-विजय नाम के विष्णु-पार्षद एवं द्वारपालों के अवतार माने गये। 'भागवत' के अनुसार उनका अवतार सनकादि के शाप के कारण हुआ।[१] गोस्वामी जी ने इस पौराणिक प्रयोजन को अन्य प्रयोजनों में से एक माना है।[२]

'रामचरित मानस' में राम ही अवतारी हैं। इसलिये राम-जन्म के अनेक हेतुओं पर गोस्वामी जी ने विचार किया है।[३] उनके मतानुसार एक से एक विचित्र राम-जन्म के अनेक हेतु हैं।[४] इसी क्रम में सम्भवतः सर्वप्रथम हेतु के रूप में विप्र द्वारा शापित जय और विजय का उल्लेख उन्होंने किया है।[५] वे क्रमशः हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रूप में वराह और नृसिंह अवतारों द्वारा मारे गये। यहाँ कल्पानुसार अवतार-हेतुओं का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि वे ही असुरद्वय पुनः कुम्भकर्ण और रावण के रूप में आविर्भूत हुए।[६] इस कल्प में कश्यप और अदिति दशरथ और कौशल्या के अवतार बतलाये गये हैं।[७]

दूसरे कल्प का अवतार-निमित्त जलंधर और शिव का संग्राम माना गया है। उस कथा के अनुसार जलंधर की पत्नी के शापवश इन्होंने रामावतार धारण किया और जलंधर रावण के रूप में अवतीर्ण होकर इनके हाथों मारा गया।[८] एक दूसरे कल्प में नारद के शापवश रामावतार हुआ।[९] इस प्रकार गोस्वामी जी ने प्रत्येक कल्प में रामावतार का अस्तित्व माना है।[१०] फलतः इन कल्पों में विभिन्न प्रयोजनों की भी संभावना हो सकती है।

---

१. भा० ३, १५ में जय-विजय की कथा है।

२. द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥
बिप्रताप तें दूनों भाई। तामस असुर देह तिन पाई॥ रा० मा० पृ० ६६, १२२

३. राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका ॥ रा० मा० पृ० ६६।

४. रा० मा० पृ० ६६, १२२।   ५. रा० मा० पृ० ६६, १२२।

६. रा० मा० पृ० ६७।   ७. रा० मा० पृ० ६७।

८. रा० मा० पृ० ६७।

९. कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं ॥
रा० मा० पृ० ७४।

१०. भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥ तु० ग्रं० पृ० ९४ दो० ११३।

किन्तु मध्यकाल में लीला की अधिक व्याप्ति होने के कारण भक्तों के रंजन के निमित्त लीला और चरित भी एक प्रकार के प्रयोजन के रूप में मान्य हुये।[1] चूँकि राम उपास्य एवं इष्टदेव हैं, इसलिये अवतार-चरित में भवसागर से तारने वाले तत्त्वों को भी प्रयोजनात्मक मान्यता प्राप्त हुई।[2] अतएव इस युग में अवतार यदि उपास्य हुये तो प्रयोजन उनके पावन लीला-चरित के रूप में परिवर्तित हो गये, जिसके फलस्वरूप उनके विरोधी असुर भी हरि के विशिष्ट रूप हो गये और दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा।

तुलसीदास और अवतारवाद

उपास्य राम, अवतारी

मध्यकाल में कृष्ण के समान ही राम का उपास्य-रूप तुलसी एवं अन्य संतों के साहित्य में गृहीत हुआ है।

गोस्वामी जी ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि जो ब्रह्म व्यापक, विरज, अज, अकल, अनीह और अभेद है, जो वेदों द्वारा अज्ञेय है,[3] वही व्यापक ब्रह्म राम है, जो भक्तों के हित के लिए अवतरित हुआ है।[4] सदा धीर मुनियों से सेवित यह इनका इष्टदेव रघुवीर है।[5] वही राम अगुण, अरूप, अलख और अज होते हुये भी भक्त के प्रेमवश आकार धारण करता है।[6] वह चिन्मय, अविनाशी ब्रह्म राम सबसे परे होते हुये भी सबके हृदय में निवास करता है।[7] 'वेदों' में उसे नेति-नेति कहकर निरूपित किया गया है।[8] उसी राम के वाम भाग में आदि शक्ति, सीता, जिनसे असंख्य लक्ष्मी,

---

१. तु० ग्रं० पृ० ९४ दो० ११६।

२. हिरण्याक्ष भ्राता सहित, मधुकैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरे कृपासिंधु भगवान॥ तु० ग्रं० पृ० ९४ दो० ११५।

३. ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होई नर जाहि न जानत वेद॥ रा० मा० पृ० ३१ दो० ५०।

४. सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी॥ वही पृ० ३१।

५. सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ वही पृ० ३१।

६. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ वही पृ० ६३।

७. राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्व रहित सब उर पुरबासी॥ वही पृ० ६५।

८. नेति नेति जेहिं वेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि निरूपा॥ वही पृ० ७६।

उमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं, शोभित हैं।[1] अपने अंशों[2] के सहित तथा आदि शक्ति माया के साथ वही आविर्भूत हुआ है।[3] कौशल्या के अनुरोध पर वह शिशु-लीला करता है।[4] मायातीत और गुणातीत होने पर भी विप्र, धेनु, सुर और संतों के लिये अपनी इच्छा से मानव-रूप धारण करता है।[5] वह व्यापक ब्रह्म, निरंजन, निर्गुण एवं अज है। कौशल्या की गोद में प्रेम-भक्ति के कारण लक्षित हो रहा है।[6] उसके अखण्ड, अद्भुत रूप के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं।[7] सभी देवता उसके सामने भयभीत हाथ जोड़े खड़े हैं।[8] व्यापक, अकल, अनीह, अज, निर्गुण और बिना नाम-रूप का होते हुये भी भक्तों के निमित्त नाना प्रकार के चरित्र करता है।[9] कुटिल राजाओं को भयानक, असुरों को काल के समान, पुरवासियों को श्रेष्ठ पुरुष, स्त्रियों को उनकी रुचि के अनुसार, पण्डितों को विराट् रूप[10] में, योगियों को परम तत्त्वमय, शांत, शुद्ध, सम, सहज प्रकाश-स्वरूप तथा भक्तों को उनके इष्टदेव के सदृश दीख पड़ता है।[11] उसके सभी कर्म अमानुषिक हैं।[12] उस शुद्ध सच्चिदानन्द का चरित संसृति-सागर में सेतु के सदृश है।[13] राम ब्रह्म का पारमार्थिक रूप अविगत, अलख, अनादि और अनूप तथा सकल विकास और भेदों से रहित है।[14] वही भगत, भूमि, भूसुर, सुरभि के निमित्त मानव-शरीर धारण कर अनेक चरित करता है।[15] चिदानन्दमय देहयुक्त राम प्राकृत राजा के सदृश अनेक चरित करता है और कहता है।[16] आरत लोगों को यह करुणामय प्रतीत होता है।[17] विरज, व्यापक और

---

१. वाम भाग सोभति अनुकूला। आदि शक्ति शिव विधि जग मूला।
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ वही पृ० ७७

२. संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ वही पृ० ७६।

३. रा० मा० पृ० ७९ और पृ० ९६। ४. रा० मा० पृ० ९९।

५. रा० मा० पृ० ९९।

६. व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥ १९८ वही पृ० १०२।

७. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड॥ २०१ वही पृ० १०३।

८. रा० मा० पृ० १०३। ९. वही पृ० १०५।

१०. वही पृ० १२१।

११. हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥ वही पृ० १२२।

१२. सकल अमानुष करमु तुम्हारे। वही पृ० १७७। १३. वही पृ० २२०।

१४. रा० मा० पृ० २२२। १५. रा० मा० पृ० २२२।

१६. वही पृ० २३७। १७. वही पृ० २८६।

अविनाशी होते हुए भी वह सभी के हृदय में निरन्तर निवास करता है।[1] उसकी लीला रति नवधा भक्ति को दृढ़ बनाती है।[2] वह ध्यानातीत होकर भी मायामृग के पीछे दौड़ता है।[3] उसकी लीला परहित होते हुये भी हेतु रहित है।[4]

राम 'माया मानुष' रूप हैं।[5] इस अखिल भुवन पति ने विश्व को तारने के लिये[6] तथा धर्म के निमित्त[7] मानव शरीर ग्रहण किया है। सुर, पृथ्वी, गो और द्विज के लिये अपनी इच्छा से ये आविर्भूत हुए हैं।[8] इनके डर से काल भी डरता है।[9] ये मनुष्य का रंजन करते हैं, खलों को नष्ट करते हैं तथा वेद एवं धर्म के रक्षक हैं।[10]

अपने पूर्व अवतारों में इन्होंने मधुकैटभ और महावीर दितिसुत को मारा था तथा बलि को बाँधा और सहस्रभुज का संहार किया था। वही पृथ्वी का भार हरने के लिये अवतरित हुये हैं।[11] ये एक मात्र भगवान् सदा स्वतंत्र होते हुये भी नट के समान नाना प्रकार के चरित करते हैं।[12] पूर्वकाल में मीन, कमठ, सूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम रूप इन्होंने धारण किये हैं।[13] ये भक्तवत्सल और कृपालु हैं।[14] इन्होंने आविर्भूत होकर अखिल लोक के दारुण दुःख को जला दिया।[15] अतएव इसी सच्चिदानन्द घन राम ने[16] राजा राम का रूप भक्तों के निमित्त धारण किया है। नट जिस प्रकार अनेक वेष धारण कर अनेक प्रकार का नाटक करता है, वैसे ही प्राकृत नर के सदृश इन्होंने भी

---

१. वही पृ० ३३३। २. वही पृ० ३३७।
३. वही पृ० ३४५।
४. गावहिं सुनिहं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥ वही पृ० ३५७
५. माया मानुष रूपिणौ रघुवरौ। वही पृ० ३६१।
६. वही पृ० ३६२। ७. वही० पृ० ३६६ 'धर्महेतु अवतरेउ गोसाई'।
८. रा० मा० पृ० ३७४।
९. रा० मा० पृ० ३९२ 'जाके डर अति काल डेराइ'।
१०. वही पृ० ३९९ जन रञ्जन भञ्जन खल भ्राता। वेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता॥
११. अति बल मधुकैटभ जिन्ह मारे। महाबीर दिति सुत संघारे॥
जेहि बलि बांधि सहस भुजमारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥
रा० मा० पृ० ४१६।
१२. नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतन्त्र एक भगवाना॥ रा०मा० पृ० ४५४
१३. मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम वपु धरी। वही पृ० ४८१।
१४. भगत बछल कृपाल रघुराई। वही पृ० ५००। १५. वही पृ० ५०२।
१६. वही पृ० ५३० सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बलधामा।

अपने पावन चरित को प्रकट किया।[1] प्रत्येक ब्रह्माण्ड में राम का अवतार होता है। इनका बाल विनोद अपरम्पार है।[2] इनके उदर में नाना प्रकार के विश्व स्थित हैं।[3] ये करोड़ों ब्रह्मा के सदृश स्रष्टा हैं, करोड़ों विष्णु के सदृश पालक तथा करोड़ों रुद्र के सदृश संहर्त्ता हैं।[4] फिर भी ये सुख के निधान, करुणायतन भगवान् भाव के वश में हैं।[5]

उपर्युक्त उद्धरणों से उपास्य राम के 'अवतारी-रूप' और 'अवतार-रूप' दोनों स्पष्ट हैं। अवतारी-रूप में वे अद्वैत ब्रह्म राम हैं और अवतार-रूप में नटवत् चरित करने वाले प्राकृत रूप में राजा राम।

रामावतार (उत्तरकालीन)

गोस्वामी तुलसीदास के पश्चात् अवतारी राम का सम्बन्ध दो वर्गों के साहित्य से दीख पड़ता है। उनमें प्रथम तो इनका साम्प्रदायिक रूप है, जिसका रामभक्ति सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के समानान्तर विकास हुआ। दूसरा रूप रीतिकालीन परम्परा में आने वाले केशव, सेनापति आदि राजदरबारी कवियों की रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

रामभक्ति शाखा के परवर्ती कवियों में उपास्य राम का ही विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तुलसीदास में राम-चरित का यथेष्ट विस्तार हुआ वहाँ अग्रदास, नाभादास आदि कवियों में अर्चातत्त्व-युक्त राम के युगल-रूप का अधिक प्रचार हुआ। अर्चाविशिष्ट होने के कारण राम का यह रूप नित्य माना गया। श्री अग्रदास के एक पद में राम को भक्तवत्सल, जानकी-रमण तथा अयोध्या का नायक कहा गया है। ये करुणासिन्धु अल्प सेवा को भी मेरु के सदृश मानते हैं। ये गौतम की घरनी, गज-ग्राह को तारने वाले तथा सहायक विभीषण एवं कपियों के शरण-दाता हैं। इनके नित्य रूप की चर्चा करते हुए अग्रदास कहते हैं कि सन्तों की रक्षा के लिये ये रात-दिन धनुष-वाण लिये रहते हैं।[6]

---

१. भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ॥ वही पृ० ५३१।

२. रा० मा० पृ० ५३५ प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखी बालविनोद अपारा।

३. रा० मा० पृ० ५३६ राम उदर देखेउ जग नाना। ४. रा० मा० पृ० ५४१।

५. रा० मा० पृ० ५४१ भगत वस्य भगवान सुख निधान करुना भवन।

६. संतन की रक्षा के कारण निशिदिन लिए रहत कर शायक।
गौतम घरनि गज ग्राह, तारण शरण विभीषण कपि जो सहायक॥
सेवा अल्प मेरु सम मानत करुणा सिन्धु अयोध्या नायक।

तत्कालीन युग में श्रीकृष्ण के युगल रूप और उसकी अष्टयाम सेवा के सदृश राम-भक्ति शाखा में राम और जानकी युगल उपास्य के रूप में गृहीत हुये। लच्छन दास ने मिथिला में स्थित राम के युगल रूप का वर्णन अपने पदों में किया है।[1] नाभादास ने राम के नित्य युगल रूप की महत्ता बतलाते हुये कहा है कि यह नृप मंडली नित्य है और अवध अखंड विहार-भूमि है। नित्य प्रभु के सभी अवतार चारों ओर से इस प्रभु की सेवा करते हैं।[2] यह धाम जानकी-वल्लभलाल का जीवनधन है। वे समस्त गुणों के विश्राम-स्थल, द्वादश रस एवं अनेक प्रकार की लीलाओं से युक्त हैं।[3] सम्भवतः यह उनका ऐश्वर्य के अतिरिक्त माधुर्य रूप है जिसमें संयोग, वियोग, युगल-संधि, माधुर्य रति तथा नित्य दिव्य सुख-भोग की कल्पना की गई है।[4] कुंजविहारी श्रीकृष्ण के सदृश राम के कुंज-सुख का वर्णन भी नाभादास ने किया है।[5] अयोध्या भी वृंदावन के समान नित्य लीला-धाम है। अन्तर इतना ही है कि वृंदावन में कोई सुभट उसकी रखवाली नहीं करता किन्तु अयोध्या धाम की रक्षा बड़े-बड़े सेनापति करते हैं।[6]

राम के युगल रूप को लेकर सखी-भाव का विस्तार भी इस सम्प्रदाय में हुआ, जिसके फलस्वरूप अग्रदास आदि सहचरी-भाव से युगल रस में लीन माने गये।[7] इसके अतिरिक्त श्री किशोरी जी की क्रमशः श्रीप्रसादा, श्री चन्द्रकला,

---

शिव सनकादिक वेणुधर शारद शेष विमल यश गायक।।
जानकी रमण भक्तवत्सल हरि अग्रदास उर आनन्ददायक।
रागकल्पद्रुम १, पृ० ५३१ पद ६।

१. जानकीनंदिनी दशरथ नंदन जेंवत अति सुख पावत।
चहुं दिशि घेरे मिथिला पुर की नारि मधुर सुर गावत।।
आनन्द बढ्यो युगल छबि निरखत अति से प्रेम बढ़ावत।
वही १, पृ० ५४८ पद १४।

२. नित्य श्री नृप मंडली, अवध अखण्ड विहार।
जेहि सेवत चहुँ ओर नित, प्रभु के सब अवतार।। रामाष्टयाम पृ० १ दो० ३।

३. जानकी वल्लभ लाल को, जीवन धन यह धाम।
द्वादश रस लीला अमित, गुण समूह विश्राम।। रामाष्टयाम पृ० १ दो० ४।

४. कहुँ प्रकट ऐश्वर्य अति, कहुँ संयोग वियोग।
युगल संधि माधुर्य रति, नित्य दिव्य सुख भोग।। वही दो० ५।

५. युगल लाल प्रिय कुञ्ज सुख, नित नव विमल विहार।
पंचम भाव रति युगल मति, वर्णत लहत न पार।। वही पृ० १५।

६. वही पृ० ४ चौ०—द्वार द्वार सेनापति भारी। चहुँ दिशि करहिं सुभट रखवारी।।

७. वही पृ० ४७ दो० ५८
श्री कृष्णदास गुरु कृपाते, नित नव नेह नवीन।
अग्रनुमति सिय सहचरी, युगल रूप रसलीन।।

श्री मदनकला, श्री विश्वमोहिनी, श्री चंपकला, श्री रूपकला, श्री चंद्रावती जो आदि अष्ट सखियाँ मानी गईं तथा श्री लाल जी की भी क्रमशः श्री चारुशीला, श्री हेमा, श्री क्षेमा, श्री वरारोहा, श्री पद्मगंधा, श्री सुलोचना, श्री लक्ष्मणा, श्री सुभगा आदि अष्ट सखियाँ कही गई हैं। साथ ही लाल जी और किशोरी जी के माता-पिता आदि परिवार का भी वर्णन किया गया है।[1]

राम की सखियों का यह रूप अधिक परवर्ती विदित होता है। क्योंकि हितहरिवंश तथा हरिदास ने जिस काल में श्रीकृष्ण के इस रूप की अवतारणा की थी उस काल में राम-भक्ति शाखा में कोई ऐसी प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। राम के साम्प्रदायिक युगल रूप के अतिरिक्त राज दरबारी कवियों में भी रीतिकालीन परम्परा में वर्णित एक रूप मिलता है।

'रामचंद्रिका' में केशव ने पूर्ण ब्रह्म, अवतारी राम को अपना पात्र बनाया है। अतः राम पुराणों के पुरुष हैं।[2] वेदों में उन्हें नेति-नेति कहा गया है।[3] वे उपास्य राम अष्टसिद्धि भक्ति और मुक्ति के दाता हैं।[4] वे अवतारमणि, परब्रह्म और अवतारी हैं।[5] उनकी ज्योति से अखिल विश्व आलोकित है।[6] इन्होंने कैटभ, नरकासुर, मधु और मुर को मारा, उन्होंने ही बलि के सामने हाथ पसारा।[7] ये बड़े-बड़े दानियों के से स्वभाव वाले, शत्रुओं से दान लेने वाले और विष्णु के से स्वभाव वाले हैं। ये समस्त द्वीपों के राजा, गो और ब्राह्मणों के दास, देवताओं के पालक हैं।[8] ये अमल अनन्त अनादि देव हैं। वेद इनके सभी रहस्यों को खोलने में समर्थ नहीं हैं। ये सभी को, समान दृष्टि

---

१. रामाष्टयाम पृ० ४८।

२. रा० चं० ५ दीन पृ० ९३, ३ 'पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण'।

३. नेति नेति कहैं वेद छाड़ि आनि युक्त कौ। वही पृ० ३, ३।

४. रूप देहि अणिमाहि गुण देहि गरिमाहि।
भक्ति देहि महिमाहि नाम देहि मुक्ति को॥ वही पृ० ३, ३।

५. सोई पर ब्रह्म श्री राम हैं अवतारी अवतारमणि। वही पृ० ७, १७।

६. जात जाकी ज्योति जग एक रूप स्वछन्द।
रामचंद्र की चंद्रिका वर्णत हौं बहुछन्द॥ वही पृ० ९, २१।

७. कैटभ सो नरकासुर सो पल में मधु सो मुर सो जेइ मार्‌यो।
... ...
सो कर मांगन को बलि पै करतारहु को करतार निहार्‌यौ॥ वही पृ० ५५, १५।

८. दानिन के शील परदान के प्रहारी दिन, दानिवारि ज्यौं निदान देखिये सुभाव के।
आनन्द के कन्द सुरपालक से बालक ये, परदार प्रिय साधु मनवचकाय के।
दीप दीप हू के अवनीपन के अवनीप,
पृथु सम केसोदास दास द्विजराय के। वही पृ० ७६।

से देखते हैं। न तो इनका किसी से वैर है न प्रेम, फिर भी सभी भक्तों के निमित्त ये अवतीर्ण होते हैं।[1] ब्रह्मादि भी जिनका अंत नहीं पा सके। वेदों ने अनेक प्रकार से इनकी स्तुति की है। इस प्रकार वे राम केवल ब्रह्म हैं।[2] ये अधर्म का नाश करने वाले और धर्म के प्रचारक हैं। इन्होंने अपनी इच्छा से पृथ्वी पर देह धारण किया है। रावण को मार कर तपस्वियों को व्रतपालन की सुविधा प्रदान करना इनका कार्य माना गया है।[3] अनेक यज्ञों के फलस्वरूप इन्होंने अगस्त को दर्शन दिया है।[4] केशवदास ने इनको क्षीरशायी रूप से भी अभिहित किया है। अतः ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना सुनकर क्षीरशायी भगवान ने दशरथ-पुत्र के रूप में अपने अवतार की घोषणा की।[5] वेदों में पूर्णकाम गाये जाने पर भी तथा विश्व के कर्ता, पालक और हर्ता होने पर भी इन्होंने अत्यन्त कृपा करके मनुष्य-शरीर धारण किया है। ये देवताओं में श्रेष्ठ, राक्षसों के नाशक और मुनियों के रक्षक हैं।[6] पृथ्वी का भार हरने की इच्छा होने पर ये सीता को अग्नि में अपना शरीर रखकर छाया-शरीर धारण करने का परामर्श देते हैं।[7] केशवदास ने इनके एकेश्वरवादी रूप की चर्चा भी की है। अतः गरुड़, कुबेर, यम, राक्षस, देवता, दैत्य और राजा तथा अरबों इंद्र, खरबों शिव और करोड़ों सूर्य तथा चन्द्रमा अपने को रामचन्द्र जी का दास मानते हैं।[8] इनके 'नर-

---

१. तुम अमल अनन्त अनादि देव, नहिं वेद बखानत सकल भेव।
सबको समान नहिं वैर नेह, सब भक्तन कारन धरत देह॥
रा० चं० पू० दीन पृ० १२९।

२. अनेक ब्रह्मादि न अंत पायो। अनेकधा वेदन गीत गायो।
तिन्हें न रामानुज बन्धु जानो। सुनो सुधी केवल ब्रह्म मानो॥ वही पृ० १६९, ४०

३. निजेच्छया भूतल देह धारी। अधर्म संहारक धर्मचारी।
चले दशग्रीवहि मारिबे को। तपी व्रती केवल पारिबे को॥ वही पृ० १६९, ४०।

४. जाके निमित्त हम यक्ष यज्यो सु पायो।
ब्रह्माण्डमण्डन स्वरूप जु वेद गायो॥ पृ० १७४, ११।

५. ब्रह्मादि देव जब विनय कीन। तट क्षीर सिंधु के परम दीन।
तुम कह्यौ देव अवतरहु जाय। सुत ह्वौं दशरथ को होब आय॥ वही पृ० १७५,१३।

६. यद्यपि जग करता पालक हरता, परिपूरण वेदन गाये।
अति तदपि कृपा करि, मानुषवपु धरि, थल पूछन हमसों आये॥
सुनि सुरवर नायक, राक्षस घायक, रसहु मुनिजन जस लीजै। वही पृ० १७६, १५।

७. वही पृ० १९१, १२।

८. पच्छिराज जच्छराज प्रेतराज जातुधान। देवता अदेवता नृ देवता जितेजदान।
पर्वतारि अर्ब खर्ब सर्व सर्वथा बखानि। कोटि कोटि सूर चन्द्र रामचन्द्र दास मानि।
वही पृ० १९२–१९३, १७।

इव लीला' की चर्चा करते हुए कहा गया है कि श्री रघुनाथ जी, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ होने पर भी मनुष्य की-सी लीला करके मूढ़ों को मोहित कर लेते हैं।[1] इन्हें कतिपय स्थलों पर यज्ञ पुरुष, नारायण इत्यादि से अभिहित किया गया है।[2] वे सदा शुद्ध, समदर्शी, करुणानिधान, विश्व के आदि, मध्य और अवसान होकर भी अनेक रूप धारण कर विश्व को मोहित करते हैं।[3]

ये ही कृष्णावतार में बालि-अवतार जरा नामक व्याध के बाण से मारे गये थे।[4] ये सदा अन्तर्यामी, चतुर्दश लोकों के आनन्ददाता तथा निर्गुण और सगुण स्वरूप हैं।[5] इसके अतिरिक्त केशवदास ने राम को गुणावतारों और दशावतारों से भी अभिहित किया है।[6] इनके विष्णु रूप में विश्व-रूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ये विश्व-स्वरूप हैं और अखिल विश्व इन्हीं में वर्तमान है। विश्व की मर्यादा के भंग होने पर इनका अवतार होता है।[7] ये विश्व-रहस्य के ज्ञाता आदि देव हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, शंभु, रवि, चंद्रमा, अग्नि इत्यादि देवता इनके अंशावतार हैं।[8] ये रघुपति ब्रह्मा से लेकर परमाणु तक सभी के अंत, अज और अनंत हैं।[9] उक्त उद्धरणों से केशव के उपास्य एवं अवतारी ब्रह्म राम तुलसीदास के राम से भिन्न नहीं प्रतीत होते। प्रायः राम के ब्रह्म और उपास्य सम्बन्धी

---

१. यद्यपि श्री रघुनाथ जू, सम सर्वंग सर्वज्ञ।
नर कैसो लीला करत, जेहि मोहत सब अज्ञ॥ वही पृ० १९७, २६।

२. मेघ यज्ञ पुरुष अति प्रीति मानि। वही पृ० २०३, ४५।
जब कपि राजा रघुपति देखे। मन नर नारायण सम लेखे। पृ० २०६, ५२।

३. जग आदि मध्य अवसान एक, जग मोहत हो वपु धरि अनेक।
तुम सदा शुद्ध सबको समान, केहि हेतु हत्यो करुणानिधान॥ वही पृ० २११, ३।

४. सुनि बासव सुत बल बुधि निधान। मैं शरणागत हित हते प्रान।
यह सांटो ले कृष्णावतार। तब है हो तुम संसार पार॥ वही पृ० २१२, ४।

५. राम सदा तुम अन्तरयामी। लोक चतुर्दश के अभिरामी।
निर्गुण एक तुम्हें जग जानै। एक सदा गुणावंत बखाने॥ वही पृ० ३५९, १५।

६. वही पृ० ३५९–३६०, १७–२४।

७. तुम ही जग हो जग है तुमही में, तुमही विरयो मरजाद दुनी में॥
मरजादहि छोड़त जानत जाको, तुम ही अवतार धरो तुम ताको॥
वही पृ० ३६०, १९।

८. कह कुशल कहीं तुम आदि देव। सब जानत हो संसार भेव।
विधि विष्णु शम्भु रवि ससि उदार। सब पावकादि अंशावतार॥
रा० चं० पू० दी० पृ० ३७४, ५४।

९. ब्रह्मादि सकल परमाणु अन्त। तुम ही रघुपति अज अनन्त॥ वही पृ० ३७४, ५५

जितने उपादानों का प्रयोग गोस्वामी जी में मिलता है, केशवदास ने भी उनका अत्यधिक उपयोग किया है। इस प्रकार केशव और तुलसी राजदरबार और ठाकुर दरबार के या दो स्कूलों के होते हुये भी राम के अवतारत्व की दृष्टि से अभिन्न प्रतीत होते हैं। 'रामचंद्रिका' के 'उत्तरार्द्ध' में केशव ने तुलसीदास के इस सिद्धान्त से सहमति प्रकट की है कि निर्गुण ही सगुण हो जाता है।[1] अतएव साकार राम के निर्गुण रूप की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि जिसको न रूप है, न रेख, न गुण, जो न वेदों में ज्ञेय है, न गाथाओं में वही रघुनाथ रंगमहल में राजश्री (दीन जी के अनुसार सीता जी की एक सखी) के साथ है।[2] इस प्रकार तुलसीदास के पश्चात् आने वाली रीतिकालीन परम्परा में भी राम अवतार मात्र न होकर उपास्य ब्रह्म एवं अवतारी रूप में गृहीत हुए। इस युग के अंतिम चरण के कवि श्री सेनापति ने राम को कतिपय स्थलों पर पूर्णावतार से संबोधित करते हुये भी उपास्य और अवतारी रूप को यथोचित स्थान दिया है। 'कवित्त रत्नाकर' के प्रारम्भ में इनके उपास्य-रूप का परिचय देते हुये कहा गया है कि सर्वत्र जिसकी ज्योति व्याप्त है, वेदों, इतिहासों और पुराणों में जिनका गुण गाया गया है[3], वह ध्यानातीत और अनेक ब्रह्माण्डों का स्वामी राम सर्वदा शरणदाता है।[4] देवताओं ने पृथ्वी का भार उतारने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप लोकपति ने मनुष्य शरीर धारण किया।[5] 'चौथी तरंग' के 'रामायण-वर्णन' में देव-दुख-दंडन, भरत-

---

१. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवश सगुन सो होई॥ वही पृ० ६६, ११६

२. जाके रूप न रेख गुण, जानत वेद न गाथ।
रंगमहल रघुनाथ जे, राजश्री के साथ॥ वही पृ० १३३, ४५।

३. तेज पुञ्ज रूरौ, चंद सुरौ न समान जाके, पूरौ अवतार भयौ पूरन पुरुष कौ।
कवित्त रत्नाकर, पृ० ७६, ४ तरंग क ७।

४. परम जोति जाकी अनंत, रमि रही निरंतर।
आदि, मध्य अरु अंत, गगन, दस दिसि बहिरंतर॥
गुण पुरान इतिहास, वेद बंदीजन गावत।
धरत ध्यान अनवरत पार ब्रह्मादि न पावत॥
सेनापति आनन्दघन, रिद्धि-सिद्धि मंगल करन।
नाइक अनेक ब्रह्माण्ड कौं, एक राम संतत सरन॥
कवित्त रत्नाकर पृ० १, १, तरंग १।

५. देवन उपाइ कीनों यहे भौ उतारन को।
बिसद बरन जाकी सुधा सम बानीहै॥
भवपति रूप देह धारी पुत्र सील हरि।
आई सुरपुर तैं धरनि सियरानी है॥ वही पृ० १८ तरंग ५५।

सिर-मंडन और अघ-खंडन रघुराई की वंदना से राम का उपास्य रूप अधिक स्पष्ट होता है।[1]

इनकी रचनाओं के अनुसार राम, महावीर, धीर, धर्म-धुरंधर सारंग धनुष धारण करने वाले, दानवों के दल को नष्ट करने वाले, कलि-मल का मंथन करने वाले और देव, द्विज और दीनों के दुख को दलने वाले पूर्ण पुरुष के पूर्ण अवतार हैं।[2]

ये परम कृपालु, दिग्पालों के रक्षक, पाताल और स्वर्ग के विशाल आधार-स्तम्भ हैं। ये परम उदार, पृथ्वी का भार हरण करने वाले और मनोकामना के अनुसार पूजा ग्रहण करने वाले हैं।[3] सेनापति ने जामवंत की प्रासंगिक कथा के आधार पर सभी अवतारों में राम को ही सर्वगुण-सम्पन्न सिद्ध किया है। जामवंत ने बलि को दलते हुये वामन की परिक्रमा की, तत्पश्चात् परशुराम का दर्शन किया, राम के अनुचर हुए, कृष्ण को जामवंती प्रदान की और अन्य अवतारों से मिलने के पश्चात् सियकंत का ही सेवक होना उचित समझा। इस प्रकार सभी अवतारों में राजा राम ही गुण-धाम कह कर गाये गये।[4] इन्होंने अपने उपास्य राम को जीव, जगत का स्रष्टा, विश्वरूप प्रदर्शक, निराकार, निराधार, सर्वव्यापी, तीनों लोकों का आधार पूर्ण पुरुष और हृषीकेश आदि परब्रह्म के रूपों से अभिहित किया है।[5] साथ ही प्रह्लाद

---

१. वही पृ० ७४ चौथा तरग क० १।

२. बीर महाबली, धीर, धरम धुरंधर है धरा में धरैया एक सारंग धनुष कौ॥
दानी दल मलन, मथन कलि मलन कौ, दलन है देव द्विज दीनन के दुख कौ।
तेज पुंज रूरौ, चंद मूरो न समान जाके, पूरौ अवतार भयो पूरन पुरुष कौ॥
वही पृ० ७५-७६ चौथी तरंग क० ७।

३. परमकृपाल, दिगपालन के रछिपाल, थंभ है बिसाल जे पाताल देव धाम के।
दीरघ उदार भुवभार के हरन हार, पुज बन हार सेनापति मन काम के॥
कवित्त रत्नाकर पृ० ७६ ४ तरंग क० १०।

४. कीनी परिकरमा छलत बलि वामन की, पीछे जामदग्नि कौ दरसन पायौ है।
पाइक भयौ है, लंक नाइक, दलन हू कौ। देकै जामवंती भलो कान्ह कौ मनायौ है।
ऐसे मिलि औरों अवतारन को जामवंत। अतिसिय-कंत ही कौ सेवक कहायौ है।
सेनापति जानी यातें सब अवतारन में। एक राजा राम गुन-धाम करि गायौ है।
वही पृ० ९४-९५ तरंग क० ७०।

५. दे कै जिन जीवज्ञान, प्रान, तन, मन, मति जगत दिखायो जाकी रचना अपार है।
छगन सों देखै, विश्वरूप है अनूप जाकौं, बुद्धि सों बिचारे निराकार निराधार है।
जाकौं अध-ऊरध, गगन, दस दिसी, उर, व्यापि रह्यौ तेज, तीनि लोक को अधार है।
पूरन पुरुष, हृषीकेसगुन-धाम राम, सेनापति ताहि बिनवत बार बार है।
वहीं पृ० ९७ पांचवीं तरंग १।

एवं गज-ग्राह इत्यादि को उद्धारने वाले तथा केशव, सूर्य, चंद्र और पवन इत्यादि देवों द्वारा सेवित, पर रूप से अभिहित, रघुवीर से अपना दुख निवेदन किया है।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में तुलसी और केशव की परम्परा में आने वाले अवतारी और अवतार से भी परे उपास्य या इष्टदेव राम की स्पष्ट झांकी मिलती है। सेनापति ने इष्टदेव राम की परम्परा में गृहीत हुये एकेश्वरवादी एवं ब्रह्म रूप से अभिहित करने वाले उपादानों का सहारा लिया है।

अतएव आलोच्यकाल में राम के अवतारत्व से सम्पृक्त उनके उपास्य रूप का पर्याप्त प्रचार स्पष्ट विदित होता है।

इस युग में राम के जिन दो रूपों की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है, उनमें तुलसी के निकट केशव और सेनापति का रूप लक्षित होता है। क्योंकि नाभादास आदि साम्प्रदायिक कवियों में श्रीकृष्ण की युगल उपासना का प्रभाव होने के कारण राम का साम्प्रदायिक रूप कुछ अन्तर्मुखी होकर रसोपासक सम्प्रदायों में केवल युगल रूप तक सीमित रह गया। जिसका परवर्ती काल में अत्यधिक विस्तार हुआ।

---

१. पाल्यौ प्रह्लाद, गज ग्राह तै उबारयो जिन,
जाकौ नाभि-कमल, विधाता हूँ कौं भौन है।
ध्यावै सनकादि, जाहि गावै वेद-बंदी, सदा,
सेवा के रिझावै सेस, रबि, ससि पौन है।
ऐसे रघुबीर कों अधीर है सुनावो पीर,
बंधु भीर आगे सेनापति भलो मौन है।
कवित्त रत्नाकर पृ० ६७-६८ पांचवीं तरंग क० ३।

ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण

ऐतिहासिक

प्राचीन साहित्य में व्याप्त श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को देखते हुये उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मान लेने में कोई संदेह नहीं होता। किन्तु वैदिक साहित्य से लेकर 'भागवत' तक मिलते हुये कतिपय कृष्णों का स्वरूप एक श्रीकृष्ण में जिस प्रकार समाविष्ट हुआ; यह आज भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। फिर भी जहाँ तक कृष्ण नाम के व्यक्ति का प्रश्न है, विविध कृष्णों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में हुआ है।

वैदिक साहित्य में ऋ० के 'आठवें मंडल' ७४वें सूक्त के कर्त्ता के लिये कृष्ण आंगिरस ऋषि का नाम आया है।[1] पुनः 'कौषीतकी ब्राह्मण' ३०, ९, में भी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख हुआ है। 'छान्दोग्योपनिषद्' ३, १७, ६ में कृष्ण, देवकी के पुत्र और आंगिरस के शिष्य बतलाये गये हैं। डा० भंडारकर ने 'पाणिनि अष्टाध्यायी' ५४, १, ९९ गणपाठ में प्रयुक्त 'कृष्ण' और 'रण' शब्दों के आधार पर इनका सम्बन्ध कृष्णायन गोत्र से माना है।[2]

इसके अतिरिक्त ऋ० १, १३०, ८ में इन्द्र द्वारा मारे गये एक कृष्णासुर की चर्चा हुई है। ऋ० २, २०, ७ और ऋ० ८, २५, १३ में भी इन्द्र और कृष्णासुर के संघर्ष का उल्लेख हुआ है। डा० राधाकृष्णन् ने इस कृष्ण को उस दल का दैवीकृत वीर पुरुष माना है।[3] 'विष्णु पुराण' ५, ३० और 'भागवत पुराण' १०, २५ में क्रमशः इन्द्र से युद्ध और इन्द्र-पूजा का विरोध देखकर उक्त कृष्ण को तत्कालीन कृष्ण से अभिहित करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही पंचपति की प्रथा मानने वाले पांडवों की सहायता के कारण भी कृष्ण को आर्येतर समझा गया है।[4]

---

१. भण्डारकर कौलेक्टेड वर्क्स में संकलित वै० शै० पृ० १५ तथा ऋ० में कृष्ण आंगिरस ऋ० ८, ८५, ८६ और ८७ सूक्तों के कर्त्ता हैं।

२. भण्डारकर कौ० व० पृ० १५।

३. इण्डियन फिलौसोफी, राधाकृष्णन जी० १ पृ० ८७।

४. हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म : (इलियट) जी० २ (१९५४) पृ० १५५।

शब्द साम्य की दृष्टि से ऋ० वे० में कृष्ण और अर्जुन[1] तथा 'अथर्ववेद' में राम और कृष्ण[2] का उल्लेख मिलता है। किन्तु इनकी ऐतिहासिकता पर संभवतः अर्थवैषम्य के कारण विद्वानों ने विचार नहीं किया है। जे० गोंद ने भाष्यकारों के आधार पर ऊपर वाले कृष्ण-अर्जुन का तात्पर्य रात और दिन से माना है।[3]

उपर्युक्त तथ्यों से वैदिक साहित्य में कृष्ण नाम के व्यक्ति का अस्तित्व निसंदिग्ध है। इन कथनों में मुख्य रूप से तीन प्रकार के कृष्ण विदित होते हैं। प्रथम तो हैं, वे कृष्ण जिन्हें कृष्ण आंगिरस कहा गया है। दूसरे कृष्ण कृष्णासुर के रूप में आर्येतर संस्कृति से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। भागवत कृष्ण के सदृश इन्द्र से इनकी शत्रुता और युद्ध के उल्लेख से स्पष्ट है कि किसी न किसी न रूप में भागवत कृष्ण से इनका भी यत्किंचित सम्बन्ध रहा है। तीसरे कृष्ण का उल्लेख अर्जुन के साथ मिलता है। 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रंथ में भी अर्जुन और कृष्ण का यह साहचर्य प्रसिद्ध रहा है। अतः आलोच्य अर्जुन और कृष्ण का सम्बन्ध 'महाभारत' के अर्जुन-कृष्ण से माना जा सकता है।

इनमें प्रथम कृष्ण आंगिरस का सम्बन्ध 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रसंगों के आधार पर विद्वानों ने गीता-कृष्ण से स्थापित किया है। क्योंकि 'छान्दोग्य' के बहुत से उपदेश 'गीता' के श्लोकों से पर्याप्त साम्य रखते हैं।

इन तीनों कृष्णों के अध्ययन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कालान्तर में पौराणिक पद्धति से इनके एकीकरण का प्रयत्न किया गया होगा।

वासुदेव-कृष्ण

किन्तु महाभारत के नायक वासुदेव-कृष्ण के वासुदेव से सम्बन्ध का अनुमान छा० ३, १७, ६ में कहे गये देवकी-पुत्र, कृष्ण से किया जा सकता है। यद्यपि भंडारकर ने कृष्ण-वासुदेव से सम्बन्ध का प्रबल आधार जातकों को माना है। उनके मतानुसार वासुदेव कृष्णायन गोत्र में उत्पन्न हुये थे। अतः वे कृष्ण भी कहे जा सकते थे।[4] जो हो अष्टाध्यायी ४, ३, ९८ में प्रयुक्त 'वासुदेवा-

---

१. ऋ० ६, ९, १ 'अहश्य कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः'।

२. अथर्व सं० १, २३, १ 'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।'

३. ऐस्पेक्ट्स आफ अर्ली वैष्णविज्म (सं० १९५४) पृ० १५९।

४. भण्डारकर कौ० जी० ४ पृ० १६।

र्जुनाभ्यां वुन' से केवल वासुदेव-भक्ति का ही नहीं[1] अपितु कृष्ण वासुदेव में सम्बन्ध का भी भान होता है। क्योंकि 'गीता' में कृष्ण ने अपने को वृष्णियों में वासुदेव और पांडवों में धनंजय। (अर्जुन) कहा है।[2] वासुदेव-कृष्ण 'महाभारत' के प्रमुख नायक हैं पर प्रचलित 'महाभारत' में इन्हें नारायण या विष्णु का अवतार माना गया है।[3] तै० आ० १, १, ६ एवं महा० ना० उ० ४, १६ में वासुदेव, नारायण, विष्णु एक साथ प्रयुक्त हुये हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण के एकीकरण के साथ-साथ वासुदेव, नारायण और विष्णु के भी एक ही पर्याय के रूप में साम्प्रदायिक समन्वय के प्रयत्न हो रहे थे।

प्रारम्भिक 'महाभारत' में इन्हें कुछ विद्वानों ने केवल मानव मात्र माना है।[4] उनके मतानुसार बाद में चलकर कृष्ण को दैवी रूप प्रदान किया गया। परन्तु कीथ के अनुसार 'महाभारत' में वे सदा ईश्वर माने गये हैं।[5] इस प्रकार महाभारत-कृष्ण के देवत्व को लेकर विचारकों में पर्याप्त मतभेद रहा है।

साम्प्रदायिक

फिर भी अनेक विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि कम से कम ई० सन् की चौथी या पाँचवीं शती पूर्व ही श्रीकृष्ण वासुदेव देवता के ही रूप में नहीं मान्य थे अपितु इनसे सम्बद्ध कोई भक्ति सम्प्रदाय भी प्रचलित था। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'अष्टाध्यायी' ४, ३, ९८ में प्रयुक्त वासुदेव और अर्जुन के रूप में भक्ति का संकेत माना है।[6] क्योंकि पतंजलि के अनुसार वासुदेव केवल क्षत्रिय का ही नाम नहीं है अपितु कृष्ण का व्यक्तिगत नाम है, जिनके भक्त वासुदेवक कहे जाते थे।[7] पतंजलि में 'वलि बंधन' और 'कंसवध' इत्यादि नाटकों के अभिनय का उल्लेख मिलता है।[8] इससे दूसरी शती ईसा पूर्व विष्णु और कृष्णकी अवतार-कथाओं के प्रचार का पता चलता है। डा० अग्रवाल ने पतंजलि के भाष्यों में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर कृष्ण के 'व्यूह रूप' तथा केशव और राम के मंदिर का

---

१. इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि, वासुदेव शरण अग्रवाल पृ० ३५८।

२. गीता १०, ३७।

३. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।
और महा० १, ६७, १५१।

४. १, आ० ला० रे० लि० फर्कुहर पृ० ४८।

५. आ० ला० रे० लि० फर्कुहर पृ० ४९ में प्रस्तुत कीथ का मत।

६. इडिया ऐज नोन टू पाणिनि पृ० ३५८। ७. वही पृ० ३५९।

८. वही पृ० ३५९।

उल्लेख किया है ।[1] 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' १४, ३ में डा० अग्रवाल के अनुसार कृष्ण और कंस-कथा का उल्लेख तो है ही ११, १२ में अपराजिता विष्णु के मंदिर का भी पता चलता है ।[2]

ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ (ई० पू० चौथी शती) ने शौरसेन प्रदेश में हैरेक्लिस (कृष्ण) की पूजा और वहाँ के प्रसिद्ध मेथोरा (मथुरा) और क्लेसोबोरा (कृष्णपुर) नाम के दो शहरों का उल्लेख किया है ।[3]

बौद्धों के 'घट जातक' में उपसागर और देवगम्भ के दो बड़े पुत्रों का नाम बलदेव और वासुदेव बतलाया गया है ।[4] जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' उपदेश २२ में वासुदेव, क्षत्रिय राजकुमार का और 'द्वादश उपांग' में कृष्णवंशी कृष्ण वासुदेव का उल्लेख हुआ है ।[5] परन्तु जैनों और बौद्धों के उक्त उल्लेखों से कृष्ण के साम्प्रदायिक रूप का स्पष्टीकरण नहीं होता ।

फिर भी ई० पू० दूसरी शती के बेसनगर के शिलालेखों में श्रीकृष्ण के भागवत धर्म का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । अपने को भागवत कहने वाले ग्रीकराज हेलियोडोरा ने देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़-स्तम्भ का निर्माण कराया था । वहाँ के शिलालेखों से उसके भागवत होने का पूर्णतः पता चलता है । श्रीराय चौधरी के अनुसार उस शिलालेख के बहुत से तथ्य 'छान्दोग्य' के घोर आंगिरस एवं 'गीता' के कथनों से साम्य रखते हैं ।[6]

इसके अतिरिक्त ई० पू० के गोसुंडी और नानघाट गुफा के शिलालेखों से संकर्षण और वासुदेव की पूजा का पता चलता है ।[7]

उक्त उद्धरणों के आधार पर ४ थी शती ई० पू० से ही कृष्ण के पूज्य रूप एवं साम्प्रदायिक विकास का अनुमान किया जा सकता है । साथ ही राय चौधरी की मान्यता के अनुसार 'छान्दोग्य', 'गीता' और बेसनानगर के शिला-लेखों के साम्य पर विचार करते हुये यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं शती ई० पू० से लेकर ई० पू० तक जिस कृष्ण और उनके धर्म का प्रचार हो चुका था, वे कृष्ण महाभारत के नेता वासुदेव कृष्ण ही थे ।

फिर भी वैदिक कृष्ण, उपनिषद्-कृष्ण, महाभारत-कृष्ण, द्वारका-कृष्ण,

---

१. वही पृ० ३६० । २. वही पृ० ३६० ।
३. भण्डारकर कौ० वर्क्स जी० ४ पृ० १३ ।
४. भण्डारकर कौ० वर्क्स जी० पृ० ४ ।
५. ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश जी० १ पृ० ११३ ।
६. अर्ली हिस्ट्री औफ वैष्णव सेक्ट (राय चौधरी) पृ० ५९, ६० और वैष्णविज्म पृ० ६
७. वैष्णविज्म, १९५६ सं० पृ० ७-८ ।

गीता-कृष्ण और गोकुल-कृष्ण, के ऐक्य की समस्या एक स्वतंत्र अन्वेषण की अपेक्षा रखती है। जहाँ तक 'महाभारत' और द्वारकाकृष्ण के ऐक्य का प्रश्न है श्री पुसलकर ने पर्याप्त विचार और विमर्श के पश्चात् 'महाभारत' और द्वारका कृष्ण को एक ही माना है।[1]

गोपाल कृष्ण

वृष्णि वंशी वासुदेव कृष्ण और उनके धर्म के प्राचीन उल्लेखों के होते हुए भी मध्यकाल में जिस गोपाल कृष्ण का और राधाकृष्ण का तत्कालीन श्रीकृष्ण सम्प्रदायों से सम्बन्ध दिखाई पड़ता है, उनका वासुदेव कृष्ण से क्या सम्बन्ध है; इस पर प्रायः विचारकों में मतभेद रहा है। मतभेद का मुख्य कारण संभवतः वासुदेव कृष्ण और गोपाल कृष्ण के प्राचीनतम सबन्धों का अभाव है।[2] विशेषकर 'महाभारत' में आये हुये श्रीकृष्ण का ब्रज से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता।[3]

कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य में, वृष्णि, राधा, ब्रज, गोप, रोहिणी, जैसे तत्सम्बन्धी उपादानों को खोजने का प्रयत्न किया है।[4] श्री राय चौधरी के मतानुसार ऋ० ५, ५२, १७ के अनुसार यमुना तट गो के लिये प्रसिद्ध रहा है। साथ ही तै० ३, ११, ९, ३ और 'जैमिनीय ब्राह्मण' १, ६, १ में 'गोपाल वार्ष्णेय' नाम के एक शिक्षक का उल्लेख हुआ है।[5] इन्होंने ऋ० १, २२, १८ में प्रयुक्त 'विष्णुरगोपः' के साथ गोविंद, गोपाल, गोपेन्द्र के सम्बन्ध-विकास का अनुमान किया है। क्योंकि ऋ० १, १५४, ६ में[6] विष्णु का अंतिम पद उस स्थान में निवास करता है जहाँ सींगवाली और भागने वाली गायें रहती हैं। 'बौद्रायन धर्म सूत्र' ११, ५, २४ में विष्णु को गोविंद दामोदर

---

१. दी ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश जी० १ पृ० ११६ में उद्धृत इनका मत।

२. भण्डारकर कौ० व० जी० ४ पृ० ४९।

३. यद्यपि महा० २, ६८, ४१ में 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपजन प्रिय' जैसे उल्लेख मिलते हैं किन्तु श्री शुकथंकर द्वारा सम्पादित 'महाभारत' में यह अंश मूल में न होकर परवर्ती अंशों में दिया गया है।

४. 'वृष्णः' ऋ० १, १५४, ६, 'राधानां पतेः' ऋ० १, ३०, ५, 'गवामय ब्रजं वृद्धि कृष्णुष्व राधो अद्रिवः' ऋ० १, १०, ७, 'दास पत्नी अहि गोपा अतिष्टतः' ऋ० १, ३२, ११ त नृवक्षा वृषभानु पूर्वी कृष्णस्वाम्ने अरुणो विभाहि, अथर्व ३, १५, ३ 'कृष्णासु रोहिणीषु' ऋ० ८, ९३, १३।

५. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सेक्ट पृ० २८।

६. ऋ० १, १५४, ६ में आत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परां पदमवभाति भूरि।

कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त 'महाभारत' १२, ३४२, ७० में वासुदेव अपने अपने को गोविंद कहते हैं।[2] गी० १, ३२ और २, ९ में 'गोविंद' नाम आया है।

उपर्युक्त उपादानों से केवल कुछ नामों के अस्तित्व तथा विष्णु से इनके सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है। इनसे 'कृष्ण-गोपाल' और 'कृष्ण-वासुदेव' का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। राय चौधरी के कथनानुसार कृष्ण-गोपाल की कल्पना यद्यपि वैदिक काल से ली गई है, फिर भी इसके विकास में आभीर जातियों का योग है।[3] भंडारकर ने 'गोविंद' शब्द के भिन्न अर्थ के कारण गोपाल-कृष्ण का अस्तित्व ई० सन् के पूर्व होने में संदेह किया है।[4] किन्तु डा० पुसलकर ने पौराणिक कथाओं के पर्याप्त विश्लेषण के पश्चात् गोपाल-कृष्ण और वासुदेव-कृष्ण को एक प्रमाणित किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत कृष्ण की ऐतिहासिक कथा का सारांश इस प्रकार है। 'कृष्ण का जन्म तो हुआ मथुरा में परन्तु ये गोकुल में नंद-यशोदा के द्वारा पाले गये थे। उनकी प्रायः सभी लीलायें ११ वर्ष के पूर्व ही होती हैं।[5] अतः उम्र और सामाजिक जीवन की दृष्टि से इनमें कुछ असंभव नहीं प्रतीत होता। इसमें संदेह नहीं कि 'हरिवंश', 'विष्णु' और 'भागवत' की कृष्ण-कथाओं के वैष्णवीकरण और विशदीकरण का अत्यधिक मात्रा में प्रयत्न हुआ है जो 'ब्रह्मवैवर्त', 'विष्णुधर्मोत्तर' आदि पुराणों में और अधिक उग्र रूप धारण करता है। केवल इसी आधार पर गोपाल-कृष्ण की ऐतिहासिकता को संदिग्ध मानना असंगत प्रतीत होता है। कालिदास के मेघदूत ५, १५ में गोपाल-कृष्ण की चर्चा देखकर श्री भंडारकर ने ५वीं शती के प्रारम्भ तक इनके प्रचार-काल का अनुमान किया है।[6] अतः कम से कम कालिदास के काल तक गोपाल-कृष्ण के अस्तित्व में संदेह नहीं होता।

राधा-कृष्ण

'हरिवंश', 'विष्णु' और 'भागवत पुराण' में वर्णित गोपी-कृष्ण की कथाओं में

---

१. अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट पृ० ३४।
२. यहाँ कहा गया है कि पृथ्वी का सर्व प्रथम पता लगाने के कारण मैं 'गोविन्द' कहा जाता हूँ। इससे गोपाल-कृष्णका सम्बन्ध सन्देहास्पद है।
३. अ० हि० वै० से० पृ० ४५। ४. कौ० व० जी० ४ पृ० ५१।
५. दी ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश जी० १ पृ० १२२।
६. भ० कौ० वर्क्स जी० ४ पृ० ६१।

राधा नाम की गोपी का उल्लेख नहीं हुआ है।[१] अतएव राधा और कृष्ण का सम्बन्ध भी विचारणीय प्रश्न रहा है। राधा-कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख 'गाथासप्तशती' और 'पंचतंत्र' में हुआ है। 'पंचतंत्र' में विष्णु-रूप कोलिक से तथा 'गाथासप्तशती' में कृष्ण से राधा का संबंध मिलता है।[२] इन दोनों ग्रंथों का समय विक्रम संवत् का प्रारम्भ माना जाता है। यद्यपि केवल राधा नाम के चलते हुए कुछ लोग इन्हें परवर्ती मानते हैं।[३]

इस प्रकार ई० पू० से लेकर निम्बार्क तक राधा-कृष्ण की जिन कथाओं एवं प्रसंगोंके विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, उससे उनके ऐतिहासिक सम्बन्ध का पता नहीं चलता। अतः राधा-कृष्ण का सम्बन्ध परवर्ती और पौराणिक माना जा सकता है। गोपी-कृष्ण की कथा में एक विशेष आराधिता 'भागवत पुराण' की गोपी का उल्लेख होने के कारण उससे राधा का विकास संभव प्रतीत होता है।[४] श्री जे० गोंद ने वैदिक राधा को लक्ष्मी का वाचक तथा सफलता-समृद्धि, धन आदि शब्दों से सम्बद्ध माना है।[५] फर्कुहर ने संभवतः राधा वल्लभियों में मान्य होने के कारण 'गोपाल तापनीय उपनिषदों' में राधा का उल्लेख माना है।[६] किन्तु 'गोपाल पूर्व तापनीय' में राधा की अपेक्षा गोपीजन वल्लभ और रुक्मिणी के पर्याप्त उल्लेख हुये हैं।[७]

अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से राधाकृष्ण का काल निश्चित करना अधिक कठिन विदित होता है। श्री कुंज गोविंद गोस्वामी ने पहाड़पुर में प्राप्त ई० सन् ६ठी शती की एक युगल मूर्त्ति का उल्लेख किया है, जो श्री दीक्षित के मत से कृष्णराधा की है; परन्तु राधा के परवर्ती होने के कारण अन्य विद्वानों ने स्त्री मूर्त्ति के रुक्मिणी या सत्यभामा होने का अनुमान किया है।[८]

---

१. सम्भवतः भागवत की परम्परा में आने वाले 'कृष्णोपनिषद्' और 'गोपाल पूर्व तापनीय उ०' में 'तदन्तराधिकानलाक्ष युगं' के अतिरिक्त राधा का उल्लेख नहीं हुआ है। गो० पू० ता० उ० में भी कृष्ण गोपीजन वल्लभ हैं।

२. गाथासप्तशती :, काव्यमाला : पृ० ४४ संस्कृत छाया 'त्वं कृष्ण गोरजो राधिकायां अपनयन'।

३. सूर साहित्य सं० १९५६ में डा० द्विवेदी द्वारा राध-कृष्ण का विकास पृ० १२, १३, पृ० १६।

४. भा० १०, ३०, २८ अनयाऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद् रहः॥

५. ए० अ० वै० पृ० १६३ नोट में। ६. अ० ला० रे० लि० पृ० २३७।

७. गोपालोत्तर तापनीय में प्रयुक्त गान्धर्वो का अर्थ राधा से किया जाता है।

८. वैष्णविज्म पृ० ४०।

श्री रायकृष्णदास ने भी पहाड़पुर की कृष्णलीला सम्बन्धी मूर्त्तियों में राधाकृष्ण के प्रेमालाप की मूर्त्तियों का उल्लेख किया है तथा उनका काल छठी शती के अन्तर्गत माना है।[1]

इनके कालक्रम और प्रचलित रसात्मक रूपों का ध्यान रखते हुये छठी शती में राधा-कृष्ण की जिन मूर्त्तियों का उल्लेख किया गया है, वह अधिक असंभव नहीं प्रतीत होता। क्योंकि 'नारद पंचरात्र' के अन्तर्गत 'ज्ञानामृत सार' ११, ३, २४ में कहा गया है कि एक के ही कृष्ण और राधा दो रूप हो गये।[2] राधा-कृष्ण का यह उद्गम चैतन्य आदि मध्यकालीन सम्प्रदायों में मान्य रहा है।[3] राधा-कृष्ण के रसात्मक रूप पर विद्वानों ने जिन सहजयानी और तन्त्रयानी बौद्धों का प्रभाव माना है[4], उसका उत्कर्षकाल भी लगभग यही पड़ता है। जिसके प्रभावानुरूप वैष्णव सहजयान में बाद में चलकर राधा-कृष्ण की रति-केलि जयदेव, चंडीदास और विद्यापति तथा बंगाल के बाउल कवियों में विशेष रूप से प्रचलित हुई।

परन्तु मध्यकालीन सम्प्रदाय एवं तत्कालीन हिन्दी साहित्य में राधाकृष्ण के साथ ही गोपाल-कृष्ण का भी अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।[5] इस काल के पूर्व ही 'भागवत' आदि पुराणों में श्रीकृष्ण का अवतारवादी रूप व्यापक प्रसार पा चुका था,[6] और उन्हीं में एक ओर तो वे विष्णु के अंशावतार के रूप में प्रसिद्ध हुये और दूसरी ओर उन्हें भगवान और ब्रह्म से भी अभिहित किया गया।

---

१. भारतीय मूर्तिकला पृ० ११६। २. भण्डारकर कौ० वर्क्स जी० ४ पृ० ५८।

३. चै० च०, हि० प्रतिध्वनि पृ० २२ आदि लीला ४ परिच्छेद।
राधा कृष्ण एक आत्मादोय देह धरे। अन्योन्य विलास रस आस्वादन करे।
तथा पृ० २४।

४. कृष्ण राधा ऐसे सदा एक ही स्वरूप। लीलारस आस्वादिवे धरे दोय रूप॥

५. पूर्व मध्यकाल में बंगाल के राधाकृष्ण की परम्परा और दक्षिण के गोपाल कृष्ण को दो परम्पराओं का अनुमान किया जा सकता हैं। क्योंकि तत्कालीन युग में लीलाशुक द्वारा रचित 'कृष्णकर्णामृत' और 'हरिलीलामृत' में सहजायानी प्रभाव से आच्छन्न राधा-कृष्ण की अपेक्षा गोपाल कृष्ण अधिक प्रधान हैं। 'हरिलीलामृत' १०, ६ के अनुसार बाल्य, पौगण्ड, कैशोर, प्रौढ़ि आदि कृष्ण की पंचधा प्राकट्य लीलायें प्रसिद्ध हैं। 'कृष्णकर्णामृत' में १, ४५ में प्रयुक्त 'बालः कदा कारुणिकः किशोरः' जैसे पद गीत गोविंद में नहीं मिलते।

६. ए० बी० ओ० आर० जी० १० में 'कृष्ण प्राब्लेम' शीर्षक निबन्ध में 'ब्रह्म' 'विष्णु' 'पद्म' 'हरिवंश', 'ब्रह्म वैवर्त' 'भागवत', 'वायु', 'देवीभागवत', 'अग्नि' और 'लिंग पुराण' के आधार पर इनके अवतार-रूपों की चर्चा की गई है।

अंशावतार

भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ही अंशावतार के रूप में माने जाते रहे हैं। 'महाभारत' में वर्णित सामूहिक अवतारों के साथ इनके अवतार का उल्लेख हुआ है। वहाँ ये नारायण के अंशावतार कहे गये हैं।[१] फर्कुहर के अनुसार 'महाभारत' के द्वितीय संस्करण में कृष्ण को अंशावतार कहा गया है।[२] 'विष्णु पुराण' में परमेश्वर के श्याम और श्वेत दो केश कृष्ण और बलराम के रूप में अवतीर्ण होते हैं।[३] आगे चलकर उन्हें परमेश्वर का अंश कहा गया है।[४] 'भागवत' में 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' होने के अतिरिक्त वे कतिपय स्थलों पर अंशावतार बतलाये गये हैं।[५]

शंकर ने उन्हें 'गीताभाष्य' में अंशावतार कहा है।[६] श्री रामानुज ने अन्य अवतारों के साथ उनका विशेष रूप से उल्लेख किया है[७] श्री मध्व ने 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' में 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' का समर्थन किया है।[८]

साम्प्रदायिक रूप

मध्यकाल में श्रीकृष्ण को लेकर जिन सम्प्रदायों की अवतारणा हुई उनमें श्रीकृष्ण उपास्य होने के कारण पूर्णावतार ही नहीं रहे अपितु स्वयं अवतारी और परब्रह्म के रूप में गृहीत हुए।

निम्बार्क

श्रीकृष्ण निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य हैं। अपने रूप में ये शान्ति और कांति आदि गुणों के निवास स्थान, उत्पत्ति, पालन, संहार तथा मोक्ष के कारण, चराचर में व्याप्त, परम स्वतंत्र, अंशी और नंद-गृह को आह्लादित करने वाले प्रभु हैं।[९] ये ब्रह्मा, रुद्र, और इन्द्र से सम्यक्तयापूजित तथा श्री लक्ष्मी

---

१. महा० १, ६७, १५१। २. फर्कुहर आ० ला० ई० लि० पृ० ८७।

३. वि० पु० ५, १, ६०। वि० पु० ५, ७, ४८ तथा ४७, २४, ११०।

४. वि० पु० ५, ७, ४८ 'परं ज्योतिरचिन्त्यं यन्तदंशः परमेश्वरः' और वि० पु० ४, २४, ११०।

५. भा० २, ७, २६ में कृष्ण केश के और भा० १०, १, २ में विष्णु के अंश कहे गये हैं।

६. गीता शांकर भा० पृ० १४ 'अंशेन कृष्णः किल सम्बभूव'।

७. श्रीभाष्य २, २, ४१ विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भाव गणः।

८. भावच्छब्द वाच्याश्य साक्षात् भगवान् हरि।

भागवत-तात्पर्य-निर्णय पृ० १२२, ११, १६।

९. वेदान्त तत्त्व सुधा पृ० १, श्लोक १।

शान्ति कान्ति गुण मन्दिरं हरिस्येमसृष्टिलयं मोक्ष कारणम्।

व्यापिनं परम सत्यमंशि नौमि नन्द गृह चन्दिन प्रभुम्॥

देवी से नित्य सम्बन्ध द्वारा सेवित हैं। ये रस का संवेष्ठन करने वाली माला के समान नवीन गोपबाला, नित्य प्रेमाधिष्ठात्री श्री राधिका देवी से चर्चित हैं।[1] श्लोक सात में इन्हें सभी भूतों की अंतरात्मा कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त 'दशश्लोकी' के चौथे श्लोक में इनके प्रति प्रयुक्त 'व्यूहांगिनं'[3] से व्यूह और अवतारी का तात्पर्य लिया जाता है।[4] श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने उसका तात्पर्य अवतारों और अनन्त मूर्त्तियों से लिया है।[5]

श्रीवल्लभ

श्री वल्लभाचार्य के उपास्य देव श्रीकृष्ण, सच्चिदानन्द-स्वरूप व्यापक परब्रह्म हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण, व्यापक ब्रह्म के दो रूप माने हैं। सर्वजगत-स्वरूप अपर ब्रह्म और उससे विलक्षण परब्रह्म।[6] उन्होंने बहुत से मतवादों की चर्चा करते हुये विश्वरूप अपर ब्रह्म को मायिक, सगुण कार्य-स्वतंत्र प्रभृति भेदों से अनेक प्रकार का बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण के अन्तर्यामी रूप का उल्लेख करते हुये कहा है कि परमानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं। अपने अन्तर में आनन्द की उपलब्धि उन्हीं से होती है। अखिल चेतना को सर्वात्मा ब्रह्म-रूप श्रीकृष्ण में ही इन्होंने स्थित माना है।[7]

श्रीचैतन्य

चैतन्य सम्प्रदाय में मान्य श्रीकृष्ण के स्वरूप का पता 'लघुभागवतामृत' से चलता है। इसमें रूप गोस्वामी ने श्रीकृष्ण के पर-रूप के स्थान में स्वयं-रूप का प्रयोग किया है। जिसके तदेकात्म और आवेश प्रभृति अन्य रूप समकक्ष माने गये हैं, क्योंकि 'स्वयं' तो पर-रूप है और तदेकात्म उसी के सदृश अन्य-रूप है और आवेश-रूप आविर्भावात्मक तत्वों से युक्त है।[8]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि तत्कालीन सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के उपास्य-रूप में गृहीत होने के कारण उन्हें ही ब्रह्म, या पांचरात्रों के पर-रूप से

---

१. वेदान्त तत्त्व सुधा पृ० ६ श्लोक ६।
ब्रह्म रुद्र सूरराज स्वर्चितपर्चितंच रमयांकमालया।
चर्चितंच नव गोप बालया प्रेम भक्ति रस शालि मालया।

२. वेदान्त तत्त्व सुधा पृ० ८ श्लोक ७। ३. निम्बादित्य दश श्लोकी ४।

५. निम्बादित्य दश श्लोकी पृ० २१। ४. वे० र० म० पृ० ४७।

६. संत वाणी अङ्क, कल्याण, में सङ्कलित 'सिद्धान्त मुक्तावली' पृ० ७६१–७६२ परम ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकम बृहत द्विरूपं तद्धि सर्वस्यादेकं तस्माद विलक्षणम्।

७. सं० वा० कल्याण, सिद्धान्त मुक्तावली पृ० ७६१–७६२ श्लोक ४, ११, १२।

८. लघुभागवतामृत पृ० ९ श्लोक ११–१२।

अभिहित किया गया। उनमें अवतारत्व भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। किन्तु आगे चल कर रसिक सम्प्रदायों में इनका नैमित्तिक अवतार पक्ष गौण और नित्य लीलात्मक या रसात्मक पक्ष प्रमुख हो गया।[१]

'महाभारत' से लेकर 'टट्टी सम्प्रदाय' तक श्रीकृष्ण के रूपों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि सम्प्रदायीकरण होने के अनन्तर उपास्य-रूप की दृष्टि से श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का विस्तार की अपेक्षा संकोच होता गया। उसमें वाह्य पक्ष की अपेक्षा अन्तर पक्ष की प्रधानता होती गई। उसे इस प्रकार देखा जा सकता है :—

महाभारत में—श्रीकृष्ण का क्षेत्र—सम्पूर्ण भारतवर्ष।

श्रीमद्भागवत में—उत्तरभारत।

मध्यकालीन सम्प्रदायों में

वल्लभ—ब्रज, द्वारका।

चैतन्य—ब्रज।

निम्बार्क—वृंदावन।

राधावल्लभी—नित्य वृंदावन, निकुंज केलि।

टट्टी—निकुंज केलि।

भक्त कवियों में अवतार-रूप

अवतारवाद की दृष्टि से मध्यकालीन कवियों में प्रायः दो प्रकार के श्रीकृष्ण मिलते हैं। उनमें से प्रथम हैं पुरुष, नारायण और विष्णु के नाम से अभिहित, क्षीरशायी विष्णु के अवतार कृष्ण और द्वितीय हैं श्रीकृष्ण या हरि, उपास्य ब्रह्म के अवतार श्रीकृष्ण। डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है कि "धर्म-संस्थापन के लिये जो अवतार होता है वह चतुर्व्यूहात्मक है। संसार को आनन्द देने के लिये जो अवतार होता है वह उनका रस-रूप है। कृष्णावतार में इनके मतानुसार कृष्ण ने चतुर्व्यूहात्मक और रसात्मक दोनों रूपों से युक्त अवतार लिया था"।[२] किन्तु उस काल में उपास्य श्रीकृष्ण इतने व्यापक हुए कि विष्णु अवतारी इनके अंश मात्र रह गये।

विष्णु कृष्ण का अवतार पूर्ववर्ती, पौराणिक और प्रयोजनात्मक है। 'भागवत, 'सूरसागर' और नंददास कृत 'दशमस्कंध' प्रायः तीनों में विष्णु का

---

१. ध्रुवदास ग्रन्थ पृ० ७० पद १२।
रस-निधि रसिक किशोर। विवि सहचरि परम प्रवीन।
महाप्रेम रसमोद में रहत निरन्तर लीन।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग २, पृ० ४०४।

अवतार-रूप सामान्यतः एक ही है। तीनों में पृथ्वी गौ-रूप धारण कर देवता और ब्रह्मा के पास जाती है और इनकी प्रार्थना सुनकर क्षीरशायीनारायण या विष्णु कृष्णावतार की सूचना देते हैं।[1] इस रूप में श्रीकृष्ण भूभार दूर करने के निमित्त आविर्भूत होने के कारण असुरों और राजाओं के संहारक हैं। श्रीमद्भागवत के अनेक प्रसंगों में श्रीकृष्ण विष्णु या नारायण के संबंधों के उल्लेख हुए हैं।[2]

पर-रूप हरि

किन्तु सूर में यह परम्परा अधिक व्याप्त नहीं लक्षित होती। सूरदास ने अपने उपास्य देव परब्रह्म हरि[3] के ही ब्रह्मत्व सम्पृक्त अवतार लीलाओं या अवतारी कार्यों का गान किया है। उसमें एक ओर तो उसके प्रयोजन हैं और दूसरी ओर उसी में सन्निविष्ट उसकी लीलायें हैं। फलतः हरि ही पांचरात्रों का पर है, अन्तर्यामी है और ब्रह्मवादियों का निर्गुण और सगुण ब्रह्म है। 'सूरसारावली' में इस अविगति, आदि, अनन्त, अनुपम, अलख और अविनासी ब्रह्म का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह पूर्ण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित्य अपने लोक में विलास करता है जहाँ अविनश्वर वृंदावन और उनकी कुंजलतायें फैली हुई हैं। जहाँ वेद रूपी भ्रमर गुंजार करते हैं वहीं प्रिय और प्रियतम दोनों विहार कर रहे हैं।[4] इसी हरि पुरुष से [सृष्टि या लीलात्मक अवतारवाद

---

१. (क) भा० १०, १, १९–२३।
  (ख) सूरसागर जी० १, सभा स०, पृ० २५७ पद ६२२।
    धेनु रूप धरि पहुनि पुकारी""धरि नर तन अवतारा।
  (ग) नं० ग्रं० दसम स्कन्ध पृ० २२०।
    तब पद गाई सब धरि धरती""प्रगटहिंगें प्रभु पूरन काम।

२. भा० १०, १, ६५, ११, १, ६८, १०, २, ९–१०, ३, ३०, १०, ३, ३२, १०, ४, ३९ आदि।

३. 'सूरसागर' या 'सूरसारावली' में हरि नाम का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। जो श्रीकृष्ण इष्टदेव का वाचक है। हरि के अवतार के विषय में कहा गया है: अपने अंश आप हरि प्रगटे पुरुषोत्तम निज रूप। नारायण भुवभार हर्यो है अति आनन्द स्वरूप, सूरसारावली पृ० ६।

४. अविगति आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी।
  पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी॥
  जहँ वृंदावन आदि अजर जहँ कुंजलता विस्तार।
  तहँ विहरत प्रिय प्रीतम दोऊ निगम भृङ्ग गुंजार॥२

सूरसारावली पृ० १, पद १।

कह कर जिसको निगम गाता है, वह अन्तर्यामी प्रभु सबका स्वामी है। इसके अतिरिक्त अनेक पदों में 'सबके अन्तरजामी हैं हरि' १६०२, 'तुम्ह हो अन्तरजामी कन्हाई' १६४०, 'सूरदास प्रभु अन्तरयामी' १६६४ आदि से श्रीकृष्ण के अन्तर्यामी रूप का स्पष्ट पता चलता है। वे कन्हाई प्रेम के वश में होकर अंतर में प्रकट होते हैं।[१] नन्ददास ने कृष्ण को 'अन्तरयामी साँवरो'[२] कहा है। अन्तर्यामी अपनी इच्छा के चलते सभी को प्रेरित करते हैं।[३] वे नेति-नेति युक्त नारायण स्वामी अखिल लोक के अन्तर्यामी हैं।[४] ये जगत-जनक और सब जंतुओं के अन्तर्यामी हैं।[५]

श्रीकृष्ण-लीला की चर्चा करते समय तत्कालीन कवियों ने उसी क्रम में श्रीकृष्ण के अवतारत्व को प्रदर्शित करने के निमित्त विभिन्न उपादानों का उपयोग किया है। उनमें अधिकांश उपादान तो परम्परा से प्रचलित होने के कारण इस काल तक रूढ़ हो गये थे। कुछ उपादान विशिष्ट सम्प्रदायों की उपज हैं और कुछ उनकी व्यक्तिगत धारणाओं की देन हैं।

जागतिक

श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष सिद्ध करने के क्रम में सर्वप्रथम 'महाभारत' की कथा में ही अनेक स्थलों पर उनके बाह्य या आंतरिक जागतिक रूप को प्रदर्शित किया गया है।[६] 'गीता'[७] और 'भागवत' में[८] यह परम्परा सर्वत्र वर्तमान रही है। फलतः 'भागवत' के अनुयायी सूरदास और नन्ददास ने इनका यप्रोग किया है। 'श्रीमद्भागवत' ही की परंपरा में सूरदास ने कतिपय स्थलों पर आभ्यन्तर या बाह्य जागतिक रूपों की चर्चा की है। उदाहरण के लिये शिशु कृष्ण के मुख में यशोदा अखिल विश्व को देखती हैं।[९] कृष्ण करोड़ों ब्रह्माण्डों को

---

१. सूरसागर पद १७४८—अंतर ते हरि प्रगट भए।
रहत प्रेम के वस्य कन्हाई, जुवतिनि की मिलि हर्ष दए।

२. नं० ग्रं० पृ० १६५ पद ६।

३. न० ग्रं० पृ० २५६—अन्तरजामी अपनौ धर्म ता करि प्रेरे सबकेकर्म।

४. न० ग्रं० पृ० २७१—तुम नहि नहि नारायन स्वामो। अखिल लोक के अन्तर्जामी।

५. नं० ग्रं० पृ० ३१२—जगत जनक गुरु गुरु, तुम स्वामी।
सब जंतुन के अन्तरजामी॥

६. महा० ५, १३१, ५-१३। ७. गी० ११ अ०।

८. भा० १०, ७, ३६। भा० १०, ७, ३७-३८।

९. सूरसागर पद ८७३ और ८७४।
८७३-अखिल ब्रह्मांड-खंड की महिमा दिखराई मुख मांहि।
८७४-माटी के मिस मुख दिखरायो, तिहूँ लोक राजधानी॥

अविलम्ब आत्मसात् कर लेते हैं।[1] तथा इनके विराट शरीर के एक-एक रोम में करोड़ों ब्रह्मांड विद्यमान हैं।[2] कालियनाग के फन पर पैर रखने वाले श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग के रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड वर्तमान हैं।[3] श्रीकृष्ण के सहवासी अहीर गोबर्द्धन पूजा के समय सहस्र भुजाओं से युक्त इनके प्रत्यच रूप को देखते हैं।[4] एक ओर तो ये गोपों से बातें करते हैं और दूसरी ओर सहस्रों भुजाएँ धारण कर भोजन कर रहे हैं।[5]

इस प्रकार उक्त उपकरणों के द्वारा अन्य प्रसंगों में भी कवि उनके ईश्वरत्व को सजा रखते हैं। नंददास ने भी अखिल ब्रह्मांड और विश्व को उन्हीं में स्थित कहा है।[6] फिर भी इस काल के काव्यों में श्रीकृष्ण पूर्णावतार की अपेक्षा उपास्य ब्रह्म अधिक माने गये हैं।

अवतारी

उपास्य होने के कारण उन्हें अवतार के स्थान में अवतारी, अंगी या अंशी कहा गया। अन्य अवतार विष्णु की अपेक्षा इनके अवतार बताए गये। श्रीकृष्ण के इस अवतारी रूप की विशेषता विष्णु के अवतारों की श्रीकृष्ण के अंश रूप में मान्य होने पर तथा कहीं-कहीं अपने अवतारत्व का प्रतिपादन करने से विदित होती है।

अवतारी श्रीकृष्ण स्वयं विष्णु के समान अनेक अवतार धारण करते हैं। सूरदास ने बालकृष्ण का वर्णन करते हुए इनके पूर्व अवतारी कार्यों और शक्तियों का उल्लेख किया है। जिस प्रभु ने मीन रूप में जल से वेदों का उद्धार किया, कूर्म के रूप में पर्वत धारण किया, वराह रूप में पृथ्वी को अपने दांतों पर पुष्प के सदृश रखा, जिस शक्ति से हिरण्यकशिपु का हृदय फाड़ दिया, बलि को बाँधा, विप्रों को तिलक दिया और रावण के सिर काटे वे ही अब इस देहली पर चढ़ नहीं पाते।[7]

'सूरसारावली' में कहा गया है कि जब-जब दानव प्रकट हुये हैं तब-तब

---

१. सूरसागर पृ० ७४४—कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत विलम्ब न लावै।
२. सूरसागर पृ० ११०५—इक इक रोम विराट किए तन, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड।
३. सूरसागर पद ११८५—कोटि ब्रह्माण्ड रोम प्रति आनि, ते पद फन प्रति दीन्हीं।
४. सबनि देखी प्रगट मूरति. सहस भुजा पसार। सूरसागर पद १४५४।
५. सहस भुजाधरि उत जेत हैं, इतहि कहत गोपनि सों बात। सूरसागर पद १४५६।
६. अखिल ब्रह्माण्ड विश्व उनही में जाता। नं० ग्रं० पृ० १७५ पद ११।
७. सूरसागर पद ७४५।

श्रीकृष्ण ने अवतार धारण कर उनका संहार किया।[1] यहाँ वर्णित चौबीस अवतार श्रीकृष्ण के विदित होते हैं।[2] सभी अवतारों का वर्णन करने के उपरान्त सूरदास कहते हैं कि व्यास रचित पुराण के अनुसार ये सभी अवतार श्रीकृष्ण के वर्णन किये गये।[3] अंश और कलाओं के रूप में जितने अवतार हैं सभी कृष्ण के हैं।[4]

इस प्रकार विविध प्रकार के अंश और कला-रूप में आविर्भूत होने वाले अवतारी राम-कृष्ण सदा व्रजमंडल में विहार करते हैं।[5] श्री नंददास के एक पद के अनुसार अवतारी रूप में वे सब विभूतियों के धारक और जगत के आश्रय हैं।[6] श्री हरिव्यास जी के एक पद में श्रीकृष्ण के अवतारी रूप का पता चलता है। उनके अनुसार ये जगदीश असुर संहारन, विपति विदारन और ईशों के ईश हैं।[7]

श्री ध्रुवदास ने कहा है कि ये श्रीकृष्ण उस वृंदाविपिन में विहार कर रहे हैं जो चारों ओर से सभी अवतारों द्वारा सेवित हैं।[8]

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के जिस अवतारी रूप का प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार वे केवल अवतार ही नहीं धारण करते अपितु नित्य वृन्दावन में अपने विविध अवतारों के द्वारा सेवित भी होते हैं। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्रस्तुत अवतारी रूप में श्रीकृष्ण अपने पर रूप

---

१. जब हरि माया ते दानव प्रकट भए हैं आप।
तब तब धरि अवतार कृष्ण ने कीन्हीं असुर संहार॥
सो चौबीस रूप निज कहियत वर्णन करत विचार।
सूरसारावली पृ० २ पद ३५-३६।

२. यह अनेक अवतार कृष्ण के को करि सकै बखान।
सोइ सूरदास ने बरणे जो कहे व्यास पुराण॥ सूरसारावली पृ० १३ पद ३५३।

३ ४. अंश कला अवतार श्याम के कवि पै कहत न आवै।
सूरसारावली पृ० १३ पद ३५४।

५. अंश कला अवतार बहुत विधि राम-कृष्ण अवतारी।
सदा विहार करत व्रजमंडल नंदसदन सुखकारी॥ सूरसारावली पृ० १३ पद ३६०।

६. अवतारी अवतार-धरन अरु जितक विभूती।
इह सब आश्रम के अकार जग जिहि की ऊति॥ नं० ग्रं० पृ० ४४।

७. भवतकवि व्यास जी पृ० २०० पद ३७।
जय श्रीकृष्ण, जय श्रीकृष्ण, जय श्रीकृष्ण, जय जगदीसा।
असुर संहारन विपति विदारन्, इसन हू के ईसा॥

८. चहुं ओर वृन्दावन सेवत सब औतार।
करत विहार बिहारि तहं आनन्द रंग विहार॥ ध्रुवदास पृ० १८४।

या उपास्य रूप में ही नित्य वृन्दावन में स्थित हैं। उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए कहा गया है कि उनके अवतार भी उनकी सेवा करते हैं।

अवतार-परिचय

श्रीकृष्ण लीला-गान में कवियों ने एक ओर तो उनकी लीलाओं का गान किया है और दूसरी ओर उनके अवतारत्व की मीमांसा भी प्रस्तुत की है। इस दृष्टि से कुंभनदास की 'दान लीला' और चैतन्य सम्प्रदाय के हिन्दी कवि माधोदास के 'ग्वालिन झगरो' उल्लेखनीय हैं।

'दानलीला' के प्रसंग में दान माँगते समय श्रीकृष्ण अपने अवतारी रूप का प्रदर्शन करते हैं। वे गोपियों को संबोधित करके कहते हैं तुम गंवार गोपी हो; मुझे क्या समझा रही हो। शिव, विरंचि, सनकादि और निगम मेरा अंत नहीं पा सकते। मैं भक्तों की इच्छा पूर्ण करूँगा और कंस, केशी आदि दुष्टों का संहार करूँगा।[१]

नंददास कृत 'भ्रमर गीत' में गोपियाँ श्रीकृष्ण के स्वभाव पर विचार करते समय प्रसंगवश इनके वर्तमान एवं पूर्वअवतारी रूपों की चर्चा करती हैं। इनकी निष्ठुरता के प्रसंग में वे कहती हैं कि रामावतार में इन्होंने विश्वामित्र का यज्ञ कराने जाते समय ताड़का को मार डाला था।[२] ये वनमाली वलिराजा से भूमि मांगने तो गये वामन रूप में, किन्तु लेते समय इन्होंने पर्वताकार रूप धारण कर लिया।[३] इन्होंने परशुरामावतार में अपनी माता को मारा और क्षत्रियों का संहार किया[४] और नृसिंह के रूप में हिरण्यकशिपु का शरीर विदीर्ण किया।[५] शिशुपाल बेचारे का क्या दोष, जो इन्होंने छल करके उसकी

---

१. तुम हो ग्वालि, गंवारि कहा मोको सुमुझावे।
सिव, बिरंचि सनकादिक निगम मेरी अंत न पावे॥
भक्तनि की इच्छा करौं दुष्टनि को संहार।
कंस के धरि मारि हौं सो धरनि उतारौं पार॥
कुम्भनदास संग्रह पृ० १३ पद ८।

२. कोउ कहै री आज नहिं आगे चलि आई।
रामचन्द्र के रूप माहिं कीनी निठुराई॥
जग्य करवन जात हैं विश्वामित्र समीप।
मग में मारी ताड़का रघुवंशी कुलदीप॥
नं० ग्रं० भ्रमर गीत पृ० १८०, ३७ भा० १०, ४७ की परम्परा में।

३. नं ग्रं० भ्रमरगीत पृ० १८१, ३८, वामन।

४. नं० ग्रं० भ्रमरगीत पृ० १८१, ३९ परशुराम।

५. नं० ग्रं० भ्रमरगीत पृ० १८१, ४० नृसिंह।

दुलहिन हर ली।[1] 'सूरसागर' के दान लीला प्रसंग में श्रीकृष्ण अपने तत्कालीन अवतारी कार्यों का स्वयं उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं—अघा, वका, सकट एवं केशी आदि राक्षसों का मारना और गोवर्द्धन धारण करना यह तो मेरा लड़कपन है।[2] इसी प्रकार 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' में रुक्मिणी ने अपने पत्र में उनके अवतारी कार्यों की चर्चा की है और वामन, वराह, कूर्म और रामावतार में किये गये उनके उद्धार-कार्य को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।[3]

इस प्रकार इस काल में अनेक शैलियों एवं प्रसंगों में श्रीकृष्ण अपने अवतार का हेतु और अपना स्वरूप बतलाते हुये कहते हैं—नन्द और यशोदा ने मुझसे इस अवतार के लिये वर मांग लिया था। वेदों के कथनानुसार गोकुल में आकर मैंने सुख दिया। मैं त्रिभुवन पति—जल, स्थल, एवं घट-घट में निवास करने वाला हूँ।[4] इस पृथ्वी पर असुर प्रबल हो गये हैं। मुनियों का कर्म उन्होंने छुड़ा दिया है। अतः गायों और संतों के निमित्त मैंने व्रज में देह धारण किया है।[5]

माधोदास के 'ग्वालिन झगरो' में इनके अवतारत्व का वैसा ही परिचय मिलता है। श्रीकृष्ण और ग्वालिनों की वार्ताओं में वामनावतार की चर्चा हुई है। श्रीकृष्ण कहते हैं—तुम गुजरी गंवार हो और हम सारे वन के राजा हैं। मैंने तीन पग भूमि के निमित्त वलि के सिर पर पाव दिया था।[6]

---

१. नं० ग्रं० भ्रमरगीत पृ० १८१–१८२, ४१।

२. अघा वका सकटा हने, केसीमुख कर नाइ।
गिरि गोवरधन कर धर्यौ, यह मेरी लरिकाई॥
सूरसागर पृ० ७६७ पद २०९७९।

३. बेलि क्रिसन रुकमणी री पृ० १५८–१६०, पद; ५९, ६१, ६२, ६३।

४. तप करिके नन्द नारि मांगि मो पे वर लीन्हों।
वचन वेद वपु धारि' आइ गोकुल सुख दीन्हों॥
तुम कहा जानो बावरी, हम त्रिभुवन पति राई।
जो जल थल में बसै सो घट घट रह्यौ समाई॥
कुम्भनदास पद संग्रह पृ० १३ पद १०

५. कहत नंद लाड़िलो।
अवनि असुर अति प्रबल मुनीजन कर्म छुड़ाय।
गऊ संतनि के हेत, देह धरि ब्रज में आए॥
कुम्भनदास पद संग्रह पृ० १५ पद १४।

६. ग्वालिन झगरो लि० ना० प्र० सं० पृ० ५–६ पद १२।
तीनि पैंठ भूमिकारण हम वलि सिर दीयौ पाव। तुम्हारे ई राज है।

लीलावतार

श्रीकृष्ण की लीला से सम्बद्ध बाल, कौमार, पौगंठ और कैशोर्य चार रूप गृहीत हुए हैं। सूरदास ने अपने एक पद में चारों लीलाओं का वर्णन तो किया ही है साथ ही कृष्ण के ब्रह्म और अवतार पक्ष दोनों का अपूर्व समन्वय भी किया है। सूरदास कहते हैं जो ब्रह्म आदि, सनातन, अविनाशी, और सदैव घट-घट में व्याप्त है, पुराण जिसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्मा-शिव जिसका अंत नहीं जानते। जो आगम-निगम से परे हैं; यशोदा उसे गोद में खिला रही हैं। जो पुरुष पुरातन जप, तप, संयम और ध्यान से परे है, वह नंद के आंगन में दौड़ रहा है। जो बिना नेत्र श्रोत्र, रसना, नासिका और बिना हाथ पैर का है। विश्वम्भर जिसका नाम है, वही घर-घर में गोरस चुरा रहा है। जो निराकार है वही गोपियों का रूप निहार रहा है। जो जरा-मृत्यु या माता या पिता आदि किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से रहित है। ज्ञानियों के हृदय में जिसका निवास स्थान कहा जाता है वही बछड़ों के पीछे-पीछे डोल रहा है।[1] जिससे अखिल सृष्टि, पांच तत्वों और पंचभूतों की उत्पत्ति हुई है तथा जिसकी माया सारे विश्व को मोहे हुए है, शिव समाधि में भी जिसका अंत नहीं पाते वही गोपों की गायें चरा रहा है। जो नारायण, अच्युत, परमानन्द, सुखदायक और सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहारक है, वही ग्वालिनों के संग लीला कर रहा है। जिससे काल डरता है वह माता द्वारा ऊखल में बाँध दिया गया है। जो गुणातीत है वही गोपियों के संग रास कर रहा है। जो निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के रूप धारण करता है और क्षणमात्र में अखिल सृष्टि को लुप्त करने की क्षमता रखता है, वही वन-वीथियों में कुटी बना रहा है। जो रमा के द्वारा सेवित अगम, अगोचर लीलाधारी है वही राधा का वशवर्ती और कुंजविहारी है। वे ब्रजवासी बड़-भागी हैं जिनके साथ अविनाशी खेल रहा है। जो रस ब्रह्मादिक के लिये दुर्लभ है वह गोकुल की गलियों में बह रहा है। इस लीला को स्वयं गोविंद ही जानता है।[2]

उक्त पद के भाव से स्पष्ट है कि 'अवतार श्रीकृष्ण' की लीलाएँ ब्रह्मत्व से पूर्णतः सम्पृक्त हैं। यह अंश सूरदास के 'लीला श्रीकृष्ण' और उनके लीलात्मक रहस्यों का स्पष्ट परिचायक है।

श्रीपरमानन्द दास कहते हैं कि परब्रह्म विश्वमोहक मानव रूप धारण कर अवतार-लीलाएँ करता है। वह आनन्द की निधि मन, नेत्र, आदि सभी

---

१. सूरसागर पद ६२१। २. सूरसागर पद ६२१।

तो जाते हुये नवल नागर मोहन हरि घिनाते हैं। किन्तु वे ही व्रज की स्त्रियों के वस्त्र पर बड़े प्रेम से बैठे रहते हैं।[1] वे ही षडगुणों से युक्त और अवतार धारण करने वाले नारायण हैं और सभी प्राणियों के आधार हैं। जो शिशु, कुमार, पौगंड आदि लीलात्मक धर्मों से युक्त एक रस रहने वाले धर्मी नित्य किशोर हैं।[2] जैसे श्रीकृष्ण पूर्ण चित स्वरूप और उदार हैं वैसे ही उनका अखंड उज्ज्वल रस और परिवार है।[3] उद्धव द्वारा व्रज-गोपियों को श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का परिचय देते हुये कहा गया है कि जिसे तुम कृष्ण कहती हो उसका कोई माता-पिता नहीं है। वह तो अखिल विश्व का कर्ता, पालक और संहारक है। उसने लीला के निमित्त अवतार धारण किया है।[4] 'भाषा दशम स्कंध' में कहा गया है कि जिस ब्रह्माण्ड में मधुपुरी स्थित है वहाँ पूर्ण ब्रह्म कृष्ण निवास करते हैं। जब उनकी लीला करने की इच्छा होती है तो विश्व में वे पहले भक्तों और परिकरों को अवतरित करते हैं। परिकरों का यह प्राकट्य लीला के निमित्त होता है। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं अवतीर्ण होकर भक्तों की मनोकामना पूर्ण करते हैं।[5] भक्त कवि रसखान कहते हैं कि जिस ब्रह्म को शेष, महेश, गणेश, दिनेश, आदि देवता निरंतर गाते हैं, जिसे वेद अनादि, अनंत, अखंड, अछेद्य और अभेद्य बतलाते हैं,

---

१. जोगी जन बन जाई जतन करि कोटि जनम पचि।
अति निर्मल करि करि राखत हिय रुचि आसन रचि॥
कछु घिनाततहं जात नवल नागर मोहन हरि।
व्रज की तियन के अम्बर पर बैठे अति रुचि करि॥
नं० ग्रं० रास पंचाध्यायी, पृ० ३१ पृ० ५७-५८।

२. षट् गुन अरु अवतार धरम नारायन जोई।
सबको आश्रय अवधि भूत नंद नंदन सोई॥
शिशु कुमार पौगंड धर्म पुनि वलित ललित लस।
धर्मी नित्यकिशोर सबल चित्तचोर एक रस॥
नं० ग्रं० सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, पृ० ३८, ७, ८।

३. जैसोई कृष्ण अखंड रूप चिद्रूप उदारा।
तै सोइ उज्ज्वल रस अखंड तिन कर परिवारा॥
नं० ग्रं० भ्रमर गीत, पृ० १७५, १।

४. उद्धव—जाहि कहौ तुम कान्ह ताहि कोउ पितु नहिं माता।
अखिल अण्ड ब्रह्माण्ड विस्व उनहीं में जाता॥
लीला को अवतार लै धरि आए तन स्याम।
नं० ग्रं० भ्रमर गीत, पृ० १७५, १।

५. जिहि ब्रह्माण्ड मधुपुरी लसै। पूरन ब्रह्म कृष्ण तहं बसै।
जब हरि लीला इच्छा करैं। जगत में प्रथम भक्त अवतरै।

नारद, शुक, व्यास आदि जिसकी महिमा गान करते-करते भी अन्त नहीं पा सके उसे अहीरों की छोकरियाँ नचा रही हैं।[1] परमानन्द दास यशोदा का भाग्य सराहते हुए कहते हैं कि जो स्वरूप ब्रह्मादि के लिये दुर्लभ है वही आकर यशोदा के घर में प्रकट हुआ है। जिससे मिलने के लिए शिव, नारद, शुक, सनकादि, अनेक प्रयत्न करते हैं। वह धूल धूसरित शरीर लिए यशोदा की गोद से लिपटा रहता है।[2] मीरा ने तटस्थ सगुण ब्रह्म के सदृश लीलावतार श्रीकृष्ण को भी अनासक्त बतलाते हुए कहा है कि वह सहस्रों गोपियों द्वारा वरण किये जाने पर भी बालब्रह्मचारी है।[3] गदाधर भट्ट ऐसे गोविन्द को सिर नवाते हैं जो नीले जल वाली कालिंदी के तट पर वेद-वेदान्त में प्रतिपादित परब्रह्म के सदृश विराजमान है।[4] श्रीहितहरिवंश कहते हैं कि मुनि जिस स्वरूप को ध्यान में नहीं प्राप्त कर पाते वह चतुर श्रीकृष्ण बालकों के साथ विनोद कर रहा है। वह अपने अनन्य रसिकों के निमित्त लीला-नट के रूप में प्रकट हुआ है।[5] श्री राठौर पृथ्वीराज ने कहा है कि

तिनकें प्रभु को परिका जितो। प्रगट होत लीला हित तितो।
तब श्रीकृष्ण अवतरहि आइ। सिद्ध करै भगतन के भाइ॥
नं० ग्रं० भ्रमर गीत पृ० २२०, ११।

१. सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावै।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सु वेद बतावै॥
नारद से सुक व्यास रटे, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भरि छाछपै नाच नचावै॥
सं० वा० कल्याण २९ पृ० ३४० में संकलित रसखान।

२. यशोदा तेरे भाग्य की कही न जाय।
जो मूरति ब्रह्मादिक दुर्लभ, सो प्रगटे हैं आय॥
सिव नारद सुक सनकादिक मुनि मिलिबे को करत उपाय।
ते नंद लाल धूरि धूसरि वपू रहत गोद लपटाय॥
ब्रज माधुरी सार सं० २००३ पृ० १४१ पद ७।

३. सोल सहस्र गोपियों नेतमे बारिया, तोय तमे बाल ब्रह्मचारी।
मीरा बृहत् पद० संग्रह पृ० १६० पद २५४।

४. श्री गोविंद पदारविंद सीमा सिर नाऊँ।
श्री बृन्दावन विपिन मोल कछु गाऊँ॥ १॥
कालिंदी जहाँ नदी नील निर्मल जल भ्राजे।
परमतत्व वेदान्त वेद इव रूप विराजै॥ २॥
गदाधर भट्ट की बानी, खोज रिपोर्ट ना० प्र० सभा जी० ८१ पृ० १४४।

५. हित चौरासी, ह० लि० सं० १८८१, १७७८ ना० प्र० सभा पृ० ६५।
वेणु माई बाजै वंशीवट।
... ...

अनन्त लीला वाले ने मनुष्य-लीला ग्रहण की और जो जगत् को बसाने वाला है वही जगत् में बस गया।[१]

इस प्रकार आलोच्यकाल में लीलायें श्रीकृष्ण उपास्य ब्रह्म की ही विभिन्न लीलाओं के रूप में गाई जाती थीं। जिनमें एक ओर श्रीकृष्ण का सर्वोपरि उपास्य रूप प्रतिबिम्बित होता था और दूसरी ओर उसकी मनुष्योचित लीलायें। 'ब्रह्म' और 'अवतार' मिश्रित लीलाओं के गान में सूरदास का अद्वितीय स्थान लक्षित होता है। 'सूरसागर' में अनेक स्थलों पर सूरदास सगुन लीला-पद गाने के क्रम में प्रायः श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का उल्लेख करते हैं।

इस लीला-रूप में बालकृष्ण ने अखिल ब्रह्माण्ड की महिमा को त्याग दिया है।[२] पृथ्वी जिनके तीन पैर में भी नहीं आ सकी उसे यशोदा चलना सिखा रही हैं। जिसकी चितवन से काल डरता है उसे लकुटि दिखाकर धमकाती हैं। जिसका नाम करोड़ों भ्रम को दूर करने में समर्थ है उसके भ्रम को राई लोन से उतारती हैं।[३] जिसका भार गिरि, कूर्म, सूर, असुर, और नाग धारण करने की कल्पना भी नहीं कर सकते उसने गोपियों को आधार बना रखा है।[४] निगम और आगम जिसके अनन्त गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हैं उस प्रभु को यशोदा गोद में लेकर मंद-मंद मुस्कुरा रही है।[५] ये परम कुसल और कोविद लीला नट श्रीकृष्ण अपनी अभूतपूर्व

मुनिजन ध्यान धरत नहिं पावत करत विनोद संग बालक भट।
दासि अनन्यभजन रस कारण जै श्री हित हरिवंश प्रकट लीला नट॥

१. वेलिक्रिसन रुकमणी री, हि० ऐकेडमी, पृ० २५६ पद २७१।
लीलाधरण ग्रहे मानुषी लीला जग वासंग वरिया जगत।

२. अखिल ब्रह्माण्ड खंड की महिमा, सिसुता माहिं दुरावत।
सूरसागर पृ० २९६ पद ७२०।

३. तीनि पैंड जाके धरनि में आवै। ताहि जसोदा चलन सिखावै॥
जाकौ चितवनि कालि डराई। ताहि महरि कर लकुटि दिखाई॥
जाकौ नाम कोटि भ्रम टारे। तापर राई लोन उतारे॥
सूरसागर पृ० ३०५ पद ७४७।

४. जे गिरि कमठ सुरसुर सर्पहि धरत न मन में नैकु डरे।
ते भुज-भुवन-भार परत कर गोपिन के आधार धरे॥
सूरसागर पृ० ३०९ पद ७५९।

५. गुन अपार विस्तार परत नाहिं, कहि निगमागम बानी।
सूरदास प्रभु का लिए जसुमति, चितै चितै मुसुकानी।
सूरसागर पृ० ३३ पद ७७१।

मुसकान से मन हर लेते हैं।[1] इस अद्भुत लीला को जो जानता है वही जानता है।[2] क्योंकि जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष आदि चारों पदार्थों का दाता है वह प्रातः उठ कर माता से माखन रोटी माँगता है।[3] यह सब उन्हीं प्रभु की लीला है जिसे निगम नेति-नेति कहते हैं।[4] जो निर्गुण ब्रह्म सगुण लीला-रूप धारण कर अवतीर्ण हुआ है, उसे नन्द अपना पुत्र समझते हैं।[5] जो मूर्ति जल-थल में सर्वत्र व्याप्त है उसे यशोदा चुटकी देकर अपने आँगन में नचा रही हैं।[6] अतः यह उसकी अवतार-लीला ही है कि जो अखिल विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं वे ग्वालिन के कौर से तृप्त हो हो जाते हैं।[7] जो प्रभु सनातन ब्रह्म हैं वे नन्द के घर में सो रहे हैं।[8] जिसके चरणकमल तीनों लोकों को पवित्र करने वाले हैं वे बलि की पीठ पर हैं तथा कालिय नाग के फन पर नृत्य करते हैं।[9] सब कुछ श्रीकृष्ण के मन की बात है। जो-जो उनके मन में आता है वैसे ही वे नाना प्रकार के रूप

---

१. परम कुसल कोविद लीला नट, मुसकनि मन हर लेत।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३१३ पद ७७२।

२. सूरज प्रभु की अद्भुत लीला, जिन जानी तिन जानी।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३१४ पद ७७४।

३. जननि मैं माँगत जग जीवन, दै माखन-रोटी उठि प्रात।
लोटत सूर स्याम पुहुमी पर, चारि पदारथ जाके हाथ।
बारंबार विचारति जसुमति, यह लीला अवतारी।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३१५ पद ७७७।

४. सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाऊ।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १ पृ० ३३६ पद ८४९।

५. निर्गुण ब्रह्म सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यो।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३४९ पद ८८१।

६. जो मूरति जल-थल में व्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तै अपनै आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३८१ पद ९८१।

७. सूरदास प्रभु विस्वभंर हरि सो ग्वालिन के कौर अघाई।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ४२१ पद १०८७।

८. सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन सो सोवत नंद धामहिं।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १ पृ० ४३९ पद ११३३।

९. जे पद कमल लोक त्रय पावन, बलि की पीठि धरे।
जो पद कमल सूर के स्वामी, फन प्रति नृत्य करे।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ४५५ पद ११८९।

धारण करते हैं।[1] इस प्रकार मध्यकाल में लीला-गान की परम्पराओं में उनके ब्रह्मत्व को संपुटित करने का प्रयत्न सूरदास ने किया है।

प्रयोजन :—

इस काल में अवतार और अवतारी रूपों से भी परे श्रीकृष्ण का जो रूप सर्वाधिक मान्य हुआ, वह था श्रीकृष्ण का उपास्य-रूप। इसके फलस्वरूप उनके अवतार-रूप से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रयोजनों में उद्धार की प्रवृत्ति सर्वत्र विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि परम्परागत प्रयोजनों की भी कवियों ने यथेष्ट चर्चा की है किन्तु वे उद्धारवादी प्रभाव से पृथक् नहीं हो सके हैं। इसी से असुर-संहार जो विष्णु के अवतारों का प्रधान प्रयोजन रहा है,[2] वह असुर उद्धार के रूप में परिणत हो गया,[3] तथा असुर-अवतार संघर्ष का मुख्य प्रयोजन भक्तों का रंजन करना रहा गया।[4]

अतः श्रीकृष्ण अनेक जन्मों में भक्त के निमित्त आविर्भूत होते हैं।[5] भक्तों के लिए ये स्वयं तो बन्धन स्वीकार करते हैं, मायाधीन हो जाते हैं, और भक्तों को मायातीत और मुक्त कर देते हैं।[6] भक्त ही अवतार का प्रबल हेतु है। सूरदास ने ऐसे तथ्य पदों में प्रकट किये हैं।[7] यों तो उपास्य श्रीकृष्ण के इस अवतार में उनकी इच्छा ही प्रयोजन है।[8] किन्तु भक्त के प्रेमवश

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ५७६ पद १५३३।

२. उधरौ धरनि, असुर कुल मारो धरि नरतन अवतारा।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० २५७ पद ६२२।

३. तुम बिन कौन दीन खल तारें, निर्गुन सगुण रूप धरि आये।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३८८ पद १००४।

४. सूरदास प्रभु गोकुल प्रगट भए, संतनि हरण दुष्ट जन-मन धरके।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० २७०।

५. सूरदास प्रभु कहत भक्त हित जनम-जनम तनु धारौं।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३७४ पद ९६०।

६. आपु बँधावत, भक्तनि छारत वेद विहित भई बानी।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, ३७४ पद ९६१।

७. सूरदास प्रभुभक्त हेत ही देह धारिके आयो।
सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १, पृ० ३७५ पद ९६४।
पद १०९२—सूर स्याम संग सब सुख सुन्दर, भक्त हेत अवतार।
पद ६७७—सूरदास प्रभु कंस निकंदन भक्त हेत अवतार धर्यो।

८. अपने आप करि प्रकट कियो है हरी पुरुष अवतार।
सूरसारावली, वे० प्रे० पृ० १ पद ५।

योग्य है।[1] मीराबाई के अनुसार श्रीकृष्ण देवताओं के कार्य के लिये तो आविर्भूत होते ही हैं[2] परन्तु भक्तवत्सल होने के कारण[3] भक्त के भाग्य से[4], उनकी सहायता के लिए[5] प्रायः उनकी प्रत्येक आपत्ति में प्रकट होते हैं।[6] इस प्रकार उस 'अधम-उधारण सब जग-तारण'[7] श्रीकृष्ण ने सभी भक्तों का कार्य किया है।[8] बैजू कवि ने विष्णु और कृष्ण का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि दोनों निर्गुण और सगुण स्वरूप वंदनीय हैं, परन्तु विष्णु देवताओं के सुख के कारण हैं जब कि कृष्ण भक्तों के दुःख हरने वाले हैं।[9] इस प्रकार साम्प्रदायिक कवियों के अतिरिक्त सम्प्रदायेतर या राज-दरबारी कवियों में भी श्रीकृष्ण के उपास्य प्रधान या इष्टदेवात्मक प्रयोजनों का अधिक प्रचार हुआ। राज दरबारी तानसेन कहते हैं कि श्रीकृष्ण पतित-पावन, करुणा-सिंधु, दीन-दुख-भंजन, युग-युग में विविध रूप एवं लीला धारण करने वाले, भक्तवत्सल और कृपालु हैं।[10] ब्रह्म कवि कहते हैं कि तप और योग से ये उपलब्ध नहीं हैं। अपितु जो भी ब्रह्म का हृदय में ध्यान करता है, उसे उसी रूप में दर्शन

---

१. प्रभु यह तुम्हरो अद्भुत रूप। ध्यान जोग्य निपट ही अनूप।
न० ग्रं०, भाषा दशम स्कंध पृ० २२९।

२. मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० ६५, १, ९७।
हमको वपु हरि देत संधारयो, साध्यो देवन के काज।

३. मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० १४३ प० २३१—
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्त वछल गोपाल।

४. मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० २११ प० ३६९—
सब भगत के भाग्य ही प्रकटे, नाम धर्यो रणछोर।

५. मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० २३५ प० ४००—
सब भगतन की सहाय करी प्रभु।

६. जब जब पीड़ परी भक्तन पर आप ही कृष्ण पधारे।
मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० २६ प० २०२।

७. हमने सुणी है हरि अधम उधारण। अधम उधारण सब जग तारण।
मीरां बृहद् पद संग्रह पृ० २३३ प० ३९२।

८. सब भक्तन का कारज कीन्हा सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीरा बृहद् पद संग्रह पृ० १३५ प० २१५।

९. उत सुरन सुख कारन इत भक्तन दुःख हरण निर्गुण।
सरगुण दोऊ स्वरूप एक ही वंदन।
राग कल्पद्रुम जी० १, पृ० २१५ पद ५५।

१०. पतित पावन करुणासिंधु दीन दुःख भंजन।
अनेक रूप लीला धारी भक्तवत्सल युग-युग भए कृपाल।
राग कल्पद्रुम जी० १, पृ० ४६ पद ३०।

देते हैं।[1] भक्त कवि नरसी कहते हैं कि श्रीकृष्ण सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगों में भक्त के अधीन रहते हैं।[2]

श्रीरसखानि के अनुसार आगे चल कर प्रेम और हरि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतएव प्रेम हरि-स्वरूप है और हरिप्रेम स्वरूप।[3] यद्यपि अखिल विश्व हरि के अधीन है किन्तु हरि स्वतः प्रेम के अधीन हैं।[4] 'सुदामा-चरित' के रचयिता नरोत्तमदास ने भी श्रीकृष्ण को अनाथों के नाथ एवं नृसिंहावतार के रूप में पुरानी प्रतिज्ञा-पालन करने वाला कहा है।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी अवतार-कार्य सम्प्रदायों एवं साम्प्रदायिक कवियों तथा उनके प्रभाव-स्वरूप अन्य कवियों में भी उपास्य श्रीकृष्ण के उद्धार-कार्य के रूप में अधिक प्रचलित हुए; जिसके फलस्वरूप उन्हें दीनानाथ, अनाथ-निवाजन और भक्तवत्सल की उपाधि प्राप्त हुई।[6]

इसी युग के सम्प्रदायों में, श्रीकृष्ण का अवतार एवं अवतारी के स्थान में उनके नित्य रूपों में गृहीत अर्चा रूपों का अधिकाधिक प्रसार हो चुका था। अतः सम्प्रदाय विशेष के कवि अब उनकी नित्य लीला, नित्य ऐश्वर्य या

---

१. ब्रह्म विचारत जो हिय में सोई रूप धरै नर की यहि काला।
जाय लखी किनवा नंदराय के आँगन खेलत रंग को लाला॥
अकबरी दरबार के कवि पृ० २२५ में उद्धृत।

२. कहै सुने को बुरो न मानो हम नरसी दास तुम्हारे।
सतयुग, त्रेता, द्वापर कलियुग भक्तन के आधीन हैं प्यारे॥
राग कल्पद्रुम जी० १, पृ० ३४५ पद १५।

३. प्रेम हरि को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यों लसै, ज्यों सुरज अरु धूप॥
रसखान, प्रेमवाटिका पृ० ८ से २४।

४. रसखान प्रेमवाटिका, पृ० ११-१२, दोहा ३६।
हरि के सब आधीन, पै हरी प्रेम आधीन।
याहि ते हरि आपुही, याहि बड़प्पन दीन।

५. द्वारिका के गये हरि दारिद्र हरेंगे प्रिय।
द्वारिका के नाथ वै अनाथन के नाथ हैं॥
सुदामाचरित पृ० १४ क० ९।
पूरन पैज करी प्रह्लाद की खंभ सो बाँध्यो पिता जिहि बेरे।
द्रौपदी ध्यान धर्‍यौ जबहीं तबही पट कोट लगे चहु फेरे॥
सुदामाचरित्र पृ० १५।

६. संतवाणी अङ्क, कल्याण, परशुराम देव जी० पृ० २७९।
दीनानाथ अनाथ निवाजन भगत बछल जु बिरद धार्‍यौ।

माधुर्य प्रधान रूपों के वर्णन की ओर अधिक ध्यान देने लगे थे। श्रीकृष्ण-चरित्र से इनका सम्बन्ध उत्तरोत्तर कम होता गया। अन्त में रसिक संप्रदायों में एकमात्र राधा-कृष्ण 'राधा-कन्हाई तो सुमिरन को बहानों हैं' के रूप में अवशिष्ट रहे। इनके नित्य रूपों के वर्णन से स्पष्ट है कि ये चरित प्रधान अवतार, अवतारी या उपास्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा नित्य सेव्य अर्चावतारों के अत्यन्त निकट हैं।[1]

१. सेव्य हमारे हैं सदा, वृन्दा, विपिन विलास।
नंद नंदन वृषभानुजा, चरण अनन्य उपास॥
जुगल शतक पृ० १-२४।

बारहवाँ अध्याय

अर्चावतार

मध्यकाल में एक ओर तो अवतारों के लीलात्मक रूपों की अभिव्यक्ति हुई और दूसरी ओर दिन-प्रतिदिन के व्यवहारों में प्रयुक्त अर्चावतारों या अर्चाविग्रहों का प्रचार हुआ। इस युग में पौराणिक कथाओं के साथ 'पांचरात्रों' में प्रचलित अवतारों का विलक्षण सामंजस्य स्थापित किया गया, जिसके फलस्वरूप लीलागान की प्रवृत्तियों में व्यापक परिवर्तन दिखाई पड़ता है। जहाँ सूर आदि में पौराणिक कथाओं से सम्पृक्त सगुन लीला-पद मिलते हैं, वहाँ कालान्तर में राम, कृष्णादि अवतारों के, अर्चारूपों के अधिक व्यापक होने पर उनकी अष्टयाम सेवा, पूजा, अर्चना तथा पाक्षिक, मासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक उत्सवों के ही लीला-पद अधिक प्रचलित हुये। विशेषकर परवर्ती मध्यकाल के साहित्य को यदि अर्चावतारों का साहित्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

परम्परा

अन्य अवतारवादी प्रवृत्तियों के सदृश अर्चावतार की भी प्राचीन परम्परा विदित होती है। विशेषकर अवतारवाद के साथ ही इस धारणा का विकास देखा जा सकता है। क्योंकि जहाँ ब्रह्म के 'प्रादेशिक' या 'एकदेशीय' होने का सम्बन्ध ज्ञात होता है,[1] वहाँ अवतार और अर्चा एक ही भूमि पर स्थित दिखाई देते हैं। अवतार यदि ब्रह्म का प्रतिनिधि है तो अर्चा ब्रह्म का प्रतीक।[2] अतएव दोनों उस महतोमहीयान के लघुतम प्रतिनिधि या प्रतीक होने का समान रूप से दावा करते हैं।[3]

---

१. ब्र० सू० १, २, २९ 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' के अनुसार आश्मरथ्य ने ब्रह्म की एकदेशीय अभिव्यक्ति मानी है।

२. ब्र० सू० ४, १, ४ और ४, १, ५ 'न प्रतीके न हि सः' और 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' में ब्रह्म के प्रतीक रूप का भान होता है।

३. गीता रहस्य पृ० ४१४–४१५ में श्री तिलक ने उपनिषदों में प्रयुक्त विभिन्न नामों के आधार पर प्रतीक पूजा से मूर्त्ति–पूजा या अवतार–पूजा का अनुमान किया है। बृ० उ० ७, ४, २३ में विश्व के अनेक उपादानों को ब्रह्म का शरीर कहा गया है। 'आदित्य' बृ० ३, ७, ९ और 'चंद्रमा' बृ० ३, ७, ११ आदि भी उसी क्रम में उसके शरीर बतलाये गये हैं। छा० ३, १९, १ में 'आदित्य' को ब्रह्म का शरीर और रूप कहा गया है।

वैदिक-संहिताओं में अनेक देवता एक के ही विशिष्ट रूप माने गये हैं।[१] क्योंकि समूह में जहाँ इनके नाम समान कोटि में लिये गये हैं।[२] वहीं विशिष्ट रूपों से सम्बद्ध इनके सर्वोत्कर्षप्रधान एकेश्वरवादी रूप मिलते हैं।[३] किन्तु इनसे एक के अनेक नामों या रूपों का आभास मात्र मिलता है। जहाँ तक 'अर्चा' शब्द का प्रश्न है वैदिक संहिताओं में 'अर्चत्','अर्चद', 'अर्चा' आदि शब्दरूपों के प्रयोग हुए हैं।[४] परन्तु अर्चा विग्रह से सम्बन्धित अर्थ बाद में चलकर 'गीता'७, २१ का प्रतीत होता है। वहाँ कहा गया है कि जो-जो भक्त जिस-जिस तनु को श्रद्धा के साथ अर्चना चाहता है, उनकी श्रद्धा को मैं उसमें ही स्थिर कर देता हूँ।[५] 'विष्णुसहस्रनाम' में 'अर्चिस्मान्' और 'अर्चित' नाम विष्णु के आये हैं। किंतु प्रायः 'अर्चि' शब्द का अर्थ किरण होने के कारण अर्चा-विग्रह का इससे कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी 'गीता' के उक्त श्लोक से अर्चा और उपास्य विग्रह के सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है।

पर अर्चा का जिस मूर्त्ति या विग्रह से सम्बन्ध माना गया है उसके प्राचीन रूपों पर भी कतिपय विद्वानों ने विचार किया है।[६]

श्री ज० ह० दवे ने ऋ० १०, १५५, ३ की ऋचा का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार इस प्रकार किया है—हे अमर पुजारी, सागर में बहते हुए काष्ठ से निर्मित पुरुषोत्तम भगवान् की काष्ठमूर्त्ति की पूजा करके, सर्वोपरि ब्रह्म को प्राप्त कर।[७] श्री ए० के० कुमारस्वामी ने पशुओं के रूप में यज्ञों में कुछ

---

१. ऋ० १, १६४, ४६।

२. ऋ० १०, ६५, १ में अन्तरिक्ष में अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र आदि सबकी समन्वित महिमा का अस्तित्व माना गया है।

३. ऋ० २, १, १–१५ में अग्नि ही इन्द्र, विष्णु, वरुण, त्वष्टा, रुद्र, पूषा, सूर्य, सरस्वती, आदि से स्वरूपित किया गया है।

४. अर्चत्, प्रार्चत, ऋ० ८, ६९, ८ और अथर्व २०, ९२, ५ अर्चद, ऋ० १, १७३, २ अर्चद, ऋ० ८, २०, १० 'अर्चा दिवे बृहते शूष्यं' ऋ० १, ५४, ३, निरुक्त ६, १८ 'अर्चा शक्राय शकिने शाची' १, ५४, २।

५. गी० ७, २१—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

६. (क) वि० स०, शां० भा० पृ० १९४ श्लो० ८१।
(ख) अर्चा का जहाँ तक प्रतिमा से सम्बन्ध है श० ब्रा० ११, १, ६, १३ में 'संवत्सर' को प्रजापति की प्रतिमा कहा गया है। तथा अथर्व सं० ३, १०, ३ में 'रात्रि' को संवत्सर की प्रतिमा कहा गया है और संतान, वायु, धन आदि के लिये उस प्रतिमा की उपासना बताई गई है।

७. भारती, विद्याभवन, वर्ष, १, अंक ६ पृ० ४६ ऋ० १०, १५५, ३।

देवताओं के प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया है।[1] और श्री रायकृष्णदास ने मैकडोनल के मत के अनुसार तथा ऋ० सं०[2] के एक मंत्र के आधार पर वैदिक काल में मूर्त्तियों का अस्तित्व माना है।[3]

इन तथ्यों के आधार पर प्राचीन काल में भी मूर्त्ति-निर्माण की संभावना की जा सकती है। परन्तु यज्ञ-याज्ञ एवं कर्मकांडप्रधान वैदिक युग में मूर्त्ति-पूजापद्धति का कहीं उल्लेख न होने के कारण भक्तियुक्त अर्चाविग्रह का आरम्भ युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

पौराणिक या मध्यकालीन साहित्य में स्पष्टतः निगम और आगम नाम-की दो परम्पराओं का अत्यधिक उल्लेख हुआ है। इतिहासकारों ने निगम को पूर्णतः वैदिक या आर्य तथा आगम को पूर्णतः द्रविड़ शास्त्र माना है।[4] इनके कथनानुसार यदि आर्य पद्धति में होम की प्रधानता है तो द्रविड़ पद्धति में पूजा या 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' की।[5]

अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि कालक्रम से केवल द्रविड़-आर्य का ही समन्वय नहीं हुआ अपितु निगम और आगम की दोनों धाराओं का भी अपूर्व संगम हुआ। फलतः कर्मकाण्ड के साथ अर्चा भक्ति ने भी आर्य संस्कृति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। श्री कुमार स्वामी का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि द्रविड़ों ने विजित होकर भी आर्यों को भक्ति और मूर्त्ति-पूजाप्रदान की।[6] अतः एक ओर द्रविड़ देवता शिव का आर्यों में प्रचार हुआ और दूसरी ओर आर्य देवता विष्णु में द्रविड़ देवतत्त्वों का समावेश किया गया।[7]

इस प्रकार आगम और निगम के साथ-साथ आर्य और द्रविड़ देवताओं में भी सामंजस्य स्थापित हुआ। उक्त उपकरणों के आधार पर देवताद्वय के परस्पर समन्वय का अनुमान किया जा सकता है किन्तु इससे अर्चावतार के आरम्भ का स्पष्टीकरण नहीं होता।

अदो यद्दारु प्लवते सिंधोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्।

१. हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इन्डोनेशियन आर्ट पृ० ४१।

२. ऋ० ४, २४, १० 'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः' 'कौन मेरे इन्द्र को मोल लेगा' से इन्द्र की मूर्त्ति का अनुमान किया गया है।

३. भारतीय मूर्तिकला, (तृतीय सं० २००९) पृ० २६।

४. दी वैदिक एज, विद्याभवन, (द्वितीय सं० १९५२) पृ० १६०।

५. दी वैदिक एज, विद्याभवन, (द्वितीय सं० ११५२) पृ० १६०।

६. हिस्ट्री आफ इंडियन ऐन्ड इन्डोनेशियन आर्ट पृ० ५।

७. दी वैदिक एज, द्वितीय सं० १९५२ पृ० १६२।

इस दृष्टि से जिस प्रकार समस्त देवतावाद का ही पौराणिक (मीथिक) विकास दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार अर्चावतार के सम्बन्ध में भी एक पौराणिक कथा को आधार माना जा सकता है। जिससे आर्य और द्रविड़ संस्कृति के समन्वय का भी भान होता है। यह है—नृसिंहावतार की कथा-जिसके अनुसार प्रह्लाद का कथन सत्य करने के निमित्त खम्भे से विष्णु का नृसिंह-रूप में आविर्भाव हुआ था। पिता के विरोध करने पर भी प्रह्लाद, (संभवतः एक द्रविड़) ने प्रतीकपूजा के रूप में विष्णु को स्वीकार किया था।[1] गोस्वामी तुलसीदास ने उपर्युक्त कथा एवं उससे पत्थर-पूजा के प्रचलन का उल्लेख किया है।[2] जिसके आधार पर मध्यकाल में इस धारणा के अस्तित्व का पता चला है। परन्तु नाभादास जी ने पूजा का सम्बन्ध पृथु से माना है।[3]

पांचरात्रसंहिता युग

अर्चावतारों का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध पांचरात्रसंहिताओं से रहा है। अर्चारूपों की पूजा, अर्चना, मंत्र, यंत्र आदि अनेक प्रकार के उल्लेखों से ये संहिताएँ ओतप्रोत हैं। 'परम संहिता' में अर्चावतार की आवश्यकता बतलाते हुए कहा गया है कि ईश्वर की पूजा केवल साकार रूपों में ही सम्भव है अन्य किसी अवस्था में नहीं। लोकानुग्रह के लिये परमात्मा के इन रूपों का निर्माण हुआ है। मनुष्यरूप में उसकी मूर्त्ति बनाकर मनुष्य अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और पूर्णरूप से उसकी पूजा कर सकता है। निराकार में न अर्चना का उपयोग है, न ध्यान का, न स्तोत्र का। साकार-अर्चारूप में होने पर ही उसकी अर्चना सम्भव है।[4]

पांचरात्रसंहिताओं का उदय सात्वत, वैष्णव और पांचरात्र आदि के एकीकरण होने के पश्चात् विदित होता है। इसके पूर्व ही तै० आ० १०, १, ६

---

१. ब्रह्मवादिन जी० ३ अङ्क १४, पृ० ५३९।

२. तु० ग्रं० जी० २, कवितावली पृ० १९३, १२७।

काढ़ि कृपान कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ सब ठाऊँ है खंभ में हाँ सुनि हांक नृकेहरी जागे।
बैरी बिदारि भये बिकराल कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तबते सब पाहन पूजन लागे॥

३. भक्तमाल, रूपकला पृ० १९९ छप्पय, १४।

सुठि सुमिरन प्रह्लाद पृथु पूजा कमला चरनन मन।

४. परमसंहिता, गायकवाड़, ३, ५–७।

३, ७ निराकारे तु देवेश नार्चनं संभवे न्नृणाम्।
न च ध्यानं न च स्तोत्रं तस्मात्साकारमर्चयेत्॥

में नारायण, वासुदेव और विष्णु एक साथ गृहीत हुए हैं। 'महाभारत नारायणीयोपाख्यान' में सात्वत, या भागवत, वैष्णव और पांचरात्र पुनः एकत्र हो जाते हैं।[1] संभवतः इसी परम्परा में श्रेडर ने पांचरात्र संहिताओं का प्रारम्भ भंडारकर के मत का समर्थन करते हुए उक्त उपाख्यान से माना है।[2] इन सहिताओं के उदयकाल के पूर्व ही मथुरा के सात्वत मतानुयायियों ने दक्षिण में वासुदेवभक्ति का प्रारम्भ कर दिया था।[3] कंस के मरने के पश्चात् द्वारका के अतिरिक्त दक्षिण में भी इनके पांच राज्य स्थापित हो चुके थे।[4] प्राचीन तमिल साहित्य में कृष्ण और कृष्ण की लीलाओं के उल्लेखों के आधार पर उनके प्रचार का पता चलता है।[5] संभवतः दूसरी शताब्दी तक पांचरात्र आगमों का योग कृष्ण की अर्चा पूजा पद्धति के साथ प्रचलित हो चुका था।[6] ऐसा इतिहासकारों का अनुमान है। अतएव निश्चय ही सात्वत, भागवत, वैष्णव और पांचरात्र सभी के समन्वय का अनुमान पांचरात्र आगमों के निर्माण के पूर्व ही माना जा सकता है। क्योंकि पद्धतियों का निर्माण किसी विश्वास के स्थूल रूप ग्रहण कर लेने के पश्चात् ही सम्भव है।

परन्तु श्रेडर ने नारायण के 'पांचरात्र सूत्र' से ही ईश्वर के पर, व्यूह आदि पंच-रूपों के साथ अर्चा का प्रारम्भ माना है।[7] श्रेडर के उपर्युक्त मत का आधार सम्भवतः अहि० सं० ११, ६४ का वह श्लोक है जिसमें कहा गया है कि नारायण ने स्वयं शास्त्र बनाया और पाँच प्रादुर्भावों को कहा।[8] इन रूपों का प्राचीन तमिल कविताओं में भी उल्लेख हुआ है। तमिल साहित्य में पेरुन्देवार नाम के कवि के पाँच पद मिलते हैं। जिनमें इतिहासकारों के

---

१. महा० १२, नारायणीयोपाख्यान्, मोक्ष धर्म पर्व। २. श्रेडर पृ० १४।
३. साउथ इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड कल्चर जी० १; पृ० ३३।
४. साउथ इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड कल्चर जी० १, पृ० ३८-३९।
५. साउथ इंडियन हिस्ट्री ऐन्ड कल्चर जी० १, पृ० ४६।
६. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया जी० २, पृ० ६८-७०।
७. श्रेडर पृ० २५ इट ऐपियर्स. देन, दैट दी सेक्ट टूक इट्स नेम फ्राम इट्स सेंट्रल डोगमा व्हिच वाज दी पांचरात्र-शास्त्र आफ नारायन इण्टरप्रटेड फिलासफिकली 'इवेदम' ऐज फाइव फोल्ड सेल्फ मैनीफिष्टेशनस् आफ गौड वाइ मिंस आफ हिज 'पर, व्यूह विभव, अन्तर्यामी, अर्चा', फौर्मस्।
८. श्रेडर पृ० २६ अहि० सं० ११, ६४।
तत्परं व्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम्।
पांचरात्राह्वयं तंत्र मोक्षैकफललक्षणम्॥

मतानुसार प्रथमपद में पर, द्वितीय में व्यूह, तृतीय में विभव, चतुर्थ में अन्तर्यामी और पंचम में अर्चा रूपों का वर्णन किया गया है ।[1]

इतना ही नहीं रामानुज आदि आचार्यों के आविर्भाव के पूर्व ही तमिल प्रदेश में भाव, भाषा, भक्ति, भक्त और भगवान् इन पंचाभिव्यक्तियों का जो विशुद्ध रूप दृष्टिगत होता है, उसके मूल प्रेरक तिरुपति, श्री रंग आदि दक्षिण के प्रधान अर्चावतार माने जा सकते हैं ।[2] क्योंकि ईसा की प्रथम शती में तोंदमान द्वारा स्थापित तिरुपति का मंदिर तमिल साहित्य के अनेक जनप्रिय एवं भक्त आलवार कवियों की साधना भूमि रहा ।[3] 'द्रविड़प्रबन्धम्' (पद संख्या ४००० रचनाकाल ३०० ई० से ७०० ई०) में द्वादश आलवारों द्वारा गाई हुई कविताओं में लगभग १०८ स्थानों में विष्णु और उनके विभिन्न रूपों की पूजा का उल्लेख है ।[4]

अतएव यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत में वल्लभ आदि दक्षिणी आचार्यों ने जिन अर्चावतारों की सेवा एवं तत् सम्बन्धी लोकप्रिय पद साहित्य की सर्जना की प्रेरणा दी उसके पूर्व ही अर्चावतारों के मंदिर में तथा जनसमाज में जाति और संस्कृत भाषा के बंधन को तोड़ कर जन भाषा में गाने वाले आलवार कवियों के गीत पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे । इसमें संदेह नहीं कि अवतारों की पौराणिक पीठिका उनकी काव्याभिव्यक्ति का विशेष माध्यम बनी । किन्तु इसके अतिरिक्त भी अर्चारूप की कतिपय विशेषतायें हैं, जो उनकी काव्यात्मक प्रवृत्तियों एवं अभिरुचियों को सतत जाग्रत रखने में विशेष सहायक हुईं ।[5]

अर्चारूप का वैशिष्ट्य

ईश्वर का अर्चारूप मनुष्य के सबसे अधिक निकट है । इस रूप में ईश्वर मनुष्य के साथ अनेक रूपों तथा विविध भावों में मानव भक्त के साथ

---

१. साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर जी० २ पृ० ८०९ ।

२. हीम्स आफ दी अल्वारस भू० पृ० २३–२४ श्री रंगम के रंगनाथ, विष्णु कांची के वरदराजस्वामी और तिरुपति के व्यंक्टेश्वर, आलवार साहित्य के मुख्य प्रेरक रहे हैं ।

३. हिस्ट्री आफ तिरुपति भाग १ पृ० २०८ ।

४. हिस्ट्री आफ तिरुपति भाग १ पृ० ५२ ।

५. हीम्स आफ दी अल्वारस भू०पृ० २१. 'ग्रेट दी बैक आफ आल दी इम्फैसिस आन दी विज़िबल इमेज आर श्राइन लाइज दी ग्रेट थाट दैट मैनस रेलिजन नाट् ओनली नीड्स इक्सप्रेसन थ्रू दी सेन्सेज़ बट थ्रू देम आलसो नीड्स एण्ड रिसिव्स् स्टीम्युलेशन ।

भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। भक्त और भगवान् में कभी स्वामी-सेवक-भाव रहता है तो कभी सखा-भाव, कभी वात्सल्य एवं कभी पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका-भाव, जिसमें इसकी चरम परिणति हो जाती है। अर्चावतार अपने स्वामी रूप में अखिल विश्व का प्रतिपालक, सर्वशक्तिमान् और परम स्वतंत्र है। श्री गोपीनाथ कविराज के मतानुसार वह किसी भी द्रव्य को अपना विग्रह मानकर उसमें विराजने लगता है। इसमें देशनियम नहीं है। अयोध्या, मथुरा आदि देश न होने पर भी हानि नहीं है। काल-नियम भी नहीं हैं। जबतक उनकी इच्छा हो तभी तक रह सकते हैं। अधिकारी नियम भी नहीं है। दशरथ आदि की भाँति अधिक विशिष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। अर्चक जिस किसी स्थान में और जिस किसी भी समय उनको प्राप्त करना चाहता है, वह उसी समय प्राप्त कर सकता है।[१] 'तत्त्वत्रय' के अनुसार गुण और अवगुण की ओर ध्यान न देकर वे समस्त लोकों को शरण देते हैं। वे भक्त की रुचि नित्य जाग्रत कर उसे अपनी ओर उन्मुख करने की अपूर्व क्षमता से युक्त हैं। वे उसके हृदय स्थल को स्वच्छ और परिमार्जित कर शुभफल भोगने योग्य बनाते हैं। तथा भक्त के पास स्वतः बिना किसी प्रयत्न के उपस्थित रहते हैं।[२] दूसरी ओर सेवक के सेव्य रूप में प्रत्येक वस्तु के लिये आश्रित हैं। उस सर्वशक्तिमान् की प्रत्येक कामनाएँ और इच्छायें भक्त की इच्छा के रूप में परिणत हो जाती हैं।

परम-उपास्य एवं इष्टदेव उसके दैनिक कार्यों का मूल आधार और उपभोक्ता बन जाता है। भक्त की प्रत्येक कामना उसके इष्टदेव में प्रतिबिम्बित होती है सेवक के अभाव में अर्चा-इष्टदेव स्वयं अपने भक्त का कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक बन जाता है; वह मूक, अशक्त और पराधीन सा होकर केवल अपार करुणा के वशीभूत हो अपने भक्त को प्रत्येक अभीष्ट प्रदान करता है।[३] वह भक्त के भावों को अभिव्यक्त करने की असीम शक्ति जाग्रत करता है। भक्त उसकी पूजा में अनेक प्रकार की भूलें करता है। अर्चा इष्टदेव उसी को विहित मानकर प्रेम पूर्वक स्वीकार करता है।

अर्चावतार सभी का बंधु और भक्तवत्सल है। उसमें स्वामित्व रहने पर भी उनके स्वत्व को भक्त इष्ट रूप में समझता है कि यह मेरा भगवान् है। अर्चा उपास्य भी भक्त के इच्छानुसार ही खाता है, पीता है, सोता है या अन्य दैनिक कार्य करता है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में कहा गया है कि देशकाल की

---

१. श्रीकृष्णांक, कल्याण, वर्ष ६ पृ० ४७ भगवत विग्रह लेख।

२. तत्त्वत्रय पृ० ११८।

३. तत्त्वत्रय पृ० ११९।

उत्कृष्टता से रहित, आश्रिताभिमत अर्चक के समस्त अपराधों को क्षमा करने वाले, दिव्य देह युक्त, सहनशील, अपने सभी कर्मों में अर्चक की अधीनता स्वीकार करने वाली मूर्त्ति को अर्चावतार कहते है।[१]

षोडश प्रकार से पूजित ये अर्चा चार प्रकार के माने गये हैं। स्वयं व्यक्त, दैव (देवता द्वारा स्थापित) सैद्ध, (सिद्धों द्वारा स्थापित) और मानुष (मनुष्य द्वारा स्थापित)।[२]

रामभक्ति शाखा में अर्चारूप

विक्रम की पंद्रहवीं शती में रामानन्द ने उत्तरभारत में जिस भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्तन किया उसके प्रसार एवं प्रचार में राम के अन्तर्यामी और अर्चा दो विशिष्ट रूप क्रमशः निर्गुण और सगुण भक्ति सम्प्रदायों में प्रचलित हुये। सगुण भक्ति में उपास्य राम के साथ मूर्त्ति और बहुदेववाद का समन्वय हुआ।[३] रामानन्द ने ईश्वर, माया और जीव विशिष्ट, 'तत्त्वत्रय' के अनुरूप प्रतीकोपासना के रूप में राम (ईश्वर), सीता (माया या प्रकृति) और लक्ष्मण (जीव) इन तीनों के ध्यान का विधान किया।[४]

राम-साहित्य में विशेषकर तुलसीदास ने 'राम-चरित-मानस' में तीनों के उक्त रूप का उल्लेख किया है।[५] परन्तु वल्लभ आदि श्रीकृष्ण सम्प्रदायों की अपेक्षा इस सम्प्रदाय में भी अन्य देवों को समुचित स्थान मिला।[६] साम्प्रदायिक इष्टदेव के रूप में राम, लक्ष्मण और जानकी के अतिरिक्त जानकीवल्लभ-राम विशेष रूप से प्रचलित हुये।[७] इस प्रकार राम के परवर्ती रूपों में ईश्वर

---

१. वैष्णवमताब्ज-भास्कर, भगवदाचार्य अनु० पृ० ११७।

२. वैष्णव मताब्ज भास्कर, भगवदाचार्य अनु० पृ० ११८।

३. फर्कुहर पृ० ३२६ 'देअर वाज ए कम्प्रोमाइज विटबीन लिविंगथीज्म एण्ड एन आइडोलेट्रस ऐण्ड माईथोलाजीकल पोलीथीज्म'।

४. भागवत-सम्प्रदाय पृ० २६३ और रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ भू० पृ० १९।

५. रा० मा० पृ० ३३०।
उभयबीच सिय सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।
और तु० ग्रं० सं० ९ पृ० २८२ 'गीतावली'।
रूप सोभा प्रेम के से कमनीय काय हैं।
मुनि वेष किए किधों ब्रह्म जीव माय हैं।

६. विनय पत्रिका में अनेक प्रचलित देवों की स्तुति से स्पष्ट है।

७. रामाष्टयाम पृ० ३ दो० ४।
जानकीवल्लभ लाल को जीवन-धन यह धाम।
द्वादश रस लीला अमित गुण समूह विश्राम॥

की अपेक्षा उनके माधुर्य रूपों का अधिक विस्तार हुआ, उस अवस्था तक पहुँच कर राम के अवतारत्व का संकोच होकर केवल नित्य लीला या नित्यकेलि तक सीमित रह गया।[1]

कृष्ण-भक्ति शाखा में अर्चारूप

राम-भक्ति शाखा की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति शाखा में अर्चावतारों का अधिक व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्र लक्षित होता है, द्वारका से जगन्नाथ पुरी तक कृष्ण के अर्चारूपों का प्रभाव स्पष्ट है।

पहले बतलाया जा चुका है कि भक्त और अर्चा का सम्बन्ध मुख्यतः सेवक-सेव्य सम्बन्ध है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण को लेकर प्रायः जितने सम्प्रदायों की स्थापना हुई, उन सभी में श्रीकृष्ण के विभिन्न एवं विशिष्ट व्यक्तित्व और चरित्र से समन्वित रूपों वाले अर्चाविग्रह मान्य हुये।[2]

इस काल के वार्त्ता ग्रंथों में अर्चा, आचार्य और भक्त तीनों की अवतारी लीलाओं एवं चमत्कारों का विस्तृत वर्णन हुआ है। इनमें अनेक अलौकिक घटनाओं के साथ-साथ ईश्वर के साकार साहचर्य की कथायें भी कही गई हैं। 'सम्प्रदाय प्रदीप' के अनुसार 'रुद्र सम्प्रदाय' के आदि प्रवर्तक विष्णु स्वामी को सम्प्रदाय प्रवर्तन के पूर्व सगुण-साकार विग्रह श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ था।[3] कालान्तर में उन्हीं श्रीनाथ जी के विशिष्ट स्वरूप विग्रह श्रीनाथ जी परब्रह्म

---

१. रामाष्टयाम, पृ० ३ दो० ९।
ललीलाल गुणमाल वर अष्टयाम रस गेह।
सुनत सेवत सज्जन सुमति परषहि लोचन मेह॥

२. भक्तकवि व्यासजी पृ० ५८ में वासुदेव गोस्वामी द्वारा भगवत रसिक का उद्धृत पद:
प्रथम दरस गोविंद रूप के प्रान पियारे।
दूजे मोहन मदन, सनातन सुचि उर धारे॥
तीजे गोपीनाथ मधु हंसि कंठ लगाये।
चौथे राधारमन भट्ट गोपाल लड़ाये॥
पाँचे हित हरिवंस किये बस वल्लभ राधा।
छठये युगलकिशोर व्यास सुख दियो अगाधा॥
साते श्री हरिदास के कुंज विहारी हैं तहाँ।
भगवत रसिक अनन्य मिलि बास करइ निधिवन जहाँ॥

३. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० १८ मन्दिर का दरवाजा खुलने पर श्री विष्णुस्वामी को
'वयसि कैशोरे द्विभुजं पीतवाससम्।
नवीन-नीरद-श्यामं पद्मगर्भारुणेक्षणम्'॥
विग्रह के रूप में श्रीकृष्ण का दर्शन मिला था।

श्रीकृष्ण के साक्षात् स्वरूप माने जाते हैं।[1] डा० दीन दयालु गुप्त ने कुछ वल्लभ भक्तों का मत इस प्रकार दिया है—'श्रीनाथ जी का स्वरूप तो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का है और अन्य स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम की विभूति तथा उनके व्यूहात्मक स्वरूपों के स्वरूप हैं।[2] 'श्री गोबर्धन नाथ जी की प्राकट्य-वार्ता' की भूमिका के अनुसार श्रीनाथ जी का नित्य रूप श्रीगिरिराज पर्वत की कन्दरा में विराजमान है, जहाँ वे अपने आचार्य और भक्तों से नित्य सेवा ग्रहण करते हैं।[3]

वे दैवी जीवों के उद्धार के निमित्त अखिल लीला-सामग्री सहित व्रज में आविर्भूत होते हैं।[4] लीला भेद से इन्द्रदमन, देवदमन और नागदमन इनके तीन नाम हैं।[5] श्रीकृष्ण के सदृश वार्त्ताओं में श्रीनाथ जी के चतुर्व्यूह प्राकट्य का भी विधान किया गया है। उस व्यूह में संकर्षण–बलदेव, श्री गोविंददेव और दानीराय जी माने गये हैं।[6] इस प्रकार इस युग में अर्चावतारों का आविर्भाव श्रीकृष्ण आदि पौराणिक अवतारों के सदृश माना जाता था। इसका मुख्य कारण दोनों का समान रूप से उपास्य रूपों में गृहीत होना था। फिर भी श्रीकृष्ण और उनके रूपों में विशेष अन्तर यह है कि श्रीकृष्ण की लीलायें जहाँ पौराणिक पात्रों से सम्बद्ध हैं, वहाँ श्रीनाथ जी एवं इनके स्वरूपों की लीलायें तत्कालीन आचार्य, भक्त और उनके प्रेमी समाज के साथ सन्निविष्ट हैं।

'सम्प्रदाय-प्रदीप' के अनुसार श्रीनाथ जी भगवान् श्रीकृष्ण के आविष्ट रूप श्रीनाथ प्रतीत होते हैं, क्योंकि कथा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण जी के रूप में पुष्टिमार्गी वैष्णवों की सेवा ग्रहण करने के लिये उनके स्वरूप में अन्तर्हित हो जाते हैं।[7]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५१३।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५१४ इनके अन्य सात स्वरूप श्री मथुरेश जी, श्री विट्ठलनाथ जी, श्री द्वारिकेश जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुल चन्द्रमा जी, श्री बालकृष्ण जी, श्री मदनमोहन जी माने जाते हैं, तथा इनके अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के सेव्य नवनीतप्रिय जी कहे गये हैं। सम्प्रदायप्रदीप पृ० ६६ में अन्य रूपों को भी साक्षात स्वरूप कहा गया है, 'श्रीजगन्नाथ, विट्ठलनाथादि स्वरूपेषु साक्षात्वं लोके प्रसिद्धम्'।

३. गोवर्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्त्ता भू० पृ० १।

४. गो० प्रा० वा० भू० पृ० १।

५. गो० प्रा० वा० पृ० ५, अष्टछाप परिचय पृ० ९ के अनुसार संभवतः ये इनके पूर्ववर्ती नाम थे. चौ० वै० वा० पृ० ५५७ में नाम आये हैं।

६. गो० प्रा० वा० पृ० ९।

७. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० ७७।

वार्त्ताग्रंथों में अर्चारूप

वार्त्ताओं के अनुसार श्रीनाथ जी एवं उनके अन्य स्वरूप केवल विग्रह मात्र नहीं, अपितु मानव स्वभाव से आपूरित हैं। राजा लाखा की बात सत्य करने के लिये श्रीनाथ जी स्वयं किवाड़ खोल रानी का पर्दा हटाते हैं।[1] बंगाली देव ब्राह्मण के घर कभी गुड़ और बड़ा खाते हैं।[2] कभी पाँचो गुजरी के हाथ से दही भात[3] तथा अभी भी सवासेर मक्खन खाने लगते हैं।[4] भक्तों में अच्छे गायक के रूप में वे प्रसिद्ध हैं।[5] वे नित्य अपने सखाओं से हँसी मसखरी करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अपने सेवक प्रेमनिधि-मित्र को मसाल दिखाकर स्वयं सेवक का कार्य करते हैं।[6] वे वैष्णवों के लिये अनेक प्रकार के अवतार धारण करते हैं।[7] अर्चा रूपों का आविर्भाव, उपास्य इष्टदेव के रूप में भक्त के निमित्त होता है, क्योंकि मंत्र जप या अन्य प्रकार के भक्तानुरोध से वे अवतीर्ण होते हैं। श्री गोसाईं जी के सेवक रामदास के अष्टाक्षर और पंचाक्षर मंत्र का जप करने पर श्री गोवर्द्धननाथ जी उनको दर्शन देते हैं,[8] फिर भी मानवोचित भावों से वे अपने को दूर नहीं करते। श्रीनाथ जी को मनुष्य के सदृश ही ठण्ढ बहुत लगती है।[9] वार्त्ता ग्रंथों के अनुसार अर्चा-विग्रहों का रूप भी एक वैष्णव के सदृश विदित होता है।[10] श्रीनाथ जी बालक के रूप में प्रसाद वितरण करते हैं[11] और मंदिर के निर्माण के लिये पूरणमल खत्री को आदेश देते हैं।[12] भक्त विशेष में उनका आवेश भी होता है, विशेषकर एक भक्त दूसरे भक्त में अपने उपास्यदेव ठाकुर जी का आवेश विदित करता है।[13]

उनका शरीर भगवत्ता से ओत-प्रोत है क्योंकि श्रीनाथ जी के स्पर्श से वस्त्र भगवत्स्वरूप हो जाता है और इस वस्त्र के धोने से धोबी स्वयं ठाकुर जी के रूप में अवतीर्ण होता है।[14] इस प्रकार की तद्रूपता के उदाहरण मिलने का

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता पृ० ८२।

२. दो० वा० वै० वा० पृ० ८८। ३. दो० वा० वै० वा० पृ० ९३।

४. दो० वा० वै० वा० पृ० ९४। ५. वही पृ० ४।

६. दो० वा० वैं० वा० ८, २५ श्री गोवर्धननाथ जी नित्य चतुर्भुज दास सो हँसी मसकरी करते हैं।

७. दो० वा० वै० वा० पृ० १३९।

८. दो० वा० वै० वा० पृ० १५३। ९. दो० वा० वै० वा० पृ० १७८।

१०. चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता पृ० २३०। ११. चौ० वै० वा० पृ० २३२।

१२. चौ० वै० वा० पृ० २३५। १३. दो० वा० वै० वा० पृ० १८२।

१४. दो० वा० वै० वा० पृ० २२५।

सो वै धोबी श्रीनाथ जी के वस्त्र धोवत-धोवत तद्रूप भयो।

कारण भक्त और भगवान् तथा सेव्य और सेवक की अभिन्नता प्रतीत होती है। वैष्णव और ठाकुर जी तथा सम्प्रदाय में श्रीनाथ जी और गुसाईं जी जैसे सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक और सूत्रधार परस्पर अभिन्न माने जाते हैं।[1] इस युग की प्रसिद्ध मान्यता भक्त, भगवंत और गुरु की एकता का उल्लेख श्री नाभादास ने 'भक्तमाल' के प्रारम्भ में ही किया है।[2] उक्त प्रसंगों से यह प्रतीत होता है कि सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास में तत्कालीन अर्चावतारों का महत्त्वपूर्ण योग होता था। वल्लभमत में ठाकुर जी के दक्षिण चरण से मर्यादा और वामचरण द्वारा पुष्टि-मार्ग की स्थापना मानी जाती है।[3] अतः अर्चाविग्रह केवल सम्प्रदायों में उपास्य ही नहीं हैं अपितु सेव्य-सेवक, प्रचारक, उपदेशक सब कुछ हैं। वे सेव्य रूप में आविर्भूत होने के पूर्व स्वप्न देते हैं और पुनः सेवा के लिये सेवक रूप में भी अवतीर्ण होते हैं।[4] 'वार्त्ताओं' में श्रीनाथ जी और विट्ठलेश जी के लिये कहा गया है कि श्रीनाथ जी तो साक्षात् श्रीकृष्ण हैं और विट्ठलेश प्रकट प्रमाण हैं। क्योंकि वे बोलते-चालते, हँसते-खेलते दर्शन देते हैं।[5] भक्तों को अपने इष्टदेव की विशिष्ट मूर्त्ति के प्रति अत्यन्त दृढ़ आसक्ति होती है। अर्चाविग्रह भक्त के इस विश्वास का प्रतिरोध नहीं करते। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास के निमित्त नंददास की प्रार्थना सुनकर श्रीनाथ जी (गोवर्द्धननाथ जी) ने उनको रामचन्द्र के रूप में दर्शन दिया।[6] वल्लभ मत में श्री गोसाईं जी और श्रीनाथ जी एक स्वरूप समझे जाते हैं।[7] 'अष्टछाप' में मान्य श्री छीतस्वामी के एक पद में दोनों की एकता प्रतिपादित की गई है। वे कहते हैं कि जिस तपस्या के फलस्वरूप श्रीकृष्ण

---

१. दो० वा० वै० वा० पृ० २६०–२६३।

२. भक्तमाल पृ० ३७, 'भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु चतुर नाम वपु एक'।

३. दो० वा० वै० वा० पृ० ३४०।

४. दो० वा० वै० वा० पृ० ४२३ में ठाकुर जी सेव्य रूप में गिरिराज में स्वयं प्रकट होते हैं और सेवा के निमित्त विट्ठल नाथ जी के रूप में पुनः अवतरित होते हैं। सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ३८ में जीव, अंश और सेवक, ब्रह्म, अंशी और सेव्य स्वरूप कहे गये हैं।

५. दो० वा० वै० वा० पृ० ४३७।

६. अष्टछाप कंठमणि शास्त्री पृ० ५७९।
कहा कहो छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बाण लो हाथ॥

७. अष्टछाप पृ० ६०७ तब छीत स्वामी यह निश्चय जानी जो श्रीनाथ जी और श्री गुसांई जी को एक स्वरूप हैं।

का आविर्भाव हुआ था, वही श्री विट्ठल की देह में प्रकट हुआ है। गोकुल का गोपाल इस शरीर में निवास कर रहा है। वेद की ऋचाओं के रूप में अवतीर्ण गोपियाँ ही ब्रज में गोप वधू होकर अवतीर्ण हुई हैं। इस प्रकार इनमें और उनमें कोई भेद नहीं है।[1] श्रीनाथ जी के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में मान्य अन्य अर्चाअवतार श्रीकृष्ण के विभिन्न रूप होते हुये भी अर्चा के स्वभाव से सम्पृक्त होने के कारण विशिष्ट मानवोचित स्वभावों से युक्त हैं।

गर्मी के दिनों में श्रीद्वारकानाथ जी अर्चावतार को गर्मी बहुत सताती है। ठाकुर जी में क्रोध की भावना भी विद्यमान है। वे क्रोधवश अपने सेवक के ऊपर लात जमा बैठते हैं। फिर भी सेवकों की चिन्ता से ये दयार्द्र होकर उनका कर्ज स्वयं चुका देते हैं।[2] श्री नवनीतप्रिय जी की भाव से सेवा करने के उपलक्ष में इनकी सेविका को एक पुत्र उत्पन्न होता है।[3] ये लाल छड़ी लेकर माधवदास से पूछते हैं 'कहे तू कहाँ गयो हतो'।[4] मनुष्य के सदृश ही अर्चावतार अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि या भाव प्रकट करते हैं। अतएव ठाकुर जी को डोल में झूलने के लिये स्वयं कहना पड़ता है।[5] अपनी इच्छा न पूरी होने पर वे रूठना जानते हैं।[6] कभी ये दूध का कटोरा हाथ में लेकर स्वयं दुग्धपान करते हैं।[7] कभी गोकुल जाने की इच्छा करते हैं;[8] तथा सेवक के आने पर ही भोजन करते हैं।[9] नवनीतप्रिय जी को उनकी शय्या बहुत छोटी पड़ती है।[10] श्री गोकुल चन्द्रमा जी अर्चावतार का गर्म खीर खाते समय हाथ जलने लगता है।[11] रणछोड़ जी अपने सेवकों से बातचीत करते हैं और उन्हें बहुत प्यार भी करते हैं।[12] इनके मानवोचित व्यापारों की सीमा तो यहाँ पर लक्षित होती है कि अपने भक्त जगन्नाथ जोसी की रक्षा के लिये ठाकुर जी तलवार लिये राजपूत का हाथ पकड़ लेते हैं।[13] लेकिन मुगलों से अपनी या अपने भक्त की रक्षा में

---

१. अष्टछाप पृ० ६०६।

जे वसुदेव किये पूरन तप तेइ फल चलित श्री वल्लभ देह।
जे गोपाल हते गोकुल में तेई अब आइ वसेकरि गेह॥
जो व गोप वधु ही वृक्ष में तेई अब वेद रिचा भई एह।
छीत स्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल एई तेई तेई एई कछु न संदेह॥

२. चौ० वै० वा० पृ० १२५। ३. वही पृ० १२९। ४. वही पृ० १४७।
५. वही पृ० १५२। ६. वही पृ० १५६। ७. वही पृ० १६५।
८. वही पृ० १६७। ९. वही पृ० १७०। १०. चौ० वै० वा० पृ० १६८।
११. चौ० वै० वा० पृ० १७५ में 'हस्त सो खीर उठाई सो ताती लगी तब मैं हस्त झटकि के अंगुरी चाटी हैं। सो मेरो ओष्ठ हस्त दाझे हैं।'
१२. चौ० वै० वा० पृ० २६८। १३. वही पृ० २८४।

सर्वथा असमर्थ प्रतीत होते हैं।[1] फिर भी वार्त्ता ग्रंथों के अनुसार ठाकुर जी को भक्तों के लिये अधिकाधिक कष्ट उठाना पड़ता है।[2] नारी भक्तों के साथ ठाकुर जी बालवत् व्यवहार करते हैं। वे कभी रोटी मांग कर खाते हैं तो कभी कंधे पर चढ़कर खेलते हैं।[3] पत्तलों का सारा भोजन ठाकुर जी खा लेते हैं, पर भक्तों का ऐसा विश्वास है कि ठाकुर जी का खाया भोजन घटता नहीं।[4] किन्तु विचित्रता तो यह है कि ठाकुर जी के देखते-देखते उनका सारा भोजन पीर या भूत आकर खा जाता है, जो आचार्य जी को देखते ही अग्नि में जलने लगता है।[5] उक्त उपादानों से मध्यकाल में प्रचलित सगुण सम्प्रदायों में व्याप्त अर्चावतारों की नित्य लीलाओं और मानवोचित व्यापारों की अनोखी झांकियाँ मिलती हैं।

वल्लभ मत के अर्चा रूपों के अतिरिक्त उस काल के विभिन्न सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण की ही अर्चा-मूर्त्तियों के विशिष्ट रूप लक्षित होते हैं। इन रूपों में कुछ प्रसिद्ध भक्तों द्वारा तत्कालीन साहित्य में कवियों की लीला एवं केलि-सम्बन्धी जितनी रचनायें मिलती हैं उनमें इन अर्चा रूपों के वैशिष्ट्य की छाप अवश्य वर्तमान है।

'भागवत मुदित' के अनुसार विभिन्न भक्तों में श्रीरूपगोस्वामी के गोविंद, श्रीसनातन गोस्वामी के मदनमोहन, श्री माधोदास के गोपीनाथ, श्री गोपाल भट्ट के राधारमन, श्री हित हरिवंश के राधावल्लभ, श्री हरिव्यास के युगलकिशोर और स्वामी हरिदास के कुंजविहारी वृंदावन के रूपों में प्रसिद्ध हैं।[6] इसके 'अतिरिक्त' 'भक्तमाल' के अनुसार गदाधर भट्ट के लालविहारी,[7] श्री नारायण दास के लाल जी[8], श्री भगवान् दास के खोजी जी[9], श्री गोपाली जी के मोहनलाला जी[10], श्री रामदास के विहारी जी[11], श्रीभगवंत भक्त के कुंजविहारी[12] आदि, अर्चा रूप में श्रीकृष्ण के पौराणिक एवं तत्कालीन साम्प्रदायिक और वैयक्तिक वैशिष्ट्य के परिचायक हैं। साथ ही पुरी के जगन्नाथ जी

---

१. चौ० वै० वा० पृ० ७३ सो कितनेक दिन पाछे मुगल की फौज आइ सो ताने ग्राम लुट्यो सो ठाकुर जी को एक मुगल ले गयो। तब मदनाभ दास वा मुगल के साथ दिन सात लों रहे।

२. वही पृ० ३००। ३. वही पृ० ४९४।

४. वही पृ० ६०१। ५. चौ० वै० वा० पृ० ६०२।

तब वह पीर रोवत भागि गयो।

६. पद इसी अध्याय में पीछे द्रष्टव्य।

७. भक्तमाल पृ० ८९७। ८. भक्तमाल पृ० ९०१। ९. वही पृ० ९०४।

१०. वही पृ० ९१५। ११. वही० पृ० ९१६। १२. वही पृ० ९२०।

और पंढरपुर के विट्ठोवा भी श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्रख्यात अर्चाविग्रह हैं। आलोच्य काल में इनकी ईश्वरोचित और मानवोचित लीलाओं से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ मिलती हैं। 'भक्तमाल' में अनेक संतों और भक्त कवियों के साथ अर्चावतारों की उद्धार और लीला सम्बन्धी कथाएँ दी गई हैं। इन कथाओं की विशेषता यह है कि इन्हें प्रायः प्राचीन अवतारी कार्यों की परम्परा में ग्रहण किया गया है। कहीं तो इनमें अवतार-अर्चा मिश्रित रूप लक्षित होता है और कहीं विशुद्ध अर्चावतारी मात्र रहता है।

भक्त के निमित्त प्राकट्य

नाभा जी ने नामदेव सम्बन्धी अर्चावतार-कृपा की चर्चा करते हुए कहा है कि हरि ने जिस प्रकार नृसिंह-रूप में प्रह्लाद की प्रतिज्ञा पूरी की थी, वैसे ही श्री विट्ठल-रूप में नामदेव के हाथों से दूध पिया।[1] मरी हुई गाय जीवित कर असुरों को दे दी।[2] जल में फेंके हुये एक पलंग के बदले अनेक निकाल दिये।[3] नामदेव जी के लिये मंदिर का दरवाजा पीछे की ओर कर दिया।[4] भगवान् ने प्रेमवश नामदेव का छप्पर छा दिया।[5] 'गीतगोविंद' की अष्टपदियों के विषय में कहा गया है कि जो उसका प्रेम पूर्वक गान करता है वहाँ निश्चय ही श्री राधारमण प्रसन्न होकर सुनने के लिये आते हैं।[6] विल्वमंगल को हरि हाथ पकड़ा कर छुड़ा लेते हैं।[7] इस प्रकार नित्य विग्रह रूपों के अतिरिक्त भगवान् प्रेमवश साकार रूप में प्रकट हुआ करते हैं।

---

१. भक्तमाल पृ० ३२२, छ० ४३।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही, ज्यों त्रेता नरहरि दास की।
बालदसा बीठल पानि जाके पै पीयो॥

२. वही पृ० ३२२ छ० ४३।
मृतक गऊ जिवाय परचो असुरन कौ दीयो।

३. वही पृ० ३२२ छ० ४३।
सेज सलिल ते काढ़ि पहिल जैसी ही होतो।

४. भक्तमाल पृ० ३२२ छ० ४२।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सबही सोती।

५. वही पृ० ३२२ छ० ४३।
पंडुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की।

६. वही पृ० ३४३-३४४ छ० ४४।
अष्टपदी अभ्यास करै तेहि बुद्धि बढ़ावै।
श्रीराधारमन प्रसन्न सुनन निश्चय तहँ आवै॥

७. वही पृ० ३६७ छ० ४६।
हरि पकरायो हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई।

श्री जगन्नाथ जी छप्पन भोग ग्रहण करने के पूर्व श्रीकर्मा की खिचड़ी बहुत पसन्द करते हैं और दो कन्याओं के पास 'सिलपिल्ले' कह कर पुकारने मात्र से उपस्थित हो जाते हैं।[१] इस युग के भक्त और भगवान् दोनों की ऐकान्तिक साधना और निष्ठा समान रूप से सचेष्ट विदित होती है। क्योंकि भक्त ही भगवान् के निमित्त आकुल नहीं रहता, अपितु उसका उपास्य भी उसके लिये उतना ही आकुल रहता है। नाभादास कहते हैं कि भक्तों के पीछे भगवान् इस प्रकार फिरा करते हैं जिस प्रकार गाय के पीछे-पीछे बछड़ा।[२] वे भक्त के लिये पथिक के रूप में स्वयं अपने को लुटवा लेते हैं।[३] और साक्षी देने के निमित्त स्वयं 'खुरदहा' पधारते हैं।[४] अर्चा उपास्य[५] 'रायरनछोड़' अपने भक्त पर किये गये वार को स्वयं अपने शरीर पर रोक लेते हैं। इन्हें यहाँ बलि-बंधन के विशेषण से अभिहित किया गया है।[६] कृष्ण के अवतारी कृत्यों की तुलना में एक और घटना का उल्लेख श्री नाभादास ने किया है। वे कहते हैं कि वत्स-हरण की घटना तो पुरानी हो चुकी, इस युग में भी भक्त जसुस्वामी के बैलों की चोरी हो जाने पर श्याम ने वैसे ही बैल लाकर दे दिये।[७]

वारमुखी के मुकुट के लिए श्री रंगनाथ स्वयं अपना सिर नवा देते हैं।[८]

---

१. भक्तमाल पृ० ३९६ छ० ५५०।
छपन भोग ते पहिल खीर करमा कौ भावै।
सिल्लेपिल्ले के कहत कुँअरि पै हरि चलि आवैं॥

२. वही पृ० ४४३ छ० ५३।
भक्तनि संग भगवान् नित, ज्यों गऊ वच्छ मोहन फिरै।

३. वही पृ० ४४३ छ० ५३।
निहिकिंचन इक दास तास के हरिजन आये।
विदित बटोही रूप भये हरि आपु लुटाये॥

४. वही पृ० ४४३ छ० ५३।
साषि देन को श्याम खुरदहा प्रभुहि पधारे।

५. वही पृ० ४४३ छ० ५३।
रामदास के सदन राय रनछोर सिधारे।

६. भक्तमाल पृ० ४४३ छ० ५३।
आयुधछत तन अनुग के बलि बंधन आपु वपु धरैं।

७. भक्तमाल पृ० ४५४ छ० ५४।
वच्छ हरन पाछै विदित सुनो संत अचरज भयो।
जसुस्वामि के वृषभ चोरि ब्रजवासी ल्याये॥
तैसेई दिये श्याम वरष दिन खेत जुताये।

८. वही पृ० ४५४ छ० ५४।
बारमुखी के मुकुट कों, श्री रंगनाथ को शिर नयो।

आलवार भक्त कवि श्री नम्मलवार की रचनाओं में श्री रंगनाथ को ईश्वर का पूर्ण आविर्भाव तथा अन्य देवताओं को इनका अंशावतार कहा गया है।[1] इस प्रकार प्रायः सारे भारत में जिन वैष्णव अवतारों की रूपरेखा परिलक्षित होती है, वे अपने प्रत्येक रूपों में उपास्य के रूप में मान्य थे। विष्णु एवं उनके अवतारों से सम्बद्ध रक्षा आदि कार्यों का जिस प्रकार पुराणों या महाकाव्यों में प्रचलन देखा जाता है उसी प्रकार तत्कालीन रचनाओं में भी कलियुगी अवतारों के कृत्यों के अधिक उल्लेख हुए हैं।

फिर भी इस अध्याय में प्रस्तुत अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहाँ देवशत्रु-विनाश और भूभार-हरण आदि पौराणिक कार्यों का उल्लेख न होकर उनकी व्यक्तिगत रुचि से युक्त जनश्रुतिपरक कार्यों के विवरण ही अधिक प्रस्तुत किये गये हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें विष्णु के अवतारत्व की अपेक्षा विष्णु का उपास्यत्व अधिक है। तत्कालीन उपास्य, महाकाव्यों एवं पुराणों में वर्णित रामकृष्ण आदि अवतारों की अपेक्षा पांचरात्रों में मान्य अर्चावतारों के विशेष निकट हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये पौराणिक रूपों के ही विकसित और पांचरात्र संवलित अर्चा-विशिष्ट रूप हैं क्योंकि पुराणों या महाकाव्यों में अवतरण के साथ-साथ जहाँ इनके अवसान का भी उल्लेख होता रहा है, उनमें न्यूनाधिक ऐतिहासिक तत्व अवशिष्ट लक्षित होते हैं।

वहाँ तत्कालीन साहित्य में उनके जिन रूपों का विस्तार हुआ है, ये स्पष्ट ही नित्य उपस्थित रहने वाले और भक्तों की भाव-भक्ति स्वीकार करने वाले अर्चातत्व प्रधान इष्टदेव हैं। अतएव उनकी व्यक्तिगत सहायता संबंधी कहानियाँ पौराणिक परम्परा में गृहीत होती हुई भी अर्चारूपों के वैशिष्ट्य एवं गुणों और स्वभावों से युक्त होने के नाते अपना सामयिक महत्व रखती हैं। इस दृष्टि से उनकी अत्यधिक लोकप्रियता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। इष्टदेव, आचार्य और भक्त सम्बन्धी लोकप्रियता अधिकांशतः उनकी अभूतपूर्व सहायता या चमत्कारों को लेकर ही अधिक विस्तार पाती रही है। इस युग के अर्चाविशिष्ट इष्टदेव इस कारण से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। उपास्य राम का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए श्री नाभादास ने कहा है कि और युगों की अपेक्षा कमलनयन ने कलियुग में सर्वाधिक कृपा की है। अब

---

१. डिव्हाइन विजडम आफ द्रविड़ सेन्ट्स पृ० १५२ पद २३६।

'सारंगपाणि' राम ने अपने दो भक्तों की रक्षा के लिए ठगों के प्राण ले लिये ।[1] उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि इन रूपों में पौराणिक प्रयोजनों की अपेक्षा भक्त के पास सर्वदा उपस्थित रहने वाले इष्टदेव का अस्तित्व अधिक प्रधान है जो इस युग की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का परिचायक है ।

श्री जगन्नाथ-अवतारी—

अर्चा-विशिष्ट उपास्य-रूपों के अतिरिक्त इस युग की रचनाओं में अर्चावतार श्री जगन्नाथ को अवतारी और अवतार के रूप में भी विलक्षण स्थान प्राप्त हुआ है । परवर्ती पुराणों से ही एक ओर तो इनका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से स्थापित किया गया और दूसरी ओर इन्हीं से मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों के विकास की भी संयोजना की गई ।[2] 'सम्प्रदाय प्रदीप' में 'पद्मपुराण' के आधार पर कहा गया है कि कलियुग में उत्कल देश स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम श्री जगन्नाथ के अंश से भक्ति-प्रवर्तक चार सम्प्रदायों का प्राकट्य होगा ।[3]

'रागकल्पद्रुम' में संगृहीत एक अपरिचित कवि की कविता से श्री जगन्नाथ के ही दशावतारों के रूप में आविर्भूत होने का बोध होता है । उस पद में कहा गया है कि जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा और चक्रसुदर्शन का नाम रटो, जिनका ब्रह्मा, शेष, शारदा भी पार नहीं पा सके, जिन्होंने मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण का रूप धारण किया है । उन्होंने बुद्ध के रूप में 'अहिंसा परमो धर्मः' जैसे वचन प्रकट किये और वे ही महाप्रभु कल्कि होकर प्रकट होंगे । यहाँ महाप्रभु कल्कि के श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य से अभिहित होने का संदेह होता है ।[4] श्री परशुरामाचार्य ने

---

१. भक्तमाल पृ० ४६१–४६२ छं० ४४ ।
   और युगन ते कमल नैन, कलियुग बहुत कृपा करी ।
   बीच दिये रघुनाथ भक्त संग ठगिया लागे ।
   निर्जन बन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे ।
   बीच दियो सो वहाँ ? राम ! कहि नारि पुकारी ।
   आए सारंग पानि शोक सागर ते तारी ।
   दुष्ट किये निर्जीव सब, दास संज्ञाधारी ।
२. सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० २४ और सं० प्र० पृ० ७१ ।
३. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० ४७ ।
   चत्वारस्ते कला भाव्याः सम्प्रदाय प्रवर्तकाः
   भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात् ॥
४. राग कल्पद्रुम जी० १ पृ० ३४४ ।
   जगन्नाथ बलभद्र सहोदरा चक्र सुदरसन रट रे ।

श्री जगन्नाथ को दशावतारों में बुद्ध के स्थान पर ग्रहण किया है। उड़िया साहित्य में इन्हें बुद्धावतार से भी सम्बद्ध किया गया है।[1] श्री परशुरामाचार्य की कविता में दशावतारों में बुद्ध के स्थान पर श्री जगन्नाथ का उल्लेख तो है परन्तु बुद्ध से इनका कोई सम्बन्ध विदित नहीं होता। इस कविता के अनुसार ये अर्चावतार जगन्नाथ प्रतीत होते हैं। क्योंकि इनकी सुन्दर चंदन-देह जो परम सुखदाई है, दर्शन और स्तुति के पश्चात्, सभी कष्टों को दूर करने वाली है।[2] श्री गिरधर जी ने[3] अपने पद में उनके ब्रह्म-रूप, अवतार, अवतार-प्रयोजन और उपास्य-रूपों का अंकन किया है। इनके मतानुसार अखिल विश्व के स्वामी और आधार जगदीश जो ब्रह्मा और शिव के उपास्य हैं जिन्हें वेदों में निर्गुण और निराकार ब्रह्म कहा गया है, वे ही निराकार ब्रह्म पृथ्वी का भार हरण करने के लिये साकार हुये हैं। वे दीनबन्धु धर्म के संस्थापक और सभी का समान-रूप से ध्यान रखने वाले हैं। पतितों का उद्धार करने के लिए उन्होंने इन्द्रदमन पर कृपा की। वे ही बाल पुरुषोत्तम महाप्रभु उत्कल देश के नील पर्वत पर समुद्र के किनारे विराजमान हैं। उन जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा का चरण-कमल ध्यान में रखने योग्य है। उनके पास ही सुदर्शन, सत्यभामा और समुद्रकुमार उपस्थित हैं। मंदिर के मध्य में रत्नसिंहासन पर प्रभु स्थित हैं। वे लक्ष्मी जी द्वारा तैयार

ब्रह्म शेश महेश शारदा पार न पावे भट रे।
मच्छ कच्छ वाराह अवतार रूप धारो जो नट रे।
नरहरि वामन परसराम मुनि राम कृष्ण भए भट रे।
मां हिंसा परमोधरम इति वाक्य परगट रे।
वृंदावन के वासी महाप्रभु कलकी होय परगट रे।

१. उड़िया में दारुब्रह्म के नाम से लिखी हुई एक कविता मिलती है जिसमें जगन्नाथ के रूप में बुद्ध की स्तुति की गई है।

२. परशुराम सागर, ह० लें० ना० प्र० स० दस अवतार को जोड़ों में द्रष्टव्य।
जगनाथ जगदीश सकल पति भोग पुरंदर बेट्ठि आई।
पूरण ब्रह्म सकल सुख की निधि प्रगट उड़ीसे है हरिराई।
जाकै हीरानाम जोग विधि सुंदर चंदन देह पर्म सुखदाई।
परसराम कहै प्रभू को द्रस पावत-गावत सुणत सबै दुष जाई।

३. श्री गिरिधर श्री वल्लभाचार्य के पुत्र हैं। नाभा दास जी ने 'भक्तमाल' पृ० ७७६ छ० १३१ में लिखा है 'वल्लभ जू के बंस में सुरतरु गिरधर भ्राजमान' इनके अन्य पदों में 'रागकल्पद्रुम' जी० १, ९६, ९७ में 'वल्लभ प्रभु चरण कृपातें गिरिधर यह यश गायो रे' का प्रयोग हुआ है।

किया हुआ षट्रस भोजन तथा करमाबाई की खिचड़ी प्रेम पूर्वक पाते हैं।[1] इस प्रकार इस पद में अवतारतत्त्व और अर्चातत्त्व दोनों का अपूर्व समावेश किया गया है। ये ब्रह्म के अवतार हैं और भूभार-हरण उनका प्रयोजन भी है। किन्तु अर्चातत्त्वों का समावेश होने के कारण वे समय की सीमा या बंधन से दूर हैं। वे नित्य अर्चारूप में पृथ्वी पर स्थित हैं। उक्त पद से अवतारविशिष्ट तत्कालीन अर्चाविग्रहों के रूप का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। इस बृहत् पद के अतिरिक्त गिरधर के अन्य पदों में अर्चा का उपास्य रूप ही अधिक वर्णित हुआ है।[2] इसमें इन्होंने अधिकतर उनके चरण-कमलों की बन्दना की है।[3] जगन्नाथ जी के अर्चाविग्रह से सम्बद्ध 'रागकल्पद्रुम' में आलोच्यकाल के कृष्णदास और मीरा के पद भी संगृहीत हैं; उनमें उनका उपास्य-रूप ही अधिक वर्णित हुआ है।[4]

---

१. रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ९६ पद १।

जय जगदीश विश्व के स्वामी अखिल लोक आधारा रे।
ध्यान धरे निशि वासर जिनको चतुरानन त्रिपुरारा रे।
निगम नित्य निगुण ही गावै बदत ब्रह्म निरंकारा रे।
सोई हरि भुवभार उतारण कारण अलख भए साकारा रे।
दीन बंधु धर्म्म के स्थापक सबको करे सम्भारा रे।
इन्द्रदमन पे किरपा कीनी करन पतित उधारा रे।
उत्कल देश नील पर्व्वत है महोदधिवारि कनारा रे।
तहाँ विराजे बाल पुरुषोत्तम श्री महाप्रभु प्यारा रे।
श्री जगन्नाथ वलभद्र सुभद्रा चरण कमल चितधारा रे।
पास सुदर्शन अरु सत्यभाभा पास समुद्र किनारा रे।
मंदिर मध्य रत्न सिंहासन तहँ प्रभु धरोसिंगारा रे।
होय आरती भोग अरोगे रुचि रुचि बारंबारा रे।
श्री लक्ष्मी जी करै रसोई षटरस विविध प्रकारा रे।
करमाबाई खिचड़ी अरोगावै करि करि के मनुहारा रे।
....

२. रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ९६ पद २।

३. रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ९६ पद २।

जगन्नाथ, वलभद्र, सुभद्रा इनके चरण चितलायो रे।

४. रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ४२१ पृ० ३।

कृष्णदास जगन्नाथ मन मोह लियोरी।
बलभद्र सहोद्रा खड्ग लिये कृष्णदास वलिहार कियोरी।
रागकल्पद्रुम जी० १ पृ० ४ मीरा
जबते मोहि जगन्नाथ दृष्टि परे माई।
मीरा के प्रभु जगन्नाथ चरणन बलिजाई।

ठाकुरदरबार

इस प्रकार अवतारवादी साहित्य के विकास एवं रचनात्मक प्रेरणास्रोत ठाकुरदरबारों का राजदरबारों की तुलना में अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण योग रहा है। सर्जनात्मक साहित्य की जो पृष्ठभूमि अणुत्व और विभुत्व दोनों की सीमा में व्याप्त और उससे परे रहने वाले तत्कालीन अवतारी उपास्यों ने प्रस्तुत की, वह राजदरबारों के सीमित क्षेत्र में असंभव थी। ठाकुरदरबार में भक्त कवि, कलाकार, संगीतज्ञ, चित्रकार आदि को केवल अपनी श्रद्धा-भक्ति ही व्यक्त करने का अवसर नहीं मिलता था अपितु विभु और अनन्त भगवान की सौन्दर्यराशि के चलते उनकी उन्मुक्त कल्पना के लिए भी व्यापक क्षेत्र विद्यमान था। इसी से केवल काव्य के क्षेत्र में ही नहीं अपितु मन्दिरों, मूर्त्तियों और चित्रों के निर्माण में भी इनका विशेष योग मिला।

इन मूर्त्तियों के नित्य शृंगार, पूजन, स्तुति, महिमा एवं लीला गान की आवश्यकता ने साहित्य एवं कलासम्बन्धी विविध अभिव्यक्तियों के निमित्त व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत किया। इसके मूल में निम्न तथ्य लक्षित होते हैं।

इनमें प्रथम है मूर्त्तिनिर्माण, द्वितीय पौराणिक कथाओं से उनका योग, तृतीय समाज में सम्प्रदायों द्वारा इनका प्रचार, चतुर्थ आचार्यों द्वारा इष्टदेवों का वेदान्तिक प्रतिपादन।

मूर्त्तियों के निर्माण ने पौराणिक कथाओं को साकार अभिव्यक्ति प्रदान की और पौराणिक कथाओं का योग होने के कारण स्तुति, महिमा, एवं लीला-जनित अभिव्यक्तियों के विस्तार में उनसे अधिक सहायता मिली, जिसके फलस्वरूप प्रबन्धकाव्य, नाटक, चम्पूकाव्यों एवं मुक्तक रचनाओं का प्रणयन हुआ। सम्प्रदायों से सम्बद्ध होने के कारण तत्कालीन समाज में कथा, वार्त्ता, लीला और स्वाध्याय आदि के रूप में इनका व्यापक प्रचार हुआ। अर्चा-विशिष्ट इष्टदेवों की प्रकृति ने प्रतिभासम्पन्न भक्त कवियों के आत्माभि-व्यंजन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। क्योंकि वे केवल कलात्मक मूर्त्ति मात्र नहीं थे अपितु आचार्यों द्वारा संवलित साक्षात् परब्रह्म थे जिनकी सीमा का अन्त है न लीला का।

योग-ज्ञान आदि की अपेक्षा भक्ति अधिक लोकप्रिय एवं मान्य हुई।[1]

---

१. शाण्डिल्य भ० सू० १, १७ 'एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः' तथा १, १९ 'योग-स्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयोजवत्' आदि सूत्रों में ज्ञान और योग अंग तथा भक्ति अंगी मानी गई है साथ ही सू० २, ४६ 'तद्वाक्या शेषात प्रादुर्भावेष्वपि स' आदि सूत्रों में अर्चाविग्रहों की भक्ति परा भक्ति के रूप में मान्य हुई है।

और मृग चर्म पहनते हैं[1] वहाँ कलियुग के विग्रह नीलमणि के समान अनेक मणियों एवं सुदर्शन आदि शस्त्रों और सुनन्द प्रभृति पार्षदों से युक्त रहते हैं।[2] अतएव इस युग तक अर्चा इष्टदेवों का स्वरूप अनन्त ऐश्वर्य से युक्त था और वे भक्तों के भाव के भूखे सम्राट थे।

इस प्रकार मध्यकालीन अवतारवाद की कल्पना और विकास में अर्चा-रूपों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। अवतारवादी महाकाव्यों के इष्टदेव तो निर्गुण निराकार रूप में न जाने किस लोक में स्थिर रहते थे। भक्तों की आर्त्त वाणी के उपरान्त ही उनका अवतार हुआ था। किन्तु अर्चा-रूप में भगवान भक्तों के नित्य सहचर और सर्वजनसुलभ थे। इनके उद्धार और अन्य अवतार-कार्य नित्यप्रति होते रहते थे। इससे स्पष्ट है कि इस युग तक परब्रह्म को समय या युग विशेष में अवतार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। न उनका उद्धारकार्य ही किसी राक्षस विशेष के वध मात्र तक परिसीमित था। अपितु अनेकानेक उद्धारकार्य उनको नित्य प्रति करने पड़ते थे। उनकी अवतारी लीलाएँ भी अब केवल बँधी हुई पौराणिक लीलाओं तक आबद्ध नहीं थीं, अपितु अर्चारूप में नित्य-सर्वत्र वे भक्तों के साथ मनमानी क्रीड़ाएँ किया करते थे।

---

१. भा० १, ५, २१
कृते शुक्लश्चतुर्बाहु जंटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद्दण्डकमण्डलुः॥
२. भा० ११, ५, ३२
कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।

तेरहवाँ अध्याय

आचार्य प्रवर्तक

महाकाव्य काल से लेकर मध्ययुग तक अवतारवाद की प्रवृत्ति सदैव एक सी नहीं रही अपितु इस युग के सम्प्रदायों के प्रभावानुरूप उसका पूर्णतः सम्प्रदायीकरण हो गया। किन्तु पौराणिक काल से ही इस साम्प्रदायिक अवतारवाद में एक विशेष प्रवृत्ति यह लक्षित होती है कि इसमें विभिन्न मतवादों और धर्मों के निकाल फेंकने या उनका खण्डन करने के विपरीत उन सभी को अवतारवाद में समेट कर अभूतपूर्व समन्वय करने का प्रयत्न होता रहा है। 'भागवत पुराण' के २४ अवतारों की सूची में जिन महापुरुषों को परिगृहीत किया गया है वे किसी न किसी मत या चिन्ताधारा के प्रवर्तक रहे हैं। विशेषकर सनत्कुमार का सात्वत धर्म से, नारद का पांचरात्र से, नरनारायण का तप से, कपिल का सांख्य से, दत्तात्रेय का योग से, यज्ञ का (यज्ञोवैविष्णु) यज्ञ से, ऋषभ का जैन धर्म से, पृथु का खनिज और कृषि से, धन्वन्तरि का आयुर्वेद से सम्बन्ध रहा है। साथ ही परशुराम योद्धा के रूप में, राम दक्षिणावर्त्त के विजेता के रूप में, कृष्ण भागवत धर्म के प्रवर्त्तक, बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक और कल्कि नये युग के संस्थापक-रूप में विख्यात हैं।[1] इस प्रकार पौराणिक अवतारवाद विभिन्न मत के प्रवर्तकों से समाविष्ट एक विलक्षण समन्वयवादी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार पूर्ववर्ती धर्मप्रवर्तक अपनी परवर्ती संतान के यहाँ उत्पन्न होते हैं और पुनः परवर्ती अपने पूर्ववर्ती पितृगणों की संतान के रूप में जन्म लेते हैं।[2] इस प्रकार 'विष्णुपुराण' ने प्रवर्तकों का एक अवतार चक्र ही प्रस्तुत किया है। पांचरात्र संहिताओं के चतुर्व्यूहों में गृहीत संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध के क्रमशः पांचरात्र मत का उपदेश 'इस मत के अनुसार', क्रिया की शिक्षा और मोक्ष का रहस्य-उद्घाटन आदि कार्य बतलाये गये हैं।[3]

---

१. दी इवोलियुशन आफ दी ऋगवेदिक पैंथियन, १९३८ पृ० १८८-१९१ और भा० १, ३, और २, ७।

२. वि० पु० २, ८, ८९-९०।

३. अहि० सं० ५, २१-२३।

पूर्वमध्यकाल में आगे चलकर इन प्रयोजनों के निमित्त विष्णु के स्वयं अवतार न होकर उनके आयुध, आभूषण, पार्षद आदि के अवतारों की प्रणाली का विकास हुआ।[1]

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इनके अवतार का एक मात्र प्रयोजन धर्म या सम्प्रदायों का प्रवर्तन और भक्ति का प्रसार था। इस युग के मूल प्रेरक आलवारों और दक्षिणी आचार्यों को ही सर्व प्रथम विष्णु के आयुध आदि के अवतार-रूप में आविर्भूत माना गया। दक्षिण के प्रसिद्ध द्वादश आलवारों में पोयगै शंख के, भुतत्त गदा के, पेयी नन्दका के, तिरुमलसाई चक्र के, नम्मलवार विष्वकसेन के, मधुर कवि गरुड़ के या चक्र के, कुलशेखर कौस्तुभ के, पेरिय गरुड़ के, अंदाल पृथ्वी के, तोण्डडिप्पोलि वनमाला के, तिरुप्पन श्रीवत्स और तिरुमंगई सारंग के अवतार माने गये।[2] इसके अतिरिक्त कुछ आचार्य शिव, ब्रह्मा आदि सहायक देवताओं के भी अवतार-रूप में प्रचलित हुये। इनमें विशेषकर शंकर असुर मोहनार्थ शंकराचार्य के रूप में आविर्भूत हुये। सम्भवतः इस कड़ी की पूर्ति में इनके विख्यात शिष्य मंडन मिश्र ब्रह्मा के और उनकी स्त्री भारती सरस्वती के अवतार माने गए।[3] 'शंकरदिग्विजय' में इस प्रकार आचार्यों के अवतार की एक विचित्र रूपरेखा दी गई है। उसके अनुसार शिव की अनुमति से विष्णु और शेषनाग ने अवतार-धारण किये। कर्म, योग और ज्ञान तीनों के प्रतिपादन एवं प्रचार के निमित्त, कर्मकाण्ड के प्रतिपादन के लिये कार्त्तिकेय कुमारिल भट्ट के रूप में, योग के प्रतिपादन के लिये विष्णु और शेष क्रमशः संकर्षण और पतंजलि के रूप में और ज्ञान के प्रतिपादन के लिये शिव स्वयं शंकराचार्य के रूप में आविर्भूत हुए कहे गये हैं।[4] पुनः अन्य प्रसंगों में कार्त्तिकेय के अवतार जैमिनीय न्याय के लिये सुब्रह्मण्य के रूप में और इन्द्र के सुधन्वा राज के रूप में बतलाये गये हैं।[5] इन अवतारवादी प्रवृत्तियों का प्रचलन आलोच्य काल में प्रवर्तित रूपों में

---

१. अध्यात्म रामायण १, ४, १७–१८ में लक्ष्मण शेष के भरत शंख के और शत्रुघ्न गदा के अवतार कहे गये हैं।

२. हिस्ट्री आफ श्री वैष्णवाज पृ० २ पेयी, तिरुप्पन और मधुरकवि; कल्याण, भक्त चरितांक क्रमशः पृ० ३१८, ३१९ और ३२५ अंडाल भूमि का, हिस्ट्री आफ तिरुपति जी० १ पृ० १६१ संभवतः सीता के समान भूमि पर प्राप्त होने के कारण।

३. शंकरदिग्विजय पृ० १६६ सर्ग १, ४८–५६।

४. शंकरदिग्विजय सर्ग १, ४८–५६; सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ५३–५४ में देवप्रबोध नाम के पंडित को सूर्यावतार और कुमारिल भट्ट को जैमिनि का अंशावतार कहा गया है

भी दीख पड़ता है । 'सम्प्रदायप्रदीप' के अनुसार शंकराचार्य शंकर के अवतार-रूप में ही प्रचलित रहे[1] परन्तु इसी युग के लेखक नाभादास ने उन्हें ईश्वर का अंशावतार कहा है ।[2]

इस युग में श्री जगन्नाथ के अंशावतार के रूप में जिन रामानुज, विष्णु-स्वामी, मध्व और निम्बार्क नाम के चार वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों का आविर्भाव माना गया है,[4] उनमें प्रायः सभी प्रवर्तक आचार्यों और कतिपय अन्य परम्परागत आचार्यों को विष्णु और उनके आयुध, पार्षद, या उनके अवतारों का अवतार सम्प्रदायों में माना गया है । नाभा जी ने चारों वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों को विष्णु के चौबीस अवतारों की परंपरा में कलियुग के निमित्त विष्णु का ही चतुर्व्यूहात्मक आविर्भाव कहा है ।[5] श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुज प्रायः सम्प्रदाय और परम्परा दोनों में शेषावतार के रूप में प्रसिद्ध हैं ।[6] इस सम्प्रदाय में मान्य रामानुज के पूर्व के भक्त आल्वारों की अवतार-परम्परा का उल्लेख हो चुका है । 'भक्तमाल' में कहा गया है कि रामानुज ने सहस्त्र मुखों से उपदेश कर जगत के उद्धार का यत्न किया ।[7] संभवतः सहस्र मुख से उपदेश करने के कारण ही ये शेषावतार की परम्परा में गृहीत हुये ।

श्री सम्प्रदाय की परम्परा के एक अन्य आचार्य शठकोपाचार्य अपने पूर्व

---

१. शंकरदिग्विजय सर्ग १४८–५६ सर्ग ३, ८ में मंडन मिश्र बृहस्पति के अवतार भी कहे गये हैं ।

२. सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ४८ ।

३. भक्तमाल पृ० ३१६ छ० ४२ 'कलियुग धर्मपालक प्रगट आचारज शंकर सुभट ।
ईश्वराज अवतार मरजादा मांड़ी अघट ।'

४. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० १५ ।

५. भक्तमाल पृ० २५७–२५८ छ० २८ ।
चौबीस प्रथम हरि बपु धरे, त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट ।

६. वैष्णव धर्म रत्नाकर पृ० १, पृ० १, श्लो० ३ और पृ० १६ में 'भार्गव पुराण' के अनुसार एवं 'शेषांश संभूतं रामानुज मुनिं विना । नान्यः पुमान् समर्थः स्यात्तंजन्येद निवारितुम्' । (ख) वै० ध० र० पृ० ६८ में कहा गया है कि सतयुग में शेष, त्रेता में लक्ष्मण, द्वापर में बलराम और कलियुग में रामानुज इस परम्परा में गृहीत हुए हैं ।

७. भक्तमाल पृ० २६१ छ० ३१ ।
'सहस्त्र आस्य उपदेश करि, जगत उधारन जतन कियो' ।

आचार्य एवं विष्णु के नित्य पार्षद् विष्वकसेन के अवतार समझे जाते हैं।[१] इसके अतिरिक्त विष्णु के आयुधों के अवतार का आभास इस सम्प्रदाय में मान्य पंचनारायणों की मूर्त्तियों से भी मिलता है।[२]

निम्बार्क सम्प्रदाय में विष्णु के आयुधावतारों की परम्परा दीख पड़ती है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य श्री निम्बार्काचार्य सुदर्शन चक्र के अवतार माने गये,[३] तो इन्हीं की परम्परा में आने वाले श्री निवासाचार्य शंख के[४] और श्री देवाचार्य पद्म के अवतार कहे गये हैं।[५]

माध्व सम्प्रदाय में माना जाता है कि विष्णु जब-जब चारों युगों में अवतार धारण करते हैं तब-तब वे अपने पुत्र वायु देवता को सहायक अवतार के रूप में रखते हैं।[६] अतः विष्णु और वायु क्रमशः त्रेता में राम और हनुमान, द्वापर में कृष्ण और भीम तथा कलियुग में मध्वाचार्य के रूप में आविर्भूत होते हैं।[७] मध्यकाल में वे प्रायः पवननन्दन हनुमान के अंशावतार-रूप माने गये।[८]

रुद्र सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक विष्णु स्वामी भी विष्णु के अवतार एवं इस सम्प्रदाय के इष्टदेव श्रीकृष्ण के अवतार माने जाते हैं। 'सम्प्रदाय प्रदीप' के अनुसार श्रीकृष्ण ही कलि का क्लेश दूर करने के निमित्त विष्णु स्वामी के रूप में अवतरित हुये।[९]

---

१. वे० र० पृ० ३४ में परवर्ती 'पद्म', 'भविष्य', 'भार्गव' आदि पुराणों के आधार पर सेनेश संभवतः विष्वकसेन के अवतार कहे गये। पृ० ३४ अ० २ श्लो० ४६ में उद्धृत
'ततो भगवतादिष्ट सेनेशो भगवत्प्रियः।
उदरं नाथनाथक्याः प्रविवेश महाद्युतिः॥'

२. हिस्ट्री आफ श्री वैष्णवाज पृ० ३७ में उद्धृत नोट में।

३. स० प्रदीपालोक पृ० ६९ में उन्हें सूर्यांशावतार कहा गया है। नाभादास के 'भक्तमाल' पृ० ५५७ छ० २८ 'निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया' के अनुसार भी ये सूर्य के अवतार प्रतीत होते हैं। किन्तु सम्प्रदायों में इन्हें सुदर्शन का ही अवतार माना गया है। ब्रह्म सूत्र भा०, चौखम्भा सं० पृ० १ और वेदान्त रत्न मंजूषा पृ० १ 'भगवान् सुदर्शनोऽवनितलाऽवतीर्णस्तैलंग द्विजवरात्मना'। कल्याण वर्ष ३० अंक २, पृ० ७२० में भी इन्हें चक्र-अवतार कहा गया है।

४. वे० र० म० पृ० ३, कल्याण वर्ष ३०, अंक २, पृ० ७२० में पांचजन्य शंखावतार और ब्रह्म सू० भा० चौखम्भा सं० पृ० १ में शंखावतार कहा गया है।

५. ब्रह्म सूत्रभाष्य चौखम्भा सं० पृ० २।

६. इ० आर० इ० जी० ८ पृ० २३२। ७. इ० आर० इ० जी० ८ पृ० २३३।

८. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० ४५।

९. सम्प्रदाय प्रदीप पृ० १ श्लो० सं० प्रदीपालोक पृ० १।

इस प्रकार चारों वैष्णव सम्प्रदायों में प्रायः अवतारवाद सर्वत्र व्याप्त है। यों तो इन चारों के अवतार का प्रयोजन विष्णु या उनके अवतारों की भक्ति का प्रचार रहा है। परन्तु भक्ति के प्रचार के साथ ही इनका एक प्रमुख कार्य शंकर के मायावाद का खण्डन भी रहा है। क्योंकि इन सम्प्रदायों की मूल आस्था अवतारवाद, जिस मायावाद पर आधारित है,[1] शंकर ने उस माया को मिथ्या या भ्रम की संज्ञा प्रदान की और शुद्ध ब्रह्म की तुलना में माया को मिथ्या माना।[2] इनमें अवतारवाद के सिद्धान्त की भी मिथ्या होने की संभावना हो जाती है। अतः भक्ति के साथ ही अवतारवाद की प्रतिष्ठा के निमित्त मायावाद का खंडन और परिष्कार भी इनका प्रमुख प्रयोजन रहा है। विशेषकर मध्वाचार्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मध्व को स्वयं श्रीराम ने स्वप्न देकर मायावाद का त्याग और भक्तिवाद का प्रचार करने के लिये आदेश दिया।[3]

हिन्दी भक्तिकालीन साहित्य में जिन सम्प्रदायों की व्याप्ति दृष्टिगत होती है वे प्रायः उक्त सम्प्रदायों से ही निःसृत या सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि से श्री सम्प्रदाय से रामानन्दी या रामावत सम्प्रदाय का, रुद्र सम्प्रदाय से वल्लभ सम्प्रदाय का, ब्रह्म सम्प्रदाय (माध्व) से चैतन्य सम्प्रदाय का और सनकादि सम्प्रदाय (निम्बार्क) से राधा वल्लभी सम्प्रदाय का विकास माना जाता है। परन्तु सम्प्रदायों में अवतारवादी परम्परा के द्वारा सामंजस्य स्थापित करने वाली कोई प्रवृत्ति विशेष लक्षित नहीं होती। यहाँ तक कि सम्प्रदायों में मान्य इष्टदेवों में भी न्यूनाधिक वैषम्य लक्षित होता है। रामानुज सम्प्रदाय में केवल राम ही उपास्य हैं। माध्व और चैतन्य सम्प्रदाय के इष्टदेवों में भी भिन्नता प्रतीत होती है। रुद्र और वल्लभ सम्प्रदाय तथा सनकादि और राधावल्लभी सम्प्रदायों में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है।

उक्त सम्प्रदायों के प्रवर्तक भी अपने सम्प्रदायों में या तत्कालीन साहित्य में किसी न किसी के अवतार-रूप में विख्यात हैं। इनके अवतारीकरण में तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से लक्षित होती हैं जिसके फलस्वरूप इनके अवतार और अवतारी दोनों रूपों में वैषम्य हो जाता है। कहीं तो जनश्रुतियों एवं उपमाओं से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें पौराणिक एवं

---

१. गी० ४, ६ प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

२. विवेक चूड़ामणि पृ० ३८ श्लोक में मिथ्या माया का परिचय मिलता है।
'शुद्धाद्वय ब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जु विवेकतो यथा।'

३. ६८ सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ६८ और सम्प्रदाय प्रदीप ४४–४५।

सम्प्रदायेतर देवताओं का अवतार कहा गया है, परन्तु सम्प्रदाय और उसके साहित्य में इन्हें इष्टदेव या उपास्य के अवतार-रूप में या कभी-कभी गुरु-परम्परा के प्रभावानुरूप स्वयं उपास्य रूप में गृहीत होने के नाते अवतारी-रूप में माना गया है।

रामानन्द

रामानन्द रामावत सम्प्रदाय में साधारणतः राम के अवतार माने जाते हैं।[1] किन्तु राम के अवतार-रूप में उनकी मान्यता परवर्ती विदित होती है। क्योंकि 'भक्तमाल' में उन्हें सीधे राम का अवतार न कह कर उनके उद्धार-कार्य को राम के सदृश कहा गया है।[2] 'सम्प्रदायप्रदीप' में भी एक रामानन्द की कथा का उल्लेख हुआ है। उस कथा में श्रीकृष्ण से कहवाया गया है कि रामानन्द पूर्वजन्म में अर्जुन के आगे लड़कर मरा हुआ एक वीर पुरुष है जो पूर्वकृत किसी भारी पाप के फलस्वरूप सहस्र जन्मों के चक्र में पड़ा हुआ है। अन्त में वह वल्लभाचार्य से दीक्षित होता है।[3] इस कथा में स्पष्टतः निकृष्ट रूप का कारण वल्लभ मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त 'भक्तमाल' में रूपकला जी के द्वारा उद्धृत किये हुये सम्भवतः परवर्ती उल्लेखों के अनुसार श्री रामानन्द को कहीं सूर्य का अवतार[4] और कहीं कपिल का अवतार[5] कहा गया है। इनका सूर्यावतार होना उपमात्मक विदित होता है।[6]

---

१. भक्तमाल पृ० २९० में श्री रूपकला जी ने संभवतः किसी परवर्ती कवि की चौपाई इस प्रकार उद्धृत की है। 'जगत गुरु आचारज भूपा, रामानन्द राम के रूपा'। पुनः पृ० २९२ में 'अगस्त संहिता' के अनुसार राम के अवतार माने गये हैं।

२. भक्तमाल पृ० २८२ छं० ३६ 'श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तारन कियों' इसके पूर्व छं० ३५ के 'तिनके रामनन्द प्रगट विश्व मंगल जिन्ह वपुधर्‌यों' से रामावतार का अनुमान किया जाता है।

३. सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ९४।

४. भक्तमाल पृ० २९४ भविष्य पुराण द्वितीय प्रति सर्ग, चतुर्थ खंड के अनुसार इन्हें सूर्यावतार और देवल मुनि का पुत्र कहा गया है।

५. भक्तमाल पृ० २९४ अगस्त संहिता भविष्योत्तर खड के आधार पर कल्प भेद से गालव आश्रम के समीप गौड़ ब्राह्मण के पुत्र रूप में उत्पन्न होने वाले कपिल भगवान के अवतार हुए।

६. भक्तमाल पृ० २८८ में किसी परवर्ती रसराम कवि के एक कवित्त में ये सूर्य से तथा इनके १२ शिष्य सूर्यकी द्वादश कलाओं से उपमित हैं।

प्रगट प्रयाग भाग कश्यप ज्यों भुसूर के सातै माघ कृष्ण मारतण्ड से अरामी हैं।
काशी से आकाश में प्रकाश सूखरास किए बारहो सु शिष्य मानो कला तेज धामी हैं।

किन्तु बाद में इसे पौराणिक तत्वों के प्रभावानुरूप अवतार-रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

श्री वल्लभाचार्य

वल्लभ मत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य अपने सम्प्रदाय में एक ओर तो अग्नि के अवतार माने जाते हैं और दूसरी ओर उपास्य देव श्रीकृष्ण के भी अवतार-रूप में मान्य हुए हैं। 'सम्प्रदाय प्रदीप' में इनके अग्नि-अवतार सम्बन्धी कतिपय प्रसंग आये हैं। एक प्रसंग में स्वयं भगवान् लक्ष्मण भट्ट से स्वप्न में कहते हैं कि मैं पूर्ण पुरुषोत्तम वैश्वानर स्वरूप हूँ और लोक-कल्याणार्थ स्वेच्छा से पुनः अवतरित हुआ हूँ।[१] इसके पूर्व के एक प्रसंग में इनके माता-पिता इनको अग्निपुंज के मध्य में विराजमान देखते हैं।[२] वल्लभ का अग्नि-अवतार के रूप में प्रसिद्ध होना भी अग्नि के समान धर्मों या कार्यों के आधार पर विकसित हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि वार्त्ताओं में आचार्य जी को अग्नि का स्वरूप बतलाते हुये कहा गया है कि अग्नि भोजन को शुद्ध करता है और आचार्य शिष्य को शुद्ध कर वैष्णव बनाते हैं। अग्नि नवनीत पिघलाकर घी बनाता है और आचार्य मानव का लौकिक रूप शुद्ध कर वैष्णव बना देते हैं।[3] अतः इन तुलनात्मक गुणों के आधार पर अग्नि-अवतार के रूप में उनका विकास सम्भव हो सकता है।

'सम्प्रदायप्रदीप' में अग्नि और श्रीकृष्ण दोनों के अवतार का वल्लभाचार्य में समन्वय कर दिया गया है।[४] एक प्रसंग के अनुसार बिल्वमंगल के आग्रह से भगवान पुरुषोत्तम ने अपने मुख-स्वरूप अग्नि के अवतार-रूप में आविर्भूत होने की सूचना दी[५]।

इस अवतार का पूर्णतः सम्बन्ध सम्प्रदाय से है। अतएव वल्लभाचार्य के इस अवतार का प्रयोजन भक्ति-मार्ग का प्रचार माना गया है। इन प्रयोजनों के फलस्वरूप 'सम्प्रदाय प्रदीप' में इन्हें विविध पौराणिक देवताओं और ऋषियों का अंशावतार बतलाया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार कलिकाल में वल्लभाचार्य के अलौकिक तेज और प्रतिभा को देखकर स्वयं नारायण ने कहा था कि यह पृथ्वी पर दैवी सृष्टि के उद्धार तथा मायावादान्धकार के निवारण के

---

१. सम्प्रदाय प्रदीपालोक पृ० ८१ सं० प्रदीप पृ० ५४।

२. सं० प्रदीप पृ० ५२।   ३. दो० वा० वै० वा० पृ० ४३६।

४. सं० प्रदीप ५९ श्री वल्लभनाम में अग्नि को भगवान की मुखाग्नि के रूप में अभिहित किया गया है।

५. सं० प्रदीप ५९।

लिये अग्नि, व्यास, नारद, रुद्र एवं श्रीकृष्ण के अंशों से प्रकट हुये हैं।[1] साथ ही इनके पूर्वावतारों का उल्लेख करते हुये बतलाया गया है कि अग्नि के अंश से ये ही राजाभोज के रूप में अवतीर्ण हो चुके हैं। सम्भवतः ये व्यासांश से आचार्य-स्वरूप, वागीश्वर अग्नि से व्याख्याता, नारदांश से समर्थ भक्ति-प्रचारक, रुद्रांश से संन्यास धारण कर जीवों के उद्धारक और श्रीकृष्णांश से सर्वोद्धारक हैं।[2] उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विभिन्न अंश-शक्तियों का समन्वय इनके कार्यों और प्रयोजनों की प्रभावान्विति के निमित्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'सम्प्रदाय प्रदीप' में चैतन्य आदि अन्य प्रवर्तकों द्वारा उन्हें साक्षात् देवकी-पुत्र कहवाया गया है।[3]

परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने इन्हें अवतारवादी गुरु-परम्परा के अनुसार केवल श्रीकृष्ण का अवतार ही नहीं माना अपितु उपास्य एवं अवतारी रूप भी प्रदान किया है।

कुंभनदास महाप्रभु के जन्म-दिवस की चर्चा करते हुए कहते हैं कि लछमण भट्ट के घर में आज बधाई बज रही है क्योंकि वल्लभ के रूप में सुखदाता पूर्ण पुरुषोत्तम आविर्भूत हुए हैं।[4] समस्त विश्व के आधार गोकुल-पति श्रीकृष्ण ने वल्लभ का अवतार धारण किया है। वे अपने भक्तों को सेवा और भजन का मार्ग बता कर आवागमन से मुक्त कर रहे हैं। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने आकर सभी का उद्धार किया।[5]

नंददास ने भी वल्लभाचार्य को पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम माना है।[6] हरिदास कवि वल्लभाचार्य को कृष्ण के वदनानल की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इनके पदों के अनुसार इन्होंने मायावाद का खंडन कर अपने

---

१. सं० प्रदीपालोक पृ० ११० तथा सं० प्र० पृ० ८६।
'तच्छ्रुत्वोक्तं भगवता श्रीनारायणेन अयमग्निव्यास नारद रुद्रश्री कृष्णांशे प्रादुर्भूतः।

२. सं० प्रदीप पृ० ८६। ३. सं० प्रदीपालोक पृ० १०६, सं० पृ० ८०।

४. कुंभनदास पद संग्रह पृ० ३१ पद ८२–श्री लछमन गृह आजु बधाई।
प्रगट भए पूरन पुरुषोत्तम श्रीवल्लभ सुखदाई।

५. कुंभनदास पद संग्रह पृ० ३९, पद ८३
बरनौ श्री वल्लभ अवतार।
गोकुल पति प्रगटे श्री गोकुल सकल विश्व आधार।
सेवा भजन बताइ निज जन को मेट्यो जन व्यौहार।
कुंभनदास प्रभु गिरिधर आए सबही उतारे पार।

६. नं० ग्र० पृ० ३२६ पद ९
पूरन ब्रह्म प्रगटि पुरुषोत्तम श्री बल्लभ सुखदाई।

स्वजनों का कल्याण किया।[1] वार्त्ताओं में महाप्रभु वल्लभाचार्य को ठाकुर जी का स्वरूप कहा गया है।[2]

किन्तु श्रीकृष्ण या ठाकुर जी से इस सम्प्रदाय के आचार्यों को स्वरूपित करने की परम्परा केवल वल्लभाचार्य तक ही सीमित नहीं रही अपितु उत्तरोत्तर इसका और अधिक प्रसार होता गया। संभवतः 'अष्टछाप' की स्थापना के पश्चात् यह प्रवृत्ति और अधिक व्यापक दिखाई पड़ती है क्योंकि श्री वल्लभाचार्य जी के प्रति रचे गये अवतार या स्तुतिपरक पदों की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी या उनके पुत्रों के प्रति अधिक पद लिखे गये विदित होते हैं।

इस सम्प्रदाय में इष्टदेव के अवतार होने के फलस्वरूप प्रायः विट्ठलनाथ आदि पुत्रों और पौत्रों को श्रीकृष्ण का अवतार माना गया।[3] साथ ही सम्प्रदायों की नाद या विन्दु-परम्परा में मान्य श्री वल्लभाचार्य के वंशजों को वल्लभ का भी अवतार माना गया। कुंभनदास के एक पद में कहा गया है कि संभवतः गुसाईं जी के रूप में पुनः श्री वल्लभ प्रकट हुये हैं। गूढ़ ज्ञान की अभिव्यक्ति और सेवारस का विस्तार इनके प्राकव्य का प्रमुख प्रयोजन है।[4]

विट्ठलनाथ और गोपीनाथ

चोरासी वैष्णवन की वार्त्ता में विट्ठलनाथ जी कृष्ण के और गोपीनाथ

---

१. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १०१ पद १४।
जयति भट्ट लक्ष्मण तनुज कृष्ण वदनानल श्री मदिल्लमुगारु गर्भरत्ने।
प्रथित मायावाद वर्ति बदन ध्वंसि विहित निज दास जन पक्षपाते।

२. दो० वा० वै० वा० पृ० ३४१ वार्ता २०४।

३. अष्टछाप, सं० २००६ विं० पृ० २९६ पद० ९१।
सदा व्रज ही में करत विहार।
तब के गोप वेष अब के प्रकटे द्विजवर अवतार।
जब गोकुल में नन्द कुवर, अब वल्लभ राजकुमार॥
आय पहुचि रुचि और दिखावत सेवामत दृढ़सार।
जुग स्वरूप गिरिधरन श्रीविट्ठल लीला ए अनुसार॥
चतुर्भुज प्रभु सुख लेत निवासी भक्तन कृपा उदार।
और नाभा दास ने पृ० ५७३-५७४ छं० ८० श्रीविट्ठलजी के सातों पुत्रों को श्री कृष्ण-स्वरूप माना है।
'विट्ठलेस सुत सुहृद श्री गोवरधन धर ध्याइये।
ए सात, प्रगट विभु, भजन जगतारन तस जस गाइये॥'

४. कुम्भनदास पद संग्रह पृ० ३२ पद ६२ प्रगट भए फिर वल्लभ आइ।
सेवारस विस्तार करन को गूढ़ ज्ञान सब प्रगट दिखाइ॥

जी बलदेव के अवतार बतलाये गये हैं।[1] अष्टछाप और इस मत के अन्य कवियों ने विट्ठलनाथ जी के आचार्य-परम्परा में होने के कारण इनके प्रति विविध प्रकार को अवतारपरक रचनायें की हैं। श्री छीत स्वामी गुसाईं विट्ठलनाथ और श्रीकृष्ण में कोई भेद नहीं मानते। एक पद में इन्होंने दोनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है।[2] नन्ददास ने इनका उपास्य-रूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इनके चरण पतितों को पवित्र करने वाले हैं। इन्होंने कलि की भ्रामक वैदिक वेद-विधि को विच्छिन्न कर अपने शक्तिशाली मत का विस्तार किया।[3] समस्त सृष्टि के आधार श्रीकृष्ण ही श्री वल्लभ-राजकुमार के रूप में आविर्भूत हुये हैं। नन्ददास इस प्रकार श्री विट्ठल को गिरिधर का अवतार मानते हैं।[4] कान्हरदास के अनुसार श्री विट्ठलनाथ ने समस्त दुःख के निवारणार्थ और विश्व से मुक्त करने के निमित्त लीला-देह धारण किया है।[5] छीत स्वामी ने एक पद में कहा है कि स्वामी विट्ठलनाथ कोटि कलाओं से युक्त वृन्दावनचन्द्र हैं। निगम इनका अन्त नहीं जानता; ये ठाकुर अक्काजू के उदर से उत्पन्न हुये हैं। गिरि को हाथ पर रोककर लीला कर रहे हैं।[6] इस

---

१. अ० छा०, प्रभुदयाल मीत्तल पृ० २७ और चौ० वै० वा० पृ० १९१, ४७८।

२. अ० छा०, प्रभुदयाल मीत्तल पृ० २७० पद ३०।
जे वसुदेव किये पूरन तप, तेई फल फलित श्री विट्ठल देव।
जे गोपाल हुते गोकुल में, सोई अब आनि बसे निज गेह॥
जे वे गोप बधूही ब्रज में सो अब वेद ऋचा भई येह।
छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल तेइ एई एई तेई कछु न सन्देह॥

३. भजो श्री वल्लभ सुत के चरन।
नन्द कुमार भजन सुखदायक, पतितन पावन करन।
हरि किए केलि कपट वेद विधि मत प्रचंड विस्तारन॥ नं० ग्र० पृ० ३२६ पद ८।

४. प्रकटित सकल सृष्टि आधार श्री मद्वल्लभ राजकुमार।
धर्म सदा पद अंबुज सार, अगणित गुण महिमा जु अपार॥
श्री विट्ठल गिरिधर अवतार नंददास कीन्हों बलिहार। नं० ग्र० पृ० ३२६ पद ९।

५. सकल दुःख दारणं भव-सिन्धु-तारणं जनहित लीला-देह धरणं।
कान्हर दास प्रभु सब सुख-सागरं भूतले दृढ़ भक्ति-भाव करणं॥
रागकल्पद्रुम जी० २, ७८–७९ पद ११।

६. जय जय श्री वल्लभानन्द कोटि कला वृन्दावन चंद।
निगम विचारे न लहे पार सो ठाकुर अक्काजू के द्वार॥
लीला करि गिरि धारयो हाथ। छीत स्वामी श्रीविट्ठलनाथ।
राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० ७६ पद १२।

ख० दो० वा० वै० वा० पृ० ४३७ कृष्ण के द्वापर अवतार की चर्चा के पश्चात् कहा गया है 'ये कलियुग में वल्लभाचार्य जी के घर प्रकट होय के अक्काजी के उदर तें बहुत स्वारूपन करिके दर्शन देते हैं'।

पद में स्पष्ट ही स्वामी विट्ठलनाथ जी को इस मत के प्रधान अर्चावतार श्री गोवर्द्धननाथ जी से स्वरूपित किया गया है। पुनः एक दूसरे पद में छीत स्वामी कहते हैं कि ठाकुर जी अपनी सेवा आप ही करते हैं, वे स्वयं भगवान हैं और उन्होंने स्वयंसेवक का भी रूप धारण किया है। वे अपना धर्म-कर्म जानते हैं और यथोचित मर्यादा का पालन करते हैं। इस प्रकार गिरिधरण श्री विट्ठल के सदृश भक्तवत्सल शरीर धारण किया करते हैं।[1] वे ही वल्लभनन्दन के रूप में पुनः आविर्भूत होकर वही रूप, वही क्रीड़ा तथा गोकुल-कृष्ण द्वारा चलाई हुई उसी रीति का प्रवर्तन करते हैं। जिन्होंने यशोदा को आनन्दित किया था वे ही पुनः प्रकट हुये हैं।[2] ये विट्ठलनाथ वेद-विदित पूर्ण पुरुषोत्तम हैं जिनकी महिमा वर्णनातीत है।[3] इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में इष्टदेव के अवतार की एक परम्परा सी दीख पड़ती है क्योंकि वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के पश्चात् विट्ठलनाथ के सातों पुत्रों[4] के भी श्रीकृष्ण के अंशावतार या विभूतिस्वरूप का कतिपय पदों से भान होता है। इस सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास ने सातों की संभवतः उपास्य आचार्य के रूप में एक साथ वंदना की है।[5]

---

१. अपुन पै अपनी सेवा करत।
   आपुन प्रभु आपुन सेवक है अपनो रूप उधरत।
   आपुन धर्म कर्म सब जानत मर्यादा अनुसरत॥
   छीत स्वामी गिरिधरण श्रीविट्ठल भक्तवत्सल वपुधरत।
   राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १७९ पद ३८।

२. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १८० पद ४०।
   श्री वल्लभ के नन्दन फिरि आए।
   वेई रूप वेई फिरि क्रीड़ा करत आपु मन भाए।
   वेई फिर राज करत श्री गोकुल वेई रीति प्रकटाए॥
   जे यशोमति को आनन्द दीन्हों सो फिरि ब्रज में आए।
   श्री विट्ठल गिरिधर पद अम्बुज गोविंद उर में लाए॥

३. रूप स्वरूप श्री विट्ठल राय।
   वेद विदित पूरण पुरुषोत्तम श्री वल्लभ गृह प्रकटे आय।
   छीत स्वामी गिरिधरण श्री विट्ठल अगणित महिमा कही न जाय॥
   रागकल्पद्रुम जी० २ पृ० २१५ पद ३।

४. विट्ठल सुत सहृद श्री गोबरधन धर ध्याइये।
   ... ...
   'ये सात, प्रगटिविभु भजन जगतारन बस जस गाइये।'
   भक्तमाल पृ० ५७४ छप्पय ८० है।

५. 'श्री बालकृष्ण सदा सहज दशाकमल लोचन सुहर्षि रुचि बढ़ाऊं'।

परन्तु इन सातों भाइयों में गोकुलनाथ जी के प्रति रचित स्वतंत्र पद भी मिलते हैं, जिनसे इनके अवतारत्व का परिचय मिलता है। माधोदास एक पद में कहते हैं कि भक्तों के हितार्थ श्री वल्लभ ने गोकुलनाथ के रूप में अवतीर्ण होकर समस्त विश्व का अंधकार नष्ट कर दिया है। इन्होंने ही श्रीकृष्ण के रूप में गोवर्द्धन गिरि, गोप और व्रज का उद्धार किया था। अब विट्ठलनाथ के पुत्र होकर परम हित का अनुसरण कर रहे हैं और अनेक सेवकों को अनन्त भव-सिंधु से मुक्त कर अपने जन के रूप में परिणत कर रहे हैं।[1]

उक्त पद में इष्टदेव श्रीकृष्ण, श्री वल्लभाचार्य और नाद और विंदु पद्धति की वंश एवं साम्प्रदायिक परम्परा का संयुक्त विकास स्पष्ट प्रतीत होता है। इस परम्परा में इनके अग्रजों को समाविष्ट कर वल्लभ-परम्परा का उत्तरोत्तर विकास किया गया। विष्णुदास ने अपने एक पद में उक्त आचार्यों के साथ कल्याण राय, हरिराय आदि अग्रजों का भी उल्लेख किया है।[2]

भक्ति मार्ग सुदृढ़ करण गुणराशि व्रज मंगल श्री गोकुलनाथ ही लड़ाऊं॥
श्री रघुनाथ धर्म्मधुरन्धर शोभा सिन्धु रूप लहरिन दुःख दूरि बहाऊं।
पतित उद्धरन महाराज श्री यदुनाथ विशद अम्बुज हाथ शिरसि परसाऊं॥
श्री घनश्यान अभिराम रूप वर्षा स्वाती आशा लागि रसना चातक रटाऊं।
चतुर्भुज दास परयो द्वार प्रणिपत करे सकल कुल को चरणमृत भोर उठि पाऊं॥
राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० ७८ पद ६।

(ख) रागकल्पद्रुम जी० २ पृ० १४९ पद ब्रजपति नाम के सम्भवतः एक परवर्ती कवि का मिलता है। उसमें सातो भाइयों की वन्दना कर अन्त में कहा गया है—
'यह अवतार भक्त हित कारण जो गाऊं तो परम पद पाऊं।
विनती करि करि मांगत ब्रजपति निशीदिन इनको दास कहाऊं'॥

१. श्री गोकुल नाथ निज वपु धरयो।
भक्त हेत प्रकटे श्री वल्लभ जगते तिमिर हरयो।
नन्द नन्दन भये तब गिरि गोप ब्रज धरयो॥
नाथ विट्ठल सुनन कै के परमहित अनुसरयो।
अति अगाध अपार भव विधि तारि अपनो करयो॥
वास माधव दास देव चरण सरणों परयों।
राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १०१, पद १८।

२. प्रकटे श्री वल्लभ राजकुमार।
जय जय श्री गिरिधर श्री गोविन्द बाल कृष्ण जी उदार।
गोकुलपति श्री यदुपति शोभित तन घनश्याम॥
करुणापति श्री कल्याण राय जू रसिक जननि सुखधाम।
श्री मुरलीधर प्रभु बालक श्री वल्लभकुल सकल समान।
विष्णुदास गोपाल लीला बपु गावत वेद पुरान॥

चैतन्य

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य भी आलोच्यकाल में एक ओर तो उपास्य देव श्रीकृष्ण के अवतार माने गये और दूसरी ओर गुरु-परम्परा में स्वयं उपास्य और अवतारी रूप में मान्य हुये। डॉ० रत्नकुमारी के अनुसार चैतन्य-देव के जीवन-काल में उनके नदिया-निवासी भक्तों ने उन्हें ईश्वरत्व की श्रेणी तक पहुँचा दिया था और उन्हें स्वयं कृष्ण माना था।[१] परन्तु यह प्रवृत्ति मध्यकाल की एक प्रमुख प्रवृत्तियों में थी, फलतः चैतन्य का अवतारत्व भी इस युग की प्रवृत्तिविशेष से संवलित है। इस सम्प्रदाय के विख्यात गोस्वामी लेखकों ने मंगलाचरण के रूप में उन्हें कृष्ण के अवतार से अभिहित किया है। किन्तु उनका सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं किया।[२] इसका मुख्य कारण उनका गुरु-परम्परा के अनुसार श्री चैतन्य को कृष्णस्वरूप समझना था।[३]

चैतन्य सम्प्रदाय के हिन्दी कवि माधुरीदास ने भी संभवतः गुरु-परम्परा में ही कृष्ण, रूप चैतन्य को याद किया है। साथ ही उसमें गोस्वामियों का समन्वय करते हुए उन्हें नित्यरूप प्रदान किया गया है।[४] नाभादास ने भक्तमाल में नित्यानन्द और कृष्ण चैतन्य द्वारा दशों दिशाओं में व्याप्त इनकी भक्ति का उल्लेख करते हुये सम्भवतः दोनों को पूर्व देश में अवतरित बलराम और कृष्ण का अवतार माना है।[५] इस छप्पय में दोनों के अवतारत्व से सम्बद्ध 'अवतार विदित पूरब मही उएभ महत देही धरी' का स्पष्टीकरण प्रियादास की टीका से हो जाता है।[६]

रसिक नाम का प्रयोग सम्भवतः हरिराय के लिये हुआ है क्योंकि रसिक, रसिक राय, हरिधन, हरिदास, आदि नामों का प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ है।

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भा० १ पृ० ८०।

१. १६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि पृ० १७२।

२. १६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि पृ० १७२ में लेखिका ने प्रसिद्ध गोस्वामियों का एकत्र उद्धरण प्रस्तुत करने के पश्चात् उक्त विचार प्रकट किया है।

३. चै० च० (व्रज भाषा प्रतिध्वनि) आदि लीला, प्रथम परिच्छेद पृ० ३।
गुरु कृष्ण रूप होय शास्त्र के प्रमाण। कृपा करे भक्त पै गुरु है भगवान।

४. मान माधुरी, ह० लि०, ना० प्र० सभा २९०, १७ पृ० ८।
कृष्ण रूप चैतन्य धन तन सत मकर प्रकाश।
सदा सनातन एक रस विहरत विविध विलास॥

५. भक्तमाल पृ० ५५३–५५४ छं० ७२।
नित्यानन्द कृष्ण चैतन्य की भक्ति दसोदिसि विस्तरी।
अवतार विदित पूरब मही, उभै महत देही धरी॥

६. आप बलदेव सदा वारुणी सो मत्त रहैं, चहैमन मानो प्रेम मतताई चाखियै।

वल्लभ आदि की अपेक्षा चैतन्य सम्प्रदाय एवं साहित्य का विस्तृत क्षेत्र पूर्वोत्तर भारत या विशेषकर बंगाल रहा है। बंगला भाषा में रचित 'चैतन्य-चरितामृत' के प्रारम्भ में 'आदि लीला' में ही चैतन्य के अवतार और अवतारी-उपास्य दोनों रूपों का विस्तृत वर्णन हुआ है।

'चैतन्य चरितामृत' में कृष्णदास कविराज ने द्वितीय परिच्छेद में कहा है कि स्वयं भगवान ('कृष्णस्तु भगवान स्वयं' का विशेषण) कृष्ण जो विष्णु, परतत्त्व, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द और परम महत्त्व आदि उपाधियों से युक्त हैं, जिन्हें भागवत ने नंदसुत के रूप में गाया है, वे ही चैतन्य गुसाईं के रूप में अवतीर्ण हुये हैं।[1]

पूर्ववर्ती आचार्यों के आविर्भाव की चर्चा करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार सम्प्रदाय-प्रवर्तन के निमित्त अवतीर्ण आचार्यों एवं भक्तों को विष्णु के आयुधों, पार्षदों और अवतारों से सम्बद्ध किया गया किन्तु आगे चल कर कृष्ण से सम्बद्ध सम्प्रदायों में आचार्यों को कृष्ण का ही अवतार माना गया। वल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभाचार्य की पूरी वंश-परम्परा ही कृष्ण के अवतार-रूप में मान्य हुई।

उसी प्रकार चैतन्य भी इस सम्प्रदाय के इष्टदेव कृष्ण के अवतार तो माने गये परन्तु वल्लभ या अन्य कृष्णावत सम्प्रदायों की अपेक्षा इनके आविर्भाव की प्रणाली और प्रयोजन दोनों में पर्याप्त वैषम्य लक्षित होता है।

चैतन्य में वंश-परम्परा जैसी अवतार-प्रणाली का सम्बन्ध कृष्ण से नहीं दीखता अपितु उसके स्थान में सामूहिक अवतार की भावना व्याप्त है, किन्तु इस सामूहिक अवतार का सम्बन्ध भी श्रीमद्भागवत कृष्ण के सामूहिक

सोई नित्यानन्द प्रभु महंत की देह धरी, भरी सब आनि तऊ पुनि अभिलाषिये॥
... ...

श्यामताई भाँफ सो ललाई हूं समाईजोही, तातै मेरे ज्ञान फिरि आई यहै मन मैं।
'जसुमति सुत' सोई शची सुत गौर भये नये नये नेह, चोज नाचै निज गन मैं।
भक्तमाल पृ० ५५४ कवित्त ३२९ और ३३० प्रियादास।

१. (क) स्वयं भगवान कृष्ण विष्णु परतत्व। पूर्णज्ञान पूर्णनन्द परम महत्त्व॥
नन्द सुत बोलिता को भागवत गाई। सोई कृष्ण अवतीर्ण चैतन्य गुसाईं॥
चै० च० (व्रजभाषा प्रतिध्वनि) आदि लीला द्वितीय परिच्छेद पृ० ८।
(ख) सोही कृष्ण अवतारी व्रजेन्द्र कुमार। आपही चैतन्य रूप कियो अवतार॥
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला द्वितीय परिच्छेद पृ० १३।

अवतार से पूर्णतः सम्बद्ध नहीं है ।[१] क्योंकि चैतन्य का कृष्ण से और नित्यानन्द का बलराम से सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न नहीं दीख पड़ते । फिर भी कृष्णदास कविराज ने सिद्धान्ततः सामूहिक अवतार को स्वीकार किया है । उनके कथनानुसार कृष्ण संभवतः चैतन्य के रूप में जब आविर्भूत होते हैं तो पहले ही गुरुजन एवं माता-पिता आदि को अवतरित कराते हैं,[२] जिसके फलस्वरूप चैतन्य के साथ माधव, ईश्वरपुरी, शची, जगन्नाथ, अद्वैताचार्य आदि सहयोगियों का आविर्भाव हुआ ।[३]

साथ ही भा० १, ३, की अंश और पूर्ण अवतारवादी प्रणालियों के समानान्तर श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु स्वयं भगवान माने गये ।[४] और अद्वैत आचार्य उनके अंशावतार[५] निन्यानन्दराय उनके स्वरूप प्रकाश[६] और गदाधर पण्डित आदि उनकी निज शक्ति[७] के रूप में मान्य हुये ।

चैतन्यावतार का मुख्य प्रयोजन अन्य तत्कालीन सम्प्रदायों के सदृश पूर्णतः साम्प्रदायिक है । इसमें सेवा और भजन की अपेक्षा प्रेम, भक्ति और कीर्तन को अधिक प्रधानता दी गई है ।[८] प्रेमा भक्ति के दो मुख्य अंग लीला

---

१. व्रज में विहार करे कृष्ण बलराम, कोटि सूर्यचन्द्र जयो जाको निजधाम ।
सोही दोनों जग पर होय के सदय, गौड़ देश पूर्व शैल कियो है उदय ॥
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला, प्रथम परिच्छेद पृ० ६ और ख पञ्चम परिच्छेद पृ० ३४,
सोही कृष्ण नवद्वीप श्रीचैतन्यचन्द्र सोही बलराम संग है श्री नित्यानन्द ।

२. कृष्ण जब पृथिवी में करें अवतार, प्रथम करत गुरुवर्ग को संचार ।
पिता माता गुरु आदि जेते मान्य गण, सबको करावे आगे पृथ्वी पै जनन ॥
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला तृतीय परिच्छेद पृ० १८ ।

३. माधव ईश्वर पुरी शची जगन्नाथ, अद्वैत आचार्य प्रकट भये ताही साथ ।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला तृतीय परिच्छेद पृ० ३ ।

४. श्री कृष्ण चैतन्य प्रभु स्वयम् भगवान ।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला प्रथम परिच्छेद पृ० ३ ।

५. अद्वैत आचार्य प्रभु अंश अवतार ।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला प्रथम परिच्छेद पृ० ३ ।

६. नित्यानन्द राय प्रभु स्वरूप प्रकाश ।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला प्रथम परिच्छेद पृ० ३ ।

७. गदाधर पंडितादि प्रभु निज शक्ति ।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला प्ररिच्छेद पृ० ३ ।

८. कलियुग युगधर्म नाम को प्रचार ताही हेतु पीतवर्ण चैतन्यावतार ।

और रस इस अवतार के प्रमुख प्रयोजन माने गये।[1] उक्त प्रयोजनों के बहिरंग में प्रचारात्मक तत्त्वों की प्रधानता है और अंतरंग में रसास्वादन जनित तत्त्वों की।[2] इस सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों ने कृष्णचैतन्य के रसात्मक रूपों को ही अधिक ग्रहण किया है। श्री माधुरीदास की 'दानमाधुरी' के प्रारम्भिक दोहों से यह स्पष्ट है।[3] उक्त प्रयोजनों के अतिरिक्त जैसा कि पीछे कहा जा चुका है मायावाद का खंडन भी आचार्यों का एक विशेष प्रयोजन या कार्य रहा है। 'चैतन्य चरितामृत' के अनुसार चैतन्य ने भी वृंदावन जाते समय काशी में मायावादियों की आलोचना की थी।[4] इस प्रकार आचार्यावतारों की परम्परा में गृहीत श्री चैतन्य में केवल वैष्णव भक्ति का प्रसार ही एक मात्र प्रयोजन नहीं था अपितु उसमें रसदशा या भावावेश का भी अपूर्व योग हुआ था। जिसके फलस्वरूप तत्कालीन युग तक कृष्ण-भक्ति या राम-भक्ति प्रायः सभी सम्प्रदायों में इष्टदेव के रूप में कृष्ण या राम के युगल रूपों का अधिक प्रचार हुआ और साधना की दृष्टि से गोपी-भाव, राधा-भाव और अंततः सखी-भाव और किंकरी-भाव अत्याधिक प्रचलित हुए।[5] विशेष

(क) चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद पृ० २०
प्रेम नाम प्रचारवे यह अवतार।

(ख) चै० च० व्र० भा० प्र० आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद पृ० १६।

१. वैकुण्ठादि हू में नहि जो लीला प्रचार सो लीला करिहौं यामे मोहि चमत्कार।
(क) चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद पृ० २५।
रस आस्वादिवे मैंने कियो अवतार प्रेमरस आस्वादन विविध प्रकार।
राग मार्ग भक्त भक्ति करे जा प्रकार, सोइ सिखाइहौं लीला आचरणसार॥
(ख) चै० च० व्र० भा० प्र० आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद पृ० ३२।

२. १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि पृ० १८१।

३. निसुदिन चित चितेत रहत श्री चैतन्य स्वरूप।
वृन्दावन रस माधुरी सदा सनातन रूप॥
गयो तिमिर तन को सबै निरखत विपुन विसास।
दान केलि ससि कुमुदनी कीनो किरण प्रकास॥
दान माधुरी ह० ले० ना० प्र० स० २९०, १८, पृ० १ कवि की विशेष जानकारी द्रष्टव्य, त्रिपथगा, सितम्बर, १९५६, पृ० १२२।

४. वृन्दावन जाते प्रभु रहे जो काशी में। मायावादी गण सब निन्देप्रकाशी में।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला सप्तम परिच्छेद पृ० ५०।

५. कृष्ण राधा ऐसे सदा एक ही स्वरूप लीलारस आस्वादिवे धरे दोय रूप।
प्रेम भक्ति शिक्षा अर्थ आप अवतरे, राधा भाव कान्ति दोऊ अंगीकार करे॥
श्री कृष्ण चैतन्य रूप कियो अवतार यही तो पञ्चम श्लोक अर्थ प्रचार।
चै० च० व्र० भा० प्र०, आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद पृ० २४।

कर कृष्ण-भक्ति शाखा से सम्बद्ध राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदायों में सखी या किंकरी भाव ही साधना का एकमात्र भाव गृहीत हुआ।[1]

सम्प्रदाय प्रवर्तकों की परम्परा में पूर्व आचार्यों की अपेक्षा चैतन्य, हित हरिवंश आदि में विशेष वैशिष्ट्य यह है कि ये पूर्वाचार्यों की तरह प्रस्थान-त्रयी या चतुष्टय के आधार पर साम्प्रदायिक मान्यताओं के प्रतिपादक न होकर स्वयं भक्त के रूप में आस्वादक हैं।[2] इनमें मस्तिष्क एवं बुद्धि पक्ष की अपेक्षा हृदय एवं भाव पक्ष का अधिक प्राबल्य था।

अस्तु, यह उल्लेखनीय है कि इनके अवतार के प्रयोजन में वहिरंग या प्रचारात्मक प्रयोजनों की अपेक्षा अन्तरंग एवं आस्वाद्य रसात्मक तत्वों की प्रधानता थी। वस्तुतः इन्हें अपने धर्म को व्यापक बनाने के लिये न तो किसी के खंडन की आवश्यकता थी न किसी की आलोचना की। केवल नित्य-लीला का सखीभाव से आस्वादन ही इनका एकमात्र अभीष्ट था।

श्री हित हरिवंशः—(सं० १५९९–१६२२)

राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हितहरिवंश हित और वंशी के अवतार माने जाते हैं।[3] कहा जाता है कि जिस प्रकार श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि सम्प्रदायों की रक्षा क्रमशः चक्र, गदा, शंख और पद्म करते हैं वैसे ही त्रैलोक्य संमोहन आयुध स्वयं वंशी इस मार्ग का रक्षक है।[4] श्री कृष्णोपनिषद् में रुद्र को वंशी का अवतार माना गया है[5] परन्तु उक्त सम्प्रदाय से रुद्र का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इनकी 'हित चौरासी' एवं 'राधासुधा-

---

१. (क) राधा चरण प्रधान हुये अति सुदृढ उपासी।
कुञ्ज केलि दम्पति, तहां की करत खवासी॥
भक्तमाल पृ० ५६८ छप्पय ९० हित हरिवंश।
(ख) अवलोकत रहै केलि सखी सुख के अधिकारी।
भ० पृ० ६० छ० ९१ हरिदास।
(ग) नौगुण तोरि नुपुर गह्यो महत सभा मधि रास के।
भ० पृ० ६०१, छं० ९२, हरिव्यास।

२. इसी से ये भक्त की अपेक्षा रसिक विशेषण से अभिहित किये गये। भक्त कवि व्यास जी पृ० १९४ पर १३। 'श्री हरिवंश से रसिक, हरिदास से अनन्यनि की, को वपुरा कहि सकै सारी' तथा वही। पृ० ११५ पद, ९३।
'रसिक अनन्य हमारी जाति'।

३. श्री हित चरित्र पृ० २७७।   ४. श्री हित चरित्र पृ० २२–२३।

५. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् में संकलित श्रीकृष्णोपनिषद् १९२५ ई० सं० पृ० ५२२।
'वंशस्ते भगवान्रुद्रः श्रृङ्गमिन्द्र सगोसुरः'।

निधि' आदि रचनाओं में वंशी के अवतार होने का कोई संकेत नहीं मिलता साथ ही नाभाजी एवं प्रियादास ने भी इन्हें वंशी या अन्य किसी का अवतार नहीं बतलाया।[1] अतः यह स्पष्ट है कि परवर्ती काल में इनके शिष्यों ने या अन्य कवियों ने हित और वंशी के साथ हित हरिवंश का नाम-साम्य होने के कारण सम्भवतः इन्हें हित और वशी का अवतार माना।[2] साधारणतः आचार्य स्वयं अपने को अवतार नहीं कहते किन्तु शिष्य और उनके अनुयायी अपेक्षित न होते हुये भी उन्हें किसी न किसी का अवतार सिद्ध करते हैं।[3] इनके समकालीन शिष्यों में श्री हरिव्यास जी ने (सं० १६२२) एक पद में श्रीहितहरिवंश की वंदना की है जिसमें इनको रसिक अनन्य बेनुकुल-मंडन, लीलामानसरोवरहंस कहा गया है।[4]

यहाँ बेनुकुल से सम्बन्ध होने का कारण रसिक सम्प्रदायों का श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं की अपेक्षा केवल रासक्रीड़ा और निकुंज-केलि से सम्बद्ध होना है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला के प्रारम्भ में वंशीवादन द्वारा ही ब्रज-गोपियों का मन मोह लिया था।[5] अतः उस रस-क्रीड़ा की मूल प्रेरिका वंशी ने गोपियों को रसोपासना की ओर जिस प्रकार आकर्षित किया था उसी प्रकार हरिवंश ने भी रसिक समुदाय को

---

१. नाभादास प्रियादास की टीका सहित पृ० ५९८-६०१।

२. भगवत मुदित, रसिकमाल ह० ले० ४७४, ३४९ ना० प्र० स० पत्र ३, ३२-४० की इन पंक्तियों से स्पष्ट है।
जो वंशी व्रज ते अवतरे। निज विहार रस भू विस्तरे।
वंशी अरु हम हंसनिहंस प्रकटेंगे मिलि हरि अरुवंस॥
इहिं विधि हम हूं प्रगट जु ह्वै हैं। रसिक अनन्य धर्म प्रगटै हैं।

३. अवतार नांहि कहै, आमी अवतार। मुनि सब जानी करे, लक्षण विचार॥
वै० सि० रत्न संग्रह पृ० २४१ में चैतन्य चरितामृत के एक पद के लक्षणों के आधार पर अवतारीकरण की प्रवृत्ति का पता चलता है।

४. (क) नमो नमो जै श्रीहरिवंश।
(ख) रसिक अनन्य बेनु कुल मंडन लीला मान सरोवर हंस।
भक्तकवि व्यास जी० पृ० १९३ पद १०।

५. (क) दृष्टवा कुमुद्वन्तमखण्ड मण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमल गोभिरञ्जितं जगौ कलं वाम दृशां मनोहरम्॥
निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्ण गृहीतमानसाः।
आजुग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोधमाः स यत्र कान्तोजवलोलकुण्डलाः॥
भा० १०, २९, ३८४।
(ख) 'सामान्यतः वंशी को नाद ब्रह्म का प्रतीक माना जाता है। पो० अ० ग्रं० पृ० २६९।

इस गोपीभाव से की जाने वाली विशिष्ट नित्य रसोपासना की ओर उन्मुख किया।[1] वस्तुतः कार्यसाम्य भी श्रीहितहरिवंश के हित और वंशी के अवतार होने का मूल कारण माना जा सकता है क्योंकि इस सम्प्रदाय के परवर्ती कवि श्री हित सेवकदास कहते हैं कि सभी अवतारों को देखा कहीं भी मन नहीं रमा। गोकुलनाथ कृष्ण ने अपने पूर्ण ऐश्वर्य के साथ ब्रज में अनेक प्रकार की लीलाएँ कीं। उनमें कोई भी लीला चित्त को आकर्षित नहीं कर सकी। केवल वंशी बजाकर उन्होंने जिस प्रेम-पाश में सभी को बाँध लिया था, बस उसी एक रीति ने मेरा मन मुग्ध कर लिया है।[2] इस प्रकार वंशी एवं रासलीला और हरिवंश एवं रसोपासना में अवतार-सम्बन्ध के साथ-साथ नाम और कार्य दोनों दृष्टियों से अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया गया है। अतः उक्त प्रवृत्ति की मूल पीठिका के रूप में इसे माना जा सकता है।

यह सम्प्रदाय के प्रवर्तक होने के नाते इन्हें गुरु-परम्परा में श्रीकृष्ण से अभिहित कर उपास्यरूप प्रदान किया गया। फलतः हरि और हरिवंश दोनों अभिन्न माने गये हैं।[3] साथ ही परवर्ती कवियों ने इनके अवतार-हेतु का भी अत्यधिक विस्तार किया।

प्रयोजन पीछे बतलाया जा चुका है कि रसिक-प्रवर्तकों के अवतार का प्रयोजन प्रचारात्मक या बहिरंग न होकर अंतरंग और आस्वाद्य प्रधान था।[4]

---

१. (क) वेणु माई बाजे वंशीवट।
सदा वसंत रहत वृन्दावन पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट।
जटित किरीट मकराकृत कुण्डल मुखरविंद भ्रमर मानो लट॥
दासि अनन्य भजन रस कारण जै श्री हित हरिवंश प्रकट लीलानट।
हित चौरासी ह० ले० (सं० १८८१), १७७८ ना० प्र० स० पृ० ६५।
(ख) हरि रिति अक्षर बीज ऋषि वंशी शक्ति सुअंश। सेवक बानी पृ० ८५९।
नख शिख सुन्दर ध्यान धरि जै जै श्री हरिवंश।

२. देखे जु मैं अवतार सबै भजि तांह तहां मन तैसो न जाई।
गोकुल नाथ महाब्रज वैभव लीला अनेक न चित्र खटाई॥
एकहि रीति प्रतीति बंध्यो मन मोहि सबै हरिवंश बजाई।
सेवक बानी ह० ले० ५४, ५९ ना० प्र० स० पृ० ६८ स० ११।

३. (क) हरि हरिवंशभेद नहि होय। प्रभु ईश्वर जाने सब कोय।
दोय कहे न अनन्यता। सेवक बानी ह० ले० गा० प्र० स० पृ० ४३।
(ख) श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश सुमिरत कटै पाप जम कंस।
भगवत मुदित, रसिकमाल ह० ले० ना० प्र० स० पत्र ३५।

४. करुणा निधि अरु कृपानिधि श्री हरिवंश उदार।
... ...

श्री ध्रुवदास जी के मतानुसार करुणानिधि, कृपानिधि और उदार हरिवंस वृन्दावन रस की अभिव्यक्ति के निमित्त प्रकट हुए थे। क्योंकि समस्त कृष्ण-लीला में वृन्दावन की रास-लीला और युगल-विहार ही सर्वोपरि हैं। ये ही महाभाव सुखसागर स्वरूप हैं।[1]

अतएव इस परम सुख की उपलब्धि के लिये हरिवंश की कृपा आवश्यक है। जिस पर श्री हरिवंश की कृपा होती है उसी को श्रीकृष्ण का सहारा मिलता है। श्री हरिवंश इस रसमयी आनन्द-वेलि की श्रीवृद्धि के निमित्त प्रकट हुए।[2] फलतः रसिकराज श्रीहरिवंश ने राधावल्लभलाल का वंश ही नहीं प्रकट किया,[3] अपितु स्वयं प्रेमावतार के रूप में भी आविर्भूत हुए।[4] श्री हितसेवकदास कहते हैं कि कलियुग में वेद-विधि का पालन कठिन हो गया। यथार्थ धर्म कहीं दिखाई नहीं पड़ता था। कोई किसी का भला करने वाला नहीं रह गया था। पृथ्वी के शासक राजा धर्महीन हो गये थे। म्लेच्छ सारी पृथ्वी पर छा गये थे। वेद-विहित कर्म से अनभिज्ञ होने के कारण सभी लोग आधुनिक धर्म का पालन करने लगे थे। भक्ति का धर्म किसी को ज्ञात नहीं था। धर्महीना एवं म्लेच्छों के भार से पृथ्वी दुःखित हो गई थी।[5] अतएव भगवान हरि ने श्रुतिपथ से विमुख एवं त्रस्त विश्व

वृन्दावन रस सबकौ सारा, नित सर्वोपरि जुगुल विहारा।

ध्रुवदास ग्रन्थावली, रहस्य मञ्जरी पृ० ७५।

१. महाभाव सुखसार स्वरूपा। कोमल सील सुभाउ अनूपा।

ध्रुवदास ग्रन्थावली, रहस्य मंजरी, पृ० ८०।

२. जापर श्री हरिवंश कृपाल, ताकीवांह गहे दोउ लाल।
श्री हरिवंश हिये जो आनै, ताको वह अपनो करि जानै॥
आनन्द वेलि बढ़ी रसमई, श्री हरिवंश प्रगट करि ईइ।

ध्रुवदास ग्रन्थावली, रहस्य मञ्जरी, पृ० ८३।

३. रसिक नृपति हरिवंश जू परम कृपाल उदार।
राधा वल्लभ लाल यश कियौ प्रगट संसार॥

ध्रुवदास ग्रन्थावली, वन विहार लीला, पृ० ९८।

४. प्रगट प्रेम को रूप धरि श्री हरिवंश उदार।
राधा वल्लभ लाल कौ प्रगट कियो रस सार॥

ध्रुवदास ग्रन्थावली, प्रेमावली, पृ० १५८।

५. कलियुग कठिन वेद विधि रही, धर्म कहूं नहिं दीषत सही।
कही भली होउ ना करै।
उदवश विश्व भयो सब देश, धर्म रहित मेदिनी नरेश।

को देख, मन में इनके उद्धार हेतु निश्चय कर, समस्त वेदों का सारांश अभिव्यक्त किया। तत्पश्चात् सभी अवतारों के रूप में भक्ति का विस्तार किया। पुनः आविर्भूत होकर रसोपासना एवं रसिक धर्म का प्रवर्तन किया।[1]

जिसके फलस्वरूप उनका अवतार होते ही अन्न से पृथ्वी भर गई। विश्व के अशुभ मिट गये, समस्त म्लेच्छों ने भी हरि-यश का ही विस्तार करना प्रारम्भ किया। उनका व्यवहार अत्यन्त मधुर हो गया। वे अच्छी तरह प्रजा-पालन करने लगे।[2] सभी लोगों ने धर्मानुकूल चलना आरम्भ किया। सभी लोग निर्भीक हो गये। ब्राह्मण लोग समुचित ढंग से षट्कर्म में लीन हो गये। परस्पर प्रेम की वृद्धि हुई। इस प्रकार कलियुगी प्रणाली में परिवर्तन हो गया।[3]

अतः श्रीहितहरिवंश ने अवतरित होकर उस व्रज-रीति का प्रचार किया जैसी नन्द-सुत की प्रीति थी।[4] इन्होंने उसी नित्य-लीला और नित्य-रास को रसिक समुदाय में अभिव्यक्त किया जहाँ श्रीकृष्ण और राधा नित्य रास और लीला

म्लेच्छ सकल पुहमी बढ़े।
सब जन करहि आधुनिक धर्म्म वेद विदित जानत नहि कर्म्म।
मर्म्म भक्ति को क्यों लहैं बूड़त भव आवै न उसास॥
धर्म रहित जानत सब दूनी।
म्लेच्छनु मार दुखित मेदिनी धनी और दूजो नहीं।
सेवक बानी ह० लें० पृ० ४२ पृ० ४३।

१. करी कृपा मन कियो विचार, श्रुति पथ विमुख दुखित संसार।
सार वेद विधि उद्धरी, सब अवतार भक्ति विस्तरी॥
पुनि रस रीति जगत उच्चरी, करो धर्म्म अपनो प्रकट।
सेवक बानी ह० लें० बा० प्र० स० पृ० ४३।

२. अन्न सुकाल चहुंदिशि भये। गये अशुभ सब विश्व के।
म्लेच्छ सकल हरि यश विस्तारहि परम ललित वानी उच्चारहि॥
करहि प्रजा पालन सबै। अपनी अपनी रुचि वश वास।
सेवक बानी ह० लें० ना० प्र० स० पृ० ४४।

३. चलहि सकल जन अपने धर्म्म, ब्राह्मण सकल हरहिं षट् कर्म्म।
मर्म्म सबनु को भाजियो।
छूटि गई कलि युग की रीति। नित नित नव नव होत समीति।
प्रीति परस्पर अति बढ़ी। सेवक बानी ह० लें० ना० प्र० स० पृ० ४४।

४. अब जु कहो सब ब्रज की रीति, जैसी सबनुनंद सुत प्रीति।
सेवक बानी ह० लें० ना० प्र० स०, पृ० ४५-४६।

में[1] निमग्न हैं। उसी लता-भवन की शीतल छाया में जहाँ किसी अन्य का प्रवेश नहीं है। केवल श्री हरिवंश का वहाँ नित्य-निवास है।[2] इस विलक्षण रीति का मर्मज्ञ और कोई नहीं है। जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब वे प्रकट होते हैं।[3] जो रस-रीति अत्यन्त दुर्लभ है उससे अखिल विश्व पूरित हो जाता है। सारा जगत इस संजीवनी को पाकर चेतन एवं प्रसन्न हो उठता है।[4] इस रस में निमग्न रहने वाले का भवत्रास भी मिट जाता है।[5]

यह स्पष्ट है कि हरिवंश का अवतार राधा की आज्ञा से रसोपासना के प्रचार के निमित्त हुआ था।[6] रसिक सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित नित्य रास लीला या नित्य निकुञ्ज केलि के दर्शन या भाग लेने के निमित्त गोपी भाव या सखी भाव अनिवार्य माना जाता है। 'श्रीमद्भागवत' में भी रासलीला में श्रीकृष्ण गोपियों के साथ अकेले थे।[7]

रसिक सम्प्रदायों में मान्य टट्टी सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हरिदास ललिता सखी के अवतार माने जाते हैं।[8] उनके इस अवतारत्व का विकास भी सम्भवतः सखीभाव के प्रभावानुरूप परवर्ती काल में हुआ।[9] नाभादास जी ने इन्हें केलि और सखी-सुख का अधिकारी माना है।[10] 'प्रियादास की टीका' में या 'रसिक अनन्यमाल' में इन्हें किसी अवतार से सम्बद्ध नहीं किया गया, अपितु परवर्ती काल में आचार्य या रसिक सभी सम्प्रदायों में भक्तों या रसिकों के नाम

---

१. श्री हरिवंश नित्य वर केलि। बाढ़त सरस प्रेम रस वेलि।
... ...
नित नित लीला नित नित रास, सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
सेवकबानी, ह० ले०, ना० प्र० स०, पृ० ४६।

२. लता भवन सुख शीतल छहाँ। श्री हरिवंश रहत नित जहाँ लहा न वैभव आन की।
सेवकबानी, ह० ले०, ना० प्र० स०, पृ० ४६।

३. जब जब होत धर्म की हानि, तब तब तनु धरि प्रकटत आनि।
जानि और दूजो नहीं। सेवकबानी, ह० ले०, ना० प्र० स०, पृ० ४६।

४. जो रस रीति सबन ते दूरि। सो सब विश्व रही भर पूरि।
मूरि संजीवन कहि दई। सेवकबानी, ह० ले०, ना० प्र० स०, पृ० ४६

५. या रस मगन मिटे भव त्रास। सेवकबानी, ह० ले०, ना० प्र० स०, पृ० ४७

६. एक दिन सोवत सुख लह्यौ, श्री राधा सुपने में कह्यौ।
भगवत मुदित, रसिकमाल, ह० ले०, ना० प्र० स०, पत्र ५२।

७. भा० १०, २९।

८. पो० अ० ग्र०, पृ० १८७ स्वामी हरिदास की बानी, श्री गोपालदत्त।

९. पो० अ० ग्रं०, पृ० १९५
कहि श्री हरिदास महल में बनिता वनि ठाढ़ी।

१०. भक्तमाल पृ० ६०१ छप्प० ९१
अवलोकत रहैं केलि, सखी सुख के अधिकारी।

सखियों के अवतार के रूप में रखे जाते थे।[1] सम्भव है इस परम्परा में इन्हें भी ललिता सखी का अवतार माना गया हो।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आचार्यों को प्रायः किसी न किसी प्रकार अवतार बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इन सभी के मूल में एक बात अवश्य लक्षित होती है, वह यह कि अवतारीकरण की पद्धति में प्रायः साम्प्रदायिक मान्यताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता था। शङ्कर से लेकर हरिदास तक के निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है। परम्परा के अतिरिक्त नाम और कार्य साम्य से आलोच्यकाल में जिन उपमात्मक रूपों का विकास हुआ, कालान्तर में उसे ही अवतार का रूप प्रदान किया गया। वही अवतारवादी जनश्रुति या अवतार, रूढ़ि के रूप में प्रचलित हुआ। शङ्कर–शङ्कर, रामानुज–लक्ष्मण, शेष, रामानन्द–राम, कृष्णचैतन्य–कृष्ण, हरिवंश–वंशी आदि में नाम-साम्य स्पष्ट प्रतीत होता है।[2] किन्तु उपर्युक्त स्थलों पर ध्यान देने से साम्प्रदायिक प्रभाव से संवलित न्यूनाधिक कार्य-साम्य भी लक्षित होता है।

अतएव वैष्णव सम्प्रदायों में विष्णु और उनके आयुध तथा विष्णु-अवतार और उनके आयुध इन सभी का कोई न कोई अवतारवादी सम्बन्ध मध्यकालीन आचार्यों तथा उनके वंशजों से स्थापित किया गया है। इनमें से विशेषकर वल्लभ सम्प्रदाय में तो वल्लभाचार्य की पूरी वंशावली ही अवतार-परम्परा के रूप में उस सम्प्रदाय से गृहीत हुई। प्रायः अवतार आचार्य अपने अवसान के पश्चात् अपने अवतारी इष्टदेव उपास्यों से तदाकार होकर स्वयं भी अवतारी उपास्य होकर अपने सम्प्रदायों में प्रचलित हो जाते थे।

इन आचार्यों के अवतार का तो मुख्य प्रयोजन सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन रहा करता था। उसके व्यापक प्रसार के लिए ये शंकर जैसे विरोधियों के मिथ्या मायावाद का खंडन करते थे। अतः राम-कृष्ण शस्त्र के द्वारा अपना अवतारवादी उत्तरदायित्व निभाते थे। आचार्य शास्त्र के द्वारा अपना अवतारवादी उत्तरदायित्व निभाते थे। परन्तु रसिक सम्प्रदायों के आचार्य, आचार्य की अपेक्षा साधक भक्त ही अधिक थे। अतः इनके सम्प्रदायों के विशेष प्रकार की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु कालान्तर में इनके शिष्यों ने इनके अवतार रूपों तथा उनके प्रयोजनों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया। फलतः ये अवतारवाद की परम्परा में भी समाहित हो गए।

—००:०:००—

---

१. चौ० वै० पृ० १ भूमिका में द्वारका दास पारिख ने सखी-रूपों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है।

२. हिन्दी अनुशीलन वर्ष अङ्क ४ पृ० २४ 'साहित्य में जनश्रुतियों का स्थान' शीर्षक निबन्ध में डा० श्रीकृष्ण लाल ने जनश्रुतियों में नाम साम्य के आधार पर कतिपय भक्तों के अवतारीकरण का उल्लेख किया है।

चौदहवाँ अध्याय

विविध अवतार

पिछले अध्यायों में राम, कृष्ण, अर्चा और आचार्यों के विवेचन में मध्य-युगीन सगुण साहित्य में व्याप्त अवतारवादी उपास्यों का रूप स्पष्ट हो चुका है। इसके साथ ही इस युग में उनसे सम्बद्ध या प्रभावित अन्य अवतारों का भी उल्लेख अपेक्षित है, जिनमें भक्तों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भक्त

उपास्य रूप

मध्यकाल के उत्तरार्ध में दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से लक्षित होती हैं। उनमें एक ओर तो अर्चा और आचार्य के साथ संत या भक्त भी उपास्य-रूप में गृहीत हुये और दूसरी ओर रसिक सम्प्रदायों के प्रभावानुरूप वे भगवान् के सेव्य रूपों में सखा-भाव की अपेक्षा सखी-भाव विशेष रूप से प्रचलित हुआ। यहाँ तक कि दास्य-भाव से उपासना करने वाले रामावत सम्प्रदाय के भक्तों में भी परवर्ती काल में सखी-भाव की ओर अधिक झुकाव हुआ।

'भक्तमाल' एवं वार्ता ग्रन्थों में इन भक्तों का अत्यधिक उत्कर्ष लक्षित होता है। 'भक्तमाल' के प्रारम्भ में ही भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु को अभिन्न माना गया है।[1] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में वैष्णव[2] या 'भगवदीय'[3] ठाकुर जी के स्वरूप बतलाये गये हैं। इसके मूल में सेव्य-सेवक भाव की अभिन्नता विदित होती है, जिसके फलस्वरूप भक्त और भगवान् में एकता स्थापित हुई[3]। उपनिषदों में 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[4] के रूप में ब्रह्मवादियों के उत्कर्ष की चर्चा हुई है। 'ब्रह्मसूत्र' में मुक्त आत्माओं का उत्कर्ष ब्रह्म के सायुज्य, सालोक्य रूपों में प्रतिविम्बित होता है। क्योंकि ब्र० सू०

---

१. भक्तमाल ७ रूपकला : पृ० २७ दो, १

भक्त भक्ति भगवंत, गुरु चतुर नाम वपु एक।

इनके पद बंदन किये, नाशै विघ्न अनेक॥

२. दो० वा० वै० वा० पृ० २६०। ३. दो० वा० वै० पृ० ३६४।

३. राग कल्पद्रुम गी० २ पृ० १७९ पद ३८ :

अपुन पै अपनी सेवाकरत। आपुन प्रभु आपुन सेवक ह्वै, अपनो रूप उधरत।

४. मु० उ० ३, २, ९।

के अनुसार सृष्टि रचना[1] के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में वे ब्रह्मवत् माने गये हैं। फिर भी उक्त मान्यताओं में केवल मानवोत्कर्ष मात्र विशेष रूप से प्रतिपादित हुआ है।

परन्तु आलोच्यकाल के भक्त जिस भगवान् के स्वरूप माने गये हैं वह भगवान् विभु और सर्वसमर्थ होते हुये भी भक्त के प्रेमवश राम, कृष्णादि अवतारों के रूप में अवतरित होता है और उनके साथ नाना प्रकार के चरित[2] एवं लीलायें करता है। वह अर्चा विग्रह एवं शालिग्रामादि लघुतम रूपों में उनके साथ सदैव मानवोचित साहचर्य-सम्पृक्त सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार भक्त और भगवान् के इस सम्बन्ध में केवल भक्त का उत्कर्ष ही नहीं होता अपितु भक्त के प्रेम-वश सर्वशक्तिमान् ब्रह्म विशिष्ट भगवान् का अवतरण भी होता है।[3] अतएव यह ज्ञातव्य है कि भक्त और भगवान् का यह विलक्षण सम्बन्ध या तादात्म्य किसी अप्राकृतिक दिव्य या ब्रह्म लोक में नहीं होता अपितु मर्त्यलोक में होता है। वह तटस्थ या निरपेक्ष ब्रह्म मात्र न होकर भक्तों को भजनेवाला भगवान् है।[4] दोनों समान रूप से एक दूसरे के प्रति जिज्ञासु और भक्ति भाव से पूरित हैं।

यदि मध्यकालीन अवतारवाद को रूढ़िग्रस्त दृष्टिकोण से परे होकर देखा जाय तो यह स्पष्ट विदित होगा कि अवतारवाद में भक्त का भगवान् होना और भगवान् का भक्त होना दोनों मानवोत्कर्ष एवं मानव-आदर्श के दो चरम विंदु हैं। भक्ति के क्षेत्र में भक्त और भगवान् दोनों केवल मनुष्य मात्र हैं। दोनों जाति, वंश-परम्परा या अन्य सामाजिक प्रथाओं या विश्वासों से परे हैं।[5] तुलसी के मर्यादा-पालक राम छुआछूत वाले युग में भी निषाद को गले

---

१. ब्र० सू० ४, ४, १७, जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

२. रा० मा० पृ० ६३

जथा अनंत राम भगवाना। तथा तथा कीरति गुन गाना।

वही: पृ० ७४ कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं।

३. सूरसागर पृ० २७७, ४४३

सूर स्याम भक्तनि हित कारन, नाना भेष बनावे।

४. (क) रा० मा० पृ० ६३

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई।

(ख) ना० भ० सू० ८०,

'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभाव्यति च भक्तान्।'

५. गी० ९।२९ ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

भा० ९।४।६८ साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।

लगाने वाले और भीलनी शेवरी के जूठे बेर खाने वाले हैं। उसी प्रकार वासुदेव कुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण भी गोप-गोपियों के साथ रहने वाले तथा दासी कुब्जा से प्रेम करने वाले हैं। इस प्रकार इस युग के साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सूर, तुलसी आदि कवियों ने जिस श्रीकृष्ण और राम की लीला और चरित्र का गान किया है वे मानव आदर्श की इकाई प्रस्तुत करने वाले कृष्ण और राम हैं। इस प्रकार इस युग में भक्त और भगवान् को समान भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक प्रयास हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में प्रायः संतों या भक्तों की इस मानवीय भूमि का परिचय दिया है[2] तथा राम और ब्रह्म के समकक्ष माने जाने का आधार भी प्रस्तुत किया है।[3] 'नारद-भक्ति-सूत्र' के अनुसार एकान्त भक्त श्रेष्ठ ही नहीं है[4] अपितु उसमें और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है।[5] ऐसे भक्तों के आविर्भाव से पितरगण प्रसन्न होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और पृथ्वी सनाथा हो जाती है।[6] श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्गीय भक्तों पर विचार करते समय कहा है कि रूप, अवतार, चिह्न और गुण की दृष्टि से उनके स्वरूप में, शरीर में अथवा उनकी क्रियाओं में कोई तारतम्य या न्यूनाधिक भाव नहीं होता।[7] बाद में 'वार्त्ता' ग्रंथों में विग्रहोपासक सगुण भक्तों का अत्यधिक विस्तार हुआ।

परन्तु 'भक्तमाल' में जिन भक्तों को ग्रहण किया गया है उनमें, निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के भक्त, संत अर्चा एवं रसिक समान रूम से गृहीत

---

१. भक्त कवि व्यास जी० पृ० ४०९ साखी २९
व्यास बड़ाई छाँड़ि कै, हरि चरनन चित जोरि।
एक भक्त रैदास पर वारौं वाम्हन कोरि॥

२. तु० ग्रन्थ० दूसरा खंड 'वैराग्य सन्दीपनी' पृ० ११ दो० ३३।
'मैं तैं मेट्यौ मोह तम, ऊगौ आतम भानु।
संतराज सो जानिए, तुलसी या सहि दानु॥

३. तु० ग्रन्थ० दूसरा खंड 'वैराग्य संदीपनी' पृ० ११ दो० २३ और २७।
बन करि मन करि बचन करि, काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे संत जन, रामरूप जग माहिं।
कंचन काँचहि सम गनै, कामिनि काठ पषान॥
तुलसी ऐसे संत जन, पृथ्वी ब्रह्म समान।

४. ना० भ० सू० ६७—'भक्तः एकान्तिनो मुख्याः'

५. ना० भ० सू० ४१—तस्मिंस्तज्जने भेदभावत्।

६. ना० भ० सू० ७१—'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयंभूर्भवति।'

७. संतवानी अंक, कल्याण में संकलित 'पुष्टि प्रवाद मर्यादा भेद' पृ० ७६४, ७६५ श्लो. १३
स्वरूपेणावतारेण लिंगेन च गुणेन च। तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।

हुये हैं। नाभादास ने उन्हीं को मंगलरूप समझ कर उनका यश गान किया।[1] यह भक्त-चरित-गान इनके अनुसार अवतारों के चरित एवं लीला-गान की समानता में आता है।[2] इनके गुरु अग्रदास के अनुसार तो भक्तों के यशगान के अतिरिक्त संसार से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है।[3] अतएव उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि अवतारों के चरित एवं लीला-गान की परम्परा में ही भक्तों के चरित-गान की प्रणाली का विकास हुआ और भक्त भी भगवान् के सदृश इष्टदेव या उपास्य-रूप में गृहीत हुये थे। 'भक्तमाल' में आलोच्यकाल के विख्यात कवि हरि व्यास के विषय में कहा गया है कि भक्त ही इनके इष्टदेव थे।[4] साथ ही हरिव्यास जी के एक पद से भी इस धारणा का स्पष्टीकरण हो जाता है। उस पद में व्यास जी ने कहा है कि भक्त ही मेरे, देवी, देवता, माता, पिता, भैया, दामाद, स्वजन और बहनेऊ हैं। सुख, सम्पत्ति, परमेश्वर और जात-जनेऊ भी हरिजन ही हैं। केवट के सदृश अनेकों को उन्होंने मुक्त किया और कर रहे हैं। उनकी महिमा कृष्ण और कपिल ने भी गायी है।[5]

इस प्रकार उपास्य-रूप में गृहीत होने के फलस्वरूप भक्तों का उत्कर्ष अवतारों के सदृश उत्तरोत्तर होता गया और अन्त में कतिपय भक्तों ने अपने इष्टदेव के रूप में उन्हें भगवान् से भी बढ़कर माना। नाभाजी ने एक छप्पय

---

१. भक्तमाल, रूपकला पृ० दो० २, मंगल आदि विचारिरह वस्तुन और अनूप।
हरिजन कौ यश गावते, हरिजन मंगलरूप॥

२. वही पृ० ४० दो० ३, सब संतन निर्णय कियौ, श्रुति पुराण इतिहास।
भजिवे को दोई सुघर, के हरि के हरिदास॥

३. वही पृ० ४० दो० ४, अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन को यश गाउ।
भव सागर के तरन कौ, नाहिन और उपाउ॥

४. वही पृ० ६०४ छप्प० ९२,
'उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति व्यास के।

५. भक्त कवि व्यास जी० पृ० १९६ पद २२
मेरे भक्त है देई-देऊ।
भक्तिनि जानौं भक्तनि मानौ, निज जन मोहि वतेऊ।
माता, पिता, मैय्या मेरे, भक्त दमाद, सजन, बहनेऊ॥
सुख संपति परमेश्वर मेरे, हरिजन जाति जनेऊ।
भवसागर की बैरौ भक्तै, केवट कह हरि खेऊ॥
बूड़त बहुत उबारे भक्तनि, लिये उबार जेरेऊ।
जिनकी महिमा कृष्न कपिल कहि हारे सर्वोपरि बेऊ॥
'व्यास' दास के प्रान जीवन धन, हरिजन बाल बड़ेऊ।

में भक्तों की पूजा को श्रेष्ठतर बतलाते हुये कतिपय भक्तों का नाम लिया है। उस छप्पय के अनुसार भगवान् ने स्वयं भक्तोपासना की श्रेष्ठता मानी है। उनकी उक्ति को प्रमाण-स्वरूप समझ कर गाभरीदास, बनियाराम, मोहनवारी, दाऊराम, जगदीश दास, लछमण भक्त, भगवान् भक्त, गोपाल भक्त और गोपाल आदि भक्तों ने भक्तों की ही इष्टदेव के रूप में उपासना की।[1] पीछे बताया जा चुका है कि इन भक्तों में निर्गुण संतों को भी परिगणित किया गया है तथा 'संत अध्याय' में उनके प्रवर्तक, अवतार एवं अवतारी रूपों का भी विवेचन किया जा चुका है।

प्रयोजन

नाभाजी ने यद्यपि संतों को बिना, सगुण-निर्गुण भेद के ग्रहण किया है, तथापि जहाँ संतों का उल्लेख हुआ है वहाँ उनके साम्प्रदायिक प्रयोजनों की ओर संकेत मिलता है। इस कोटि में मान्य संतदास और माधवदास आदि संतों के प्राकट्य का प्रयोजन परम-धर्म का विस्तार बतलाया गया है।[2] परम धर्म के अतिरिक्त उपास्य अवतारों के सदृश उद्धार सम्बन्धी प्रयोजनों का स्वतः स्पष्टीकरण हो चुका है।

जहाँ तक भक्तों के अवतार का प्रश्न है इनके अवतारों को पौराणिक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु अनेक अवतारों का विकास क्रमशः उपमा और रूपक के आधार पर विदित होता है।

यों तो भक्तों के अवतारत्व का बीज विष्णु के ही दस या चौबीस अवतारों

---

१. भक्तमाल, रूपकला पृ० ६६४, ६६५ छप्पय १०६।

श्रीमुख पूजा संत की, अपुन ते अधिकी कही।
यहै बचन परमान दास गांवरी जटियाने भाऊ॥
बूँदी बनिया राम मंडौते, मेहनवारी दाऊ।
माड़ौठी जगदीसदास लक्षमन चटुथावल भारी॥
सुनपथ में भगवान सबै सलखान गुपाल उधारी।
जोबनेर गोपाल के भक्त इष्टता निर्बही॥
श्री मुख पूजा संत की, आपुन तें अधिकी कही।

२. भक्तमाल पृ० ९०७ छप्पय १९०।

संत राम सदव्रति जगत छोई करि ठार्‍यो।
महिमा महाप्रवीन भक्ति हित धर्म विचार्‍यो॥
वहुर्‍यो माधवदास भजन बल परचौ दीनों।
करि जोगिनि सों बाद वरुन पावक प्रति लीनों॥
परम धरम विस्तार हिए, प्रगट भए नाहिन तथा॥

में मिलने लगता है। क्योंकि इन सूचियों में कतिपय ऐसे महापुरुषों को भी सम्मिलित किया गया है जो विष्णु-भक्त के रूप में मान्य हैं। जैसे दशावतारों में गृहीत परशुराम को 'अध्यात्म रामायण' में नारायण या विष्णु का उपासक कहा गया है।[१] इसके अतिरिक्त नाभा जी ने द्वादश भक्तों में जिन विधि, नारद, शंकर, सनकादिक, कपिल, मंनु को और नवधा भक्ति के उपासकों में जिन व्यास और पृथु का नाम लिया है ये विष्णु के गुणावतार[२] एवं चौबीस अवतारों[३] में गृहीत हुये हैं। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि विष्णु के अवतारों की संख्या में वृद्धि होने का मुख्य कारण विविध देवताओं और ऋषियों को उनके भक्त-रूप में भी माना जाना तथा कालान्तर में उनका विष्णु के अवतार-रूप में परिणत होना है।[४] पर 'भक्तमाल' में विष्णु के अतिरिक्त अनेक भक्तों के परम्परागत एवं स्वतंत्र अवतार परक रूपों का उल्लेख हुआ है।

परम्परा की दृष्टि से पुराणकार व्यास और अदि कवि वाल्मीकि के अवतार क्रमशः माधवदास और तुलसीदास बतलाये गये हैं।[५] 'भक्तमाल' के पूर्वलिखित पुराणों एवं अन्य कालों में भी व्यास और वाल्मीकि के विभिन्न अवतारों की परम्परा प्रस्तुत की गई है। 'विष्णुपुराण' में व्यास के अट्ठाइस अवतारों का उल्लेख हो चुका है[६] तथा राजशेखर ने 'बाल रामायण' में वाल्मीकि की भी एक अवतार-परम्परा प्रस्तुत की। 'काव्य मीमांसा' में उद्धृत उस श्लोक में कहा गया है कि पहले वाल्मीकि हुये। वे पुनः भर्तृमेण्ट के रूप में अवतीर्ण हुये, बाद भवभूति के नाम से वे प्रसिद्ध हुये। वे ही अब राजशेखर के रूप में वर्तमान हैं।[७] इस प्रकार वाल्मीकि के पश्चात् 'राम-चरित्र' के स्रष्टा कतिपय

---

१. अध्यात्म रामायण पृ० ५१, १, ७, ११-२२। २. भा० ११, ४, ५।

३. भा० १, ३, ८ नारद, भा० १, ३ और २, ७ में सनकादिक, कपिल, मनु, व्यास, और पृथु का नाम लिया गया है। भक्तमाल के प्रथम छप्पय में मनु के स्थान में मन्वन्तर होने के अतिरिक्त अन्य सभी का नाम है।

४. यहाँ तक कि राम के विरोधी रावण को भी उनका पुरातन भक्त माना गया है। हनुमन्नाटक (हृदयराम) पृ० ३६६ सो०।
कीनो आप विनास असुर जोनि रावन पर्यो।
हुतो पुरातन दास, भगति भाव मन में रहे॥

५. भक्तमाल पृ० ५४०, छप्पय ७० और पृ० ७५६ छप्पय १२९।

६. वि० पु० ३, ३, ११, २० 'अष्टाविंशतिरित्येते वेद व्यासाः पुरातनाः'।

७. काव्य मीमांसा पृ० २७२
बभूव वाल्मीकि भवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुविस्भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूति रेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखर॥

कवियों को वाल्मीकि का अवतार बतलाया गया। सम्भवतः इसी परम्परा में 'राम-चरित-मानस' का रचयिता होने के कारण नाभा जी ने गोस्वामी तुलसीदास को भी वाल्मीकि का अवतार माना है।[1] इसी तरह वेद-व्यास के कार्यों का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि पहले द्वापर में व्यास ने वेदों का विभाजन किया 'अष्टादश पुराण', 'महाभारत' और 'भागवत' की रचना की वे ही कलि में माधवदास के रूप में सभी ग्रंथों की व्याख्या कर रहे हैं।[2] अतएव दोनों में समान रूप से कार्य-साम्य एवं तत्कालीन भक्ति जनित प्रयोजन इनके आविर्भाव के मुख्य कारण हैं। पूर्व मध्यकाल के भक्त कवि जयदेव का इस प्रकार का सम्बन्ध नाभाजी ने नहीं प्रस्तुत किया, किन्तु परवर्ती भक्तमालकारों ने बाद में जयदेव की भी एक अवतार-परम्परा का निर्माण किया।[3] इस कोटि की अवतार परम्पराओं के विकास में कार्य और विषय की समानता के अतिरिक्त पूर्वजन्म की प्रवृत्ति का बहुत बड़ा हाथ विदित होता है।

इसमें कुछ भक्तों का नाम-साम्य के कारण उपमात्मक विकास हुआ है। जैसे दिवाकर नाम के एक भक्त को दिवाकर के अवतार के रूप में माना गया, फलतः उनके पिता करेमचंद कश्यप से स्वरूपित किये गये।[4] दूसरे छप्पय में

---

१. भक्तमाल पृ० ७५६ छप्पय १२९।

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।
त्रेता काव्य निबंध करित सत कोटि रमायन॥
इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन।
अब भक्तनि सुख देन वहुरि लीला विसतारी॥
राम चरन रस-मत्त रटत अह निसि व्रतधारी।
संसार अपार को पार को, सुगम रूप नवका लयौ॥
कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसी भयौ।

२. भक्तमाल पृ० ५४०, छप्पय ७०

विनै व्यास मनो प्रगट है, जग को हित मधौ कियो।
पहिले वेद विभाग कथित, पुरान अष्टादस,
भारत आदि भगौत मथित उद्धार्यौ हरि जस।
अब सोधे सब ग्रन्थ अर्थ भाषा विस्तार्यो।
लीला जै जै जैति गाय भवपार उतार्यो।

३. राम रसिकावली पृ० ६५४ में बतलाया गया है कि जयदेव ने तीन जन्मों में तीन रूपों में भगवान् की आराधना की। प्रथम वणिक जन्म में 'शृङ्गार समुद्र', द्वितीय जन्म में 'कृष्णकर्णामृत' और तृतीय जन्म में 'गीत-गोविंद' की रचना की।

४. भक्तमाल पृ० ५६८ छप्पय ७६

अज्ञान ध्वांत अंतहिं करन, दुतिय दिवाकर अवतर्यो।

नारायण नाम के भक्त को नारायण से स्वरूपित किया गया है।[1] यही कथन बाद में उनके नारायण अवतार होने में पृष्ठभूमि का कार्य कर सकता है। इसी प्रकार श्रीधर को श्रीधर कहा गया है।[2] अतः दिवाकर तो नाम साम्य के फलस्वरूप अवतार हुये उसी प्रकार नारायण और श्रीधर आदि के अवतारपरक विकास की संभावना भी की जा सकती है। कार्य-साम्य के कारण जगन्नाथपुरी के द्वार पर सदैव खड़ा रहने वाले रघुनाथ भक्त को गरुड़[3] से और चेम गुसाई को हनुमान से अभिहित किया गया है।[4] इसके अतिरिक्त कतिपय रामोपासकों को हनुमान जी का अवतार माना जाता है। महाराष्ट्र के रामोपासक रामदास जी हनुमान के अवतार बतलाये जाते हैं।[5] परवर्ती प्रियादास ने नाभा जी को भी हनुमान-वंशी माना है जिसके फलस्वरूप वे हनुमान के अवतार कहे गये हैं।[6]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मध्यकालीन साहित्य में विष्णु एवं उनके अवतारों के सदृश विविध सम्प्रदायों के भक्त भी अवतार, उपास्य और अवतारी-रूप में प्रचलित हुए। इनके अवतारीकरण में, एक विशेष बात यह दृष्टिगत होती है कि भक्तों की अवतार परम्परा में नाम-साम्य, कार्य-साम्य और इष्ट-साम्य का सर्वाधिक योग रहा है। इन तीनों प्रवृत्तियों का प्रभाव केवल साम्प्रदायिक कवियों पर ही नहीं अपितु वाल्मीकि प्रभृति सम्प्रदायेतर कवियों पर भी रहा है।

इस काल में विष्णु के पार्षदों के प्राकट्य की परम्परा में राम, कृष्ण आदि तत्कालीन अवतारी उपास्यों के पार्षदों के अवतारों की सम्भावना की जा सकती है। नाभा जी के एक छप्पय के अनुसार रामोपासक कील्हदास की

---

१. भक्तमाल पृ० ९०१ छप्पय १८७।
 श्री नारायण प्रगट मनौ लोगनि सुखदायक।

२. भक्तमाल पृ० ३६५ में उद्धृत ध्रुवदास जी का दोहा।
 श्रीधर स्वामी तौ मनौ श्रीधर प्रगटे आन।
 तिलक भागवत कौ कियौ, सब तिलकन परमान॥

३. भक्तमाल, रूपकला पृ० ५५१ छप्पय ७१
 श्री रघुनाथ गुसाईं गरुड़ ज्यौं सिंहपौरि ठाढ़े रहे।

४. भक्तलाल पृ० ५८१ छप्पय ८३
 सूरवीर हनुमत सदृश, परम उपासक।
 'रामदास' परतापते क्षेम गुसाईं क्षेमकर॥

५. हिन्दी ज्ञानेश्वरी, प्रस्तावना पृ० ३ परवर्ती कवि।

६. भक्तमाल, पृ० ४३ कवित्त १२।
 हनूमान् वंश ही में जनम प्रशंस जाको भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।

कृपा से राम के परम पार्षद् शिष्य प्रकट हुये। इसके उदाहरण स्वरूप आसकरन, ऋषिराज, रूपभगवान आदि रामोपासक भक्तों का नाम लिया गया है।[1] पुनः एक दूसरे छप्पय में एक 'निष्किंचन' भक्त 'हरिवंस' पार्षदों के अंश से आविर्भूत बतलाये गये हैं।[2] एक अन्य भक्त कल्याणसिंह जी, रामोपासक भी पार्षदों की श्रेणी में माने गये हैं। नाभा जी के अनुसार देहावसान के पश्चात् श्री जगन्नाथ प्रभु ने अपना प्रिय पार्षद समझ कर उन्हें अपने निकट बुला लिया।[3] इस युग के प्रसिद्ध कवि हरि व्यास जी को परवर्ती कवियों ने विष्णु-परिकर का अवतार माना है।[4]

इस प्रकार उक्त कथनों से स्पष्ट है कि आलोच्यकाल में भक्तों की जिन अवतार-परम्पराओं का प्रसार हो रहा था उसके मूल में विष्णु के पुराण-विख्यात पार्षद्, परिकर और आयुध भी थे। क्योंकि भक्तों के अतिरिक्त पार्षदों के भी भक्तावतार-रूप अत्यधिक प्रचलित हो रहे थे। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि पार्षदों की अवतार-परम्परा का उद्भव कहाँ से हुआ। क्योंकि नित्य उपास्य रूपों के साथ स्वयं पार्षदों का ही साहचर्य परवर्ती विदित होता है। विशेषकर पार्षद रूपों का विकास अष्टयाम सेवित उपास्य-विग्रह रूपों की सेवा-भावना के परिणाम स्वरूप हुआ। आरम्भ में द्वादश आलवार भक्तों को ही पार्षद या आयुध अवतार-रूप में अधिक प्रचलित किया गया। कालान्तर में भक्तों की यह पार्षद अवतार-परम्परा निरन्तर प्रसार पाती रही।

'भक्तमाल' की उक्त अवतारी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त वल्लभ मत में प्रचलित तत्कालीन 'वार्ताओं' में भक्तों के विविध आध्यात्मिक एवं अवतारी रूपों के दर्शन होते हैं। उनके विवेचन के पूर्व इस बात का ध्यान रखना आवश्यक

---

१. भक्तमाल रूपकला पृ० ८४८।
   कीन्ह कृपा कीरतिविषद, परम पारषद सिष प्रगटै,
   आसकरन, रिषिराज, रूप भगवान, भक्त गुर।
   चतुरदास जग अभै छाप छीतर जू चतुर वर॥
२. भक्तमाल पृ० ८८० छप्पय १७५,
   सिष सपूत श्री रंग को, उदित पारषद अंश के।
   निहिं किंचन भक्तनि भजै, हरि प्रतीति हरि वंस के॥
३. भक्तमाल पृ० ९०५ छप्पय १८९।
   भक्त पक्ष, उदारता, यह निबही कल्यान की।
   जगन्नाथ कौ दास निपुन, अति प्रभु मन भायौ॥
   परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायौ।
४. भक्त कवि व्यास जी० पृ० ४५ में उद्धृत प्रेमदास सं० १७६१ के पद पृ० ४।

है कि इस युग में राम, कृष्ण आदि अवतारों के जिन रूपों का प्रसार हुआ था उनमें युगलरूप, लीला-रूप और रस-रूप अधिक व्यापक होते जा रहे थे। विशेषकर गोपी-भाव या राधा-भाव का प्रायः सभी सम्प्रदायों में अत्यधिक प्रचार हो रहा था। जिसके फलस्वरूप वार्ताओं में यह चर्चा होने लगी कि श्री राधा-कृष्ण के आनन्दरूप को हृदय में रखने से महालीला का सुख मिलता है। उस लीला के दर्शन के पश्चात् यदि दोष उपजे तो महापतित और यदि स्नेह उपजे तो ठाकुर जी के रसात्मक रूप का दर्शन होता है। अतएव इस लीला-दर्शन के निमित्त पतिव्रता के सदृश सखी-भाव रखना अत्यन्त आवश्यक है।[1]

लीलावतार कृष्ण, दिन में तो सखाओं के साथ वन में गौ चराते समय और रात में सखियों के साथ लीला करते हैं। 'अष्टसखान की वार्ता' में कहा गया है कि 'कुंज में सखीजन है सो तिनके दोय स्वरूप है सो कहत है पुंभाव के सखा और रती भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और रात्रि को सखी द्वारा अनुभव है।[2] इनमें दिन की लीला में भाग लेने वाले सखा वेद मंत्रों के और रात्रि-लीला में भाग लेने वाली सखियाँ वेद की ऋचाओं का अवतार मानी गई हैं।[3] इसी आधार पर वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टछाप के भक्त कवि अष्टसखा और अष्ट सखियों के अवतार माने जाते हैं।[4] 'गोवर्धननाथ जी की प्राकट्य वार्ता' से इसकी पुष्टि होती है। वहाँ कहा गया है कि 'जब श्री गोवर्धननाथ जी प्रगट भये तब अष्टसखा हूँ भूमि में प्रगट भये। अष्टछाप-रूप होय के सब लीला को गान करते भये तिनके भाव कृष्ण १ तोक २ ऋषभ ३ सुबल ४ अर्जुन ५ विशाल ६ भोज ७ श्रीदामा ८ ये अष्टसखा अष्टछाप रूप भये'।[5] इसी स्थल पर द्वारकानाथ महाराजकृत एक छप्पय उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार सूरदास-कृष्ण, परमानन्द दास-तोक, कृष्णदास-ऋषभ, छीतस्वामी-सुबल, कुंभनदास-अर्जुन, चतुर्भुजदास-विशाल, विष्णुदास-भोज ओर गोविंद स्वामी श्रीदामा बतलाये गये हैं।[6]

---

१. दो० वा० वै० वा० पृ० ४३३।
२. चौ० वै० वा० संगृहीत 'अष्टसखान की वार्ता रचनाकाल सं० १७५२ पृ० १।
३. चौ० वै० वा० में संगृहीत 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० १।
४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भा० २ पृ० ५०९।
५. वही गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता (सं० १४४६–१७४२) पृ० २७।
६. सूरदास सो तो कृष्ण तोक परमानन्द जानौ।
कृष्णदास सो ऋषभ छीत स्वामी सुबल बखानौ॥

उक्त सूची-क्रम में केवल सखाओं का उल्लेख है इनके सखी रूप का नहीं। साथ ही अष्टछाप में प्रसिद्ध नन्ददास के स्थान पर विष्णुदास भोज सखा के रूप में गृहीत हुये हैं। किन्तु 'अष्ट सखान की वार्ता' में इसका परिष्कार किया गया है और इनके सखा-स्वरूपों के अतिरिक्त सखी रूपों का भी उल्लेख किया गया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने उसे एकत्र इस प्रकार दिया है।[1]

सखा	सखी	भक्त कवि का स्वरूप
कृष्ण	चम्पकलता	सूरदास[2]
तोक	चंद्रभागा	परमानन्ददास[3]
अर्जुन	विशाखा	कुम्भदास
ऋषभ	ललिता	कृष्णदास
सुबल	पद्मा	छीतस्वामी
श्रीदामा	भामा	गोविंदस्वामी
विशाल	विमला	चतुर्भुजदास
भोज	चन्द्ररेखा	नंददास

नाभा जी ने 'भक्तमाल' में उक्त परम्परा का पूर्णतः परिचय नहीं दिया है। फिर भी विशिष्ट कवियों के सम्बन्ध में लिखे गये कुछ छप्पयों में इन प्रवृत्तियों का पता चलता है। उन्होंने परमानन्द दास के उपलक्ष में कहा है कि 'अचरज कहा यह बात हुती पहिली जु सखाई'[4] इसी छप्पय में उन्हें कलियुग में गोपियों के सदृश प्रेम करनेवाला भी बतलाया गया है।[5] चैतन्य

अर्जुन कुंभनदास चतर्भुजदास विशाला।
विष्णुदास सो भोज स्वामी गोविंद श्री दमाला॥
अष्टछाप आठो सखा श्री द्वारकेश परमान। वही वार्ता पृ० २७।

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय आ० २ पृ० ५०९ में चौ० वै० वा० तथा 'अष्टसखान की वार्ता' के आधार पर संकलित।

२. उक्त रूपों के अतिरिक्त सूरदास के उद्धव का अवतार भी सम्भवतः परवर्ती काल में प्रचलित हुआ क्योंकि नाभाजी के 'भक्तमाल', छप्पय ७३ में उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु 'राम रसिकावली' च० सं० पृ० ९०५ में सूरदास जी को 'जग विदित श्रीउद्धव अवतार' कहा गया है।

३. दो० वा० वै० पृ० ४३९ में परमानन्द स्वामी को 'श्रीदामा' ग्वाल अवतार बतलाया गया है।

४. भक्तमाल, छप्पय ७४।

५. भक्तमाल पृ० ५५९ छप्पय ७४
ब्रजबधू रीति कलियुग विषै परमानन्द भयौ प्रेमकेत।

सम्प्रदाय के भक्त कवि सूरदास 'मदन मोहन सहचरी अवतार' माने गये हैं।[1] अतः यह स्पष्ट है कि तत्कालीन युग में सखा एवं सखी के रूप में आविर्भूत होने की प्रणाली का विकास हो चुका था।

फिर भी परवर्तीकाल में कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति दोनों सम्प्रदायों में सखा-अवतार की अपेक्षा सखी-अवतारों का अधिक प्रचार हुआ। इसका मूल कारण परवर्ती सम्प्रदायों में रस-भावना का अधिक प्राबल्य माना जा सकता है। इस भावना के अनुगत रसिक सम्प्रदायों के भक्त भगवान को एक मात्र पुरुष और जीव को स्त्री रूपा मानते थे। अतएव भक्त जीव भी इनके मतानुसार आदर्श रस-रीति का निर्वाह केवल सखी, सहचरी या किंकरी भाव से ही कर सकते थे। यही कारण है कि इस काल में रसिक भक्त सखी-अवतार में ही विश्वास करने लगे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो प्राचीन भक्त या सामान्य भक्त पार्षद अवतार-परम्परा में पुरुष भक्त-रूप में अवतरित माने जाते थे। कालान्तर में उनका अवतारीकरण सखी या सहचरी-रूप में हुआ।

'अष्टछाप' के अतिरिक्त 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में प्रायः सभी भक्तों के भौतिक और आधिदैविक दो रूप विदित होते हैं। इनमें आधिदैविक रूप कृष्ण के युग की किसी गोप, गोपी या अन्य व्यक्तियों के रूप हैं। इस प्रवृत्ति में अवतारवाद और पुनर्जन्म दोनों के ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। चौरासी वैष्णवों की उत्पत्ति के उपलक्ष में कहा गया है कि 'चौरासी वैष्णवन को कारन यह है, जो दैवी जीव चौरासी लक्ष योनि में परे हैं, तिनमें निकासिवे के अर्थ चौरासी वैष्णव किये, सो जीव चौरासी प्रकार के हैं। राजसी, तामसी, सात्विकी, निर्गुण ये चार प्रकार के भूतल में गिरे। तामे ते राजसी, तामसी, सात्विकी रहन दिये, सो श्री गुसाईं जी उद्धार करेंगे'।[2] पुनः कहा गया है कि 'श्री आचार्य जी बिना श्री गोबर्द्धन भर रहि न सके, ताते अपने अंतरंगी निर्गुण पक्षवारे चौरासी वैष्णव प्रकट किये। सो एक-एक लाख योनि में ते एक-एक वैष्णव निर्गुणवारे को उद्धार इन वैष्णवन द्वारा किये'।[3] ये आचार्यों के सदृश सर्व सामर्थ्य सम्पन्न हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि आचार्य जी की सहायता एवं चौरासी

१. भक्तमाल पृ० ७४५ छप्पय १२६
मदन मोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरी अटल,
गान काव्य गुणराशि, सुहृद, सहचरि अवतारी।

२. चौ० वै० वा० पृ० १। ३. चौ० वै० वा० पृ० १।

लुप्त जीवों का उद्धार करने के लिये इनका अवतार हुआ है।[1] क्योंकि आचार्यों का धर्म एवं प्रयोजन वैष्णवों पर भी आरोपित होता है। यहाँ साम्प्रदायिक दीक्षा का योग दृष्टिगत होता है। क्योंकि दीक्षित होते ही भक्तों को अपने पूर्व स्वरूप या आधिदैविक शरीर का ज्ञान हो जाता था।[2] आगे चल कर परवर्ती वार्ताओं और उनके 'भाव-प्रकाश' में व्याप्त वैष्णव-अवतारों को महाकाव्यों एवं पुराणों में प्रचलित सामूहिक अवतारों की परम्परा में स्वीकार किया गया।[3] श्रीकृष्णावतार का काल द्वापर में होने के कारण इनके प्रायः द्वापर-रूप और कलियुगी दो ही रूप लक्षित होते हैं।

किन्तु परवर्ती वार्ताओं और उनके 'भाव-प्रकाशों' में व्याप्त वैष्णवों के जो पूर्व रूप या अधिदैविक रूप बतलाये गये हैं उनमें सखा-रूपों की अपेक्षा सखी-रूपों का आधिक्य है।[4] इस प्रकार वार्ताओं में सखी-भाव की उपासना का प्रावल्य सर्वत्र लक्षित होता है। सखी-रूपों की दृष्टि से इनमें वैष्णवों के व्यक्तिगत और पारिवारिक दो रूप मिलते हैं। व्यक्तिगत वैष्णवों के सखी-रूप प्रायः सर्वत्र बिखरे हैं। पर पारिवारिक रूप का एक उदाहरण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में एक स्थल पर मिलता है। 'वार्ता' के अनुसार काशी के सेठ पुरुषोत्तम दास का सारा परिवार पूर्व जन्म में अपने को किसी न किसी सखी का अवतार मानता है। इस प्रकार पुरुषोत्तम दास, इन्दुलेखा, उनकी पुत्री रुक्मिनी, मोहिनी तथा उनका पुत्र गोपाल दास, गानकला हैं,[5] जो

---

१. चौ० वै० वा० पृ० २ पृ० ३ श्री आचार्य जी के अङ्ग-स्वरूप द्वादश हैं। एक-एक अङ्ग में सात-सात धर्म हैं। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और सातवाँ धर्मी। प्रत्येक अंग और प्रत्येक धर्म को मिला कर, १२७,-८४, चौरासी वैष्णवों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। वे वैष्णव आचार्य जी के अंग-स्वरूप अलौकिक, सर्व सामर्थ्य रूप माने गये हैं। ये चौरासीवैष्णव ८४ राजस, ८४ तामस और ८४ सात्विक मिलाकर २५२ वैष्णव के रूप में वार्ताओं में गृहीत कहे गये हैं।

२. चौ० वै० वा० पृ० २१५ की एक वार्ता में कहा गया है कि 'तब प्रभुदास न्हाये तब आचार्य जी नाम निवेदन कराये। तब प्रभुदास को अपने स्वरूप को और आचार्य जी के स्वरूप को ज्ञान भयो।'

३. अष्ट सखान की वार्ता पृ० २६ में एक वार्ता के 'भाव प्रकाश' (१८वी शती) में कहा गया है कि 'जो प्रभुन की यह रीति है, जो जब बैकुण्ठ सौ भूमि पर प्रगट होयबे की इच्छा करत हैं, तब बैकुण्ठ वासी जो भक्त हैं, सो पहले भूमि पर प्रगट करत हैं ता पाछे आपु श्री भगवान् प्रकट होय भक्तन के संग लीला करत है।'

४. चौ० वै० वा० पृ० १, ४ में द्वारकादास पारिख ने वार्ताओं के आधार पर इनके आधिदैविक रूपों की सूची प्रस्तुत की है जिसमें अधिकांश वैष्णवों के सखी-रूप का ही परिचय मिलता है।

५. चौ० वै० वा० पृ० ९७।

पुस्तक के अंत में अनेक परवर्ती भक्तों के सखी नाम दिये गये हैं।[1] इससे परवर्तीकाल में सखी-भाव के प्राबल्य का अनुमान किया जा सकता है।

परवर्तीकाल में रामानन्द जी के द्वादश शिष्यों को पौराणिक भक्तों का अवतार माना गया। श्री रूपकला जी की सूची के अनुसार विधाता-अनन्तानन्द, शिवशंभु-सुखानन्द, नारद-सुरसुरानन्द, सनत्कुमार-नरहरियानन्द, मनु-पीपा, प्रह्लाद-कबीर, जनक-भावानन्द, भीष्म-सेन, बलि-धना, यमराज-रैदास, शुकदेव[2]-गालवानन्द और कपिल-योगानन्द के अवतार बतलाये गये हैं।[3]

सम्भवतः परवर्ती 'भविष्य पुराण' में पुनः अन्य निर्गुण मार्गी संतों को रामानन्द का शिष्य कहा गया है और साथ ही पौराणिक देवताओं और अवतारों को वसुओं के रूप में मानकर इनके साथ विलक्षण अवतारवादी सम्बन्ध स्थापित किया गया है। 'भविष्य पुराण' के अनुसार संत त्रिलोचन कुबेर वसू के[4], नामदेव द्वितीय वसु वरुण[5] के, रंकण या रंका[6]—तृतीय वसु अग्नि के,[7] बंका-रंका का भाई, चतुर्थ वसु वायु के[8] और नरसी मेहता-पंचम वसु ध्रुव के[9] अवतार माने गये हैं। यहाँ ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु के अवतार चन्द्रमा, दुर्वासा और दत्तात्रेय को शेष तीन अष्टवसुओं में ग्रहण किया गया है[10] और पीपा, नानक और नित्यानन्द क्रमशः इन तीनों के अवतार भी बतलाए गए हैं।[11]

इन तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुराणों में जिस प्रकार विविध मत और सम्प्रदायों के प्रवर्तक किसी न किसी रूप में पौराणिक पद्धति (मिथिक स्टाइल) से अवतारवाद में समाविष्ट होते रहे हैं, प्रायः उक्त अवतारीकरण की प्रवृत्ति को देखते हुये मध्यकाल में भी उस परम्परा के प्रचलन का भान होता है।

पौराणिक पद्धति का प्रयोग करने से अभिप्राय यह है कि पुराणों के अति-

---

१. रामाष्टयाम पृ० ४८

२. रामरसिकावली पृ० ९६७ प्रियादास भी शुकदेव के अवतार कहे गये हैं।

३. भक्तमाल पृ० २८६–२८७ उक्त सूची के अतिरिक्त पद्मावती और सुरसरी पद्मा का अवतार कही गई है।

४. भविष्य पुराण ३ प्रतिसर्ग, १५ अ० ६४–६५ भविष्य पु० में कृष्ण चैतन्य का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर इस अवतारीकरण की प्रवृत्ति का १७वीं शती के अंत में या १२वीं के प्रारम्भ तक अनुमान किया जा सकता है।

५. भविष्य पु० ३, १६, ४९–५१।

६. भक्तमाल, पृ० ६३ छप्पय ९७ में इनका रंका नाम से उल्लेख हुआ है।

७. भविष्य पु० ३, ४, १६, ७८, ७९। ८. भविष्य पु० ३, १७, ३६, ३७।

९. भविष्य पु० ३, १७, ६२, ६३। १०. भविष्य पु० ३, १७, ८१, ८२।

११. भविष्य पु० ३, १७, ८४, ८८।

रिक्त महाकाव्यों से लेकर तत्कालीन युग के साहित्य तक अवतारीकरण की एक स्वतंत्र आलंकारिक परम्परा भी प्रचलित रही है, जिसके विकास में उपमा, रूपक आदि विभिन्न अलंकारों का बड़ा हाथ रहा है। क्योंकि विभिन्न स्थानों में उद्धृत कतिपय अवतारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पौराणिक परम्परा में काल्पनिक कथाओं और पौराणिक अवतारी पुरुषों या देवताओं का आधार मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है वहाँ साहित्यिक या आलंकारिक परम्परा में नाम और कर्म-साम्य को विशेष रूप से आधार माना गया है। नाम साम्य के कारण रामानन्द राम के और कृष्ण चैतन्य कृष्ण के अवतार हुये। इसी प्रकार कार्य साम्य के आधार पर वाल्मीकि तुलसी हुये। किन्तु पौराणिक पद्धति में इस प्रकार के किसी साम्य को नहीं अपनाया गया है। फिर भी समय-समय पर दोनों पद्धतियों का परस्पर आदान-प्रदान और समन्वय अधिक मात्रा में होता रहा है।

भागवत

जिस प्रकार अवतार-कार्यों के कर्त्ता एवं उपादान के रूप में अर्चा, आचार्य एवं भक्त आदि के अवतरण की परम्परा रही है, या ज्ञानमार्गी शाखा में प्रचलित सम्भवतः ज्ञानावतार के सदृश सूरदास ने 'भागवत' का आविर्भाव माना है। उनके अनुसार वेदों के विभाजन और अष्टादश पुराणों की रचना के पश्चात् क्रमशः भगवान् और ब्रह्मा की परम्परा में आते हुये चतुःश्लोकी भागवत-ज्ञान को नारद ने हरि-अवतार व्यास से कहा।[1] इस भागवत-ज्ञान के अवतरण का प्रयोजन भी उद्धार कार्य है।[2] जो पूर्णतः साम्प्रदायिक है। क्योंकि जिस प्रकार वल्लभ आदि आचार्य अपने शिष्यों को शुद्ध कर वैष्णव बनाते हैं[3] उसी प्रकार 'भागवत' भी सामान्य रूप से सभी का उद्धार करता है।[4]

---

१. सूरसागर जी० १ पृ० ७५ पद २३०।
द्वापर सदृश एक की भई, कलियुग सत संवत रहि गई।
सोऊ कहन सुनन कौ रही, कलि-मरजाद जाइ नहिं कही॥
तातें हरि करि व्यास अवतार। करौ संहिता वेद विचार।
बहुरि पुरान अठारह किये। पै तऊ सांति न आई हिये।
तब नारद तिनकें ढिग आई। चारि श्लोक कहै समुझाई।
ये ब्रह्मा सों कहे भगवान। ब्रह्मा मोसों कहे बखान।

२. सूरसागर जी० १ पृ० ७५ पद १३०।

३. श्री भागवत सुनै जो कोई। ताकौं हरि पद प्रापति होई।
सूरसागर जी० १ पृ० ७५ पद २३०।

४. सूरसागर जी० १ पृ० ७५ पद २३०,
ऊंच नीच व्यौरों न रहाई। ताकी साखी में सुनि भाइ।
जैसे लोहा कंचन होइ व्यास, भई मेरी गति सोइ।

गंगा

भागीरथ द्वारा अवतरित पौराणिक कारणों के आधार पर तत्कालीन कवियों ने गंगा का आविर्भाव अवतारी कार्यों के निमित्त माना है। सूरदास के पदों के अनुसार गंगा ब्रह्मा के तप के फलस्वरूप सन्तों को सुख प्रदान करने के लिये अवतीर्ण हुई।[1] करुणामय विष्णु ने सृष्टि के हित एवं अमुक्तों को मुक्त करने के लिये गंगा को प्रकट किया[2] गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार गंगा सृष्टि का भार हरण करने वाली तथा भक्तिलता को निरन्तर विकसित करने वाली हैं।[3] गंगा जी का अवतरण गदाधर कवि के पदों के अनुसार भी विश्व की मुक्ति के निमित्त हुआ। पापी और दुष्ट अजामिल; गणिका ने इनकी कृपा से परम गति प्राप्त की।[4] उक्त पंक्ति में इन्होंने विष्णु से सम्बद्ध भक्तों को गंगा से समन्वित किया है, तथा इनके उपास्य-रूप की चर्चा करते हुये कहा है कि गंगा का नाम लेने एवं ध्यान धरने पर तत्काल मुक्ति मिलती है।[5] गंगा का उक्त रूप पौराणिक परम्परा से भिन्न नहीं है क्योंकि उनमें इनके अवतरण की जो कथा मिलती है उसमें सगर के साठ सहस्र पुत्रों का उद्धार ही प्रमुख प्रयोजन रहा है।[6] अतः विष्णु यदि भू-भार हरते हैं तो उनके चरणों से आविर्भूत गंगा तुलसीदास के शब्दों में भवभार-भंजन करती हैं।

यमुना

गंगा के सदृश यमुना का अवतरित रूप भी मध्यकालीन कवियों ने प्रस्तुत किया है। नन्ददास कहते हैं—यमुना जी ने भक्तों पर बहुत कृपा की कि उन्होंने अपना नित्यधाम छोड़कर पृथ्वीतल पर आकर विश्राम किया। यहाँ उनकी प्रकट लीला स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वे सभी को अद्भुत दिव्य शरीर

---

१. सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १ पृ० १९० पद ४५६
परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथहि भव्य वर देन।
सूरजदास विधाता के तप प्रगट भई संतनि सुख देन॥

२. सूरसागर, ना० प्र० स० जी० १ पृ० १८९ पद ४५५
जा हित प्रगट करी करुनामय, अगतिन कौ गति देनी।

३. तुलसी ग्रन्थावली, ना० प्र० स० भा० २ पृ० ३८७, पद १७
पुरजन पूजोपहार सोभित ससि धवल धार, भंजनि भवभार, भक्ति कल्प थालिका।

४. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १४९, पद २
श्री गंगा जगतारन को आई।
पापी दुष्ट अजामिल गणिका पतित परम गति पाई।

५. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १४८, पद २
नाम लेत तबु ध्यान धरत हैं तारत बार न लाई।

६. भा० ९, ९, १२।

प्रदान कर परम परमार्थ कर रही हैं।[1] उक्त पद में यमुना के सामने धाम विशेष से अवतीर्ण होने का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरे पद में नन्ददास ने यमुना के अवतार का प्रयोजन भक्तों के प्रति प्रेम माना है। उनके पद के अनुसार भक्त के प्रेम के कारण ही यमुना जी का आविर्भाव हुआ। भक्त की चित्तवृत्ति को समझ कर इतने वेग से आतुर होकर वे भूतल पर आईं। जिसके मन में जैसी कामना थी उसे पूरा किया। भगवान् श्रीकृष्ण भी उसी पर रीझते हैं जो यमुना जी का यश गाता है।[2] मन मोहन श्री कृष्ण ने तो सभी का मन मोह लिया परन्तु 'जमुना' जी उनका मन भी हर लेती हैं। वे इनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। इस प्रकार श्रीकृष्ण के साथ ही यमुना जी ने भक्तों के निमित्त अवतार धारण किया है।[3] परमानन्द दास ने गोपियों के सदृश मानवीकृत यमुना और श्रीकृष्ण के साहचर्य का[4] वर्णन किया है। इनके पदों में यमुना के गोपी या राधा-रूप का भान होता है, जिनके साहचर्य के लिये श्रीकृष्ण भी आकुल रहते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में यमुना जी के सखी नाम की भी चर्चा हुई है। लीला में उस सखी का नाम 'कृष्णवेसनि' था। उसी स्थल पर उन्हें विदुर जी की स्त्री का अवतार कहा गया।[5] उपर्युक्त

---

१. नं० ग्र० (ना० प्र० स०) पृ० २२८ पद १४

भक्त पर करी कृपा श्री जमुना जू ऐसी।
छाँड़ि निज धाम विश्राम भूतल कियो प्रगट लीला दिखाई हो तैसी।
परम परमारथ करत हैं सबन कों, देति अद्भुत रूप आप जैसी॥

२. नं० ग्रन्थ (ना० प्र० स०) पृ० ३२९ पद १७

नेह कारने जमुना जू प्रथम आई।
भक्त की चित्त वृत्ति सब जान कैं हीं ता हितें अति ही आतुर धाई।
जैसी जाके मन हती इच्छा ताकी तैसी साध जो पुजाई॥
नंददास प्रभु ताहि रीझत जमुना जू के जस जो गाई।

३. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १०६ पद ३३

कौन पे जात यमुनाजो वरणी।
सब दिन को मन मोहन हरत सो प्रिय को मन ए जो हरणी।
इन विना एक क्षण रहें न जीवन धन्य ब्रजचन्द्र मन आनंद करणी॥
श्रीबिट्ठल गिरिधरण सहित आप भक्त के हेत अवतार धरणी।

४. राग कल्पद्रुम जी० २ पृ० १०७ पद ४१, ४२।

यमुना के साथ अब फिरत हैं नाथ।
... ...
यमुने पिय को वश तुम कीने।

५. चौ० वै० वा पृ० ५७ सो याते श्री जमुना जी की सखी हैं।
लीला में इनको नाम कृष्णवेसनि है॥

प्रसंगों के आधार पर यमुना के गोपी-रूप का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु गंगा की अपेक्षा यमुना के अवतार में उपास्य एवं उद्धारक रूपों में साम्य होते हुये भी रसिक सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय का प्रभाव लक्षित होता है। क्योंकि श्रीकृष्ण जमुना के वश में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार वे राधा के वश में रसिकों में मान्य हैं।[1]

उमा

'राम-चरित मानस' में वर्णित अनेक प्रासंगिक कथाओं में उमा के पुनर्जन्म या शिव-विवाह की कथा को स्थान मिला है। इस कथा के अनुसार उमा (जगदम्बा) के अवतार का मुख्य प्रयोजन उमा-शिव से उत्पन्न पुत्र द्वारा देव-शत्रु तारक असुर का वध है।[2] तुलसीदास ने इनके अवतार को लीलात्मक बतलाते हुए कहा है कि ये शक्ति, अजा, अनादि, अविनश्वर तथा सदैव सदा शिव की अर्द्धांगिनी हैं। विश्व की उत्पत्ति पालन और संहार करने वाली देवी अजन्मा होकर भी स्वेच्छा से लीला-वपु धारण करती हैं।[3]

उमा के जिस रूप का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने किया है वह शिव से ही सम्बद्ध मात्र उमा का रूप नहीं है, अपितु शाक्तों के प्रभाव से उमा ही काली, दुर्गा आदि विविध देवियों के रूप में अवतरित होकर स्वतंत्र रूप से भी पूजी जाने लगी थीं। इनके काली और दुर्गा विग्रह का तत्कालीन गाँवों में उतना ही अधिक प्रचार था जितना कि राम, कृष्ण या शिव के रूपों का हुआ था। इसी से उमा स्वतंत्र विग्रह शक्ति के रूप में सृष्टि, पालन और संहार करने वाली तथा अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छा से लीलावतार धारण

सदा कृष्ण के स्वरूप को आवेश रहती।
सो द्वापर में विदुर जी की स्त्री यह लौंडी हती॥

१. (क) युगुल शतक पृ० ६ दो० १७

कुञ्ज महल सुख पुञ्ज में, भोजन विविध रसाल।
श्री राधा रसवश भये, जेंमत लाल गोपाल॥

(ख) सेवक वानी, ह० लि०, पृ० ५४, ३०

क्षण क्षण प्रति आराधत रहही। राधा नाम श्याम तब कहही॥

२. रा० मा० पृ० ४६ दो० ८२।

सब सन कहा बुझाइ विधि दनुज निधन तब होइ।
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतै रन सोइ॥

३. रा० मा० पृ० ५४

अजा अनादि सहित अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला वपु धारिनि।

करने वाली हैं। इस प्रकार आलोच्य काल में उमा के अवतार, अवतारी और उपास्य तीनों रूपों का प्रचार रहा है। प्रथम अवतार-रूप में उमा के उस पौराणिक रूप को लिया जाता है जिसके अनुसार वे दक्ष प्रजापति की पुत्री सती नाम से अवतरित होती हैं। इस कथा के अनुसार सती-शिव का सर्वप्रथम युगल-रूप दृष्टिगत होता है। ऐसा लगता है कि विष्णु-लक्ष्मी के समान सती और शिव का भी स्वतंत्र रूप से ही विकास हुआ। अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक प्रवृत्तियों के समन्वय के कारण सती और शिव का भी शिव विवाह के रूप में समन्वय हुआ। पुनः सती के यज्ञाग्नि में आहुत होने के पश्चात् इनका दूसरा अवतार मैना और हिमालय की पुत्री-रूप में होता है। यहाँ शिव-पार्वती-विवाह में आर्य देवों का दिव्य रूप तथा अनार्य देवों का भयंकर रूप शक्ति के माध्यम से समन्वयीकृत होता हुआ दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है कि आलोच्य काल में वैष्णव, शैव और शाक्त ये तीनों अधिक लोकप्रिय और अत्यधिक क्षेत्र-व्यापी सम्प्रदाय थे जिनका उमा शक्ति के अवतरित रूपों के द्वारा समन्वय किया गया। इनकी अवतार-परम्परा में एक ओर तो सती और पार्वती रूप प्रचलित हुए और उपास्य अवतारी होने पर दुर्गा और काली आदि आर्येतर देवियाँ आर्यों में गृहीत होने पर इनके अवतार-रूप में प्रचलित हुईं।

हनुमान

सामूहिक अवतारों में विष्णु के साथ उनके सहायक देवों के अवतार का उल्लेख किया जा चुका है। वाल्मीकि, 'अध्यात्म रामायण' एवं 'रामचरित-मानस' आदि प्राचीन और तत्कालीन महाकाव्यों में हनुमान पवन या मरुत के अवतार माने गये हैं।[1] परन्तु पवन अवतार होने[2] के अतिरिक्त 'हनुमन्नाटक' में इन्हें

---

१. (क) वा० रा० १, १७, १६

मारुतस्यात्मजः श्रीमान्हनुमान्नाम वानरः। वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे॥

(ख) अ० रा० ४, ९, १७

प्राप्तेऽङ्गेनेव सामर्थ्यं दर्शयाद्य महाबल।
त्वं साक्षाद्वायुतनयो वायुतुल्यपराक्रमः॥

(ग) रा० मा० पृ० ४६४

मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना।

(घ) सूरसागर पृ० २०९ पद ५१३

अंजनि को सुत, केसरि कै कुल पवन गवन उपजायौ गात।

२. हनुमन्नाटक पृ० २६३, पवन पूत तोको जग कहई, राम आस तोहीं ते रहई।

प्रायः शिव का अवतार कहा गया है ।[1] गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनय पत्रिका' के स्तुति-पदों में इन्हें रुद्रावतार माना है ।[2]

इस प्रकार हनुमान मध्ययुग में रुद्र-पवन समन्वित अवतार हैं। परन्तु जहाँ तक हनुमान का सम्बन्ध केवल शिव से है शिव के प्रसिद्ध अट्ठाइस योगी अवतारों में हनुमान का नाम नहीं है ।[3] दूसरी ओर महाकाव्यों की परम्परा में इन्हें अधिकतर पवन-अवतार के रूप में ही अभिहित किया गया है। इससे विदित होता है कि शिव-विष्णु के समन्वय के प्रयत्न में हनुमान को शिव का अवतार मानकर शिव और विष्णु के अवतारी कार्यों में परस्पर सहायता की भावना का विकास किया गया है। तारकासुर के वध के निमित्त उमा-शिव के विवाह से भी इसकी पुष्टि होती है। फिर भी हनुमान के उक्त रूपों में पौराणिक तत्त्वों का यथेष्ट योग रहा है। क्योंकि मध्ययुग में हनुमत सम्प्रदाय एवं उपास्य रूप का प्रचार होने पर कतिपय भक्तों को इनके अवतार के रूप में माना गया ।[4] इसके अतिरिक्त आलंकारिक परम्परा में सम्भवतः अधिक बलवान होने के कारण चैतन्य सम्प्रदाय के मुरारी गुप्त को हनुमान का अवतार माना गया ।[5]

इससे स्पष्ट है कि विष्णु भक्त होने के कारण ही हनुमान शिव के अवतार माने गए अन्यथा 'वाल्मीकि रामायण' जैसे प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वैदिक देवता पवन का अवतार माना गया है। परन्तु विचित्रता तो यह है कि अपने विशुद्ध वैदिक रूप में शिव भी उस रुद्र का ही एक पर्याय रहा है जो वैदिक मंत्रों में पवन के एक प्रचंड प्रभंजन रूप का बोधक रहा है। अतः पवन और रुद्र-शिव यों मूल में तो एक ही जान पड़ते हैं परन्तु आलोच्यकाल में पवन केवल वैदिक देवता मात्र रह गये और शिव शैव-वैष्णव सम्प्रदायों के समन्वय के फलस्वरूप राम-कथा-साहित्य में राम के परम भक्तों के रूप में मान्य हुए।

---

१. (क) हनुमन्नाटक क० पृ० १७४
साची कही जो तुअवतार है उमापति को
तौ तो हौं भगत तोसो नाती पानी पौन हैं।
(ख) हनुमन्नाटक पृ० ३६३, तू अवतार रुद्र को आही हम जान्यो जब लंका दाही।

२. तु० ग्रं० जी० २ पृ० ३९० विनय पत्रिका पद २५ :
जयति रनधीर रघुबीर हित देवमनि रुद्र अवतार संसार पाता।

३. लिंग पुराण, अध्याय ७ में २८ अवतारों की सूची द्रष्टव्य।

४. इसी अध्याय के भक्त शीर्षक में रामदास, नाभादास आदि हनुमान के अवतार बतलाये जा चुके हैं।

५. वैष्णव फेथ एन्ड मूभमेंट नोट पृ० २७ में।

परन्तु मेरी दृष्टि में शिव का राम-कथा या राम-भक्ति से सम्बद्ध होने के दो अनुमानाश्रित कारण विदित होते हैं। उनमें पहला है दक्षिणी शैवों में रामावत सम्प्रदाय का प्रभाव और दूसरा है शिव का उन आगमों और तंत्रों से सम्बन्ध जिनमें उमा और शिव के वार्तालाप के माध्यम से पांचरात्र-पूजा-पद्धतियों या मंत्रात्मक और तंत्रात्मक साहित्य का प्रवर्तन होता रहा है। इनमें उपास्य-विग्रह राम से सम्बन्धित पूजा या मंत्रों का विशेष वर्णन तथा उनके उपनिषद् ब्रह्म से सम्बद्ध रूपों का व्यापक प्रसार होता रहा है। इस प्रकार के ग्रन्थ रामावत या अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भी 'संहिता' के रूप में अधिक प्रचलित रहे हैं। जिन्हें अभी तक आगम या पांचरात्र ग्रन्थों की परम्परा में भी न मान कर केवल 'रामायण' की ही परम्परा में माना जाता रहा है।

अतः हनुमान उस शिव के भी अवतार विदित होते हैं जो आगम या तंत्र साहित्य में वार्ताकार के रूप में व्याप्त हैं। किंतु आलोच्यकाल में हनुमान के अवतारों का भक्त-अवतार-रूप में विकास, बल और इष्ट साम्य के आधार पर हुआ। मुरारी गुप्त और नाभादास के उदाहरणों से यह स्पष्ट जान पड़ता है।

राजदरबारी काव्यों में राजाओं का अवतारत्व

सामूहिक अवतारवाद की प्रवृत्तियों पर विचार करते समय मध्ययुगीन साहित्य में प्रचलित पृथ्वीराज, परमाल आदि राजाओं के अवतारत्व पर विचार किया जा चुका है। उनके अवतारीकरण में भी पौराणिक और आलंकारिक दोनों पद्धतियों का विशेष योग रहा है।[1] परन्तु आजकल 'पृथ्वीराज रासो' और 'परमाल रासो' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे उन राजाओं के समकालीन कवियों की रचना कही जाती हुई भी प्रक्षिप्त अंशों से भरी पड़ी हैं। प्रायः इन्हीं अंशों में विविध राजाओं का अवतारीकरण अत्यधिक मात्रा में हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' में एक ओर तो पृथ्वीराज कर्ण के अवतार-रूप कहे गये हैं और अन्य स्थलों पर प्रसंगानुरूप इन्द्र[2] और कामदेव[3] के अवतार-रूप

---

१. पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० स० पृ० ३१८, १, ६, १२८।
प्रथीराज चहुआन पहु। कली करन अवतार कहि ॥
सोमेस सूर पूरई सुभग। उदर पिथ्य अवतार लहि ॥

२. पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० स० पृ० ६२२, २, २०, १५।
तहां इन्द्र अवतार चहुवानं। तहं प्रथिराज सूर सुभारं ॥

३. पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० स० पृ० ६३२, २, २०, दू० २२।
कामदेव अवतार हुआ। सुअ सोमेसर नंद ॥

में वर्णित हुये हैं। 'परमाल रासो' में आल्हा-ऊदल क्रमशः बलराम और कृष्ण के अवतार कहे गये हैं। इनका अवतारीकरण भी आलंकारिक रूपों के पौराणीकरण के फलस्वरूप हुआ है।[1]

राजाओं के अवतारत्व की यह परम्परा प्राचीनकाल से ही दैवी राज-उत्पत्ति की मान्यता के अनुसार राजाओं में देवत्व की धारणा का विकास करती रही है।[2] 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों महाकाव्यों के राम और कृष्ण या अन्य पात्रों के दैवीकरण में इस प्रवृत्ति का विशेष योग रहा है। सार्वभौम सत्ता से युक्त होने के कारण राजाओं में वैदिक क्षत्रिय[3] देवताओं के कार्यों और धर्मों का समावेश किया गया।[4] कालान्तर में एकेश्वरवाद का विकास

---

१. (क) परमाल रासो पृ० ७ आलंकारिक।
वह्नि सह्नि अवतार रूप जनुमार हैं। प्रगट बनाकर अल्ह उद्ध अवतार हैं॥
(ख) परमाल रासो पृ० ३४ पौराणिक
गहिरवार चंदेल को सुनियौ अंस अपार।
वह्नि सह्नि जहं अवतरे, सो कहि कल करतार।
(ग) भविष्य पुराण (व्यंकटेश्वर प्रेस) पृ० २८४-२९६ तृतीय खण्ड ५-१४ में ऐतिहासिक एवं पौराणिक घटनाओं के साथ उक्त उन राजाओं एवं वीरों के अवतारत्व का उल्लेख हुआ है।

२. राजाओं के दैवीकरण की परम्परा वैदिक काल में पूर्णतः लक्षित नहीं होती परन्तु उस काल में प्रचलित राज्याभिषेक में अनेक देवताओं के धर्मों और गुणों का आरोप किया जाने लगा था। 'हिन्दू पोलिटी' पृ० २०६ के अनुसार श० ब्रा० ५, ३, ३, १ में सूर्य, अग्नि; सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण के धर्मों का आरोप किया गया है। साथ ही 'अथर्ववेद' : ६, ८, ६, में राधा कुमुद मुखर्जी, 'हिन्दू सिविलाइजेशन' पृ० ९० के अनुसार राजा को देवों के समतुल्य कहा गया अल्तेकर 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' पृ० ५६, के अनुसार ऋ० ४, ४२, ९९ में पुरुकुत्स अर्द्धदेव एवं अथर्व सं० २०, १२७, ७ में परीक्षित मर्त्यों में देवता माने गये हैं। ऐ० ब्रा० ७, २ के अनुसार राजाओं को इन्द्र की उपाधि दी जाने लगी थी

३. बृ० उ०, में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और इशनादि क्षत्रिय देवता कहे गये हैं।

४. 'मनु स्मृति' ७, ४ में राजा इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ दिग्पालों के नित्य अंश से निर्मित कहा गया है। इस दृष्टि से वा० रा० १, १, १६-१८ में राम को विष्णु चन्द्रमा आदि के गुणों से अभिहित किया गया है और पुनः वा० रा० २, १, ७ में अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण इन पाँच देवताओं के स्वरूप तथा प्रताप, पराक्रम, सौम्य, दण्ड एवं प्रसन्नता आदि गुणों को आरोपित किया गया है।

होने पर राजाओं को विष्णु का अंशावतार माना गया[1] 'देवी भागवत' में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो विष्णु का अंश नहीं वह राजा नहीं हो सकता ।[2]

मध्यकाल में राम और कृष्ण आदि के सम्प्रदायीकरण होने के फलस्वरूप उपास्य रूप का अधिक प्रसार हुआ, परन्तु राज दरबारी कवियों ने तत्कालीन राजाओं को भी किसी न किसी प्रकार के अवतारत्व से अभिहित किया। केशवदास ने 'वीर सिंह देव चरित' में वीरसिंह को ईश्वर का अंशावतार कहा है ।[3] इसी प्रकार तानसेन ने अपने आश्रयदाता मुगल सम्राट अकबर के अनोखे अवतारी रूप का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि महाबली अकबर ईश्वरावतार के रूप में सिंहासन पर बैठे हैं। देश-देश के राजा उनकी सेवा में प्रस्तुत रहते हैं और सुवर्णथालों में अपने उपहार अर्पित करते हैं। जो भी आता है वही मनोभिलषित फल पाता है। इस प्रकार गुणिजन की कार्य-सिद्धि एवं उनका आदर करने के लिये करतार ने अकबर का अवतार धारण किया है ।[4] उक्त पद में अकबर को अवतार कहने के साथ-साथ मध्यकाल में सर्वाधिक प्रचलित उपास्य प्रयोजन के समानान्तर एक विचित्र दरबारी प्रयोजन का भी संकेत मिलता है ।

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में विष्णु के अवतारों एवं उनके उपास्य रूपों के अतिरिक्त उक्त विविध रूपों के उल्लेख हुये हैं। इनके विकास में यह स्पष्ट हो चुका है कि इनके अवतारीकरण में पौराणिक और आलंकारिक दो प्रवृत्तियों का मुख्य योग रहा है । यदि पौराणिक पद्धति यहाँ परम्परा समन्वित पृष्ठभूमि प्रदान करती है तो उपमा, रूपक आदि अलंकार उसकी अभिव्यक्ति

---

१. वि० पु० १, १३, २१–२२ और ४, २४, ११९, १२१ में राजा विष्णु के अंशावतार माने गये हैं। 'क्लासिकल एज' पृ० १० में 'वायुपुराण' के अनुसार चक्रवर्ती प्रत्येक युग में विष्णु के अंशावतार-रूप में जन्म लेते हैं।

२. देवी भागवत स्कं०, ६० अध्याय १
"ना देवाशंदात्य न विष्णुः पृथ्वी पतिः" ।

३. वीरसिंह देव चरित्र पृ० १, ३
वीरसिंह नृपसिंह मही मंह महराज मनि ।
गहरवार कुलकलस ईस अंसावतार गनि ॥

४. राग कल्पद्रुम जी० १ पृ० ३५२ पद १७ ।
तखत बैठों महाबली ईश्वर होय अवतार ।
देश देश सेवा करत हैं बकसत कंचन थार ॥
जोई आवत सोई फल पावत मन इच्छा पूरण आधार ।
तानसेन कहै शाह जलालदीन अकबर गुणी जनन के काज करन को कियो करतार।

को सहज और सुगम बनाते हैं। प्रारम्भ में कवियों को यह देर नहीं लगती कि वह क्रूरता में दुर्योधन, वीरता में इन्द्र या हनुमान तथा सुन्दरता में कामदेव हैं। इसी प्रकार सेठों को कुबेर से तथा रानियों और सुन्दरियों को अप्सराओं से स्वरूपित करना आलंकारिक अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सुगम प्रयोग है। किन्तु कालान्तर में काव्य-रूढ़ि के रूप में गृहीत होते ही इनका केवल अवतारीकरण ही नहीं होता अपितु उसकी पुष्टि में अनेक प्रकार की कथाओं का भी निर्माण होता है।

इस दृष्टि से रासों एवं अन्य महाकाव्यों में कतिपय पात्रों के अवतारीकरण का उल्लेख हो चुका है। पर मध्ययुग में इसके साथ ही एक साम्प्रदायिक परम्परा के भी दर्शन होते हैं। इस परम्परा में गुरु इष्टदेव के रूप में पूज्य होते ही अवतार और अवतारी दोनों रूपों में प्रस्तुत रहते हैं। नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ तथा संतों में कबीरदास के अवतार और अवतारी रूपों का यथा स्थान उल्लेख किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त सगुण भक्ति सम्प्रदायों में मान्य पौराणिक एवं महाकाव्यों के अवतार एक ओर अवतारी या उपास्य रूप में गृहीत होते हैं और दूसरी ओर उनके आभूषण, आयुध, पार्षद या उनसे सम्बद्ध प्रायः सभी का सामूहिक अवतार प्रचलित हुआ करता है। इन साम्प्रदायिक अवतारीकरण की प्रवृत्तियों में आलंकारिक पद्धति की अपेक्षा पौराणिक पद्धति का अधिक योग रहा है। क्योंकि विभिन्न सम्प्रदायों में अपनी विशिष्ट मान्यताओं का लौह प्राचीर होने के कारण उनमें स्वतंत्र आलंकारिक पद्धति उतनी सक्षम नहीं हो सकती थी जितनी कि पौराणिक पद्धति या उसकी काल्पनिक कथायें।

सामान्य निष्कर्ष

पिछले चौदह अध्यायों में अवतारवाद के जिन रूपों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है उनका साहित्य एवं सम्प्रदायगत वैषम्य होने के कारण उन्हें किसी एक भाव-धारा में गुम्फित करना असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि इनमें सिद्ध, जैन, नाथ, सन्त और सूफी सिद्धान्तः अपने को अवतार-वादी नहीं मानते। अतः विश्लेषण के द्वारा उपलब्ध उनमें निहित अवतार-वादी तत्वों का ही निरूपण किया गया है।

फिर भी उपास्य की दृष्टि से जैनों से लेकर 'भक्तमाल' के भक्तों तक सभी में आन्तरिक एकता लक्षित होती है। प्रायः सभी उपास्यों में एकेश्वरवादी और अवतारवादी दोनों तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। इस आधार पर

मध्यकालीन अवतारवाद को उपास्य रूपों का अवतारवाद कहा जा सकता है। बुद्ध और बोधिसत्व, त्रिषष्टि महापुरुष, नौ नाथ, निर्गुण संत, पैगम्बर और सूफी प्रवर्तक अपने सम्प्रदायों में उपास्य होने के नाते सगुणोपासकों के सदृश सगुण तत्त्वों के साथ-साथ अवतारवादी तत्त्वों से भी युक्त हैं। इस्लाम से प्रभावित सूफी कवियों ने अल्लाह और पैगम्बर मुहम्मद साहब के जिन रूपों को ग्रहण किया है वे तत्कालीन सगुण उपास्यों से अत्यधिक साम्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त सगुण साहित्य में राम और कृष्ण ही नहीं अपितु—अर्चा, आचार्य और भक्तों के उपास्य रूपों का भी व्यापक प्रचार हुआ। इस प्रकार सगुण साहित्य के इन पाँचों उपास्यों में तत्कालीन अवतारवाद के रक्षात्मक, लीलात्मक और रसात्मक प्रयोजनों का सन्निवेश मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों में समान रूप से हुआ।

जिस प्रकार वैदिक बहुदेववाद की चरमसीमा उपनिषद् ब्रह्म तक पहुंच गई उसी प्रकार प्रारम्भ में राम, कृष्ण प्रभृति अवतार देव-पक्षीय विष्णु के अंशावतार मात्र थे। इस काल तक उनके अवतार का एकपक्षीय प्रयोजन देव-शत्रुओं का विनाश एवं भूभार हरण करना था। वे अभी तक पूर्ण ब्रह्म के तद्रूप नहीं माने गये थे। इस अंशावतार की प्रवृत्ति के विकास में आलंकारिक और पौराणिक उपादानों का विशेष योग मिला। फलतः कालान्तर में महाकाव्यों का वैष्णवीकरण होने पर विष्णु के साथ ही राम और कृष्ण भी पूर्ण परब्रह्म के बोधक हुए। ऐतिहासिक तत्त्वों के आधार पर श्रीकृष्ण पहले और राम कालान्तर में सम्प्रदायों में गृहीत होकर उपास्यरूप में प्रचलित हुए। सम्प्रदायों की भक्ति-साधना में उपनिषदों की चिन्ताधारा का ज्यों ज्यों प्रवेश होता गया त्यों त्यों राम और कृष्ण भी केवल अंश या अवतार मात्र न रहकर पूर्ण ब्रह्म और सर्व शक्तिमान ईश्वर माने गये। फलतः ब्रह्म का जितना चिन्तन उपनिषद् युग में हुआ मध्ययुग में भक्तों ने अपने इष्टदेव अवतारों का उन्हीं रूपों में चिन्तन किया। इस काल में ईश्वर के एकेश्वरवादी, बहुदेववादी, सर्वशक्तिमान्, निराकार, विराट, पुरुषोत्तम, सर्वेश्वर या सर्वात्मवादी रूपों को पांचरात्रों में प्रचलित 'पर' उपास्य के विभिन्न रूपों के साथ-साथ समाविष्ट किया गया।

इन प्रयोजनों की विशेषता यह है कि युग-युग में ये बदलते रहते हैं। उनकी आवश्यकता के अनुसार अवतरित होने वाले ईश्वर को भी अपना रूप बदलना पड़ता है। इस युगानुरूप परिवर्तन में समन्वयवाद का बीज भी विद्यमान है क्योंकि विभिन्न युगों में वह अवतरित हो या न हो परन्तु अवतार-

वाद की समन्वयवादी प्रवृत्ति विभिन्न युगों एवं विभिन्न मतों के चिन्तकों या प्रवर्तकों को अपने में अवश्य समाविष्ट कर लेती है।

विभिन्न युगों में गृहीत ये अवतार अवतारवादी मान्यताओं को जहाँ तक प्रभावित करते हैं वहाँ तक अंश, कला, विभूति, आवेश, प्रभृति रूपों में उनके प्रभाव का भी अनुमान पांचरात्रों और पुराणों में किया गया है।

यहाँ अवतारवाद का व्यापक समन्वयवादी रूप दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि एक ओर तो उसमें विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त या दृष्टिकोण आत्मसात् हो जाते हैं और दूसरी ओर उनके प्रवर्तक भी अवतार माने जाने लगते हैं। इस प्रकार विभिन्न मत इस अभिनव सन्धि में ढल जाते हैं और उनके प्रवर्त्तकों का अवतारवादी मूल्य समाज में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कारण है कि जैन, नाथ, सूफी तथा सगुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक समान रूप से उपास्य एवं अवतारवादी तत्वों से संयुक्त विदित होते हैं।

सगुण साहित्य में उपास्य की दृष्टि से मतभेद होने पर भी प्रायः सभी मतावलम्बी अवतारवाद की एक ही पृष्ठभूमि पर समान रूप से स्थित हैं। इसका मुख्य कारण 'पांचरात्र' और 'भागवत' अवतारवादी सिद्धान्तों से उनका समान रूप से प्रभावित होना है। 'भागवत' ने विभिन्न प्रवर्तकों को अवतार-रूप में सन्निविष्ट किया, जिसकी परम्परा में मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य भी विष्णु या उनके अन्य उपादानों के अवतार माने गये और दूसरी ओर पांचरात्रों ने परब्रह्म के अन्तर्यामी या अर्चा विग्रहों की पृष्ठभूमि प्रदान की जो अवतार लीलाओं या व्यक्तिगत अवतारोचित कार्यों से संयुक्त होकर तत्कालीन कवियों की भावाभिव्यक्ति के प्रेरणा-स्रोत हुए। अवतारवाद की समन्वयवादी प्रवृत्ति की यही 'परम्परा' भक्तमाल में दृष्टिगत होती है। वहां विभिन्न वर्गों के आचार्य, तथा भक्त और भगवान एक ही भावभूमि पर प्रतिष्ठित हुए हैं। 'भक्तमाल' में सभी के अवतारोचित व्यवहारों और व्यापारों के प्रसंग समान रूप में व्यक्त किये गये हैं।

इस प्रकार अवतारवाद की इस अंतःसलिला भागीरथी से समस्त मध्यकालीन साहित्य का मर्म आप्लावित होता रहा है।

आधुनिक ज्ञान के आलोक में

अवतारवाद

विवेचन की आवश्यकता

आधुनिक युग में विज्ञान और मनोविज्ञान का इतना प्रसार होता जा रहा है कि अब तथ्यों का अध्ययन या तो वैज्ञानिक पद्धति से होता है या मनोवैज्ञानिक पद्धति से। यों विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक है किन्तु फिर भी दोनों एक दूसरे से प्रभावित हैं। सामान्य रूप से साहित्य, दर्शन, विज्ञान और मनोविज्ञान सभी में जो पद्धति अपनायी जाती है, उसे निम्नलिखित रूपों में विभक्त किया जा सकता है:—

१—प्रारम्भ से लेकर अब तक किया जाने वाला क्रमबद्ध, व्युत्पत्तिमूलक, इतिवृत्तात्मक या विकासवादी अध्ययन।

२—समानान्तर या तुलनात्मक अध्ययन।

३—मात्रात्मक या तथ्यपरक अध्ययन।

४—गुणात्मक या तत्त्वपरक अध्ययन।

५—सैद्धान्तिक, व्यावहारिक या प्रायोगिक अध्ययन।

६—विश्लेषणात्मक या संश्लेषणात्मक अध्ययन।

अब सिद्धान्त के स्तर पर कोई ऐसा विषय नहीं है जो केवल एक शास्त्र का विषय रह गया हो। साहित्य और दर्शन दोनों में विज्ञान और मनोविज्ञान का प्रवेश इस सीमा तक होता जा रहा है कि सभी परस्पर अन्योन्याश्रित से हो गये हैं। फलतः ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ और अन्तर्धारायें अन्तःशास्त्रीय रूप धारण करती जा रही हैं। अनेक ऐसे विषय जो कल तक काव्य या साहित्य के क्षेत्र में आते थे, अब अन्य विज्ञानों में भी उनका अध्ययन, चिन्तन और अनुसंधान होने लगा है। कल्पना, अनुभूति, भावुकता, भावना, चिंतन, ज्ञान, धारणा, स्वप्न जैसे विषय पहले साहित्य और दर्शन के विषय थे, कालान्तर में मनोविज्ञान में गृहीत हुए और अब चिकित्सा शास्त्र और जीवविज्ञान में भी इनका विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार के अब अनेक ऐसे विषय मिलेंगे जिनका अन्तरवैज्ञानिक या अन्तरशास्त्रीय महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

अवतारवाद भी साहित्य, दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान और कला सभी से सम्बद्ध होने के कारण अन्तरवैज्ञानिक या अन्तरशास्त्रीय महत्त्व रखता

है। इसकी व्यापकता और समीचीनता का उचित मूल्यांकन तभी संभव हो सकता है, जब कि उपर्युक्त सभी विषयों में व्याप्त इसके तथ्यों का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इसी से अवतारवाद का अध्ययन विभिन्न विषयों की दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

अद्यतन मनोविज्ञान में मनुष्य की अचेतन और अवचेतन प्रवृत्तियों का व्यापक अध्ययन चल रहा है। अनेक वर्ग के मनुष्यों की दमित कुंठाओं, वासनाओं तथा अतृप्त इच्छाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किए जा रहे हैं। धार्मिक या भक्तकवियों में उन्नयन की अवस्था में आयी हुई परिमार्जित वासनात्मक वृत्तियों का भी विश्लेषण होने लगा है। इसी क्रम में उन संस्कारगत मानव-प्रकृतियों तथा अभ्यासों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है जिसने विश्व साहित्य में एक बहुत बड़ी पौराणिक परम्परा (Mythic Tradition) खड़ी कर दी है। जिस प्रकार मनुष्य की अवचेतनगत प्रकृतियों को प्रभावित करने में केवल उसकी वैयक्तिक वासनाएँ ही नहीं रही हैं अपितु सांस्कृतिक वातावरण की प्रक्रियाएँ भी कार्यरत रही हैं, उसी प्रकार पौराणिक साहित्य कुछ व्यक्तियों की इच्छा मात्र का प्रतिफलन नहीं है, वरन् मानव-संस्कृति की एक इकाई में निहित उसके ज्ञात या अनुमानित, अनुभूत या काल्पनिक, वैज्ञानिक या जनश्रुतिपरक उसकी आस्था, विश्वास, संकल्प, शत्रुता, मित्रता, कृतज्ञता, समाज-भक्ति, राज-भक्ति और परम्परा-भक्ति इन सभी का एकत्र अभिव्यक्त रूप है। अनेक अनुभूतियों, कामनाओं, कल्पनाओं और विचारों का अम्बार हो जाने के कारण युंग ने मन को 'सामूहिक चेतन' (Collective consciousness) की संज्ञा प्रदान की है[1]। अवचेतन मन में इन सभी की एकत्रित अवस्था को 'सामूहिक अव-चेतन' भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से यदि पौराणिक साहित्य पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि पौराणिक साहित्य के उपादान भी मन के 'सामूहिक चेतन' और 'सामूहिक अवचेतन' की तरह विभिन्न युगों के आवरणों में आवेष्टित उस सामूहिक चिन्ताधारा को व्यक्त करते हैं, जिसमें अवचेतन मन के विचारों की तरह श्रृंखलाबद्ध या विश्रृंखल दोनों प्रकार के परम्परागत या युगसापेक्ष साहित्य, दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान और कला पृथक् या मिश्रित सभी रूपों में व्यक्त हैं। अतः अवचेतन के उपादानों का रहस्योद्घाटन करने के लिये जिन मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जा रहा है उन्हीं विधियों का प्रयोग पौराणिक तथ्यों के उद्घाटन

---

१. यूंग—साइकोलौजी एन्ड इट्स सोशल मीनिंग पृ० ५३-५४।

के लिये भी समीचीन प्रतीत होता है। निश्चय ही इन पौराणिक उपादानों का वैज्ञानिक समाधान खोजने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में जिन विचार-धाराओं को परिकल्पना (Hypothesis) के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है, उनमें से अधिकांश का विश्लेषण और अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से होने लगा है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन की इस प्रणाली ने इन पौराणिक परिकल्पनाओं के आवरणों का भेदन कर उनकी विशेषताओं का रहस्योद्घाटन करने में बहुत कुछ सफलता अर्जित की है। विशेषकर फ्रायड और युंग ने अनेक पौराणिक आख्यानों तथा प्रतीकात्मक नामों का विश्लेषण कर मानवशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है।

स्थापना

यद्यपि आधुनिक मानवशास्त्र और अवतारवाद में अध्ययन-प्रणाली की दृष्टि से कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध लक्षित नहीं होता; किन्तु फिर भी अवतारवादी धारणा में ऐसे तथ्य अवश्य प्रतिभासित होते हैं, जिनका मानव-शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन अधिक असंगत नहीं प्रतीत होता। जहाँ तक इस अध्ययन की वैज्ञानिकता का प्रश्न है यह मानवशास्त्रीय तथ्यों के आकलन और विश्लेषण की शैली पर आधारित नहीं है; बल्कि रूढ़ियों और अनेक ग्रन्थियों से युक्त पौराणिक आख्यानों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। अवतारवादी आख्यानों के प्रसंग में आनेवाले कतिपय घटनात्मक कार्य-व्यापार; उदाहरण के लिए बन्दरों द्वारा निर्मित पत्थरों का पुल, जंगल में निवास की परम्परा, मृगछाला या वृक्षों की छाल का वस्त्रों के रूप में प्रयोग, वराह द्वारा दाँत का प्रयोग, नृसिंह द्वारा नख का प्रयोग, वामन के हाथ में डंडा, परशुराम द्वारा कुल्हाड़ी या परशु का प्रयोग, राम द्वारा धनुष-बाण का प्रयोग, इत्यादि उपकरण मानवशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। मानवशास्त्र की तरह अवतारवादी धारणा में भी विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। उनका क्रमबद्ध विवेचन करने पर एक स्वतंत्र अवतारवादी क्रम से विकसित मानव-सभ्यता के विकास-क्रम का पता चलता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि अद्यतन मानवशास्त्र के उपकरण भू-भौतिक, पदार्थगत तथा जीवों से सम्बद्ध हैं और अवतारवादी उपादान अपने युग की अधिकांश विशेषताओं से युक्त प्रातिनिधिक या प्रतीकात्मक उपादान हैं। वैज्ञानिक शैली की अपेक्षा आख्यानात्मक या इतिवृत्तात्मक शैली में व्यक्त होने के कारण इनकी समस्त मनोवैज्ञानिकता आवरणों से आच्छन्न हो गयी है।

अतः पौराणिक आवरणों से मुक्त होकर विभिन्न तथ्यों का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

सत्ता और शक्ति

स्रष्टा की सत्ता को दो शब्दों में अभिहित किया जा सकता है:— अस्तित्व या अनस्तित्व, इनमें से अनस्तित्व सत्ता को तब तक दिक्-काल-सापेक्ष नहीं कहा जा सकता जब तक वह अस्तित्व से अभिहित सत्ता न हो जाय। अतः जिसका अस्तित्व है, जो ज्ञात है, उसी का ज्ञान है; अन्यथा जो अज्ञात है उसका ज्ञान तो अज्ञान ही है। अनुमान और कल्पना भी पूर्वानुभूत अस्तित्ववाली सत्ता के ज्ञान पर ही निर्भर करते हैं। अतः सत्ता के ज्ञान से तात्पर्य हो जाता है सत्ता के अस्तित्व का ज्ञान। तो प्रश्न यह उठता है कि सत्ता के अस्तित्व का बोध कैसे हो सकता है? जब सत्ता शक्ति से युक्त होती है, तभी उसमें अस्तित्व-बोध का उदय होता है। यहाँ सन्देह हो सकता है कि क्या सत्ता शक्ति से युक्त नहीं है? निश्चय ही शक्ति से युक्त होने पर भी यदि सत्ता अस्तित्व से परे है तो उसे भौतिक दृष्टि से शक्ति नहीं माना जा सकता। एक स्थूल उदाहरण लेकर देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि शक्ति से मेरा तात्पर्य क्या है। ब्रह्माण्ड के ग्रह-नक्षत्र तथा सृष्टि के सभी जड़-चेतन पदार्थ अनेक शक्तियों से युक्त हैं। परन्तु उनके अस्तित्व के मूल में सामान्य रूप से गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का योग मान सकते हैं। यह गुरुत्वाकर्षण-शक्ति अणु से लेकर विभु तक व्यष्टिगत गुरुत्वाकर्षण-शक्ति और समष्टिगत गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के रूप में विद्यमान है। यदि सत्ता के अस्तित्व को दिक्-काल सापेक्ष माना जाय तो भी दिक् सत्ता को धारण करने वाली शक्ति है और काल चालन-शक्ति। दिक्-शक्ति को देह-शक्ति और काल-शक्ति को चेतन-शक्ति भी कहा जा सकता है।

अतएव सत्ता में जब इन शक्तियों का योग होता है तभी वह साकार होती है। उदाहरण के लिए एक वस्तु के अग्र और पश्च दोनों पक्षों को लिया जाय तो दोनों पक्ष स्थान और काल विशेष में साकार और निराकार भी कहे जा सकते हैं। जब शक्ति से ही उसमें सक्रियता आती है, तब कभी उसका अग्र साकार होता है और कभी पश्च।

सत्ता और शक्ति का अवतरण

शक्ति का अवतरण पदार्थ की सक्रियता एवं चेष्टा में है। जो पदार्थ जड़ हैं, उनकी शक्ति गूढ़ या रहस्य है, अवतरित या साकार नहीं। गूढ़ से

यहाँ तात्पर्य है इन्द्रियेतर सत्ता और साकार से तात्पर्य है सेन्द्रिय सत्ता। साकारत्व में सत्ता और शक्ति का योग देह और आत्मा की तरह अपेक्षित है। जब शक्ति सत्ता से युक्त हो जाती है तब उसे प्रादुर्भूत होना या अवतरित होना कहते हैं। इस अवतरण-क्रिया में सत्ता और शक्ति आधार और आधेय विदित होते हैं। इनमें कतिपय विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

निराकार का साकार होना

जिनमें प्रथम है वस्तु (Mass) और ऊर्जा (Energy) का संयोग। आइन्स्टाईन के 'Mass energy equivalence' के सिद्धान्त के अनुसार वस्तु ऊर्जा के रूप में बदल जाती है और ऊर्जा वस्तु के रूप में।[1] किन्तु यह रूपान्तरण वस्तु और ऊर्जा, या सत्ता और शक्ति के संयोग से ही संभव प्रतीत होता है। इसी को निराकार का साकार होना भी कहा जा सकता है। किसी सत्ता और शक्ति के निराकारत्व से उसकी अस्तित्वहीनता का बोध नहीं होता। वायु निराकार है किन्तु अस्तित्व-रहित नहीं। वायु निराकार होकर भी निर्गुण नहीं सगुण है। गन्ध, शीतलता, उष्णता आदि गुण उसमें पाए जाते हैं। इससे लगता है कि निराकार और साकार एक ही वस्तु की दिक्काल-सापेक्ष दो अवस्थाएँ हैं। विज्ञान की परिधि में रह कर ही यदि इस प्रक्रिया पर विचार किया जाय तो विज्ञान की अद्यतन धारणाओं से इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। आईन्स्टाइन के 'मासएनर्जी इक्वीभाएलेंस थियोरी' के अतिरिक्त सामान्य रूप से देखने पर भी विदित होता है कि 'युरेनियम' 'थोरियम' जैसे रेडियोधर्मी तत्त्व साकार ठोस रूप से निराकार 'शक्ति-रूप' में परिवर्तित किए जा सकते हैं।

जिस पत्थर को कल तक पत्थर की मूर्ति-रूप में देव-शक्ति मान कर, श्रद्धा निवेदित किया करते थे, अब वही पूर्ण शक्ति-रूप में आविर्भूत दिखाई दे रहा है। वह शक्ति देव बन कर मनुष्य की चिरवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण कर रहा है। उस साकार ठोस के शक्ति-रूप में यदि कोई अन्तर दीख पड़ता है तो वह केवल दिक् और काल का अन्तर है। एक विशेष स्थान पर एक विशेष काल या युग में उस ठोस साकार का अवस्थात्मक परिवर्तन हुआ।

वस्तु चाहे साकार हो या निराकार वह सदैव हमारे सामने एक ही रूप में रहती है। साकार रूप में भी एक दिक्-काल सापेक्ष अवस्था में उसका एक

---

१. आपेक्षिकता का अभिप्राय पृ० ४४।

ही रूप हमारे सामने रहता है। यदि किसी मनुष्य को हम सामने से देखते हैं तो उसका पिछला भाग हमारी आँखों से लुप्त रहता है। उस समय हमें उसके आकार का ज्ञान नहीं रहता। यदि पूर्वानुभूत कल्पना को छोड़ दिया जाय तो द्रष्टा के लिये वह अवस्था विशेष में निराकार है। फिर भी इस निराकार में अस्तित्वहीनता नहीं है। केवल उस वस्तु को दृष्टि से ओझल कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें जिस वस्तु का ऐन्द्रिय ज्ञान है, वह वस्तुतः उसकी दिक्-काल सापेक्ष अवस्था विशेषमात्र का ही ज्ञान है जो उस वस्तु का केवल आंशिक ज्ञान है। साकार और निराकार भी सत्ता और शक्ति की दिक्-काल सापेक्ष अवस्था के बोधक हैं। यह अवस्था वर्गसाँ के अनुसार सतत परिवर्तनशील क्रिया है। प्रत्येक क्षण वस्तु का परिवर्तित रूप एक नवीन अवस्था का द्योतक है। अवस्था स्वयं निरन्तर परिवर्तित होने वाली क्रिया है।[1] अतएव सत्ता और शक्ति का साकारत्व और निराकारत्व अवस्था-सापेक्ष है।

अजायमान का जन्म होना

अवतारत्व की दूसरी विशेषता है अजायमान का प्रादुर्भूत होना। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो अजायमान की अवस्था सत्ता और शक्ति की सृष्टि की एक विशेष प्रक्रिया से बाहर की स्थिति का द्योतक है। जब मनुष्य या प्राणियों के जन्म की तुलना में देखते हैं, तो सत्ता और शक्ति का आविर्भाव भिन्न प्रतीत होता है। यों सृष्टि में भी प्राणियों के उत्पन्न होने के अनेक ढंग हैं। इसी से उत्पत्तिजन्य भेदों के चलते भी वे अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज, इत्यादि रूपों में वर्गीकृत होते रहे हैं। अतः सृष्टि में उत्पत्ति या आविर्भाव के अनेक ढंग हैं जिनसे सत्ता और शक्ति को निबद्ध माना जा सकता है। उनके आविर्भाव के अवस्था-सापेक्ष सहस्रों ढंग हो सकते हैं। यदि हम वायु को सत्ता और शक्ति युक्त मानें जिसे 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' या 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' कहा गया है, तो वायु प्राणियों के सदृश आविर्भावात्मक क्रियाओं से परे है। वायु प्राण-शक्ति के रूप में जब आविर्भूत होता है, उस समय उसमें कोई अलौकिक कार्य-व्यापार नहीं लक्षित होता। वह प्राणियों या मनुष्यों के रूप में स्वाभाविक या प्राकृतिक ढंग से ही उत्पन्न होता है। अतः सत्ता और शक्ति की अनेक रूपात्मक अवस्थायें हो सकती हैं, जिनमें से उत्पन्न, और प्रकट होने की स्थितियाँ भी हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार

---

१. क्रि० इमो० पृ० २।

उनकी उत्पत्ति की क्रियायें एक सी सम्भव नहीं जान पड़तीं। अतएव सत्ता और शक्ति किसी भी ढंग से व्यक्त या आविर्भूत होने के लिए परम स्वतंत्र हैं।

असीम का ससीम होना

अवतारत्व की तीसरी विशेषता है असीम का ससीम या विभु का लघु होना। किसी वस्तु के सीमित या लघु होने से उसकी असीमता या विभुत्व नहीं नष्ट हो जाते। सृष्टि में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के भाव न हों। जिस विद्युत् शक्ति को इकाई के रूप में देखा जाता है वह प्रकट या अप्रकट अनन्त इकाइयों के रूप में भी विद्यमान है। गेहूँ का एक दाना उसका ससीम रूप है, परन्तु गेहूँ की अनन्त राशि उसका असीम रूप भी है। विश्व के वर्गीकृत अनन्त गेहूँ उसके जातिगत विराट् रूप हैं। जाति भाव से ही मनुष्य व्यक्ति के भी ससीम और असीम दो रूप हैं। मनुष्य इकाई रूप में या व्यक्ति रूप में ससीम या लघु है, साथ ही जाति रूप में असीम और विभु है। उत्पत्ति या आविर्भावात्मक प्रक्रिया के द्वारा वह एक से असंख्य हो सकता है तथा एक के अस्तित्व में होते हुए भी असंख्य या अनन्त के अस्तित्व में रह सकता है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' के मूल में केवल देश और काल की अपेक्षा मात्र निहित है। इसी से सत्ता और शक्ति एकदेशीय भी हैं और सर्वदेशीय भी।

पूर्ण का अंश होना

अवतारवाद की चौथी विशेषता है पूर्ण होना। सत्ता और शक्ति की दृष्टि से अंश और पूर्ण में कोई पार्थक्य नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अंश में पूर्णत्व है और पूर्णत्व में अंश अंतर्भुक्त है। सत्ता और शक्ति के विशुद्ध अस्तित्व को ध्यान में रखकर कोई ऐसा विभाजन नहीं हो सकता। वस्तुतः अंश और पूर्ण सेन्द्रिय ज्ञान के माध्यम स्वरूप दो इकाई मात्र हैं। मनुष्य की नेत्रेन्द्रिय किसी मनुष्य को जब देखती है, तो उसका केवल अंश मात्र दीख पड़ता है। जिसे हम दृष्टि-दर्शन द्वारा दृष्टिगत अंश कह सकते हैं। परन्तु अंश मात्र के केवल दृष्टि सापेक्ष होने से मनुष्य अंश मात्र नहीं हो जाता। वह इकाई व्यक्ति के रूप में पूर्ण व्यक्ति है। जो अंश दीख पड़ता है वह साकार है और उसका शेष भाग दृष्टि के लिये निराकार या पूर्वानुभूत साकार है। दृष्टि की सीमा में जो दृष्टिगत अंश हुआ वह दृष्टि-सापेक्ष अंश है, किंतु पूर्वानुभूत ज्ञान के द्वारा वह वास्तविक रूप में पूर्ण व्यक्ति है। अतएव दृष्टि-सापेक्ष

साकार और पूर्वानुभूत या पूर्व ज्ञात साकार दोनों को मिलाकर वह व्यक्ति व्यक्ति के रूप में पूर्ण व्यक्ति है। दृष्टिगत ज्ञान और पूर्वानुभूत ज्ञान दोनों को मिला कर, उसे अंश रूप में देखते हुए भी पूर्ण रूप ही कहेंगे। यथार्थतः अंश-दर्शन हमारी दृष्टि की सीमित अपूर्णता है, उस व्यक्ति का पूर्ण रूप नहीं। अवतार-भावना में भी अंश रूप की भावना हमारी दृष्टि, ज्ञान और अनुमान की सीमा है, उसका अंशत्व नहीं। इसी से सत्ता और शक्ति का रूप उपास्य या प्रतीक-रूप में भी गृहीत होने पर पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट ही होता है, मध्यम या निकृष्ट नहीं। मध्यम या निकृष्ट हमारी ग्राह्य या अग्राह्य भावना होती है।

शक्ति-अवतरण

सत्ता में दो भाव हैं—अभिव्यक्ति और प्रसार। इन दोनों भावों में उपस्थित होने के लिए वह शक्ति से सम्बन्धित होती है। अतः सत्ता की अभिव्यक्ति और प्रसार के लिए शक्ति व्यक्त होती है। यहाँ शक्ति और सत्ता में कार्य-कारण सम्बन्ध लक्षित होता है; क्योंकि शक्ति की यह अभिव्यक्ति सत्ता के ही माध्यम से होती है।

अभिव्यक्तिः—सत्ता की तरह शक्ति में भी अभिव्यक्ति की भावना होती है, किन्तु वह सत्ता के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। सत्ता में अभिव्यक्ति और प्रसार की जो कामना[1] होती है; वह कामना ही प्रथम अभिव्यक्ति शक्ति है। कामना शक्ति में रमण-भाव और मातृ-भाव स्वतः अन्तर्भुक्त रहते हैं, इसलिए सर्वप्रथम उसमें सिसृक्षावृत्ति उद्भूत होती है। सिसृक्षा में केवल सृष्टि की इच्छा ही नहीं है अपितु सृष्टि में सतत उत्पत्ति-क्रम चलते रहने की भी इच्छा विदित होती है। सृष्टि की क्रिया, शक्ति से शक्ति उत्पन्न होने की क्रिया है। सृष्टि-शक्ति अपने मूल रूप में उत्पाद्या और प्रेरिका है। भारतीय परम्परा में उन्हें विन्दु-शक्ति और नाद-शक्ति कहा गया है। विन्दु-शक्ति क्रिया-शक्ति है और नाद ज्ञान-शक्ति। बिन्दु शक्ति पुनः दो भागों में विभक्त हो जाती है भूत शक्ति और जीव शक्ति[2] इनमें भूतशक्ति पोषक है और जीव शक्ति उत्पादक। नाद-शक्ति ही ज्ञान-शक्ति है, जिसे प्रेरिका-शक्ति भी कहते हैं। नाद शक्ति से भी दो शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें भाव-शक्ति और तर्क-शक्ति दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इस क्रम को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

---

१. 'सोऽकामयत'

२. हेरिडिटी, पृ० १३ में प्राणी वैज्ञानिक सम्भवतः (Somatic cell) 'तनु-कोश' और (Germ cell) 'कीटाणु-कोश' माना गया है।

सत्ता

सत्ता शक्ति

सत्ता युक्त शक्ति

कामना शक्ति

सृष्टि शक्ति

विन्दु शक्ति उत्पाद्या नाद शक्ति प्रेरिका

विन्दु उत्पाद्या नाद प्रेरिका

भूत शक्ति जीव शक्ति भाव शक्ति तर्क शक्ति

प्रकृति शक्ति
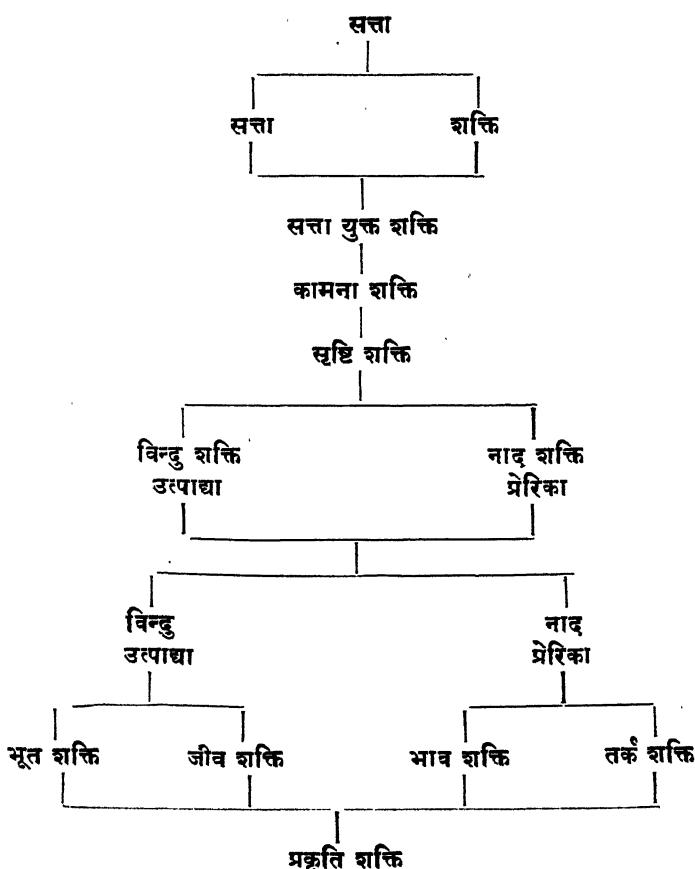
प्राकृतिक शक्ति-अवतरण :—उपर्युक्त सभी शक्तियों के समुच्चय को प्राकृतिक शक्ति की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। प्रकृति के धारण, प्राकट्य, उत्पत्ति, पोषण और संहार आदि अनेक कार्य-व्यापार हैं। किन्तु इन सभी में आन्तरिक रूप से एक कार्य-व्यापार मुख्य है—वह है अभिव्यक्ति। इस प्राकृतिक अभिव्यक्ति में दिक्-काल सापेक्ष अनेक अभिव्यक्तियों का सतत क्रम चलता जा रहा है। उस अभिव्यक्ति को वस्तुगत और मानसिक या देह गत और आत्मगत अभिव्यक्ति कह सकते हैं। यों भौतिक विज्ञान वस्तुगत अभिव्यक्ति से आत्मगत अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होता हुआ दीख पड़ता है। किन्तु भारतीय अध्यात्म विज्ञान में आत्मगत अभिव्यक्ति से ही वस्तुगत अभिव्यक्ति का क्रम विदित होता है। वस्तुगत अभिव्यक्ति पदार्थ, वनस्पति, पशु, मनुष्य इत्यादि स्थूल सत्ता के रूप में व्यक्त होती है,

जब कि आत्मगत अभिव्यक्ति चेतना, संवेग, अनुभूति, चिंतन, कल्पना आदि सूक्ष्म और अमूर्त तत्त्वों में अधिक विदित होती है। पदार्थ-विज्ञान वस्तु का अध्ययन वस्तुत्व से आरम्भ करता है और उसके आत्म-पक्ष की ओर अग्रसर होता है। परन्तु आत्मविज्ञान सूक्ष्मतम आत्मसत्ता की अभिव्यक्ति से अध्ययन आरम्भ कर स्थूलतम प्रतीकात्मक रूपों तक पहुँचता है।[1] आत्मतत्त्व अधिक दुरूह और अतीन्द्रिय तत्त्वों से युक्त है। इससे उसकी प्रायः सभी मान्यताओं को पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से परिकल्पनात्मक (हिपोथेटिकल) समझा जाता है। यों सूक्ष्म ज्ञान प्रयोग-सिद्धि के पूर्व प्रायः परिकल्पनात्मक अधिक हुआ करता है। अतः ज्ञान और विज्ञान दोनों में परिकल्पना की उपेक्षा करना अत्यन्त कठिन है। परिकल्पनात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि अतीन्द्रिय आत्मचेतन की सूक्ष्म सत्ता से ही जीव के स्थूलत्व का विकास होता है और पुनः एक विशेष अवस्था और स्थिति में उसमें आत्माभिव्यक्ति (चिंतन, अनुभूति, कल्पना, संवेग, स्वप्न इत्यादि) होती है और पुनः उसके अचेतन में व्याप्त अभिव्यक्ति की आत्मगत 'कामेच्छा' से प्राणीमात्र की वस्तुगत अभिव्यक्ति होती है। इसे हम आत्म-वस्तु अभिव्यक्ति चक्र कह सकते हैं।

आत्म अभिव्यक्ति वस्तु

यह आत्मचेतना सर्वसत्त्वमय होने के कारण समष्ट्यात्मा है, किन्तु जीवरूप में उसकी अभिव्यक्ति अनन्त सहस्रों रूपों में, व्यक्तिगत या व्यष्ट्यात्म रूपों में भी होती है, जिसे हम प्राकृतिक शक्ति का अवतरण कह सकते हैं।[2] प्रकृति का यह सामान्य अभिव्यक्ति-जनित अवतारवादी कार्य सर्व-प्रत्यक्ष है।

---

१. तै० उ० २, १ आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुषोत्पत्ति का क्रम बताया गया है।

२. क्रि० इवो० पृ० २७० में बर्गसाँ ने 'कौरनॉट-नियम' का समर्थन करते हुए बताया है कि जीवन वहीं सम्भव है, जहाँ शक्ति का अवतरण होता है। शक्ति-अवतरण की क्रिया रुकते ही सृष्टि का सारा कार्य बन्द हो जाता है।

द्विरूपात्मक प्रकृति शक्तिः—सृष्टि-रूप में शक्ति की प्रधान विशेषता है सहिष्णुता। वर्गसाँ के मतानुसार सृष्टि सहती है। जितना ही हम काल के स्वभाव का अध्ययन करेंगे, इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सृष्टि के स्थायित्व का तात्पर्य है आविष्कार, अनेक रूपों की रचना, निरंतर नवीनता का प्रसार। विज्ञान के अनुसार सहिष्णुता या सहना उस सत्य का द्योतक है, जो यह मानता है कि सारे जीव शेष जगत् के साथ अविच्छिन्न रूप से सूत्र-बद्ध हैं।[1] जिस प्रकार माता गर्भस्थ शिशु का भार सभी परिस्थितियों में आबद्ध होकर सहती है, वैसे ही पृथ्वी अन्तर्ग्रहीय आकर्षण में आबद्ध होकर प्राणि वर्ग का भार सहन करती है। 'भार सहने' की प्रक्रिया दिक् की अपेक्षा काल की सीमा के अन्तर्गत है। 'भार' का न्यूनाधिक्य और उसका समतुलन दोनों काल-सापेक्ष हैं। इसी से अवतारवादी अतिरिक्त शक्ति का आविर्भाव-कार्य भी काल-सापेक्ष है। अवतारवाद की पौराणिक अभिव्यक्ति में पृथ्वी द्वारा भार-सहने की क्रिया के प्रायः प्रसंग मिलते हैं, जिनमें 'भार' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] यथार्थतः उस भार में पृथ्वी की सहिष्णुता भी समाहित है। वह जिन प्राणियों का भार वहन करती है वे या तो दैवी प्रवृत्तियों से युक्त रहते हैं या आसुरी प्रवृत्तियों से।[3] दैवी जीव अनेक ऐसे सद्गुणों से युक्त रहते हैं जिससे पृथ्वी को सृष्टि के प्रजनन, पोषण और संहार कार्यों को क्रम-बद्ध रखने में सहायता मिलती है; जब कि आसुरी शक्तियाँ प्रवृत्ति-प्रधान भोगात्मकता से युक्त होती हैं। ये सृष्टि के सतत विकास-क्रम में गतिरोध उत्पन्न करती हैं। इनके नृशंस और अनियमित कार्यों के कारण सृष्टि के प्राणियों का समुचित विकास अवरुद्ध हो जाता है। यों तो सृष्टि में दैवी और आसुरी शक्तियों से युक्त जीवों के पृथक्-पृथक् समुदाय लक्षित होते ही हैं, किन्तु व्यष्टिरूप से प्रत्येक प्राणी में दैवी और आसुरी शक्तियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक प्राणी के अन्तर में देवासुर संग्राम या संघर्ष चलता रहता है। दैवी शक्तियों का प्राबल्य होने पर प्राणी उत्कर्षोन्मुख होता है और आसुरी शक्तियों का प्रभाव होने पर अपकर्षोन्मुख। इस स्थिति में प्राणियों को उत्कर्षोन्मुख करने के लिए अतिरिक्त दैवीशक्ति के संचार की आवश्यकता पड़ती है। प्रकृतिवादियों ने भी प्रत्येक जीवाणु में परस्पर विरोधी शक्तियों की अवतारणा

१. क्रि० इभो० पृ० ११।

२. महा० २, ६४, ४८–'अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक् पृथक्'

३. बृ० उ० १, ३, १ में प्रजापति की दो सन्तान देव और असुर कहे गये हैं। पुन गीता १६, ६ में भी भूत-सृष्टि दैवी और आसुरी दो प्रकार की बतायी गयी है।

स्वीकार की है, जिन्हें वे 'एंजेनिसिस' (Angenesis) और 'कैटाजेनिसिस' (Katagenesis) की संज्ञा से अभिहित करते हैं। 'एंजेनिटिक' शक्ति का कार्य है निर्जीव पदार्थों के संयोग द्वारा जीव-तंतुओं की गौण शक्ति को ऊपर उठाना। यह शक्ति नए जीव-तंतुओं का निर्माण करती है। दूसरी ओर जीवन का वास्तविक कार्य-संचालन 'कैटाजेनिटिक' क्रम के द्वारा संचालित होता है, जिसमें शक्ति ह्रासोन्मुखी होती है उत्कर्षोन्मुखी नहीं। इस प्रकार 'एंजेनिटिक' शक्ति ऊर्ध्वमुखी है और 'कैटाजेनिटिक' शक्ति अधोमुखी।[1] बर्गसाँ ने सम्भवतः इन दोनों शक्तियों के कार्य-व्यापार को जागतिक स्तर पर ले जाकर दूसरे शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार जगत् में स्वयं दो परस्पर विरोधी गत्यात्मक प्रक्रियाएँ स्पष्ट प्रतीत होती हैं, जिन्हें अवतरण (डिसेंट) और उत्क्रमण (एसेंट) की क्रियात्मक गतियाँ कहा जा सकता है।[2] सृष्टि के विकास में इन दोनों गत्यात्मक शक्तियों का सक्रिय रूप दृष्टिगत होता है।

निष्कर्ष यह है कि सृष्टि का मुख्य कार्य सृष्टि-चेतना या प्राणी-जीवन का निरंतर एवं सुव्यवस्थित प्रवहन है। इस क्रम में व्यवधान उपस्थित होने पर व्यतिक्रम की भी सम्भावना रहती है। आसुरी शक्तियाँ सृष्टि के सुव्यवस्थित प्रवाह में अवरोधी या प्रतिरोधी शक्तियों का कार्य करती हैं। उन प्रतिरोधी शक्तियों को हटाने के लिए अतिरिक्त शक्ति का स्फुरण अवश्यम्भावी हो जाता है। यह शक्ति दैवी शक्तियों की संचित एवं सुरक्षित तथा अधिक प्रभावशालिनी शक्ति होती है। दैवी शक्तियों का विशेष योग सृष्टि के जीवन-विकास, पोषण, रक्षा इत्यादि में होता है।

दैवी शक्ति का देवत्व क्या है ?

बर्गसाँ के अनुसार मनुष्य एक कली है, जिसका खिलना उसके माता-पिता पर निर्भर करता है।[3] वस्तुतः वह कभी भी स्वयंभू नहीं है, अपितु जन्म से ही पराश्रित है। दो व्यक्तियों की देन से उसकी उत्पत्ति होती है। दोनों व्यक्ति (माता-पिता) मिल-जुल कर उसका पालन-पोषण करते हैं, और उसकी अनेकानेक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वह अनेक वर्षों तक अपने जीवन की सारी कामनाओं की पूर्ति के लिए उन्हीं पर निर्भर करता है।

---

१. क्रु० इभो० पृ० ३६। २. क्रु० इभो० पृ० ११-१२।
३. क्रु० इभो० पृ० ४५।

इस प्रकार मनुष्य की सारी चेष्टायें उसकी कामनाओं की पूर्ति में विरत रहती हैं। एतदर्थ उसे दाता की आवश्यकता है। जो उसे देता है; उसकी कामनाओं की पूर्ति करता है, वही देवता है। उससे वह पाने की आकांक्षा रखता है, इसलिए उसकी आराधना करता है। अतः देवता उसका दाता है इसलिये उसका आराध्य है। सामान्य जीवन में भी हम आवेदन करते हैं कुछ पाने के लिये। पहले पाना और तब देना मानव-जीवन के ये दो स्वाभाविक व्यापार हैं। माता, पिता, गुरु, अतिथि, विद्वान् आदि सभी उसे देते हैं इसलिये दाता या देवता हैं। जागतिक व्यापार में योग देनेवाली सारी भौतिक शक्तियाँ दाता का कार्य करती हैं, इसलिए वे सभी देवी या देवता हैं। मानसिक प्रतिभा और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी अपने अवदान के कारण उसके लिए देवी या देवता हैं।

कारण यह है कि मनुष्य के चिरस्थायी अस्तित्व के लिये केवल मानव-देव सक्षम नहीं है। वह भी किसी से पाकर या लेकर देता है। उसको देने वाली है प्रकृति—इस जगत् के नाना ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, भूमि, चन्द्र, वायु, अग्नि, मेघ, नदी, पर्वत, वन, लता, वृक्ष, गुल्म, समुद्र, इत्यादि; ये सभी मनुष्य को किसी न किसी प्रकार देते हैं, इसलिए सभी देव हैं। उसे जीवित रहने के लिये या भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास के निमित्त प्रकृति की सर्वत्र आवश्यकता है। अन्न, जल, वायु, अग्नि, आकाश के बिना उसका अस्तित्व ही असम्भव है। वह मातृवत् रत्नगर्भा पृथ्वी से क्या नहीं पा सका है और क्या नहीं पायेगा? उसकी गोद में ही इस भौतिक अभ्युदय की सीमा तक पहुँचा है। केवल पृथ्वी ही नहीं, दिग्दिगन्त में व्याप्त सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सभी अपनी किरणों से उसका पोषण करते हैं। उनका कौन सा आलोक हमारे लिए कितना उपयोगी है, उसे विज्ञान अभी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर सका है। फिर भी अल्फा, बीटा, गामा, या अन्य कौस्मिक किरणों की तरह अनेक अज्ञात किरणों का उनका अवदान उन्हें देवता सिद्ध करेगा। तो भी अभी तक जो उनकी उपयोगिता है; उससे भी वे देवता कहे जा सकते हैं।

पुरुष अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये नारी की ओर सहजात याचक-दृष्टि से क्यों देखता है? इसलिए कि स्त्री उसकी ह्लादिनी शक्ति है। उस शक्ति को पाकर वह आह्लादित हो जाता है। वह उसके लिये देवी या देने वाली है। पुरुष में भी देने की या भर्ता बनने की स्वाभाविक आकुलता रहती है। वह त्याग में ही आनन्द का अनुभव करता है। उसका यह सृष्टि-विकासक

आनन्द ऐहिक और मानसिक दोनों का यौगिक आनन्द है। जो आनन्द मनुष्य एवं प्राणीवर्ग से लेकर अणु में और पिण्ड (शरीर) में है उसकी परिकल्पना विभु और ब्रह्माण्ड में भी की जा सकती है। जातीय वर्गीकरण की दृष्टि से विश्व के समस्त नर और नारी में उत्सर्ग की यह भावना देखी जा सकती है। सांख्य के प्रकृति और पुरुष भी इस धारणा से परे नहीं प्रतीत होते। अतएव देवतावाद की दृष्टि से पुरुष उसका देवता है और प्रकृति उसकी देवी। दोनों अपने स्व को छोड़कर एकात्म हो जाते हैं। दोनों की भावना, कामना, भाव, भक्ति, श्रद्धा एक जैसे हो जाते हैं। एक ही कामना में दोनों के समाहित होने के कारण, कामना का उदय होते ही वे एक से दो और दो से बहुत हो जाते हैं।[1] पुनः कामना के शान्त होते ही अनेक से दो और दो से एक होने की क्रिया उनमें विदित होती है। यह क्रिया समस्त सृष्टि में प्रचलित है। सृष्टि के करोड़ों जीवों, पौधों और प्राणियों के बीज एक से दो और दो से बहुत या अनेक होते हैं। यह कार्य सृष्टि का अप्रतिहत स्वयं चालित कार्य व्यापार है। देवत्व भी इसका अपवाद नहीं जान पड़ता।

पुरुष अपने स्वाभाविक त्याग से वही करता रहता है, जो प्रकृति अयाचित रूप से देकर करती है। पुरुष और प्रकृति का यह देवत्व-कार्य कालाधीन होने पर भी सर्वव्यापक, सार्वकालिक और सर्वदेशीय होता है। सृष्टि के कार्य-व्यापार में देव-कार्य की यह सामान्यावस्था है।

द्विविध शक्तियों से प्रज्वलित कामना में बुद्धि और भाव दोनों का योग लक्षित होता है। बुद्धि कार्य-व्यापार को समतुलित करती है और भाव नित्य ही बुद्धि को नित-नूतन निर्माण की ओर प्रेरित करता है। भाव के भी सामान्य और विशिष्ट दो रूप प्रतिभासित होते हैं, क्योंकि भाव की स्थिति मन में समुद्र की शान्त और तरंगायित अवस्था की स्थिति की तरह विदित होती है। शान्त-भाव की अपेक्षा तरंगायित भाव के उद्भव और उद्वेलन में 'आग्रह' जैसी शक्ति का आकर्षण विद्यमान रहता है। अतएव आग्रह से आक्रान्त भाव में 'अनुग्रह' का संचार होता है। प्रकृत भाव की तरंगावस्था वह अवस्था है, जहाँ भाव का संचरण नियम की अपेक्षा अनियमित होकर सामान्यावस्था से विशिष्टावस्था की ओर उद्वेलित होता है। इस भाव को 'अनुग्रहत्व' और 'प्रियत्व' का भाव

---

१. हेरिडिटी—पृ० १५ आधुनिक 'वंशोत्पत्ति' विज्ञान में जीव-कोशों में स्थित एक पित्र्यसूत्र 'क्रोमोजोम' दूसरे पित्र्यसूत्र 'क्रोमोजोम' को उत्पन्न करता है। इसी तरह प्रत्येक पित्र्यसूत्र 'क्रोमोजोम' एक नया पित्र्यसूत्र 'क्रोमोजोम' उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह 'द्विगुणात्मक उत्पत्ति क्रिया' आदि उत्पादन पित्र्यसूत्र 'क्रोमोजोम' की अपनी विशेषता है; और दो से बहुत का क्रम पृ० ३७ में द्रष्टव्य।

कहा जा सकता है। साधारण प्राणियों या मनुष्यों के जीवन में भी इस भाव-स्थिति का दर्शन होता है। वह इतर प्राणी जगत् के प्रति सामान्य भाव से युक्त होने के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्राणियों के प्रति अनुग्रह, प्रियत्व और कृपा का भाव भी प्रदर्शित करता है। इनमें प्रिय-भाव सबसे अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है। यह 'प्रिय-भाव' ही मनुष्य के मन में प्रियत्व की सृष्टि करता है। मनुष्य कभी-कभी विधि-निषेधों से परे होकर अपने प्रिय को विशेष रूप से देने के लिए लालायित रहता है। वह सदा इस अवसर की ताक में रहता है कि अपने प्रिय को कभी कुछ विशेष रूप से दे। ऐसा अवसर मिलने पर वह कभी तो सीधे अपने प्रिय को दे देता है और कभी आशंका होने पर कि सीधे देने पर नहीं लेगा परोक्ष रूप से भी उसे देने की चेष्टा करता है। नहीं चाहने पर भी वह देने के लिए सहज भाव से उत्सुक रहता है।

सामान्य मनुष्य या प्राणी वर्ग में यह भाव क्यों उत्पन्न होता है? यह क्रिया क्यों होती है? पुनः यह प्रश्न उठता है कि क्या यह उसकी स्वाभाविक क्रिया है? या किसी अन्य शक्ति या सत्ता से प्रेरित क्रिया है? यहाँ इसी प्रसंग में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि मनुष्य या प्राणियों में कितना 'स्व' उसका अपना है? और कितना प्रेरक शक्ति या प्रकृति शक्ति का दिया हुआ है? तो ऐसा लगता है कि दिक्-काल की सीमा में व्यक्त उसके 'अहं' को छोड़कर उसका अपना दिक्-काल सापेक्ष भी कुछ नहीं है। जो कुछ उसके पास है वह प्रकृति शक्ति का दिया हुआ है। अतः यह 'प्रियत्व' भी उसका अपना गुण नहीं प्रकृति-प्रदत्त गुण है। प्रकृति की तरंगायित प्रिय-भाव-धारा ने उसे 'प्रियत्व' से सम्पृक्त किया है। इससे 'प्रिय-भाव' को प्रदर्शित करने के लिए वह प्रकृति से प्रेरित होता है।

इस धारणा से यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति तभी प्रियत्व की प्रेरणा देती है, जब कि वह स्वयं 'प्रियत्व' से युक्त है या 'प्रियत्व' भी उसका स्वभाव है। इस आधार पर सहज ही यह परिकल्पना की जा सकती है कि प्रकृति में भी अपने प्रिय के प्रति कोमल स्थान है। वह अपने प्रिय को देने के लिए और उसकी अस्तित्व-रक्षा के लिए उत्सुक रहती है। डार्विन का 'प्राकृतिक चुनाव' का सिद्धान्त भी अपने भौतिक अर्थ में इस विचार-धारा के समकक्ष प्रतीत होता है। उसके मतानुसार प्रकृति जिस बलिष्ठ प्रजाति का चयन करती है, अवश्य ही उसके प्रति वह (homogenous) 'प्रियत्व' की भावना से युक्त है।[1]

---

१. विकासवाद पृ० ७१।

प्रकृति जिस 'प्रियत्व' से युक्त है, पुरुष भी उससे उदासीन नहीं रह सकता; क्योंकि पुरुष और प्रकृति में 'कामना-भाव' की दृष्टि से आन्तरिक एकता है। यदि पुरुष से प्रकृति उत्पन्न हुई है, या पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो दोनों अवस्थाओं में 'वंशानुगत गुणानुक्रम' के अनुसार पुरुष भी अवश्य ही प्रियत्व से युक्त है। 'प्रियत्व' देवत्व की ही चरम स्थिति है।

'प्रियत्व' की प्राप्ति नैकट्य से होती है। अतएव देवता की उपासना प्रियत्व-ग्रहण की उपासना है। प्रियत्व की प्राप्ति नैकट्य प्राप्त करने, निकट बैठने (उप + आसना) से होती है। हम सामान्य जीवन में भी 'प्रियत्व' की प्राप्ति के लिए निकट होने का प्रयत्न करते हैं। वह 'प्रियत्व' की साधना है, जिसमें ऐकान्तिक या परस्पर देव-भावना विद्यमान रहती है।

सृष्टि में देव-कार्य निरन्तर चलता रहता है। इसलिए वह सामान्य देव-कार्य है। किन्तु जब प्रिय के निमित्त प्रिय-कार्य के लिए विशिष्ट रूप से देव-शक्ति का आगमन या आविर्भाव होता है तो उस क्रिया को 'अवतार' या 'प्राकट्य' से अभिहित किया जाता है।

प्रातिभ अभिव्यक्ति और प्रातिभ अवतार

सृष्टि की नाना रूपात्मक अभिव्यक्ति प्रतिभा शक्ति की देन है। यों तो भारतीय साहित्य में कवि और स्रष्टा प्रजापति एक सदृश (अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः) माने गये हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि सृष्टि की प्रक्रिया में अनेक काव्यात्मक गुण विद्यमान हैं। काव्य के नव्य भावों, विचारों और कल्पनाओं की तरह, सृष्टि के आदि काल से लेकर अब तक विकसित पर्वत, नदी, समुद्र, प्राणी, पौधे, पशु, मनुष्य आदि को आविर्भूत करने में 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रतिभा शक्ति का हाथ रहा है। कवि की प्रतिभा अव्यक्त को व्यक्त, अमूर्त को मूर्त, अरूप को रूप, अशब्द को शब्द तथा अनेक रहस्यों को प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करती है। सृष्टि भी अव्यक्त को व्यक्त, अरूप को रूप, अमूर्त को मूर्त करती प्रतीत होती है। वह असीम को ससीम, अपरिमित को परिमित, परोक्ष को प्रत्यक्ष और अज्ञेय को ज्ञेय बनाती है। यदि कविता में पूर्वानुभूत कल्पना के द्वारा अपूर्व कल्पना की रचना होती है; तो सृष्टि भी पूर्व-परम्परा से मिलती-जुलती अपूर्व रचनाओं से परिपूर्ण है। पुनर्निर्मायक-बिम्ब-रचना की तरह सारी सृष्टि पुनर्जन्म, पुनराविर्भाव और पुनरोत्पत्ति के गुणों से युक्त है। काव्य रहस्यात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति प्रतीकों, संकेतों एवं शब्द-चित्रों के माध्यम से करता है। सृष्टि के नाना कार्य व्यापारों में भी प्रतीकात्मक प्रतीति होती है। निष्कर्षतः सेन्द्रिय, भूतात्मक सृष्टि

आत्मगत सत्ता को वस्तुगत प्रातिभ अभिव्यक्ति विदित होती हैं; क्योंकि प्रातिभ अभिव्यक्ति की सारी विशेषताएँ सृष्टि की समस्त अभिव्यक्तियों में प्रतिबिम्बित होती हैं।

प्रतिभा की एक अन्य विशेषता है, जिसे चमत्कार की संज्ञा दी जाती है। कविता के सामान्य भाव-प्रवाह में कभी-कभी चमत्कार भी लक्षित होता है। विज्ञान में उसी प्रकार की धारणा को आविष्कार कहा जाता है। वैसे ही प्रकृति के सामान्य कार्य-व्यापारों के बीच एक विशिष्ट प्रातिभ अभिव्यक्ति लक्षित होती है जिसे विशिष्ट अवतरण या विशिष्ट आविर्भाव कह कर व्यक्त किया जा सकता है। चमत्कार, आविष्कार और अवतार ये तीनों क्रमबद्ध या सामान्य कार्य-व्यापारों से सम्बद्ध न होकर किसी सूक्ष्म या घटना के आधार पर व्यक्त आकस्मिक अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं। यों अवतारवादी धारणा के विकास में सामान्य अवतरण और विशिष्ट अवतरण दोनों भावनाओं का योग रहा होगा।

अवतारबोधक प्राकृतिक व्यापार

मनुष्य के अवचेतन मन में अवतार-भावना को संचित करने वाले निश्चय ही ऐसे कतिपय प्राकृतिक कार्य-व्यापार अनादि काल से ही रहे होंगे, जिन्होंने अवतारवादी संस्कार को बद्धमूल करने में सहायता प्रदान की होगी। क्योंकि जन-मानस में कोई भी आस्था प्रारम्भिक काल में तभी विकसित हुई होगी जब कि उस युग को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली कोई प्राकृतिक घटना या क्रिया उसके अवचेतन मन को बार-बार आक्रान्त करती रही होगी। वैसी घटना या क्रिया एक भी हो सकती है अनेक भी। अतः यह देखना अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि प्रकृति की किन क्रियाओं और घटनाओं ने अवतारत्व की आस्था की उत्पन्न करने और विकसित करने में आधार-पीठिका का कार्य किया।

क्योंकि मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने में प्राकृतिक वातावरण और उसके आधार पर कल्पित काल्पनिक वातावरण का विशेष हाथ रहा है।[1] ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में युग-युगान्तर तक घनीभूत होती आयीं। बाद में चलकर प्राकृतिक शक्तियों के प्रति उसके मन में काल्पनिक एवं भ्रान्ति-मूलक धारणाओं का विकास होता गया। इस प्रकार विश्व की समस्त आदिम जातियों में अन्धविश्वास की धारणा उत्पन्न करने का कार्य उनके चतुर्दिक् व्याप्त रहने वाली प्राकृतिक शक्तियाँ करती

---

१. दी० ओ० मैन एन्ड सुप० पृ० ६७ द्रष्टव्य।

रही हैं। परिणामतः मनुष्य प्रकृति से या प्रकृति की शक्तियों से स्वतन्त्र नहीं है। स्वयं उसकी समस्त निर्मिति में प्रकृति साध्य और साधन दोनों रूपों में विद्यमान है। प्रकृति में जन्म, अवतरण, आविर्भाव, प्राकट्य और प्रत्यक्षीकरण की सारी क्रियायें चलती रहती हैं। भौतिक सत्ता और शक्ति का निपात, प्रसार और ह्रास निरन्तर होता रहता है। उसी क्रम में आकस्मिक दिव्य और असाधारण शक्तियों का भी आविर्भाव हुआ करता है; जिनका मुख्य प्रयोजन है असंतुलित वातावरण को सन्तुलित करना। इन प्राकृतिक व्यापारों को सामयिक, आकस्मिक और गूढ़ तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। सामयिक कार्य-व्यापारों में सूर्योदय, चन्द्रोदय, वर्षा, आदि माने जा सकते हैं। आकस्मिक व्यापारों में उल्कापात, भूकम्प, आँधी, दावाग्नि, ज्वालामुखी का विस्फोट आदि गृहीत हो सकते हैं। उसी प्रकार जन्म, मरण और चेतना का आविर्भाव ये अज्ञात होने के कारण गूढ़ ही अधिक प्रतीत होते हैं।

सूर्य और चन्द्र

सामयिक कार्य-व्यापारों में सूर्य का नित्य आविर्भाव एक ऐसा कार्य-व्यापार है जो पुरातन मनुष्य के मन में आविर्भाव की भावना संयोजित करता रहा है। प्राचीन-मानव को रात का भयानक अंधकार उसको अपनी सुरक्षा के प्रति अधिक आशंकित और आकुल बनाये रहता होगा। रात में कष्ट देने वाले निशाचर जीव उसके लिए अधिक कष्टदायक होते होंगे। रात में विभिन्न कुलों और शत्रुओं के भी आक्रमण का डर उसे बना रहता होगा। परिणामतः सूर्य के पुनः आविर्भूत होने की बलवती इच्छा ने उसके मन में आविर्भाव की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न की होगी। पुरातन-मानव के भावुक हृदय ने कल्पना की होगी :—

रात होते ही चारों ओर सघन अंधकार छा जाता है। रात में अनेक भयंकर दीख पड़ने वाले निशिचर उसे मानसिक तथा दैहिक अनेक कष्ट देते हैं। किन्तु सहस्रों किरणों वाले सूर्य अपने किरण-दल के साथ आविर्भूत होकर अंधकार रूपी निशिचर दल का नाश करते हैं। इस प्रकार वे समस्त विश्व का कल्याण करते हैं। उसके मन में भविष्य में रात होने पर अंधकार एवं निशाचरों से उद्धार के लिए सूर्य के पुनः आविर्भूत होने की आशा बनी रहती है, जिसने भावी अवतार की कल्पना विकसित की होगी। रात के अंधकार में ही चन्द्रमा के आविर्भाव ने आविर्भावात्मक प्रवृत्ति को बद्धमूल किया होगा। परन्तु सूर्योदय जब भी होता है, सूर्य अपने पूर्ण रूप में ही आविर्भूत होता है। फलस्वरूप आविर्भाव की भावना में पूर्णाविर्भाव

की धारणा का विकास हुआ होगा और चन्द्रमा, जिसका आंशिक रूप भी आविर्भूत होता है, अंशाविर्भाव की प्रवृत्ति का मूलाधार हो सकता है।

बादल और वर्षा

निखिल प्रकृति में दुःखान्त और सुखान्त नाटक चलते रहते हैं। ज्येष्ठ की कड़ी दुपहरी में तप्त भूमि सूखकर जल-तृषित बनी रहती है। माता में जिस प्रकार सन्तानोत्पत्ति की भावना होती है, वैसे ही भूमि में भी नाना जीवों की उत्पत्ति की कामना होने की कल्पना की जा सकती है, जिसे अनेक आसुरी विघ्न-बाधाएँ कष्ट देकर प्रताड़ित करती रहती हैं। विशेषकर अपने वक्ष पर स्थित प्राणियों को बिना जल-जीवन के मरते हुए देख कर पृथ्वी में भी आकुलता या दुःख की भावना आरोपित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में बादलों के दल चारों ओर से घिर कर आकाश में छा जाते हैं और घनघोर वर्षा की झड़ी लगा देते हैं। इस वर्षा के द्वारा केवल जलावतरण ही नहीं होता अपितु वे जीवनी-शक्ति की भी संचारक सत्ता के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। इस प्रकार मघवन् या इन्द्रदेव और उनके समूह की सहायता से तथा विष्णुवत् सूर्यदेव की रश्मियों की प्राणवत्ता के द्वारा पृथ्वी के सृष्टित्व की रक्षा होती है। इस उदाहरण के द्वारा सामूहिक आविर्भाव की मूल प्रवृत्ति के अतिरिक्त अवतारवादी प्रयोजन—पृथ्वी या सृष्टि-रक्षा के भी मूल रूपों की परिकल्पना की जा सकती है।

उल्कापात

आकस्मिक कार्य-व्यापारों में आविर्भावात्मक प्रवृत्ति की मूल प्रेरक वृत्तियों में उल्कापात विशेष उल्लेखनीय है। मनुष्य जिज्ञासु-भाव से विस्तृत शून्याकाश को देखता है। रात में कोटि-कोटि ग्रह-नक्षत्र और तारे टिमटिमाते रहते हैं। उनको भी वह सूर्य और चन्द्र की तरह दिव्यादिव्य प्राणियों का लोक मानता है। ये किसी न किसी प्रकार एक लोक से दूसरे लोक में आते जाते रहे होंगे। इसी धारणा के क्रम में जब वह उल्कापात देखता है तो उसकी आस्था और पुष्ट हो जाती है कि उल्कापात के रूप में दिव्य शक्तियों का अवतरण ऊपर के दिव्य लोकों से पृथ्वी पर होता है। उल्कापात के समय प्रायः देखा जाता है कि कभी विखण्डित एक खण्ड टूट कर एक लीक की तरह बन कर नीचे की ओर गिरता हुआ दिखाई पड़ता है और कभी एक खंड के सहस्रों खंड बिखर कर नीचे गिरते लक्षित होते हैं। इन दोनों अवतरणशील कार्य-व्यापारों का अवतारवादी धारणा के विकास में योग माना जा सकता है। इसी प्रकार

आँधी, दावाग्नि, ज्वालामुखी इत्यादि प्राकृतिक कार्य-व्यापार आकस्मिक अवतारत्व की भावना के मूल प्रेरकों में गृहीत हो सकते हैं।

आत्म-चेतना और जन्म

अवतार-भावना के मूल प्रेरकों में किञ्चिद्गूढ़ प्राकृतिक व्यापारों का भी योग प्रतीत होता है, जिनमें मनुष्य एवं प्राणियों के जन्म की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट होता है। शरीर में जिस आत्म-सत्ता या शक्ति का प्रवेश होता है, वह अदृश्य; रहस्यात्मक और गूढ़ सत्ता है। मनुष्य के मन में ऐसी धारणा रही है कि जब उसका (चेतनात्मक) प्रादुर्भाव शरीर में होता है तो मानव-शिशु जी उठता है। जब तक वह आत्म-चेतना शरीर में विद्यमान रहती है, तभी तक मनुष्य शक्ति-सम्पन्न और परिवर्द्धनशील बना रहता है। जब वह आत्म-चेतना लुप्त हो जाती है, मनुष्य का शरीर निर्जीव हो जाता है। शिशु के इस जन्म के प्रति सामान्य धारणा यही रहती है कि वह किसी अज्ञात प्रदेश से आकर अवतरित होता है। क्योंकि, मनुष्य कहाँ से आकर जन्म लेता है और किस प्रदेश में मरने पर चला जाता है; दोनों उसके लिए गूढ़ रहस्य हैं। किंतु जन्म और आत्म-चेतना के प्रवेश तथा गर्भाशय से नीचे की ओर अवतरित होने की क्रिया का उसकी अवतारवादी मनोवृत्तियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा। उसके मन में मूलवृत्ति तो जन्म और अवतरण की रही होगी, परन्तु दिव्य वैशिष्ट्यों को आरोपित करने के लिए उसने अवतारों के जन्म एवं अवतरण का दैवीकरण कर दिया होगा।

प्रौढ़ होते ही मनुष्य अपने वार्द्धक्य और देहावसान का अनुमान कर कुछ असहाय सा हो जाता है। पुत्रैषणा उसमें प्रबल हो जाती है, परन्तु निरन्तर प्रयत्न करने पर भी उसे सन्तान नहीं होती। वह देव-विश्वासी मानव किसी देवता या इष्टदेव से सन्तान की याचना करता है। उस याचना के उपरान्त यदि उसे सन्तान होती है; तो बड़े सहज और स्वाभाविक ढंग से दो विश्वास उसके मन में रूढ़ हो जाते हैं। एक तो यह कि पुत्र देवता के वरदान का परिणाम है। सम्भवतः गुरु के उपदेश से प्रमाणित होने के कारण, दूसरा यह कि पूजित देवता या इष्टदेव का अंश ही इस सन्तान के रूप में आविर्भूत हुआ है। इस प्रकार अवतारत्व की भावना में भी जन्म एवं आत्म-चेतना की प्रवृत्ति कार्य करती दीख पड़ती है।

वंश-परम्परा

सृष्टि में प्राणियों और पौधों के जन्म की एक शृङ्खला चलती आ रही है। उस युग का मानव इस सृष्टि-शृङ्खला को पशु से पशु; पौधे से पौधे, की उत्पत्ति

के रूप में जानता है। वह अपने पितामह से पिता, पिता से स्वयं, स्वयं से अपने पुत्र और पुत्र से पौत्र की, प्रायः अपने जीवन में ही घटित होने के कारण, वंश-परम्परा जैसी क्रिया से परिचित रहता है। उसके सामने अतीत और आगमिष्यत् दोनों परम्पराओं के लोग विद्यमान रहते हैं। इस आधार पर सहज ही वह एक बहुत बड़ी वंश-परम्परा की या अवतारवादी परम्परा की कल्पनात्मक प्रवृत्ति सँजो लेता है, जिसमें सम्भवतः स्मृत पूर्व-पुरुष उस वंश-परम्परा का आदि जनक माना जाता है। उसकी सत्ता को यों वह अनुमान से ही आगमिष्यत् पीढ़ी में विद्यमान मानता होगा, जिसका विकास विष्णु की पूर्ण या अंश शक्ति के रूप में हुआ।

यों 'जेन' या वंशाणु एक प्रकार का वंशोत्पादक तत्त्व ही है, जो प्रत्येक जीव-कोश में विद्यमान रहता है। प्रत्येक पुरुष अपने पूर्वजों के क्रम से आते हुए, अपने पिता से वंशाणु तत्त्व प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति में जीवन भर इसका अस्तित्व द्विगुणात्मक वृद्धि के अतिरिक्त प्रायः अपरिवर्तित रूप में ही विद्यमान रहता है, जिसे व्यक्ति पुनः अपने अंगज को प्रदान करता है। समय-समय पर वंशाणु की रूप रेखा में परिवर्तन भी होता है जिसे 'म्यूटेशन' या 'नवोद्भव क्रिया' कहते हैं। नवोद्भूत वंशाणु (gene जेन) पुनः परिवर्तित रूप को पुनरुत्पादित कर द्विगुणित होता रहता है।[1]

निश्चय ही प्रारम्भिक युग का मानव अद्यतन वैज्ञानिक शोधों से परिचित नहीं होगा, किन्तु वंश-परम्परा से आने वाली किसी सत्ता की भावना उसने अवश्य की होगी, जिसका परिचय विष्णु की अवतार-परम्परा में मिलता है।

पराक्रम

अवतारवाद की चिन्ता-धारा में पराक्रम का विशेष महत्त्व रहा है। मनुष्य दैवी हो या मानवी, अवतारवाद पराक्रमवाद का सिद्धान्त है। मनुष्य के नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार के प्रयत्नों में शारीरिक और मानसिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ये शक्तियाँ मनुष्य में मूलतः भोजन से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य भूख रूपी आसुरी शक्तियों से जब व्याकुल हो जाता है, तब उसके निवारण के लिए उसे नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। भूख से तृप्ति पाते ही वह अतिरिक्त बल का अनुभव करता है। भोजन या अन्न की पूर्ति से उसे अतिरिक्त शक्ति उपलब्ध होती है। यह अतिरिक्त शक्ति एक प्रकार से पोषण-कार्य करती है। भोजन से निर्मित रक्त-राशि समस्त शरीर के कण-कण में प्रविष्ट हो जाती है, फलस्वरूप मनुष्य

१. दी डिक्स. आफ बाई. पृ. ९५-९६ और हेरिडिटी पृ. ३७।

विश्वासी युग की मनोवृत्ति देवात्मा, कुल या जाति-देव की अवतरित शक्ति के रूप में स्वीकार करती होगी। विभिन्न जातियों या जाति-समूहों में स्वजन-सम्बन्धियों के प्रति परस्पर सहायता या उदारता की मनोवृत्ति को 'ह्यूम' आदि विचारकों ने स्वीकार किया है।[1] जिसका आभास अवतारवादी प्रयोजनों में होता है। उदाहरण के लिए आदिम मानव जाति की भाषा में पृथ्वी की रक्षा से तात्पर्य था अतिक्रमित क्षेत्र या भूमि खंड (Territory) की रक्षा से, जो उस युग की प्रमुख समस्या थी। आक्रमण करने वाली जातियाँ आक्रमित जातियों के पशुधन, स्त्रियों या गो इत्यादि को लूटा करती थीं। जातियों में ऋषियों की तरह जो चिन्तक या मनीषी वर्ग था, वह जाति या क्षेत्र की रक्षा के लिए योजनाएँ बनाता था तथा युवकों और युवक नेताओं को प्रशिक्षित करता था। इसी से वह भी इतर जातियों के आक्रमण का लक्ष्य होता था। धार्मिक क्रिया कलापों के द्वारा वह अपने समूह में शक्ति और संगठन की चेतना का निर्माण करता था। इसी से शत्रु वर्ग उनके भी विनाश को अपना परम लक्ष्य मानता था। फलतः अवतारवादी-रक्षा का कार्य क्षेत्रीय रक्षा से आगे बढ़कर जाति-रक्षा, कुल-रक्षा, धर्म-रक्षा, गो-रक्षा, कलाकार, शिल्पी, विद्वान, प्रशिक्षक-आचार्य के रूप में ब्राह्मण, पुरोहित और नारी-रक्षा के रूप में परिणत हो गया। यह स्वाभाविक है कि जब भी युद्ध या रक्षा का प्रश्न समाज में उठता है, संगठित एवं सुविचारित संचालन के लिए नेतृत्व और सेना-पतित्व सहज ही अनिवार्य हो जाता है। जाति-समूह द्वारा समर्पित शक्ति का आविर्भाव उसी में होता है जो नेतृत्व ग्रहण करता है। प्रारम्भिक युग में एक मनुष्य में ही अवतरणशक्ति पर्याप्त रही होगी। किंतु बाद में चलकर जब रक्षात्मक-कार्यों का विस्तार हो गया होगा तो एक व्यक्ति के अतिरिक्त अनेक आनुषंगिक व्यक्तियों में भी जन-प्रदत्त शक्ति के अवतरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी जिसके फलस्वरूप एक अवतार के बाद सामूहिक अवतार का विकास हुआ होगा।

उपर्युक्त प्राकृतिक एवं सामाजिक कार्य-व्यापारों के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारत्व की मूल-भावना को देने में इनका यथेष्ट प्रभाव रहा होगा।

विकासवादी अध्ययन-क्रम

सृष्टि एवं सभ्यता के प्रसार का अध्ययन करते समय अध्ययन की प्रक्रिया को प्रायः 'विकास' शब्द से अभिहित किया जाता रहा है। परन्तु विकास-

१. न्यू थिअरी ऑफ ह्यूमन-इवो पृ. ७१।

वाद की मूल प्रक्रिया उत्पत्ति और प्रसार की क्रियाओं पर निर्भर करती है। यदि तात्विक दृष्टि से उत्पत्ति और प्रसार के अतिरिक्त आनुवंशिक प्रकृति को देखा जाय तो यह स्पष्ट विदित होगा कि विकासवाद का सिद्धान्त मूलतः अवतारवाद का सिद्धान्त है।[1] सृष्टि-क्रम और पुरानी सभ्यता के जीर्ण शरीर से ही नयी सृष्टि और नयी सभ्यता का प्रादुर्भाव होता रहा है। सृष्टि एवं सभ्यता के विकास से तात्पर्य है—आदि काल से लेकर अबतक प्रत्येक युग में नयी भौतिक-शक्तियों तथा प्रातिभ शक्तियों का अवतरण। अक्षर या आकाश तत्त्व से वायु का, वायु से अग्नि और अग्नि से जल और जल से मिट्टी के भौतिक पदार्थों का अवतरण प्रायः सांख्य मत में भी प्रचलित रहा है। भूगर्भशास्त्री सूर्य से अग्नि, और अग्नि खण्ड से जल और पृथ्वी की अवतारणा स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनके आविर्भाव के साथ-साथ अनेक भूगर्भादि धातु एवं पदार्थ शक्ति-स्रोतों के रूप में आविर्भूत होते रहे हैं और अब तक निरन्तर होते जा रहे हैं। काष्ठ-अग्नि से लेकर यूरेनियम इत्यादि धातुओं तक शक्ति-स्रोतों का प्रादुर्भाव होता रहा है। किन्तु इस प्रादुर्भाव की क्रिया में भी एक शक्ति से दूसरी शक्ति का आविर्भावक्रम लक्षित होता है। अतः सृष्टि एवं सभ्यता के विकासवादी अध्ययन के क्रम में 'विकास' की अपेक्षा 'अवतार' अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस युग तक जीव-शक्ति, अग्नि शक्ति, विद्युत् शक्ति और अणु शक्ति आदि अनेक शक्तियों के आविर्भाव होने के कारण अब उनके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं करता। सम्भव है अनेकानेक शक्तियाँ अज्ञात रहस्य लोकों में पड़ी हों और ज्यों-ज्यों उनका उद्घाटन होता जायेगा वैसे ही विज्ञान एवं आधुनिक बुद्धिवाद की आस्था भी उन पर बढ़ती जायेगी। यदि आज तक इसे परिकल्पना ही समझा जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राणियों में विशिष्ट शक्ति का आविर्भाव प्रकृतिवाद में भी असम्भव नहीं है। यों पुरातन युगों से ही ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते रहे हैं जो विशिष्ट मानसिक, शारीरिक और प्रातिभ शक्तियों से युक्त रहे हैं।

पौराणिक उपादानों का वैशिष्ट्य

भारतीय पौराणिक साहित्य की विशेषता यह है कि उनमें नाना ज्ञान, विज्ञान, धर्म और दर्शन की अभिव्यक्ति आख्यानों के माध्यम से हुई है। उनको अधिक ग्राह्य और रुचिकर बनाने के लिये पौराणिकों ने अनेक तात्त्विक

१. यों डार्विन की पुस्तक 'डिसेंट ऑफ मैन' के 'डिसेंट' से भी यह ज्ञापित होता है, किन्तु डार्विन के सिद्धान्त मुख्यतः विकासवादी ही सिद्धान्त के रूप में प्रचलित रहे हैं।

विचारों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीकों के द्वारा की है। यथा—क्षीरसागर (नीले आकाश में व्याप्त किसी कास्मिक द्रव्य का प्रतीक या क्षीर स्वरूप पोषक तत्त्व से प्रथम सृष्टि-विकासक जीव की उत्पत्ति का प्रतीक) में विष्णु से कमल (सप्तदल या सहस्रदल) पर ब्रह्मा की उत्पत्ति; पौराणिक आख्यानक महत्त्व के अतिरिक्त प्रतीकात्मक अर्थ भी द्योतित करता है। इस आख्यान का सृष्टि-परक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—अक्षर किन्तु पोषक तत्त्वों से युक्त अनन्त, नीले आकाश रूपी समुद्र में सूर्य-विष्णु से सप्तग्रह (शनि, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मंगल, पृथ्वी, तथा राहु-केतु) रूपी सप्तदल की उत्पत्ति हुई और उन पर स्रष्टा के रूप में सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार विष्णु-कमल पर ब्रह्मा की उत्पत्ति का आख्यान—जागतिक अवतरण का प्रतीकात्मक आख्यान कहा जा सकता है।

इस व्याख्या से निश्चय ही मेरा तात्पर्य भू-भौतिकीय दृष्टि से पौराणिक आख्यानों के सत्य का वैज्ञानिक उद्घाटन नहीं है, अपितु उनमें निहित प्रतीकार्थ को मनोवैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा स्पष्ट करना है।

प्रतीकीकरण

प्रतीकीकरण मनुष्य का सहज स्वभाव है। आदिम काल से ही वह विभिन्न अनुकरणात्मक क्रियाओं, ध्वनियों, उच्चारणों और मुद्राओं को तथा अपने मनोगत भावों और इच्छाओं को प्रतीकात्मक भाषा या मुद्राओं के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करता रहा है। प्रतीक में ऐसे अर्थ विदित होते हैं जिनको प्रत्यक्ष अनुभव के सन्दर्भ से नहीं जाना जा सकता। प्रतीक में दूसरी विशेषता यह लक्षित होती है कि वह समस्त अर्थवत्ता को घनीभूत कर देता है। यों मानव सभी मूर्त या अमूर्त विषयों का विस्तार प्रतीकों के ही माध्यम से करता रहा है। जिन्हें कोशकारों ने 'सन्दर्भीय' और 'संघानित' दो प्रकार के प्रतीकों में विभाजित किया है।[1] प्रतीकीकरण की क्रिया में अवचेतन और अचेतन मन का विशेष हाथ रहता है। अचेतन मन में विस्मृत, दमित, संयमित स्मृतियों, वासनाओं और कामनाओं का बृहत्कोश होता है, जिसकी अभिव्यक्ति अनुभूति और कल्पना का सम्बल लेकर शब्द-प्रतीक, भाव-प्रतीक, स्वप्न-प्रतीक, कला-प्रतीक और संस्कारगत पुराण-(मिथिक)-प्रतीकों के रूप में होती है।

पुराण-प्रतीक

पुराण-प्रतीक वे मूल-प्रतीक हैं जो अनादि-काल से आते हुए मानव जाति

१. सा० कोश—'प्रतीकवाद'

की बुद्धि और भाव-चेतना को अपने अन्तर में छिपाए हुए हैं। प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध 'जिन उपकरणों में वे मूल प्रतिमा-प्रतीक विदित हैं, मन की असंतुलित दशाओं में वे बहुत कुछ प्रकाश में आ सकते हैं; किन्तु वास्तविक रूप में, जिस मूल प्रतिमा (रूटइमेज) का प्रतीक जितना ही पुरातन (प्राइमोर्डियल) है, उसका तात्पर्य निकालना उतना ही कठिन है। वे मूल प्रतिमाएँ (आर्केटाइपल इमेजेज) जो मनोविकृतियों में व्यक्त होती हैं, प्रायः उनमें अद्भुत विचित्रिता होती है, क्योंकि बिना किसी मूल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के ही ये मानस-तलपर अभिव्यक्त हो जाती हैं।

युंग के अनुसार इन मूल प्रतिमाओं के द्विविध रूप होते हैं। एक ओर तो वे उन मानस क्रियाओं का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करती हैं, जो मानव-प्रजातियों में सामान्य रूप से व्याप्त हैं। इस अर्थ में वे मनुष्य की जागतिक प्रवृत्तियों को व्यक्त करती हैं। दूसरी ओर वे मानस-व्यापार तब तक कोई प्रतीकात्मक रूप नहीं ग्रहण करते जब तक वे किसी विशेष ऐतिहासिक व्यक्ति का तात्पर्य नहीं सूचित करते।[1] यदि मनुष्य की 'सामूहिक अवचेतना' द्वारा अवधारित एवं एकत्रित सामूहिक वृत्तियों का विश्लेषण किया जाय तो निश्चय ही यह स्पष्ट पता चल जायेगा कि जो 'भाव-प्रतिमा' जितनी ही पुरानी होती जाती है, उसका प्रतीकीकरण उतना ही सघन और विषम होता जाता है—और एक काल ऐसा आता है कि उस दुरूह प्रतीक की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। पौराणिक, साधनात्मक और साम्प्रदायिक प्रतीकों के साथ यह कथन बहुत कुछ चरितार्थ प्रतीत होता है। पुराण-प्रतीकों की विशेषता यह है कि इनका उदय किसी चिन्तक या मनीषी व्यक्ति के मन में ही होता है, जिसका प्रचार समाज में उसके अनुगामी करते रहते हैं। अनुगामियों के द्वारा वह प्रतीक समाज में स्वीकृत एवं प्रचलित होता है। एक ओर तो जन सामान्य में उन प्रतीकों के प्रति भावात्मक आस्था बढ़ने लगती है। दूसरी ओर अनुगामी कतिपय अवयवों से युक्त कर प्रतीकों को रूचिकर, ग्राह्य एवं लोकप्रिय बनाते हैं। ये अवयव कभी तो मूल प्रतीक के साथ रहते हैं और कभी-कभी स्वतंत्र प्रतीकार्थ ज्ञापित करने लगते हैं। पुनः उनका सम्बन्ध युगानुरूप उपादानों से होता है; जिनमें आधारभूत सत्य की अपेक्षा लोकप्रियता और लोक-ग्राहकता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार परम्परागत काट-छाँट, प्रसार और परिवर्तन के द्वारा पुराण-प्रतीकों की मूल रूप-रेखाओं में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं और उनकी

---

१. जे. एस. सी. टी. एस. पृ. ७६.

मूल अर्थवत्ता पर अनेक युगों की अर्थवत्ता लदती चली जाती है। परिणामतः उनका रूप सभी दृष्टियों से अद्भुत हो जाता है। कभी उनमें दार्शनिकता का पुट मिलता है, कभी रूपकात्मकता का और कभी अन्योक्तिपरक वैज्ञानिकता का तात्पर्य निकलता है, तो कभी प्रतीकात्मक मनोवैज्ञानिकता का। और कभी इन सभी का समन्वित बोध एक ही पुराण-प्रतीक या उससे निर्गत प्रतीक-प्रतिमा में होता है। इस प्रकार एक ही मूल पुराण-प्रतीक अनेक युगों की अर्थवत्ता से समाविष्ट होकर अनेकानेक भावों और अर्थों का ज्ञापक बन जाता है। निष्कर्षतः पुराण-प्रतीक एक मस्तिष्क की उपज होकर भी सामाजिक प्रकृति का होता है। उसमें पारस्परिकता, अनेकार्थता, प्रसंगगर्भत्व, प्रसंगोद्भावकत्व, रूढ़िबद्धता, बहु-आख्यानकता इत्यादि वैशिष्ट्यों का समावेश हो जाता है। ऐसे पुराण-प्रतीक सामूहिक संस्कारगत प्रभावों से आच्छन्न प्रतीक-प्रतिमाओं के मूलस्रोत सिद्ध होते हैं। कभी-कभी इन मूल प्रतीकों से विकसित प्रतीक-प्रतिमाओं का इस सीमा तक विस्तार होता है कि मूल प्रतीक स्वतः या कभी-कभी अपने समस्त अवयवों के साथ गौण हो जाता है और उससे उद्भूत प्रतीक-प्रतिमा प्रमुख तथा व्यापक बन जाती है। आगे चलकर इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए पुराण-प्रतीकों का, व्याख्या एवं विश्लेषण के द्वारा प्राणिवैज्ञानिक तथा मानव-शास्त्रीय तात्पर्य निकालने का प्रयास किया गया है। आदिम मानव सृष्टि एवं प्रकृति को जिन प्रतीक-प्रतिमाओं के रूप में देखता है, वे प्रतिमाएँ देवत्वपरक उसकी धारणा तथा उसकी आदिम मनोवृत्ति और भावना का ही बोध कराती हैं। वह जगत् की प्रकृति को एक जीवित मूर्तिमान सत्ता के रूप में देखता है, यह उसकी सोचने की वह शैली है, जिसने पौराणिकता या पुराण-प्रतीकों के निर्माण में योग दिया है।[1] अतः देवत्व की तत्कालीन मनोवृत्ति को छोड़ कर पुराण-प्रतीक की दृष्टि से ही अवतार-प्रतीकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

विकासवादी उपादान और पौराणिक प्रतीकों की तुलना

प्राकृतिक विज्ञानों के विकास और अवतारवादी विकासवाद में प्रमुख साम्य यह प्रतीत होता है कि दोनों सूर्य से पृथ्वी ग्रह का अवतरण और पृथ्वी पर जल-जीवों का आविर्भाव, जल जीवों में जल पशु, जल पशु से जल-स्थली उभय पशु, उभय पशु से सरीसृप-पशु-पक्षी, सरीसृप से पशु, पशु से पशु-मानव तथा पशु-मानव से मानव और मानव से मेधावी मानव के आविर्भाव जैसा मिलता-जुलता क्रम मानते हैं।

---

१. जे. एस. सी. टी. एस. पृ. २७३.

किन्तु दोनों के अध्ययन एवं विश्लेषण की पद्धतियों में मुख्य अन्तर यह है कि प्राकृत विज्ञान-वेत्ता एवं मानव-शास्त्री जहाँ भूगर्भशास्त्रीय पद्धतियों एवं उपादानों के अध्ययन के द्वारा वस्तुनिष्ठ भौतिक पदार्थों या स्थूल शारीरिक-पक्षों के विश्लेषण द्वारा सृष्टि एवं मानव-सभ्यता का विकास-क्रम निर्धारित करते हैं; वहाँ पौराणिक अवतारवादी अध्येताओं ने विभिन्न युगों के प्रतिनिधि-प्रतीकों के द्वारा शक्ति, बल, पराक्रम तथा भौतिक, जैविक, पाशविक, शारीरिक, सामूहिक और आत्मिक शक्तियों का अवतरण-क्रम निर्धारित किया है।

प्राकृतिक विज्ञान से ही प्राणी-विज्ञान तथा प्राणी-विज्ञान से मानव-विज्ञान एवं मानव-शास्त्र का विकास हुआ है। अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की तरह प्राणी या मानव-विकास के वैज्ञानिक अध्ययन का आधार वे प्रस्तरित अवशेष रहे हैं, जो प्राणियों और मनुष्यों से बदलकर पत्थरों के रूप में परिणत हो गए हैं। विभिन्न स्थानों में उपलब्ध इन प्रस्तरित अस्थि अवशेषों ने मानव-विकास के अध्ययन को एक नया मोड़ दिया है। इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान का आधार ये भू-गर्भीय प्रस्तरित अवशेष रहे हैं, जिन पर प्राकृतिक विज्ञान की समस्त परिकल्पनाएँ और निष्कर्ष आधृत हैं। विकासवादी अध्ययन में सहायक दूसरे उपकरणों में, विभिन्न स्थानों में मिली हुई वे हड्डियाँ और खोपड़ियाँ हैं, जिनके आकार-प्रकार और कठोरता इत्यादि के आधार पर मानव-विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है। प्रायः पशुओं, बन्दरों, लंगूरों, बनमानुषों और मनुष्यों के अंगों की विभिन्न हड्डियों और खोपड़ियों की तुलना के अनन्तर विकासवादी वैज्ञानिकों ने अनेक विकासवादी निष्कर्ष निकाले हैं। बाद में चल कर प्रातिनिधिक या विकास-शृंखला में आने वाले पशुओं की आदतों, कार्यों, तथा उनकी मानसिक बुद्धि, चिंतन, सूझ, चातुर्य, कल्पना आदि के अध्ययन द्वारा उनको मनुष्यों के अतीत कालीन वंशानुक्रम में प्रस्तुत किया गया है।[1]

इसी प्रकार मानव-सभ्यता के विकास का अध्ययन करने वाले मानव-शास्त्रियों ने मनुष्य की विभिन्न नस्लों या प्रजातियों तथा आदिम जातियों की प्रजनन पद्धति, शारीरिक विकास, वंशानुक्रम एवं रहन-सहन सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन कर मानव-सभ्यता के विकास-क्रम की कोटि निर्धारित की है। इन अध्येताओं ने मानव-निर्मित आयुधों, औजारों, सामाजिक संगठनों, रीतियों, रिवाजों, और विश्वासों का धर्म, कला, साहित्य, भाषा, विज्ञान इत्यादि सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन द्वारा विकासवादी परिणामों का निश्चय किया है।

---

१. 'डिसेंट आफ मैन'—में यही पद्धति अपनायी गई है।

प्राकृतिक विज्ञानवेत्ता और मानव शास्त्र के विद्वानों ने विकास-क्रम में आने वाले युगों का विभाजन भू-गर्भ-शास्त्रीय रीति से किया है, तथा जीवों से सम्बद्ध युगों में अस्तित्व रखने वाले पशुओं और पौधों के पुरातन रूपों का अध्ययन किया है। उनके इस अध्ययन की विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येक युग के वास्तविक प्रतिनिधि जीवों एवं पशुओं का चयन किया है। प्रायः ये पशु और उनके प्रस्तरित अस्थि-अवशेष, इन पशुओं के अस्तित्व-युग के वास्तविक वैशिष्ट्यों से युक्त होने के कारण, उनके विशिष्ट अस्तित्व-युगों के यथार्थ प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार ये प्राणी अपने युग की सारी विशेषताओं से समाहित हैं।

अवतारवादी प्रतीक सन्धि-युग के द्योतक

परन्तु अवतारवादी परम्परा के प्रतीक-जीव युग विशेष के प्रतिनिधि होने की अपेक्षा दो या दो से अधिक भूगर्भीय युगों के संधि-काल के प्रतिनिधि अधिक प्रतीत होते हैं। स्वयं मत्स्य का लघुरूप से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते, बृहद् रूप में उसका विकास या अंतिम 'एक शृंगतनु' के रूप में उसका बृहदाकार रूप दो भूगर्भीय युगों के संधि-काल का द्योतक प्रतीत होता है। इस बृहदाकार मत्स्य में मत्स्य-पूर्व और मत्स्य युग दोनों की विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसी प्रकार कूर्म भी मत्स्य युग और सरीसृप युग के बीच का प्रतिनिधि प्रतीत होता है, क्योंकि वह दोनों युगों के वैशिष्ट्यों से युक्त है। वराह में भी सरीसृप युग की अंतिम अवस्था के गुण—पेट का बड़ा होना, मुँह का लम्बा होना तथा 'मैमिलियन' युग के पाँवों से दौड़ना और दुग्धपान कराना—आदि गुण 'रेपटिलियन' - और 'मैमिलियन' युगों के संधिकाल के द्योतक प्रतीत होते हैं। नृसिंह में एक ओर 'मैमिलियन' पशु युग के पाशविक पराक्रम का परिचय मिलता है। और दूसरी ओर शरीर का आकार छोटा होते हुए भी उसमें शारीरिक पराक्रम का तत्कालीन पशुओं के समान आधिक्य और मानव के सदृश मानसिक चातुर्य दोनों दीख पड़ते हैं। आकार-प्रकार से भी वह अर्द्ध-पशु और अर्द्ध-मानव है।

इस दृष्टि से वह 'मैमिलियन' युग और 'ऐन्थ्रोपोआयड' युग के संधि काल का प्रतीक प्राणी माना जा सकता है। लघु मानव 'वामन' उस युग का प्रतीक विदित होता है जिस युग में प्राणियों का मनुष्यवत् से मनुष्य की ओर विकास हो रहा था। उस समय मनुष्य आकार-प्रकार और बनावट की दृष्टि से तत्कालीन वनमानुष या उसी के समकक्ष किसी मानव सम 'ऐन्थ्रोपोआएड' प्राणी के आकार का होगा। किन्तु उस लघु मानव 'वामन' में

पराक्रम, सूझ, चातुर्य आदि के रूप में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक बल का प्राबल्य लक्षित होता है। अतः वामन 'प्राति-नूतन-युग (Pleistocene Period) के अंत में आने वाले 'क्रो-मैगनन' मानव के काल में अकस्मात् आविर्भूत होने वाले मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार वामन को मानवसम (एन्थ्रोपोआएड) युग से लेकर मेधावी मानव (होमो-सेपियन्स) युग के संधि-काल का प्रतीक लघु-मानव माना जा सकता है।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञानवेत्ता 'पूर्व-पाषाण-युग और 'नव-पाषाण-युग' के बीच में एक 'संधि-पाषाण-युग' (Mesolithic Period) मानते हैं।[१] इस युग तक मानव शिकारी-अवस्था के पश्चात् पशु-पालन एवं आंशिक कृषि अवस्था तक पहुँच चुका था। अवतार-क्रम में आने वाले वामन के बाद परशुराम इसी संधि युग के अवतार-प्रतीक कहे जा सकते हैं। धनुष-बाण और फरसा शिकारी मानव के उपकरण थे। उस काल में गाधि को ऋचीक द्वारा दिये गये एक सहस्र विशेष कोटि के अश्व[२] तथा कामधेनु को लेकर परशुराम का संघर्ष[३] दोनों पशु पालन युग की अवस्था द्योतित करते हैं। परशुराम और सहस्रबाहु का युद्ध उस युग की सभ्यता में चलने वाले व्यक्तिगत वन्य पराक्रम (Savage force) और सहस्रबाहु के रूप में संगठित कुल पराक्रम (Clan force) के परस्पर संघर्ष का सूचक है। इसी कुल पराक्रम का प्रसार राम के युग में संगठित जन जातियों के पराक्रम (Tribal force) के रूप में परिणत हो जाता है। राम के युग में जन जाति पराक्रम (Tribal force) उन्नत वर्ग[४] (Forward classes) और निम्नवर्ग (Backward classes) दो प्रकार का मिलता है; जिनमें परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इस युग में दोनों शक्तियों के समन्वय से आदर्श राजतंत्रीय राज्य की स्थापना हुई थी। अतः राम पशुपालन-युग और कृषि-प्रधान राजतंत्रीय समाज युग की संधि-अवस्था के प्रतीक कहे जा सकते हैं। राम का काल आर्य और द्रविड़ की संधि का भी काल माना जा सकता है। कृष्ण के युग तक राजतंत्र का बहुत विकास एवं प्रसार हो चुका था तथा जनतंत्र का प्रारम्भ हो गया था। इनका अवतरण अनेक राज्यों के स्वार्थ-परक संघर्षों एवं गृहयुद्धों के संधिकाल में होता है। पशुपालन, कृषि, उद्योग,

---

१. मानव शास्त्र पृ. १०० ।

२. भा. ९, १५, ६.

३. भा. ९, १५, २५-२६.

४. मानवशास्त्र-पृ. २१७. इस प्रकार का विभाजन मानवशास्त्रियों ने किया है।

वाणिज्य तथा राजनीतिक कूटनीतिज्ञता सभी इस युग में अत्यधिक विस्तार पाते हैं।

इनके विस्तार के साथ ही परस्पर स्वार्थों में भी वृद्धि हो जाने के कारण स्वार्थयुद्ध और गृहयुद्ध के साथ इस युग की संस्कृति का पतन होता है। इस प्रकार कृष्ण राजतंत्रीय युग और बहुराजतंत्रीय स्वार्थी गृहयुद्ध के बीच स्थापित गणतंत्र युग संधिकाल के प्रतीक विदित होते हैं। राजतंत्रीय स्वार्थ और उस युग में बढ़ी हुई भौतिक, उपभोग्य सामग्रियों के प्रसार ने तत्कालीन मानव जीवन की सांसारिक लिप्सा को अपनी सीमा पर पहुँचा दिया था। इस 'सम्पृक्त विन्दु' (Saturation Point) पर पहुँच कर नृशंस और भोगासक्त मानव की प्रवृत्ति अहिंसा और अनासक्ति की ओर हो चली थी। दुर्योधन, अर्जुन और कृष्ण उस युग की स्वार्थपरता, संघर्ष और स्वेच्छाचारिता के प्रतीक हैं। अतः हिंसा और अहिंसा तथा भोगासक्ति और अनासक्ति के इस संधि काल के प्रतीक बुद्ध कहे जा सकते हैं। विश्व के इतिहास में बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूसियस, ईसा, जरथुस्त्र इत्यादि इस युग के परिचायक हैं। सभी में अहिंसा और अनासक्ति का किसी न किसी रूप में प्राधान्य है। सारे विश्व में ही जातीय नृशंस संघर्षों के बाद इस युग की अवतारणा उपर्युक्त महापुरुषों के द्वारा होती है। अतः बुद्ध हिंसा और अहिंसा के संधि-काल के द्योतक विदित होते हैं। मनुष्य का इतिहास यहीं तक आबद्ध नहीं रहता अपितु वर्त्तमान और भविष्य भी उसकी सीमा में आबद्ध हैं। समाज की समष्टिगत मनोवृत्तियों में अहिंसा और अनासक्ति को सदा के लिए बैठाना अत्यन्त कठिन है। अतः वर्त्तमान युग में नैतिक आचरण के प्रति उपेक्षाभाव और भौतिक या ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक एवं सांस्कृतिक प्रयत्न इस युग की विशेषता है। इस युग की कामनाओं में स्वार्थपूर्तिजनित संघर्षों के बीज छिपे हुए हैं जिनकी परिणति विभिन्न आणविक युद्धों में हो रही है। आणविक युद्ध की भयंकरता इस सीमा तक बढ़ गई है कि उससे समस्त मानव-जाति का संहार होने में कोई संदेह नहीं रह गया है। सम्भव है युद्ध की समाप्ति के बाद नयी मानव-चेतना का उदय हो जिस पर भावी मानव-जाति की सभ्यता आधृत होगी। कल्कि में दोनों युगों की सम्भावनाएँ समाहित हैं इसलिए वह वर्त्तमान और भविष्य के संधि-काल का प्रतीक माना जा सकता है। इस प्रकार दसों अवतार-प्रतीक केवल अपने युग-विशेष का ही परिचय नहीं देते अपितु इनका आविर्भाव सारी विशेषताओं से युक्त युग की उस चरमावस्था में होता है जब कि इनमें परिवर्तन की अपेक्षा रहती है। अवतरित शक्तियाँ इसी

परिवर्तन काल में उपस्थित होती हैं जिनके फलस्वरूप भौतिक या मानसिक परिवर्तन होते हैं तथा संस्कृति एवं सभ्यता में अनेक नूतन प्रवृत्तियों से सन्निविष्ट एक नयी चेतना का उदय होता है। अवतरित शक्तियाँ कुछ काल तक नयी चेतना में योग देकर लुप्त हो जाती हैं। इस तरह अवतार युगपरिवर्तन की स्थिति के द्योतक हैं।

मानवशास्त्रीय और अवतारवादी काल-विभाजन

प्राकृतिक-विज्ञान या मानव-शास्त्र, प्रायः इन दोनों में जहाँ तक काल विभाजन का प्रश्न है, दोनों ने भूगर्भ-शास्त्रीय विभाजन को अपनाया है। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि पृथ्वी की उत्पत्ति और उस पर उत्पन्न होने वाले प्राचीन प्राणियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष जगत् की अपेक्षा भू-गर्भीय तत्त्वों से अधिक रहा है। विभिन्न प्राणियों एवं वनस्पतियों के अध्ययन की जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसमें विभिन्न भूगर्भीय युगों की चट्टानों में अवस्थित 'प्रस्तरित अस्थि-अवशेषों' का विशिष्ट योग है। प्रस्तरित अस्थि-अवशेषों वाले प्राणियों का काल-निर्धारण उन चट्टानों पर निर्भर करता है, जो भूगर्भीय युगों में आकार धारण करते रहे हैं। इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान और मानव-शास्त्र की अधीत सामग्री का सापेक्ष सम्बन्ध भूगर्भीय पदार्थों से है, इनके द्वारा भूगर्भीय युग-विभाजन का अपनाया जाना युक्तिसंगत है। किन्तु अवतारवादी सामग्री का सम्बन्ध भूगर्भीय तत्त्वों से न होकर उन मनोवैज्ञानिक पुराण-प्रतीकों से है, जिनका विकास जन-मन के अचेतन मानस में होता रहा है। वह प्राचीन मानव की निजी भावना और तर्क पर आधारित परिकल्पनाओं (हिपोथिसिस) पर खड़ा है। पौराणिक मानव पुराण-प्रतीकों के द्वारा पौराणिक सृष्टि शास्त्र की रचना करता रहता रहा है।

पौराणिक सृष्टि का वैशिष्ट्य

पौराणिक सृष्टि-क्रम की विशेषता यह रही है कि पौराणिकों ने सृष्टि-क्रम पर विचार करते समय ज्ञान (दर्शन), मनोविज्ञान और विज्ञान (प्राकृतिक विज्ञान) इन सभी के समन्वित रूपों को ग्रहण किया है। पुराणों की परम्परा में सृष्टि क्रम की चर्चा करने वाले महाभारत में आध्यात्मिक, भौतिक, जैविक, वानस्पतिक और मानसिक लगभग पाँच प्रकार के सृष्टि-क्रम के उदाहरण मिलते हैं। विष्णु से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति आध्यात्मिक प्रतीत होती है। सृष्टि-क्रम में उत्पन्न होने वाले, कश्यप-अदिति तथा उनकी परम्परा में उत्पन्न-सोम (चन्द्र), अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास इत्यादि भौतिक सृष्टि के

उदाहरण माने जा सकते हैं।[1] पुलह से उत्पन्न शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ, ईहामृग इत्यादि पशु एवं पशु-मानव जैविक सृष्टि के प्रतीक हैं।[2] बरगद, पीपल, जैसे वृक्ष वानस्पतिक सृष्टि के सूचक हैं। किन्तु कीर्ति, मेधा, श्रद्धा, बुद्धि, लज्जा, मति (महा० १, ६६, १५–१५), शान्त (१, ६६, २३) और शम, काम और हर्ष (महा० १, ६६, ३२) इत्यादि मानसिक सृष्टि के प्रतीक ज्ञात होते हैं। पुराणों की परिपुष्ट परम्परा में गृहीत होने वाले श्रीमद्भागवत में भी उपर्युक्त सारी विशेषताएँ लक्षित होती हैं। भागवत के अनुसार सृष्टि से पूर्व सर्वत्र जल था। सभी प्राणियों का सूक्ष्म-शरीर लिए हुए विष्णु जल में निवास कर रहे थे। काल शक्ति उन्हें जगाती है और व्यक्त करती है (भा० ३, ९, १०)। विषयों का रूपान्तर होना ही काल है। (भा. ३, १०, ११)। इसी क्रम में सर्वप्रथम अण्ड-स्वरूप-हिरण्यमय विराट् पुरुष का आविर्भाव होता है (भा. ३, ६, ८)। जो एक सहस्र दिव्य वर्षों तक सम्पूर्ण जीवों को एक साथ लेकर रहा (भा. ३, ६, ६)। यहाँ विष्णु यदि विभुत्व का प्रतीक है तो हिरण्य गर्भ उस अणुत्व का द्योतक विदित होता है जिसमें एक कोशीय (uni cellar) प्राणी से अनन्त कोशीय प्रणियों में विकसित होने वाले वंशाणुओं के कीटाणु कोश (Jerm-cell) और तनु-कोश (Somatic-cell) की अभिवृद्धि की सारी सम्भावनाएँ सन्निविष्ट हैं। यहाँ अण्ड स्वरूप हिरण्यमय पुरुष का विकास क्रमशः मुख, जीभ, तालु, नथुना, आँख, त्वचा, कर्ण, चर्म और रोम के रूप में तनु-कोष (Somatic cells) के विकास का द्योतक प्रतीत होता है जिसमें क्रमशः लिंग, वीर्य, गुदा, हाथ, चरण आदि भी उत्पन्न हुए।[3] उसी हिरण्यगर्भ में मानसिक उत्पत्ति-क्रम की चर्चा करते हुए कहा गया है कि पुनः उसमें बुद्धि, हृद्य (भाव-अनुभव), अहंकार, चित्त इत्यादि क्रमशः उत्पन्न हुए। महाभारत की तरह श्रीमद्भागवत में भी सृष्टि-प्रक्रिया को प्राकृत-वैकृत भेद से १० भागों में विभक्त किया गया है। इनमें १—महत्तत्व, २—अहंकार, ३—भूत सर्ग, ४—इन्द्रियाँ, ५—इन्द्रियाधिष्ठाता या इन्द्रिय देव शक्तियाँ ये आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रतीत होते हैं।[4] पुनः ६—अविद्या, तमिस्र, अन्ध तमिस्र, तम, मोह, महामोह (पाँच गाँठें—ये जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करने वाली हैं) आदि मानसिक या मनोवैज्ञानिक विदित होते हैं।[5] उपर्युक्त प्रकार की सृष्टि-प्रक्रियाओं को प्रकृत सृष्टि बताया

---

१. महा. १, ६६, १७–१८ २. महा. १, ६६, ८.
३. भा. ३, ६, १८। ३, ६, २२—२३ ४. भा. ३, १०, १४–१६
५. भा. ३, १०, १७

है। इसके अतिरिक्त वैकृत सृष्टि-क्रम में ७—स्थावर वृक्ष, वनस्पति, ओषधि, लता; ८—लगभग २८ प्रकार के पशु-पक्षी और नौवीं सृष्टि में मनुष्य इत्यादि माने गये हैं।[1] इस सृष्टि-क्रम को जैविक सृष्टि-क्रम में ग्रहण किया जा सकता है। दसवीं सृष्टि में कौमार सर्ग की प्राकृत-वैकृत आठ सृष्टियाँ बतलाई गयी हैं, जिनके नाम क्रमशः—देवता, पितर, असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, सिद्ध, चारण, विद्याधर, भूत, प्रेत, पिशाच, किन्नर (हयमुख), किम्पुरुष (तुच्छ-मानव) हैं।[2] इस सृष्टि-प्रक्रिया की विशेषता यह है कि इसमें अवतरण-क्रम या युगानुक्रम स्पष्ट नहीं हैं, केवल उनके भेद और उपभेद मात्र ही लक्षित होते हैं। किन्तु इनमें से पशुओं और पौधों की उत्पत्ति के अनन्तर अश्वमुख 'किन्नर', तथा विकृष्ट-मानव 'किम्पुरुष' ये क्रमशः 'एन्थ्रोपोआएड' और 'ह्यूमनोआयड' युग की याद दिलाते हैं। इन्हें मानव के आदिम विकासोन्मुख रूपों का प्रतीक माना जा सकता है। पशुओं की तुलना में मनुष्य की पहली विशेषता रही है—शब्दों एवं भाषाओं की अभिव्यक्ति। इस दृष्टि से 'किन्नर' और 'किम्पुरुष' का उच्चारण-सम्बन्धी गानों या अभिव्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जिनकी चर्चा पौराणिक कथाओं में हुई है।[3] इन सभी प्रतीकात्मक तत्त्वों के होते हुए भी इनमें सृष्टि-विकास का कोई युगानुक्रम नहीं लक्षित होता। किन्तु अवतारवादी पुराण-प्रतीकों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे सृष्टि-प्रक्रिया एवं उसके विकास में युगानुक्रम या युग विशेष की प्रतीकात्मक प्रवृत्ति का समुचित द्योतन करते हैं।

अवतारवाद की दृष्टि से सृष्टि-युगों का सम्बन्ध स्थापित करने के जितने प्रयास हुए हैं, उनमें थियोसोफिस्ट विदुषी एनीबेसेंट का नाम उल्लेख योग्य है। एनीबेसेंट ने 'अवतार' नाम की पुस्तक में निम्न प्रकार से युग-विभाजन किया है :—

१—मत्स्य युग—सिलूरियन एज (Silurian Age)
२—कूर्म युग—ऐम्फीबियन एज (Amphibian Age)
३—वराह युग—मैमेलियन एज (Mammalian Age)
४—नृसिंह युग—लेमुरियन एज (Lemurian Age)

इसी प्रकार उन्होंने वामन आदि मानव-अवतारों को भी विभिन्न विकास-युगों के परिचायक रूपों में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[4] इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध

---

१. भा. ३, १०, २१८—२२   २. भा. ३, १०, २६

३. पुराणों में प्रायः प्रशस्तिगायक के रूप में इनके प्रसंग आए हैं, जिनकी भाषाजनित पुराण-प्रतीकों की क्रिया में गणना की जा सकती है।

४. 'अवतार' द्रष्टव्य।

जीवशास्त्री श्री मानी ने भी भारतीय पुराणों में प्रचलित अवतारवादी विकास-क्रम का संक्षेप में उल्लेख किया है; तथा प्रत्येक अवतार को एक युग विशेष के द्योतक-रूप में माना है।[1] इनके मतानुसार कूर्म सरीसृप (Reptile) युग का, वामन—'पिगमी एन्थ्रोपोआयड' (Pigmy anthropoids) का तथा परशुराम—'प्रिमिटिव्ह मैन' या 'हंटर' (Primitive man or hunter) का, राम—धनुषधारी या 'मार्क्ड मैन' (Marked man ite) का तथा कृष्ण और बुद्ध परिष्कृत-मानव के सूचक हैं। पुनः मानवशास्त्री श्री सत्यव्रत ने 'मानव-शास्त्र' नाम की पुस्तक में अवतारवादी विकास-क्रम प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार मत्स्य—प्रथम जलजीव का, कूर्म—जल-स्थल दोनों स्थानों में रहने वाले जीवों का, वराह—जलप्रिय पशु का, नृसिंह—पशु-मानव रूप का, वामन—संक्षिप्त मानव का तथा राम और कृष्ण पूर्ण मानव के प्रतीक हैं।[2] इस प्रकार इन तीनों विभाजनों में अवतारवादी विकास-क्रम दिखाने का प्रयास लक्षित होता है। परन्तु इनमें एनीबेसेंट ने प्राणि-वैज्ञानिकों द्वारा अपनाए गए विभाजनों के द्वारा कहीं-कहीं तुलनात्मक रूपों की भी चर्चा की है, यद्यपि उनका समुचित तुलनात्मक विस्तार नहीं हो सका है। श्री मानी और सत्यव्रत ने अपने विज्ञानों से सम्बद्ध विकास-क्रम के विवेचन में अवतारवादी विकास-वाद की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की है। वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तियुक्त विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति इनमें भी लक्षित नहीं होती। इसका कारण यह हो सकता है कि इसके विवेचन की पद्धति का सम्बन्ध उनके शास्त्रों से नहीं हो। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में पुराण-प्रतीकों या अन्य प्रतीकों का व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन बहुत दूर तक आगे बढ़ चुका है। यों उसका व्याख्यात्मक सम्बन्ध किसी न किसी शास्त्र या विज्ञान से हो जाता है। अतः अवतारवादी पुराण-प्रतीकों का भूगर्भीय युग-विभाजन की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन अधिक युक्तिसंगत विदित होता है। दोनों का तुलनात्मक रूप निम्नलिखित क्रम से उपस्थित किया जा सकता है:—

Psycho-geological period—पुरा-प्रतीक—युग-क्रम।

Being—विष्णु—अस्तित्व।

Becoming—प्रजापति—आदि स्रष्टा युग।

Azoic Period—अदिति-कश्यप—अजीव युग।

Psychozoic Period—मनु—मनोजीव युग।

Archeozoic P.—लघु मत्स्य—अतिसुपुरा जीव युग। (प्रथम जल-जीव युग)

---

१. इन्ट्रो. टु जूलोजी पृ. ७०९.   २. मानव शास्त्र पृ. ४८.

Proterozoic P. —मत्स्य—सुपुरा जीव युग। (जल जीव युग)
Paleozoic P. — महामत्स्य—पुरा जीव युग। (बृहत् जल-जीव युग के बाद सरीसृप युग का आरम्भ)
Mesozoic P. —कूर्म—मध्य जीव युग। सरीसृप—नाग (पशु)
सरीसृप—गरुड़ (पक्षी)
Cemozoic P. —वराह—नवजीव युग। अश्व, गो—स्तन्धय।

नवजीव युग

१. Eocene P. प्राति नूतन युग	अश्व-गो—स्तन्धय
नृसिंह	लंगूर—Anthropoid
२. Oligocene P. आदि नूतन युग	किन्नर—(अश्व मुख+मनुष्यवत् शरीर
३. Miocene P. मध्य नूतन युग	(Pithecan Thropus
४. Pliocene P. अति नूतन युग	erectus)
५. Pleistocene P. प्राति नूतन	नृसिंह—Anthropomorphus
or या	वानर हरि—(विकल्पेन नरः)
glacial Period हिम युग	humanoid forms
६. Holocene or recent P.	किम्पुरुष, यक्ष—प्राचीन मानव
सर्व नूतन युग	Primitive Man

७—Holocene p. सर्वनूतन युग[१]— वामन-मेधावीमानव Homoso-piens

वामन या मेधावी मानव युग	अति प्राचीन—बालखिल्य प्राचीन—सनत्कुमार परवर्ती प्राचीन—वामन

इनके पश्चात् क्रम आता है मानव-सभ्यता के विकास का। अतः शेष अवतारों का सम्बन्ध मानव-सभ्यता के विकास से जान पड़ता है; जिसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. मानव शास्त्र—पृ. ३६-४१, ऑर्गैनिक इव्हो० पृ. ६८-६९ में भूगर्भशास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से विभाजन किया गया है। इव्होल्युशन ऑफ दी व्हर्टिब्रेट्स में विभिन्न कोटि के युगों के जीव और उनके युगों का निर्धारण पृ. १०, ११, ६१, ८२, १४३, १४४, १५९, २११, ३६४ में किया गया है।

मानव-सभ्यता-युग

। युग—भ्रमणशील या फिरन्दर मानव तथा पशुपालक मानव।

—पशुपालक, कृषक मानव, राजतंत्रीय।

पशुपालक, कृषक, औद्योगिक, प्रजातंत्रीय, संगठित प्रजातंत्रीय, चिंतक।

शुपालक, कृषक, औद्योगिक, व्यापारिक; प्रजातंत्रीय, अहिंसक।

-भावी मानव एवं उसकी सभ्यता का प्रतीक।

ष्टि का विकास क्रम मनो-भौतिक (Psyoho-physical) ढंग या गया है। क्योंकि उपर्युक्त क्रम में मानसिक और भौतिक ा भी अन्तर्भाव हुआ है।

ू-भौतिकी दृष्टि से भू-गर्भीय विकास-क्रम का वैज्ञानिक महत्त्व है। किन्तु मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम की दृष्टि से पुराण-धार पर किया गया मनो-भौतिक या मानसिक-भौतिक विकास-पयुक्त प्रतीत होता है। सृष्टि-क्रम को अधिक श्रृंखलाबद्ध करने के ादी पुराण-प्रतीकों के साथ पौराणिक सृष्टि-परम्परा के प्रतीकों त किया गया है।

का आरम्भ होता है, सनातन सत्ता या चरम अस्तित्व के से जो देश और काल से परे स्वतंत्र अस्तित्व का द्योतक है। ा को किसी युग से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता।

विकास-क्रम के दूसरे प्रतीक रहे हैं जो सृष्टि-रचना या म उपक्रम के द्योतक हैं। इनका 'हिरण्यगर्भ' नाम सृष्टि-कासक प्रथम 'न्यष्टि' 'न्युक्लियस' का सूचक प्रतीत होता है।[1] ातन अस्तित्व में सृष्टि की एक विशेष प्रक्रिया के प्रारम्भ में आता है।

ौर कश्यप—सृष्टि-क्रम में तीसरा स्थान अदिति और कश्यप का क भू-गर्भीय-युग का आरम्भ इन्हीं के काल से जान पड़ता है।

जीव सत्ता का इति और आदि दोनों कारण है।

वैदिक-साहित्य में अदिति विस्तृत और चौड़े स्थानों वाली तथा आकाश और पृथ्वी की देवी हैं।[1]

इनमें अजीव युग के तत्त्व लक्षित होते हैं। कश्यप, प्रजापति के उन तत्त्वों से युक्त हैं, जिनमें सृष्टि-उत्पत्ति के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं।

मनु

जीव या चेतना में मनो-चेतना (Psycho-consciousness) या ('Psycho force')–मनोशक्ति का आभास मिलता है। मनोचेतना को शरीर और चेतना से युक्त जीव का आदि कारण माना जा सकता है। भूतों में विद्यमान मनोचेतना ही जीवोत्पत्ति की क्षमता रखती है। मनु इस परिकल्पना के मूलाधार जान पड़ते हैं। 'मनु' शब्द एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि एक वंशानुगत क्रम का भी वाचक है।[2] किन्तु विवस्वान (सूर्य) से लेकर मनु[3] तक आने वाला यह आनुवंशिक क्रम मनःप्रकृति (Psycho nature) का क्रम विदित होता है। परन्तु यह मनःप्रकृति (Psycho nature) जीव की उत्पत्ति रूप में कारण-कार्य भाव से सम्बद्ध है, जीव के आनुवंशिक क्रम से नहीं। इस प्रकार जीव के विकास एवं विस्तार में इसका विशेष योग रहता है। जीव का विकास होने पर अपने बृहत् एवं समर्थ रूप में पुनः जीव स्वयं मनःप्रकृति का धारक और रक्षक हो जाता है।

लघु मत्स्य

सृष्टि-विकास के मूल में जो प्रथम जीवसत्ता उत्पन्न हुई थी, वह जलीय प्ररस (Protoplasmic) सत्ता थी। 'न्यष्टि' या 'न्युक्लियस' के साथ मिलकर प्रथम 'जीव-कोशा' के रूप में प्रादुर्भूत हुई। सम्भवतः प्रथम 'जीव-कोशा' का ज्ञापक यह आदि 'लघु-मत्स्य' पुराण-प्रतीक अवतरित 'लघु मत्स्य' का समानार्थी कहा जा सकता है।[4] 'लघु मत्स्य' एक ऐसा प्रतीक है जिसमें एक-कोशीय 'अमीबा' या 'कामरूपी' के सभी गुण लक्षित होते हैं। 'अमीबा' एक-

---

१. वैदिक माइ. पृ. २२९।

२. वैदिक माइ. पृ. २६५। ३. वैदिक माइ. पृ. २६४–२६५।

४. प्राणि वैज्ञानिक 'जेली मछली' के समान मत्स्य से अनेक मत्स्यवत् जीवों का विकास मानते हैं। यों गर्भावस्था में शिशु का प्रारम्भिक रूप मत्स्य गर्भस्थ शिशु से बहुत मिलता-जुलता है। 'ऑर्गैनिक इव्होल्युशन' पृ. २८९ में श्रीलल ने दोनों का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया है। जीवसत्ता का अध्ययन प्रायः चुनी हुई जीव-जातियों के द्वारा होता रहा है। पुराण-प्रतीक-शैली में भी चुने हुए जीव-प्रतीकों की परम्परा विदित होती है।

कोशीय एक ऐसा प्राणी है जो अपनी कामना के अनुसार सतत आकार परिवर्तन करने के कारण 'कामरूपी' कहलाता है।[1] भारतीय पुराणों में इच्छानुरूप रूप धारण करने वाले कामदेव से भी मत्स्य का प्रतीकात्मक सम्बन्ध कहा है। अतएव अनुमानतः 'लघु मत्स्य' को आदि जीव या उद्भिज् दोनों का प्रतीक माना जा सकता है। मत्स्यावतार की कथा, जो 'ब्राह्मणों' में मिलती है, उसमें प्रलयावस्था सृष्टि के 'जलयुग' का द्योतक है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार एक ऐसे मत्स्य की कथा मिलती है जो उत्तरोत्तर वर्द्धनशील है। मनु उस लघु मत्स्य को जलपात्र में रखते हैं, उसका आकार बढ़ जाने पर तालाब में डाल देते हैं, पुनः तालाब से नदी में और बाद में चलकर समुद्र में उसे डाल देते हैं। इस कथा में मत्स्य का आकार-परिवर्तन दिक्काल-सापेक्ष है। मत्स्य का स्थानान्तर एवं परिवर्तन एक ओर तो जल-जीवों के युग सापेक्ष वैशिष्ट्योद्भव का परिचायक जान पड़ता है जिसमें मनु जैसे मनःशक्ति (Psycho-force) का विशेष योग रहा है।

मत्स्य

मनःशक्ति (Psycho force) की प्रेरणा से लघु मत्स्य, मत्स्य रूप में आता है। मत्स्य से लेकर बृहत् मत्स्य तक की क्रिया में जीव-विकास के परिपोषण या एक कोश से बहुकोशीय होने की प्रक्रिया तथा स्थानगत और कालगत परिवर्तन या नम्युद्भव (म्युटेशन) का भान होता है। इसी काल में वह रीढ़दार प्राणी के आकार में परिवर्तित हो जाता है।

बृहत् मत्स्य

समुद्र में आकर बृहत् रूप में मत्स्य के पराक्रम का सक्रिय रूप लक्षित होता है। वह अब एक 'संगतनु' के रूप में मनु—(Psycho-force) शक्ति का रक्षक है, साथ ही अखिल सृष्टि के बीज और औषधियों की भी वह रक्षा करता है। इस रूप में बृहत् मत्स्य 'सरीसृप-युग' के प्रारम्भिक पशुओं का भी द्योतक है, क्योंकि सरीसृप-युग के सरीसृप जीव बहुत भयंकर और विशाल आकार वाले माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनका विकास जल ही में हुआ और बाद में इनका सम्बन्ध जल और स्थल दोनों से हो गया। इस प्रकार जल-जीव युग के अन्त तक की सृष्टि-कथा का प्रतीकात्मक अन्तर्भाव मत्स्यावतार की कथा में हो जाता है। इसके अतिरिक्त मनु-मत्स्य-कथा में मनःशक्ति (प्रेरक शक्ति) और बीज शक्ति के सुरक्षात्मक अस्तित्व का भी

---

१. मा. प्राणिकी पृ. ३७।

पता चलता है, कालान्तर में जिनके फलस्वरूप सहस्रों प्राणियों और पौधों का विकास हुआ।

कूर्म

सहस्रों युगों के पश्चात् समुद्र में मिट्टी का स्तर ऊपर उठने लगा और पानी धीरे-धीरे बह कर समुद्र में जाने लगा। परिणामतः जलीय जीवों के रहने के दो स्थान हो गए। जलीय या स्थलीय सभी जीवों में अपने को अवस्थानुकूलित करने की प्रवृत्ति होती है। अनेक जलीय जीवों ने अपने को जल और पृथ्वी दोनों के अनुकूल बना लिया। इन जीवों को सरीसृप प्रकार या 'Reptile Type' कहा जा सकता है।[1] कूर्मावतार का कूर्म इस युग का प्रातिनिधिक पुराण-प्रतीक माना जा सकता है। 'जाति-चयन' की दृष्टि से भी इसमें अपने युग का वैशिष्ट्य विद्यमान है। किन्तु जल और स्थल दोनों में रहने के कारण इन्हें 'amphibious' या उभय प्राणी माना जाता है, जिससे दो प्रकार के सरीसृप जीवों का विकास हुआ। एक प्रकार के सरीसृप जल या पृथ्वी में रहने वाले जीव हुए जिन्हें महाभारत और पुराणों की परम्परा में 'नाग' या 'सर्प' पुराण-प्रतीक से अभिहित किया जाता रहा है। दूसरे प्रकार के सरीसृप वे हुए जो पंख-युक्त होने के कारण पक्षी हो गए, जिन्हें पुराणों की सृष्टि-परम्परा में 'गरुड़' कहा गया है।[2]

समुद्र-मन्थन एक प्रतीकात्मक साङ्गरूपक

कूर्म का जिस समुद्र-मन्थन की कथा से सम्बन्ध है वह एक प्रकार से सृष्टि-विकास की ही प्रतीकात्मक कथा है। क्योंकि, यदि समुद्र से केवल रत्नों के निकलने का भी निष्कर्ष लिया जाय तो यह क्रिया समुद्र से विभिन्न

---

१. इव्हो० ऑफ दी व्हर्टिब्रेट्स पृ. २१६–२१८ में कूर्म का उदय काल 'Triassic period' माना जाता है।
पौराणिक कूर्म को प्राचीन 'Stegosaurs' तथा 'Ankylosaurus" प्राणियों तक के तद्वत् जीवों का प्रतीक समझा जा सकता है। (दी. इव्हो व्हर्टिब्रेट्स पृ. १९७–१९८)

२. महा. १, १३–२५ में कश्यप (कूर्म) की दो पत्नियाँ विनता और कद्रू से क्रमशः गरुड़ और नाग उत्पन्न हुए। इनमें 'नाग' तो सरीसृप प्राणियों के प्रतीक हैं ही 'गरुड़' भी सरीसृप प्राणियों से विकसित उड़नशील सरीसृप हैं। लगभग 'Jurassic period' 'ज्युरेसिक' युग में इनकी उड़ने की क्षमता का विकास हुआ था। (दी. इव्हो. व्हर्टिब्रेट्स पृ. १७०) पौराणिक गरुड़ को प्राचीन पक्षी 'Rhamphorhynobus' के समानान्तर प्रतीक मान सकते हैं। (दी. इव्हो. व्हर्टिब्रेट्स पृ० १७२)

जीवों के आविर्भाव प्राकट्य की ओर ही संकेत करती है, चौदह रत्न जिनका प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। चौदह रत्नों में भौतिक, आधिभौतिक, स्थावर, जंगम, पशु और मानव, रत्न, द्रव्य और औषधि सभी प्रकार के पदार्थ हैं। इनको निकालने वाली दो शक्तियाँ दैवी और आसुरी हैं। देव और असुर पुराण-प्रतीकों का पुराणों में सर्वाधिक प्रचार है। स्वयं देव और असुर-आधिभौतिक, भौतिक, जैविक, वानस्पतिक सभी प्रकार के प्रतीकों में गृहीत होते रहे हैं। परन्तु जहाँ संघर्ष का प्रसंग उपस्थित होता है वहाँ ये प्रायः दिव्य और भयानक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का द्योतन करते हैं। 'जीव विज्ञान' की दृष्टि से प्राणी-देव और प्राणी-दानवों का विश्लेषण करने पर ऐसा लगता है कि देवता 'गर्म रक्त' वाले वायु-मंडल के प्राणी थे और उनके विपरीत सूर्य की किरण-रूपी चक्रसुदर्शन तथा बादलों से निकलने वाली वज्र-विद्युत-ज्वाला से आतंकित रहने वाले दैत्य 'शीतल रक्त' वाले प्राणी थे। इनका स्वरूप भयंकर था और वायु-मंडल के प्राणी इनकी अपेक्षा सुन्दर थे। देवताओं से पीड़ित होकर महादैत्यों का भूमि के भीतर और जल के भीतर भागने का उल्लेख प्रायः 'महाभारत' और प्राचीन पुराणों में मिलता है। समुद्र असुरों को भाई-बन्धु की तरह शरण देनेवाला कहा गया है।[१] इस प्रकार वह असुरों का सबसे बड़ा आश्रय है।[२] इससे लगता है कि असुरों का निवास-सम्बन्ध या अन्य सम्बन्ध समुद्र से रहा है।

आधुनिक विकासवाद की दृष्टि से कश्यप या कूर्म से उद्भूत, रेंगनेवाले सरीसृप 'नाग' और उड़नेवाले सरीसृप 'गरुड़' दोनों अपने प्रजाति विशेष के प्रतीक कहे जा सकते हैं। गरुड़ और नागों का संघर्ष[3] तथा गज और ग्राह जैसे संघर्ष, प्राचीनकाल में प्रचुर मात्रा में चलने वाले 'Struggle for existence' या 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' के द्योतक हैं। कूर्म युग में यह संघर्ष प्रायः जल और जल के प्राणियों में, जल और स्थल के प्राणियों में, स्थल और वायुमंडल तथा वायुमंडल और वायुमंडल के प्राणियों में उसी युग में आरम्भ हो गया था। 'महाभारत' एवं पुराणों की प्रतीकात्मक कथाओं में इस प्रकार के गरुड़-नाग,[४] हस्ति-कच्छप,[५] आदि प्राणियों के संघर्ष की कथाएँ कही

१. महा. १, १९, ७।

२. महा. १, १९, १५ में समुद्र को 'असुराणां परायणम्' कहा गया है।

३. महा. १, २३, १३ में गरुड़ को नागों का विनाशक तथा दैत्यों और राक्षसों का शत्रु कहा गया है।

४. महा. १, २३, १३। ५. महा. १, २९, १४।

गयी हैं। विकासवाद की दृष्टि से उनका सम्बन्ध 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' का ही परिचायक प्रतीत होता है।

आधुनिक युग में यद्यपि नाग एक विशेष उरग-प्राणी वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु 'महाभारत' के प्रसंगों के अनुसार नागों में जलचर और थलचर तथा एक सिर वाले और अनेक सिर वाले दोनों प्राणी आते हैं। थलचर नाग जीव (महा. १, २५) सूर्य की कड़ी गर्मी से दग्ध हो जाते हैं और (महा. १. २६) वर्षा होने पर प्रसन्न हो जाते हैं। पुनः इनमें जीवनी शक्ति का संचार हो जाता है। इस प्रकार कूर्म भी उपर्युक्त नयी प्रजातियों के प्रादुर्भाव के रूप में अपने युग का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करता है।

पितृजीव कूर्म

'शतपथ ब्राह्मण' में कूर्म प्रजापति का अवतार है। उसे सभी प्रजातियों का पिता बताया गया है।[1] आधुनिक प्राणि-वैज्ञानिक भी एक 'Parent orgrnism' 'पितृजीव' से जीवों की उत्पत्ति मानते हैं।[2] श्री ए० इ० टयलर ने प्राणिवैज्ञानिक विकास और मनोवैज्ञानिक विकास का तुलनात्मक अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'प्राणि-विज्ञान में यह सम्भव है कि एक पितृजीव (Parent organism) से जीवों की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार प्राणि-विज्ञान के विकास का एक आनुवंशिक, क्रमबद्ध इतिहास है। इस सम्बन्ध को विभिन्न युगों के पूर्वज जीवों में खोजा जा सकता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर इसी धारणा को मनोविज्ञान में फिट नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि यदि मेरे पूर्वजों के मन का अस्तित्व नहीं होता तो मेरे मन का भी नहीं। कुछ अंशों में मन की विशिष्टताएँ वंशानुगत भी हैं। यदि हमारे पूर्वजों का व्यक्तित्व भिन्न है तो निश्चय ही हमारे व्यक्तित्व पर भी उस विशिष्टता का असर पड़ेगा। फिर भी जिन अंशों में पूर्वजों के अंगों (Organism) का सम्बन्ध क्रमबद्ध रहा है, निश्चय ही व्यक्तित्व का उस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहा।[3] फिर भी पौराणिक प्रतीकशैली की दृष्टि से देखने पर कूर्म 'पितृजीव' का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। यों 'शतपथ ब्राह्मण' के उपर्युक्त कथन के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि में अनेक प्राणियों की उत्पत्ति के निमित्त सर्वप्रथम

---

१. ऐ. वै. पृ. १२७, श. ब्रा. ७, ५, १, ५।

२. इव्होल्युशन इन दी लाइट आफ माडर्न नॉलेज पृ. ४६१।

३. इव्हो० इन दी लाइट ऑफ माडर्न नालेज पृ. ४६१।

कूर्म रूप धारण किया जिसमें जलीय भूमिगत और आकाशीय, तीनों प्रकार के जीवों की विशेषताएँ विद्यमान हैं।

मत्स्य के अनन्तर कूर्म में ही सर्वप्रथम चौपाए जानवरों से मिलते-जुलते पाँव, सिर, गर्दन आदि का विकास दीख पड़ता है। उसके पृष्ठ भाग की बनावट में आकाशीय प्राणियों के भी पृष्ठ-निर्माण का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। अतः कूर्म प्राणियों के विकास के उस युग का प्रतिनिधि-प्रतीक है, जब पृथक् अंगों और अवयवों वाले प्राणियों की उत्पत्ति का आविर्भाव हुआ और उन अंगों के स्वाभाविक संचालन का प्रारम्भ भी कूर्म से हुआ। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मत्स्य की अपेक्षा कूर्म में सुरक्षित प्रजनन की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक जान पड़ती है। शारीरिक उपकरणों से युक्त होने के अतिरिक्त कूर्म में अपनी रक्षा या अस्तित्व-रक्षा या किसी वस्तु के ग्रहण में चातुर्य, सतर्कता जैसी मनोगत प्रवृत्तियों और भावनाओं के भी दर्शन होते हैं।

वराह

सरीसृप जीव-युग के अनन्तर प्राणि-वैज्ञानिक 'स्तनन्धय' या 'मैमल्स' प्राणियों का युग मानते हैं।[1] इस युग में जल की मात्रा घटती गयी, भूखंड सूखता गया और विस्तृत होता गया। यहाँ रहने पर सूर्य की किरणें कुछ प्रियकर प्रतीत होने लगीं। सूर्य-पृथ्वी और वर्षा के योग से अनेक पौधों और लघुतर जीवों की उत्पत्ति हुई, जो रेंगनेवाले प्राणियों के खाद्य के रूप में प्रयुक्त हुए। सरीसृप युग की अंतिम अवस्था में उनके आकार बहुत बृहत् हो गए। विशेष कर उनके उदर का अधिक विस्तार हुआ। अतः वराह युग में 'स्तनन्धय' जीवों में उनका बृहदाकार पेट लक्षित होता है साथ ही पौधों और निकृष्ट जीवों को खाने के लिए या पृथ्वी खोदकर कन्दमूल खाने वाले 'स्तनन्धय' प्राणियों का अधिक विस्तार हुआ। इसके फलस्वरूप इन[2] पशुओं में तेज चाल तथा नोकीले दाँत और मुख का विकास हुआ। फलतः वराह युग में उनका रूपान्तरण कूर्मवत् चाल और मुखवाले जानवरों से बदल कर

१. पौराणिक वराह-प्रतीक विशुद्ध 'स्तनन्धय' होने की अपेक्षा सरीसृप प्राणियों की विशेषताओं से भी युक्त विदित होता है। आकृति में इसकी तुलना 'Divosaurs' वर्ग के प्राणियों में मान्य 'Triceratops' या 'Mionoclonius' से की जा सकती है। (दी. इव्हो० व्हर्टिब्रेटस पृ. २००–२०१)।

२. इव्हो. ऑफ दी व्हर्टिब्रेट्स पृ. २२७, ३८०-३८३, वराह के उदय पर विचार करते हुए कहा गया है कि यों तो 'स्तनन्धय' का प्रथम उदयकाल (Jurassic Period) है किन्तु 'Olegoceneage' में इनका निश्चित उदय हो गया था।

तीव्रगामी तथा खोदकर खाने वाले उस वराह के रूप में हुआ, जिसके मुख और दाँत नोकीले थे और वह सूखी जमीन पर रहने लगा था, किन्तु फिर भी जल के प्रति उसका ममत्व घटा नहीं था, वह और उस वर्ग के प्राणी जल और कीचड़ में इच्छानुकूल अभी भी लोट-पोट किया करते थे। इस युग में अस्तित्व के लिए संघर्ष अपनी पूर्ण गति में था। प्राणि-वैज्ञानिकों ने इन संघर्षरत पशुओं में वराह को बहुत चतुर पशु माना है। इसी से वराह या उस कोटि के जीव अस्तित्व के संघर्ष में टिक सके। कूर्म की तरह ये भी अत्यन्त कठोर जीवों में से हैं। वराह के अनन्तर पुराण-प्रतीकों में अधिक प्रयुक्त होने वाले अश्व, गो, वृषभ आदि हैं। इन्हें भी वराह युग के प्राणियों में गृहीत किया जा सकता है। परन्तु 'अस्तित्व के संघर्ष' में सर्वाधिक कठोर होने के कारण वराह अपने युग का वास्तविक रूप से प्रतिनिधित्व करता है।

नृसिंह

नृसिंह-युग का प्रारम्भ वहाँ से सम्भव प्रतीत होता है, जहाँ से वराह, कूर्म और मत्स्य-कोटि के प्राणियों में अनेकानेक भयंकर जीव-जन्तुओं और उनकी विभिन्न उपजातियों का प्रचार हुआ। इन जीवों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, आक्रमण आदि मनोवृत्तियों एवं व्यापारों का विकास हुआ। ये खाद्य-पदार्थ या अन्य आवश्यकताओं को लेकर परस्पर संघर्ष करने लगे। संघर्षरत जीवों में से कुछ में सभी को आक्रान्त करने, जीतने या पराभूत करने की भावना अधिक प्रबल हुई और कुछ जीवों में छिपने या बचने की, इन मनोवृत्तियों के योग से उत्कृष्ट आक्रमणकारी और निकृष्ट विजित जीवों का आविर्भाव हुआ। इस पशु-संघर्ष में जीव का वास्तविक चयन किया हुआ जीव नृसिंह माना जा सकता है, जो पराक्रम एवं संघर्ष में अद्वितीय है।

वराह अपने मुख और दाँतों का प्रयोग अधिक करता है और अगले पाँवों का प्रयोग कम, उस युग के अन्य पशुओं का व्यवहार भी कुछ इसी प्रकार रहा होगा। अतः उनका क्रियात्मक पराक्रम दाँत और मुख पर अधिक केन्द्रित रहा। किन्तु नृसिंह-युग में पराक्रम के नये आंगिक साधन आविर्भूत होते हैं। ये हैं—पंजे या हाथ; नख और मुख के प्रयोग। इस युग के पशु अब चलने का कार्य दो पाँवों से भी करने लगे और उनके अगले दो पाँवों का प्रयोग आक्रमण-सम्बन्धी पराक्रम के लिए हुआ। केवल दो पाँवों पर चलने वाले ऐसे अनेक जीवों का विकास 'नृसिंह-युग' में हुआ होगा। इनमें "हयग्रीव," किन्नर (अश्वमुख), गोकर्ण, जैसे पुराण-प्रतीकों को भी परिगणित किया जा सकता है। यद्यपि आधुनिक अश्व के पाँवों में अंगुलियाँ नहीं होतीं

और गायों के पैरों में भी केवल दो भाग होते हैं, फिर भी पुरातनकाल के ऐसे अस्थि-अवशेष मिलते हैं जो 'अश्व' की शक्ल में होते हुए भी चार, तीन या दो अंगुलियों से युक्त थे। इनमें (Phenacodus) 'फीनकोड्स,' (Hyracotherium) 'हीरकोथेरियम', (Eohippus) 'इओहिप्पस' तथा 'ओलीगोसीन' युग के विकसित (Mesohippus) 'मेसोहिप्पस' तथा (Miohippus) 'मायोहिप्पस' का नाम लिया जा सकता है।[1] इनके अतिरिक्त दो पाँवों से चलने वाले तथा दो अगले पाँवों, नखों और मुख का प्रयोग करने वाले पूँछदार लंगूर या बन्दर तथा पूँछहीन गिब्बन, औरंग-उताँग, चिम्पनजी, गुरिल्ला[2] और वनमानुष भी आते हैं, जो आकृतिगत विशेषताओं की दृष्टि से मनुष्य और पशु दोनों से मिलते-जुलते हैं। ये पुराण-प्रतीक नृसिंह की तरह नखदार पंजे और मुख का प्रयोग करते हैं। जंगली मनुष्यों में प्रायः यह मान्यता है कि बन्दर पहले उन्हीं के जैसे मनुष्य थे और उन्हीं के साथ रहते थे।[3] 'औरंग-उताङ्ग' नामक जिस मानव-सम बन्दर की चर्चा हुई है, वह 'जावा द्वीप' का है। वहाँ की जनभाषा में इस शब्द का अर्थ होता है—'जंगल में रहने वाला मनुष्य'[4]। संस्कृत में भी 'वानर' को 'वानरः अथवा नरः', 'विकल्पेन नरः' या विकल्प से नर भी माना जाता है। वानर के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होनेवाला 'हरि' शब्द 'वानर' और 'नर' दोनों का पर्याय है। सम्भवतः इन्हीं से विकसित एक निकृष्ट कोटि के मानव की रूप-रेखा मिलती है जिन्हें पुराणों में 'किम्पुरुष' कहा गया है। इस दृष्टि से विकासवादियों ने क्रमशः गिब्बन, औरंग, चिम्पंजी, गुरिल्ला और मनुष्य का क्रम माना है।[5] वह बहुत कुछ पौराणिक-प्रतीकों से साम्य रखता है। इस क्रम में 'किम्पुरुष' को हम 'नेंडरथल मानव' के समानान्तर पुराण-प्रतीक रूप में स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि दोनों में प्राचीन मानव की न्यूनाधिक विशेषताएँ लक्षित होती हैं।

फिर भी नृसिंह इस युग का विशिष्ट पुराण-प्रतीक अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उसमें पशुओं की तरह व्यापार, विशेषकर पशुओं में वानरों की तरह नख और मुख के प्रयोग[6] और 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' में मनुष्य की तरह पराक्रम उसमें लक्षित होते हैं। यदि नृसिंह से सम्बद्ध समस्त कथा

१. जीवन विकास पृ. १३२, १३३। २. जीवन विकास पृ. १६०।

३. जीवन विकास पृ. १५८। ४. जीवन विकास पृ. १५९।

५. वही पृ. १७६ प्लेट।

६. भा. ७, ८, २२ नृसिंह के लिए 'नखायुधम्' का प्रयोग हुआ है। भा. ७, ८, १९ में नृसिंह 'नायं मृगो नरो विचित्रः' कहे गए हैं।

का विश्लेषण किया जाय तो ऐसा लगता है कि नृसिंह-कथा में पशु-मानव संधि-युग की अन्योक्ति अन्तर्भुक्त है, क्योंकि नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध न दिन में न रात में बल्कि संन्ध्या में और घर में न बाहर अपितु चौखट पर करते हैं। इस मध्य भाव में भी पशु-मानव प्रवृत्ति की युग्म प्रवृत्ति लक्षित होती है। निष्कर्षतः हम प्राणिवैज्ञानिकों के सदृश पशु-मानव मिश्रित पुराण-प्रतीक के रूप में नृसिंह को ग्रहण कर सकते हैं।

हिरण्यकशिपु की प्रतीक-कथा

हिरण्यकशिपु का शाब्दिक अर्थ भिन्न हो सकता है,[1] किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिरण्यकशिपु उस सुप्त आवरणावेष्टित पाशविक जीवसत्ता का द्योतक विदित होता है, जो 'प्रह्लाद' अथवा 'आह्लाद' को नियंत्रित करना चाहता है। वह अनियंत्रित 'हर्ष' को विनष्ट करने का यत्न करता है। हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर जितने भी अत्याचार हुए—आग में जलाना, विष पिलाना, जल में फेंका जाना, पर्वतों पर से ढकेला जाना, प्रकृति रूपी होलिका द्वारा नष्ट करने का प्रयास, दावाग्नि से जलने का भय—इन सभी में आनन्द या आह्लाद का द्योतक प्रह्लाद जीवित रहा। इसका तात्पर्य यह भी निकाला जा सकता है कि आह्लादित या आह्लाद में प्रतिष्ठित जीवसत्ता को नष्ट नहीं किया जा सकता। अत्यन्त क्रूर होने पर भी पाशविक जीव-सत्ता 'प्रह्लाद' को नष्ट नहीं कर सकी। पशु-मानव नृसिंह युग के पाशविक आवरण में विक्षोभ हुआ जिसके फलस्वरूप पशु-मानव में 'आह्लाद' की अभिव्यक्ति हुई। उसके पराक्रम में अर्जित विजय-गर्जना के रूप में आह्लाद का निवास हुआ। इस प्रकार की प्रतीकात्मक व्यंजना आलोच्य प्रसंग में विदित होती है। साथ ही नृसिंह लंगूर से लेकर 'नेंडरथल मानव' तक या 'हयग्रिव' से लेकर 'किम्पुरुष' तक की विकास-अवस्था का द्योतक पशु-मानव नृसिंह माना जा सकता है।

वामन

नृसिंह के अतिरिक्त भारतीय-साहित्य में अनेक ऐसे प्राचीन गोत्र-नाम आते हैं, जिनके अर्थ पशु और व्यक्तिवाचक नाम दोनों होते हैं। 'ब्राह्मणों' के अनुसार 'कूर्म भी कश्यप के समान है' और सभी प्राणी 'कश्यप' के पुत्र हैं। ऋ० ७, १८, ६–१९ में जातियों के नाम के रूप में 'मत्स्यगण' 'अजगण',

---

१. महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने 'पुराणतत्त्व' नामक निबन्ध में हिरण्यकशिपु का अर्थ 'सोने की शैय्या' या 'सोने की शैय्या पर सोने वाला पुरुष' शाब्दिक अर्थ मात्र ग्रहण किया है।

'शिग्रुगण' आदि उल्लेख हुए हैं। वैदिक पुरोहित परिवारों के नामों के रूपों में भी गोतम (वृषभ), वत्स (बछड़े), शुनक (श्वान), कौशिक (उलूक) माण्डुकेय (मण्डूक पुत्र) आदि द्व्यर्थक नामों के भी प्रसंग मिलते हैं।[1] 'संवर्ण' (५, ५३) को 'महाभारत' में 'ऋच' कहा गया है। इन तथ्यों में पशु से मानव-विकास की कोई विकास-धारा नहीं मिलती किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पशु मानव-सम्बन्धों की परिकल्पना की जा सकती है। फिर भी नृसिंह के अनन्तर जीवन-विकास की दूसरी अवस्था में लघुमानव या वामन का रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। क्योंकि पशु-मानव रूप से जब मानव-रूप का प्रादुर्भाव हुआ, तो उस प्रारम्भिक काल में आदिम मानव निश्चय ही शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से सम्पूर्णतः विकास की अवस्था तक नहीं पहुँच सका होगा। अतः उस प्रारम्भिक मानव का प्रतिनिधि वामन यथार्थ प्रतीक माना जा सकता है। उस काल के विशाल पशुओं और दैत्याकार भयंकर प्राणियों[2] के बीच में अनुपात की दृष्टि से भी वह छोटा होगा किन्तु बुद्धि और मानसिक शक्ति की दृष्टि से उनकी अपेक्षा वह अधिक शक्तिशाली और पराक्रमी होगा। इस प्रकार शरीर से छोटा और बुद्धि से विराट् मानव अपने युग की अवस्था का द्योतक माना जा सकता है। वामन को 'क्रो-मैग्नन' या प्रथम 'मेधावी मानव' (Homo sapains) के समानान्तर देखा जा सकता है। क्योंकि आकार-प्रकार और बुद्धि में भी इसका मनुष्य की तरह स्वाभाविक अनुमान किया जाता है। यह माना जाता है कि कौशलपूर्ण फ्लिंट तथा पत्थर के उपकरण जो इसके अस्थि-पंजरों के साथ उपलब्ध हुए हैं, उनके निर्माण में यह मानव सिद्धहस्त था।[3] इसी से इसे 'मेधावी मानव' कहा जाता है। 'मेधावी-मानव' की परम्परा में आने वाले 'चान्सलेड-मानव' आकार में और छोटा था और उसकी खोपड़ी विशाल थी। उसके अस्थि-अवशेषों के उपलब्ध होने के क्षेत्र भी भारोपीय (इन्डो-यूरोपियन) फ्रांस और जर्मनी पड़ते हैं।[4] यद्यपि इस 'मेधावी-मानव' के क्रमविकास का ठीक-ठीक पता नहीं चला है, किन्तु फिर भी उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जाता। वामन 'चान्सलेड-मानव' की परम्परा के निकट प्रतीत होता है।

---

१. वै. मा. पृ. २९२।

२. सां. मानव शा. पृ. २०–२१ में श्री हर्सकोविल्स ने दानवाकार मानव (Gigantopithecus blacki) का भी अस्तित्व माना है।

३. मानव शा. पृ. ७४।

४. मानव शा. पृ० ७४–७५।

बालखिल्य

वामन के अतिरिक्त वामन के युग में बालखिल्य जैसे मानव-प्रजाति का भी अस्तित्व मिलता है। सम्भवतः लघुता की अत्युक्ति प्रस्तुत करते हुए 'महाभारत' १, ३१, ८ में बालखिल्यों को अँगूठे के मध्य भाग के बराबर कहा गया है। ये 'एन्थ्रोपोआएड्स' की तरह की आदतों से युक्त लक्षित होते हैं। 'महाभारत' में इनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि नीचे मुँह किए हुए (बालखिल्यान् अधोमुखान्) एक वृक्ष की शाखा से लटक रहे थे। ये केवल पत्ते और फल खाकर नग्न रहते हैं और जंगलों में घूमते रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर ये आदिम लंगूर की आदतों एवं मनोवृत्तियों से युक्त मानव प्रतीत होते हैं क्योंकि पौराणिक आवरण हटाकर यदि विकासवादी दृष्टि से इनका मूल्यांकन किया जाय तो इनमें रहन-सहन एवं व्यवहार-सम्बन्धी पुरातन मानव की कतिपय सम्भावित विशेषताएँ लक्षित होती हैं। प्रतिद्वन्द्विता और वरिष्ठता आदिम पशु और मानव दोनों की विशेषता कही जाती है। 'महाभारत' १, ३१ में लघु बालखिल्य भी इन्द्र से द्वेषवश प्रतिद्वन्द्विता और वरिष्ठता (Superiority) की भावना से युक्त विदित होते हैं। इसी प्रेरणावश अब वे 'शौर्य' और 'वीर्य' में इन्द्र से बढ़कर सौगुना मन के समान वेगवान् वीर पुत्र उत्पन्न करने का संकल्प करते हैं। 'महाभारत' १, ३१, २२–२३ में कश्यप के सदृश बालखिल्यों में भी संतानोत्पत्ति की संकल्प-भावना दृष्टिगत होती है। अतः बालखिल्यों की वामन-युग के ही पुरातन पुरुषों में परिगणना की जा सकती है। नृसिंह-युग के अंतिम वर्ग 'किम्पुरुष' तथा वामन-युग के प्रारम्भिक 'बालखिल्यों' में अन्तर यह है कि 'किम्पुरुष' आचार-विचार और स्वभाव में पशुत्व के अधिक निकट हैं, जब कि बालखिल्य मनुष्य या मानस तत्त्व के। ये 'मेधावी मानव' की तरह बुद्धि-सम्पन्न प्रतीत होते हैं।

सनत्कुमार

वामन-युग के प्राचीन पुरुषों में सनत्कुमारों का भी नाम लिया जा सकता है। इनके नामों के साथ सम्बद्ध 'सन्', 'सनातन' 'कुमार' जैसे शब्द मानव-सृष्टि के विकास की ही अवस्था को व्यंजित करने वाले 'प्रतीकार्थ' प्रतीत होते हैं। इन्हें आदि युग में उत्पन्न होने वाले ब्रह्म के प्रथम मानस-पुत्रों में माना जाता है।[1] भौतिक दृष्टि से गार्हस्थ्य-बन्धन से मुक्त होकर लघुकुमारों की अवस्था में इनकी स्वेच्छाचारिता आदिम मानव के कार्य-व्यापारों

१. हरिवंश पु. ३१, १२–१३।

तथा रूपों से बहुत कुछ साम्य रखती है। किन्तु बालखिल्यों और कुमारों में तुलना करने पर बालखिल्य अधिक पुरातन तथा 'कुमार' परवर्ती पुरातन जान पड़ते हैं। बालखिल्य स्वभाव, आचरण एवं व्यवहार से 'बालखिल्यान् अधोमुखान्' के रूप में वृक्षों की शाखाओं से लटकने वाले प्राचीनतम आदिम मानव विदित होते हैं, जब कि कुमार (जो उनसे आकार में कुछ बड़े भी हैं) पृथ्वी पर भ्रमण करते हैं। निश्चय ही इनमें मानव-विकास की दो अवस्थाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। इसी से बालखिल्यों का युग पहले और कुमारों का युग बाद में ही स्थिर करना अधिक समीचीन जान पड़ता है। यद्यपि इन सभी को वामन-युग में भी ग्रहण किया गया है, परन्तु प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व की दृष्टि से वामन की अवस्था अन्त में ही लक्षित होती है। वामन-युग मनुष्य के उद्भव एवं विकास का ही युग नहीं है अपितु मनुष्य की आदिम सभ्यता का प्रारम्भ भी उसी युग से विदित होता है। वामन-युग में मनुष्य की विभिन्न प्रजातियों का विकास हो चुका था। इन जातियों में या तो मित्रता थी या शत्रुता।[1] कहीं तो ये परस्पर मिल-जुलकर रहते थे और कहीं वैयक्तिक या जातीय स्वार्थवश युद्ध छेड़ देते थे। उस युग की प्रमुख समस्या थी क्षेत्रीय एकता और उस पर अधिकार। वामन के तीन पग की कथा में क्षेत्रीय अधिकार के बीज मिलते हैं। आदिम मानव-सभ्यता युग में विभिन्न कुलों द्वारा क्षेत्रीय-अधिकार की भावना का नवविकासवादी भी समर्थन करते हैं।[2] इस प्रकार वामन का पुराण-प्रतीक एक ओर तो मानव-विकास की उस अवस्था का द्योतन करता है, जहाँ मनुष्य शारीरिक विकास की दृष्टि से किंचित अपरिपुष्ट होकर भी क्षेत्रीय आधिपत्य के निमित्त सचेष्ट होने लगा था। शारीरिक शक्ति के साथ-साथ उसकी बुद्धि एवं मेधा का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। इस युग की प्राचीन परम्परा में मान्य बालखिल्यों में सम्भवतः अपनी 'हीनता' के चलते मजबूत नस्ल उत्पन्न करने की भावना लक्षित होती है, जब कि सनत्कुमार जैसे मानव में स्वेच्छाचारिता अधिक विद्यमान है। इन दोनों में मानव-सभ्यता के विकास-सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्यों के लक्षण नहीं मिलते। केवल बालखिल्यों में अपने कुल की संख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु वामन में क्षेत्रीय अधिकार सम्बन्धी भावना का सर्वप्रथम परिचय मिलता है। लगता है कि सनत्कुमार-युग तक क्षेत्रीय अधिकार जैसी समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। उस युग तक विभिन्न जातियों एवं कुलों का भी इस सीमा तक विकास नहीं हुआ था

---

१. ए. न्यु थियोरी आफ ह्युमन इव्हो. पृ. ६। २. वही पृ. ५।

जिसमें क्षेत्रीय समस्या उत्पन्न हुई हो। परन्तु वामन-युग से इस क्षेत्रीय समस्या का प्रथमारम्भ माना जा सकता है। चार्ल्स डार्विन और चार्ल्स व्हाइट ने मनुष्य की अवतरण-परम्परा के अनुसन्धान-क्रम में मनुष्य का बाह्य और आंतरिक शरीर लंगूर और वनमानुष जातियों की विकसित परम्परा में दिखाने का प्रयास किया है।[1] किन्तु फिर भी नवविकासवादी यह मानते हैं कि 'मनुष्य किसी पूर्ववर्ती अस्तित्व वाले रूपों का ही परिवर्तित अवतार है।'[2] सम्भव है कि बालखिल्य, सनत्कुमार और वामन उस पूर्ववर्ती अस्तित्व वाले मानव का पौराणिक परम्परा में प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करते हों। जिस प्रकार गर्भ धारण की अवस्था से लेकर जन्म पूर्व की अवस्था तक मानव-शिशु का विकास आधुनिक प्राणि-वैज्ञानिकों के अनुसार अन्य प्राणियों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म और वराह के भी शिशु-विकास-क्रम से मिलता-जुलता है,[3] उसी प्रकार मानव-विकास की परम्परा में वामन कोई 'पूर्ववर्ती अस्तित्व' वाला विशिष्ट मानव रहा हो।

चौरासी लक्ष योनियों के आनुवंशिक क्रम से अवतरित मानव

अवतारवादी परम्परा में अवतरित अवतार-प्रतीकों के अतिरिक्त पुराणों में प्रायः यह कथन मिलता है कि इस सृष्टि के प्राणियों में मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है। वह चौरासी लाख योनियों में से अवतरित होता हुआ मनुष्य योनि तक पहुँचा है। इस कथन में प्रयुक्त 'चौरासी लक्ष' का 'चौरासी' शब्द अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ संख्यात्मक पुराण-प्रतीक विदित होता है; किन्तु जहाँ तक चौरासी लक्ष योनि का प्रश्न है, उसमें निश्चय ही जीव-विज्ञान से सम्बद्ध एक आधारभूत सत्य को संख्यात्मक पुराण-प्रतीक का रूप प्रदान किया गया है। आधुनिक जीव वैज्ञानिक भी सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी मनुष्य को ही मानते हैं। उस मनुष्य का विकास प्रारम्भ से लेकर प्रथम परिष्कृत या मेधावी मानव तक जिन जीव जन्तुओं की आनुवंशिक परम्परा में हुआ है, उनकी क्रमागत योनि या जीव संख्या यदि चौरासी लक्ष नहीं तो उससे कुछ ही कम या अधिक हो सकती है। यदि इस संख्या को पौराणिक या परि-कल्पनात्मक (हिपोथेटिकल) भी स्वीकार किया जाय तो भी इसमें जीव-विज्ञान के इस सिद्धान्त का आभास इस सीमा तक तो सत्य प्रतीत होता ही है कि मनुष्य एकाएक दैवी योनि से न टपक कर उन मनुष्येतर योनियों से

१. इव्हो. इन द. लाइट आफ माडर्न नालेज पृ. २८८।

२. ,, वही. पृ. २८७ 'Man is the modified descendent of some pre-existing form.'

३. ऑर्गैनिक इव्होल्युशन पृ. ६६४।

आविर्भूत हुआ है जिनमें अनेक जीव-जन्तुओं की योनियों के क्रम हैं। अतः सम्भव है जीव-विज्ञान एवं पुराणों के प्रतिपादन में कुछ अन्तर हो किन्तु आधारभूत सत्य की दृष्टि से इनमें तथ्यगत साम्य अवश्य लक्षित होता है।

मानव-सभ्यता-युग

मनुष्य इस सृष्टि-रचना की अन्यतम कृति है। कीच से कमल की तरह विभिन्न भयंकर प्राणियों के मध्य से ही उसका आविर्भाव हुआ है। इस प्राणी या मानव-विकास-क्रम में मनुष्य के शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षों का विकास होता रहा है, किन्तु शारीरिक विकास जहाँ अंकगणितीय रहा है, वहाँ मानसिक विकास का अनुपात ज्यामितिक रहा है। वामन शारीरिक और मानसिक विकास के आनुपातिक सम्बन्ध के द्योतक हैं; वामन के बाद मनुष्य का सम्बन्ध प्रकृति के विभिन्न साधनों और उपादानों से होता गया। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कतिपय उपकरणों के रूप में ऐसे माध्यम साधनों का आविष्कार कर प्रयोग करता गया, जिसके फलस्वरूप मानव-सभ्यता का विस्तार होता गया। अतः मानव-सभ्यता के आरम्भिक विकास के प्रतीकों में परशुधारी परशुराम को ग्रहण किया जा सकता है।

परशुराम

इसीसे परशुराम-युग को जीवन-विकास-युग की अपेक्षा मानव-सभ्यता-विकास-युग कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। फरसा और धनुष-बाण लिए हुए परशुराम का रूप जंगल में रहने वाले उस शिकारी मानव का प्रतीक है, जिस समय वह घने जंगलों में ही अपना विकास-स्थल बनाकर 'नव-पाषाण-युग' के शिकारी-मानव की तरह जीवन व्यतीत करता था। वामन और परशुराम इन दोनों प्रतीक-मानवों की तुलना करने पर, वामन के रूप में लघु-मानव-प्रतीक परशुराम के सदृश ही ब्राह्मण है, किन्तु उसमें पराक्रम या विक्रम की अपेक्षा बुद्धि-कौशल का प्राधान्य है। वह बुद्धि-चातुर्य से ही प्रारम्भिक मानव के विराट कौशल का परिचय देता है। अभी सभ्यता के विकास की दृष्टि से सम्भवतः लघु दंड मात्र के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य आयुध नहीं है अपितु उसके पराक्रम में बुद्धि-तत्त्व की ही प्रमुखता है। अतः बौद्धिक प्राबल्य के कारण वह बुद्धिवादी या ब्राह्मण-प्रतीक मानव है। उसमें क्षत्रिय-पराक्रम का समावेश नहीं है इसीसे वह विशुद्ध ब्राह्मणवत् आचरण करता है।

किन्तु परशुराम का प्रतीक सभ्यता के एक सोपान-क्रम का द्योतक है।

परशुराम का आयुध कुल्हाड़ी के समान परशु आदिम युग के आयुधों में विशिष्ट स्थान रखता था। मानव शास्त्रियों के मतानुसार 'पुरापाषाण युग के' प्रमुख महत्त्व के तीन सांस्कृतिक तत्त्वों में एक हाथ की कुल्हाड़ी का उपयोग भी रहा है।[१] कुल्हाड़ी इत्यादि साधनों के अतिरिक्त मानव-सभ्यता के विकास एवं विस्तार में अग्नि का सर्वाधिक योग रहा है। परशुराम का सम्बन्ध जिस भृगुवंश से है, वैदिक मंत्रों के अनुसार यह वंश अग्नि का आविष्कारक भी रहा है। एक मंत्र के अनुसार मातरिश्वन् और देवों ने अग्नि को मनु के लिए निर्मित किया, जब कि भृगुओं ने शक्ति से अग्नि को उत्पन्न किया। इस प्रकार अग्नि के अवतरण और मनुष्यों तक उसके पहुँचाने की पुराकथा प्रमुखतः मातरिश्वन् और भृगुओं से सम्बद्ध है।[२] अतः कुल्हाड़ी-युग से लेकर अग्नि के प्रादुर्भाव-युग तक के प्रतीक परशुराम माने जा सकते हैं। विभिन्न शक्ति-स्रोतों के उत्पादन-क्रम में सर्वप्रथम अग्नि-शक्ति का भी सम्बन्ध मानव-सभ्यता के प्रथम सोपान से रहा है। इस युग का शिकारी मानव अपने भोज्य-शिकार को आग में पकाकर खाने का उपक्रम करने लगा था। कुल्हाड़ी और अग्नि इन दो सभ्यता-प्रतीकों में कुल्हाड़ी या उसका परिष्कृत रूप परशु क्षत्रित्व का द्योतक प्रतीत होता है और अग्नि ब्राह्मणत्व का। इसीसे परशुराम में ब्राह्मण के साथ-साथ क्षत्रिय तत्वों का भी समावेश है। इस क्षत्रिय-ब्राह्मण के समक्ष उस युग का सतत् परिवर्तित पशुवत् क्षत्रिय-पराक्रम हार मानता है। इस आदि सभ्यता-प्रतीक-मानव परशुराम में पराक्रम और बुद्धि दोनों का समुचित संयोग है। वे पाशविक पराक्रम को नष्ट करने के लिए क्षत्रिय बल और ब्राह्मण बुद्धि-कौशल दोनों का प्रयोग करते हैं। पुराण-प्रतीक 'परशुराम' के रूप में इस युग का शिकारी मानव 'डंडे' से आगे बढ़कर 'कुल्हाड़ी' जैसे मारने और लकड़ी काटने वाले आयुध का प्रयोग करता रहा। बाद में चलकर उसने दूर-मारक या दूर-वेधी 'तीर-धनुष' का आविष्कार किया। अतएव आयुध की दृष्टि से परशुराम 'कुल्हाड़ी' से लेकर तीर-धनुष-युग तक की मानव सभ्यता के विकास के वास्तविक पुराण-प्रतीक हैं। निश्चय ही हाथ से निकट की वस्तु पर कुल्हाड़ी जैसे शस्त्र से प्रहार करने की अपेक्षा तीर-धनुष का प्रयोग अधिक अमोघ और प्रभावशाली रहा होगा और उसमें दक्ष मानव सर्वाधिक

१. सा. मानवशास्त्र—पृ. ३५।

२. वै. मा. (अनुवाद) पृ. २६६-२६७ व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'भृगु' शब्द का अर्थ 'प्रकाशमान', जैसा कि 'भ्राज्' (प्रकाशित होना) धातु से निष्पन्न है, होता है। बर्गेन के विचार से सम्भवतः भृगु अग्नि का भी एक नाम था।

पराक्रमी समझा जाता होगा। परशुराम अपने युग के परशु या कुल्हाड़ी चलाने वाले तथा तीर और धनुष में भी निपुण प्रतीक-मानव हैं, जिन्हें अगली मानव-सभ्यता के विकास-युग के प्रतीक श्रीराम से हार खानी पड़ी। इसका मुख्य कारण यह होगा कि श्रीराम-युग तक धनुर्वेद की कला और उसके संचालन की पद्धतियों का अधिक विकास हो गया होगा। तथा परशु जैसे निकट से मारने वाले शस्त्र गौण हो गए होंगे, जब कि उनके बदले तीर और धनुष जैसे दूर-वेधी शस्त्रों के रूपों का तथा उनकी संचालन-कला का अधिकाधिक विकास हुआ होगा।

शिकारी मानव ने बाद में चलकर कुछ विशेष किस्म के पालने-पोसने योग्य पशुओं को अपने साथ रखना शुरू किया। इस प्रकार शिकारी युग के पश्चात् पशुपालन-युग का प्रारम्भ हुआ। पशुपालन-युग के पशुओं का प्रजनन शक्ति के द्वारा अत्यधिक विस्तार हुआ। उपयुक्त चरागाहों में वह अपने पशु-समूह को लेकर फिरन्दर मानव के रूप में घूमने लगा। परशुराम की आनुवंशिक कथा में इस प्रकार के पशुओं का प्रसंग तो आया ही है, साथ ही उनके जीवन में घटित 'कामधेनु-अपहरण' की पौराणिक कथा भी पशुपालन-युग के तत्कालीन महत्त्व को ही प्रदर्शित करती है। पशु-पालन युग में सर्वाधिक उपयोगिता की दृष्टि से अश्व और गो ये दो पशु अधिक लोकप्रिय रहे थे। इन दोनों से सम्बद्ध पुराण-कथाएँ परशुराम एवं उनकी कुल-कथा में घटित होती है। पुराणों में आये हुए 'गाधि' और 'ऋचीक' का सम्बन्ध परशुराम की आनुवंशिक परम्परा से रहा है। इस पुराण-कथा में गाधि ने ऋचीक से एक सहस्र विशेष कोटि के अश्वों की माँग की थी, जिन्हें ऋचीक ऋषि ने प्रदान भी किया।[१] इतनी अधिक संख्या में विशेष कोटि के अश्वों का विनिमय इस युग की पशुपालन की प्रवृत्ति को भी द्योतित करता है। दूसरी घटना का सम्बन्ध स्वयं परशुराम से है। परशुराम और सहस्रबाहु का संघर्ष सहस्रबाहु द्वारा कामधेनु का अपहरण किये जाने के कारण हुआ था।[२] कामधेनु स्वयं पशुपालन-युग का प्रतिनिधित्व करने वाले विशिष्ट पुराण-प्रतीकों में से है। इस प्रकार मानव-सभ्यता के विकास की दृष्टि से परशुराम शिकारी मानव तथा भ्रमणशील पशु-मानव-युग का प्रतिनिधित्व करने वाले पुराण-प्रतीक-मानव हैं। उनके जीवन से सम्बद्ध प्रायः सभी समस्याओं और संघर्षों में उपर्युक्त जीवन की ही झांकियाँ मिलती हैं।

---

१. भा. ९, १५, ६। २. भा. ९, १५, २५-२६।

श्रीराम

सभ्यता के प्रतीक—समस्त विश्व की सभ्यता में 'तीर और धनुष' का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन ऐतिह्य की एक महत्त्वपूर्ण सभ्यता का अस्तित्व तीर-धनुष के बल पर व्यापक बना हुआ था। भारतवर्ष की सभ्यता एवं संस्कृति में भी 'तीर-धनुष' का अपना योग-दान रहा है। राम इस युग की सभ्यता एवं संस्कृति के अन्यतम पुराण-प्रतीक जान पड़ते हैं। उनके समस्त चरित्र में धनुर्वेद की प्रमुखता है। वे विश्वामित्र के आश्रम में धनुर्संञ्चालन में निपुणता प्राप्त करते हैं और अन्य धर्मावलम्बी आर्येतर जनजातियों से युद्ध करते हैं। वे जनकपुर में धनुष उठाकर और तानकर अपनी निपुणता का प्रदर्शन करते हैं। हतप्रभ परशुराम श्रीराम को अपना धनुष प्रदान करते हैं। वनवास-क्रम में श्रीराम आर्य-सभ्यता में गृहीत जनजातियों से मैत्री-भाव रखते हुए मिलते हैं तथा विरोधी और क्षुब्ध जन-जातियों को युद्ध में पराभूत करते हैं। दाक्षिणात्य सीमा पर ऋषि अगस्त से उन्हें दिव्य धनुष की उपलब्धि होती है। वे ऋष्यमूक पर्वत के पास सात ताड़ों को एक ही बाण से बींधकर अपने अप्रतिम हस्तलाघव का परिचय देते हैं। तीक्ष्ण शर-वेध से ही वे समुद्र को पराभूत करते हैं और अन्त में लङ्का-युद्ध में अपने तीर-धनुष के ही कौशल का शौर्य व्यक्त करते हैं। इसी से श्रीराम को अपने युग में पश्चिमी सभ्यता के द्योतक धनुर्धारी 'Knights', 'नाइट्स' की तरह धनुषधारी होने के कारण विष्णु के पराक्रम से सम्बद्ध किया गया था। धनुर्वेद की योग्यता उस काल की सभ्यता का प्रतिमान मानी जा सकती है, जिसका स्थान अब बारूद या स्वचालित शस्त्रों ने ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार श्रीराम 'तीर-धनुष-युग' की सभ्यता का पूर्णरूप से द्योतन करते हैं।

सांस्कृतिक प्रतीक राम—आर्यों के आदिकाल का भारत सप्त सिन्धु प्रदेश और सरस्वती के मध्य में होने वाले सारस्वत प्रदेश तक फैला हुआ था।[1] तत्कालीन भारत आर्यावर्त और दक्षिणावर्त दो खण्डों में विभक्त था। परशुराम-युग तक इन दोनों में सांस्कृतिक एकता अधिकाधिक मात्रा में नहीं हो सकी थी। किन्तु राम के युग में जो सबसे बड़ा सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न हुआ—वह थी अखिल भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता जिसने परवर्ती काल में अवतारत्व की (वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन, शाक्त) बहु शृङ्खलित लताओं में आवेष्टित होकर समस्त भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक

१. आ. क. ई. पृ. ५३, ६२।

सूत्र में बाँधा। अतः राम भारतीय सभ्यता के अतिरिक्त अखिल भारतीय सांस्कृतिक ऐक्य के भी पुराण-प्रतीक हैं। श्रीराम युग का सांस्कृतिक समन्वय आर्य और द्रविड़, उत्तर और दक्षिण[1], पश्चिम और पूरब, ग्राम और नगर अरण्य और नगर, प्रजा और राजा, जन-जाति और शासक वर्ग, राजतन्त्र और प्रजातन्त्र, या उत्तर (अयोध्या), मध्य (किष्किन्धा) और दक्षिण (लङ्का) आदि के समन्वय का सूचक है। इस युग में सीता का हल के फाल से सम्बद्ध होना[2] और जनक राज का हल चलाना, कृषि-युग के प्राधान्य का प्रतीक है। राम-युग से सम्बद्ध साहित्यिक कथावस्तुएँ वन-गमन नौका-वहन, समुद्र में पुल तथा पुष्पक-विमान की यात्रा, भारतीय, सांस्कृतिक भावना में जाग्रत होने वाली स्थल-शक्ति, जल-शक्ति और वायु-शक्ति की सांस्कृतिक चेतना के द्योतक हैं।

राम का समस्त उदात्त जीवन भी समस्त भारतीय जीवन के आदर्श का परिचायक वैयक्तिक नहीं अपितु राष्ट्रीय चरित्र है। इसी से उनका व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक सम्बन्ध, कार्य-कलाप, गान्धीवाद की तरह भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी अवस्थाओं में प्रतिमानक निर्माण करने वाले हुए। इनकी लोकप्रियता, प्रजातान्त्रिकता, त्यागपूर्ण जीवन, वीरता, शौर्य, सौजन्य, बन्धुओं, माताओं, तथा अन्यान्य प्रजाओं, जन-स्थान की जन-जातियों से सम्बन्ध[3] सभी भारतीय संस्कृति के समन्वय-वादी प्रतिमानों के ही सूचक हैं। मध्यकालीन युग में भी अवतारवादी संस्कृति का विकास होने पर 'रामचरित' केवल संस्कृत या हिन्दी का ही नहीं अपितु समस्त भारतीय और बृहत्तर भारतीय भाषाओं का सांस्कृतिक काव्य-विषय रहा है। इस प्रकार राम भारतीय संस्कृति के सांस्कृतिक पुराण-प्रतीक विदित होते हैं।

श्रीकृष्ण

श्रीराम की तरह श्रीकृष्ण भी पौराणिक प्रतीक-शैली में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के एक विशिष्ट युग के द्योतक प्रतीक होते हैं। इतिहासकारों की दृष्टि में श्रीकृष्ण के अनेकविध रूप (घोर अंगिरस कृष्ण, महाभारत श्रीकृष्ण, वासुदेव श्रीकृष्ण, गोपीकृष्ण, द्वारकाकृष्ण) आज भी प्रश्न बने हुए हैं। परन्तु इनका समुचित समाधान-पुराण-प्रतीक-शैली से विश्लेषण द्वारा अधिक सम्भव जान पड़ता है। क्योंकि पुराण-प्रतीकों में जिन ऐतिहासिक

---

१. आ. क. ई. पृ. ६४। २. आ. क. ई. पृ. ६२।

३. वा. रा. १, १, ४८ 'वने तस्मिन् निवसता जनस्थाननिवासिना'।

या अन्योक्तिपरक महापुरुषों को ग्रहण किया गया है, वे केवल अपने ही व्यक्तित्व के वाचक नहीं अपितु अनेक सांस्कृतिक महापुरुषों के सम्मिलित व्यक्तित्व से निर्मित पुराण-प्रतीक हैं। इन्हें सांस्कृतिक प्रतीकों में ग्रहण किया जा सकता है।

सांस्कृतिक प्रतीक

इस कोटि के सांस्कृतिक पुराण-प्रतीकों की विशेषता यह है कि इनमें व्यक्ति, इतिहास, जनश्रुति, युग-चेतना, सांस्कृतिक एवं जातीय कार्य-कलाप, सांस्कृतिक साहित्य, साधना, उपासना प्रायः सभी का अन्तर्भाव होकर समष्टिगत भाव की अर्थवत्ता का ज्ञापक भाव समाहित हो जाता है। ऐसे प्रतीक युग-सापेक्ष सामाजिक चेतना से सम्पृक्त होने के साथ-साथ परम्परागत प्रतीकार्थ को भी समाहित कर लेते हैं। इस प्रकार परम्परागत भाव और युग-सापेक्ष भाव दोनों के समन्वय से इनकी भाव-सम्पत्ति की सृष्टि हुई है। आगमिष्यत युगों में भी ये अपने युग की भाव-सम्पत्ति से समन्वित होकर नव-नवोद्भूत रूपों में प्रायः व्यक्त होते रहते हैं। ऐसे पुराण-प्रतीकों में श्रीकृष्ण को ग्रहण किया जा सकता है।

पुराण-प्रतीक श्रीकृष्ण विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न होने के साथ-साथ कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं से भी सम्बद्ध विदित होते हैं। महाभारत, हरिवंश एवं अन्य पुराणों में उपलब्ध उनके कथनों में उस युग की बौद्धिक चेतना बहुत कुछ साकार हो सकी है। श्रीकृष्ण के युग में ह्रासोन्मुख एवं संघर्षरत राजतन्त्रीय अवस्था में वृष्णिसंघ[1] जैसे प्रजातन्त्र की स्थापना हुई थी। श्रीकृष्ण स्वयं वृष्णिसंघ के और बाद में चलकर अनेक प्रजातान्त्रिक संघों के संघ के भी नेता हुए थे। इनके सांस्कृतिक कार्यों में एक जातीय वैशिष्ट्य के साथ-साथ अनेक जातीय विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। इनके नाम से सम्बद्ध 'श्रीमद्भगवद्गीता' भी भारतीय वाङ्मय की एक सांस्कृतिक निधि है। साधना एवं उपासना के क्षेत्र में स्वयं साध्य या उपास्य होने के पूर्व श्रीकृष्ण द्वारा जिस साधना या उपासना का प्रवर्तन हुआ था, वह है—'गोबरधन' की पूजा। श्रीकृष्ण ने वायवीय देवताओं की अपेक्षा तत्कालीन जन-तान्त्रिक समाज में 'गोपूजा', 'गोबरधन पूजा' के रूप में उपयोगितावादी देवताओं (Utalitarian gods) की ओर ध्यान आकृष्ट किया। 'गोबरधन' की पूजा उस भू-सम्पत्ति की पूजा का द्योतन करती है, जिसमें पशुपालन-युग और कृषि-युग के चरमसाध्य अन्तर्भुक्त हैं। भारतवर्ष

१. आ. क. ई. पृ. ६७।

अत्यन्त पुरातनकाल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। पुराण-प्रतीक बलराम और श्रीकृष्ण भारतीय सांस्कृतिक जीवन-यापन के प्रमुख साधन कृषि और पशुपालन के व्यञ्जक हैं। इनकी अपेक्षा वामन और परशुराम में गार्हस्थ्य का विकास नहीं हो सका है। ब्रह्मचर्योचित कर्तव्य-भावना वैयक्तिक पराक्रम के द्वारा चरमपरिणति पर पहुँचती रही है। परन्तु कृषि-सभ्यता के प्रतीक राम में गार्हस्थ्य के एक मर्यादित रूप का अस्तित्व मिलता है। गार्हस्थ्य में वैयक्तिक पराक्रम के साथ-साथ प्रयत्न की भी आवश्यकता होती है। अतएव श्रीराम में वैयक्तिक पराक्रम के अतिरिक्त पारिवारिक संगठनात्मक तथा आत्मीयता प्रधान प्रयत्न भी लक्षित होता है, जो भारतीय गार्हस्थ्य जीवन का आदर्श है। खासकर कृषि का विकास विशेष भू-खण्ड से सम्बद्ध होने के कारण स्थानीय निवास में निहित गार्हस्थ्य पर ही निर्भर करता है। श्रीकृष्ण-युग तक कृषि-प्रधान गार्हस्थ्य जीवन के नाना रूपों का प्रादुर्भाव हुआ था। यह अनेकरूपता स्वयं श्रीकृष्ण के ही गार्हस्थ्य-जीवन में लक्षित होती है। श्रीकृष्ण एकपत्नीक और बहुपत्नीक दोनों हैं। उनके प्रारम्भिक जीवन में ग्रामीण स्वच्छन्द प्रेम का ही विकसित रूप प्रस्फुटित हुआ है। भारतवर्ष ही क्या समस्त विश्व में कृषि और पशुपालन एक साथ चलते रहे हैं। प्रायः इन दोनों के सहयोग पर ही भारतीय कृषि-जीवन की भित्ति स्थित है। कृष्ण और बलराम का साहचर्य इसी प्रकार के गार्हस्थ्य-जीवन का द्योतक है। गार्हस्थ्य में पराक्रम के साथ-साथ प्रयत्न की आवश्यकता होती है। उस प्रयत्न का फलागम बहुत कुछ प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण-युग में प्रयत्न की प्रधानता लक्षित होती है। गार्हस्थ्य का प्रयत्न कामनाओं और एषणाओं की तृप्ति के लिए होता है। श्रीकृष्ण का समस्त गार्हस्थ्य प्रवृत्तिमूलक एषणाओं की तृप्ति से परिपूर्ण है। अतः कर्म एवं कर्म के भोग की वृद्धि इस युग का वैशिष्ट्य है। गार्हस्थ्य में दाम्पत्य के अतिरिक्त मनुष्य जीवन भर स्वयं एवं मित्र तथा अन्य सम्बन्धी की रक्षा या शत्रु के दमन जैसे गार्हस्थ्य प्रपंच में संघर्षरत रहा करता है। श्रीकृष्ण इस प्रवृत्ति-प्रधान गार्हस्थ्य प्रपंच के वास्तविक पुराण-प्रतीक कहे जा सकते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण का जीवन अनेकरूपताओं से परिपूर्ण है, फिर भी उन्हें समतुलित प्रवृत्ति मार्गीय जीवन का द्योतक माना जा सकता है, जैसा कि 'युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु' या 'सुखे दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' जैसे उनके कथनों से संकेतित होता है।

पौराणिक प्रतीकात्मकता ने श्रीकृष्ण और बलराम को जिस परिवेश

में प्रदर्शित किया है, उस परिवेश में कृषि और पशुपालन के साहचर्य की भी वे व्यंजना करते हैं। बलराम के हाथ में हल और मूसल ये दो आयुध उन्हें कृषि की मूर्तिमान प्रतीक-प्रतिमा के रूप में ज्ञापित करते हैं। श्रीकृष्ण का साहचर्य-प्रधान प्रारम्भिक जीवन पशुपालन-युग की सभ्यता से आरम्भ होता है। उनके हाथों की मुरली प्राचीन पश्चिमी पशु-पालकों में 'शेफर्ड्सरीड' का स्मरण कराती है। वनमाला और मयूरपंख भी तृण-प्रधान वन-वन में चारण करने वाले जीवन का ही संकेत करते हैं। गोपालक-युग में विकसित होने वाला स्वच्छन्द प्रेम तथा अनेक असुर-पशु-प्रतीकों की शैली में व्यक्त किये गए विभिन्न जंगली जन्तुओं सम्बन्धी घटनात्मक वध-कथायें भी उस युग की प्रतीकात्मक अर्थवत्ता को ही व्यक्त करती हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण भारतीय सभ्यता एवं सांस्कृतिक युग के परिचायक, विशिष्ट किन्तु महत्त्वपूर्ण पुराण-प्रतीक विदित होते हैं।

बुद्ध—मनुष्य स्वभाव से ही संकल्पात्मक और विकल्पात्मक रहा है। इन दोनों के संघर्ष की गति पाकर, मनुष्य की सभ्यता प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो पहियों वाली गाड़ी पर चली आ रही है। सामूहिक सभ्यता के विकास एवं युग-परिवर्तन में जिस प्रकार युद्ध और शान्ति का योग रहा है। सभ्यता की प्रगति में कभी ह्रास और कभी उत्थान के युग आया करते हैं, वैसे ही युग विशेष में कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति की प्रधानता होती है। एक युग की सभ्यता में समाज की उद्दाम प्रवृत्तियाँ जब 'सम्पृक्त विन्दु' (Saturation Point) पर पहुँच जाती है, उस समय समाज की प्रगति प्रवृत्त्यात्मक विकारों से अवरुद्ध हो जाती है। निश्चय ही उन दिनों किसी न किसी विशिष्ट शक्ति का समाज में आविर्भाव होता है, जो पुनः तत्कालीन सभ्यता के विकारों को नयी चेतना के जल से स्वच्छ कर समतुलित करने का प्रयास करती है। ऐसी शक्तियों के द्योतक अवतारों के व्यक्तिपरक होने के कारण व्यक्ति-चेतना से सन्निविष्ट शक्ति का बोध विदित होता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक अवतार एक जागतिक उन्मेष और सामूहिक चेतना का प्रतीक है। उस अवतार विशेष की पृष्ठभूमि में वर्गीय, जातीय, सामाजिक, सांस्कृतिक जनसमुदाय की जाग्रत एवं प्रबुद्ध चेतना का भी योग रहा है जो सभ्यता के विभिन्न युगों में नवोत्थान क्रिया का संचार करती रही है। इस चेतना-शक्ति का उद्भव-क्रम एक दीप से प्रज्वलित सहस्रों दीपों की तरह 'दीपादुत्पन्न दीपवत्' रहा है। इस शक्ति की उत्पत्ति निरुद्देश्य न होकर सोद्देश्य हुआ करती है। इस दृष्टि से बुद्ध के पूर्व जितने भी अवतार हुए हैं उनमें कोई न

कोई सोद्देश्यता अवश्य निहित रही है। प्रायः समस्त अवतारों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अवतारवाद एक सक्रिय सशक्त शक्ति के रूप में युग और जीवन के संघर्ष से विमुख न होकर बल्कि जूझकर युगान्तरकारी प्रगति का संचारक रहा है। अवतारों में वस्तुतः निष्क्रियता और विरक्ति नहीं लक्षित होती।

श्रीकृष्ण युग में वैदिक पौरोहित्य से आक्रान्त भोगवाद चरमसीमा पर पहुँच गया था। अनेक वर्षों तक चलने वाले विशालकाय यज्ञों और उनमें प्रयुक्त होने वाले पशुमेध निश्चय ही हिंसा के प्रति वितृष्णा का भाव संचित करने लगे थे। श्रीकृष्ण के युग में स्वयं अन्न, दुग्ध, घी, मधु, जौ इत्यादि को ही हवन एवं पूजा के लिए अधिक श्रेयस्कर समझा जाने लगा था। स्वयं उपनिषदों में विशेषकर मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यक के कतिपय प्रसंगों में पौरोहित्य के मिथ्याडम्बरों का उपहास सा किया जान पड़ता है।[1] इसके प्रतिक्रियास्वरूप चौथी या तीसरी शताब्दी में 'अंगुत्तरनिकाय' के अनुसार भोग से विरक्त एवं निवृत्तिमार्गी कतिपय सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें निग्रन्थ (जैन), मुण्ड-श्रावक, जतिलक, परिव्राजक, मगंधिक, त्रयदंडिक, अविरुद्धक, गौतमक (बौद्ध) और देवधार्मिक विख्यात हैं।[2] इन सभी ने हिंसा के स्थान में अहिंसा का और तपस्या, आत्मिक साधना, त्याग, उत्सर्ग और करुणा से पूरित निवृत्तिमार्गीय जीवन का आदर्श प्रवर्तित किया। इनमें बुद्ध की धर्म-देशनाएं अधिक लोकप्रिय और जनग्राह्य हुईं। इसका मुख्य कारण यह था कि इन निवृत्ति मार्गी सम्प्रदायों की अतिवादिता को छोड़कर बुद्ध ने 'मज्झिमपतिपदा' (आर्य चतुष्टय और 'अट्ठधम्म') का प्रवर्तन किया था। ये 'अट्ठधम्म' निम्न रूपों में विभाजित किए गये।

शील		चित		प्रज्ञा	
	१. सम्यक् वचन		४. सम्यक् व्यायाम		७. सम्यक् संकल्प
	२. सम्यक् कर्मान्त		५. सम्यक् स्मृति		८. सम्यक् दृष्टि
	३. सम्यक् आजीव		६. सम्यक् समाधि		

इस प्रकार बुद्ध ने निवृत्तिमार्गीय दुःखनिवृत्ति एवं निर्वाण-साधना का प्रवर्तन किया।

यद्यपि बुद्धावतार का प्रयोजन हिन्दू पुराणों में असुरों को वेद से विमुख करना माना जाता रहा है; फिर भी इसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि

१. आ. क. ई. पृ. ७४ में श्री राधा कुमुद मुकुर्जी ने कुछ ऐसे प्रसंगों को उद्धृत किया है। २. आ. क. ई. पृ. ७४।

में ऐहिक प्रवृत्तियों को क्लेशप्रद समझ कर उनसे विरत होने की भावना मिलती है। अतः बुद्ध उस युग की भोगात्मक प्रवृत्ति की ओर से निवृत्ति की ओर उन्मुख होने वाली युग-चेतना के द्योतक पुराण-प्रतीक जान पड़ते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण-युग में जिस प्रजातन्त्र का उद्भव हुआ था, बुद्ध के युग में उनका अत्यधिक विस्तार हुआ। बुद्ध-युग में ही सम्भवतः कतिपय प्रजातंत्रों में वोट की तरह 'शलाका' पद्धति का विकास हुआ था। बौद्ध साहित्य में बहुचर्चित 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' में जन-कल्याण की जो भावना व्यक्त हुई है उसमें तत्कालीन सामाजिक लोक-कल्याण की मनोवृत्ति के परिचायक जनतांत्रिक संकल्प अभिव्यक्त प्रतीत होते हैं। उन्हें पश्चिमी जनतांत्रिक नारा 'Greatest good of the greatest number' के समानान्तर देखा जा सकता है। इस प्रकार बुद्ध श्रीकृष्णोत्तर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के द्योतक विशिष्ट पुराण-प्रतीक विदित होते हैं।

कल्कि—मनुष्य के सभ्यताजनित विकास की तुलना खेल ही खेल में बालू की दीवार बनाने वाले उस बालक से की जा सकती है; जो अपनी समस्त चातुरी से बालू की दीवार बनाकर पुनः उसे ध्वस्त कर देता है। निराशा और आशा की तरंगों में खेलता हुआ मानव अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अनेक प्रकार की सम्भाव्य परिकल्पनाएँ करता है। पुराण-प्रतीक कल्कि भी सम्भावनात्मक कल्पना की देन है। पूर्वानुभूत घटनाओं का आधार लेकर तथा वर्तमान दुरवस्थाओं का एक मार्मिक रूप उसमें समाहितकर दोनों के कलुष या 'कल्क' से युक्त कल्कि-युग की आगमिष्यत रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। ऐतिहासिक घटना-क्रम में जहाँ तक सामाजिक विकास का प्रश्न है, विभिन्न युगों में प्रायः समाज का कभी सांस्कृतिक ह्रास होता है और कभी चातुर्दिक उत्थान होता है। जब व्यक्ति का रौद्र रूप क्रोधाभिभूत राष्ट्रीय रौद्ररूप धारण कर लेता है, तो युग-युगान्तर से निर्मित साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान जैसे सांस्कृतिक उत्थान के द्योतक उपादान भी जीर्ण-शीर्ण होकर ध्वस्त होने लगते हैं। समस्त राष्ट्रीय मनीषा भी क्रोधाविष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में कोई भी सामाजिक मर्यादा स्थिर नहीं रह पाती। परिणामतः ऐसे युग में केवल मनुष्य का ही संहार नहीं होता अपितु सभ्यता एवं संस्कृति के उपकरणों का भी विनाश

अलब्भनेय्यवत्थुनं पत्थना तस्स कारणं।
यस्मा तस्मा जिनो दुक्खं इच्छितालाभमब्रवी॥

हो जाता है। पुराण-प्रतीक 'कल्कि' का उद्भव-कर्त्ता मनीषी इतिहास की इस प्रक्रिया से परिचित है। इसीसे कल्कि-युग में जागतिक एवं विनाशकारी संघर्ष के उपरान्त उसने नयी सृष्टि के प्रादुर्भाव की परिकल्पना की है। वर्तमान युग में अणु और परमाणु शक्ति की भयानकता को देखते हुए इस परिकल्पना को अधिक असंम्भाव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अगली (२१वीं) शताब्दी का अन्तर्ग्रहीय क्षेत्रों में भ्रमण और निवास करने वाला मानव परस्पर संघर्षरत होने पर पृथ्वी को किस अवस्था में रख छोड़ेगा तथा कूटनीतिक मानस-परमाणुओं और भौतिक परमाणुओं के अस्त्र-शस्त्र कब कौन सी संहार-लीला उत्पन्न करेंगे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भव है परमाणुओं के 'रेडियो धर्मी' तत्त्वों से क्षत-विक्षत जीव और मानव नए 'परमाणु-प्रूफ' जीवों और मानवों को उत्पन्न करें या यहाँ से पलायन कर नए नक्षत्र लोक में शरण लें। पुराण-प्रतीक कल्कि में ये सारी सम्भावनाएँ सन्निविष्ट हैं। किन्तु इस पुराण-प्रतीक की विशेषता यह है कि इसमें, मनुष्य में निराशावाद का संचारक केवल भावी संघर्ष या विनाश ही नहीं छिपा हुआ है अपितु कल्कि नयी भावी सृष्टि और नयी सांस्कृतिक चेतना की आशा का ज्योति-पुंज बनकर खड़ा है। अतः कल्कि में सांस्कृतिक विनाश से अधिक जागतिक एवं सांस्कृतिक युगान्तर की भावना अक्षुण्ण है।

मनोविज्ञान के आलोक में अवतारवाद

मनोविज्ञान का ईश्वर

अवतारत्व मनुष्य के मन में ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करने वाली एक प्रक्रिया है। सृष्टि की अनेकानेक रहस्यात्मक शक्तियों को आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया से युक्त देखने के कारण मनुष्य पुरातन काल से ही एक ऐसी अज्ञात शक्ति में विश्वास रखता आया जिसे ईश्वर या भगवान् की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। इस ईश्वरात्मक विश्वास में अनायास रूप से भय, त्राण, श्रद्धा और प्रेम इत्यादि भावों का विचित्र-मिश्रण रहा है।

विभिन्न रूप

मनोविज्ञान का ईश्वर अध्यात्म और दर्शन के ईश्वर से इतना भिन्न हो जाता है कि उसे एक प्रकार से मनोविज्ञान का ही ईश्वर कहा जा सकता है।

श्री रोएड ने ईश्वर के तीन रूपों की चर्चा की है—प्रथम-लोकप्रिय अर्थ में, दूसरा-आध्यात्मिक अर्थ में और तीसरा-दर्शन के अर्थ में।[1]

लोकप्रिय अर्थ में ईश्वर व्यक्ति है मनुष्य के समकक्ष या समानान्तर उससे अधिक शक्तिमान है। वह मनुष्योचित और मनुष्येतर दोनों प्रकार के कार्य कर सकता है तथा वह कभी भी मृत्यु का पात्र नहीं होता। यह सर्वशक्तिमान तो नहीं मनुष्य से हर मामलों में श्रेष्ठ है। इसके लिए स्रष्टा, पालक, रक्षक होना तथा चरित की दृष्टि से श्रेष्ठ होना आवश्यक नहीं है। फिर भी यह बुद्धिमानों में बुद्धिमान् और शक्तिमानों (व्यक्तियों) में शक्तिमान हो सकता है।[2]

अध्यात्म के अर्थ में उसका व्यक्ति होना अनिवार्य नहीं है। (सम्भवतः ईश्वर त्रयी इत्यादि रूपों में एक से अधिक व्यक्ति की तरह प्रतीत होता है। वह लोकप्रिय ईश्वर से अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। विशेषकर ईश्वरवादियों के लिए तो वह सर्वशक्तिमान और विभु है।[3]

दार्शनिक अर्थ में यह उक्त दोनों से व्यापक है। कुछ दार्शनिकों के अर्थ में यह व्यक्ति नहीं, ईश्वर नहीं अपितु विश्व ही ईश्वर है।[4] हेगेल इसे परम ईश्वर (Absolute God) और स्पोनौंजर प्रकृति का ईश्वर (god of nature) कहता है। इसके मतानुसार ईश्वरत्व का आरोप विश्व पर तभी हो सकता है जब विश्व की एकता प्रथम दृष्टि में मान ली जाय। विश्व का वह भाग जो किसी पर निर्भर नहीं है बल्कि उसी पर शेष विश्व आधारित है, उस तत्त्व को ईश्वर कहा जा सकता है। यह वही सिद्धान्त है जिसे देववाद भी कहा जाता है। दार्शनिक ईश्वर को 'प्रथम महत् कारण' (The great first cause) मानते हैं।[5]

किन्तु मनोविज्ञान का क्षेत्र जागतिक दृष्टि से ईश्वरत्व का विचार करना नहीं है, अपितु आस्था, भावना, विश्वास, संवेग इत्यादि की दृष्टि से ईश्वरत्व का विश्लेषण करना जान पड़ता है। राबर्ट एच० थाउलेस ने ईश्वरत्व का मूल्यांकन उपर्युक्त उपादानों के आधार पर किया है। थैलेस के मतानुसार ईश्वर सम्बन्धी आस्था की पुष्टि में परम्परागत, प्रायोगिक और बौद्धिक तीन तत्त्वों का योग रहा है।[6] इनमें प्रायोगिक को पुनः सुन्दरता, समरूपता (harmony), परोपकारिता (Beneficence) के रूप में विभाजित

१. रे. फि. साइ. रिस. पृ. १६२। २. रे. फि. साइ. रिस. पृ. १६२–१६३।
३. रे. फि. साइ. रिस. पृ. १६४। ४. रे. फि. साइ. रिस. पृ. १६५।
५. रे. फि. साइ. रिस. पृ. १६६। ६. साइ. रे. पृ. १३।

किया है। यों तो प्राकृतिक विश्वास प्रकृति में ही ईश्वर का स्वरूप प्रतीत कराता है। विशेषकर नीला आकाश, सूर्य की ज्योति से ज्योतिर्मय आकाश इत्यादि में द्रष्टा जब उदात्त सौन्दर्य का दर्शन करता है, तो उसे उस उदात्त सृष्टि में किसी ईश्वर जैसी उदात्त सत्ता की ही महिमा लक्षित होती है। इस प्रकार समस्त सौन्दर्य को वह इष्टदेव की अभिव्यक्ति मानने लगता है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से यह अनुभूति एक बुद्धि-व्यापार की प्रक्रिया विदित होती है।[1]

मन का नैतिक संघर्ष भी मनुष्य को ईश्वरीय आस्था की ओर प्रेरित करता है। नैतिक संघर्ष की शक्तियाँ दो लक्ष्यों की ओर उन्मुख करती हैं जिनमें नैतिक शिवत्व (goodness) का पक्ष ईश्वर के रूप में गृहीत होता है।[2] ईश्वर का यह शिवत्व नैतिक आदर्शों की महत्ता की सर्जना करता है। मनुष्य सहज ढंग से सोचने लगता है कि कोई मनुष्य ही नैतिक आदर्शों की चरम प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार शिवत्वपरक ईश्वर में विश्वास नैतिक संघर्षों की अनुभूतियों का युक्तिकरण (intellectualisation) है। कभी-कभी मनुष्य यह अनुभव करता है कि जबतक वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता तबतक भला नहीं हो सकता। इस विश्वास के बिना वे अपने नैतिक चरित्र के लिए किसी सुदृढ़ प्रेरक को पाने में असमर्थ रहते हैं। इसे अनुभूति का युक्तिकरण न कह कर मनोवैज्ञानिक 'इच्छा-पूर्ति' (wish fulfilment) की एक प्रक्रिया मात्र मानते हैं।[3]

विश्वास और अनुभूति का विषय

भावात्मक तत्त्वों की दृष्टि से भी ईश्वर का एक वह रूप प्रचलित रहा है, जहाँ वह विशेष भाव-दशाओं में ईश्वर जैसी रहस्य-सत्ता का अनुभव करता रहा है। तादात्म्य की वह अनुभूति जिसमें वह अपने अस्तित्व को खो देता है, उसकी इसी धार्मिक अनुभूति का एक अङ्ग है। थाउलेस ने धार्मिक अनुभूति के तीन रूप माने हैं—पाप से क्षम्य होने के अर्थ में, प्रत्यक्ष अनुभूति के अर्थ में और विश्वास की निश्चयता के अर्थ में[4]। इनमें पाप की भावना को मैकडूगल ने निषेधात्मक स्वानुभूति (Negative self feeling) कहा है, यह अत्यन्त विषण्ण अवसाद की अनुभूति से पूर्ण मानसिक दशा है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष अनुभव की स्थिति में एक प्रकार की भावात्मक रहस्यात्मकता

१. साइ. रे. पृ. ४०। २. साइ. रे. पृ. ४६। ३. साइ. रे. पृ. ४७।
४. साइ. रे. पृ. ६६।

सन्निहित रहती है। इस दशा की विशेषता यह है कि अनुभवकर्त्ता सदैव ईश्वर की उपस्थिति की भावना करता है। रहस्यात्मक स्तुतियों में होने वाली विशिष्टानुभूति को प्रायः चिन्तन कहा जाता है, उसमें भी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ईश्वर की उपस्थिति की भावना विद्यमान रहती है।[1]

आदर्श अहं (Super-ego) या अहं आदर्श (ego-Ideal):—

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के सूक्ष्मतम स्तरों का विश्लेषण करने के क्रम में जिन उपादानों को प्रस्तुत किया है उनमें धार्मिकता या ईश्वरत्व की दृष्टि से फ्रायड द्वारा निरूपित 'आदर्श-अहं' या 'अहं-आदर्श' विचारणीय हैं। फ्रायड के अनुसार काम के दमन के प्रक्रिया-क्रम में ऐसा होता है कि जब कोई व्यक्ति काम से पृथक होता है तो उस समय उसके अहं की रूपरेखा में भी परिवर्तन हो जाता है जिसे अहं के भीतर लक्ष्य वस्तु की स्थापना कह सकते हैं।[2] जब अहं लक्ष्य का स्वरूप धारण कर लेता है तो वह इदम् को प्रिय लक्ष्य (love-object) के रूप में स्वयं प्रेरित करता है[3] जिसके फलस्वरूप लक्ष्य काम (object libido) का रूपान्तर 'आत्म-सम्मोही काम' में हो जाता है जिसे निष्कामीकरण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। फ्रायड ने इसे एक प्रकार का उन्नयनीकरण माना है। इसके क्रमिक विकास की चर्चा करते हुए फ्रायड ने बताया है कि बाल्यावस्था से ही अहं में तादात्म्य की स्थिति बढ़ती है, जहाँ से आदर्श-अहं का मूल स्रोत आरम्भ होता है। तादात्म्य का प्रारम्भ सर्वप्रथम पिता-माता से ही हुआ करता है। सृष्टि, रक्षा, पालन, पोषण, सर्व नियंत्रित्व आदि पिता-माता के ही गुण उसके नैतिक-आदर्श द्वारा निरूपित ईश्वर में अधिष्ठित हो जाते हैं। फ्रायड इस प्रकार के अहं-आदर्श का सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति में कुलानुवंशिक रिक्थ (phylogenetic endowment) के रूप में मानता है, जो उसकी (मनुष्य की) प्राचीन धरोहर है।[4] अहं-आदर्श मनुष्य की उच्चतम भावना को प्रदर्शित करता है। एक अभीष्ट पिता का पूरक होने के कारण, इसमें वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जिससे समस्त धर्म निःसृत होते रहे हैं।[5] बालक के मन का अहं-आदर्श कालान्तर में विवेक के रूप में विकसित होता है[6] जिसका कार्य नैतिक और अनैतिक तथा उचित और अनुचित का

---

१. साइ. रे. पृ. ६७। २. इगो. इद. पृ. ३६। ३. इगो. इद. पृ. ३७।
४. इगो. इद. पृ. ४८-४९। (पंचम संस्करण)। ५. इगो. इद. पृ. ४९।
६. इगो. इद. पृ. ४९।

मूल्यांकन करना है। सम्भवतः आदर्श-अहं का यही विवेक पाप-पुण्य या सुर-असुर भावों का विकासक बनता है।

आदर्श-अहं (super-ego) का अवतरण

विश्लेषण मनोविज्ञान में नैतिक या आदर्श-अहं, इदम् (Id) में समाहित अनेक प्रतिबन्धों, आवर्जनाओं और दमित इच्छाओं का एक रूप है। अनेक भावना-ग्रन्थियाँ मिलकर इसका निर्माण करती हैं। फ्रायड के अनुसार 'आदर्श-अहं' (Super-ego) का अवतरण इदम के प्रथम 'object-cathexes' या ओडिपस-ग्रन्थि से होता है।[1] 'आदर्श-अहं' का यह अवतरण उसे इदम् के कुलानुवंशिक ढंग से अर्जित उपादानों (phylogenetic acquisations) से सम्बन्धित करता है जिसके फलस्वरूप आदर्श-अहं के रूप में उन पूर्व अहं-निर्मितियों (ego-structures) का पुनराविर्भाव किया करता है, जिसने पीछे अपने अवक्षेपों (precipitates) को इदम् में छोड़ दिया है। इस प्रकार नैतिक मन का इदम् से सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।[2] फ्रायड के कथनानुसार पाप की भावना के चलते ही आदर्श-अहं (super-ego) अनिवार्यतः स्वयं आविर्भूत होता है। 'मनुष्य-प्रकृति' में जिस उच्चतर भावना की कल्पना की जा सकती है उन सभी का समाहार 'आदर्श-अहं' में हो जाता है। यह एक इच्छित पिता का ही पूरक नहीं है, अपितु इसमें समस्त धर्मों के मूल स्रोत निहित हैं।[3] उपर्युक्त कथन में यद्यपि फ्रायड ने ईश्वर के स्वरूप की स्पष्ट चर्चा नहीं की है किन्तु फिर भी उसके विश्लेषण से इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य का 'आदर्श-अहं' जिस इदम् से अवतरित होता है, उसमें व्यक्तिगत, सामूहिक और परम्परागत तीनों अहं-तत्त्व भी वर्तमान रहते हैं; वह तीनों की समन्वित विशेषताओं से युक्त होकर अवतीर्ण होता है। मनोविज्ञान के ईश्वर की कल्पना में भी इन तत्त्वों का योग अनिवार्य रूप से माना जा सकता है, क्योंकि ईश्वर की रूपरेखा यथार्थतः मनुष्य के आदर्श-अहं की ही देन प्रतीत होती है। यद्यपि ईश्वर की कोई युक्तिसंगत रूपरेखा मनोविज्ञान नहीं प्रस्तुत कर सका है, फिर भी अनेक मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः मानस-व्यापार के संदर्भ में ही ईश्वरत्व

---

१. इगो. इद. पृ. ६९।   २. इगो. इद. पृ. ६९।

३. इगो. इद. पृ. ४९। It is easy to show that the ego-ideal answers in every way to what is expected of the higher Nature of Man. In so far as it is a substitute for the longing for a father, it contains the germ from which all religions have evolved.

पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं जिसका फल यह हुआ है कि ईश्वर सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण और विचारों में बहुत वैषम्य और पार्थक्य रहा है। फ्रायड स्वयं ईश्वर में विश्वास नहीं करता किन्तु पुरातन काल से आती हुई ईश्वर की कल्पना से वह अवश्य परिचित है।[1] एडलर ने धार्मिक मनोवृत्ति को एक प्रकार की कमजोरी माना है। उसके मतानुसार कुछ लोग अपने दुःख को एक ईश्वर के सिर पर लादना चाहते हैं—जो अत्यधिक विश्वास और श्रद्धा के साथ पूजा जाता है, तथा उसके साथ वे व्यक्तिगत व्यवहार तथा पारिवारिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं।[2] इन कथनों में एडलर की उन मनोवृत्तियों का पता चलता है जो धर्म और ईश्वर के प्रति उनके अनोखे विचारों की ओर इंगित करती हैं। इस प्रकार धर्म और ईश्वर के प्रति अविश्वास की भावना प्रदर्शित करने वाले मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त मनोविज्ञान-जगत में कुछ ऐसे मनोविज्ञानवेत्ता भी हैं जिनकी धर्म या ईश्वर में आस्था भी विदित होती है। मैकडूगल और युंग का नाम उनमें विशेष उल्लेखनीय है।

पुराकल्पना की क्षमता

मैकडूगल जो प्रारम्भ में अनीश्वरवादी था बाद में धर्म के प्रति भी उसने अनन्य आस्था व्यक्त की है। मैकडूगल की दृष्टि में धर्म या धार्मिक आध्यात्मिकता आधुनिक विज्ञान के प्रतिरोध के बावजूद भी बहुत सापेक्ष और ठोस प्रकृति के हैं। आस्तिकता या अध्यात्म की भावना मनुष्य का सम्बन्ध एक ऐसे विश्व से स्थापित करती है जो भौतिकता से परे होता हुआ भी यथार्थ और सर्वाधिक महत्त्व का है।[1] कुछ अंशों में मैकडूगल ने फ्रायड के (The future of an illusion) में प्रतिपादित ईश्वरीय उत्पत्ति के सिद्धान्त में अपना अविश्वास प्रकट किया है।[2] उसकी अपेक्षा भौतिकता की ओर पर होते हुए भी वह आध्यात्मिक सत्ता (Spiritual Poteney) को अस्वीकार करने का प्रतिपक्षी नहीं है।[3] उसके मतानुसार पशु भी केवल जीवित रहने के लिए संघर्ष नहीं करते बल्कि सुन्दरतर जीवन व्यतीत करने के लिए प्रयत्न करते हैं।[3] मनुष्य में भी अपने जीवन को सुन्दर, सुखद और शान्तिमय बनाने की भावना रहती है। धार्मिक आस्था, व्यवहार और व्यापार उनमें अपने ढंग से योग प्रदान करते हैं। भौतिक सामग्रियाँ तो केवल भौतिक तुष्टि प्रदान कर पाती हैं, किन्तु फिर भी

---

१. मोजेज. मोनो. पृ. २०४ में इस प्रकार की बातें कहीं हैं।

२. अन्डर. ह्यू. नेचर. पृ. २६३। ३. रेलि. सा. लाईफ पृ. ५।

४. रेलि. सा. लाइफ. पृ. ५। ५. रेलि. सा. लाइफ. पृ. ९। ६. वही. पृ. १०।

मनुष्य के मन में ऐसे अनेक प्रबुद्ध भाव या विचार होते हैं, जिनके शमन एवं समाधान के लिए धार्मिक आस्था की आवश्यकता पड़ती है। इतना ही नहीं कभी-कभी वह अपने विचारों को और अधिक उदात्त आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न करता है। मैकडूगल के अनुसार मनुष्य के जाने या अनजाने सभी कार्य किसी न किसी लक्ष्य से सम्बद्ध होते हैं। वह अन्य प्राणियों के साथ एक ही चेतना-प्रवाह से सम्बद्ध है। वह चेतना आध्यात्मिक ऊँचाई तक उठ सकती है। संगीतकार, कवि इत्यादि भी उसमें आध्यात्मिक चेतना का अनुभव करते हैं।[1] मैकडूगल की यह निश्चित धारणा है कि स्रष्टा ईश्वर की जो रूपरेखा निर्धारित की है, उसके मूल में मनुष्य की रूपरेखा का हाथ अवश्य है।[2] वह ईश्वर के निर्माण में 'पुराकल्पना की क्षमता' (Mythopoeic faculty) का योग मानता है।[3] मैकडूगल ईश्वर-निर्माण की प्रक्रिया में वैयक्तिक से अधिक सामाजिक मन का हाथ समझता है। उसके मतानुसार यों तो मनुष्य प्रायः ऐन्द्रजालिक और दैवी चमत्कार के इन दो साधनों का प्रयोग करता रहा है।[4] किन्तु दैवी ईश्वर वैयक्तिक मन की अपेक्षा समष्टिगत या सामाजिक मन की निर्मिति अधिक कहा जा सकता है। उसका विकास भी समष्टिगत मन से ही होता रहा है।[5] मैकडूगल की ईश्वर सम्बन्धी धारणा सामान्य मनोविज्ञान की विचारणा पर ही अधिक आधारित जान पड़ती है। ईश्वर के निर्माण में योग देने वाली 'Mythopoeic faculty' को भी अधिक विशिष्ट ढंग से उसने विवेचित नहीं किया है।

मनोशक्ति (लिबिडो) की उच्चतम सत्ता के समकक्ष—

सर्वशक्तिमान सत्ता और ईश्वर के रूप पर विचार करते हुए तथा कांट और हेगेल के विचार द्वन्द्वों को उपस्थित करने के उपरान्त युंग ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हल प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वर उच्चतम शिव (Good) का प्रतीक है। युंग के मतानुसार यह शब्द (Good) स्वयं उसके परम मनोवैज्ञानिक मूल्य को प्रदर्शित करता है। दूसरे शब्दों में यह प्रत्यय (Idea), हमारे कार्यों और विचारों के निर्धारण की दृष्टि से उच्चतम या अत्यन्त सामान्य अर्थवत्ता व्यंजित करता है या स्वयं ग्रहण करता है।[6] युंग ईश्वर की रूपरेखा को लिबिडो शक्ति के समक्ष

१. वही. पृ. ११-१२। २. वही. पृ. २०। ३. वही. पृ. २१।
४. ग्रूप. मा. पृ. ७१। ५. ग्रूप. मा. पृ. ७३-७४।
६. साइको. टाइप. पृ. ६१ (१९४४ सं०)।

देखता है। उसके मतानुसार 'विश्लेषण मनोविज्ञान की भाषा में ईश्वर की धारणा उस ग्रन्थि से मिलती-जुलती है, जो पूर्वनिश्चित परिभाषा के अनुसार मनोशक्ति 'लिबिडो' (मनोशक्ति-Psychic energy) की अधिकतम राशि को अपने-आप में अन्तर्भुक्त कर लेती है। वस्तुतः ईश्वर-धारणा की 'एनिमा' व्यक्ति सापेक्ष होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् मात्रा में है। वैयक्तिक अनुभव की भी यही स्थिति है। प्रत्यय-बोध के ख्याल से भी ईश्वर कोई एक ही सत्ता नहीं है; क्योंकि जैसा वह यथार्थ में है उससे वह कुछ कम ही प्रतीत होता है।'[1] ऐसे लोग हैं जिनमें ईश्वर किसी का उदर है, किसी का धन, किसी का विज्ञान या शक्ति या काम इत्यादि। व्यक्तिगत मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिकतम लाभ भी अभिकेन्द्रित होने की अपेक्षा क्रमशः स्थानान्तरित होता रहा है।

उपनिषद् ब्रह्म काम शक्ति के समकक्ष

युंग के लिए कुछ अर्थों में उपनिषद् ब्रह्म केवल एक दशा मात्र की अभिव्यक्ति नहीं है अपितु युंग ने जिन्हें नाम प्रतीक कहा है, प्रायः वे ही उपनिषद् ब्रह्म की धारणा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते रहे हैं। विशेषकर ब्रह्म की उत्पत्ति, जन्म, सृष्टि, देवसृष्टि से सम्बद्ध जितने मंत्र आए हैं[2], उनमें निहित सभी धारणाओं को वह मनोशक्ति (लिबिडो) के समकक्ष या समरूप देखता है।[3]

'लिबिडो' राशि और ईश्वर

विश्व के बड़े धर्मों के मन्तव्यों में इस जगत् के वे सत्यनिहित नहीं होते जो लिबिडो की आत्मनिष्ठ गति को अन्तरोन्मुख कर अचेतन में ले जाते हैं।[4]

---

१. साइको. टाइप. पृ. ६१।

२. श. ब्रा. १४, १, ३, ३। तै. आ. १०, ६३, १५, वाज. सं. २३, ४८, श. ब्रा. ८, ५, ३, ७. तै. ब्रा. २, ८, ८, ८. अथर्व. २, १, ४, १. अथर्व. ११, ५, २३. तै. उप. २, ८, ५. बृ. उ. ३, ५, १५-१, ११, ५. छा. उ. ३, १३, ७. इत्यादि।

३. साइको. टाइप पृ. २४६। 'It is, therefore, not surprising that the symbolical expression of this Brahman concept in The Upnishads makes use of all those symbols which I have termed libido Symbols. वैदिक साहित्य में ईश्वर का कामरूपत्व विशेषकर युंग के ही मन्तव्यानुसार 'कामस्तदग्रे समवर्तताधिः मनसारेतः प्रथमं यदासीत्' या 'सोऽकामयत बहुस्यायां प्रजायेति' जैसे मंत्रों में लक्षित होता है।

४. साइको. टाइप. पृ. ३०९।

'लिविडो' का सामान्य उतार और अन्तर्मुखीकरण अचेतन रूप से 'लिविडो' का एकत्रीकरण करता है। जो राशि का प्रतीक ग्रहण कर लेता है। एखर्ट के उद्धृत कथनों को वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुकूल मानता है। उसके मतानुसार आत्मा का क्षेत्र वहाँ है, जहाँ वह कोश-राशि छिपी हुई है और जहाँ ईश्वर का भी राज्य है। आत्मा अचेतन का मानवीकरण है। जहाँ मनोशक्ति या 'लिविडो' का कोश विद्यमान है तथा जो अन्तर्मुखीकरण के क्रम में अभिभूत और आत्मसात् हो गया है। यह मनोशक्ति 'लिविडो' की वह राशि है जिसे ईश्वर का राज्य कहकर वर्णित किया जाता है।[1] युंग के अनुसार ईश्वर से सर्वदा महत्तम मूल्य का बोध होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका तात्पर्य है—'लिविडो' की अधिकतम राशि, जीवन की सर्वाधिक गहनता और मनोवैज्ञानिक कार्य-व्यापार की चरम सीमा है।[2] इससे अपने ही राज्य में रहने वाले ईश्वर के साथ शाश्वत एकता का बोध होता है। इस अवस्था में अत्यन्त शक्तिशाली 'लिविडो' या मनोशक्ति का एकत्रीकरण अचेतन में होता है, जिसके द्वारा प्रायः चेतन-जीवन का भी निर्धारण हुआ करता है।[3] 'लिविडो' का यह एकत्रीकरण विभिन्न लक्ष्यों से और संसार से होता है, जिनके पूर्ववर्ती प्रभुत्व को यह अनुकूलित या प्रतिबन्धित कर देता है। पहले तो ईश्वर उसके बाहर था, किन्तु अब वह उसके भीतर सक्रिय है, क्योंकि अब वह गुप्त राशि (लिविडो राशि) ही ईश्वर-राज्य के रूप में गृहीत होती है।[4] इसमें स्पष्ट ही यह भाव परिलक्षित होता है कि आत्मा में भी एकत्रित 'लिविडो' या 'मनोशक्ति' ईश्वर से भी किसी न किसी सम्बन्ध का द्योतन करती है।

अचेतन उपादान एवं आत्मस्वरूप ईश्वर

युंग के अनुसार ईश्वर अचेतन उपादानों का मानवीकृत रूप है, क्योंकि मन की अचेतन क्रिया के द्वारा वह हमारे सामने रहस्योद्घाटित होता है।[5] उसके मतानुसार यदि आत्मा को अचेतन उपादानों का मानवीकृत रूप माना जाय, तो ईश्वर भी पूर्व परिभाषा के अनुसार अचेतन उपादान ही है। जहाँ तक वह व्यक्ति रूप में चिन्तनीय है, वह मानवीकृत रूप है। विशेषकर वह विशुद्ध या प्रमुख रूप से गतिशील बिम्ब

१. साइको. टाइप. पृ. ३१०। २. साइको. टाइप. पृ. २२२।

३. साइको. टाइप. पृ. ३१०। ४. साइको. टाइप. पृ. ३१०।

५. साइको. रेलि. पृ. १६३। Gods are personifications of unconscious contents, for they reveal themselves to us through the unconscious activity of the psyche.

या अभिव्यक्ति के रूप में गृहीत होता है।[1] इस प्रकार वह आत्मा और ईश्वर को एक ही समझता है। मनोविज्ञान के, विज्ञान के रूप में, अभिज्ञान की सीमा में परिसीमित होने के कारण, उसे अनुभव तक ही सीमित रखना आवश्यक है, भगवान या ईश्वर वहाँ सापेक्ष भी नहीं है, बल्कि एक अचेतन क्रिया है, जिसे उस 'लिबिडो' की विखंडित राशि का व्यक्त होना कहा जा सकता है, जिसने 'भगवत्-प्रतिमा' को सक्रिय बनाया है।[2] किन्तु ईश्वर की सापेक्षता के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि कम से कम तर्क द्वारा, अचेतन-प्रक्रिया के नगण्य अंश को भी, वैज्ञानिक उपादान के रूप में पहचाना नहीं जा सकता। निश्चय ही ऐसी अन्तर्दृष्टि तभी हो सकती है, जब आत्म-चिन्तन सामान्य से अधिक हो जाता है। यथार्थतः अचेतन उपादानों को उनकी आलम्बन वस्तु में प्रक्षेपित होने से रोक लिया जाता है। और उनके प्रति कुछ जिज्ञासु होने की छूट मिल जाती है, जिसमें अब वे आत्मवस्तु से अनुकूलित होकर या उसीकी होकर व्यक्त होती है।[3] ईश्वर, जीवन का सर्वाधिक गहनतम तत्त्व अचेतन में और आत्मा में निवास करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर सम्पूर्ण रूप से अचेतन ही हो जाता है—विशेषकर इस अर्थ में कि चेतना से उसके अस्तित्व का लोप हो जाता हो। ऐसा लगता है कि उसके मुख्य गुण कहीं अन्यत्र हटा दिए गए हों, जिससे वह बाहर न प्रतीत होकर भीतर प्रतीत होता हो। इस स्थिति में लक्ष्य वस्तु अब स्वतंत्र तथ्य (factors) नहीं है, बल्कि ईश्वर ही स्वतंत्र 'मनोवैज्ञानिक ग्रंथि' बन गया है। यह स्वतंत्र-ग्रन्थि सर्वदा केवल आंशिक रूप से चेतन है तथा कुछ विशेष दशाओं में ही अहं से सम्बद्ध है, फिर भी उस सीमा तक नहीं कि अहं ही उसको आत्मसात् कर ले। ऐसी स्थिति में वह स्वतंत्र नहीं रह सकता, अपितु उसी क्षण से बहुत अधिक लक्ष्य-निर्धारक तत्त्व भी नहीं रह जाता, बल्कि केवल अचेतन मात्र रह जाता है।[4]

सामूहिक प्रत्यय

युंग ने वृत्यात्मक शक्तियों में योग देने के कारण ईश्वर को सामूहिक प्रत्यय माना है। वृत्यात्मक शक्तियों को संबलित करने के कारण जीवात्मा देव और दानव के अनेक रूप धारण करती है। इस क्रम में एक विचित्र बात यह लक्षित होती है कि संवेदना और विचारणा दोनों सामूहिक कार्य हो जाते हैं; जिनमें पार्थक्य न होने के कारण वैयक्तिकता विच्छिन्न हो जाती है,

---

१. साइको. टाइप. पृ. ३०६। २. साइको. टाइप. पृ. ३०१।
३. साइको. टाइप. पृ. ३०१। ४ साइको. टाइप. पृ. ३०७।

इस प्रकार वैयक्तिकता ईश्वर के सदृश एक सामूहिक सत्ता बन जाती है, क्योंकि ईश्वर समस्त प्रकृति में व्याप्त एक सामूहिक प्रत्यय है।[1]

मनुष्य सापेक्ष

युंग के अनुसार ईश्वर की सापेक्षता इस विचारधारा का भी द्योतन करती है, जिसमें ईश्वर का, चरम सत्ता का होना अवरुद्ध हो जाता है वह मानवीय विषय से परे होकर मनुष्य की सभी अवस्थाओं के बाहर अपना अस्तित्व रखता है। कभी-कभी कुछ अर्थों में वह मनुष्य के विषय पर ही निर्भर करता है, जिसके फलस्वरूप ईश्वर और मनुष्य दोनों में घनिष्ठ एवं पारस्परिक सम्बन्ध विकसित होता है। वहाँ केवल मनुष्य ही ईश्वर का कार्य-व्यापार नहीं माना जाता, अपितु भगवान् भी मनुष्य का एक मनोवैज्ञानिक कार्यव्यापार हो जाता है।[2] इस प्रकार युंग के मतानुसार ईश्वर और मनुष्य की सापेक्षता धार्मिक विषयों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान पर पहुँचा देते हैं।

ईश्वर और परमेश्वर

तेरहवीं शती के एक मनीषी एखर्ट के उद्धरणों के आधार पर युंग ने ईश्वर और परमेश्वर में भी अन्तर स्पष्ट किया है। परमेश्वर सर्व है; वह स्वयं न तो ज्ञाता है न धारणकर्ता; जब कि ईश्वर आत्मा की एक क्रिया के रूप में प्रतीत होता है। परमात्मा स्पष्टतः सर्वव्यापी सृष्टि-शक्ति है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्वयं उत्पादक तथा 'सहजवृत्तियों' का स्रष्टा है, जो शापेन हावर की इच्छा (Will) की तुलना में न तो ज्ञाता है न धारणकर्ता।[3] बल्कि ईश्वर आत्मा और परमात्मा से निःसृत होता हुआ प्रतीत होता है। आत्मा जीव के रूप में उसको व्यक्त करती है। जब तक आत्मा को अचेतन से पृथक् नहीं किया जाता, और जिस काल तक उसका अचेतन की शक्तियों और उपादानों से प्रत्यक्षीकरण होता रहता है; तबतक उसका अस्तित्व बना रहता है। ज्यों ही आत्मा अचेतन शक्ति की बाढ़ और स्रोत (source) में विसर्जित हो जाती है, उसी समय उसका (ईश्वर) भी लोप हो जाता है। निःसरण की यह क्रिया अचेतन उपादानों की उपस्थिति का तथा आत्मा से उत्पन्न प्रत्यय के रूप में अचेतन शक्ति का बोध कराती है। अहं जैसे विषयी (subject) का, ईश्वर जैसे आलम्बन लक्ष्य से पृथक् करना ही वस्तुतः

१. साइको. टाइप. पृ. १३९।   २. साइको. टाइप. पृ. ३००।
३. साइको. टाइप. पृ. ३१५।

अचेतन[1] 'dynamis' से जान-बूझ कर पृथक करने की क्रिया है।' इस प्रकार ईश्वर प्रादुर्भूत होता है। जगत से अहं को विच्छिन्न करने के बाद और अचेतन को गतिशील 'dynamis' शक्ति से अहं (ego) के तादात्मीकरण के द्वारा, एक बार पुनः यह पार्थक्य चरितार्थ होता है। जिसके फलस्वरूप ईश्वर लक्ष्य वस्तु के रूप में लुप्त होकर स्वयं कर्त्ता (subject) बन जाता है, जिसे अब अहं से पृथक् नहीं किया जा सकता।[2]

ईश्वर भाव-प्रतिमा (आर्केटाइप) के रूप में

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, जो मानव दृष्टिकोण से अनुभवात्मक विज्ञान माना जा सकता है; उसके अनुसार भी भगवान् की प्रतिमा (Image) किसी मनोवैज्ञानिक दशा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करती है। उसकी प्रकृति विषयी (Subject) की चेतन इच्छा पर चरम प्रभुत्व स्थापित करने की रहती है। अतः वह उसे एक ऐसे पूर्ण प्रतिमानत्व की ओर प्रेरित करती है, जो चेतन प्रयास के द्वारा बिल्कुल सम्भव नहीं है। जहाँ तक दैवी कार्यव्यापार के सक्रिय रूप से व्यक्त होने का प्रश्न है, अतिक्रमणशील वृत्तियाँ या वह प्रेरणा जो समस्त चेतन संज्ञाओं को अतिक्रमित कर देती है, अचेतन में शक्ति की राशिपुंज एकत्रित करने लगती है। 'लिबिडो' या मनोशक्ति का यह एकत्रीकरण प्रतिमाओं को चेतना प्रदान करता रहता है। जिसे सामूहिक अचेतन गुप्त सम्भावनाओं के रूप में रखता है। यह है, भगवान् की आत्म-प्रतिमा (Imago) के मूल उद्गम का रहस्य, जो आदि काल से ही अचेतन पर मुद्रित हो गयी है और चेतन पर अचेतन रूप से अभिकेन्द्रित लिबिडो (मनोशक्ति) की सर्वाधिक शक्तिशालिनी परम क्रिया की सामूहिक अभिव्यक्ति है।[3] युंग कहता है कि 'जब भी हम धार्मिक उपादानों के बारे में कुछ कहते हैं, हम उन प्रतिमाओं के जगत में भ्रमण करते हैं, जिनका संकेत किसी अकथनीय की ओर होता है। हम नहीं जानते कि अपने सर्वातिशयी वस्तु या विषय की दृष्टि से ये प्रतिमाएँ, रूपक और धारणाएँ कितनी स्पष्ट और अस्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए यदि हम कहते हैं ईश्वर या भगवान्, तो निश्चय ही हम एक ऐसी प्रतिमा या शाब्दिक धारणा की अभिव्यक्ति करते हैं, जो काल-क्रम से अनेक परिवर्तनों से गुजरती रही है।'[4] 'जबतक हममें आस्था न हो, हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ये

---

१. साइको. टाइप. पृ. ३१६।

२. साइको. टाइप. पृ. ३१६ या 'लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल' कबीर।

३. साइको. टाइप. पृ. ३००–३०१। ४. साइको. रेलि. पृ. ३६०–३६१।

परिवर्तन केवल प्रतिमाओं या बिम्बों या धारणाओं को ही प्रभावित करते हैं। फिर भी हम एक महत्वपूर्ण शक्तिस्रोत के शाश्वत प्रवाह के रूप में भगवान् की कल्पना कर सकते हैं, जो अपने रूप को अनेक बार बदलता है, ठीक वैसी ही जैसे हम उसकी शाश्वत स्थायी और सनातन अपरिवर्तनीय तत्त्व के रूप में कल्पना कर लेते हैं।[1] हमारी तर्कना को केवल एक ही बात का निश्चय है कि, वह प्रतिमाओं (Images) और प्रत्ययों (Ideas) का निर्माण करती है; जो मानवीय कल्पना और उसके ऐहिक तथा स्थानीय स्थितियों पर निर्भर करते हैं और इसीलिए वे ऐतिहासिक कालक्रम से असंख्य बार परिवर्तित होते रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रतिमाओं के पीछे कुछ वह है जो चेतना का अतिक्रमण कर जाती है और इस प्रकार कार्यशील रहती है कि उसके कथनों में सीमा से बहुत दूर या भयानक वैषम्य नहीं हो पाता; बल्कि स्पष्ट ही वे सब कुछ आधारभूत सिद्धान्तों या पुरा प्रतिमाओं से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। मन या पदार्थ के सदृश ये स्वयं अज्ञात हैं। यद्यपि हम जानते हैं कि वह भी अपर्याप्त ही होगा, हम इतना ही कर सकते हैं कि इनके 'मॉडल' या ढाँचे तैयार करें या एक सत्य मान कर धार्मिक कथनों के द्वारा बार-बार परिपुष्ट करते रहें।[2] इस प्रकार युंग ने ईश्वर को ऐसी भाव-प्रतिमाओं के रूप में देखने का प्रयास किया है जो विश्व के समस्त धर्मों में भाव-प्रतिभा के रूप में व्याप्त हैं। इसी से वह ईश्वर के विश्व को प्रतिमाओं का संसार मानता है। उसका कथन है कि 'जहाँ मेरा सम्बन्ध इन आध्यात्मिक विषयों से रहा है, मुझे बहुत अच्छी तरह पता रहता है कि मैं प्रतिमाओं के विश्व में घूम रहा हूँ; और मेरी कोई भी विचारणा उस अज्ञात सत्ता का स्पर्श भी नहीं कर पाती है। मुझे यह भी खूब पता है कि हमारी धारणाशक्ति कितनी सीमित है, भाषा की दरिद्रता या कमजोरी के विषय में कुछ न कह कर यह कल्पना करना कि मेरे आक्षेप अपेक्षाकृत सैद्धान्तिक अर्थ अधिक रखते हैं, जितना एक आदिवासी पुरुष (ईश्वर का) अर्थ समझता है। खास कर जब वह भगवान की कल्पना 'केश' या 'सर्प' के रूप में करता है'।[3] यद्यपि हमारी समस्त धार्मिक विचारधाराएँ उन मानवीकृत (Anthropomorphic) प्रतिमाओं में निहित है, जिन्हें कभी भी तार्किक या बौद्धिक समीक्षा के लिए उपस्थित नहीं किया जा सकता। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वे अदृश्य दैवी 'भाव-प्रतिमाओं' पर

१. साइको. टाइप. पृ. ३६०-३६१।
२. साइको. रेलि. पृ. ३६१। ३. साइको. रेलि. पृ. ३६१।

निर्भर करते हैं, वस्तुतः उस भावात्मक आधारभूमि पर जो प्रज्ञा या तर्क के लिए दुर्लंघ्य है।[1]

ईश्वरत्व का मूल उत्स एवं विकास

आदिम युग से मानव जाति में जो ईश्वरत्व का विकास होता रहा है, उसे मनोवृत्यात्मक और प्रतीकात्मक दो रूपों में अध्ययन किया जा सकता है। मनुष्य ने अपने विश्वास, आस्था और अनुभूति के द्वारा एक ऐसी नैतिक या मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का निर्माण किया है जो युग-युगान्तर से ईश्वर-सम्बद्ध रूढ़ग्रंथियों का विस्तार करती रही है। उसकी यह क्रिया प्रायः परम्परागत रूप से रूढ़ प्रतीकों एवं प्रतिमाओं के उद्भव और पुनर्निर्माण द्वारा होती रही है। मनोवृत्यात्मक और प्रतीकात्मक रूपों में मनोवृत्यात्मक पूर्ववर्ती और प्रतीकात्मक परवर्ती माना जा सकता है; क्योंकि शिशुकालीन मनोवृत्तियों ने ही ईश्वरात्मक प्रतीकों को सर्वप्रथम जन्म दिया होगा। ईश्वर प्रतीक शिशुमनोवृत्तियों द्वारा निर्मित व्यक्तिकृत और समूहीकृत ईश्वर-ग्रन्थियों की देन है। पूर्ववर्ती अवस्था में पिता, माता, पूज्य, पुरोहित, राजा, विद्वान्, नेता, वैद्य इत्यादि के प्रति जो आदर-भावना विकसित होती रही है—उसमें सर्वप्रथम पिता का रूप ही ईश्वरत्व के निर्माण का मूल कारण जान पड़ता है। पुत्र पिता के रूप और वर्ण के आधार पर ही अतिमानवीय व्यक्ति की कल्पना करता है।[2] उसकी उन समस्त प्रवृत्तियों और संवेगों का, जिनका सम्बन्ध पिता से था, बड़े सहज ढंग से स्थानान्तर हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रौढ़ शिशु के मन में पिता के प्रति जो मनो-भावना होती है, उसी मनो-भावना के आधार पर वह ईश्वर में अतिमानवीय दिव्य शक्तियों की कल्पना कर उसका मानवीकरण दिव्य पिता के रूप में करता है।[3]

युवा होने पर युवक मानव को अत्यन्त प्रबल शक्तियों का सामना करना पड़ता है। वह अपने पिता को भी उसी प्रकार एक प्रबल शक्ति के रूप में देखता है; जो उसके भाग्य का भी नियंत्रण करता है। शिशुकाल के अनुपात में उम्र और अनुभव में वृद्धि होते ही उसके मनमें निहित सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञाता इत्यादि के भ्रम दूर हो जाते हैं। वह अपने अनुभव, शिक्षा और परम्परा से भी इस तथ्य का अनुभव करने लगता है कि विश्व में एक ऐसी जागतिक शक्ति है, जिसके समक्ष उसके पिता, मनुष्य और यहाँ तक कि समस्त मनुष्यजाति की शक्ति तुच्छ है। उसकी शिशुकालीन अज्ञानता

---

१. साइको. टाइप. पृ. ३६१। २. साइको. एन. स्टडी फेमिली. पृ. १३३।
३. साइको. एन. स्टडी फेमिली पृ. १३३।

ज्यों-ज्यों दूर होती जाती है। सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी जैसे पिता पर आरोपित वैशिष्ट्यों का स्थानान्तर आदर्शीकृत देव की ओर होने लगता है।[1] यह स्थानान्तर 'फ्लुगल' के अनुसार निम्नलिखित रूपों में होता है।

१. आदिम मस्तिष्क में जीव चेतनात्मक (Animistic) प्रवृत्तियों का निवास होने के कारण, बालक स्वाभाविक रूप से व्यक्ति या मानव रूप में प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करता है।

२. प्रारम्भ में भी बालक अधिक संख्या में सृष्टि करने वाले 'जगत-स्रष्टा' रूप में प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करना सीखने लगता है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार उसके पिता और अन्य लोग छोटी संख्या में सृष्टि-कार्य में रत्त हैं। बाद में वह अपनी उसी 'सृष्टि-वृत्ति' को अपने ईश्वर पर लाद देता है।

३. इस प्रकार पिता से अर्जित वे गुण और वैशिष्ट्य जो ईश्वर को प्रदान किये जाते हैं। धार्मिक परम्पराओं या विशेषकर भाषा, साहित्य और कला के द्वारा उनमें अधिक उद्दीपन, प्रसंगगर्भत्व, अर्थवत्ता आदि भरकर उन्हें जीवन्त और भावात्मक बना देते हैं[2]।

ईश्वर-निर्माण के मूल में पिता, माता और नेता

इस प्रकार ईश्वरत्व के विकास की दृष्टि से मानव-पिता और परम-पिता में वह घनिष्ठ सम्बन्ध लक्षित होता है, जो मनुष्य के मन में बहुत दूर तक जड़ीभूत हो गया है। पितात्मक धर्मों के विकास में तत्कालीन पिता की अपेक्षा पुरातन पिता या कुलपितामह का विशेष योग रहा है। परिवारों में प्रायः वे ही कुलदेवता के रूप में मान्य होते हैं। उनकी पृष्ठभूमि में जिन धर्मों का विकास हुआ है, वे उनके ईश्वरात्मक व्यक्तित्व का निर्माण विविध तथ्यों के समावेश द्वारा करते हैं, विशेषकर ऐसे ईश्वर के व्यक्तित्व एवं चरित्र में कुलगत वैशिष्ट्य, व्यक्तित्व वैशिष्ट्य, पौराणिक वैशिष्ट्य तथा दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य मिलकर एक विशिष्ट ईश्वरीय व्यक्तित्व की रूपरेखा प्रदान करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसके निर्माण में पिता का सर्वाधिक योग है। किन्तु फ्रायड ने पिता और माता की अपेक्षा नेता के दैवीकरण का ही सर्वप्रथम विकास माना है। उसके मतानुसार नेता का ही पुराणीकरण अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर उसका ईश्वरीकरण कर देता है।[3] उसकी सम्भावना के अनुसार पिता की अपेक्षा नेता का दैवीकरण पहले हुआ होगा। फ्रायड के अनुसार माता, नेता और पिता

१. साइको. एन. स्टडी. फेमिली. पृ. १३४।
२. साइको. एन. स्टडी. फेमिली. पृ. १३५। ३. जेन. सेल. ग्रूप. साइको. पृ. २७०।

का क्रम ही ईश्वर-निर्माण का प्रारम्भिक क्रम रहा होगा।[1] इस प्रकार जहाँ तक पितात्मक स्वरूप से ईश्वर-रूपों का विकास हुआ है, इस परिकल्पना से प्रायः अधिकांश वैज्ञानिक किसी न किसी प्रकार सहमत प्रतीत होते हैं। युंग ने भी पितृ-ग्रन्थि से ईश्वरत्व का विकास मानकर फ्रायड के साथ सहमति प्रकट की है। बल्कि फ्रायड से कुछ आगे बढ़कर युंग ने इस सम्बन्ध का मनोविश्लेषणात्मक कारण भी प्रस्तुत किया है। युंग के अनुसार चेतन की रिक्तावस्था अर्थात् अचेतन दशा की स्थिति, अचेतन में 'लिबिडो' के विसर्जन द्वारा लाई जाती है। अचेतन में प्रसुप्त कुछ ऐसे भी उपादान हैं, जिन्हें अतीत व्यक्ति की स्मृति-ग्रन्थि से अभिहित किया जा सकता है। इनमें सामान्यतः शिशु-ग्रन्थि से मिलती-जुलती सबके ऊपर पितृ-ग्रन्थि है। उपासना के द्वारा लिबिडो को अचेतन में विसर्जित कर शिशु-ग्रन्थि पुनः सक्रिय बनायी जाती है, जिसके फलस्वरूप बाल्यकाल की स्मृतियाँ; विशेषकर पितृ-सम्बन्ध जीवन के साथ पुनः प्रबुद्ध किए जाते हैं। परिकल्पना या पुनः सक्रियता से निकलकर मातृ-पितृ देवियों का जन्म होता है, जिसके फलस्वरूप शिशुवत् भाव से मिलती-जुलती, ईश्वर से सम्बद्ध धार्मिक शिशुवत् भावना जागृत होती है।[2] विशेषताओं की दृष्टि से यह पिता का प्रतीक है; जो चैतन्य होने पर निःसन्देह सर्वदा यथार्थ पिता का ही प्रतिबिम्ब है जिसका उल्लेख फ्रायड ने निषिद्ध या अगम्य प्रतिरोध के द्वारा पितृ-मूर्ति के दमन के रूप में वर्णित किया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिकों ने ईश्वर को जिस परिवेश में प्रस्तुत किया है, वह एक सामान्य आधार होने की अपेक्षा उनके मत-पार्थक्य का ही अधिक परिचायक जान पड़ता है। आस्था, विश्वास, अनुभूति, अहं-आदर्श, 'लिबिडो' शक्ति, अचेतन उपादान, सामूहिक अचेतन उपादान आदि की विचारणा कुल मिलाकर ईश्वर को निश्चित रूप से एक मानसिक ईश्वर-ग्रन्थि के रूप में व्यञ्जित करते हैं। फलतः ईश्वर मनुष्य के सामूहिक मनोव्यक्तित्व (Psychopersonality) की एक निर्मिति बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिशु के मन में पितृ-ग्रन्थि का विकास ही आगे चलकर ईश्वरत्व के विकास का मूल कारण रहा है। परिणामतः शिशु का पिता ही मनुष्य का परमपिता बन बैठा है।

विश्व के समस्त धर्मों में जो ईश्वर स्थान ग्रहण करता रहा है, वह उपर्युक्त विवेचित ईश्वर का ही प्रतीकात्मक रूप है। वह सभी धर्मों में

---

१. जेन. सेल. ग्रूप. साइको. पृ. २७०। २. साइको. टाइप. पृ. १५६–१५७।
३. साइको. टाइप. पृ. १५७।

अपनी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता के साथ ही व्याप्त है। यों तो ईश्वर-प्रतीक के निर्माण में अनेक प्रकार के प्रतीकों और प्रतीक पद्धतियों का प्रयोग कालक्रम से होता रहा है; जिसमें अवतारवादी प्रतीकीकरण की शैली उसका एक विशिष्ट अंग है। इसलिए इस क्रम में इन प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। साथ ही इसी सन्दर्भ में अवतारवादी प्रतीक एवं प्रतीकीकरण के विवेचन करने के पूर्व 'प्रतीक' शब्द की अर्थगत सीमा, स्वरूप तथा चिह्न, प्रतिमा और बिम्ब से उसके पार्थक्य को स्थिर कर लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रतीक

मनुष्य अपनी मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति एवं प्रकाशन के लिए जिन माध्यमों का प्रयोग करता है उनमें ध्वनि, प्रतिध्वनि, इंगित, संकेत, मुद्रा, शब्द, चिह्न, प्रतीक, चित्र, प्रतिमा, बिम्ब इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इनमें प्रतीक[१] अभिव्यक्ति का एक सर्वप्रमुख माध्यम रहा है। चिह्न, संकेत या वे प्रतीक जो गणित, ज्यामिति आदि में प्रयुक्त होते हैं, उनके अर्थ और अभिप्राय प्रायः निश्चित से होते हैं धार्मिक और मनोवैज्ञानिक प्रतीकों के भी अर्थ रूढ़ हुआ करते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म मानव-स्वभाव का अध्येतव्य रूप है; प्रतीक उसकी आवश्यकताओं और अभीप्साओं का अध्ययन करता है।[२] प्रतीक मनुष्य के मन में निहित अनादि काल से धार्मिक आस्था और विश्वास जागृत ही नहीं करता अपितु सुदृढ़ भी बनाये रखता है। धार्मिक प्रतीकों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट पता चलता है कि किस प्रकार ईश्वर प्रतीक विष्णु से कृष्ण के रूप में परिणत हो जाते हैं।[3] मनोवैज्ञानिकों के अनुसार धार्मिक प्रतीक वे संकीर्ण प्रतीक हैं, जो जागतिक और आदर्शवादी सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं। अन्य प्रतीकों की तरह इनमें भी विकृत होने की प्रक्रिया मिलती है, किन्तु इनकी एक विशिष्टता यह है कि एक ओर तो ये अनन्तता और असीमता

---

१. गी. रहस्य. पृ. ४३५। 'प्रतीक (प्रति + इक) शब्द का धात्वर्थ यह है—प्रति = अपनी ओर, इक = झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो; और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार, सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है।'

२. सिम्बो. पृ. २१९। ३. सिम्बो. पृ. २२०।

का अभिप्राय व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर धार्मिक अन्धविश्वासों (Dogmas) की भी व्यञ्जना करते हैं। धार्मिक प्रतीकों में प्रकृतिवादी और आदर्शवादी दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। प्रकृतिवादी धारणा के अनुसार धार्मिक प्रतीक प्रकृतया प्रत्यावर्तक (Regressive) होता है, इसकी अभिव्यक्ति में वंशानुगत (Genetic) प्रवृत्ति रहती है। प्रकृतिवादी किसी भी प्रतीक का विश्लेषण मूल में आरम्भ करने का अभ्यस्त है। इसी से प्रत्येक प्रतीक में किसी न किसी प्रकार का आदिम तत्त्व (Primitive element) अवश्य मिलता है। इनके मतानुसार धार्मिक प्रतीकों के मूल में भी आदिम तत्त्व मूल भित्ति के रूप में स्थित है। आदर्शवादी विचारणा के अनुसार धार्मिक प्रतीक परम सत्ता का वाचक है।[1] वे उसमें सत्य, शिव और सौन्दर्य का दर्शन करते हैं।

साहित्यिक

किन्तु साहित्यिक प्रतीकों में नये-नये अर्थ, नये-नये संदर्भों में सदैव उठते और पर्यवसित होते रहते हैं। इनमें सामान्य 'सादृश्य के साथ-साथ कुछ ऐसे सूक्ष्म और सांकेतिक तत्त्व मिले रहते हैं और इनके माध्यम से ऐसे विचार और भाव जागृत होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध उन प्रतीकों अथवा शब्दों से सरलतापूर्वक नहीं जोड़ा जा सकता। एक प्रतीकात्मक शब्द अनेक स्तरों पर अपना कार्य करता है तथा अनेक प्रकार के भाव और मानसिक चित्र उत्पन्न करता है।[2] चिह्न, संकेत या गणित प्रतीकों के भी अर्थ प्रायः निश्चित और सार्वभौम होते हैं, स्थान भेद से उनमें किंचित् रूपान्तर सम्भव है। किन्तु फिर भी इनमें परिवर्तन कम ही हुआ करते हैं। सु० लैंजर के अनुसार भी चिह्न, भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में अस्तित्व रखता है और यथा अवसर उसके अर्थ का अर्थान्तर भी हो सकता है।[3] साहित्यिक प्रतीकों के अर्थ भी कभी स्पष्ट होते हैं और कभी अस्पष्ट। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रतीकों की विशेषताओं पर पुष्कल विचार प्रकट किए हैं। वे प्रतीक को जिस अभिव्यञ्जना शक्ति का द्योतक मानते हैं, वह मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता से ही संवलित कही जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण में जो अन्य क्रियायें होती हैं, उनमें प्रतीकात्मक प्रक्रियाओं का भी एक प्रमुख स्थान है।

---

१. सिम्बो. पृ. २२१। २. हि. अनु. पृ. २०–२१।
३. प्रो. एस्थे. (लैंग. सिम्बो.) पृ. २२२।

प्रतीक की अनिश्चितता के प्रति युंग का कथन है कि प्रतीक सदैव जातियों के मूल में अंकित अवशेषों से गृहीत होते हैं, जिनके उद्गम या निर्माण काल के निश्चय में बहुत कल्पना या तर्क किए जा सकते हैं, किन्तु फिर भी इनका ठीक-ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता।[१] फ्रायड ने स्वप्नों की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि 'किसी स्वप्न-अवयव और उसके अनुवाद में जो नियत सम्बन्ध होता है, उसे हम प्रतीकात्मक सम्बन्ध कहते हैं और स्वयं स्वप्न-अवयव को अचेतन स्वप्न-विचार का प्रतीक या संकेत कहते हैं।'[२] इस क्रम में फ्रायड ने स्वप्न-अवयव और उनकी पृष्ठभूमि में रहने वाले विचारों के मध्य तीन प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा की है—एक भाग का समस्त स्थान पर आ जाना, अस्पष्ट निर्देश (Allusion) और बिम्बीकरण (Emagery) इनके अतिरिक्त वह एक चौथे सम्बन्ध की भी सम्भावना करता है, जिसे उसने सांकेतिक या प्रतीकात्मक बताया है। इन प्रतीकों की विशेषता बतलाते हुए वह कहता है कि 'किसी प्रतीक और उससे निर्दिष्ट मनोबिम्ब का सम्बन्ध नियत अर्थात् न बदलने वाला होता है—मनोबिम्ब प्रतीक का मानो अनुवाद ही होता है, इसलिए प्रतीकवाद कुछ मात्रा में प्राचीन और प्रचलित दोनों प्रकार के स्वप्न-निर्वचन के आदर्श को मूर्त कर देता है।[३] सम्भवतः फ्रायड प्रतीक और बिम्ब में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है।

बिम्ब या प्रतीक—स्थूल रूप से देखने पर बिम्ब, प्रतिमा[४] या प्रतीक में अवश्य बहुत कम पार्थक्य जान पड़ता है, प्ररन्तु बिंब और प्रतीक का सूक्ष्म अध्ययन करने पर दोनों का सापेक्ष अन्तर हम देख सकते हैं। बिंब मनोगत वस्तु सापेक्ष धारणाओं के आधार पर निर्मित व्यक्तिनिष्ठ चित्र होता है। यद्यपि उसके अन्तराल में धारणा अपनी प्रतीकात्मक अंगयष्टि को लेकर ही उपस्थित रहती है। व्यक्तिनिष्ठ प्रतीकों में दिवास्वप्न प्रतीक, स्वप्न प्रतीक, भ्रांतिमूलक प्रतीक कुछ अंशों तक गृहीत हो सकते हैं, किन्तु इनकी

---

१. साइको. टाइप. पृ. २९५। २. मनोवि. पृ. १२६। ३. मनोवि. पृ. १२९।
४. गीता रहस्य. पृ. २१६। बाल गंगाधरतिलक ने बृ. उ. (२. १) में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त प्रतीकों (आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि के अन्तर्गत रहने वाले पुरुषों) की चर्चा करते हुए कहा है—'उपर्युक्त सब ब्रह्म रूपों को, अर्थात् इन सब को उपासना के लिए कल्पित गौण ब्रह्म स्वरूप अथवा ब्रह्म निदर्शक चिह्न कहते हैं; और जब यही गौण रूप किसी मूर्ति के रूप में नेत्रों के सामने रखा जाता है, तब उसीको 'प्रतिमा' कहते हैं।'

अर्थवत्ता केवल द्रष्टा व्यक्ति तक ही सीमित रहती है। इन प्रतीकों को फ्रायड ने एक प्रकार का मनोबिम्ब ही माना है। यों भी मनोबिम्ब की अनेक विशेषताएँ इनमें विद्यमान् रहती हैं। स्वप्न प्रतीक अचेतन से अधिक सम्बद्ध रहते हैं; इससे इनमें अचेतन अभीप्सा तो होती है किन्तु कल्पना और स्मृति जैसे कार्य-व्यापार का इनमें अभाव ही जान पड़ता है। फलतः इस कोटि के स्वप्न प्रतीकों में प्रतीकात्मकता अधिक रहती है और बिंबत्व कम। दिवास्वप्न में कल्पना, कल्पना-तरंग (फैंटेशी) और स्मृति का योग होता है, अतएव इनमें मनोबिंबत्व की मात्रा अधिक होती है। दिवा-स्वप्न में मूलभावना का प्रतीक अत्यन्त सबल रहता है, जिसके फलस्वरूप इनमें प्रतीकात्मकता का आधिक्य सम्भव है। प्रतीक सार्थक और निरर्थक दोनों होता है। प्रतीक की अर्थगत सीमा अर्थगत अनाव्यप्ति है और अतिव्यप्ति भी। सुसेन लैंजर ने प्रतीक में तात्पर्य (Meaning), अभिप्राय (Signification), उपलक्षण या वस्तुवाचकत्व (Denotation), सारूप्य (Comotation) चार प्रकार का अर्थ माना है।[1] पर रूप की दृष्टि से प्रतीक अक्षरात्मक, शब्दात्मक, नामात्मक, रूपात्मक या मूर्त और अमूर्त दोनों होता है। उसकी अर्थगत व्यञ्जना सांकेतिक, लाक्षणिक, प्रसंगात्मक, अभिधात्मक, व्यंजनात्मक, उद्भावनात्मक और प्रबन्धात्मक होती है। किंतु बिंब अर्थ, तात्पर्य या संकेत की अपेक्षा रूप, चित्र और प्रतिबिम्ब की उद्भावना करता है। बिम्ब में भावोद्दीपन की अपूर्व क्षमता होती है। किन्तु प्रतीक अपने सीमित रूप में भावाभास और रसाभास तक ही सीमित रहता है। प्रतीक अन्य कार्य-व्यापारों के अतिरिक्त बुद्धि-व्यापार को अधिकाधिक सक्रिय या गतिशील बनाने का एक प्रमुख साधन है। बौद्धिक, ज्ञानात्मक तर्क-वितर्क की संयोजना प्रतीक के माध्यम से ही अधिक सम्भव है। चिंतन और मनन की प्रज्ञाशक्ति प्रतीक का ही आश्रय ग्रहण करती है। ज्ञानात्मक धारणाएँ प्रायः प्रतीकों के ही माध्यम से व्यञ्जित होती हैं, उनका अक्षुण्ण और असीम विस्तार भी प्रतीकों के ही सहारे अधिक सम्भव है। किन्तु भावन और विभावन दोनों व्यापार बिम्ब का आश्रय लेकर रसास्वादन में परिणत होते हैं। प्रतीक जहाँ अर्थ एवं संकेत या अभिप्रायबोध तक सीमित है, वहाँ बिंब मनुष्य को सौन्दर्यबोध के द्वारा आनन्द की चरम सीमा तक पहुँचा देता है। पर बिंब और प्रतीक दोनों की एक सामान्य विशेषता यह है कि दोनों सेन्द्रिय और अतीन्द्रिय तथा ऐहिक और विश्वातीत दोनों को समान रूप से अपनी पकड़ में बाँधकर आत्मसात् कर लेते हैं, अथवा यों

१. प्रो. एस्थे. (लैंग. सिम्बो.) पृ. २२८।

कहा जा सकता है कि प्रतीक उनका (धारणाओं का) प्रतीकीकरण कर लेता है और बिंब बिंबीकरण। प्रतीक का सम्भावित अर्थ और अर्थगर्भत्व दोनों विचारणा और भावना को समान रूप से और अत्यन्त सशक्त ढंग से प्रभावित करते हैं, जब कि उनका अनोखा सम्मूर्तित बिम्ब जब ऐन्द्रिय रूप धारण करता है, तो वह ठीक प्रातिभज्ञान की तरह संवेदना को उद्दीपित करता है। सुसेन लैंजर के अनुसार प्रतीक के अर्थ में तार्किक और मनोवैज्ञानिक दोनों पक्ष वर्तमान रहते हैं। किसी में तार्किक पक्ष प्रबल रहता है और किसी में मनोवैज्ञानिक पक्ष। अर्थ सामान्य हो या साधारणीकृत वह एक विशिष्ट "प्रतीकदशा" (Symbol situation) की अभिव्यक्ति करता है।[१] युंग ने सम्भवतः उसे ही 'प्रतीकात्मक मनोवृत्ति' (Symbolic attitude) की संज्ञा प्रदान की है। उसके मतानुसार प्रतीकात्मक अवस्था या मनोवृत्ति वह है—जिस समय किसी पदार्थ की धारणा प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त की जा रही हो।[२] सुसेन लैंजर की दृष्टि में प्रतीक किसी लक्ष्य-वस्तु का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि वस्तुओं की धारणा का वह वाहन है। प्रतीक का प्रत्यक्ष अर्थ उसकी वस्तु नहीं अपितु उसकी धारणा है। प्रतीक हमें वस्तु-धारणा-बोध तक ले जाकर छोड़ देता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति वाचक नाम—राम, घोड़ा, कुता इत्यादि—अपनी धारणा ही हमारे मनमें प्रस्तुत करते हैं।[3]

जीवन्त प्रतीक (Living symlol)—युङ्ग की दृष्टि में प्रतीक एक जीवन्त वस्तु है जिसकी विशेषताओं को किसी अन्य प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रतीक तब तक जीवन्त है, जब तक वह अर्थगर्भत्व से सम्वलित है।[४] यदि उसके तात्पर्य का जन्म उसी में से हुआ है; यदि वास्तविक प्रतीक से उसका तात्पर्य अधिक दिव्य हो गया है; तो प्रतीक मृत है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। प्रत्येक रहस्यवादी विवृति के लिए युंग की दृष्टि में प्रतीक मृत है; क्योंकि रहस्यवाद के द्वारा अपेक्षाकृत अधिक विवृति की ओर उन्मुख किया गया है; जहाँ उन सम्बन्धों के लिए, जो अन्यत्र पूर्ण रूप से ज्ञात हैं, वह केवल रूढ़ प्रतीक या संकेत के रूप में व्यवहृत होता है।[५] किन्तु केवल रहस्यवादी तात्पर्य में स्थित प्रतीक सर्वदा जीवन्त प्रतीक है। युंग के अनुसार प्रत्येक मनोवैज्ञानिक

---

१. प्रो. ऐस्थे. पृ. २१९–२२०। २. साइको. टा. पृ. ६०४।
३. प्रो. एस्थे. पृ. २२५। ४. साइको. टा. पृ. ६०२।
५. साइको. टा. पृ. ६०२।

उत्पादन, जो किसी अज्ञात या सापेक्ष रूप से ज्ञात सत्य की यथा सम्भव सर्वोत्तम विवृति करता है, प्रतीक माना जा सकता है। शर्त इतनी ही है कि हम उस अभिव्यक्ति को इतना मानने के लिए तैयार हो जायँ कि वह स्पष्टतः किसी चेतन सत्ता को नहीं अपितु केवल किसी दैवी सत्ता को अभिहित करता है।[१] अपनी विशुद्ध प्रतीकात्मकता के चलते प्रतीक जीवित नहीं रहते—किन्तु प्रभावशाली घटनाओं से सम्बद्ध होने पर वे सप्राण हो उठते हैं।[२] नृसिंह की मूर्ति यों केवल एक मूर्ति है किन्तु पौराणिक कथा से सम्बद्ध नृसिंह-मूर्ति अपनी समस्त पौराणिक प्राणवत्ता के साथ उपस्थित होती है। युंग तो उसी प्रतीक को जीवन्त और प्राणवान् मानता है जो किसी दैवीतथ्य का सुन्दरतम रूप में उद्‌घाटन करता हो, किन्तु उसका द्रष्टा स्वयं उसे नहीं जानता हो, क्योंकि इन दशाओं में वह अचेतन सम्पर्क की भावना प्रबुद्ध करता है। यह और आगे बढ़कर जीवन-चेतना की सृष्टि करता है।[३] युंग सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रतीकों में एक ही प्रकार की विशेषताएँ मानता है।[४] जीवन्त मस्तिष्क कभी भी अशक्त या दुर्बल मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं होता। बल्कि ऐसे व्यक्ति परम्परा द्वारा स्थापित पहले से ही प्रचलित प्रतीक को अपनाकर संतुष्ट रहते हैं।[५]

प्रतीकीकरण में 'लिबिडो' एवं 'अचेतन' का योगः—मनोविज्ञान में प्रतीक उन अव्यक्त और दबी हुई इच्छाओं या वासनाओं का सूचक है, जिनके मूल में प्रेमलिप्सा या वासना है।[६] यह यथार्थ जीवन में वासना तथा जीवन की अनेकविध प्रवृत्तियों की पूर्णता या पूर्ति का सूचक है।[७] मनुष्य की दबी हुई इच्छाएँ या वासनाएँ जिन प्रक्षेपित रूपों में व्यक्त होती हैं, निश्चय ही वे रूप उनके वास्तविक आलम्बन न होकर प्रक्षेपित या प्रतीकात्मक आलम्बन होते हैं।[८] प्रतीक सर्वदा अत्यन्त विषम प्रकृति की रचनाओं में से है, क्योंकि उसके निर्माण-तत्त्व प्रत्येक मनो-क्रिया से निकलकर एक निर्माण दशा में प्रविष्ट होते हैं। अतएव प्रतीक की स्थिति

---

१. साइको. टा. पृ. ६०३। २. साइको. टा. पृ. ६०४। ३. साइको. टा. पृ. ६०४।
४. साइको. टा. पृ. ६०५। ५. साइको. टा. पृ. ६०७।
६. सिम्बो. पृ. ११। ७. सिम्बो. पृ. १५।
८. महाभारत की यह उक्ति बहुत दूर तक इस कथन की पुष्टि करती है-

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासीनां वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

वासुदेव की वासना से ही विश्व की सृष्टि होती है। वासना से ही श्री भगवान् वासुदेव-रूप से भुवनत्रय में सब प्राणियों के अंदर निवास करते हैं।

ऐसी है कि न तो उसमें अविवेक होता है न विवेक। उसके एक पक्ष में यदि विवेक का दर्शन होता है तो इतर पक्ष विवेक से परे भी रहता है। क्योंकि उसकी प्रकृति में केवल विवेकपूर्ण तथ्य ही नहीं, अपितु विशुद्ध आन्तरिकता और बाह्य प्रत्यक्षीकरण से संवलित तथ्य भी अन्तर्हित रहा करते हैं।

युंग के मतानुसार अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि जब लिबिडो[1] की एक राशि अवरुद्ध रहती है, तो उसका एक भाग आध्यात्मिकता की विवृति करता है और शेष भाग अचेतन में डूब जाता है; जहाँ वह कुछ सम्बद्ध प्रतिमाओं (इमेजेज) को प्रभावित कर सक्रिय बनाता है। प्रतीक कामरूप से आबद्ध होने के कारण जीवित रहता है और इस प्रकार काम वृत्तियों को नियंत्रित करने का एक साधन बन जाता है। 'लिबिडो' के विच्छिन्न होने के साथ-साथ प्रतीक भी प्रायःविखंडित हो जाता है। किन्तु सजीव प्रतीक इस खतरे में भी दृढ़ रहता है। विखंडित मान्य हो जाने पर प्रतीक अपनी ऐन्द्रजालिक या निर्माण-शक्ति का भी लोप कर देता है। इसलिए प्रभावशाली प्रतीक की निर्विवादरूप से एक अपनी प्रकृति है। वह युंग के जागतिक दर्शन को सबसे अधिक अभिव्यक्त करने वाला हो सकता है। उसमें एक ऐसा अर्थ निहित हो जाता है, जिसका लोप नहीं हो सकता। इसका रूप निश्चय ही वास्तविक बोध से पर्याप्त मात्रा में दूर रहता है, जिसमें आलोचक मस्तिष्क को संतोषजनक समाधान मिल सके। अन्ततः इसका सौन्दर्य-बोध इतना मार्मिक और हृदयग्राही हो कि उसके प्रति कोई विवाद उठाने की सम्भावना न हो।[2] युंग के मत में यदि प्रतीक का मूल्यांकन किया जाय तो वह न्यूनाधिक मात्रा में चेतन प्रेरक शक्ति निहित है। इसका प्रत्यक्षीकरण और 'चेतन काम-प्रवाह' जीवन के चेतन आचरणों का विकास प्रदान करते हैं। युंग ने इसे विश्वातीत कार्य माना है।[3] शिलर के अनुसार ऐन्द्रिय वृत्ति का विस्तृत अर्थ है जीवन—एक वैसी धारणा जो भौतिक प्राणी मात्र को सूचित करती है और जिसमें पदार्थ सीधे इन्द्रियों के विषय होते हैं। रूपात्मक वृत्ति का विषय है रूप, एक वह धारणा जो पदार्थों के सभी गुणों को आत्मसात कर लेती है और जिसका सम्बन्ध विचार-क्रिया से रहता है। इस प्रकार शिलर के अनुसार मध्यस्त क्रिया का लक्ष्य है एक

१. साइको. टा. पृ. ५७१। में युंग ने 'लिबिडो' का प्रयोग 'मनोशक्ति' 'Psychic energy' के रूप में किया है मनोवैज्ञानिक मूल्य की दृष्टि में 'मनोशक्ति' मनोप्रक्रिया की साधनता को सूचित करती है।

२. साइको. टा. पृ. २९१। ३. साइको. टा. पृ. १५९।

'जीवन्त रूप', इसके लिए उचित शब्द वह 'प्रतीक' को मानता है, जिसमें दोनों विरोध संयुक्त रहते हैं। यह एक ऐसी धारणा है जिसका कार्य है दृश्य पदार्थ या दृश्य जगत के सौन्दर्यपरक मूल्यों की विवृति करना। इस एक शब्द में सौन्दर्य अपनी समस्त अर्थवत्ता के साथ समाहित रहता है। किन्तु प्रतीक एक ऐसी पूर्व भावात्मक क्रिया से, जो अन्य प्रतीकों का निर्माण करती है, इस निर्माणावस्था में वह उनके लिए (प्रतीकों के लिए) उनकी सम्भावनाओं के निमित्त अपरिहार्य अंग सिद्ध होता है।[1] प्रतीक की सत्यता को स्वीकार कर ही मानवता अपने देवों तक आयी, वह उस भावना के सत्य तक पहुँची, जिसने मनुष्य को इस पृथ्वी का एक मात्र स्वामी बना दिया। युंग शिलर का ही समर्थन करते हुए कहता है कि उपासना या पूजा अपने वास्तविक रूप में लिविडो का वह प्रत्यावर्तित आन्दोलन है जो उसे पुरातन की ओर उन्मुख करती है। यह आदि सृष्टि के मूल में पुनः डुबकी लगाने का प्रयास है।[2] आने वाली प्रगतिशील क्रान्तियों की मूर्ति के रूप में निःसृत है—यह प्रतीक, जो अचेतन तत्त्वों के समस्त ज्ञात या विदित परिणामों का प्रतिनिधित्व करता है। यह वह 'जीवन्तरूप' है जिसे शिलर ने 'प्रतीक' कहा है, एक वह 'ईश्वरमूर्ति' जिसे इतिहास ने उद्घाटित किया है।[3]

निष्कर्षतः मनोविज्ञान की दृष्टि में प्रतीक मनुष्य की कामनात्मक अभिव्यक्ति का वह 'जीवन्त रूप' है, जो अनेक रूपों में व्यक्त होता है।

भारतीय प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य—युङ्ग ने 'लिविडो' तत्त्व की दृष्टि से भारतीय प्रतीकों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। उसकी दृष्टि में उपनिषदों में प्रयुक्त समस्त प्रतीक एक प्रकार के 'लिविडो प्रतीक' ही हैं।[4] क्योंकि जिस 'लिविडो' में वह सृष्टि-तत्त्व देखता है, वह ब्रह्म की धारणा में भी विद्यमान है।[5] ब्रह्म के लिए प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों पर विचार करते हुए युंग ने तै. ब्रा. २. ८. ८. ८. के मन्त्र की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इस मन्त्र में कहा गया है कि 'सर्वप्रथम पूर्व में ब्रह्म ने जन्म लिया'—इस आधार पर उसका कथन यह है कि 'ब्रह्म केवल उत्पन्न करने वाली सत्ता नहीं है बल्कि स्वयं उत्पन्न भी होता है।' पुनः सूर्य ब्रह्म को ऋषि से भी अभिहित किया गया है, क्योंकि उसका मन भी सूर्य ब्रह्म के समान पृथ्वी और अन्तरिक्ष को पार कर जाता है। तै. आ. २, ८. ५—'जो

---

१. साइको. टा. पृ. १३४। २. साइको. टा. पृ. १५७।
३. साइको. टा. पृ. १५८। ४. साइको. टा. पृ. २४६।
५. साइको. टा. पृ. २४९।

यह ब्रह्म मनुष्य में है और जो (ब्रह्म) सूर्य में है—वे दोनों एक ही हैं।[1] युंग ने इन भारतीय प्रतीकों की विशेषता की चर्चा करते हुए 'लिबिडो' के ही सन्दर्भ में उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वह अथर्व. १०, २ में प्रतिपादित 'ब्रह्म' को एक 'जीवनी शक्ति' के रूप में कल्पित मानता है, जो समस्त इन्द्रियों और उनकी वृत्तियों में व्याप्त है। इस प्रकार मनुष्य की शक्ति का उद्गम ब्रह्म में ही निहित है। इस भावना का परम्परागत विकास वैदिक साहित्य से लेकर मध्यकालीन साहित्य तक दीख पड़ता है। ब्रह्म की शक्तिस्रोत का प्रतीक परम्परा से ही माना जाता रहा है। वैदिक उपासक यदि ब्रह्म से बल, वीर्य, आदि की कामना करता है तो पौराणिक उपास्य ब्रह्म के बल पर ही सब कुछ करने वाला अपने को मानता है। वह भगवान के ही बल, वीर्य एवं तेज की सहायता से भगवान का कर्म करने का आकांक्षी है (भगवतो बलेन, भगवतो वीर्येण, भगवतस्तेजसा भगवतः करिष्यामिः) 'सामर्थ्य' का चरम प्रतीक उपास्य जब अपने आदर्श की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तो वह ऐसा मानने लगता है कि भगवान ही अपने लिए अपनी प्रसन्नता के लिए स्वयं इस कर्म को करा रहे हैं (भगवानेव्...स्वस्मै स्वप्रीतये स्वयमेव कारयति) इसीसे अपने समस्त गुणों और प्रतीकों के साथ एक गत्वर सृष्टि-तत्त्व के रूप में ब्रह्म और 'लिबिडो' दोनों में बहुत कुछ साम्य है।[2] ब्रह्म का 'बृह' धातु उसके मतानुसार एक निश्चित मनोवैज्ञानिक दशा की ओर संकेत करता है। सम्भवतः 'लिबिडो' की एक विशेष एकत्रित राशि के स्नायु वर्ग में उद्दाम-प्रवाह के द्वारा तनाव की एक सामान्य दशा उत्पन्न होती है जो 'बृह' या 'वर्द्धित' होने की सम्भावना से सम्बद्ध है। ऐसी अवस्था के लिए बोलचाल की भाषा में 'बिम्बों' या प्रतिमाओं का 'उद्दामप्रवाह', 'जो स्वयं रोका न जा सके', 'विस्फोट' इत्यादि का प्रयोग हो सकता है। भारतीय साधना इस प्रतिबन्धित या लिबिडो के एकत्रीकरण की अवस्था की परिपूर्ति आलम्बन लक्ष्य और मनोवैज्ञानिक अवस्था की ओर से ध्यान (लिबिडो) को खींचकर करती है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण का बहिष्कार और चेतन उपादानों का यह लोप अनिवार्यतः समान रूप से चेतना-लोप (सम्मोहन दशा की तरह) की ओर प्रवृत्त करता है; जहाँ अचेतन उपादान-पुरातन प्रतिमाएँ (Primordial images); जो जागतिक और अतिमानवीय प्रकृति

---

१. साइको. टा. पृ. २४७–२४९। २. साइको. टा. पृ. २४९।

से युक्त हैं, अपनी सार्वभौमिकता और विशद इतिवृत्त के द्वारा सक्रिय हो जाती है।[1]

ये अत्यन्त प्राचीन सूर्य, अग्नि, ज्वाला, वायु, प्राण इत्यादि की अन्योक्तियाँ, जो प्रारम्भिक काल से ही प्रतीकात्मक रूप ग्रहण करती रही हैं—जन्म, जगत-गति, रचना-शक्ति आदि भी इसी प्रकार प्रतीक रूप धारण करते रहे हैं। रचनात्मक विश्व की भावना स्वयं मनुष्य में निहित 'जीवन सत्य' का प्रक्षेपित प्रत्यक्षीकरण है। समस्त महत्त्वपूर्ण अनभिज्ञताओं को दूर करने के ख्याल से किसी को यह अच्छी तरह परामर्श दिया जा सकता है, कि वह इस (जीवन) 'सत्त्व' की अमूर्त धारणा, शक्ति के रूप में करे।

युंग के अनुसार प्रत्येक शक्ति में परस्पर विरोधी दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रत्येक शक्तियुक्त पदार्थ (क्योंकि कोई भी पदार्थ बिना शक्ति के नहीं होता) आदि-अन्त, ऊपर-नीचे, शीतल-गर्म, पूर्व-उत्तर, कारण-फल इत्यादि के रूप में परस्पर विरोधी युग्मों को आविर्भूत करता है। विरुद्ध धारणा से शक्ति-धारणा का अपार्थक्य 'लिबिडो' की धारणा को भी आत्मसात् कर लेता है।[2] पौराणिक और दार्शनिक परिकल्पनात्मक 'लिबिडो' प्रतीक की प्रकृति या तो प्रत्यक्ष प्रतिवाद (antethesis) के द्वारा उपस्थित होती है, या शीघ्र ही दो विरोधी तत्त्वों के रूप में विभक्त हो जाती है। 'लिबिडो' की प्रवृत्ति जिस प्रकार दो विरोधों में विभक्त होने की है, युंग वही प्रवृत्ति ब्रह्म की धारणा या प्रतीक में भी पाता है।[3] (pair of opposites) के लिए युंग ने संस्कृत 'द्वन्द्व' शब्द को ही मनोवैज्ञानिक तात्पर्य के लिए उपयुक्त समझा है।[4] स्रष्टा ने इस सृष्टि में अनेक द्वन्द्वों का निर्माण किया है। भारतीय साहित्य में देव-दानव, ब्रह्म-राक्षस जैसे द्वन्द्वात्मक प्रतीकों की भरमार है। भारतीय धर्म-साधना में प्रयुक्त प्रतीकों को यों मुख्य रूप से नाम और रूप दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है।

नाम और रूप

इसी विभाजन की एक प्राचीन परम्परा उपनिषदों से ही दीख पड़ने लगती है। भारतीय साहित्य में ऐन्द्रिक सृष्टि को ग्रहण कर मन में रूपायित करने वाले श्रोत्र और नेत्र दो मुख्य इन्द्रियाँ रही हैं। दोनों के माध्यम से मनुष्य ने विश्व की समस्त अनन्तता को अपनी पकड़ में बाँधने का प्रयास किया। इन दोनों के योग से दो प्रकार के प्रतीकों का विकास भारतीय

---

१. साइको. टा. पृ. २५० । २. साइको. टा. पृ. २५० ।
३. साइको. टा. पृ. २५१ । ४. साइको. टा. पृ. २४२ ।

वाङ्मय में हुआ, जिन्हें हम 'नाम' और 'रूप' से अभिहित करते हैं। मनको ग्राह्य होने वाले दृश्य या अदृश्य पदार्थ नामात्मक या रूपात्मक प्रतीकों में ही अभिव्यक्त होते हैं। भारतीय ईश्वर भी 'नाम रूप दुइ ईस उपाधि' से युक्त है। नाम, निराकार और निर्गुण ब्रह्म को भी अज, अविनाशी, जैसे असीम और अनन्तता सूचक शब्दों में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करता है। रूप उस अनन्त और असीमको ससीम, सगुण और सेन्द्रिय बनाकर रूपात्मक प्रतीक या बिम्ब प्रतीकोंमें व्यक्त करता है।[1] इसीसे यदि नाममें अर्थ-ग्रहण की भावना विद्यमान है तो रूप में बिम्ब ग्रहण की। यदि वेदान्तियों के इस तात्पर्य को ग्रहण किया जाय कि ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या है तो निश्चय ही 'मिथ्या' से एक प्रकार की प्रतीकात्मकता ही व्यंजित होती है। अतः समस्त विश्व ब्रह्म की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। सम्भवतः प्राचीन उपनिषदों में भी सृष्टि के नाम रूपात्मक अभिव्यक्ति से तात्पर्य प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति से रहा है। तिलक के मतानुसार भी 'माया' 'मोह' और अज्ञान शब्दों में वही अर्थ विवक्षित है। जगत के आरम्भ में जो कुछ था, वह बिना नाम-रूप का था—अर्थात निर्गुण और अव्यक्त था। फिर आगे चलकर नाम-रूप मिल जाने पर वही व्यक्त और सगुण बन जाता है।[2] 'रामचरित मानस' में नाम और राम की चर्चा के रूप में नामात्मक और रूपात्मक प्रतीकों की ही मीमांसा की गई है। वहाँ नाम-राम से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।[3] युंग ने प्रतीकों का एक विश्वातीत कार्य माना है।[4] नाम और रूप के ही द्वारा विश्वातीत तत्त्वों को प्रतीकात्मकता प्रदान की जा सकती है। भारतीय उपासना में जिन प्रतीकों का प्रयोग होता रहा है उनमें नाम, रूप और गुण उनके विशिष्टीकरण में प्रमुख योग देते रहे हैं। नाम प्रतीक एक, दो, तीन, एकादश, द्वादश, अष्टोत्तरी या सहस्रनामों के रूप में उपास्य का नामात्मक प्रतीकीकरण करते रहे हैं। साधक इन नामों के लक्ष-लक्ष जप के द्वारा भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में मन को अधिष्ठित कर देता है। तथा आधुनिक और पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से सहस्रों और लाखों बार निरन्तर जप करने के फलस्वरूप उपास्य अपनी प्रतीक सत्ता के रूप में उपासक के चेतन, उपचेतन और अचेतन मन

---

१. हिन्दू. साइको. टा. पृ. ११५।

२. गी. रहस्य. पृ. २२९. (बृ. १, ४, ७, छा. ६, १, २, ३), साइको. टा. पृ. २५४, श. ब्रा. ११, २, ३।

३. रा. मा. (काशिराज सं.) पृ. १२ 'कहउँ नामु बड़ राम तें निज विचार अनुसार'।

४. साइको. टा. पृ. ४।

में व्याप्त हो जाता है, और उपासक को प्रत्येक स्थिति में उपास्यमय बनाए रखता है। जिसके फलस्वरूप नाम बड़े सहज ढंग से उपास्य के मनो-प्रतीक (Psycho-symbol) के रूप में स्थित मनो-ईश्वर (Psycho-God) के रूप में सक्रिय करता रहता है। वस्तुतः उपासक का भी यही लक्ष्य रहता है—निरन्तर अपने 'मनो-ईश्वर' को जगाए रखना।

रूपात्मक प्रतीक मनोबिम्ब के रूप में साधक के समस्त ऐन्द्रिय-संवेदन का साध्य बन जाता है। नामात्मक प्रतीक अनादि, अनन्त, अनामय जैसे प्रतीकों में व्यक्त होने के कारण ईश्वर की व्यापकता को तो व्यंजित करता है, किन्तु उसका मानवीकरण नहीं कर सकता। नामात्मक प्रतीक में ऐन्द्रिय संवेदना को प्रबुद्ध करने की क्षमता का नितान्त अभाव रहता है। प्रायः इस वर्ग का प्रतीक अभ्यासगत वृत्तियों के द्वारा मन के चेतन, उपचेतन और अचेतन तीनों को आच्छन्न कर लेता है। नाम रूपात्मक प्रतीकों को निम्न प्रकार से भी देखा जा सकता है :—

प्रतीक
- नाम
  - मंत्र
  - शब्द
  - अभ्यास वृत्ति (Habitual instinct) के द्वारा प्रयुक्त
- रूप
  - विभूति (उदात्त)
  - अवतार (रमणीय)
  - ध्यान और आचरण के द्वारा प्रयुक्त
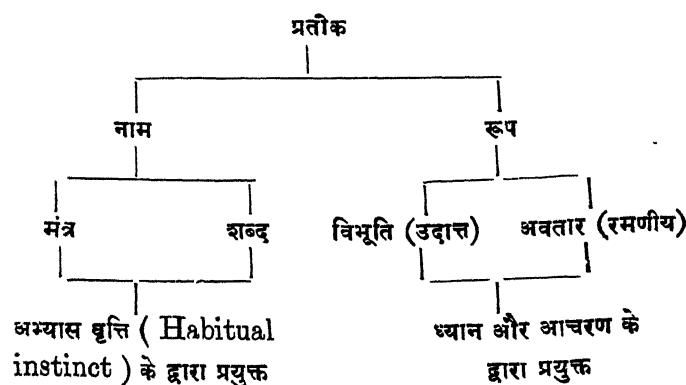
नामात्मक प्रतीक प्रायः मंत्र और शब्दों में व्यक्त होते रहे हैं। कुछ साधनाओं में इनका भी ध्यान प्रतीकात्मक बिम्बों के रूप में किया जाता रहा है।

रूपात्मक प्रतीकों को विभूति और अवतार दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। विभूति प्रतीक जागतिक सृष्टि में व्याप्त वे दिव्य, प्राकृतिक, पौराणिक और मानसिक शक्तियाँ हैं जिनमें मनुष्य ब्रह्म की अनन्त ऐश्वर्य शक्ति का विस्तार पाता है। इन प्रतीकों में विशुद्ध प्रतीकात्मकता की अपेक्षा प्रतीकात्मक बिम्बवत्ता अधिक है। ये द्रष्टा के मन में संभ्रम और उदात्त के रूप में अनुभूत होने वाले प्रतीक हैं। नामात्मक प्रतीकों की तुलना

में इनमें नाम, रूप और गुण तीनों मौजूद हैं। इन विभूति प्रतीकों के द्वारा जागतिक, दिव्य, अतिप्राकृतिक, अतिमानवीय और आदर्श गुणों की विवृति होती है। विभूति प्रतीकों में सभी का मानवीकरण सम्भव नहीं है। प्रत्युत कुछ ही प्रतीक मानवीकृत इष्ट देव के रूप में उपास्य होकर ऐन्द्रिय संवेदन को उद्दीपित करने की क्षमता रखते हैं। अन्य विभूति प्रतीक चमत्कार और आश्चर्य की सृष्टि अधिक करते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में विभूति प्रतीक मनुष्य के मन में निहित 'मनोशक्ति' (जिसे युंग ने 'लिबिडो' कहा है) के उदात्त रूप का विभिन्न रूपों में प्रक्षेपण करते हैं। प्रत्येक विभूति प्रतीक उसकी अतृप्त उन्नयनीकृत इच्छाओं (unfulfilled sublimated desire) का एक प्रतीकात्मक रूप है जो पौराणिक प्रतीकों में गृहीत होने के अनन्तर आधुनिक युग में रूढ़ प्रतीक मात्र बन कर ही रह गया है।

अवतार–प्रतीक

अवतार स्वयं ब्रह्म की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। हम केवल ब्रह्म के आविर्भूत रूप को देख सकते हैं। अतः दृश्य ब्रह्म वस्तुतः सगुण-साकार मन या इन्द्रिय ग्राह्य रूप में उसका प्रतीकात्मक रूप है। स्वामी अखिलानन्द ने इसी आधार पर ब्रह्म को प्रतीक माना है।[1] तिलक ने 'गीता-रहस्य' में ब्रह्म के चिह्न, पहचान, इत्यादि रूपों की चर्चा के क्रम में 'अवतार' को भी उसका प्रतीक बताया है[2]। अवतार के रूप में ब्रह्म का यह प्रतीकीकरण अनेक प्रतीकात्मक रूपों के साथ प्रायः विश्व के अधिकांश प्राचीन धर्मों में प्रचलित रहा है। युंग ने ईश्वर के पर्याय-रूप में प्रयुक्त होने वाले धार्मिक प्रतीकों को चार वर्गों में विभाजित किया है, जिनमें अवतार-प्रतीक चौथे वर्ग में गृहीत हुए हैं।[3] यों ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले अभी तक जिन प्रतीकों का विवेचन किया गया है, इसमें संदेह नहीं कि वे समस्त प्रतीक नामात्मक या रूपात्मक हैं। वे प्रतीक भी मानव-मन एवं उसकी इन्द्रियों के योग से आविर्भूत होते हैं। उनको साहित्यिक, सांस्कृतिक या साधनात्मक महत्ता युग-युगान्तर तक सजीव एवं व्यवहारक्षम बनाये रखती है। किन्तु अवतार-प्रतीक इन समस्त प्रतीकों की अपेक्षा अनोखी प्रकृति वाले होते हैं। अवतार-प्रतीक केवल मानसिक या कलात्मक प्रतीक न होकर 'मनोजैविक' प्रतीक हैं। इस प्रतीक-रूप में ब्रह्म का वर्णात्मक या चित्रात्मक अस्तित्व नहीं रहता, अपितु ब्रह्म को प्राणी

---

१. हिन्दू. साइको. टा. पृ. ११५। २. गी. रह. पृ. ४३५।
३. एवोन. पृ. १९५।

वर्ग के सदृश उत्पत्ति या प्रजनन सम्बन्धी जीवात्मक प्रक्रियाओं से भी गुजरना पड़ता है। जीवों के सदृश ही सुख-दुःख का आभोग वह भी करता है। अन्य प्रतीकों का आविर्भाव मनुष्य के मन में होता है, किन्तु अवतार-प्रतीक वह जीवित प्रतीक है; जो जीव की तरह जन्म लेकर शिशु, किशोर आदि अवस्थाओं को पार करता है। अवतार-प्रतीक प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञान की अपेक्षा आस्था और विश्वास की देन है। महाकाव्य एवं मध्यकालीन युग की जनता धर्म-प्रवर्तकों, युग-प्रवर्तकों, वीरों, नेताओं तथा अन्यान्य महापुरुषों को विष्णु जैसे दिव्य देव या देव शक्ति का अवतार मानती रही है। इन प्रतीकों में उद्भव युग की विशेषताओं के साथ-साथ आने वाले अनेक युगों की अर्थवत्ता उन पर लदती चली जाती है। अवतार-प्रतीकों में प्रतीकात्मक ढंग से युग विशेष की आवश्यकताएँ, विवशताएं तथा रुदन-क्रन्दन और हर्षोल्लास समाहित रहते हैं।[1] अवतार-प्रतीक प्रायः महान युगान्तरकारी घटनाओं से सम्बद्ध होने के कारण प्रबन्धात्मक प्रकृति के होते हैं। अन्य प्रतीक मृत होने पर कभी कदाचित जीवित होते हैं, किन्तु अवतार-प्रतीक किसी भी सापेक्ष-युग में पुनर्जीवित हो उठता है। अवतार-प्रतीकों में गृहीत होने वाले पशुप्रतीकों में 'मत्स्य' जगत की जैविक-सृष्टि प्रजनन या विस्तार तथा समता का प्रतीक है, तो कूर्म उनकी रक्षा, पोषण, सुख और समृद्धि का। इसी प्रकार वराह और नृसिंह पृथ्वी पर होने वाले पशुओं के पारस्परिक संघर्ष का प्रतीकात्मक द्योतन करते हैं। उनके व्यक्तित्व में पाशविक और पशु-मानव शक्ति का प्रतीकात्मक प्रदर्शन उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। महान पुरुषों से सम्बद्ध अवतार-प्रतीक अपने युग के एक वैसे व्यक्तित्व के रूप में आविर्भूत होता है जो स्वयमेव आदर्श एवं पूर्ण होता है।[2] इस प्रकार महान पुरुषों से सम्बद्ध अवतार-प्रतीकों में मनोवैज्ञानिकों ने एक समष्टिनिष्ठ व्यक्तित्व का समावेश माना है।[3]

अब देखना यह है कि अवतार-प्रतीकों के प्रतीकीकरण में किन मनोवैज्ञानिक प्रकियाओं का योग है। अवतारवादी प्रतीकों का विकास पूर्वानुभूति पर तो आश्रित रहा ही है, उसके विकास में रचनात्मक और पुनर्निर्मायक (reduplicative) क्रियाओं का भी योग रहा है। स्मृति या प्रत्याह्वान पर आधारित प्रतीक के रूप में जब-जब वे मन में उपस्थित होते हैं, उत्तरोत्तर वे अपने मूल रूप में न होकर न्यूनाधिक भिन्न रूप में होते हैं। मनोविज्ञान में इस परिवर्तन-क्रिया का जो क्रम प्रचलित है, अवतार-प्रतीक भी परिवर्तन की उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। उनमें प्रथम प्रक्रिया है पौराणिकों

---

१. सिम्बो. पृ. २२४। २. एवोन. पृ. १९५।

३. टूसाइको. पृ. १४१।

के द्वारा उनको अधिक परिचित बनाने की प्रवृति, द्वितीय-आकार में कभी कमी या कभी अधिक करने की प्रवृत्ति, तृतीय—सुडौलपन की प्रवृत्ति, चतुर्थ—तीव्र या मार्मिक बनाने की प्रवृत्ति अर्थात् विशिष्ट आकृति को विस्तृत करने की प्रवृत्ति। पंचम—विशिष्ट आकृति में अपनी ओर से कुछ जोड़कर समतल (Tonning) करने की प्रवृत्ति।

इस प्रकार पुराणों में प्रत्याह्वान किए जाने वाले अवतारों का रूप उनकी तद्वत् नकल न होकर प्रत्येक युग की रचनात्मक प्रवृत्ति से सन्निविष्ट रहता है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार प्रत्याह्वान में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त बाह्य और आंतरिक उत्तेजनाएं भी सक्रिय रहती हैं। अवतारों के प्रत्याह्वान में उनकी लीलाएं बाह्य उतेजना का कार्य करती हैं, तथा उपास्य के रूप में भक्तों द्वारा मान्य उनके ऐश्वर्य और माधुर्य प्रधान रूप एवं अन्य आरोपित भावात्मक संवेग आंतरिक उत्तेजना का कार्य करते हैं। प्रायः अवतार-प्रतीकों के प्रत्याह्वान की क्रिया में उनके अंश या आयुध इत्यादि भी सहायक होते हैं, जैसे विष्णु का चक्र, परशुराम का परशु, राम का धनुष, कृष्ण की मुरली इत्यादि। प्रत्याह्वान में इष्ट या अभीष्ट की पूर्वानुभूति के अतिरिक्त साहचर्य का भी विशेष महत्त्व रहता है। इस दृष्टि से सहचर्या और 'उप+आसना' में समानता दीख पड़ती है। अवतारवादी लीलानुभूति तथा अष्टयाम पूजा में अवतार-प्रतीकों के साथ निबद्ध साहचर्य-भाव व्यंजित होता है।

मनुष्य किसी अव्यक्त शक्ति के हाथों का खिलौना है। अज्ञात मन एक अनुभवात्मक शक्ति है। वह मनुष्य की शारीरिक और मानसिक, चेष्टात्मक, बोधात्मक और संवेगात्मक क्रियाओं का संचालन करता है। मन की इच्छाएँ प्रतीक रूप में व्यक्त होती हैं। अतः अवतार प्रतीक भी पुराण-कर्ताओं की रचनात्मक कल्पनाओं के प्रतीक प्रतीत होते हैं। पौराणिकों में प्रतीकीकरण की यह क्रिया विकसित करने में अचेतन का ही प्रमुख हाथ रहता है। अचेतन में जो विस्थापन की क्रिया मानी जाती है, उस क्रिया के अन्तर्गत अचेतन की विविष्ट शक्ति से प्रभावित मनुष्य—उसका एक विकल्प प्रतिनिधि खोजता है। अवतार-प्रतीक पौराणिकों के अचेतन द्रव्य से निर्मित एक विकल्पात्मक प्रतिनिधि प्रतीक हैं। क्योंकि सामान्य जन कीतरह वे अपने देश, जाति या संस्कृति की रक्षा के लिए किसी अदृश्य शक्ति के आविर्भाव की भावना करते हैं या उस भावनान्त (Incarnation complex) अवतार-भावना-ग्रंथि का निर्माण करते हैं, जो कभी अपने यथार्थ रूप में सम्मूर्तित नहीं हो सकता। वह प्रायः विस्थापित होकर अवतार-प्रतीकों में व्यक्त होता है।

अवतार-प्रतीकों का नवीनीकरण

अवतार-प्रतीक नयी शक्ति प्रदान करने की क्षमता तथा युंग के मतानुसार अचेतन में आबद्ध 'लिबिडो' (मनोशक्ति) से उन्मुक्त होने की सम्भावनाओं से युक्त रहता है। प्रतीक सदैव यह कहता है कि कुछ विशिष्ट रूपों में जीवन का नूतन आविर्भाव होगा[1] तथा गत्यवरोध को दूर कर नई जीवन-चेतना उत्पन्न होगी। उसमें जीवन के बन्धन और जीर्णता से मुक्ति प्रदान करने की भावना निहित है। अचेतन से उन्मुक्त होने वाली लिबिडो राशि (मनोशक्ति) प्रतीक-प्रक्रिया के द्वारा भगवान को पुनः-पुनः युवक या किशोर युवक बनाकर प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया करती है। प्रतीक के निर्माण में यों बुद्धि या तर्क का अभाव रहता है; क्योंकि तर्क-वितर्क प्रतिमा या प्रतीक के निर्माण में सर्वथा अक्षम हैं, इसीसे प्रतीक प्रायः बुद्धिसम्मत नहीं होता। अवतार-जन्म प्रायः सभी जन्मों में भविष्यवाणी पर आधारित रहता है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भविष्यवाणी स्वयमेव अचेतन का प्रक्षेपण है, जो भविष्य की घटनाओं को सदैव अग्रच्छायित (Foreshadows) कर लेता है; क्योंकि अवतारवादी समाधान सदैव अबौद्धिक होता है।[2] आविर्भूत होने वाले उद्धारक का प्राकट्य असम्भाव्यता से सम्बद्ध रहता है। कुमारी कन्या से जन्म लेना, या खीर के द्वारा भारतीय अवतार की दिव्य उत्पत्ति, आदि व्यापार अवतारवादी धारणाओं में असम्भव अवस्थाओं से सम्बद्ध किए जाते रहे हैं। अवतार के जन्म के साथ-साथ प्रतीक की उत्पत्ति का भी आरम्भ हो जाता है। प्रतीक में दिव्यता या दिव्य प्रभाव की स्थापना की जाती है। दिव्य-प्रभाव का मानदंड है अचेतन वृत्तियों की अनवरुद्ध शक्ति। अर्थात् अचेतन वृत्तियों का उन्मुक्त प्रवाह ही अवतार-प्रतीकों में असम्भव और अद्भुत वैशिष्ट्यों का समावेश करता है। इस दृष्टि से अवतरित व्यक्ति नेता सदा वह रूप है जो अनेक अद्भुत शक्तियों से युक्त है; जो असम्भव को सम्भव बना सकता है। अवतार-प्रतीक वह माध्यमिक मार्ग है, जहाँ परस्पर विरोधी नयी दिशा की ओर जुटने दिखाई पड़ते हैं। युंग के शब्दों में यह वह जल-प्रवाह है, जो चिर तृषा के बाद नवजीवन उड़ेल देता है।[3] प्रतीक के जन्म के साथ अचेतन में लिबिडो का प्रत्यावर्तन बन्द हो जाता है बल्कि 'प्रत्यावर्तन' का स्थान प्रगति (Progression) ग्रहण कर लेता है और प्रतिबन्धन का स्थान प्रवहन ले लेता है। जिसके फलस्वरूप पुरातन को आत्मसात् करने की क्षमता विच्छिन्न हो जाती है।

---

१. साइको. टा. पृ. ३२०। २. साइको. टा. पृ. ३२२। ३. साइको. टा. पृ. ३२४।

उद्धारक अवतार-प्रतीक

युंग ने जिसे उद्धारक-प्रतीक बताया है, वस्तुतः वह अवतारवादी उद्धारक-प्रतीक की समस्त विशेषताओं से मिलता जुलता है। युंग के अनुसार मुक्ति-दाता या उद्धारक प्रतीक वह राजमार्ग है, जिस पर जीवन बिना किसी कष्ट या दबाव के चल सकता है।[1] प्रायः ईश्वर के नैकट्य से (अवतरित रूप में) ऐसा प्रतिध्वनित होता है मानो विपत्ति सिर पर मँडरा रही हो, जिस प्रकार अचेतन में एकत्रित 'लिबिडो' चेतन-जीवन के लिए खतरा था। वस्तुतः यह वह स्थिति है कि, अचेतन में 'लिबिडो' का जितना ही उत्सर्ग होता है, या स्वयं लिबिडो उत्सर्ग करता है, अचेतन और अधिक प्रभावशाली हो जाता है तथा उसकी प्रभाव-क्षमता विशेष तीव्र हो जाती है; जिसका तात्पर्य यह होता है कि समस्त निषिद्ध; उपेक्षित, कार्यपरत रहने की अवशिष्ट सम्भावनाएँ, जो शताब्दियों से विनष्ट हो गयी थीं सूक्ष्म चेतना की ओर से व्यर्थ अवरोध होते हुए भी, पुनर्जीवित होकर चेतन पर अपना वृद्धिगत प्रभाव डालने लगती हैं।[2] इस प्रक्रिया में प्रतीक ही रक्षात्मक तत्त्व है, जिसमें चेतन और अचेतन दोनों को अपना कर समन्वित करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है।

अवतार-युग में होने वाले गत्यवरोधों का मनोवैज्ञानिक कारण बतलाते हुए युंग ने अवतार-प्रतीक के साथ उसके प्रतिरोधी प्रतीक के जन्म का भी कारण प्रस्तुत किया है। उसके मतानुसार जब कि चेतना द्वारा निगत होने योग्य 'लिबिडो' शक्ति धीरे-धीरे पृथक्-पृथक् कार्यों में सधने लगती है, और लगातार बढ़ती हुई कठिनाइयों के बीच ही पुनः एकत्रित हो पाती है, और जब आन्तरिक मतभेद के लक्षण द्विगुणित होने लगते हैं, उस समय अचेतन उपादानों के अतिक्रमित और विच्छिन्न होने का खतरा सदैव बढ़ता ही जाता है, फिर भी सभी कालों में (अवतार) प्रतीक बढ़ता ही जाता है। जो आगे चलकर संघर्ष को अनिवार्य करने के उपयुक्त बन जाता है। इस प्रकार आने वाले खतरों और अत्याचारों के साथ अवतार-प्रतीक का इतना निकट का सम्बन्ध हो जाता है कि, उसके साथ-साथ आसुरीकी और राक्षसी प्रवृत्तियों का उदय भी प्रायः अवश्यम्भावी रहता है। इसी से प्रायः विश्व के सभी धर्मों में उद्धारक अवतार के साथ सर्वनाश का भय या भीषण युद्ध भी लगा रहता है। जब तक पुरातन ह्रासोन्मुख नहीं होता, तब तक शायद नवीन का आविर्भाव भी सम्भव नहीं जान पड़ता। यदि प्राचीन नवोद्भव में रोड़ा नहीं अटकाता तो फिर उसके उन्मूलन की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती।

---

१. साइको. टा. पृ. ३२६। २. साइको. टा. पृ. ३२६।

किसी भी प्रकार का उन्मूलन या उच्छेद बिना संघर्ष या युद्ध के सम्भव नहीं है। इसीसे प्रत्येक अवतार के साथ किसी न किसी युद्ध या असुर-वध का सम्बन्ध रहा है। युंग ने ठीक ही कहा है कि उद्धारक अवतार का जन्म एक बहुत बड़ी दुर्घटना के समानान्तर है, यद्यपि जहाँ नया जीवन, नयी शक्ति और नए विकास की आशा नहीं थी वहाँ एक नया शक्तिशाली जीवन फूट पड़ता है। यह स्रोत अचेतन मन के उस भाग से फूट निकलता है, जिसे हम चाहें या न चाहें, वह बिल्कुल अज्ञात है। बुद्धिवादी जिसका कोई महत्त्व नहीं देते, उस निन्दित और उपेक्षित क्षेत्र से निकलता है—शक्ति का एक नवीन स्रोत, जो जीवन का भी पुनर्जीवन है। किन्तु निन्दित और उपेक्षित क्षेत्र क्या है? यह उन मानसिक उपादानों की राशि है, जो असंगत होने के कारण अपने चेतन मूल्यों के साथ दमित किए गए थे। अतः युंग के अनुसार कुरूप, अनैतिक, दोष, व्यर्थ, अनुपयुक्त इत्यादि का तात्पर्य होता है, वह सब कुछ, जो किसी समय किसी व्यक्ति की समस्या के रूप में उत्पन्न हुआ था।[१] अब इसमें यही भय है कि वही शक्ति जो पदार्थों की पुनरुत्पत्ति का कारण थी, उसका नूतन और अद्भुत शौर्य, मनुष्य को इस प्रकार धोखा दे सकता है कि या तो वह सब कुछ भूल बैठता है या समस्त मूल्यों को अस्वीकार कर देता है। जिसकी उसने पहले उपेक्षा की थी अब वह चरम सिद्धान्त है और जो पहले ठीक था अब वह गलत हो गया।

अवतार-प्रतीकों का—भारोपीय विकास

मध्यकालीन अवतारवाद पर अनेक प्राचीन तथ्यों का प्रभाव किसी न किसी रूप में लक्षित होता है। भारतवर्ष अनेक जातियों की संस्कृति और सभ्यता का संगम रहा है। अनेक सांस्कृतिक उपादानों के साथ-साथ देव-मूर्ति के लिए प्रचलित कतिपय प्रतीक निश्चय ही परस्पर गृहीत होते रहे हैं। संमिश्रण की यह क्रिया वैदिक वाङ्मय में ही परिलक्षित होने लगती है। जिस प्रकार भारत और यूरोप की प्राचीन भाषा में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से एकता रही है, वैसे ही ऐसे कतिपय देव-प्रतीक मिलते हैं, जिनकी प्रकृति न्यूनाधिक रूपान्तर के साथ तत्कालीन भारोपीय मनोवृत्ति की ओर इंगित करती है।[२] इन भारोपीय प्रतीकों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है :—

---

१. साइको. टा. पृ. ३२८।

२. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २०। पुराकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विद्वानों ने कतिपय ऐसे तथ्यों को उपलब्ध किया है जो रूपान्तर के साथ भारत और युरोप दोनों देशों की पुरा-कथाओं में मिलते हैं। उनके मतानुसार सृष्टि

भारोपीय-प्रतीक
(Endo-European Symbol)

जन्तु प्रतीक (Theriomorphic Symbol) (मत्स्य, कूर्म, वराह)	पशु-मानव-प्रतीक (Therioanthropic Symbol) (नृसिंह)	मनुष्यवत्-प्रतीक (Anthropomorphic Symbol) (विष्णु, इन्द्र, अश्विन, अग्नि इत्यादि)

दैवीकृत मानव-प्रतीक (Anthropolatric Symbol) (ऋभुगण, मरुत्गण, राजा, राम, कृष्ण वैद्य, धन्वन्तरि जैसे)	विराट पुरुष-प्रतीक (Anthropocentric Symbol) (पुरुष और पौराणिक विराट रूप)

जन्तु-प्रतीक[1]—यों तो वैदिक देवताओं और ऋषियों के नाम भी पशुओं के रूप में मिलते हैं। जैसे—वृषभ, अश्विन, पितृ (ऊँट), वराह, अज, ऋक्ष, कौशिक, सनक इत्यादि। प्रारम्भिक अवतारों में मत्स्य, कुर्म और वराह ये तीन अवतार जन्तु प्रतीक ही रहे हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ये प्रतीक प्रतिमाएँ भी उसी प्रकार विकसित हुई है, जैसे मनुष्य या अन्य जड़-जंगम प्रतीक विश्व के समस्त जातीय पुराणों में अपना अस्तित्व रखते रहे हैं। युंग के अनुसार ये पौराणिक प्रतिमाएँ अचेतन निर्मिति की देन हैं; इनका अधिकार क्षेत्र भी निर्वैयक्तिक है। यथार्थतः अधिकांश लोग इन प्रतिमाओं को अधिकृत करने की अपेक्षा इन्हीं के द्वारा अधिकृत कर लिए गए हैं।[2] युंग सामान्य रूप से अत्युच्च व्यक्तित्व को 'आत्मा' के रूप में ग्रहण करता है, जो अहं से बिल्कुल भिन्न है। इस अहं का वहाँ तक विस्तार है, जहाँ तक चेतन मस्तिष्क और सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पहुँच है, जिसमें अचेतन और चेतन दोनों अंश समाहित हैं। अहं सम्पूर्ण के अंश की तरह आत्मा से सम्बद्ध है। इस सीमा तक 'आत्मा' अत्युच्च है। इसके अतिरिक्त आत्मा का अनुभव विषयी या भोक्ता (subject)

क्रम का चार भागों (युगों) में विभाजन-भारतीय पुराकथा के अतिरिक्त ग्रीक, रोमन इत्यादि पुराकथाओं में भी मिलता है। इसी प्रकार बहुत से देव-प्रतीकों का स्वरूप 'इन्डो जर्मन्' रूपों में देखा जा सकता है।

१. इ. आर. इ. भा. १ पृ. ५७३. विशेष। २. आर्के. कौ. अन. पृ. १८७।

के रूप में न होकर वस्तु या विषय (object) के रूप में होता है। यह क्रिया बिल्कुल उन अचेतन अंशों के चलते होती है, जो केवल प्रक्षेपण के द्वारा चेतन में प्रविष्ट होते हैं। अचेतन अंशों के चलते आत्मा चेतन मस्तिष्क से निष्कासित कर दी जाती है, जो अंशतः तो केवल मानव रूपों के द्वारा व्यक्त होती है, और इतर अंश लक्ष्यों (objectives) के द्वारा अमूर्त प्रतीकों में अभिव्यक्ति पाते हैं। मानव-रूपों में पिता और पुत्र, माता और पुत्री, राजा और रानी तथा देव और देवी आते हैं।[1]

अचेतन अंशों के द्वारा निष्कासित 'आत्मा' की अभिव्यक्ति मानव-प्रतीकों के अतिरिक्त 'जन्तु-प्रतीकों' में भी होती रही है। ऐसे जन्तु-प्रतीक सर्प, हाथी, सिंह, ऋक्ष आदि अन्य शक्तिशाली पुनः मकड़ा, केकड़ा, मधुमक्खी, तितली, कीड़े इत्यादि भी हैं। बनस्पति-प्रतीकों में मुख्यतः कमल-गुलाब जैसे प्रतीक हैं; आगे चलकर वे निष्कासित अंश चक्र, आयत, मंडल, वर्ग, घड़ी इत्यादि प्रतीकों में व्यक्त हुआ करते हैं।[2] अचेतन अंशों का अनिश्चित विस्तार मानव व्यक्तित्व के विस्तृत-विवरण को प्रायः अधिक दुरूह और असम्भव बना देता है। इस प्रकार अचेतन के पूरक तत्त्व दिव्य से लेकर पशुओं तक, सजीव चित्रों का निर्माण सम्भवतः मनुष्य के दो अतिवादी छोरों (देवता और पशु) के रूप में करते हैं।[3]

मत्स्य-प्रतीक

जन्तु[4] या जन्तुवत् प्रतीकों में मत्स्य-प्रतीक का प्राचीन धर्मों में विशेष प्रचार रहा है। पश्चिम की पुराकथाओं में मत्स्य से सम्बद्ध अनेक पुरा-कथाएँ मिलती हैं। पाश्चात्य पुरा-कथाओं में भी आदि जल-राशि की माता के गर्भ की तरह स्थिति मानी जाती है।[5] ईसाई अन्योक्तियों में मत्स्य-प्रतीक के पुरा-प्रतीकात्मक रूप का पर्याप्त विस्तार रहा है। उनकी कतिपय पुरा-कथाओं में भी मत्स्य और मत्स्यवत् प्राणियों के प्रसंग आते रहे हैं। यों ग्रीस के थेल्स नामक दार्शनिक की यह धारणा थी कि सब कुछ पानी से ही निकला है और प्रसिद्ध ग्रीक महाकवि होमर भी स्वयं समुद्र को देवोत्पत्ति का मूल स्रोत मानता है किन्तु ग्रीक दार्शनिक 'एनेग्जीमेंडर' के अनुसार तो मनुष्य का

१ आर्के. कौ. अन. पृ. १८८७।
२. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २२५ तथा आर्केटाइप कौ. अन. पृ. १८७।
३. आर्केटाइप कौ. अन. १८७।
४. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ७५। ग्रीक पुरा-कथा में पशु-मत्स्य की कथा भी मिलती है।
५. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ६३।

मूल स्रोत भी मत्स्य है। इन कथाओं में यह भी माना जाता है कि 'मत्स्य' और 'मत्स्यवत्' प्राणी-वर्ग की उत्पत्ति गर्म जल से हुई है।[१] पालिनेशियनों का शिशु-देव 'मवै', (Mavi) जो मनु के समानान्तर विदित होता है,[२] जल से उत्पन्न होने की कथा स्वयं कहता है। जल में उसकी रक्षा एक कोमल 'जेली मछली' ने की थी। वही उनका प्राचीन पूर्वज-भी समझा जाता रहा है।[3] मत्स्यावतार का आदि पुरुष विष्णु 'एनेग्जीमेंडर' के आदि पुरुष (Primeval being) की तरह विदित होता है।[४] ग्रीक पुराकथा में 'एलुसीनियन' 'रहस्य-मत्स्य' बहुत पवित्र माने गए हैं।[५] मध्यएशिया एवं पूर्वी युरोप की पुराकथाओं में विख्यात् 'डौलफिन' की पुरा-कथा में एक 'चौपाये-मत्स्य' का प्रसंग आया है, जिसको उसने हाथों में पकड़ रखा है।[६] यहूदी परम्परा के अनुसार 'मसीहा' का अवतार मत्स्य से ही हुआ है।[७] मत्स्य स्वयं ईसा के लिए प्रयुक्त अधिक प्रचलित प्रतीकों में रहा है।[८] इसके अतिरिक्त मध्य युरोप और एशिया कतिपय प्राचीन देशों में 'मत्स्य-सम्प्रदाय' और 'मत्स्य-पूजा' का प्रचार रहा है।[९] चौदहवीं शती के 'डेनियल' में यह लिखा हुआ है कि 'मसीहा' का 'मत्स्य-रूप' में अवतार होगा।[१०] इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि 'मत्स्य' प्राचीन युग के भारोपीय धर्मों में विशिष्ट स्थान रखता है। युंग के अनुसार इस प्रकार के जन्तु प्रतीक मनुष्य के मन में निहित अचेतन उपादानों द्वारा निर्मित होते हैं। अचेतन को वह अनेक प्रकार की पौराणिक प्रवृत्तियों का जन्मदाता समझता है। युंग के अनुसार अचेतन केवल चेतन के प्रतिबिम्बों द्वारा 'बिम्ब' या प्रतिमाओं का निर्माण नहीं करता, बल्कि ऐसी धारणाओं के निर्माण में वह समस्त विश्व की मानवीय रीतियों और प्रथाओं की क्षमता भर लेता है। पौराणिक युग और अवतारों की सर्जना में भी इसी प्रक्रिया का हाथ है।[११] पाश्चात्य पुरा-कथाओं में प्रयुक्त होने वाले 'मत्स्य-प्रतीक' को युंग ने अचेतन उपादान के रूप में ग्रहण किया है। 'मत्स्य' वह अचेतन उपादान है, जिससे (सृष्टि में) नयी जीवनी शक्ति का संचार हुआ।[१२]

मत्स्य के सदृश कूर्म पाश्चात्य पुराकथा में इतना अधिक लोकप्रिय नहीं

---

१. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ६४।
२. इन्ट्रो. सा. मा. ६५।
३. इन्ट्रो. सा. मा. ६६–६७।
४. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ६८।
५. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २०८।
६. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ७५।
७. एवोन पृ. १२१।
८. एवोन पृ. ८९।
९. एवोन पृ. ७३।
१०. एवोन पृ. ७४।
११. आर्के. कौ. अन. पृ. ३१०।
१२. आर्के. कौ. अन. पृ. ११९।

है। किन्तु कूर्म वर्ग के अनेक जन्तु विभिन्न पुरा-कथाओं में गृहीत होते रहे हैं। यों ग्रीक पुरा-कथा के प्रसिद्ध देवता 'अपोलो' का रूप कूर्म के सदृश भी मिलता है।[1]

वराह

वराह या सूकर पाश्चात्य पुराकथाओं मिलते हैं। 'डेमेटर' देवी की पुराकथा के प्रसंग में एक 'सूकर' का उल्लेख हुआ है। यद्यपि उस पुरा-कथा का आद्योपान्त साम्य भारतीय पुराणों की अवतारवादी कथा से नहीं है, किन्तु फिर भो 'माता पृथ्वी' और 'अनाज' से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, जब कि भारतीय वराह-कथा में भी 'पृथ्वी' और 'रक्षा' तत्त्व प्रमुख स्थान रखते हैं। इसके अतिरिक्त वराह का लघुतम आकार से बड़े आकार में बढ़ना और पृथ्वी को अपने दाँतों पर उठा लेना, युरोपीय पुरा-कथा के 'वराह'-प्रतीक से क्रियात्मक साम्य रखता है; क्योंकि युरोपीय पुरा-कथा में वराह और अन्न दोनों गढ़े में गिर गए और पुनः अन्न के रूप में दोनों बढ़ गए।[2] फोनेशियन पुरा-कथा में 'स्वर्ण-वराह' की कथा का प्रसंग आया है। जिसमें कहा गया है कि "मैंने 'आधार स्तम्भ' (पेडस्टल) पर एक स्वर्ण-वराह देखा। जन्तु की तरह पुरुष जन उसके चारों ओर वृत्ताकार नृत्य कर रहे थे। हमने शीघ्र ही पृथ्वी में एक छिद्र कर दिया। मैं अन्दर पहुँची और वहाँ नीचे मुझे जल मिला। तब स्वर्ण में एक मनुष्य प्रकट हुआ। वह छिद्र में कूद पड़ा। मानों नाचते नाचते हुए वह आगे पीछे डोलने लगा। मैं भी उसके साथ लय में झूम उठी। वह अचानक छिद्र के ऊपर निकल आया। उसने मेरे साथ बलात्कार किया और मुझे शिशु के साथ पाया।"[3] इस प्रकार देवियों के समानान्तर पाश्चात्य पुरा-कथाओं में 'pig' और 'corn' के प्रतीक गृहीत होते रहे हैं। इन्डोनेशियन पुरा-कथा में[4] वराह के दाँतों पर सर्व प्रथम 'नारियल का पेड़' निकला था। तिब्बती 'विश्व-चक्र' जैसे मंडलों में मुर्गा-वासना, सर्प-द्वेष, और सूकर-अचेतन के प्रतीक-रूप में चित्रित हुए हैं।[5] तथा पाश्चात्य 'परी-कथाओं' में भी एक 'कृष्ण सूकर' का प्रसंग आता रहा है।[6] इन उदाहरणों से ऐसा लगता है कि 'सूकर' भी आरोपीय-कथा में सर्वथा अपरिचित नहीं है। यदि इस प्रतीक का एकोन्मुख (Monographic) अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही इसकी आरोपीयता और अधिक स्पष्ट हो सकती है।

---

१. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. ७८।
२. इन्ट्रो. सा. मा. १६५।
३. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २३०।
४. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. १८४।
५. आर्के. कौ. अन. पृ. ३६०।
६. आर्के. कौ. अन. पृ. २२६।

पशु-मानव प्रतीक (The roanthropic Symbol)

पशु-मानव प्रतीकों में अवतारवादी प्रतीक 'नृसिंह' का विशिष्ट रूप मिलता है। 'नृसिंह' जैसे पशु-मानव प्रतीकों का प्राचीन पुरा-कथाओं में नितान्त अभाव नहीं है। अपितु पुरातन मिश्र और असीरिया के देवताओं के रूप नृसिंह (Man Lion), नृपक्षी (Man Bird), नृमत्स्य (Manfish) आदि रूपों में मिलते रहे हैं।[1] युनान एवं उसके पार्श्ववर्ती देशों में भी इस प्रकार के पशु-मानव प्रतीक देखे जा सकते हैं।[2] कीथ ने 'जन्तु-प्रतीकों' से ही इनका विकास माना है।[3] इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'नृसिंह' अवतार-प्रतीक भी भारोपीय विशेषताओं से भिन्न नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्य जन्तु-प्रतीकों के सदृश नृसिंह भी अचेतन उपादानों की देन है। अचेतन अंशों के द्वारा निष्कासित आत्मा की अभिव्यक्ति[4] मानव या अन्य प्रतीकों के अतिरिक्त 'नृसिंह' जैसे पशु-मानव प्रतीकों में भी होती रही है।

मानवी कृत या मनुष्यवत् प्रतीक (Anthropomorphic Symbol)

पुरातन युग के मनुष्य ने अनेक प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना मानवीय रूपों में की थी। अग्नि, विष्णु, वरुण, इन्द्र, अश्विन इत्यादि का वैदिक मंत्रों में आह्वान प्रायः उन्हें मनुष्योचित कार्य-व्यापार से सम्बद्ध करता है। दैवीकरण के ही क्रम में मानवीकरण की यह प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई कि प्राचीन धर्मों में प्रचलित यज्ञ आदि पूजा-विधियाँ भी मानवीकरण के द्वारा विभिन्न प्रतीकों में ढल कर प्रचलित हुईं। मानवीकरण की यह क्रिया युंग के अनुसार प्रायः प्रतीकों के रूपान्तर के द्वारा होती है।[5] उदाहरण के लिए यज्ञ विधियों का कर्त्ता पुरोहित होता है। चूंकि उसका कार्य आवाहनीय उपादानों के द्वारा देवता को प्रसन्न करना है; इसलिए पुरोहित बाद में चलकर देवता की प्रसन्नता

---

१. जे. एन. फर्क्युहर ने 'प्रिमियर आफ हिन्दूइज्म' में इनका प्रासङ्गिक उल्लेख किया है।

२. माइथो. पृ. १६–ग्रीस में (पृ. १५) इनकी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। एवोन पृ. ७५–'सलेसस' के रेखांकन के अनुसार स्रष्टा का प्रथम एंजिल 'माइकेल' का रूप सिंह का था। तथा (एवोन पृ. ७२) 'क्राइष्ट' के विभिन्न अन्योक्तिपरक प्रतीकों में 'सिंह' भी एक प्रतीक रहा है।

३. रेलि. ऋ. उप. खण्ड. ३१ पृ. १९७।

४. आर्के. कौ. अन. पृ. १८७।

५. साइ. रेलि. पृ. २०६।

का प्रतीक बन जाता है। और अधिक काल व्यतीत हो जाने पर मानवीकरण के द्वारा देवता का प्रतीकत्व पुरोहित में रूपान्तरित (Transformed) हो जाता है। ऋग्वैदिक साहित्य के अनेकों मंत्र रचयिता ऋषि अपने वर्ण्य देवता के रूपान्तरित रूप हो गए। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' के रचयिता 'नारायण ऋषि' बाद में स्वयं पुराण-पुरुष, 'आदि पुरुष' के रूप में 'पुरुष' के वाचक बन गए। इसी से युंग ने लिखा है कि 'देव-पूजन' की विधियों का प्रत्येक अंश प्रतीक-स्वरूप होता है। प्रतीक ज्ञात या चिन्त्य सत्य के लिए स्वतंत्र या प्रयोजनवश निर्मित प्रतीक ही नहीं है, बल्कि मानवीकृत वह प्रतीक है, जो सीमित और आंशिक रूप में ग्राह्य और केवल आंशिक रूप में चिन्त्य किसी मानवेतर शक्ति की अभिव्यक्ति है।[1] इस दृष्टि से वह 'मास (mass) विधि'[2] को मानवीकृत प्रतीक मानता है। मनुष्य जैसे मनुष्य को उपहार देता है, वैसे ही प्रेमवश वह ईश्वर को भी मनुष्य समझ कर (या अपने अचेतन में मनुष्यवत् की भावना कर) जो उपहार या 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' अर्पित करता है, इसे उपहार-दान की प्रवृत्ति का रूपान्तर ही कहा जा सकता है। क्योंकि जैसे वह मनुष्य को देता था वैसे ईश्वर को देता है। पूजा-विधि का यह रूपान्तर देवता के मानवीकरण की भी पृष्ठभूमि प्रदान करता है। रूपान्तर के द्वारा मानवेतर शक्तियों का मानवीकरण सम्पूर्ण भारोपीय दैवीकरण की प्रक्रियाओं का प्रमुख रूप कहा है। सूर्य के द्वादश रूप जिस प्रकार १२ वैदिक देवों के रूप में भारतीय साहित्य में प्रचलित हैं, उसी प्रकार 'गृक-ओलम्पस' देवों में भी द्वादश विष्णुओं की तरह द्वादश 'ओलम्पस' प्रधान हैं।[3]

वामन

भारतीय अवतार-प्रतीकों में वामन इसके विशिष्ट प्रतीक माने जा सकते हैं। वैदिक साहित्य में वामन का जो नाम 'उरुक्रम' 'त्रिविक्रम' के रूप में प्रचलित है, उन 'विष्णु सूक्तों' में उनकी कथा विष्णु के तीन पदाक्षेपों से सम्बद्ध रही है। ये 'तीन पदाक्षेप' तो वामन की अवतारवादी कथा में भी निबद्ध रहे, किन्तु वामन का जो एक विशिष्ट प्रतीकात्मक रूप प्रचलित हुआ वह था—'वामन' का मानवीकृत रूप (Anthropomor

---

१. साइ. रेलि. पृ. २०७।

२. साइ. रेलि. पृ. २२१ 'मास-विधि'—इस विधि में ईसा को रोटी और शराब, उपहार स्वरूप दिए जाने पर, मानव-जगत में ईश्वर का रहस्योद्घाटन होता है। यह रहस्योद्घाटन ईश्वर का मनुष्य रूप में रूपान्तरित होना है।

३. माइथो. पृ. ३६।

phic form), जो कालान्तर में भी इसी रूप में परिवर्द्धित होता रहा और बाद में मनुष्योचित जन्म-कथा से भी उसका सम्बन्ध जोड़ा गया। देखना यह है कि 'वामन' विशुद्ध भारतीय रूप है या भारोपीय। प्रायः पाश्चात्य पुरा-कथाओं में 'वामन' की कोई वैसी कथा नहीं मिलती, जो उसकी भारोपीयता को बिल्कुल स्पष्ट कर सके; फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं, जिनका वामन-कथा में उपलब्ध कुछ विशेषताओं से साम्य है। युरोपियन पुरा-कथा का प्रसिद्ध शिशु-देवता, लघु से लघु और महत् से महत वामन के रूप में भी प्रकट होता है।[1] वामन में भारोपीय दैवीकरण की दृष्टि से 'मानवीकरण' की प्रवृत्ति ही प्रमुख रूप से सक्रिय दीख पड़ती है।

दैवीकृत प्रतीक (Anthropolatric Symbol)

दैवीकरण की दिशा में मनुष्येतर शक्तियों का मानवीकरण और मानव-समाज की मानवीय शक्तियों का दैवीकरण ये दो कार्य-व्यापार सबसे अधिक प्रचलित रहे हैं। प्राचीन काल की दैवीकरण से सम्बद्ध प्रवृत्तियों में अपने जातीय वीरों, सरदारों, पुरोहितों और वैद्यों को देवता के रूप में मान्य समझा जाता था। इनके व्यक्तिगत गुणों में शक्ति, शौर्य, चातुर्य के द्वारा जो लोकोत्तर चमत्कार दीख पड़ते थे, वे ही इनके दैवीकरण के मुख्य कारण थे। भारतीय धर्मों में भी राजा, ऋषि, वैद्य (धन्वन्तरि) आदि को देवत्व प्रदान करने की भावना मध्यकाल तक चलती रही। यदि यह कहा जाय कि अवतारों की संख्या बढ़ाने में इस भावना-प्रक्रिया का विशेष योग रहा है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि दशावतार के उपरान्त चौबीस अवतार तथा मध्यकालीन सम्प्रदायों में गुरुओं के अवतारीकरण का विकास प्रायः दैवी-करण के द्वारा होता रहा है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार अदृश्य देवताओं से भयभीत होना तथा उनकी कृपा पर विश्वास करना मनुष्य की अपनी अपूर्णता की ओर इंगित करता है।[2] उसे अपने सामाजिक जीवन में रक्षक, मुक्तिदाता, नायक या वीर नेता की आवश्यकता पड़ती है। जो उसके जीवन में आनेवाली विघ्न-बाधाओं से मुक्ति दिला सके।

इसी से दैवीकृत नेता, जो अपने अद्भुत जन्म एवं शिशु-काल में अनेक विघ्न-बाधाओं से जूझता है, उन पर विजयी होने के कारण वह भी देवशक्ति या अति प्राकृतिक शक्ति से युक्त समझा जाता है।[3] ईश्वर यों तो स्वभाव से ही अतिप्राकृतिक है; जब कि नेता की प्रकृति मानवी होती है, किन्तु उसे

---

१. आर्के. कौ. अन. पृ. १५८। २. आर्के. कौ. अन. पृ. २३।
३. आर्के. कौ. अन. पृ. १६५।

अतिप्राकृतिक सीमा तक उठाकर 'अर्द्ध-दैवी-रूप' प्रदान किया जाता है। ईश्वर विशेषकर अपने प्रतीक पशु-रूप में प्रकट होकर, सामूहिक अचेतन का मानवीकरण करता है, जिसे मानव में आत्मसात् नहीं किया जा सकता; किन्तु नेता की अतिप्राकृतिकता में भी मानव-स्वभाव का योग रहता है। इसीसे वह (दैवी किन्तु मानवीकृत नहीं) अचेतन और मानव-चेतना के समन्वित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। परिणामतः वह व्यक्तिकरण (individuation)-प्रक्रिया के संचित पूर्वज्ञान को सूचित करता है, जो पूर्णत्व तक पहुँचाता है।[१] अवतारीकरण व्यक्तिकरण-प्रक्रिया का ही एक मुख्य अंग है। ईश्वर भी मानव-रूप में आविर्भूत होने पर 'नेता' और 'मानव-ईश्वर' है, जिसका जन्म निष्कलुष है। वह सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। सामान्य मनुष्य से उसका सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा बालक का वयस्क के साथ रहता है। ग्रीक राजाओं से लेकर, ईसा, सीजर इत्यादि का दैवीकरण भारतीय, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के समकक्ष जान पड़ता है। इस वर्ग के प्रतीकों में स्थानीय और जातीय प्रभाव अधिक रहा है। साथ ही अधिक परवर्ती होने के कारण इनमें भारोपीय व्यापकता तो नहीं मिलती किन्तु दैवीकरण प्रक्रिया की दृष्टि से इनमें भारोपीय वैशिष्ट्य देखा जा सकता है।

पूर्ण पुरुष या विराट-पुरुष (Anthropocentric Man)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कथनानुसार विराट-पुरुष की कल्पना के रूप में, अपूर्ण मनुष्य ने अपने को पूर्ण और विशाल रूप में देखने का प्रयास किया है।[२] यों भारोपीय धर्मों में ईश्वर सदैव पूर्णत्व का प्रतीक रहा है। अतएव वह महापुरुष जिसका अवतारीकरण या दैवीकरण होता है, उसमें अन्य मनुष्यों की अपेक्षा एक विशेषता यह दीख पड़ती है, कि ईश्वर की तरह वह सर्वव्यापी हो जाता है। भारतीय साहित्य में यह जागतिकता, सार्वभौमिकता और सर्वव्यापकता सर्वप्रथम 'पुरुष सूक्त' के पुरुष में मिलती है।[३] 'अदिति सूक्त' में 'पुरुष' की विराट कल्पना उसके महत्तम रूप को प्रदर्शित करती है। सम्भवतः अनेक भुजा और अनेक सिर की मूर्ति-निर्माण की प्रेरणा 'पुरुष' के विराट रूप से प्राप्त होती रही है। 'सब कुछ पुरुष ही पुरुष है',[४] जो अपने विराट-स्वरूप में उपस्थित है। पाश्चात्य अवतरित-देवों में भी यह सर्वव्यापकता की भावना लक्षित होती है। कालान्तर में ईसा इस सर्व या पूर्ण रूपत्व

---

१. आर्के. कौ. अन. पृ. १६६।
२. दी. रेली. मैन. में विस्तृत द्रष्टव्य।
३. ऋ. १०, ९०।
४. 'पुरुषं एवेदं सर्वं'।

से अभिहित किए गए।[१] ईसा के पूर्णत्व का परिचायक, पाश्चात्य धार्मिक वाङ्मय में एक केन्द्र सहित वृत्त प्रतीक मिलता है, जो ईश्वरावतार ईसा के पूर्णत्व एवं विराट रूपत्व का परिचायक रहा है।[२] भारतीय धर्मों में आगे चलकर पुरुष और ब्रह्म से प्रायः राम, कृष्णादि अवतारों को अभिहित करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। बाद में पूर्णत्व और विराट-रूपत्व ही उनके अवतारत्व के परिचायक बन गए। 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत' तथा परवर्ती पुराणों और महाकाव्यों में जहाँ भी इनके अवतारत्व के प्रति संदेह उपस्थित होता है ये अपने जागतिक या विराट रूप की अभिव्यक्ति द्वारा अपने अवतारत्व की पुष्टि करते रहे हैं। युंग ने इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का किंचित् प्रयास किया है। युंग के अनुसार सभी व्यक्ति केवल व्यक्तिगत अहं से युक्त नहीं हैं, बल्कि वे भाग्य से भी परस्पर आबद्ध हैं। 'आत्मा' अहं नहीं है अपितु चेतन और अचेतन दोनों को समाहित कर अत्युच्च सम्पूर्णता से युक्त है। पर अहं की कोई वास्तविक सीमा नहीं है, क्योंकि वह अपने गहन स्तर में सामूहिक प्रकृति का है। इसे किसी भी अन्य व्यक्ति से (व्यक्ति के अहं से) पृथक् नहीं किया जा सकता। जिसके फलस्वरूप वह लगातार सर्वव्यापकता (Ubiquitous, participation Mystique) की सृष्टि करता है; जो अनेकता में एकता है, तथा एक मनुष्य में समस्त मनुष्य की स्थिति है।[3] यही मनोवैज्ञानिक सत्य 'मानव-पुत्र (Son of Man), 'The Homo Maximus' The Virunus' तथा 'पुरुष' की भाव-प्रतिमा (आर्केटाइप) के लिए आधार-भूमि तैयार करता है। क्योंकि यथार्थतः अचेतन को परिभाषा के द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता, अधिक-से-अधिक अनुभवात्मक उपकरणों के द्वारा उसका अनुमान किया जा सकता है। कुछ अचेतन उपादान निश्चय ही व्यक्तिगत और वैयक्तिक हैं, जिन्हें किसी अन्य व्यक्ति पर आरोपित नहीं किया जा सकता। किन्तु इनके अतिरक्त सैकड़ों ऐसे उपादान हैं, जिन्हें एक सदृश रूपों द्वारा अनेक विभिन्न व्यक्तियों में निरीक्षण किया जा सकता है; जो किसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं।[४] इन अनुभूतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि अचेतन का एक सामूहिक स्वरूप भी है। इसी से युंग यह नहीं समझ पाते कि कैसे लोग सामूहिक अचेतन के अस्तित्व में अविश्वास रखते हैं। अचेतन उनके मतानुसार समस्त मनुष्यों में जागतिक मध्यस्थता का कार्य करता है। यह सभी की इन्द्रियों को ग्राह्य होने वाला तथा सभी में समान रूप से निवास

---

१. साइ. रेली. पृ. २७६। २. साइ. रेली. पृ. २७६।
३. साइ. रेली. पृ. २७७। ४. साइ. रेली. पृ. २७७।

करने वाला अधोस्तरीय मानस है ।[1] इस प्रकार युंग पुरुष या अन्य अवातार-प्रतीकों की सर्वविद्यमानता या पूर्णत्व का कारण मानव-मन में स्थित उस सामूहिक अचेतन को मानता है, जो सभी में अवस्थित है ।

आत्म-प्रतीक के रूप में अवतार-प्रतीक

शास्त्रों में किसी भी परिभाषा या स्वयंसिद्धि के दो रूप माने जाते हैं, उनमें एक है उनका वास्तविक या पारिभाषिक रूप और दूसरा है—उसका व्यावहारिक या प्रतीकात्मक रूप । पारिभाषिक रूप को ही संकेत या प्रतीक के माध्यम से संकेतित करने के लिए व्यावहारिक प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है । उदाहरण के लिए रेखा की वास्तविक परिभाषा यह है कि जिसमें लम्बाई हो, परन्तु व्यावहारिक रूप में केवल लम्बाई वाली रेखा खींचना बिल्कुल असम्भव है । आत्मा भी अनाम, अरूप और अद्वैत है, अतः उसका व्यावहारिक रूप संकेत या प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है । ब्रह्म में 'कामस्तदग्रे समवर्तताधी मनसोरेतः प्रथमम् यदासीत्' या 'सोऽकामयत' तथा उपनिषदों में प्रयुक्त 'सर्वरस', सर्वगंध, सर्वकर्मा (छा. उ. ३।१४) इत्यादि विशेषताएँ,-उसकी सेन्द्रियता को उपलक्षित करती हैं । यही सेन्द्रियता उसके सगुणत्व का कारण बन जाती है । मानव-अवतार के रूप में उसके ब्रह्मत्व की प्रतीकात्मकता उसकी चरम सेन्द्रियता को ही व्यंजित करती है । समस्त सेन्द्रिय चेतना को आत्म-सत्ता पर अधिष्ठित हम मान सकते हैं, क्योंकि मनुष्य और उसकी आत्मा दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । अतएव उपास्य ब्रह्म के रूप में मान्य होने पर अवतारों की समस्त उपास्य-वादी अभिव्यक्तियाँ, अधिक-से-अधिक आत्मा-प्रतीकों के ही रूप में मिलती हैं । उपास्य-भाव में गृहीत होने पर राम-कृष्ण, नृसिंह आदि विशेष अवतार सम्बद्ध 'अथर्वाङ्गिरस' उपनिषदों में 'हृदय में सन्निविष्ट' आत्म-प्रतीकवत् ही वर्णित हुए हैं ।

अतः देखना यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से 'आत्मा-प्रतीकों' की क्या स्थिति है । भारतीय या पाश्चात्य प्रायः दोनों प्रकार के आत्म-प्रतीकों का युंग ने अपने अनेक निबन्धों में विस्तृत विश्लेषण किया है । 'एवोन' नाम की पुस्तक में तो केवल 'आत्म-प्रतीकों' का ही विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । इस विश्लेषण-क्रम में युंग की अपनी स्थापनाएँ हैं जो अधिक स्पष्ट और स्वीकार्य न होती हुई भी विचारणीय हैं । युंग ने विशेषकर

---

१. साइ. रेली. पृ. २७७ ।

'अहं' और अहं से सम्बद्ध 'चेतन' और 'अचेतन' की ही पृष्ठभूमि में आत्म-प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। युंग के अनुसार हिन्दू धर्म में आत्म-प्रकृति शिशु की प्रकृति से मिलती-जुलती है।[1] वह व्यष्टि आत्मा के रूप में 'अणोरणीयान' है और जागतिक पर्याय के रूप में 'महतोमहीयान'। भारतीय आत्म-प्रतीक की विशेषता ज्ञाता और ज्ञेय के एकत्व में निहित है।[2] युंग आत्मा का उदय शरीर के गहन अन्तराल में मानता है। संवेद्य चेतना की निर्मिति के आधार पर उसके वस्तुत्व की अभिव्यक्ति पाश्चात्य धार्मिक साहित्य में प्रायः 'शिशु' आत्म-प्रतीक की अभिव्यक्ति का साधन रहा है। यों मानस (Psyche) की विशिष्टता को सम्पूर्णतः वास्तविक रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता है, फिर भी आत्मा समस्त चेतना का परम आधार है।

युंग ने आत्मा और अहं के साथ ईसा का जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसे भारतीय प्रतीक अवतारों पर भी आरोपित किया जा सकता है। 'मनुष्य' की दृष्टि से ईसा अहं के समकक्ष हैं, और ईश्वर की दृष्टि से आत्मा के समकक्ष, एक ही समय में वे अहं और आत्मा दोनों तथा अंश और पूर्ण दोनों हैं। अनुभव ज्ञान की दृष्टि से चेतना समस्त को कभी भी आत्मसात् कर सकती है, किन्तु फिर भी यह सम्भव है कि 'सम्पूर्ण' अचेतन रूप से अहं में वर्तमान हो। यह अवस्था सबसे ऊँची पूर्णता की अवस्था के समतुल्य है। युंग ने आत्मा की तुलना एक पत्थर से की है जो ज्ञान या विज्ञान का साध्य है। किन्तु पत्थर के 'पथरत्व' का ज्ञान मनुष्य से उपजता है।[3] यही दशा आत्मा के साथ भी जान पड़ती है। वह भी मानव-ज्ञान की देन है। यों वह लघुतम से लघुतम है, जिसके फलस्वरूप बड़े सहज ढंग से उसकी उपेक्षा हो सकती है। यथार्थतः उसको रक्षा, पोषण इत्यादि की भी आवश्यकता नहीं है। यह आत्मा इस प्रकृति की है कि वह स्वयमेव चेतन नहीं होती, अपितु परम्परागत शिक्षा से ही जानी जाती रही है। यों वह व्यक्तिकरण (Individuation) में सत्व के लिए प्रयुक्त होती है और व्यक्तिकरण बिना वातावरण के सम्बन्ध के नहीं जाना जा सकता; अतएव व्यक्तिकरण की प्रक्रिया में भी उसकी अनोखी स्थिति है।

इसके अतिरिक्त आत्मा एक भाव-प्रतिमा (आर्केटाइप) है, जो समान्यतः अपनी उस अवस्था को ज्ञापित करती है, जिसके अंदर अहं का निवास है।

---

१. आर्के. कौ. अन. पृ. १७१।   २. आर्के. कौ. अन. पृ. १७१।

३. एवोन पृ. १६७।

इसलिए प्रत्येक 'भाव-प्रतिमा' (आर्केटाइप) की तरह आत्मा को व्यक्ति की अहं-चेतना में अभिकेन्द्रित नहीं किया जा सकता। फिर भी यह उस आवृत वायुमंडल की तरह सक्रिय रहती है, जिसकी देश और काल में भी कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती।[१] युंग के आत्मा का विवेचन 'Marienus' नाम की कृति में आयी हुई आत्मा के निमित्त प्रयुक्त 'पत्थर' प्रतीक के लिए किया है और आत्मा को भी अचेतन उपादानों में परिगणित किया है। यह कहता है कि 'आजकल हम इसे (आत्मा को) अचेतन कहेंगे और इसे व्यक्तिगत अवचेतन से भिन्न मानेंगे, जो छाया और व्यक्तिगत अचेतन तथा आत्मा के पुरा-प्रतिमात्मक प्रतीक को पहचानने में सहायता करेगा। यद्यपि आत्मा प्रतीकात्मक चेतन उपादान भी हो सकती है, फिर भी यह एक ओर तो उच्चतम सम्पूर्णता का द्योतन करती है और दूसरी ओर विश्वातीत का।[२]

ज्यामितिक और गणितीय प्रतीकों के अतिरिक्त मनुष्य भी एक सर्वसामान्य आत्म-प्रतीक है। वह या तो ईश्वर है या ईश्वरवत् मनुष्य है—राजकुमार, पुरोहित, महापुरुष, ऐतिहासिक पुरुष, पूज्यपिता या अत्यन्त सफल ज्येष्ठ भ्राता संक्षेप में एक वैसी मूर्ति है, जो स्वप्नद्रष्टा के अहंपरक व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर जाता है।[3] युंग ने आत्म-प्रतीक का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए आत्मा के प्रतीकीकरण का क्षेत्र बहुत व्यापक बतलाया है। उसके मतानुसार आत्मा उच्चतम या निम्नतम उन सभी रूपों में प्रकट हो सकती है, जहाँ तक आत्मा 'Diamonion की तरह' अहं-व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने में सक्षम हो सकती है। इस संदर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आत्मा के अपने 'जन्तु-प्रतीक' भी हैं। आधुनिक स्वप्नों के इन सर्वसामान्य प्रतिमाओं (Images) में हाथी, घोड़े, बैल, भालू, सफेद और काले पक्षी, मत्स्य और सर्प भी हैं। तथा कभी-कभी व्यक्ति को कूर्म, मकड़ी, पटबीजन इत्यादि के भी दर्शन होते हैं। पुष्प और वृक्ष भी आत्मा के प्रमुख वनस्पति-प्रतीकों में से हैं। इस दृष्टि से अवतार-प्रतीक और आत्म-प्रतीकों में अभूतपूर्व साम्य जान पड़ता है।[४] अवतार-प्रतीकों में जन्तु, जन्तु-मानव मानव इत्यादि जितने प्रकार के प्रतीकों का प्रचार है, प्रायः वे सभी प्रतीक आत्म-प्रतीक के रूप में भी गृहीत हो सकते हैं।

---

१. एवोन पृ. ११०-१११। २. एवोन पृ. १६८-१७०।
३. एवोन पृ. १७०। ४. एवोन पृ. २२६।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा चेतन (पुंल्लिंग) और अचेतन (स्त्रीलिंग) का संयुक्त रूप है। यह मानसिक पूर्णता को भी अभिहित करता है। सूत्र रूप में यही कहा जा सकता है कि यह एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। अनुभव की दृष्टि से आत्मा स्वच्छन्द रूप से विशिष्ट प्रतीकों में व्यक्त होती है और उसकी सम्पूर्णता का प्रत्यक्ष अनुभव विशेषकर मण्डलों और उनके असंख्य रूपों द्वारा किया जा सकता है।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से ये प्रतीक साक्षात् भगवत् प्रतिमा-विग्रह ही माने जाते हैं। युङ्ग की धारणा के अनुसार राम, कृष्ण इत्यादि भारतीय अवतार मनुष्य के रूप में अहं के प्रतीक और ईश्वर के रूप में पूर्ण आत्म-प्रतीक माने जा सकते हैं। विभिन्न मध्यकालीन सम्प्रदायों में जिन उपास्य-प्रतीकों को भगवत्-विग्रह के रूप में पूजा जाता रहा है, वे भक्तों के वैयक्तिक उपास्य के रूप में गृहीत होने पर आत्म-प्रतीक का ही रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि भक्त अपने अचेतन में अवस्थित रीझ और खीझ तथा प्रेम और श्रद्धा तथा भावना और विश्वास के अनुरूप आत्म-प्रतीकवत् विग्रह का व्यक्तिकरण (Individuation) कर लेता है। विग्रह में निहित अहं उन्हें मानवीय चरित रूप (Type) में प्रस्तुत करता है और आत्म-प्रतीकत्व विश्वातीत परमात्मत्व के रूप में।

शिशु-प्रतीक

आत्म प्रतीक का एक सबल एवं सापेक्ष रूप शिशु-प्रतीक है। भारतीय अवतारवाद में शिशु-प्रतीक केवल वात्सल्य भाव का उपास्य-विग्रह ही नहीं रहा है; बल्कि अवतारवादी मानवता और भगवत्ता का समीकरण सर्वप्रथम अवतारों के शिशु-रूप से ही प्रारम्भ होता है।[2] भारतीय अवतार कभी तो अपनी माताओं को रोम-रोम में स्थित 'कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड' वाला अद्भुत रूप प्रदर्शित करते हैं[3] और पुनः शिशुरूप धारण कर लेते हैं।[4] पश्चिमी और पूर्वी दोनों पुरा-कथाओं में शिशु-प्रतीकों का बाहुल्य है। अवतार-प्रतीकों में भी कुछ अवतारों के शिशु-प्रतीकों का विशिष्ट महत्त्व रहा

---

१. एवोन पृ. २६८।

२. रा. मा. (काशिराज) पृ. ४८ 'बन्दौ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू' के रूप में शिव ने 'अवतारकथा' के पूर्व राम के बाल रूप को नमस्कार किया है।

३. रा. मा. (काशिराज) पृ. ८२ 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड' रोम-रोम प्रतिलागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड'।

४. रा. मा. (काशिराज) पृ. ८२ 'भए बहुरि सिसुरूप खरारी'।

है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में शिशु-प्रतीक का प्रथम आविर्भाव भी नियमतः पूर्णरूपेण अचेतन का विषय है।[1] अचेतन में ही रोगी उससे अपने व्यक्तिगत शिशुत्व का तादात्म्य स्थापित करता है। उपचार के प्रभाववश हम शिशु के विषयीकरण से न्यूनाधिक पृथक् होने लगते हैं। यह एक प्रकार से तादात्म्य का विच्छिन्न होना है, जो कल्पना-तरङ्ग (फैन्टेशी) की अधिकाधिक सघनता से सम्बद्ध है; इसका परिणाम यह होता है कि पुरातन या पौराणिक पुरुषों की आकृतियाँ मात्रा में स्पष्ट या साक्षात् होने लगती हैं। आगे चलकर यही रूपान्तर पौराणिक वीर-नेता के साथ भी हो जाता है। प्रायः उस पौराणिक वीर के साथ पौराणिक विघ्न-बाधाएँ उसके शौर्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव प्रदर्शित करती हैं।[2] इस अवस्था में सामान्यरूप से पुनः उसका उस वीर-नेता से तादात्म्य होता है। उसके कार्य भी अनेक कारणों से बड़े आकर्षक हुआ करते हैं। युङ्ग ने मानसिक दृष्टि से इस तादात्म्य को असन्तुलित और खतरनाक माना है, क्योंकि निरन्तर चेतना का ह्रास वीर-नेता में निहित मानवीय तत्त्वों को उत्तरोत्तर सीमित करने लगता है जिसके फलस्वरूप नेता की मूर्ति शनैः शनैः पृथक् होकर आत्म-प्रतीक के रूप में बदल जाती है। व्यावहारिक सत्य की दृष्टि से यही आवश्यक नहीं है, कि व्यक्ति केवल उत्तरोत्तर विकासमात्र से परिचित हो, बल्कि विभिन्न रूपान्तरों की अनुभूति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तिगत शैशव की प्राथमिक अवस्था प्रायः परित्यक्त या भ्रामक का चित्र अथवा अनुचित ढंग से निर्मित शिशु को बिल्कुल छल-छद्म रूप में प्रस्तुत करती है। नेता का अवतार (Epiphany) (द्वितीय तादात्म्य) स्वयं अपने अनुरूप प्रसार करने लगता है।[3] उसका दीर्घकाय छद्मरूप इस धारणा में बदल जाता है कि वह बहुत कुछ असाधारण है या उसके छद्मरूप की असम्भाव्यता कभी परिपूर्ण होने पर भी केवल अपनी ही हीनता को प्रदर्शित करती है, जिससे खल नेता के पक्ष का द्योतन होता है। उनके परस्पर विरोधी होते हुए भी दोनों रूप (नेता और प्रतिनेता) समानार्थी हैं, क्योंकि अचेतन-पूरक हीनता, चेतन महत्कार्योत्साह (Megalomania) से साम्य रखती है और अचेतन महत्कार्योत्साह (Megalomania) चेतन हीनता से; क्योंकि एक का अस्तित्व दूसरे के बिना सम्भव नहीं है। एक बार भी जब द्वितीय तादात्म्य की प्रस्तर-शृङ्खला सफलतापूर्वक चातुर्दिक जल संतरण कर लेती है, उस समय चेतन प्रक्रिया को स्पष्टतः अचेतन से पृथक किया

---

१. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. १३८ और २२४।

२. कृष्ण का शिशु रूप ज्ञातव्य। ३. आर्के. कौ. अन. पृ. १८०।

जा सकता है और अचेतन लक्ष्य के रूप में दीखने लगता है। यह (चेतन-प्रक्रिया) अचेतन के साथ समावेश की सम्भावना भी उपस्थित करती है एवं ज्ञान और कार्य के चेतन और अचेतन तत्वों को यथासम्भव संश्लिष्ट कर देती है। जिसके फलस्वरूप व्यक्तित्व का केन्द्र अहं से हट कर आत्मा की ओर चला जाता है।

आत्म-प्रतीक के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि आत्म-प्रतीक ही अवतार और प्रतिअवतार दोनों के उदय और विकास का मुख्य कारण है। मध्यकालीन साहित्य में आत्म-प्रतीक का अधिक विस्तार उपास्य-प्रतीकों के रूप में होता रहा है। उपास्यवादी रूप प्रतीकात्मक से अधिक प्रतिमात्मक है। ये प्रतिमाएँ या प्रतिमा-प्रतीक भाव प्रतिमा (आर्केटाइपल इमेज) के रूप में पुरातन काल से ही जन-मानस में निवास करते रहे हैं, जिन्हें हम अनेक प्रकार के प्रतीकों एवं प्रतिमाओं का मूलस्रोत कह सकते हैं। अवतारवादी प्रतीकों एवं प्रतिमाओं के विकास में इन भाव-प्रतिमाओं का विशेष योगदान रहा है इसी से इनका स्पष्ट विवेचन अपेक्षित है।

प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब—अवतारवाद वस्तुतः प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब का विज्ञान है क्योंकि इन तीनों में जो प्राथमिक प्रक्रिया होती है वह है व्यक्त होना या व्यक्त करना। प्रतीक, प्रतिमा और बिम्बों के रूप में अनादि सत्ता की अनेकात्मक अभिव्यक्ति वैज्ञानिक अवतारवाद का मूलस्रोत है। किसी वस्तु का प्रतीकीकरण, मूर्तिकरण और बिम्बीकरण उसके प्राकट्य की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को सर्वदा सक्रिय रखने वाली नेत्र, श्रवण, नासिका, त्वचा, जिह्वा इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो नाम, रूप और आभासात्मक प्रतीक, प्रतिमा और बिम्बों का निर्माण करती है। भारतीय वाङ्मय में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'सोऽकामयत' का 'सः' जो किसी भी नाम-रूप के लिए प्रयुक्त हो सकता है, ब्रह्म के सर्वनामिक या नामात्मक प्रतीक का बोध कराता है। वैसे ही 'पुरुषसूक्त' का 'पुरुष' एक रूपात्मक प्रतीक है। इन दो प्रकार के प्रतीकों के अतिरिक्त एक आभासात्मक प्रतीक भी ब्रह्म के लिए व्यवहृत होता रहा है। वह है वायु। वायु में आभासात्मक प्रकृति अधिक है।[1] वायु का 'प्राणवायु' के रूप में एक निवास स्थल हृदय भी है। अतः इस आभासात्मक किन्तु परमात्मा की तरह सर्वव्यापी वायु से आत्म सत्ता, आत्म प्रतीक या प्रतिमा का विकास हुआ, जो 'हृदय में सन्निविष्ट' 'सर्वभूतान्तरात्मा' अन्तर्यामी है। उसी का विवेचन 'बिनु पग चलहिं सुनहिं

---

१. त्वामेव वायु। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।

बिनु काना'[1] इत्यादि लक्षणों से प्रदर्शित कर दिया गया है। नानात्मक प्रतीकों में अज, अविनाशी, सनातन, सर्वशक्तिमान, अनन्त तथा अनादि हैं, जो उसकी असीमता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु प्रतीक ही जब किसी विशेष अर्थ या बिम्ब के लिए रूढ़ हो जाता है, तो उसे हम प्रतिमा कहते हैं। जब विशेष प्रतिमा मनोबिम्ब के रूप में हमारे मनोगत भावों को उद्बुद्ध करने के लिए भावक में उद्दीपन विभाव की संयोजना करती है[2], तो उसे हम बिम्ब या आलम्बन बिम्ब कहना अधिक युक्तियुक्त समझते हैं।

अवतारवाद प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब का इति और आदि दोनों है। ब्रह्म सत्त्व की अभिव्यक्ति से इन तीनों का आरम्भ होता है और ब्रह्म तक की ही अभिव्यक्ति में चरमसीमा पर पहुँचकर इनकी इति भी हो जाती है। 'एकोऽहं द्वितीयोनास्ति' यदि प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब का आदि है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे मन्त्र इनकी इति भी हैं। क्योंकि प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब इन तीनों की एक अनिवार्य विशेषता है अनन्त या असंख्य में से 'एक' की ओर इंगित करना। अतएव जहाँ भी 'एक' का 'सर्व' में अन्तर्भाव हुआ, वहीं प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब तीनों का विसर्जन हो जाता है। अतएव तीनों में एकत्व को सुरक्षित रखकर ही अपने अस्तित्व को बनाये रखने की क्षमता प्राप्त हो सकती है। एकत्व[3] की सुरक्षा निरन्तर आविर्भाव, अभिव्यक्ति और आविष्कार द्वारा सम्भव है। ये तीनों क्रियायें अवतारवादी क्रियायें हैं; क्योंकि ये तीनों आविर्भूत वस्तु को नई आवश्यकता और नए प्रयोजन की पृष्ठभूमि में प्रकट किया करती हैं। ब्रह्म या भौतिक वस्तु दोनों का अवतरण प्रायः अवतारवाद के दो पक्षों को ही परिपुष्ट करता है। हम प्रथम को आध्यात्मिक अवतारवाद और दूसरे को भौतिक अवतारवाद की संज्ञा दे सकते हैं। प्रतीक, प्रतिमा और बिम्ब इन तीनों का विस्तार जड़-जंगम, दिव्य-अदिव्य, स्थूल और सूक्ष्म दोनों का आश्रय लेकर विकसित होता रहा है। परन्तु उनके विकास की समस्त प्रक्रियाएँ अवतारवादी रही हैं। इसी से भारतीय ज्ञान, विज्ञान और कला के मूलस्रोतों में अवतारवादी प्रक्रिया का विशिष्ट स्थान है। अवश्य ही कुछ प्राचीन साम्प्रदायिक अवतारवादी धारणाएँ ऐसी रही हैं, जिनका प्राकृतिक विकासवादी विज्ञान प्रायः

---

१. रा. मा. (काशिराज सं.) पृ. ५०।

२. सौन्दर्य शास्त्रीय आलोक में विशेष द्रष्टव्य।

३. जो प्रतीक, प्रतिमा, या बिम्बों के वैशिष्ट्य तथा वैयक्तिकता का निर्धारक है।

उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करता रहा है। यहाँ तक कि एक परिकल्पना (Hypothesis) के रूप में भी स्वीकार करने में उसे हिचक होती रही है। परन्तु आधुनिक अन्तरग्रहीय सम्बन्धों के जैव-भौतिक अध्ययन ने अब प्राकृतिक विकासवाद की ही सार्वभौम मान्यताओं में एक बहुत बड़ा संशय उत्पन्न कर दिया है। वह यह कि इतर ग्रहों, नक्षत्रों या नक्षत्र-लोकों से भी कुछ पदार्थों, प्राणियों या सम्भवतः मनुष्य का भी आना सम्भव है। यह भी सम्भव है कि इतर-लोक (नक्षत्र-ग्रह) के कुछ अत्यन्त विचित्र-प्राणी 'देव-दानव' की तरह आकर इस ग्रह पर निवास करते रहे हों। जिन्हें प्राचीन पुराण 'ऊपर' से आने की पुराकथाओं में बाँधकर व्यक्त करते हैं। इस प्रकार यदि दिक्-विज्ञान भविष्य में अन्तरग्रहीय प्राणियों के आदान-प्रदान को सिद्ध कर सका तो अवतारवादी क्रिया की पुष्टि में भी एक नए चरण की स्थापना होगी। फिर भी अभिव्यक्ति जगत में प्रतीक, प्रतिमा और बिम्बों के निर्माण में अवतारवाद का विशिष्ट अवदान बना रहेगा। अभिव्यक्ति की दृष्टि से अवतार-प्रतीक स्वयं एक प्राणवान सत्ता की तरह प्रतिभासित होते रहे हैं। प्रायः इन प्रतीकों और प्रतिमाओं की प्राणवत्ता उनकी संवेद्य शक्तियों पर निर्भर करती है। भाव-प्रतिमाएँ (आर्केटाइप) प्रतीकों, प्रतिमाओं और बिम्बों में चेतना का सञ्चार करती हैं, जिससे वे और अधिक जीवन्त और संवेद्य हो जाते हैं। अवतरण या आविर्भाव क्रिया विभिन्न प्रतीकों में चेतना सञ्चार करने की एक अत्यन्त शक्तिशालिनी प्रक्रिया है। 'विष्णु', 'नारायण', 'आद्य-पुरुष' जैसी पुरातन भाव प्रतिमाएँ अवतार-प्रतीकों में विशिष्ट चेतना का सञ्चार करती रही हैं। राम-कृष्ण जैसे अवतार-प्रतीकों में अवतार-चेतना ने ही मार्मिकता और औदात्य दोनों का सन्निवेश किया है। अवतारवादी-प्रतीकों की एक दूसरी विशेषता है अवतार-प्रतीकों का अवतारी-प्रतीकों में या अवतार-प्रतिमाओं का अवतारी 'भाव-प्रतिमाओं' (आर्के टाइप्स') में परिणत हो जाना। राम-कृष्ण आदि अवतार जो आरम्भ में अवतार-प्रतिमा थे, कालान्तर में अवतार-प्रतीकों को अवतरित करने वाले अवतारों की 'भाव-प्रतिमाओं' के रूप में गृहीत हुए। अवतार-प्रतीकों में सामूहिक अचेतन का प्रतिनिधित्व करने की पूर्ण क्षमता रही है। युग-युगान्तर तक भारतीय जन-मानस के अचेतन से निर्गत ये एक प्रकार की राष्ट्रीय चेतना का ही बोध कराते हैं। अनेक राज्यों की भाषाओं में भाषागत वैषम्य के होते हुए भी सामूहिक अचेतन से निर्मित अवतार-प्रतीकों की ये भाव-प्रतिमाएँ समस्त भाषाओं की भाव-भावनाओं में अभूतपूर्व भाव-साम्य की स्थापना करती रही हैं। यों अवतारवादी प्रवृत्ति की दृष्टि से भी

पौराणिक अवतार-क्रम में जो प्रतीक गृहीत हुए हैं, उनमें राजा, नेता, वैद्य, ऋषि, योगी, तपस्वी इत्यादि व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के साथ-साथ सामूहिक, सांस्कृतिक या राष्ट्रीय व्यक्तित्व का भी प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। अतः राम, कृष्ण, परशुराम, बुद्ध, धन्वन्तरि, कपिल, व्यास इत्यादि को सांस्कृतिक या सामूहिक अवतार-प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

प्रतिमा (इमेज)

भारतीय ब्रह्म के प्रतीकात्मक उपस्थापन में जो विकास-क्रिया लक्षित होती है, उसका मूल उद्देश्य रहा है अमूर्त से मूर्त निषेधात्मकता (नेति-नेति) से ग्राहकता (सर्वरस, सर्वगन्ध, सर्वभूतान्तरात्मा) में प्रस्तुत करने की। यह कार्य विभिन्न प्रतीकीकरण की क्रियाओं के द्वारा चलता रहा है। इन प्रतीकों का परवर्ती विकास मानवीकृत प्रतीकों के रूप में प्रचलित हुआ जिन्हें हम विशिष्ट प्रतीक की अपेक्षा 'प्रतिमा' कह सकते हैं। 'ब्रह्म' का पुरुषीकरण या पुरुष-रूप वह प्रारम्भिक प्रतीक है जहाँ प्रतीक के क्षेत्र से भी 'प्रतिमा' के अन्तर्गत 'पुरुष-रूप' उपस्थित होता है। प्रतीक की अमूर्तता प्रतिमा में बदल कर उसे अधिक सम्मूर्तित ही नहीं करती अपितु उसे अधिक सेन्द्रिय भी बनाती है। पुरुष-प्रतिमा के रूप में ब्रह्म-प्रतीकों का विकास प्रायः ब्रह्म को उत्तरोत्तर इन्द्रिय-सापेक्ष बनाने में ही रहा है। अतएव प्रतीक से प्रतिमा के रूप में रूपान्तरित करने में मानवीकरण की जिन प्रक्रियाओं का योग रहा है उनमें तादात्म्य (पुरुष से नारायण का तादात्म्य), प्राकट्य (कठोपनिषद् में यक्ष का प्राकट्य), उत्पत्ति (राम-कृष्णादि विभिन्न अवतार पुरुषों में ब्रह्म की उत्पत्ति) आदि को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इन तीनों में तादात्म्य और प्राकट्य की अपेक्षा उत्पन्न प्रतिमाओं में अधिक सेन्द्रियता जान पड़ती है। भावक मनुष्य के भावोद्दीपन की चरमसीमा की क्षमता सेन्द्रिय होने के कारण अवतार-प्रतिमाओं में ही अपेक्षाकृत अधिक है। अतएव अवतार-प्रतीक, प्रतिमा और बिम्बों में ही उनके सर्वाङ्ग रूपांकन की चरम परिणति लक्षित होती है। अवतार-प्रतीकों में श्री राम-कृष्ण जैसे अवतार-प्रतीक, प्रतीक, प्रतिमा या बिम्ब की अर्थवत्ता की दृष्टि से केवल एक अर्थ, एक चित्र या एक धारणा या प्रत्यय मात्र के सूचक नहीं हैं, अपितु ये विशद् अर्थ, प्रबन्धात्मक चित्रमत्ता और उदात्त धारणा की विवृति करते हैं। अतः अवतारवाद प्रतीकवाद, प्रतिमावाद और बिम्बवाद का वह चरम

१. साइको. टा. पृ. १५७।

रूप है, जहाँ पहुँच कर ये तीनों अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति कर पाते हैं।[1] भारतीय उपासना वस्तुतः प्रतीकोपासना रही है। उपासना के द्वारा ही विभिन्न प्रतीकों एवं प्रतीकात्मक पद्धतियों का क्रमशः विकास होता रहा है। कतिपय रहस्यात्मक उपासनाओं में अन्योक्ति, समासोक्ति, स्वभावोक्ति तथा प्रतीकात्मक रहस्योक्ति के द्वारा अमूर्त या मूर्त प्रतीक प्रतिमाएँ अपनी निगूढ़ रहस्यात्मक अवधारणाओं के साथ व्यंजित होती रही हैं। परन्तु पुरा-कथा या पुरा-चरित्रों से समाविष्ट अवतार-प्रतीक उपर्युक्त प्रतीकों की अपेक्षा अधिक मर्मग्राह्य और जीवन्त प्रतीक रहे हैं। दिव्य एवं ईश्वरीय पात्रों को मानवीय परिवेश तथा मानवीय चरित गाथाओं से अभिभूत कर मानवीकरण तथा व्यक्तिकरण के साथ-साथ उनका समाजीकरण भी अवतार-प्रतीक शैली की अपनी विशेषता रही है। अवतार-प्रतीक प्रतिमाओं में पुरा-उपकरणों का एकत्रीकरण, रूपान्तर के द्वारा विशिष्टीकरण एवं तादात्म्य ये तीन प्रक्रियाएँ विशिष्ट रूप से लक्षित होती हैं। एक ही विष्णु की पुरातन प्रतिमा में चक्र, कमल, शंख, गदा, धनुष, श्रीवत्स, वैजयन्तीमाल तथा लक्ष्मी का साहचर्य भी विभिन्न पुराकथाओं के प्रसंग के साथ एकत्र होता रहा है। विभिन्न अवतारों के रूप में उनका विशिष्ट आविर्भाव विशिष्टीकरण और तादात्म्य का भी द्योतन करता है। युंग ईश्वर की प्रतिमा के प्रतीकीरण को केवल लम्बे सोपान का निर्माण ही नहीं मानता अपितु उनमें समाहित अतीत-अनुभूतियों की ऐन्द्रियता को भी स्वीकार करता है।[1] अवतार-प्रतिमाओं के प्रतीकात्मक विस्तार को निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है।[2]

---

१. साइको. टा. पृ. १५७।

२. प्रतीकात्मक विभाजन की एक रूपरेखा पांचरात्र साहित्य में भी मिलती है किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर न होते हुए भी वह अधिक अवैज्ञानिक नहीं प्रतीत होती। वह विभाजन निम्न प्रकार से है—

वासुदेव (पर)

- वासुदेव
- व्यूह (संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध
- विभव ३९ संख्या (में अधिकांश विष्णु एवं उनके अवतारों के नाम)
- अर्चा
  - स्वयंव्यक्त
  - दैव
  - सैद्ध
  - मानुष
- अन्तर्यामी

अवतार-प्रतिमा

(मूल इमेज)	(आर्केटाइपल इमेज)	(प्राइमोर्डियल इमेज)
(इमैगोडेयी)	भावप्रतिमा	पुरातन-प्रतिमा
(अन्तर्यामी)	पुरुष, ॐ, विष्णु,	पुरुष, नारायण, विष्णु,
निर्गुण, निराकार	नारायण, राम, कृष्ण,	प्रजापति शिव, मत्स्य,
	बुद्ध, पांचरात्रों का	कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन
	'पर-रूप'	एवं पांचरात्र विभवों की
		३९ विभव प्रतिमाएं[1]

प्रतीक-प्रतिमा	जागतिक-प्रतिमा	सर्वातीत-प्रतिमा
(Symbolic image)	(Cosmological image)	(Transcendental image)
अर्चाविग्रह,	विराट रूप, त्रिदेव,	आदि पुरुष, नारायण
शालग्राम तथा	व्यूह रूप	विष्णु, पर (पांचरात्र)
प्रसिद्ध मंदिरों के अर्चाविग्रह ।[2]		

मनोवैज्ञानिकों ने ऐन्द्रिय प्रातच्य के आधार पर दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद, गति आदि के रूप में जिन प्रतिमाओं का विभाजन किया है, मध्यकालीन उपास्य रूपों के सर्वेन्द्रिय-भावों में इनका प्रतिमात्मक आकलन पूर्ण मात्रा में होता रहा है। इसके अतिरिक्त प्रायः समस्त अवतारवादी उपास्य-प्रतिमाओं में अनुबिम्ब (After image) प्रत्यक्ष प्रतिमा (Eidatic image), स्मृत-प्रतिमा और काल्पनिक प्रतिमा के सभी वैशिष्ट्य अनुस्यूत रहा करते हैं। युंग ने प्रतिमा को किसी वस्तु का मानस प्रतिबिम्ब न मानकर एक ऐसी काव्यात्मक धारणा के रूप में ग्रहण किया है, जो एक प्रकार की परिकल्पनात्मक (Phantasy-image), या एक वह उपस्थापना हो जो बाह्य वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से केवल परोक्ष रूप से सम्बद्ध हो। यह प्रतिमा बहुत कुछ अचेतन में होने वाली परिकल्पनात्मक क्रिया पर निर्भर करती है और उस क्रिया के उत्पाद्य विम्ब के रूप में चेतना में शीघ्र ही प्रकट होती है। उसकी व्यक्त प्रकृति दृष्ट रूप तथा भ्रामक चित्र की तरह

१. ये पुरातन प्रतिमा के ही विशिष्ट एवं धारणात्मक तथा व्यावहारिक रूप हैं।

२. इनमें शालग्राम की प्रकृति तो व्यक्तिगत है, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों की प्रसिद्ध ऊँची मूर्त्तियाँ सामूहिक प्रकृति की हैं तथा इन्हें सामूहिक अचेतन का परिचायक कहा जा सकता है।

होती है।[1] ये प्रतिमाएं उन्हीं रूपों में बिना किसी निदानात्मक प्रकृति के रुग्ण शैया पर दीखने वाले विकृत चित्रों की तरह प्रतीत होती हैं। अतएव प्रतिमा की मनोवैज्ञानिक प्रकृति अर्द्ध-वास्तविक भ्रामक-प्रतिमाओं की न होकर परिकल्पनात्मक उपस्थापन की रहा करती है। वह वास्तविकता का स्थान कभी भी ग्रहण नहीं कर सकती बल्कि इसका अन्तःमूर्तित्व सर्वदा उसे ऐन्द्रिक सत्य से पृथक कर देता है। नियमतः इसमें देशगत प्रक्षेपण का अभाव होता है, किन्तु फिर भी अपवाद स्वरूप यह कुछ सीमा तक वाह्य रूप में भी प्रकट होती है।

प्रतिमा-निर्माण की प्रारम्भिक क्रियाओं में आदिम मनोवृत्ति के भी दर्शन होते हैं।[2] अतएव मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ईश्वर-प्रतिमा के रूप में पिता-माता ही प्रतिबिम्बित होते हैं। युंग के मतानुसार प्रतीकों की सत्यता को स्वीकार कर ही मानवता ईश्वर तक पहुँची थी तथा इसी विचारणा की वास्तविकता ने मनुष्य को पृथ्वी का एक मात्र अधिपति बनाया है।[3] शिलर के अनुसार उपासना 'लिबिडो' (मनोशक्ति) का पुरातन की ओर प्रत्यावर्तित एक आन्दोलन है, तथा प्रथमारम्भ में डुबकी लगाने की एक क्रिया है। प्रगतिशील आन्दोलन की प्रतिमाओं के रूप में निःसृत होकर प्रतीक का उदय होता है, जो समस्त अचेतन तत्त्वों के विस्तृत प्रतिफलन को द्योतित करता है।[4]

आत्म-प्रतिमा

प्रतीक प्रतिमाओं के निर्माण में सबसे अधिक योग आत्म-सत्ता का रहा है। आत्मा स्वयं प्रारम्भिक काल से ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती रही है। एखर्ट ने भगवत-मूर्ति से प्रतिमा का सम्बन्ध स्थापित करने के क्रम में आत्मा को ही भगवत् प्रतिमा माना है। यों पौराणिक या ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो आत्मा आंशिक रूप से एक ओर तो उन उपादानों का प्रतिनिधित्व करता है, जो कर्त्ता या व्यक्ति में विद्यमान हैं, दूसरी ओर वह अदृश्य शक्तियों या अचेतन का भी आंशिक प्रतिनिधि है। इस प्रकार आत्मा चेतन शक्ति और अत्यन्त अचेतन दोनों के मध्य में कार्य करने की क्षमता रखता है। निर्धारक शक्ति या ईश्वर जो इन गहराइयों में सक्रिय है प्रायः आत्मा के द्वारा प्रतिबिम्बित होता है, तथा अनेक प्रतीकों और

---

१. साइको. टा. पृ. ५५४। २. साइको. टा. ५४४।
३. साइको. टा. पृ. १५७। ४. साइको. टा. १५८।

प्रतिमाओं का निर्माण कर स्वयं एक 'प्रतिमा के रूप' में अवस्थित है। प्रतिमाओं के द्वारा वह अचेतन शक्तियों को चेतना में संप्रेषित करता है तथा जिसके फलस्वरूप वह ग्राहक भी है और संप्रेषक भी। यथार्थतः अचेतन उपादानों के लिए यह एक प्रत्यक्षेन्द्रिय ही है। जिनका यह साक्षात्कार करता है वे प्रतीक हैं, किन्तु वे प्रतीक सम्मूर्तित ऊर्जा या शक्तियाँ हैं, जो प्रत्ययों के आध्यात्मिक मूल्य का निर्धारण करती हैं और उनकी भावात्मक शक्ति बहुत महान् है।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा ऐसी प्रतिमाओं को जन्म देती है, जिन्हें सामान्य बौद्धिक चेतना व्यर्थ मानती है। निश्चय ही ऐसी प्रतिमाओं का वस्तु जगत में कोई तात्कालिक महत्त्व नहीं होता। अधिक से अधिक प्रतिमाओं के कलात्मक, दार्शनिक, साम्प्रदायिक या अर्द्ध-धार्मिक एवं स्वतन्त्र प्रयोग-सम्भव प्रतीत होते हैं। फिर भी अचेतन के द्वारा उत्पन्न आत्म-प्रतिमा एक निश्चित प्रतिमा है। यह बिल्कुल उस पुरुष या महान् व्यक्ति की तरह है, जो उन व्यक्तियों की प्रतिमाओं द्वारा स्वयं प्रतिमाओं के रूप में उपस्थित होता है, जो पुरुष के आसाधारण गुणों से किसी विशिष्ट संकेत-रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार आत्मा या अचेतन की आन्तरिक सत्ता ऐसे निश्चित व्यक्तियों में स्थापित होती है, जो अपने विशिष्ट गुणों के चलते आत्मा के ही अनुरूप हैं। प्रायः मध्यकालीन उपास्य रूपों में गृहीत अर्चा, आचार्य, भक्त तथा अवतार एवं अवतारी उपास्यों में सम्प्रदायों से सम्बद्ध वे समस्त गुण विद्यमान थे जिनका ध्यान, मनन या चिन्तन सम्बद्ध सम्प्रदायों के उपासक किया करते थे। अवतारों की चरित्र-गाथा जिन उद्धारक गुणों से परिपूर्ण रहा करती थी, प्रायः उन समस्त गुणों का आरोप मध्यकालीन भक्त अपने आचार्यों और अर्चा मूर्तियों पर भी करते रहे हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'गोबरधन नाथ जी की प्राकट्यवार्त्ता' जैसी रचनाओं में उनकी विरुदावलियों का विस्तृत वर्णन देखा जा सकता है। मध्यकालीन भक्तों के उपास्य जिन चरित्र गाथाओं का ध्यान किया करते थे, वे पौराणिक, साम्प्रदायिक एवं व्यक्तिगत विशिष्टताओं से संपुटित थे। गोस्वामी तुलसीदास ने जिन आत्म-स्वरूपों का ध्यान करने की इच्छा की है, वे उपर्युक्त विशेषताओं से संवलित उपास्य-रूप है।[2] इस कोटि की

१. साइको. टा. पृ. ३१०।

२. (क) यह बर माँगौ कृपा निकेता, बसहुँ हृदय सिय अनुज समेता।
जो कोसल प्रभु राजिव नैना, करहुँ सो बास हृदय मम ऐना।
(ख) करहुँ सो मम उर धाम, सदा क्षीर सागर शयन।

प्रतिमाओं को ही प्रायः आत्म-प्रतिमा की संज्ञा दी जाती है। ये आत्म प्रतिमाएँ कभी तो बिल्कुल अपरिचित होती हैं और कभी पौराणिक मूर्तियों के रूप में लक्षित होती हैं। आत्म-प्रतिमा की प्रकृति उभय लिंगी है। वह स्त्री लिंग, पुल्लिंग और उभय लिंग तीनों में स्वरूपित होती है। अक्सर उन सभी स्थितियों में, जहाँ आत्मा का व्यक्ति से तादात्म्य उपस्थित होता है, आत्मा के अचेतन होने के फलस्वरूप, आत्म-प्रतिमा वास्तविक पुरुष के रूप में रूपान्तरित हो जाती है। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त प्रेम, घृणा या भय के विषय होते हैं। उनकी प्रकृति ऐसे आलम्बन बिम्ब की तरह हो जाती है जो सर्वदा भावात्मक उद्दीपन के संचारक बन जाते हैं। जब भी आत्म-प्रतिमा का प्रक्षेपण होता है, लक्ष्य वस्तु के साथ एक स्वतन्त्र भावात्मक सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। जब आत्म-प्रतिमा प्रक्षेपित नहीं होती, तब एक ऐसी सापेक्ष अवस्था आती है जिसे फ्रायड ने 'आत्म सम्मोही वृत्ति' नाम दिया है।

आत्म-प्रतिमा के समानान्तर मनोवैज्ञानिक एक आत्मभावमूर्ति (imago) का अस्तित्व मानते हैं। समस्त धर्मों में ईश्वर प्रतिमाएं दैवात्म-भाव-मूर्ति (इमैगोडेयी) के रूप में आविर्भूत होती हैं। इष्टदेव अपने भक्त के मन में जिन रूपों में अवस्थित रहते हैं वह रूप वस्तुतः 'दैवात्म-भाव-मूर्ति' का ही जान पड़ता है। युंग ने 'इमेज' और 'इमैगो' में अन्तर उपस्थित करते हुए कहा है कि 'इमैगो' या आत्म-भाव-मूर्ति किसी वस्तु की वास्तविक प्रतिमा नहीं है, अपितु उसकी आत्मनिष्ठ प्रतिमा है। यह वस्तु की आत्मनिष्ठ प्रतिमा अचेतन के धरातल पर उत्पन्न होकर विदित होने वाली आत्मनिष्ठ क्रिया-ग्रन्थि है।[1] अतएव इसे आत्मनिष्ठ प्रतिमा या आत्म-भाव-मूर्ति की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। आत्म-भाव-मूर्ति वह आत्मनिष्ठ भावात्मक ग्रन्थि है जो भगवत् आत्म-प्रतिमा को सक्रिय बनाती है। कट्टर-पंथियों के लिए भगवान अपने ही अस्तित्व में विद्यमान परम सत्ता है। ऐसी धारणा अचेतन से पृथक् विदित होती है, जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तात्पर्य होता है, इस तथ्य के प्रति बिल्कुल अज्ञानता प्रदर्शित करना कि दैवी आस्था स्वयं निजी आत्म-सत्ता से स्फुरित होती है; किन्तु भगवत्त सापेक्षता की आधार-शिला पर विद्यमान अस्तित्व यह सूचित करता है कि अचेतन क्रिया का न विचारित होने वाला अंश भी कम से कम मनोवैज्ञानिक संतोष के लिए अनुमान या तर्क के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध किया जा सकता है। अस्तित्व की दृष्टि से अवतार-सत्य व्यक्ति के विश्वास का सत्य है। प्रचण्ड

---

१. साइको. टा. पृ. ६०० ।

सूर्य भी प्रभात काल में एक रक्ताभ मणि के रूप में या थाली की तरह दीख पड़ता है। उसका वह रूप हमारी दृष्टि से सम्बद्ध रूप है, जो हमारे मन में थाली के सदृश भाव-प्रतिमा या आत्म-भाव-मूर्ति का निर्माण करता है। यह वास्तविक न होकर प्रतीति सापेक्ष है।[1] इसी प्रकार ब्रह्म की अवतरित आत्म-भाव-मूर्ति (इमैगो डेयी) प्रतीत होने वाली आत्मनिष्ठ भाव-प्रतिमा है। प्रतीति साम्य के आधार पर ही भावक उसके 'नटइव' अनेक चरितों का आस्वादन करता है। अवतार-रूप या इष्टदेव के रूप में मान्य यह वह आत्मनिष्ठ भाव-प्रतिमा है जो मानव प्रतीति से निर्मित हुई है। अवतार-प्रतिमा इस रूप में ब्रह्म के पारमार्थिक या परम सत्य से अधिक प्रातीतिक या प्रतिभासित सत्य है। ब्रह्म का पारमार्थिक सत्य दिक्-काल निरपेक्ष है, किन्तु प्रातीतिक सत्य दिक्-काल सापेक्ष है। अतः 'देवात्म भाव-मूर्ति' मनुष्य की दिक् काल सापेक्ष आस्था को अभिभूत किए रहने वाली एक 'आत्मनिष्ठ भाव-प्रतिमा' है, जो अपने मनोगत इष्टदेव को भावक की समस्त आकांक्षाओं के प्रक्षेपण से अनुरंजित रखती है, जिसके फलस्वरूप 'देवात्म-भाव-मूर्ति' एक ओर तो परम सत्ता का पर्याय बनी रहती है और दूसरी ओर वह भक्त या भावक की मानसिक दशाओं से भी प्रक्षेपित हो जाती है।

मध्यकालीन निर्गुण और सगुण दोनों संतों के साहित्य में आत्म-प्रतिमा व्याप्त है। ईसाई मत में ईसा जिस प्रकार आत्म-स्वरूप समझे जाते हैं[2], सगुण साहित्य में वर्णित अवतार-उपास्य आत्म प्रतिमाओं के रूप में प्रचलित रहे हैं। सूरदास अपने जिस 'घट-अंतर'[3] में हरि का स्मरण करते हैं, वे 'दीनदयाल, प्रेम-परिपूरन सब घट अंतर जामी'[4] 'आत्म-प्रतिमा' या 'देवात्म-भाव-मूर्ति' ही जान पड़ते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी—'सर्व सर्वगत सर्व उरालय वससि सदा हम कहु परिपालय' तथा 'राम ब्रह्म चेतन अविनासी, सर्व रहित सब उर पुर[5] बासी' के रूप में आत्म-प्रतिमाओं का यथा प्रसंग उल्लेख किया है।

भारतीय साहित्य में 'देवात्म-भाव-मूर्ति' (इमैगो डेयी) का अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचार रहा है। वैदिक साहित्य में प्रायः आत्म-प्रतिमा को ब्रह्म के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। बृ० उ० में अनेक ऐसे स्थल आए हैं जहाँ ब्रह्म को आत्म-प्रतिमा का रूप दिया गया है। (बृ० उ० २।५।१९ 'अयमात्मा' ब्रह्म) जैसे अन्य मंत्रों में आत्म-प्रतिमा का एक

१. ट्रू. साइको. पृ. १७४।
२. एवोन. पृ. ३९, ६८।
३. सूर. सा. पृ. २७ पद ८२।
४. सूर. सा. पृ. ६२. पद १९०।
५. रा. मा. (ना. प्र. स.) पृ. ५१३, ६५।

अन्तर्यामी (बृ० उ० ३, ७, ३–२७) रूप मिलता है । 'महाभारत' एवं अन्य पौराणिक परम्पराओं में होता हुआ यही 'अन्तर्यामी' पांचरात्र साहित्य के उपास्य-प्रतीकों में मान्य हुआ है । आश्चर्य तो यह है कि मध्य काल में अर्चा-विग्रह तो केवल सगुण भक्ति में पूज्य हुआ सम्भवतः इस्लामी प्रभाव के कारण निर्गुण और सूफी भक्ति में इसका विरोध हुआ किन्तु अन्तर्यामी सगुण, निर्गुण सभी में समान रूप से आदृत हुआ । यदि यह कहा जाय कि निर्गुण मार्ग में निर्गुण-निराकार प्रायः आत्म-प्रतीक का ही विग्रह रूप या 'देवात्म भाव-मूर्ति' धारण कर उनकी मानस-अर्चना का उपास्य बना रहा तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी । युङ्ग ने अचेतन के चार रूप बतलाए हैं, आत्मा, एनिमा (नारी-भाव प्रतिमा), एनिमस (नर-भाव प्रतिमा) और छाया । इनमें आत्मा को छोड़कर एनिमा, एनिमस और छाया में एक ऐसी प्रतिरूपता या प्रतिमूर्तता दीख पड़ती है जिससे 'आत्म-प्रतीक' के समकक्ष न प्रतीत होकर वह एक भिन्न प्रतिमा के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, जिन्हें युंग ने भाव-प्रतिमा (आर्केटाइपल इमेज—मूल प्रतिरूप) की संज्ञा प्रदान की है ।

भाव-प्रतिमा (आर्केटाइपल इमेज)

मनोविज्ञान में अचेतन-चेतन की अपेक्षा अधिक रहस्यमय और व्यापक है । युंग ने उसे व्यक्तिगत और सामूहिक दो प्रकार का माना है ।[1] व्यक्तिगत अचेतन में वैयक्तिकता अधिक है और सामूहिक अचेतन में जागतिकता । व्यक्तिगत अचेतन की अपेक्षा उसके उपादान तथा उनके रूप और व्यापार न्यूनाधिक रूप में प्रायः सर्वत्र सभी व्यक्तियों में एक ही जैसे हैं । व्यक्तिगत अचेतन अत्यन्त व्यक्तिगत 'मनो-जीवन' का निर्माण करते हैं, जब कि सामूहिक अचेतन के उपादान भाव-प्रतिमा के रूप में परिलक्षित होते हैं ।[2] आत्म-प्रतिमा और भाव प्रतिमा का किंचित् पार्थक्य स्पष्ट कर देना समुचित जान पड़ता है । आत्म-प्रतिमा में चेतन और अचेतन दोनों की मध्यावस्था विराजमान रहती है; क्योंकि आत्म-प्रतिमा का एक ओर सम्बन्ध चेतन से रहता है और उधर अचेतन से भी । परन्तु भाव-प्रतिमा सम्पूर्णतः अचेतन की देन है । युंग ने 'आर्के टाइप' या भाव-प्रतिमा का क्रमिक विकास प्रस्तुत करते हुए साहित्य में उनके विभिन्न व्यवहृत रूपों पर विचार किया है ।[3] उसके मतानुसार 'भाव-प्रतिमा' का प्रयोग प्राचीनकाल से ही मनुष्य में

१. आर्कि. कौ. अन. ३ । २. साइको. रेलि पृ. ३४५ ।
३. आर्के. कौ. अन. ।

स्थित देवात्म भाव-मूर्ति (Imago-Dei-God image) के रूप में होता रहा है। 'भाव-प्रतिमा' इस प्रकार अनेक प्रयोगों में व्यवहृत होती रही है, किन्तु उसका विशिष्ट प्रयोग अचेतन उपादान की दृष्टि से पुरातन एवं जागतिक प्रतिमाओं के लिए ही विशेषकर प्राचीन साहित्य में प्रचलित रहा है। पुराणों और परियों की कथाओं में 'भाव-प्रतिमाओं का सर्वाधिक विकास हुआ है। ये पौराणिक भाव-प्रतिमाएँ अत्यन्त पुरातन काल से सामूहिक अचेतन की परिकल्पनात्मक पुरा-कथाओं का परम्परागत ढंग से भार वहन करती आ रही हैं। जन-मन-मानस में इनका बिम्ब इस प्रकार स्थायी रूप धारण कर लेता है कि ये चेतन-प्रतिमा की तरह प्रतीत होती हैं। इसी से युंग के अनुसार 'भाव-प्रतिमा' अनिवार्यतः वह अचेतन उपादान है, जो चेतन होकर प्रत्यक्षीकरण के द्वारा, उस वैयक्तिक चेतन में, जिसमें इसके प्राकट्य की सम्भावना रहती है, अपना आकार ग्रहण करती है।[1] इसीप्रकार की भाव-प्रतिमाएँ सामूहिक एवं जातीय ईश्वरत्व की चेतना को लेकर सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध हो जाती हैं। ईश्वर की ये रूढ़ भाव-प्रतिमाएँ, जिनका विकास शताब्दियों से होता चला आ रहा है, सामूहिक मानस की अधो-स्थिति पर प्रायः 'आश्चर्य मलहम' की तरह कार्य करती रही हैं। ये रूढ़िग्रस्त भाव-प्रतिमाएं धर्म-रूढ़ियों और विधि-निषेधों की प्रतीकात्मकता में ढलकर एक सुनियंत्रित विचारों का प्रवाह लेकर चलती हैं। अचेतन की ये मूर्तियाँ सदैव रक्षक (अवतारों की तरह रक्षक और उद्धारक) और उपचारात्मक प्रतिमाओं में व्यक्त हुआ करती हैं और इस प्रकार मानस से निकल कर जागतिक क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं।[2] यथार्थ तो यह है कि ये भाव-प्रतिमाएं स्वयमेव विविध भावों और अर्थों से इस प्रकार सम्पृक्त हैं, कि लोग कभी भी यह नहीं सोचते कि वस्तुतः इनका वास्तविक अर्थ क्या है। अक्सर विभिन्न युगों में इनके परम्परागत मूल्य का ही नए परिवेश में मूल्यांकन होता रहता है। विभिन्न युगों के अन्तराल में निर्मित इन भाव-प्रतिमाओं में अनेक प्रसंगों की संमिश्रित अभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता होती है।

प्रायः सभी युगों में मानव किसी न किसी प्रकार के देवताओं में विश्वास करता रहा है। प्रत्येक युग देव-प्रतिमाओं को नए अर्थों में बाँधने का प्रयास करता है। अतएव इस बौद्धिक संशयवाद के युग में भी वे हमारे सामने एक समस्या बनकर उपस्थित हैं। इस दृष्टि से केवल प्रतीकावाद की अतुलनीय

---

१. आर्के. कौ. अन. पृ० ५।   २. आर्के. कौं. अन. पृ० १२।

निःसारता या अर्थहीनता ही हमें देवताओं को मनःतत्त्वों के रूप में पुनः अनुशीलन करने के लिए सचेष्ट करती है जिसके परिणाम हैं—अचेतन की ये 'भाव-प्रतिमाएँ'। युंग भी यह स्वीकार करता है कि 'अवश्य ही भाव-प्रतिमाओं की इस खोज में विशेषकर आजकल के लिए कोई उपलब्धि नहीं है। किन्तु मन के संतोष के लिए, हमें ईश्वरवादियों के स्वप्नों में अनुभूत चित्रों को देखने की आवश्यकता पड़ती है। हम तभी केवल आत्मा की आत्म-सक्रियता का जल पर संतरित होते हुए अनुभव कर सकते हैं'।[१] ऐसा लगता है कि अचेतन उसी विचार-पथ पर कार्य करता रहा है, जो दो हजार वर्षों से स्वयं व्यक्त होता रहा है। यह सातत्य भी तभी चल सकता है, जब हम अचेतन अवस्था को वंशानुगत प्रागनुभविक तथ्य मान लें। किन्तु इसका तात्पर्य वंशानुगत प्रत्ययों से नहीं है, जिनको प्रमाणित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। वंशानुगत गुण प्रायः इस प्रकार के होते हैं, जिनमें एक सदृश विचारों को बार-बार उत्पन्न करने की सम्भावना विद्यमान हो। इसी सम्भावना को युंग ने 'भाव-प्रतिमा' (आर्केटाइप) की संज्ञा प्रदान की है। अतएव भाव-प्रतिमा वह रचनात्मक गुण या केवल मानस (Psyche) की वह विशिष्ट दशा है, जो किसी न किसी प्रकार मस्तिष्क से सम्बद्ध है। जब भी हम धार्मिक उपादानों की बातें करते हैं, तो उस समय एक ऐसी प्रतिमा के विश्व में विचरण करते हैं, जो किसी अकथनीय या वर्णनातीत सत्ता की ओर इंगित करती है। इन प्रतिमाओं के विषय में यह कह सकना नितान्त कठिन है कि ये किस विश्वातीत विषय को धारण करती हैं।[२] यदि कहा जाय ईश्वर, तो ये ईश्वर की एक प्रतिमा या वाचिक धारणा मात्र की अभिव्यक्ति करती हैं, जो काल-क्रम से अनेक परिस्थितियों से गुजरती रही है। यदि आस्था न हो तो एक निश्चित सीमा तक यह कहना कठिन हो जाता है कि ये परिवर्तन मूर्तियों या धारणाओं को प्रभावित करते हैं या स्वयं अनिर्वचनीय ईश्वर को। फिर भी हम शाश्वत प्रवहमान शक्ति-स्रोत के रूप में उस ईश्वर की कल्पना कर सकते हैं, जो उतने ही सहज ढंग से अनन्त रूपों में रूपायित होता है, जिस सीमा तक उसके शाश्वत और सनातन तत्त्व की कल्पना की जा सकती है। युंग के मतानुसार इन सभी के मूल में वे प्रतिमाएँ हैं, जो चेतनातीत होकर भी सक्रिय रहती हैं। इन प्रतिमाओं को 'भाव-प्रतिमा' भी माना जा सकता है। यों यह एक मनोशक्ति है जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य में सक्रिय रहता है। किन्तु यह कह सकना कठिन है कि ये कार्य-व्यापार ईश्वर से निकलते हैं

---

१. आर्के. कौ. अन. पृ. २३।　　२. साइको. रेलि. पृ. ३६०।

या अचेतन से। ईश्वर और अचेतन दोनों का पार्थक्य उपस्थित करना भी आसान नहीं है। जगतातीत उपादानों के लिए दोनों ही सीमावर्ती धारणाएं हैं। किन्तु अनुभव की दृष्टि से अचेतन बहुत कुछ सम्भावना पर आधारित है,[1] क्योंकि अचेतन में 'भाव-प्रतिमा' की पूर्णता निहित है, जो स्वच्छन्द ढंग से स्वप्नों में व्यक्त होती है। इस केन्द्र में चेतन इच्छा से स्वतन्त्र एक प्रवृत्ति उसे अन्य भाव-प्रतिमाओं से आबद्ध करती है, जिसके फलस्वरूप यह बिल्कुल असंभाव्य नहीं प्रतीत होता कि भाव-प्रतिमाओं की पूर्णता एक ऐसे केन्द्रिय स्थल को अधिकृत करती है, जो उसे ईश्वर-मूर्ति के समकक्ष ला देती है। भाव-प्रतिमाओं में एक ऐसी अनोखी विशेषता है जो उनकी प्रतीकात्मकता में देवत्व की अभिव्यक्ति करती है। यह सत्य ईश्वर और अचेतन की अभिन्नता को और अधिक पुष्ट करता है। यथार्थतः भगवत् प्रतिमा अचेतन से नहीं मेल खाती बल्कि उसका एक विशिष्ट उपादान 'आत्मगत भाव-प्रतिमा' के समकक्ष जान पड़ता है। यह वही भगवत्-प्रतिमा है जिसे हम अनुभव की दृष्टि से भगवत्-प्रतिमा से पृथक् नहीं कर सकते। यह धारणा केवल मनुष्य को ईश्वर से पृथक् करने में तथा ईश्वर को मनुष्य बनने से रोकने में सहायता देती है।[2] यों कल्पना द्वारा उत्पन्न प्रत्येक रूपों में दृष्टिगोचरता अवश्य सुरक्षित है; इसी से उनमें प्रतिमाओं की प्रकृति या उनसे बढ़कर विशिष्ट प्रतिमाओं की विशेषता विद्यमान है, जिन्हें युंग ने भाव-प्रतिमा की ही संज्ञा दी है।[3] तुलनात्मक धर्म और पुराण इन भाव-प्रतिमाओं की अत्यन्त समृद्ध खाने हैं और उसी प्रकार स्वप्न और (साइकोसिस) मनोविज्ञान भी। इसी से भाव-प्रतिमाएं प्राक्ज्ञानात्मक मन (Prerational psyche) के अंग-प्रत्यंग हैं। ये वे सनातन और परम्परागत उपादान हैं, जिनका कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं है। मानस-इन्द्रिय के रूप में भाव-प्रतिमाएँ, उस प्रकार की गतिशील वृत्तिगत भाव-ग्रंथियाँ हैं, जो असाधारण मात्रा में मनोजीवन को निर्धारित करती हैं।[4] समस्त मनोगत घटनाएं प्रागनुभविक स्थिति के रूप में इस प्रकार की श्रद्धा और और दिव्यता से परिपूर्ण हैं, जो अनादि काल से देव-सदृश मूर्तियों में अभिव्यक्ति पाती रही हैं। अन्य कोई भी व्यापार अचेतन की आवश्यकता की तुष्टि नहीं कर सकता है। अचेतन अनादिकाल से आती हुई मानवता अलिखित इतिहास है।[5] दिव्य यज्ञकर्ता का रूप भाव-प्रतिमाओं की अभि-

---

१. साइको. रेलि. पृ. ४६८।
२. साइको. रेलि. पृ. ४६१।
३. साइको. रेलि. पृ. ५१८।
४. साइको. रेलि. पृ. ५१९।
५. साइको. रेलि. पृ. १८८।

व्यक्ति के अनुभव सिद्ध रूपों के अनुरूप होता है। इसी में ईश्वर के समस्त ज्ञात रूपों का मूल भी अधिष्ठित है; अर्थात् ईश्वर के सभी ज्ञात एवं व्यक्त रूपों की अभिव्यक्ति प्रायः किसी न किसी भाव-प्रतिमा के ही रूप में होती है। यह भाव-प्रतिमा केवल स्थावर प्रतिमा नहीं है, अपितु अत्यन्त गतिशील और चलायमान है। चाहे स्वर्ग हो या नर्क, पृथ्वी हो या आकाश यह सर्वदा और सर्वत्र एक नाटकीय व्यापार है। युंग ने ईश्वर का तात्पर्य एक भाव-प्रतिमात्मक 'मोटिफ' (Motif) से ग्रहण किया है; जिन्हें तहोवा, येल्लाह, ज्यस, शिव, विष्णु इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सनातनता इत्यादि वे लक्षण हैं जो न्यूनाधिक मात्रा में किसी न किसी भाव-प्रतिमा से सन्निविष्ट रहते हैं। ईसाई मत में 'ईश्वर त्रयी' को 'भाव-प्रतिमा' में माना जाता है, उन्हीं के सदृश भारतीय गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महेश, जो जागतिक त्रिगुणात्मक कार्य-व्यापारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, भाव-प्रतिमा माने जा सकते हैं। ये अपने सम्प्रदाय विशेष में पुनः पुनः अवतरित होने वाले अवतारी उपास्य देव हैं। भाव-प्रतिमाएं भी पुनः पुनः सजीव होने वाली प्रतिमाएँ हैं।[१] इसी से भाव-प्रतिमात्मक विचार-धारा को युंग ने मानव-मन की अविनश्वर आधार भूमि माना है। उसने अचेतनात्मक पुरातन प्रत्यय के सिद्धान्त को ही भाव-प्रतिमा के रूप में स्वीकार किया है।[२] यों अचेतन की अभिव्यक्ति वस्तुतः एक अज्ञात मानव का ही रहस्योद्घाटन है,[३] साथ ही अचेतन की एक यह भी विशेषता है कि वह एकता और अनेकता का बोध एक साथ ही कराता है। बौद्धिक या तार्किक चेतना जो एकीभूत विश्व में पार्थक्य-भाव प्रदर्शित करती है, उसी के फलस्वरूप भाव-प्रतिमाएं भी अनन्त संख्या में पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं।

परिकल्पनाओं और स्वप्नों में भाव-प्रतिमाएं सक्रिय-व्यक्तित्व के रूप में प्रकट होती हैं, जिन्हें भाव-प्रतिमाओं का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। इस रूपान्तर के ज्वलंत उदाहरणों में तांत्रिक षड्चक्रों (कुंडलिनी योग-साधन में प्रयुक्त) को भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि चक्रों और पद्मों में क्रमशः सक्रिय होता हुआ कुंडलिनी शक्ति का रूपान्तर, क्रमशः अवतरित होते हुए भाव-प्रतिमाओं का ही रूपान्तर ज्ञापित करता है।[४] यह प्रतीकात्मक क्रिया प्रतिमाओं में प्रतिमाओं की अनुभूति है। भाव-प्रतिमा में केवल एक ही भाव-स्थिति का भावन नहीं होता अपितु उसमें परस्पर विरोधी तत्वों

---

१. साइको. रेलि. पृ. १३०। २. साइको. रेलि. पृ. ५०।
३. साइको. रेलि. पृ. २८९। ४. आर्के. कौ. अन. पृ. ३८।

को भी समाविष्ट करने की पर्याप्त क्षमता है। इसी से भाव-प्रतिमाओं में 'युगनद्ध' और 'युगल मूर्ति' का आविष्कार सहज सम्भव हैं। अस्तु भाव-प्रतिमाएं दो लिंगों में ही मध्यस्थता नहीं करतीं अपितु अचेतन तल और चेतन-के बीच में भी मध्यस्थ रूप धारण करती हैं। इस दृष्टि से पिता भाव-प्रतिमाओं की गत्वरता का प्रतिनिधित्व करता है; क्योंकि भाव-प्रतिमाएं रूप और शक्ति दोनों में होती हैं। भाव-प्रतिमा की प्रथम वाहिका अपनी माता है, क्योंकि शिशु अज्ञात परिचय की दशा में उससे पूर्णतः सम्बद्ध रहता है। वह शिशु की मनोवैज्ञानिक और भौतिक प्राक् दशा है, जो शिशु में अहं-चेतना के जाग्रत होते ही सम्बद्धता को धीरे-धीरे तोड़ने लगती है, जिसके परिणाम स्वरूप अचेतन के विपरीत चेतना प्राक्दशा में उदित होती है; इस प्रकार माता से असम्बद्ध होने पर उसकी व्यक्तिगत विशेषताएं भी पृथक् हो जाती हैं।

यों तो मातृ-देवी की भाव प्रतिमा शिशु काल से ही हमारे मन में प्रतिच्छायित रहा करती है, जिनका विकास जातीय या सामूहिक मातृ-देवियों के रूप में होता है। 'काली' और 'मदोना' की भाव-प्रतिमाएँ इस प्रकार की मातृगत भाव-प्रतिमाओं के उदाहरण हैं। भाव-प्रतिमा निश्चय ही एक मानसेन्द्रिय (Psyche organ) है जो सभी में उपस्थित रहती है। यह आदिम मन की कुछ तमाच्छन्न सहजात् या वृत्यात्मक उपकरणों को, जो वस्तुतः चेतना के अदृश्य मूल उपादान हैं, उपस्थापित या मानवीकृत करती है।

भाव-प्रतिमा की एक सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सार्वभौमिकता या सामूहिक प्रतिनिधित्व। वह व्यक्ति मात्र के मन में स्वरूपित होकर भी समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती है। इसी से वह किसी व्यक्ति मात्र की सम्पत्ति न होकर समस्त जाति की होती है। भाव-प्रतिमा की सीमा केवल कुछ सम्मूर्तित प्रतिमाओं तक ही नहीं है अपितु इनका विस्तार कला, भाषा विज्ञान और पाठालोचन के इतिहास में भी हुआ है। मनोवैज्ञानिक भाव-प्रतिमा का केवल अपने समानान्तर क्षेत्रों से एक ही अर्थ में वैषम्य है कि वे जीवन्त और सर्वव्यापी मनो-सत्य को सूचित करती हैं। इस दृष्टि से युंग आत्मा को भी भाव-प्रतिमात्मक पूर्ण प्रतीक मानता है।[1] ऐसी भाव-प्रतिमाओं में वैयक्तिकता के अतिरिक्त जागतिकता और सूक्ष्मता विद्यमान रहती है।

---

१. एवोन. पृ. ६९।

अवतारत्व और ईश्वरत्व में भाव-प्रतिमा सम्बन्ध-श्रृङ्खला का कार्य करती है। अतएव अवतार पुरुष एक प्रकार की भाव-प्रतिमा है, जो अपनी ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्तित्व में ऐतिहासिक या पौराणिक महामानव है और पूर्णावतार के रूप में सैकड़ों का आराध्य देव है। पश्चिम में ईसा को साम्प्रदायिक मूर्ति से आबद्ध किया जाता है और पूर्व में पुरुष, आत्मा, हिरण्यगर्भ तथा बुद्ध, राम, कृष्ण आदि को प्रवर्तक अवतारों[1] के समकक्ष समझा जाता है। धार्मिक विश्वास में भाव-प्रतिमा एक मुद्रित रूप (imprint) समझी जाती है, जब कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान उसे 'Types' या प्रकार एवं किसी अज्ञात का प्रतीक मानता है। भाव-प्रतिमाओं पर मानवीय और जागतिक पूर्णता का आरोप किया जाता है, यह युंग के मत से अंशतः चेतन मानव की पूर्णता है और अंशतः अचेतन मानव की।[2] भाव-प्रतिमा को युंग ने आत्मा का पर्याय भी माना है। इस भाव-प्रतिमा की तरह बुद्ध या ईसा के लिए कोई आत्म प्रतीक भी रक्खा जा सकता है।

अन्तर्मुखी सहज ज्ञान में उन प्रतिमाओं को समझने की क्षमता होती है, जो प्रागनुभविक ज्ञान से उत्पन्न होती हैं, तथा जो अचेतन मन की उत्तराधिकार प्राप्त पीठिकाएं हैं। ये भाव-प्रतिमाएं जिनकी आन्तरिक प्रकृति अनुभूति से परे है, समस्त वंश-परम्परा के मानस-कार्य के सामर्थ्य को अभिसूचित करती हैं। वे एकत्रित राशि के रूप में ऐन्द्रिय अनुभूति के सामान्य अस्तित्व में गृहीत होकर, तथा लाखों बार पुनरावृत्त होने के पश्चात् किसी एक रूप-प्रकार (Type) में सिमट कर रह जाती हैं। इस प्रकार की भाव-प्रतिमाओं में वे समस्त अनुभूतियाँ उपस्थित होती हैं, जो आदिम युग से ही इस पृथ्वी पर अक्षुण्ण रही हैं। उनका भाव-प्रतिमात्मक पार्थक्य और अधिक तब स्पष्ट होता है, जब उनकी अनुभूति तीव्र से तीव्र होने लगती है। कांट की दृष्टि में भाव-प्रतिमा प्रतिमा का वह अज्ञात (Noumenen) स्वरूप है, जिसका सहज ज्ञान द्वारा साक्षात्कार होता है और प्रत्यक्षीकरण की दशा में उसकी रचना होती है।[3]

'सेमन' ने जिसे 'Mneme' कहा है, युंग ने उसे ही सामूहिक अचेतन की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से व्यष्टि आत्मा समस्त प्राणियों में विद्यमान किसी सार्वभौम सत्ता का प्रातिनिधिक अंश है और इसी से एक समवर्ती मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रत्येक जीव में, नए रूप में जन्म लेती है। आदि काल

---

१. साइको. अल. पृ. १७। २. साइको. अल. पृ. १८।
३. साइको. टा. पृ. ५०८।

से ही जन्मजात क्रिया-व्यापार को सहज-वृत्ति (instinct) कहते हैं। इस रीति से विषय या लक्ष्य के मनो-प्रत्यभिज्ञान को युंग ने 'भाव-प्रतिमा' की संज्ञा दी है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि सहज वृत्तियों द्वारा ग्राह्य वस्तुओं से प्रत्येक व्यक्ति परिचित रहता है। भाव-प्रतिमा वह प्रतीकात्मक सूत्र है, जो सर्वदा तभी कार्य करना आरम्भ करती है; जब कोई भी चेतन प्रत्यय उपस्थित नहीं रहता है तथा आन्तरिक या बाह्य आधार पर जिसकी उपस्थिति असम्भव होती है। सामूहिक अचेतन के उपादान चेतन में या तो सर्वसामान्य प्रवृत्तियों के रूप में या वस्तु के प्रति एक विशेष दृष्टि-भंगिमा के साथ उपस्थापित किए जाते हैं। सामान्यतः लोग बड़े भ्रामक ढंग से इन्हें वस्तु द्वारा निर्धारित समझते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अचेतन की मानस-निर्मिति में इनका मूल स्रोत सुरक्षित रहता है और ये केवल वस्तु की सक्रियता के द्वारा निःसृत होते हैं।

छाया

युंग ने छाया, 'एनिमा' और 'एनिमस', (नारी-भाव-मूर्ति, पुरुष भाव-मूर्ति) भाव-प्रतिमाओं के ये तीन प्रकार माने हैं;[1] जिनमें छाया व्यक्तित्व के सजीव अंगों में से है, वह किसी न किसी रूप में व्यक्ति के साथ रहती है। यों सामूहिक अचेतन की अनिवार्य और आवश्यक प्रक्रियाएं स्वयं भाव-प्रतिमात्मक विचारों में व्यक्त होती है। ऐसी दशा में स्वयं अपने आप से मिलना एक प्रकार से अपनी छाया से मिलना है। युंग के अनुसार छाया एक वह संकीर्ण पथ है, जिसके दुखद निर्माण से वैसा कोई भी नहीं बचा है, जो उस गहरे कूप तक जाता है। किन्तु व्यक्ति को स्वयं यह जानना चाहिए कि वह क्या है? यों 'एनिमा' और 'एनिमस' की अपेक्षा छाया की अनुभूति अधिक सहज है; क्योंकि इसकी प्रवृति का विवेक व्यक्तिगत अचेतन के उपादानों द्वारा सम्भव है। इस नियम का अपवाद केवल वहीं हो सकता है जहाँ व्यक्तित्व के ठोस गुण दमित हुए रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अहं अनिवार्य रूप से प्रतिरोधी या प्रतिपक्षी बन जाता है। छाया वह नैतिक चेतना है जो सम्पूर्ण अहं-व्यक्तित्व को चुनौती देती है, क्योंकि बिना पर्याप्त नैतिक प्रयास के छाया से कोई अभिज्ञ नहीं हो सकता। अपनी छाया से अभिज्ञ होने के लिए अपने व्यक्तित्व के तत्कालीन और वास्तविक अन्धकारमय पक्षों का प्रत्यभिज्ञान आवश्यक रहता है। अतएव छाया को हम अपने व्यक्तित्व के दीनस्वरूप की छाया कह सकते हैं। छाया के निर्माण में

१. एवोन. पृ. ८।

प्रक्षेपण का बहुत बड़ा हाथ रहता है। प्रायः व्यक्ति के व्यक्तित्व में ऐसा दीख पड़ता है कि वह अपने व्यक्तित्व की नैतिक चेतना के विकास में अत्यन्त रूक्ष गत्यवरोध का सामना करता है। इन अवरोधों का सम्बन्ध उन प्रक्षेपणों से है जिनको पहचानना बहुत कठिन है। प्रक्षेपण की यह क्रिया चेतन की नहीं बल्कि अचेतन की देन है। इससे प्रक्षेपण का प्रभाव ऐसा होता है कि वह व्यक्ति को वातावरण से पृथक् कर, यथार्थ के स्थान में एक भ्रामक सम्बन्ध की सृष्टि करता है। अतएव प्रक्षेपण के फलस्वरूप व्यक्ति जिस छायात्मक व्यक्तित्व को अपनाता है; वह उसके व्यक्तित्व का निषेधात्मक अंग है।[1] छाया में एक ऐसी अकथनीय अनिश्चितता है कि स्पष्ट हो उसका कुछ न तो बाहर है न भीतर, न ऊपर है न नीचे, न यहाँ न वहाँ, न मेरा न तेरा, न भला है न बुरा। यह वह जलमय विश्व है, जब समस्त जीव सत्ता संदिग्धावस्था में तैरती रहती है, जहाँ समानुभूति का साम्राज्य है, जहाँ से किसी भी जीव की सत्ता सर्वप्रथम निःसृत होती है, जहाँ 'मैं' अविभाज्य रूप से यह और वह है, जहाँ 'मैं' अपने में दूसरों का अनुभव करता है और दूसरे अपने में 'मैं' का अनुभव करते हैं।[2] युंग द्वारा विवेचित छाया की यह प्रकृति क्षीर सागर में अनन्त शायी विष्णु या नारायण की मूर्ति के समानान्तर प्रतीत होती है, जिनका एक निर्गुण और निराकार रूप है और दूसरा सगुण साकार। छाया को निर्गुण निराकार के समकक्ष समझा जा सकता है; क्योंकि दोनों में देश-काल से परे की स्थिति को सम्मूर्तित किया गया है।

एनिमा और एनिमस

भाव-प्रतिमाओं के जगत में छाया का एक रूपान्तर 'एनिमा' या 'एनिमस' में होता है।[3] 'एनिमा' मनुष्य के शरीर में अल्पसंख्या वाली स्त्री 'genes' का मनोवैज्ञानिक प्रतिनिधित्व करती है; जो सम्भवतः नारी-अचेतन की कल्पना में नहीं उत्पन्न होती। बल्कि नारी में एक दूसरी प्रतिमा उदित होती है, जो नारी की न होकर मनुष्य या नर की प्रतिमा है। इस नर-भाव मूर्ति को मनोविज्ञान में युंग ने प्रायः 'एनिमस' कहा है। 'एनिमा' पौराणिक मनुष्यों में देवियों के रूप में व्यक्त होती है। मध्यकालीन भक्तों में उदित देवियों की मूर्ति इस मत के अनुसार 'एनिमा' की मूर्ति है। उमा, सीता, राधा, दुर्गा जैसी अवतरित देवियाँ जो स्वयं उपास्य-रूपों में गृहीत होती रही हैं वे मनोविज्ञान की भाषा में आलम्बन लक्ष्य के रूप में मान्य 'एनिमा' की प्रक्षेपित

---

१. एवोन. पृ. १०। २. आर्के कौ. अन. पृ. २३।

३. एवोन. पृ. २४–२६।

भाव-प्रतिमाएं मानी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त सखी, सहचरी, किंकरी या रसिक सम्प्रदायों में केवल कृष्ण या राम को पतिभक्त लोग पति मानते हैं, तथा अपने को राधा या सीता की सहचरी गोपी या सखी समझते हैं, उनमें स्वयं 'एनिमा' भाव-प्रतिमा की उपस्थिति मानी जा सकती है। इसी प्रकार के 'आवरण-निर्मातृ शक्ति'[1] (Projection-Making factor) माया, पुत्र-माता का सम्बन्ध भाव से उत्पन्न 'आत्म-भाव मूर्ति' (इमैगो) के रूप में 'एनिमा' का द्योतन करती है। युंग की दृष्टि में यह भी एक अचेतन शक्ति है। वह जब भी स्वप्न, दिवा-स्वप्न (Vision) परिकल्पना (phantasy) में प्रकट होती है, उसका रूप नारी-मूर्ति में ही होती है। यही नहीं वह नारी-प्रकृति असाधारण विशेषताओं से युक्त रहती है। वह निश्चय ही चेतन का आविष्कार न होकर अचेतन की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति होता है। वह मातृ-रूप की पूरक मूर्ति नहीं है, बल्कि उसके विपरीत उसमें सम्भवतः मातृ-आत्म-भाव-मूर्ति (Mother imago) के वे समस्त अप्रकट गुण आ जाते हैं; एनिमा की सामूहिक भाव-प्रतिमा के द्वारा बड़े भयानक ढंग से मातृ-आत्म-भाव प्रतिमा को शक्तिशाली प्रेरक बना देते हैं, जो प्रत्येक नर शिशु में नवीन ढंग से आविर्भूत होती है।[2] इसी के सामानान्तर पिता भी पुत्री के लिए 'आवरण-निर्माता तत्त्व' है; जो 'एनिमस' के रूप में आविर्भूत होता है। यह 'एनिमस' पिता का केवल वैयक्तिक रूप नहीं उपस्थित करता अपितु धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक और आत्मिक धारणाओं को भी स्वरूपित करता है। इस दृष्टि से किसी भी समुदाय में मान्य देवी और देवता वस्तुतः सामूहिक अचेतन मन से उद्भूत 'एनिमा' और 'एनिमस' जैसी भाव-प्रतिमाएं हैं। इस प्रकार ये देवी और देवता अचेतन शक्तियों के प्रतीक हैं। देवताओं का अनेक अज्ञात रूपों से ज्ञात रूपों में (मनुष्य या मूर्ति के रूप में) अवतरित होना वस्तुतः अचेतन शक्ति का चेतन में साकार होना है। साकारत्व की यह क्रिया वस्तुतः 'भाव-प्रतिमाओं' के मानस-आविर्भाव के द्वारा सम्पन्न हुआ करती है। भाव-प्रतिमाएं इतिहास में विभिन्न रूपों में बार-बार उपस्थित होती हैं। इतिहास के उस विशेष युग में जब वे उपस्थित होती हैं तब यही समझा जाता है कि यही रूप सत्य और सनातन है। प्रत्येक प्रवृत्ति जो चेतना में अभिव्यक्त होती है, यह यथार्थतः मानव-मन के एक लम्बे इतिहास के साथ भाव-प्रतिमा का ऐतिहासिक आविर्भाव है।[3]

---

१. एवोन. पृ. ११, १३। २. एवोन. १४।

३. जे. सो. क. सी पृ. ७७।

आलोचना

भाव-प्रतिमाओं की दृष्टि से युंग ने जिन पौराणिक मूर्तियों या पुराण-पुरुषों का विश्लेषण किया है; उनके विश्लेषण की पद्धति इतनी संकीर्ण है कि समस्त पुराण-पुरुष 'एनिमा' 'एनिमस' और 'छाया' के सूचक मात्र रह गए हैं। मनोवैज्ञानिकदृष्टि से उनकी स्थिति प्रायः समाप्त सी हो गयी है। युंग की यह पद्धति बहुत कुछ फ्रायड के मानव शास्त्रीय अध्ययन की तरह है। इनकी अपेक्षा 'जीमर' ने पौराणिक तत्त्वों का विश्लेषण अपने ढंग से किया है।[1] वह किसी भी प्रतीक के अत्यन्त संकीर्ण एवं निश्चित तात्पर्य में विश्वास नहीं करता। बल्कि वह अपनी इतिवृत्तात्मक शैली से विभिन्न युगों और परिस्थितियों में बदलते हुए उसके वैशिष्ट्यों का अध्ययन करता है। अतः भाव-प्रतिमात्मक अवतारवाद के समस्त सांस्कृतिक रूपों को केवल मनोवैज्ञानिक पक्ष का सर्वाधिक द्योतक माना जा सकता है।

पुरातन-प्रतिमा

(Primordial image)—मनुष्य जितनी प्रतिमाओं की परिकल्पना करता है, उनमें से अधिकांश ऐसी होती हैं, जिनका सम्मूर्तन अनादि काल से मानव-मन में ही हो चुका है। वही प्रतिमा परम्परागत रूप से मनुष्य के मन में सम्मूर्तित होती रही है। इन प्राचीन प्रकृति वाली प्रतिमाओं को प्रायः पुरातन-प्रतिमा की संज्ञा दी जाती है। वैदिक साहित्य में प्रचलित 'पुरुष', नारायण, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, प्रजापति, बृहस्पति, सूर्य आदि की प्रतिमाओं को पुरातन प्रतिमाओं में गृहीत किया जा सकता है। इन पुरातन प्रतिमाओं में पुरा-कथाएँ अनुस्यूत रहती हैं। वैयक्तिक-प्रतिमा न तो पुरातन-हो सकती है न उसका सामूहिक महत्त्व ही अधिक है, किन्तु पुरातन-प्रतिमाएँ सामूहिक अचेतन के ही उपादानों को ग्रहण करने के कारण सर्वदा सामूहिक प्रतिमाएं हैं। इसी से इनका सम्बन्ध सांस्कृतिक या राष्ट्रीय गाथाओं से भी रहता है। वे पुरा-कथाएं जो सभी युगों में आकर उपादानों का कार्य करती हैं, उनका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध इन पुरातन-प्रतिमाओं से रहता है। पुराणों में आयी हुई अवतारों की पुरा-कथाएं उसी कोटि की पुरा-कथाएं हैं, जिनमें अवतार-प्रतीक मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह आदि पुरातन-प्रतिमाओं के रूप में अनुस्यूत हैं। पुरातन-प्रतिमा बहुस्मृत राशि (Memic deposit) है, जो एक ही सदृश प्रतिमाओं में असंख्य बार आकुंचित होकर उद्भूत हुई है। यह अपने प्रारम्भिक रूप में पुरातन काल से एक

---

१. जे. सो. क. सी. पृ. २५०।

एकत्रित राशि है, इसलिए यह क्रिया आवर्तक मनःअनुभूति के विशिष्ट आधारभूत रूपों में से है। पौराणिक प्रेरक की दृष्टि से निरन्तर प्रभाव उत्पन्न करने वाला सतत् आवर्तक अभिव्यक्ति है, जो या तो प्रबुद्ध रहता है या कुछ मानस अनुभूतियों के द्वारा सुव्यवस्थित ढंग से निर्मित होता रहा है। अतः पुरातन-प्रतिमा शारीरिक और भौतिक रूप से निश्चित रूपान्तर की मानस अभिव्यक्ति है। सजीव पदार्थों की तरह पुरातन-प्रतिमा भी अन्योक्ति और समासोक्तिपरक अभिव्यक्तियों से सम्बद्ध रही है। जैसे काम और शिव का पौराणिक द्वन्द्व एक ऐसी अन्योक्ति की व्यंजना करता है, जिसमें शिव के द्वारा भस्म काम अशरीरी होकर भी रति के लिए प्राणियों के भौतिक शरीरों में ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार काम की पुरातन-प्रतिमा का नवीनीकरण या विष्णु की अवतार-प्रतिमा का नवीनीकरण एक वह आवर्तक प्रक्रिया है, जो सजीव प्राणियों में आविर्भाव के द्वारा होती रहती है। युंग के अनुसार भी पुरातन-प्रतिमा नित्य नवीनीकरण या आविर्भाव की क्रिया से सम्बद्ध है। वह सामान्य जीवन और आन्तरिक जीवन का अन्तःनिर्धारक होने के नाते निरन्तर प्रभावपूर्ण प्राकृतिक प्रक्रिया है। प्राणी आंखों से आलोक ग्रहण करता है और मानस इस प्राकृतिक क्रिया की पूर्ति प्रतीक-प्रतिमा के द्वारा करता है। जिस प्रकार नेत्र प्रत्येक जीव के अनोखे और स्वच्छन्द सृष्टि-कार्य के साक्षी बने रहते हैं, उसी प्रकार पुरातन-प्रतिमा मन की अपूर्व और उन्मुक्त रचनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति करती है। इसलिए पुरातन-प्रतिमा इस सचेतन क्रिया (मानस-क्रिया) की पुनरावृत्त्यात्मक अभिव्यक्ति है। यह इन्द्रियों और आन्तरिक मानस के प्रत्यक्षीकरण को परस्पर सम्बद्ध अर्थवत्ता प्रदान करती है, जो प्रारम्भ में बिना किसी क्रम के प्रकट होता है, और बाद में मानस-शक्ति के असह्य प्रत्यक्षीकरण के बन्धनों को उन्मुक्त कर लेता है।

फिर भी वह मानस-शक्ति को उद्दीपनकारक प्रत्यक्षीकरण से पृथक कर एक निश्चित अर्थ-बोध से भी सम्बद्ध करती है पुरातन-प्रतिमा की एक बहुत बड़ी विशिष्टता उसकी समन्वयवादिता है। पुरातन-प्रतिमाओं में अनेक परस्परविरोधी विचार विचित्र ढंग से गुम्फित रहते हैं। इसके अतिरिक्त पुरातन-प्रतिमाएँ मध्यस्थ का कार्य करती हैं और प्रायः (आद्योवतारः पुरुषः पदस्य) की तरह आदि अवतार के ही रूप में नहीं अवतरित होतीं बल्कि धार्मिक एवं सांस्कृतिक तथा उनसे भी अधिक जन-मानस के मनोवैज्ञानिक संतुलन के लिए उन्हें बार-बार अवतरित होना पड़ता है। भारतीय पुरातन-प्रतिमाओं में मान्य पुरुष, पुरुष पुरातन, पुरुष नारायण, विष्णु,

अनन्तशायी नारायण या विष्णु की पुरातन-प्रतिमाएँ अवतारित्व-शक्ति से युक्त समझी जाती रही हैं। इनका अवतार एकांकी और युगल दोनों रूपों में होता है।

युगल-प्रतिमा

मूल पुरुष सामान्यतः उभयलिंगी (heramphroditic) है,[1] वैदिक परम्परा में भी वह स्वयं में से ही नारी की उत्पत्ति करता है और स्वयं उसके साथ संयुक्त हो जाता है। 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि विष्णु जब-जब अवतार धारण करते हैं, उस समय लक्ष्मी भी उनके साथ अवतरित होती हैं, जब वे देव-रूप धारण करते हैं, तो लक्ष्मी देवी होती हैं और जब मनुष्य-रूप धारण करते हैं, तो स्त्री के रूप में अवतरित होती हैं।[2] लीला के लिए श्रीकृष्ण ही राधा और कृष्ण दो रूपों में अवतीर्ण होते हैं[3]। मूल व्यक्ति का एक से दो हो जाना (स्त्री-पुरुष दम्पति के रूप में) नवजात चेतना का क्रिया-व्यापार व्यक्त करता है, यह दो विरुद्धों को जन्म देता है और उनमें चेतना की सम्भावना उपस्थित करता है। अनुभव से ऐसा विदित होता है कि अचेतन कियायें एक निश्चित अवस्था के पूरक हैं। अतः कल्पनाचक्षु (Vision) में उनका विभक्त होना वस्तुतः चेतन अवस्था के पूरक होने की भावना को व्यंजित करता है। यह एकता सर्वप्रथम अवतरित ईश्वर की उस मानव-मूर्ति की ओर इंगित करती है, जो उन दिनों धार्मिक रुचि उत्पन्न करने में सबसे आगे थी।

फ्रायड ने तीन प्रकार का 'सेक्स' या 'लिंग' माना है। स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त एक तीसरा वह 'सेक्स' है—जिसमें स्त्री और पुरुष का बराबर बराबर भाग है। ऐसे रूपों के प्रत्येक अंग भी दुगुने हैं। उदाहरण के लिए चार हाथ, चार पाँव, दो मुख तथा दो शिश्न भी हैं। प्रकृति द्वारा परस्पर

---

१. ग्रीक-पुराकथा में 'Hermis' और 'Aphrodite' एक में मिला कर (Hermaphrodites) हो जाते हैं। ये भारतीय पुराकथाओं में प्रचलित 'युगनद्ध' और 'युगल रूपों' के समकक्ष हैं।

२. वि. पु. १, ८, ३५।

३. म. सा. अ. पृ. ३८६ में (युगलरूप विस्तारपूर्वक द्रष्टव्य), बृ. उ. १, ४. ३. (Beyond the pleasur principle) में उद्धृत किया है। आत्मा ने अपने आनन्द के लिए अपने को स्त्री और पुरुष दो भागों में विभक्त किया।

विभक्त हो जाने के कारण इनमें एक दूसरे के प्रति चाह और एक साथ जीवित रहने तथा बढ़ने की इच्छा भी बनी रही[1]।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित प्रतिमाएं ईश्वरावतार की भी अनेकात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत करती हैं। विशेषकर भाव-प्रतिमा अपनी कतिपय विशिष्टताओं के अनुसार एक प्रकार की अवतार-प्रतिमा ही जान पड़ती है; वह अपने स्वरूप में जिस अचेतन का प्रतिनिधित्व करती है, वह अचेतन अक्सर ईश्वर के नवीनीकरण के रूप में व्यक्त होता है। ईश्वर का नवीनीकरण वस्तुतः एक वैसी लोकप्रिय भाव-प्रतिमा का व्यंजक है, जो बिल्कुल जागतिक प्रकृति की है। यह भाव-प्रतिमा जिस मनोवृत्ति के रूपान्तर को परिपुष्ट करती है, उसके द्वारा एक नयी एकत्रित शक्ति की उत्पत्ति एक नये जीवन का अवतरण तथा एक नए उपयोगितावाद का आविर्भाव होता है।[2] भाव-प्रतिमाओं की यह जीवन-सत्ता सदा पुरा-कथाओं के द्वारा अक्षुण्ण रहती है, तथा इनकी लोकप्रियता ही उनको सर्वजन ग्राह्य बनाती है।

भाव-प्रतिमा और पुरा-कथा

पुराणों की पुरा-कथा एक विशिष्ट प्रकार के कथात्मक उपादानों को ग्रहण करती है। ये ही उपादान पौराणिक कला की कोटि भी निर्धारित करते है। इनमें देवता, अवतार इत्यादि की अविस्मरणीय और परम्परागत कथाएं संन्निविष्ट रहती हैं। पुराण इन कथाओं की गतिशील शक्ति हैं। ये स्थूल होते हुए भी गत्वर हैं तथा इनमें रूपान्तर की पर्याप्त क्षमता है। पुराणों की मौलिक विशेषता यह है कि इनमें पुरा-कथा और कला का अपूर्व सम्मिश्रण रहता है। इसी से पौराणिक पुरा-कथाओं में चित्रात्मकता रहती है। पौराणिक चित्रों का अजस्र प्रवाह फूट पड़ता है। इन पुरा-कथाओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन या परिवर्द्धन सहज सम्भव रहते हैं। पुराण अभिव्यक्ति की एक कला मात्र नहीं हैं, अपितु जनसमुदाय के निमित्त सहज-बोध भी उनका प्रमुख लक्ष्य है। जिस प्रकार संगीत में इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली ध्वनि निकलती है उसी प्रकार प्रत्येक पुरा-कथा एक संतोषजनक एवं विश्वनीय तात्पर्य लेकर चला करती है।[3] पुराणों का आविष्कार किसी प्रकार की व्याख्या के लिए नहीं हुआ है, वे किसी वैज्ञानिक धारणा की ही पुष्टि नहीं करते, बल्कि आदिम शक्ति को बार-बार कथात्मक शैली में वर्णन करने की रीति प्रदर्शित करते हैं। अवतारवादी पुराकथा एक आदिम मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यंजित

---

१. वियोड प्ले. प्रि. पृ. ७४। २. साइको. टा. पृ. २४०।

३. इन्ट्र. सा. मा. पृ. ५२।

करने वाली पौराणिक प्रवृत्ति है। किसी भी प्रकार के युगान्तर का मूल कारण वर्तमान से असंतोष ही रहा करता है। फ्रायड के मतानुसार मनुष्य वर्तमान से असन्तुष्ट होने के कारण एक भावी या अतीत स्वर्ण युग की कल्पना करता है। सम्भवतः शिशुकालीन ऐन्द्रजालिक विश्वास ही इस चमत्कारपूर्ण घटना के सृजन में मूल प्रेरक होते हैं। यही भावना उसमें अज्ञात कल्पना या वरदान की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करती है।[1] यों पुराकथाओं में प्रायः कलाकार अनेक आधारभूत सामाजिक धारणाओं को सूत्र बद्ध कर देते हैं, जो विभिन्न-काल की समयुगीन अवतार-प्रतिमाओं या भाव-प्रतिमाओं में परिलक्षित होती हैं। पौराणिक महाकाव्यों में यह क्रिया सादृश्य स्थापन के द्वारा चरितार्थ होती है। यह सादृश्य-विधान जो अक्सर सामूहिक अवतार के रूप में अवतार-पूरक सम्बन्धों द्वारा स्थापित किया जाता है, फ्रायड के अनुसार ये मानव स्नायु-विकृति की परम्परा में मनो-व्याधि की तरह प्रतीत होते हैं।[2] इस प्रकार पुराकथाओं द्वारा स्नायु-विकृति का ही क्रमशः विकास होता गया; जिनके उपचार के निमित 'टोटम' का आविर्भाव हुआ। टोटम के पश्चात् अनेक उपास्य देव पूजित होने लगे जो उत्तरोतर मानवीकृत होते गए। ये मानव-देव प्रारम्भ में पशु-देवों की पूजित परम्परा से विकसित हुए। मत्स्य से लेकर बुद्ध तक यह प्रवृत्ति भारतीय अवतारवाद में भी देखी जा सकती है। यह परम्परा एक पुरातन रिक्थ (Archaic Heritage) की तरह होती है, जिसका प्रयोग प्रत्येक युग किसी न किसी रूप में करता है। फ्रायड के अनुसार सभी प्राणियों में यह योग्यता होती है कि वे पूर्ववर्ती विकास का अनुसरण करें और उनके प्रति होने वाली उत्तेजना, प्रभाव और उद्दीपन के समय एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करें। यद्यपि यह प्रतिक्रिया सामूहिक प्रकृति की है, फिर भी इसमें व्यक्तिगत रूप से कुछ अन्तर होता है। और पुरातन रिक्थ (Archaic Heritage) इन व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त होता है।[3] पुराकथाओं के रूप में प्रचलित अवतार-कथाएं तथा राम या कृष्ण के विविध रूप-चरित, मूर्ति इत्यादि अपनी अनेकात्मकता के चलते इन विविधताओं से युक्त माने जा सकते हैं। किन्तु प्रारम्भ में चूंकि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के अनुभव से गुजरते हैं, इसी से उनमें प्रतिक्रियात्मक साम्य भी लक्षित होता है। पुराकथाएं भी अचेतन क्रिया की ही अभिव्यक्ति करती हैं। सामाजिक यथार्थ की तुलना में देखने पर इनमें अभिनव घटनाएं गढ़ी हुई मिलती

---

१. मोस. मोने. पृ. ११५। २. मोस-मोने. पृ. ११६।

३. मोस. मोने. पृ. १५७।

हैं। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ समाज की भावना और रूप-रेखा में कभी-कभी आमूल परिवर्तन हो जाते हैं। किन्तु फिर भी पुराकथाएं सांस्कृतिक धरोहर (Archaic Heritage) के रूप में मान्य 'भाव-प्रतिमाओं' को अपने कथा-बन्धों के आवरण में भरी हुई संजीवनी से नए प्राण-संचार करती रहती हैं। अतः पुराकथाओं से आवेष्टित भाव-प्रतिमाएं आभिजात्य, नागरिक या ग्राम्य तथा लोक सम्मत साहित्य एवं कला का उपजीव्य हो जाती हैं। पुरा-कथाओं एवं भाव-प्रतिमाओं दोनों में नित्य नूतन रूप धारण करने की क्षमता विशेषकर साहित्य एवं कला से ही उपलब्ध होती है। बार-बार कहे जाने के कारण पुराकथाएं जीवित होती रहती हैं, इस प्रकार वे पुनः चेतन और अचेतन के बीच अपूर्व ढंग से समन्वय स्थापित कर देती हैं। यों चेतन और अचेतन के परस्पर विच्छिन्न होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व विखंडित हो जाता है और उन दोनों का मिलना प्रायः असम्भव सा रहता है;[1] परन्तु भाव-प्रतिमाएं एक तीसरी अतिक्रमित शक्ति के रूप में चेतन और अचेतन दोनों का योग कराती हैं। भाव-प्रतिमाएं जिन प्रतीकों एवं धारणों में रूपांकित होती हैं, उनमें चेतन और अचेतन का अविना भाव सम्बन्ध बना रहता है। पुराकथाएं भी 'भाव-प्रतिमाओं' को एक नए परिवेश में प्रस्तुत कर नई युग-सापेक्ष अर्थवत्ता से भर देती हैं।[2] पुरा-कथाओं से आवेष्टित प्रायः वे 'भाव-प्रतिमाएं' जो एक 'सर्वोच्च मानव' (Superordinate Man) के अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनमें शताब्दियों तक साहित्य, कला एवं दर्शन का 'प्रेरक' बने रहने की क्षमता विद्यमान रहती है।

पुरुषोत्तम (Superordinate Personality)

मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा रही है कि प्राचीन काल का मानव समुदाय किसी अत्युच्च या सर्वोच्च मानव की प्रभुता में विश्वास रखता था। इसे 'Super Man' या भारतीय साहित्य में 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। फ्रायड ने 'मोजेज ऐण्ड मोनथिज्म' में पुरुषोत्तम की मनोवैज्ञानिक कल्पना पर विचार किया है। उसके मतानुसार अनेक अभावों से पीड़ित मानव सदैव एक नेता या अतिक्रमणशील अतिमानव की खोज

---

१. एवोन पृ. १८० ।

२. वाल्मीकि से लेकर 'साकेत' तक, तथा महाभारत या भागवत से लेकर 'कनूप्रिया' तक राम और कृष्ण की बदलती हुई 'भाव-प्रतिमाएं' इस कथन की पुष्टि करती हैं।

में रहता होगा। तत्कालीन अभाव, आपत्ति एवं विपत्तियाँ जातीय सामुदायिक एवं क्षेत्रीय संघर्ष और युद्ध इस 'अति मानव' या 'पुरुषोत्तम' के सृजन के मूल कारण प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक कठिनाइयों, भोजन की पूर्ति, उपयोगी वस्तुओं का प्रयोग, आबादी की वृद्धि, आबोहवा में परिवर्तन, तथा अनेक स्थानों में निरन्तर भ्रमण इत्यादि के कारण 'पुरुषोत्तम' की कल्पना का उद्गम एवं विकास हुआ।[1] स्थानीय वैशिष्ट्यों ने 'पुरुषोत्तम' की कल्पना में निश्चय ही कुछ जातीय गुणों का आरोप कर अपनी मौलिकता लाने का प्रयास किया है; किन्तु अपने मूलरूप में शायद ही ऐसा कोई प्राचीन समुदाय होगा जिसमें पुरुषोत्तम का आविर्भाव न हुआ हो। यह 'पुरुषोत्तम' अनेक तत्कालीन व्यक्तिगत या सामाजिक गुणों के साथ-साथ अनेक मानवेतर गुणों से भी युक्त समझा जाता होगा जिसका चमत्कारिक प्रभाव तत्कालीन जनता पर होगा। यही नहीं ऐसे 'पुरुषोत्तम' पुरुषों के आकर्षक व्यक्तित्व और विचार ने उस काल की जनता को भी प्रभावित किया। मनुष्य में निहित 'हीनता-ग्रन्थि' के कारण कभी-कभी सम्पूर्ण समाज ही एक ऐसे 'अत्युच्च मानव' की आवश्यकता का अनुभव करता है, जिसकी वह संस्तुति और समर्पण कर सके, तथा जो सारे समाज पर आच्छन्न हो और कभी-कभी समस्त समुदाय को अपने क्रूर व्यवहार से धमकाता रहे। इस दृष्टि से अवतार-पुरुषों के विकास में इन धारणाओं का विशेष योग लक्षित होता है; क्योंकि अवतार-प्रयोजनों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर उपर्युक्त समस्त आवश्यकताएं उनमें संयोजित होती रही हैं। भले ही कालान्तर में उनके रूढ़-रूप प्रचलित हो गए किन्तु अपने मूल रूप में वे अभावग्रस्त पुरातन समाज की झांकी ही प्रस्तुत करती हैं, जिनकी परिपूर्ति में 'पुरुषोत्तम' पुरुषों का विशिष्ट योग रहा है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रश्न यह उठता है कि इस उत्कंठा का मूल-विकास कब से होता है। इस बृहत् मानव की मूल भावना मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिशु के मन में निर्मित हुई है। आदिम पिता सम्भवतः वह पहला 'बृहत् मानव' है जिसके वीरोचित कार्य, निर्भीकता, कुछ भी करने का दैवी अधिकार, उसके दुष्ट एवं क्रूर कर्मों की भी प्रशंसा, तथा समुदाय द्वारा उनकी स्तुति एवं उसके विचारों में दृढ़ निष्ठा एवं विश्वास और समुदाय पर पिता (बृहत्-मानव) का अप्रतिम प्रभाव जैसी विशेषताओं ने शिशु के मन में पिता को 'बृहत् मानव' के रूप में स्वरूपित किया।[2] एकेश्वरवाद के विकास में भी इस मनोवृत्ति का योग माना जा सकता है, जिसके फलस्वरूप

१. मोस. मोने पृ. १६९। २. मोस. मोने. पृ. १७३।

'पुरुषोत्तम-या बृहत् मानव पिता' सर्वशक्तिमान ईश्वर बन गया। उपास्य-रूप में उसकी पूजा आरम्भ हुई, वह अपने पूजकों का रक्षक तथा विरोधियों का संहारक माना गया। इस प्रकार पिता से सर्वशक्तिमान एकेश्वर तथा कालान्तर में अज्ञात एकेश्वर के प्रतिनिधिस्वरूप 'पुरुषोत्तम' के रूप में अवतार-धारणा विकसित हुई। यह आविर्भूत 'पुरुषोत्तम' ही समस्त धर्मों की आशावादिता और आदर्शवादिता का मूल केन्द्र रहा है। क्योंकि आशा और आदर्श ये दो ऐसी धारणाएं हैं जिन्होंने अनेकशः धार्मिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कीं और अनेक महापुरुषों को अवतार-पुरुष सिद्ध किया।

मानव-विकासवाद के विवेचन-क्रम में डार्विन ने भी यह विचारणा व्यक्त की है कि आदिम युग में एक शक्तिशाली पुरुष होता था, जो आदिम समाज का निरकुंश शासक की तरह शासन करता था। समूह मनोविज्ञान के अन्तर्गत यह प्रवृत्ति व्यक्तिगत व्यक्तित्व की चेतना को लोक-धारणाओं की ओर अभिकेन्द्रित करती है। यों प्राचीन मनोविज्ञान को इस दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक 'व्यक्तिगत मनोविज्ञान' के रूप में, जिसमें व्यक्ति समूह का सदस्य मात्र था, और दूसरा 'समूह-मनोविज्ञान' जिसमें पिता, प्रमुख और नेता, इत्यादि समूह नियंत्रक थे।[1] मानव इतिहास के प्रथमारम्भ में इन्हीं रूपों में 'पुरुषोत्तम' या 'अतिमानव' विद्यमान थे। इनके कार्य, धर्म और व्यवहार समस्त जाति के लिए आदर्श और अनुकरणीय समझे जाते थे। नित्शे ने भविष्य में भी ऐसे 'अति-मानव' के अवतार की आशा व्यक्त की है। इस आदिम समूह का पहला नेता महाभयावह आदिम पिता ही था। वह समस्त समुदाय की अकृत्रिम श्रद्धा और प्रेम का पात्र था। तथा वह अपने प्रभावशाली व्यवहार और दृढ़-विचार प्रेषण के द्वारा समस्त जनसमुदाय को सम्मोहित किये रहता था। यहाँ तक की उसकी निष्ठुरता, निर्दयता और कटुव्यवहार की भी आलोचना करने का साहस, उसके आकर्षक व्यक्तित्व से सम्मोहित जनता में नहीं था। यही कारण है कि वह अपने युग का सांस्कृतिक वीर ही नहीं अपितु संस्कृति के विभिन्न मानवीय आदर्शों का प्रतिमान 'पुरुषोत्तम' था, जिसे तत्कालीन जनता सर्वशक्तिमान ईश्वर की तरह पूजती थी। प्रायः परम्परागत स्मृतियों के योग से पुरुषोत्तम में ईश्वरत्व की भावना बद्धमूल होती गई, कालान्तर में जो अनेक स्नायविक विकृतियों से युक्त हो गई। फ्रायड ने 'भ्रम' delusion को इस विकृति का कारण माना है,[2] जिसमें अतीत के सत्य को अप्रसारित करने के कारण उसमें आंशिक सत्य भी परिलक्षित होता है।

---

१. जेन. सेल. सिग. फा. पृ. २६१। २. मोस. मोने. पृ. २०५।

युंग ने मनुष्य के स्वप्न, दिवास्वप्न, कल्पना, भ्रम इत्यादि में बराबर प्रकट होने वाली मानव-आकृतियों को छाया, बुद्धिमान वृद्ध मनुष्य, शिशु या शिशु-नायक, माता (आदि माता) या 'पृथ्वी-माता' को 'पुरुषोत्तम' व्यक्तित्व (Super ordinate Personality) के रूप में विभक्त किया है और इनके सहयोगियों में कुमारी (Maiden), 'एनिमा' और 'एनिमस' को ग्रहण किया है।[1] ये सभी प्रायः अतिउत्तम व्यक्तित्व के रूप में आविर्भूत होते हैं। कभी-कभी पुरुषोत्तम व्यक्तित्व विकृति-रूप में भी प्रकट हुआ करते हैं। युंग की दृष्टि में 'पुरुषोत्तम' या अत्युच्च मानव एक सम्पूर्ण व्यक्ति है। सम्पूर्ण मानव से उसका तात्पर्य है—यथार्थतः जैसा वह है, यह नहीं कि जैसा वह प्रतीत होता है।[2] उसकी सम्पूर्णता में अचेत मन भी निहित है, जिसकी आवश्यकताएं उसी प्रकार की हैं जैसी चेतन की हैं। युंग अचेतन को व्यक्तित्व की दृष्टि से इस प्रकार नहीं व्यक्त करना चाहता, जिस प्रकार परिकल्पना (fantasy)-प्रतिमाओं के विषय में कहा जाता है कि ये दमित काम की 'इच्छा-पूर्ति' के साधन हैं। किन्तु ये प्रतिमाएं कभी भी चेतन नहीं रही हैं, अतएव उन्हें कभी भी दमित काम का प्रतिफल नहीं कहा जा सकता। बल्कि अचेतन उसकी दृष्टि में एक वह निर्वैयक्तिक मन है, जो सभी मनुष्यों में समान रूप से है, यद्यपि वह स्वयं को व्यक्तिगत चेतन के द्वारा व्यक्त करता है। पौराणिक प्रतिमाएं भी अचेतन निर्मिति की देन हैं तथा निर्वैक्तिक अस्तित्व से युक्त हैं। यथार्थतः अधिकांश व्यक्ति उनको अधिकृत करने की अपेक्षा उन्हीं के द्वारा अधिकृत कर लिए गए हैं।[3] युंग आत्मा से भी 'पुरुषोत्तम' का सम्बन्ध मानता है। उसकी दृष्टि में वह पुरुषोत्तम बिल्कुल आत्मा ही है, जिसका अस्तित्व अहं से बिल्कुल पृथक् है। 'अहं' का विस्तार केवल चेतन मन तक है, जब कि व्यक्तित्व की समस्तता में चेतन और अचेतन दोनों निहित हैं। अतः सम्पूर्ण के अंश-रूप की तरह 'अहं' आत्मा से सम्बद्ध है। इस सीमा तक वह अतिउच्च या 'पुरुषोत्तम' है। इसके अतिरिक्त अनुभव ज्ञान की दृष्टि से आत्मा की अनुभूति, 'विषयीगत' न होकर विषयगत होती है। ऐसा केवल उन अचेतन उपादानों के चलते होता है, जो चेतना में परोक्षरूप से केवल प्रक्षेपण के द्वारा उपस्थित होते हैं। अपने अचेतन अंगों

---

१. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २१९।

२. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २२३ 'Superordinate Personality' is the total Man i. e. Man as he really is, not as he appears to himself.

३. इन्ट्रो. सा. मा. पृ. २२३–२२४।

के कारण 'आत्मा' चेतन मन से इतनी दूर हटा दी जाती है, कि उसका केवल आंशिक रूप मात्र ही मानव आकृतियों के द्वारा व्यक्त हो पाता है और इतर अंश अन्य वस्तुओं या अमूर्त प्रतीकों के द्वारा व्यंजित होते हैं। 'पुरुषोत्तम' तत्त्व से आच्छन्न मानव आकृतियों में युंग पिता और पुत्र, माता और पुत्री, राजा और रानी तथा देवता और देवियों को मानता है तथा पशु प्रतीकों में नाग, सर्प, हस्ति, सिंह, भालू इत्यादि शक्तिशाली जन्तु हैं, मकड़ी, केकड़ा, तितली, मक्खी जैसे लघु जीव भी आते हैं। इसी प्रकार, पौधों में गुलाब और कमल—भारतीय प्रतीकों में पीपल, वट इत्यादि। भारतीय प्रतीकों में, चक्र, आयत, वर्ग जैसे ज्यामितिक चित्र इत्यादि भी 'पुरुषोत्तम' तत्त्व का आंशिक परिचय देते हैं। सम्भवतः जिन्हें भारतीय अवतारवाद में अंश या आवेशावताररूप में व्यक्त किया गया है। इस प्रकार युंग की दृष्टि में अचेतन अनेक प्रतीक-चित्रों को सजीवता प्रदान करता है, ये पशु से लेकर ईश्वरतक व्याप्त हैं।[2] इन समस्त प्रतीकों में वह 'पुरुषोत्तम' 'तत्त्व' ही आविर्भूत हुआ करता है। युंग ने उसकी प्रकृति द्विध्रुवीय (bipolar) माना है। इस प्रकार युंग ने 'पुरुषोत्तम' या 'Super ordinate personality' के रूप में जिनका विवेचन किया है, वे भाव-प्रतिमाओं की ही एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में लक्षित होते हैं। भाव-प्रतिमाओं के सदृश ये भी अचेतन के ही उपादान हैं जो विभिन्न प्रतीकात्मक-प्रतिमाओं के रूप में आविर्भूत हुआ करते हैं। भाव-प्रतिमाओं की तरह 'पुरुषोत्तम' की भी अभिव्यक्ति परस्पर विरोधी देव-दानव, मनुष्य-राक्षस, सुर-असुर आदि रूपों में भी हो सकती है।

उपर्युक्त कथनों में 'पुरुषोतम तत्त्व' के क्रमिक विकास एवं उसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप का विवेचन किया गया है। इन कथनों से यह स्पष्ट है कि अवतार-पुरुषों एवं अवतार पशु-प्रतीकों के निर्माण में भी 'पुरुषोत्तम तत्त्व' का विशेष योग रहा है। अतएव अवतार-पुरुष वस्तुतः मनुष्य के अचेतन तत्त्वों से निर्मित उस सामूहिक-मनोवृत्ति की देन है, जहाँ उसने अपने 'वैयक्तिक अहं' का विलय कर 'आदर्श-अहं' के रूप में एक सामूहिक या सामुदायिक व्यक्तित्व अथवा 'पुरुषोत्तम' की परिकल्पना की है। इसी से 'पुरुषोत्तम' में यदि समस्त समुदाय के जातीय गुणों, व्यवहारों तथा व्यापारों की चरम सीमा लक्षित होती है, तो वह साथ ही सभी लोगों की मनश्चेतना, मनोभावना और मनोत्कंठा का भी प्रतिनिधित्व करता है। अब देखना यह है कि किन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों एवं मनोग्रंथियों ने 'अवतारवादी प्रक्रिया'

---

२. इन्ट्रो सा. मा. पृ. २२५।

को जन्म दिया है तथा उसके मूल प्रयोजनों के विकास में मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की सृष्टि की जाती है।

अवतारवाद की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ और उसके मूल-प्रयोजनों का मनोविश्लेषण

अवतारवाद भौतिक सत्य से अधिक मनोवैज्ञानिक सत्य है

अवतारवाद वस्तुतः मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की दृष्टि से सजीव या निर्जीव पदार्थ या प्राणियों में ब्रह्म, ईश्वर और दिव्य शक्ति के प्रत्यक्षबोध का सिद्धान्त है। निश्चय ही यह प्रत्यक्षबोध मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनोविज्ञान में केवल भौतिक सत्य को वास्तविक सत्य का यथार्थ मानदण्ड नहीं माना जा सकता। युंग के अनुसार बहुत से ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्य हैं, जिनकी न तो व्याख्या की जा सकती है, न प्रमाणित किया जा सकता है, न भौतिक पद्धति से उनकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है।[1] यदि यह धारणा जन-विश्वास में प्रचलित हो जाय कि किसी काल में गंगा समुद्र से हिमालय की ओर बही थीं, तो भौतिक रूप में असम्भव होते हुए भी, जहाँ तक आस्था का प्रश्न है, यह वह मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक उक्तियाँ भी इसी प्रकार की 'प्रभु सम्मित' उक्तियाँ हैं, जिनका किसी भौतिक सत्य से सम्बन्ध न रहते हुए भी, वे मनोवैज्ञानिक सत्य का द्योतन करती हैं। विज्ञान उनका बहिष्कार कर सकता है किन्तु मनोविज्ञान नहीं। अवतारवाद भी भौतिक दृष्टि से प्रमाणित हो या नहीं, किन्तु निश्चय ही वह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है; जिसकी कदापि मनोविज्ञान में उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि अवतारवाद को 'भ्रम' या 'मतिभ्रम' माना जाय तो भी वह मनोविज्ञान में उपेक्षणीय नहीं है। यों भारतीय अवतारवाद तो स्वयं 'Ellusion' या माया से आवेष्टित 'नट इव' अवतरण की घोषणा करता है, जो भौतिक से अधिक मनोवैज्ञानिक सत्य का परिचायक है। भौतिक वस्तुओं की भी यह स्थिति है कि जिन वस्तुओं को हम इन्द्रियों के माध्यम से देखते या भावन करते हैं, वह वस्तुतः उनका वास्तविक रूप नहीं अपितु 'नट् इव' मनोसंवेद्य रूप ही है। अतएव भौतिक जगत में भी वस्तु का एक नाम लोकपरक है और दूसरा सैद्धान्तिक या शास्त्रीय। लोक प्रचलित नाम मनोसंवेद्य है और भौतिक शास्त्रीय नाम विश्लिष्ट रूप का वाचक। पहला लोक ग्राह्य अवतारवादी नाम की तरह है तथा दूसरा तार्किक या दार्शनिक नाम

१. साइको. रेलि. पृ. ३५९।

की तरह। इस वैषम्य का मूल कारण यह है कि दोनों के वस्तुगत प्रत्यक्षबोध में मौलिक अन्तर है। जब हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध होता है, हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ उस ज्ञान का माध्यम होती हैं। इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे केवल उन्हीं का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। घ्राण से केवल गन्ध का ही ज्ञान होता है, किन्तु प्रत्यक्षीकृत वस्तु केवल गन्ध नहीं है, वह दृश्य भी हो सकती है और स्पर्श्य भी। अतः वह वस्तु इन्द्रियों के विषय-ज्ञान का आलम्बन मात्र है; क्योंकि वे वस्तु के गोचरत्व मात्र को ही ग्रहण कर पाती हैं। जब कि उस गोचर वस्तु का वस्तुत्व अपने आप में स्वतंत्र ज्ञाताज्ञात है। बुद्धि-विश्लेषण से भी हम वस्तु के वस्तुत्व को जानने की चेष्टा करते हैं, फिर भी वह हमारे बुद्धि-ज्ञान से स्वतंत्र है। यदि मिश्री के एक टुकड़े का उदाहरण लें, तो मिश्री का टुकड़ा अपनी समस्त जाति की एक इकाई है, जिसका हमारी इन्द्रियों ने प्रत्यक्षीकरण किया है। किन्तु क्या मिश्री वस्तुतः वही है? नहीं, उस मिश्री का एक जागतिक रूप भी है। समस्त सृष्टि में वह सहस्रों रूपों—स्थूल या सूक्ष्म, यौगिक या मिश्रण तथा व्यक्त और अव्यक्त रूपों में उसकी सत्ता हमारे ज्ञान-अनुमान से परे परमस्वतंत्र है। वस्तु के विषय में इन्द्रियों को जो ज्ञान होता है, वह वस्तु के नाम पर या वस्तु को आलम्बन मानकर उनके अपने ही पूर्व-संवेद्य विषय का ज्ञान है। इसी से यदि वस्तु सत्य है तो भी इन्द्रियों के माध्यम से ग्राह्य या प्रत्यक्षीकृत वस्तु सत्याभास या सत्यवत् है। फिर भी सत्यवत् वस्तु से वास्तविक वस्तु के भ्रामक या यथार्थ होने का कम से कम अनुमान किया जा सकता है। हमारा सारा वस्तुगत ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्षीकृत होने के कारण सत्यवत् है। इस दृष्टि से हमारी सारी निष्पत्तियाँ, परिकल्पनाएं या मान्यताएं मानी हुई हैं।

क्योंकि जब भी हम वस्तु के वस्तुत्व का निर्धारण करते हैं, वह उसके 'अहं' का निर्धारण है, जो पृथकीकरण के आधार पर होता है। वस्तु यह नहीं है, यह नहीं है, तब कहीं जाकर 'वस्तु' वह है का निश्चय होता है। वस्तुत्व के स्थिरीकरण या उसके अहं को स्पष्ट करने में प्रागनुभाविक ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। जिस वस्तु का अभिज्ञान (cognition) सर्वप्रथम इन्द्रियों या बुद्धि को होता है उसी का प्रत्यभिज्ञान (recognition) करने की क्षमता इन्द्रियों में होती है। अतः पूर्वभावित या आस्वादित वस्तु के माध्यम से इन्द्रियों को जिस विषय का ज्ञान होता है, वस्तु-प्रात्यक्ष्य के कारण वह वस्तु-सापेक्ष ज्ञान है। वस्तुतः हमें वस्तु का 'अहं' रूप में सापेक्ष ही ज्ञान होता है।

वस्तु के सापेक्ष ज्ञान के निमित्त पाश्चात्य दर्शन में प्रचलित 'चार आयामों' के सिद्धान्त (Four dimensions Theory) को यदि लें, तो दिक् की दृष्टि से वस्तु में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई है, साथ ही वस्तु का काल से सापेक्ष सम्बन्ध है। अतएव इन्द्रियों को वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध दिक्-काल सापेक्ष होता है।[1] उपर्युक्त विवेचन से ये निष्कर्ष निकलते हैं कि वस्तु और प्रत्यक्ष-ज्ञान दोनों स्वतंत्र और पृथक् हैं, किन्तु वस्तु पर प्रत्यक्ष-ज्ञान आधारित है और प्रत्यक्ष-ज्ञान पर वस्तु। इस प्रकार दोनों में पृथक्-पृथक् सापेक्ष सम्बन्ध है। दूसरा यह कि प्रत्यक्ष वस्तु की सत्ता यदि व्यष्टि प्रधान है, तो उसका व्यष्टिगत अस्तित्व सजातीय समष्टि-वस्तु से सापेक्ष होने के कारण है। अन्यथा व्यष्टि वस्तु और समष्टि वस्तु में दिक्-काल सापेक्षता के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं। यह प्रत्यक्ष वस्तु ही परम्परागत शब्द रूढ़ि में अवतरित वस्तु है, जिसका सापेक्ष सम्बन्ध सदैव जागतिक या समष्टि वस्तु से है। प्रत्यक्ष के आधार पर प्रत्यक्षेतर वस्तु की कल्पना होती है। अतः प्रत्यक्ष अवतरित रूप है और प्रत्यक्षेतर उसका अज्ञात या अनुमेय रूप। जिन्हें अवतरित और रहस्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

अवतरित वस्तु	रहस्य वस्तु
प्रत्यक्ष	अप्रत्यक्ष
स्थूल	सूक्ष्म
ग्राह्य	अग्राह्य
चिन्त्य	अचिन्त्य
ज्ञेय	अज्ञेय
स्वाद्य	अस्वाद्य
श्रव्य	अश्रव्य
स्पर्श्य	अस्पर्श्य
दृश्य	अदृश्य
सेन्द्रिय	अतीन्द्रिय
(अणु + विभु)	(अणु + विभु)

किन्तु वस्तु के अवतारत्व और रहस्यत्व में वस्तु न तो अवतारत्व में विशुद्ध रूप में अणु है न रहस्य-रूप में विशुद्ध विभु, अपितु अवतारत्व और रहस्यत्व दोनों में वह अणु और विभु संयुक्त रूप में है, जो उसका मध्यस्थ

---

१. दिक्-काल भेद से उनके विषय-भावन की मात्रा परिवर्तित होती रहती है।

रूप है। क्यों कि विशुद्ध अणुत्व और विशुद्ध विभुत्व न तो अवतारत्व में गृहीत हो सकते हैं, न रहस्य में। यद्यपि अवतारत्व में सगुण का आधिक्य है और रहस्य में निर्गुण का किन्तु दोनों में वस्तु के अणु और विभु संयुक्त रूप में ही हैं।

अवतरित वस्तु और रहस्य वस्तु कहने पर ऐसा जान पड़ता है कि मानो अवतारत्व और रहस्यत्व वस्तु के गुण या विशेषताएं हों। किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि वस्तु के अवतरण से तात्पर्य है—वस्तु के प्रति सेन्द्रिय अवतरत्व बोध से तथा वस्तु के रहस्य से तात्पर्य है वस्तु के प्रति सेन्द्रिय रहस्य-जिज्ञासा से। ऐसा लगता है कि अवतारत्व-बोध और रहस्य-जिज्ञासा ये दोनों मनुष्य की मानसिक और बौद्धिक चेतना के कार्य हैं। इनका मूल सम्बन्ध सेन्द्रिय-बोध और जिज्ञासा से है। इन दोनों का सम्बन्ध विशुद्ध तार्किक या बौद्धिक ज्ञान मार्ग से नहीं हैं। ज्ञान-मार्ग में विश्लेषण और तर्क द्वारा वस्तु के यथार्थ वस्तुत्व को ज्ञात किया जाता है। जब कि अवतारत्व में अवतरित वस्तु के माध्यम से सेन्द्रिय भाव-बोध होता है, अवतारवाद में अवतरित वस्तु का वस्तुत्व ज्ञान गौण है और इन्द्रियों के द्वारा प्रदत्त भावोद्दीपन का भावन मुख्य है। अवतार-वस्तु इन्द्रियों के भावन का आलम्बन और उद्दीपन दोनों है। इसीसे वह सत्यभास, 'नटवत्' या 'नट इव' है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अवतारवाद भौतिक सत्य से अधिक मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो चिरकाल तक जनसमुदाय की सहज आस्था का केन्द्र रहा है।

भला और बुरा

अवतार-प्रयोजन की दृष्टि से भला और बुरा एक निश्चित मानस मूल्य हैं, जिनको किंचित मनोवैज्ञानिक परिष्कार की आवश्यकता है। इनमें बुरा भी मनुष्य की दुष्टता का परिणाम न होकर अचेतन की देन है। प्रायः भला और बुरा अचेतन के वे उपादान हैं, जो पुरातन काल से ही 'देव' या 'दानव' तथा 'देव' या 'असुर' की 'भाव-प्रतिमाओं' में आविर्भूत होते रहे हैं। वस्तुतः मनुष्य के अचेतन में भला और बुरा, नैतिक और अनैतिक, पुण्य और पाप का अनवरुद्ध अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में कभी भला या देव पक्ष प्रबल होता है और कभी 'बुरा' या 'दानव पक्ष'। अतः देवासुर संग्राम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के अचेतनात्मक द्वन्द्व का परिचायक 'भले और बुरे' का आत्मगत युद्ध ही है, आदिम काल से जिसका तादात्म्य सामूहिक या जातीय युद्धों से किया जाता रहा है। फ्रायड ने मनुष्य के मन

में स्थित दो प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं—अहं वृत्ति और काम वृत्ति[1]। अहं वृत्ति रावण या कंस का प्रतिनिधित्व करती है तो काम वृत्ति को राम और कृष्ण का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। फ्रायड के अनुसार अहं वृत्ति हमें मृत्यु की ओर उन्मुख करती है और काम वृत्ति जीवनेच्छा की ओर। भला और बुरा का दूसरा रूप हमें सुख और दुःख में भी मिलता है। इन दोनों का अचेतन वृत्तियों से सहज सम्बन्ध है। दुःख के अनुपात में सुख आनन्द-दायक होता है। सुख सिद्धान्त में जो प्रथम प्रवृत्ति लक्षित होती है—वह है घटना की पुनरावृत्ति। चेतन और पूर्वचेतन अहं का प्रतिबन्धन ही सुख सिद्धान्त को अग्रगामी बनाता है। यह प्रक्रिया दमित पदार्थों के निःसरण से जगाए हुए दुःखको दूर करने के निमित्त होती है।[2] इस प्रकार भला और बुरा, शिव और अशिव, नीति और अनीति, जैसे अन्तर्द्वन्द्वों के प्रतिद्वन्द्वों के प्रतिमात्मक (देवासुर) संग्राम चलते हैं, उनमें दोनों पक्षों की अवसर-अनुकूल विजय किसी न किसी देव या दानव नेता के असाधरण शक्ति-प्रदर्शन द्वारा होती है। ये ही अवतार और प्रतिअवतार नायक दोनों अतिरिक्त नैतिक चेतना के ही दो विरोधी रूपों में अवतरित होते हैं। मनुष्य की नैतिक चेतना अनीति पर नीति की, पाप पर पुण्य की तथा बुरे पर भले को विजय उपस्थित कर अवतरित देव (अतिरिक्त नैतिक शक्ति) के रूप में प्रायः अपनी नैतिकता या जातीय सामाजिक मान्यता की विजय प्रदर्शित करती है। प्राचीन वैदिक साहित्य एवं विभिन्न महाकाव्यों से आती हुयी यह परम्परा अनेक पुराणों, महाकाव्यों एवं अन्यकृतियों का प्रधान उपजीव्य रही है। इस प्रकार भले और बुरे का प्रतीकात्मक रूप देवासुर संग्राम मनुष्य के अचेतन में सर्वदा सक्रिय वह अन्तर्द्वन्द्व है, जिसका समाधान सदैव अतिरिक्त या प्रबल अचेतन राशि से ही निर्मित शक्ति के योग द्वारा अवतार-प्रयोजन का एक प्रमुख लक्ष्य है। अवतारवादी उपादानों की प्रमुख विशेषता यह है कि नैतिक और विशुद्ध 'उपयोगिता के लिए कला' की तरह अवतारवाद का एक रूप जो असुरों के बध के लिए होता है, वह एक ओर तो अवतारवाद की नैतिकता की परिपुष्टि करता है, और दूसरी ओर केवल लीला के लिए जो अवतार होता है, उसे विशुद्ध कलात्मक (कला के लिए कला का) अवतारवाद भी कहा जा सकताहै। क्योंकि एक का प्रयोजन केवल विशुद्ध नैतिक उत्थान है तो दूसरे का प्रयोजन केवलविशुद्ध लीला है। इस प्रकार अवतारवाद के भी उपयोगितावादी और कलात्मक प्रयोजन प्रतीत होते हैं। उपयोगितावादी प्रयोजन में ही अपराध

---

१. बियोंड. प्ले. प्रि. पृ. ५४। २. बियोंड. प्ले. प्रि. पृ. ५४।

मार्जन या अपराध निवारण भी गृहीत हो सकता है। क्योंकि अवतारवादी धारणा का उदय एक ऐसी स्थिति में होता है, जब समाज में पाप (जो एक प्रकार का भारतीय वर्जन taboo रहा है) की वृद्धि हो जाती है। सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह एक ऐसी वैज्ञानिक परिस्थिति है, जिसमें मान्य या प्रचलित प्रथाओं को तोड़ने वाले या सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाले 'असुर' अतिक्रमशील माने जाते हैं। इस अतिक्रमण-शीलता का नाश या शमन दिव्य या अवतरित शक्तियों के योग से करने की भावना, अपराध-शमन के प्रति एक 'मनोवैज्ञानिक संतोष' की मनोवृत्ति का निर्माण करती है। अवतार-भावना व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों स्तर पर इस पाप-वृत्ति का शमन करके 'मनोवैज्ञानिक संतोष' की अवस्था प्रदान करती है।[१] 'पाप-निवारण' के लिए अवतरण वृत्ति का मुख्य कारण मनुष्य की भाग्यवादिता नहीं अपितु उसका सहजात् भय है। अन्य भावों या अहंभावों की तरह 'अपराध' भी मानसिक तनाव की एक दशा है। जो स्वभावतः तनाव निवृत्ति की अवस्था उत्पन्न करता है; किन्तु प्रारम्भ में यह क्रोध या भय की तरह व्यक्त प्रतीत नहीं होता। अपराध अनुचित कार्यों को जन्म देता है, जो अनेक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से कष्ट पहुँचाते हैं।[२] अपराध वह वृत्ति है, जो अहं (ego) और नैतिक अहं के बीच तनाव की अवस्था उत्पन्न करती है। यह तनाव पुत्र और पिता के बीच होने वाले तनाव से मिलता जुलता है। इन दोनों अवस्थाओं में दंड ही त्राण का एकमात्र सहारा रह जाता है।[३] अवतरित शक्ति और असुर (अपराधी) शक्ति के बीच का तनाव भी कुछ इसी प्रकार का है, जिसका अन्ततः दंड में ही पर्यवसान होता है।

नैतिक-अहं (Super ego) का प्रक्षेपण तथा पूर्ण, अंश और आवेश

मनुष्य या सभी प्राणी केवल जीवित ही नहीं रहना चाहते अपितु उन सभी में अधिक सुन्दर जीवन व्यतीत करने की कामना रहती है। इसी से विश्व के आदिम समाज में पुरातन पुरुषों ने ही किसी न किसी प्रकार की सुव्यवस्था एवं सुखमय जीवन की ओर ध्यान देना शुरू किया था, जिसके फलस्वरूप उनके 'नैतिक अहं' (Super ego) या 'अहं-आदर्श' (ego

---

१. मैन, मोरल. सो. पृ. १८० ।
२. मैन, मोरल. सो. पृ. १७७ ।
३. मैन, मोरल. सो. पृ. १७९ ।

Ideal) का प्रादुर्भाव हुआ था। निश्चय ही समाज के सभी व्यक्तियों का 'नैतिक अहं' विकसित नहीं हो सकता। प्रायः असाधारण व्यक्तियों को छोड़ कर, जिनका 'नैतिक अहं' अत्यन्त शक्तिशाली और स्वतंत्र है, प्रायः सभी व्यक्ति अपने वातावरण की नैतिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होते हैं। एक प्रकार से परम्परागत, आनुवांशिक या सामाजिक और सामूहिक नैतिक अहं का वे न्यूनाधिक मात्रा में अनुसरण करते हैं। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि 'ego-ideal' की परिपूर्ति जब अपने आप में नहीं कर पाते, तो वे अपने अनुमोदित 'आदर्श अहं' को या तो दूसरों में पुनः स्थापित या अनुपूरित कर देते हैं, या उसके स्थानान्तरित रूप को स्वीकृत करना चाहते हैं। यों बाह्य नैतिक नियंत्रण पुरातन काल से चलता आ रहा है; उसकी अपेक्षा 'अहं-आदर्श' द्वारा नियंत्रित आंतरिक नैतिक नियंत्रण, अधिक परवर्ती है। अतः आंतरिक नैतिक नियंत्रण से सम्बद्ध 'अहं-आदर्श' स्थानान्तरित या किसी अन्य व्यक्ति पर आरोपित करने में बहुत कम शक्ति व्यय करनी पड़ती है। इसीसे प्राचीन काल से ही नैतिक अहं 'अहं-आदर्श' के प्रक्षेपण की भावना प्रचलित रही है।

प्रक्षेपण के निमित्त ही व्यक्ति बाह्य विश्व में अपने 'आदर्श-अहं' का नव्यतम प्रतिनिधि खोजता रहा है; शर्त इतनी ही है कि वे बाह्य-आकृतियाँ (व्यक्ति) उसके 'अहं-आदर्श' के प्रतिरूप (Pattern) से अधिकाधिक साम्य रखती हों, जिनका निर्माण पहले ही अन्तर प्रतिक्षेपण (Introjection) के द्वारा निश्चय किया जा चुका हो। किसी कार्य का स्वयंपालन या उसकी साधना उसके आदेश से आसान है, वैसे ही किसी के गुणों की प्रशंसा करना, स्वयं उसके गुणों को चरितार्थ करने की अपेक्षा सहज है।[1] हम उन गुणों की चरम परिणति अपने महापुरुषों एवं वीर नेताओं में देखना चाहते हैं, जो हमारे आदर्शों का उदाहरण प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हों। इस धारणा के बल पर व्यक्ति अपने आदर्शों के स्वयं पालन से मुक्ति जैसा अनुभव करते हैं।

इसी से प्रत्येक युग में अपने 'अहं-आदर्श' के प्रक्षेपण की भावना परिलक्षित होती है। अवतार-पुरुषों में भी इन आदर्शों का वहन करनेवाले अवतारों पर 'अहं-आदर्श' के प्रक्षेपण होते रहे हैं। इस दृष्टि से अवतारों को अपने युग के अहं-आदर्शों एवं नैतिक अहं का प्रक्षेपण कहा जा सकता है।

---

१. मैन-मोरल. सो. पृ. २१४।

प्रतीत होता है। कुछ स्थितियों में प्रक्षेपण-प्रक्रिया के द्वारा 'नैतिक-अहं' की आकृतियों या स्वरूपों में भी परिवर्तन हुआ करते हैं; प्रायः पुराने स्वरूपों का स्थान अपेक्षाकृत नए और श्रेष्ठतर स्वरूप ले लेते हैं। इस प्रवृत्ति का भी अवतारवादी परम्परा से बहुत कुछ साम्य है; क्योंकि विष्णु या अन्य अवतारी तत्वों के अवतार एक ही रूप में नहीं होते, अपितु निकृष्ट या उत्कृष्ट विभिन्न स्वरूपों में हुआ करते हैं। नैतिक अहं के मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इसी से 'नैतिक-अहं' का पूर्ण प्रक्षेपण ही व्यक्ति या समस्त समाज पर सम्मोहनात्मक प्रभाव डालने में सक्षम हो सकता है, अन्यथा आंशिक या क्षणिक प्रक्षेपण गुणात्मक तादात्म्य मात्र ही अधिक सूचित करते हैं।

फ्रायड के अनुसार प्रक्षेपण की एक क्रिया दूसरे रूप में भी मिलती है।[१] फ्रायड ने सम्मोहन और प्यार की दशा में स्थित व्यक्ति की अवस्था पर विचार करते हुए बताया है कि किसी व्यक्ति के प्रति प्यार, (प्रेम या श्रद्धा भी) वस्तुतः प्रिय व्यक्ति पर 'नैतिक-अहं' का प्रक्षेपण करते हैं; जो द्रष्टा की दृष्टि में बहुत कुछ पूर्ण दीख पड़ता है। विशेषकर अवतारवादी उपास्यवाद में अपने प्रिय व्यक्ति या उपास्य के प्रति 'नैतिक-अहं' का प्रक्षेपण भक्तों में देखा जा सकता है।

अवतारवादी प्रक्षेपण की यह विशेषता है कि अवतारवादी उपास्य देव, अवतार या इष्टदेव में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के केवल 'नैतिक-अहं' के ही प्रक्षेपित रूप नहीं हैं, अपितु उसकी भावना में उपस्थित 'ईश्वरत्व' से भी प्रक्षेपित हैं। अतएव अवतारवाद या उपास्यवाद में 'आदर्श-अहं' के साथ-साथ 'ईश्वरत्व' का प्रक्षेपण भी प्रतिभासित होता है। इसी से उपास्य के दूर, अज्ञात या रहस्यात्मक होने पर भी उसके आदर्श प्रेम, या ईश्वरत्व से प्रक्षेपित उपास्यदेव, भक्त के हृदय में प्रेम और तोष की तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है। भक्त सम्मोहित अवस्था में अपने प्रिय उपास्य के प्रति जो समर्पण करता है, उससे भक्त प्रेमी के मन में आनन्द और सन्तोष दोनों की अनुभूति होती है, जिसके फलस्वरूप वह अपने व्यक्तित्व में संकोच की अपेक्षा प्रसार का ही अनुभव करता है। नैतिक अहं एवं 'अहं-आदर्श' से पूर्णतः प्रक्षेपित अपने प्रिय उपास्य की उपस्थिति का भावन करते समय वह जिस हीनता या पतित प्रकृति का अनुभव करता है, वह भी उसके व्यक्तित्व

---

१. मैन मोरल सो. पृ. २१९।

में गरिमा का विकास करती है।[1] इस प्रकार प्रक्षेपित रूप में 'नैतिक-अहं' अपने प्रिय लक्ष्य (भक्त) में सक्रिय होकर आसक्ति और आकर्षण के द्वारा वैयक्तिक अहं को और अधिक ऊर्ध्वोन्मुख करता है।

एक सफल नेता अपने प्रायः अनुयायियों के नैतिक-अहं के प्रक्षेपण का लक्ष्य-विन्दु हो जाता है और अन्त में उसकी उपासना आरम्भ हो जाती है तथा वह अतिमानवीय गुणों (Super human attributes) से समन्वित किया जाता है। इस प्रकार नेता, अवतार, राजा सामूहिक 'नैतिक-अहं' के प्रक्षेपण के लक्ष्य होते हैं। प्रायः राजा अपनी प्रजा द्वारा 'नैतिक-अहं' के प्रक्षेपण के लिए सामान्यतः ग्राह्य व्यक्ति होता है। उसके समस्त आदर्श सम्पूर्ण प्रजा के लिए सामान्य मानदंड का कार्य करते रहे हैं। इस दृष्टि से राजा, सम्राट, धर्म-प्रवर्तक, ये पृथ्वी पर निवास करने वाले सर्वोच्च व्यक्ति हैं, जिनपर 'नैतिक-अहं' का प्रक्षेपण होता रहा है।

प्रक्षेपण की चरमावस्था वहाँ लक्षित होती है, जब परमब्रह्म नैतिक-अहं या 'अहं-आदर्श' के प्रक्षेपण का लक्ष्य होता है। परमब्रह्म के अतिरिक्त 'नैतिक-अहं' द्वारा प्रक्षेपित जितने भी मानव प्रतिनिधि हैं, उनमें कुछ सीमा तक आलोचना, खंडन या दोषदर्शन की गुंजाइश रहती है। उनकी सीमाओं के कारण उनके प्रति किंचित् निराशा हो सकती है; परन्तु परमब्रह्म वह अन्यतम या अन्तिम आश्रय है, यहाँ हमें कोई निराशा जैसी चीज नहीं दीखती; क्योंकि वह हमारे ऐन्द्रिय पर्यवेक्षण से परे है, उसका प्राकट्य और आविर्भाव ये दोनों इन्द्रियों के द्वारा परोक्ष ढंग से प्रत्यक्षीकरण के योग्य हैं। उनमें कोई भी अभाव या पूर्णता नहीं हैं। अतएव 'नैतिक-अहं' के प्रक्षेपण के निमित्त ईश्वर सबसे अधिक उपयुक्त मूर्ति है। अपने प्रिय भगवान के आश्रय में रहने के कारण भक्त बहुत कुछ आत्म-निर्देशन और नैतिक-संघर्षों से मुक्त रहता है, और ऐसी दशाओं में प्रायः कबीर की उक्ति 'हरि जननी मैं बालक तोरा' की तरह पशुवत् असहाय होकर सर्वदा उसके अनुग्रह का आकांक्षी बना रहता है। अपने उपास्य के प्रति होनेवाला उसका 'सर्वात्म समर्पण' उसके 'वैयक्तिक-अहं' को तिरोहित सा कर देता है। वह अपने अनिर्वचनीय उपास्य ब्रह्म को पाकर ब्रह्मानन्द की अनुभूति का आस्वादन करता है। उपास्य ईश्वर गृह-पिता की तरह प्रिय, रक्षक, दंडदाता और

---

१. मैन मोरल.सो. पृ. २२०।

शासक भी है।[1] जिस प्रकार आदिम मानव अपने ईश्वर को भयानक, क्रूर और दंडदाता समझता रहा है, उसी प्रकार शिशु भी अपने पिता को रक्षक के साथ-साथ भयानक दंडदाता भी मानता है। अतः दैवी प्रक्षेपण में 'अहं-आदर्श' या 'नैतिक-अहं' दोनों का प्रक्षेपण होता है। देवत्व और असुरत्व तथा शिवत्व और रौद्रत्व दोनों से उपास्य देव प्रक्षेपित होते हैं। अवतार पुरुष भी एक ओर अपने भक्त या अनुचरों के रक्षक और पालक हैं, तथा दूसरी ओर प्रतिरोधी, दुष्ट राक्षसों के लिए काल सम क्रूर एवं विनाशक हैं। इसी से विशेषकर अवतारी उपास्यों पर 'नैतिक-अहं' के 'द्विभावात्मक प्रक्षेपण' (Ambivalent Projection) दीख पड़ते हैं।

भारतीय पुराणों एवं महाकाव्यों में यह 'द्विभावात्मक प्रक्षेपण' दो प्रकार का लक्षित होता है। एक तो अवतार-पुरुष प्रायः सामूहिक 'आदर्श-अहं' के मान्य और निषिद्ध दोनों रूपों से प्रक्षेपित होता है, और दूसरा उसका प्रतिरोधी नायक प्रतिअवतार मान्य गुणों की अपेक्षा 'आदर्श-अहं' के निषिद्ध गुणों से अधिक प्रक्षेपित रहता है। इस प्रकार 'आदर्श-अहं' या 'नैतिक-अहं' का 'द्विभावात्मक प्रक्षेपण' नायक और प्रतिनायक, अवतार और प्रतिअवतार पर मान्य और निषिद्ध दो खण्डों में विभक्त होकर होता है।

इसके अतिरिक्त 'नैतिक-अहं' विविधात्मक या विशिष्ट गुणों के माध्यम से बहुरूपात्मक होकर भी प्रक्षेपित होता है। प्रायः महाकाव्यों एवं पुराणों में आए हुए सामूहिक देवावतारों में 'बहुभावात्मक' प्रक्षेपण (Polyvalent Projection) देखा जा सकता है। 'नैतिक-अहं' या 'अहं-आदर्श' के विविध गुण अनेक खण्डों में विभक्त होकर अनेक प्रकार से विभिन्न देव-शक्तियों एवं पौराणिक अलौकिक पुरुषों या प्राणियों पर प्रक्षेपित होते हैं। इस तरह अवतारवाद व्यक्तिगत या सामूहिक 'अहं-आदर्श' के प्रक्षेपण की विशिष्ट प्रक्रिया का द्योतक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण, अंश और आदर्शावतार वस्तुतः व्यक्तिगत या सामूहिक 'अहं-आदर्श' के क्रमशः पूर्ण, आंशिक और क्षणिक 'प्रक्षेपण-प्रक्रिया' के परिचायक हैं। 'अहं-आदर्श' का द्विभावात्मक प्रक्षेपण' अपने मान्य और निषिद्ध गुणों द्वारा क्रमशः अवतार और प्रतिअवतार पर होता है। इसी प्रकार 'अहं-आदर्श' का 'बहुभावात्मक प्रक्षेपण' (Polyvalent Projection) हम सामूहिक देवावतार या विभिन्न अर्चा-मूर्तियों के प्राकट्य में पाते हैं, जहाँ देवता या अर्चामूर्ति एक विशिष्ट गुण के प्रक्षेपण से समाहित हैं।

---

१. मैन मोरल सो. पृ. २२९।

आत्मसम्मोहन[1] (Narcissicism)

मनुष्य जिन कला-कृतियों का निर्माण करता है, उनमें कभी-कभी आत्म-सम्मोहन की प्रवृत्ति लक्षित होती है। वह प्रकृति और जीवन को स्वयं जैसा (As I want to see my self) देखना चाहता है, वैसा चित्रित करने की चेष्टा करता है। दूसरे रूप में वह दूसरों को जिस रूप (As I see others) में देखता है, उस रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। तीसरी दशा में उद्दीपित होने के उपरान्त (As I see, when stimulated) वह वस्तु या व्यक्ति को जिस रूप में देखता है, उस रूप में चित्रित करने का आकांक्षी है, जिसका फल यह होता है कि वह वस्तु या व्यक्ति अपनी वास्तविक सत्ता से दूर होते जाते हैं, और अन्ततोगत्वा एक महत्त्वहीन 'उत्तेजक' मात्र होकर रह जाते हैं।[2] परन्तु वह उद्दीपन की अवस्था केवल 'उतेजना' ही नहीं अपितु भाव, संवेग, विचार, प्रतिभा, परिकल्पना, प्रत्यय का भी निर्माण कलाकारों में करती है। कलाकार भक्तों में भी भगवान की वस्तुगत सत्ता या अवतार तथा अवतार-लीलाओं का विकास इसी प्रकार होता रहा है। एक बार राम या कृष्ण को जब अवतार वस्तु या उपादान के रूप में प्रस्तुत किया गया, साहित्य, सम्प्रदाय, समाज, भाषा-भेद से वे भक्तों और उपासकों के अनुरूप उनकी भावावस्था, भावना, संवेग, प्रतिभात्मकता, परिकल्पना, या प्रत्यय के अनुरूप बनते गए, जिसके फलस्वरूप एक ही राम या कृष्ण के सहस्रों रूपों, चरित्रों एवं अवतार-लीलाओं का विस्तार हुआ। अतएव अवतार राम या कृष्ण केवल ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति या भगवान मात्र नहीं रहे अपितु कलाकार भक्तों के मनोनुरूप ढल कर कलात्मक राम और कृष्ण हो गए। मनोविज्ञान की भाषा में यह आत्मसम्मोही आरोप की प्रवृत्ति है, जिसने अवतारवादी धारणा एवं चरितों के रूढ़िग्रस्त होते हुए भी उनमें नव्यतम विशिष्टताओं का संचार करती रही है। इस प्रकार वस्तु से आगे बढ़कर केवल आत्मनिष्ठ चिंतन की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति विभिन्न कलात्मक अभिव्यक्तियों में जिस प्रकार दीख पड़ती है, वह भक्ति

---

१. इगो. इद. पृ. ३७–३८ :—आत्मसम्मोही वृत्ति में, लक्ष्य 'काम' का रूपान्तर उस सम्मोही काम में होता है, जिसमें काम लक्ष्यों का प्रायः बहिष्कार हो जाता है। यह 'उन्नयन' (Sublimation) की तरह 'निष्कामीकरण' (Desexualization) की एक प्रक्रिया है।

२. प्रो. ह्यु. प्ले. बि. पृ. ११९।

साहित्य में भी मिलती है। साहित्य या कला के सदृश अवतारत्व अप्रस्तुत की प्रस्तुत विवृति है। अप्रस्तुत की प्रस्तुत अभिव्यक्ति में यों आत्माभिव्यंजन का प्राधान्य रहता है। अतएव वस्तुसत्ता के होते हुए भी आत्माभिव्यंजन का मनोनिवेष वस्तु में सुरक्षित रहता है। इसी से अवतारी उपास्य, भक्तों की रुचि के अनुरूप ढलनेवाली वह कलात्मक प्रतिमूर्ति है, जिसकी चाह भक्त के मन में प्रागनुभविक (apriori) धारणाओं के रूप में ही बनी रहती है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका मूल कारण यह है कि जब मनुष्य का मन 'अहं-केन्द्रित आत्मसम्मोही' अवस्था में होता है, तो उस मन में इतना तनाव होता है कि लक्ष्य वस्तु के सभी उपादान विच्छिन्न होने लगते हैं।[1] जो वस्तुएं तोषप्रद होती हैं, ये बाह्य प्रभावों के पड़ते हुए भी लक्ष्य वस्तु के रूप में सुरक्षित रहती हैं। यह तोष ही उन्हें आत्मनिष्ठता की ओर अग्रसर करता है। अतएव विषय से विषयी की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति ने ही चित्रांकन को अधिकाधिक प्रतीकात्मकता और लघु चिह्नों के रेखांकन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप कलाकार उन प्रतीकों में ही अत्यन्त सघन संवेगों की अभिव्यक्ति कर पाते हैं।[2] भक्तों के सर्वातीत ब्रह्म का अवतारी उपास्यों के रूप में आकुंचन एवं प्रतीकीकरण कुछ कुछ उपर्युक्त प्रवृत्ति के समानान्तर प्रतीत होता है। अन्तर यही है कि इनमें मानवीयता और चरित तत्वों से सम्पृक्त प्राणवत्ता उन्हें अतिमानवीय मानव के रूप में प्रस्तुत करती हैं, जब कि कलाकारों की प्रतीकात्मकता कलात्मक सूक्ष्म-बोध के रूप में उपस्थापित करती है। मनोविज्ञान में इस कला-प्रवृत्ति को 'आत्मसम्मोही अवरोह' या 'Narcissitic withdrawal' कहा गया है।[3] जो कला-क्षेत्र में वस्तु के प्रति उदासीनता की सीमा तक पहुँच गई है। किन्तु भक्ति-साधना की अवतारवादी आत्मसम्मोही प्रतीक-व्यंजना लीला और चरित्र के द्वारा निरंतर नव्य रूपों में रूपान्तरित होती रहने वाली मानवीय प्राणवत्ता की स्थापिका रही है। क्योंकि आत्मसम्मोही प्रतीकात्मकता जब क्रीड़ावृत्ति या अनुकूलित क्रीड़ावृत्ति का योग पा लेती है, तो उसमें उन्मुक्त कल्पनात्मकता का संचार हो जाता है।

---

१. प्रो. ह्यु. प्ले. बि. पृ. १२०।
२. प्रो. ह्यु. प्ले. बि. पृ. १२१।
३. प्रो. ह्यु. प्ले. बि. पृ. १२१।

क्रीड़ा वृत्ति (Play instinct) और अनुकूलित लीला (Conditioned play)

युंग ने परिकल्पना (phantasy) के गतिशील सिद्धान्त को 'क्रीड़ा' की संज्ञा दी है, जो शिशु में भी विद्यमान है और गम्भीरता के बिल्कुल विपरीत है। इस संदर्भ में युंग ने तीन वृत्तियों की चर्चा की है; जिनमें प्रथम है—इन्द्रिय वृत्ति, दूसरी है—रूपात्मक वृत्ति और तीसरी है—क्रीड़ा वृत्ति। इन्द्रिय वृत्ति का तात्पर्य अपने व्यापक अर्थ में 'जीवन' है। एक वह धारणा जिससे समस्त भौतिक सत्ता और सेन्द्रिय पदार्थों का बोध होता है, 'रूपात्मक वृत्ति' का लक्ष्य रूप है। यह वह वृत्ति है, जिसने पदार्थों के समस्त गुणों और आंतरिक धर्मों को आत्मसात् कर लिया है।[1] शिलर के अनुसार मध्यस्थ क्रिया का मुख्य लक्ष्य होताहै—'जीवन्त रूप'। इसके लिए 'प्रतीक' जो दोनों परस्पर विरोधियों को मिलाता है, उपयुक्त है। यह प्रतीक वह धारणा है जो दृश्य पदार्थों के समस्त रमणीय मूल्यों का बोध कराता है; जो एक शब्द में ही सौन्दर्य की सम्पूर्ण अर्थवत्ता को समाहित कर लेता है। किन्तु प्रतीक एक ऐसी क्रिया की भी पूर्व धारणा कराता है, जो प्रतीक का निर्माण करती है, और सृजनकाल में, उसके वास्तविक बोध के लिए अनिवार्य प्रतिनिधि सिद्ध होती है। शिलर ने इस तीसरी वृत्ति को 'क्रीड़ा वृत्ति' माना है। इसका दो परस्पर विरोधी क्रियाओं के साथ कोई भी साम्य नहीं है, किन्तु फिर भी यह दोनों के बीच में स्थित होकर दोनों की प्रकृति से मिल जाती है। यह तीसरा तत्व, जिसमें परस्परविरोधी आत्मसात् हो जाते हैं, एक ओर तो रचनात्मक है और दूसरी ओर परिकल्पना-क्रिया का ग्राहक है। यह वह क्रिया है जिसे शिलर ने 'क्रीड़ा वृत्ति' की संज्ञा दी है, उसके लिए क्रीड़ावृत्ति का लक्ष्य सौन्दर्य है।[2] मनुष्य सदैव सौन्दर्य से खेलता है। अवतारवाद वस्तुतः मनुष्य की सहज एवं साधनात्मक 'क्रीड़ा वृत्ति' का उपजीव्य है। क्योंकि अवतारों की लीलाओं एवं चरित-गानों में सौन्दर्य और आनन्द की भूखी मनुष्य की 'क्रीड़ा वृत्ति' ही अपनी समस्त अलौकिक कल्पनाओं के साथ साकार हुई है। क्रीड़ा वृत्ति ही साधक मनुष्य को रहस्य दशा तक पहुँचाती है। सौन्दर्यवादी अभिव्यक्ति में 'क्रीड़ा वृत्ति' की विशेष प्रमुखता मानी जा सकती है, जो साधक को रहस्य-दशा तक पहुँचाने की क्षमता रखती है। यह क्रिया आकस्मिक न होकर ठोस आधार भूमि पर अवस्थित है। गंभीरता यों आंतरिक

---

१. साइको. टा. पृ. १३४।
२. साइको. टा. पृ. १३५।

आवश्यकता की तरह व्यक्त होती है, किन्तु क्रीड़ा वृत्ति एक प्रकार की बाह्य अभिव्यक्ति है। प्रायः इसका सम्बन्ध उस रूप से है जो चेतना से सम्बद्ध है। क्रीड़ा वृत्ति को आंतरिक आवश्यकताओं का प्रतिफल माना जा सकता है। यों कल्पनाओं और काल्पनिक उड़ानों के माध्यम से जो भी अभिव्यक्ति होती है, उसे रचनात्मक कार्य कहा जा सकता है; क्योंकि नवीन रचनात्मकता बुद्धि के द्वारा परिपूर्ण न होकर आंतरिक आवश्यकता से बाध्य क्रीड़ा वृत्ति की उपज होती है। रचनात्मक मस्तिष्क उस वस्तु के साथ क्रीड़ा करता है, जिसके प्रति वह प्रेम रखता है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक रचनात्मक कार्य की अन्तरात्मा में 'क्रीड़ा वृत्ति' का विकास है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्रतिभाशाली, मेधावी एवं विद्वान व्यक्तियों में भी जो रचनात्मक क्षमता होती है वह अपने मूल रूप में वह 'क्रीड़ा वृत्ति' है, जिसने उन्हें नित्य नवीन कल्पनाओं की सृष्टि करने के लिए प्रेरित किया है। इसके अतिरिक्त 'क्रीड़ा वृत्ति' मनुष्य की अधिकांश प्रवृत्तियों को 'दमन-क्रिया' से मुक्त करती है, साथ ही उनकी क्षतिपूर्ति करते हुए मनुष्य को मुक्त आनन्द की उपलब्धि कराती है।

अवतार-सृष्टि वस्तुतः मनुष्य की 'क्रीड़ा-वृत्ति' की देन है। वह सर्वोपरि ब्रह्म की नाना-प्रतीकों एवं प्रतिमाओं के रूप में परिकल्पना करता रहा है तथा अवतार कार्यों एवं चरित और लीला गानों में जो विस्तार दीख पड़ता है उसके मूल में 'क्रीड़ा वृत्ति' का योग माना जा सकता है। 'क्रीड़ा वृत्ति' एक अत्यन्त प्रभावशालिनी सृजनात्मक वृत्ति है, अवतारवादी साहित्य एवं कला की सृष्टि एवं विकास में उसका अपरिहार्य योग रहा है। कभी-कभी 'क्रीड़ा वृत्ति' पुनरावृत्ति के कारण अभ्यास का रूप धारण कर लेती है, जिसके फलस्वरूप एक ऐसी प्रवृत्ति का उदय होता है, जिसे फ्रायड ने 'पूर्वावस्था को पुर्नस्थापित करने की आवश्यकता' (Necessity for the reinstatement of an earlier Situation) कहा है।[1] अतएव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विष्णु के बार-बार अवतरित होने का कारण युगपुरुषों एवं उपास्य प्रतीकों में विष्णु-अवतार द्वारा पूर्वावस्था को पुनस्थापित करने की भावना प्रतीत होती है। बाद में चलकर राम-कृष्ण जैसे प्रभावशाली अवतारों में भी इस प्रवृत्ति का विकास होता है। 'राम-कृष्ण उपास्य रूपों में अवतार मात्र न होकर अवतारी हो गए जिसके फलस्वरूप उनसे सम्बद्ध साम्प्रदायिक मान्यताओं में पुर्नस्थापन की प्रवृत्ति विकसित हुई, जिसके फलस्वरूप विष्णु के समस्त

१. बियोंड प्ले. प्रि. पृ. ७४।

(मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि) अवतार राम या कृष्ण के ही अवतार माने गए।

व्यक्तिकरण

'क्रीड़ा वृत्ति' में भावात्मक कल्पना का आधिक्य रहता है। मनुष्य की 'क्रीड़ा वृत्ति' की देन अवतार-पुरुष भी केवल व्यक्ति नहीं, अपितु भावों के पुरुष थे। क्योंकि अवतारत्व के रूप में केवल व्यक्ति का नहीं, अपितु व्यक्तित्व का अवतार होता है।[1] उस अवतार में व्यक्तिगत उपादान की अपेक्षा सामूहिक, जातीय या सांस्कृतिक उपादान अधिक होते हैं। अवतार-लीला में सहज साधारणीकरण की क्षमता होती है। इस साधारणीकरण की क्रिया में 'लिबिडो' या कामशक्ति विशेष योगदान करती है, जिसके चलते व्यक्ति नेता से प्रेम करता है। राम या कृष्ण की अवतार लीलाओं में हमारी समस्त मनोभावनाएं नेता के आदर्शों से अनुकूलित (Conditioned) हो जाती हैं। उसी प्रकार प्रति नेता के प्रति हमारे मन में ईर्ष्या या 'Thanatas' वृत्ति कार्य करती है। कलाकार प्रतिनेता या खलनायक का चित्र इस प्रकार चित्रित करता है कि हमारी वृत्तियाँ समग्र रूप में द्वेष का ही भाव विवृत करती हैं। अतएव अवतार-सत्य भी एक प्रकार का अनुकूलित (Conditioned) सत्य है। ब्रह्म वस्तुतः दिक्-काल से परे है, उसके आविर्भाव की धारणा हमारे मन को अनुकूलित करने वाली वह धारणा है, जो उसको अनुकूलित सत्य के साँचे में ढालकर व्यक्त करती है। इस दृष्टि से विभिन्न देशों की अवतारवादी भावना का अध्ययन किया जाय तो अनुकूलित सत्य होने के कारण ही, स्थानीयता, जानपदीयता, इत्यादि लक्षण अवतार-रूपों में मिलने लगते हैं। मनोविज्ञान की धारणा के अनुसार देव राज्य का जहाँ से आरम्भ होता है, चेतना मुक्ति पा लेती है; मनुष्य वहाँ प्रकृति की कृपा का पात्र बन जाता है। आत्मा जो व्यक्ति की मानस-पूर्णता (Psychic totality) का प्रतीक है, उसके फलस्वरूप कोई व्यक्ति जिसे अपने से अधिक पूर्ण रूप में स्थापित करता है, वह 'आत्मा' का स्वरूप हो सकता है। यों मनोवैज्ञानिक का लक्ष्य प्रायः आत्मसाक्षात्कार या व्यक्तिकरण (individuation) होता है। चूँकि व्यक्ति अपने को 'अहं' रूप में और 'आत्मा' को पूर्ण रूप में जानता है, इससे वह 'ईश्वर-प्रतिमा' से अभिन्न और अविभाज्य है; इसी को धार्मिक अर्थ में अवतार कहते हैं। अवतार-रूप में अवतारों के दुःख और कष्ट वस्तुतः

---

१. दू. साइको. पृ. १४४।

ईश्वर के दुःख और कष्ट बन जाते हैं। अतएव जहाँ अवतार के द्वारा पूर्णता का साक्षात्कार करते हैं, वहाँ मानव और देव-कष्टों का पारस्परिक सम्बन्ध पूरक प्रभाव (Supplementary effect) प्रदर्शित करता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन का ऐक्य होने पर 'अहं' दिव्य लोक में प्रवेश करता है, जहाँ वह देव-कष्ट या 'देव-सुख' या 'देव-रति' में भाग लेता है।[1] 'देव-कष्ट' के जिस (जन्म-दुःखादि) रूप का नाम अवतार है, वह मानव स्तर पर व्यक्तिकृत प्रतीत होता है। पार्थक्य, प्रत्यभिज्ञान और गुणों के आरोप, ये मानसिक व्यापार हैं, जो आरम्भ में अचेतन थे, धीरे-धीरे छनकर चेतना द्वारा सक्रिय हो गए। आत्मा जब ईश्वर की 'भाव-प्रतिमा' से पृथक नहीं होती, तो वह एक ऐसे प्राकृतिक व्यापार को परिपुष्ट करती है, जिसे हम ईश्वर की इच्छा का ही कार्य मानते हैं। युंग के अनुसार 'मनुष्य की चेतनात्मक प्रसिद्धियों का प्राकट्य वस्तुतः आकृतिमूलक भाव-प्रतिमात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, अध्यात्मवाद की भाषा में कहा जाय तो, वह या तो दैवी जीवन-प्रक्रिया का अंश है, या दूसरे शब्दों में ईश्वर मानवीय प्रतिबिम्ब-भाव में आविर्भूत होता है।[2] युंग ईश्वर को भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में ही स्वीकार करता है; उसकी दृष्टि में देवता अचेतन उपादानों के मानवीकृत रूप हैं, जो मानस की अचेतन क्रिया द्वारा स्वयं अपने को रहस्योद्घाटित करते हैं।

मनोकुण्ठात्मक मनोविदलता (Hebephrenic Schizophrenia) यद्यपि अवतारवाद मुख्य रूप से प्राचीन एवं मध्ययुगीन विषय रहा है, जिससे सम्बद्ध अनेक दृष्टिकोणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। फिर भी प्रायः आधुनिक युग में एक विशेष अवतारवादी भावना के यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं, जो असामान्य मनोविज्ञान की दृष्टि से एक रोग ही प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे 'मनोकुंठात्मक मनोविदलता' की संज्ञा दी है। ऐसे रोगी अपने को समस्त जगत का स्रष्टा और सम्पूर्ण विश्व का शासक मानते हैं। यह प्रवृत्ति दो रूपों में लक्षित होती है। एक को आत्मपरक और दूसरी को अन्यपरक कहा जा सकता है। प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार रोगी स्वयं को राम या कृष्ण या अपने उपास्य देवता का अवतार घोषित करता

१. साइको. टा. पृ. १५६–१५७।
२. साइको. टा. पृ. १६१।

है।[1] अन्यपरक मनोविदलता में रोगी दूसरे महान् पुरुषों को अवतार पुरुष मानता है।[2] अभी भी गांधी जी और नेहरू के अवतारत्व में विश्वास रखने वालों का अभाव नहीं है। इस आशय की खबरों को पढ़कर नेहरू ने स्वयं उपहास भी किया था। इस कोटि की मनोविदलता में अवतार जैसी संस्कारगत 'मूल-प्रतिमाएं' प्रेरक सूत्रों का कार्य करती हैं।

सौन्दर्य शास्त्र के आलोक में अवतारवाद

मनोवैज्ञानिक अध्ययन के क्रम में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अवतारवाद का कतिपय मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तु के प्रति सौन्दर्य-चेतना भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की एक विशिष्ट सरणि है जो साहित्य एवं कलासृष्टि की मूल प्रेरणा रही है। साहित्य एवं कला से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अवतारवाद भी सौन्दर्य-क्षेत्र का प्रमुख विषय माना जा सकता है; क्योंकि दोनों समान रूप से मूल्यांकन, सौन्दर्य-बोध, बिम्ब-निर्माण एवं उनकी रमणीय अनुभूति की क्षमता प्रदान करते हैं। सौन्दर्य की तरह अवतारत्व भी वह कलानुभूति है, जिसके वृन्त पर अवतारवादी साहित्य और कला के पुष्प खिलते रहे हैं। अतएव आलोच्य अध्याय में सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से अवतारवाद का विवेचन अभीष्ट है।

सौन्दर्य-बोध

सामान्य-आकर्षण की तुलना में सौन्दर्य-बोध आकर्षण की अपेक्षा

---

१. ऐसे अवतारों की घटनाएँ आए दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। कृष्ण का उदाहरण :—कुछ ही वर्ष पहले की घटना है—एक गृहस्थ व्यक्ति ने अपने को कृष्ण घोषित कर अपने भक्तों और चेलों की टोली बना ली थी। वह प्रायः कृष्णोपासक गृहस्थों के गावों में जाकर उनकी स्त्रियों के साथ रास क्रीड़ा या गोपीवत् आचरण कराया करता था।

राम के अवतार की एक दूसरी घटना 'शहाबाद' जिले की है। १९५९ या ६० में एक व्यक्ति स्वयं राम बना था और शेष उसके भाई लक्षमण इत्यादि भाई और अनुचर बने थे। वाद में पुलिस ने इन्हें पकड़ लिया था। (Indian natian २३–२४–२–६२) में सम्बलपुर की एक घटना में बतलाया गया था कि एक हत्यारे व्यक्ति बरजा चमार ने अपने को कलियुग का परशुराम घोषित किया था। (इंडियन नेशन, फेब्र. १९६२) के एक विवरण के अनुसार 'गंगटोक' में अभिषिक्त होने वाले लामा ने अपने को अवलोकितेश्वर का अवतार घोषित किया था।

२. (Indian nation २६. २–६२) के एक विवरण के अनुसार एक ईसाई वृद्धा जब वोट डालने गई, तो उसने पोलिंग आफिसर से कहा कि मैं नेहरू को वोट दूँगी, क्योंकि वह ईसा का अवतार है।

मूल्यांकन से अधिक सम्बन्ध रखता है।[1] ग्राहक को जिस वस्तु या व्यापार का सौन्दर्य-बोध होता है, सौन्दर्य वस्तुतः उस वस्तु या व्यापार का स्वीकार्य या ग्राह्य मूल्यांकन है। ग्राहक की समीचय प्रज्ञा में सौन्दर्य-बोध का अनिवार्य स्थान है। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण आकस्मिक और जिज्ञासात्मक दो प्रकार का दीख पड़ता है। प्रत्यक्षीकरण की इन दोनों प्रक्रियाओं में ग्राहक के मन में वस्तु के प्रति संवेदना सहजात रूप से होने लगती है। इस क्रमिक प्रक्रिया में प्रागनुभविक ज्ञान, चिन्तन, पूर्वानुभूति तथा सौन्दर्य और कुरूप के विभिन्न-विभिन्न आयामों के तार्किक विवेक कार्यरत रहते हैं। वस्तु के प्रति संवेदनशील होते ही ग्राहक की उपचेतना से निकल कर उक्त तत्त्व सक्रिय चेतन का रूप धारण कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप निर्णय और मूल्यांकन की प्रक्रिया का क्रम गतिशील हो जाता है। सौन्दर्य-बोध में रुचि गौण होती है, क्योंकि बोध में ज्ञानात्मक अनासक्ति के प्रत्यय मौजूद हैं। इसके विपरीत अचेतन एवं चेतन में निहित सक्रिय तत्त्वों के योग से सतत् प्रवहमान मूल्यांकन की प्रक्रिया प्रमुख होती है।

मानक बिम्ब-सौन्दर्य-बोध के मूल्यांकन-क्रम में पूर्व निर्मायक कल्पना का विशिष्ट भी योग रहता है क्योंकि वह पूर्वानुभूत वस्तुओं के उत्तमांगों का आनुपातिक जोड़-घटाव करने के उपरान्त 'मानक बिम्ब' (Standard image) का निर्माण करती है, जिसकी तुलना में ग्राहक के मन में वस्तु का सापेक्ष मूल्यांकन-क्रम चलने लगता है। अतएव सौन्दर्य-बोध में यदि मूल्यांकन की प्रक्रिया अनिवार्य अस्तित्व रखती है, तो 'प्रतिमानक बिम्ब' भी मूल्यांकन-क्रम में मूल्य-इकाई (Value unit) का कार्य करता है। 'मानक बिम्ब' कर्त्ता के अतिरिक्त ग्राहक में अधिक निर्मित होता है, इसे हम देश-काल, और परिस्थिति, सामाजिक परिवेश तथा संस्कारगत और अभ्यासगत मनोग्रन्थियों से आवेष्ठित मान सकते हैं। यों सौन्दर्य-भावना की दृष्टि से वस्तु का मूल्यांकन भी मात्रा और परिमाण के अनुरूप घटता-बढ़ता रहता है। यह मात्रात्मक परिवर्तन या तो स्वीकारात्मक होता है या निषेधात्मक। हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वीकारात्मकता सुन्दर की पुष्टि करती है और निषेधात्मकता कुरूप की। इस प्रकार सुन्दर और कुरूप के समतुलन से क्रमशः एक ऐसे आरोह और अवरोह के दर्शन होते हैं, जो सौन्दर्य-मूल्य को विवृत करने की असीम क्षमता प्रदर्शित करते हैं। इन्हें निम्न प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है:—

---

१. से. वि. पृ. १६।

१. रा. मा. (काशि) पृ. ५० ।

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु करम करै बिधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । गहै प्रान बिनु बास असेषा ।
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुवर सब उर अंतरजामी ।

२. रा. मा. (काशि.) पृ. ८२, तथा पृ. ३४१ ।

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड । रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड

३. रा. मा. (काशि.) पृ. १०० ।

राम रूपु अरु सिय छबि देखें । नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें

४. रा. मा. (काशि.) पृ. ८७ ।

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा । लोचन सुखद बिस्व चित चोरा ।
मूरति मधुर मनोहर देखी । भयेउ विदेहु विदेहु बिसेषी ।

५. रा. मा. (काशि.) पृ. ८९ ।

धाए धाम काम सब त्यागी । मनहु रंक निधि लूटन लागी ।
निरखि सहज सुंदर दोउ भाई । होहिं सुखी लोचन फल पाई ।

६. रा. मा. (काशि.) पृ. २६९ ।

७. रा. मा. (काशि.) पृ. ८५ पृ. २७५ ।

सूपनखा रावन कै बहिनी । दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।
नाक कान बिनु भई बिकरारा । जनु स्रव सैल गेरु कै धारा ।

८. रा. मा. (काशि.) पृ. २८०-२८१ ।

९. रा. मा. (काशि.) पृ. ३१७, ३५७, ४५७, ३६८ ।

१०. रा. मा. (काशि.) पृ. ३६२, ३६३ ।

११. रा. मा. (काशि.) पृ. ३४४, ३४९, ३५४ ।

सामान्य आकर्षण

प्राथमिक प्रकृति के अनुसार सौन्दर्य-संवेदन[१] सामान्य आकर्षण का मूल कारण प्रतीत होता है। यों सामान्य आकर्षण उस मानसिक प्रत्यक्ष-बोध पर आधारित रहा है, जिस पर मनोविज्ञान और दर्शन दोनों पृथक्-पृथक् विचार करते रहे हैं। आधुनिक दार्शनिक वस्तु के प्रत्यक्ष-बोध में धारणा, बोध (Knowledge) और ऐन्द्रिय-संवेदन के अतिरिक्त प्रागनुभविक ज्ञान (Apriori Knowledge) का भी योग मानते हैं, जब कि मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष-बोध में ऐन्द्रिय-संवेदन, अनुभूति और बिम्ब-निर्माण के साथ नैसर्गिक वृत्तियों का विशेष योग बतलाते हैं। किन्तु हमारा प्रयोजन दर्शन या मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रत्यक्ष-बोध पर विचार करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष-बोध की केवल एक क्रिया—सामान्य आकर्षण से है।

सामान्य आकर्षण प्रत्यक्ष-बोध की वह क्रिया है जिसके अन्तर्गत वस्तु के प्रति द्रष्टा के मन में जो धारणा बनती है, उसके प्रति रुचि या अभिरुचि का नियमन करने वाली संवेदनाएं वस्तु के प्रति सहज ही स्वीकार्य या ग्राह्य, पसंद या प्रशंसा का भाव उदित करती है। अतः वस्तु के प्रति सामान्य आकर्षण के निर्माण में अभिरुचि का विशेष योग रहता है। यों आकर्षण-व्यापार में सावधानता वह क्रिया है, जो सामान्य आकर्षण-प्रक्रिया के आरम्भ में आती है। सावधानता के बाद ही अभिरुचि सामान्य आकर्षण-व्यापार को चरितार्थ करती है। इस प्रकार आकर्षण-व्यापार में सावधानता और अभिरुचि ये दो अवस्थाएं प्रतीत होती हैं, जिनमें सावधानता प्रारम्भ में आती है और अभिरुचि बाद में। इसके अतिरिक्त वस्तु के प्रति सजग या सचेत होने का कार्य हमारे जन्मजात् अभ्यासों (inborn habits) से सम्बद्ध है। अतः सावधानता भी अभ्यास वृत्ति के अन्तर्गत आनेवाली एक अभ्यासगत प्रक्रिया है। वस्तु के प्रति सावधान होने के उपरान्त हमें वस्तु (दिक्-काल सापेक्ष वस्तु) का बोध होता है, यह बोध ही आगे चलकर क्रमशः धारणा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वस्तु के प्रति धारणा तभी पूर्ण होती है, जब उसमें रुचि का योग हो जाता है, और सामान्य आकर्षण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सामान्य आकर्षण की तुलना में सौन्दर्य-बोध में वस्तु के प्रति परिचय और आस्था अधिक निहित है। इसी से सौन्दर्य-बोध में वस्तु-सापेक्षता विद्यमान है। उसमें 'मानक बिम्ब' के योग से मूल्यांकन की क्रिया भी

---

१२. से. वि. पृ. ३१।

चलती रहती है । सौन्दर्य-बोध के ही उच्चतर सोपान-क्रम में आनेवाली 'सौन्दर्याभिरुचि', सौन्दर्यानुभूति, रमणीयानुभूति में ध्यान से देखने पर सूक्ष्म अन्तर विदित होता है । सौन्दर्याभिरुचि में मूल्य-बोध के साथ-साथ आस्वादन की अभिरुचि जाग्रत होती है जिसके फलस्वरूप लक्ष्य वस्तु के प्रति होनेवाली प्रत्येक सौन्दर्य-प्रक्रिया में अभिरुचि का योग मिलने लगता है और भोक्ता का भाव-प्रवाह सतत् क्रियाशील हो जाता है । भावन के साथ ही वस्तु के प्रति चिन्तन का संचार होता है । 'सौन्दर्याभिरुचि की अन्तिम अवस्था रमणीयानुभूति की स्थिति मानी जा सकती है । रमणीयानुभूति में ज्ञानात्मक क्रिया से अधिक रमण-क्रिया की प्रधानता रहती है । इसके अतिरिक्त मूल्यांकन पक्ष गौण हो जाता है, ऐसी स्थिति में 'मानक-बिम्ब' का निर्माण-कार्य अवरुद्ध सा रहता है । सौन्दर्य-बोध में जो ज्ञानात्मक उदासीनता होती है, रमणीयानुभूति में प्रायः उसका लोप ही हो जाता है । रमणीयानुभूति में 'रमणीय आलम्बन-बिम्ब' इतना आत्मनिष्ठ बना रहता है कि उसके मानसिक सन्निकर्ष से भावक के मन में आत्मरति, आत्मक्रीड़ा' और आत्मास्वादन की क्रियाएं जाग्रत हो जाती हैं । किन्तु सौन्दर्य-बोध में इन क्रियाओं का संवेगात्मक प्राबल्य नहीं होता, वह 'मानक बिम्ब' के माध्यम से सौन्दर्यानुचिन्तन तक ही सीमित रहता है । सौन्दर्य-बोध का आस्वाद प्रतिमानित (Standardised) हुआ करता है । 'मानक-बिम्ब'की भावकता ग्राहक की ग्रहणशीलता और उसकी शैक्षणिक योग्यता पर निर्भर करती है । यदि सहृदय रूढ़िबद्ध और परम्परानुगामी है, तो सौन्दर्य-बोध की प्रक्रिया-क्रम में निर्मित होने वाले 'मानक-बिम्ब' भी परम्परागत संकीर्णता से सम्पृक्त रहते हैं । इसी से परवर्ती युग की लक्ष्य-वस्तु के मूल्यांकन में वह अपने परम्परागत मानक-बिम्बों ('मूल्य इकाई') के द्वारा ही मूल्यांकन करता है; जिसके फलस्वरूप अद्यतन लक्ष्य वस्तु और परम्परागत मानक बिम्ब के बीच में अन्तरावरोध उपस्थित हो जाता है, उसे हम मूल्यावरोध और 'मूल्य विपर्यय' भी कह सकते हैं । इसी से आधुनिक रमणी, आधुनिक चरित्र और आधुनिक कविता का सौन्दर्य-बोध परम्परागत 'मानक बिम्बों' के द्वारा निर्णीत होने के कारण सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से एक प्रकार का मूल्यावरोध ही प्रस्तुत करता है । यह मूल्यावरोध ही सौन्दर्य-विधान में संकीर्णता का मुख्य कारण रहा है ।

किन्तु सौन्दर्यचेता सहृदय जब युगानुरूप परम्परागत मानक बिम्बों के स्थान में युग-सापेक्ष मानक-बिम्बों के निर्माण की क्षमता अपनी दृष्टिभंगी या दृष्टि-चेतना के नवीनीकरण द्वारा उत्पन्न कर लेता है, तभी वह अपने युग

के विभिन्न सौन्दर्यपरक उपादानों (साहित्य और कला में व्यक्त) के वास्तविक सौन्दर्य-बोध का मूल्यांकन करने की दक्षता या योग्यता से युक्त माना जा सकता है। उसका मूल्यांकन मूल्यावरोध के स्थान में मूल्य-प्रवाह या अद्यतन मूल्यांकन का द्योतक हो जाता है। अवतारवादी सौन्दर्य-बोध में अवरोध और प्रवाह दोनों मिलते हैं। एक ओर तो अवतार-बिम्बों में रूढ़िवादिता परम्परानुगामी होकर चलती दीख पड़ती है, दूसरी ओर उसमें युग-सापेक्ष भावनाएं मिल-मिल कर उसे नवीन-प्रवाह से भी युक्त कर देती हैं। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से अवतारवाद मानक-बिम्ब-निर्माण की एक प्रक्रिया है। ग्राहक अवतारवादी मानक बिम्ब के माध्यम से ब्रह्म के आविर्भूत सौन्दर्य का चिन्तन करता है। अतः दिव्य देवताओं अवतार-मूर्तियाँ ग्राहक के मानक बिम्ब की ही अनुकृति प्रतीत होती हैं। ये अवतारवादी मानक-बिम्ब विभिन्न ईश्वरवादी देशों की धारणा, आस्था और विश्वासों के आधार पर पौराणिक उपकरणों एवं पुनर्निर्मायक कल्पना की सहायता से निर्मित होते हैं। उनके अद्भुत मुख, हाथ, आकृति, रंग, पैर, शरीर, मुद्रा इत्यादि की निर्मिति में उपर्युक्त उपादानों के योग से रचे गये मानक बिम्बों का ही चमत्कार जान पड़ता है। इसी स्थल पर यह विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है कि ईश्वर के प्रति मानसिक धारणा का उद्भव और विकास कैसे होता है? मनुष्य स्वभावतः या अपनी बाह्य और अन्तःप्रकृति के द्वारा शासित, संयमित और नियमित है। अन्तः और बाह्य प्रकृति ही उसके जीवन-व्यापार की संचालिका है। यह संचालिका प्रवृत्ति चेतन और अचेतन दोनों में समाहित है। यही वृत्ति उसके मन में किसी अज्ञात शक्ति के दर्शन, नियमन इत्यादि की धारणा उत्पन्न करती है। धारणा वस्तुतः बिम्बीकरण के माध्यम से धारणा-बिम्ब का ही एक रूप है। व्यक्तिगत धारणा-बिम्ब व्यक्ति-चेतना से निकलकर कलात्मक आविर्भाव के द्वारा सामाजिक धारणा-बिम्ब के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार यदि यथार्थतः देखा जाय तो ब्रह्म का आविर्भाव-धारणा-बिम्ब के ही कलात्मक आविर्भाव की प्रक्रिया है। इसका सामाजिक सौन्दर्य-बोध ही कलाकार की प्रतिभा का बल पाकर 'धारणा-बिम्ब' को 'मानक-बिम्ब' के रूप में प्रस्तुत करता है। अवतारवादी 'मानक-बिम्बों' में रूढ़ तत्त्वों के अतिरिक्त युग-सापेक्ष तत्त्व भी रहते हैं। फलतः इस कोटि के बिम्ब अपने युग विशेष में आकर मूल-बिम्ब (root image) या भाव-प्रतिमा (Arcetypal image) का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। युग-विशेष का अवतार-चेता कलाकार केन्द्र परिधिवत् मूल-बिम्ब का आश्रय लेते हुए युग के अनुरूप अवतार-बिम्बों की सृष्टि करता है।

सृष्टि के महत्तर उपादानों में अवतार-बिम्बों से सम्बलित सौन्दर्य रमणीयानुभूति से लेकर रहस्यानुभूति तक व्याप्त है। अवतार-रूपों की जागतिक व्यापकता और सृष्टि के महत्तर उपादानों (पर्वत, समुद्र, आकाश, ग्रह, नक्षत्र आदि) से स्वरूपित उनका विराट-रूप एक ऐसे व्यापक बहिर्मुखी वस्तुगत सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, जो द्रष्टा को विस्मयविमूढ़ कर देता है। इसी बहिर्निष्ठ व्यापक सौन्दर्य में उदात्तानुभूति का भावन होता है। उदात्त-बिम्ब वस्तुतः रमणीयता के बहिर्मुखी, व्यापक एवं महान् उपादान ही हैं, जो द्रष्टा में आश्चर्य, भयमिश्रित दृष्टि-संवेदना का संचार करते हैं।

रहस्यानुभूति व्यापक उदात्तानुभूति का ही अन्तर्मुखीकरण है। क्योंकि उदात्त-बिम्ब ही आत्मनिष्ठ होकर रहस्यवादी सम्बन्धों का उपस्थापक हो जाता है। यों तो उदात्त-बिम्बों के औदात्य में भी रहस्य अन्तर्निहित रहता है; किन्तु उनकी अनिर्वचनीयता और 'मूक स्वादनवत्' स्थिति, उन्हें अधिक रहस्य-सम्बन्धों से परिपूर्ण कर देती है। रहस्यानुभूति में विभु और व्यापक ब्रह्म अणु या मनोगत अन्तर्यामी रूप धारण कर रहस्यदर्शन का लक्ष्य बन जाता है। सगुण संत 'मन बानी' से 'अगम-अगोचर' ब्रह्म में विस्मय-विमूढ़ करनेवाले औदात्य का ही दर्शन करते हैं; जिसकी 'विचित्र रचना' देखते हुए तुलसीदास 'मन ही मन' समझ कर रह जाते हैं। अतएव बहिर्निष्ठ उदात्तानुभूति ही आत्मनिष्ठ चरमावस्था में रहस्यानुभूति का रूप धारण कर लेती है। 'महतोमहीयान' विराट-उपास्य 'अणोरणीयान' अन्तर्यामी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार रहस्यानुभूति आत्मनिष्ठता की चरम सीमा ही नहीं अपितु सौन्दर्यानुभूति की भी चरम सीमा को द्योतित करती है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय मिलकर अभिन्न हो जाते हैं। रहस्य-दर्शन के आरम्भ में उठनेवाली जिज्ञासा (कबीर के शब्दों में—' लाली देखन मैं गयी') तुष्टि होते ही स्वयं उसी रूप में (मैं भी हो गयी लाल) लीन हो जाती है।

कौरूप्य

सौन्दर्य का निषेधात्मक मूल्य ही कुरूपता की सीमा के अन्तर्गत आता है।[1] काव्य एवं कला में कौरूप्य के परिचायक अनेक उपादान कुरूपता के विभिन्न मात्रात्मक या गुणात्मक वैषम्य की ओर इंगित करते हैं। सुन्दर वस्तुओं की ऐन्द्रिक-ग्राहकता आश्रय व्यक्ति के मनमें जिन भावनाओं का

---

१. हि. ऐस्थे. पृ. ४०१।

संचार करती है, उनको भावोद्दीपन की मात्रात्मक दृष्टि से कतिपय श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। सौन्दर्य के उच्चतर मूल्य-विभाजन की चर्चा हम कर चुके हैं जो सौन्दर्य के ग्राह्य या स्वीकारात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त सौन्दर्य का निषेधात्मक मूल्य कतिपय रूपों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें क्रमशः—विद्रूप, विकृत, कुत्सित, भयंकर, जुगुप्सित और जघन्य रूपों में विभक्त किया जा सकता है; क्योंकि कुरूपता का निषेधात्मक सौन्दर्य-मूल्य प्रायः उपर्युक्त विकृतियों के द्वारा ही उनके मात्रात्मक न्यूनाधिक्य को सूचित करता है। वस्तु के प्रति जब हमारी उत्तेजना नकारात्मक होती है, उस समय हमारी सौन्दर्यवृत्ति आलम्बन वस्तु का निषेधात्मक मूल्यांकन करती है। आलम्बन वस्तु की अनुमानित कुरूपता के अनुरूप जब सामान्य कुरूपता का धारणा-बिम्ब बनता है, तभी कुरूपोन्मुख मूल्यांकन प्रारम्भ हो जाता है। धारणाबिम्ब की उपहासास्पद विकृति ही विद्रूपता की संयोजना करती है। 'रामचरित मानस' की प्रसिद्ध 'शूपर्णखा' को विद्रूपता के उदाहरण-प्रकारों में ग्रहण किया जा सकता है। आलम्बन वस्तु की धारणा-बिम्ब के विकास में विद्रूपता के साथ या पृथक् अरूचि का भी भावन जब होता है, तो उसके फलस्वरूप 'विकृत' धारणा-बिम्ब का निर्माण होता है। 'विराज' उस धारणा-बिम्ब का उचित प्रतिनिधि माना जा सकता है। आलम्बन वस्तु जहाँ 'कुत्सित' मनो-वृत्ति का भावन कराती है; वहाँ धारणा-बिम्ब के निर्माण में अरुचि, किंचित् ईर्ष्या, किंचित घृणा, और द्वेषयुक्त क्रोध का योग होता है। कुत्सा के शमन की अभिलाषा आश्रय में प्रबल हो जाती है। कभी-कभी घटनाओं का आरोप कवि सुन्दर वस्तुओं पर इस प्रकार करता है कि वह कुत्सित बिम्ब का ही अधिक निर्माण करने में सहायक होता है। स्वर्ण मृग के रूप में मारीच इसका सुन्दर उदाहरण जान पड़ता है। भयंकर कौरूप्य में आतंक, त्रास, डर, उत्पीड़न इत्यादि सम्मिलित रहते हैं। इनके मिश्रित प्रभाव से हृदय-द्रावक या लोमहर्षक भयंकर-बिम्ब 'भयंकर कौरूप्य' का द्योतन करता है। 'मेघनाद' में इस प्रकार विशेष के दर्शन होते हैं। भयानक से किंचित् भिन्न प्रकार का 'अद्भुत' भी होता है। किन्तु अद्भुत में आतंक या हृदय-द्रावकता की सदैव सम्भावना नहीं रहती। अद्भुत कौरूप्य और सुन्दर दोनों का परिचायक जान पड़ता है, भावना क्रम के भेद से 'सुरसा' में अद्भुत कौरूप्य तथा 'हनुमान' में अद्भुत सुन्दर का भावन होता है।[1] आलम्बन वस्तु

१. रा. मा. (काशि.) पृ. ३१०।

के द्वार जब कुरुचि, घृणा, विकृति इत्यादि की सृष्टि होती है, वहीं जुगुप्सित कौरूप्य की सृष्टि विदित होती है। मात्रा की दृष्टि से जुगुप्सा में कुरूपता की मात्रा सबसे अधिक रहा करती है। किन्तु कौरूप्य की चरम सीमा 'जघन्य' में मूर्त होती है। 'जघन्य' में प्रायः सौन्दर्य का पूर्ण निषेध हो जाता है। यदि सौन्दर्य-मूल्य की दृष्टि से 'राम चरित-मानस' का विश्लेषण किया जाय तो सुन्दर और कुरूप का यह वैषम्य अनेक पात्रों में स्पष्ट प्रतीत होगा। विशेषकर कुम्भकरण और रावण क्रमशः जुगुप्सात्मक और जघन्य कुरूप के वास्तविक उदाहरण माने जा सकते हैं। 'राम' अन्तर्यामी ब्रह्म के रूप में जहाँ सौन्दर्य के चरममूल्य 'रहस्यानुभूति' का प्रतिनिधित्व करते हैं, रावण भी अपने निषेधात्मक मूल्य के चरम रूप 'जघन्य कुरूप' का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार सुन्दर और कुरूप एक ही सौन्दर्य-इकाई के स्वीकारात्मक और निषेधात्मक पक्ष का द्योतन करते हैं, जिनकी चरम सीमाएं क्रमशः रहस्यानुभूति और जघन्य में परिलक्षित होती हैं। कला (पाश्चात्य) में कुरूपता का समावेश उन दोषों के रूप में हुआ जो सौन्दर्य की मर्यादा को और उच्चतर करते हैं।[1] अतः प्रत्यय की पूर्ण एवं मूर्त अभिव्यक्ति के लिए कुरूप चित्रण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय साहित्य का सौन्दर्य-विधान भी कुरूप और सुन्दर के समतुलित रूपांकन से पूर्णरूपेण परिचित रहा है। विशेषकर अवतारवादी सौन्दर्य-विधान में शिव और अशिव, सुन्दर और कुरूप तथा भला और बुरा का अपूर्व चित्रण हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि कुरूप का विशेष स्वतंत्र अस्तित्व आदर्श कलाभिव्यक्ति के क्षेत्र में सम्भव नहीं है, किन्तु फिर भी सुन्दर की पृष्ठभूमि में उसका अस्तित्व अनिवार्य सा जान पड़ता है। यद्यपि यथार्थवादी कला में कुरूप की अभिव्यक्ति चरम-रूप में मिलती है। फिर भी कुरूपता भी परमसत्ता की अभिव्यक्ति का ही एक अंश है। सौन्दर्य का आदर्शीकरण कुरूपता के सन्निवेश द्वारा ही होता रहा है, विशेषकर अवतारवादी सौन्दर्य-विधान में कुरूप और सुन्दर का अभिनव सामंजस्य प्रायः सर्वत्र देखने में आता है।

रमणीय बिम्बवाद (Aesthetic Imagism)

सौन्दर्य वस्तुतः अरूप का रूपात्मक दर्शन है। रूप की अभिव्यक्ति, प्रतीति या प्रतिबिम्ब के द्वारा होती है। जिन पदार्थों, वस्तुओं और मूर्तियों में ईश्वर के अवतार या 'प्राकट्य' की धारणा की जाती है, उन्हें पारकर ने 'रमणीय यंत्र' (Aesthetic Instrument) की संज्ञा दी है।[2] यह

---

१. हि. ऐस्थे. पृ. ४०३।   २. प्रो. एस्थे. पृ. ७२।

यंत्र प्रत्यक्ष जगत से सम्बन्ध स्थापित कर सौन्दर्यास्वादन के लिए, संवेदनात्मक रूप बन जाता है और दूसरी ओर कल्पना के परिवहन के लिए वाहन का कार्य करता है। वस्तुगत सौन्दर्यवादी मूल्य उन्हें सौन्दर्यसूचक यंत्र के रूप में भी प्रस्तुत करता है और वे प्रायः द्विमानात्मक (Double Standard) प्रतीत होते हैं एक ओर उनका सामाजिक मूल्य प्रयुक्त होता है और दूसरी ओर उनका वैयक्तिक मूल्य। सौन्दर्य-भावना के वाहक इन प्रतिमानों की विवृति प्रतिमाओं या बिम्बों के द्वारा होती है।

प्रतिमा और बिम्ब

तत्त्वतः देखने पर दोनों ही 'इमेज' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं; किन्तु प्राविधिक मनोवैज्ञानिक 'इमेज' के लिए मैंने 'बिम्ब' की अपेक्षा 'प्रतिमा' शब्द को ही अधिक उपयुक्त समझा है; क्योंकि बिम्ब में जो गत्वरता, संवेद्यता, नवनवोन्मेष, कल्पनात्मक प्रेरकता और भावकता है, वह प्रतिमा में नहीं। प्रतिमा में बिम्ब का रूप निर्धारण ही नहीं है अपितु वह अपने स्थूल जड़त्व को ग्रहण कर चुका है। उसके रूपांकन में वह उन्मेष और प्रेरणा नहीं है जो बिम्ब में है। प्रतिमा में रूढ़िबोध अधिक है और बिम्ब में रमणीय-बोध का आधिक्य। प्रतिमा गतानुगतिक है और बिम्ब स्वच्छन्द। किसी विशेष युग की संस्कृति में व्याप्त अनेकशः पुरा-प्रतिमाएँ केवल शास्त्रावलोकन की वस्तुएं बन कर रह जाती हैं। निश्चय ही कुछ पुरा-प्रतिमाएं अनेक युगों तक सक्रिय रहती हैं। उदाहरणस्वरूप विष्णु, शिव और शक्तियों की भाव-प्रतिमाओं का प्रसार अनेक युगों तक रहा जब कि प्रजापति और इन्द्र, अश्विन, वरुण आदि की वैदिक कालीन मूल-प्रतिमाएँ महाकाव्य और पौराणिक युग में आकर क्रमशः गौण पड़ती गयीं। भाव-प्रतिमाएं अपेक्षाकृत नैसर्गिक और स्वच्छन्द काव्यों में अपने बिम्बत्व को अधिक सुरक्षित रख सकी हैं—जैसे वाल्मीकि, कालिदास में प्रयुक्त देव-पात्र की भाव-प्रतिमाओं में मूल-बिम्बत्व अपेक्षाकृत अधिक है।[1] परन्तु शास्त्रीयता की ओर उन्मुख अलंकृत काव्यों में देव-पात्रों के गत्वर बिम्बत्व का क्रमशः ह्रास सा दीख पड़ता है; जो रीतिकाल तक आकर चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वह अधिकांश स्थलों में रमणीय बिम्बत्व को खोकर एक अलंकृत कलाकृति के नमूने की तरह अलंकृत एवं चमत्कारिक भाव-प्रतिमा के रूप में ही विशेष रूप से लक्षित होता है। बिम्ब-निर्मिति में जो वैयक्तिक प्रतिभा और चेतना कार्य करती है, उससे

१. साइको. टा. पृ. ५५४। युंग ने काव्यात्मक अलंकारों से गृहीत धारणा के अर्थ में 'बिम्ब' का प्रयोग किया है।

बिम्ब की वैयक्तिकता अधिक मर्मस्पर्शिनी और जीवन्त बनी रहती है। प्रतिमा के रूप में रूपान्तरित होने पर उसकी मार्मिकता और वैयक्तिकता संवेदनशील न होकर औपचारिक हो जाती है। 'भाव-प्रतिमा' कभी स्वयं और कभी अनेक प्रतिमाओं में (विष्णु, शिव, दुर्गा और उनके अनेक अवतार-रूपों) में विभक्त होकर जाति या सांस्कृतिक प्रतिमा बन जाती है। वह समाज में जाति या सांस्कृतिक प्रतिमा के रूप में दो प्रकार से अभिव्याप्त रहती है। उसका प्रथम रूप लोक सांस्कृतिक प्रतिमा का होता है—यहाँ लोक से तात्पर्य उस सामान्य जनसमुदाय से है जो, राम, कृष्ण, शिव, गणेश, दुर्गा इत्यादि देवताओं को जिस रूप में ग्रहण करता है वह इनका लोक सांस्कृतिक प्रतिमा (Folk cultural Image) का रूप है। इस लोक सांस्कृतिक प्रतिमा का वैशिष्ट्य यह है, कि ये प्रतिमाएं सामान्य जनता की श्रद्धा, और विश्वास का उपजीव्य बन जाती हैं, जिससे सम्बन्धित स्थानीय जनभाषा या जनपदीय लोकभाषाओं में लोककाव्यों का निर्माण होता है। साथ ही अनेक जनश्रुतियाँ, लोककथाएं, किंवदंतियाँ, अनुग्रह की चमत्कारपूर्ण घटनाएं तथा लोक कथात्मक मूर्तियाँ, चित्र, नृत्य, नाट्य, संगीत इत्यादि से रंजित होकर उन प्रतिमाओं के जिस व्यक्तित्व को व्यंजित करती हैं—वह उनका लोक सांस्कृतिक रूप माना जा सकता है। प्रचलित भारतीय देवताओं, देवियों और अवतारों के स्थानीय और जनपदीय रूप इनके उदाहरण स्वरूप गृहीत हो सकते हैं। सांस्कृतिक प्रतिमा का दूसरा रूप उन राष्ट्रीय महाकाव्यों, प्रबन्धकाव्यों, नाटकों तथा मूर्ति, नृत्य, संगीत इत्यादि कलात्मक अभिव्यक्तियों में दीख पड़ता है, जिन्हें बुद्धिजीवी कलाकारों एवं कवियों ने शास्त्रीयता में समेट कर शास्त्रीय 'राष्ट्र-प्रतिमा' का रूप दे दिया है। सम्प्रदायों एवं विभिन्न धर्मों से सम्बद्ध होने पर भी बुद्ध, जैन तीर्थंकर, राम, कृष्ण, शिव इत्यादि शास्त्रीय (Classical) राष्ट्र-प्रतिमाओं के रूप में गृहीत हो सकते हैं। शास्त्रीय राष्ट्र-प्रतिमा अपने राष्ट्र विशेष के लिए एक राष्ट्रीय रिक्थ के रूप में सुरक्षित रहती है तथा युग-युगान्तर तक समस्त जन-संस्कृति को अजस्र चेतना-स्रोत प्रदान करती रहती है। इन शास्त्रीय राष्ट्र-प्रतिमाओं को ही आकर या संदर्भकृति कहा जा सकता है, जो साहित्य एवं कला को उत्प्रेरणा देती रहती हैं।

रमणीय बिम्ब

अवतारवादी सौन्दर्य-भावना केवल आत्मनिष्ठ सौन्दर्य की ही संचालिका नहीं है, अपितु वह वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य की भी जननी है। मानव सौन्दर्य की

कल्पना अपनी चरम सीमा पर तब पहुँच जाती है, जब उसे परमसत्ता के परिवेश में देखते हैं; जो वस्तुगत सौन्दर्य से अपनी एकता और अविभाज्यता के चलते स्वतः पृथक हो जाती है। किसी भी उच्चतम वस्तु से सौन्दर्य की तुलना नहीं हो सकती; क्योंकि परम सौन्दर्य ईश्वर में ही निहित है।[१] प्रकृति और कलात्मक कृतियाँ स्थूल या भौतिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु विरोधाभास तो यह है कि सुन्दर भौतिक सत्य नहीं है, क्योंकि वह पदार्थों में अवस्थित न होकर, मनुष्य की सक्रियता और आध्यात्मिक शक्ति में है। विषय और रूप आन्तरिक सत्य हैं और उनका स्वरूप प्रतीति है। कलाकार सौन्दर्याभिव्यक्ति के द्वारा परम सत्य की प्रतीति कराते हैं। क्रोचे के मतानुसार अरूप को रूप देकर व्यक्त करनेवाले भक्त भी बहुत महान कवि एवं कलाकार हैं।[२] अवतारवाद परमसत्ता के बिम्बीकरण की एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा भावक परम सौन्दर्य का भावन करता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यवादी समीक्षक कला का मूल्यांकन आस्वादन या आनन्द की दृष्टि से करते हैं; किन्तु आस्वादन को यदि सामान्य इकाई माना जाय तो वह मूल्य जाति (Kind) का न होकर मात्रा का ही अधिक सूचक हो सकता है।

इस प्रकार सुन्दरता के सम्बन्ध में अक्सर यह प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य कहाँ है? किसमें है? सामान्यतः किसी वस्तु को देखकर हमारे मन में एक भावना उत्पन्न होती है, जो उस वस्तु के प्रति सुन्दर या असुन्दर की धारणा का निर्माण करती है।[3] किन्तु पुनः यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि सौन्दर्य किसमें है; मन में निहित भावना में है या वस्तु में। यदि यह माना जाय कि वस्तु में है तो देखना यह होगा कि सौन्दर्य प्रत्येक वस्तु में है या कुछ

१. एस्थे. पृ. २६३। २. एस्थे. पृ. १३–१४।

३. पाश्चात्य दर्शन में धारणा (Concept) पर विशद विचार हुआ है। बुद्धिवादी (डेकार्ट-गणित, स्पिनोजा-रेखागणित, लाइबनिज-मनॉड) दार्शनिकों ने प्राग्नुभविक सिद्धान्त के द्वारा ज्ञान के विकास पर विचार किया, उधर अनुभव वादी लॉक, बर्कले, ह्युम आदि ने ज्ञान की अनुभव सापेक्षता का प्रतिपादन किया। परन्तु काँट में दोनों का समन्वित रूप मिलता है। अतः इन तीनों सम्प्रदायों में तीन प्रकार की 'धारणाओं' का प्रचार हुआ। बुद्धिवादियों की धारणा अनुभव निरपेक्ष थी और अनुभव-वादियों की अनुभव-सापेक्ष। किन्तु काँट ने धारणाओं के प्रति एक भिन्न मत प्रतिपादित किया। चूँकि काँट के मतानुसार संवेदना (Sensation) और बोध (Understanding) दोनों के ज्ञान के साधन हैं। धारण के निर्माण में इन दोनों का योग है। काँट ने कहा है—Sensibility without understanding is blind and understanding without sensibility is empty.

ही वस्तुओं में।[1] वास्तविकता तो यह जान पड़ती है कि सभी वस्तुएं सभी को या कुछ वस्तुएं भी सभी को समान रूप से या समान मात्रा में, सभी काल में या सभी स्थानों में सुन्दर नहीं लगतीं। यदि हम नारी-सौन्दर्य को ही लें तो सभी देश की स्त्रियाँ सभी देशों के पुरुषों को सभी समय या सभी स्थानों में सुन्दर नहीं लगतीं। यह विरोध इस सीमा तक बढ़ सकता है कि एक देश में मान्य अत्यन्त सुन्दर वस्तुएं भी (अंग्रेजी भूरी आँखें और भूरे बाल) दूसरे (भारत जैसे) देशों में कौरूप्य की ही द्योतक समझी जा सकती हैं। अतः वस्तु स्वयमेव कहाँ तक आकर्षक हो सकती है यह स्वतः चिन्त्य है। तो क्या सौन्दर्य-भावना वस्तु निरपेक्ष है ? बिना किसी आलम्बन के सौन्दर्य-भावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती। जब वस्तु ही आलम्बन है[2], हमारी दृष्टि से अनेक वस्तुएं गुजर जाती हैं, हमारे मन में सभी के प्रति सौन्दर्य-चेतना नहीं उत्पन्न होती। हमारा मन आकर्षण या विकर्षण किसी भी दृष्टि से कुछ ही वस्तुओं में रम पाता है, जिन्हें हम प्रिय वस्तु कहते हैं।[3] किसी वस्तु के प्रति प्रियत्व-बोध अकस्मात् नहीं होता। जिसने समुद्र नहीं देखा है, जिसे समुद्र का ऐन्द्रिय ज्ञान नहीं है, उसके मन में समुद्र के प्रति एकाएक सुन्दर या असुन्दर की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। अतएव लक्ष्य वस्तु के आकर्षण, सौन्दर्य या प्रियत्व का बोध होने के पूर्व उसका पूर्व ज्ञान आवश्यक हो जाता है। कोई फल चाहे कितना भी चित्ताकर्षक या मनोरम क्यों न हो, जब तक उसके मीठेपन या पोषण-तत्व का ज्ञान नहीं होता; हम उसे प्रिय फल के रूप में आस्वादन नहीं कर सकते। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु केवल स्वाभाविक रूप में सौन्दर्य-भावना का आलम्बन नहीं हो सकती, अपितु भावक या ज्ञाता को जब उसकी विशेषताओं के दर्शन

---

१. कैम्प. एस्थे. पृ. २९९। हमें जितनी वस्तुओं का बोध होता है वे आरम्भ से ही दिक्-काल-अनुकूलित होती हैं। हमारी इन्द्रियाँ उनके दिक्-काल सापेक्ष रूप को ही देख पाती हैं। काँट के मतानुसार वस्तु का वस्तुत्व सदैव हमारे मन से परे का विषय है। शंकर के अनुसार वस्तु के वस्तुत्व की प्रतीति मात्र होती है। कॉलरीज ऑन. इमैजिनेशन. पृ. ५४–५५। में रिचर्ड्स ने कॉलरीज द्वारा व्यक्त विषय-विषयी रूप का विवेचन किया है।

२. वस्तु, बिम्ब के लिए उपादान कारण न होकर निमित्त कारण ही है। विशेष प्रो. एस्थे. पृ. ७२. 'पारकर' का 'रमणीय यंत्र' द्रष्टव्य।

३. एस्थे. पृ. २५९ में बर्क का उदाहरण (An Enquiry in to the origin of our ideas of the Sublime & beautiful 1756) में बर्क ने सुख या दुःख (Pleasure or displeasure) माना है।

होते हैं, तब वह वस्तु भावक की सौन्दर्य-वृत्ति का लक्ष्य होती है।[1] ये विशेषताएं वे उद्दीपनकारी गुण (Stimulent qualities) हैं; जिन्हें वह पदार्थ अपने आश्रय या ज्ञाता की ओर सम्भवतः मणि या प्रकाश-बल्ब की तरह फेंकता रहता है। पदार्थ की ये उद्दीपनगत विशेषताएं आश्रय के ज्ञान और संवेदन-ग्रन्थियों को केवल एक बार ही झंकृत नहीं करतीं अपितु आश्रय के मन में एक ऐसी प्रतिमा या बिम्ब का निर्माण करने लगती हैं, जो प्रारम्भ में तो आश्रय के मन में धारणा मात्रा के रूप में[2] (मिट्टी के सने हुए लौंदे की तरह) स्थित रहती है। वही धारणा-बिम्ब (Conceptual Image) (जो कलाकार के हाथों से मूर्ति बन जाती है) ऐन्द्रिय संवेद्य[3] (Perceptive) होकर आलम्बन बिम्ब (Objective image) बन जाता है,[4] और अपनी उद्दीपनगत विशेषताओं[5] से आलम्बन-बिम्ब को और सघन रूप में बिम्बित करने लगता है। इस प्रकार यह आलम्बन-बिम्ब पदार्थ का केवल धारणात्मक बिम्ब ही नहीं होता अपितु उसकी समस्त उद्दीपनगत प्रकृतियों से युक्त होता है,[6] जिसके फलस्वरूप हमारे मन में वस्तु के प्रति

---

१. एस्थे. पृ. २९०–वर्क ने 'Natural qualities' के रूप में इन पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। वस्तु मे १. तुलनात्मकलघुत्व, २. चिकनी सतह, ३. विभिन्न अंगों की विवृत्ति में वैविध्य, ४. कोणात्मकता का अभाव—तथा सभी पंक्तियों का परस्पर अन्तर्भाव, ५. अनाघात चिह्नों से रहित अत्यन्त स्निग्ध निर्मिति, ६. स्वच्छ वर्ण बिना किसी रूखेपन के, ७. यदि चमकीला वर्ण हो तो पृष्ठभूमि से भिन्न हो—आदि को सौन्दर्य की नैसर्गिक विशिष्टताओं में ग्रहण किया है।

२. एस्थे पृ. २७५—An Aesthetic idea is a representation of the imagination which accompanies a given concept.

३. 'A fine internal sense' जिसे विंकिलमेन ने कहा है।

४. एस्थे पृ. ३५४ ज्योब्रेटी ने उसे 'beauty in tne sensible', establishing the 'archetypes of beings' माना है।

५. एस्थे पृ. ३१०–३११ हर्बर्ट ने जिसे 'between form and the sensuous stimulus attached to form' बताया है।

६. एस्थे पृ. ४०८ कार्लग्रूस ने इसे संवेदन और धारणा के बीच माना है—Between the two poles of consciousness sensibility and intellect are several intermediate grades, amongst which lies intuition and fancy, whose product the image or appearance, is midway between sensation and concept. The image is full like sensation but regulated like the concept. It has neither the inexhaustible richness of the former. nor the barren nudity of the latter. of the nature of the image or appearance is the aesthetic

सौन्दर्य या प्रियत्व की भावना उत्पन्न होती है। यह बिम्ब वस्तुतः आलम्बन, उद्दीपनयुक्त बिम्ब होता है, जिसे हम रमणीय बिम्ब[1] (Aesthetic image) कहना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। सौन्दर्य-परिमाण या मात्रा की दृष्टि से 'रमणीय बिम्ब' की रमणीयता की मात्रा[2] उद्दीपनगत विशेषताओं की ग्राहकता पर निर्भर करती है। इस प्रकार मनुष्य को जितनी वस्तुओं का पूर्व ज्ञान रहता है, वे सभी सौन्दर्य-बोध या सौन्दर्य-भावन की क्षमता नहीं रखतीं अपितु वे धारणा-बिम्ब के रूप में मन के चेतन या अचेतन में स्थित रहती हैं। किन्तु जिस वस्तु का धारणा-बिम्ब वस्तु के ऐन्द्रिक साक्ष्य होने पर संवेद्य भाव से आलम्बन बिम्ब होकर उपस्थित हो जाता है और वह आश्रय के ऐन्द्रिक संवेदन को क्षुब्ध करता है, उस समय वस्तु की ओर से उद्दीपनगत विशेषताओं का प्रवाह चल कर मन में बने हुए आलम्बन बिम्ब को उद्दीपनमय बनाने लगता है; जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन में सौन्दर्य-भावन की उत्पत्ति 'रमणीय बिम्ब' के रूप में होती है। अतएव रमणीय बिम्ब वह बिम्ब है, जो आश्रय व्यक्ति के मन में निहित सौन्दर्य-चेतना को उपस्थापित करता है।[3] वह मानव-मन के चेतन, अचेतन, अवचेतन सभी भागों में अवस्थित रहता है। कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से रमणीय बिम्ब की उत्पत्ति केवल भावक या भावुक तथा कवि या कलाकार में होती है। इन सभी के मन में रमणीय बिम्ब की सघनता उद्दीपन-प्रवाह के परिणाम के अनुरूप होती है। रमणीय बिम्ब को खण्ड रूप में देखने पर मूल रमणीय बिम्ब (Archetypal Aesthetic image), स्मृत रमणीय बिम्ब (Recollected Aesthetic image), तद्वत् रमणीय बिम्ब (Semblent Aesthetic image) तीन रूपों में देखा जा सकता

---

fact, which is distinguished from the simple, ordinary image not by its quality, but by its intensity alone : the aesthetic image is merely a simple image occupying the summit of Consciousness.

१. इन. एस्थे. पृ. १५९। अभिनवगुप्त ने इसे प्रतिबिम्ब कहा है।

२. एस्थे. पृ. २१४। यह लाइबनिज के 'मात्रात्मक वैषम्य' से भिन्न है।

३. हि. एस्थे. पृ. २६५। 'हिस्ट्री ऑफ फिलौसोफी' हेगेल. भा. ३ पृ. ५४३ से उद्धृत किया है—वह वस्तु सुन्दर है, जिसका रूप (उसके भौतिक तत्त्व नहीं, अपितु उसके प्रत्यक्षीकरण के ऐन्द्रिक उद्दीपन) रसानन्द (Pleasure) का आधार समझा जाता है और जो उस आलम्बन वस्तु के बिम्ब-रूप में गृहीत होता है।

जाता है। जाति रूपात्मक रमणीय बिम्ब में प्रतिमत्व अधिक रहता है और विशिष्टरूपात्मक रमणीय बिम्ब में बिम्बत्व अधिक। जाति रूप में अवतारों का रमणीय बिम्ब समस्त संस्कृति की सौन्दर्याभिरुचि व्यक्त करता है, परन्तु विशिष्ट अर्थात् व्यक्ति (भक्त) सापेक्ष रूप में रमणीय बिम्ब, भक्त विशेष की रमणीयानुभूति का उपजीव्य बना रहता है। यद्यपि अवतारवादी ललित कलाओं में जाति रूपात्मक अवतारों के रमणीय बिम्ब की अभिव्यक्ति होती है। कलाकार एवं कवि अवतारों की मूर्तियों एवं चरितों को प्रायः परम्परागत प्रसंगों, कथाओं, चरितों एवं लीलाओं में ही अनुबद्ध कर चित्रण करते हैं, परन्तु भक्त या सहृदय अपनी भावना के अनुकूल उन आलम्बन बिम्बों को 'रमणीय बिम्बों' के रूप में परिणत कर लेते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट चरितों एवं विशेष लीलाओं में ही भक्तों की रुझान अधिक रहा करती है। रामलीला देखते समय रमणीय-बिम्ब लोक-द्रष्टा के मन में आलम्बन बिम्ब के रूप में उपस्थित हो जाता है। भावों के साधारणीकरण का उपक्रम होते ही, क्रमशः रामलीला की प्रत्यक्षीकृत समस्त उद्दीपन गत विशेषताओं से उसका भावात्मक योग होकर 'रमणीय बिम्ब' को उत्तरोतर उद्दीपित करने लगता है। अवतार-रूप या अवतारों के कलात्मक रूप में आश्रय मूल रमणीय-बिम्ब, विष्णु-ब्रह्म की बिम्बोद्भावना करता है। नाटक के पात्र एवं उनके आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय वस्तुतः रमणीय यंत्र (Aesthethic Instrument) का कार्य करते हैं, क्योंकि रमणीय बिम्बोद्भावना की क्रिया में मनोनुकरण व्यापार अनायास रूप से चलता रहता है। 'मनोनुकरण व्यापार' को उत्तरोतर सक्रिय एवं उत्तेजक बनानेवाली मनुष्य की क्रीड़ा-वृत्ति (Play instinct) है, जो उसकी मनोनुकरणात्मक प्रवृत्तियों को उत्तरोतर प्रबुद्ध करती है। इस नाट्यानुकृति में कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं होता, अपितु दर्शक मानवीय वातावरण एवं स्वभावों में ही 'ब्रह्म' की बिम्बोद्भावना करता है।

सगुण रमणीय बिम्ब

अतः बिम्बोद्भूत ब्रह्म ही, वह अवतार-ब्रह्म है, जो कवियों एवं कलाकारों की समस्त सौन्दर्य-चेतना का केन्द्र बन जाता है। वे अपने काव्यों में अपने अवतरित ब्रह्म के सौन्दर्य का मूल्यांकन भारतीय सुन्दरता के प्रतिमान 'काम देव' के द्वारा करते हैं। यदि कामदेव को सौन्दर्य की एक इकाई मानी जाय तो गोस्वामीतुलसी दास के रमणीय बिम्ब राम 'कोटि मनोज लजावन

हारे हैं'। वे 'निजानन्द निरुपाधि और अनूप' हैं।[1] इस प्रकार गोस्वामी जी अपने उपास्य राम के रमणीय बिम्बात्मक स्वरूप का सर्वत्र वर्णन करते हैं। क्योंकि भक्त के मन में निर्मित वह मनोबिम्ब ही उसकी भक्ति-भावना के उद्दीपन का कारण है। वे छवि के समुद्र हरि को एक टक निर्निमेष देखते रहना चाहते हैं।[2]

सूर ने भी कृष्ण और राधा के आलम्बन-बिम्बों की अनेक रमणीय-बिम्बों में उद्भावना की है। सूर के रमणीय बिम्ब-विधान में अलंकृत और मानक सौन्दर्य के व्यंजक उपमानों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इन्हों ने रमणीय बिम्बवत्ता की स्थापना अलंकृत (decoration) और मानक (Standard) सौन्दर्य निषेध द्वारा की है। कामदेव का सौन्दर्य-प्रतिमान सूर द्वारा भी पूर्ण मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। इनकी रमणीय बिम्बोद्भावना में उपमा और उत्प्रेक्षा के द्वारा मानक बिम्बों या उपमानों के सौन्दर्य-प्रतिमानत्व का ग्रहण है,[3] और कहीं व्यतिरेक के द्वारा उनका निषेध कर 'रमणीय-बिम्ब' की अपूर्वता उपस्थित की गई है। एक पद में सूर ने कहा है कि करोड़ों कामदेव कृष्ण (की रमणीय मूर्ति) के समक्ष तुच्छ हैं, स्वयं उपमा उनका सौन्दर्य अधीर होकर देख रही है,[4] या उनके सुन्दर शरीर को देखकर उपमा स्वयं लजा जाती है।[5] अतः सगुण भक्तों के उपास्य आलम्बन-बिम्ब यद्यपि 'राम-कृष्ण' जैसे सीमित लीला-चरितों में ही अभिकेन्द्रित हैं, फिर भी इन बिम्बों की उद्दीपनात्मक या उत्तेजनात्मक क्षमता अपनी चरम सीमा पर लक्षित

---

१. रा. मा. (काशि.) पृ. ६० ।
नेति-नेति जेहि बेद निरूपा। निजानन्द निरूपाधि अनूपा।

२. रा. मा. (काशि.) पृ. ६१ ।
छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी, एक टक रहे नयन पट रोकी।

३. सूर. सा. पृ. ८६३ पद. १७५५ ।

४. सूर. सा. पृ. ८६३ पद १७५६ ।
उपमा धीरज तज्यौ निरखि छबि।
कोटि मदन अपनौ बल हार्‌यो, कुण्डलकिरनि छप्यौ रबि।
खंजन, कंज, मधुप, बिधु तड़ि, घन दीन रहत कहुँपै दबि।
हरि-पटतर दै हमहिं लजावत, सकुच नाहिं खोटैं कबि।

५. सूर. सा. पृ. ८६३ पद १७५७ ।
उपमा हरि-तनु देखि लजानी।
कोउ जल मैं, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी।
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौं, तड़ित दसन छबि हेरि।
मीन कमल, कर, चरन, नयन डर, जल मैं कियौ बसेरि।

होती है। यों बिम्बीकरण स्वयं अपने आप में एक परिसीमन व्यापार है, क्योंकि अनन्त और असीम का भी जब बिम्बीकरण होता है तो वे मानस-भित्ति या पट पर आकर प्रतीकात्मक बिम्ब के लघुत्व में ही समाहित हो जाते हैं। अतः अनादि, अनन्त और असीम का बिम्बीकरण वस्तुतः इनकी ससीमता का ही द्योतक है। यदि यह ससीम बिम्ब मानवीय परिवेश में समस्त उद्दीपक प्रेरकों के साथ उपस्थित होता है, तब उसी में रमणीय बिम्बत्व की क्षमता उपस्थित होती है, जो कवियों या कलाकारों की काव्यात्मक या कलात्मक अभिव्यक्ति का लक्ष्य-विन्दु हो सकती है। इसी से अवतारवादी सगुण भक्त निर्गुण निराकार में अविश्वास नहीं करते।[1] अपितु निर्गुण निराकार का निराकार रूप में बिम्बीकरण हो ही नहीं सकता; उसके व्यक्त, प्रकट, आविर्भूत या मानस पट पर अंकित प्रतीकात्मक रूप का ही बिम्बीकरण सम्भव है। प्रतीकात्मक आलम्बन में ही 'रमणीय-बिम्ब' की क्षमता है, जो भक्त की समस्त भावात्मक अभिव्यक्तियों का उद्‌बोधक होता है।

निर्गुण-रमणीय बिम्ब

रहस्यवादियों की सौन्दर्य-चेतना में जो रमणीय बिम्ब सक्रिय रहता है, वह देखने में तो आलम्बन रहित या आत्मनिष्ठ (Subjective) जान पड़ता है। इससे ऐसा लगता है कि उसके उद्दीपन भी विषयगत न होकर आत्मगत अधिक हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह भी एक प्रकार का रहस्यात्मक अवतारवाद है। हेगेल ने गुह्य सम्प्रदायों की रहस्यात्मक एवं अमूर्त कलाभिव्यक्ति पर विचार करते हुए बताया है कि सम्प्रदायों में दैवी सत्ता सुदूर से उसमें अवतरित होती है—इस प्रकार जो दैवी सत्ता पहले अयथार्थ केवल वस्तुस्थिति मात्र थी, अब वह आत्म-चेतना की उचित वास्तविकता को प्राप्त कर लेती है। गुह्य सम्प्रदायों में आत्मा अपने अमूर्त स्वभाव के कारण अपनी वस्तु-स्थिति से स्वयं पृथक दीखनेवाली चेतना नहीं है, अपितु वह वस्तु के अस्तित्व की छाया मात्र है, और उसके रूप धारण के लिए आधार, स्वरूप छाया मात्र ही है।[2] गुह्य सम्प्रदाय इस आत्मा को ही उर्ध्वोन्मुख कर आत्मा को सत्ता या विशुद्ध दिव्य तत्त्व के रूप में देखता है।[3] ईश्वर

१. रा. मा. (काशि.) पृ. ४९।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
२. फिन. मा. (हेगेल) पृ. ७२०।
३. क. ग्रं. पृ. ४४ सा. ५।
'जेती देखौं' आत्मा तेता शालिगराम। साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूँ काम।

का मानव-रूप में अवतार, वस्तुतः उनकी मूर्ति से आरम्भ होता है, जिसमें केवल उनकी आत्मा का बाह्य रूप अवस्थित है, जब कि उसका आन्तरिक जीवन भी अपनी सक्रियता के साथ उससे बाहर ही रहता है।[१] रहस्यवादी सम्प्रदायों में आत्मा ही वह अमूर्त व्यक्ति है जिसे हम परमात्मा कहते हैं। हेगेल के अनुसार अपने नैतिक जीवन में भी आत्मा समस्त राष्ट्र की आत्मा में आत्मसात् हो जाती है और अन्त में वह पूर्ण विश्व आत्मा के रूप में परिणत हो जाती है। या परमात्मा ही आत्म-चेतना या आत्मा का रूप धारण कर मानव-आत्मा के रूप में अवतरित होता है। इस प्रकार परम सत्ता ही मूर्त आत्म-चेतना, के रूप में जब अवतरित होती है, तो ऐसा लगता है कि वह अपनी पूर्ण सनातन विशुद्धता से अवतरित हुई है। किन्तु कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से ऐसा करने में यथार्थतः उसने उच्चतम प्रकृति को प्राप्त किया है— जो अणु है वही विभु भी है।[२] अतएव आत्म-चेतन के अस्तित्व-रूप में वह परम ब्रह्म ऐन्द्रिक उपादान हो गया है। परन्तु चेतनात्मक सम्बन्ध की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि आलम्बन वस्तु यथार्थतः आत्मा ही है, जो स्वयं अपने को आलम्बन-वस्तु के रूप में व्यक्त या प्रकट करती है।[३] उनके रमणीय बिम्ब का निर्माण भी उनके सम्पर्क में आनेवाले जीवन और जगत् के उन्हीं जड़ या चेतन तत्त्वों से होता है, जो प्रारम्भ से ही उसके विस्मयाकुल या जिज्ञासु मन के धारण-बिम्बों को आलम्बन-बिम्ब बनाकर वस्तु सापेक्ष रमणीय बिम्बों की सृष्टि करते रहे हैं। रहस्यवादी सौन्दर्य-चेता उन्हीं बिम्बों का विस्तार स्मृत्यानुकल्पन या कल्पना और भावना के योग से करता रहा है। ये स्मृत्यानुकल्पित रमणीय बिम्ब जो इस प्रकार वस्तुगत तथ्यों से गृहीत मूल रमणीय बिम्बों के ही सक्रिय रूप होते हैं, वे स्मृत्यानुकल्पित रमणीय बिम्बों के रूप में आकर आलम्बनगत उद्दीपन के स्थान में आत्मगत उद्दीपन-प्रवाह से परिपूरित रहते हैं। कबीर यद्यपि निर्गुण निराकार को अपना इष्टदेव मानते हैं, फिर भी राम के दर्शन की उनमें अपूर्व प्यास है। उनकी साधना भी 'कब मुख देखौं पीव'[४] के निमित्त चलती रही है। कबीर में अन्य रहस्यवादियों की तरह रमणीय-बिम्ब की आत्मनिष्ठता (Subje-

---

१. फिन. मा. (हेगेल) पृ. ७५०। This incarnation in human form of the Divine Being beginning with the Statue, which has in it only the outward shape of the self, while the inner life there of, its activity, falls outside it.

२. फिन. मा. (हेगेल) पृ. ७६०।

३. फिन. मा. (हेगेल) पृ. ७५९। ४. क. ग्रं. पृ. ९ साखी २३।

ctivity) 'लेख समाणा अलेख में। यूं आपा मां हैं आप'[1] इष्टिगत होती है। निर्गुण मतानुसार हरि के बिम्बीकरण में माया का आवरण ही बहुत बाधक है। इसी से संतों ने उसकी भरपूर भर्त्सना की है।[2]

यों कलाकारों या कवियों में जिन रमणीय बिम्बों का निर्माण होता है, उनका दार्शनिकों में एक प्रकार से अभाव ही कहा जा सकता है। हेतु-प्राधान्य या तर्क की प्रधानता होने के कारण भाव-सम्वलित धारणा-बिम्ब भी अपनी भाव-सम्पत्ति को छोड़कर धारणा-बिम्ब भी नहीं बल्कि केवल धारणा-प्रतीक के रूप में निर्मित होता है। अतएव जहाँ भी दार्शनिक शुद्ध रूप में किसी असीम, अनन्त या कल्पनातीत जैसी सत्ता का विवेचन करता है, वहाँ उसकी चिन्तन-क्रिया में धारणा-प्रतीक ही गणित संकेतों की तरह समस्या या समाधान के रूप में प्रवाहित होते हैं। जहाँ दार्शनिक में भावुकता होती है, वहाँ वह अर्द्ध-दार्शनिक (Psudo philosopher) ही अधिक जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसके धारणा-प्रतीकों पर भाव-संवलित धारणा-बिम्बों का रंग भी चढ़ जाता है। फलतः अनन्त, असीम और कल्पनातीत जैसी वस्तुएं, अपार समुद्र, सूर्य की अनन्त किरणें, कोटि-कोटि नक्षत्रों की तरह प्रतीत होनेवाले धारणा-बिम्बों की सृष्टि करने में रत रहती हैं।[3] इस कोटि के धारणा-बिम्बों के विकास पुनः रमणीय बिम्बों के रूप में होते हैं। विशेष कर निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियों में इस प्रकार के आलम्बन बिम्ब अधिक परिलक्षित होते हैं। जहाँ निर्गुण भक्तों में दार्शनिकता का प्राधान्य है, वहाँ धारणा-प्रतीक या धारणा-बिम्ब के रूप में उनका आलम्बन उपास्य व्यक्त हुआ है। विशेषकर जिन स्थलों पर उनकी भावुकता अधिक गहरी हो गयी है, वहीं उनके आलम्बन बिम्ब रमणीय बिम्बों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

सूफी कवियों में खुदा के नूर और जमाल विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। पर सूफी कवियों ने उन्हें लोकाख्यानक प्रसंगों से स्निग्ध कर

---

१. क. ग्रं. पृ. १४. सा. २३।

२. क. ग्र. पृ. ३२ साखी ४।
'कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम।'
दादू दयाल की बानी भाग. १. पृ. ६४।
आतम आसण राम का, तहाँ बसै भगवान।
दादू दुन्यूं परस्पर, हरि आतम का थान।

३. गुरु ग्रन्थ साहिब पृ. ११५६ (गुरु अर्जुन)—
कोटि बिसन कीने अवतार। कोटि ब्रह्माण्ड जाके ध्रम साल।
कोटि महेश उपाइ समाए। कोटि ब्रह्म जगु साजण लाए।

अत्यन्त लोकप्रिय रमणीय बिम्बों की सृष्टि की है। उनके मतानुसार खुदा के सुन्दरतम रूप की अभिव्यक्ति किशोर या किशोरी में होती है, तथा उनका पारस्परिक प्रेम ही उद्दीपनगत सम्बन्धों की सृष्टि करता है। यही नहीं वे अपने लोकप्रिय रमणीय बिम्ब की ससीमता या गोचरता में ही अल्लाह की असीमता और अनन्तता के साथ ही उसके 'अल् रहमान' रूप का भावन करते हैं, जो उन्हें अवतारवादी रमणीय-बिम्बत्व की प्रक्रिया के समक्ष ला देता है।

इस प्रकार केवल भक्ति काव्य में ही नहीं अपितु पुरातन या अधुनातन सभी काव्यों में रमणीय बिम्ब ही रसवत्ता या भावोत्तेजन की क्षमता प्रदान करता रहा है। संस्कृत विचारकों में भी रमणीय बिम्ब का अस्तित्व किसी न किसी रूप में लक्षित होता है। अभिनवगुप्त ने भाव की आलम्बन वस्तु पर विचार करते हुए बताया है कि रमणीय विषय वस्तु अनिवार्यतः एक ऐसी दशा है जिसमें एक या अधिक व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं। उसमें भावक को साधारणी भाव तक पहुँचाने की अपूर्व क्षमता होती है।[1] आलम्बन वस्तु यद्यपि परम्परागत मुख्य या गौण हुआ करती है, फिर भी उसमें ध्वन्यार्थ विद्यमान है। क्योंकि आलम्बन वस्तु विवर्त्त नहीं है और न तो वह आंशिक उपस्थापना है, अपितु वह उस कोटि की प्रतिबिम्बित वस्तु है, जो अनेक सद्यःस्फुरित गुणों से परिपूर्ण अलौकिक स्वभाव से युक्त है। कतिपय भारतीय शास्त्रकारों ने सहृदय के लिए 'हृदय मुकुर' या 'हृदय-दर्पण' का प्रयोग किया है।[2] अभिनवगुप्त के कथनानुसार भटनायक ने सहृदय के हृदय-दर्पण पर रस की प्रतीति मानी है; किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से 'दर्पण' पर यह रस की प्रतीति नहीं अपितु 'दर्पण' पर रमणीय बिम्ब का प्रतिबिम्बन है, जो सहृदय को भावोद्दीप्ति या रसाप्लुत कर देता है। पंडितराज जगन्नाथ ने लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करनेवाले कारण का निर्देश करते हुए कहा है कि 'विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द में पुनः पुनः अनुसन्धान रूप अर्थात् धारावाहिक भावना विशेष शब्द बोधात्मक अनुभव ही कारण है।[3] बिम्ब का प्रवाह उत्तरोत्तर सघनतर होता जाता है। यह प्रवृत्ति उसी के समानान्तर विदित होती है क्योंकि सहृदयों द्वारा बार-बार बोध करने की क्रिया इसमें निहित है।'

'भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा' में पुनः पुनः अनुसन्धान[4] द्वारा

---

१. इन. एस्थे. पृ. १५५। २. भट्टनायक के ग्रन्थ का नाम ही 'सहृदय दर्पण' है।
३. रस. गं. पृ. ११। ४. सेन्स. बि. पृ. ४५ में सान्त्यायन ने 'Repeated experiences of one object' कहा है।

शब्दों की भावना का वस्तुतः शब्दों के बिम्बीकरण या बिम्ब-विधान से बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है। जो वस्तु अच्छी लगती है सहृदय बार-बार उसी की भावना करता है। उस आस्वाद्य वस्तु का बिम्ब, उसके मन में सघन होता जाता है। यह कार्य रमने या रमण वृत्ति के अधिकाधिक सम्पर्क के कारण होता है। आनन्दवर्द्धन ने 'राग' को भी रसव्यंजक माना है। शरीर में जीव-चेतना की तरह बिम्ब में रमणीय चेतना की संवेदना होती है।[1] वस्तुतः रमणीय चेतना ही बिम्ब में जीव-चेतना है, जो कलाकृतियों में बिम्ब को सजीवता या प्राणवत्ता प्रदान करती है।

बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद

शैवागम में बिम्ब-प्रतिबिम्ब ही परब्रह्म और व्यक्त जगत् के सम्बन्ध को आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का माध्यम रहा है। इस मत के अनुसार विश्व की प्रतिबिम्बित अनेकता के होते हुए भी परब्रह्म की एकता यथावत् रहती है। जैसे अनेक बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बित होने पर भी दर्पण की एकता बनी रहती है। अतएव प्रतिबिम्ब अनिवार्यतः उससे तदाकार है, जिसके फलस्वरूप यह दर्पण पर प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए विश्व अनिवार्य रूप से चेतना-प्रत्यय और विचार की प्रकृति का है। ब्रह्म से पृथक विश्व का वैसे ही कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, जैसे प्रतिबिम्बित करनेवाले धरातल से पृथक् प्रतिबिम्ब की कोई सत्ता नहीं है। बाह्य वस्तु जो प्रतिबिम्ब का कारण है—वह वस्तुतः उपादान कारण (मिट्टी और मूर्ति की तरह) नहीं है, अपितु केवल निमित्त कारण है। अतः प्रतिबिम्ब अनिवार्यतः बाह्य के कारण नहीं है, क्योंकि जहाँ उपादान कारण में स्थिरता (fixity) है, निमित्त कारण में वैसा कुछ भी नहीं है। मिट्टी घट का उपादान कारण हो सकती है किन्तु दंड नहीं क्योंकि चक्र हाथ से भी घुमाया जा सकता है।[2] ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जगत् पर पड़ता है—वह स्वयं स्वतंत्र अस्तित्व का जगत् नहीं है, अपितु स्वतंत्र शक्ति के चलते है और इस प्रकार प्रतिबिम्ब के रूप में व्यक्त करने की ब्रह्म की शक्ति असीम है।

रमणीय बिम्बीकरण

रमणीय बिम्बीकरण एक वह प्रक्रिया है जो चेतन और अचेतन दोनों स्थितियों में सक्रिय रहती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से रमणीय बिम्बीकरण के कार्य-व्यापार में, बिम्ब को अधिक रमणीय और ग्राह्य बनाने के लिए

१. रस. गं. पृ. १७।   २. इन. एस्थे. पृ. ५५८।

समाधान (rationalisation), परिपूर्ति (Compensation), प्रक्षेपण (Projection), उन्नयन (Sublimation), त्रुटिपरिहार (Negativisation of defect) आदि प्रक्रियाएं दृष्टिगोचर होती हैं। बिम्ब में प्रियत्व या रमणीयता का बोध तभी होता है, जब धारणा-बिम्ब को अपनी रुचि के अनुकूल या अनुरूप बनाने के लिए धारणाबिम्ब के आलम्बन बिम्ब बन जाने के क्रम में, मानस-विवेक में उसके प्रति ज्ञानात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। इस क्रम में वह बिम्ब के रमणीय-बोध को क्षति पहुँचानेवाले अभावों की मानसिक परिपूर्ति करता है। आलम्बन बिम्ब पर उसकी अभिलाषा और तुष्टि का अधिकाधिक प्रक्षेपण होने लगता है। कभी-कभी अपनी उच्च धारणाओं के द्वारा अपने आलम्बन बिम्ब की रमणीयता का उन्नयन करने लगता है, इसी उपक्रम में आलम्बन बिम्ब के समस्त दोषों, अभावों और त्रुटियों की अनायस प्रवृत्ति अचेतन रूप से होने लगती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रक्रियाओं के फलस्वरूप आलम्बन बिम्ब ही उसके मन में रमणीय बिम्ब के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

बिम्ब का यों भी कतिपय मानसिक क्रियाओं में विशिष्ट स्थान है। बिम्ब के ही माध्यम से व्यक्ति में प्रत्याह्वान और प्रत्यभिज्ञान इत्यादि क्रियायें सम्भव हो पाती हैं। प्रायः चिन्तन, भावना, कल्पना, धारणा इत्यादि कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिनमें बिम्बों की आवश्यकता न पड़ती हो। लक्ष्य वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के अभाव में भी बिम्ब उस वस्तु का मानसचित्र उपस्थित करता है। इसी से प्रत्यक्ष-बोध और बिम्ब-बोध में अन्तर यह होता है कि प्रत्यक्ष में वातावरण की क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप में विद्यमानता रहती है, किन्तु बिम्ब-बोध में प्रत्यक्ष-वस्तु, वातावरण इत्यादि की उत्तेजना का उतना अधिक प्राबल्य नहीं रहता है। बिम्बीकरण में ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध बिम्बों के अतिरिक्त अनुबिम्ब (After image), प्रत्यक्ष-बिम्ब (Eidetic-image), स्मृति-बिम्ब (Memory-image), काल्पनिक बिम्ब (Phantasy image) और स्वप्न-बिम्ब (Dream image) का यथास्थित योग रहता है। रमणीय बिम्बीकरण में इन सभी का समन्वय होने के साथ-साथ मनोविज्ञान की दृष्टि से समीपता, समानता और विरोध तीनों से समाहित साहचर्य भाव रमणीय-बिम्ब को अधिक मार्मिक और ग्राह्य बनाता है। अतः प्राचीन कलात्मक या उपास्यवादी कलात्मक अभिव्यक्तियों में अवतारीकरण वस्तुतः एक प्रकार की बिम्बीकरण की प्रक्रिया है, जिसके प्रभाव से समस्त भारतीय साहित्य आच्छन्न है।

रमणीय छवि से युक्त भाव-प्रतिमा

कवि या कलाकार विभिन्न आकृतियों में जिन छवियों का अंकन करता है, उनमें अधिकांश प्रायः प्राकृतिक, सामाजिक, परम्परागत, पौराणिक या काल्पनिक वे बिम्ब संन्निविष्ट होते हैं, जिन्होंने कालान्तर में 'भाव-प्रतिमाओं' (आर्केटाइप्स) का रूप ग्रहण कर लिया है।[1] भाव-प्रतिमाओं को हम उनकी आत्मा मान सकते हैं, क्योंकि वे बिम्बों के केवल रूपांकन में ही नहीं अपितु उनको अधिक प्राणवान बनाने में प्रबुद्धात्मा का कार्य करती हैं। मनुष्य में मुख्यतः इन भाव-प्रतिमाओं को पशु, स्त्री अथवा पुरुष-रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। युंग ने स्त्री और पुरुष में क्रमशः 'एनिमा' और 'एनिमस' के रूप में स्त्री और पुरुष की अभिव्यक्ति मानी है। ये मनोबिम्ब बनकर मनुष्य के चेतन मन में ही नहीं अपितु उपचेतन, अचेतन इत्यादि सभी में स्थित रहा करते हैं। किसी भी प्रकार का उद्दीपन मिलते ही वे स्वप्न में, भावना में, कल्पना में या कलात्मक कृतियों में एक मूर्त छवि बनकर व्यक्त हो जाते हैं। पुरुष अवतार, देवियों (शक्तियों के अवतार) तथा पशु, वृक्ष, समुद्र, पर्वत नदी आदि सभी को वे अपने-अपने व्यवहृत स्त्री या पुरुष लिंगों या 'युगनद्ध', 'युगल-मूर्ति' जैसे उभय लिंगों में कलात्मक ढंग से विभिन्न युक्तिसम्मत प्रतीत होने वाले प्रसंगों से अभिभूत कर अभिव्यक्त किया करते हैं। इस दृष्टि से समस्त अवतार-रूप विभिन्न युगों के कवियों और कलाकारों की मूर्त छवियाँ हैं। रमणीयता की दृष्टि से इनमें निम्न विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। १—कलाकार अवतार-शिल्प-कृति के निर्माण के निमित्त एक पौराणिक भाव-प्रतिमात्मक मनोबिम्ब को आधार-बिम्ब के रूप में ग्रहण करता है और अपने मन में अवस्थित अनेक बिम्बों के योग से उसे सर्वांग सुन्दर रचने की चेष्टा करता है। जिसे हम पौराणिक शब्दावली में ही 'तिलोत्तमा' प्रक्रिया कह सकते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि पुरुष या स्त्री अवतार सर्वदा यौवन की पूर्णावस्था अथवा किशोर और किशोरी रूप में चित्रित किए जाते हैं। जीवन के वृद्धिगत या ह्रासगत यथातथ्य (केवल शिशु से किशोर रूप को छोड़ कर), इन पर कभी भी आरोपित नहीं किए जाते, क्योंकि कलाकार इनके रूपों में यथातथ्य की अपेक्षा अपने मनोगत आदर्श को ही चरितार्थ करना चाहता है।

इन कृतियों के आदर्श में दुष्टों के दमन तथा भक्त-प्रेमियों और देवताओं के प्रमोदन और आह्लादन साथ-साथ संन्निविष्ट रहते हैं। इनमें भयं-

---

१. सौ. व. जिसे डॉ० दासगुप्त ने 'आन्तर देवता का स्वयं प्राकट्य' कहा है। पृ. ७६।

करता, रौद्रता के साथ-साथ कमनीयता, लावण्य, कान्ति और रमणीयता का भी अद्भुत सामंजस्य रहता है। फलतः ये द्वाभा की तरह एक साथ दो भावों का उदात्तीकरण करते हुए प्रतीत होते हैं। भय का शमन और आनन्द का वर्द्धन दोनों क्रियाएं एक साथ चलकर इन दो ध्रुवान्तरों पर उद्वेलित मन को एक सामान्य रसात्मक या रमणीय भाव-भूमि पर ही नहीं लाती हैं, अपितु दर्शक के अवतारवादी आस्था से अनुप्राणित आदर्शों का उन्नयनीकरण करती हैं। सामाजिक स्तर पर होने वाले बहुसंख्यक उन्नयनीकरण में यही मनोसंतुलन (Psycho·Equelibrium Process) की प्रक्रिया विशेष रूप से सक्रिय रहती है।

रमणीय रस (Aesthetic Pleasure)

भावक या ग्राहक की दृष्टि से जब हम सुन्दर वस्तु का मूल्यांकन करते हैं, उस स्थिति में उस वस्तु की प्रतिक्रिया-स्वरूप रसबोध या रसानुभावन की क्रिया विशेष विचारणा का विषय रही है। कॉट ने 'कृटिक ऑफ जजमेंट' में इस संदर्भ में विचार करते हुए बताया है कि यदि हम किसी वस्तु का विवेक करना चाहें, कि कोई वस्तु सुन्दर है या नहीं तो हम बुद्धि के द्वारा ज्ञान के निमित्त किसी वस्तु के बिम्ब की चर्चा नहीं करते; बल्कि सम्भवतः प्रज्ञा या बुद्धि के सहयोग से कल्पना के द्वारा हम बिम्बधारक व्यक्ति की रुचि या अरुचि अथवा रस या नीरस जैसी भावनाओं को व्यक्त करते हैं। इसलिए आस्वादन का निर्णय बौद्धिक या तार्किक निर्णय न होकर रमणीय (Aesthetic) निर्णय है—जिसका तात्पर्य यह है कि उसके मूल्यांकन की आधारभूमि 'आत्मनिष्ठता' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बिम्ब प्रत्येक प्रसंगोद्बोधन में वस्तुसत्ता की क्षमता से युक्त है, यहाँ तक कि संवेदना में भी, जहाँ यह अनुभावित बिम्ब को यथार्थ रूप में अभिहित करता है; इसका एकमात्र अपवाद आनन्द या अवसाद की भावना है; जो वस्तु में और किसी चीज का द्योतन न कर केवल उस भावनानुभूति मात्र को सूचित करती है, तथा जो आश्रय में बिम्ब के प्रभाववश स्वयं उद्भूत होती है।[1] जार्ज सांत्यायन के अनुसार 'रमणीय रस' भौतिक अवस्थाओं से सम्बद्ध है, क्योंकि उनकी प्रक्रिया कान और आँख तथा स्मृति और मस्तिष्क की अन्य सदृश क्रियाओं पर निर्भर करती है।[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस संवेदन तत्व को आलम्बन वस्तु के गुणों का रूपान्तर कहा जा सकता है।[3] बोसांके ने

१. फिल कॉट में अनूदित क्रटिक–जज. पृ. २८४। २. सेंस. बि. पृ. ३६।
३. सेंस. बि. पृ. ४४।

उस आनन्द को सामान्य क्षणिक रसानन्द से विभिन्न बताया है।[1] क्रोचे के अनुसार 'रमणीय रस, का रमणीय अभिव्यक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतः उसके अभाव में रमणीय रस की निष्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। उसके मतानुसार रमणीय रस कभी-कभी बाह्य पदार्थों से संवलित होता रहता है; जो संयोगवश उसके साथ अनुस्यूत हो जाते हैं। रमणीय रस की उत्पत्ति प्रायः कवियों या कलाकारों की अभिव्यक्त कृतियों द्वारा होती है।[2] कैरिट ने रमणीय रस में संवेगों की संप्रेषणीयता को प्रमुख माना है। उसकी दृष्टि में रमणीय रस वस्तुतः संवेगाभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है।[3] ये संवेग वे भाव हैं जो संवेदन की दशा से उद्भूत हुए हैं या उद्भूत किए गए हैं। कैरिट ने इनके स्तर को सामान्य से कुछ उच्चतर माना है।[4]

उपर्युक्त कथनों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी मन्तव्यों में विचार-वैषम्य से अधिक रमणीय रस के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात है। काँट में रमणीय आलम्बन वस्तु गृहीत हुयी है तो सांत्यायन में रमणीय रस के उद्भावक स्थान। बोसांके ने उसके स्थायित्व (duration) पर बल दिया है तो क्रोचे ने उसकी अभिव्यक्ति पर। और कैरिट ने संवेगों की स्थिति स्थापित कर इनके मूल उद्भावक तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

यों काव्य एवं कलाकृतियों के समीक्षकों ने कृति से उद्बोधित जिस स्वाद या आनन्द की कल्पना की है, तथा उसमें जिस कारण तत्व की चर्चा की है वह 'रमणीय' केवल सौन्दर्य का विशेषण या पर्याय नहीं अपितु स्वयं एक प्रकार का रस ही है, जो मर्मज्ञों और सौन्दर्यवेत्ताओं द्वारा अस्वादित होता रहा है।[5] क्योंकि कृति की ओर ग्राहक को आकृष्ट करने वाली वह रमण-वृत्ति जो कुछ हद तक शिलर की क्रीड़ा-वृत्ति या लीला-वृत्ति के समानान्तर है, ग्राहक में कृति के प्रति अभिरुचि जागृत करती है तथा

---

१. हि. एस्थे. पृ. ७। Pleasure in Nature of a Feeling or Presentation as distinct From Pleasure in its Momentary or expected Stimulation of The organism.

२. एस्थे. पृ. ८०। ३. इन्ट्रो. ऐस्थे. पृ. ६४। ४ इन्ट्रो. ऐस्थे. पृ. ६६।

५. आर्ट एक्स. पृ. ७३ पंचपगेश शास्त्री के शोध प्रबन्ध (The Philosophy of Aesthetic Pleasure) में रस का विस्तृत विवेचन हुआ है। प्रो. हिरियन्ना ने (आर्ट एक्स. पृ. २१) प्रायः 'रसानुभव' के लिये (Aesthetic Experience) का प्रयोग किया है। बोसांके द्वारा प्रयुक्त (हि. एस्थे) 'Aesthetic enjoy' 'रमणीय रसास्वादन' का पर्याय जान पड़ता है।

विभिन्न संवेगों और भावों से अनुप्राणित या उद्दीपित होकर 'रमणीय रस' में परिणत हो जाती है। ऐन्द्रिक रसास्वादन में हम मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय जैसे षट् रसों का आस्वादन करते हैं। वहाँ आस्वादन वृत्ति में रासायनिक प्रतिक्रियाओं के कारण रसवैषम्य लक्षित होता है। किन्तु 'रमणवृत्ति' ऐन्द्रिक वृत्तियों से अधिक आत्मनिष्ठ वह मनोगत वृत्ति है जिसमें 'आत्मरति', आत्मक्रीडा, आदि आत्मानन्द और आत्मानुभव जैसे मनोगत व्यापार सक्रिय रहते हैं। प्राचीन रसवेत्ताओं में मूर्धन्य अभिनव गुप्त ने सम्भवतः 'रमणीय रस' के अनुरूप रस, आनन्द और परम भोग के पर्याय-रूप में 'चमत्कार' का प्रयोग किया है।[1] आलंकारिकों में भामह ने 'साधुकाव्य' के विविध प्रयोजनों में 'प्रीति' को भी स्थान दिया है। प्रायः रमणीय रस का संचार प्रीति के पुनः पुनः उद्दीपन द्वारा सम्भव है।[2] वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' में सम्भवतः आनन्द के लिए 'प्रीति' का प्रयोग किया है। काव्य के प्रयोजन[3] पर विचार करते समय तीन रीतियों (गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी) एवं उनके गुणों (ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, श्लेष, कान्ति, समता, समाधि) से अनुप्राणित काव्य की तुलना उन्होंने रेखाओं के भीतर प्रतिष्ठित चित्र से की है।[4] उनकी दृष्टि में जैसे चित्र के पंडित रेखा को चतुरता पूर्वक खींचते हैं, उसी प्रकार प्राज्ञ (कवि) वाणी को समस्त गुणों से गुम्फित करते हैं।[5] इन कथनों के अनुसार कलाकार और कवि दोनों, गुण समन्वित जिन छवियों का निर्माण करते हैं वे 'रमणीय रस' को निष्पन्न करने वाले एक प्रकार के 'रमणीय आलम्बन बिम्ब' ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि इसकी पुष्टि वामन के 'दीप्ति रसत्वं कान्तिः' से भी होती है। वामन के अनुसार जिस रचना में दीप्ति रसत्व हो—वह 'दीप्ति रसत्व' कान्ति है।[6] वामन के इस दीप्तिरसत्व को 'रमणीय रस' के बहुत निकट माना जा सकता है।

'रमणीय रस' निष्पत्ति की क्रिया का सम्बन्ध परम्परागत रसों की भाँति सहृदय, पाठक, ग्राहक, प्रेक्षक इत्यादि से ही अधिक है। क्योंकि रस

१. इन एस्थे. पृ. १०९।

२. भामह काव्यालङ्कार १, २ 'प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्'।

३. का. सू. (वामन) १, १, ५ 'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।'

४. का. सू. (वामन) १, २, १४ 'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।'

५. का. सू. (वामन) पृ. १३६ 'यथा हि व्रियते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः।'

६. का. सू. (वामन) पृ. १५७ 'तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता।'

न तो कर्त्ता में स्थित रहता है न कृति में। प्राचीन सभी रचना को कृति, कर्ता और सहृदय की दृष्टि से निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है:—

कृति में शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण
कर्ता में—वक्रोक्ति, सहृदय में—रस और ध्वनि।

जहाँ तक रस और ध्वनि का सम्बन्ध है—रस अनिवार्य रूप से ध्वनि रूप ही है, कथन रूप नहीं। व्यंजित होने के कारण रस ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप है। आनन्दवर्द्धन ने रस की अपेक्षा ध्वनि की दृष्टि से सहृदय-व्यापार पर विस्तृत विचार किया है। प्रारम्भ में ही वे कहते हैं कि 'सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए हम उस (ध्वनि) के स्वरूप का निरूपण करते हैं।' काव्य के चारुत्व हेतु सहृदय हृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्त तत्व ही काव्य का लक्षण है।[1] उनके द्वारा प्रयुक्त 'सहृदयमनः प्रीतये' का तात्पर्य वृत्ति में 'आनन्द' माना गया है।[2] अतएव सहृदयों के मन में आनन्द-लाभ के लिए उन्होंने ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। सहृदयों के अनुसार 'श्लाघ्य' अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद होते हैं। जिनमें प्रतीयमान अर्थ रमणीय सौन्दर्य या 'लावण्य' की तरह महाकवियों की कृतियों में भासित होता है।[3] इनके मतानुसार केवल श्रृङ्गार आदि रसों का नाम गिनाने से रस की प्रतीति नहीं होती बल्कि रसोत्पत्ति के लिए (रमणीय आलम्बन बिम्ब के रूप में (विभावों के प्रतिपादन अनिवार्य होते हैं। आनन्दवर्द्धन ने जिस विभावन-व्यापार की चर्चा की है वह एक प्रकार से बिम्बीकरण की ही प्रक्रिया है। प्रतीयमान रसादि रूप ध्वन्यर्थ कभी वाच्य नहीं होता अपितु सदैव प्रतीयमान होता है। यह प्रतीति, व्यंजना वृत्ति के द्वारा होती है। शब्दों की अर्थ-प्रतीति में केवल चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता होती है; किन्तु व्यंजना के द्वारा जो अर्थ-प्रतीति होती है—वह एक प्रकार का 'बिम्बोद्भावन' व्यापार है, जो सहृदय के मन में आह्लादक रमणीय आलम्बन बिम्ब की सृष्टि करता है। रमणीय बिम्ब जिस आह्लादन वृत्ति का निमित्त कारण है—वही वृत्ति रमणीय रस के रूप में आस्वाद्य होती है।

रमणीय आलम्बन बिम्ब :—

दृश्य काव्य में बिम्बोद्बोधन या प्रत्यक्ष-बोध की सर्वाधिक क्षमता होती है; क्योंकि नाटकीय विभावन-व्यापार में प्रत्यक्ष-बोध के द्वारा रमणीय बिम्बों

---

१. ध्वन्यालोक पृ. ५, १, १ 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।'

२. ध्वन्यालोक पृ. १४। ३. ध्वन्यालोक पृ. १९–२१४।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

को उद्दीपित करने की क्रियायें चलती हैं। अभिनव गुप्त ने इस प्रत्यक्षीकरण को अनुकरण, प्रतिबिम्ब, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया और इन्द्रजाल' आदि दस लौकिक प्रतीतियों तथा यथार्थ ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय, अनवधारण, अनध्यवसायात्मक ज्ञान से भिन्न या विलक्षण माना है। उनकी दृष्टि में नाट्य 'आस्वाद रूप संवेदन संवेद्य वस्तु' रस स्वभाव से युक्त है।[1] इसका मुख्य कारण यह है कि प्राचीन काव्यों में लौकिक साक्षात्कार साध्य नहीं था अपितु वह मोक्ष या मुक्ति का साधन था। भारतवर्ष में प्रेय के माध्यम से श्रेय की उपासना की विशेष प्रवृत्ति रही है। इसी से 'चतुवर्ग फल-प्राप्ति' में अंतिम फल मुक्ति है। प्राचीन काव्य या कलाकृतियों का लक्ष्य केवल 'रंजन' न होकर रमणीय रसास्वादन रहा है। काव्य या कला में यही रमणीय रसवत्ता अपनी समस्त अलौकिक विशेषताओं के साथ व्यंजित या प्रतीयमान होती है। कुन्तक ने यह प्रश्न उठाया है कि काव्य को जीवित रखनेवाली कौन सी सत्ता है ? कलाकृति की अक्षुण्ण एवं स्थायी रमणीयता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। युग-युगान्तर में रमणीयता के बदलते हुए प्रतिमान काव्य एवं कलाकृति की रमणीय-चेतना को मुमूर्षु बना देते हैं। इसी से कर्ता में निहित शक्ति 'वक्रोक्ति' को कुन्तक ने काव्य को जीवित रखनेवाली सत्ता के रूप में प्रतिपादन किया है। निश्चय ही वह वक्रोक्ति केवल वक्र उक्ति मात्र नहीं है, अपितु रमणीय बिम्बों की उद्भावना करनेवाली अभिव्यक्तिजनित शैली है। केवल स्थूल अंकन और कथात्मकता कला या काव्य को चिरस्थाई बनाने में सक्षम नहीं हैं। कुन्तक की दृष्टि में निरन्तर रस को प्रवाहित करनेवाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कलामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।[2] बहुत से जड़ पदार्थों का भी 'रसोद्दीपन-सामर्थ्य' के कारण सुन्दर वर्णन हो जाता है।[3] कुन्तक ने वस्तु से अधिक अभिव्यक्ति-सापेक्ष रूप-विधान की रमणीयता को प्रतिपादित किया है। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों में पार्कर ने रमणीय रूप-विधान पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पार्कर के अनुसार रमणीय रूप-विधान ६ सूत्रीय

---

१. अभि. भा. पृ. २६। २. वक्रोक्ति. पृ. ४९५–४।११।

निरन्तररसरसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

३. वक्रोक्ति पृ. ३३२–३।८।

रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा ॥

सिद्धान्तों पर निर्भर करता है।[1] इनमें प्रथम है—आंगिक एकता या अनेकता में एकता (Organic unity or unity in Variety) यह रमणीय रूप-विधान का वह पक्ष है, जिसमें विभिन्न अंग जुटकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। कलाकृति इस दशा में केवल कलाकार की ही कल्पना की मूर्ति नहीं रहती, अपितु सहृदय या द्रष्टा की मानस-कल्पना का रमणीय-बिम्ब बन जाती है। सुन्दर कृति के लिए सर्वांशता अत्यन्त आवश्यक है। कुन्तक भी 'वक्रोक्ति जीवित' में रमणीय काव्य के स्वरूप-विधान के लिए ६ प्रकार के[2] वाक्य (१—रूढ़िवक्रता, २—पर्यायवक्रता, ३—उपचार वक्रता, ४—विशेषणवक्रता, ५—संवृतिवक्रता, ६—वृत्तिवैचित्र्यवक्रता) तथा इनके भेदों की संघटनात्मक एकता के प्रति कहते हैं कि 'कहीं-कहीं एक दूसरे की शोभा के लिए बहुत से 'वक्रता-प्रकार' इकट्ठे होकर इस 'शोभा' को अनेक (रंगों से युक्त रंगीन) चित्र की छाया के सदृश मनोहर बना देते हैं।[3] इस प्रकार आवयविक एकता के प्रति दोनों चिन्तकों में बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। पार्कर ने दूसरे सिद्धान्त विषयवस्तु (Theme) की संक्षेप में चर्चा करते हुए कहा है कि किसी भी कलाकृति की विषय-वस्तु मात्र अपने आप में पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे विस्तृत और अलंकृत होना चाहिए। इसका एक प्रमुख ढंग हमारे मस्तिष्क में पुनः पुनः गुंजित करना है। परन्तु यह पुनरावृत्ति उसे नीरस बना देती है।[4] कुन्तक ने भी वर्ण्य वस्तु की चर्चा करते हुए विषय-वस्तु की व्यापकता में चेतन और अचेतन दोनों को समाहित किया है। उनके मतानुसार 'वर्णनीय वस्तु' का रमणीयता से परिपूर्ण (रसोद्दीपन समर्थ)' इस (चेतन-अचेतन पदार्थ रूप) शरीर को ही (काव्य में) उपादेय होने से कवियों की वर्णना का विषय समझना चाहिये।[5] इस तरह कुन्तक ने विषय-वस्तु में रमणीयता का होना भी आवश्यक माना है। जिस प्रकार सभी भूमियों में अन्न नहीं उत्पन्न होता वैसे ही सभी वस्तुओं में रमणीय रूप-विधान की क्षमता नहीं होती।

---

१. प्रो. एस्थे. पृ. १७५ में संकलित पार्कर की कृति 'The Analysis of Art' का दूसरा अध्याय।

२. वक्रोक्ति पृ. ६४–१, १८।

४. वक्रोक्ति पृ. २८९–२।३३।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकाराजनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहराम्॥

३. प्रो एस्थे. पृ. १७७।

५. वक्रोक्ति (अनु.) पृ. ३३४–३।९।

शरीरमिदअर्थस्य रामणीयक निर्भरम्।
उपादेयता ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम्॥

'पार्कर का तीसरा सिद्धान्त है—'प्रसंगवैविध्य' (Thematic Variation) कलाभिव्यक्ति में एक ही वस्तु का बार-बार प्राकट्य या एक ही प्रसंग की अवतारणा मर्मज्ञों के मन में एकस्वरता या अरुचि उत्पन्न करती है। अतएव प्रसंग-वैविध्य के चलते कलाकृति सहृदय या पारखी के मनमें पुनः पुनः प्रतिध्वनित होती है; जिसके परिणामस्वरूप प्रसंग-वैविध्य उसमें नवीनता का संचार करता है। रमणीय रूप-विधान में इस विचारणा का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। 'राम-चरित' के एक होते हुए भी प्रसंगवैविध्य से कवियों ने अपने राम-काव्यों में नवीन सौन्दर्य-सृष्टि की है। कुन्तक की 'प्रकरणवक्रता' का 'प्रसंग-वैविध्य' से बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है। कुन्तक ने 'प्रकरण-वक्रता' के इन भेदों १—पात्रों की प्रवृत्ति-वक्रता, २—उत्पाद्यकथावक्रता, ३—उपकार्योपकारकभाववक्रता, ४—आवृत्ति-वक्रता, ५—प्रासंगिकप्रकरणवक्रता, ६—प्रकरणरसवक्रता, ७—अवान्तर-वस्तुवक्रता, ८—नाटकान्तर्गतनाटकवक्रता, ९—मुखसन्ध्यादि-विनिवेश-वक्रता के द्वारा प्रायः 'प्रसंग-वैविध्य' के ही विभिन्न उपादानों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।[१] 'पार्कर ने प्रसंग वैविध्य में जिसे 'Maximum of Sameness with the Minimum of difference' बताया है, कुन्तक ने भी वैसे ही प्रकरण-वक्रता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'प्रत्येक प्रकरण में 'कवि की' प्रौढ प्रतिभा के प्रभाव से आयोजित एक ही अर्थ बार-बार निबद्ध होता हुआ भी सर्वथा नवीन चमत्कार उत्पन्न करता है।[२]

पार्कर का चौथा सिद्धान्त 'Balance' संस्कृत समीक्षकों के 'औचित्य' के समकक्ष विदित होता है। क्योंकि दोनों कला एवं काव्य-कृतियों में विभिन्न निर्मायक तत्त्वों की सौन्दर्य-परक एकता के परिचायक हैं। कला-कृतियों में वर्ण, अलंकरण, छुटाई, बड़ाई, विरोधी, सदृश आदि सभी पक्षों का समतुलन निहित रहता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद, आदि का उचित निर्वाह मर्म स्थानों के समान काव्य-शरीर में व्याप्त प्राणों के समान औचित्य की स्थापना करना है।[३] अतः काव्य एवं कला दोनों के रूप-विधान में समस्त तत्त्वों के समुचित

---

१. वक्रोक्ति (हि. अनु.) ४१२-१५।

२. वक्रोक्ति (हि. अनु.) पृ. ५०३-४१७। प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः। एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः।

३. भा. का. शा. पृ. ३४०।

स्थापना के द्वारा ही रमणीय बनाया जा सकता है। कुन्तक ने भी वक्रता के समस्त रूपों में किसी न किसी प्रकार के औचित्य का आधार माना है। काव्य-विवेचन के क्षेत्र में रमणीयता की दृष्टि से सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन मार्गों की स्थापना की थी। इन तीनों में सामान्य गुणों को उन्होंने औचित्य में तथा विशिष्ट गुणों को 'सौभाग्य' में अन्तर्भुक्त किया है।

पार्कर के शेष दो सिद्धान्तों में 'hierarchy' और 'Evolution' वस्तु की रूढ़िबद्धता और क्रमिक विकास से अधिक सम्बद्ध हैं। विशेषकर पार्कर ने 'hierarchy' का तात्पर्य 'Species of evolution' तथा जाति या गोत्र-विकास से लिया है, जो कुन्तक की रूढ़ि वक्रता के समानान्तर प्रतीत होता है। उपर्युक्त अध्ययन से मेरा मतलब दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु यह संकेत करना है कि कला एवं काव्य क्षेत्र में रूप-विधान की दृष्टि से जो मीमांसा होती रही है, वह वस्तुतः रमणीय रूप विधान की है। पूर्व मध्यकालीन युग के समीक्षक कुन्तक की वक्रोक्ति के रूप में की गई स्थापनाएं विशुद्ध रूप से सौन्दर्य-शास्त्रीय और रमणीय प्रकृति की हैं। यह केवल विवेचन के क्रम में प्रयोग किए गए—लावण्य, सौन्दर्य, रमणीय, मनोहर, सौभाग्य, माधुर्य, सुकुमार, शोभा आदि सौन्दर्यपरक शब्दों से ही इंगित नहीं होता, अपितु उनके विवेचन की सम्पूर्ण प्रणाली काव्य एवं कला (अनायास रूप से) दोनों को समाविष्ट करनेवाली सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रणाली है। उनका रूप विधान वस्तुतः रमणीय रूप-विधान है। बन्ध-सौन्दर्य के द्वारा लावण्य का विधान करने वाले सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग रमणीय रूप-विधान ही नहीं अपितु रमणीय बिम्ब-सृष्टि का भी अप्रत्यक्ष रूप से उपस्थापन करते हैं। कुन्तक के द्वारा प्रयुक्त 'छाया' 'चित्र छाया'[२] और 'चित्र' जैसे पद या शब्द परोक्ष रूप से रमणीय आलम्बन बिम्ब की भी पुष्टि करते हैं।

कतिपय श्लोकों में कुन्तक ने सम्भवतः रमणीय बिम्ब के समानान्तर 'चित्रच्छाया' का प्रयोग किया है। इनके मतानुसार 'कहीं-कहीं एक दूसरे की शोभा के लिए बहुत से वक्रताप्रकार इकट्ठे होकर इस शोभा को अनेक रंगों से युक्त रंगीन चित्रों की छाया के समान मनोहर बना देते हैं।[१] इसी

१. हिं. वक्रोक्ति १।३३ 'मसृणच्छाया', १।४३८ 'कोमल च्छाया', १।५० 'बन्धच्छाया' २।१० 'रम्यच्छाया', २।५ 'वर्णच्छाया' तथा २।३४ 'चित्रच्छाया मनोहरम्' ३।४ 'मनोहर चित्र' का प्रयोग किया है। २. हिं. वक्रोक्ति पृ. २८९–२।३४।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः कचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहरम्॥

प्रकार वाक्य-वक्रता के प्रसंग में इन्होंने चित्रकार के कौशल को उदाहृत करते हुए कहा है कि 'सुन्दर आधार भित्ति पर अङ्कित चित्र के रंगों के सौन्दर्य से भिन्न चित्रकार की मन हरण करनेवाली अनिर्वचनीय निपुणता के समान काव्य-निर्माता का कुछ और अनिर्वचनीय कौशल वाक्यवक्रता है।'[1] इनकी दृष्टि में अर्थ और वर्ण्य वस्तु का रमणीयता से परिपूर्ण शरीर ही कवियों का वर्ण्य विषय है।[2] उपर्युक्त कथनों में 'चित्रच्छाया' मनोहर चित्र और रमणीय शरीर से रमणीय रस के आलम्बन 'रमणीय बिम्ब' की पुष्टि होती है। यही नहीं 'वाणी रूपलता के पद-पल्लवों में रहने वाली, सरसत्व सम्पत्ति के अनुरूप और वक्रता से उद्भासित होने वाली, जो अपूर्व उज्ज्वल शोभा प्रकाशित हो रही है, उसको देखकर चतुर (विद्वान) भ्रमर गणों को वाक्य रूप फूलों में रहनेवाले, सुगन्ध फैलाने वाले जिस मनोहर मधु की नवीन उत्कंठा से युक्त होकर पान करने'[3] का परामर्श इन्हों ने दिया है— वह 'मनोहर मधु' के रूप में 'रमणीय रस' की ही व्यंजना करता है। कविराज विश्वनाथ ने रस एवं उसके आलम्बन का उन्नयन कर दिया है। उनकी दृष्टि में 'रस' 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है। प्रारम्भ से ही भारतीय साधना एक अंग साहित्य भी रहा था। दृश्य और श्रव्य दोनों का एक प्रयोजन मोक्ष था।

इसीसे भारतीय काव्य केवल मनोरंजन के साधन न होकर लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करनेवाले काव्य समझे जाते थे। फलतः लौकिक में अलौकिक के और लोक में लोकोत्तर चमत्कार दर्शन की जो प्रवृत्ति महाकाव्यों एवं उनकी परम्परा में आनेवाले साहित्य में विकसित हुई, इसके लिए उपयुक्त आलम्बन की आवश्यकता थी; और इस अभाव को अवतारवाद ने पूर्ण किया, क्योंकि लौकिक चरितनायक में लोकोत्तर या अलौकिक ब्रह्म का दर्शन अवतारवादी प्रणाली के द्वारा ही सम्भव था। अतः चरितनायकों और विभिन्न उपास्य रूपों में

---

१. हि. वक्रोक्ति पृ. ३१४–३।४।

मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्॥

२. हि. वक्रोक्ति पृ. ३३४–३।९।

शरीरमिदमर्थस्य रामणीयकनिर्भरम्।
उपादेयतया ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम्॥

३. हि. वक्रोक्ति पृ. २९०–२।३५।

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसम्पदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयं
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्काण्ठाकुलं पीयताम्॥

अनन्त एवं असीम ब्रह्म का अवतरित रमणीय आलम्बन बिम्ब काव्य में गृहीत हुआ। उसका सतोगुणी सगुणसाकार रूप सात्विक रसोद्रेक का निमित्त कारण बन गया। इस प्रकार लौकिक आलम्बन में अलौकिक का उपस्थापन यदि अवतारवादी रमणीय बिम्ब में चरम सीमा का स्पर्श करता है, तो उससे उद्दीप्त होने वाला रमणीय रस 'ब्रह्मास्वादसहोदर'[1] के रूप में रसास्वाद की चरम परिणति को ही चरितार्थ करता है। मध्यकालीन साधना में भक्ति के लिए भक्ति और लीला के लिए लीला का लक्ष्य प्रचलित हो जाने पर लीला और चरित के अजस्र स्रोत अवतार उपास्य रमणीय बिम्ब के रूप में आराध्य हो गए। पूर्ववर्ती काल में भारतीय इतिहास एवं कला का लक्ष्य प्रेय के माध्यम से श्रेय की सिद्धि प्राप्त करना था। उत्तरवर्ती 'भक्ति के लिए भक्ति' युग में आकर प्रेम स्वयं साधन और साध्य दोनों बन गया। यह प्रेम इस युग में अत्यन्त उन्नयनी-भूत (Sublimited) 'प्रियत्व' के रूप में साध्य हुआ। जो रमणीय उपास्य आलम्बन के योग से 'रमणीय रस' होकर आस्वाद्य होता रहा है।

स्थायी भाव प्रियत्व

रमणीय रस का स्थायी भाव 'प्रियत्व' अनेक रूपों में प्राचीन वाङ्मय में लक्षित होता है। विशेषकर 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में आत्मा के प्रियत्व की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। उसी क्रम में कहा गया है—'सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं।[2] 'कठोपनिषद्' में श्रेय के साथ प्रेय का भी उल्लेख हुआ है। वहां प्रेय मनुष्य की सामान्य भोग वृत्ति का हेतु रहा है।[3] आलंकारिकों में भामह ने 'चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति' के अतिरिक्त प्रिय को भी काव्य का लक्ष्य माना है।[4] दंडी ने 'प्रीतिकर भाव-कथन' के लिए 'प्रेय' अलंकार की चर्चा की है।[5] और उद्भट के अनुसार रति आदि भावों के सूचक अनुभाव आदि के द्वारा की गयी काव्य-रचना में 'प्रेय' अलंकार का अस्तित्व है।[6] किन्तु भामह के अनन्तर

---

१. सा. द. पृ. ४८–३।२।

२. बृ. उ. २, ४, ५ 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' ३. कठ. १, ३, २।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥'

४. काव्या. (भामह) १, २ 'प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्'।

५. काव्या. (दण्डी) २, २७५। ६. काव्य सा. सं. ४।२।

वामन ने पुनः 'प्रीति' को काव्य का प्रयोजन माना है।[1] आनन्दवर्द्धन ने 'सहृदयों के मन में प्रीति' (सहृदयमनःप्रीतये) की चर्चा सहृदय के मन में निहित आनन्द के लिये किया है।[2] कुन्तक का 'हृदयाह्लादकारक' एक प्रकार से 'प्रीति' या 'प्रियत्व' की प्रक्रिया का द्योतन करता है।[3] विश्वनाथ कविराज ने 'प्रियत्व' को 'प्रेयस्' अलंकार में प्रतिष्ठित किया है। उनके मतानुसार 'भाव यदि किसी का अंग हो तो प्रेयस अलंकार होता है। अत्यन्त प्रिय होने के कारण इसे प्रेयस कहा जाता है।[4] इसकी पुष्टि में उन्होंने जिस 'मृगनयनी' का उदाहरण दिया है—वह 'स्मरणाख्य' रमणीय आलम्बन बिम्ब है, जो प्रेयस् के उद्दीपन का कारण है। इसके अतिरिक्त 'साहित्यदर्पण' के प्रारम्भ में ही विश्वनाथ ने भामह का अनुमोदन करते हुए 'प्रीति' को काव्य का फल माना है।[5] 'प्रीति' के पर्याय या निकटवर्ती शब्द 'स्नेह' की चर्चा अभिनवगुप्त ने 'स्नेह रस' के रूप में की है। ऐसा लगता है कि 'स्नेह रस' का उस काल में अस्तित्व था जिसके चलते अभिनव गुप्त को उसका खंडन करना पड़ा। उनकी दृष्टि में 'स्नेह' आसक्ति या आकर्षण का नाम है,[6] जो रति या उत्साह में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है। यों आजकल 'स्नेह' अपने से छोटे के प्रति प्रेम या 'प्रीति' के निमित्त ही प्रचलित रहा है। किन्तु अभिनव गुप्त ने स्नेह-व्यापार के जितने उदारण दिये हैं—बालक का माता-पिता के प्रति, युवक का मित्रजन के प्रति, लक्ष्मणादि का भाई के प्रति, वृद्ध का पुत्र के प्रति—ये सब मिल कर 'प्रियत्व' की परिपुष्टि करते हैं। अभिनव गुप्त ने 'स्नेह' का रति, उत्साह जैसे स्थायी भावों में अन्तर्भुक्त होना माना है। इससे हम 'स्नेह' को रस की अपेक्षा स्थायी भावों के ही समानान्तर अधिक मान सकते हैं। स्नेह 'आकर्षण' और 'आसक्ति' जैसे रमणीय रस के अनुभावों का पर्याय होकर 'प्रियत्व' का ही बोध कराता है। भोज ने 'रसोक्ति' की चौबीस विभूतियों में जिन द्वादश महा ऋद्धियों वाले प्रेम और प्रेम-पुष्टियों को ग्रहण किया है,[7] वे प्रियत्व के उद्दीपक प्रतीत होते हैं। यों भोज ने रस के

---

१. का. सू. (वामन) १, १, ५ 'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्'।
२. हि. ध्वन्यालोक पृ. १, १ 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' और पृ. १४।
३. हि. वक्रोक्ति. पृ. ९-१।३ 'काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः'।
५. सा. द. (विश्वनाथ) पृ. ३६६। ४. सा. द. (विश्वनाथ) पृ. १०।
६. अभि. भा (अनु.) पृ. ६४१।
आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्।
स्नेहो ह्यभिषङ्गः, स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति॥
७. सर. कण्ठा. ५-९७।१००।

द्वादश भेदों में 'प्रेयान्' नामक एक रस माना है, जिसके आश्रय और आलम्बन प्रिय और प्रिया होते हैं।[1] किन्तु इनके पूर्व के धनंजय भट्ट ने 'प्रीति' को भावों में परिगणित किए जाने की चर्चा की है। इनका कथन है कि 'कुछ लोग प्रीति, भक्ति आदि को स्थायी भाव मानते हैं तथा मृगया, जुआ आदि को रस-रूप में स्वीकार करते हैं। इनका समावेश हर्ष, उत्साह आदि स्थायी भावों में ही हो जाता है।[2] इससे एक सत्य का स्पष्टीकरण हो जाता है कि धनंजय भट्ट के युग (१० वीं शती उत्तरार्द्ध) पूर्व मध्यकालीन युग में 'प्रीति' और 'भक्ति' को स्थायी भाव के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। विशेषकर भरत मत की परम्परा में आने वाले अभिनव गुप्त और धनंजय ने इनको प्रमुखता न देकर प्रचलित रति, हर्ष, उत्साह आदि भावों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया। किन्तु बाद में चलकर भक्ति का तो स्वतंत्र काव्य-शास्त्र विकसित हुआ, पर 'प्रीति' का उतना विस्तार नहीं हो सका।

फिर भी वास्तविकता तो यह है कि 'प्रीति' या 'प्रियत्व' को रति, हर्ष या उत्साह में से किसी में पूर्णतः आत्मसात् नहीं किया जा सकता। 'रति' और 'श्रृङ्गार' दोनों नायक-नायिकाओं से आबद्ध होने के कारण किसी सम्पूर्ण कलाकृति या काव्य की समस्त सौन्दर्य-भंगिमा को आत्मसात् नहीं कर सकते। यही नहीं हमारी अभिरुचि की नानात्मकता, और वैविध्य को रति या श्रृङ्गार में समाहित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से प्रियत्व और रमणीयता का क्षेत्र विशाल है। सगुण मूर्तियों से लेकर सृष्टि की समस्त मूर्त या अमूर्त अनन्तता रमणीयता का आलम्बन हो सकती है।

अन्य रसों की तरह रमणीय रस भी द्वैत सापेक्ष है। आश्रय और आलम्बन का अस्तित्व इसमें भी अनिवार्य है। रमणीय रस की विशेषता यह है कि कभी आश्रय आलम्बन पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है अर्थात् आलम्बन वस्तु की अपेक्षा उसमें अधिक रहती है। किन्तु आश्रय में रमणीयता के स्थाई भाव 'प्रियत्व' से अनुप्राणित 'रमणीय आलम्बन-बिम्ब' का मनन और चिंतन जितना ही बढ़ता जाता है, आलम्बन वस्तु अधिक आत्मनिष्ठ होती जाती है। एक ऐसी स्थिति आती है जब आश्रय की दृष्टि में मांसल एवं वस्तुगत आलम्बनत्व क्षीण हो जाता है, और उसकी अपेक्षा आलम्बन वस्तु का बिम्ब आश्रय के मन में अत्यन्त सघन होकर उद्दीप्त हो जाता है।

---

१. सर. कण्ठा. ५–१६४। २. दशरूपकम् ४–८३

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥

यही उद्दीप्त आलम्बन बिम्ब आश्रय की आत्मनिष्ठ रमणीयानुभूति का केन्द्र है। इस प्रक्रिया में उद्दीप्त आलम्बन बिम्ब के साथ आश्रय का आत्मिक साहचर्य स्थापित हो जाता है। आश्रय और आलम्बन के बीच में यह साहचर्य वृत्ति उन्हें तादात्मीकरण की ओर प्रवृत्त करती है। अन्त में रमणीय रस से आप्लुत आश्रय और आलम्बन बिम्ब अभिन्न से हो जाते हैं; उनकी अभिन्नता के कारण आलम्बन वस्तु का अभाव-सा दीख पड़ता है; क्योंकि यदि आलम्बन रमणीय मूर्ति है, तो वह अत्यधिक आत्मनिष्ठ हो जाता है, या वह अनन्तता पर प्रक्षेपित जागतिक एवं नानात्मक प्रतिबिम्बित सत्ता के रूप में लक्षित होता है। अतः रमणीय रस में दृश्य और अदृश्य, मूर्त और अमूर्त, गोचर और रहस्य 'सौन्दर्य-भावन' की केवल दो अवस्थाएं हैं। दृश्य, मूर्त और गोचर अवस्था में, आलम्बन वस्तु स्वयं प्रतीकात्मक, प्रतिमात्मक या भाव-प्रतिमात्मक स्थिति में विद्यमान रहती है, जिसे रमणीय रस का द्वैत पक्ष माना जा सकता है। परन्तु जब आलम्बन वस्तु अदृश्य, अमूर्त, अगोचर रहस्य की स्थिति में हो जाती है, तो आत्मीभूत आश्रय और बिम्बीभूत आलम्बन की भिन्नाभिन्न अवस्था, द्वैत की अपेक्षा अद्वैत के अधिक निकट एक प्रकार की रहस्यावस्था होती है।

रमणीय रस प्रतिक्रियात्मकता से संवलित रस है। अतएव इसके उद्दीपक संवेगों में केवल प्रिय, रुचि, सुन्दर और आकर्षण नहीं हैं, अपितु अप्रिय, अरुचि और अनाकर्षण भी हैं। इसके अतिरिक्त शृङ्गार, वीर, हास्य और अद्भुत इत्यादि रस जो रमणीयता की दृष्टि से प्रियत्व, रुचित्व और आकर्षण की वृद्धि करने वाले नैसर्गिक प्रेरक हैं—ये रमणीय रस के ग्राह्य पक्ष (Positive form) को परिपुष्ट करते हैं।

निषेधात्मकता (Negation)

ग्राह्य पक्ष के विपरीत रमणीय रस का एक प्रतिक्रियात्मक पक्ष भी है, जहाँ रमणीय आलम्बन बिम्ब का निषेध पक्ष अधिक प्रबल रहता है।[1] यह रमणीयता का कुरूप या विकृत पक्ष है, जो रमणीय रस निष्पत्ति का निषेध करता है। विकृति और मिथ्या एवं भ्रामक चरित्रांकन कुरूपता के प्राण हैं। रमणीय रस के ये निषेध पक्ष (Negative form) हैं, जो आलम्बन वस्तु के प्रति कौरूप्य, अप्रियत्व, अरुचित्व, अनाकर्षण जैसे संचारक संवेगों के द्वारा उसके नकारात्मक मूल्य या अग्राह्यता को द्योतित करते हैं—रौद्र, भयानक बीभत्स, करुण आदि संवेगों के उद्दीपन में भी रमणीयता का निषेध दीख

१. एस्थे. पृ. ३०९ हार्वर्ट् ने सौन्दर्य की सुखान्त और दुखान्त जैसी विषम स्थिति मानी है।

पड़ता है,[1] जब कि 'शान्त' में संवेगात्मक उदासीनता या तटस्थता निहित है। उपर्युक्त संवेगों के द्वारा रमणीय रस की उद्दीपन अवस्था के तीन पक्ष हो जाते हैं—ग्राह्य, अग्राह्य या तटस्थ। विभिन्न संवेग आलम्बन वस्तु को ग्राह्य, अग्राह्य या तटस्थ रूपों में बिम्बीकरण की क्रियाओं को प्रचारित करते रहते हैं। जिसके फलस्वरूप आलम्बन के ग्राह्य, अग्राह्य और तटस्थ रूप, रमणीय रस-भावन के तीन आयामों की ओर निर्देश करते हैं। ग्राह्य आलम्बन वस्तु के प्रति आश्रय में आकर्षण रुचि, प्रियत्व, स्थायी साहचर्यत्व और अन्त में (रहस्यवादी अवस्था में) तादात्म्य का विकास होता है; और अग्राह्य के प्रति अरुचि, उपेक्षा इत्यादि क्रियायें मनोविश्लेषण की भाषा में सक्रिय होकर अचेतन में ढकेलने का प्रयास करती हैं। इस तरह अचेतन में भेजने का कार्य भी प्रायः रमणीय रस का नकारात्मक पक्ष ही करता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने रस के अतिरिक्त उन वस्तु व्यंजनात्मक काव्यों को रस से बाहर रमणीय माना है।[2] वर्ण, रूप शब्द आदि सौन्दर्य से लेकर 'मधुमति भूमिका' के मध्य में रसास्वाद की भी अनेक सरणियाँ मात्रात्मक दृष्टि से मानी जा सकती हैं। यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार 'जिनके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) ज्ञान उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है।[3] किन्तु आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र रमणीयता को सेन्द्रिय अनुभूति के धरातल पर भी ग्रहण करता है।[4] यों रमणीयता विशुद्ध धारणा या ज्ञानात्मक बोध की प्रक्रिया नहीं है, अपितु धारणा और भाव से समन्वित होने के कारण उसमें आस्वाद्य तत्त्व भी विद्यमान है। काँट के अनुसार रमणीय रस अभिलाषा और ज्ञान की विशेषताओं को वैसे ही समन्वित कर लेता है, जिस प्रकार मूल्यांकन की प्रकृति सांकल्प्य की भावना का प्रत्यय (idea), हेतु (reason), एकता और बोध (understanding) (अनेकता) को समाहित कर लेती है।[5] ऐसा लगता है कि रमणीय मूल्यांकन ही प्रकृति और स्वच्छन्दता, बोध और हेतु, ऐन्द्रिक और अनिर्वचनीय के संगम स्थल की ओर प्रवृत्त करने के लिए चुना जाता है। कांट ने रमणीय आस्वाद को विभिन्न कोटियों में विभाजित किया है। गुणों की दृष्टि से अभिरुचि (Taste) ही रमणीय है। यों आनन्द जिस भोक्ता का निर्माण करता है, वह अन्य

---

१. एस्थे. पृ. ३५१। (Uglyness is Negation of This Sympathetic beauty)

२. सौ. त. पृ. ६७। ३. रस गं. पृ १०।

४. हि. एस्थे पृ. १८४ बडमगार्टन "He gives to the perfection of sensuous knowledge, i.e., of feeling or sensation, The Name of beauty, as the manifestation in feeling."

५. हि. एस्थे. पृ. २७३।

सभी अभिरुचियों से परे है। जहाँ आलम्बन के अस्तित्व का विद्यमान रहने का भाव है, उस आनन्द को अभिरुचि के रूप में ग्रहण किया जाता है। रस (Pleasure) से इसका पार्थक्य केवल उपस्थापन अथवा आलम्बन के ऐन्द्रिक भाव या प्रत्यय को लेकर होता है। इस प्रकार सौन्दर्य तत्क्षण रस और शिव (good) से बिल्कुल विच्छिन्न हो जाता है, वह प्रायः निम्न या उच्च रुचिवर्द्धक क्षमता (appetitive faculty) के रूपों से अधिक साम्य रखता हैं। क्योंकि इसके दोनों (रस और शिव) रूपों में रुचिवर्द्धक क्षमता विशेषकर अभिरुचि का ही संचार करती है।[1]

परिमाण और रुचि-निर्णय की वस्तुमत्ता (modelity) में सौन्दर्य वस्तुगत आनन्द के रूप में गृहीत होता है, जो प्रतिबिम्बित प्रत्यय के अवरोध के बिना भी जागतिक और आवश्यक है। इस कारण जागतिकता और आवश्यकता ये दोनों आत्मनिष्ठ हैं वस्तुनिष्ठ नहीं, सौन्दर्य के परिमाणात्मक मूल्यांकन में सौन्दर्य के आनन्द और शिव में पार्थक्य किया जाता है। आनन्द की सार्वभौमिकता के कारण हम, आनन्द और सौन्दर्य के मूल्यांकन में समन्वय की अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि प्रकाशक प्रत्यय के अभाव में भी भोजन-पान के आस्वादन का शिवत्व (Good) से कोई वैषम्य नहीं है। खासकर वस्तुमत्ता में इस प्रकार की विषमताओं की कोई सम्भावना नहीं।[2]

सम्बन्ध की दृष्टि से जहाँ रुचि के मूल्यांकन का प्रयोग होता है, वहाँ आलम्बनवस्तु में सौन्दर्य प्रयोजनात्मकता (Purposeveness) के रूप में अवस्थित रहता है और यह स्थिति तब तक रहती है, जब तक प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उसमें समाप्ति का भाव नहीं आता। फलतः पुनः एक बार सौन्दर्य आनन्द है और शिव से पृथक् किया जाता है क्योंकि उसमें एक विशिष्ट प्रयोजन निहित रहता है। क्योंकि वस्तु की बाह्य उपयोगिता या उसकी आन्तरिक पूर्णता में (तृप्तिजनित) समाप्ति के भाव का प्रश्न लगा रहता है।[3] अतः लक्ष्यवस्तु और सौन्दर्य भोक्ता में या तो विशुद्ध सौन्दर्यपरक सम्बन्ध होता है या प्रयोजनात्मक उपयोगितावादी। शिलर के अनुसार 'सौन्दर्य सचमुच हम लोगों के लिए एक लक्ष्य है, क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब-व्यापार एक ऐसी दशा है, जिसके अन्तर्गत हमारे मनमें अनुभूति उत्पन्न होती है, उसी क्षण वह अवस्था हमारे आत्मनिष्ठ मन की भी एक अवस्था हो जाती है, क्योंकि वह भावानुभूति एक ऐसी दशा है जिसके अन्तर्गत हम प्रत्यक्ष-बोध का अनुभव करते हैं। इसीलिए वह (सौन्दर्य) एक रूप है,

---

१. हि. एस्थे पृ. २६३। २. हि. एस्थे. पृ. २६४। ३. हि. एस्थे. पृ. २६४।

क्योंकि हम उसका मनन या चिन्तन करते हैं, वह एक जीवन हैं; क्योंकि हम उसका भावन करते[1] हैं। एक शब्द में एक ही समय वह हमारी दशा भी है और हमारी क्रिया भी। रमणीय रस और आनन्द-मनोवैज्ञानिक आस्वादन की दृष्टि से देखने पर रस और आनन्द में तात्विक अन्तर प्रतीत होता है।[2] रस अपने मूल में विविधात्मक है और आनन्द एकात्मक। ऐन्द्रिय स्वाद की दृष्टि से मीठा, खट्टा, तीता, कड़ुआ, नमकीन, कसैला इन सभी में अन्तर है। सभी हमारी आस्वादन क्रिया में रस-वैविध्य की सृष्टि करते हैं। राजशेखर ने इन रसों के ही समानान्तर काव्य में भी नौ प्रकार का पाक माना है। 'पाक' की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि 'अर्थ और शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके बिना वाङ्मधु का परिस्रवण नहीं होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु पाक है, जो सहृदयजन द्वारा आस्वाद्य है। राजशेखर के अनुसार काव्य के ये परिपाक—पिचुमन्द (नीम), बदर (बेर), मृद्वीका, वार्ताक (बैंगन), तिन्तिडीक (इमली), सहकार (आम), क्रमुक (सुपारी), त्रपुस (ककड़ी), नारिकेल पाक—ये नौ प्रकार के पाक हैं।[3] काव्य के साथ इनकी संगति कहाँ तक युक्ति संगत है यह कहना सहज सम्भव नहीं है, किन्तु इन भेदों से इतना स्पष्ट है कि ये काव्य-रस को भी लोकोत्तरत्व से खींच कर ऐन्द्रिक क्षेत्र में ला देते हैं। अन्य रसों की तरह स्वाद की दृष्टि से वैषम्य होते हुए भी इन सभी के आस्वादन में रुचि का अपेक्षित योग है; जिससे स्वाद रूचि अनुकूलित हो जाता है। आस्वादक व्यक्ति सभी रसों का आस्वादन करते हुए भी कोई मीठा, कोई खट्टा, कोई तीता, कोई कड़ुआ और कोई नमकीन अधिक पसन्द करते हैं, जिससे उनमें खाद्य वस्तु के प्रति स्वादास्वाद भाव उत्पन्न हो जाता है। वह तीखे का तीखापन अनुभव करते हुए भी तीखेपन में ही स्वाद लेने लगता है। उसके लिए तीखेपन में कोई आनन्द है, तो वह उसकी रूचि से अनुकूलित स्वाद-जनित आनन्द है। यह भी कहा जा सकता है कि उसमें वास्तविक स्वाद से अधिक रुचि अनुकूलित (जो उसके उपचेतन का विषय हो गया है) स्वादानन्द है। इस प्रकृति का सौन्दर्यास्वादन के क्षेत्र में भी वैसा ही प्रभुत्व है। हम जिस सौन्दर्य का

---

१. हि. एस्थे. पृ. २९०।

२. मैंने 'Bliss' के लिये 'आनन्द', 'Pleasure' के लिये 'रस', 'Delight' के लिये प्रफुल्लता, Taste के लिये आस्वाद, 'Interest' अभिरुचि, रुचि और 'Aesthetic' के लिये 'रमणीय' शब्द का प्रयोग करना हा उचित समझा है।

३. काव्यमीमांसा पृ. ४०–५२।

भावन करते हैं, वह चाहे सुन्दर हो या कुरूप, रुचि अनुकूलित सौन्दर्य है। विद्रूप एवं भयानक देवताओं की चर्चा करते हुए हेगेल ने कहा है कि भारतीय देवों में, भयानकता, विद्रूपता और विकृति है, जिससे वे सुन्दर नहीं कहे जा सकते, किन्तु अपूर्ण रूपों के द्वारा जो ब्रह्म को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, इसलिए उदात्त से उनकी कुछ समानता है।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि भारत की धर्मप्राण मनोभावना में रुद्र, दुर्गा, काली, गणेश जैसे भयानक और विद्रूप देवता भी भक्त की भावन-क्षमता में रुचि अनुकूलन की सृष्टि करने के कारण, सुन्दर, आकर्षक और ग्राह्य लगते हैं। अतः रुचि अनुकूलित रस जो समस्त रमणीय रस (सुन्दर या कुरूप, ग्राह्य या अग्राह्य) पर अपना प्रभुत्व रखता है, प्राचीन या आधुनिक, सुन्दर या कुरूप, आदर्श या यथार्थ, दैवी या मानवी, दिव्य या प्राकृतिक समस्त कलाकृतियों को रुचि के अनुकूल समान रूप से संवेद्य और आस्वाद्य बनाने की क्षमता रखता है।

मैंने आनन्द के स्थान में रस का प्रयोग इसी से अधिक वैज्ञानिक समझा है क्योंकि आनन्द प्राचीन काल से इन्द्रियेतर, आध्यात्मिक ब्रह्मानन्द और आत्मानन्द का वाचक या उनके समानान्तर गृहीत होता रहा है। निश्चय ही उस प्रकार का आनन्द भावक व्यक्ति की आध्यात्मिकता और सात्विक भावकता पर निर्भर करता है, जो कला या साहित्य कृति में किसी अलौकिक उपास्य की क्रीड़ा या लीला का भावन कराता है। इस कोटि के रस का आनन्द अवतारवादी विषय-वस्तु से अधिक सम्भव जान पड़ता है। लौकिकता की भाव-भूमि पर स्थित अवतारों में अलौकिकता का अभ्यासजनित संस्कार भावक के मनमें बन जाता है। उस भाव दशा में वह अपने संवेद्य या आस्वाद्य रसों का उन्नयनीकरण या उदात्तीकरण कर देता है। रमणीय चेतना की दृष्टि से भी वैसी स्थिति में उसकी रमणीय मनोवृत्ति का उदात्तीकरण हो जाता है। इसी से अवतार-भक्त राधा-कृष्ण की समस्त मधुर रसात्मकता का उन्नयनीकृत रत्यास्वाद के रूप में भावन करता है। इस उपक्रम में राधा-कृष्ण की बिम्बोद्भावना के आधार पर अपनी कल्पना से उसका बृहत्-विस्तार करता है। यह स्थिति तभी सम्भव है, जब उसे केवल कल्पना और अनुभूति के योग से काल्पनिक आस्वादन की चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाय।

परन्तु सामान्य कला या साहित्य के रस-भावन में वस्तुतः आनन्द एकात्मक

१. हि. एस्थे पृ. ३५५।

नहीं होता है। बल्कि मात्रा या रसों की प्रकृति के अनुरूप प्रेक्षक या भावक में विशिष्ट मनोगत दशायें और मनोगत क्रिया-व्यापार परिलक्षित होते हैं। धनंजय भट्ट ने रसों की दृष्टि से मन की चार अवस्थाएं मानी हैं, जिनका विभिन्न रसों के उद्दीपन क्रम में भान होता है। जैसे शृङ्गार और हास्य में विकास, वीरता और अद्भुत में विस्तार, बीभत्स और भय में क्षोभ, तथा रौद्र और करुण में विक्षोभ की अवस्था मानी है।[1] परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो मानसिक स्तर पर सभी रसों में विविध मानस-व्यापार सक्रिय प्रतीत होते हैं, जिन्हें मान्य रसों के अनुसार मनोरंजन (अद्भुत), मनोभेदन (भयानक), मनआह्लादन (वात्सल्य), मनोविनोदन (हास्य), मनउत्पीडन (रौद्र), मनोजृम्भण (बीभत्स), मनोहरण या मनोरमण (शृङ्गार), मनउत्तेजन (वीर), मनशमन (शान्त), मनोद्रवण (करुण) इत्यादि रूपों में विभाजित किया जा सकता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी स्थापनाओं के प्रभाववश सम्भवतः आलम्बन और आश्रय से सम्बद्ध भाव, विभाव, संचारी भाव और अनुभावों पर बहुत विचार किया गया। सहृदय की दृष्टि से उत्पत्ति, अनुमिति, अनुकृति, अभिव्यक्ति इत्यादि दृष्टिकोण भी उपस्थित किए गए, फिर भी भावक में होनेवाले भावन-व्यापारों के क्रम में जो मनोवैज्ञानिक कार्य-व्यापार दीख पड़ते हैं, उनकी नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि आस्वादन-काल में दर्शक का ताली बजाना, हियर-हियर, 'Once-More' कहना, आँसू गिराना, चिल्लाना, बस-बस की अरुचि प्रदर्शित करना, शरीर में सिहरन होना, रोमांच होना, पसीना होना, पुस्तक पढ़ना छोड़ देना, या दृश्य को छोड़ कर चल देना, कामोत्तेजित होना, तल्लीन होना, मनोयोगपूर्वक सुनना, चिन्तन करना, बार-बार पढ़ना, चिरकाल तक स्मरण रखना, अनजाने किसी गीत को गुनगुनाना, किसी दृश्य का अनुभव करना; बार-बार पढ़ना, देखना या सुनना, आलोचना या कटूक्ति कहना, उपहास करना, अनुमोदन करना, उत्तेजित होना, भयत्रस्त होना आदि व्यापारों को किसी एक आनन्द का अभिव्यंजक नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसा लगता है कि भावन व्यापार की साधारणीकृत आस्वादन की स्थिति में सभी उद्दीप्त संवेगों के प्रभाववश मनोगत या शारीरिक पृथक्-पृथक् कार्य-व्यापार होते हैं, जो सहृदय की प्रभावानुरूपता के अनुरूप कम या अधिक होते रहते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से ये समस्त व्यापार आलम्बन के प्रति होने वाले प्रतिक्रियात्मक मनोव्यापार हैं। यह प्रतिक्रिया अनुकूल, प्रतिकूल या उदासीन

---

१. दशरूपक पृ. ४, ४३-४६।

तीन प्रकार की होती है। यद्यपि मनःसंवेगों के प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध सुखकर, दुःखकर, उदास, उद्विग्न, गतिशील, हतोत्साह, तनाव इत्यादि भी माने जाते हैं. किन्तु अनुकूल, प्रतिकूल और उदासीन इनमें प्रमुख जान पड़ते हैं अतः आलम्बन का अनुकूल होना, प्रतिकूल होना या उदासीन होना आदि समस्त प्रतिक्रियायें विशेष भाव दशा में रसविशेष के आस्वादन के अनुरूप प्रतिक्रियात्मक व्यापार को उद्बुद्ध करती हैं।[१] प्रत्यक्ष-बोध पर आधारित ऐन्द्रिय सहानुभूति अलौकिक या इन्द्रियातीत न होकर मनोगत सेन्द्रिय-बोध के भावात्मक (abstract) पक्ष को ही उपस्थापित करती है।[२] इस प्रकार साहित्य एवं कला में 'आनन्द' से जिसे अभिहित किया जाता है—वह वस्तुतः भाव-रस का आस्वादन नहीं है। आस्वाद्य वस्तु के अनुरूप आस्वादन की आस्वाद्यता भी होती है। अतः संस्कार, वातावरण, अध्ययन, चिन्तन, या निरन्तर स्मरण के प्रभाववश हमारे मन में विभिन्न भावानुभूतियों द्वारा संचित अमूर्त भावों के जो भाव-बिम्ब बने रहते हैं वे अपने अनुरूप आलम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर ग्राह्य, निषेध या उदासीन रूप में विविध भावात्मक या विचारात्मक धारणाओं की भूमिका पर रमणीय रस का आस्वादन कराते हैं। अत्यन्त कुरूप विकृत आलम्बन के प्रति भी रमणीय रस का आस्वादन क्रिया, प्रतिक्रिया एवं तटस्थ सभी दशाओं में चलता रहता है। जब हम किसी कृति में नायक और प्रतिनायक के परस्पर विरोधी चरित-विधान का अध्ययन करते हैं, हमारा मन नायक के प्रति सहानुभूतिक रहता है और प्रतिनायक या खलनायक के प्रति प्रतिरोधात्मक या निषेधात्मक हो जाता है। यह द्विविध भावात्मक स्थिति का आस्वादन सहृदय में सर्वदा चलता रहता है।

भाव और संवेदना

यों किसी भी कलाकृति या साहित्य-विधा में उद्दीपित स्थायी भाव रमणीय रस का उद्दीपक हो सकता है। भाव और संवेदना दोनों इन्द्रियसापेक्ष हैं, किन्तु भाव में सर्वेन्द्रियत्व है पर संवेदन में नहीं। संवेदना वस्तुगत है और भाव आत्मगत। मिश्रित भाव जैसा मनोविज्ञान में कोई भाव नहीं माना जाता क्योंकि भाव आस्वाद्य दशा में एक स्थिति तक एक-ही भाव में निहित रहता है। संवेदनाओं को बिम्ब या प्रतिमा में उपस्थित किया जा सकता है किन्तु भाव को नहीं। भाव में सर्वदा नवीनता होती है; पुराना भाव

---

१. रसात्मक व्यापार की शान्त, उद्दीप्त और शमित, इन तीन दशाओं का रमणीय रसमें भी विनियोग होता है। २. साइको. रस. पृ. ९०।

उसी रूप में व्यक्त नहीं हो सकता है; क्योंकि आलम्बन वस्तु के प्रत्यक्ष-बोध के अनन्तर 'नव नवोन्मेषशालिनी' शक्ति से युक्त भाव-तरंग प्रवाहित होने लगता है। अतएव नव्य-नूतन भाव तरंगों का अविरल प्रवाह ही रमणीय रसास्वादन का मूल-भूत निमित्त कारण है।[1] इसीसे रमणीय बिम्ब की भावानुभूति सर्वदा नयी होती है। मनोवैज्ञानिकों में मैकडूगल ने जिन मूलप्रवृत्तियों के साथ संवेगों की सम्बन्ध-स्थापना की है उनमें से अधिकांश का अनुकूल, प्रतिकूल और उदासीन सम्बन्ध रमणीय भाव-व्यापार से देखा जा सकता है। अनुकूल वृत्तियों में यद्यपि आजकल मनोवैज्ञानिक 'urge', Drive, use, आदि का अधिक प्रयोगकरने लगे हैं, फिर भी मैकडूगल ने वृत्तियों और संवेगों का तुलनात्मक क्रम जिन रूपों में प्रस्तुत किया है, उनको अनुकूल, प्रतिकूल और उदासीन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

अनुकूल वृत्ति (Instinct)	संवेग emotion
Mating	कामेच्छा Lust
जिज्ञासा Curiosity	अद्भुत Wonder
निर्माण Construction	feeling of creativeness रचनात्मकता का भाव
Acquisition अधिकार	feeling of ownership अधिकार की भावना
प्रतिकूल	
भागना Escape	भय Fear
द्वन्द्व Combat	क्रोध Anger
प्रतिरोध Repulsion	Disgust
समर्पण Submission	Negative Self feeling
उदासीन :—	
Self assertion	Positive Self feeling

भाव और संवेग

इसी प्रसंग में यह भी देख लेना आवश्यक है कि भाव और संवेग में क्या अन्तर है ? क्योंकि कुछ वैज्ञानिकों ने भाव और सवेग को एक ही समझा है, जब कि दोनों में अवश्य ही कुछ विशेष अन्तर विदित होता है। भाव

१. भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी कहा है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

एक सरल एवं प्राथमिक मानसिक क्रिया है, परन्तु संवेग को जटिल मानसिक क्रिया कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्थायी भाव से रस के रूपान्तर की प्रवृत्ति साहित्य में प्रचलित है, उसी तरह मनोविज्ञान में संवेग की पूर्व भाव-दशा मानी जाती है। प्रत्येक संवेग के साथ किसी न किसी भाव का सम्बन्ध रहता है। बिना भाव के संवेग सम्भव नहीं है, किन्तु बिना संवेग के के भाव की स्थिति बनी रह सकती है। जब भाव की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में आंतरिक एवं बाह्य व्यवहारों में होती है, तो यह भाव ही संवेग के रूप में परिवर्तित हो जाता है। भाव सदैव आत्मगत होता है, किन्तु संवेग आत्मगत और वस्तुगत दोनों होता है। व्यक्ति का भाव जितना स्पष्ट नहीं होता उससे अधिक संवेग होता है। संवेगात्मक अनुभूति आन्तरिक कार्य-व्यापार है, किन्तु संवेगात्मक व्यवहार में हम बाह्य प्रतिक्रियाओं को देख सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि मनोवैज्ञानिकों का भाव (feeling) साहित्यिक परम्परा से आता हुआ स्थायी भाव (Emotional state) है; तथा उसका प्रबुद्ध रूप जिसे उन्होंने संवेग कहा है, वस्तुतः वह 'रसदशा' की अवस्था है। संवेग के मानसिक और बाह्य व्यवहार (Emotional behaviour) लक्षित होते हैं, उन्हें अनुभावों के समानान्तर देखा जा सकता है। संवेग की वस्तुसत्ता उसका आलम्बन विभाव है तथा देश-काल-परिस्थिति या वातावरण उसके उद्दीपन विभाव हैं। फिर भी प्राचीन मान्यताओं और मनोवैज्ञानिक धारणाओं में किंचित् अन्तर यही है कि वे जिसे संवेगात्मक अनुभूति (Emotional Experience) कहते हैं—वह सहृदय की दृष्टि से 'निर्वैयक्तिक साधारणीकृत अनुभूति (deindividualised generalised experience) प्रतीत होती है, किन्तु रमणीय रसानुभूति में निर्वैयक्तिक साधारणीकृत अनुभूति की दशा संवेगात्मक अनुभूति की हुआ करती है।

रमणीय रस के उद्दीपक पौराणिक तत्त्व

भारतीय काव्य-शास्त्रों में रसास्वाद की दृष्टि से नायक और नायिकाओं का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। इतर वस्तुएं आलम्बन के रूप में कम गृहीत होती थीं। फलतः पौराणिक आलंकारिकों ने जहाँ अलंकृत सौन्दर्य की चर्चा की है वहां प्रकृति और नाम के हर वस्तु-वर्णन के वैशिष्ट्यों के प्रति विचार नहीं किया गया है। उन्होंने केवल नायक और नायिकाओं में ही रमणीय रस को उद्दीप्त करने वाले तत्त्वों का विचार

किया है। अग्निपुराणकार के अनुसार 'मानसिक व्यापारों' के आधिक्य को 'मन आरम्भ' कहा जाता है।[1] पुरुष में निहित शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, लालित्य, औदार्य और तेज तथा स्त्रियों में अवस्थित भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रागल्भ्य, उदारता, स्थिरता, गम्भीरता इत्यादि अनुभाव वस्तुतः रमणीय रस को ही उद्दीप्त करने वाले अनुभाव जान पड़ते हैं। क्योंकि प्रयोग एवं व्यवहार में भी उनका सम्बन्ध रमणीय सौन्दर्य-सृष्टि से रहा करता है।[2] इनमें 'शोभा' उस प्रकार का मनोव्यापार कहा गया है जिसमें सौन्दर्य के निषेध और आकर्षण दोनों गुण विद्यमान हैं, क्योंकि शोभा का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि शूरता और दक्षता आदि के कारण नीचों की निन्दा और उत्तम जनों के प्रति स्पर्धा को शोभा कहते हैं। इससे व्यक्ति की शोभा इस प्रकार होती है, जैसे प्रसाधनों से भवन की।[3] इस कथन से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि पौराणिक अलंकार शास्त्री रमणीय रस के आकर्षण और विकर्षण तथा स्वीकृति और निषेध इन द्विधात्मक पक्षों से पूर्णरूपेण परिचित थे। रमणीय रस के इन्हीं पक्षों का विकास अवतारवादी काव्य एवं कलाकृतियों में विस्तारपूर्वक होता है। नायक और प्रतिनायक तक इन 'मनआरम्भों' का परिसीमन रमणीय बिम्बीकरण की क्रिया को पुष्ट करता है। परम्परा से जडीभूत कर्त्ता और सहृदय में नायक और नायिकाओं या नायक और प्रतिनायक के अनुकूलित बिम्ब (Conditioned Image) निर्माण की ओर स्वाभाविक रुचि रही है, जिसके विकास में दिव्य, रमणीय एवं उदात्त प्रकृतियों से सन्निविष्ट अवतार-नायक और प्रतिनायक का विशेष हाथ रहा है।

रमणीय चेतना

रमणीय रस के उपर्युक्त समस्त तत्वों के अतिरिक्त एक ऐसे तत्व पर भी विचार करना शेष रह जाता है। जो रमणीयता की मूल-चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। रमणीयता की दृष्टि से हमारे मन में एक ऐसी मूल-चेतना अवश्य रहती है, जो जीवन और जगत में आनेवाले पदार्थों की परख किया करती है। उस चेतना की व्याप्ति हमारी सामान्य आकांक्षा से जडीभूत या अनुकूलित होकर चेतन, उपचेतन, अचेतन या अहं, इदं और नैतिक अहं या अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय (अनाहत नाद), अनिर्वचनीय रमणीय दर्शन तथा 'मूकास्वादनवत्—ब्रह्मानन्द' इन सभी में व्याप्त रहती है।

---

१. अग्नि. पु. का. भा. पृ. ४५।
२. अग्नि. पु. का. भा. पृ. ४५-४६।
३. अग्नि. पु. का. भा. पृ. ४६।

वह चेतना ही ज्ञात या अज्ञात रूप में हमारी रुचि, कुरुचि, अभिरुचि, आकर्षण, विकर्षण, विमुग्धता, मनोज्ञता सभी की प्रेरिका या संचालिका बनी रहती है। उसकी अभिव्यंजनात्मकता ही काव्य या कला की सृष्टि का मूल कारण है। कलाकार उसी चेतना के बल पर सृष्टि करते हैं और सहृदय पान करते हैं। कोरी भावुकता या भाव-चेतना वैयक्तिक या सामाजिक भावात्मक व्यापारों या सम्बन्धों का संचालक या संरक्षक हो सकती है; परन्तु केवल भावुकता काव्य या कला की सृष्टि या भावन में अकेले सहायक नहीं हो सकती अपितु कला-कृति के निर्माण में भाव, और तर्क के साथ-साथ सौन्दर्य-चेतना से भी अधिक रमणीय चेतना का होना आवश्यक है।

सौन्दर्य-चेतना और रमणीय चेतना—इन दोनों में मात्रा, परिमाण और कुछ उद्बोधक उपादानों की दृष्टि से अन्तर विदित होता है। सौन्दर्य-चेतना हमारे सामान्य जीवन के कार्य-व्यापारों और व्यवहारों से सम्बन्ध रखने वाली वह चेतना है जिसने मनुष्य को जंगली से सभ्य, शिक्षित, सुखी, सम्पन्न, व्यवहार-कुशल, व्यवस्था-प्रेमी और शान्तिप्रिय बना दिया है। उसकी नग्नता को दूर भगाकर तथा चर्म और वल्कल वस्त्रों से आगे बढ़ाकर रूई, ऊनी रेशमी और नायलन जैसे पारदर्शी वस्त्रों तक पहुँचा दिया है। उसे गुफा और झोपड़ी से निकाल कर अत्याधुनिक गगनचुम्बी वातानुकूलित भवनों में बसा दिया है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य ने अपने उपयोग और सुविधा के लिये सभ्यता-सम्बन्धी जिन उपयोगी साधनों का विकास किया, उसका सम्बन्ध उसकी सामान्य सौन्दर्य-चेतना से है यह सौन्दर्य-चेतना मनुष्य के आहार-विहार और भोजन में ही नहीं अपितु मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक व्यापारों में भी विकास की क्षमता भरती रही है, जिसे सांस्कृतिक सौन्दर्य-चेतना कहा जा सकता है। यद्यपि यह रमणीय-चेतना की जननी है, किन्तु फिर भी यह सर्वांशतः रमणीय-चेतना नहीं है, क्योंकि सौन्दर्य-चेतना देश-काल और संस्कृति भेद से न्यूनाधिक मात्रा में सभी स्त्री-पुरुष में व्याप्त रहती है। उसे हम सांस्कृतिक सौन्दर्य का मानदंड कह सकते हैं।

किन्तु रमणीय-चेतना आदिम पुरुष के मनमें गुफाया झोपड़ी का निर्माण करनेवाली नहीं अपितु गुफाओं के चित्रों शब्दों और आदि काव्यों की मूल-चेतना है, जो तात्कालीन सहृदयों और ग्राहकों के मुख से यह कहलाने की क्षमता रखती है—

'पश्य देवस्य काव्यस्य न ममार न जीर्यति।'

निश्चय ही प्रथम झोपड़ी का आदि-निर्माता अपनी मौलिकता के चलते

रमणीयचेता हो सकता है, किन्तु उसके बाद उपयोग के लिए निर्माण करनेवाले समस्त निर्माता सौन्दर्य-चेतना से ही अधिक युक्त कहे जा सकते हैं। रमणीय-चेतना में सामान्य-सौन्दर्य, भावुकता, तर्क, (ज्ञान शास्त्रीय और सहज ज्ञान) और मौलिकता इन सभी का अपूर्व या अपेक्षानुपातिक समन्वय रहता है। क्योंकि रमणीयता में निहित मौलिकता ही कवि या कलाकार को प्रजापति या विश्वकर्मा की संज्ञा से विभूषित करती है।

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः'।

पश्चिमी विचारकों ने रमणीय चेतना को संवेदन और तर्क (reason) का मिलनबिन्दु माना है।[1] परन्तु रमणीय-चेतना की मुख्य विशेषता यह है कि वह स्रष्टा पक्ष की अपेक्षा ग्राहक पक्ष में अधिक स्थित रहती है। कला स्रष्टा में भी जो रमणीय चेतना विद्यमान रहती है, वह उसके ग्राहक पक्ष को ही अधिक संवलित करती है; क्योंकि कलास्रष्टा रमणीय चेतना के चलते सर्वप्रथम स्वयं ग्राहक या द्रष्टा होता है और बाद में वह कल्पना, प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञान के योग से सफल स्रष्टा बन जाता है। पर रमणीय चेतना की दृष्टि से वह स्वयं पहले ग्राहक है। कला-स्रष्टा न होने पर भी इसी रमणीय चेतना के चलते ग्राहक कलाव्यसनी, कलापारखी, कलाद्रष्टा या रमणीय-चेता हो जाता है। व्यक्तिगत समता के अनुरूप रमणीय चेतना भी समस्त विश्व के प्रबुद्ध प्राणियों में मिलती है। रमणीय चेतना की न्यूनाधिक मात्रा के अनुरूप कलापारखी भी विशिष्ट या सामान्य विभिन्न प्रकार के दीख पड़ते हैं। इस प्रकार रमणीय चेतना कलाकार की कला-सृष्टि को प्रेरित करनेवाली तथा कलाकृति की आत्मा के रूप में उपस्थित रहने वाली वह मूल सौन्दर्य-चेतना है, जो ग्राहक के अचेतन मन को भी अपूर्व रमणीय उद्भावनाओं से परिपूर्ण किए रहती है। रमणीय चेतना अमर कला-कृतियों की प्राणवत्ता के रूप में उपस्थित दीख पड़ती है। अनेक युगों में साहित्य एवं कला के प्रतिमान निश्चय ही अपने आन्दोलित चक्र से उसे कंपित कर देते हैं; किन्तु फिर भी रमणीय चेतना प्रबुद्ध होकर कभी भी कलाकृति के रमणीय रसास्वाद को अजस्र रूप से प्रवाहित करने में पूर्ण सक्षम रहती है।

रमणीय समानुभूति

रमणीय रस का सापेक्ष सम्बन्ध कर्त्ता, कृति और सहृदय से रहा है। देखना यह है कि वह कौन सा तत्त्व है, जो इन तीनों के पारस्परिक

---

१. हि. एस्थे. पृ. २६५।

सम्बन्ध में एकरूपता स्थापित करता है, जब हम ऐन्द्रिय रस का अनुभव करते हैं, उसी समय अपनी आकांक्षाओं द्वारा संमूर्तित प्रयोजन की भावना का भी अनुभव करते हैं। ऐन्द्रिक रस अकस्मात् विभाजित और बिखरे हुए नहीं होते, बल्कि प्रशिक्षण और अभ्यास के द्वारा वे हम में प्रत्यक्षीकरण की योग्यता उत्पन्न करते हैं। हम केवल एकमात्र रसात्मक रूप के प्रति सचेतन नहीं होते, प्रत्युत प्रकृति के समस्त औपचारिक क्रम के प्रति होते हैं। औपचारिक क्रम (formal order) की यह अनुभूति उस अत्यन्त तीव्र इन्द्रिय (Internse sense) शक्ति से समाविष्ट रहती है, जिसने उसे प्रबुद्ध किया है।[1] रस्किन के मतानुसार प्राकृतिक क्रम का अध्ययन ईश्वरत्व की ओर उन्मुख करता है। इसी से उसकी दृष्टि में प्रकृति इष्टदेव या व्यक्तिगत ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। सम्भवतः प्रकृति एक चेतन कलाकार है, जिसका लक्ष्य विचारपूर्वक रूप-सौन्दर्य को द्योतित करना है।[2] ऐसा लगता है कि रस्किन ने ऐन्द्रिय सौन्दर्य-बोध और ईश्वरीय सौन्दर्यानुभूति दोनों का सामंजस्य कलानुभूति में करने का प्रयास किया है। परन्तु रोजर फ्रे ने (Essay in Aesthetics में) ऐन्द्रिय सौन्दर्य के रूप में सौन्दर्य-बोध और संवेगात्मक तुष्टि की दृष्टि से सौन्दर्य-बोध के पार्थक्य पर विचार किया है। उसके मतानुसार पहले अर्थ में सौन्दर्य कलाकृतियों में अनुभूत होता है, जहाँ पहले केवल कल्पनात्मक जीवन के प्रत्यक्षीकृत रूप ही व्यवहृत होते हैं। दूसरे अर्थ में सौन्दर्य कुछ अतीन्द्रिय हो जाता है और उसका सम्बन्ध संवेग के रसात्मक औचित्य और तीव्रता से हो जाता है।[3] यों रमणीय सहानुभूति कर्त्ता, कृति और ग्राहक में समवाय सम्बन्ध स्थापित करती है। इसीसे तेदोरलिप्स कलात्मक सौन्दर्य को समानुभूतिक मानता है। उसके मतानुसार समानुभूति का विषय हमारा विषयीभूत मन है, जो परस्पर आरोपित होने के कारण विषयों में अपने को खोज लेता है। हम प्रायः दूसरों में अपने को अनुभव करते हैं और अपने में दूसरों को अनुभव करते हैं। दूसरों के चलते हम प्रसन्न, उन्मुक्त, व्यापक, उन्नतर या इन सभी के विपरीत अनुभव करते हैं। रमणीय सहृदयात्मक अनुभूति (The Aesthetic feeling of sympathy) या रमणीय समानुभूति रमणीय आनन्द का केवल एक प्रकार ही नहीं है। अपितु अपने आप में स्वयं आनन्द हैं। अनुभूति की चरम सीमा पर समस्त रमणीय रसास्वादन व्यष्टि या समष्टि (सम्भवतः साधारणीकृत) दोनों रूपों से समानुभूतिक हो जाता है।

---

१. इमेज एक्सपी. पृ. १६५। २. इमेज एक्सपी. १६६।
३. इमेज एक्सपी. पृ. १६४।

यहाँ तक कि ज्यामितिक, वास्तुकलात्मक (Architectonic), स्थापत्यात्मक (Tectonic), मृत्तिकापरक (Ceramic) या रूप और रेखा में भी निहित है। जब भी हम किसी कला में व्यक्तित्व का दर्शन करते हैं (मनुष्य के दोषों का नहीं अपितु कुछ ठोस मानवीयता का), तो वह हमारे अपने जीवन की सम्भावनाओं और प्रवृत्तियों तथा महत्त्वपूर्ण व्यापारों में सांगत्य लाती और गुञ्ज या कुहुक उत्पन्न करती है।[१] इस प्रकार तेदोरलिप्स ने रमणीय समानुभूति को विशुद्ध रमणीय परिवेश में ग्रहण किया है। क्योंकि वह कला को मानवीयता की दृष्टि से विशुद्ध और स्वतंत्र देखने का पक्षपाती है।[२] जब कि ह्यूम जैसे पूर्ववर्ती विचारक रमणीयानुभूति में उपयोगिता को अधिक महत्त्व देते थे।[३] यद्यपि विशुद्ध रमणीय समानुभूति के क्षेत्र में नैतिकता या उपयोगिता को ही एक मात्र निकष नहीं माना जा सकता, क्योंकि रमणीय रसास्वादन इनसे किंचित् सम्बद्ध होता हुआ इनसे परे का भी आस्वादन है। जिसे हम अधुना मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यवेत्ताओं की भाषा में 'रमणीय बिम्ब' की समानुभूति कह सकते हैं। कार्लग्रूस ने रमणीय व्यापार (Aesthetic activity) के सैद्धान्तिक पहलू पर विचार करते हुए बताया है कि धारणा और संवेदन के मध्य में बुद्धि, प्रातिभज्ञान, कल्पना इत्यादि के योग से विभिन्न स्तरों के बिम्बों का निर्माण होता है। यह बिम्ब संवेदन की तरह पूर्ण है, किन्तु धारणा की तरह क्रमबद्ध है। इनमें न तो प्रथम की अक्षय मसृणता है न दूसरे का सूखा कंकाल।[४] अतः कार्लग्रूस इन दोनों के मध्य में उस बिम्ब का कोई रूप मानता है। निश्चय ही कर्त्ता एवं भावक में निहित वह रमणीय समानुभूति है, जो इनकी क्षमता के अनुरूप बिम्ब निर्माण करती है। रमणीय समानुभूति कर्त्ता कृति और भावक में जिसके द्वारा सम्बन्ध-स्थापना करती है—वह रमणीय बिम्ब है। क्योंकि वस्तु की संवेदना के द्वारा सर्वप्रथम कर्ता में बिम्ब का निर्माण होता है, जो कलाकृति में बिम्ब-प्रतिमा का रूप ग्रहण कर लेता है। यहाँ बिम्ब-प्रतिमा से मेरा तात्पर्य स्थायी बिम्बों के निर्माण से है; क्योंकि कलाकृति में भी बिम्ब का प्रतिबिम्ब स्थाई बिम्ब का स्वरूप धारण कर लेता है। जब वही बिम्ब ग्राहक में प्रतिबिम्बित होता है, तो प्रारम्भ में प्रतिबिम्बित होने पर भी बिम्ब की रमणीयता या अभिरामता के अनुरूप एक स्थायी बिम्ब का रूप धारण

---

१. एस्थे. पृ. ४०७। २. एस्थे. पृ. ४०७।

३. हि. एस्थे. पृ. १७९ 'यद्यपि ह्यूम की वह उपयोगिता भी एक प्रकार की रमणीय उपयोगिता है। ४. हि. एस्थे. पृ. ४०८।

कर लेता है। यही अवस्था रमणीय समानुभूति की अवस्था है, जो कर्ता, कृति और ग्राहक को समानान्तर भावभूमि पर उपस्थित करती है। भावक की क्षमता के अनुरूप रमणीय समानुभूति के भी कतिपय सोपान होते हैं। उनके प्रभाववश बिम्बीकरण की प्रक्रिया बिम्बों को कभी तद्वत्, कभी आंशिक, कभी आभासात्मक और कभी केवल महत्त्वपूर्ण अंशों को ही—चिरकाल तक या क्षणस्थायी मानस-पट पर अवस्थित रख पाती है। जिसके फलस्वरूप बाद में चलकर बिम्ब की स्थिति उस पराग या गंध की तरह हो जाती है, जो क्रमशः उड़ता-जाता है, वैसे ही बिम्ब की बिम्बवत्ता भी अन्य विचारों के थपेड़े खाकर क्रमशः क्षीण होती जाती है; और अन्त में आलम्बन बिम्ब का केवल धारणा बिम्ब मात्र ही रह जाता है। कभी-कभी तो वह धारणा-प्रतीक का रूप धारण कर लेता है और उसकी बिम्बवत्ता प्रायः समाप्त सी हो जाती है। ऐसा लगता है कि रमणीय समानुभूति की प्रक्रिया निरन्तर परिवर्तित होने वाली संवेग, संवेदन और चिन्तन मिश्रित प्रक्रिया है, जिससे बिम्बानुभूति में क्षण-क्षण परिवर्तन नवनवोन्मेष दोनों सन्निहित रहते हैं। किसी रमणीय वस्तु का बिम्ब धारणा बिम्ब से लेकर रमणीय बिम्ब तक के निर्माण-काल में, क्षण-क्षण परिवर्तित नवनवोन्मेष क्रिया पर ही आधारित रहती है, जो उसे रमणीय आलम्बन-बिम्ब के रूप में ढाल देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि (महिमभट्ट की भाषा में) सहृदयत्व रमणीय समानुभूति का मूल कारण है।[1] रहस्यानुभूति की तरह यह सहृदय के मन में होने वाली वह आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है, जिसमें भावना और चर्वणा जैसे अभ्यासगत व्यापारों का प्राधान्य होता है।[2]

रमणीय समानुभूति और प्रत्यभिज्ञान

परन्तु हेगेल और अभिनव गुप्त दोनों ने रमणीय समानुभूति को प्रत्यभिज्ञानात्मक माना है। हेगेल के कथनानुसार मन, जो आंतरिक ढंग से अपनी सार्वभौमिकता को जानता है, वह बाह्य आकारों में आच्छादित कलाकृतियों में पुनः अपने को पहचानता है।[3] किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान परम सत्य का बोध नहीं कराता बल्कि कलाकृति के रूप में मूल रूप का उपस्थापक एक अनुकृति मूलक क्रिया व्यापार का द्योतन करता है। नाटकों के प्रदर्शन में भी रमणीयानुभूति प्रदर्शनात्मक होती है, क्योंकि प्रेक्षक 'नाट्यकर्ता' में मूल ऐतिहासिक चरित का प्रत्यभिज्ञान करता है। जहाँ हेगेल यह मानता है कि कलाकृति अपने आप से कुछ परे की ओर संकेत

१ इन एस्थे. पृ. ३३९। २. इन. एस्थे. पृ. १६४। ३. कम्प. एस्थे. पृ. ३५९।

करती है, इस कथन को हम भारतीय विचारकों द्वारा मान्य अलौकिक अनुभूति के समानान्तर स्वीकार कर सकते हैं। हेगेल और अभिनवगुप्त दोनों के अनुसार रमणीयानुभूति में विषय और विषयी दोनों का साधारणीकरण हो जाता है।[1] यों प्लेटो की तरह रमणीयानुभूति में हेगेल भी कला को बीच का आधार मानता है, जिसमें एक ओर तो कलावस्तु का प्रत्यक्ष-बोध है और दूसरी ओर उसका विशुद्ध विचारात्मक आदर्श ज्ञान।[2] हेगेल के अनुसार सामान्य मानवता के जागतिक भाव ही कला के शाश्वत विषय हो सकते हैं। सार्वभौमिक होने के कारण वे परम के ही व्यक्त रूप हैं। अतः उसकी दृष्टि में कला परम सत्य की ऐन्द्रिय उपस्थापना है।[3] अवतारवादी विचार-धारा भी इसी सत्य का परिद्योतन करती है। भारतीय अवतार वस्तुतः ब्रह्म की ही कलात्मक अभिव्यक्ति हैं, जिनके कलात्मक रूपों का विकास भारतीय साहित्य और कला में प्रचुर मात्रा में हुआ है। हेगेल ने उच्चतम त्रयी (कला, धर्म, दर्शन) के प्रत्यक्ष रूप को वाद (Thesis) कहा है जिसका धर्म में समन्वय (Synthesis) होता है, और दर्शन में प्रतिवाद (antithesis) हो जाता है।[4] हेगेल की कलानुभूति और अवतारवादी अनुभूति में भी बहुत कुछ नैकट्य है; क्योंकि वह यह मानता है कि भावक आत्मभावन का आत्मनिष्ठ पक्ष है। यह उपादानों को ग्रहण करता है और इस प्रकार अनुभव करता है, जैसे वे उसके अपने हों। भक्त भावक भी आविर्भूत सत्ता में ब्रह्मानुभूति का भावन अपनत्व भाव से ही करता है। अतः हेगेल और अभिनवगुप्त के विचारों से यह निष्कर्ष, अवतारानुभूति के समानान्तर स्पष्ट निकलता है कि रमणीय अनुभूति वस्तुतः जीव या कला में ब्रह्म का प्रत्यभिज्ञान है।

आलम्बन वस्तु को रमणीय रस का उपजीव्य बनाने में प्रत्यक्षीकरण या वस्तुबोध के अतिरिक्त अनुभूति और प्रत्यभिज्ञान का भी विशेष हाथ रहता है। क्योंकि नयी वस्तु और नए पात्र की अपेक्षा, ख्यातवृत्त-इतिहास-सिद्ध पात्र रमणीय समानुभूति में अधिक ग्राह्य सिद्ध होते हैं। इसका मूल कारण यह है कि ख्यातवस्तु जब आलम्बन वस्तु के रूप में गृहीत होती है, उसको रमणीय बिम्ब-रूप में प्रस्तुत करने में संस्कारगत ज्ञान के अतिरिक्त स्मृत्यनुमोदित प्रत्यभिज्ञान का योग रहता है। स्मृत्यनुमोदित प्रत्यभिज्ञान आलम्बन वस्तु के पूर्वानुभूत धारणा-बिम्ब को नई कल्पनाओं तथा उद्दीपन

---

१. कम्प एस्थे. पृ. ३५९।

२. कलाकृति के लौकिक और अलौकिक दो प्रकार के ज्ञान माने जाते हैं।

३. कम्प. एस्थे. पृ. ३६२। ४. कम्प. एस्थे. पृ. ३६२।

उपादान हो सकते हैं। इसी से आलम्बन वस्तु की अनुभूति जो वस्तुतः उसके धारणा-बिम्ब की अनुभूति है, केवल बोधात्मक या धारणात्मक अनुभूति तक ही सक्षम हो सकती है; जब कि आलम्बन-बिम्ब की अनुभूति आलम्बन बिम्ब की गुणात्मक और मात्रात्मक पूर्णता के अनुरूप कला-पारखी अथवा काव्य-मर्मज्ञ भी सौन्दर्य वृत्ति या रमण वृत्ति की क्षमता के अनुसार सौन्दर्यानुभूति या रमणीयानुभूति है।

गुणात्मक या मात्रात्मक परिपूर्णता या सौन्दर्यवृत्ति या रमणवृत्ति की तीव्र संक्रमणशीलता के अभाव में अनुभूति के स्थान में वह केवल सौन्दर्य-बोध मात्र (नयी कविता के सदृश) ही करा सकती है। अनुभूति की इस दशा में सहृदय व्यापार का नितान्त अभाव-सा बना रहता है। इस कोटि के पाठकों में भावात्मक संवेगों के स्थान में केवल विचारोत्तेजन का प्राधान्य हो जाता है। इस प्रकार रमणीय समानुभूति कृति एवं ग्राहक के अनुरूप कभी भावात्मक संवेगों से अनुप्राणित रहती है और कभी विचारोत्तेजना से।

विश्वातीत रमणीय समानुभूति :—

समानुभूति की उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त एक अवस्था विश्वातीत या सर्वातिशायी अनुभूति की भी दृष्टिगोचर होती है। भारतीय विचारक रमणीय अनुभूति को स्थायी मनोदशा मानते हैं।[1] किन्तु शापेन हावर ने रमणीय अनुभूति को प्रत्यय की अनुभूति कहा है—वह सभी सम्बन्धों से मुक्त इच्छा की तात्कालिक अभिव्यक्ति है।[2] यह अवस्था तब आती है, जब ज्ञान इच्छा की सेवा से मुक्त हो और सहृदय सभी प्रकार के वैयक्तिक तत्वों से मुक्त हो। इसलिए यह विश्वातीत अनुभव है। दिक्, काल और कारण मानव बुद्धि के रूप हैं, जिनके बल पर प्रत्येक प्रकार (प्रत्यय) की एक सत्ता, जो सचमुच एकमात्र सत्ता है, अनेक समान सत्तायुक्त रूपों में स्वयं व्यक्त होती है, और लगातार क्रमशः असंख्य बार प्रकट और अप्रकट होती रहती है। प्रज्ञात्मक रूपों के द्वारा आलम्बन वस्तु का सहज बोध अन्तरस्थ ज्ञान है, किन्तु वस्तु का वह सहज बोध, जो इन रूपों को बहिरस्थ कर देता है, वह विश्वातीत ज्ञान है।[3] अतएव शापेनहावर के मतानुसार यह विश्वातीत ज्ञान तब उपलब्ध होता है, जब कला-पारखी स्वयंप्रकाशज्ञान के द्वारा किसी सुन्दर कलाकृति का चिन्तन करता है। इस प्रकार कलाकृति के प्रति जो धारणा बनती है, वह वस्तुतः कलाकृति के प्रति बनने वाली धारणा है, जिसकी रमणीय समानुभूति की प्रक्रियाकाल में सहृदय का

१. इन एस्थे. पृ. १०३। २. कम्प. एस्थे. पृ. ४७८।

३. कम्प. एस्थे. पृ. २७८।

निर्वैयक्तिकरण हो जाता है। शापेनहावर के इन कथनों से स्पष्ट है कि उसने जिसे विश्वातीत अनुभूति कहा है वह वस्तुतः अपने ऐन्द्रिय संवेदन से परे उन्मुक्तावस्था की रमणीय समानुभूति ही है।

ब्रह्मानन्द और समानुभूति

वेदान्तियों के अनुसार अविद्यामाया के आवरण के चलते ब्रह्म या आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं होता, जीव रजोगुणी अवस्था में भोगासक्त अर्थात् ऐन्द्रिक बना रहता है। अविद्या माया के आवरण का भेदन होने पर सत्त्व-गुणी अवस्था में द्रष्टा आत्म-स्वरूप का दर्शन करता है—या अपने आवरण-हीन आत्म-स्वरूप को पुनः पहचान लेता है, जो ब्रह्मानन्द या आत्मिक आनन्द का कारण है। यह आनन्दावस्था भी वस्तुतः अतीन्द्रिय आनन्दावस्था ही है इसकी भावन-प्रक्रिया में उद्दीपन विभावों, संचारी भावों और अनुभावों का योग नहीं होता, सम्भवतः इसी से यह समाधि या तुरीयावस्था का भी कारण है।[1] आत्म-स्वरूप जब तक अविद्यामाया के आवरण में है, तभी तक वह आलम्बन वस्तु (Objective) है, किन्तु विद्यामाया के द्वारा उसका प्रत्यभिज्ञान या पुनः पहचान, उसके आलम्बनत्व को दूर कर उसके आश्रयत्व को (आत्मनिष्ठ बनाकर) प्रतिष्ठित करता है। इस प्रक्रिया में आलम्बन (आत्मा) का आश्रय-रूप में गृहीत होना और ज्ञाता आश्रय का उत्तरोत्तर अपने अहं को विसर्जित कर दोनों का एकात्म हो जाना ही ब्रह्मानन्द का मूल रूप समझा जाता रहा है; जैसा कि शैवों के 'अहमिदम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि', 'ब्रह्म-वेद ब्रह्मैव भवति' 'तत्वमसि' 'जानहि तुमहि तुमहि होइ जाई' में आलम्बन आश्रय (objective subject) और ज्ञाता आश्रय (knower subject) की ही एकता लक्षित होती है। ऐसा लगता है कि इस स्थिति में समानुभूतिक प्रक्रिया जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, बल्कि वह केवल दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान की क्रिया को चरितार्थ करती है जहाँ जीव अपने सत्यस्वरूप शिव को जान कर शिव हो जाता है।

रसानन्द और समानुभूति

परन्तु रसानन्द में आश्रय और आलम्बन एक दूसरे में लय नहीं होते।[2]

---

१. रस गं. पृ. ९०। रसगङ्गाधर कार के अनुसार श्री ब्रह्मानन्दास्वाद आलम्बन विषय-विहीन शुद्ध आत्मानन्द जिसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि व्यापार निहित हैं।

२. इन एस्थे पृ. १०८ यों आश्रय का निर्वैयक्तिकरण पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों विचारक मानते हैं।

आश्रय और आलम्बन के बीच में प्रायः उद्दीपन अनिवार्य ही होता है।[1] यद्यपि आलम्बन और आश्रय में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। ब्रह्मानन्द में आश्रय, आलम्बन आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप का द्रष्टा होता है भोक्ता नहीं। परन्तु रसानन्द में आश्रय आलम्बन का द्रष्टा नहीं भोक्ता होता है। क्योंकि साधारणीकृत अवस्था में रस-चर्वणा-व्यापार भारतीय विचारक मानते हैं।[2] इस दशा में आलम्बन के प्रत्यभिज्ञान की क्रिया मुख्य न होकर गौण रहती है, क्योंकि आलम्बन द्वितीय व्यक्ति के रूप में केवल दृश्य नहीं अपितु आस्वाद्य रहता है। इस प्रक्रिया का काव्यात्मक वर्णन उपनिषदों में देखा जा सकता है। जहाँ यह कहा गया है कि 'प्रारम्भ में मैं एक ही था; आनन्द के लिए एक से दो (पुरुष और स्त्री) हो गया'[3]—उसमें आश्रय और आलम्बन की द्वैत सत्ता की अनिवार्यता का रहस्य रसानन्द की दृष्टि से स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। सम्भवतः इसी से उपनिषदों में 'मैं ही रस हूँ' ऐसा नहीं मिलता। उसका रसस्वरूप सदैव तृतीय पुरुष में (रसो वै सः) आता है। एतएव रसानन्द में रसस्वरूप आलम्बन ब्रह्म सदैव 'वह' ही रहता है। वह कभी 'मैं' नहीं होता। इस परम्परा में आने वाला रसानन्द का चातक भक्त अपने भगवान को सदैव आलम्बन के रूप में ही देखने का अभिलाषुक रहता है; जो गोस्वामी तुलसीदास की 'जन्म जन्म सियराम पद मोहि वरदान न आन' जैसी अभिलाषाओं में व्यक्त होता रहा है। यद्यपि अभिनव गुप्त रमणीयानुभूति में आश्रय और आलम्बन की एकता के प्रतिपत्ती हैं;[4] किन्तु साहित्य एवं कला की अपेक्षा ऐसा दर्शन में ही अधिक सम्भव है। अवतारवादी साहित्य एवं कला की अभिव्यक्ति जिस भक्ति की रसवत्ता से अनुप्राणित होती रही है, वह भक्ति अपने भक्त में अजस्र स्रोत अक्षुण रखने के लिए आविर्भूत या अभिव्यक्त भगवान् को सर्वदा आलम्बन रूप में ही पाने की अपेक्षा रखती रही है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द में आश्रय का आलम्बन में विसर्जन और रसानन्द में आलम्बन का सदैव पृथक् अस्तित्व में होना—इन दोनों में स्पष्ट अन्तर द्योतित होता है।

विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म, ब्रह्मानन्द के लक्ष्य हो सकते हैं, रसानन्द के नहीं। रसानन्द में उनका आविर्भूत रूप ही जो सेन्द्रिय और संवेद्य है, जो दृश्य और भाव्य है, गृहीत हो सकता है। अतएव साहित्य और कला जो आश्रय और आलम्बन की अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखते हैं—आविर्भूत, व्यक्त

१. रस. गं. पृ. ९३। २. रस. गं. पृ. ९०। ३. बृ. उ. १, ४, ३।
४. इन. एस्थे. पृ. १०८ में विशेष द्रष्टव्य।

और प्रकट आलम्बन ही उनका उपजीव्य हो सकता है। किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति में बिल्कुल अचिंत्य का रूपांकन और कल्पनातीत की कल्पना दुरूह ही नहीं असम्भव जैसी लगती है। यदि उसके अस्तित्व को स्वीकार भी कर लिया जाय तो साहित्य एवं कला की रसवत्ता, भावुकता और रमणीयता की दृष्टि से अभिव्यक्तिगत गुणों और मात्राओं से युक्त होकर तथा ऐंद्रिय और संवेद्य होकर ही वे ग्राह्य हो सकते हैं। मात्रा, गुण और वैशिष्ट्य के बिना कलाभिव्यक्ति में उनकी धारणा (Concept) का निर्माण कठिन है; और साधारण प्रतीक के अभाव में यों तो दर्शन में भी किसी प्रकार का चिन्तन सम्भव नहीं है, किन्तु साहित्य एवं कला में तो उनकी चिन्तना, कल्पना और सृष्टि ही नितान्त दुरूह है।

सामान्य अनुभूति और रमणीय कलानुभूति

सामान्य अनुभूति दैनिक वातावरण की प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होती रहती है। उसमें ऐन्द्रिक, सुखात्मक या दुःखात्मक जीवन के बोध अनुस्यूत रहा करते हैं, किन्तु रमणीय कलानुभूति वह निर्वैयक्तिक (Deindividualised) अनुभूति है, जहाँ भोक्ता अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त होकर किसी कला कृति विशेष का अनुभव करता है। सामान्य अनुभूति में प्रत्यक्ष-बोध का प्राधान्य होता है, जबकि रमणीय अनुभूति में प्रत्यक्ष-बोध और उससे प्रेरित अन्य कलात्मक बोधों का विशेष योग होता है। रमणीय अनुभूति को हम कला के माध्यम से आत्मगत साक्षात्कार कह सकते हैं। धार्मिक चिंतन में भी जब एक पूजक विष्णु की मूर्ति का आलम्बन वस्तु के रूप में चिंतन करता है, उस स्थिति में वह आलम्बन मूर्ति केवल स्थूलमूर्ति मात्र नहीं होती, अपितु उसके भावों की मूर्ति हो जाती है। अपितु वह मूर्ति के स्वरूप का नहीं अपितु भाव-मूर्ति (इमैगोडेयी) का बिम्बग्रहण करता है। वह मूर्ति केवल विष्णु की अनुकृति मात्र नहीं है, अपितु प्रेक्षक की समस्त रमणीय वासनाओं से अनुप्राणित उसकी रमणीय कलानुभूति को इतरलोक में पहुँचाने वाली साधन-वस्तु है। इस दृष्टि से रमणीय कलानुभूति की दो सीमाएं दृष्टिगत होती हैं—एक तो वह, जहाँ उपास्यवादी क्षेत्र में कलानुभूति भक्ति-साधना का साधनमात्र है। इस क्षेत्र में जिन अवतारों की मूर्तियाँ गृहीत होती हैं वे भक्त की व्यक्तिगत साधना के केन्द्र वैयक्तिक उपास्य होते हैं। इस साधना में वैयक्तिक उपास्य-रूप का इतना अधिक प्रभुत्व होता है, कि भक्त प्रायः अपने इष्ट के रूपों को केन्द्र मानकर उसके रूप को (आत्मरूप के रूप में) समस्त विभिन्न रूपों में देखता है। यह

उपास्यवादी क्षेत्र की वह कलानुभूति है जो विशुद्ध 'स्वान्तःसुखाय' है। इसके अतिरिक्त अवतारवादी कलानुभूति का एक दूसरा क्षेत्र भी है, जहाँ वह विशुद्ध साहित्य एवं कला के रूप में स्वयं साध्य है। जहाँ अवतार-मूर्तियों की कलानुभूति विभिन्न भावों और रसों से आपूरित होकर की जाती है। इस दृष्टि से दशावतारों की मूर्तियाँ विभिन्न भावानुभूतियों के विशिष्ट आलम्बन रूपों में दृष्टिगत होती हैं। विभिन्न रसात्मक रूपों में उनको निम्न प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है—

प्राचीन रस	रमणीय अवतार बिम्ब
श्रृंगार	कृष्ण
वीर	राम, कल्कि
रौद्र	परशुराम, नृसिंह
हास्य	वामन
अद्भुत	मत्स्य, कूर्म
भयानक	वराह
शान्त	बुद्ध

अवतारवादी सौन्दर्य-चेतना उपास्यवादी अधिक होने के कारण अवतार-मूर्तियों के बीभत्स रूप का बहिष्कार करती रही है। अतएव उनकी कोई भी मूर्ति बीभत्स का भाव नहीं उत्पन्न करती। इसके अतिरिक्त सर्वशक्तिमान ब्रह्म का आविर्भूत रूप होने के कारण अवतारों के जीवन में करुण प्रसंगों के होते हुए भी उनके समस्त अवतारपरक व्यक्तित्व की परिचायिका कोई करुण मूर्ति नहीं दृष्टिगत होती। इसका मुख्य कारण यह है कि समस्त अवतार-रूपों का प्रयोजन करुण-स्थिति का विनाश कर जन-जीवन में नए उत्साह और नयी चेतना का संचार करना रहा है। अवतारवादी उपास्यों का 'करुणायतन' रूप भी करुणानुभूति का द्योतक नहीं अपितु करुण-दशा को द्रवित कर नयी-स्फूर्ति-प्रदान करने वाली स्थिति का सूचक है। महाकरुणा से युक्त बुद्ध भी दयनीय अवस्था के विनाशक रहे हैं, जैसा कि प्रायः अवलोकितेश्वर जैसे से महाबोधिसत्वों के संकल्पों से विदित होता है। इस प्रकार अवतारों की विविध मूर्तियों और उनके लीला-आख्यानों में हम विविधात्मक रमणीय कलानुभूति का दर्शन करते हैं, जो स्वयमेव साध्य है।

रमणीय बिम्बोद्भावना

साहित्य एवं कला की अन्य निर्मितियों की तरह अवतारवादी कलानुभूति विविध अवतारों एवं अवतार-रूप में मान्य पुरुषों की कलात्मक अभिव्यक्ति पर

मुख्य रूप से आधारित रही है। यों सामान्य कला-कृति के निर्माण में कवि या कलाकार जिन गुणों की अपेक्षा रखते हैं, उनमें रमणीय बिम्बोद्-भावना का सर्वप्रमुख स्थान है। संवेदनशील एवं मर्मग्राही कलाकार प्रायः सभी दिशाओं से बटोर कर अनेकशः छवियों एवं बिम्बों का कोश अचेतन में संचित रखता है। अनेक वस्तुओं और पदार्थों से सजी हुयी दूकान की तरह या विविध प्रकार की मूर्तियों, चित्रों, मरे हुए पशु-पक्षी, पौधों के संग्रहालय के सदृश उसके पल्लवग्राही मन में लघु या बृहत्, वर्तुल या लम्बे, सुखद या दुखद अनेक रूपों वाले बिम्बों का कोश उसके मन में ज्ञात या अज्ञात या किंचित् ज्ञात रूपों में विद्यमान रहता है। इन मार्मिक छवियों के एकत्रीकरण के निमित्त मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार से उसे प्रायः एकोन्मुख होकर भ्रमण करना पड़ता है। वह अनेक गावों, नगरों, शहरों और देश-विदेशों में तथा जंगल, समुद्र, नदी, पर्वत, प्रपात या ऐतिहासिक स्मारकों और भग्नावशेषों में घूम कर प्राकृतिक, प्रादेशिक, आदिमजातीय, वैयक्तिक और सामाजिक दृश्यों और छवियों के बिम्ब अचेतन मानसकोश में संचित किए रहता है। दूसरी ओर मानसिक दृष्टि से स्थानीय, राष्ट्रीय, विदेशी, धार्मिक, पौराणिक, आख्यानात्मक, इतिवृत्तात्मक, राष्ट्रीय या जातीय महाकाव्य, काव्य, नाटक या कथा-कृतियों के अध्ययन द्वारा, उनमें रूपांकित घटनात्मक, (युद्ध, संघर्ष, प्रकृति-वर्णन, महाप्रलय, महामारी, अकाल, अग्निकांड इत्यादि का) या पात्रात्मक कलातत्वों के बिम्ब भी एकत्रित करता रहता है। इस प्रकार मानस-शब्द-कोश की तरह उसका चिरसंचित बिम्बकोश भी अनुकृत या मौलिक कलाकृतियों की सृष्टि में विशिष्ट योगदान करता रहता है। जिस प्रकार चिन्तक और दार्शनिक अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए अपने संचित विचारणा-कोश के शब्दकोशों के माध्यम से व्यक्त करते हैं तथा आकलन, विश्लेषण, संश्लेषण, सम्मिश्रण, समन्वय या विवेचन के द्वारा भावोद्भावना या विचारोद्भावना करते हैं, उसी प्रकार कलाकार भी अपने बिम्बकोशों की एकत्रित राशि से मौलिक कलाकृति की सर्जना के लिए नूतन बिम्बोद्भावना करते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उसकी बिम्बोद्भावना का मूल आलम्बन क्या है? निश्चय ही जिस कलाकृति की रचना का वह संकल्प करता है वह किसी विशिष्ट आलम्बन वस्तु के आलम्बन बिम्ब की तद्वत् अनुकृति होती है या उससे उत्प्रेरित होकर नवोद्भावित होती है। कलाकार उत्प्रेरित अनुकृतिमूलक रचनाओं में भी विशिष्ट आलम्बन बिम्ब को मुख्य आधार रख कर अनेक नए संचित बिम्बों के रमणीय तत्वों को उस पर आरोपित करने

का प्रयास करता है। उसकी कृति मूल आलम्बन बिम्ब का आलम्बनत्व ग्रहण करते हुए भी अनेक बिम्बों की सौन्दर्य-राशि से अलंकृत हो जाती है। परिणामस्वरूप बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया एक प्रकार से सौन्दर्य-निर्माण की प्रक्रिया बन जाती है। इसी से बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया में उसे सम्मात्रा, एकरूपता, सुव्यवस्था, औचित्य, विविधता, जटिलता, संगति, आनुगुण्य, संयम, व्यंजना, स्पष्टता, मसृणता, कोमलता, वर्ण-प्रदीप्ति[1] इत्यादि का मन ही मन अनुचिंतन करना पड़ता है। प्रजापति अपनी सृष्टि (सरस्वती) पर जैसे स्वयं मुग्ध हो गए थे वैसे ही कलाकार भी अपनी नव्य नूतन बिम्बोद्भावनाओं पर मुग्ध हुआ करता है। बिम्बोद्भावना की प्रस्तुत प्रक्रिया में बिम्बकोश का रमणीय अंश ही संन्निविष्ट होता है, इसी से इस प्रक्रिया को रमणीय बिम्बोद्भावना कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

भक्त कवियों की रमणीय बिम्बोद्भावना पुराणों से गृहीत अवतारवादी बिम्बों की सञ्चित राशि से निर्मित समयुगीन अवतार-कृतियों के रूप में वस्तुतः रमणीय बिम्बोद्भावना की क्रिया है। पुराणों में इस प्रक्रिया को बड़े अनोखे ढंग से व्यञ्जित किया गया है। पुराणों में वर्णित 'तिलोत्तमा' नाम की सुन्दरी अप्सरा की कथा में कहा गया है कि उसका निर्माण संसार की सुन्दरतम वस्तुओं के तिल-तिल भर उत्तम अंशों से हुआ था। इसी से तिलोत्तमा अत्यन्त सुन्दरी थी। यदि इस कथा का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि कलाकारों या साहित्यकारों द्वारा रमणीय बिम्बकोश की सर्वोत्तम राशि से निर्मित होने वाली यह रमणीय बिम्बोद्भावना की विशेष प्रक्रिया है। अयाचित या अनायास ढङ्ग से व्यक्त होने वाले रमणीय बिम्बों में अचेतन मनमें पूर्वसञ्चित राशि का सर्वोत्तम अंश परिकल्पनात्मक प्रक्रिया द्वारा मिलकर नये बिम्ब की उद्भावना किया करता है। मध्यकालीन भक्तों में अवतारों की भाव-प्रतिमाओं के द्वारा उन्हें कलात्मक बिम्ब रूप में प्रस्तुत करने की विशेष प्रकृति रही है। उपास्य-उपासक सम्बन्ध भाव से भक्त कवियों एवं कलाकारों ने अवतारी उपास्योंको राजा, सम्राट्, दानी, आश्रयदाता रक्षक जैसी बिम्ब-प्रतिमाओं में व्यक्त किया। वहाँ स्वयं उनके बिम्ब भी उनके वैयक्तिक आत्मनिवेदनपरक व्यक्तित्व में व्यञ्जित होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त भक्त कवियों ने अवतारों की अवतार-लीलाओं को अपना उपजीव्य बनाकर नव्य-नूतन बिम्बों से भर दिया है। हेगेल कलाकृति का उद्गम मानव आत्मशक्ति में मानता है। उसकी दृष्टि में कलाकृति आध्यात्मिक व्यापार का

---

१. सौ. त. भू. पृ.६।

प्रतिफल है। यह केवल बाह्य प्रकृति का स्वाभाविक विकास नहीं है, प्रत्युत कलाकृति कलाकार की सृजनात्मक वृत्तियों के द्वारा स्वरूप ग्रहण करती है।[1]

बिम्बोद्भावना की क्रिया किसी न किसी रूप में प्राचीन आचार्यों द्वारा भी न्यूनाधिक चर्चा का विषय रही है। अभिनवगुप्त ने नाटक की अलौकिक रसात्मकता का स्थापन करते हुये जिन अनुकरण, प्रतिबिम्ब, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया और इन्द्रजाल[2] आदि का उल्लेख किया है, उन सभी का परोक्ष या प्रत्यक्ष सम्बन्ध कला-निर्मिति में बिम्बोद्भावना की विभिन्न प्रक्रियाओं से दीख पड़ता है। इनके पूर्ववर्ती भरत ने रसोत्पत्ति के क्रम में उनसे सम्बद्ध जिन वर्णों और देवताओं का उल्लेख किया है, वे एक प्रकार से रस के ही बिम्बीकरण या बिम्बोद्भावना में आधारभूत उपादान का कार्य करते हैं।[3] क्योंकि वर्णों के साथ मिश्रित विभिन्न देवताओं की ये 'भाव-प्रतिमायें' जो भारतीय संस्कृति, मूर्ति-कला एवं पूजा की विधियों में और लोक-प्रिय पौराणिक साहित्य द्वारा जन-मन-मानस में व्याप्त रही हैं। उनके माध्यम से विभिन्न अदृश्य रसों की बिम्बोद्भावना अधिक सहज ढङ्ग से साकार हो सकी है। प्राचीन आचार्य देव-सृष्टि को संकल्प की देन मानते थे और मानव-सृष्टि को प्रयत्न की।[4] इस उक्ति में देवसृष्टि का सांकल्प्य मनुष्य की उस दिव्य और मानसिक धारणा की ओर संकेत करता है, जो संकल्पात्मक ज्ञान से 'धारणा बिम्ब' का निर्माण करती है। कलाकार या साहित्य-स्रष्टा इन्हीं धारणा-बिम्बों को मूल आधार बनाकर रेखांकित, स्वरांकित या शब्दांकित प्रयत्नों के द्वारा नवीन बिम्बों की उद्भावना में सक्षम होते हैं। रमणीय बिम्बीकरण की प्रक्रिया का एक विशेष उपलक्षण है—सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट का महत्त्व-स्थापन। इस विचारणा की किञ्चित् झलक अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों में दृष्टिगत होती है। उनके कथनानुसार विशेष लक्षण, सामान्य लक्षण के उदाहरण होते हैं, क्योंकि उनमें सामान्य लक्षण का निर्देश किया जाता है। विशेष लक्षण के बिना सामान्य लक्षण को दिखलाया नहीं जा सकता। (निर्विशेषं न सामान्यम्)।[5] अवतारत्व स्वतः सामान्य परमात्मतत्त्व के विशिष्टी-

---

१. कम्प. एस्थे. पृ. ३५८। २. अभि. भा. (हि.) पृ. २६।

३. अभि. भा. (हि.) पृ. ५३०–५३२।

रस—वर्ण—देवता	
शृङ्गार—श्याम—विष्णु—कामदेव	करुण—कपोत—यम
हास्य—श्वेत—शिवगण	वीर—गौर—महेन्द्र
रौद्र—लाल—रुद्र	भयानक—कृष्ण—कालदेव
अद्भुत—पीला—ब्रह्मा	वीभत्स—नील—महाकाल

४. अभि. भा. हि. २८०। ५. अभि. भा. (हि.) पृ. ५३३।

करण की प्रक्रिया है। क्योंकि अवतारों की रमणीय बिम्बोद्भावना (जो सामान्य परमात्म तत्त्व का विशिष्ट रूप है) सामान्य एवं सर्वव्यापी ईश्वर का भी बोध कराने की क्षमता प्रस्तुत करती है। अतएव अवतारवादी अभिव्यक्ति अनेक दृष्टियों से *साहित्य एवं कलाभिव्यक्ति के समानान्तर दीख पड़ती है।* भक्त कवियों एवं कलाकारों ने सर्व-सामान्य प्रतीत होने वाले सर्वेश्वरवादी ईश्वर को विशिष्ट अवतार-रूप में देखने का प्रयास किया। विशिष्ट बिम्बोद्भावना ही वस्तुतः अवतारवत् बिम्बोद्भावना है, क्योंकि पुराणकारों के अनुसार अवतारवत् उद्भावना में अक्षर, सनातन, विभु, चैतन्य, ज्योतिःस्वरूप वेदान्तियों के परमब्रह्म की ही नैमित्तिक उत्पत्ति रसरूप में (सम्भवतः रसो वै सः) के रूप में बतायी गयी है। उसका आनन्द स्वाभाविक है पर उसकी उत्पत्ति कभी-कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य-चमत्कार अथवा रस है। ब्रह्म का आदिम विकार अहंकार कहा जाता है। उसी अहंकार से अभिमान और अभिमान से तीनों लोक की उत्पत्ति मानी जाती है। अभिमान से रति का जन्म होता है (सोऽकामयत), वह रति व्यभिचारी आदि भावों से परिपुष्ट होकर शृङ्गार हुआ।[1] यहाँ ब्रह्मसत्ता को अहं और अभिमान में प्रस्तुत करने का *प्रयास-कलात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म को सामान्य से विशिष्ट* रूप में उपस्थित करना प्रतीत होता है। इसे ब्रह्म की ही रमणीय बिम्बोद्भावना की एक प्रक्रिया कहा जा सकता है। इस प्रकार कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से कलाकार और साहित्यकार दोनों का मुख्य कार्य रमणीय बिम्बोद्भावना है। किसी भी कलाकृति के स्थूल निर्माण के पूर्व उसके मन में कतिपय आत्मनिष्ठ कार्य-व्यापार चलते रहते हैं, प्राचीन या अर्वाचीन चिन्तक उन्हें साहित्यकार या कलाकार की मनोगत शक्ति या क्षमता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रसङ्ग में देखना यह है कि रमणीय बिम्बोद्भावना में वे कौनसी शक्तियाँ है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक होती हैं।[2]

प्रतिभा

कवि या कलाकार की अभिव्यक्ति में रमणीयता-विधान जिन शक्तियों के द्वारा सम्भव है। उनमें प्रतिभा का विशिष्ट स्थान है। क्योंकि उसके महत्त्व की पूर्वी और पश्चिमी, प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी ने किसी न किसी रूप में चर्चा की है। भारतीय विचारकों में कविराज जगन्नाथ प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य कारण मानते हैं, जो काव्योपदान के रूप में अनुकूल शब्द और अर्थ जुटा सके। इस सन्दर्भ में शब्द, भाव इत्यादि की संयोजना में उनके मता-

१. अग्नि. पु. का. शा. पृ. ३७। २. रस. गं. पृ. २५-२७।

नुसार नव नवोन्मेषशालिनी बुद्धि का कार्य रहता है। यह प्रतिभा किसी-किसी देवता अथवा किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता या शास्त्र, काव्य, इतिहास प्रभृति के पर्यालोचन तथा व्युत्पत्ति, निपुणता और अभ्यास से सम्बद्ध है। व्युत्पत्ति, अभ्यास और अदृष्ट ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते हैं।[1] इनसे पूर्व रुद्रट और वामन भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते थे। दंडी, वाग्भट और पीयूषवर्ष ने प्रतिभा व्युत्पत्ति, और अभ्यास तीनों का योग काव्यनिर्मिति में माना है। इनमें दण्डी ने प्रतिभा को नैसर्गिक बताया है। रुद्रट ने सहजा और उत्पाद्या शक्तियों की चर्चा की है। उनकी दृष्टि में जिसकी प्राप्ति होने पर समाधिस्थ मन में अनेक अर्थ स्फुरित होने लगते हैं, कोमल कान्त पदावली दृष्टिगोचर होने लगती है—उसे शक्ति कहते हैं। वामन के अनुसार कवित्व का बीज 'प्रतिभान' है। मम्मट ने लोक-व्यवहार शास्त्राध्यायन, अभ्यास आदि के साथ प्रतिभा को ही सम्भवतः शक्ति के रूप में उल्लेख किया है। वाग्भट के अनुसार प्रतिभा कारण है, व्युत्पत्ति भूषण है, अभ्यास काव्य-रचना में प्रगति है। प्रतिभा उत्पन्न करती है, व्युत्पत्ति सौन्दर्य लाती है। अभ्यास से शीघ्र निर्माण होता है। ये भी प्रतिभा का अर्थ नयी-नयी सूझ मानते हैं। राजशेखर के अनुसार समाधि, मानस और अभ्यास बाह्य प्रयास हैं—ये दोनों मिलकर काव्य-शक्ति प्रकट करते हैं। इनकी दृष्टि में प्रतिभा कारयित्री (सहजा-आहार्या-औपदेशिकी) और भावयित्री दो प्रकार की होती है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय प्राचीन आलोचकों ने प्रतिभा को काव्य की शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। पश्चिमी विचार-धारा के विपरीत पूर्व में काव्य और कला को पृथक्-पृथक् स्थान मिला था इसीसे भारतीय विचारकों ने काव्यमात्र के ही कारणों में प्रतिभा का स्थान माना है। परन्तु प्रतिभा की जो विशिष्ट स्थापनायें उनके द्वारा की गयी हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य के साथ अन्यान्य कला और साहित्य की अभिव्यक्ति के लिये भी प्रतिभा आवश्यक होती है जैसा कि पश्चिमी विचारक मानते रहे हैं अतः सौन्दर्य-विधान या कलाकृति के निर्माण में प्रतिभा बुद्धि की वह क्षमता है, जो नये शब्द, नये भाव और नये बिम्ब का सद्यः स्फुरण कराती है। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में प्रागनुभविक ज्ञान (a Priori Knowledge) जो स्वयंप्रकाश ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान का आदि तत्व है, सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी शक्ति (साहित्य, संसार और समाज तीनों को सूक्ष्म दृष्टि से संवेदनशील होकर देखने की शक्ति) और उद्भावना शक्ति

१. कम्प. एस्थ. पृ. ४५०। हेगेल ने सृजनात्मक कार्य-कलापों के कल्पना, प्रतिभा और प्रेरणा तीन रूप माने हैं। मेरी दृष्टि में प्रतिभा का स्थान सर्वप्रमुख विदित होता है।

(किसी तथ्य को पूर्वापर सम्बन्ध बनाकर नूतन परिकल्पना करना—जिसमें अन्तःस्थ और बहिःस्थ कल्पना के उड़ान की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है) तथा अभ्यास—जो कर्ता में मादक द्रव्य के व्यसनी की तरह एक ऐसी आदत डाल देता है, जिससे कर्ता और कृति में समवाय सम्बन्ध हो जाता है—ये चारों तत्त्व प्रतिभा के अभिन्न अङ्ग समझे जाते रहे हैं ।

रचनात्मक सूझ (Creative insight)

आधुनिक मनोविज्ञान ने पशु, मनुष्य या अन्य प्राणियों में नई सूझ की सत्ता मानी है, जो प्रतिभा का अधुनातन स्वरूप जान पड़ती है । निश्चय ही वैज्ञानिक एवं कलाकार में क्रमशः एक ऐसी सूझ का विकास होता है, जिसे विज्ञान और कला दोनों दृष्टियों से 'रचनात्मक सूझ' कह सकते हैं । रचनात्मक सूझ मूल प्रवृत्यात्मक सूझ का ही एक विकसित और परिमार्जित रूप है । सूझ की शक्ति सभी प्राणियों और व्यक्ति में समान मात्रा में नहीं होती, बल्कि वह प्राणी या व्यक्ति सापेक्ष होती है । मेधावी वैज्ञानिक और मर्मग्राही कलाकारों में वह प्रायः अधिक दृष्टिगोचर होती है । प्रतिभा की तरह रचनात्मक सूझ में भी पूर्व ज्ञान के साथ-साथ अकस्मात् ज्ञान-स्फुरण का अपूर्व योग रहता है । रचनात्मक सूझ वस्तु-चयन और शैली या विषय और रूप दोनों की नव्यता में प्रतिबिम्बित होती है । नयी सूझ के 'प्रागनुभविक ज्ञान होने का भ्रम हो सकता है, किन्तु यह प्रागनुभविक ज्ञान नहीं है अपितु प्रागनुभविक ज्ञान और अर्जित ज्ञान (संस्कारगत या अन्य) दोनों की संयुक्त पीठिका पर स्फुरित होने वाली आशु क्षमता है । कलाकृतियों की रचनात्मकता को अधिकाधिक विशिष्ट बनाने में इसका योग अपरिहार्य है । रमणीय बिम्बोद्भावना को साकार करने वाली प्रतिभा का प्राण नई सूझ को ही माना जा सकता है । यों तो प्रतिभा की सीमा केवल नई सूझ तक सीमित नहीं, अपितु स्वयमेव वह एक ऐसी जटिल प्रक्रिया है, जिसका विकास अनेक मनोगत प्रक्रियाओं के योगदान से हुआ है । सामान्यतः साधारण व्यक्ति में वस्तु या वातावरण के प्रति कुछ न कुछ प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति रहती है, किन्तु प्रतिभावान् व्यक्ति में वस्तु या वातावरण के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया अधिक भिन्न और विशिष्ट कोटि की प्रतीत होती है । यदि यह कहा जाय कि वह प्रत्येक वस्तु और वातावरण को भी अपनी विशिष्ट पर्यवेक्षिणी दृष्टि से देखता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा उसकी ग्राहकेन्द्रिय अधिक सूक्ष्म और व्यक्तिनिष्ठ वैशिष्ट्यों से संवलित होती रहती है । वस्तु या वातावरण के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओं में जो सहज क्रियायें[1] होती

---

१. कोलिन्स और ड्रेपर ने जिन्हें 'Reflex Actions' कहा है ।

हैं, उनको देखकर ऐसा लगता है कि जैसे उनमें कोई विशेष उद्देश्य नहीं है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति की सहज क्रियाओं में भी महान् उद्देश्य छिपा रहता है; जो उसकी महत्तर रचनात्मकता का मूल-भूत कारण होता है। सामान्य व्यक्ति की सहज क्रिया में सम्बन्ध-प्रत्यावर्तन या वस्तु-अनुकूलन (Conditioning) जैसी क्रिया सहज रूप से लक्षित होती है; किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति में वस्तु-अनुकूलन-क्रिया अपने ढंग की या विशिष्ट प्रकार की हुआ करती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिस वस्तु के प्रति उसकी रुझान होती है—वही उसकी प्रतिभा के बल पर विज्ञान, कला एवं साहित्य की अमर कृति बन जाती है। अतः प्रतिभा में निहित वस्तु-अनुकूलन को हम अधिक रचनात्मक या सर्जनात्मक कह सकते हैं।

प्रतिभा बिल्कुल अनजान और अपरिचित क्षेत्र में अभिव्यक्तिगत प्रभाव नहीं दिखला सकती। आशुकवियों और कलाकारों में भी न्यूनाधिक अनुवांशिक या संस्कारगत प्रभाव का प्राबल्य रहता है। किन्तु साधारण स्थिति में प्रतिभा का विकास आदतों और अभ्यासजन्य क्रियाओं (Habits and habitual actions) से भी पूर्णरूप में प्रभावित रहता है। सामान्य अच्छी या बुरी आदतों की तरह प्रतिभावान् व्यक्ति में भी अच्छी या बुरी असामाजिक आदतें होती हैं, जिनका अचेतन प्रभाव उनकी रचनात्मक प्रक्रिया पर भी पड़ता है। फिर भी जहाँ तक रचनात्मक प्रतिभा का प्रश्न है—प्रतिभाशाली व्यक्ति अभ्यासजन्य क्रियाओं के द्वारा अपनी प्रत्येक रचनात्मक प्रक्रिया में शैली और रूप-विधान की वैसी क्षमता अर्जित कर लेता है, जो उसकी मौलिकता और विशिष्टता का कारण हुआ करती है।

अवतारवाद की दृष्टि से प्रतिभा के उपयुक्त जितने उपादान हैं, सहज नहीं हैं, अपितु अवतरित या आविर्भूत हैं। मनुष्य अपनी रुचि के अनुरूप अपने मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के भोजनों से शक्ति ग्रहण करता है। मानसिक भोजन के द्वारा ही अनेक प्रकार की मानस-शक्तियाँ (Psychic-faculties) आविर्भूत होती हैं। प्रतिभा भी उसी प्रकार की एक अवतरित शक्ति है। प्रतिभा का स्फुरण कवि या कलाकार में वातावरण या परिस्थिति के प्रति अनुकूल क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों से होता है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य का मूल्यांकन किया जाय तो अनुकूल क्रिया की अपेक्षा प्रतिक्रिया ने अमर काव्यों और कला-कृतियों की सृष्टि करने की प्रेरणा दी है। वियोग, दुःख, कष्ट, अवसाद, पीड़ा, अभाव, करुणा, अपमान आदि प्रतिक्रियात्मक मानवीय अनुभूतियों ने ही वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसीदास, सूरदास, पंत, प्रसाद, निराला, तथा होमर, दांते, गेटे, मिल्टन, लियनार्दो, डी, विंची,

इत्यादि की प्रतिभा को उत्प्रेरित किया है। इनके साहित्य एवं कला का अध्ययन करने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि क्रिया की अपेक्षा प्रतिक्रिया में प्रतिभा के विकास की क्षमता अधिक है। चाहे वह कृति आदर्श का निरूपण करती हो या यथार्थ की या उपदेश का उपस्थापन करती हो या विशुद्ध 'कला के लिए कला' की। दोनों स्थितियों में वह अपनी प्रतिक्रियात्मक प्रतिभा के बल पर अमर कृति बन सकी है।

प्रतिभा में ग्राहकता और रचनात्मकता दोनों विशेषताएं विद्यमान हैं। किसी व्यक्ति में दोनों समान मात्रा में पायी जाती हैं। परन्तु यों सहृदय व्यक्ति में ग्राहक क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है और कलाकार या कृतिकार में ग्राहकता की अपेक्षा रचनात्मकता अधिक प्रबल रहती है। प्रतिभा की सचेष्टता मन के अचेतन, उपचेतन और चेतन तीनों भागों में दीख पड़ती है, फिर भी विशेषकर चेतन में यह अधिक प्रबुद्ध और सक्रिय बन जाती है। प्रतिभा को हम ऐन्द्रिक व्यापार से अधिक आत्मनिष्ठ व्यापार कह सकते हैं; क्योंकि वह सामान्य धारणा को प्रतीकों या बिम्बों के माध्यम से तथा अमूर्त या मूर्त धारणाओं को रचनात्मक प्रक्रिया के द्वारा रमणीय बिम्बोद्भावना करती है। चिंतन की तरह प्रतिभा द्वारा सम्पन्न रचनात्मक प्रक्रिया में भी धारणा-बिम्ब के निर्माण द्वारा मूल बिम्बों का एकत्रीकरण (Assimilation), गर्भीकरण (Incubation), स्फुरण (Illumination) और प्रमापन (Verification) इत्यादि क्रियाओं का समानुपातिक योग होता है। मूल धारणा प्रतीकों या बिम्बों के उपस्थित होते ही प्रतिभा की रचनात्मक प्रक्रिया बिम्बों के गर्भीकरण का कार्य प्रारम्भ करती है; जिसके फलस्वरूप धारणा-बिम्बों में सघनता, तीव्रता और नवीन सौष्ठव का संचार होने लगता है। इस उपक्रम में प्रतिभा को विभिन्न रचनात्मक विचारों का योग मिलता है। रचनात्मक विचार कभी तो नितान्त मौलिक स्फुरण के रूप में आते हैं और कभी पूर्वानुभूत विचारधारा भी उत्प्रेरणा का कार्य करती है। नए आलोक के रूप में आये हुए स्फुरण और उत्प्रेरणा की विश्वसनीयता और सत्यता की परख करने में प्रतिभा सदैव सजग एवं सक्रिय प्रतीत होती है।

स्वयं प्रकाश ज्ञान या सहज ज्ञान (Intuition)

प्रतिभा (Genious) के अतिरिक्त एक ऐसे ज्ञान के विषय में विचार होता आ रहा है, जो मनुष्य में होनेवाले सामान्य बोध के साथ कलात्मक-बोध की भी अभिव्यक्ति करता है। प्रतिभा और प्रागनुभविक ज्ञान से सम्बद्ध होते हुए भी स्वयंप्रकाश ज्ञान या सहज ज्ञान जैसे ज्ञान का अस्तित्व भी पूर्वी और पश्चिमी दोनों में किसी न किसी रूप में मान्य रहा है। अभी

प्रतिभा के प्रसंग में हमने देखा कि भारतीय विचारकों में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने अलौकिक काव्य या कलात्मक क्षमता को दैवी शक्ति की देन या उसका आविर्भूत रूप माना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा चिन्त्य सूझ का सिद्धान्त (In sight theory) इस संदर्भ में विचारणीय है। कोहलर, काफ्का जैसे मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार 'सूझ' ही साहित्यकला, विज्ञान इन समस्त ज्ञानों के प्रसार की जननी है। कोहलर वनमानुषों पर प्रयोग करने के पश्चात् 'अहा! अनुभव' (Aha experience) का निष्कर्ष प्रस्तुत किया। उसकी दृष्टि में मनुष्य में भी वही 'अहा! अनुभव' देखने को मिलता है। हगिन्सन, वाट्सन, पावलोव आदि द्वारा पशुओं एवं अन्य लघु जन्तुओं पर किए गए प्रयोग यद्यपि भिन्न-भिन्न निष्कर्षों के द्योतक थे। किन्तु इन सभी निष्कर्षों में एक सामान्य तथ्य अवश्य दृष्टिगत होता है कि समस्त प्राणियों में प्रारम्भ से ही ऐसा ज्ञानात्मक बोध अवश्य रहा है, जिनके द्वारा वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में संलग्न रहे हैं। उन्हें ही विचारक सहज ज्ञान या 'Intuition' कहते रहे हैं। निश्चय ही प्रतिभा की तरह सहज ज्ञान का सम्बन्ध अचेतन मन से अधिक सम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। इसे सूझ भी कहना अधिक युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता; यद्यपि सूझ और सहजज्ञान दोनों का सम्बन्ध चेतना से है, फिर भी सूझ में अस्वाभाविक स्फुरण या आलोक अधिक है, किन्तु सहज ज्ञान में कम। सूझ का किसी में पूर्णतः अभाव भी हो सकता है और आधिक्य भी किन्तु सहजज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में सभी में विद्यमान रहता है। 'फिर भी सूझ और सहजज्ञान दोनों वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों हैं। 'सूझ' सहसा घटित होने वाला व्यापार है जबकि सहजज्ञान को हम अपेक्षाकृत स्वाभाविक अधिक कह सकते हैं। सहजज्ञान के विचारकों में मूर्धन्य काँट सहजज्ञान को वस्तु-संवेदनात्मक समझता है। उसके मतानुसार हम जितने प्रकार से और जिन साधनों द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उनमें सहजज्ञान वह है—जिनके द्वारा वस्तु से (व्यक्ति का) तत्क्षण सम्बन्ध हो जाता है, और समस्त विचारधारा उसी ओर प्रवृत्त हो जाती है।'[1] इसीसे सहजज्ञान किसी निश्चित या लक्ष्य वस्तु की अपेक्षा रखता है। यों तो वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध वस्तु-संवेदना या ऐन्द्रिक बोध द्वारा सम्भव है; अतः सहजज्ञान के लिए भी ऐन्द्रिय-बोध या संवेदनशीलता की आवश्यकता पड़ती है। काँटने सहज़ज्ञान को एक प्रकार का विशुद्ध ऐन्द्रिय-संवेदन माना है। उसके मतानुसार हमारा समस्त ज्ञान प्रकट, प्रस्तुत या प्रतीति की उपस्थापना के

१. क्रु. प्योर. री. पृ. ४१।

अतिरिक्त कुछ नहीं है, क्योंकि जिन वस्तुओं का ज्ञान हम करते हैं—वे पदार्थ वस्तुतः वे ही नहीं हैं, जिनका हमें ज्ञान है। वे जैसा प्रतीत होते हैं—वही हमारा सहजज्ञान है। वस्तु को हम दिक्-काल सापेक्षता से पृथक् नहीं कर सकते। इसीसे हमारा सहजज्ञान भी दिक् और काल के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। और वस्तु के भी विदित रूप और स्वयं रूप दो प्रकार के रूप हो जाते हैं। हमें वस्तु के विदित रूप का ही ऐन्द्रिक बोध होता है। गोचर या ऐन्द्रिक ज्ञान काँट के अनुसार दो प्रकार का होता है—विशुद्ध सहजज्ञान और अनुभूत सहजज्ञान[1]।

प्रागनुभविक ज्ञान विशुद्ध सहज ज्ञान है और उससे अन्तरवर्ती ज्ञान अनुभूत सहज ज्ञान है। पहला हमारी संवेदन में परमावश्यक होकर संस्कारगत रूप में अवस्थित है और दूसरा विभिन्न रूपों में गोचर होता है। इस प्रकार काँट ने वस्तु-संवेदनात्मकता या गोचरता को सहज ज्ञान माना है। जब कि क्रोचे ने तार्किक बुद्धिगम्य के विपरीत विशेषकर कल्पना से उपलब्ध ज्ञान में सहज ज्ञान की उपस्थिति बतायी है। दोनों की दृष्टि में सहज ज्ञान चक्षुहीन ज्ञान है। बुद्धि इसे नेत्र प्रदान करती है। उसकी दृष्टि में सहज ज्ञान किसी पर निर्भर नहीं है।[2] काँट और क्रोचे दोनों ने धारणा और सहज ज्ञान का अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[3] काँट की दृष्टि में धारणा बुद्धिगम्य है और स्वच्छन्द विचार पर आश्रित है और सहज ज्ञान इन्द्रियगम्य है और प्रभाव पर आधारित है।[4] क्रोचे के अनुसार एक कलाकृति दार्शनिक धारणाओं से आपूरित हो सकती है, साथ ही उसमें दार्शनिक विमर्शों की अपेक्षा वर्णनात्मकता और सहज ज्ञान का प्राचुर्य सम्भव है। परन्तु इन समस्त धारणाओं के होते हुये भी कलाकृति का सम्पूर्ण प्रभाव सहज ज्ञान है और समस्त सहज ज्ञानों के होते हुये भी दार्शनिक विमर्शों का समन्वित प्रभाव धारणा है।[5] यों क्रोचे प्रत्यक्ष बोध को सहज ज्ञान मानता है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष-बोध प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों को आत्मसात् कर लेता है। सहजज्ञान यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण की अविभाज्य एकता है और सम्भावना का सहज बिम्ब है।[6] दिक् और काल सहजज्ञान के स्वरूप हो सकते हैं, किन्तु जो सहजज्ञान कला में रहस्योद्घाटित होता है, वह दिक् काल का सहजज्ञान नहीं है अपितु चरित्रगत और व्यक्तिगत आकृतिविज्ञान है।

---

१. क्रु. प्योर. री. पृ. ५५। २. एस्थे. पृ. २।

३. कम्प. एस्थे. पृ. ३०४। काँट के कथनानुसार—'Thoughts without contents are empty intuitions without concepts are blind'.

४. क्रु. प्योर. री. पृ. ६८। ५. एस्थे. पृ. ३। ६. एस्थे. पृ. ४।

सहज ज्ञानात्मक क्रिया एक समन्वित अभिव्यक्ति की क्रिया है । इस प्रकार प्रत्येक सहजज्ञान और उसकी उपस्थापना अभिव्यक्ति है। सहज ज्ञान में सहजज्ञानात्मक क्रिया उस सीमा तक है, जहाँ तक कि वह उसकी अभिव्यक्ति कर सकती है।[1] अतः सहज ज्ञान और अभिव्यक्ति में क्रोचे अविनाभाव सम्बन्ध मानता है। इसी से रमणीय या कलात्मक अभिव्यञ्जना भी सहज ज्ञानात्मक है।[2] क्रोचे की इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि वह सहज ज्ञान और अभिव्यञ्जना को एक मानता है। यद्यपि काँट और क्रोचे सहज ज्ञान का मनोवैज्ञानिक रूप अधिक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है दिक्-काल सापेक्ष ऐन्द्रिक बोध एवं अभिव्यञ्जना से सम्बद्ध होने के कारण सहज ज्ञान भी रमणीय बिम्बोद्भावना के निर्णायक तत्वों में परिगणित होने योग्य है।

स्फुरण

सहज ज्ञान की तरह स्फुरण भी चेतना की ही एक दशा है। सहज ज्ञान पशु से लेकर मनुष्य तक प्रायः सभी में न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगत होता है, किन्तु स्फुरण विशिष्ट व्यक्ति और विशिष्ट मनोदशा पर निर्भर करता है। वह मनोदशा बहुत कुछ रहस्यवादी संतों एवं कवियों की रहस्य दशा से मिलती-जुलती है। अतएव स्फुरण सामान्य मनुष्य के प्रत्यक्ष-बोध या मनो दशा से भिन्न अवस्था है। आन्तरिक सूझ और स्फुरण में भी तात्त्विक वैषम्य-लक्षित होता है। आन्तरिक सूझ में वस्तुनिष्ठता अधिक है। संवेद्य पदार्थ वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की सामान्य या विषम अवस्था में अकस्मात् आलोक देने वाली सूझ का स्थान होता है। उसका सम्बन्ध किसी विशेष मनोनिवेश या गहन अनुभूति से नहीं है। सूझ सामान्य प्रतिभा में मौजूद रहती है, किन्तु स्फुरण वह आलोक है जिसका दर्शन रहस्यात्मक प्रतिभासम्पन्न कुछ ही प्रवर्तकों, स्वप्नद्रष्टाओं, मध्ययुगीन भक्तों, सिद्धों, संतों और कदाचित् योगियों में सम्भव है। प्राचीन विचारकों में अरस्तू ने कवियों को भी रहस्य-वादी प्रवर्तकों की श्रेणी में माना है; क्योंकि रहस्य-द्रष्टा संतों की तरह वे भी ईश्वरीय विभूति की अभिव्यक्ति करते हैं।[3] इसमें सन्देह नहीं कि रमणीय चेतना की दृष्टि से रहस्यवादी संत कवि और कलाकार प्रायः एक ही भाव-भूमि पर स्थित रहे हैं। उन सभी की मनोवृत्ति जगतातीत सत्य के अन्वेषण में निमग्न रहा करती है। अतः विश्वेतर लोक में भ्रमण करने वाले कलाकार, कवि और भक्त अपने अन्तर जगत में सर्वदा एक विश्वातीत सत्य का दर्शन

---

१. एस्थे. पृ. ९। २. एस्थे. पृ. ८। ३. कम्प. ऐस्थे. पृ. ८४।

करते हैं, जिसके फलस्वरूप जगतातीत से ही उनका साहचर्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उसी रहस्य जगत में वे अनेक अलौकिक सत्ता वाली अनुभूतियों की बिम्बोद्‌भावना करते है और उन्हीं के साथ उनका मन रमा रहता है। रहस्यवादी, दिव्य शक्तियों की बिम्बोद्‌भावना अनेक प्रतीकों और बिम्बों के रूप में करते हैं। इसीसे अन्डरहिल ने रहस्यवादी कवियों और संतों के अनेक काव्यात्मक रूपों को स्फुरण या आलोक में ग्रहण किया है।[1] स्फुरण में संवेदन से अधिक संवेग का योग होता है। साधकों एवं कलाकारों के मन में संवेगात्मक या भावोद्वेगात्मक लहरों या तरंगों का प्रवाह नवीन स्फुरण या आलोक से प्रेरित होकर अलौकिक गूढ़ बिम्बों की सृष्टि करता है। सम्भव है सहज ज्ञान ही संवेगात्मक स्थिति में स्फुरण का रूप धारण कर लेता हो, किन्तु उसे हम सहज ज्ञान की चरमावस्था ही कहेंगे। अनेक जगद्-विख्यात कलाकृतियाँ या विचारधाराएं जो कलाकार, दार्शनिक, कवि, संगीत-कार इत्यादि के मन में उत्पन्न होती रही हैं, वे अलौकिक स्फुरण की देन कही जा सकती हैं।[2] स्फुरण में केवल चमत्कार ही नहीं होता अपितु रमणीय रसास्वाद भी चरमावस्था में पहुँचकर रमणीय सहानुभूति का अनिवार्य अंग बन जाता है। सगुणोपासक भक्त अपने उपास्य अवतार का सामीप्य-लाभ करते समय प्रायः अलौकिक स्फुरण का अनुभव किया करता है। उपास्य देव के अलक्ष्य मादक स्पर्श की भावना करते समय भक्तों के मन में उनकी अनेक भावभंगियों के रमणीय बिम्ब स्फुरित होने लगते हैं। इस प्रकार रमणीय बिम्बोद्भावना की चरमाभिव्यक्ति में स्फुरण का विशिष्ट अवदान रहा है।

स्फोट

(Irruption) मनोवैज्ञानिकों ने सृजनात्मक रूपान्तर के उपक्रम में स्फोट (irruption) का अस्तित्व माना है, जो सम्भवतः स्फुरण का ही पर्याय है। जर्मन विचारक 'इरिक न्युमेनन' के अनुसार वह रूपान्तर उल्लेख-नीय है, जो अहं-केन्द्रित और घनीभूत चेतना पर भीषण आक्रमण कर बैठता है। ऐसे रूपान्तर को बहुत कुछ अचेतन का चेतन में अकस्मात् 'स्फोट' कहा जा सकता है। इस स्फोटक प्रकृति का अनुभव, अहं के स्थायित्व और

---

१. मिष्ट. पृ. २३४।

२. मिष्ट. २३५ (Many a great Painter, Philospher, or Poet, perhaps every inspired Musician, has known this indescribable inebriation of reality in Those Moments of Transcendence in which his Masterpieces were conceived.

क्रमबद्ध चेतना पर आधारित संस्कृति में एक विशेष जोर के साथ होना है; क्योंकि आदिम संस्कृति जिसमें चेतना विवृत या मुखर है, या वह संस्कृति जिसके विधि-निषेधों ने मनुष्य को भाव प्रतिमात्मक शक्तियों के साथ बांध रखा हो, वहाँ मनुष्य में स्फोट होना अवश्यम्भावी है। स्फोट एक गतिशील मानस-व्यापार है, जिसकी भीषणता तभी कम होती है, जब चेतन और अचेतन का तनाव अधिक नहीं हो। यों किसी शारीरिक दबाव, अभाव (भूख-प्यास), दोष (मद्यपान इत्यादि) या बीमारियों के चलते भी ऐसे स्फोट बहुत सम्भव हैं। इनसे सम्बद्ध रूपान्तर भी अकस्मात् परिवर्तन या स्फुरण (illumination) कहे जाते हैं। परन्तु इन प्रक्रियाओं में भी स्फोट का अचानक या विचित्र होना, केवल उसी अहं और चेतना से सम्बद्ध है, जो उससे प्रभावित होते हैं; परन्तु सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर उसका कोई असर नहीं होता।[1] प्रायः अहं-केन्द्रित चेतना में स्फोट होने पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंश भी प्रभावित होता है। सामान्यतः चेतना में होनेवाला विस्फोट उस विकास का चरमविन्दु है, जो चिरकाल से व्यक्तित्व के अचेतन तल में परिपक्व होता रहा है, इस दृष्टि से स्फोट वस्तुतः रूपान्तरित प्रक्रिया के उस 'स्फोट बिन्दु' को अभिसूचित करता है, जो यों तो बहुत दिनों से अवस्थित था, किन्तु पहले अहं से उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ था। वह मनुष्य के अचेतन मानस में चिरकाल से पुंजीभूत होता हुआ चला आ रहा था। सम्भव है सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सक्रिय नियमन से उसका पर्याप्त सम्बन्ध न रहा हो, किन्तु उसका प्रभावशाली अस्तित्व अहं से प्रत्यक्षीकृत होने के पश्चात् अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार ऐसे स्फोट भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दृष्टिपथ में रखते हुए भिन्न प्रकृतिवाले नहीं माने जा सकते। इससे चिरसंचित तत्व भी जो एक उपलब्धि के साथ सम्बद्ध है, या सृजनात्मक प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक स्फोट का रूप धारण कर सकती है। अतः स्फोट (irruption) वह मनोविस्फोटात्मक व्यापार है, जो रमणीय बिम्बोद्भावना में नव्य नूतनता का आविर्भाव करता है।

प्रेरणा

भक्तों के लिए उनका उपास्य देव केवल साध्य ही नहीं अपितु प्रेरक तत्व भी है। उपास्य देव के साथ उनका नित्य साहचर्य उनकी कलाभिव्यक्ति को प्रेरणा प्रदान करता रहा है। ग्रीक विचारकों के मतानुसार 'आत्मा जब ईश्वर का साहचर्य पाकर उनको देखने के लिए बाध्य रहती है, उस दशा में ईश्वर

---

१. आ. क्रु. अ. पृ. १५३।

की स्मृति उसमें निरन्तर बनी रहती है और अपने दृश्य ईश्वर के सदृश ही किसी वस्तु को देखकर वह पुनः उभड़ आती है। इस प्रकार 'दैवी' परियों की तरह उससे प्रेरणा ग्रहण कर, वह उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। ग्राहक की दृष्टि से प्रेरणा विश्व की सुन्दर कला का चिन्तन है, और कलाकृति प्रत्यक्ष प्रेरणा का प्रभाव है'।[१] इस प्रकार इतिहास के विभिन्न युगों में कवियों एवं कलाकारों की प्रेरणा के अनेक स्रोत रहे हैं, जिनमें प्रकृति और परमेश्वर को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। 'क्लासिक' कवियों एवं कलाकारों की अपेक्षा रोमांटिक युग के कलाकारों ने प्रायः प्रकृति-पर्यवेक्षण द्वारा प्रेरणा ग्रहण की है। जिन्हें विलियम मोरिस जैसे रोमांस विरोधियों ने रोमांस पूर्व अवस्था की ओर मुड़ने में ही कला की सार्थकता बताना आरम्भ किया था।[२] भारतीय मध्ययुगीन साहित्य को सबसे अधिक प्रेरणा अवतारों और अर्चा मूर्तियों से मिलती रही है। प्रायः समस्त सगुण भक्ति साहित्य एवं ललित कलाएं उनकी प्रेरणा से अनुप्राणित हैं। प्रेरणा चेतन की अपेक्षा उपचेतन व्यापार है। यों तो समस्त सृजनात्मक कलाओं में उपचेतन का सर्वाधिक योग रहा है; किन्तु प्रेरणा विशेषकर सर्वप्रथम हमारे उपचेतन को ही अधिक झंकृत करती है; वह कलाभिव्यक्ति को अपने व्यापक प्रभाव से स्वयं स्फूर्त या स्वयंचालित कर दिया करती है। प्रायः लोग मानते हैं कि विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला के निर्माण में जो युगान्तरकारी चेतना दीख पड़ती है, वह अक्सर बाहर से आया करती है।[3] उस चेतना के पूर्व कलाकार जिस कृति को पूर्ण बनाने में असमर्थ रहता है, मानस में उसका आविर्भाव होते ही तत्काल पूर्ण कर लेता है। इस दृष्टि से विश्लेषण करने पर प्रेरणा सदैव वस्तुनिष्ठ प्रतीत होती है। क्योंकि कलाकार प्रायः किसी वस्तु, व्यक्ति, भावना, घटना, प्रकृति या परमसत्ता जैसी चेतना से प्रेरणा ग्रहण करता है। रमणीय बिम्बोद्भावना के उपक्रम में भी प्रकृति, समाज और परमसत्ता जैसे तत्त्व प्रेरक हुआ करते हैं। कवि या चिन्तक सार्वभौमिक सत्य या साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से भी अनुप्राणित रहे हैं। मध्यकालीन सगुणोपासकों की अवतारपरक बिम्बोद्भावना इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वैदिक मंत्रद्रष्टा उदात्त प्रकृति की नैसर्गिक छटा में परमसत्ता की दिव्य लालिमा का दर्शन करते हैं, ऋग्वैदिक कवियों के उषः गान की तरह काव्य निर्झरणी स्वतः फूट पड़ती है। उसी तरह मध्य युग में मान्य अवतार अपनी समस्त शक्तिमत्ता के साथ सभी ओर से अकिंचनता का अनुभव करने वाले भावक के लिए अपूर्व प्रेरणा स्रोत

१. कम्प. एस्थे. पृ. ८४-८५। २. फिल. आ. हि. पृ. ५९।

३. मिस्ट. पृ. ६३।

सिद्ध हुए। प्रकृति के अतिरिक्त प्रकृति की स्मृति भी प्रेरणा-दायिनी बन जाती है। ब्रह्म के अवतार-रूप का स्मृत्यानुचिंतन समस्त मध्युगीन भक्त कवियों को प्रेरणा-पुञ्ज की तरह आलोक प्रदान करता रहा है। विशेषकर उसकी अवतार लीलाएं और विराट या विभु रूपों ने अनेक उदात्त बिम्बों की उद्भावना करायी है। अवतारपरक प्रेरणा वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों है। क्योंकि विभिन्न अवतारों के दर्शन में यदि वस्तुनिष्ठ या आलम्बननिष्ठ प्रेरणा निहित है तो उनकी निराकार सत्ता आत्मस्वरूप या आत्मचेतनात्मक भावना में आत्मनिष्ठ प्रेरणा दृष्टिगोचर होती है। रहस्यवादियों ने अदृश्य सत्ता का आभास तो प्राप्त किया ही; वे अलौकिक ध्वनि और चाक्षुष दर्शन का भी आस्वाद रहस्यानुभूति की तीव्रतम अवस्था में करते रहे हैं। सम्भवतः उसी रहस्य-प्रेरणा से उनकी लेखनी स्वयंचालित यंत्र की तरह चलने लगती है।[१] तुलना में सगुण अवतारों से प्राप्त प्रेरणा में वस्तुनिष्ठता अधिक है। यों दृश्य या अदृश्य, लौकिक या अलौकिक, सेन्द्रिय या अतीन्द्रिय प्रेरणादायिनी अनुभूतियों की तरह ब्रह्म के सगुण अवतार-रूप भी विभिन्न परिवेशों में भारतीय काव्य एवं कला के अजस्र स्रोत रहे हैं। रहस्यवादी प्रतीकोद्भावना की अपेक्षा इन सगुण रूपों में रमणीय बिम्बोद्भावना की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक रही है। सगुण अवतारों की लीला का बार-बार चिंतन और भावन बिम्बोद्भावना की क्षमता को जगाता ही नहीं अपितु विश्वेश्वर की समस्त विभुता और समृद्धि से सम्पन्न कर उसे चरम सीमा पर भी पहुँचा देता है। प्लाटिनस के मतानुसार कलाकार भाव-प्रतिमाओं के चिन्तन-द्वारा भी वह अलौकिक आत्म-शक्ति ग्रहण करता है, जो आंगिक सौन्दर्य सृष्टि करने में सक्षम है।[१] हेगेल ने कलाकृति के निर्माण में प्रतिभा और कल्पना के साथ प्रेरणा को भी अनिवार्य तत्त्व माना है। उसके मतानुसार कला में कल्पना और शिल्पिक चातुर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध ही प्रेरणा है। प्रेरणा गृहीत वस्तु में आत्मसात् हो जाने की क्षमता है। क्षमता केवल इसी अर्थ में नहीं कि उसमें उसका पूर्ण दर्शन हो, अपितु बाह्य माध्यम के द्वारा उसको प्रस्तुत भी किया जा सके। इस प्रकार हेगेल के अनुसार प्रेरणा का मुख्य तात्पर्य विषय में लीन हो जाना है। न तो आकर्षक प्राकृतिक सौन्दर्य, न शराब, न दृढ़ इच्छा ही प्रेरणा के कारण हो सकते हैं। इनके विपरीत बल्कि यह वह विषय है, जिसकी कल्पना कलात्मक अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त करती है। उपर्युक्त

१. मिस्ट. पृ. २९३. विशेष द्रष्टव्य। १. कम्प. एस्थे. पृ. १५५।

विवेचन से स्पष्ट है कि रमणीय बिम्बोद्भावना के मूल तत्वों में प्रेरणा साध्य और साधन दोनों दृष्टियों से सहायक होती है।

कल्पना

यद्यपि प्राचीन भारतीय विचारकों ने काव्य-निर्मायक तत्वों में 'कल्पना' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इससे ऐसा लगता है मानों कल्पना की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। इसका एक मुख्य कारण यह है कि काव्य का लक्ष्य 'रस' होने के कारण कल्पना से अधिक 'भावना' को स्थान मिल जाना है। इसमें संदेह नहीं कि 'भावना' में कल्पना को भी समाविष्ट किया जा सकता है। कर्ता पक्ष की ओर से प्राचीन चिंतकों ने केवल प्रतिभा को ही उसके विभिन्न भेदों एवं प्रभेदों के साथ स्थान दिया था।[1] यद्यपि जहाँ तक कल्पना का सम्बन्ध 'चित्रविधायिनी क्षमता' या बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया से है, भारतीय विचारक सर्वथा इनसे अपरिचित नहीं थे। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने 'वाक्य-वक्रता' के प्रसंग में सुन्दर चित्र से कवि के अनिर्वचनीय काव्य-कौशल की तुलना की है।[2] निश्चय ही उनके तात्पर्य को कम से कम कल्पना की प्रक्रिया में ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार कुंतक ने 'प्रकरण-वक्रता' के प्रसंग में प्रयुक्त 'उत्पाद्य-लव-लावण्याद'[3] में भी पुन-र्निर्मायक कल्पना 'Reproductive Imagination' (बाद में चलकर जिसे विचारकों ने सृष्टि विधायिनी कल्पना की संज्ञा प्रदान की) की व्यंजना होती है। इन उदाहरणों से मेरा तात्पर्य यही है कि आधुनिक कलाभिव्यक्ति या बिम्बोद्भावना के स्रष्टा तत्वों में जिस 'कल्पना' का योग माना जाता रहा है, उसका किसी न किसी रूप में भारतीय आलोचकों में भी दर्शन होता है।

यों 'कल्पना' की चिन्तन-धारा का क्रमिक विकास पश्चिमी साहित्य एवं दर्शन में ही अधिक हुआ है। प्रारम्भिक विचारकों में प्लेटो ने कल्पना के लिए 'फन्टेसिया' का प्रयोग सम्भवतः यथार्थाभास या असत्य के लिए किया है। अरस्तू ने कल्पना शक्ति को विचारकों के सामंजस्य में स्थान दिया। उसकी दृष्टि में धारणा के लिए कल्पना का होना आवश्यक है। विशेष कर रोमन

---

१. वेदान्त में कल्पना से सम्बद्ध 'कल्पित' का प्रयोग प्रायः मिथ्याज्ञान के लिये होता था। यों अमरकोशकार और श्रीहर्ष ने 'कल्पना' का क्रमशः 'रचना' और 'सिद्धि' आदि के लिये किया है, बिम्ब या चित्र-विधान के लिये नहीं।

२. वक्र. जी. (हिं.) ३, ४. पृ. ३१४।

मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्॥

३. वक्र. जी. (हिं.) ४, ३. पृ. ४८९।

साहित्य में 'इमैजिनेशन' के अर्थ में प्रयुक्त कल्पना का अधिक विकास हुआ। परन्तु ग्रीक विचारकों में कल्पना के जिस स्वरूप का निर्धारण हुआ था, उसमें अधुनातन कल्पना के भी बीज विद्यमान थे। अरस्तू की विचारणा के अनुसार वह प्रत्यक्षीकरण जो मन में निरन्तर बहुत काल तक चलता रहता है, कालान्तर में वह हमारे चेतन का ही नहीं अपितु अचेतन का भी अंश हो जाता है। वह समय विशेष में पुनः चेतन अवस्था में भी लाया जा सकता है। उसे चेतन अवस्था में लानेवाली क्षमता ही कल्पना है। इस क्षमता के अन्तर्गत स्वप्न, स्मृति और स्मरण भी आते हैं।[1] पर प्लाटिनस ने कल्पना को ऐन्द्रिक (Sensible) और प्रज्ञात्मक (Intellectual) दो रूपों में विभक्त किया। उसके अनुसार एक का सम्बन्ध बाहर की ओर से अबौद्धिक आत्मा से है और दूसरे का बौद्धिक आत्मा से। इस प्रकार कल्पना को वह प्रत्यक्षीकरण की चरमावस्था मानता है।[2] पश्चिमी विचारकों में डेकार्ड ने कल्पना का सम्बन्ध बिम्ब से स्थापित किया। उसकी दृष्टि में कल्पना मस्तिष्क का एक अंश है, जो सामान्य इन्द्रिय से प्रभाव ग्रहण करती है। डेकार्ट के अनन्तर एडिसन ने विशद विचार प्रस्तुत किए हैं। उसके मतानुसार मानव अनुभूति के लिए यह सत्य है कि जब चिन्तन की प्रक्रिया में पूर्वानुभूत दृश्य का कोई विशेष प्रतिबिम्ब हमारे मन में उदित होता है; वह स्मृतियों में सोये हुए असंख्य भावों को वैसे ही जगा देता है, जैसे एक वृक्ष को देखने पर समस्त बगीचे का रूप कल्पना में भर जाता है। एडिसन की यह धारणा अवतारवादी कल्पना के समानान्तर प्रतीत होती है; क्योंकि अवतारवादी कल्पना में भी भक्त एक ही अवतार मूर्ति के द्वारा असीम, अनन्त और सर्वव्यापी, विभु ब्रह्म के आविर्भूत विश्व का साक्षात्कार कर लेता है। इसके अतिरिक्त एडिसन ने आनन्द की दृष्टि से कल्पना पर विचार करते हुए बताया है, कि दुःखद कल्पनाओं की अपेक्षा सुखद कल्पनाओं के बिम्ब अधिक गहरे और स्थायी होते हैं। यों कल्पना का आनन्द प्रकृति और कला दोनों से प्राप्त हो सकता है, इसलिए दोनों के आनन्द दो प्रकार के हैं। इस दृष्टि से उसने कल्पना के आनन्द को मुख्य और गौण (Primary and Secondary) मुख्य-प्रकृति से और गौण-कला से, माना है। इस कल्पना के आनन्द के तीन स्रोत हैं—महानता, नवीनता और सौन्दर्य। एडिसन की अपेक्षा बर्क ने कल्पना को कुछ अधिक परिष्कृत रूप दिया है। उसके अनुसार कल्पना मानस की एक रचनात्मक शक्ति है, जो बिम्बों को क्रमबद्ध या विशेष ढंग से

---

१. कम्प. एस्थे. पृ. ५०। २. कम्प. एस्थे. पृ. १४४।

प्रस्तुत करने में स्वतंत्र है। वह संवेद्य पदार्थों को ही पुनः बिम्बित कर सकती है, किन्तु किसी नयी चीज को बिल्कुल नहीं उत्पन्न कर सकती। इस कथन में आगे चलकर काँट द्वारा विचारित पुनर्निर्मायक कल्पना की झलक मिलती है। काँट के अनुसार कल्पना-पुनर्निर्मायक, निर्मायक और स्वतंत्र या रमणीय तीन प्रकार की होती है। जिनमें पुनर्निर्मायक और निर्मायकये दोनों कल्पनाएं बोध के प्रागनुभविक सिद्धान्तों पर आश्रित रहने के कारण उन्मुक्त नहीं हैं। केवल रमणीय कल्पना ही बोध के सिद्धान्तों से परे होने के कारण स्वतंत्र है। काँट की रमणीय या स्वतंत्र कल्पना सृजनात्मक कल्पना जान पड़ती है, क्योंकि वह उस कल्पना को सृजनात्मक प्रतिभा का एक पहलू मानता है। हेगेल ने कल्पना को अपनी 'त्रयी' में समाहित करने का प्रयास किया है।[1] अतः हेगेल की कल्पना सैद्धान्तिक मस्तिष्क के उपस्थापन का एक भेद है। वह कल्पना को उपस्थापन का एक दूसरा रूप मानता है। उसकी दृष्टि में कल्पना में उपचेतन से केवल एक ही बिम्ब का उदय नहीं होता, अपितु बिम्बों का एक अनवरत प्रवाह चलता है, जिसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी मान्य बाह्य लक्ष्य से नहीं होता, अपितु बिम्ब पारस्परिक सहयोग द्वारा अनुस्यूत रहते हैं। हेगेल ने सृजनात्मक और पुनर्निर्मायक कल्पना में भी तात्विक अन्तर बताया है।

पुनर्निर्मायक कल्पना केवल उन्हीं बिम्बों को चेतना में उपस्थित करती है, जो निश्चित अभिज्ञान के साधारीकृत रूप हैं; तथा जिसे कल्पना करने वाले व्यक्ति ने यथार्थतः ग्रहण किया है और इसलिए भी ये पुनर्निर्मायक हैं; क्योंकि ये केवल उन्हीं बिम्बों को पुनः स्थापित कर सकते हैं, जो पहले से ही

---

१. कम्प. ऐस्थ पृ ३८४-३८७।

मस्तिष्क
- सैद्धान्तिक मस्तिष्क
  - सहज ज्ञान
  - उपस्थापन
    - स्मरण
    - कल्पना
      - सृजनात्मक
      - पुनर्निर्मायक
    - स्मृति
  - विचारणा
- व्यावहारिक मस्तिष्क
- स्वतन्त्र मस्तिष्क
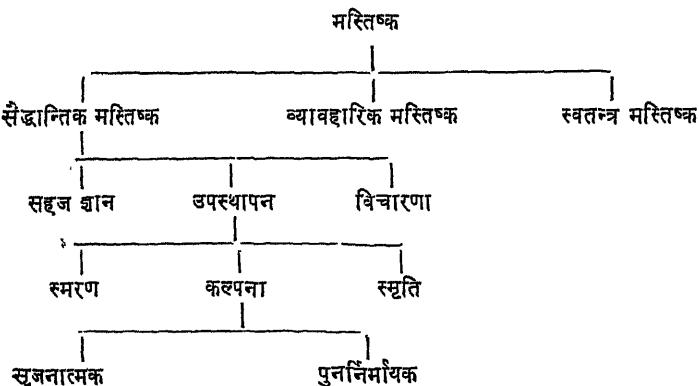
वास्तविक अनुभूति के अंग हो चुके हैं। किन्तु हेगेल के अनुसार सृजनात्मक कल्पना उपचेतन के साधारीकृत बिम्बों पर पूर्णतः निर्भर नहीं रहती। वल्कि सृजनात्मक कल्पना की सृष्टि उन विचारों का सुष्ठु समन्वित रूप है, जो बाहर से आये हुए हैं और उपचेतन में एकत्रित साधारीकृत रूपों के साथ मस्तिष्क में स्वतंत्र रूप से स्फुरित होते हैं। इस प्रकार के बिम्बों को हेगेल ने बिल्कुल आत्मनिष्ठ माना है।[१]

कल्पना की बिम्ब विधायिनी व्याख्याओं के अतिरिक्त ड्राइडन ने कल्पना का अर्थ 'आविष्कार' के अर्थ में किया है।[२] पेटरस्टेरी के अनुसार कल्पना संवेदनशील आत्मा का प्रथम और उच्चतम गुण है, जहाँ वह अपनी पूर्णता में मौजूद है। वह ऐन्द्रिक आलम्बन की सार्वभौमिकता या स्थूल विश्व की तरह अपने आप में पर्याप्त है। ऐन्द्रिक वस्तुएं इस रस के अनुसार मिलती और पृथक् होती रहती हैं।[३] कॉलरिज ने ऐन्द्रिक जीवन की वस्तुमत्ता को प्राथमिक कल्पना के अन्तर्गत ग्रहण किया है। तथा कला, काव्य इत्यादि विषय सृष्टिविधायिनी या सृजनात्मक कल्पना में गृहीत हुए हैं।[४] कॉलरिज ने 'फैंसी' और 'इमैजिनेशन' में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि 'फैंसी' एकत्रित करती है, और बिना पुनर्निर्माण के पुनः क्रमबद्ध कर देती है और उसमें नवीन अर्थ का उद्भव करती है। कल्पना में मन उर्वर होता है, किन्तु 'फैंसी' भूत सृष्टि के उत्पन्न तत्त्वों को पुनः एकत्रित कर उन्हें एक निश्चित रूप देती हैं।[५]

इन विचार धाराओं से स्पष्ट है कि जितने लोगों ने कल्पना पर विचार प्रस्तुत किए हैं, प्रकारान्तर से कल्पना के मूल को त्यागा नहीं है। कल्पना का मुख्य व्यापार है बिम्ब-निर्माण या बिम्बोद्भावना इस प्रक्रिया की चर्चा प्रायः अधिकांश ने किसी न किसी रूप में की है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पना मन की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो विगत अनुभूतियों का सर्वथा नवीन रूप में बिम्बीकरण करती है। कल्पना यों तो भूत पर आश्रित रहती है किन्तु उसकी प्रकृति भविष्योन्मुख होती है। कल्पना की आत्मनिष्ठता को भी इनकार नहीं किया जा सकता। इसमें मुख्यतः वैयक्तिक अनुभूतियों और आन्तरिक सूझों को भी आत्मसात् कर लेने की अपूर्व क्षमता है। सेन्द्रिय अनुभूतियों और स्मृतियों का इसके निर्माण में सर्वाधिक हाथ है। स्मृति एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है। यों मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना की रचना प्रक्रिया में

---

१. क्रम्प. एस्थे. ३८८-८९। २. कौलि. इम. पृ. २७।
३. कौलि. इम. पृ, २८। ४. कौलि. इम. पृ. ५८। ५. कौलि. इम. पृ. ५८।

विस्तारण, (जस जस सुरसा बदन बढ़ावा), लघुकरण (मसक समान रूप कपि धरेउ), परस्थापन (नृसिंह), संयोगीकरण (दशानन), पृथकीकरण (सगर के साठ सहस्र पुत्र या रक्तबीज) आदि उपक्रियाएं विदित होती हैं। इन उपक्रियाओं का सर्वाधिक योग सृजनात्मक कल्पना में दीख पड़ता है।

सृजनात्मक कल्पना

पुनर्निर्मायक कल्पना केवल नए ढंग से रूपायित ही नहीं करती अपितु नयी शैली में उसकी सृष्टि भी करती है। सृजनात्मक कल्पना के मूल में उसका यत्किंचित् योग होता है। इसी से सृजनात्मक कल्पना का अस्तित्व वैज्ञानिक, शिल्पी, कलाकार और साहित्य-स्रष्टा प्रायः सभी में बद्धमूल है। इनमें साहित्य एवं कला से जिस कल्पना का विशिष्ट सम्बन्ध रहता है, उसे रमणीय रचनात्मक कल्पना भी कहा जा सकता है, क्योंकि कलाकार रमणीय रचनात्मक कल्पना के द्वारा युग की मनोनुकूलता तथा अपने स्कूल का ध्यान रखते हुए कलाकृतियों में रमणीय चमत्कार की सृष्टि करता है। सृजनात्मक कल्पना कवि या कलाकार को नया स्फुरण या आलोक भी प्रदान किया करती है।

अवतारवादी कल्पना का वैशिष्ट्य

अवतारवादी कल्पना अधिकांशतः विधायक और विश्वातीत रमणीय रचनात्मकता की परिचायिका मानी जा सकती है। भक्त कवि अपने आविर्भूत उपास्यदेव की चरित-गाथा और लीला में ही बँध कर, अपूर्व कल्पनाओं की सृष्टि करता है। कल्पना के विकास में जिस साहचर्य की महत्ता अधिक मानी जाती है, उसका स्पष्ट रूप तो भक्तों में ही देखा जा सकता है, क्योंकि भक्त का एकमात्र सहचर भगवान है। उनकी भगवत्ता की एक छोर पर हार्दिक मानवता है, और दूसरी छोर पर असीम और अनन्त ब्रह्मत्व। अतएव 'अणो-रणीयान्' और 'महतो महीयान्' दो ध्रुवान्तों पर स्थित भक्त की सृजनात्मक कल्पना एक रमणीय बिम्ब की सृष्टि करती है; जिसमें समस्त जड़ और जंगम तथा गोचर और अगोचर विश्व समाहित हो जाते हैं। कभी भक्त उपास्य शिशु रूप के स्वाभाविक क्रीड़ा-व्यापार में दिव्यता से अनुप्राणित स्वभावोक्ति की कल्पना करता है और कभी समासोक्तिपरक कल्पना के द्वारा अपने प्रियतम के कपोलों की लाली में ही समस्त विश्व को लाल देखता है।

इस प्रकार अवतारवादी कल्पना विशुद्ध कलात्मक (कला के लिए कला) से कुछ भिन्न दीख पड़ती है। विशुद्ध कल्पना में ऐहिक वासना निरपेक्ष रूप से कलाकार की अचेतन मानसिकता में मूलबिन्दुवत् होकर

स्थित रहती रही है। वह अपने मानसिक जगत् में अतृप्त इच्छाओं, कामनाओं, उत्कंठाओं और उद्दाम वासनात्मक भावनाओं को अचेतन के गर्भ से निकाल कर, नयी सृष्टि में लाकर बिम्बित पात्रों और घटनाओं की संयोजना के द्वारा मन को तृप्त करने वाली क्रीड़ात्मक कल्पनाएँ किया करता है। उसका एकमात्र व्यक्तित्व सहस्राधार होकर सहस्रों काल्पनिक एवं ऐन्द्रिक व्यक्तित्वों के द्वारा काल्पनिक क्रीड़ा-व्यापार का भावन करता है। इस व्यापार में उसकी आत्मनिष्ठ ऐन्द्रियता सहजरूप से सतत प्रयत्नशील रहती है। कभी-कभी पूर्वानुभूत कल्पनाएँ निरन्तर उसकी रचनात्मक सक्रियता को नवोत्तेजना प्रदान करती रहती है। नवीन चमत्कारों के विस्फोट, निर्माण-प्रक्रिया और विषय-उपादान दोनों में नवीन उन्मेष की सृष्टि करते हैं। कलाकार के इस कल्पना व्यापार के दो रूप यथार्थ और आदर्श दो ध्रुवान्तरों पर उपस्थित प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनका भावात्मक चुम्बकीय क्षेत्र प्रायः एक ही होता है; क्योंकि कलाकार की अतृप्ति एक ऐसे व्यामोह की सृष्टि कर लेती है, जो छद्म-भाव से समस्त कला-उपादानों को प्रक्षेपित किया करती है। यथार्थपरक कल्पना में कलाकार की अतृप्तिजनित सहृदयता कुछ अधिक भावातुर होकर वस्तुस्थिति को यथावत् प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। कलाकार का वैयक्तिक असंतोष निरपेक्ष या साधारणीकृत होकर समस्त कलाकृति को आच्छन्न कर लेता है। इससे एक लाभ यह होता है कि यथार्थ विश्व में वह अनेक मार्मिक छवियों और बिम्बों का चयन करने में अधिक सक्षम रहता है। इस प्रकार नग्न यथार्थ के क्षेत्र से निकल कर आनेवाले कुरूप, जुगुप्सित, कुत्सित, भयानक, उपेक्षित, दलित और दयनीय बिम्ब भी अपने उग्र संवेगात्मक प्रहारों के द्वारा भावक के मन में यथार्थपरक औदार्य को उपस्थापित कर लेते हैं। आधुनिक यथार्थपरक उपन्यासों और कहानियों के अनेक पात्र (होरी, धनिया इत्यादि भी) इन प्रकारों के युक्तिसंगत उदाहरण कहे जा सकते हैं। यथार्थपरक कल्पना की इन महत् कृतियों में जो कुरूपता या विकृति समाविष्ट रहती है, उनके द्वारा भावक के मन में कौरूप्यजनित रमणीयता की सृष्टि होती है, क्योंकि प्रभाव और अभिभूति ही रमणीयता में योग नहीं देते अपितु अभाव और निषेध भी रमणीयानुभूति में उतने ही तीव्र और प्रभावशाली होते हैं। इसी से रमणीय बिम्बोद्भावना कुरूप और सुन्दर दोनों में समान रूप से निहित है।

आदर्शपरक कल्पनाओं में कलाकार का वैयक्तिक अहं विकीर्ण होकर चतुर्दिक् आच्छन्न हो जाता है। यह उसके मन का वह चिरसंचित आदर्श है, जो पूर्व निर्मायक कल्पना तथा निहित संस्कारों और धारणाओं के योग से

नव्य रमणीय बिम्बों की उद्भावना करता है। इस प्रकार के रमणीय बिम्बों में कभी-कभी वह अनेक आदर्शों के समन्वय से नूतन, वैयक्तिक, जातीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक या आस्थात्मक आदर्श की स्थापना करता है। ये आदर्श कहीं निरपेक्ष होते हैं और कहीं सापेक्ष। किसी बिम्बोद्भावना में वे (आदर्श) उसकी वैयक्तिक आसक्ति से आच्छन्न रहते हैं और किसी में अनासक्ति से। जहाँ कलाकार शास्त्रीय, रूढ़िबद्ध या अधिक सैद्धान्तिक आदर्शों से परिपूर्ण काल्पनिक छवियों का अंकन करता है, वे पिष्टपेषण या बारम्बारता के दोष से अछूते नहीं रह पाते, जिसके फलस्वरूप नवीन उपादान की अपेक्षा रीति या शैलीगत कल्पना का ही किंचित् प्रभविष्णु चमत्कार यदा-कदा दृष्टिगत होता है। इसी से अधिक प्रबुद्ध कलाकार की कल्पना नवीन परिवर्तित आदर्शों के अनुकूल अपने को ढालने में सदैव प्रयत्नशील रहती है।

अवतारवादी कल्पना भी बिम्बोद्भावना की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। इस कोटि की कल्पनाओं में पुरातनता और अधुनातनता दोनों का अपूर्व समन्वय रहता है। पुरातन बिम्ब 'सामूहिक भाव-प्रतिमा' के रूप में नवीन बिम्बोद्भावित बिम्ब की 'आत्म-प्रतिमा' बनकर गृहीत होते हैं। इस कल्पना का प्रसार कथात्मक, काव्यात्मक और कलात्मक तीन रूपों में अधिक प्रचलित रहा है। कथात्मक रूपों का विशेष प्रचार पुराणों में हुआ है और काव्यात्मक रूपों का संस्कृत काव्यों एवं नाटकों में तथा कलात्मक रूपों का प्रचार भारतीय कला के समस्त क्षेत्रों पर आच्छन्न है। साम्प्रदायिक उपास्यवादी अवतार-कल्पनाओं में उसी कोटि की बिम्बोद्भावना का अधिक प्रचार हुआ जो उपासक के समस्त ऐहिक भावों और कामनाओं के उन्नयनीकरण (Sublimation) में अधिक से अधिक सक्षम हों।

रमणीय बिम्बोद्भावनाओं में जो सृजनात्मक प्रक्रियाएँ होती हैं, उनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अति क्षतिपूर्ति' (over compensation) उल्लेखनीय है। क्योंकि विभिन्न कल्पनाओं के उपक्रम में मनुष्य की भावना एक ऐसी क्षतिपूर्ति की ओर ले जाती है, जिसका मानवता से भी कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता है। इस उपक्रम में समस्त पुंजीभूत कल्पनाएँ (फैंटेसीज़्) किसी न किसी भावना-ग्रंथि के चारों ओर विकसित होती हैं। इन कल्पनाओं का सम्बन्ध, उन व्यक्तिगत ग्रंथियों और अचेतन उपस्थापनाओं के बीच स्वयं अचेतन द्वारा स्थापित किया जाता है, जो अक्सर अभिलाषा, विम्ब और सर्वशक्तिमत्ता की उपस्थापना को अभिव्यक्त करती हैं। फिर भी ये अभिव्यक्तियाँ पुंजीभूत कल्पना के उस रचनात्मक प्रभाव को भुलाने के लिये प्रेरित करती हैं, जो सर्वदा भावप्रतिमात्मक उपादानों से

आबद्ध रहते हैं। ये पूंजीभूत कल्पनाएँ अवरुद्ध व्यक्तित्व को एक नयी दिशा प्रदान करती हैं; तथा मनोजीवन को पुनः अग्रसर करती हैं और व्यक्ति को स्रष्टा होने की प्रेरणा देती हैं।

सामान्य विकास की दृष्टि से 'निर्वाण' और 'विराट्' की कल्पनाएँ प्रायः उस भावप्रतिमात्मक पुरानेता (Hero-myth) से सम्बन्ध स्थापित कर और अहं का नेता के साथ तादात्मीकरण करते हुए, विकसित होती जाती हैं, जो भाव-प्रतिमात्मकता की दृष्टि से सर्वदा चेतना का प्रतीकात्मक बोध कराते हैं, क्योंकि इस व्यक्तिगत उपक्रम में वैयक्तिक भावना-ग्रन्थि को जीतने के लिए अहं को शक्तिशाली बनाना आवश्यक हो जाता है।[१] यहां रूपान्तर का तात्पर्य हो जाता है—उस 'उन्नयनीकरण' से जो वहाँ व्यक्ति के संस्कृतिकरण या समाजीकरण का अर्थ ज्ञापित करता है, तथा भावना-ग्रंथि और भाव-प्रतिमा के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

स्वप्न

कल्पना की तरह स्वप्न भी रमणीय बिम्बोद्भावना का सबल माध्यम रहा है; वस्तुतः बिम्ब की स्थूल नश्वरता का अनोखा अनुभव निद्रावस्था में आने वाले स्वप्नों में ही होता है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों में शिलेर मेकर (Schlier Macher) ने कला के क्षेत्र में उठने वाले इस भ्रम का निवारण करने का प्रयास किया कि 'कला में ऐन्द्रिक (सुख-दुःखात्मक) चेतना व्यक्त होती है या धार्मिक। शिलेरमेकर इसी से कला की स्वतंत्र उत्पत्ति मानता है। वहाँ ऐन्द्रिक आनन्द और धार्मिक अनुभूति दोनों अपने अनुरूप आलम्बनों के द्वारा निर्धारित होते हैं। स्वतंत्र उत्पत्ति के क्षेत्र में 'शिलेरमेकर' ने सद्यः चेतना द्वारा निर्मित बिम्बों की तुलना 'स्वप्न-बिम्बों से की है। उसकी दृष्टि में समस्त कलाकारों द्वारा कलाभिव्यक्ति का कार्य एक प्रकार का स्वप्निल कार्य-व्यापार है। कलाकार वह स्वप्न-द्रष्टा है, जो खुले नेत्रों से भी स्वप्न देखता है। उसकी स्वप्नावस्था के सघन बिम्बों की भीड़ में से निर्गत वे बिम्ब, जो पर्याप्त शक्ति वाले हैं, एकमात्र कलाकृति का रूप

---

१. आ. कृ. अ. पृ. १५८ 'In the case of the average normal development fantasies of salvation or greatness lead, perhaps through a relation with the archetypal hero Myth and identification of the ego with the hero, who always archetypally symbolises consciousness, to the strengthening of the ego that is necessary if the personal complex is to be overcome'.

धारण करने की क्षमता रखते हैं,[1] जबकि अन्य बिम्ब केवल पृष्ठभूमि में स्थित रहते हैं। इस प्रकार कला के समस्त अनिवार्य तत्व स्वप्नावस्था में ही उपलब्ध हैं; जो केवल स्वतंत्र विचारों और ऐन्द्रिक स्वयं प्रकाश या प्रातिभ ज्ञान से युक्त बिम्बों में निहित हैं। निःसंदेह शैली की दृष्टि से कलापरक बिम्बों और स्वप्न बिम्बों में बहुत कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है, किन्तु फिर भी वह आन्तरिक व्यापार जो बिम्ब का स्वरूप निर्धारण करता है—यह वही है जो कला को स्वप्न से पृथक करता है या स्वप्न को ही बिम्ब के रूप में रूपान्तरित करता है।

अवतारवादी बिम्बोद्भावना में अन्य तत्वों के साथ स्वप्नों की प्रक्रिया की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अवतारों के आविर्भाव की जो परम्परा प्रबन्ध काव्यों, नाटकों या पौराणिक कथाओं में अभिव्यक्त होती रही है—आविर्भूत होने वाले प्रवर्त्तकों या अवतारों का प्रथम बिम्बीकरण स्वप्न में ही उनकी माताओं को गोचर होता है। बौद्ध और जैन धर्म में उनकी माताएँ एक ही नहीं अपितु लगातार अनेक स्वप्न देखती हैं, जिनमें अवतारों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रतीकों की श्रृंखला में अनुबद्ध है।[2] परन्तु जहाँ तक अवतारों की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है—वे अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों की तरह कलाकारों के मानस में उत्पन्न होने वाले दिवास्वप्नों के ही बिम्ब हैं; जिनको विभिन्न युगों के कलाकार और कवि अपनी कलात्मक शैलियों में अभिव्यंजित करते रहे हैं। इनमें भक्त एवं उपासक कलाकार तो अवतारों के नित्य और नैमित्तिक दोनों रूपों के समन्वित कला-उपादानों के आधार पर स्वप्न द्रष्टा की तरह ही सम्भवतः उन्मनी या तुरीयावस्था में भी रहकर नवीन रमणीय बिम्बोद्भावनाएँ किया करते रहे हैं।

क्रीड़ा-वृत्ति

दिवास्वप्नों के अनन्तर रमणीय बिम्बोद्भावना जिन सहज वृत्तियों से अनुप्राणित रहा करती है, उनमें कामवृत्ति या रमणवृत्ति की अपेक्षा क्रीड़ावृत्ति प्रमुख है; क्योंकि रमणीय बिम्बोद्भावना के सहज प्रवाह को अधिकाधिक संवेगात्मक और गतिशील बनाने में क्रीड़ावृत्ति बेजोड़ है। यों कामवृत्ति या रमणवृत्ति में जो सक्रिय चेतना या क्रियात्मक व्यापार है, जो उन्हें कार्यावस्था में अवस्थित ही नहीं रखता, अपितु अविरत लगाए रहता है—वह

---

१. एस्थे. पृ. ३१८।

२. ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरों और गौतम बुद्ध की माताएँ अनेक स्वप्न क्रमशः देखती हैं।

क्रीडावृत्ति है। शिशुकाल में अचेतन; उपचेतन और चेतन हमारे मन में ये तीनों अंश सम्मिलित रूप से जिस बाह्य क्रीड़ा वृत्ति में संलग्न दीख पड़ते हैं, वही उम्र, अनुभव और सामाजिक अवरोधों की शृङ्खला में बँधकर अन्तर्मुखी हो जाती है—वह कभी भी शान्त या एकान्त अवस्था में कल्पना, स्वप्न या दिवास्वप्नों के माध्यम से नव्य-नूतन रमणीय बिम्बोद्भावना किया करती है। व्यक्ति सापेक्ष होने के कारण परम्परागत भाव-प्रतिमा की बिम्बोद्भावना भी मात्रात्मक अनुपात और वैशिष्ट्य की दृष्टि से नवीन होती है। पाश्चात्य विचारक शिलर ने तो समस्त सौन्दर्य चिन्तन को ही क्रीड़ावृत्ति के अन्तर्गत माना है। उसकी दृष्टि में मनुष्य केवल सौन्दर्य के साथ क्रीड़ा करता है और उसका सौन्दर्य केवल क्रीड़ा ही है।[१] क्रीड़ावृत्ति के द्वारा मनुष्य सौन्दर्यपरक चिन्तन कर कला की अभिव्यक्ति करता है। वह समस्त प्राकृतिक वस्तुओं को सचेतन देखता है। इस छाया-चेतना में प्राकृतिक आवश्यकता स्वयं गुणों का स्वतंत्र निर्धारण करती है; ऐसी स्थिति में आत्मा उन्मुक्त रूप से प्रकृति के साथ तथा रूप वस्तु के साथ अभिन्न प्रतीत होते हैं।[२] शिलर के मतानुसार जो पूर्ण अर्थ में मनुष्य है उसमें क्रीड़ावृत्ति का ही प्राधान्य है। क्रीड़ावृत्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों को दमन-क्रिया से मुक्त करती है; साथ ही उनकी क्षति-पूर्ति करते हुए उसे मुक्त आनन्द की उपलब्धि कराती है।[३] शिलर ने क्रीड़ा-क्षेत्र को ऐन्द्रिक, प्राकृतिक, वासनात्मक, बौद्धिक और नैतिक माना है। उसकी दृष्टि में सौन्दर्य जीवन है और वह जीवन्त रूप है। जीवन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, क्योंकि सौन्दर्य का विस्तार केवल समस्त मनोवैज्ञानिक जीवन तक नहीं है, एकान्ततः न तो सीमित है और न व्यापक ही।[४] इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य में चलनेवाली आन्तरिक क्रीड़ावृत्ति सौन्दर्यानुभूति के सक्रिय व्यापार की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। इस दशा में मनुष्य काल्पनिक आलम्बन बिम्बों का निर्माण कर मनो-ह्लादन करता है। मनो-ह्लादन की यह मात्रा ही उत्तरोत्तर अभिकेन्द्रित होकर उसे सौन्दर्यानुभूति से आगे बढ़ाकर रहस्यानुभूति की स्थिति तक पहुँचा देती है। मेरी दृष्टि में इस कोटि की क्रीड़ावृत्ति में भी आलम्बनहीन आत्मनिष्ठता नहीं है; और जो आलम्बन इसके आधार हैं—वे रमणीय बिम्ब ही हैं।

---

१. साइको. टा. पृ. १३५। 'Man shall only play with beauty and only beauty shall be play'.

२. एस्थे. पृ. २८५। ३. साइको. टा. पृ. १३५। ४. एस्थे. पृ. २८५।

विषय और रूप

कलाभिव्यक्ति की तरह रमणीय बिम्बोद्भावना भी विषय और रूप पर आधारित है। क्रोचे के अनुसार एक का अस्तित्व बाहर है और दूसरे का भीतर। विषय रूप के द्वारा अधिकृत होकर रूप की उत्पत्ति करता है। यह वह पदार्थ या विषय है जो हमारे सहज ज्ञानों को एक दूसरे से पृथक करता है। रूप सदैव एक-सा रहता है; यह एक आध्यात्मिक क्रिया है; जब कि पदार्थ परिवर्तनशील है।[1] भक्त कलाकार भी अरूप को रूप देते हैं। अवतार-वादी कलाभिव्यक्ति में ब्रह्म उनका विषय है और अवतार उसका रूप। अवतार-रूप में ही भक्त कलाकर सौन्दर्योत्पत्ति करता है। क्रोचे के अनुसार सौन्दर्योत्पत्ति की पूर्ण क्रिया चार अवस्थाओं में सम्मूर्त्तित की जा सकती है, पहला—प्रभाव, दूसरा—अभिव्यक्ति या आध्यात्मिक रमणीय समन्वय, तीसरा—साहचर्य सुख या रमणीय रसानन्द, चौथा—रमणीय सत्य को भौतिक-प्रतीति (ध्वनि, लय, गति, वर्ण और रेखाओं की संगति में अनूदित करना।[2] यों रमणीय अभिव्यंजना के क्षेत्र में आने वाले प्राकट्य और निर्माण अवतार-वादी अभिव्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ हैं। कलात्मक कृतियाँ स्थूल या भौतिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आती हैं; किन्तु विरोधाभास तो यह है कि सुन्दर भौतिक सत्य नहीं है, क्योंकि वह पदार्थों में निहित नहीं है, अपितु मनुष्य की सक्रियता और आध्यात्मिक शक्ति में है। इसी से विषय आन्तरिक सत्य है और रूप उसकी प्रतीति है। अवतारवाद में शिव और अशिव, देव और राक्षस—आन्तरिक विषय हैं और चित्र, संगीत, मूर्ति, वास्तु; काव्य आदि में उनकी अभिव्यक्ति रूप है। रूप विषय का व्यंजक है। वह विषय को इन्द्रिय-संवेद्य और ग्राह्य बनाता है। रूप जिन शक्तियों के द्वारा विषय का प्रकाशन और उसकी अभिव्यंजना करता है, वे हैं—संकेत, प्रतीक, प्रतिभा, बिम्ब, प्रतिबिम्ब इत्यादि। इस प्रकार रूप, सांकेतिकता, अर्थवत्ता, मूर्तिमत्ता, कल्पनात्मकता, स्मृत्यनुकल्पन इत्यादि मनो-व्यापारों के द्वारा विषय को संवेद्य बनाकर तथा भावकत्व से मुक्त कर रमणीयरूप में प्रस्तुत करता है।

प्रायः कला-विचारक विषय से अधिक रूप को महत्व देते हैं। कला का वास्तविक वैशिष्ट्य रूप ही के द्वारा प्रकट होता है। कला प्रकृति को रूप के द्वारा जीत लेती है; क्योंकि कलाकृति के वास्तविक सौन्दर्य में रूप ही सब कुछ है; वस्तु कुछ नहीं। रूप के द्वारा ही मनुष्य सर्वतोभावेन आकृष्ट होता है। किन्तु वस्तु के द्वारा उसके पृथक् गुणों के कारण उसमें रुचि बढ़ती

---

१. एस्थे. पृ. ६। २. एस्थे. पृ. ९६।

है। निश्चय ही कलाकार का रहस्य यह है कि रूप के द्वारा वह वस्तु को छिपा लेता है। रमणीय बिम्बोद्भावना में वस्तु और रूप दोनों का योग अपरिहार्य है; क्योंकि वस्तु और रूप में प्रकृत या अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रायः श्रेष्ठ कलाकृति में वस्तु को रूप आच्छादित कर लेता है। खास कर अभिव्यंजनावादी कला में रूप साध्य है और विषय-वस्तु साधन। किन्तु विषयवस्तु और अवतारवादी कलाभिव्यक्ति में विषय-वस्तु (ब्रह्म) साध्य है और रूप उसका साधन। भक्त कलाकार विभिन्न रूपाभिव्यक्तियों के द्वारा अपने उपास्य एवं साध्य ब्रह्म की ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति के निमित्त अनेक कलात्मक रूपों का माध्यम अपनाते हैं। अतएव अवतारवादी साधना में ऐन्द्रिक साक्षात्कार की दृष्टि से रमणीय बिम्बोद्भावना का चरम विषय ब्रह्म है और लोकप्रिय आविर्भूत रूप ही चरम रूप है। अन्य कलाओं की अपेक्षा अवतारवादी विषय और रूप में एक विशेषता यह भी है कि विषय-गत ब्रह्म एक ही है। किन्तु उपास्यरूप रूप की दृष्टि से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप दो प्रकार के हो जाते हैं। इन दोनों रूपों में भक्त कलाकार ब्रह्म की प्रतीकात्मक रमणीय बिम्बोद्भावना ही करता है।

सृजनात्मक भाव-प्रतिमाएँ

सामूहिक अचेतन की भाव-प्रतिमाएँ वे रूपहीन मानस-आकृतियाँ हैं जो कलाओं में दृष्टिगोचर होती हैं। ये भाव-प्रतिमाएँ जिन माध्यमों से गुजरती हैं, उनकी विविधताओं का इनपर आच्छादन हो जाता है अर्थात् उनका रूप समय, देश या मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति जिनमें वे अभिव्यक्त हुए हैं, उनके अनुसार बदला जाता है।[1] कला इस स्थिति में एक सामूहिक वस्तु हो जाती है, जिसे सामूहिक सन्दर्भ से पृथक् नहीं किया जा सकता, बल्कि वह सामूहिक जीवन के साथ सन्निविष्ट हो जाती है। कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार, नर्तक, गायक, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार है, उसके प्रत्येक कार्य में समूह के प्रभाव की स्थिति परिलक्षित होती है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति की चेतना इन शक्तियों के प्रभाववश बिल्कुल अन्धी बनी रहती है। मानस की सृजनात्मक वृत्तियों के प्रति प्रतिक्रिया प्रतिबिम्बित न कर उसके अधीन उसके आदेशों को पालन करने वाली होती है। किन्तु वे मानस-अन्तर्धाराएँ जो मनुष्य की अनुभूति और विश्व की प्रतिभा को निर्धारित करती हैं—वे उन रंगों, रूपों, लयों और शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं; जो प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों में ठोस रूप धारण कर, मनुष्य के भाव-प्रतिमात्मक जगत और जिस जगत में वह रहता है, उन दोनों सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करती हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ से ही मनुष्य प्रतीकों का स्रष्टा रहा है। वह विशिष्ट आध्यात्मिक मानस-जगत का प्रतीकों द्वारा निर्माण करता है; जिसमें वह स्वयं समस्त विश्व में बोलता और सोचता है, साथ ही आकृतियों और प्रतिमाओं के द्वारा भी उसकी अदृश्यानुभूति उसे प्रबुद्ध करती रहती है।

अचेतन से भाव प्रतिमाओं को निकाल कर अभिव्यक्त करने में संवेगों का विशेष हाथ रहता है। अतएव संवेगात्मक प्रेरकों के द्वारा जो समष्टिनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ भाव-प्रतिमाएँ उद्भूत होती हैं; उन सभी के विशिष्ट उपादान दीख पड़ते हैं। प्राकृतिक विश्व के परे मनुष्य द्वारा निर्मित जो साहित्य एवं कला का विश्व है, उसकी अभिव्यक्ति प्रतीकों, बिम्बों और भाव-प्रतिमाओं के द्वारा होती है। यह सृजन क्षेत्र मानव-मन का अचेतन जगत है। जिस प्रकार मानस-बिम्ब विश्व की संश्लिष्ट विवृति करते हैं, कलात्मक सृष्टि के उद्भवकाल में भी वही दशा लक्षित होती है। कलात्मक सृष्टि वह ऐन्द्रजालिक शक्ति है—जिसमें अनुभूति, प्रत्यक्ष-बोध, आन्तरिकसूझ और विशिष्टीकरण एक ही में समाविष्ट रहते हैं।

बिम्बोद्भावना की प्रारम्भिक अवस्था में अविव्यक्त होने वाले भाव-प्रतिमाओं के उपादान, प्रायः वे ही सांस्कृतिक उपादान होते हैं, जो अचेतन में अवस्थित हैं, किन्तु चेतना के विकास और क्रमबद्ध होने के साथ ही वैयक्तिक अहं के आरूढ होने के अनन्तर एक सामूहिक अवचेतन का उदय होता है, जिसके फलस्वरूप भाव-प्रतिमाओं के निश्चितरूप, प्रतीक, मूल्य, दृष्टिकोण आदि का विकास होता है, जिन पर अचेतन भाव-प्रतिमात्मक उपादानों के प्रक्षेपण से पुराकथा (Myth), सम्प्रदाय बन कर विभिन्न सम्प्रदायों के रूढ़िगत रिक्थ हो जाते हैं। रचनात्मक क्षमता समूह से निर्गत होती है, और प्रत्येक नैसर्गिक वृत्तियों की तरह यह जातियों (Species) का प्रतिनिधित्व करती हैं, व्यक्ति का नहीं। इस तरह स्रष्टा व्यक्ति मानवातीत (Transpersonal) का एक यंत्र है, किन्तु व्यक्ति के रूप में वह उस अदृश्य सत्ता के साथ संघर्षरत हो जाता है, जिसने उसे ग्रस्त कर लिया है। सृजनात्मक व्यापार चेतना-ग्रहण की दृष्टि से अचेतन की तुरीयावस्था से लेकर निद्राभ्रमण (सोमन बॉलिज्म) की उच्चतम अवस्था तक व्याप्त है, जिसमें कलाकार पूर्ण दायित्व के साथ सक्रिय रहता है। इस व्यापार में अनुवादक चेतना महत्त्वपूर्ण योग देती है।

यहीं यह प्रश्न उठता है कि कलाकार अपने युग के सामूहिक अचेतन से आप्लावित रहता है या उसका अतिक्रमण कर देता है। यदि वह अपने युग के सामूहिक अचेतन से आप्लावित है तो इसकी स्पष्ट छाप उसकी कृतियों पर

लक्षित होती है। विशेषकर मध्ययुगीन अवतारवादी कला-स्रष्टा भक्तों एवं भक्त कवियों में अपने युग का अवताराच्छन्न अचेतन पूर्णतः व्याप्त विदित होता है। दूसरे शब्दों में वे अपने युग के सम्प्रदाय और संस्कृति से पूर्णरूपेण अनुप्राणित थे। यों फिर भी स्रष्टा व्यक्ति के मानस-तल में पुरुषातीत या पुरुषेतर प्रभाव के कारण उसका मानस क्षेत्र अधिक सुगठित रहता है। अतः मनुष्य की कलाकृति में एक ऐसा अदृश्य जगत आविर्भूत होता है जिसमें प्रकृति और कला का बाह्य और आन्तरिक ध्रुवत्व निर्धारित रहता है[१]। जहाँ भी परम्परागत कला भाव-प्रतिमा के सार को ग्रहण कर लेती है, वहाँ उसकी प्रवृत्ति एक निश्चित एवं पूर्व निर्धारित साँचे में 'भाव-प्रतिमा' को स्थापित करने की रहती है, जिनमें प्रवर्तकों, अवतारों और उद्धारकों के जन्म या मृत्यु सम्बन्धी घटनाएँ या जिनमें बुद्ध का ध्यान या परमात्मा का आविर्भाव या अवतार जैसी भाव-प्रतिमाएँ भी समाविष्ट रहती हैं। उपास्य इष्टदेव, मानवातीत सत्तो के प्रतिनिधि रूप में, शाश्वत या सनातन के अवतार को ही जागतिक विश्वास की सत्यता में संनिहित कर ज्ञापित करते हैं। किन्तु असाधारण अवस्थाओं में विश्वातीत दृश्य होकर मानवातीत प्रतीत होता है। यद्यपि वह भी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए मानव माध्यम से ही सम्भवतः अपने आप ही कुछ कहने के लिए प्रकट होता है। इस दृष्टि से अवतारवादी कला दो आयामों वाली जान पड़ती है—क्योंकि ब्रह्म और जीव, देव और दानव, अवतार और प्रतिअवतार एक मनुष्य के द्विपक्षीय आयाम प्रतीत होते हैं। निरपेक्ष की अपेक्षा सक्रिय और सापेक्ष ही कलाभिव्यक्ति, अनुभूति या सृष्टि-विधायिनी क्षमता का लक्ष्य हो सकता है। अतः स्रष्टा और सक्रिय ईश्वर स्वयं वह भाव-प्रतिमा है, जिसके बल पर सृष्टि विधायिनी क्रिया का संचार होता है।

सृजनात्मक रूपान्तर

सृजनात्मक रूपान्तर उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को प्रस्तुत करना है, जिसमें सृजनात्मक सिद्धान्त व्यक्त होता है किन्तु उसकी यह अभिव्यक्ति भी स्फोट के रूप में हुआ करती है। यों तो स्रष्टा मानव में भी व्यक्तिगत भावना-ग्रंथियों और भाव-प्रतिमाओं के बीच एक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित हो जाता है, किन्तु सामान्य मानव की तरह उसमें इनका समन्वय नहीं होता। सृजना-

---

१. आ. कृ. अ. पृ. १०३। 'In These Works of Man a numinous world is Manifested in wlich The Polarity of outward and inward nature and art-seems To be resolved'.

त्मक प्रक्रिया एक संश्लिष्ट संयोजना है; विशेष कर इस स्थिति में जब कि मानवेतर, शाश्वत, व्यक्तिगत या क्षणभंगुर उसमें विलय होकर किसी नव्य नूतन की सृष्टि करते हैं। और चिरस्थायी शाश्वत सर्जना क्षण-भंगुर या नश्वर सृष्टि में साकार हो जाती है। रचनात्मकता की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह समस्त संस्कृति के लिए किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ आलम्बन का निर्माण करती है; साथ ही ये आलम्बन व्यक्तिगत विकास के आत्मनिष्ठ पक्ष या स्रष्टा व्यक्ति के व्यक्तिकरण का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। मानस अपने रचनात्मक संघर्ष को सामूहिकता के सामान्य एवं प्रत्यक्ष उपयोगिता के प्रवाह के विरुद्ध जारी रखता है। किन्तु जो रचनात्मक संघर्ष व्यक्तिगत ग्रन्थि की क्षतिपूर्ति के लिए आरम्भ हुआ था, वह भाव-प्रतिमाओं के द्वारा निरन्तर सक्रियता और समस्त भाव-प्रतिमात्मक जगत की सजीवता की ओर प्रवृत्त होता है, और इस प्रकार वह स्रष्टा व्यक्ति को पकड़े रखता है। एक भाव-प्रतिमा संबंध-भाव से दूसरी भाव-प्रतिमा तक ले जाती है; जिसमें लगातार भाव-प्रतिमात्मक विश्व की नवीन मांगों को केवल व्यक्तित्व और रचनात्मक उपलब्धियों के निरन्तर रूपान्तर के द्वारा पूर्ण किया जा सके। इस तरह सृजनात्मक प्रक्रिया में भाव-प्रतिमाओं की श्रृङ्खला लगातार रूपान्तर के द्वारा नवीन शक्तिमत्ता का संचार करती रहती है। साथ ही रचनात्मक प्रक्रिया के प्रतीकवाद में उसके युग विशेष के लिए कोई पुनः सृष्ट्यात्मक तत्व विद्यमान रहता है, जो आगमिष्यत विकास का भी उत्पादक बीज है। रचनात्मक ढंग से रूपान्तरित विश्व की वास्तविकता की आधार-भूत भाव-प्रतिमा स्वयं घूमता वह पूर्ण चक्र है, जिसका प्रत्येक बिन्दु एक 'घुमाव विन्दु' है, जो अक्सर प्रारम्भ के साथ उपसंहार करता है, और अन्त के साथ आरम्भ करता है, क्योंकि जीवन के विरोधाभासों में से यह वह है, जिसकी रचनात्मक वास्तविकता यों विशुद्ध वर्तमान के रूप में अस्तित्व का द्योतक है, किन्तु समस्त अतीत भी इसी अस्तित्व में प्रवाहित हो रहा है, जब कि समस्त भविष्य एक झरने की तरह इसके (अस्तित्व के) ऊपर बह रहा है।[1] अतः यह वह विन्दु है, जहाँ घुमाव और ठहराव दोनों हैं। अस्तित्व का यह विन्दु रहस्यवाद का सृजनात्मक शून्य विन्दु है; यह सृष्टि में एक, दरार या छिद्र स्वरूप है, क्षण मात्र में, जिस पर चेतन और अचेतन सृजनात्मक एकता एक तीसरे रूप में बदल जाती है। ये भी वास्तविकता के एक अंग हैं, जो सृजनात्मक क्षणों के सौन्दर्य और आनन्द में देर तक विचरते रहते हैं।[2]

---

१. आ. क्रु. अ. पृ. १९२ और फि. आ. ह्री. २४५। २. आ. क्रु. अ. पृ. १९२।

इस प्रकार रमणीय बिम्बोद्भावना में उपर्युक्त समस्त तत्वों का प्रत्यक्ष या परोक्ष योग होता है। जहाँ तक अवतारों की रमणीय बिम्बोद्भावना का प्रश्न है, रमणीय कलानुभूति के क्षेत्र में वे इन समस्त तत्वों से समाहित होकर ही व्यक्त होते हैं।

कृति

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में रमणीय बिम्बोद्भावना ही कृतियों का निर्माण करती है। अतएव कृति रमणीय बिम्बोद्भावना का चिरस्थायी एवं चरम रूप है। यों तो समस्त कृतियां दृश्य, श्रव्य और चिन्त्य होती हैं। किन्तु अवतारवादी कृति अलंकृत या अन्योक्तिपरक तथा आस्वाद्य और उपास्य अधिक प्रतीत होती है। यदि वह अपनी अलंकृति में भावक की समस्त कल्पना का समाहार कर लेती है, तो अन्योक्तिपरक होकर वह भक्तके जीवन की लक्ष्यभूत समस्त सम्भावनाओं को जाग्रत किए रखती है। ब्रह्म सामान्य जीवन में आविर्भाव द्वारा और कलाकृति के क्षेत्र में अभिव्यक्ति द्वारा ऐन्द्रिक आस्वाद्य और आध्यात्मिक उपासना का उपजीव्य बनता है। अवतारवादी रमणीय कृति की विशेषता यह है कि वह सामाजिक और वैयक्तिक, प्रबन्ध और मुक्तक, 'बहुजन हिताय' और 'स्वान्तः सुखाय' दोनों प्रकार की क्षमताओं से संवलित है। यों प्रभाव की दृष्टि से समस्त कृतियों को ललित कृति, रमणीय कृति और उदात्त कृति तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। वास्तु, मूर्ति और चित्रकलाएं ललित अधिक होती हैं, रमणीय कम। संगीत में लालित्य के साथ रमणीयता भी मिश्रित रहती है। किन्तु नाटक और काव्यों में साधारणीकरण की क्षमता अधिक होने के कारण रमणीयता सर्वाधिक जान पड़ती है। लालित्य और रमणीयतासे मेरा तात्पर्य सौन्दर्याभिरुचि और रमणीयानुभूति से है। ललितकृतियाँ सौन्दर्याभिरुचि की क्षमता से ही अधिक परिपूर्ण रहती हैं। यों तो 'कला कला के लिए' के समर्थकों ने कलाभिव्यंजन को चरमसाध्य माना है। यद्यपि इस कोटि की कलाकृतियों की परिधि ऐन्द्रिक आस्वादन तक ही सीमित रही है। परन्तु अवतारवादी कलाभिव्यक्ति या कलाकृति कभी भी अपने आपमें चरम साध्य नहीं होती उसकी भौतिकता भी दिव्य आध्यात्मिकता का माध्यम होती है। अवतारवादी कृति चाहे ललित, रमणीय और उदात्त कुछ भी हो सर्वत्र उसकी उद्भावना और अभिव्यक्ति में परम ब्रह्म या उपास्य ब्रह्म व्यंग्य रहता है। अवतारवादी भक्त अपने उपास्यदेव की काष्ट या प्रस्तर मूर्ति का शृङ्गार कर केवल भौतिक सौन्दर्याभिरुचि नहीं अपितु उसके आधार पर उद्भावित उपास्य परम ब्रह्म के भावनात्मक ललित रूप की

उद्भावना करता है। इस उद्भावना को ही अनुप्राणित करने वाले भावों में 'अग्निपुराण' में वर्णित भावों को ग्रहण किया जा सकता है। अग्निपुराणकार ने पुरुषों में शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज[1], तथा स्त्रियों में भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रागल्भ्य, उदारता, स्थिरता, और गम्भीरता[2] जैसे जिन भावों का अस्तित्व माना है, वे अवतारवादी उपास्य देवों की भी उद्भावना को उत्प्रेरित करने वाले तत्त्व विदित होते हैं।

रमणीय कृति भावक या भक्त के मन को झंकृत, प्रेरित और अनुप्राणित करनेवाली वह कृति है, जो उसके आन्तरिक मनके अन्तर्द्वन्द्वों या संकल्पात्मक और विकल्पात्मक अनुभूतियों को सक्रिय बनाए रखती है। अवतारवादी कृति का प्रमुख एवं सनातन विषय देव-दानव संघर्ष वस्तुतः दो आदर्शों (आत्मिक और भौतिक) का संघर्ष है, नाटक एवं प्रबन्धकाव्यों में जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति हमारे समस्त मनोव्यापारों को प्रबुद्ध कर रमाए रहती है। अवतार चरितात्मक कृति देव-दानव संघर्ष में आविर्भूत शक्ति के द्वारा अंतिम विजय दिखाकर मनुष्य के संघर्षशील मन को विजय-भावना से तुष्ट किये रहती है। देव-दानव संघर्ष के सदृश वह भी दृढ़तापूर्वक अपनी समस्त शक्ति लगाकर अपनी आसुरी शक्तियों को दमित करने में कृत-संकल्प बने रहने की अनायास इच्छा करता है। बार-बार की आवृत्ति के कारण वही इच्छा अचेतन मन का दृढ़ संकल्प बनकर उसकी समस्त चारित्रिक गतिविधि को भी सुदृढ़ बनाती है। इसी से विजयोपरान्त तक होने वाली अवतारलीला मन की समस्त वृत्तियों को अत्यन्त रमणीय और मनोनुकूल लगती है। रमणीय कृति में साधारणीकरण की अपूर्व क्षमता होती है। रमणीय कृति के रूप में ग्राह्य नाटक और प्रबन्ध काव्य रमणीयता के अतिरिक्त ललित कृति की विशेषताओं से भी सन्निविष्ट रहते हैं, फलतः उनका प्रभाव भावक पर परोक्ष रूप से पड़ा करता है।

अलंकरण

काव्य, कला और नाटकों में अलंकृति स्वयं एक सौन्दर्यपरक कार्य व्यापार है। शोभा या सजावट के लिए इनका प्रयोग वास्तु, मूर्ति और चित्रों में क्रमशः पदार्थ, वर्ण, और रेखाओं के द्वारा, संगीत में मूर्च्छनाओं से युक्त स्वर-प्रस्तार द्वारा, काव्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार द्वारा तथा नृत्य और नाटक में मुद्रा, ताल, भाव-भंगी, अभिनय और वार्ता द्वारा अलंकृत करने का

१. अग्नि. पु. का. भा. पृ. ४५। २. अग्नि. पु. का. भा. पृ. ४६।

प्रतीयमान व्यापार दोनों का अन्तर्भाव रहता है। प्रस्तुत कथा की गौणता या समानता मात्रा-भेद के कारण अन्योक्तिपरक अथवा समासोक्तिपरक मानी जाती है।

अवतारवादी रमणीयता का अध्यवसान सदैव अन्योक्ति या समासोक्ति-परक होने के कारण प्रायः रूपकात्मक रहा है। अतः अवतारत्व से सम्बन्धित वह साहित्य जहाँ अवतार पात्र ब्रह्मत्व की सम्पूर्णता से सन्निविष्ट होकर अभिव्यक्त होता है, वह कृति अपने रूपकात्मक परिवेश में रूपकात्मक रमणीयता या रमणीय रूपात्मकता से अनुरंजित दीख पड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि अवतारवादी साहित्य के रमणीय विधान में रमणीयता प्रायः अध्यवसित या रूपकात्मक ही रहा करती है। मध्यकालीन साहित्य के राम और कृष्ण केवल मनुष्य जातीय सौन्दर्य के परिचायक सुन्दर या नयनाभिराम नहीं हैं, अपितु समस्त ईश्वरीय सौन्दर्य उनके माध्यम से व्यक्त हुआ है। वे ईश्वरीय सौन्दर्य के मूर्तिमान प्रतीक हैं। दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि ब्रह्म की छवि का अध्यवसान उनके रूप पर है इसलिए वे दिव्य सौन्दर्य से आच्छन्न हैं। इस प्रकार अवतारवादी कलाभिव्यक्ति में रमणीयता का विधान प्रायः अध्यवसित या रूपकात्मक अधिक रहा है। जिसके परिणाम-स्वरूप उसमें प्रस्तुत या ऐहिक सौन्दर्य की अपेक्षा प्रतीयमान या अलौकिक सौन्दर्य का अधिक महत्त्व रहा है।

अध्यवसितरूपक व्यक्ति और देवताओं के कृत्यों में कुछ नैतिक और प्राकृतिक सत्यों के वैशिष्ट्य का बोध कराता है। प्रारम्भ से ही ऐसे रूपकों में एक ऐसी बौद्धिक चेतना का विकास होता है, जो उन समस्त काल्पनिक उपादानों को, जो पारस्परिक अन्तर्विरोधों और ध्वंसात्मक जटिलताओं से परिपूर्ण थे, उन्हें क्रमबद्ध करती है। अन्योक्ति-विधान की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि अबौद्धिक तथ्य भी प्रामाणिक और अक्षय शक्तिसम्पन्न प्रतीत होते हैं, उन्हें प्रायः समस्त रीति, प्रथा या विश्वास के साँचे में ढाला जा सकता है, साथ ही उन्हें अन्योक्तिपरक बौद्धिकता से आच्छादित कर विकृत या दुरूह भी बनाया जा सकता है। इस वैशिष्ट्य का दर्शन प्रायः हम समस्त पुराकाव्यों (Mythopoetic works) में करते हैं। केनिथ वर्क के अनुसार प्रारम्भिक काव्य प्रक्रियाओं में अन्योक्ति बिम्बों का ऐसा अनिवार्यीकरण कर देती है कि वे समय पाकर साधारणीकृत दर्शन (generalised philosophy) के रूप में परिणत हो जाते हैं।[1] इस प्रकार प्रायः समस्त धार्मिक एवं साम्प्रदायिक काव्यों में अन्योक्ति को दर्शन का और दर्शन को

१. डी. सी. मेक. एले. पृ. ५३।

अन्योक्ति का रूप मिलता रहा है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत काव्य उपास्यवादी अन्योक्ति पद्धति के द्वारा एक साथ ईश्वरवादी दर्शन, साम्प्रदायिक धर्म और काव्याभिव्यक्ति सभी का निर्वाह कर लेते हैं। सम्भवतः इस शैली द्वारा सत्य को सुरक्षित रखने की तथा विस्मृत को पुनः स्मृत करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। प्राचीन सांस्कृतिक काव्यों का कथ्य ज्यों-ज्यों पुराना पड़ता जाता है, प्रायः अनेक कार्य-व्यापारों में व्यक्त की गई अभिनय की अनुभूति पात्र नेता में एकत्रित होती जानेवाली चेतना की वृद्धि करती है।[1]

अध्यवसित रूपकोक्ति की एक मुख्य विशेषता है तादात्म्यीकरण या तादात्म्य। अक्सर अवतारवादी पुराकथाओं में कवि की भावनाओं के अनुरूप चिन्त्य ईश्वर से मुख्य पात्र का तादात्म्य किया जाता रहा है। मनुष्य की विभिन्न मानवीय विशेषताओं से युक्त या मानवीकृत देवता मनुष्य और देव का अन्योक्तिपरक बिम्ब-निर्माण करते हैं। जिन प्रबन्धकाव्यों में सामूहिक अवतार की परम्परा अभिव्यक्त हुयी है, उनमें मानवीकृत देवताओं का गौण पात्रों के साथ विशिष्ट प्रयोजनों में एक अन्योक्तिपरक तादात्म्य स्थापन दृष्टिगोचर होता है। यदि ब्रह्मा विष्णु मुख्य नायकों (राम-कृष्ण) के रूप में अवतरित होते हैं, तो इन्द्र, सूर्य, वायु, कामदेव आदि वैदिक देवता सहायक पात्रों के रूप में आविर्भूत हुआ करते हैं। इस प्रकार अध्यवसित रूपकों में प्रचलित तादात्म्य की क्रिया अवतारवादी प्रक्रिया का आवश्यक अंग प्रतीत होती है। तत्कालीन युग में स्त्री और पुरुष पात्रों के चारित्रिक व्यक्तित्व और उनके पुरुषार्थों को अधिक उदात्त बनाने में इस रूपकात्मक तादात्म्य से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं दीख पड़ता। इस प्रकार अन्योक्ति-विधान के द्वारा समस्त अवतारवादी कृतियों की रमणीयता भी मानवीय सौन्दर्य से परे होकर दिव्य एवं परम सौन्दर्य का ज्ञापक बन जाती है। रमणीय बिम्बोद्भावना और उसके प्रतिफल स्वरूप कृति का प्रभाव ग्राहक पर पड़ता है, क्योंकि रमणीय सौन्दर्य विधान का क्षेत्र कर्ता और कृति के साथ ग्राहक को भी समाविष्ट कर लेता है।

ग्राहक

भारतीय साहित्य में ग्राहक, प्रेक्षक, सामाजिक, सहृदय, पारखी आदि कई एक शब्द साहित्य-रसिकों या मर्मज्ञों के लिए प्रचलित रहे हैं। अवतारवादी साहित्य के ग्राहक भी सामान्य और विशिष्ट दो कोटि के प्रतीत होते हैं। समस्त अवतारवादी साहित्य भारतीय जनसमूह का आस्वाद्य रहा है। भारत

---

१. डी. सी. मेक. एले. पृ. ८७।

की धर्मप्राण जनता धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए केवल इनका आस्वादन ही नहीं करती, अपितु अपने लक्ष्योपलब्धि का साध्य मानकर साधना करती रही है। अवतारवादी कृतियों के स्वाध्याय, रामलीला के आस्वादन, तथा विभिन्न अवतार मूर्तियों की झाकियों में आविर्भूत ब्रह्म की लीलाओं का ध्यान करते हैं।

वैदिक काल से ही जातीय देवों की पूजा और उनके साहित्य के अध्ययन कुछ विशिष्ट (आर्यों) लोगों तक ही सीमित रहे हैं। आर्येतर लोग इनके आस्वादन से प्रायः वंचित रखे जाते थे। परन्तु आगे चलकर जब अनेक आक्रमणकारी जातियाँ भारतीय क्षेत्र में बसकर स्थानीय जनसमाज का एक अभिन्न अंग बन गयीं, उन्हीं दिनों यह प्रश्न उठा कि वैदिक साहित्य एवं कला को बहुजनव्याप्य कैसे बनाया जाय। सम्भवतः इसी धारणा से प्रेरित होकर तत्कालीन स्रष्टाओं ने एक ऐसे युग सापेक्ष नाट्यकला की सृष्टि की जो ग्राम्य, अधर्म में प्रवृत्त, काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत लोगों के लिए या देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग आदि द्वारा आक्रान्त और लोकपालों द्वारा प्रतिष्ठित लोगों के लिए 'क्रीड़नीयक' द्वारा सभी का आस्वाद्य बन सके।[1] यही नहीं वे गुड़ में लिपटी हुई कड़वी औषधि के समान कला में आवेष्टित नैतिक सत्य को भी ग्राहक के लिए उपादेय बनाना चाहते थे। इस दृष्टि से साहित्य एवं कला की अन्य विधाओं की अपेक्षा रूपक वह 'सार्ववर्णिक' कलाओं में रहा है, जो 'श्रव्य-दृश्य शिक्षा' (Audo Visual Education) का सबल माध्यम कहा जा सकता है। अतएव ग्राहक की दृष्टि से भी नाट्य-कला वह सर्वप्रथम कला है, जो सर्वजनग्राहिणी मर्म पर सीधे प्रहार करने वाली है। अकेले नाट्यकला में सभी कलाएं इस प्रकार आत्मसात् हो जाती है, कि 'वाद्य-वृन्द' की तरह सभी का समन्वित प्रभाव ग्राहक में एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रभावपुंज की सृष्टि करता है। "नाटक के रंगमंच-विधान में वास्तुकला, पात्र-विधान में मूर्तिकला, अभिनय में चित्रकला, गायन में संगीत और काव्यकला, कथानक और वार्ता में देश, काल-परिस्थिति-चित्रण, स्वगत कथन इत्यादि में उपन्यास, कहानी, प्रबन्ध, मुक्तक आदि सभी समाहित हो जाते हैं। लोकप्रियता, जनग्राह्यता की दृष्टि से दृश्य-श्रव्य समन्वित शक्तियों से युक्त रूपक समस्त साहित्य एवं कलाओं में शक्तिशाली माना जा सकता है। भरत मुनि ने इसे 'सर्व शास्त्र सम्पन्न' और 'सर्वशिल्प-प्रवर्तक' पंचम वेद कहा है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि नाटक ग्राहक में

---

१. अभि. भा. पृ. ६६। २. भ. ना. १, १५।

बिम्ब-निर्माण, बिम्बबोध और बिम्ब-भावन की सहज क्षमता उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन वाङ्मय में जिन्हें सहृदय कहा गया है, वे काव्य एवं कला के वास्तविक पारखी माने जाते रहे हैं। उन सहृदयों की विशेषता बतलाते हुए बताया गया है कि वे 'दर्पण के समान स्वच्छ हृदयवाले (निर्मल हृदय मुकुरे) और तन्मय हो सकने की योग्यता से परिपूर्ण होते हैं।[1] विचारपूर्वक विश्लेषण करने पर सहृदयों की यह योग्यता वस्तुतः रमणीय 'बिम्ब-भावन' की योग्यता की ओर इंगित करती है। भरत मुनि ने सामाजिक या प्रेक्षक में कुशल, विदग्ध, बुद्धिमान, प्रगल्भ (अभिनय चलते समय सभा में न घबड़ाने वाला), जितश्रम आदि गुणों का होना आवश्यक माना है।[2] सहृदय के ये गुण भी उसकी बिम्ब-ग्राहिणी क्षमता का द्योतन करते हैं। ग्राहक या सहृदय में बिम्ब-भावन' की प्रक्रिया, मनोरंजन, आस्वादन (मनोभावन) और सृजन तीन मानस-क्रियाओं को सक्रिय बनाती है। प्रायः सभी ग्राहकों में आस्वादन और सृजन की क्षमता नहीं होती। प्रायः अधिकांश ग्राहकों के लिए साहित्य एवं कला की अनुभूति केवल मनोरंजन तक परिसीमित दीख पड़ती है। वे अच्छा या बुरा कह कर तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु कुछ विशिष्ट, सम्भवतः भरत मुनि की विशेषताओं के अन्तर्गत आने वाले सहृदयों में मनोरंजन से अधिक आस्वादन तीव्र रहता है। बल्कि यह आस्वादन ही उनको साहित्य एवं कला के युक्तिसंगत मूल्य-बोध की ओर प्रवृत्त करता है। ऐसे सहृदयों को हम समीक्षक अथवा कलापारखी कहते हैं। तीसरी कोटि में वे सहृदय आते हैं, जिनमें आस्वादन और मूल्य-बोध से अधिक व्युत्पत्ति या पुनः सृजन (Creative reproduction) की क्षमता अधिक रहती है। ये वे कलाकार सहृदय हैं जो कलास्वादन से उद्दीप्त होकर पुनः कला की सृष्टि करते हैं। स्रष्टा सहृदय में कलाकृति के प्रति जो प्रतिक्रियाएं दीख पड़ती हैं उन्हें कतिपय रूपों में विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से सामाजिक पूर्वकालिक लौकिक प्रत्यक्ष अनुमानादि के संस्कारों से सहकृत रहता है। कलाकृति का आस्वादन उसके प्रातिभ ज्ञान को प्रेरित करता है और उसमें नवीन कलात्मक बिम्बों के स्फुरण की भी अपूर्व क्षमता होती है। अभिनव गुप्त ने यों तो रसानुभूति के आश्रय सामाजिक को 'सहृदय-संस्कार-सचिव', 'हृदय संवाद तन्मयी भवन सहकरिण' की संज्ञा प्रदान की है।[3] तथा सामाजिक

---

१. अभि. भा. १०६। २. भ. ना. १, २०।
३. अभि. भा. पृ. १९६।

द्वारा वस्तु-बोध में 'ख्याति पंचक' नाम की चर्चा की है।[1] जिसका सम्बन्ध मुख्यतः सहृदय या सामाजिक के तार्किक बोध से अधिक प्रतीत होता है।

सामाजिक और अवतार भक्त दोनों में एक विशेष समानता यह लक्षित होती है कि सामाजिक जिस प्रकार 'नट' में पात्र मूर्ति का ध्यान करता है, उसी प्रकार भक्त भी अपनी उपास्य-मूर्ति में भगवान का ध्यान करता है। उसके समस्त आचरणों एवं लीलाओं का भावन वह 'नट इव करत चरित विधि नाना' समझ कर करता है। इस प्रकार भक्त वह सहृदय व्यक्ति है, जो परमसाध्य के ऐन्द्रिक आस्वादन के लिए कलात्मक अनुभूति का आश्रय ग्रहण करता है। सहृदय की दृष्टि से वस्तु अपने आप में सुखद या दुःखद नहीं है, अपितु सहृदय व्यक्ति का अनुभव सुखद या दुःखद होता है। ब्रह्म द्वारा व्यक्त समस्त सत्ता आनन्दमय है। यदि आनन्दमय नहीं है तो कैसे उसने साधारणीभूत आश्रय के लिए आनन्द को व्यक्त किया है? काव्य एवं नाटक के साथ संगीत की अनुभूति विश्रातीत आनन्दानुभूति है। अतः सहृदय वही है जो काव्य एवं कलानुभूति के माध्यम से विश्रातीत लोक में पहुँच जाता है। अभिनव गुप्त के मतानुसार जो अपने ऐहिक बन्धनों को छोड़कर विश्रातीत लोक में नहीं पहुँचता वह सहृदय नहीं अहृदय है।[2]

---

१. अभि. भा. पृ. १९२।

भारतीय दर्शन में ख्याति पञ्चक निम्न रूपों में प्रचलित रहे हैं :—

१. आख्याति—दृष्ट आत्मा भी विज्ञान रूप है। घट-पट आदि ज्ञान रूप हैं।

२. असत् ख्याति—शून्य ही सारी नाना प्रतीतियों में भासित होता है।

३. आख्याति वाद—सारे ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही हैं, कोई भी ज्ञान भ्रम रूप नहीं होता। जैसे शुक्ति-रजत ज्ञान में शुक्ति का ज्ञान ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष-बोध और उसके अर्थ-बोध दोनों के सन्निवेश से उत्पन्न होता है। उसे भ्रम नहीं माना जा सकता। रजत—वह शुक्ति के रजत सदृश चाक चिक्य के द्वारा संस्कारोद्बोध से उत्पन्न होने के कारण स्मरणात्मक है। अतः वह भ्रम नहीं अपितु यथार्थ है।

४. अन्यथा ख्यातिवाद—भ्रमस्थल में शुक्ति को देख 'रजत' की प्रतीति होती है। रजत की प्रतीति, बाजार में पहले देखे हुये पूर्व दृष्ट ज्ञान से रजत की आरोपित प्रतीति होती हैं।

५. अनिर्वचनीय ख्यातिवाद—शुक्ति-रजत स्थल में तात्कालिक 'रजत' की उत्पत्ति होती है। उसकी स्थिति उतने ही काल तक रहती है जितने काल तक कि उसकी प्रतीति होती रहती है। इसी कारण शुक्ति रजत में प्रतीति होने वाले रजत को 'प्रतिभासिक' कहा जाता है। इसे दृष्टि-सृष्टिवाद भी कहा जाता है।

२. इन. एस्थे. पृ. ५६२।

मध्यकालीन अवतारवादी भक्त केवल भावुक और कवि सहृदय ही नहीं रहा है अपितु अपने इष्ट देवोपास्य की साधना के माध्यम से विश्वातीत नित्य उपास्य लोक में पहुँचनेवाला जीवनमुक्त सहृदय रहा है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राहक को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। सामान्य आलम्बन वस्तु के होते हुए भी दोनों की रमणीयानुभूति किंचित् भिन्न होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति अधिक सामाजिक होने के कारण निर्वैयक्तिक अवस्था में भी साधारणीकृत संवेगों का भावन करता हुआ रसोद्दीपन या भावोन्मेष को प्रदर्शित करनेवाली विविध प्रकार की मुद्राओं या भंगिमाओं का अधिक प्रयोग करता है। उसकी ग्राहकता सहज ग्राह्य होने के साथ-साथ सहज विस्मृत भी होने की सम्भावना रखती है। इसके अतिरिक्त बहिर्मुखी व्यक्ति में रमणीय आलम्बन बिम्ब के उदात्तीकरण की सम्भावना भी यत्किंचित् कम मात्रा में ही रहा करती है। वह आदर्श से अधिक वास्तविकता की ओर अधिक उन्मुख दीख पड़ता है, तथा सैद्धान्तिकता की अपेक्षा कलात्मक व्यावहारिकता उसे अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट कर पाती है।

परन्तु अन्तर्मुखी व्यक्ति में भावोद्रेक की मार्मिकता अधिक आत्मकेन्द्रित होती है। रमणीय बिम्ब का भेदन या प्रहार उसके मर्म पर अधिक होता है। यों यह हार्दिकता किसी इन्द्रिय विशेष की संवेदनात्मक प्रक्रिया नहीं है; अपितु सूक्ष्मतः सर्वेन्द्रिय संवेगों के उत्तेजनात्मक प्रहार को सहने का गूढ़ सक्रिय कार्य-व्यापार है। अन्तर्मुखी व्यक्ति का रमणीय आलम्बन केवल उसके भावन की सीमा तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु वह अपनी समस्त दार्शनिक एवं भावात्मक जिज्ञासा और सर्वात्म समर्पण के बल पर (पिंड में ब्रह्माण्ड दर्शन की तरह), उस आलम्बन के माध्यम से एक ऐसे आलम्बन की परिकल्पना करता है, जिसे हम उसकी मौलिक एवं भावात्मक कृति कह सकते हैं। वह अपनी अलौकिक कृति की विभुता और औदात्य पर स्वयं अपने को न्यौछावर किया करता है। अवतारवादी धारणा में यही आलम्बन बिम्ब 'श्रद्धा विश्वास रूप' उसके उपास्य ईश्वर का होता है। अतः भक्त भी एक वह प्रबुद्ध सहृदय है, जो अपनी उपास्य कृति का कला स्रष्टा सहृदय की तरह सर्वात्मना होकर सौन्दर्य-रस पान किया करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने वाले आधुनिक चिन्तकों ने ग्राहक के मन में होनेवाले बिम्ब-ग्रहण और पुनः नए बिम्ब-निर्माण की चर्चा की है। इनके मतानुसार ग्राहक के मन में गृहीत होने वाले नित्य स्वप्नावस्था के

चल-दृश्यों की तरह बदलते रहते हैं, फलतः इन्हें भी स्वप्न तंत्र का एक स्वरूप माना जा सकता है।[1] सभी बिम्बों में कभी विकृति, कभी प्रक्षेपण, घनीकरण, स्थानान्तरण आदि होते हैं जिसके फलस्वरूप बिम्ब प्रतीक कभी विसर्जित हो जाते हैं, फैलते हैं और कभी बिखर जाते हैं। इस तरह पुनः बिम्ब-सृष्टि के पूर्व ग्राहक के मन में वे निरन्तर परिवर्तित अवस्थाओं में रहा करते हैं। यह सत्य है कि काव्य में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक (चरित, रूपक या प्रस्तुत वस्तु) भाव और प्रभाव के दुरूह पुंजों या समूहों की अभिव्यक्ति के एक मात्र साधन हैं। ये अपूर्व हैं और अपनी अक्षय एवं स्थायी रमणीयता के बल पर अपना अस्तित्व रखते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से ये किसी दूसरे धरातल पर अस्तित्व रखने वाले इतर सत्य की ओर इंगित करते हैं। फिर भी प्रतीकों की पद्धति इतनी दुरूह है कि इन्हें समझना कठिन सा होता जाता है। अतः हम प्रतीक को आखिरी अर्थ में समझने के लिए इस प्रकार बाध्य हो जाते हैं कि 'प्रतीक' स्वयमेव चिन्तन का एक मात्र लक्ष्य रह जाता है। अवतारवादी भक्त के लिए उपास्य प्रतीक रूढ़ एवं साम्प्रदायिक होता हुआ भी समस्त ईश्वरीय विभुता का अभिकेन्द्रित रूप है। वह प्रतीक इष्टदेव को अपने व्यक्तिगत ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि मानता है। रस्किन के मतानुसार मानव सक्रियता का प्रत्येक रूप उसकी विशेष योग्यता के साथ मन के किसी विशेष अंग से स्फूर्त नहीं होता है, अपितु वह व्यक्ति के समस्त स्वभाव से सम्बद्ध है। इसी से न तो कला मन के किसी विशेष अंग (रमणीय क्षमता) की देन है और न नैतिकता किसी विशेष क्षमता की उपज। अतः 'कला' भी मनुष्य के समस्त स्वभाव की अभिव्यक्ति है जिसे आंशिक आस्वाद या विशेष रमणीय ग्राहकता के द्वारा युक्तिसंगत नहीं सिद्ध किया जा सकता।[2] अवतारवादी भक्त भी अपने उपास्य ईश्वर-प्रतीक का केवल आस्वादन नहीं करता, अपितु वह सर्वेन्द्रिय भाव से, उसके एक-एक कण के लिए तरसने वाला चातक है, इंगित मात्र पर नाचने वाला मयूर है। और अपनी भावासक्ति की उज्ज्वलता प्रमाणित करने वाला हंस है।

रमणीय आदर्शवाद

क्रोचे के अनुसार यथार्थ और आदर्श की तीन शक्तियाँ सत्य, शिव और सुन्दर इन तीन प्रत्ययों से उच्चतर स्थितियों में समानान्तर प्रतीत होती हैं। सौन्दर्य न तो केवल जागतिक सत्य है न केवल यथार्थ, अपितु दोनों की पूर्ण-

१. इम. एक्स. पृ. १२३, १२६। २. इम. एक्स. पृ. १६३।

अभिव्यंजना है। सौन्दर्य का अस्तित्व तब होता है, जब सत्य धारणा की दृष्टि से इतना पर्याप्त हो, कि बाद का शिव, असीम से ससीम में प्रविष्ट होकर मूर्त रूप में स्वतः हमारी चिन्तना में उपस्थित हो जाय। धारणा के प्रकट होते ही सत्य सचमुच प्रत्यय के सदृश और समकक्ष हो जाता है, जिसमें समष्टि और व्यष्टि अपना चरम तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।[1] बौद्धिक रूप अपनी बौद्धिकता को सुरक्षित रखते हुए, एक ही समय में प्रत्यक्ष और ऐन्द्रिक हो जाता है।

भारतीय साहित्य में जिसे पूर्णावतार कहा गया है वह सौन्दर्य-शास्त्र की भाषा में रमणीय आदर्शवाद के अनुरूप है[2]। मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है, वह सौन्दर्य ऐन्द्रिक सीमाओं में सीमित और अपूर्ण है। परन्तु भाव, विचार या प्रत्यय के माध्यम से जिस सौन्दर्य का दर्शन करता है, उसे हम पूर्ण या आदर्श सौन्दर्य कह सकते हैं। आदर्श और पूर्ण से मेरा तात्पर्य है कि आदर्श ही पूर्ण होता है और पूर्ण आदर्श। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है।

कांट ने प्रत्ययगत सौन्दर्य पर पुष्कल मात्रा में विचार प्रस्तुत किया है। उसकी दृष्टि में अत्यधिक निर्भर और सब से कम उन्मुक्त सौन्दर्य ही है, जो आदर्श होने की क्षमता रखता है। आदर्श सौन्दर्य न तो निम्नकोटि के वस्तु-निष्ठ सौन्दर्य में है न उन्मुक्त मध्यवर्ती सौन्दर्य में। आदर्श का निर्धारण आलम्बन वस्तु के सांकल्प्य द्वारा ही सम्भव है। परिकल्पना द्वारा स्वरूपित वस्तुगत सांकल्प्य, सौन्दर्य से बाहर की चीज हैं; क्योंकि विशुद्ध आस्वाद के मूल्य पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता; अपितु केवल एक ही मार्ग से हो सकता है, जो अंशतः बुद्धिग्राह्य है। इसी क्रम में वह आदर्श की परिभाषा देते हुए कहता है कि 'आदर्श या प्रत्ययगत सौन्दर्य का तात्पर्य उस विशेष सत्ता की कल्पना या उपस्थापन से है, जो तार्किक भावों के लिए पर्याप्त हो।[3] इस प्रकार आदर्श के दो तत्व हो जाते हैं—पहला तो वह अज्ञात प्रकार का या स्वयं प्रकाश ज्ञान की प्रकृति की तरह का, जो सभी मानव जातियों और प्राणियों में है। ऐसे प्रकार स्वयं चालित कल्पना की क्रिया के द्वारा उपस्थित होते हैं, जो प्रायः सहस्रों व्यक्तियों के देखे जाने के बाद आकृतियों के औसत रूप में मन में आ जाते हैं। यह क्रिया प्रकाश-बिम्बों के परस्पर प्रतिबिम्बन की तुलना में उदाहृत की जा सकती है; जो श्री गाल्टन के साधारणीकृत फोटो-चित्रों की पद्धति की ओर संकेत करती है। कांट के

१. एस्थे. पृ. २९४। २. सेन्स. बी. पृ. १४। ३. ही. एस्थे. पृ. २७१।

मतानुसार प्रत्येक पशुओं की नस्ल और प्रत्येक मानव जाति इस प्रकार के 'औसत बिम्ब', और रूप का निर्माण करने की क्षमता रखती है, जो उस वर्ग के सामान्य औसत विचारों का संमूर्तित रूप तो है, साथ ही वह समस्त जाति की सौन्दर्य-चेतना की आधार शिला भी है।[1] यद्यपि इस 'औसत प्रकार' के निर्माण में मध्यम वर्गीय मस्तिष्क का योग होने के कारण, इसे आदर्श सौन्दर्य की पृष्ठभूमि मात्र का निर्माण ही कहा जा सकता है।

इसीसे आदर्श सौन्दर्य सीमित अर्थों में इससे परे माना गया, जो अक्सर मानव जाति विशेष में ही ग्राह्य एवं लोकप्रिय रहा है। काँट ने इस जातीय सौन्दर्य को मांसल और मनुष्य-रूप के द्वारा व्यक्त माना है। अर्थात् यह जातीय आदर्श सौन्दर्य 'मनुष्य रूप में सशरीर आविर्भाव के द्वारा नैतिक आचरणों एवं व्यवहारों की अभिव्यक्ति या रहस्योद्घाटन में निहित है।'[2] भारतीय अवतारवादी सौन्दर्य केवल ब्रह्म की दिव्य छवि को ही नहीं संमूर्तित करता अपितु भारतीय चेतना के विकास में विभिन्न युगों में विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित सांस्कृतिक सौन्दर्य का भी प्रतिनिधित्व करता है। परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि व्यक्ति से अधिक जातीय, वर्गीय या राष्ट्रीय आदर्श सौन्दर्य के प्रतीक हैं। इनके सौन्दर्य को सांस्कृतिक धरातल पर उपस्थापित करने वाली अवतारवादी प्रक्रिया इनके सौन्दर्य वैशिष्ट्य को सर्वदा सामाजिक एवं लोक-कल्पना के आधार पर प्रस्तुत करने की चेष्टा करती रही है। इसीसे इनके प्रत्येक आचरण, व्यवहार, शील, शक्ति, आदि में सांस्कृतिक अभिरुचि की झलक मिलती है। बुद्ध की साधना, कृष्ण की भोगवादिता और राम की मर्यादाशीलता ये सभी जातीय या सांस्कृतिक आदर्श के ही सौन्दर्य प्रतीक हैं। इस कल्पना के बिना साध्यवस्तु सार्वभौमिक और सापेक्ष आनन्द नहीं दे सकती; जैसा कि प्रायः परम्पराग्रस्त रूढ़िबद्ध आनन्द या रस के 'विशुद्ध' में माना जाता है। सामाजिक प्रयोग में जिस आदर्श सौन्दर्य को विशुद्ध सौन्दर्य कहा जाता है, वह वस्तुतः परम्परागत राष्ट्रीय या वर्गीय सौन्दर्य का प्रतीक रूढ़ सौन्दर्य ही है। अतः सौन्दर्याभिव्यक्ति के क्षेत्र में आदर्श सौन्दर्य एक बहुत बड़ी भ्रान्ति का भी द्योतन कराता है। यों कलाकार के लिए आदर्श सौन्दर्य एक बहुत बड़ी समस्या है, क्योंकि प्रायः आदर्श सौन्दर्य के निर्माण के लिए उसे विशुद्ध तर्कसंगत भावों और अत्यन्त उच्च कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन काल से लेकर अब तक

---

१. हि. एस्थे. पृ. २७१।

२. एस्थे. पृ. २७२ 'It consists in the revelation of the Moral, import through bodily Manifestation in the human form.'

प्रायः जिस प्रकार के मानक का निर्धारण हुआ, अन्ततोगत्वा उसने स्पष्ट ही मनुष्य की धारणा-मूर्ति को आत्मसात् किया है। इससे लगता है कि इस कोटि के मानक द्वारा मूल्यांकन कभी भी विशुद्धतः सौन्दर्यपरक नहीं माना जा सकता क्योंकि सौन्दर्य के आदर्शानुसार सौन्दर्य का मूल्य केवल रुचि के मूल्यांकन में निहित नहीं है। ऐसे आदर्श की तुला पर निर्णीत सौन्दर्य निर्भर सौन्दर्य से मुक्त नहीं है। यह सौन्दर्य उस वस्तुनिष्ठता पर आधारित है, जिसका विशिष्ट सम्बन्ध नैतिक मूल्यों से रहा है। इसकी अपेक्षा गहन रहस्यानुभूति से संवलित आत्मिक शक्ति का व्यंजक सौन्दर्य अधिक उन्मुक्त और स्वतंत्र है।

आदर्श सौन्दर्य के विचारकों की दृष्टि में सौन्दर्य सत्य ही नहीं अपितु आदर्श की अभिव्यक्ति है। वह दिव्य पूर्णता का प्रतीक और शिव (good) का संवेदनात्मक, व्यक्त रूप है।[1] किन्तु आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्री ऐसे विचारों में परम्परागत आदर्श की ही झलक पाते हैं। फिर भी सौन्दर्य-विधान की अधुनातन विचारधारा के होते हुए भी परम्परागत विचार-धारा में विशेष कर आदर्श की दृष्टि से एक ऐसा सर्वकालिक सत्य निहित है, जिसकी नितान्त उपेक्षा समीचीन नहीं जान पड़ती। उनमें भी कुछ ऐसा युग-सत्य छिपा रहता है, जिसे नया युग भी नए परिवेश में व्यक्त कर सकता है। इस दृष्टि से नवप्लेटोवादी 'विंकिलमेन' के दृष्टिकोण को ले सकते हैं। उसके मतानुसार आदर्श के धरातल पर परम सौन्दर्य निहित है। किसी भी उच्चतम वस्तु से सौन्दर्य की तुलना नहीं हो सकती। जागतिक ज्ञान का स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्षतः असम्भव है और इस कठिनाई में यही प्रत्यभिज्ञान समीचीन जान पड़ता है कि 'चरम सौन्दर्य' ईश्वर में निहित है। मानव सौन्दर्य की कल्पना भी अपनी चरम सीमा पर तब पहुँच जाती है, जब उसे परम सत्ता के परिवेश में देखा जाता है, जो वस्तुगत सौन्दर्य से अपनी एकता और अविभाज्यता के चलते स्वतः पृथक हो जाती है। आगे चलकर कॉंट ने सम्भवतः इस कोटि की विचारणा को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। उसके मतानुसार सत्य तार्किक और रमणीय दो प्रकार का है।[2] क्योंकि रमणीय सत्य सर्वदा तार्किक सत्य नहीं हो सकता। सूर्य का समुद्र में डूबना रमणीय सौन्दर्यपरक सत्य है, किन्तु तार्किक दृष्टि से

---

१. सेन्स. बी. पृ. १४ 'Beauty is Truth, that it is the expression of Ideal, the symbol of Divine perfection, and the sensible Manifestation of the good.

२. एस्थे. पृ. २७३।

मिथ्या है। उसी प्रकार ब्रह्म का आविर्भाव या प्राकट्य भी रमणीय या सौन्दर्य-परक सत्य है।

अवतार-सौन्दर्य ससीम में असीम का दर्शन है

परम सौन्दर्य यदि परम सत्ता की अभिव्यक्ति है, तो अवतार उस अनन्त, अव्यय और असीम का ससीम रूप है। डा० दास गुप्त ने 'आइडिया' का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि 'किसी भी वस्तु का बहुत्व उसकी बाह्य दिशा है, उसका एकत्व उसकी अन्तर्दिशा। बहुत्व का एकत्व के माध्यम से प्रकाश ही 'आइडिया' कहलाता है। किसी वस्तु का अवयव-अवयवी के रूप में प्रकाश ही उसका स्वरूप या आइडिया कहलाता है। अवयव-अंश उसकी बाह्य दिशा है, अवयवी उसकी अन्तर्दिशा। अवयव-अवयवी के बीच से होने वाला उसका प्रकाश ही उसका स्वरूप है। उसके बहुत्व का उसके एकत्व के माध्यम से होनेवाला प्रकाश ही उसका 'आइडिया' है।'[1] निश्चय ही डा० दास गुप्त ने 'बहुत्व' और 'एकत्व' के द्वारा असीम की ससीम अभिव्यक्ति को ही चरितार्थ किया है।

यों किसी तर्कना के द्वारा सत्य का आनन्द लेते समय विचारणा के साथ भावना एक सी नहीं रहती। विचार करते समय भावना का बहिष्कार और भावना करते समय विचारणा का बहिष्कार दो प्रकार की असंगतियों की ओर प्रवृत्त करती है। वस्तुतः विश्लेषक या तार्किक इससे बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं दे सकते कि सम्पूर्ण मानवता में यह विशुद्ध तर्क अनुभूत होने योग्य है या उसकी अपेक्षा यह कि ऐसा होने के लिए यही उसकी पूर्ण निरपेक्ष विधि है। किन्तु जैसा कि सौन्दर्य या रमणीय एकता के आस्वादन में वस्तु का रूप के साथ और ग्राहकता का सक्रियता के साथ यथार्थ संगम और अन्तरभेदन होता है; यही तथ्य दो प्रकृतियों की अनुकूलता या उपयुक्तता तथा ससीम में असीम की अनुभूति और इस प्रकार अत्यन्त उदात्त मानवता की सम्भावना को प्रदर्शित करता है। अतः आदर्श सौन्दर्य की विशेषता है असीम और अनन्त का ससीम में दर्शन। सौन्दर्य-भावना द्वारा जितने भी बिम्ब गृहीत होते हैं, वह (भावना) अपने भावोद्दीपन के द्वारा कभी उनका कल्पनात्मक विस्तारण करती है (राम ही ब्रह्म है) जिसके परिणाम स्वरूप ससीम भी असीम दृष्टिगत होने लगता है। कभी सौन्दर्य-भावना भावोद्दीपन को अभिकेन्द्रित कर कल्पनात्मक आकुंचन के द्वारा असीम को ही आकुंचित कर ससीम में पैठा देती है (ब्रह्म राम ही है), उस समय सौन्दर्य-भावना

---

१. सौ. त. पृ. २६८।

के चलते वस्तु के वास्तविक वस्तुत्व का भावना के वस्तुत्व में परिवर्तन हो हो जाता है। काँट की दृष्टि में अनुभवात्मक आत्म-चेतना सर्वातीत आत्म-चेतना द्वारा स्वयं अनुकूलित होती है, जब कि आत्म-चेतना और वस्तु-चेतना एक दूसरे को अनुकूलित करते हैं। इसका कारण यह है कि आत्म-बोध की एकता सर्वातिशय है। सर्वातीत आत्मा का अपना कोई उपादान नहीं है, जिसके द्वारा वह स्वयं को जान सके। इसमें केवल एक ही पहचान है 'मैं' मैं हूँ। यह केवल वह रूप है, जिसके द्वारा वे उपादान जो कभी भी आत्मा के स्रष्टा नहीं रहे हैं, तो भी आत्मा के विषय-रूप में प्रतीत होते हैं।[1] कुछ चिंतकों के अनुसार प्रत्येक रमणीय उत्पत्ति दो क्रियाओं के अनिवार्यतः अनन्त पार्थक्य से आरम्भ होती है। इनमें स्वतंत्र चेतना और प्राकृतिक अचेतन का काँट द्वारा भी उल्लेख हुआ है। ये समस्त उत्पत्तियों में पृथक् की जाती रही हैं। किन्तु चूँकि ये दोनों क्रियायें, संयुक्त प्रतीत होने वाली उत्पत्ति में उपस्थापित की जाने वाली हैं, जो (उत्पत्ति) असीम को ससीम रूप में प्रस्तुत करती है। इस आधार पर शेलिंग ससीम रूप में व्यक्त असीम को ही सौन्दर्य मानता है।[2] परमसत्ता वादियों की दृष्टि में 'परमसत्ता चेतना के रूप में अस्तित्व नहीं रखती; केवल मानव जाति, प्रत्यय और भाव-प्रतिमाएं ही वे विशिष्ट रूप हैं, जिनमें रमणीय प्रत्यक्ष-बोध के स्तर पर इसका प्राकट्य होता है।[3]

सौन्दर्य-शास्त्रियों ने प्राचीन और अर्वाचीन दर्शन का अन्तर बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन के सम्बन्ध में एक सत्य तो निर्विवाद है कि वह प्राचीन के पूर्व आ गया था। इसीसे उसकी तुलना में अधुनातन कभी सहज नहीं रहा क्योंकि ऐतिहासिक युगोन्मेष के थपेड़े इसको सबसे अधिक खाने पड़े। आधुनिक विचारणा में विकल्प और विरोध भरे पड़े हैं। समस्त प्राचीन पुराण अनादि सत्य को बहुदेववादी या एकेश्वरवादी उपास्य के ससीम रूपों में व्यक्त करते रहे हैं। यों किसी भी अनन्त, असीम या व्यापक तथा अमूर्त और आदर्श सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ससीम या ऐन्द्रिक

१. कम्प. एस्थे. पृ. ३११–३१२।

२. हि. एस्थे. पृ. ३१९ 'Now the infinite represented in finite form is beauty.'

३. एस्थे. पृ. ३२१ 'The Absolute does not exist in the form of consciousness, except in the human race, and that the ideas or archetypes are the Particular forms, in which it is reavcled to Aesthetic perception.'

रूप के द्वारा ही सम्भव है। धारणागत सौन्दर्य भी किसी न किसी धारणा-बिम्ब या आलम्बन बिम्ब के ही माध्यम से साकार हो सकता है। इस दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता। क्योंकि प्राचीन साहित्य में जिन दिव्य, विभु और अनादि शक्तियों का प्रतीकीकरण ऐन्द्रिक रूपों में होता रहा था, उनका परिद्योतक असीम या आदर्श भी ससीम या ऐन्द्रिक रूप में गृहीत होकर ही हमारी भावना और विचारणा का उपजीव्य हो सकता है। इसी से प्राचीन इतिहास दिव्य को एक शाश्वत रूप में विज्ञापित नहीं करता, अपितु एक ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तित्व (अवतारों की तरह) के रूप में प्रस्तुत करता है, जिनका सम्बन्ध जगत के साथ ऐन्द्रिक न होकर आदर्श प्रतीत होता है।[1] यों अधुनातन सौन्दर्य भी ससीम को ससीम प्रतीक के ही माध्यम से व्यक्त करता है, किन्तु ससीम प्रतीक मात्र के रूप में वे असीमता और ससीमता दोनों से कुछ स्थान-च्युत जैसे विदित होते हैं।

मानव-सौन्दर्य प्रत्यय या भाव का अवतार

हेगेल मानव-रूप के सौन्दर्य को एक मात्र प्रत्यय या भाव का पर्याप्त अवतार मानता है।[2] उसके मतानुसार कला में सौन्दर्य का प्रत्यय वह प्रत्यय नहीं है, जिस प्रकार का सम्बन्ध परम प्रत्यय का ज्ञान-मीमांसा की तार्किक निष्पत्ति से रहता है। प्रत्युत यह प्रत्यय सौन्दर्य की वास्तविकता से निर्मित मूर्त रूप में विकसित होता है और उस वास्तविकता में उसका तात्कालिक और पर्याप्त ऐक्य के साथ प्रवेश हो जाता है। जहाँ तक प्रत्यय का प्रश्न है, यद्यपि वह अनिवार्यतः और यथार्थतः सत्य है, फिर भी यह सत्य उस सामान्यता में निहित है, जिसने किसी लक्ष्य का आकार नहीं धारण किया है, बल्कि कला में सौन्दर्य का प्रत्यय पुनः वह प्रत्यय है, जो विशेष निर्धारित सार तत्त्व के रूप में वैयक्तिक सत्य बन सका हो और साथ ही उस सत्य के वैयक्तिक स्वरूप में भी अनिवार्यतः स्वरूपित होकर प्रत्यय को रहस्योद्घाटित कर सकता हो।[3] इस प्रकार सौन्दर्य जैसा कि उसके तात्पर्य से स्वयं स्पष्ट है, एक प्रत्यय है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रत्यय चेतना को अभिसूचित नहीं करता, यद्यपि जीवन और चेतना दोनों उसके अभिव्यक्तिगत रूपों में से माने जाते हैं, फिर भी इस प्रत्यय का सम्बन्ध क्रमबद्ध एकता के रूप

---

१. हि. एस्थे. पृ. ३२२।

२. हि. एस्थे. पृ. ३३८ 'But in exalting the beauty of the human form as the sole adequate incarnation of the idea.'

३. हि. एस्थे. एपिं. पृ. ४७४।

में मूर्त सृष्टि, प्रक्रिया से है। अपने इस तादात्म्य के द्वारा सौन्दर्य तत्काल सत्य से पृथक् किया जा सकता है, जो विचार के लिए एक प्रत्यय है, किन्तु साथ ही वह सौन्दर्य का और उससे भिन्न उसके रूप के साथ एक सदृश तत्व है।[1] हेगेल के अनुसार 'प्रत्यय' की अभिव्यक्ति केवल सौन्दर्यपरक आकार तक ही सीमित नहीं है अपितु उसकी अभिव्यक्ति ऐतिहासिक रूपों और कलात्मक रूपों में भी होती रही है।[2] भारतीय विचारकों में डा० दासगुप्त कलाकारों के मन में कला-निर्मिति के पूर्व अमूर्त आदर्श का अस्तित्व मानते हैं—कलाकार जिसकी अभिव्यक्ति मूर्त रूप में करता है। जब तक उसका मन उस आदर्श के अनुरूप नहीं ढल जाता, तब तक उसकी चेष्टा शान्त नहीं होती। आदर्श के अनुरूप चित्र बनते ही जब वहिर्मूर्ति के साथ अन्तर्मूर्ति की एकता स्थापित हो जाती है तभी इस प्रयत्न-सिद्धि के रूप में सौन्दर्य-सृष्टि तथा सौन्दर्य की उपलब्धि का आनन्द प्रकट होता है।[3] हेगेल ने समस्त आदर्शों को आविर्भूत सौन्दर्य के अन्तर्गत ग्रहण किया है।

हेगेल और अभिनवगुप्त दोनों मानते हैं कि कला का चरम आदर्श रूप या आकार में दिव्य (Divine) को उपस्थित करना है।[4] यह लक्ष्य अवतारवादी आदर्श के अत्यन्त निकट प्रतीत होता है। हेगेल ने तो बड़े विस्तृत पैमाने पर इस विचारणा का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि परमात्मा मानव-मस्तिष्क में तीन रूपों में गृहीत होता रहा है—कला, धर्म और दर्शन; जिनमें कला और धर्म में उसका सम्बन्ध ससीमता से रहता है। क्योंकि कला में परम का साक्षात्कार ऐन्द्रिक माध्यम के द्वारा होता है और धर्म उसका साक्षात्कार भावों के द्वारा करता है। केवल दर्शन ही एक ऐसा विषय है, जिसमें वह इन्द्रिय और भाव से परे होकर चिंतन के द्वारा ज्ञान होता है। कला परम आत्मा की वह अवस्था है, जिसमें वह दार्शनिक भाव में उसकी वास्तविक असीमता के साथ साक्षात्कार की ओर अग्रसर होती है। यह मानव-मस्तिष्क का वह रूप है जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय में तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जहाँ आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का पार्थक्य मिट जाता है।

किन्तु सौन्दर्य वह परम सत्ता है, जो ऐन्द्रिक विश्व के परदे में चमकती है। वह परम सत्ता ही है जो वास्तविक वस्तु में और उसके माध्यम से इन्द्रियों के द्वारा उपस्थित होकर जानी जाती है—विशेषकर भवन, मूर्ति, चित्र, संगीत या काव्य में गृहीत किसी ऐन्द्रिक वस्तु के मानस-बिम्ब द्वारा

---

१. हि. एस्थे. पृ. ३३६। २. हि. एस्थे. पृ. ३३७।
३. सौ. तत्त्व. पृ. ७४। ४. कम्प. एस्थे. पृ. ३४९।

उसका परिज्ञान होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह संवेदनशील वस्तु जिसके द्वारा परम प्रकाशित होता है—वह सुन्दर है। केवल ऐन्द्रिक वस्तु सुन्दर नहीं है, बल्कि वह तभी सुन्दर है, जब उसमें परम सत्ता आभासित होती है। अतएव सौन्दर्य आदर्श है क्योंकि इन्द्रिय द्वारा गृहीत या प्रबोधित एक प्रत्यय (परम) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यहाँ प्रत्यय विशुद्ध प्रत्यय न होकर संवेदनात्मक बोध के द्वारा गृहीत प्रत्यय का एक विशिष्ट रूप है। जब कि कला ऐन्द्रिक रूप में साकार परम आत्मा का मूर्त चिन्तन और मानसिक चित्र है।

अवतारत्व परम ब्रह्म की अभिव्यक्ति की एक कला है

हेगेल 'रमणीयता' को ऐन्द्रिक संवेदन या सौन्दर्य का विज्ञान ही नहीं अपितु उसे ललित कलाओं का दर्शन भी मानता है। उसकी विचित्रता यह है कि वह अन्य सौन्दर्यवादियों के विपरीत प्रकृति को सौन्दर्य के अनन्य क्षेत्र से पृथक् कर देता है। उसकी दृष्टि में प्रकृति के सौन्दर्य की अपेक्षा कला का सौन्दर्य अधिक उच्चतर है। उसकी चर्चा के अन्तर्गत निर्विकल्प (immediacy), सविकल्प (mediacy) या सविकल्पात्मक निर्विकल्प (merging of mediacy in to immediacy) इन तीनों पदों में क्रमशः प्रत्येक पद परम ब्रह्म के व्यक्त रूप की उच्चतर अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इस क्रम में प्रवृत्ति और दृश्य जगत् आत्मा और उसके सृजन से निम्नतर हैं। इसलिए आध्यात्मिक सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से उच्च है। चूँकि उसका सम्बन्ध महत्तर सौन्दर्य से है, इसलिए वह प्राकृतिक सौन्दर्य को बहिष्कृत करता है।[1] कला का बाह्य और क्षरणशील पक्ष गौण है। यों कलाकृति वस्तुतः वही है जो मानव आत्मा से उद्भूत होती है और वैसी ही आत्मवत् बनी रहती है। कला अपनी विशिष्ट महत्ताके द्वारा, आत्मिक मूल्यों के रूप में केवल एक छोटी सी घटना, एक व्यक्तिगत चरित्र या एक कार्य-व्यापार की चरम सीमा में, एक ऐसी शक्तिशालिनी अभिरुचि का निर्माण करती है, जैसी शुद्धता और स्पष्टता विशुद्ध प्रकृति की रचना के क्षेत्र में सम्भव नहीं। हेगेल ईश्वर द्वारा निर्मित प्रकृति और मनुष्य द्वारा निर्मित कला जैसे कथन की आलोचना करता है, क्योंकि ऐसा सोचना बहुत असंगत है कि ईश्वर केवल प्रकृति में ही कार्यरत रहता है और मनुष्य के द्वारा कार्य नहीं करता।

---

१. कम्प. एस्थे. पृ. ३९६।

इसके विपरीत सत्य तो यह है कि ईश्वर या देव कलाकृति की रचना में ही सक्रिय रहता है, जो अन्य की अपेक्षा उसकी अनिवार्य प्रकृति के बिल्कुल समीप है। और स्वाभाविक प्रक्रिया में गृहीत है। इस प्रकार मनुष्य में केवल ईश्वर है ही नहीं, बल्कि उसके रूप में भी वह सक्रिय है। प्रकृति के कार्य की अपेक्षा मानव-रूप में भी वह सक्रिय ही है तथा प्रकृति के कार्य की अपेक्षा मानव-रूप में अधिक सत्य और स्वाभाविक है। ईश्वर आत्म-स्वरूप है और वह केवल मनुष्य में ही आत्मिक रूप में स्वतः आविर्भूत होता है।[1] वह अपनी सक्रियता से भिन्न है, जिसमें उसका प्रस्तुत आदर्श व्यक्त होता है। कला आदर्श है और ईश्वर यथार्थ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में आदर्श को प्रकट करता है। कला का प्राकट्य ससीम मन के माध्यम से होता है, जो आत्म-चैतन्य तो है ही, वह प्रकृति के उपचेतन संवेदनात्मक माध्यम की अपेक्षा महत्तर मात्रा में दिव्य स्वभाव से युक्त है।

हेगेल की दृष्टि में ऐन्द्रिक यथार्थ और ससीमता से उन्मुक्त मन अतीन्द्रिय धरातल पर स्वयं अपने ही उपादानों की राशि से ललित कला-कृति का निर्माण करता है। यह कलात्मक प्रातिभज्ञान का धरातल है। कलात्मक अनुभूति का यह उपादान प्रकृति से नहीं अपितु मस्तिष्क के आन्तरिक स्रोतों से आता है।

यों कला की सामान्य विशेषता उसकी प्रतीति है, किन्तु इससे कला को हेय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सत्य या वास्तविकता जब तक प्रतीत न हो तब तक सत्य नहीं है। यह प्रतीति का माध्यम है, जहाँ कला अपनी रचना को निश्चित अस्तित्व प्रदान करती है। अतएव अनुभवात्मक विश्व के रूपों की अपेक्षा, कला के रूपों में सत्य की श्रेष्ठतर अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि हमारा अनुभव अनुभवात्मक विश्व के उन रूपों से जो अनेक आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ अथवा वास्तविक या यथार्थ तथ्यों से अनुकूलित हैं, जो उनका वास्तविक साक्षात्कार नहीं होने देते। किन्तु वह अनुभूति जो कला के रूपों से उद्दीप्त है, अनुकूलन से परे हैं। कलानुभूति में वास्तविकता को अनुकूलन के द्वारा गुह्य नहीं बनाया जा सकता, अतः वह स्पष्टतः प्रकट होती है। ऐन्द्रिक प्रतीति वाली वस्तुओं की तुलना में, कलात्मक रूपों में एक लाभ यह है कि वे अपने ही गुणों द्वारा, अपने इतर दिशाओं में इंगित करते हैं, शायद वे आध्यात्मिकता की ओर संकेत करते हैं, जो धारणात्मक मन में बिम्ब-सृष्टि करती है। हेगेल की दृष्टि में विषय में दोष होने से ही कला-रूपों में भी

---

१. कम्प. एस्थे. पृ. ३९७।

दोष होता है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए वह चीनी, भारतीय और मिश्री कला का उदाहरण लेता है। उसकी दृष्टि में चीनी, भारतीय और मिश्री अपने देवताओं और मूर्तियों के कलात्मक रूपों में, रूपों से परे किसी रूपहीन अवस्था तक नहीं जा पाते या दूषित और मिथ्या रूपों के वस्तुस्थितित्व से परे नहीं पहुँच पाते हैं; इसी से उपयुक्त सौन्दर्य को उपलब्ध करने में असफल रहे थे। साथ ही उनके पौराणिक विचार तथा उनकी कलाओं के विषय और उनके चिन्तन स्वतः अनिश्चित थे। दोष-पूर्ण निर्धारण से युक्त होने के कारण उनके कला-विषयों में परम सत्ता को ग्रहण नहीं किया जा सकता था।[1] सम्भवतः भारतीय अवतारवादी प्रवृत्तियों की ओर समुचित दृष्टि न जाने के कारण ही हेगेल को ऐसा भ्रम हो गया था। जब कि भारतीय कला-मूर्तियों की यह विशेषता रही है, कि सदैव उनका एक व्यावहारिक और सैद्धान्तिक रूप रहा है। व्यावहारिक स्तर पर वे आम जनता के साध्य उपयोगितावादी देव-उपास्य रहे हैं और सैद्धान्तिक स्तर पर वे सदा किसी न किसी प्रकार की विचार-धारा से आबद्ध परम सत्ता की ओर इंगित करते रहे हैं।

कलाकृति का सौन्दर्य और आदर्श

कला के स्वच्छन्द वर्गीकरण के सम्बन्ध में विचार करते हुए हेगेल ने स्वच्छन्दतावादी कला को यथातथ्य सौन्दर्य का क्षेत्र माना है। इस विश्व का उपादान सौन्दर्य या वास्तविक सौन्दर्य है; किन्तु बहुत निकट से देखने पर वह मूर्त आकार में स्वयं आत्मशक्ति है अथवा आदर्श, परम मस्तिष्क या स्वयं सत्य है।[2] इस प्रकार वह बाह्य सौन्दर्यपरक उपादानों में एक अन्तर्मुखी आत्मगत परम सौन्दर्य का दर्शन करता है, जो कलात्मक सौन्दर्य में भी अभीष्ट है। यह वह क्षेत्र है, जहाँ दिव्य, कलात्मक ढंग से प्रत्यक्ष-बोध और भाव-बोध में उपस्थित होकर, समस्त विश्व की कला का केन्द्र बन जाता है। यह निराधार, स्वतंत्र और उन्मुक्त वह दिव्य मूर्ति है, जिसने बाह्य तत्वों के आकार और माध्यम को पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया है, और केवल अपनी अभिव्यक्ति के साधन-रूप में इन्हें आवरण की तरह धारण करता है। तो भी, यों सौन्दर्य इस क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ यथार्थ के चरित में अपने को विवृत करता है, ऐसा करने में व्यक्तिगत स्वरूपों और तत्वों की दृष्टि से स्वयं अपने आप को विशिष्ट बना लेता है, और उन्हें (स्वरूपों और तत्वों को) स्वतंत्र विशिष्टता प्रदान करता है। इससे लगता है कि यह केन्द्र अपनी विचित्र वास्तविकता में विद्यमान अपने ही प्रतिवादों में अतिवाद खड़ा कर देता है।

---

१. हि. एस्थे. पृ. ४६४। २. हि. एस्थे. एपि. पृ. ४८०-४८१।

इनमें से एक अतिवाद मस्तिष्क से पृथक् होकर वस्तुनिष्ठता में केवल ईश्वर के स्वाभाविक आवरण में गृहीत होता है। इस स्थल पर बाह्य तत्व ऐसे मूर्त आकार धारण करते हैं, स्वतः अपने आप में नहीं अपितु दूसरे में, मानो इनके भी कोई आत्मिक लक्ष्य और उपादान हों।[1]

दूसरा अतिवाद आंतरिक दिव्य है, जो दिव्य के अनेक विशिष्ट आत्मनिष्ठ अस्तित्वों में विदित होता है। यह वह सत्य है जो आश्रय या भोक्ता के मन, इन्द्रिय और हृदय में सक्रिय और शक्तिशाली सत्य होकर स्थित है। यह बाह्य आकार नहीं धारण करता बल्कि व्यक्तिगत-अन्तर्मुखता के द्वारा आत्मनिष्ठता में ही लौट आता है। ऐसे रूप में एक ही समय में दिव्य (ब्रह्म) उपास्य देव के रूप में प्रकट होकर अपना वैशिष्ट्य प्रदर्शित करता है; साथ ही उन विविध विशिष्टताओं से भी गुजरता है जो आत्मनिष्ठ ज्ञान, संवेग, संवेदन और भाव के क्षेत्र में आती हैं। अवतारों का मानव और देव लीला-चरित या कलाओं में व्यक्त उपास्य विग्रहों के मनुष्योचित और दिव्य भाव इस प्रवृत्ति में परिगणित हो सकते हैं। हेगेल धर्म के क्षेत्र में अभिव्यक्त कला की तीन अवस्थाएं पाता है—प्रथम—संसार को हम वास्तविक रूप में जैसा सोचते हैं, दूसरा—हमारी चेतना ईश्वर को ही कोई विषय-वस्तु बना लेती है, जिसमें आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। तीसरा यह कि हम ईश्वर से आगे बढ़ कर जाति या समाज की पूजा की ओर बढ़ते हैं, मानो यह समझ कर कि ईश्वर आत्मनिष्ठ चेतना के रूप में उसी में निवास करता है और साक्षात् विद्यमान है। ठीक उसी प्रकार कला-जगत् के स्वतंत्र रूप के विकास के रूप में ये तीनों परिवर्तन दीख पड़ते हैं।[2]

विशिष्ट ललित कलाओं में वस्तुकला वह कला है, जिसके द्वारा कलाकार मन में निहित कला का, बाह्य निर्जीव प्रकृति के द्वारा निर्मित करता है। इसमें संगति अमूर्त होती है। भवन इस प्रकार की कला का प्रतीकात्मक रूप है। वास्तुकला ईश्वर-साक्षात्कार के कार्य को बहुत कुछ आगे बढ़ाती है। यह वास्तुकला ही है, जो ऊबड़-खाबड़ जंगल को समतल कर एक ऐसे स्थल का निर्माण करती है जो मंदिर या देव-भवन इत्यादि के रूप में ईश्वर की ओर केन्द्रित होने का एक स्थान निश्चित करता है तथा हमारे मन को ब्रह्मत्व जैसे विषयों की ओर निर्दिष्ट करता है, साथ ही तूफान, वर्षा, ओला, आँधी इत्यादि से रक्षा करता है। इस प्रकार वास्तुकला ने बाह्य जगत् को स्वच्छ

---

१. हि. एस्थे. पर्पि. ४८१। २. हि. एस्थे. पर्पि. पृ. ४८१।

कर मन को युक्तिसंगत लगने वाला एक ऐसा सौष्ठव प्रदान किया कि उसी के फलस्वरूप देव-मंदिर और समाज-भवन खड़े हो गए, जिनमें कला के दूसरे रूप—मूर्तिकला का निवास हुआ। अवतारवादी कला में वास्तु कला का विशिष्ट स्थान रहा है। क्योंकि उपास्यवादी कला के द्वारा अपनी आधारभूत पीठिका को सुदृढ़ करती है।

ईश्वर या उपास्य ब्रह्म का साक्षात् प्रवेश उपास्य जगत् में मूर्तिकला के द्वारा होता है। मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा आविर्भूत ईश्वर एक ओर तो अपने परमात्म स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरी ओर जातीय चेतना और व्यक्तिगत रूप से परम भक्तों की आस्था भी उसमें निहित रहती है। मूर्तिकला में केवल ऐन्द्रिक तत्वों की ही अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु उसका वास्तविक लक्ष्य है—परमात्मा को सशरीर प्रस्तुत करना। इस प्रकार वैयक्तिक आत्मिकता के द्वारा मूर्ति में चेतना या प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। यही कारण है कि मूर्तिकला में आभ्यंतर और अध्यात्म अपनी सनातन स्थिरता और अनिवार्य आत्मपूर्णता के साथ प्रकट होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मूर्ति की रूप रेखा और भाव-मुद्रा में भगवत्ता निहित नहीं है अपितु उसमें प्रतीत होने वाली प्रतीयमान आध्यात्मिकता में उसका आत्मस्वरूप निष्पन्न रहता है।

कला की तीसरी विधा में उपास्य ईश्वर ऐन्द्रिक रूप में प्रस्तुत होता है। जनता स्वयं उसके ऐन्द्रिक अस्तित्व का आध्यात्मिक प्रतिबिम्ब है। जीव चेतनात्मक आत्मनिष्ठता और आंतरिक जीवन, जो कला-उपादान के लिए निर्धारक सिद्धान्तों को एक परिणाम पर पहुँचाते हैं, साथ ही वह माध्यम जो उसे बाह्य रूप में प्रस्तुत करता है, विशिष्टीकरण (अनेक आकारों, गुणों और घटनाओं के वैविध्य द्वारा) व्यक्तिकरण और आत्मनिष्ठता की ओर आता है, जिनकी उन्हें अपेक्षा है। वह ठोस एकता जिसे ईश्वर ने मूर्ति में उपलब्ध किया है, असंख्य व्यक्तियों की आंतरिक सजीवता के रूप में विखंडित हो जाती है, जिसकी एकता ऐन्द्रिक नहीं बल्कि पूर्णतः आदर्श है। सचमुच केवल इसी अवस्था में ईश्वर स्वयं यथार्थतः और सत्यतः आत्मस्वरूप हो जाता है। आत्मा अपनी (ईश्वर की) जाति में उपस्थित हो जाती है। क्योंकि अब ईश्वर अग्र-पश्च सर्वत्र विदित होने लगता है। उसकी एकता और व्यक्ति के ज्ञान द्वारा उसके साक्षात्कार में तथा उसकी सत्ता और सामान्य स्वभाव और अनन्त की एकता में स्वयं परस्पर परिवर्तन होने लगता है।[1]

---

१. हि. एस्थे. एपि. पृ. ४८३।

कला की दृष्टि से ब्रह्म के प्राकट्य का रहस्य

अभी तक अनुभूति के जितने क्षेत्रों में विचार किया गया है, उनमें मुख्य चेतना, आत्मचेतना, विवेक और आध्यात्म के अतिरिक्त धर्म भी परमसत्ता की आत्मचेतना के रूप में प्रकट होता रहा है। किन्तु जब परमसत्ता इसका विषय है तो उसे हम एक प्रकार की चेतना की दृष्टि से ही मान सकते हैं। चेतना के धरातल पर भी जब वह 'प्रज्ञा या बोध' का रूप धारण कर लेता है, तो वहाँ भी वस्तुनिष्ठ अस्तित्व की आंतरिक सत्ता-अतीन्द्रिय चेतना विद्यमान है।[1]

कला में ब्रह्म की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है, कलात्मक उपादान के रूप में ब्रह्म का वस्तु या व्यक्तिनिष्ठ होना। अतएव अवतारवाद ब्रह्म की वस्तुनिष्ठता या व्यक्तिनिष्ठता की कला है। वह परम अचिंत्य, अगोचर, अनिर्वच से नीचे उतर कर जब हमारी अनुभूति का आलम्बनत्व ग्रहण करता है और यही आलम्बनत्व जो उसके व्यक्त रूप में निहित है—कलात्मक सृष्टि, सौन्दर्य-बोध रमणीयानुभूति का भी आलम्बन माना जा सकता है।

कला का लक्ष्य है सामान्य उपादान को विशिष्ट ऐन्द्रिक रूप में, या सार्वभौमिकता को वैयक्तिकता या अमूर्तता को मूर्तता में व्यक्त करना। यों समस्त व्यापार अवतारवादी धारणा के अन्तर्गत भी आते हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि कला-सृष्टि परमसत्ता को, कलात्मक रूपांकन के द्वारा, परमसत्ता की ही कलाकृति में निहित एक ऐसी रमणीय चेतना प्रदान करती है, जो दर्शक, प्रेक्षक, ग्राहक या कला-पारखी की रमणीयानुभूति, सौन्दर्य-बोध या कलात्मक-बोध का युग-युगातान्तर तक केन्द्र बनी रहती है। इस प्रकार भावक, कलाकृति में परमसत्ता की रमणीय चेतना, (जो दर्शन की दृष्टि से न तो वास्तविक चेतना कही जा सकती है, न अवास्तविक बल्कि कलात्मक चेतना कहना अधिक युक्तिसंगत होगा)[2] का ही भावन करता है। इस चेतना का विनियोग परमसत्ता की सम्पूर्णता नहीं करती अपितु कलाकृति की कलात्मक परिपूर्णता करती है। यों यह कलात्मक परिपूर्णता जो कलाकार की मौलिक देन होती है, हेगेल के अनुसार तो वह भी कलाकार की मौलिकता के रूप में परमसत्ता की ही व्यक्त परिपूर्णता को उपस्थित करती है; क्योंकि मौलिकता की सृष्टि करने वाली प्रतिभा परमसत्ता की व्यक्त क्षमता या अभिव्यक्ति की अभिलाषा की देन है।

किन्तु अवतारवाद परमसत्ता की आत्मचेतना को जीव-चेतना और मनुष्य-

---

१. फिन. मा. (हेगेल) पृ. ४८५। २. कम्प. एस्थे. पृ. ५११।

चेतना की आत्मसत्ता के रूप में भी व्यक्त करता है। अवतारवाद की शैली में परम सत्ता की आत्मचेतना, जीव (व्यक्तिगत या सामाजिक), मनुष्य, कलात्मक मूर्ति, शब्द प्रतीक (शब्द ध्वनि, अर्थ ध्वनि), इन सभी रूपों में प्रतीत होती है।

कलाकृति और अवतारकृति

यदि कलाकृति और अवतारकृति दोनों के साम्य और वैषम्य का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जाय, तो उनसे स्पष्ट विदित होगा कि दोनों में साम्य अधिक है। कलाकृति यदि कलास्रष्टा के मन में आविर्भूत होती है तो अवतारकृति सामाजिक या सामूहिक मन की आस्था में। दोनों में पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वैयक्तिक और सामाजिक तत्व मूल उपादान के रूप में गृहीत होते हैं। दोनों में शास्त्रीय, स्वच्छन्द, नैतिक और कलात्मक (कला के लिए कला या लीला के लिए अवतार जैसे सिद्धान्त) रूप और अवतार दोनों प्रत्यक्ष बोध और रमणीय बिम्ब-विधान पर आधारित हैं। अतः जिसे हम धार्मिक कला कहते हैं, उसमें सामान्यकला की तरह ही आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ उपादान मौजूद रहते हैं। दोनों संवेद्य होती हैं किन्तु अंतर इतना ही है कि धार्मिक कला उपास्य होती है और सामान्य और सौन्दर्यपरक श्लाघ्य। कला के रूप में धर्म की विशेषता यह है कि उसमें आत्मा आकार ग्रहण कर लेती है और वह आकार ही प्रायः उसकी चेतना का विषय होता है। यदि यह प्रश्न उठता है कि कला के धर्म में वह कौन सी वास्तविक आत्मा है, जो अपनी परम सत्ता की चेतना को प्राप्त करती है, तो लगता है कि वह नैतिक और वस्तुनिष्ठ आत्मा है। यह आत्मा केवल सभी व्यक्तियों का जागतिक तत्व नहीं है, अपितु यह वास्तविक चेतना के लिए वस्तुगत रूप में गृहीत होती है।

साहित्य, कला और अवतार तीनों का प्रमुख कार्य है—निराकार को साकार, अव्यक्त को व्यक्त और अरूप को रूप देना। सौन्दर्यवादी दृष्टि से इनमें जो विशेष प्रक्रिया लक्षित होती है, वह है—आकारत्व, जब कि आकारत्व की प्रमुख विशेषता है, सामान्य को विशिष्ट रूप में उपस्थित करना। सामान्य का विशिष्टीकरण ही निराकार के आकार ग्रहण की भी क्रिया है। अवतारवादी धारणा-भी समान्य के विशिष्टीकरण में निहित है। इस प्रकार अवतारवाद साहित्य और कला का समानधर्मी है। साहित्य, कला और अवतार तीनों में व्याप्त केवल आकार उनके बाह्य रेखांकन (out line) या प्रतीकत्व (कंकाल या ज्यामितिक चित्र की भाँति) मात्र का द्योतन करता है, जिसे

संतों की भाषा में निर्गुण-निराकार कहा जा सकता है; क्योंकि सौन्दर्य के निषेधात्मक पक्ष की तरह, निराकार भी आकार की अनुपस्थिति मात्र को व्यंजित करता है। अनेक प्रकार के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या भावार्थ, व्यंग्यार्थ वा ध्वन्यर्थ को व्यंजित करने वाले 'नाम' और 'शब्द' वे नाम प्रतीकात्मक अवतार हैं,[१] जो सामान्य को विशिष्ट, निराकार को शाब्दिक आकार, शून्य को अर्थ, और विभु को अणुत्व की विशिष्टता में बांध देते हैं। यद्यपि उपर्युक्त नामात्मक प्रतीकों में धारणा-बिम्बों की उपस्थिति होने के कारण एक भावात्मक बिम्बवत्ता तो विद्यमान रहती ही है; फिर भी ज्यामितिक चित्र और तैल चित्रों में जो अन्तर होता है, उस प्रकार या कुछ मात्रा में उससे भी अधिक निर्गुण-प्रतीक और सगुण-प्रतीक-बिम्बों में अन्तर जान पड़ता है। अवतारवादी दृष्टि से एक उसका नकारात्मक पक्ष है और दूसरा सकारात्मक फिर भी कलाकृति की प्रक्रियाओं की तुलना में दोनों का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति से प्रतीत होता है। अतः यहाँ विचार कर लेना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि कलाभिव्यक्ति और अवताराभिव्यक्ति में कहाँ तक समानता है।

कलाभिव्यक्ति और अवताराभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति सृष्टि और कलासृष्टि दोनों का प्रमुख व्यापार रही है। यही नहीं सृष्टि, कला-सृष्टि अथवा अभिव्यक्ति या प्राकट्य के मूल में एक ही शक्ति कार्य करती है, वह है—इच्छा। 'सोऽकामयत' में कामना-इच्छा का द्योतक है। शैवों में अभिनवगुप्त भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के मूल में इच्छा को प्रधान मानते हैं।[२] यही इच्छा शक्ति प्रजापति, कलाकार, कवि आदि में तथा उपास्य ब्रह्म और उसके विग्रहों की अभिलाषा में व्यक्त होती है।

कवि एवं कलाकार का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जिसमें वह स्वतंत्र रहता है। यह उसका कलात्मक, रचनात्मक या अभिव्यक्ति-जनित व्यक्तित्व है, जिसे वह अपनी इच्छा या अभिलाषा के अनुरूप व्यक्त करता है। वह कृति का स्रष्टा होकर भी अपने कलात्मक व्यक्तित्व के द्वारा उसमें प्रकट रहता है। ब्रह्म भी उस कलाकार के समान प्रतीत होता है, जो अपना पृथक् व्यक्तित्व रखते हुए भी अपने व्यक्त रूप में ब्रह्मत्वपरक व्यक्तित्व रखता है (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत)। कलाकार की तरह वह अपनी इच्छानुसार ही अपने को रचनात्मक व्यक्तित्व के रूप में व्यक्त करता है। यह आविर्भाव जो

---

१. लक्ष्मी तन्त्र में वर्णों का अवतार द्रष्टव्य। २. इन. एस्थे. पृ. १२५।

सृष्टि की प्रक्रिया में प्रायः दो प्रकार का दृष्टिगोचर होता है, उसे सृष्टिमूलक या विस्तारपरक तथा आह्लादमूलक या प्रसादपरक कहा जा सकता है। वृक्षों की प्रथम उत्पत्ति प्रारम्भ में सृष्टिमूलक या विस्तारमूलक होती है। विस्तार की परिपुष्ट सीमा पर पहुँच कर उसमें पुष्प और फल व्यक्त होते हैं।

यह प्रक्रिया ब्रह्म की अभिव्यक्ति के समानान्तर प्रतीत होती है। ब्रह्म की बीजमूलक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम यदि पौराणिक प्रतीकों को ही लें तो 'हिरण्यगर्भ' के रूप में हुई होगी जिससे सृष्टि का बीज-वृक्षवत् विस्तार हुआ, जो सृष्टि-आविर्भाव (Cosmological incarnation) का सूचक है। उसकी दूसरी अभिव्यक्ति पुष्प-फलवत् रही है, जिसमें पुष्प उसके रमणीय एवं आह्लादक कलात्मक आविर्भाव (Aesthetic incarnation) का व्यंजक है और फल उसके प्रसाद या अनुग्रह के रूप में प्रकटित आविर्भाव का। पुष्पवत् अवतार में विशुद्ध लीला की अभिव्यक्ति है और फलवत् अवतार में दुष्ट-दमन, रक्षा, नियमन, तथा अतिरिक्त शक्ति (जीवन और समाज के लिए) के अर्जन का उपयोगितावादी आविर्भाव निहित है।

अत एव कलाकार की सृष्टि जिस प्रकार ललित कलात्मक और उपयोगी कलात्मक कलाकृतियों की रचना करती रही है, वैसे ही स्रष्टा भी लीला के रूप में विशुद्ध या ललित कलात्मक तथा रक्षक और त्राता बन कर, उपयोगी कलात्मक अवतार का धारणकर्त्ता कहा जा सकता है। निश्चय ही ललित कला का अवतार पुष्प है तो उपयोगी कला का अवतार फल। प्रथम सौन्दर्य भाव या रमणीय रस का आलम्बन होकर माधुर्य-गुणों से युक्त है और दूसरा उपयोगिता की क्षमता का व्यंजक तथा उपयोगिता का आलम्बन होकर ऐश्वर्य-गुणों से परिपूर्ण है। इस प्रकार भारतीय अवतार-रूपों को ललित कलात्मक और उपयोगी कलात्मक रूपों में देखा जा सकता है। यों किसी भी कला में लालित्य और उपयोग का युक्तियुक्त पार्थक्य किंचित् कठिन है। क्योंकि प्रत्येक कलाकृति में लालित्य और उपयोग न्यूनाधिक अनुपात में विद्यमान रहते हैं। उपयोग के समानधर्मी तुष्टि और भोग की दृष्टि से देखने पर ललित कला में मानसिक तुष्टि का आधिक्य है और उपयोगी कला में भौतिक, ऐहिक या सांसारिक तुष्टि का। यद्यपि हम दोनों को ऐन्द्रिक और अतीन्द्रिय चिन्तन का माध्यम बना सकते हैं। मनोवैज्ञानिक धारणा के अनुसार मानसिक और ऐहिक दोनों प्रकार की तुष्टियों में अविनाभाव सम्बन्ध है। एक दृष्टि से ऐहिक तुष्टि स्थूल तुष्टि है मानसिक तुष्टि सूक्ष्म। किन्तु कभी ऐहिक तुष्टि सहज है और मानसिक

तुष्टि पूरक, और कभी मानसिक तुष्टि सहज है और ऐहिक तुष्टि पूरक। इस प्रकार ललित और उपयोग दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पौराणिक अवतार-चरितों और लीलाओं में उपयोग और लालित्य का यह अन्योन्याश्रित रूप दृष्टिगत होता है। देव-कार्य की सिद्धि और लीला ये दोनों कार्य देश-काल और परिस्थिति भेद से न्यूनाधिक मात्रा में होते हुए भी प्रायः साथ-साथ चलते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कला की अभिव्यक्ति और अवतारा-भिव्यक्ति में बहुत कुछ साम्य है। कलाभिव्यक्ति जगत्, जीवन, प्रकृति तथा वैयक्तिक और सामाजिक मनोभावनाओं में अभिव्यक्ति पाती हैं, किन्तु अवतारवाद ब्रह्म की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति केवल सौन्दर्य और रमणीयता के क्षेत्र की ही वस्तु नहीं है, अपितु इसकी चरम परिणति तो उदात्त रूप में दीख पड़ती है।

उदात्त और अवतार

विष्णु के समस्त अवतारों और उनकी विभूतियों तथा उनके अद्भुत रूपों और व्यापारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समस्त रूप केवल रमणीय ही नहीं अपनी समस्त शक्ति, शील और अद्भुत कार्यों की क्षमता से पूर्ण होने के कारण उदात्त भी हैं। अतएव उनके उदात्त रूपों का विवेचन करने के पूर्व स्वयं उदात्त को स्पष्ट कर लेना समीचीन प्रतीत होता है।

रमणीयता और सौन्दर्य की भाँति पूर्वी और पश्चिमी दोनों विचारकों ने उदात्त पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। यद्यपि उदात्त को प्रायः कुछ सौन्दर्य-शास्त्रियों ने सुन्दर में ही परिगणित करने का प्रयास किया है, फिर भी दोनों में कुछ दृष्टियों से मौलिक वैषम्य रहा है। पाश्चात्य विचारकों में वर्क और काँट दोनों ने सुन्दर और उदात्त का वैषम्य दिखाया है। उनके मतानुसार पहला वैषम्य दोनों में यह है कि सौन्दर्य का कुछ न कुछ सम्बन्ध 'रूप' से है, किन्तु उदात्त रूप पर निर्भर रह भी सकता है और नहीं भी। उसमें अरूप और विद्रूपता दोनों का समावेश सम्भव है। हम उदात्त विषय के प्रति दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि वह सदैव हमारी निर्णय-शक्ति को अवरुद्ध करता है, जिसके फलस्वरूप संगति स्थापित होना तो दूर रहा, और अधिक असंगति हो जाती है। यही कारण है कि उदात्त सौन्दर्य से एक अंश अधिक आत्मनिष्ठ है। उसमें मस्तिष्क से और अधिक उच्चतर भोग करना असम्भव हो जाता है। इसकी वस्तुस्थिति यह है कि हम लोगों

को स्वयं अपने ऊपर फेंक देता है, इसमें व्यक्ति को अपनी अर्जित सभ्यता और प्रत्यय पर निर्भर रहना पड़ता है, जिससे सौन्दर्य भावना की अपेक्षा उदात्त की अधिक मांग रहती है, उसके बदले उससे उग्र या कठोर तथा निषेधात्मक आनन्द अधिक मिलता है, जो भय या विस्मय-विमूढ़ प्रशंसा के अधिक निकट होता है, उससे गम्भीरता और रोमांच प्रेषणीय होते हैं।[1] इस प्रकार काँट उदात्त को केवल अमूर्त भावों तक सीमित रखने का पक्षपाती है।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्य के साथ कौरूप्य को लेकर सौन्दर्य में एक सैद्धान्तिक दोष भी उपस्थित हो जाता था, जिसकी ओर काँट ने उदात्त और सौन्दर्य के समन्वय या अभाव के चलते इस दोष की ओर इंगित किया तथा सौन्दर्य में आत्मनिष्ठता को समाहित कर एक ओर तो उसका उन्मूलन किया और दूसरी ओर उसने उदात्त पर द्विगुणित आत्मनिष्ठता आरोपित कर दी। सौन्दर्य में रूप एक वह आलम्बन है, जिसका विश्लेषण किया जा सकता है, यद्यपि इसके वास्तविक या संकलिपत आगम को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उदात्त पूर्णतः मन के अन्दर उपस्थित हो जाता है। इसीसे उसके उद्दीपन और प्रतिक्रिया में बिल्कुल कोई सामंजस्य नहीं दिखाया जा सकता और सम्भवतः उन वस्तुओं की अभिव्यक्तिजनित महत्ता को सम्बद्ध करने का प्रयास भी नहीं हो सकता, जो अपने निषेधात्मक स्वभाव के द्वारा उद्दीपन का कार्य करता है। हेगेल के अनुसार उदात्त विशुद्ध अर्थ में सौन्दर्य के द्वार पर पड़ता है और प्रतीकात्मक कला-रूपों में विद्यमान रहता है। हेगेल भी काँट को आधार बनाते हुए तथा उसको उदाहृत करते हुए कहता है कि यथार्थतः उदात्त ऐन्द्रिक वासनात्मक रूपों में निहित नहीं है, बल्कि वह प्रत्ययगत सौन्दर्य से सम्बद्ध हो जाता है, जिनके लिए यद्यपि पर्याप्त उपस्थापन सम्भव नहीं है, तो भी वे अपनी इस अपर्याप्तता से भी मानस को उद्दीप्त और प्रबुद्ध करते हैं, जिन्हें ऐन्द्रिक रूपों में उपस्थापित किया जा सकता है।[2] बिना दृष्टिगोचर हुए कोई वह वस्तु जो इस उपस्थापन के उपयुक्त अपने को सिद्ध कर सके, हेगेल के अनुसार उदात्त सामान्यतः उसी रूप में अनन्त की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार काँट और हेगेल दोनों उदात्त में आलम्बन वस्तु के उपस्थापन को गौण मानते हैं। यों कल्पनाशील भावक मनुष्य केवल सौन्दर्यानुभूति मात्र से तुष्ट नहीं हो सकता। वह आलम्बन बिम्बों में अनेक प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों द्वारा भावन करता है किन्तु

१. हि एस्थे पृ. २७६। २. हि. एस्थे. पृ. ३५६।

वह उनके आध्यात्मीकरण से प्रबुद्ध आत्म-बोध को भी परम सत्य ही मानता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक जिसे अचेतन कहते हैं, वस्तुतः वहीं से हमें परम सत्य के संदेश मिला करते हैं। उन्हीं प्रवृत्तियों में सौन्दर्यानुभूति की उदात्तानुभूति भी निहित है। इसी से कुछ विचारकों की दृष्टि में सुन्दर का ही उत्कृष्ट रूप उदात्त है, जिसमें प्रवृत्तियों से ऊँचे उठकर मन आध्यात्मिक जगत् की अनुभूतियों का मूर्त रूप में आस्वादन करता है।[1]

प्रायः लोग उदात्त के भावन में अन्तर्वेदना के साथ अनन्त आनन्द के अनुभव को ही प्राण-स्वरूप मानते हैं। इस अवस्था में ससीम व्यक्तित्व ऊपर उठकर स्वयं में अनन्त व्यक्ति का आधान कर लेता है। ससीम, बन्धन-ग्रस्त मानव-व्यक्तित्व में असीम और अनन्त तत्त्व के उदय से अनन्त वेदना और अनन्त आनन्द का एककालिक अनुभव होता है यह अनुभव ही उदात्त का अनुभव है।[2] जो वासनाएं आत्म-सुरक्षित वृत्तियों में निहित हैं, वे दुःख या सुख की सम्भवात्मक चेतना पर निर्भर करती हैं। यों कष्ट, विघ्न या खतरे हमको तभी कष्टप्रद लगते हैं, जब उनका तत्काल प्रभाव पड़ता है। किन्तु जब कष्ट और विघ्न के प्रत्यय इस चेतना के साथ हमारे भावों को प्रबुद्ध करते हैं, कि उनका तत्क्षण कोई प्रभाव हम पर स्वतः नहीं होने जा रहा है तो हमें आनन्दित करते हैं। अतः कष्ट और विघ्न का यह अनुभव एक वास्तविक अनुभव से भिन्न उनके प्रत्ययगत अनुभव पर आधारित है। अतएव वह वस्तु जो इस प्रकार का आनन्द जगाती है, उसे उदात्त कहा जा सकता है। बर्क ने शक्ति, बृहत् आकार, लम्बाई की अपेक्षा गहराई और ऊँचाई, कृत्रिम अनन्तता, तारों भरा आकाश, अद्भुत वस्तुएं, उज्ज्वल आलोक (सूर्य का), सिंह या बादल-ध्वनि का औदात्य संवेगों को उनके समस्त प्राबल्य के साथ उद्बुद्ध करता है।[3] इन सभी की अनुभूति भय और विघ्न-मिश्रित वह पीड़ा है जिसका भोक्ता व्यक्ति पर कोई प्रभाव न पड़ता हो, बल्कि अधिक उत्तेजित अवस्था में संवेगों को ला देती है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने सुन्दर और उदात्त के साम्य और वैषम्य पर विचार करते हुए बताया है कि—दोनों स्वयं आनन्दित करते हैं। दोनों तार्किक न होकर प्रतिबिम्बित हैं। उनमें निहित सन्तोष आनन्द की दृष्टि से न तो संवेदन पर निर्भर करता है, न तो शिव की दृष्टि से किसी निश्चित आधार पर आधारित रहता है। वे जिन अनिश्चित धारणाओं से सम्बद्ध हैं, वे स्वतंत्र अभिज्ञानात्मक शक्तियों

---

१. सौ. शा. पृ. १०५। २. सौ. शा. पृ. १०९।
३. कम्प. एस्थे. पृ. २७०–२७१।

के बीच अनिश्चित सांगत्य की ओर प्रवृत्त करती हैं। वे (अनेक दशाओं में) विशिष्ट, आवश्यक और सार्वभौमिक हैं।

सौन्दर्य प्रकृत्या एक ऐसी वस्तु से सम्बद्ध है, जो निश्चय ही ससीम है, किन्तु उदात्त का सम्बन्ध असीम रूप से है, जिसकी सम्पूर्णता विचारणा में भी उपस्थित हो सकती है।[1] प्रायः सुन्दर का तात्पर्य धारणात्मक बोध के उपस्थापन से लिया जाता है, किन्तु उदात्त का सम्बन्ध अनिश्चित विवेकात्मक प्रत्यय से है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य का तोष गुणात्मक उपस्थापन से सम्बद्ध है, किन्तु उदात्त का मात्रात्मक उपस्थापन से। सुन्दर का आनन्द उदात्त से बिलकुल भिन्न है। सौन्दर्य में आनन्द प्रत्यक्ष रूप से निर्गत होता है, क्यों कि सुन्दर वस्तुएं प्रत्यक्षतः जीवनेच्छा की भावना उत्पन्न करती हैं, किन्तु उदात्त में आनन्द या रस केवल प्रत्यक्ष रूप से ही उद्भूत होता है। यह उत्पत्ति महत्ती शक्तियों के अवरोध और लगातार अत्यधिक प्रवाह के द्वारा होती है। उदात्त का आस्वादन तोष या सुख, प्रशंसा या आदर की तरह ठोस आनन्द की सृष्टि नहीं करता अपितु इसका आनन्द नकारात्मक आनन्द है।[2] प्रकृत्या सौन्दर्य अपने लक्ष्य-रूप प्रयोजन का द्योतन करता है; वह हमारे मूल्यों में गृहीत होकर स्वयं आस्वादन सुख का आलम्बन हो जाता है। किन्तु उदात्त में प्रयोजनात्मक रूप का सिद्धान्त लक्षित नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य और उदात्त में एक लक्ष्य से अनुस्यूत होने पर भी तात्विक वैषम्य है। आगे चलकर उदात्त के विवेचन-क्रम में यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

एक विषय की दृष्टि से उदात्त कोई अधुनातन विषय नहीं है; क्योंकि प्राचीन काल में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में इसकी पूर्णरूपेण व्याप्ति रही है। पाश्चात्य विचारकों में लॉंजाइनुस ने तीसरी शताब्दी के लगभग उदात्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार किया था। उनके मतानुसार उदात्त अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है; उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में नहीं वरन भावोद्रेक के रूप में पड़ता है; उदात्त का प्रभाव श्रोता को भावाक्रान्त कर देता है।[3] वह आवेगों में 'प्रेरणा प्रसूत आवेग' और उदात्त विचार को उदात्त का उद्गम मानता है। डा० नगेन्द्र ने विभाव और भाव दो पक्षों में विभाजित किया है। जिनमें विभाव पक्ष के अन्तर्गत १—अनन्त विस्तार, २—असाधारण शक्ति और वेग, ३—आंतरिक ऐश्वर्य, ४—स्थायी प्रभाव क्षमता आते हैं, तथा

१. फिल. कॉं. क्रू. जज. पृ. २९९। २. फिल. कॉं. क्रू. जज. पृ. ३००।

३. का. उ. तत्त्व पृ. ४४।

भाव पक्ष में मन की ऊर्जा, उल्लास, संभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय और अभिभूति अर्थात् सम्पूर्ण चेतना के अभिभूत हो जाने की अनुभूति गृहीत हुए हैं। मन की ऊर्जा, आत्मा का उत्कंप करने वाली प्रबल अनुभूति है, जिसे चित्त की दीप्ति या स्फीति भी कह सकते हैं! उल्लास, जिससे हमारी आत्मा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है तथा औदात्य के वे उदाहरण जो सर्वदा सभी व्यक्तियों में आनन्द दे सकें। संभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है, उसे मनुष्य साधारण मानता है। अपने संभ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए सुरक्षित रखता है, जो विस्मय-विमूढ़ कर देने वाले हैं। उसमें गरिमा, आदर और विस्मय को जन्म देने की क्षमता है। अभिभूति से तात्पर्य है—सम्पूर्ण चेतना के अभिभूत हो जाने की अनुभूति से, जिसे 'लैंगिनुस ने' 'विस्मय-विमूढ़' कहा है।[1] उदात्त का पोषण करने वाले अलंकारों में रूपक, विस्तारणा, शपथोक्ति (संबोधन), प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यक्तिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि का विवेचन किया है। यों उसकी समस्त विवेचन पद्धिति को देखने पर ऐसा लगता है कि उदात्त के आलम्बन और उद्दीपन विभावात्मक तत्वों का उसने अधिक विवेचन किया है। इसका मूल कारण है उस युग की पृष्ठभूमि जो लैंगिनुस के समक्ष थी। वह युग दिव्य या मानवी किसी न किसी प्रकार के उदात्त प्रदर्शन का ही युग था। ग्रीक या रोमन साहित्य के वीर नायकों तथा उनके महान कार्यों की अभिव्यक्तियों में जो भव्य औदात्य लक्षित होता है, उससे लौंगिनुस अत्यधिक प्रभावित रहा है। ग्रीक या रोमन वीरों को देवताओं से अभिहित करने या उनके कार्यों में देवतुल्यता आरोपित करने में जो प्रवृत्ति विशेष सक्रिय रही है—वह है अवतारीकरण की प्रवृत्ति। इन कृतियों के उदात्त नायक अपने युग के महान देवताओं के अवतार माने जाते रहे हैं। यह अवतारीकरण की प्रवृत्ति उनके देवतुल्य नायकों में उदात्त-भावना की सृष्टि करने का प्रमुख साधन रही है।

लौंगिनुसने स्वर्ग और नरक, मर्त्य और अमर्त्य के संघर्ष से सम्बद्ध देवताओं के प्रसंग में इस प्रकार बताया है—'मुझे लगता है कि होमर ने देवताओं की विपत्ति, उनके पारस्परिक कलह, प्रतिशोध, शोक, बन्धन तथा अन्य नानाविध आवेगों की कलाओं में, जहाँ तक उसके सामर्थ्य में था, ट्राय के घेरे से सम्बद्ध मनुष्यों को देवता बना दिया है और देवताओं को मनुष्य। पर जहाँ हम मर्त्यों के लिए, दुर्भाग्य का प्रकोप होने पर, मृत्यु के

१. का. उ. तत्त्व. पृ. १२-१३।

द्वारा अपने कष्टों से छुटकारा पाने का विधान है वहाँ होमर ने देवताओं को न केवल अपने प्रकृत रूप में वरन् दुर्भाग्य में भी अमर चित्रित किया है।[१] देवताओं के संग्राम-सम्बन्धी प्रसंगों की अपेक्षा वे स्थल कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं जिनमें वास्तविक दिव्य स्वभाव का, विशुद्ध, महान् तथा अकलुष रूप में, चित्रण किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अवतारीकरण की प्रवृत्ति के अतिरिक्त लौंगिनुस ने 'उदात्त' को रचना-कौशल की दृष्टि से भी बड़े व्यापक रूप में ग्रहण किया है।

उदात्त और 'सब्लाइम' की समसामयिक विशेषता

इस दृष्टि से यदि भारतीय तात्पर्य वाले 'उदात्त' को देखा जाय तो निश्चय ही उसकी सीमा व्यापक प्रतीत नहीं होती। हिन्दी-साहित्य में 'सब्लाइम' के लिए जिस 'उदात्त' का प्रयोग होता है, वह वैदिक काल से ही विभिन्न अर्थों में किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व रखता रहा है। उसके समकालीन शब्द 'ओजस्वी' और 'ऊर्जस्वी' भी उसके प्रमुख स्वरूप को परिपुष्ट करते हैं। परन्तु जहाँ तक 'उदात्त' का सम्बन्ध है वह ऊँचे स्वर से उच्चारण किया हुआ, कृपालु, दयावान, दाता, उदार, स्पष्ट, विशद, श्रेष्ठ, बड़ा, योग्य, समर्थ, वेद के स्वरोच्चारण का ढंग, एक काव्यालंकार जिसमें सम्भाव्यविभूति का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाता है, राग, एक प्रकार का आभूषण, बाजा, इत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु प्रमुख रूप से भारतीय साहित्य के पारिभाषिक अर्थ में उसका प्रयोग उदात्त नायक (धीरोदात्त) और 'उदात्त' अलंकार विशेष के लिए होता रहा है।

भारतीय नाट्यकारों में भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त के साथ 'धीरोदात्त' का उल्लेख किया है। उन्होंने सेनापति और अमात्यों को धीरोदात्त नायकों में माना है।[२] साहित्य में नायक या नेता-चयन की दृष्टि से प्राचीन युग राजतंत्रीय या आभिजात्य युग रहा है। उनमें भी कुछ विशिष्ट वर्ग के लोग ही नायक गृहीत होते थे, उनकी विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए 'नाट्य-दर्पण' में कहा गया है कि नायक की सबसे बड़ी विशेषता है धीरता। जो अनेक संकटों, विपत्तियों या संघर्षों में भी घबड़ाता नहीं। यह तो नायक के चरित्र की मूल विशेषता है इसके अतिरिक्त उसके स्वभाव के अनुसार भी उसे चार भागों में विभक्त

१. का. उ. तत्त्व. पृ. ५७। २. ना. शा. अ. २४।
'धीरोद्धताधीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।'
तथा—'सेनापतिरमात्याश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ।'

किया गया है जिन्हें क्रमशः धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर-प्रशान्त कहा गया है। इन चतुर्विध नायकों में 'दशरूपक' के अनुसार धीरोदात्त वह है, जो गूढ़गर्व (जिसका दर्प विनम्रता से आच्छादित रहता है), अतिगम्भीर, क्षमाशील, महासत्त्व (सुख-दुःख में प्रकृतिस्थ), होता है। उस पुरुष का अन्तर क्रोध, क्षोभ आदि से शीघ्र अभिभूत नहीं होता।[1] वह अपनी प्रतिज्ञा में कृतसंकल्प और अटल रहता है। इस प्रकार वह अनेक उदात्त गुणों से युक्त माना जाता है। प्रायः नाट्य समीक्षकों ने 'उदात्त' का तात्पर्य उस वृत्ति से माना है—जो सबसे बढ़कर उत्कृष्टता प्रकट करती है अर्थात् अन्य लोगों से उत्कृष्ट होना ही उदात्त का परिचायक है। इसके अतिरिक्त 'उदात्त' का तात्पर्य 'विजिगीषुता' या दूसरों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से भी लिया जाता है।[2] इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'उदात्त' अपने जीवन के समस्त संघर्षों में अनेक कष्ट सहकर महान श्रेय, या उपलब्धि या ऐतिहासिक कार्य करने वाले व्यक्ति में चरितार्थ होता है। निश्चय ही 'उदात्त' पाश्चात्य या विशेषकर लौंगिनुस के 'सब्लाइम' की तरह ही उस युग के अनेक कष्ट सहने वाले तथा अपनी अप्रतिम वीरता और साहस के द्वारा विजय प्राप्त करने वाले प्राचीन वीरों के अनन्य वैशिष्ट्य का द्योतन करता है; क्योंकि राष्ट्रीय, जातीय या सामूहिक युद्ध और संघर्ष उस युग के प्रमुख कार्यों में से रहे हैं। चाहे प्राच्य हो या पाश्चात्य दोनों खण्डों के तत्कालीन राजतंत्रों की मनोवृत्ति किसी सीता या हेलेन जैसी राजकुमारी और क्षेत्र के आधिपत्य पर केन्द्रित रही है। राजसूय, स्वयंवर अश्वमेध अथवा सिकन्दर या सीजर जैसे राजाओं द्वारा किए गए विजय-अभियान एक ही 'विजिगीषा' की पृष्ठभूमि हैं। अतएव पुरातन समाज और संस्कृति की प्रवृत्तियों को देखते हुए विशेष कर चरित्र-विधान की दृष्टि से 'उदात्त' और 'सब्लाइम' में बहुत कुछ साम्य है। यही नहीं जिस प्रकार, तत्कालीन पात्रों में दया, करुणा और शोक का सन्निवेश होने के कारण भारतीय विचारकों ने जीमूतवाहन जैसे करुण पात्र के औदात्य में संदेह प्रकट किया है, वैसे ही लौंगिनुस ने भी दया, शोक, भय जैसे हीनतर आवेग को आत्मा का 'अपकर्ष' करने वाला माना है तथा सिकंदर महान की तुलना

१. दश. रू. (चौखम्बा सं.) पृ. ७९, २, ४—
महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः
इसके उदाहरणों में 'राम' गृहीत हुए हैं। सा. द. (चौ. सं.) पृ. १३९-३, ३२ में तथा काव्यानुशासन पृ. ३६१ में भी धीरोदात्त के प्रायः उक्त गुण ही मान्य रहे हैं।

२. दश. रू. पृ. ७९ 'औदात्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते'

में कवि इसोक्रेतस के रखे जाने की भर्त्सना की है ।[1] अतः 'उदात्त' और 'सब्लाइम' के प्राचीनतम उत्स का यदि अनुमान किया जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों का विकास प्राचीन वीर नेताओं और विजेताओं के चारित्रिक आधार पर हुआ था। उसका आधार भी अवतारवादी रहा होगा। क्योंकि अवतारत्व पुरातन काल से ही विजेताओं का एक प्रतिमानक रहा है।

उदात्त अलंकार

उदात्त का जो रूप अलंकार के रूप में मिलता है, वह भारतीय सौन्दर्य-चेतना का एक विशिष्ट अंश है। भारतीय साहित्य में सौन्दर्य को अलंकार ही माना जाता रहा है,[2] जब कि उदात्त भी एक अलंकार है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अलंकार सम्प्रदाय एक विशुद्ध सौन्दर्यवादी (रमणीयतावादी नहीं) सम्प्रदाय रहा है, जिसमें रस, ध्वनि, वक्रोक्ति जैसे व्यापक विचारणा वाले सम्प्रदाय भी केवल कुछ अलंकार-रूपों में घनीभूत होकर अलंकार सम्प्रदाय में समाहित हो गये हैं। इस दृष्टि से पहले 'उदात्त' अलंकार के पारिभाषिक रूप को देखना समीचीन जान पड़ता है। आलंकारिकों में प्राचीन भामह ने, जहाँ तक ज्ञात है सर्वप्रथम प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति और समाहित तथा तीन प्रकार के श्लिष्ट अलंकारों के साथ दो प्रकार के भेद वाले उदात्त की चर्चा की है।[3] प्रथम उदात्त में वे शक्तिमत्ता को महत्त्व देते हैं और उदाहरणार्थ राम की शक्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'शक्तिमान राम पिता के वचन का पालन करते हुए जिस प्रकार प्राप्त राज्य को छोड़कर वन चले गए'। दूसरे प्रकार का उदात्त किसी दूसरे सम्प्रदाय में मान्य प्रतीत होता है; क्योंकि भामह कहते हैं कि 'इसी को दूसरे लोग अन्य तरह से व्याख्या करते हुए दूसरे प्रकार का मानते हैं—जो नाना रत्नों से युक्त हो वही उदात्त कहा जाता है।[4] द्विरूपात्मक उदात्त की यह परम्परा भामह के अनन्तर अन्य आलंकारिकों में भी प्रचलित रही है।

---

१. का. उदा. तत्व. पृ. ५४

२. का. लं. (वामन) १, १, २ 'सौन्दर्यमलङ्कारः' व्याख्या में उसे अलंकृतिरलङ्कार (Decorative beauty) कहा गया है, जिसे दंडी ने 'शोभा धर्म' माना है।

३. भामह. ३, १. 'प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विप्रकारमुदात्तं च भेदैः श्लिष्टमपि त्रिभिः ॥'

४. भामह. ३, ११-१२—'उदात्त शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत् ॥
एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
नानारत्नादि युक्तं यत्तत् किलोदात्तमुच्यते ॥'

मम्मट के अनुसार भी जहाँ किसी वस्तु की सम्पत्ति का या बड़प्पन का अथवा वर्णनीय विषयों में बड़ों का उपलक्षण करके वर्णन किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार होता है।[१] कविराज विश्वनाथ के अनुसार भी उदात्त अलंकार वह है, जहाँ लोकोत्तर वैभव का वर्णन किया जाता है। साथ ही उदात्त या महनीय चरित वाले पुरुषों का वर्णन भी उदात्त में गृहीत होता है।[२] 'अलंकार सर्वस्व' में इसी कथन का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि 'जैसे यथावस्थित वस्तु-वर्णन में स्वभावोक्ति और दूसरे प्रकार के वर्णन में 'भाविक' (भावना प्रसूत) का अनुसन्धान किया जाता है, वैसे ही कविकल्पित वस्तु-वर्णन में 'उदात्त' की कल्पना स्वाभाविक ही है। अलौकिक समृद्धि से सम्पन्न वस्तु-वर्णन कवि-प्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य-वर्णन है—यही उदात्त अलंकार है। साथ ही उदात्त महापुरुष के वर्णन से यदि किसी अन्य वर्ण्य वस्तु की उदात्तता प्रकाशित हो, तो वहाँ भी उदात्त का चमत्कार माना जा सकता है।[३] उपर्युक्त आकलन से स्पष्ट है कि उदात्त का उद्भव और विकास शक्तिमान व्यक्ति, और लोकोत्तर वस्तु-वर्णन को लेकर हुआ है। वस्तुतः देखा जाय तो काव्य में व्यक्ति और वस्तु के अतिरिक्त और वर्ण्य हो ही क्या सकता है। निश्चय ही व्यक्ति की शक्तिमत्ता में लौंगिनुस की ऊर्जा, प्रेरणा-प्रसूत आवेग आदि का और वस्तु के लोकोत्तरत्व में केवल लौंगिनुस द्वारा गिनाए गए अलंकारों का ही नहीं अपितु समस्त भारतीय अलंकारों का समाहार हो सकता है। भारतीय साहित्य में रस, वक्रोक्ति और ध्वनि की तरह 'उदात्त' भी विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता था। किन्तु विचित्रता तो यह है कि उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने अपने भेदों और उपभेदों के 'चक्रव्यूह' के अर्थविस्तार के स्थान में और अधिक संकोच कर दिया। भोज ने उदात्त गुण और उदात्त (दान्त) रस की चर्चा तो की, किन्तु युक्तियुक्त स्थापना नहीं कर सके। परन्तु इन समस्त चर्चाओं से इतना स्पष्ट है कि उदात्त को जो स्थान भारतीय साहित्य में मिलना चाहिए था, वह उसे पाश्चात्य साहित्य में अपेक्षित मात्रा में मिला। आश्चर्य तो यह है कि 'ऊर्जा' और 'आवेग' जो लौंगिनुस द्वारा प्रतिपादित उदात्त के व्यक्तिसापेक्ष भाव पक्ष हैं, उन्हें भामह के 'शक्तिमान' में समाहित किया जा सकता है। वैसे ही 'विस्तारणा' को भी 'अलौकिक सम्पत्ति' या सम्पत्ति में समाविष्ट किया जा

---

१. मम्मट, का. प्र., १०, १७६–उदात्तं वस्तुनः सम्पत्। १७७–महतां चोपलक्षणम्।

२. सा. द. (चौखम्बा सं.) पृ. ८७१, १०, ९४

लोकातिशयसम्पत्ति वर्णनोदात्तमुच्यते। यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्।

३. अलंकार सर्वस्व पृ. २३० और उद्भट काव्या. सार. स. ४–८।

सकता है; क्योंकि 'विस्तारणा' का जो तात्पर्य लौंगिनुस ने ग्रहण किया है, उसका सम्बन्ध 'विस्तार' और प्राचुर्य' से है।[1]

उदात्त का अधुनातन चिन्तन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन उदात्त व्यक्ति और वस्तुपरक होने के कारण वर्णनात्मक या वस्तुनिष्ठ अधिक रहा है; किन्तु आधुनिक बुद्धिवादी युग में आकर उदात्त का स्वरूप आत्मनिष्ठ और चिन्तन प्रधान अधिक हो गया। काँट जैसे विचारकों ने उदात्त को पुनः एक नयी दृष्टि दी। उनके मतानुसार किसी प्राकृतिक वस्तु को उदात्त कहना असंगत है। क्योंकि वस्तु का उपस्थापन सदैव आंशिक होता है। इसलिए उदात्त केवल तर्कपूर्ण उस प्रत्यय में है, जो संवेदनशील वस्तु के रूप में अपर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत होने पर प्रबुद्ध होती है और मस्तिष्क में एकत्रित हो जाती है। काँट ने उदात्त का विभाजन गाणितीय और गतिशील दो रूपों में किया है।[2] इसका कारण यह है कि प्रकृति ऐसी वस्तुओं के रूप में उपस्थित होती है, जिसको हम विराटता या असीमता प्रदान करते हैं या जिसमें उसका परम विस्तार प्रतीत होता है। अपने कुछ रूपों में प्रकृति अपनी परम शक्तिमत्ता के साथ अनुभूत होती है। उसके प्रथम रूप को वह गणितीय दृष्टि से मूल्यांकन करता है, और दूसरे को गतिशील दृष्टि से। सामान्य रूप से उदात्त परम विराट है, जो न तो बोध की धारणा है न इन्द्रिय-प्रातिभ ज्ञान है और न विवेक या तर्क की धारणा है। उसकी विशालता अतुलनीय होती है।

अवतारवादी उपास्य रूपों और देवताओं में जो सर्वोत्कृष्ट रूप (एक समय में सर्वश्रेष्ठ) दीख पड़ता है, वह उदात्त रूप ही है। उसकी परम विशालता का भी निश्चित बोध की धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अतुलनीय है। वह उस भावानुभूति का मूल्यांकन है, जिसमें इससे बड़ी वस्तु की कल्पना होना असम्भव है। यह काँट के उस गणितीय उदात्त के सदृश है, जिसमें वस्तु के प्रति श्रद्धा की भावना विद्यमान रहती है।[3] मनुष्य का विवेक इसमें परम सम्पूर्णता के रूप में सोचता है। सर्वोत्कृष्ट विराट रूपों में भी मनको आतंकित करने वाली एक वेदना होती है। वस्तुतः इसी आनन्द-मिश्रित वेदना में उदात्त निहित है। क्योंकि उदात्त अनुभव में आनन्द के साथ

---

१. का. उदा. त. पृ. ६५– 'मेरे विचार से उनमें अन्तर यही है कि औदात्य का तो प्राण-तत्व होता है ऊर्जा और विस्तारणा जिनमें विवरण-विस्तार रहता है अतएव औदात्य प्रायः किसी एक विचार में ही निहित रहता है, जब कि 'विस्तारणा' का सम्बन्ध साधारणतः विस्तार' और 'प्राचुर्य' से जोड़ा जा सकता है।

२. कम्प. एस्थे. पृ. ३४२। ३. कम्प एस्थे. पृ. ३४४।

वेदना का भी अनुभव होता है। इसका मुख्य कारण है मन, जो कल्पना इत्यादि के द्वारा उदात्त वस्तु के समस्त तत्त्वों को एक प्रातिभ ज्ञान में ग्रहण करने की असमर्थता या असहायता प्रदर्शित करता है। यह आनन्द-वेदना-मिश्रित अनुभव नैतिक अनुभव के सदृश प्रतीत होता है। निःसंदेह उदात्त के मूल्यांकन में बोध का स्थान तर्क ले लेता है। इसमें सौन्दर्य की तरह कल्पना और बोध न होकर, कल्पना और विवेक स्थान ग्रहण करते हैं।

शक्ति और प्रभुत्व का पार्थक्य बतलाते हुए कॉंट ने गतिशील दृष्टि से उदात्त पर विचार किया है। उसके मतानुसार रमणीय मूल्यांकन गतिशील दृष्टि से उदात्त है, यदि मूल्यांकनकर्त्ता किसी प्राकृतिक वस्तु को शक्तिशाली तो माने किन्तु नैतिक सत्ता के रूप में उस पर कोई प्रभुत्व न हो। उदात्त वस्तु भौतिक शक्ति की दृष्टि से अनन्त या निस्सीम शक्तिमत्ता से युक्त हो। भोक्ता की दृष्टि से वह हमारे सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व को विलुप्त कर सकती है। इस प्रकार वह उदात्त वस्तु हमारे भय का मूल उत्स बन जाती है, फिर भी हम वास्तविक भय की अवस्था में नहीं आते। अतएव काल्पनिक ऐहिक असहायता की भावना गतिशील दृष्टि से मूल्यांकन का दूसरा कारण है। मूल्यांकन का तीसरा कारण हमारे नैतिक व्यक्तित्व की चेतना है। प्रकृति की अत्यन्त शक्तिशालिनी वस्तु के सामने जब हम अपनी असहायता का अनुभव करते हैं, उस समय एक प्रकार का भय हमारे नैतिक व्यक्तित्व की चेतना को प्रबुद्ध करता है। इस प्रकार कॉंट ने उदात्त के आत्मनिष्ठ पक्ष पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है। सौन्दर्य और उदात्त का वास्तविक मूल्यांकन करते हुए वह कहता है कि 'सुन्दर का सम्बन्ध वस्तु के रूप से है, यह सीमित स्वभाव का है; जब कि उदात्त वस्तु के रूप से अलग हटकर भी पाया जा सकता है। यह शीघ्र ही अभिभूत कर लेता है। इसके अतिरिक्त इसकी उपस्थिति 'ससीमता के बिम्ब' (image of limitness) को प्रबुद्ध करती है, और उसके ऊपर सम्पूर्णता की विचारणा से आरूढ़ रहती है।'[1]

अंग्रेजी विचारकों में ब्रेडले ने सौन्दर्य के भव्य, सुन्दर, मनोरम, ललित पाँच रूपों में से उदात्त को एक रूप माना है।[2] उसके अनुसार उदात्त से विशालता ही नहीं अपितु अभिभूत विशालता की प्रतिध्वनि निकलती है। विशालता उदात्त का सहचर नहीं अपितु अनिवार्य अंग है। यदि विशालता को कल्पना से हटा दो तो उदात्त भी लुप्त हो जायेगा। उन्होंने विशाल वस्तुओं में नीले रंग और असंख्य नक्षत्रों के साथ स्वर्गाकाश, क्षितिजान्त तक फैले हुए

१. क्रि. जज. पृ. २९९। २. अक्स. ले. पो. पृ. ४०।

महासागर, आदि और अन्त से परे काल को विशाल ही नहीं अनन्त बृहत्व के प्रतिबिम्ब माने हैं।

ब्रेडले का उदात्त भारतीय विभूतिवाद और विराटवाद को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लेता है। इस दृष्टि से गीता के दसवें अध्याय में आए हुए पीपल, वट, कामधेनु, आदि समस्त विभूतिपरक नाम तथा एकादश अध्याय में वर्णित श्रीकृष्ण का विराट रूप ये सभी किसी न किसी प्रकार के केवल औदात्य के ही नहीं अपितु उदात्त बिम्बों के द्योतक माने जा सकते हैं। हम ब्रेडले की धारणा के अनुसार, कामधेनु, महामत्स्य, गरुड़, हिमालय, गंगा, काशी, शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य सभी में उदात्त का दर्शन कर सकते हैं।

उदात्तोपासना

सौन्दर्य-भावना की दृष्टि से पशु, पक्षी, पौधे, नदी, पर्वत, तीर्थ की उपासना उदात्तोपासना कही जा सकती है। भारतीय बहुदेव पूजक वस्तुतः स्रष्टा के आनन्द उदात्त स्वरूपों के उपासक थे। तैंतीस कोटि देवों की संख्या स्वतः एक उदात्तोपासनात्मक एवं संख्यात्मक प्रतीक है। जहाँ भी उन्होंने शक्ति, सामर्थ्य, त्याग, दान, विनाश, भयंकरता, प्रलयंकरता का दर्शन किया वह उनकी उदात्तोपासना का उपजीव्य बन गया। यही नहीं समस्त ज्ञात, अज्ञात और कल्पित सत्ता अपने औदात्य के कारण उन्हें नतमस्तक किया करती थी। भारतीय पौराणिक देवता जो प्राकृतिक व्यापारों के मूर्तिमान रूप रहे हैं, वे ब्रेडले की अमावस्या की रात, पूनम की रात, महाभयानक जंगल, विशाल जलप्रपात, भयंकर अग्निकाण्ड, भयानक युद्ध, रात की नीरवता इत्यादि से अधिक भिन्न नहीं हैं।[1] दोनों में द्रष्टा की दृष्टि से केवल इतना अन्तर अवश्य है कि एक में उदात्तोपासना है और दूसरे में उदात्त दर्शन। इसके अतिरिक्त ब्रेडले ने एक गुणात्मक उदात्त की चर्चा की है, जहाँ प्रेम और उत्साह जैसे स्थायी भावों से संवलित होने पर छोटी वस्तु भी बड़ी वस्तु बन सकती है। यहाँ गुण की मात्रा में उदात्त निहित है। इस गुणात्मक उदात्त में हम भारतीय इष्टदेवोपासना और अवतारोपासना को परिगणित कर सकते हैं। क्योंकि उनके ईश्वरीय या दिव्य लीला और चरित्र में प्रायः सर्वत्र रसपेशलता और शक्ति की सर्वाधिक महत्ता (overwhelming greatness of power)[2] का दर्शन होता है। अचिंत्य परब्रह्म सक्रिय और सचेष्ट इष्टदेवों और अवतारों के रूप में अपने भावात्मक औदात्य का परिचय देता है।

---

१. अक्स. ले. पो. पृ. ४६।

२. अक्स. ले. पो. पृ. ४८ ब्रेडले ने उदात्त का महत्व सदैव शक्ति की महत्ता में माना है।

इस प्रक्रिया में, आह्लादक भावों में वेदना या उदासी के मिश्रण का यह तात्पर्य नहीं कि उसमें कोई असंगति नहीं होती, अपितु सुन्दर की तरह उदात्त में भावोद्दीपन या भावोद्बोधन तत्क्षण सम्भव नहीं है। उसमें अवतार और प्रतिअवतार की तरह स्वीकारात्मक और निषेधात्मक दो अवस्थाएँ सदैव स्थित रहती हैं।

यह तो वह अभिभूत महत्ता है जो क्षण भर के लिए हमारे संवेगों को अवरुद्ध कर वशीभूत कर लेती है और कभी हमारे मन को अपनी लघुता का अनुभव कराती है, जो हमारी कल्पनाओं और भावनाओं को इस प्रकार उत्तेजित करती है कि वे अपने ही आयामों में विस्तृत और ऊर्ध्वोन्मुखी हो जाती हैं। हम अपनी सीमा से फूटकर उदात्त वस्तु तक पहुँच जाते हैं और आदर्श-वादी ढंग से उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और उसकी महान विभुता में आंशिक भाग ग्रहण करते हैं। किन्तु जब हमारी चेतना पार्थक्य का अनुभव करती है तो हम अपने आप में क्षुद्रता का अनुभव करते हैं, फलतः हमारा समस्त गौरव किंचित् भय, आत्मग्लानि या अपमान के साथ मिल जाता है।

उदात्त के विभिन्न तत्त्व

ब्रेडले के अनुसार उदात्त वस्तु में निम्नलिखित तत्त्व दीख पड़ते हैं— १ भय, २ काल्पनिक समानुभूति, ३ आत्म-विस्तार ४ लघुत्व और शक्ति हीनता या असहायता का बोध, ५ उदात्त वस्तु में गौरव, महिमा और विभुत्व का बोध। उदात्त वस्तुएँ ऐन्द्रिक संवेदनाओं को अपनी शक्तिमत्ता से प्रभावित करती हैं, क्योंकि उनका औदात्य उनके प्रभाव के परिमाण या आयतन पर निर्भर करता है। उदात्त में जहाँ उनका पूर्णस्वरूप नहीं लक्षित होता और औदात्य सुन्दर के निकट प्रतीत होता है, तो भी हम वहाँ किसी सुरक्षित शक्ति (सम्भवतः अवतार शक्ति) की उपस्थिति का अनुभव करते हैं, जो बड़ी आसानी से प्रस्तुत अभिव्यक्ति को अधिक चमत्कृत कर सकती है। उदात्त हमारी अनुभूतियों में सदैव उन्मुक्तता, विभुत्व, अनन्तता और असीमता की भावना प्रबुद्ध करता रहता है।[1] यह भी कहा जा सकता है कि उदात्त हममें अनन्तता की चेतना जगाता रहता है या वह सभी दशाओं में असीम की अभिव्यक्ति के लिए ससीम रूपों की अपर्याप्तता प्रदर्शित करता है। इस दृष्टि से उदात्त वह सौन्दर्य है, जो अनन्त, अथाह, अपरिमेय, अतुलनीय और असीम महानता से युक्त हो। असीम की पूर्ण उपस्थिति

(Total presence) की यह वह प्रतिमा है, जहाँ वह धारण करने के लिए किसी भी सीमा को पसंद कर सकता है।[1]

भारतीय अवतारवाद अपने सैद्धान्तिक रूप में उपर्युक्त कोटि के उदात्त का परिचायक रहा है। प्रायः समस्त पौराणिक अवतार अपने उदात्त रूपों और कार्यों के द्वारा अपने प्रत्यक्ष औदात्य का ही परिचय नहीं देते, अपितु उनमें असीम की समस्त अनन्तता भी सन्निहित रही है। यद्यपि यह एक मानसिक व्यापार है, किन्तु मन भी इस अवस्था में अधिक ऊर्ध्वोन्मुख और उन्नत स्थिति में रहता है। रस्किन ने तो मनको उन्नत करने वाली वस्तु को ही उदात्त माना है। यह औदात्य किसी भी रूप का विचार करते हुए हो सकता है। यों महत्त्वबोध के समय जिस छाया से हमारा मन अभिभूत हो जाता है उसे ही उदात्त कहते हैं। यह महत्त्व जड़ पदार्थ, आकाश, शक्ति, पुण्य या सौन्दर्य में किसी एक का हो सकता है।[2] दारुण भय में भी जब कोई मृत्यु का आलिंगन करता हुआ स्थिर और अविचलित चित्त रहता है, तब हमें गांभीर्य-बोध होता है। मनुष्य की चित्तवृत्ति को ऊर्ध्वाभिमुख कर सकने वाली महनीय अनुभूति से ही औदात्य का बोध सम्भव है।

उदात्त और उत्कर्ष

भारतीय विचारकों में प्रो० जगदीश पाण्डेय ने अपने कतिपय निबन्धों[3] में उदात्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर विस्तृत रूपसे विचार किया है। इनके मतानुसार 'जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है—वह उदात्त कहलाता है'।[4] जहाँ कहीं किसी वस्तु, स्थिति, घटना तथा शील में हम उत्कर्ष के साथ लोकातिशयता, अथवा लोकातिशयता के साथ उत्कर्ष के दर्शन करते हैं, वहाँ हमें उदात्त के दर्शन हो जाते हैं। असल में जैसे-जैसे किसी पदार्थ या व्यक्ति की भौतिक सीमाओं का बन्धन टूटता जाता है, वैसे-वैसे उसमें सूक्ष्मता, व्याप्ति तथा उद्धार की योग्यता आती जाती है। इस तरह वह अपनी अतिशयता अथवा महाशयता से आश्रय को आक्रान्त करता है, परास्त करता है, आत्मसात् करता है। उत्कर्ष की दृष्टि से उन्होंने उदात्त के सूक्ष्मोदात्त, मूल्योदात्त, परोदात्त और विस्तारोदात्त, चार स्वरूप बताए हैं।[5] श्री पाण्डेय का यह उत्कर्षोन्मुख उदात्त एक 'सोपान-सरणि' में निहित है। उनके कथनानुसार उदात्त के

---

१. अक्स. ले. पो. पृ. ६२।
२. ले. ऑन आर्ट. पृ. ४०।
३. 'साहित्य' में प्रकाशित।
४. सा. १९५५, ७. पृ. ९, १०।
५. सा. १९५, ६, ७ पृ. १४।

'बिन्दु में सिन्धु' का, 'एक स्वर में समस्त संगीत' का, तथा 'एक कलिका में समस्त वसन्त' का भावन कर सकती है, तो फिर प्रेम के औदात्य का उपासक भक्त 'शालग्राम' में विष्णु का, नर में नारायण का, पिंड में ब्रह्माण्ड का और मनुष्य में भगवान का भावन क्यों नहीं कर सकता? अतः अवतारवादी उदात्त का लक्ष्य अचिंत्य, अगोचर परब्रह्म सर्वशक्तिमान को गोचर और सहचर मनुष्य के रूप में रमणीय उदात्त बनाकर भोक्ता या भक्त की भावन क्षमता के अनुरूप रूप में संवेद्य बनाकर प्रस्तुत करना है। विटामिन या सम्पृक्त पौष्टिक वटिया की तरह रमणीय उदात्त भगवान् की समस्त भग-युक्तविभुता को मानव-कलाकृति में समेट कर आस्वाद्य बना देता है। इस प्रकार अवतार-वादी भक्तिभावना न तो सूखी तपस्या है न शुष्क चिंतन अपितु एक ऐसी रमणीय रसवत्ता है, जो इन्द्रियेतर सत्ता को भी 'नट्वत्' शैली में सर्वप्रिय बना देती है। आश्चर्य तो यह है कि अवतारवादी कलात्मकता रमणीय और उदात्त दोनों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करती है। रमणीयचेता भक्त अपनी सहज वात्सल्य प्रवृत्ति के द्वारा कृष्ण जैसे अवतार-रूपों को बालक-रूपमें लौकिक ढंग से उनकी स्वाभाविक क्रीडाओं का आस्वादन करता है। साथ ही उनके मुख में मिट्टी नहीं समस्त लोकों की व्याप्ति का दर्शन करता है। अतएव रमणीय इष्टदेव में उदात्त का दर्शन ही रमणीय उदात्त कहा जा सकता है। लौकिक और अलौकिक दोनों का अपूर्व संयोग रमणीय उदात्त में दीख पड़ता है।

निश्चय ही मध्यकालीन भक्त कवियों की कला-सृष्टि का प्रमुख लक्ष्य रमणीय उदात्त की सृष्टि करना रहा है। वे अपने रमणीय उदात्त भगवान से रूठते भी हैं और भयभीत भी होते हैं। उन्हें फटकारते हैं और अपना अपूर्व दैन्य भी प्रदर्शित करते हैं। ये समन्वित कार्य-व्यापार रमणीय उदात्त में ही सम्भव प्रतीत होते हैं। प्राणियों और जीवों के साथ समस्त पृथ्वी, नक्षत्र इत्यादि भगवान के ही कलात्मक रूप हैं। कहीं वे हमें रमणीय विदित होते हैं और कहीं उदात्त तथा कहीं मिश्रित पर्वतीय प्रदेश की संन्ध्या की तरह रमणीय उदात्त लगते हैं। संध्या और ऊषा दोनों में जो द्वाभा है, उसे रमणीय उदात्त का द्योतक कह सकते हैं। इसी प्रकार अवतार कला-मूर्ति में भी द्वैत सत्ता है। राम एक ओर तो 'कोटि' मनोज (सुन्दरता के प्रतिमानक) लजावन होने के कारण रमणीय हैं, और 'निर्गुण ब्रह्म' सगुण राम होकर आए हैं। इसलिए वे उदात्त भी हैं। आलोच्य दृष्टिकोण से यदि समस्त मध्यकालीन भक्ति साहित्य का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि भक्तों की कलाकृतियों का सौन्दर्यवादी मूल्य रमणीय उदात्त में निहित है।

रमणीय उदात्त कृति का भावक अपनी सेन्द्रियता की भावभूमि में रहकर ही रमणीय उदात्त का भावन करता है। कलात्मक दृष्टि से अवतारवाद की समस्त अलौकिकता, भगवत्ता, ब्रह्मत्व आदि में रमणीय उदात्त का अपूर्व संयोजन दीख पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी समस्त शक्ति लगाकर यह दिखाने का बहुत प्रयत्न किया कि 'रामायण' 'महाभारत' इत्यादि का अवतारवादी अंश प्रक्षिप्त है। सम्भव है अवतारवादी अंश प्रक्षिप्त हो और परवर्ती हो। किन्तु फिर भी अवतारवादी कला-दृष्टि अपने युग की वह दृष्टि है, जिसने समस्त भारतीय चरित-प्रकारों को रमणीय उदात्त के रूप में आवेष्टित का प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसका मुख्य कारण था भारतीय कला-विभूतियों को भक्ति-जनित प्रयोजन के अनुकूल बनाना। क्योंकि स्वयं भक्ति में भी एक प्रकार का रमणीय औदात्य ही है। यों रमणीय उदात्त की तरह भक्ति में भी सेन्द्रियता में अतीन्द्रियता का और मनुष्योचित भावों में दिव्यता का अनुभव सन्निहित है। भक्ति और रमणीय औदात्य दोनों का लक्ष्य भी मानव-मन से मानवीकृत भगवत्ता का आस्वादन ही जान पड़ता है।

निष्कर्ष

ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर आधुनिक चिन्तन की अपेक्षा प्राचीन युग में व्यावहारिक मानव को ध्यान में रखते हुये अपेक्षाकृत उदात्त का अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। क्योंकि प्राचीन युग के मानव का चिन्तन क्षेत्र अनेक दिव्य, आध्यात्मिक, गूढ़ एवं रहस्यवादी पदार्थों और प्राणियों में व्याप्त था। प्रकृति के भीषण एवं भयंकर रूप भी उस युग के मानव को जो उदात्तानुभूति प्रदान कर सकते थे, वे इस वैज्ञानिक युग के बौद्धिक मानव को नहीं, जो समस्त प्राकृतिक व्यापारों का एक बौद्धिक समाधान उपस्थित कर लेता है। अतएव उदात्त भावना की दृष्टि से पुरातन युग को हम अत्यन्त समृद्ध एवं सशक्त कह सकते हैं। उस युग के मानव के समक्ष केवल भयानक या रौद्र रूप धारी दिव्य देवता अथवा समुद्र, तूफान, मुसलाधार वृष्टि, बादल-गर्जन मात्र ही ऐसे विषय नहीं थे, जो उदात्तानुभूति का सञ्चार किया करते थे, अपितु उस युग के महावीर नेता, सेनानी, योद्धा या सांस्कृतिक महापुरुष भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, मांसल व्यक्तित्व, चातुर्य तथा असाधारण शौर्य-प्रदर्शन के द्वारा स्थूल रूप से औदात्य की सृष्टि करते थे। जिन्हें हम उदात्तानुभूति के लिये आलम्बन विभाव कह सकते हैं।

पुराणों में प्रचलित विष्णु के रूप मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध अपने असाधारण रूप, आचरण, चरित्र और कार्य

व्यापार द्वारा अवतारवादी औदात्य का ही द्योतन करते हैं। मत्स्य का निरन्तर बढ़ता हुआ वह भयंकर रूप, जिसके द्वारा वह प्रलयकाल में मनु की नाव खींचता रहा—यह समस्त कथा एक अपूर्व औदात्य से परिपूर्ण है। जिसमें उदात्त के विशिष्ट गुण ऊर्जा, शक्ति, विस्तारण और धारण की प्रवृत्ति रही है। इसी प्रकार कूर्म और समुद्रमन्थन की कथा में भी कूर्म की अपरिमेय सहिष्णुता, वराह द्वारा समस्त पृथ्वी को दाँतों पर उठाना, नृसिंह की गर्जना और हिरण्यकशिपु का विचित्र स्थिति में वध, वामन के पगों में समस्त अन्तरिक्ष, भूलोक आदि का समाहित हो जाना, परशुराम का रौद्र रूप धारण कर क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार करना, राम और कृष्ण का अपने पराक्रम से समस्त भारत भूमि को समन्वित करने का प्रयास करना और गौतम का बोधिप्राप्त व्यक्तित्व ये समस्त रूप किसी-न-किसी प्रकार के विशिष्ट औदात्य का परिचय देते हैं।

अवतारवादी उदात्त उच्चतम मानव मूल्य का द्योतक मनुष्योदात्त है

अवतारवादी सौन्दर्य जिस पराक्रम और अतिरिक्त शक्ति के प्रयोग पर आधारित है, उसमें केवल लावण्य, लालित्य या रमणीय नहीं, अपितु उदात्त का सौन्दर्य व्याप्त है। विशेषकर मूल आख्यानात्मक अवतार तो उदात्त प्रकृति के ही रहे हैं, जिन्हें विविध प्रकार के साहित्य और कला का उपादान बनाकर उनके मूल नहीं, अपितु कलात्मक रूपों में कलास्रष्टाओं ने लालित्य और रमणीयता से भर दिया है। पौराणिक काल में जब अवतारों की पूजा उपास्य इष्टदेव के रूप में होने लगी, भारतीय प्राचीन योद्धा वीरोत्तेजक रणक्षेत्र से लौटकर दाम्पत्य की शृङ्गारोद्दीपक रमणीयता और लालित्य में निमग्न हो गये। इनका अचेतन प्रभाव इस युग तक मान्य विष्णु के अवतार-रूपों पर भी पड़ा।

सर्वदा अद्वितीय पराक्रम का परिचय देने वाले विष्णु के अवतार जो अपने समष्टिगत प्रभाव की दृष्टि से वीरोदात्त का द्योतन करते हैं, मध्ययुग में उत्तरोत्तर रमणीयता और लालित्य की प्रतिमूर्ति बन गए। किन्तु अवतारवाद का सर्वदा अर्थ रहा है वैष्णवी शक्ति के रूप में पराक्रम और शौर्य का आविर्भाव। अवतारवाद सर्वदा कल्याणकारिणी शक्ति की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। अवतारवाद इसी से बुद्ध के शान्तोदात्त को भी निषेधात्मक रूप में ग्रहण करता रहा है। क्योंकि वह उदासीनता, विरक्ति, दयनीय अहिंसा, निष्क्रियता, कार्पण्य में विश्वास नहीं करता, अपितु सक्रियता, सचेष्टता, प्रयत्न, महान् कार्य, महान् साधना, महान् संघर्ष, महान् उपलब्धि, महान् दायित्व, महान् लक्ष्य और महान् सांस्कृतिक या राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में विश्वास रखता है।

ऐसे तो मध्य युग कूपमंडुकता, धर्मान्धता, पराधीनता, असहायता, आडम्बर और पाखण्ड का युग रहा है, जिससे कुछ मूर्धन्य कवियों को छोड़ कर तत्कालीन साहित्यिक अभिव्यक्तियों में अवतारों के रूप भी ह्रासोन्मुख प्रकृति के दीख पड़ते हैं। अतएव केवल उन्हें आधार मान कर अवतारवाद का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो सकता। क्योंकि मुख्य रूप से भारतीय अवतारवाद अनेक उदात्त गुणों और कार्यों से पूरित प्राणी और मानव-जीवन के संघर्ष, विकास और अद्वितीय सफलता की कहानी है। स्वयं अपनी वीरोदात्त प्रकृतियों के द्वारा सक्रिय एवं संघर्षशील जीवन का ठोस (Positive) दर्शन है। उसमें निराशा, असहायता और कार्पण्य का नामोनिशान भी नहीं। पतितपावन अवतारों के उद्धार कार्य भी जनतांत्रिक बहुजन-सेवा, समदर्शिता, सम्यक् व्यवहार और आचरण की ओर ही इंगित करते हैं। सम्प्रदाय एवं रूढ़ियों से मुक्त होकर देखने पर समस्त अवतारवाद की पृष्ठ-भूमि प्रजातांत्रिक और उदात्त कार्यों से पूर्ण प्रतीत होती है।

भारतीय ललित कलाओं में

अवतारवाद

भारतीय ललित कलाओं का परात्पर आदर्शवाद

भारतीय दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसका लक्ष्य केवल तत्त्व का अन्वेषण नहीं था अपितु उसके माध्यम से मोक्ष प्राप्त करना था। उसी प्रकार लक्ष्य की दृष्टि से भारतीय साहित्य एवं कला का उद्देश्य भी कला के लिए कला नहीं अपितु मोक्ष, ब्रह्मानन्द या रसानन्द की उपलब्धि रहा है। अतएव भारतीय सौन्दर्य का बाह्य-वस्तु से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना उसके अन्तःपक्ष से है। प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में सौन्दर्य का दर्शन अन्तश्चक्षु से ही हो सकता है।[1] सच्चे सौन्दर्य की शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और न तो किसी वस्तु के माध्यम से उसे जाना जा सकता है। 'मूकास्वादनवत्' उसका केवल आस्वादन सम्भव है। इसी से मध्यकालीन भक्तों ने अपने उपास्य-देवों के सौन्दर्य का जहाँ वर्णन किया है, वह 'कोटि-कोटि सतकाम' या 'कोटि मनोजलजावन हारे' जैसे प्रतिमानों में व्यक्त सर्वदा असीम, अनन्त, सर्वातीत एवं अगोचर सौन्दर्य का सूचक रहा है। 'कामदेव' जो भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य का प्रतिमान माना जाता रहा है, उसकी तुलना में उपास्य का सौन्दर्य अनिर्वचनीय, कल्पनातीत और शब्दातीत है—उसका केवल भावन हो सकता है वर्णन नहीं। इसके परिणामस्वरूप समस्त भारतीय साहित्य एवं कला, मोक्ष या आनन्द प्राप्ति के साधनमात्र रहे हैं, अपने आप में चरमसाध्य नहीं।

अवतारवादी कला का भी चरम उद्देश्य यही रहा है। वह प्रकृति की अनुकृति या प्राकृतिक सौन्दर्य की पक्षपातिनी नहीं है। बल्कि प्रकृतिवाद एक धारणा के अनुसार ईश्वर-निर्मिति का ही अनुकरण करता है। यदि कलात्मक भावुकता की दृष्टि से देखा जाय तो कलाकार मूर्तियों, या चित्रों में अपने मानस-पट पर सम्मूर्तित प्रभावों का अंकन करता है, उसी प्रकार यह विश्व भी ईश्वर के सम्मूर्तित प्रभावों का अंकन है। मनुष्य कभी-कभी अपनी प्रतिच्छाया का निर्माण करता है, उसी प्रकार वह ईश्वर भी विश्व की अन्य विभूतियों या कृतियों में अपने स्वरूप की प्रतिकृति का निर्माण करता है। अतएव जहाँ कला में उपासना का तत्त्व सन्निविष्ट है, उपास्य मूर्तियों के निर्माण में विशेषकर आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि उनका मूल लक्ष्य अध्यात्मोन्मुख करना हो और उनकी

१. आर्ट. एक्स्पी. (हिरियन्ना) पृ. ९ ।

आकृतियों में समुचित औदार्य की सृष्टि हो।[1] क्योंकि कला सबसे अधिक हृदय को प्रभावित करती है बुद्धि को नहीं। उदात्त पर विचार करते हुए जे० सी० शेयरप ने सौन्दर्य में औदात्य और गरिमा के साथ औदार्य और लालित्य को भी समाविष्ट किया है। उसकी दृष्टि में सौन्दर्य में न तो अन्धकार है न प्रकाश बल्कि वह गोधूलि की द्वाभा है, जो तर्क और कल्पना के बीच में अवस्थित है और वे दोनों भी मन और आत्मा के बीच में निहित हैं।[2] कला वस्तुतः सबसे अधिक बुद्धि को नहीं अपितु हृदय को प्रभावित करती है। प्रत्येक हिन्दू सर्वात्मवादी की यह धारणा है कि जो कुछ व्यक्त है वह कला है और वह ईश्वर की अभिव्यक्ति है। यह वह वास्तविक कला है जो यथार्थ प्रेम की तरह निःस्वार्थ, उदार और त्यागपूर्ण होती है। बल्कि सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य का अचेतन कोई-न-कोई आध्यात्मिक अनुभव प्रदान करता है। उस आत्मानुभव से बाध्य होकर वह विश्वास करने लगता है कि वह आध्यात्मिक और निगूढ़ सत्ता विश्व की नियन्ता है। धर्म वस्तुतः अचेतन का विषय होते हुए भी एक गतिशील शक्ति है, यह केवल सामाजिक तन्त्रों पर ही निर्भर नहीं रहता। आदिम युग से ही मनुष्य ने जिन उपास्य, सजीव या निर्जीव कृतियों की उपासना की है, उन समस्त प्रतीकों में एक सृजनात्मकशक्ति निहित है। गाय जैसे पूज्य पशु भी मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव-स्वभाव की आवश्यकताओं, आग्रहों और आन्तरिक स्फुरणाओं और उद्रेकों के प्रतीक हैं।[3] पशु-पूजा से मानव-पूजा के विकास की सम्भावना की जा सकती है। प्रारम्भ में जो मनुष्य पशुओं पर रीझा करता था वह उत्तरोत्तर अपने में विकसित 'आत्मसम्मोही वृत्ति' की प्रधानता के कारण वह मानव-मूर्ति की पूजा की ओर आकृष्ट हुआ। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि मूर्ति उन लोगों की चेतना को बहुत प्रभावित करती है, जो कल्पना अधिक नहीं करते।[4]

अवतारवादी कला में भी हम आरम्भ में पशु और बाद में मनुष्य की अभिव्यक्ति पाते हैं, इस दृष्टि से अवतारवादी कला उपासनात्मक-क्रम का विकास करने वाली मानी जा सकती है। ग्रीस, रोमन और बैजेनटाइन कला की तरह भारतीय अवतारवादी कला भी परम्परागत कला है। इसमें आधुनिक कला के सौन्दर्यवादी तत्व भावात्मक अधिक हैं और चिन्तनात्मक कम। उनकी रेखांकित और सम्मूर्तित अभिव्यक्तियों में सौन्दर्य-भावना की

---

१. आर्ट एन्ड थॉट (आ. मो. पृ. ११) में संगृहीत। २. आ. मो. पृ. ९।
३. सिम्बो. पृ. २२६। ४. सिम्बो. पृ. २२७।

अपेक्षा परम्परागत प्रतीकात्मक रूप, रंग, मुद्रा, आकृति-विन्यास या आकार की अनुकृति अधिक दीख पड़ती है। अवतारों में सभी का रूपांकन सुन्दर और आकर्षक नहीं है। राम-कृष्ण को छोड़कर अन्य पशु, पशु-मानव या अर्द्ध-विकसित अवतारों की मूर्तियों में सौन्दर्यानुभूति की अपेक्षा उपास्य-भाव का प्राधान्य होने के कारण उनका भाव-निवेदन ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः परम्परागत कला वह है, जो प्रतीकों के माध्यम से साधक को किसी आध्यात्मिक परिणति पर पहुँचाती है। वह कला चाहे मिट्टी की हस्ति हो या पीतल की कोई मूर्ति या अन्य रूप—वह पुरातन सृष्टि-निर्माण की भावना को ही प्रदर्शित करती है। मनुष्य की प्रत्येक कृति विश्वेश-निर्मित कला की ही अनुकृति हैं। इस अनुकृति की धारणा में किसी भी आकृति की अभिव्यक्ति या प्राकट्य का बहुत महत्त्व है। अवतार-प्रधान चित्र, मूर्ति, वास्तु कलाओं में परम्परागत अनुकृति की प्रवृत्ति अवश्य विद्यमान रही है। उदाहरण के लिए विष्णु की मूर्तियों में चतुर्भुज तथा शेषशायी शंख, चक्र, गदा और पद्मयुक्त रूप प्रायः सर्वत्र प्रचलित रहे हैं। उनके श्यामल, आकाशवर्ण, नीले तथा हल्के काले वर्ण चित्र, तथा मूर्तियों में परम्परागत शैली में ही प्रयुक्त होते रहे हैं। उनकी मुद्रा और भाव-भंगिमाओं में ऐसी प्रशान्तता रहती रही है कि उपासक अपने भावों का मनोनुकूल आरोप उन पर सुविधा-पूर्वक कर सकता है। निश्चय ही उपासक की भावानुकूलता उनके रूप सौष्ठव का मुख्य केन्द्र रही है। इन मूर्तियों में कला की दृष्टि से तर्कसम्मत प्रतिक्रिया का कोई विशेष मूल्य नहीं होता। पाश्चात्य धार्मिक मूर्तियों या चित्रों में एक विचित्रता यह दीख पड़ती है कि कुछ मूर्तियाँ एक ओर तो भक्तों पर करुणामिश्रित दया या कृपा का प्रभाव डालती हैं, किन्तु दूसरी ओर उनकी नग्नता या कामोत्तेजक आकृति भक्तेतर पुरुषों में कामोत्तेजना का ही अधिक संचार करती है। मध्यकालीन रसिक सम्प्रदाय के राधा-कृष्ण की मूर्तियों में इस द्वैधाभास का दर्शन होता है। उनके भक्त जिन रसिक दृष्टियों से देख पाते हैं, उस दृष्टि से इतर लोग नहीं। फलतः अवतारवादी कला भी इस दोष से मुक्त नहीं रह सकी है, यद्यपि कि इसमें आरम्भ से ही मर्यादा का बहुत ध्यान रखा जाता रहा है।

यह तो वास्तविक सत्य है कि कला के मूल विकास और विस्तार में प्रायः विश्व के सभी देशों में धर्म का हाथ रहा है। अतः ऐसी प्रेरणाशक्ति को एकाएक कला से पृथक् नहीं किया जा सकता। चीन के 'बलबेक', मिश्र के 'पिरामिड', अजन्ता, एलोरा की गुफाओं के सुन्दर भित्ति चित्र आदि सभी धर्म की देन रहे हैं। पुरातनकाल में धर्म, चित्र, मूर्ति, नृत्य, संगीत,

नाट्य और काव्य का प्रेरक रहा है। जहाँ कला विशुद्ध प्रेरणा या अभिव्यक्ति की वस्तु रही है, वहाँ धर्म ने ऐसी कलाओं को जन्म दिया, जो जीवन और समाज का अनिवार्य अंग बन गयीं। आज भी संसार की सर्वश्रेष्ठ कलाओं में उन्हीं धार्मिक कलाओं का मुख्य स्थान है। वैदिक काल के अनन्तर प्रकृति-शक्तियों का ज्यों-ज्यों मानवीकरण होता गया, वे पौराणिक देवता बनते गए। फल यह हुआ कि देवों की आकृति ने यज्ञों की रूपरेखा पलट दी और अब सीधे प्राकृतिक शक्तियों की कृपा ग्रहण करने के बदले मानवीकृत देवों की कृपा की आकांक्षा होने लगी।

अतः भारतीय दृष्टि प्रारम्भ से ही लौकिक (पाश्चात्य) की अपेक्षा अलौकिक अधिक रही है। लौकिक और अलौकिक कला जिसे हम एक प्रकार से उपास्यवादी कला कह सकते हैं, दोनों में बहुत वैषम्य दीख पड़ता है। लौकिक कला की विशेषताओं की परख कुछ ही कला के पारखी व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर पाते हैं। कला की परख के लिए वैज्ञानिक प्रतिभा भी असाधारण देन है और सौन्दर्य मूल्यांकन उसकी अपेक्षा और अधिक विस्तृत और व्यापक भावना है। सामान्यतः कला में सौन्दर्य की भावना मनुष्य को वस्तु के प्रति प्रेम तक पहुँचा देती है, जो सुन्दर कलाकृति के सापेक्ष मूल्यांकन की सर्वोपरि योग्यता है और जहाँ रचनात्मक सक्रियता उस उद्देश्य के प्रति सक्रिय भी रहती है। अतएव लौकिक और पाश्चात्य कला और अलौकिक भारतीय कला में विशिष्ट अन्तर यह है कि जहाँ पाश्चात्य कलाकार वैसी कलाकृतियों का अंकन करते हैं, जिन कृतियों को देखने से केवल सेन्द्रिय संवेदनात्मक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। वहाँ प्राच्य कृतियाँ अपने अन्तर में छिपाए हुए सर्वातिशय कारण (Transcendent cause) को प्रस्तुत करती हैं, जो शनैः-शनैः उनसे प्रस्फुटित होती जाती है। प्राच्य कला-कृति कभी भी अपने आप में अन्तिम कृति नहीं है, उसका चरम उद्देश्य केवल कृति-निर्माण तक ही परिसीमित नहीं है, अपितु वह किसी चरम लक्ष्य या साध्य का साधनमात्र है। वह कलाकार द्वारा संयोजित आध्यात्मिक संवेदना को उद्बुद्ध करती है। यहीं कला का आध्यात्मिक मूल्य भी स्पष्ट हो जाता है। उसका विशिष्ट धार्मिक मूल्य ईश्वरवादी प्रत्यय या धारणा को आत्मसात् कर लेता है, मूर्ति या विग्रह जिसका वास्तविक प्रतीक है। अलौकिक कला मनुष्य में दैवी या परोक्षदृष्टि उत्पन्न करती है, जिसमें वह उद्देश्य संवलित 'भाव-मूर्ति' का भावन करता है, जबकि उद्देश्ययुक्त कला केवल प्रत्यक्ष दृष्टिबोध या विशुद्ध मानवीय स्तर का दृष्टिबोध मात्र उत्पन्न कर पाती है। भारतीय कलाकार किसी कलाकृति के माध्यम से उसके अन्तर

में समाविष्ट आध्यात्मिक चेतना का दर्शन करता है। जब कि पाश्चात्य कलाकार एक 'मॉडेल' के सामने बैठकर बाह्य संघटनात्मक रूपरेखा का अवलोकन करता है। किन्तु हिन्दू साधक अपने सुदृढ़ ध्यानयोग के द्वारा मॉडेल के ही माध्यम से आध्यात्मिक चेतना से ही संयोग स्थापित करता है। भारतीय अवतारवादी कृति इस प्रकार साधक और साध्य के बीच एक माध्यम का कार्य करती है। कलाकृति में सर्वातिशय सत्ता की भावना मनुष्य का सम्बन्ध उस 'ऋतम् ब्रह्म' से स्थापित करती है, जहाँ द्रष्टा के मन में केवल सौन्दर्यानुभूति ही नहीं उसका रस भावानुभूति या रसानुभूति भी उत्पन्न होती है। उस रस का भावन करके वह रसिक हो जाता है। अन्त में उस समत्व की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है, जहाँ उसके हृदयकमल में अन्ततोगत्वा साध्य और साधक एकाकार हो जाते हैं। उस एकत्व के धरातल पर पहुँच कर रसिकों को एक विचित्र अनुभूति होती है।

इस प्रकार भारतीय कलाकारों की संवेदना कलाकृति के निर्माण के पीछे एकत्वोत्पादन की स्थिति को अपने समक्ष रखती है। उनका चरम उद्देश्य सर्वदा प्रत्यक्ष न होकर 'परोक्ष दृष्टि' है। चेतना का उच्चतम रूप ही अवतरित होता है। कला अपने उपासक को ज्ञान के द्वारा क्रमशः विश्व के भूः, भुवः स्वः लोक तक पहुँचाती है।

काव्य

भारतीय काव्यों में विशेषकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी काव्यों में अवतारों का जो रूप वर्णित हुआ है, वे अवतार चरित्र प्रकार से अधिक कलात्मक चरित्र प्रकार हैं। शास्त्रीय संस्कृत युग के कवियों में अवतार-रूपों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करने की अधिक प्रवृत्ति दीख पड़ती है। 'भट्टि काव्य' में राम-रावण का चरित्र इस प्रकार कहा गया है, जिसमें समस्त संस्कृत व्याकरण अन्तर्भुक्त हो जाता है। उसी प्रकार लक्षण बहुल ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में राधा और कृष्ण अवतारचरित से अधिक अनेक प्रकार के नायिकाओं और नायकों में विभक्त कलात्मक सौन्दर्य के परिचायक राधा-कृष्ण हैं। यों तो काव्यों में भारतीय सौन्दर्य-चेतना का चरम मानदण्ड रमणीय रस रहा है।[1] रमण वृत्ति यथार्थतः सृष्टि और कला का विकास करने वाली भी वृत्ति है। स्रष्टा से लेकर समस्त प्राणियों में यह रमण-वृत्ति रही

---

१. रमण का तात्पर्य रमित होने से है, तथा सेन्द्रिय आलम्बन की दृष्टि से रमण का स्वाभाविक और चरम आलम्बन रमणी रही है।

है, जिसे हम सौन्दर्य-चेतना का आत्म-द्रव्य कह सकते हैं। प्रायः रमण-वृत्ति आश्रय को लक्ष्यानुसन्धान की ओर प्रेरित करती है। वह जिस लक्ष्य की ओर आकृष्ट होता है, उसमें उसकी उपचेतनात्मक रमण-वृत्ति सन्निविष्ट रहती है। यह रमणीय चेतना ही किसी वस्तु की ओर देखने, आकृष्ट होने और रमने की प्रेरणा देती है। रमणीय रस केवल दृष्टि और श्रवण का ही विषय नहीं अपितु समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का भी विषय है। अतः रमणीय रस में सर्वेन्द्रिय रसत्व है। उसकी मनोवैज्ञानिक विशेषता यह है कि किसी भी एक इन्द्रिय से किसी रमणीय लक्ष्य का पान करते हुये न्यूनाधिक मात्रा में समस्त इन्द्रिय भोग-शक्ति का अचेतनात्मक अन्तर्भोग उसी में हो जाता है। फलतः प्राचीन आलोचना शास्त्रों में माने गये रस रमणीय रस के ही अवान्तर भेद-प्रभेद हो जाते हैं। रमणीय रसवत्ता के सिद्धान्त के अनुसार स्थायीभाव भी हमारी सहजात् प्रवृत्ति में एक ही होता है। उस स्थायीभाव-दशा के अनुकूल, प्रतिकूल और उदासीन, संवेगात्मक परिस्थितियाँ विभिन्न रसों को रमणीय रस में प्रवृत्त करने में योग देती हैं। जिस प्रकार खट्टा, तीता, मीठा, नमकीन इत्यादि रसों का पृथक् अनुभव करते हुए भी हमारे मन में जो स्वाद का एक विशेष प्रतिमान बन जाता है, वही रस के वैषम्य में भी एक स्वाद मात्र का आस्वाद कराता है। उस स्वाद का द्योतन प्रायः हमारी अभिरुचि करती रही है। इसी से कलात्मक सौन्दर्य के आस्वादन में भी किसी को सुखान्त अच्छा लगता है, किसी को दुःखान्त, किसी को प्रबन्ध, किसी को मुक्तक। वैसे ही उपन्यास, कहानी, चलचित्र, चित्र, मूर्ति, संगीत, वास्तु, नृत्य, नाट्य सभी में रुचि की व्यक्ति-सापेक्षता निहित रहा करती है। यह रुचि-वैशिष्ट्य अभ्यास के कारण बनी हुई 'स्वादानुकूलन' का परिणाम है। प्राचीन राजाओं में कोई सिंहों का दहाड़ना पसन्द करता था तो कोई हाथियों का चिग्घाड़ना। स्पेन का 'सांड युद्ध' अभी तक स्पेनी जनता के 'रुचि-अनुकूलन' का प्रतिमान बना हुआ है। इस प्रकार रुचि वैशिष्ट्य और उसका साधारीकृत रूप भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से सौन्दर्य के प्रतिमानीकरण और रमणीय रस-बोध के मूल निर्णायकों में से रहा है।

भारत की धर्मप्राण जनता में अवतारवाद (देवता, ब्रह्म, शक्ति का आविर्भाव) भारतीय कला के आदर्शीकरण और प्रतिमानीकरण का एक मूल अङ्ग हो गया था। भारतीय कला में प्रकृति के स्वतन्त्र, एवं उन्मुक्त चित्रण की न्यूनता के मूल कारणों में एक अवतारवाद को भी माना जा सकता है। क्योंकि अवतारवाद ने दर्शन, साहित्य एवं कलासृष्टि इन सभी क्षेत्रों में देवता, ब्रह्म और सृष्टि को एक ऐसी अवतारपरक भूमिका

दी जहाँ ब्रह्मतत्व और प्रकृतितत्व दोनों का मानवीकरण हो गया। ब्रह्म पुरुष-रूप में अवतरित हुआ और प्रकृति नानारूपों में; जिसका प्रतिफल यह हुआ कि भारतीय आस्थावान् कवि एवं कलाकार कल्पना की उड़ान भरनेवाले समस्त विश्व-वैभव को ब्रह्ममय या सर्वेश्वरवादी दृष्टि से देखने लगे। प्रलय, समुद्र-मन्थन, सेतु-निर्माण, बियावान जंगलों में भ्रमण इत्यादि उदात्त प्राकृतिक दृश्य वाले कार्य भी अवतारवादी धारणा से इस प्रकार अनुप्राणित हुए कि समस्त प्राचीन कल्पना-क्रीडा अवतारवादी वातायन से झाँकती रही। प्रकृति का जो मानवीकरण स्त्रीरूप में हुआ उसका साक्षात् प्रभाव पौराणिक, प्राकृतिक विश्व पर भी पड़ा। भारतवर्ष की समस्त नदियाँ मानवीकृत देवियों के रूप में अवतरित हुयीं और समस्त पर्वत-नदियों के पिता-रूप में प्रस्तुत किए गए। शैवधर्म में महादेव और पार्वती के रूप में जो पर्वतीय प्राकृतिक व्यापार रूपायित हुए हैं, उनमें शिव और पार्वती, पर्वतीय प्रदेश के पुरुष और स्त्रीरूप में ही नहीं प्रतीत होते बल्कि उनकी पीठिका-दृश्य (लैंड स्केप) के रूप में झाँकता हुआ समस्त पर्वतीय प्रदेश एक विशेष दृष्टि-क्षेत्र में परिसीमित प्रतीत होता है। भारतवर्ष का कोई ऐसा देवता नहीं है, जिसका किसी-न-किसी प्राकृतिक-सौन्दर्य या प्राकृतिक-सौन्दर्य को रूपकात्मक, समासोक्ति या अन्योक्तिपरक ढंग से व्यक्त करने वाला सम्बन्ध न रहा हो। किन्तु भारतीय धर्म से अनुप्राणित अवतारवादी पौराणिकता ने उन्हें एक ऐसी कला-दृष्टि के परिवेश में प्रस्तुत किया है, जो आज भी कला की विभिन्न अभिव्यञ्जनावादी, अतियथार्थवादी, प्रभाववादी, रहस्यवादी, प्रकृतिवादी और अस्तित्ववादी दृष्टियों में परिव्याप्त दिखाई पड़ती है। निश्चय ही इस कथन के विश्लेषण की विस्तृत एवं पृथक् आवश्यकता है। क्योंकि इस निबन्ध में मेरा सम्बन्ध केवल अवतारवादी दृष्टि से है।

अवतारवादी कला का वैशिष्ट्य

यों प्राचीनकाल से भारतीय कला और साहित्य के क्षेत्र में अवतारवादी कला-दृष्टि अपना विशिष्ट स्थान रखती है। भारतवर्ष में काव्य, नाटक उपाख्यान, भाषा, वर्ण, शब्द, पद, मन्त्र, सूत्र, संगीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु इन सभी की एक अवतारवादी सत्ता भी मिलती है।

कला स्रष्टा ब्रह्म

अवतारवादी कला का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो निम्न तथ्य परिलक्षित होते हैं। कलाकार के रूप में स्वयं ब्रह्म ही कला-कृति का अवतारक है। कला-कृति में वह स्वयं अपनी विभिन्न शक्तियों की अवतारणा करता है।

कलाकार के द्वारा निर्मित या रचित समस्त सौन्दर्यपरक कलाकृतियाँ 'पर' ब्रह्म की अवतार-लीला अथवा उसके चरित का कलात्मक उपस्थान करती हैं। काव्य एवं नाटकों में वह नायक-नायिका या परिकर समूह के साथ मायिक या नटवत् रूप में प्रकट होता है। 'अग्निपुराण' में काव्य विष्णु का अंशावतार बताया गया है तो 'विष्णु पुराण' में समस्त शास्त्र, कला, काव्य आदि उसके स्वरूप माने गए हैं।[1] उपाख्यानों में विष्णु ही कामदेव और रतिस्वरूप प्रेमी और प्रेमिका रूप में आविर्भूत होते हैं। वार्ताओं में उपास्य इष्टदेव विभिन्न उपास्य देवों या स्थानीय पूज्यरूपों में अवतरित होकर जनस्तुति या लोक-साहित्य का विषय बनता है। उसकी अनुग्रह प्रधान अवतार-लीलाओं का वार्ताओं में विशेष वर्णन होता रहा है। भारतीय देवताओं में प्रायः सभी मुख्य देवताओं को शास्त्रीय नृत्यों का कर्त्ता या उद्भावक माना गया है। शिवतांडव, पार्वतीलास्य, राधा-कृष्ण का 'राधा-कृष्ण नृत्य', रास, समुद्र-मंथन, शेष-शयन आदि अधिकांश नृत्य अवतारवादी प्रवृत्ति के ज्ञापक हैं। संगीत में ब्रह्म स्वयं नाद-ब्रह्म के रूप में आविर्भूत होता है। समस्त राग-रागिनियाँ ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न मानी जाती रही हैं। यों उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कीर्तन, स्तुतिगान या स्वयं उन्हीं के द्वारा गायी गयी अभिव्यक्तियों से रहा है।

सहृदय ब्रह्म

अवतारवादी कला-चिंतन में विष्णु और अन्य देवता स्वयं सहृदय के रूप में भी चित्रित किए गए हैं। वे समस्त कलात्मक सौन्दर्य का पान स्वयं करते हैं। जहाँ काव्य, चर्चा, गायन, पाठ आदि होते हैं, तथा नाटक, संगीत, नृत्य, गीत का आयोजन किया जाता है, वहाँ देवता स्वतः उपस्थित होते हैं। भारतीय भावना के अनुसार मूर्ति, चित्र और वास्तुकलाओं में भी प्रकट होकर वे स्वयं उपस्थित होते हैं। चित्र और मूर्ति में उनकी लीलात्मक मुद्रायें या भंगिमाएं रूपांकित होती हैं। वास्तुकला तो विष्णु का वैकुंठ धाम है, जिसका निर्माण वे स्वयं विश्वकर्मा के रूप में करते हैं। वास्तु कला में वे वास्तु ब्रह्म की सत्ता के रूप में भी आविर्भूत होते हैं।

इस प्रकार अवतारवादी कला में ब्रह्म कर्ता, कृति और ग्राहक तीनों है। वह कलाकार के रूप में स्वयं कर्ता है। अपनी व्यक्त, प्रकट और प्रादुर्भूत स्थिति में वह स्वयं कला-कृति है तथा भक्तों और सहृदयों के रूप में स्वयं

१. वि. पु. १, ८५।

ग्राहक है। कर्ता और ग्राहक के रूप में मनुष्य एवं उसकी अभिव्यंजनक्षमता और कला-कृति तथा उसके उपकरण-निमित्त कारण हैं।

शैली की दृष्टि से भी अवतारवादी कला की कुछ अपनी विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। अवतारवादी कला में वर्ण्यस्थल पर समस्त रमणीय आलम्बनों को सर्वोत्कृष्ट रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। वर्ण्यस्थल पर जहाँ एक देवता या अवतार का प्रामुख्य है—वहाँ वह समस्त ऐश्वर्य और विभूतियों के साथ उदात्त रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। यदि एक स्थल पर राम की महत्ता का वर्णन है तो समस्त अवतार उनके अंग-स्वरूप होकर राम में ही अन्तर्मुक्त हो जाते हैं, और सभी की लीलाओं में राम की सत्ता आरोपित की जाती है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव में भी एक की प्रमुखता होने पर अन्य वहाँ अंग-स्वरूप ही चित्रित होते हैं। अवतारवादी वर्णवस्तु मूल रूप में सर्वत्र अपनी परम्परागत कथावस्तु से सम्बद्ध रहती है। इसके वर्ण्य विषयों को नैतिक और विशुद्ध सौन्दर्यपरक दोनों दृष्टियों से व्यंजित किया जाता रहा है। पश्चिमी 'कला के लिए कला' के विचारक जिसे विशुद्ध सौन्दर्य-चेतना कहते रहे हैं, वह भारतीय रस-सृष्टि के अन्तर्गत गृहीत हो सकती है। यद्यपि भारतीय अवतारवादी कलात्मक सौन्दर्य ऐन्द्रिक प्रेम या वासनात्मक भावों का उत्पादन न होकर उपास्यवादी श्रद्धा और उदात्तीकृत भावों का ही उद्बोधक होता है। रस में 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' की पद्धति सहृदयों के आस्वादन में कार्य करती है।

कलात्मक अभिव्यक्ति के उपक्रम में अवतारवादी उपादानों का एक ही साथ दर्शनीकरण, संस्कृतिकरण, मानवीकरण, समाजीकरण और सम्प्रदायीकरण हो जाता है। एक अवतारकृति 'राम' ब्रह्मवादी सत्ता के रूप में भी व्यंजित होते हैं, साथ ही भारतीय त्रिविध एवं सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, बोल-चाल तथा स्थानीय, प्रान्तीय, अन्तर्देशीय भ्रमण, व्यवहार, लोकाचार सभी का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्म से मानव के रूप में जहाँ इनका मानवीकरण होता है, वे बड़े स्वाभाविक ढंग से मनुष्य की सुखात्मक, दुःखात्मक और कामनात्मक भावनाओं से युक्त मनुष्य बने रहते हैं। उनके चरित्र-विधान में स्वभावगत कमजोरियाँ, अच्छाइयाँ, मित्रता, शत्रुता, भ्रातृत्व, शौर्य, कार्पण्य, रुझान, आकर्षण, व्यामोह, क्रन्दन, हास्य आदि एक सजातीय मानव के परिवेश में व्यक्त किये जाते हैं।

अन्य धर्मों में एक ही देवता या अवतार के अनेक सामाजिक या पारिवारिक रूप कदाचित् ही मिलते हैं। किन्तु भारतीय अवतारवादी उपास्य

बालक, पिता, पुत्र, भाई, मित्र, शासक, असहाय, बालिका, नारी, रमणी, प्रेमिका, माता इत्यादि समस्त रूपों में दृष्टिगत होते हैं। इसीसे भारतीय अवतारवादी कला और कृतियाँ भारतीय संस्कृति के उदात्त, व्यापक, लोकप्रिय और जनतान्त्रिक आदर्शों का उपस्थापन करती हैं।

निश्चय ही अवतारवादी कला का एक रूप साम्प्रदायिक भी मिलता है—जहाँ विभिन्न अवतार-उपास्य इष्टदेव के रूप में आराध्य हुए हैं। किन्तु फिर भी उनमें पश्चिमी साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं मिलती, जो अवतार और अवतारवादी कला की सांस्कृतिक देन को उपेक्षणीय बना दे।

इस प्रकार भारतीय कला और साहित्य में अवतारवाद एवं उसकी विचार-धारा का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। अवतारवादी कला के एक छोर पर सर्वशक्तिमान् परब्रह्म स्थित है तो दूसरे छोर पर मनुष्य और उससे भी हीनतर पशु हैं। इन छोरों के बीच में समस्त प्राणिजगत, जो मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का केन्द्र है, आत्मसात् हो जाता है। अवतारवादी कला इन्हीं छोरों के बीच में गौण और मुख्य समस्त उपादानों को समुचित स्थान देती है। फिर भी इस कला में ब्रह्म के मानव-रूप के ही सर्वोपरि होने के कारण, वह प्रबन्धात्मक कला एवं सौन्दर्य का प्रमुख विषय रहा है। उसकी अभिरुचि के अनुकूल संगीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु जैसी प्रमुख कला-विधाओं में आविर्भूत ब्रह्म के उसी मानवतावादी रूप का अध्ययन युक्तिसंगत जान पड़ता है।

संगीत

भारतीय साधना में संगीत का सम्बन्ध नादब्रह्म से रहा है। सांख्य-दृष्टि से ब्रह्म का प्रथम भूतात्मक आविर्भाव आकाश है, जिसका गुण नाद है। इससे नाद में उसके स्वरूप की सर्वाधिक मात्रा लोग मानते हैं।[1] इस नादब्रह्म की अवतार-परम्परा शैव और भागवत दोनों में मिलती है। ब्रह्मवादी शैव मत में संगीत-दर्शन की विचार-धारा उस परमब्रह्म पर आधारित है, जो अनेकता में एकता का द्योतक है। वह प्रकाश (चेतना) और विमर्श (स्वातन्त्र्य) का संयुक्त रूप है। सृष्टि उनके मत में दो प्रकार की है वाचक शब्द और वाच्य अर्थ।[2] वाचक शब्द के आविर्भाव में 'प्रकाश' प्रमुख रहता है और वाच्य अर्थ में विमर्श। परा वाक् या पराशक्ति, वर्ण, वर्णमाला या वर्णसमूह (शब्द) का आविर्भावक है। चेतना का प्रकाश विन्दु कहा जाता है क्योंकि यह अपने परा प्रकाश को न खोते हुए असंख्य

१. सं. शा. पृ. ९। २. इन एस्थे. पृ. ५६२–५६३।

विषयों और वस्तुओं का आविर्भावक है। उसी प्रकार विमर्श पर नाद कहा जाता है, क्योंकि यह अपने विमर्शत्व की प्रकृति को छोड़ता नहीं, जब कि यह जीव कला के रूप में स्वयं अवतरित होता है। इस प्रकार यह समस्त जीवों, सम्पूर्ण व्यक्त शब्द-समूहों और अनेकानेक सीमित विचारों में उत्पन्न होता है, जिसे शब्द या परावाक् कहा जाता है। यह जगत् को अपने सदृश सम्बन्ध रखने वालों में मानता है। यह विमर्श; नाद, परानाद या परावाक् समस्त नादों की पूर्ण एकता की अवस्था है। इसके सूक्ष्म स्वरूप से समस्त ध्वनि-समूह और विचार स्फुरित होते हैं। परानाद की अभिव्यक्ति क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन तीन रूपों में होती है। यह उन समस्त शक्तियों का समूह है, जिसे हम समूह-ध्वनि में पाते हैं। यह ससीम वस्तुओं में उनकी चेतना के साथ तदाकार होकर, शरीर, बुद्धि आदि के साथ नहीं, अपितु सबसे परे होकर उपस्थित रहती है। इसका व्यक्त भाव प्रत्यय या व्यक्त आनन्द के साथ पूर्ण तादात्म्य रखता है। क्रमशः विभिन्न अवस्थाओं में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में शनैः-शनैः पार्थक्य का उदय होता है। पश्यन्ती में ध्वनि और प्रत्यय में बहुत सूक्ष्म अन्तर रहता है। द्वितीय में मानसिक रूप से पश्यन्ती और वैखरी के पार्थक्य बोध का स्पष्टीकरण हो जाता है, इसी से इस अवस्था को मध्यमा कहा जाता है। तृतीय वैखरी की अवस्था में वाक् इन्द्रिय द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होने के कारण ध्वनि का स्पष्ट बोध होता है।

संगीत के स्वरों का परानाद से घनिष्ठ सम्बन्ध, वस्तुतः परानाद ही संगीत राग-रागिनियों के रूप में अभिव्यक्त होता है।[1] संगीत में तन्मय होने से मनुष्य जगत् से परे पहुँच जाता है। इसी से संगीत का दर्शन नाद ब्रह्मवाद के रूप में विख्यात है। जिस प्रकार गेय ध्वनि-समूह पश्यन्ती में निहित रहता है, वैसे ही वाद्य-ध्वनियों का समूह मध्यमा में समाहित रहता है।

शिव-शक्ति तत्व में 'शक्ति' निषेध व्यापार रूप है।[2] पराशिव और पराशक्ति वस्तुतः निस्पन्द और निःशब्द हैं, जिनमें शक्ति से नाद और बिन्दु की उत्पत्ति होती है। नाद ही शब्द ब्रह्म है। समस्त शास्त्र और ज्ञान इसी में निहित हैं। पराबिन्दु को शक्ति की घनावस्था कहा जाता है। परम शिव में समस्त देवता समाहित रहते हैं। किन्तु शैवों में जो बिन्दु है, उसे ही पौराणिक महाविष्णु, ईश्वर अथवा ब्रह्मपुरुष कहा करते हैं।[3] तान्त्रिकों का

१. इन एस्थे. पृ. ५६५। २. सं. पा. पृ. ३३। ३. सं. पा. पृ. ४२।

शब्दब्रह्म ही वस्तुतः सगुण शक्ति का सगुण ब्रह्म है[१]। वह शब्द और अर्थ के रूप में नाम और रूपात्मक है।[२] नाद की उत्पत्ति की एक और रूपरेखा 'श्रीमद्भागवत' में मिलती है। 'भागवत' के अनुसार ब्रह्मा पूर्वसृष्टि का ज्ञान सम्पादन करने के लिए एकाग्र चित्त हुए। उस समय उनके हृदयाकाश से कण्ठ-तालु आदि स्थानों के संघर्षण से रहित एक विलक्षण अनहत नाद प्रकट हुआ।[३] यह वही अनाहत नाद है, जिसे जीव भी अपनी मनोवृत्तियों को रोक लेने पर अनाहत नाद का अनुभव कर सकता है। अनाहत नाद से अकार, उकार, मकार इन तीन मात्राओं से युक्त ॐकार हुआ। इस ॐकार की शक्ति से ही प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त रूप में परिणत हो जाती है। ॐकार स्वयं भी अव्यक्त और अनादि है तथा परमात्मा-स्वरूप होने के कारण स्वयं-प्रकाश भी है। इसी परमवस्तु को परमात्मा, भगवान्, ब्रह्म आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। जब श्रवणेन्द्रिय की शक्ति लुप्त हो जाती है, तब भी इस ॐकार के समस्त अर्थों को प्रकाशित करने वाले स्फोट तत्त्व को जो सुनता है तथा सुषुप्ति और समाधि इन अवस्थाओं में सबके अभाव को जानता है वही परमात्मा विशुद्ध स्वरूप है। ॐकार परमात्मा से हृदयाकाश में प्रकट होकर वेदरूपा वाणी को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार ॐकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्म का साक्षात् वाचक है तथा वही सम्पूर्ण मंत्रों, उपनिषदों और वेदों का सनातन बीज है।[४] 'श्रीमद्भागवत' की परम्परा 'नादबिन्दु उपनिषद्' में भी ॐकार से आरम्भ होती है। नादबिन्दु उपनिषद् के अनुसार प्रणव (ॐकार) और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नाद-रूप में साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है। योगी सिद्धासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के भीतर उठते हुए नाद-अनाहत ध्वनि को जब सुनने का अभ्यास कर लेता है, तो बाहर की ध्वनियाँ उसमें स्वयं आवृत हो जाती हैं।[५] अनाहत नाद क्रमशः समुद्र, बादल, भेरी, झरना, मृदंग, घंटा, नगाड़ा, किङ्किणी, वंशी, वीणा और क्रमशः अंत में भ्रमर की ध्वनि के सदृश सुनायी पड़ता है। नाद ही मन रूपी मृग को बाँध सकता है तथा मन रूपी तरंगों को रोकने में समर्थ है।[६] 'नादबिन्दु उपनिषद्' में शिव और विष्णु दोनों को संस्थापित करते हुए कहा गया है कि वही भगवान् विष्णु का परम पद है। जब तक शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है, तभी तक मन में आकाश का संकल्प रहता है।

---

१. सं. पा. पृ. ९९। २. सं. पा. पृ. ९१। ३. भा. १२. ६. ३७।
४. भा. १२, ६, ३९-४१। ५. उप. ना. उप. पृ. ६७१, २, २, १-११।
६. उप. ना. उप. पृ. ६७२, २, २, १-३, और ३, १, १-५।

निःशब्द होने पर तो वह परब्रह्म परमात्मा में ही अनुभूत होता है। जब तक नाद है तब तक मन है। नाद के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने पर मन भी अमन हो जाता है। सशब्द नाद अक्षर-ब्रह्म में क्षीण हो जाता है। उस निःशब्द नाद को ही परमनाद कहते हैं। इस प्रकार नाद-ब्रह्मवाद में परमात्मा और ब्रह्म को परमनाद और अनाहत नाद से भी अभिहित करने का प्रयास किया जाता है। इसी अनाहत नाद का व्यक्त एवं स्थूल रूप आहत नाद है, जिससे भारतीय संगीत की उत्पत्ति मानी जाती है। किन्तु शैव और वैष्णव दोनों परम्पराओं के विवेचन से स्पष्ट है कि आविर्भावात्मक क्रम समान रूप से ग्राह्य कहा है। जिसके चलते बाद में हम राग-रागिनियों में भी यही उत्पत्ति क्रम पाते हैं।

राग-रागिनियों का अवतारवादी क्रम

भारतीय दर्शन में ब्रह्म के आविर्भाव की जितनी प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं, उनमें दो उदाहरण अधिक प्रचलित रहे हैं। एक मत के अनुसार ब्रह्म में सृष्टि या सृष्टि के प्राणियों की उत्पत्ति विवर्तप्रधान-रज्जुसर्पवत् हुई है। इस दृष्टि से जीवात्मा परमात्मा का विवर्त है। दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म जीवात्मा से अलग नहीं और आत्मा जगत् से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार सोने से अँगूठी, कुण्डल आदि अनेक आभूषण बनते हैं परन्तु अन्ततः वे सोना ही रहते हैं। उसी प्रकार स्वर्ण रूप ब्रह्म में कुण्डल रूप जगत् प्रकट होता है।[1] ब्रह्मा से स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज इन चार प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति हुई। उनमें जरायुज मनुष्य शरीर ही नाद के लिए परम उपयोगी माना गया है। मनुष्य के शरीर का नाद अनेक राग-रागिनियों के प्रादुर्भाव का कारण है। 'विष्णु पुराण के' अनुसार समस्त शास्त्रों और काव्यों के साथ संगीत एवं उसकी समस्त राग-रागिनियों को शब्द मूर्तिधारी विष्णु-स्वरूप बताया गया है।[2] शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही समस्त कलाओं का वास्तविक विषय है। ब्र० सू० १, १, २० के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्म समस्त ऐहिक और आध्यात्मिक गानों का विषय है। यों तो भारतीय साधना में कवि, कलाकार, प्रजापति और विश्वकर्मा इन सभी के कार्यों को एक सदृश माना जाता रहा है। सभी सृष्टि करते हैं। तथापि राग-रागिनियों की उत्पत्ति का क्रम शिव और पार्वती से माना जाता है, किन्तु फिर भी इनकी उत्पत्ति की एक अवतारवादी परम्परा ब्रह्मा से भी सम्बद्ध रही है। उस परम्परा के

---

१. संगीत शास्त्रांक पृ. ६ संगीत रत्नाकर स्वराध्याय ११। २. वि. पु. १, ८५।

अनुसार छः राग और ३६ रागिनियों का आविर्भाव ब्रह्म लोक से हुआ है।[1] इस अवतार की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि स्वरों के अनन्तर राग-रागिनियों का यह आविर्भाव पुरुषों और स्त्रियों के रूप में माना जाता रहा है।[2] इससे स्पष्ट है कि काव्य की तरह स्वरों का सम्मूर्तन बिम्बीकरण के द्वारा करने का प्रयास किया गया। भारतीय अवतारवाद देववादी आस्था के मध्य में स्थित मानवतावादी दृष्टिकोण रहा है। किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से इसका प्रमुख कार्य बिम्बीकरण, मानवीकरण और मानवीय स्तर पर मूल्यांकन रहा है। यही एक भावभूमि है जहाँ अमूर्त और मूर्त तथा देवता और पार्थिव मानव एक स्थल पर प्रतिष्ठित किये जा सकते हैं। भक्त को भगवान् की चाह होती है और भगवान् को भक्त की। इस उपक्रम में अवतारवाद मानववादी मूल्य का विचित्र समतुलन उपस्थित करता है, जिसमें ब्रह्म का मानवीकरण और मनुष्य का ब्राह्मीकरण निहित है। पशु और मनुष्य के लिए इससे बढ़कर सर्वोत्तम मूल्य क्या हो सकता है कि—पशु ब्रह्म है और मनुष्य ब्रह्म है। अतः मत्स्य, वराह, राम, कृष्ण आदि का ब्राह्मीकरण वस्तुतः पशु और मनुष्य के उच्चतम मूल्य का द्योतन करता है। शुष्क चिन्तन का ब्रह्म जब ऐन्द्रिक चेतना का उपजीव्य होता है, उस अवस्था में उसका सबसे अधिक निकटवर्ती पशु या मनुष्य ही हो सकता है। ऐन्द्रिक प्रतीक और बिम्ब ही मानवीकृत होकर सबसे अधिक आस्वाद्य रहे हैं। सम्भवतः इसीसे अभिव्यक्ति से सम्बद्ध समस्त शास्त्रों का एक अवतारवादी रूप भी प्रचलित रहा है, जिसमें मानवीकरण के द्वारा उनको अधिक ऐन्द्रिय बनाने की चेष्टा होती रही है।

इस दृष्टि से राग-रागिनियों के ऐतिहासिक उद्भव-क्रम का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि राग-रागिनियों का स्वरूप अमूर्तावस्था में था, किन्तु मध्ययुग के पूर्ववर्तीकाल में समस्त वाङ्मय के अवतारीकरण का आरम्भ होने पर राग-रागिनियों का सम्मूर्तन भी ध्यान या ध्यानात्मक शब्द-चित्रों के माध्यम से विकसित हुआ। अतः राग-रागिनियों के अवतारीकरण को

---

१. ओ. रा. पृ. ४४।

२. पञ्चम सार संहिता (नारद) के अनुसार—

'रागाः पञ्च रागिण्यः षट्-त्रिंशच्चारु-विग्रहाः।
आगता ब्रह्म-सदसि ब्रह्माणं समुपासते॥'

पाँच राग और ३६ रागिनियाँ अपने सुन्दर शरीर के साथ ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुये और उन्होंने स्रष्टा ब्रह्मा का गुण-गान गाया। यहाँ 'चारु-विग्रह' उनके अवतारवादी रूप का द्योतक जान पड़ता है।

तीन सोपानों में विभक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम छः राग और ३६ रागिनियों के मूर्त ध्यान-चित्रों का विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप ये राग-रागिनियाँ ब्रह्म लोक से आविर्भूत मानी गयीं। इनके अवतार का प्रयोजन स्तुति-गान करना था। इस सोपान क्रम को हम निम्नरूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं—

संगीत रत्नाकर	आहत नाद ↓ स्वर चित्र—राग (धारणा-बिम्ब)
राग विबोध	↓ शब्द-चित्र—ध्यान मूर्ति (राग—बिम्ब)
रागमाला	↓ रंगीन चित्र (चित्र कलात्मक विन्यास)
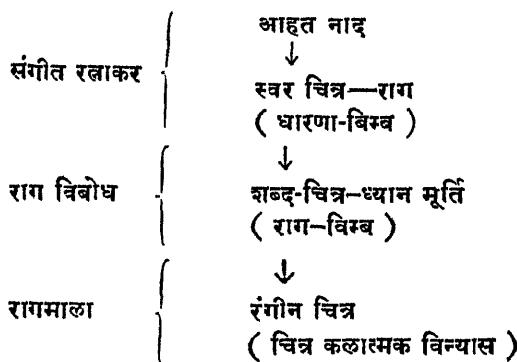
यों तो 'राग' का उद्भव जिस 'रक्ति' या 'रंजन' से माना जाता है, वह मुख्यतः चित्र-कला का ही एक गुण है। अतः उपास्य की नाद-मूर्ति भी चित्र और मूर्ति की भाँति रमणीय बिम्बोद्भावना की अपूर्व क्षमता से सम्पन्न है।

भारतीय भक्ति-साधना में प्रयुक्त प्रत्येकराग भक्त के भावों को संवेगात्मक बनाने में सक्षम होने के कारण मनोवैज्ञानिक महत्त्व रखता है। भारतीय राग-रागिनियों में प्रत्येक का स्वरूप किसी अप्सरा, देवता, गन्धर्व या देव की तरह है। ऐसा समझा जाता है कि देवलोक के देवताओं की तरह राग-रागिनियाँ भी किसी अज्ञात आध्यात्मिक जगत में अवस्थित रहती हैं। गायन, वादन और नर्तन के द्वारा वे आवाहनीय होकर पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। इस धारणा में भी वही विश्वास निहित है, जिसका सम्बन्ध मूर्ति या अर्चा-विग्रह से रहा है। भारतीय साधक ऐसा मानते हैं कि साधक या भक्त द्वारा अत्यन्त करुण पुकार करने पर उपास्य देव-मूर्ति रूप में स्वर्ग से अवतरित होकर प्रकट होते हैं।[1]

इसी प्रकार प्रत्येक देवता अपने बीज मंत्र द्वारा भी आविर्भूत होता है। उपास्य के ये रूप वस्तुतः 'नाद-माया-रूप' और 'देव-माया-रूप' दो प्रकार के हो जाते हैं, जिन्हें निम्न रूपों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

---

१. औ. रा. पृ. ९६।

उपास्यरूप

- नाद-माया-रूप (स्वरगम्य)
  - मंत्र
  - राग-रागिनी
- देवता-माया-रूप (ध्यान गम्य)
  - चित्र
  - मूर्ति
  - मनोबिम्ब
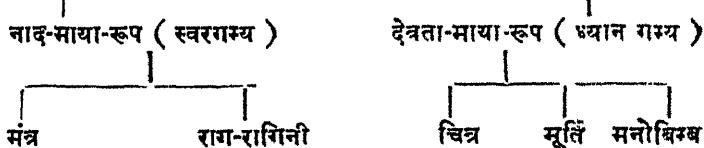
इस विचार-धारा का प्रवर्तन 'राग विबोध' के द्वारा हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार स्वरों के द्वारा जिस रूप का साक्षात्कार होता है—वह है 'नाद माया' और दूसरा है 'देव माया' जिसकी आत्मा है वह मूर्ति जिसमें देवता आविर्भूत होता है। गायक की यह धारणा रहती है कि विशिष्ट राग या रागिनी अपने प्रभाव से उसे भौतिक 'नाद-माया-रूप' में अवतीर्ण होने के लिए प्रेरित करते हैं। यदि उस रागिनी से यह प्रभाव नहीं पड़ता तो यही समझा जाता है कि उसे सफलतापूर्वक नहीं गाया जा सका। एक सफल गायक राग या रागिनी गाकर उसके अधिष्ठातृ देवता को अवतरित करने में समर्थ होता है और उसकी मूर्ति का साक्षात्कार कर लेता है।[1] ऐसा लगता है कि शास्त्रीय राग-रागिनियों के रूप अपने प्राचीन स्थायी रूपों में रूढ़ से हो गए थे और उन्हें भिन्न रूपों में नहीं गाया जा सकता था। इस सम्बन्ध में नारद से सम्बद्ध एक कथा पुराणों में प्रसिद्ध रही है। कहा जाता है कि एक बार नारद स्वर्ग लोक में गए। उन्होंने देखा कि कुछ अंग-भंग पुरुष और स्त्रियाँ वहाँ रो रही हैं। नारद के पूछने पर उन्होंने बताया कि एक संगीत को अज्ञानी नारद ने इस तरह गाया है कि हम राग-रागिनियों के अंग-भंग हो गए हैं और हमारे स्वरूप विकृत हो गए हैं। इस पर हताश नारद ने पुनः विष्णु से संगीत की शिक्षा देने की प्रार्थना की।[2] इस पौराणिक कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य काल तक राग-रागिनियों का स्वरात्मक सम्मूर्तन एक स्थायी रूप धारण कर चुका था और दूसरा यह कि शिव के सदृश विष्णु भी परम संगीतज्ञ थे।

काव्य की तरह राग का लक्ष्य भी रमणीय रस का आस्वादन ही है। भारतीय कलाओं में रूप और विषय में अविनाभाव सम्बन्ध रहा है। संगीत हमारे मन में उद्भूत रागात्मक मनोबिम्बों को ही रंजित करता है। अतः रमणीय आलम्बन बिम्ब ही संगीत की भाव-प्रतिमा (आर्केटाइप्स) है। राग और रागिनियों की मूर्तियों में वस्तुतः आलम्बन बिम्ब के रूप में भाव प्रतिमाओं का ही आविर्भाव होता है। रमणीय रस से भी इनका अनिवार्य

१. ओ. रा. पृ. ९९। २. डॉ. शि. पृ. १०३।

सम्बन्ध रहता है, जिसके फल स्वरूप संगीतज्ञ के लिए प्रत्येक रस के प्रत्येक राग का जानना आवश्यक हो जाता है। भारतीय देवताओं के रूपों और आकृतियों में मुख, शरीर विन्यास, हाथ, पाँव इत्यादि की जो अनेकात्मकता लक्षित होती है, उसे हम उनका रागात्मक रूप भी कह सकते हैं। क्योंकि विशिष्ट रागों और गीतों में गाए हुए उनके कीर्तन उनके रूप विशेष का भी परिचय देते हैं। अर्चा विग्रह में तो उनका प्रतीकात्मक रूप सम्मूर्तित रहता है, किन्तु नाट्य, नृत्य, संगीत और काव्य में हम उनके 'नट्वत्' लीलात्मक या गतिशील रूप का भी आविर्भाव पाते हैं। दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि उनमें प्रतीकत्व की अपेक्षा बिम्बवता का प्राधान्य होता है। राग देवता भावों के ठोस और स्थूल सम्मूर्तित रूप हैं, जो अमूर्त मनोधारणा के स्थान में मनोबिम्ब का प्रतिनिधित्व करते हैं। संगीत में अलाप प्रस्तार, कूट या वक्र तथा ऋजु तानों के द्वारा रंगमंच की तरह उनमें वातावरण और पीठिका तथा नायक की तरह अभिनेयता का भी निर्वाह किया जाता है। संगीत वस्तुतः जागतिक संवेगों की भाषा है। प्रत्येक राग-रागिनी एक विशेष भाव-दशा का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई वीर रस का तो कोई करुण रस का संचार करता है, 'रागमाला' जैसे ग्रन्थों में जहाँ नायक-नायिकाओं के रूप राग-रागिनियों के रूप में चित्रित किए गए हैं, उनमें प्रायः राधा-कृष्ण ही सर्वप्रमुख रहे हैं। इस प्रकार काव्य के साथ रागों का चित्रात्मक सम्बन्ध अपूर्व ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इनका विकास 'संगीतरत्नाकरकार' से ही लक्षित होता है। किन्तु शार्ङ्गदेव ने राग-रागिनियों का रूप नहीं दिया है केवल देवताओं का नाम दिया है[1], सम्भवतः मध्यकाल में राधा-कृष्ण की प्रमुखता होने पर इनके कलात्मक रूपांकन ने शिव-पार्वती और राजा-रानियों के साथ राधा-कृष्ण का भी रूप धारण कर लिया। कुछ रागों में अवतारों के ध्यान-चित्र मिलते हैं। 'रागविबोध' में वर्णित पावक राग और मुखरी के चित्र क्रमशः कृष्ण और राधा के विदित होते हैं। 'राग कुतूहल' में भी कृष्ण का शब्दचित्र ही दृष्टिगत होता है।[2] 'रागमाला' के सदृश हिन्दी कविताओं में अनुबद्ध एक राग-चित्र काव्य हरिवल्लभ कवि (१६२५ ई०) द्वारा

---

१. ओ. रा. पृ. १०६। रागों और देवताओं का सम्बन्ध भिन्न प्रकार से दिया हुआ है—

शुद्ध साधारित—सूर्य	भिन्न षड्ज—ब्रह्मा
षड्ज ग्राम—बृहस्पति	टक्क—रुद्र
शुद्ध कौशिक—पृथ्वी	हिंडोल—मकरध्वज
मालव-कौशिक—केशव	ककुभ—केशव

२. ओ. रा. पृ. ११३।

प्रस्तुत किया गया। इसी प्रकार 'रागमाला' के प्रमुख लेखकों में देवों का भी नाम लिया जाता है।[१] उन चित्रों का अध्ययन करने पर रागों में अनुबद्ध कतिपय चित्रों में अवतार-कथा के भी दृश्य चित्रित हैं। जैसे 'कानरा' में कृष्णावतार के चित्र को मुद्रित किया गया है, इसमें कृष्ण गजासुर को मारने के लिए उद्यत दीख पड़ते हैं।[२] इससे ऐसा लगता है कि राग-रागिनियों का जो बिम्बीकरण पूर्व मध्यकाल में आरम्भ हुआ उसका पर्यवसान भी रीति-कालीन काव्य की तरह राधा-कृष्ण के चित्रण में हुआ।

संगीत प्रिय विष्णु का प्राकट्य

अवतारवादी कलाभिव्यक्ति की विशेषता यह रही है कि विष्णु का आविर्भाव कर्ता-कृति और ग्राहक तीनों में होता है। यों तो संगीत कला का अधिकतर सम्बन्ध महादेव शिव से ही रहा है। क्योंकि शिव की तरह विष्णु का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उतना प्रचलित नहीं होता फिर भी नाट्य, नृत्य या रागों के प्रिय देवताओं के प्रसंग में विष्णु का उल्लेख मिलता है, सम्भव है इसका कारण यह रहा हो कि प्रमुख रूप से विष्णु एक शासक और पालक देवता हैं। अतः इनका सर्वाधिक सम्बन्ध विद्रोहियों के दमन, विनाश और शान्ति-स्थापन से रहा है। इसी से इनका 'शंख' प्राचीन काल में युद्धारम्भ में बजाए जाने वाले शंख का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी कला एवं संगीत के कतिपय प्रसंगों में विष्णु एवं उनके अवतारों का विशिष्ट सम्बन्ध रहा है। नाट्यशास्त्र के कारिकाकारों ने वृत्तियों में कोमल कैशिकी वृत्ति का शिव के अतिरिक्त विष्णु के साथ सम्बद्ध होने की चर्चा, विवेचन के प्रसंग में की है।[३] शिव के प्रथम ताण्डवनृत्य का आरम्भ होने पर विष्णु मृदंग-वादन करते हुए दीख पड़ते हैं।[४] स्वरों की उत्पत्ति का एक वैष्णवीकृत रूप भी पुराणों में मिलता है। कहा जाता है कि विष्णु ने समुद्र-मंथन के समय शंख बजाकर प्रथम नाद उत्पन्न किया था। उन्हीं स्वरों से अन्य सात स्वरों की उत्पत्ति हुई।[५] 'संगीत पारिजात' में नारद-संगीत का उदाहरण देते हुए बताया गया है कि देवताओं के स्वामी विष्णु भगवान सामगान द्वारा जितनी शीघ्रता से प्रसन्न होते हैं, वैसे यज्ञ, दानादि द्वारा

१. ओ. रा पृ. १२०, १२३।   २. ओ. रा. पृ. १५२।

३. अभि. भा. पृ. १२६, १, ४४-४५।

४. डाँस. इन. पृ. ९। 'शिवप्रदोष स्तोत्र' के अनुसार कैलाश पर्वत पर शूलपाणि के नृत्य-काल में विष्णु को मृदंगवादक बताया गया है।

५. भा. सं. इति. पृ. ३८।

नहीं। विष्णु के पवित्र नाम यदि स्वरों सहित विद्वान लोगों द्वारा गायन किये जायँ तो वे भी सामवेद की ऋचाओं के सदृश ही फलप्रद होते हैं। विष्णु के एक कथन में भी इस प्रकार कहा गया है कि वे योगियों के हृदय में या वैकुंठ में नहीं रहते अपितु जहाँ उनके भक्त गायन करते हैं वहीं उनका निवास होता है।[1] मोहिनी माया संगीत के द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु आदि समस्त देवों को आवृत किए रहती है। यह भी कहा जाता है कि नाद-ब्रह्म की उपासना करनेवाला व्यक्ति बिना योगाभ्यास के ही मुक्त हो जाता है। मनुष्यों द्वारा गायन, वादन तथा नृत्य तल्लीनता से किया गया हो, तो वह भगवान विष्णु को प्रसन्न कर देता है।[2] इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत के विविध रागों में विभिन्न देवताओं के प्रियत्व का भी द्योतन किया जा रहा है। विष्णु के प्रिय रागों में 'मालव कौशिक' राग माना गया है। यह राग मुख्यतः वीर, रौद्र, अद्भुत और विप्रलम्भ रसों का पोषक है।[3] इसके अतिरिक्त 'भिन्न पंचम' और 'ककुभ' भी विष्णु के प्रिय राग-रागिनियों में रहे हैं। 'संगीत दर्पण' में 'मालव कौशिक' के अतिरिक्त 'कल्याण नट' को भी विष्णु का प्रिय राग माना गया है।[4] भारतीय संगीत में कुछ ऐसी राग-रागिनियाँ भी हैं जिनका सम्बन्ध विष्णु, लक्ष्मी एवं विष्णु-अवतारों से प्रतीत होता है। इस दृष्टि से नारायण गौल,[5] नटनारायण, रामक्रिया, चक्रधर, रासेश्वरी, रामकली[6] तथा[7] तालों में लक्ष्मीश ताल का[8] नाम लिया जा सकता है। उपर्युक्त कथनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब काव्य और कलाओं का सम्बन्ध सम्प्रदायों से होने लगा तब पुनः कलारम्भ और कलाप्रियता की दृष्टि से भी अपने उपास्यदेवों को सर्वश्रेष्ठ बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। इस धारणा के अनुसार विष्णु भी संगीतज्ञ, संगीतप्रिय और संगीत से प्रसन्न होने वाले माने गए। अवतारवादी कलाभिव्यक्ति का जो सम्बन्ध पुराणों, प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों और नाटकों से था वह आगे चल कर संगीत और नृत्यकला से भी हो गया।

---

१. नारद संहिता १।७।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

२. सं. पा. पृ. २ श्लो. ६. पृ. ५ श्लो. १५। ३. सं. शा. पृ. १०६।

४. सं. शा. पृ. क्रमशः १०९, ११८। ५. सं. दर्पण. ८१ और ११४ पृ.

६. सं. पा. पृ. १७०, श्लो. ४२६, पृ. १७३, श्लो. ४३४, पृ. १८०, श्लो. ४५८, पृ. १८८, श्लो. ४७७।

७. सं. शा. अङ्क पृ. ८२। ८. सं. शा. पृ. २२०।

विष्णु के अवतारों से भी बाद में संगीत का सम्बन्ध स्थापित हुआ। वाल्मीकि रामायण के प्रमुख अवतारवादी पात्र राम, सीता और रावण तीनों संगीतज्ञ और संगीतप्रिय दोनों रहे हैं।[1] भारतीय संगीत के जितने मत हमारे देश में प्रचलित रहे हैं उनमें, कृष्णमत, हनुमत मत, और नारदमत का सम्बन्ध वैष्णव अवतारवादी संगीत से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। प्रायः इन मतों में जिन राग-रागिनियों का प्रचार अधिक रहा है, जयदेव, सूर, तुलसी आदि सगुणोपासकों ने प्रायः उनका अधिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए हनुमत मत के भैरवी, गुर्जरी, टोड़ी, रामकली, वराटी, मालवकौशिक (माल कोश), और कृष्ण मत के हिन्दोल, आसावरी, विलावल (वेलावली) आदि सगुण भक्तों में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। 'कनड़ा' और 'नटनारायण' जैसे रागों का केवल साम्प्रदायिक उपास्यों से ही नहीं अपितु सम्प्रदायों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[2] 'कनड़ा' कृष्ण सम्प्रदाय का अत्यन्त प्रिय राग है। वैष्णव पूजा को और जीवन्त बनाने वाला 'नटनारायण' नटराज शिव के सामानान्तर प्रतीत होता है। सोमेश्वर ने छः प्रमुख रागों में एक राग 'नट-नारायण' को भी माना है।[3] १२ वीं शती के 'संगीत रत्नाकर' कार ने अन्य देवता और शिव के साथ गोपीपति और वंशीध्वनि के वश में रहने वाले कृष्ण को भी गीतप्रिय कहा है।[4] 'संगीत दामोदर' के अनुसार कहा गया है कि श्री कृष्ण के समक्ष गोपियों ने जब गीत गाना आरम्भ किया तो उससे सोलह हजार राग-रागिनियों की उत्पत्ति हुई।[5]

इस प्रकार मध्ययुगीन अवतारों का सम्बन्ध संगीत की विशिष्ट वृत्तियों,[6]

---

१. वा. रा. अयो. सर्ग. २. १५. (राम), अयो. ३१ सर्ग-२१ श्लो. (सीता), युद्ध, सर्ग २४-श्लो. ४२-४३।

२. ओ. रा. पृ. ७७.

३. सं. द. पृ. ७२, ७३, ७५।

४. सं. रत्ना. १, १, २६.

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः। गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः॥

स्वरमेल कलानिधि पृ. ८, २, २।

गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः। सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती॥

५. कला अंक पृ. १६६ में उद्धृत

गोपीभिर्गीतमारब्धमेकैकं कृष्णसन्निधौ। तेन जातानि रागाणां सहस्राणि तु षोडश॥

६. सं. रत्ना. पृ. २८४-४, ७३।

वृत्तिं वैदर्भरीतिं च श्रिता बीभत्ससंभृता।
वाराहीदेवताप्रीत्यै शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता॥

रस,[1] कंद,[2] वाद्य,[3] नृत्य और मुद्रा[4] आदि से रहा है। 'वाल्मीकि रामायण' के राघव भी संगीत से आमोद-प्रमोद करते हैं।[5] 'हरिवंश पुराण' में अर्जुन की यात्रा के समय नारद की वीणा के बाद श्री कृष्ण बाँसुरी द्वारा उनका मनोरंजन करते हैं।[6] प्राचीन साहित्य के अनुसार वेद तो आर्येतर जातियों में वर्जित थे, जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पंचम वेद 'नाट्य' की सृष्टि हुई।[7] निश्चय ही इसका प्रयोजन अवतार–प्रयोजन की तरह देव इच्छा से सम्बद्ध रहा है। और एक प्रयोजन 'ना० शा० १,१११ 'ईश्वराणां विलासश्च' भी बताया गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार इस नाट्य वेद के अधिकारी बलि, प्रह्लाद आदि असुर भी हैं।[8] प्राचीन काल में नाटकों में जो रंगमंच विधान किया जाता था वहाँ रंगशीर्ष के क्रम में 'कूर्म पृष्ठ' और 'मत्स्य पृष्ठ' की चर्चा हुई है।[9] भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार देवताओं के प्रिय के लिए अभिनीत होने वाले 'समवकार' 'अमृतमन्थन' की चर्चा मिलती है।[10] इन नाटकों का सम्बन्ध देव-दानवों से ही सर्वाधिक रहा है। ऐसा लगता है कि देव-दानव का यहाँ सम्बन्ध कूर्मावतार की कथा से ही रहा है। अतः कूर्मावतार में हुए 'अमृत-मंथन' की कथा को हम एक प्रकार का रूपक नाट्य कह सकते हैं, जिसका अभिनय प्राचीन काल में प्रायः हुआ करता था। इसके अतिरिक्त प्राचीन वाङ्मय में 'गंगावतरण,' जैसे पौराणिक रूपक[11] नाट्य का

---

१. सं. रत्ना. पृ. ३०१–४, १६४–१६५।
उपमा-रूपक-श्लेषैर्ब्रह्मा वीरविलासयोः। विष्णुश्चक्रेश्वरो वीरे बीभत्से चण्डिकेश्वरः॥
नरसिंहोऽद्भुतरसे भैरवस्तु भयानके। हास्यशृंगारयोर्हंसः सिंहो वीरभयानके॥

२. सं. रत्ना. पृ. ३१० । हरिश्च करभो हस्ती कादम्बः कूर्मको नयः।

३. पृ. ४८५, ६, ५५।
दण्डः शम्भुरुमा तन्त्री ककुभः कमलापतिः।
इन्दिरा पत्रिका ब्रह्मा तुम्बं नाभिः सरस्वती॥

४. नृत्य शीर्षक में द्रष्टव्य।

५. वा. रा. बाल. 'गायन्तो नृत्यमानाश्च वादयन्तस्तु राघव' जैसे उल्लेख हुए हैं।

६. हरिवंश. पु., विष्णुपर्व ८७ अ.।

७. नाट्य. शा. (गायकवाड सं.) पृ. २३१, ३३।
योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः॥

८. नाट्य शा. (गायकवाड सं.) पृ. ४३।

९. नाट्य शा. (गायकवाड सं.) पृ. १६२–२, ७१।

१०. नाट्य शा. (गायकवाड सं.) पृ. ८५–४, २, ३, ४।

११. नाट्य शा. (गायकवाड सं.) पृ. ९४–४, ५५।

तथा 'राघव विजय', मारीचिवध आदि राम काव्यों का भी उल्लेख हुआ है।[1] 'हरिवंश पुराण' ९१-९७ अध्याय में वज्रनाभ और प्रद्युम्न के प्रकरण में नाटकों की चर्चा हुई है। प्राचीन काल में इनका अभिनय भी हुआ करता था। इनकी कथा का सम्बन्ध एक ओर कृष्ण से तो है ही 'वज्रपुर' नगर में 'रामायण' नाटक के अभिनय के भी प्रसंग आये हैं। 'पतंजलिमहाभाष्य' में जिन 'बलि-बन्ध' और 'कंस-वध' नाटकों के प्रासंगिक उल्लेख हुए हैं उनकी कथावस्तु शीर्षक से ही अवतार-कथाओं पर आधारित जान पड़ती है।

उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि विष्णु का अवतार-कार्य भारतीय संस्कृति के मूल में जड़ीभूत एक सांस्कृतिक कार्य रहा है, बाद में जिसकी अभिव्यक्ति और अभिनय विभिन्न कलाओं के माध्यम से होते रहे हैं। प्राचीन काल में अवतारों की कथाएँ अत्यन्त लोकप्रिय और ग्राह्य रही हैं। उस काल में उनका अभिनय ही नहीं होता था अपितु संगीत, नाट्य, नृत्य और रंगमंच के कतिपय प्राविधिक विषय अवतारों के नामों से अभिहित किये गए थे। इस प्रकार विष्णु के अवतारवादी रूपों और तथ्यों की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य एवं कला में सर्वत्र अभिव्याप्त रही है।

अवतार भक्त और संगीत—वैष्णव-भक्ति-मार्ग में संगीत, कीर्तन और भजन के रूप में अनिवार्य अंग रहा है; क्योंकि भक्तों की यह धारणा रही है कि संगीत मन को उपास्य इष्टदेव की ओर अभिकेन्द्रित करता है। गीत के वश में समस्त भारतीय देवता रहे हैं। संगीत वह रज्जु है जो उपास्य के नाम-रूप के साथ मन को बाँध देता है। भक्ति से संगीत को शक्ति प्राप्त होती रहती है। कीर्तन और भजन के द्वारा संगीत का आत्मिक सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। वैष्णवों में चैतन्य, जयदेव, विद्यापति, अष्टछाप, निम्बार्क, हरिदासी, हरिव्यासी, हितहरिवंशी या रामभक्ति शाखा के ऐसे अनेक भक्त कवि गायक हो गए हैं, जिन्होंने संगीत-कला को चरमसीमा पर पहुँचा दिया। इसी युग में ध्रुपद और ख्याल दोनों शैलियों में अवतार-लीलाओं के भजन सर्वाधिक मात्रा में गाए जाते थे। ध्रुपद शैली के ऐसे गायकों में स्वामी हरिदास, बक्सू, बाबा रामदास, तानसेन, बैजू का विशिष्ट स्थान रहा है। 'नाद विनोद' के अनुसार स्वामी हरिदास के प्रसिद्ध शिष्यों में बैजू, गोपाललाल, मदनलाल, रामदास, दिवाकर पंडित, सोमनाथ पंडित, तन्नामिश्र (संभवतः तानसेन) और राजा सौरसेन का नाम आया है।[2]

---

१. नाट्य शा. (गायकवाड सं.) पृ. १८१-। २. भा. सं. इति. पृ. २३८।

स्वामी जी के इन शिष्यों ने ध्रुपद, धमार, त्रिकट, तराने, रागमालाएं, चतरंग आदि तथा अनेक नवीन रागों की रचना की। समस्त भारत में स्वामी हरिदास जी तथा उनके शिष्यों की ही परम्परा प्रचलित है। अवतार-भक्तों द्वारा गाए गए बहुत सी राग-रागिनियों में कुछ उनके नाम भी मिलते हैं। जैसे मल्हार के विभिन्न रूपों में 'सूर मल्हार', रामदासी मल्हार, मीरा मल्हार के भी नाम लिए जाते हैं।[1] सूरदास ने संगीत के रागों पर भी 'सूर लहरी' में लिखा है। यों तो उनके सभी पदों में राग-रागिनियों का यथार्थ निर्वाह है। श्रीनाथ जी के सामने गाए जानेवाले राग-रागिनी सायं, प्रातः इत्यादि काल के अनुसार विभाजित हैं। सूर के अनुसार दिन के समय विलावल, भैरव, भैरवी, रामकली, ललित, जैजवन्ती, टोड़ी, नट तथा सारंग प्रभृति राग हैं। रात के समय में गाये जाने वाले रागों में कल्याण, केदार, विहगड़ा, कान्हरा आदि हैं।[2] इस प्रकार सूरदास ने अवतार-लीला-गान में काल, देश को भी अपने दृष्टिपथ में रखा है। इनके रागों में राग और भावों का विचित्र समतुलन दीख पड़ता है। जैसे सूर ने मारु और गौड़ मल्हार का प्रायः प्रयोग वीर रस के पदों में किया है। तथा भक्ति, उपासना, प्रार्थना, आत्मनिवेदन, विनय आदि के पदों में प्रायः विलावल, घनाश्री आदि का अधिक प्रयोग किया है। सूर के तालों में त्रिताल, कहरवा, दादरा, चौताला, रूपक अधिक प्रचलित रहे हैं। इन्होंने रागों के अनुरूप शब्द, वर्ण, मात्रा, बलाघात इत्यादि की भी पूर्ण योजना की है। मीरा की गणना भी कुशल संगीतज्ञों में की जाती रही है। उनकी समस्त रचनाओं में उनके भावाकुल मन की दिव्य स्वर-लहरी आविर्भूत हुई है। मीरा के पदों में नृत्य, गीत और वादन तीनों का अपूर्व संमिश्रण हुआ है। अन्य काव्यों की तरह संगीत का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में है। जिस प्रकार 'स्वान्तःसुखाय' काव्य की रचना करने में वास्तविक उच्चकोटि के काव्य का आनन्द मिलता है, उसी प्रकार भक्त कवियों की संगीत-साधना का लक्ष्य भी अपने उपास्य की अनुरक्ति ही रहा है।

सोलहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया और तंजोर इत्यादि राजवाड़ों का उदय हुआ। इन्होंने भारतीय संगीत के विकास का बहुत प्रयत्न किया। १७वीं शती के महान् गीतकार क्षत्रज्ञ हुए। क्षत्रज्ञ के गीतों ने मानव-सौन्दर्य को दिव्य सौन्दर्य से भर दिया। दक्षिण भारत में

---

१. भात. सं. शा. भाग ४ पृ. ३८८, ४०३। २. भा. सं. इति. पृ. २४५।

इनके गीत घर-घर नारी कंठों में व्याप्त हो गए। इनकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा तभी दिव्य बनती है, जबकि वह जीवन संगीत को पूर्ण समझ लेता है, तथा संगीत और जीवन की दूरी को समाप्त कर देता है। भगवान् को प्राप्त करने के लिए भक्त को अन्यत्र नहीं भटकना चाहिए। बस संगीत की गहराइयों में ही वह हँसता हुआ मिल जायेगा।[1] दक्षिण भारत में ईश्वरोपासना संगीत के द्वारा ही अधिक होती है। कन्नड़ प्रांत में १४वीं से सोलहवीं शती तक ग्रामगीत, ग्रामीण नाट्य लावणी, पारिजात नाटक, भागवत लीला, राधा और यक्षगान लीला विशेष प्रचलित थे। इस युग के कन्नड़, वैष्णव और शैव काव्य, राग और ताल में आबद्ध हैं। काव्यकार पुरंदरदास कर्नाटकी संगीत के भी जनक माने जाते हैं। इनकी वैष्णव-भावना माध्वाचार्य के द्वैत भाव से प्रभावित है। तमिल प्रदेश के देवालयों, मठों एवं गृहों में 'तेवारम्' और 'तिरुवाचकम्' के पदों की गूँज सुनायी पड़ती थी। तमिल में 'ते' का अर्थ है 'ईश्वर' और 'आरम' का अर्थ है 'माला' अर्थात् स्तुतिमाला। शैव तेवारम की तरह आलवार गीतों के संग्रह (द्रविड़ प्रबन्धम् में संग्रहीत) बहुत प्रचलित थे। मराठी में भी 'द्वैतवाद' संगीत का मूल आधार रहा। महाराष्ट्रीय संगीत ने द्वैतवाद का विशेष प्रचार किया। मराठी के सुप्रसिद्ध संत 'गणेशनाथ' एक भक्त संगीतज्ञ थे। पैरों में घुंघुरू बाँधकर ये नृत्य भी किया करते थे। सुप्रसिद्ध भक्त नामदेव जी भी महारष्ट्र के महान् भक्त संगीतज्ञ थे। उनका कहना था कि 'मुझे ज्ञान का मार्ग अच्छा नहीं लगता, मुझे तो गा-बजाकर ही अपने भगवान् को रिझाना है। संगीत की अपरिमित शक्ति के सम्मुख भगवान् कबतक अकड़े रहेंगे, उनको एक-न-एक दिन झुकना ही पड़ेगा।'[2] यों तो सिख-प्रवर्तकों में गुरुनानक स्वयं संगीतज्ञ थे उनके साथ ही अन्य भक्तों ने भी 'किनर्वा', 'जिकड़ा', 'मरड़ा' आदि का पर्याप्त प्रचार किया। वैष्णवों में 'गीत गोविन्द' यहाँ भी बहुत लोकप्रिय था।

मध्यकालीन भक्तों में विशेष कर बंगाल में 'बुलगवा' और 'हांपा' चैतन्य कीर्तन पर आधारित थे। यों 'श्रीकृष्ण कीर्तन' का विशेष विकास 'रमाई पंडित' द्वारा हुआ। चौदहवीं शती का 'कृत्तिवास रामायण' तथा काशी राम का 'महाभारत' ये सभी ग्रंथ विशुद्ध संगीत काव्य ही रहे हैं। असम के वैष्णव संगीत को जीवन-दान देने वालों में श्री शंकर देव तथा उनके शिष्य

---

१. भा. सं. इति. पृ. २९३-९४। २. भा. सं. इति पृ. ३०४।

माधव देव उल्लेखनीय हैं। उनके गीत, नृत्य और वाद्यों का प्रचार बहुत अधिक मात्रा में हुआ। मध्यकाल में चंडीदास और विद्यापति के साथ-साथ जगन्नाथ-दास आदि अनेक वैष्णव कवि संगीत और नृत्य के भी आचार्य थे। उनके काव्यों तथा काव्य-नाट्यों में संगीत और नृत्य का अपूर्व दर्शन होता है। मध्य-युग में मिथिला और पटना दोनों वैष्णव संगीत के मुख्य केन्द्र थे। गंगा के उस पार मिथिला की अमराइयों में विद्यापति तथा कतिपय संगीतकार कवियों के संगीत मुखरित थे, तो पटने में चिन्तामणि उस युग की प्रमुख संगीतज्ञाओं में से थी।

राजस्थान के ग्वालियर और वृंदावन दोनों संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। ग्वालियर में यदि राजदरबारी संगीत का बोलबाला था तो वृंदावन में ठाकुर दरबारी संगीत का। किन्तु दोनों के संगीत में वैष्णवत्ता ओतप्रोत थी। राधा-कृष्ण के गान दोनों समान रूप से गाते थे। गुजरात के संगीत में वैष्णव भक्त नारसी मेहता और मीरा दोनों के पद संगीत और नृत्य दोनों में गाए जाते थे। गुजरात के प्रसिद्ध नृत्य गरवा में राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम का अजस्र प्रवाह प्रवाहित है। गरबा नृत्य के साथ यहाँ गरबा गीत भी बहुत लोकप्रिय रहे हैं। कहा जाता है कि मीरा भी वृंदावन के पश्चात् गुजरात चली गयीं। इसी से उनके पदों में शास्त्रीय राग-रागिनियों के साथ राजस्थानी और गुजराती लोक-धुनों का मिश्रित रूप लक्षित होता है। स्थानीय लोक-गीतों में इनका विशेष महत्त्व रहा है। इनके राजस्थानी, व्रज और गुजराती में प्राप्त पदों में लगभग ९० राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। गरबा के अनुकरण पर मीरा ने भी जिन गीतों की रचना की उन्हें 'गरबी' कहा जाता है, क्योंकि वे पद स्त्री की भाषा में इष्टदेव के प्रति पति को सम्बोधन करके बनाए गए थे। राजस्थानी गरबा में भी इनका विशेष स्थान है। गोस्वामी तुलसीदास के समस्त काव्यों में शास्त्रीय और लोक-गीत दोनों की धुनों का समान रूप से प्रचार रहा है। 'विनय पत्रिका' और 'गीतावली' के पद यदि शास्त्रीय राग-रागिनियों में आबद्ध हैं तो 'रामलला नहछु' और 'जानकी मंगल' स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले लोक-गीतों में अत्यन्त लोक-प्रिय रहे हैं। 'रामचरित मानस' तो शास्त्रीय और लोक दोनों प्रकार के रागों, नृत्यों और नाट्यों में ग्राह्य रहा है।

इस प्रकार वैष्णव भक्त कवियों में संगीत अपनी चरम-चेतना के साथ गुंजित हुआ है। उपासना में उन्होंने केवल पदों को नहीं अपितु संगीत को भी सर्वाधिक स्थान दिया।

नृत्य

भारतीय संगीत, गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को मिलाकर ही पूर्ण माना जाता रहा है।[1] आगे चलकर जब इनका व्यापक विस्तार हुआ तब इनके शास्त्रीय पक्ष का स्वतंत्र रूप से प्रायः समस्त भारतवर्ष में विकास हुआ। गीत और वाद्य की अपेक्षा नृत्य का सम्बन्ध मनुष्य के समस्त संवेगात्मक आंगिक व्यापारों से है। मनुष्य का जो प्रवेश भगवान की उपासना में जिस आर्त्तभाव को लेकर होता रहा है। वस्तुतः उन्हीं के द्वारा नाना प्रकार की कलाओं का जन्म हुआ है। यों तो मनुष्य की भाव-प्रकाशन क्षमता जन्मजात है, जिसे वह हाव, भाव और हेला के द्वारा प्रकाशित करता है। नृत्य भी इसी का परिणाम है। अन्य शास्त्रों और कलाओं की तरह भारतीय नृत्य भी देवताओं के नृत्य रहे हैं। स्वभावतः इनका सम्बन्ध दिव्य देव-चरित्रों से रहा है। यही नहीं नृत्य के समस्त रूपों की अवतारणा ही शिव और विष्णु जैसे देवों द्वारा मानी जाती रही है। इसी से शिव यदि 'नट राज' हैं तो विष्णु 'नटनारायण'।[2]

शिव-परम्परा में शिव-स्रष्टा, पालक और संहारक हैं, अतः उनके नृत्य में ये तीन भाव विशेष महत्त्व रखते हैं। अनेक शिव मंदिरों में वे किसी न किसी भाव-मुद्रा में ही स्थापित किये जाते रहे हैं। शिव का 'नट राज' रूप नृत्यशास्त्र में प्रबन्धात्मक महत्त्व रखता है। ऐसे तो उनकी एक ही मुद्रा में अनेक पौराणिक कथाएँ अभिनीत हो जाती हैं, फिर भी शिव का स्रष्टा और पालक रूप विशेष मुद्राओं में अंकित रहता है। सती की मृत्यु के बाद उनकी शोक मुद्रा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। जबतक पार्वती का अवतार नहीं होता उनकी अत्यन्त अद्भुत मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'प्रदोष स्तोत्र' के अनुसार जब भगवान शिव नृत्य के लिए तैयार होते हैं, तब सरस्वती अपनी वीणा बजाती हैं, इन्द्र बाँसुरी बजाते हैं, ब्रह्मा ताल देते हैं, लक्ष्मी गाती हैं; विष्णु मृदंग बजाते हैं, और सभी देवता चारों ओर खड़े होकर देखते हैं।[3] इन समस्त देवताओं के नृत्य में रत रहने का रहस्य क्या है? भारतीय जन-जीवन अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति जिन दिव्य कल्पनाओं के माध्यम से करता है, उनमें देवताओं का नृत्य भी सम्मिलित है। देवता हमारी कलात्मक

---

१. 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।'

२. इस ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ के चित्र में नटवर विष्णु की त्रिभंगी मुद्रा अंकित [illegible] है। यह मूर्ति, चन्देल मूर्ति-कला की देन है।

३. इन. डांस. पृ.।

अभिरुचि के दिवास्वप्न हैं, जिनके माध्यम से हमारी समस्त कल्पनाएँ अपनी समस्त दिव्यता के साथ मानवीकृत होकर साकार होती हैं।

यदि मानव-जीवन को गहराई से देखा जाय तो समस्त जीवन ही एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। किस दिन वह क्या करता है इसका तारतम्य और तारतम्यहीनता दोनों उसकी कलाभिव्यक्ति के ही अंग हैं। कभी वह स्वेच्छा से, कभी अवचेतन मन के प्रभाव से, कभी नियमित अभ्यास द्वारा यांत्रिक और स्वच्छन्द दोनों प्रकार की क्रियाएँ करता है। इन सभी को कला की दृष्टि से कला-व्यापार और कला की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। धार्मिक चेतना के अर्थ में मनुष्य अपनी सौन्दर्य-भावना का साक्षात्कार जिस प्रकृति में करता है वह सत्ता असीम ईश्वर का ही व्यक्त या अवतरित रूप है। अतः स्थूलप्रकृति को जिस अदृश्य आध्यात्मिक चेतना का व्यक्त या मूर्त रूप कहा जा सकता है, उस प्रकृति का कार्य भी अमूर्त को कलात्मक ढंग से व्यक्त या अवतरित करना है। इस अमूर्त के मूर्त होने की क्रिया को हम अवतारवादी कलाभिव्यक्ति कह सकते हैं। भारतीय नृत्य भी आध्यात्मिक 'रसो वै सः' को मूर्त अभिव्यक्ति देने का एक प्रयत्न है। प्रेमी के लिए प्रेम सत्य है, और दार्शनिक के लिए सत्य, उसी प्रकार कलाकार के लिए सौन्दर्य ही सत्य है। परम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जिस रूप में, जिस देवता में मनुष्य करता है, वह परम सौन्दर्य उन्हीं देव-देवियों के रूप में प्रतिमूर्तित होता है। इस प्रकार सौन्दर्य-चेतना मानव मन को सर्वदा एक नव्यतम-कला-बोध प्रदान करती है।

नृत्य कला की दृष्टि से सारी सृष्टि ही ब्रह्म की नृत्यावस्था है। उसकी समस्त क्रियायें दैवी नृत्य हैं। विश्व के इसी नृत्यावर्त में मानव भी एक नर्तक है। मनुष्य की प्रत्येक मुद्राएँ, दशाएँ और क्रियायें, जो आत्मशक्ति से संचालित हुआ करती हैं उसके दैविक नृत्य हैं। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि स्रष्टा ब्रह्म की ही प्रत्येक क्रिया मानव-स्वभाव की गतिशील क्रियाओं में अभिव्यक्त होकर मनुष्य को नृत्य में रत कर देती है। अतः नृत्यस्रष्टा ब्रह्म की पाँच क्रियाओं का परिणाम है—सृष्टि, आविर्भाव, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह। इन्हीं अमूर्त कार्यों के मूर्त रूप हैं—क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव। इस क्रम को निम्न प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है:—

ब्रह्मा,	विष्णु,	रुद्र,	महेश्वर,	सदाशिव
सृष्टि	आविर्भाव | स्थिति	संहार	तिरोभाव	अनुग्रह

सृष्टि सम्बन्धी चार महत्वपूर्ण क्रियाएँ सृष्टि, पालन, मोक्ष और संहार प्रायः भगवान् की इच्छा से ही होती हैं। अतः ताण्डव की मुद्रा में शिव का डमरू नाद सृष्टि या पुष्टि का, अग्नि संहार का, हाथ की मुद्राएँ रक्षा का और उठे हुए हाथ–मोक्ष का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन करते हैं।[1] भारतीय धारणा में शिव प्रथम नटेश्वर माने जाते हैं इनकी चार प्रकार की संहार मूर्ति, दक्षिण मूर्ति, अनुग्रह मूर्ति और नृत्य मूर्तियों में चौथी नृत्य मूर्ति के द्वारा भगवान शिव ने आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इन समस्त भावों के प्रदर्शन के लिए एक सौ आठ नृत्य-भंगिमाओं की सृष्टि की थी। भक्त नृत्य मूर्ति में ही इनके विराट रूप का दर्शन करते हैं—'अभिनय दर्पण' के प्रारम्भ में कहा गया है कि इनका आंगिक समस्त विश्व है—विश्व की समस्त भाषा वाचिक है, समस्त नक्षत्र और चन्द्रमा इनके आहार्य हैं। ऐसे सात्विक शिव को नमस्कार करता हूँ।[2] तिरुमलुभरके अनुसार शिव की यह नृत्य-लीला भी अवतार-लीला ही है, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए होती है।[3] शिव का प्रख्यात नृत्य ताण्डव कहा जाता है। ताण्डव के सात प्रकार माने जाते हैं—[4]

ताण्डव

आनन्द ताण्डव	संध्या ताण्डव	कलिका ताण्डव	त्रिपुर ताण्डव	गौरी ताण्डव	उमा ताण्डव

इन ताण्डवनृत्यों के लिए नटराज शिव भैरव या वीरभद्र के रूप में आविर्भूत होते हैं और पार्वती—कालिका, गौरी, उमा के रूप में। इस प्रकार ताण्डवनृत्य भी शैव अवतारवाद से सम्वलित नृत्य है, जो शिव की अवतार-लीला को नृत्य-कला की भंगिमाओं में अभिव्यंजित करता है। शिव सप्त ताण्डव की तरह विष्णु के दशावतार भी नृत्य से अधिक नाट्य में मान्य हैं। अतः दोनों में अंतर यही जान पड़ता है कि ताण्डव में नर्तन अधिक है और दशावतार में नाट्य। भारतवर्ष के प्रायः सर्वाधिक नृत्य शिव नृत्य-नाट्य

१. डांस. शिव. पृ. ८७, (१९५६ सं.)। २. अभि. द. श्लो. १।

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥'

३. डॉस. शिव. पृ. ८८, ९१। ४. डॉस. इन. पृ. ८, भा. सं. इति पृ. २८०।

शिव ताण्डव की तरह 'कालिय-दमन-नृत्य' और 'गिरिगोवर्धन नृत्य' को 'कृष्ण ताण्डव नृत्य' भी कहा जाता है।

हैं।[1] अतः शिव और विष्णु दोनों के द्वारा इनमें इनकी कलात्मक पूर्णता द्योतित होती है। दशरूपककार धनञ्जय ने अपनी कृति के आरम्भ में सम्भवतः इसी पूर्णता को ध्यान में रखते हुए नटराज शिव और नटनारायण विष्णु दोनों की स्तुति की है।[2] शिव की सात्त्विक भाव मुद्रा की तरह विष्णु के नटवत् अवतार भी सात्त्विक या सत्त्वोगुणी अवस्था में ही होते हैं। उनके अवताराभिनय को रसानुरूप भी प्रदर्शित किया जाता है। जिनमें दशावतार के प्रत्येक रूप विशिष्ट रस के द्योतक हैं—

अवतार		रस
१. कृष्ण	—	श्रृंगार
२. राम	—	वीर
३. वामन	—	हास्य
४. परशुराम	—	रौद्र
५. मत्स्य	—	करुण
६. कूर्म	—	अद्भुत
७. वराह	—	बीभत्स
८. बुद्ध	—	शान्त
९. नृसिंह	—	भयानक

१. अभि. द. पृ. ८२. नन्दिकेश्वर की 'द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः' पंक्ति में पर्वकाल में खेले जाने वाले नाट्य और नृत्य की चर्चा की गयी है। मध्य युग से ही ये एक साथ खेले जाते हैं। नृत्य के साथ कुछ नाट्य भी रहता है और नाट्य के साथ नृत्य भी। यद्यपि नाट्य रसाश्रित है और नृत्य भावाश्रित। एक में आङ्गिक अभिनय की अधिकता है और दूसरे में वाचिक की। यों पूर्व मध्यकाल में रूपक के दस भेद (नाटक. प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क, ईहामृग) की तरह नृत्य के भी सात रूप प्रचलित थे। प्रासङ्गिक रूप से 'दशरूपकम्' पृ. ५ में इस प्रकार दिया हुआ है—

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्तनृत्यस्य भेदा स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

नृत्य

डोम्बी | श्रीगदित | भाण | भाणी | प्रस्थान | रासक | काव्य

ये सभी भाण की तरह होते हैं। इसके अतिरिक्त मार्गी नृत्य (पदार्थाभिनय) रूप गात्र विक्षेप) और देशी नृत्य (केवल गात्र विक्षेप), अथवा इनके भेद-मधुर लास्य और उद्धत ताण्डव को नाटकों के लिये (नाटकाद्युपकारकं) उपयोगी माना गया है।

२. दशरूपक (चौखम्भा सं. पृ. १, २।
नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते। मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥

धर्म एवं सम्प्रदायों से सम्बद्ध होने के कारण प्रायः समस्त भारतीय कलाओं का मूलस्रोत भी अपने उपास्य देवों से सम्बद्ध किया जाता रहा है। अतः यद्यपि नृत्य का प्राचीनतम सम्बन्ध शिव से माना जाता रहा है, फिर भी वैष्णव मत में उसके मूल उत्स की कथाएं विष्णु से भी सम्बद्ध मानी जाती हैं। कहा जाता है कि विष्णु ने समुद्र-मन्थन के समय शंख बजाकर प्रथम नाद उत्पन्न किया था, जिससे सात स्वरों की उत्पत्ति हुई। वहीं अमृत-पान कराते समय उन्होंने मोहिनी नृत्य किया जिससे समस्त दानव सम्मोहित हो गये। इस प्रकार नृत्य के प्रथम आविर्भाव का सम्बन्ध मोहिनी अवतार से सम्बद्ध किया जाता है।

विष्णु से नृत्य-उत्पत्ति की एक अन्य कथा 'विष्णु धर्मोत्तर' में भी कही गयी है। उसके अनुसार प्राचीनकाल में समस्त विश्व के प्रलयालीन हो जाने पर जब शेषशायी भगवान् मधुसूदन सोये हुए थे, मधुकैटभ के द्वारा वेदों के अपहरण हो जाने पर, ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु की स्तुति की और कहा कि वेद ही हमारे नेत्र हैं; वेद हमारे परम बल हैं। [वेदों के न रहने से मैं अंधा हो गया हूँ। इतना सुनते ही भगवान् विष्णु उठकर उस जल में अपने सुललित अंगहारों और पैरों से परिक्रमण करते हुए घूमने लगे। उनके इस ललित परिक्रमण को देखकर लक्ष्मी जी अनुराग से भर उठीं। उन्होंने पूछा कि यह ललित परिक्रमण करते हुए रमणीय अंग वाला कौन था? भगवान् विष्णु ने कमलनैनी लक्ष्मी से कहा कि मैंने नृत्य उत्पन्न किया है। सकरण अंगहारों से युक्त परिक्रमण के द्वारा भक्त, नृत्य से मेरी आराधना करेंगे। तीनों लोकों की अनुकृति यह नृत्य सुप्रतिष्ठित है। ब्रह्मा से उन्होंने कहा कि लक्ष्य-लक्षण के साथ तुम धारण करो। इस प्रकार ब्रह्मा ने विष्णु से और रुद्र ने ब्रह्मा से यह नृत्य ग्रहण किया तथा इसी नृत्य से उन्होंने भगवान् विष्णु को संतुष्ट किया।[1]

इस प्रकार विष्णु से नृत्य की उत्पत्ति हुई। इस नृत्य से शंकर तथा देवता भी प्रसन्न होते हैं। पूजा से भी नृत्य श्रेष्ठ है (वि. ध. पु. ३४।२५) स्वयं नृत्य के द्वारा जो भगवान् विष्णु की उपासना करता है, उस पर वे परम प्रसन्न होते हैं। उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि मध्यकालीन वैष्णव, नृत्य की लोकप्रियता के कारण इसका वैष्णवीकरण करने लगे थे। उन्होंने नृत्य की अनेक मुद्राओं और भावाभिव्यक्तियों में विष्णु और अवतारों का समावेश किया।

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः। नमः सर्वमिदे तस्मै विष्णवे भरताय च॥

१. विष्णु धर्मोत्तर पत्र ३३०. अ. ३४।

अवतारों के नाम पर प्रचलित नृत्य की हस्तमुद्राएँ और नृत्य

नृत्य के आंगिक अभिनय में हस्त-मुद्राओं या हस्त-अभिनय का विशिष्ट स्थान रहा है। अनेक प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति नर्तक हाथों और अंगुलियों के माध्यम से निर्मित आकृतियों द्वारा करते हैं। यों तो कैशिकी आदि वृत्तियों का सम्बन्ध भरत मुनि के काल से ही विष्णु से स्थापित किया जाता रहा है।[1] बाद में चलकर पाँचवीं शताब्दि के नन्दिकेश्वर ने 'अभिनय दर्पण' में दशावतारों के नाम पर प्रचलित हस्त-मुद्राओं का उल्लेख किया है। इनका नाम और क्रम नन्दिकेश्वर ने क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, कृष्ण और कल्कि बताया है।[2] कालान्तर में अवतारवादी नाटकों की लोकप्रियता के साथ-साथ इन अवतारवादी हस्ताभिनयों की संख्या बढ़ती गयी, जिसके फलस्वरूप 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के काल तक अन्य देवताओं और अवतारों के साथ विष्णु के अन्य पार्षदों के नाम से भी विभिन्न नृत्य-अंगहारों का प्रचार हुआ। इनमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध, पुरुष, शंख, पद्म, लक्ष्मी, गरुड़, खड्ग, धनुः, चक्र, गदा, हल, कौस्तुभ, वनमाला, नृसिंह, वराह, हयशिर, वामन, त्रिविक्रम, मत्स्य, कूर्म, हंस, दत्तात्रेय, परशुराम, दाशरथी, कृष्ण, बलदेव, विष्णु, पृथ्वी, नर-नारायण, कपिल जैसे नाम गृहीत हुए हैं।[3] नृत्य-कला में इन आंगिक अभिनयों का उत्तरोत्तर विकास होता गया। पूर्व मध्ययुग तक विभिन्न अवतारों के नाम से स्वतंत्र नृत्य भी प्रचलित हो गए थे। शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में इनमें से कुछ की चर्चा की है।

---

१. अभि. भा. पृ. १२२ में नृत्य अङ्गहार से युक्त, रस एवं भावयुक्त क्रियामयी, सुन्दर वेष से युक्त एवं शृङ्गार रस से उत्पन्न होने वाली 'कैशिकी' वृत्ति मानी गई है। और 'शृङ्गार' का देवता भरत मुनि ने 'विष्णु' को माना है, जिन्होंने कैशिकी वृत्ति को उत्पन्न किया था। अभि. भा. पृ. १२६. अ. १, कारिका ४४-४५ के पूर्व ना. शा. २०, १२ का श्लोक उद्धृत किया है जिसमें बताया गया है कि सुकुमारता से भरे हुए सुन्दर अङ्गों का सञ्चालन करते हुए विष्णु भगवान ने जो अपने सुन्दर केशों को बाँधा उससे कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति हुई—

> विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीला समन्वितैः।
> बबन्ध यत् शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता॥

इन तथ्यों से विष्णु के नर्तक रूप की भी सम्भावना उपस्थित हो जाती है।

२. अभि. द. पृ. १११. श्लोक २१६-२२५।

३. विष्णु. ध. तृतीय खंड अ. ३२. पृ. ३२७।

और नृत्य में रस और भाव दोनों की व्यंजना होती है और केवल आंगिक अभिनय मात्र को नृत्य समझा जाता रहा है। प्राचीन पौराणिक नृत्यों में शिव और पार्वती द्वारा नर्तित नृत्यों को ताण्डव और लास्य दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है। ताण्डव पुरुष नृत्य है और लास्य स्त्री नृत्य जिनके समानान्तर 'नारद संहिता' के पुं नृत्य और स्त्री नृत्य विदित होते हैं।[1] ताण्डव पेवली और बहुरूपक दो प्रकार का होता है और लास्य भी घूरित और योवत दो प्रकार का होता है। ताण्डव और लास्य के यदि पौराणिक मूल रूपों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि दोनों की अवतारणा शिव-अवतार वीरभद्र और पार्वती के विभिन्न अवतरित रूपों द्वारा होती रही है। सम्भव है इस भावना का कुछ सम्बन्ध रंगमंच पर इन दिव्य पात्रों के विभिन्न रूपों में प्राकट्य से भी रहा हो। क्योंकि कला की दृष्टि से अवतारवादी प्राकट्य 'नटवत्' प्राकट्य ही रहा है। यही नहीं ताण्डव और लास्य दोनों का प्रयोजन भी लीला और उद्धार रहा है। अतः इन नृत्यों को हम अवतारवादी नृत्य कह सकते हैं।

उपर्युक्त नृत्यों के अतिरिक्त मध्यकाल में जिन शास्त्रीय नृत्यों का सर्वाधिक प्रचार रहा है वे हैं दक्षिण के भरत नाट्यम् और कत्थकली तथा उत्तर भारके के कत्थक और असम के मणिपुरी नृत्य।

भरत नाट्यम्

'भारतनाट्य शास्त्र' की रचना करने वाले भरत मुनि 'भरत नाट्यम्' के जन्मदाता हैं। तंजोर के प्रसिद्ध मंदिरों में प्रचलित होने के पूर्व इस नाट्य को 'देवदासी-अट्टम्' कहते थे, किन्तु आज इसे 'भरत नाट्यम्' कहते हैं। नृत्य एक आह्वान 'गति स्वरम्' से आरम्भ होता है, उसके पश्चात् 'जाति स्वरम्' में मृदग और ताल की ध्वनि पर नृत्य आरम्भ किया जाता है। इसके बाद 'शब्दम्' में नर्तक शिव या कृष्ण की आराधना में मंत्रोच्चार करता है और साथ किसी किसी विशेष रूप या भावभंगी का अभिनय करता है। इस प्रकार इसमें नृत्य-कौशल और अभिनय दोनों सम्मिलित हैं, किन्तु अभिनय मुख्य है। इस नृत्य में गति की मुद्राओं और भावों को अर्थपूर्ण भाषा में व्यक्त किया जाता है। इसके बाद आने वाले 'वरणम्' में नर्तक के नृत्य-कौशल का प्रदर्शन मुख्य होता है। 'गवेली' और 'तिल्लन' में तालबद्ध पैर चलाने की क्रिया होती है।[2] दक्षिण भारत में नर्तन शैली की दृष्टि से इसके पाँच रूप प्रचलित हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।[3]

---

१. डॉम इन. पृ. ३०। २. भा. नृ. क. पृ. १२५। ३. डॉम इन. पृ. १३४।

भरतनाट्यम्

सदिर	कुचिपुण्डी	भागवत	मेलानाटक	कुवंभंजी	मोहनी अट्टम्

इनमें सदिर वस्तुतः प्राचीन 'दासी अट्टम या छिन्न मेलम' है। मन्दिरों में देवदासियों द्वारा यह नृत्य, नृत्त और नृत्य दोनों प्रकार से किया जाता था। इसका में शब्दम्, पद्म, जवेली, कीर्तनम्, श्लोकम, वरणम्, और 'स्वराजति' समाहित रहते हैं।

भरत नाट्यम् के उपर्युक्त रूपों में से अधिकांश विष्णु, शिव, राधा-कृष्ण और स्थानीय मंदिरों के प्रसिद्ध अर्चाविग्रहों (श्रृंग, त्र्यंबकेश्वर) के प्रति बनाए गए पदों पर आधारित हैं। भक्ति रस ही इनका भी मूल स्वर रहा है। वैष्णव और शैव मन्दिरों में प्रचलित ये नृत्य वस्तुतः नाट्य-नृत्य हैं। नर्तक 'रामायण', 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत' के प्रसिद्ध चरितनायकों की अनुकृति विभिन्न नृत्य-भावों में प्रदर्शित करता है।[१] भरत नाट्य की प्रमुख विशेषता है संचारी भावों का प्रयोग। नाट्य शास्त्रों में रस का उद्दीपन करने वाले जितने संचारी भाव हैं उन सभी की आंशिक अभिव्यक्ति इन नृत्यों में मिलती है। इन भावाभिनयों में दशावतारधारी शेषशायी विष्णु श्रीरंगम् के प्रति स्तुति-गान, नृत्य, ताल और भावाभिनय के माध्यम से व्यंजित किए जाते हैं।[२] 'भरत नाट्यम्' के अनेक रूप राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं पर आधारित हैं। विशेष कर आन्ध्र प्रदेश का प्रिय नाट्य कुचिपुडी, भागवत मेला या मेला नाटक, श्रीकृष्ण-लीला प्रधान गीति नाट्य हैं। कुचिपुडी को मूल रूप में 'भागवतुलु' के ही अन्तर्गत माना जाता है, जिसके माध्यम से भागवत की रोचक कथायें प्रस्तुत की जाती हैं। शृङ्गार में वियोग की भावना जो वैष्णवी भक्ति का प्रमुख रूप रही है, इन नर्तकों में विशेष लोकप्रिय है। कुचिपुडी में कृष्ण-कथा के अनेक प्रसंग गृहीत होते हैं। इनमें सिद्धेन्द्र योगी द्वारा लिखा हुआ 'भामा कलपम्' या 'पारिजातम्' अधिक लोकप्रिय हैं। तीर्थ नारायण यति ने 'कृष्ण लीला तरंगिणी' नामक काव्य की रचना की इस काव्य के बोल नृत्य का भी संकेत करते हैं। इस कृति के प्रभाव से कुचिपुडी का नृत्य-अंश अधिक दृढ़तर हुआ। कुचिपुडी के नृत्याभिनय का विकास क्रमशः मध्ययुगीन वैष्णव गीति नाट्यों पर होता गया। 'गोल्लकलपम्' नामक नृत्य-संयोजन में एक ग्वालिन तथा ब्राह्मण का संलाप दिखाया गया है, जिसमें दर्शन तथा भक्ति

१. विद्याभवन ज. पृ. पृ १५३, में 'मोहन खोकर' का निबन्ध द्रष्टव्य।

२. डॉस-इन. पृ. १३६।

के अनेक तत्वों का प्रतिपादन है। उत्तर भारत की कृष्ण-लीला में अभिनीत होने वाले गोपिका-उद्धव सम्वाद की तरह यह प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कुचिपुडी तथा 'भरत नाटयम्' के अन्य रूपों में 'दशावतार–नृत्य' भी एक लोकप्रिय वैष्णव नृत्य है, जिसमें विष्णु के दशों अवतारों की भक्तिमयी नृत्य-नाटय लीला प्रस्तुत की जाती है। जयदेव की 'अष्टपदी' ने भी इस नृत्य नाटय को समृद्ध होने में विशेष योग दिया।

तमिलनाड में 'कुचिपुडी' के समानान्तर 'भगावत मेला नाटक' जैसे नृत्य-नाव्य का विशेष प्रचार रहा है। तंजोर के प्रसिद्ध मंदिरों से सम्बद्ध ब्राह्मण परिवारों द्वारा नृत्य-नाव्य अपनाए गए हैं। व्यंकटेश्वर शास्त्री द्वारा लिखे गए बारह गीतिनाव्य ही इनके एक मात्र उपजीव्य हैं। भरत नाव्य के रूपों का उत्तर मध्य काल में भी विकास हुआ है। पर उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'भरत नाव्य' वैष्णव गीति-नाव्यों या नृत्य-नाव्यों से अनुप्राणित रहा है, जिनमें अवतारों की लीला का अभिनय भक्ति-रस-निष्पत्ति का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

कथकली

दक्षिण भारत के अत्यन्त लोकप्रिय शास्त्रीय नृत्यों में से रहा है। विशेषकर मलवार, केरल का मुख्य नृत्य है। दक्षिण की मलयालम भाषा में 'कथा' का अर्थ है 'कहानी' और 'कली' का अर्थ है खेल (केलि' का सम्भवतः अपभ्रंश)। अतः कथकलि का तात्पर्य होता है कहानी का वह रूप जो खेल या नृत्य द्वारा व्यक्त किया जाय। इस दृष्टि से यह एक कथात्मक नृत्य है। इसमें नर्तक भाव-भंगिमा, वेश-विन्यास, आकृति-विन्यास तथा मुद्रा और नृत्यों के बल पर 'किसी' पौराणिक कथा का दिग्दर्शन कराता है। पहले इसे 'रमानाथम्' अर्थात् श्री राम की कथा कहते थे। इससे लगता है कि यह मूल रूप में अवतार चरितात्मक नृत्य ही रहा है। १७ वीं शताब्दी में दक्षिण के प्रसिद्ध नर्तक केरल ब्रह्मा ने इसे वर्तमान स्वरूप दिया। और राम ब्रह्मा ने समस्त 'राम चरित' का अभिनय किया।[1] जब एक धार्मिक नर्तक अपने इष्टदेव के सामने नृत्य करता है, वह उस अवस्था को तदरूपता की अवस्था तक ले जाता है। कथकली नृत्य में भी मूक निवेदन की भावना निहित रहती है। यों यह नृत्य केवल मूक अभिनय, आहार्य, हाव, भाव, हेला तथा विविध रसों और भावों से युक्त नृत्य-नाव्य है। इस नृत्य की २४ मुद्राएँ ही उसकी अभिव्यक्ति की वर्ण-मालाएँ हैं और ५०० आकृति-विधान उनके सहायक माध्यम हैं।[2]

---

१. भा. नृ. क. १२६। २. आ. कथ. पृ. २८।

कथकली को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—लोक नृत्य और लीला (नागरिक) नृत्य। लोक नृत्य फसल के महीनों में सामूहिक प्रार्थनाका॰ में वर्षा के निमित्त होता है और लीला नृत्य नागरिकों में प्रचलित है, जिसका मुख्य कार्य है देवताओं को प्रसन्न करना। केरल के नम्बूद्री पंडित इस कथकलीके मूल आधार हैं। 'रमानाथम्' की कथा के आधार पर श्री कोत्तरकर ने 'राम जन्म' से लेकर 'रावण-वध' तक आठ घटनाओं का नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया। इन नृत्यों की शैली 'भरत नाट्य शास्त्र' पर ही आधारित है। इस प्रकार कथकली में एक ओर तो मलावारी लोकगीतों के तत्त्व हैं और दूसरी ओर भरत की कलात्मक शैली से युक्त होकर उनका रूप शास्त्रीय हो उठा है।

सोलहवीं शताब्दी में 'रमानाथम्' की ही अनुकृति पर 'कृष्णनाथम्' का उद्भव हुआ। 'कृष्णनाथम्' के रूप में विकसित नृत्य-नाट्य 'गीत गोविन्द' बहुत मिलते-जुलते हैं। यों ट्रावनकोर की कला पर 'गीत गोविन्द' का प्रत्यक्ष प्रभाव पहले से भी था।[1] कथकली अभिनय और मुद्रा की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती नाट्य 'चक्रियर कथु' तथा 'कुटियट्टम' से बहुत प्रभावित हैं। कथकली मध्यकाल का एक बहुरूपात्मक नृत्य नाट्य है। यह अपने आप में एक मूर्तिमान कला है, क्योंकि इसकी अभिनय-कला में नृत्य, गीत, काव्य और चित्र सभी का अपूर्व मिश्रण रहता है। ऐसे तो अब इनके धर्म निरपेक्ष रूप का भी विकास हुआ है, किन्तु कथकली नृत्य मूल रूप में धार्मिक और अर्द्धधार्मिक रहा है। धार्मिक नाट्यों में 'भगवती पट्टु', 'तिरयट्टु' पन, पट्टु और अन्य नाट्य प्रायः देवस्थान या मंदिरों में अभिनीत होते हैं।[2] कुट्टु, कृष्णनाथम् संघक्कली भी धार्मिक-साहित्यिक नृत्यों में माने जा सकते हैं। कथकली में प्रयुक्त होने वाली 'पटक मुद्रा' में अवतारवादी प्रतीक व्यंजना दीख पड़ती है। इसकी उत्पत्ति तो ब्रह्मा से मानी जाती है किन्तु यह यथार्थ रूप में विजय का प्रतीक है। इस मुद्रा का विकास सम्भवतः ध्वज से हुआ है। प्राचीन दक्षिणी चित्रों में 'V' आकृति के ध्वज मिलते हैं। इनका ऊपरी खुला भाग ईश्वर को व्यक्त करता है और नीचे का भाग पृथ्वी को, जिसका तात्पर्य है—रक्षा। इस प्रकार इस प्रतीकार्थ के अनुसार भगवान् द्वारा पृथ्वी की रक्षा में अवतारवादी प्रयोजन की भावना स्पष्ट प्रतीत होती है। अन्य मुद्राओं में द्विरूपात्मक 'कटक' मुद्रा भी विष्णु, कृष्ण, बलभद्र, राम इत्यादि की मुद्रा मानी जाती है। इन तथ्यों के अध्ययन से स्पष्ट है कथकली के उद्भव, आधार और विकास तीनों में अवतार कथाओं का हाथ रहा है। इसमें रामलीला की नाट्यात्मक या

---

१. आ. कथ. पृ. ३४-३५। २. आ. बा.प. पृ. ५४।

अभिनयात्मक रूपरेखा नृत्यात्मक अभिनय के द्वारा प्रतीकात्मक व्यंजना से पूर्ण है।

रास और उससे प्रभावित नृत्य

शिव द्वारा उद्भावित नृत्यों के अनन्तर भारत के प्राचीन सांस्कृतिक नृत्यों में रास का भी प्रमुख स्थान है। नागर प्रभाव से दूर रहने के कारण यद्यपि इसका रूप अधिक शास्त्रीय नहीं हो सका, किन्तु ग्रामीण वातावरण में विकसित लोक-नृत्य होते हुए भी कतिपय शास्त्रीय नृत्यों का जनक रहा है। देवासुर संग्राम से सम्बद्ध दुष्ट-दमन का अवतार-कार्य प्राचीन काल से ही एक सामूहिक, जातीय या राष्ट्रीय उपलब्धि रहा है। अतः अवतारवादी विजयोपलब्धि एक सामूहिक या राष्ट्रीय संकट से मुक्ति की कथा रही है, जिससे विवृत होते ही किसी भी प्रकार का राग-रंग होना स्वाभाविक रहता है। रास भी स्वच्छन्द (Romantic) गोपी-कृष्ण प्रेम के वातावरण में विकसित एक नाट्य नृत्य रहा है।

इसकी प्राचीन विस्तृत रूपरेखाओं में हम 'विष्णु पुराण' (३री शताब्दी) का रास-क्रीड़ा को ले सकते हैं। उसका विश्लेषण करने पर यह दो रूपों में मुख्य रूप से लक्षित होता है। प्रारम्भिक अंश गीति नाट्य प्रतीत होता है, जो एक प्रकार की कृष्णलीला ही है और उत्तरवर्ती अंश नृत्य के रूप में प्रतीत होता है। इस रास के नायक लीलापुरुषोत्तम कृष्ण 'वेणु-गान में रत' नृत्य-वाद्य-विशारद माने जाते रहे हैं।[1] 'विष्णु पुराण' के अनुसार इन्द्र पर विजय पाने के उपरान्त श्रीकृष्ण की रम्यगीत-ध्वनि सुनकर गोपियाँ तत्काल उनके पास चली आयीं।[2] वे सब उनके ध्यान में लीन थीं। 'रासारम्भ' रस के लिए उत्कंठित समस्त गोपियों को श्रीकृष्ण ने शरत् पूर्णिमा की रात्रि में सम्मानित किया।[3] थोड़ी देर के लिए श्रीकृष्ण के अन्यत्र जाने पर गोपियाँ कृष्णलीला की नाट्यानुकृति करती हैं। एक कहती है—'मैं ही कृष्ण हूँ; देखो, कैसी सुन्दर चाल से चलता हूँ; तनिक मेरी गति तो देखो।' दूसरी कहने लगी—'कृष्ण तो मैं हूँ' अहा! मेरा गाना तो सुनो।' कोई अन्य भुजाएँ ठोक कर बोल उठी—'अरे दुष्ट कालिय! मैं कृष्ण हूँ, ठहर तो' ऐसा

१. स्वरमेल. कलानिधि. पृ. १७-२, ४-५।
भगवानथ गोविन्दो गोपिका वृन्दवन्दिताः। वेणुगानरतो नित्यं नृत्यवाद्यविशारदः॥
गोपिकामण्डले कृष्णो रासक्रीडा विलासकृत्। गोपी गोपाल गोप्रीत्यैं वेणुवादनमातनोत्॥

२. वि. पु. ५-१३, १७।

३. वि. पु. ५-१३, २३ में सर्वप्रथम यहीं। 'रासारम्भरसोत्सुकः' का प्रयोग हुआ है।

कह कर कृष्ण के सारे चरित्रों का लीलापूर्वक अनुकरण करने लगी। और किसी दूसरी ने कहा—'अरे गोपगण ! मैंने गोवर्धन धारण किया है, तुम वर्षा से मत डरो, निश्शङ्क होकर इसके नीचे आकर बैठ जाओ'। कोई दूसरी इसी प्रकार कृष्णलीलाओं का अनुकरण करती हुई कहने लगी—'मैंने धेनुकासुर को मार दिया है, अब यहाँ गौएँ स्वच्छन्द होकर विचरें।[1] इसके अनन्तर गोपियाँ श्रीकृष्ण या किसी 'कृतपुण्या मदालसा' गोपी के साथ चलने वाली अभिसार-क्रीड़ा का सूच्य दृश्य के रूप में वर्णन करती हैं।[2] जिसने सम्भवतः बाद में चल कर कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में रहस्य-क्रीड़ा का रूप धारण कर लिया। इसी बीच पुनः श्रीकृष्ण प्रकट होकर गोपियों के साथ मिल कर रासोचित रासमंडल की संयोजना करते हैं। परस्पर एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर एक मंडलाकार वृत्त बन जाता है, और गोपियाँ नूपुरों की झनकार के साथ केवल कृष्ण का टेक-देकर गीत गाती हैं, जब कि कृष्ण शरद् ऋतु सम्बन्धी गीत गाते हैं। कृष्ण के लिए प्रयुक्त 'रासगेयं जगौ कृष्णो यावत्तारतरध्वनिः' से लगता है कि इस गीत-नाट्य-प्रधान नृत्य में रास-गीत उच्च स्वर से गाया जाता था।[3] कृष्ण के आगे जाने पर गोपियाँ उनके पीछे जातीं और लौटने पर सामने चलतीं, इस प्रकार अनुलोम और प्रतिलोम-गति से श्री हरि का साथ देती थीं।[4]

इस प्रसंग वृत्त का अध्ययन करने पर स्पष्ट पता चलता है कि रास अवतारोपलब्धि के उपरान्त होनेवाला नाट्य-नृत्य था। प्रारम्भ में अवतार श्रीकृष्ण की अवतार-लीलाओं के अभिनय होते थे और बाद में उसी क्रम में रास-नृत्य की संयोजना की जाती थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस रास के आधार पर प्रायः समस्त भारतवर्ष में नाट्य-नृत्यों का प्रचार हुआ तथा शास्त्रीय और लोक-परक दोनों प्रकार के नृत्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हुए।

मणिपुरी नृत्य

भारतवर्ष में मणिपुर एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका नाम ही मणिपुरी नृत्य से सम्बद्ध है। यद्यपि मणिपुर वृन्दावन से बहुत दूर है तथापि रास-लीला का शास्त्रीय रूप और चरमोत्कर्ष इसी प्रदेश में दृष्टिगत होता है। कहा जाता है कि एक बार महारास में गोपियाँ नृत्य कर रही थीं, नटराज शिव ने उस नृत्य

---

१. वि. पु. ५-१३-२२-२९। २. वि. पु. ५, १३, ३०-४१।
३. वि. पु. ५, १३, ५६। ४. वि. पु. ५, १३, ५७।
गतेऽनुगमनं चक्रुर्वलने सम्मुखं ययुः। प्रतिलोमानुलोमाभ्यां भेजुर्गोपाङ्गना हरिम्॥

को देखने की अनुमति कृष्ण से माँगी। श्रीकृष्ण ने उन्हें केवल रास-लीला की ओर पीठ कर सुनने की अनुमति दी। उस स्थिति में रहने पर भी महारास की नृत्यलीला, घुंघुरुओं, मृदंगों और वंशियों की ध्वनि से शिव इतने सम्मोहित हो गये कि वे श्रीकृष्ण का वचन-पालन करना भूल गए। शिव ने तत्काल ही पार्वती के साथ रास रचाने का निश्चय किया और मणिपुर ही उनके लिए उपयुक्त स्थान विदित हुआ। 'पेंगा' और 'पेना' का वादन आरम्भ हुआ तथा शेषनाग की मणि से सारा प्रदेश आलोकित हो गया तभी से इस प्रदेश का नाम मणिपुर पड़ा।

यों तो मणिपुरी का प्राचीन नृत्य 'लाइहरोबा' रहा है। यह एक फसल नृत्य है, जिसे हम सामूहिक ग्राम-नृत्य भी कह सकते हैं, जिसमें सारा गाँव धरती की उपजाऊ शक्ति के लिए मंगल-कामना करता है। पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग, महाप्रभु चैतन्य द्वारा जब मणिपुर क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ; उस समय एक बार फिर समस्त मणिपुर नामकीर्तन, लीला, रास से अनुरंजित होकर राधा-कृष्णमय हो उठा। मंजीरा, करताल, खोल (मणिपुरी मृदंग) के वादन से संचरित होनेवाला यह नृत्य अभिनव रस-सृष्टि की क्षमता से सम्पन्न है। 'लाइहरोबा' के सदृश रास-लीला भी जनता में अत्यन्त प्रचलित एवं लोकप्रिय रहा है।

परन्तु इसमें भाग लेने वाले नर्तकों के लिए नृत्य, संगीत तथा अभिनय में पारंगत होना आवश्यक है। रास-लीला में गाने के लिए विशिष्ट गायक निमंत्रित किये जाते हैं। रास नृत्य सीखने के लिए मणिपुर की अनेक युवतियाँ शिक्षित व्यक्तियों से शिक्षा-ग्रहण करती हैं। इसलिए रास-लीला में भाग लेने वाले कुछ विशेष नर्तक ही हुआ करते हैं। रास-नृत्य के लिए 'रास-मण्डल' का निर्माण किया जाता है, जिसमें विभिन्न स्थानों से एकत्र रास-मंडलियाँ भाग लेती हैं। इसका कार्य-क्रम छः-सात घंटे तक चलता है तथा बीच-बीच में अभिनय और सम्वाद भी चलते रहते हैं। कृष्ण का अभिनय कोई किशोर बालक तथा राधा और उनकी सखियों का अभिनय कुशल नर्तकियाँ किया करती हैं। यहाँ रास-लीला के चार प्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं, वसंत-रास, कुंज-रास, महा-रास, नृत्य-रास—

रास

वसंत-रास	कुंज-रास	महा-रास	नित्य-रास
(वैशाख-मास)	(अश्विन-मास)	(कार्तिक-मास)	(सभी-समय)
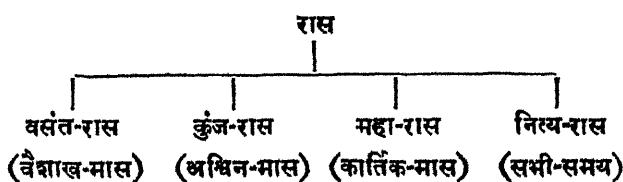
वृंदावन का रास-नृत्य शरद्-ऋतु में होनेवाला नृत्य रहा है। किन्तु यह वसन्त रास मणिपुर क्षेत्र में वसंत-ऋतु या वैशाख में हुआ करता है। इसी प्रकार कुंज-रास आश्विन में, महा-रास कार्तिक में तथा नित्य-रास सभी अवसरों पर हुआ करता है। वसन्त-रास में मानवती राधा को कृष्ण मनाने का प्रयास करते हैं। वे राधा के समक्ष आत्मसमर्पण करते हैं और राधा उन्हें पुनः क्षमा कर स्वीकार कर लेती हैं। कुंज-रास राधा और कृष्ण का संयोग-प्रधान नृत्य है, इसमें विप्रलंभ शृंगार का बृहत् प्रदर्शन नहीं होता। महा-रास में राधा और कृष्ण का रूप विरह प्रधान रहता है। राधा बिछुड़े कृष्ण के वियोग में प्राण त्यागने का निश्चय करती हैं और अंत में उन्हें पुनः कृष्ण की प्राप्ति होती है। नित्य-रास में राधा और कृष्ण की विरह और मिलन-लीला को प्रदर्शित किया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से ये समस्त लीलाएँ आत्मा और परमात्मा के मिलन और विरह की प्रेरणा से उत्प्रेरित रही हैं। ये रास लीलाएँ वर्ष में तीन या चार बार आयोजित हुआ करती हैं।

रास के अतिरिक्त अन्य अवतारवादी नृत्यों में कृष्ण-बलराम नृत्य, गीतगोविंद नृत्य, अबीर नृत्य, अभिसारिका नृत्य, बाँसुरी नृत्य भी विशेष लोकप्रिय रहे हैं। आसाम के लीला-प्रधान नृत्यों में 'भावना' नृत्य भी विशिष्ट स्थान रखता है। यह मूलतः शास्त्रीय 'दशावतार-नृत्य' से अनुप्राणित जान पड़ता है। नृत्यारम्भ में सूत्रधार विष्णु आराधना करते समय दशावतारों का भी स्तुतिगान करता है।

उपर्युक्त नृत्यों की रूपरेखा से ऐसा प्रतीत होता है कि मणिपुरी को शास्त्रीय रूप देने तथा लोकप्रिय बनाने में कृष्णावतार और कृष्ण-लीला का विशिष्ट योगदान रहा है।

कत्थक नृत्य

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल केवल कविता की दृष्टि से ही रीतिवादी या अलंकार-प्रधान नहीं था अपितु उस काल की समस्त कलाओं में अलंकृति व्याप्त रही है। उस युग की नृत्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु समस्त कलाओं में हम अलंकरण या साज-सज्जा की मनोवृत्ति पाते हैं। विशुद्ध शास्त्रीय नृत्यों में, मुगलराज दरबारों में विकसित कत्थक नृत्य भी कलाभिव्यक्ति की समस्त रीतियुगीन विशेषताओं से समाविष्ट है। उस युग की नृत्यरचना आवेष्टन में निबद्ध होकर जिस प्रकार उन्मुक्त थी, वैसे ही 'ख्याल' के रूप में संगीत भी रागबद्ध तानों या आलापों के रूप में विकसित हुआ। युग की बदली हुई परिस्थितियों में ये वक्र और कूट तानें तथा विलम्बित या द्रुत-

गमक तानों की आवश्यक भरमार आधुनिक जन-मन को आलोड़ित नहीं कर सकी। कत्थक नृत्य भी एक सामान्य 'गत' पर उपनिबद्ध तालप्रधान नृत्य है। नृत्य के ही माध्यम से रागों के 'ख्याल' या कल्पना का अपेक्षित विस्तार किया जाता है। ताण्डव और लास्य का और राधा-कृष्ण नृत्य का एक अपूर्व मिश्रण दीख पड़ता है।[1] केवल राजदरबारों और नगरों से ही सम्बद्ध रहने के कारण इसका शास्त्रीय रूप सुरक्षित रहा, यह कभी लोकपरक नहीं हो सका। रीतिकाल 'राधा और कन्हाई के सुमिरन के बहाने' का युग रहा है। शास्त्रीय संगीत और नृत्य और चित्र इन सभी में राधा-कृष्ण की लीलाएँ उनका प्रधान आधार रही हैं। कत्थक नृत्य में भी राधा-कृष्ण के अनेकविध जटिल नृत्य हुआ करते हैं, जिनमें पटविन्यास तथा अन्य तीव्र शारीरिक भंगिमाएँ और मुद्राएँ भिन्न-भिन्न भावनाओं का प्रदर्शन करती हैं।[2] कृष्ण, उद्धव आदि के गोपियों के प्रति आचरण आदि के भी चित्र इस नृत्य में अनेक प्रकार से व्यक्त किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त राधा और कृष्ण की अनेक रूपक कथाएँ घटनात्मक दृश्यों के साथ कत्थक-नृत्यों में प्रचलित हैं।[3] नलिनकुमार गाँगुली के अनुसार कत्थक नृत्य भी भारतीय वेदान्त दर्शन के प्रत्यय पर आधारित है। कहा जाता है कि अद्वैतवाद के 'सोहं' की मधुरता कत्थक नृत्य में व्यंजित होती है। लगभग १२वीं शती के बाद अन्य कलाओं के साथ इस नृत्य पर भी वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ने लगा था। जिसके फलस्वरूप कत्थक नृत्य में भी राधा-कृष्ण-नृत्य की शैली तथा उसकी अनुकृतियों और भंगिमाओं का पर्याप्त समिश्रण हुआ। यदि यह कहा जाय कि कृष्ण-नृत्य ही मध्ययुगीन कत्थक नृत्य में राजदरबारी नृत्य हो गया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी शास्त्रीय नृत्यों के विकास और विस्तार में अवतारवादी उपादानों का विशिष्ट अवदान रहा है। प्राचीन एवं मध्ययुगीन प्रेक्षक, ग्राहक या सहृदय ऐहिक आनन्द की पूर्ति के साथ पारमार्थिक आनन्द का भी लक्ष्य रखते रहे हैं और यह कार्य अवतारवादी तथ्यों के उपकरण का योग मिलने पर अधिक सहजसाध्य हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि शैव, वैष्णव आदि धर्मों एवं सम्प्रदायों ने अपनी लोकप्रियता और व्याप्ति की भी वृद्धि की। किन्तु यह उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं था। उनकी दृष्टि में भक्ति-भाव और रस को अधिक उद्दीप्त और संवेगात्मक बनाने के लिये दिव्य भावों का मानवीकरण और मानवी भावों का दैवीकरण एक

---

१. डॉ. इन. पृ. ११३। २. भा. नृ. क. पृ. १२७।

३. ग्रा. डॉ. क. इन. पृ. ७६। ४. भा. सं. इति. पृ. २८०।

मात्र मार्ग था। अतः कला के क्षेत्र में अवतारीकरण को हम निम्न प्रकार से भी देख सकते हैं—

दिव्य भावों का मानवीकरण→अवतारीकरण←मानवी भावों का दैवीकरण। अतः विभिन्न कलाओं की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नागर और ग्राम्य अथवा शास्त्रीय और लोक दोनों स्तर पर मान्य हुई।

लोक-नृत्य

नागर एवं शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त ग्रामीण भारतवर्ष का सच्चा स्वरूप उन स्थानीय वैशिष्ट्यों से अनुप्राणित मध्ययुगीन लोक-नृत्यों में प्रतिबिम्बित होता है, जो उसकी दैन्यजड़ित मुखाकृति में हास, अट्टहास, उन्माद और तन्मयता की रेखाएँ उभार देते हैं। नगाड़े या ढोलक पर ताल पड़ते ही उनकी समस्त मुद्राएँ रससिक्त हो जाती हैं। उन नृत्यों में हास, उल्लास, क्रोध, आवेश, शौर्य-प्रदर्शन, वीरता इन सभी का मूर्त रूप दृष्टिगोचर होता है। ये भारतीय जन-मानस की आमोद-वृत्ति या लीला-वृत्ति (Play Instinct) का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु इनमें धार्मिक आस्था और विश्वास का भी पूर्ण दिग्दर्शन हुआ है।

यद्यपि स्थानीय लोक-नृत्यों में जातिगत अथवा परम्परागत विशेषताएँ अधिक मूर्त हैं, साथ ही शैव, शाक्त और वैष्णव धर्म की अवतारवादी कथाओं पर आधारित अनेक ऐसे नृत्य हैं, जिनका प्रसार भारतवर्ष के कोने कोने में राष्ट्रीय स्तर पर रहा है। इस दृष्टि से यदि हम रामलीला और कृष्णलीला को ही लें, तो पंजाब से आसाम तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक वे अपने स्थानीय रंगों में अनुरंजित होकर व्याप्त हैं। दक्षिण भारतवर्ष में देवदासी और ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त उनके अनेक लोकपरक रूप भी दक्षिण में प्रचलित हैं। हम देश भर में फैले हुए इन नृत्यों को निम्न रूपों में विभाजित कर सकते हैं :—

भारतीय अवतारवादी लोक नृत्य

- दशावतार-नृत्य
- रामलीला-नृत्य
- कृष्णलीला-नृत्य
  - रास नृत्य
  - राधा-कृष्ण
  - कलिय दमन, कंस वध दानलीला आदि
- अन्य अवतार नृत्य
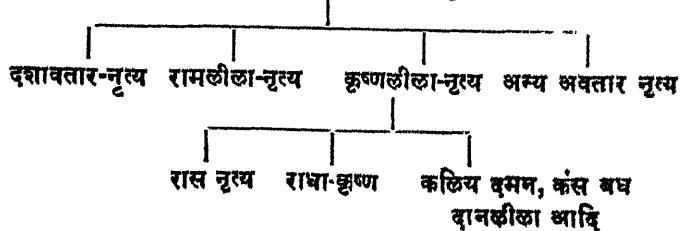
दशावतार-नृत्य

अवतारवादी नृत्यों में दशावतार नृत्य विशेषकर देश के अनेक राज्यों में प्रचलित रहा है। महाराष्ट्र का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है। महाराष्ट्र में इसे 'दशावतार' या 'बोहद' नृत्य कहते हैं।[1] महाराष्ट्रीय पद्धति के अनुसार इस नृत्य-नाट्य में भी सूत्रधार सर्वप्रथम रंग-मंच पर गणेश और सरस्वती की वन्दना करता है। महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों में इस नृत्य-नाट्य पर स्थानीय रंग भी पूर्ण रूप से चढ़ चुका है, फिर भी समस्त दशावतार नृत्यों के प्रकार महाराष्ट्रीय जनता को उद्धार और लीलापरक तुष्टि प्रदान करते हैं। इन नृत्य-नाट्यों में विभिन्न अवतारों का अभिनय करने वाले पात्र बड़े उत्साहपूर्वक नृत्य करते हैं। दशावतार नृत्यों में प्रायः रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत सभी का प्रदर्शन होता है। विशेषकर नृसिंह बने हुए पात्र रंगमंच पर बड़े रौद्र-अभिनय के साथ प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार इस नृत्य में राम-रावण का युद्ध भी बड़े भयानक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी तो उनका यह युद्ध घंटों चलता रहता है। यह धार्मिक आस्था और विश्वास संयुक्त नृत्य-नाट्य है क्योंकि इस नृत्य के दर्शक अवतारों का अभिनय करने वाले पात्रों में भी अवतारों के अवतारत्व की भावना करते हैं। इस नृत्य का आयोजन प्रायः महामारी, आपत्तिकाल या कीड़ों से फसलों की रक्षा के लिये किया जाता है। महाराष्ट्र के अतिरिक्त दक्षिण भारत के कुचिपुडी नृत्य में दशावतारों का भी प्रसंग उपस्थित होता है।[2] 'अभिनय दर्पण' और 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण'[3] में वर्णित दशावतार की हस्तमुद्राओं का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी से ही 'दशावतार नृत्य' का कोई शास्त्रीय रूप भी अवश्य प्रचलित रहा होगा। क्योंकि दक्षिण भारतीय नृत्य 'भरत नाट्यम्' में 'पल्लवी' या स्थाई की अभिव्यक्ति होती है उसमें शेषशायी विष्णु को दशावतारधारी भी कहा गया है।[4] सम्भव है इसके मूल में 'जयदेव की अष्टपदी' का योग रहा हो। यों बंगाल के भक्त कवि जयदेव ने 'गीतगोविन्द' के प्रारम्भ में जिस 'दशावतार गीत' की रचना की है वह नृत्य, राग और ताल सम्मत रहा है। वंगीय नृत्यों के आरम्भ में कहीं-कहीं दशावतारों का स्तुति-गान होता ही है। आसाम और मणिपुर के भावना-नृत्य के आरम्भ में भी दशावतार नृत्य[1] और गान की प्रथा रही है।

---

१. फॅ. डॉ. महारा. पृ. ५४। २. फॅ. डॉ. इन. पृ. २२।
३. अभि. द. पृ. १११ और विष्णु ध. पु. पृ. ३२७, अ. ३२।
४. डॉ. इन. पृ. १३६।

सूत्रधार प्रायः नृत्यारम्भ में ही विष्णु के अन्तर्धान के साथ-साथ दशावतारों की स्तुति के साथ नृत्य भी करता है ।[1]

इन तथ्यों के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि मध्य युग में प्रायः कतिपय प्रदेशों में दशावतार नृत्य के शास्त्रीय और लौकिक रूप दोनों प्रचलित रहे हैं । महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों में तो यह स्वतन्त्र नृत्य-नाट्य के रूप में लोकप्रिय रहा है किन्तु मणिपुर, बंगाल और दक्षिण में नृत्यारम्भ दशावतार-नृत्य से होते रहे हैं ।

रामलीला नृत्य

दशावतार नृत्य की तरह 'रामलीला नृत्य' के भी शास्त्रीय और लोक-परक दो रूप देखने में आते हैं । शास्त्रीय रूप तो 'कथकली नृत्य' में विदित होता है जिसका विकास 'रामनाथन्' से माना जाता है और यों भी उसमें 'रामलीला नृत्य-नाट्य' की प्रधानता है । रामलीलापरक लोक-नृत्यों में कुछ का सम्बन्ध तो 'रामायण' से है और कुछ का अर्चा-विग्रहों से । उदाहरण के लिए राजस्थान के अत्यन्त लोकप्रिय 'ख्याल नृत्य' में 'महाभारत' के अतिरिक्त 'रामामण' की कथाएँ भी अभिनीत होती हैं ।[2] इसी प्रकार कुलुघाटी 'पंजाब' के प्रसिद्ध 'रघुनाथ नृत्य' में भी यों राम कथा पर ही आधारित नृत्य-रूपक प्रस्तुत किए जाते हैं, किन्तु उनके प्रमुख प्रेरकों में हम स्थानीय अर्चा-विग्रह 'रघुनाथ' को मान सकते हैं ।[3] क्योंकि अर्चा-विग्रह रघुनाथ के प्राकट्य को वहाँ के जन-वासियों में आवेशावतार' समझा जाता है ।[4] बिहार और उड़ीसा में रामलीला नृत्य के नाट्य-नृत्य मध्ययुग से ही प्रचलित रहे हैं । महाराष्ट्र का 'शिमगा नृत्य' एक प्रकार का रामलीला नृत्य ही है । उसमें वनवासी राम, लक्ष्मण और जानकी की दशाओं के वर्णन से सम्बद्ध पद गाए जाते हैं । इसमें अंगद, रावण इत्यादि के प्रसंग रामलीला की तरह ही समाविष्ट रहते हैं ।[5]

कृष्ण लीला नृत्य

लीलापुरुषोत्तम श्री कृष्ण भारतीय संस्कृति और कला में कलाभिव्यक्ति के महान स्रोत रहे हैं । अवतारवादी कला वस्तुतः 'कला के लिए कला' के रूप में केवल राधा-कृष्ण की कलात्मक अभिव्यक्ति (लीला के लिए लीला) में

---

१. फॅ. डॉ. इन. पृ. ६९ । २. फॅ. डॉ. इन. पृ. १८० ।
३. फॅ. डॉ. इन. पृ. १३७ । ४. फॅ. डॉ. इन. पृ. १३६ ।
५. फॅ. डॉ. महा. पृ. १४७ ।

निहित है। प्रायः समस्त भारतवर्ष की शास्त्रीय नृत्य-कला में शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति का प्राधान्य रहा है। भरतनाट्यम् 'मणिपुरी' कथकली, और कत्थक इन सभी में ये मूल प्रेरक दीख पड़ते हैं। कृष्ण एवं गोपियों का रास आरम्भिक रूप में लोकनृत्य ही रहा है। मध्ययुग में वैष्णव-भक्त संगीतज्ञों ने इसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया, यों फिर भी उसका एक लोकपरक रूप प्रायः भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में प्रचलित रहा है।

मध्ययुगीन दक्षिण भारत में अर्चा-विग्रहों की उपासना संगीत और नृत्य दोनों के साथ प्रचलित थी। कुमारी आईय्या ने अपने सुन्दर राधा-कृष्ण नृत्यों में प्राचीन सौन्दर्य को व्यक्त करने की चेष्टा की थी। इस युग में राधा-कृष्ण की रास-लीला से संपुटित 'कल्पकोवा' नृत्य-नाट्य का बहुत अधिक प्रचार हुआ। 'कल्पकोवा' में श्री कृष्णलीला के प्रायः अनेक नाटकीय कथात्मक प्रसंग वर्णित होते हैं।

कृष्ण-लीला के प्रधान नृत्यों में रास-नृत्य है। यद्यपि वृंदावन से इसका पौराणिक या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, फिर भी इसका पूर्ण विकास मणिपुर और बंगाल के रास-नृत्यों में हुआ। सम्भवतः मणिपुरी नृत्य-शैली में ही इसको शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया। मणिपुर में रास-नृत्य को इतनी प्रधानता मिली कि ताण्डव और लास्य शैली के अधिष्ठाता शिव और पार्वती भी यहाँ 'रास-नृत्य' के नर्तक-रूप में लोकप्रिय रहे।[1] मणिपुरी महा-रास में मणिपुर नरेश 'महाराज भाग्यचन्द्र' की पुत्री बिम्बावती स्वयं राधिका का अभिनय करती है, जो 'रासेश्वरी' के नाम से विख्यात रही है।[2] बंगाल के कृष्ण-लीला नृत्यों में जहाँ राधा और गोपियों के साथ नृत्य होते हैं उनमें रास-लीला की झाँकी भी मिलती है। बिहार के लीलास्वादक वैष्णव भक्तों में रास-लीला आस्वादन की भी प्रवृत्ति रही है।[3] उत्तरप्रदेश में यों तो राम-लीला और कृष्ण-लीला सर्वत्र होती है, किन्तु रास-लीला के मुख्य केन्द्र वृन्दावन और मथुरा ही रहे हैं। उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में महावीर, बुद्ध, हनूमान, गणेश आदि के भीत्ति-चित्रों के साथ मूर्तिपूजा के भित्ति-नृत्य-चित्र भी मिलते हैं। इससे कला के साथ भक्ति के सुन्दर सुनियोजन का पता चलता है। यों भी मध्यकाल में चंडी-दास और विद्यापति के साथ-साथ अनेक उड़िया कवियों के गीत और संगीत तत्कालीन लोक नृत्यों को वैष्णवता से ओत-प्रोत करते रहे हैं।

---

१. फॅ. डॉ. इन. पृ. ३८।

२. सम्भवतः हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित 'रासेश्वरी' का इस रास से भी सम्बन्ध हो सकता है।

३. फॅ. डॉ. इन. पृ. १२३।

मध्ययुगीन बिहार में पटना संगीत, नृत्य का मुख्य केन्द्र था। उस युग की विख्यात संगीतज्ञा एवं नर्तकी 'चिन्तामणि' 'संगीत-ज्योति' मानी जाती थी। प्रायः लोग उसे बिहारी 'बुलबुल' भी कहा करते थे। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध कवि बिल्वमंगल चिंतामणि के ही प्रेमी थे। चिन्तामणि ने ही उन्हें संगीतज्ञ बनाया था। चिन्तामणि और बिल्वमंगल दोनों के दिव्य प्रेम, संगीत और नृत्य ने बिहार के संगीत की अन्तर्धारा को प्राणवान् बनाया था। प्रायः पूर्वी भारत में प्रचलित प्रणयनृत्य, भावना-नृत्य और चन्द्र-नृत्य को इनके गीत और संगीत ने ही पीठिका प्रदान की थी। बिहार के 'मैथिल कोकिल' विद्यापति केवल भक्तकवि ही नहीं थे, बल्कि उनके लोकगीतों में भक्ति-रसात्मक लोक-नृत्यों की चेतना निहित थी। उनके लोक-गीतों से अनुप्राणित होली नृत्य, भक्ति-नृत्य, सुषमा-नृत्य और सामूहिक कीर्तन नृत्य मध्यकाल के अत्यन्त जन-प्रिय नृत्यों में से थे।

यथार्थतः लोक-कला एक ऐसी अक्षय स्रोतस्विनी है जिसकी अप्रतिहत गति को किसी भी शास्त्रीय बाँध से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। परम्पराभिभूत होते हुए भी सहज रूपान्तर इसका एक विशिष्ट स्वभाव है। कालक्रम से देश के अन्य भागों में रास-लीला से प्रभावित रूप भी देश के कतिपय नृत्यों में प्रतिबिम्बित होते हैं। महाराष्ट्र का 'जिम्मा' नृत्य रास का ही रूपान्तरित रूप विदित होता है।[1] इसी प्रकार गुजरात के 'गरबा-नृत्य' पर भी रास का प्रभाव देखा जा सकता है। यों गरबा-नृत्य गोपी-कृष्ण-लीला का एक स्थानीय रूप है। इसकी पृष्ठभूमि में गाए जानेवाले पदों में कृष्ण-लीला की ही घटनाओं के चित्र उपस्थित किए जाते हैं। काठियावाड़ के रास-नृत्य भी कृष्ण-लीला के मूर्त रूप प्रतीत होते हैं। कुछ स्थानों में प्रचलित गोप-गोपी नृत्य भी रास का ही एक रूप जान पड़ता है। जैसे महाराष्ट्र के टिपरिया गोप-नृत्य में तथा वार्करी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नृत्य 'दिण्डी-रास' नृत्य में रास की रूपान्तरित प्रकृति विद्यमान है।[2] इसी प्रकार गोकुलाष्टमी के दिन आयोजित होनेवाला 'कला-नृत्य' गोकुल, वृन्दावन से सम्बद्ध गोप-गोपी और गोपालों के अभिनय को लेकर चलने वाला नृत्य है।[3] रास-नृत्य या राधा-कृष्ण से सम्बद्ध इन सभी नृत्यों में शृङ्गार की ही प्रधानता किसी-न-किसी रूप में रही है। परन्तु इनके अपवादस्वरूप उत्तर प्रदेश के अहीरों का एक 'बिरहा-नृत्य' ही ऐसा है जिसमें वीरता, शौर्य और ओज का प्रदर्शन हुआ है।[4]

---

१. फॉ. डाँ. महा. पृ. १०९। २. फॉ. डाँ. महा. पृ. ४८, १०८।
३. फॉ. डाँ. महा. पृ. १०९। ४. फॉ. डाँ. इन. पृ. १६१।

कृष्ण-लीला के कुछ नृत्यों का सम्बन्ध विशेषकर बंगाल में चैतन्य देव से भी रहा है। ऐसे नृत्यों में खेमटा-नृत्य, कृष्ण-लीला नृत्य, कीर्तन-नृत्य विशेष लोकप्रिय रहे हैं। ये सभी नृत्य कृष्ण-लीला से संवलित नृत्य-नाट्य हैं। कृष्ण-लीला के अन्य नृत्यों में महाराष्ट्र के 'महालक्ष्मी-नृत्य', गोविन्द-नृत्य, दहीहांडी-नृत्य और उड़िया 'माया-शबरी-नृत्य' तथा आसाम और मणिपुर के 'कालियदमन', बकासुरवध-नृत्य, दक्षिण भारत के बाणासुरवध का प्रतीक 'कुदकुट्टु', कामरूप के फाल्गुनी, गीता और कर्णार्जुन-नृत्य अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इन नृत्यों को कृष्ण के विशुद्ध लीलात्मक नृत्यों की अपेक्षा उद्धारपरक-नृत्य अधिक कहा जा सकता है।

अन्य अवतार-नृत्य

विष्णु के अन्य अवतार-नृत्यों में दक्षिण भारत का नृत्य 'कूर्मावतारम्' प्राचीनकाल से प्रचलित विदित होता है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में भी कूर्मावतार का नृत्य से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। दक्षिण भारत में 'समुद्रमंथनम्' पौराणिक अवतार-कथाओं पर लिखा हुआ एक गीति-नाट्य है, जिसमें विष्णु कूर्म-अवतार धारण कर पर्वत धारण करते हैं और अन्त में 'जगत्मोहिनी' का रूप धारण कर असुरों को विमोहित कर लेते हैं।[1] इसी कथा-पीठिका पर आधारित यह एक नृत्य-नाट्य है। उड़िया 'माया-शबरी' नृत्य में भी 'समुद्रमन्थन' की कथा प्रासंगिक रूप से गृहीत हुई है।[2] अन्य अवतारवादी नृत्यों में महाराष्ट्र के शंखासुर-नृत्य का नाम लिया जा सकता है। शंखासुर-नृत्य प्रायः केवल एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है और कहीं-कहीं राधा के साथ इसका युगल रूप भी प्रचलित है।[3]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारतीय अवतारों का घनिष्ट सम्बन्ध नृत्य-कला से रहा है। शिव की तरह विष्णु भी नृत्य-कला के अवतारक तो रहे ही हैं, शिव के भैरव अवतार की तरह श्रीकृष्ण ने भी विशिष्ट 'रास' नृत्य की अवतारणा की। धनंजयभट्ट ने 'दशरूपक' के आरम्भ में 'नटवर विष्णु' की स्तुति की है, तथा पतंजलि महाभाष्य में जिन 'बलि-बन्ध' और 'कंस-बन्ध' नाटकों की चर्चा हुई है वे नृत्य-नाट्य प्रतीत होते हैं। क्योंकि प्राचीनकाल से ही नाट्य और नृत्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। विष्णु से सम्बद्ध बहुत से ऐसे नृत्य-नाट्य रहे हैं जिनका शास्त्रीय और लोक दोनों रूपों में विकास हुआ। इनमें दशावतार, रास आदि नृत्य-शास्त्रीय

१. फं. डॉ. इन. पृ. २७–२८। २. फं. डॉ. इन. पृ. ११६।

३. फं. डॉ. महा. पृ. ६०।

और लोक दोनों रूपों में प्रायः समस्त भारतवर्ष में प्रचलित रहे हैं। राम-लीला और कृष्ण-लीला पर आधारित नाट्य-नृत्यों से सम्पूर्ण भारतवर्ष अनुप्राणित है। अवतारवादी साहित्य की तरह ये नृत्य भी लौकिक मनोरंजन के साथ-साथ 'नटवत्' देव के भावन द्वारा आध्यात्मिक उदात्तीकरण की ओर भी उन्मुख करते हैं। आस्थावान दर्शक-जनसमूह नटों और नर्तकों में साक्षात् अपने उपास्य देवों की भावना करता है। इस प्रकार ये नृत्य और नाट्य-नृत्य भी सहृदय दर्शक में 'ब्रह्मानन्द सहोदर' रसानन्द के संचारक हैं।

चित्रकला

भारतीय कला और विज्ञान पर पाश्चात्य विचारकों का यह आरोप रहा है कि यहाँ की समस्त कलाएँ और विज्ञान दर्शन पर आधारित हैं। दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही उनका उद्भव और विकास दोनों होता है। इस दृष्टिकोण में अधिक अत्युक्ति नहीं है अपितु एक महान् सत्य प्रतिभासित होता है। वैदिक काल से ही भारतीय जीवन-चेतना दर्शनोन्मुख या ब्रह्मोन्मुख रही है। भारतीय जीवन की चरम सार्थकता भौतिक भोगों की उपलब्धि में नहीं अपितु ब्रह्मोपलब्धि में रही है। इसी से यहाँ की समस्त कला-वस्तु जड़, अचेतन, स्थूल, भौतिक और ऐन्द्रिक मात्र न होकर चिन्मय, आत्मिक और ब्रह्ममय (सर्वम् खल्विदं ब्रह्म) रही है। कला की नानात्मक या अनेकात्मक अभिव्यक्ति भी वस्तुतः ब्रह्मसत्ता की ही मानी जाती रही है।[१] यही नहीं भारतीय दृष्टि के अनुसार कर्त्ता, कलाकार या चिन्तक यथार्थतः कोई मनुष्य या जीव नहीं है, अपितु स्वयं हिरण्यगर्भ परमात्मा ही[२] 'कवि, कलाकार, मनीषी और प्रजापति है। वह स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप स्वयं स्वयंभू है।[३] लोक-सृष्टि की उसमें स्वयं कामना है।[४] वह स्वतः आनन्दस्वरूप ही नहीं अपितु सभी के आनन्द का भी मूल स्रोत है। वह आनन्दमय ब्रह्म आनन्दमय प्राणियों की रचना करता है और जो पुनः आनन्द में ही लय हो जाते हैं। इस प्रकार भारतीय कला का दार्शनिक प्रतीक ब्रह्म वस्तुतः स्वयं कर्त्ता, कृति और ग्राहक है। भारतीय धारणा उसे रस स्वरूप (रसो वै सः) मानती रही है। वह

---

१. 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे (ऋ. १०-१२१, १।)

३. 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'।

४. एत. उ. १, १, १। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।'

निराकार और साकार तथा भाव और रूप दोनों है।[1] वह विश्वरूप और सर्वरूप है और प्रत्येक रूप में अभिव्यक्त होता है तथा आत्मसत्ता के रूप में स्थित रहता है।[2]

इसके अतिरिक्त भारतीय कलाओं की एक प्रमुख विशेषता यह मानी जाती रही है कि समस्त कलाएँ देवशिल्प की अनुकृतियाँ हैं। विश्वकर्मा वस्तुतः स्रष्टा ब्रह्म का ही एक नाम है, वह नाना शिल्प एवं कलाओं के आविर्भाव के लिए मानव शिल्पी के रूप में आविर्भूत होता है।[3] शंकराचार्य ने 'वेदान्त सूत्र' १, १, २० के भाष्य में कहा है कि सभी स्तुतियाँ उसी का गान करती हैं। परब्रह्म भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए, जब वह प्रसन्न होता है, मायिक रूप धारण करता है। गीता (१०।४१) के अनुसार जो भी सुन्दर और भव्य है वह उसके सौन्दर्य या आलोक का ही अंश है। तथा जो कुछ भी सृष्टि में श्रेष्ठ (गी० १०।४२) है वह भी उसके गुणों से युक्त है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि समस्त कलात्मक विभूतियों से युक्त ब्रह्म स्वयं पूर्ण कलावतार है। वह निर्विशेष होकर भी अपनी शक्ति के द्वारा विना किसी प्रयोजन के ही नाना प्रकार के अनेकों वर्ण धारण करता है।[4] ब्रह्म की यह रूपाभिव्यक्ति प्रतीकात्मक होती है। भारतीय रूपांकन कला में जिस विषय के ध्यान को प्राथमिक महत्त्व दिया गया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के अनुसार योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले अनुभव होने वाले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिकमणि और चन्द्रमा—इनके रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं।[5] इन्हें हम ब्रह्म के प्रतीकात्मक बिम्ब-चित्र की संज्ञा दे सकते हैं। ये बिम्ब-चित्र मूल रूप से ब्रह्म के प्रतीक स्वरूप हैं, जिनकी अनेक रूपता से समस्त वैदिक साहित्य परिपूर्ण रहा है। और यही प्रतीकात्मक परम्परा समस्त चित्रकला को अनुप्राणित करती रही है।

भारतीय चित्रकला का आलम्बन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक रहा है। भारतीय चित्र-कला ऐन्द्रिक चित्रों का चित्रण करती हुई भी उन्हें निम्न स्तर

---

१. ब्र. सू. ३, २, १४। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' और ३, ३, ११। 'आनन्दादयः प्रधानस्य', बृ. उ. २, ३, १।

२. तै. उ. (शां. भा.) पृ. ३४। कठो. उ. २, २, ९।

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।'

३. प्र. ने. आ. पृ. ८–९। ४. श्वेत उ. ४, १।

'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति योगात् वर्णाननेकान्निहितार्थोदधाति।'

५. श्वेता. उ. २, ११।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

पर नहीं जाने देती। चित्रकला की प्रत्येक प्रत्यक्ष कला-कृति परोक्ष ब्रह्म की सत्ता का आभास देती है। वस्तुतः भारतवर्ष के विभिन्न युगों में जहाँ भी साम्प्रदायिक या कलात्मक चित्रकला का अंकन हुआ है, उनमें साम्प्रदायिक उपास्य देव, उसके उदात्त चरित एवं लीलाओं तथा उद्धार-कार्यों को स्वरूपित करने का प्रयास किया जाता रहा है। इन प्रवृत्तियों से सम्बद्ध रहने पर भी चित्रकला, अन्योक्ति, व्यंजना तथा भक्ति एवं श्रद्धा-सम्पृक्त लाक्षणिकता और प्रतीकात्मक मूर्तिमत्ता से पूर्ण रही है। तात्पर्य यह कि अवतारवादी चित्रकला में जिस वस्तु एवं व्यापार का अंकन हुआ है उसकी आत्मा या आन्तरिक व्यंजना उसकी वस्तुमत्ता का बोध न कराकर सर्वातिशयी आत्मसत्ता एवं उसके व्यापार का बोध कराती है। इसी से प्रायः ऐसा लोग मानते हैं कि भारतीयकला वस्तुपरक से अधिक आत्मपरक रही है। वह निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरंजन कहे जाने वाले सर्वातीत ब्रह्म की सक्रिय चेतना को प्रतिमूर्तित करती है। यह सक्रिय-चेतना उसके रसस्वरूप (रसो वै सः) बोध से सम्बद्ध है। जिसके फलस्वरूप भारतीय चित्रकला, जिस रमणीय रस-निष्पत्ति का हेतु बनती है, वह अविकल सच्चिदानन्दमयी है और आनन्दमय परमात्मा को ही प्रतिभासित करती है। निराकार परमात्मा ऐन्द्रिक अवतार रूपों में आविर्भूत होकर, नाना प्रकार की लीलाओं के द्वारा सर्वातीत आनन्द को ऐन्द्रिक आनन्द के रूप में ग्राह्य बनाता है। इस प्रकार अवतारपरक चित्रकला उसकी आनन्दमयी अवतार-लीलाओं की अनुकृति के द्वारा ग्राहक की भावनाओं को उद्बुद्ध करती है।

ऐसे तो चित्र-कला के क्षेत्र में भी किसी कलाकृति की रमणीयता बहुत कुछ अंशों में उसकी रमणीयता पर भी निर्भर करती है। प्रेमी अपनी प्रेमिका का चित्र देख कर जिस भाव दशा में निमग्न हो जाता है, वैसे ही ऐकान्तिक अवतार-भक्त भी अपने प्रियतम उपास्य का चित्र देखकर रमणीयानुभूति की उदात्त भाव-दशा में पहुँच जाता है। अतः ऐन्द्रिक रमणीय रस अथवा रमणीयानुभूति की दृष्टि से दोनों की भाव-दशाओं में यदि कोई विशेष अन्तर है तो इतना ही कि रमणीय रस में आप्लुत भाव-दशा ऐन्द्रिक-चेतना से अनुप्राणित काल्पनिक साक्षात्कार में निमग्न है और दूसरे में रमणीय रस का उन्नयनीकरण हो जाता है। और उसके काल्पनिक साक्षात्कार में उदात्त काल्पनिक सम्भावनाओं का योग रहता है। गोस्वामी तुलसीदास की यह पंक्ति—

'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभी के प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥'

वस्तुतः उदात्त रमणीयानुभूति की ऐंद्रिक प्रकृति की ओर भी संकेत करती है।

भारतीय चित्रकला पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों की संख्या अल्प होने के कारण कुछ विचारक ऐसी सम्भावना कर बैठते हैं कि भारतीय चित्र-कला का गौण स्थान रहा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कला के उत्थान युग (गुप्तकाल) में इसे सर्वश्रेष्ठ कलाओं में परिगणित किया जाने लगा था। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में चित्र-कला को ही श्रेष्ठकला कहा गया है।[1] वास्तु कला के सर्वप्रमुख ग्रन्थ 'समराङ्गण' के अनुसार चित्र सभी कलाओं का मुख है।[2] पूर्व मध्यकाल में कलाओं के मूल्यांकन की पद्धति सिद्धि और मोक्ष-प्रधान थी। इस दृष्टि से अवतारवादी चित्र-कला की भी महिमा किसी प्रकार कम नहीं मानी गयी। 'हयशीर्ष पांचरात्र' के अनुसार विष्णु के जितने रूप हैं, उन्हें सुन्दर ढंग से रूपांकित करने वाला व्यक्ति सहस्रों युगों तक विष्णु लोक में महिमान्वित होता है।[3] यही नहीं इस कृति के अनुसार 'लेप्य चित्र' में भगवान् नित्य ही भक्त के निकट उपस्थित रहते हैं, इसलिए लेप्य चित्रगत पूजा सभी के लिए उपादेय है, क्योंकि इस चित्र में कांति, भूषण और भाव सभी स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसे चित्रों में मार्मिकता का आधिक्य सर्वाधिक होता है। मध्ययुगीन आचार्यों ने चित्रार्चन में शतगुणा पुण्य माना है।[4] क्योंकि चित्रांकित पुण्डरीकाक्ष-विष्णु का विलास और वैभवसहित दर्शन करके व्यक्ति करोड़ों जन्म में उपार्जित पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अतएव कल्याण चाहने वाले धीर व्यक्तियों को महापुण्य अर्जन करने की इच्छा से भगवान नारायण की पूजा करनी चाहिए।[5]

---

१. वि. ध. पु. ३ खंड, ४३।३८ 'कलानां प्रवरं चित्रम्।'

२ प्रति. वि. पृ. २१३ में उद्धृत 'चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्।'

३. प्रति. वि. पृ. २१४।

लेप्यचित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगतं यजेत्॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रे यस्मात् स्फुटे स्थितिः।
अतः सान्निध्यमायाति चित्रासु जनार्दनः॥
तस्माच्चित्रार्चने पुण्यं स्मृतं शतगुणं बुधैः।

४. प्रति. वि. २१४।

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत्।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते॥

५. प्रति. वि. पृ. २१४ में उद्धृत—

'चित्रस्थं पुण्डरीकाक्षं सविलासं सविभ्रमम्।
दृष्ट्वा विमुच्यते पापैर्जन्म कोटि सुसञ्चितैः॥
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरैर्महापुण्यजिगीषया।
पटस्थपूजनीयस्तु देवो नारायणो प्रभुः॥'

परात्पर आदर्शवाद

उपर्युक्त तथ्यों में अवतारवादी चित्रकला की विचार-धारा भी लक्षित होती है। यद्यपि भारतीय कला में रूप भेद, प्रमाण, लावण्य, भावयोजना, सादृश्य और वर्णिका भंग जैसे 'षडङ्गक' को महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है।[1] ऐसा लगता है मानों कांति, भूषण और भाव में इन सभी गुणों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्तर्भाव हो गया हो। क्योंकि बिना रूपवैशिष्ट्य और लावण्य के कान्ति की कोई सार्थकता नहीं दीखती। उसी प्रकार 'भूषण' में भी 'प्रमाण', 'सादृश्य' और 'वर्णिका भंग' तीनों की अभिव्यंजना निहित है। और 'भाव-योजना' में 'भाव' का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त श्लोकों में प्रयुक्त 'विलास' 'सविलासं सविभ्रमम्' भी अवतारवादी उपास्यों के माधुर्य और ऐश्वर्य रूप का द्योतन करते हैं। अवतारवादी चित्र-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि, विष्णु एवं उनके विभिन्न अवतारों के निश्चित विग्रह-रूपों के होते हुए भी वह केवल सादृश्य और अनुकृति पर आधारित नहीं है अपितु उसमें लावण्य और भावतत्वों का निर्वाह सर्वाधिक महत्व रखता है। अवतार-विग्रह-मूर्तियों की तरह हम अवतार-चित्रों में भी जिस कलात्मक वैशिष्ट्य का दर्शन करते हैं, उसमें कलाकार की भावना का निश्चय ही प्राधान्य दीख पड़ता है।[2] भारतीय चित्र-द्रष्टा केवल मनोरंजनार्थ द्रष्टा नहीं, अपितु अपनी समस्त मनोवृत्तियों के द्वारा साहचर्य-भाव स्थापित करने वाला भावुक एवं साधक या भक्त सहृदय है। कलाकार द्वारा निर्मित चित्र की सम्पूर्ण प्रतीकात्मक अर्थवत्ता पर अपनी भावनात्मक आसक्ति का रंग चढ़ाकर वह उसे पूर्ण बना लेता है, जहाँ उसे परात्पर आदर्शवाद की धारणा प्राप्त होती है। अतएव अवतारवादी चित्रकला का मूल लक्ष्य हम परात्पर आदर्शवाद मान सकते हैं। वैष्णव चित्रकला केवल स्मृति-चित्र या उसका प्रत्यक्षीकृत (idealised) रूप नहीं है, बल्कि वह उसका दृश्य प्रतीक रूप है। वह गणित की दृष्टि से आदर्श है। मानवीकृत.

---

१. कामसूत्र के भाष्य (यशोधर) की प्रसिद्ध उक्ति—

'रूपभेदा प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रम् षडङ्गकम् ॥'

इसके अतिरिक्त छायातप का प्रयोग भी भारतीय चित्रकला की प्राचीन विशेषता रही है।

२. विग्रह मूर्तियों के प्रति कहा गया है—

देवो न विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
देवो ही विद्यते भावे तस्मात् भावो ही कारणम् ॥

चित्र उसी प्रकार का प्रतीक है—जिस प्रकार 'यंत्र', जो देवता का ज्यामितिक प्रतिनिधित्व करता है या 'मंत्र' जो देवता का श्रुत प्रतिनिधि है। भारतीय मूर्ति या चित्र-निर्माण में आंखों का सहारा न लेकर मंत्रों और स्तुतियों का आधार ग्रहण किया जाता रहा है। यही कारण है कि भारतीय चित्र समस्त दृष्टि क्षेत्र को एक साथ ही व्याप्त कर लेता है। भौतिक नेत्रों से जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तब किसी अंग विशेष पर अधिक ध्यान जाता है और किसी पर कम; किन्तु भारतीय कला-दृष्टि में सभी पर ध्यान समानुपातिक होता है। पाश्चात्य कला-निर्मिति में वातायन दृष्टि रहती है, परन्तु भारतीय कला भक्तों और प्रेमियों के हृदय और मन में आच्छादित रहती है। पाश्चात्य चित्र प्रायः उसी प्रकार चित्रित होते हैं, जिस प्रकार वे दृष्टिगत होते हैं। फिर भी भारतीय और ईसाई दोनों चित्रों में ईश्वराभास अवश्य सन्निविष्ट रहा है। परात्पर ब्रह्म की भाव-छवि तो इन चित्रों में अंकित रहती ही है, साथ ही उनका घटनात्मक दृश्य जागतिक या सार्वभौम प्रकृति से युक्त रहता है। बुद्ध-निर्वाण का दृश्य अनेकों बुद्धों के निर्वाण में समाहित है। शिवताण्डव भी चिदाम्बरम् की अपेक्षा भक्तों के हृदय में अधिक हो रहा है। कृष्ण-लीला भी कोई ऐतिहासिक लीला नहीं है, अपितु वह अवतार-परक नित्य-लीला है, जिसमें सारी सृष्टि स्त्री है और वही एकमात्र पुरुष है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भक्ति के क्षेत्र में यह सर्वातिशयी आदर्शवाद 'कला के लिए कला' की तरह 'लीला के लिए लीला' में अधिक निहित है। इस कला का आस्वादक भक्त सहृदय अपने साहचर्य को अनेक जन्मों तक भी छोड़ना नहीं चाहता। प्रत्युत चित्रगत उपास्य के सान्निध्य में ही उसकी परमासक्ति बनी रहती है। उसकी यह परमासक्ति भी अनन्यासक्ति की चरम सीमा ही है। कभी-कभी अपने उपास्य की विशिष्ट लीलाओं का वह 'नटवत्' आस्वादन करता है, यहाँ भी उसकी प्रवृत्ति क्षैतिजिक (हॉरिजेंटल) होने की अपेक्षा गूढ़ या रहस्यात्मक अधिक रहती है। अवतारवादी चित्रकला में, चाहे वह अष्टयाम पूजा हो या नामोपासना, आलम्बन चित्र की वस्तुगत प्रधानता गौण रहती है तथा आत्मनिष्ठ अथवा मनोगत 'रमणीय बिम्ब' उसमें प्रमुख होता है। इस प्रकार चित्रकला की सार्थकता परात्पर 'आदर्शवाद' की प्रतीकात्मक अर्थवत्ता को व्यंजित करने वाले रमणीय बिम्ब में ही अधिक दृष्टिगत होती है।

रस दृष्टि

भारतीय चित्रकला में वस्तु और संवेदना का सादृश्य सर्वदा अपेक्षित रहा है। भारतीय चित्रकार सुदृशी और सदृशी का बहुत ध्यान रखते रहे हैं।

इस दृष्टि से तंजोर में उपलब्ध 'चित्रलक्षण' में भी विचार किया गया है। यों वस्तु और संवेदना की एकरूपता के मूल कारण 'रस निष्पत्ति' और साधारणीकरण रहे हैं। कवियों की तरह चित्रकारों में भी साधारणीकरण की प्रक्रिया विद्यमान रही है। इसका रहस्य यह है कि जब भी भारतीय जीवन का एक लक्ष्य पूर्ण हो जाता है, तो भारतीय सभ्यता उसे एक आदर्श के रूप में ग्रहण कर लेती रही है। यही नहीं उस वैयक्तिक उपलब्धि को अवतारवादी या दैवी रूप प्रदान कर सामाजिक व्यक्तियों की उपलब्धि बना दी जाती है। इसके उदाहरण स्वरूप हम राम और सीता को ले सकते हैं। उनके चरित्र और व्यवहार यद्यपि व्यक्तिगत रहे हैं, फिर भी उन्हें राष्ट्रीय या जातीय रूप में स्वीकार किया गया। अतएव ऐसी कलावस्तुओं में चित्रकला की दृष्टि से भी साधारणीकरण की पूर्ण क्षमता रही है।

चित्रकला में सौन्दर्य और रमणीयता के साथ-साथ रस का भी विशेष महत्त्व है। सौन्दर्य-भावक प्रमातृ-रसिक और सहृदय होते हैं। रस-भावन की पूर्णता उनके हृदय में स्थित 'सत्त्व' चरित अन्तरधर्म और सतत् अनुशीलन पर आधारित है। यह वस्तु-चरित केवल ज्ञान पर नहीं अपितु वासना, योग्यता, भावना और वर्ण्य पर निर्भर करता है। भारतीय भावना मनोगत प्रक्रिया पर बहुत बल देती रही है। लंकावतार सूत्र, २,११७,११८ के अनुसार यथार्थ चित्र न रंग में, न स्थल पर या न भूमि में, न भाजन (वातावरण) में होता अपितु वह मन में होता है। काव्य की तरह चित्रकला में भी विभाव सौन्दर्योत्पत्ति में भौतिक ऐन्द्रिय-उद्दीपन का कार्य करता है तथा कलाकार को रमणीयानुभूति की ओर प्रेरित करता है।

अतएव भारतीय दृष्टि से काव्य, नाटक आदि की तरह अवतारवादी चित्रकला का मूल लक्ष्य भी 'रसानन्द' या 'ब्रह्मानन्द सहोदरत्व' ही है। क्योंकि श्रव्य या दृश्य काव्य की तरह चित्र भी 'भाव-रूप' या 'भाव-बिम्ब' की सृष्टि में उतना ही सक्षम है जितना रमणीय रस का स्थायी भाव प्रियत्व लक्ष्य चित्र को रमणीय आलम्बन बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करता है। यथार्थतः लक्ष्य चित्र रमणीय आलम्बन बिम्ब का 'धारणा बिम्ब' है, जो ग्राहक की तन्मयता, आसक्ति और भावोद्दीपन के कारण रमणीयानुभूति की रस-दशा में रमणीय आलम्बन बिम्ब, हो जाता है। 'समरांगण सूत्रधार' के 'रस दृष्टि-लक्षण' नामक ८२ वें अध्याय में ११ रसों एवं १८ रस दृष्टियों पर प्रकाश डाला गया है, जिसके प्रारम्भ में ही 'भाव-व्यक्ति-निर्माता' का महत्त्व स्थापित किया गया

है ।[1] इन तन्त्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि भारतीय चित्रों की अभिव्यक्ति में धार्मिक प्रयोजन भी मुख्य था। चित्रों में मूर्तियाँ बनाकर अभीष्ट इष्ट देवों की आराधना की जाती थी तथा वे विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से भी व्यक्त किये जाते थे, फिर भी रसानन्द की पूर्णतः उपेक्षा नहीं हो सकी थी। साम्प्रदायिक आवरणों से अनुप्राणित भक्त सहृदय भी अपने उपास्य के 'रमणीय आलम्बन बिम्ब' में जड़ीभूत नहीं, अपितु अनुकूलित (कन्डिशंड) सा हो गया था। इस अनुकूल प्रक्रिया से पूर्वी या पश्चिमी आधुनिक चित्रकार बचा नहीं है। उनकी अपनी मनोवृत्तियों की देन या वैयक्तिक स्थापनाओं में भी अनुकूलन प्रक्रिया पूर्ण रूप से सक्रिय रही है।

अतः हम तो यही अनुरोध करेंगे कि आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व की कला का अध्ययन उसके 'परिप्रेक्ष्य' को छोड़कर करना कदापि युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि मध्य युग में जिन्हें हम रूढ़ि कहते हैं, उससे अधिक भयावह रूढ़ियाँ आधुनिक युग में आकर कला-प्रक्रिया को ग्रस्त करती रही हैं।

चित्रकला का अवतारवादी उद्भव और वैशिष्ट्य

कलाओं के विवेचन के प्रसंग में जब हम विभिन्न कलाओं का अवतारवादी सम्बन्ध पाते हैं, तो उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि अवतारवादी समन्वयवाद की धारणा ने प्रायः साहित्य, ज्ञान, विज्ञान और कला सभी को आत्मसात् कर लिया है। चौबीस अवतारों की कोटि में गृहीत जिन अवतारों को कला-अवतार कहा जाता रहा है, उनमें 'पृथु', 'मोहिनी' ऐसे अवतार हैं जिनका पौराणिक सम्बन्ध 'मूर्तिकला', नृत्य कला जैसी कलाओं से भी प्रतीत होता है। उसी प्रकार 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में चित्रकला की अवतारणा नारायण मुनि द्वारा मानी गयी है। यही नहीं चित्रकला के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक पक्षों पर विचार करने वाली कृति 'चित्र सूत्र' के निर्माता भी नारायण मुनि कहे जाते हैं।[2] 'चित्र सूत्र' के अनुसार 'पूर्वकाल में उर्वशी की सृष्टि करते हुए नारायण मुनि ने 'चित्र सूत्र' का निरूपण किया था। उस प्रसंग में बताया गया है कि निकट आयी हुयी सुर-सुन्दरियों को भुलावा देने के लिए महामुनि ने अति सुगन्धित आम-रस लेकर पृथ्वी पर एक उत्तम स्त्री का चित्र बनाया। चित्र में वह स्त्री लावण्यवती

---

१. प्रनि. वि. पृ. ३१९।

स्थानानामथ वक्ष्यामो हस्तनामादि लक्षणम्।
तदायत्तायतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते॥

२. कला अंक (स. प्र.) पृ. ४३५।

श्रेष्ठ अप्सरा दिखाई पड़ने लगी जिसे देखकर सभी देव-स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं।[1] भारतीय चित्रकला या मूर्तिकला दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध नृत्यकला से माना जाता रहा है। नारायण मुनि के अनुसार नृत्यकला की तरह चित्रकला में भी तीनों लोकों का अनुकरण किया जा सकता है। दृष्टि-निक्षेप, भाव-भंगिमा और अंग-यष्टि इन सभी दृष्टिओं से दोनों में बहुत कुछ साम्य है। इसी से इस परम्परा में नृत्यचित्र को परमचित्र माना गया है।[2] नृत्य को ही प्रमाण मान कर इन्होंने चित्र में भी हंस, भद्र, मालक, रुचक और शशक इन पंच पुरुष-लक्षणों को व्यक्त किया है।[3] 'चित्र सूत्र' के इन इतिवृत्तात्मक तन्त्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकला का आरम्भ जिन नारायण मुनि से माना जाता है, वह वस्तुतः उनके मनोगत रमणीय बिम्ब का ही चित्र है, जिसका प्रतीकात्मक एवं अन्योक्तिपरक नाम 'उर्वशी' बताया गया। यों तो 'उर्वशी' एक पौराणिक अप्सरा के रूप में वैदिक काल से ही विख्यात रही है, किन्तु नारायण मुनि द्वारा निर्मित 'उर्वशी' चित्र से 'रमणीय बिम्ब' के रूपांकन की भी व्यंजना होती है। इसके अतिरिक्त नृत्य के 'परमचित्रत्व' में भी एक बात यह लक्षित है कि चित्रकला लीला सापेक्ष है। अवतार-लीला की परिधि से चित्रकला भी दूर नहीं है, अपितु आराध्य-चित्र के रूप में यदि वह साधन है तो लीला-चित्र के रूप में साध्य भी।

'चित्रसूत्र' के अन्य स्थलों पर देवताओं के रूपांकन की जो पद्धतियाँ व्यक्त की गयी हैं, उनका प्रयोग अवतार-उपास्यों के रूपांकन में भी होता रहा है। अवतारी-उपास्यों के कलात्मक रूप उन्हीं प्रवृत्तियों के अनुसार चित्रित होते रहे हैं। उदाहरण के लिए जैसे देवों का रूप सर्वदा सोलह वर्ष का माना गया है, उसी प्रकार राम-कृष्णादि अवतारी-उपास्य भी प्रायः षोडश वर्षीय रूप में ही चित्रित किये जाते रहे हैं। मूर्ति के सदृश चित्रों में भी प्राण-प्रतिष्ठा या देवावतारण अनिवार्य माना गया है। 'चित्रसूत्र' के अनुसार प्रमाणहीन और लक्षण से वर्जित तथा ब्राह्मणों के द्वारा आह्वानीय न होने पर उस प्रतिमा या चित्र में देवगण प्रवेश नहीं करते।[4] इस प्रकार भारतीय

१. कला अंक. (स. प्र.) पृ. ४३५।

२. कला. अंक. (स. प्र.) पृ. ४३६।

'दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।'
'त एव चित्रे ज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्॥'

३. कला. अंक. (स. प्र.) पृ. ४३६।

४. कला. अंक. (स. प्र.) पृ. ४४५ तथा विष्णु ध. पु. ३८–२२, २३।

अवतारवादी कलाओं की आत्मा सर्वदा देवात्मपरक रही है। यद्यपि इस शैली के चित्रों में अनुकृति और सादृश्य की प्रधानता रहती है, फिर भी यह नटवत् अनुकृत्ति किसी सर्वातिशायी सत्ता को ही प्रतिभासित करती है। उसकी 'भाव-मूर्ति' या आत्म-प्रतिमा (इमैगोडेयी) में परब्रह्म की लीलात्मक चेतना का अप्रतिहत गतिशील व्यापार भक्त-मन के अचेतन में निहित सर्वातिशायी आदर्श भाव-मूर्ति को ही सम्मूर्तित करता है।

इतना अवश्य है कि अवतारवादी चित्रकला का 'सर्वातिशायी आदर्शवाद' कोरे चिन्तन के विपरीत उपासना, आराधना और साधना की अपेक्षा रखता है। अवतारवादी चित्रकला में साध्य और साधन दोनों लक्ष्यों का अन्तर्भाव रहा है।

यही कारण है कि अवतारी-उपास्य और उनके पार्षदों के चित्रों में अधिक वैषम्य नहीं उपस्थित होता। वे भी विष्णुवत् चित्रित किये जाते हैं। सम्भव है कि इस धारणा के विकास में 'सायुज्य' और 'सारूप्य' भाव की प्रेरणा रही हो, किन्तु अवतारवादी चित्रकला की धारणाओं में इसका विशिष्ट स्थान है। 'चित्रसूत्र' के अनुसार भी उपास्य देवों के गणों को उनके सदृश चित्रित किया जाता है। कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के गण उन्हीं के समान चित्रित किये जाते रहे हैं। इस प्रकार वैष्णव व्यूह के चारों उपास्य देवों के गण अपने विशिष्ट उपास्य के अनुरूप चित्रित किये जाते हैं।[1] ये गण अपने-अपने नायक के समान ही प्रभावशाली एवम् आयुधधारी तथा उन्हीं के सदृश वर्णों वाले बनाये जाते हैं।[2]

---

१. कला. अंक (स. प्र.) पृ. ४६१।

एकरूपास्तु कर्तव्या वैष्णवानान्तथा गणाः ॥ १९ ॥
तत्रापि तेषां कर्तव्या भेदाश्चत्वार एव च।
वासुदेवसमाः कार्या वासुदेवगणाः शुभाः ॥ २० ॥
संकर्षणेन सदृशास्तद्गणाश्च तथा स्मृताः।
प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन तद्गणाः सदृशास्तथा ॥ २१ ॥

२. कला. अंक (स. प्र.) पृ. ४६१–४६२। यों चित्रण-कला की दृष्टि से भी भारतीय चित्रकला में सादृश्य को (चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् वि. ध. पु. तृ. खं. ४२, ४८) सोमेश्वर भूपति के 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' या 'मानसोल्लास' में विद्ध चित्र के प्रसंग में कहा गया है कि जिस वस्तु में साक्षात्कार रहता है या आबेहूब प्रतिकृति होती है (सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् पृ. २८१ भारतीय चि. कला पृ. २ में उद्धृत) उसे विद्ध चित्र कहते हैं। इस सादृश्य का अनुभव चित्रकार अपने मन में (हृदय मानस्य चेतसः) करता है।

वैष्णव प्रबन्ध काव्य, मुक्तक, नाटक आदि में जितने प्रकार के पात्र नायक, प्रतिनायक, सहायक आदि रूपों में गृहीत हुए हैं, उन सभी के प्रामाणिक चित्रण की शैली 'चित्रसूत्र' में बतायी गयी है। इस दृष्टि से देवता, राजा (४२, १), ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, मंत्री, ज्योतिषी, पुरोहित, ब्राह्मण (४२, २–४६), वैश्य, दानव, विद्याधर, किन्नर, सर्प, राक्षस, पिशाच, बौना, कुबड़ा, प्रमथ, देवगण (४२, ७–१८½) और इन सभी की पत्नियों के चित्रण की प्रामाणिक शैली प्रस्तुत की गयी है।

इससे स्पष्ट है कि अवतारवादी चित्रकला की विषय-वस्तु मुख्यतः अवतार-लीला रही है। देवासुर संग्राम और उसमें योग देनेवाले पक्षी और विपक्षी पात्र तथा रक्षा करने वाले विष्णु के अवतार ही इनके प्रमुख विषय रहे हैं। जो लोग यह आरोप लगाते रहे हैं कि भारतीय चित्रकला का पाश्चात्य चित्रकला की तुलना में गौण स्थान रहा है, वे एक भारी भ्रम में प्रतीत होते हैं। पाश्चात्य चित्रकला की परिगणना काव्य के साथ इसलिए हुई थी कि वहाँ काव्य प्राचीन काल में समस्त साहित्य का वाचक न होकर काव्य मात्र का द्योतक था, जब कि प्राचीन भारतीय काव्य का तात्पर्य समस्त साहित्य से लिया जाता था, जिसकी श्रेणी में चित्रकला को रखना युक्तिसंगत नहीं है। यों जिन ६४ कलाओं में 'चित्रकला' की परिगणना हुई है, उसमें काव्यों के भी कुछ रूप प्रचलित हैं। अतः केवल कलाओं की कोटि में गृहीत होने के कारण 'कलाओं में प्रवर' चित्रकला को गौण नहीं कहा जा सकता। काव्य की तरह यह भारतीय संस्कृति के उदात्त समस्त तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय संस्कृति के मुख्य उपादान देवासुर संग्राम और अवतारवाद इसके भी मुख्य उपजीव्य रहे हैं। काव्य की तरह मध्ययुगीन भारतीय चित्रकला का प्रयोजन अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' के अनुसार 'चित्रकला' सभी कलाओं से श्रेष्ठ है। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देने वाली है। जिस घर में इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, वहाँ पहले ही मंगल होता है। जैसे पर्वतों में सुमेरु श्रेष्ठ है, पक्षियों में गरुड़ प्रधान है और मनुष्यों में राजा उत्तम है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला उत्कृष्ट है।[1] इन तथ्यों के

१. कला. अंक (स. पृ.) पृ. ४७५ विष्णु ध. पु. तृतीय खंड ४३, ३८–३९।

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥
यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः॥

अध्ययन से ऐसा लगता है कि अवतारवादी चित्रकला का दृष्टिकोण दार्शनिक धारणा, रसनिष्पत्ति तथा विषय (Content) और रूप (Form) की दृष्टि से वैष्णव काव्यों के ही समानान्तर रहा है। वैष्णव चित्रकला में नृत्य-तत्त्व की उपादेयता अवतारवादी लीला तत्त्व को ही परिपुष्ट करती है। रमणीय विधान की दृष्टि से काव्यों में रमणीय आलम्बन-बिम्ब की प्रतिष्ठा करने की जो प्रवृत्ति रही है, उसका दर्शन वैष्णव चित्रकला के रमणीय बिम्बविधान में भी होता है। काव्य के नायकों की तरह चित्रकला के रमणीय बिम्ब भी सुन्दर और कुरूप दोनों प्रकार के संवेगों को उद्दीपित करने का प्रयास करते हैं। अवतारवादी चित्रकला का मूललक्ष्य रसानन्द है। यही नहीं उसकी चरम सार्थकता परात्पर आदर्श को अभिव्यंजित करने में रही है। अवतारवादी चित्रकला केवल प्रतीकोद्भावना ही नहीं करती अपितु रमणीय बिम्बोद्भावना की समस्त सम्भावनाओं से वह परिपूर्ण है। इतना अवश्य है कि वैष्णव चित्रकला उपास्यवादी कला है, जिसका प्रमुख लक्ष्य है—उद्धार और अनुग्रह। इसके फलस्वरूप अवतार-लीलापरक चित्रों में यदि एक ओर उपास्यवादी उद्धार और अनुग्रह की भावना है तो दूसरी ओर 'राधा-कृष्ण' की प्रेम-लीलाओं के चित्र में 'कला के लिए कला' की तरह 'लीला के लिए लीला।'

मध्ययुगीन अवतारवादी चित्र-शैली का विकास

ऐतिहासिक संघर्षों का प्रभंजन केवल साम्राज्यों के ही पतन का कारण नहीं होता अपितु युग विशेष की सांस्कृतिक कलाओं का पतन भी उसमें अन्तर्निहित रहता है। भारतीय साहित्य को परवर्ती सिद्ध करने के लिए जितने तर्क पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा उपस्थित किये जाते रहे हैं, उनमें एक अवतारवाद भी रहा है। वैष्णव अवतारवाद का द्योतक 'वाल्मीकि रामायण' 'रामावतार' के चलते भी परवर्ती कहा जाता रहा है। किन्तु इस आधार पर देवों और राजाओं के अवतारीकरण की प्रवृत्ति को परवर्ती नहीं सिद्ध किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि देवताओं के मानवीकरण और महापुरुषों और वीर योद्धाओं के दैवीकरण को प्रवृत्ति देववादी आस्था के प्राचीनतम रूपों में से रही है। ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व होमर के दोनों महाकाव्यों में यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। उसी प्रकार 'वाल्मीकिरामायण' और 'महाभारत' में हम अवतारवादी भावना का अत्यन्त व्यापक रूप पाते हैं। यदि देवासुर संग्राम वैदिक साहित्य का प्रमुख विषय है तो अवतारवाद को भी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।

यद्यपि वैष्णव चित्रकला के स्वर्णयुग गुप्तकाल और मुगलकाल रहे हैं, फिर भी भारतीय चित्रकला विशेषकर भित्तिचित्रों के द्वारा अपने प्राचीन समृद्ध रूपों को अक्षुण्ण बनाये हुये है। यों तो अन्य कलाओं के साथ चित्रकला का वाचक शब्द 'शिल्प' रहा है, जिसका उल्लेख प्रायः उपनिषदों और ब्राह्मणों में मिलता है।[1] परन्तु 'चित्र' का प्रासंगिक उल्लेख शतपथब्राह्मण में हुआ है।[2] फिर भी शैली की दृष्टि से चित्रकला की किसी विशिष्ट शैली का पता नहीं चलता। भारतीय चित्र शैली के मूल में मुख्यतः भित्तिचित्रों का प्रमुख योग माना जा सकता है। क्योंकि चित्रकला के प्राचीनतम रूप का अस्तित्व बतानेवाले भित्तिचित्र ही रहे हैं। पटचित्र और फलकचित्र के उल्लेख तो हुए हैं किन्तु क्षरणशील होने के कारण उनके अस्तित्व का पता नहीं चलता। भित्तिचित्रों का अध्ययन भी हम दो प्रकार से कर सकते हैं—उल्लेख द्वारा और आलेख्य द्वारा। जहाँ तक उल्लेख का प्रश्न है महाकाव्य, नाटक और पुराणों में प्रसंगवश 'चित्रवीथी, चित्रशाला, चित्रवत् सद्म, चित्रशालिका, के साथ-साथ भित्तिचित्रों के भी उल्लेख होते रहे हैं।[3] प्राचीन महाकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' में जिन भित्तिचित्रों के उल्लेख हुए हैं, वे अपने आप में स्वतंत्र कृतियाँ नहीं थीं, बल्कि दीवारों, कक्षों, भवनों, रथों और विमान आदि को सजाने के लिए की गयी थीं। सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक ऐसे उपादान दक्षिण भारत की देन रहे हैं। वाल्मीकि-वर्णित लंकापुरी में चित्रकला की यत्र-तत्र चर्चा मिलती है। रावण के पुष्पक विमान पर स्वर्ण खचित चित्रकारी की गयी थी। उन चित्रों में भूमि पर पर्वत और पर्वत पर वृक्ष और वृक्षों पर पुष्प बनाये गए थे।[4] रावण के राजमहल में चित्रशालाओं के अस्तित्व मिलते हैं। कैकेयी के महल में चित्रगृह भी थे।[5] 'वैहारिकानां शिल्पानां ज्ञाता' राम के प्रासाद में भित्तिचित्र उत्कीर्ण थे।[6] इसके अतिरिक्त बालि और रावण के शव को ले जाने वाली शिविकाओं पर अद्भुत चित्र-शिल्पों की चर्चा मिलती है। धूम्राक्ष, इन्द्रजीत और रावण के रथों पर अनेक प्रकार के भयंकर पिशाचों के चित्र चित्रित थे।[7] 'वाल्मीकि रामायण' के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि रामायणयुग में चित्रशिल्प या भित्तिचित्रों का बहुत अधिक प्रचार था। उनमें भयंकर, सुन्दर, ललित, पर्वत, वृक्ष और लताओं से सज्जित प्राकृतिक

---

१. भा. कला. प. में द्रष्टव्य 'वैदिक साहित्य में शिल्प का स्वरूप।'
२. श. ब्रा. ७, ४, १, २४. 'सर्वाणि हि चित्राण्यग्निः।'
३. कला. अंक. में द्रष्टव्य कतिपय निबन्ध। ४. वा. रा. ५, ७, ९।
५. वा. रा. २. १०. १३। ६. कला. अंक. पृ. ८२ और वा. रा. २, १५, ३५।
७. कला. अंक पृ. ८२।

दृश्य भी चित्रित होते थे। 'महाभारत' में मयदानव की वास्तुकला में चित्रों का अवश्य विधान रहा होगा क्योंकि लंका और इन्द्रप्रस्थ दोनों के निर्माण में मयदानव का हाथ रहा है।[1] इसी क्रम में ग्रीक और गान्धार शैली का भारतीय शिल्प पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्राचीन संस्कृत नाटकों में चित्रकला की यत्र-तत्र चर्चा हुई है। भास के नाटकों में 'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः' के उल्लेख मिलते हैं।[2]

परन्तु चित्रकला का चरम उत्कर्ष गुप्त युग में ही हुआ है। इस युग के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास की प्रायः समस्त कृतियों में चित्रकला के प्रासंगिक उल्लेख पुष्कल मात्रा में हुए हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के नायक दुष्यन्त स्वयं एक अत्यन्त कुशल चित्रकार थे।[3] पुरूरवा विरहातुर होने के कारण उर्वशी का चित्र अंकित करने में सक्षम नहीं हो पाते। महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' तथा 'मालतीमाधवम्' का श्रीगणेश भी 'मालविकाग्नि-मित्रम्' के सदृश चित्रकला की चर्चा से आरम्भ होता है। 'उत्तररामचरितम्' में रामचन्द्र स्वयं सीता के मनोरंजन के लिए अपने जीवन की समस्त घटनाओं के चित्र अंकित करवाते हैं। इस प्रकार समस्त 'रामचरित' बड़े नाटकीय ढंग से चित्रों के माध्यम द्वारा दिखलाया गया है। इससे लगता है कि गुप्तकालीन चित्रकला अत्यन्त उन्नत और समृद्ध थी। इन तथ्यों में चित्रों के माध्यम से अवतार-लीला के आस्वादन की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। नाटकीय प्रसंगों के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि यह चित्रावली 'वाल्मीकि रामायण' की प्रमुख घटनाओं पर आधारित थी। गुप्त काल में चित्रित अजंता की गुफाओं में बौद्धावतार की झाँकियाँ मिलती हैं। उनमें केवल बुद्ध ही नहीं अपितु महायानी बोधिसत्त्वों में अत्यन्त लोकप्रिय पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर की महाकारुणिक दशा का चित्र स्वयं अजन्ता की चित्रकला में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[4] यों तो बौद्ध अवतारवाद भी अवलोकितेश्वर के ही अवतारत्व में अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है। क्योंकि महाकारुणिक महाबोधिसत्व अवलोकितेश्वर 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय' तब तक अवतरित होते रहते हैं जबतक एक भी प्राणी निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार गुप्तकालीन चित्रकला में वैष्णव अवतारवाद और बौद्ध अवतारवाद दोनों लोकप्रिय जान पड़ते हैं।

गुप्तकाल के बाद की चित्रकला में अवतार-लीलाओं के प्रसंग और अधिक

---

१. भा. वा. शा. पृ. १८।
२. कला. अंक पृ. ९७।
३. कला. अंक पृ. १००।
४. कला. अं. इन. पृ. २४७।

लोकप्रिय होते गये। जैन शैली या गुजरात शैली अथवा जिसे अपभ्रंश शैली भी कहा जाता है, इन शैलियों में 'बाल गोपाल स्तुति' और 'गीतगोविन्द' के चित्र सर्वाधिक लोकप्रिय रहे थे। अपभ्रंश शैली का व्यापक प्रभाव बंगाल और उड़ीसा की चित्रकला पर रहा है। क्योंकि जगन्नाथ जी के चित्रपटों में इसके दर्शन होते हैं।[1] गुप्त काल के अनन्तर लगभग १२ वीं शती तक भित्ति-मूर्तियों का विशेष प्रचार रहा है, जिसकी चर्चा 'मूर्तिकला' के अन्तर्गत हुई है। चित्र कला की दृष्टि से अपभ्रंश शैली अधिक व्याप्त रही है जिनमें अवतार-लीलाओं के चित्रपट तैयार किये जाते रहे हैं।

मुगल शैली

पन्द्रहवीं शती के बाद जिस प्रकार साहित्य में निर्गुण और सगुण भक्ति की व्यापकता लक्षित होती है, उसी प्रकार अवतार-लीलाओं के चित्र भी प्रायः प्रचलित रहे हैं। मुगलकाल में अवतारवादी सगुण साहित्य के समानान्तर राजदरबारी चित्र-शैली का प्रचार था, जिसे प्रायः मुगल,शैली के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मुगलों ने भारतीय चित्र कला को एक नयी दिशा प्रदान की थी। मुगल दरबारों में फारसी और भारतीय दोनों कोटि के चित्रकारों को समान रूप से प्रश्रय और प्रोत्साहन मिले थे। जिसके फल-स्वरूप ईरानी शैली भारतीय शैली के साथ मिश्रित होकर एक नयी शैली में परिवर्तित हो गयी थी। मुगल राजाओं में चित्रप्रेमी हुमायूँ ने स्वयं 'शीरीं कलम' के मुगल चित्रकार अब्दुस्समद शीराजी और मीरसैयदअली को अपने दरबार में निमंत्रित किया था, जो अकबर के शासन-काल में भी विख्यात चित्रकारों में से थे। इस चित्र शैली में ईरानी और भारतीय रंगों का मिश्रण तो हुआ ही, साथ ही फारसी ग्रंथ के चित्रों के साथ 'महाभारत' और 'रामायण' की घटनाओं पर आधारित चित्र भी तैयार किए गये। अकबरी दरबार के अधिकांश चित्रकार राजकीय घटनावृत्तों के साथ पौराणिक प्रसंगों के भी चित्र बनाते थे।[2] जब कि इस्लामी चित्रकार फकीरों के विचारानुरूप कार्य किया करते थे। उनके चित्रों में शेखों के विषय समाविष्ट रहते थे। वे खुदा के स्रष्टा रूप का चित्र अधिक चित्रित किया करते थे। इन रूपों में भी खुदा का 'अल्‌रहमान' रूप सर्वाधिक व्यक्त हुआ है।[3] मुगल कला में प्रायः 'अकबर शैली के चित्रों को विचारकों ने भारतीय और अभारतीय दो भागों में विभक्त किया है जिनमें अधिकांश भारतीय चित्र दरबारी शैली में चित्रित

१. भा. चि. पृ. ७७।   २. मुग. पें. भू. पृ. ४. विशेष द्रष्टव्य।

३. मुग. पें. पृ. ४।

'रामायण' और 'महाभारत' तथा 'श्रीमद्भागवत' की घटनाओं से सम्बद्ध रहे हैं।[1] अकबर शैली ने अपने युग की अनेक शैलियों को प्रभावित किया था। क्योंकि इस शैली से मिलते हुए सोलहवीं और सतरहवीं शती के अनेक ऐसे चित्र मिलते हैं जिनके मुख्य विषय राम-लीला, कृष्णलीला और दशावतार-चरित रहे हैं। इस शैली के एक विस्तृत चित्र में कला-अवतार पृथु और पृथ्वी की कथा इस प्रकार रूपांकित है। आदि राजा पृथु ने पृथ्वी से कहा कि मैं तुझे दुहूँगा, जिसे अस्वीकार कर पृथ्वी गाय का रूप धारण कर भागी और राजा ने उसका पीछा किया। गोरूपा पृथ्वी आकाश में भागी चली जा रही है। धनुपधारी पृथु उसका पीछा कर रहे हैं। नीचे खड़े लोग चिंता और आश्चर्यपूर्वक यह दृश्य देख रहे हैं।[2]

लगभग दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक चित्रकला की अनेक धार्मिक और साम्प्रदायिक-वैष्णव, बौद्ध सिद्ध, जैन आदि शैलियाँ विशेषकर बिहार, बंगाल, नेपाल और गुजरात में प्रचलित थीं। इनमें से वैष्णवों में 'गीत गोविन्द' के चित्र चित्रित होते थे और बौद्धों में बोधिसत्वों और वज्रयानी बौद्ध सिद्धों के। बोधिसत्वों और बौद्ध सिद्धों का उन दिनों तक तिब्बत में सर्वाधिक प्रचार था। दक्षिण भारत में द्रविड़, वेसर और नागर तीन प्रकार की शैलियों का प्रचार था। इनमें नागर शैली सम्भवतः उत्तर भारत से ही दक्षिण में गयी थी। इन समस्त शैलियों पर द्रविड़ अलवारों तथा दक्षिणी आचार्यों द्वारा प्रचारित विष्णु भक्ति एवं उनके अवतारों का प्रभाव पड़ा था। वस्तुतः अवतारवादी चित्रकला वैष्णव भक्ति की प्रबल धारा से अनुप्राणित हो उठी थी। विष्णु कांची या दक्षिण भारत के तिरूपति आदि अन्य मंदिरों में चित्रित पट एवं भित्ति चित्रों में इन शैलियों की विवृति हुई है। शैवों में 'नटराज शिव' की लोकप्रियता देखकर वैष्णवों में भी कृष्ण का कलिय-दमन रूप विभिन्न कलाओं में प्रचलित हुआ।

राजपूत शैली

मध्ययुग में मुगल शैली के समानान्तर विशेष कर राजस्थान एवं बुंदेलखंड के हिन्दू राजाओं में राजपूत शैली बहुत प्रचलित थी। मुगल शैली के दरबारी रूप की अपेक्षा इसमें लोक-कथा के तत्व अधिक दीख पड़ते हैं।[3] सगुण भक्ति काव्य के साथ-साथ 'ब्रज उद्गम' और 'गुजरात उद्गम' का संगम होकर चित्रकला का एक प्रवाह चलता रहा है, जिसका प्रभाव राजपूत

---

१. भा. नि. १२३। २. भा. चि. पृ. १३५. और फलक १४।

३. कल. आ. इन. पृ. ३४२-४४३।

शैली पर भी रहा है। राजपूत शैली में अन्य विषयों के अतिरिक्त अधिकांश चित्रों के मुख्य विषय पौराणिक और महाकाव्यात्मक रहे हैं। खास कर कृष्ण-लीला की इस शैली में बहुलता है। इसके अतिरिक्त 'देवी भागवत' और 'मार्कण्डेय पुराण' से भी कथायें गृहीत हुई हैं।[1] मध्य काल में सगुण मत के द्वारा विकसित राम और कृष्ण की अवतार-लीलाओं को केवल काव्य, नृत्य-नाट्य और रामलीलाओं में ही नहीं; अपितु मूर्तियों और चित्रों में भी व्यक्त किया गया। एक ओर तो इस शैली के चित्रों में महाकाव्यों के आधार पर चित्रित 'राम की वीर गाथा' और 'सीता की अग्नि-परीक्षा' के चित्र बनाये गए और दूसरी ओर राधा-कृष्ण की माधुर्यपरक प्रेम-गाथाओं की मूर्तियों और चित्रों का विशेष प्रचार हुआ।[2] कुछ लोग राधा-कृष्ण की प्रेमलीला के द्वारा काम-प्रतीकों का विभिन्न भारतीय कलाओं में विस्तार मानते हैं।[3] राजपूत शैली काल्पनिक जगत् का निर्माण नहीं करती अपितु संसार को ही एक ऐसे बाह्य प्रतीकात्मक विश्व में रूपान्तरित कर देती है, जहाँ स्त्रियों और पुरुषों की अरुणाभ आकृतियाँ और भाव-भंगिमाएं तथा जंगली या पोषित पौधों और पशुओं की भावात्मक क्रीड़ायें अनन्त-प्रेम-भावना की ओर संकेत करती हैं।[4] कुछ चित्रों में नवअवतरित नायक और नायिकाओं के आधिदैविक प्रेम की झाँकियाँ मिलती हैं। राजपूत शैली में भी राधा और कृष्ण अपने साम्प्रदायिक रूप में गृहीत हुए हैं। मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में राधा और कृष्ण आत्मा और ईश्वर के प्रतीक थे। ये सक्रिय और निष्क्रिय सत्ता के भी द्योतक रहे हैं। राजपूत शैली के चित्रों में ऊपर चित्र और नीचे पद्य देने की प्रथा रही है। यों तो इस शैली में 'बारह-मासा' और 'रागमाला' का चित्रीकरण एक विशेष महत्त्व रखता है।[5] क्योंकि मध्ययुगीन काव्यधारा में एक ओर सूर-मीरा आदि के भक्तिपरक पदों में राग-रागिनियाँ मुखरित हो उठी थीं तो दूसरी ओर सूफियों एवं रीतिकालीन कवियों के विरह-वर्णन में 'बारहमासा' का प्रचार था। मध्ययुग की संस्कृति ने वास्तु, मूर्ति, संगीत, चित्र, काव्य किसी को भी उपेक्षित नहीं किया। सूर, मीरा और तुलसी के पद केवल संगीत के कंठों में ही नहीं, बल्कि राजस्थानी शैली के चित्रों में भी साकार हुए। राधा-कृष्ण की लीला का चित्र बनाने वाले चित्रकारों में गीतगोविन्द तथा केशवदास, बिहारी, देव,

---

१. इन्डो. इन. आ. पृ. ११९।
२. इन्डो. इन. आ. पृ. ११९।
३. आ. कै. इन. सी. पृ. ६५।
४. कल. आ. इन. पृ. ३४२।
५. भा. चि. (मेहता) पृ. ५९।

मतिराम के काव्यों पर आधारित चित्र अधिक लोकप्रिय थे। इन चित्रों में ऊपर चित्र रहते थे और नीचे उनकी कविताएँ रहती थीं।

गुजरात शैली से प्रभावित इन चित्रों में लाल, नीला और सुनहरे रंगों की अलंकृति का अधिक प्रयोग रहा है। यों तो राजपूत चित्रों में रंग, शैली और कागज फारसी देन रहे हैं, किन्तु विषय-वस्तुओं में भारतीयता अक्षुण रही है। राजपूत चित्रकला के कुछ चित्रों का अध्ययन करने पर अवतार-लीला के कुछ घटनात्मक दृश्यों के दर्शन होते हैं। एक चित्र[1] में अवतारीकृष्ण एक ग्वालिन प्रेमी के रूप में चित्रित किये गए हैं; जिसमें वृंदावन और यमुना के तटवर्ती निकुंज भी चित्रित हुए हैं। इसके मृदंगों को देखने पर चैतन्य मत की छाप दृष्टिगत होती है। एक दूसरे चित्र में अवतार-पूर्व वैकुंठ में विष्णु और लक्ष्मी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। वहीं शिव, ब्रह्मा, गणेश आदि उपस्थित हैं। इसमें ब्रह्मा के संकेतों द्वारा विष्णु से अवतरित होने का अनुरोध किया जाना प्रतीत होता है।[2]

इस प्रकार राजपूत शैली में हिन्दू-जीवन-दर्शन की झलक के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक चित्र अंकित किये गए। विशेष कर राधा-कृष्ण की अनेकविध प्रणय-लीलाएँ—मान, प्रवास, संयोग-वियोग, ब्रजवनिताओं और गोपियों की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक मनोरम एवं नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत किये गए। वास्तविकता यह जान पड़ती है कि रीतिकालीन साहित्य की भाँति 'राधा और कृष्ण' तत्कालीन चित्रकला के भी 'सुमिरन के बहाने' बने रहे। एक ही राधा-कृष्ण अनेक नायक-नायिकाओं के रूप-भेदों में चित्रित किये गए। राधा और गोपियों के चित्रों में अपने प्रियतम 'कान्हा' से कहीं मिलने की अधीरता और तड़प है, कहीं नित्य संयोग-विहार। विशेष कर प्रोषितपतिका, अभिसंधिता, कलहंतरिता, खण्डिता, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, गर्विता, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता की दशाएँ अधिक चित्रित हुई हैं। रीतिकालीन काव्य की भाँति चित्रकला के लक्ष्य राधा और कृष्ण अब केवल अवतरित राधा और कृष्ण नहीं थे अपितु कलाकारों के मानस-बिम्ब में निर्मित उनके मनोनुकूल रमणीय आलम्बन नायिका और नायक थे। इनके माध्यम से वे नायक-नायिका पक्ष के सहारे अनेक रस-दशाओं के चित्र उपस्थित किया करते थे। अतःपरवर्ती राजस्थानी चित्रकला में भी 'मानिये ताकविताई' नहीं तो 'राधा-कृष्ण सुमिरन' की तरह श्रृंगार, तो प्रत्यक्ष था, किन्तु भक्ति उसकी आड़ में झाँक क्या रही थी—प्रत्युत तिरोहित-सी हो गयी थी।

---

१. राज. पें. पृ. १० (फलक ४)। २. राज. पें. फलक ५।

पहाड़ी शैली

पहाड़ी शैली या काँगड़ा शैली का परवर्ती रीतिकालीन कविता की तरह उत्तरकालीन मध्ययुगीन चित्रों में विशिष्ट स्थान रहा है। काँगड़ा के राजा संसारचन्द्र का युग वस्तुतः पहाड़ी कला का स्वर्ण युग रहा है। इस शैली में अनेक प्रबन्धात्मक एवं उदात्त चित्रों के दर्शन होते हैं। 'कलियदमन चित्र'[1] में बालकृष्ण कलियनाग के शरीर को कमलनाल की तरह ताने हुए पटका ही चाहते हैं। साथ ही पैरों से दब कर उसके फण पिसे जा रहे हैं। नाग-बालाएँ उसके प्राणों की भिक्षा मांग रही हैं और नन्द, यशोदा तथा गोपी और गोप अपने लाड़ले के लिए व्याकुल हो रहे हैं। इस प्रकार पहाड़ी चित्र शैली में वास्तविकता और भावना का अपूर्व मिश्रण रहा है। मिश्रित प्रक्रिया के द्वारा पहाड़ी चित्रकारों ने अवतार लीलाओं के चित्रों में अभिनव रमणीयता और सजीवता का संचार किया है। ऐसा कोई रस या भाव नहीं है, जिसका पूर्ण एवं सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों। विचारकों की दृष्टि में उनका आलेखन 'वज्रादपि कठोर' अथवा 'कुसुमादपि मृदु' होता है।[2] उनकी समानुभूति में व्यापकता और गम्भीरता है, जिसके फलस्वरूप उनके प्रत्येक रेखांकन में प्राणों के स्पन्दन और प्रवाह बने रहते हैं। उनकी लघु-तम रेखाएँ भी अर्थवत्ता से पूर्ण रहती हैं। मध्ययुगीन भक्तों के लिए विष्णु के आठवें अवतार कृष्ण की लीलाएँ केवल ऐतिहासिक लीला मात्र नहीं हैं; अपितु भक्तों के हृदय में चलने वाली शाश्वत अवतार लीलाएँ हैं। वैष्णवों के लिए यह सृष्टि कोई भ्रामक या मायात्मक कल्पना नहीं है—अपितु उसकी आविर्भूत लीलास्थली है; जहाँ स्वयं ब्रह्म मनुष्य के समक्ष लीला करता है। इसी से भक्ति में अवतरित ब्रह्म केवल प्रतीकोपास्य न होकर समस्त कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त, भक्त के उन्नयनीकृत संवेगों का मूल आधार परम या अनन्य रमणीय उपास्य है। राधा-कृष्ण की लीला (१७ वीं से १९ वीं तक) पहाड़ी शैली के कलाकारों के लिए मुख्य प्रेरणा-स्रोत रही है। यदि यह कहा जाय कि पहाड़ी शैली के भव्यतम नमूनों में वैष्णव अवतार-लीलाओं की सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई तो कोई अधिक अनुचित नहीं होगा। यद्यपि पहाड़ी चित्रकारों ने वृन्दावन और गोकुल के जंगलों को अपने ढंग से सँवारा है। फलतः इनमें मथुरा प्रदेश से अधिक काँगड़ा उपत्यका की आत्मा अभि-व्यंजित हुई है। यही नहीं यहाँ के पर्वत, नदियाँ, निर्झर, वृक्ष, लताएँ तथा राधा इत्यादि गोपियाँ काँगड़ा घाटी की अधिक प्रतीत होती हैं। इस प्रकार

---

१. भा. चि. फलक १३। २. भा. चि. पृ. १६५।

स्थानीय वातावरण की आत्मीयता में वृंदावन और वहाँ की सारी लीलाओं का पहाड़ीकरण इस शैली की अपनी विशेषता है। पहाड़ी शैली में ही बसोली कलम भी बहुत प्रसिद्ध रही है। 'ललित कला एकेडमी' द्वारा संकलित चित्रों में कृष्णलीला से सम्बद्ध 'शिशु की अदला-बदली, माखन चोर, वृन्दावन में कृष्ण की लीला, कलियदमन, गिरि गोवरधन, चीरहरण, दावानल आचमन, यमुना किनारे राधा-कृष्ण मिलन, लीला हाव (राधा-कृष्ण द्वारा परस्पर वस्त्र परिवर्तन, रास-मंडल, कृष्ण और गोपियों की जलक्रीड़ा[1]—जैसे लीलात्मक चित्र रूपांकित हुए हैं। इस प्रकार पहाड़ी चित्र शैली में भी राजपूत कलम की भाँति राधा और कृष्ण ही नायिका और नायक के रूप में गृहीत हुए। रीतिकालीन कविता की तरह मध्यकालीन चित्रकला में भी कलाकार का ऐन्द्रिक प्रेम आध्यात्मिकता का बाना पहन कर चित्रकला में साकार हुआ। पौराणिक परम्परा से राधा और कृष्ण जीवात्मा और ब्रह्म के प्रतीक-रूप में प्रचलित आ रहे थे, जिसके फलस्वरूप उनकी समस्त ऐन्द्रिक चेष्टाओं और क्रीड़ाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ गया था। इसी से पहाड़ी चित्रकला में भी अवतारवादी दर्शन की समस्त प्रवृत्तियाँ, ब्रह्म और आत्मा की प्रेमोत्कंठा और प्रेम संयोग के रूप में चलती रही हैं।

मध्यकालीन भक्त सहृदय अवतारवादी नायक-नायिकाओं की मूर्तियों और कथाओं से ही अभिभूत नहीं होते थे, प्रत्युत वृन्दावन, अयोध्या; मथुरा, द्वारका जैसे तीर्थस्थलों और अपने इष्टदेव के मन्दिरों से भी प्रेम करते थे, जिसमें उनकी वास्तुकलाजनित प्रेमानुभूति के दर्शन होते हैं। ऐसा लगता है कि उपास्य से सम्बद्ध होना जितना उनके प्रियत्व का कारण था, उतना उन मन्दिरों की कलात्मक सृष्टि नहीं। वैसे ही राग-रागिनियों के सम्मूर्तित चित्रों में गीतगोविन्द, रसिकप्रिया, नायिका-भेद तथा भक्त कवियों के भावाभिभूत पद्यों के उद्धरण काव्य, मूर्ति, चित्र, संगीत सभी को रसानुभूति की एक मनोभूमि प्रतिष्ठित करने में समर्थ थे। क्योंकि पद्य और उनके चित्र एक दूसरे के भावों को व्यंजित ही नहीं बिम्बित भी करते रहे हैं। दोहा, कवित्त, छप्पय, चौपाई और सवैया में इन चित्रों की अभिव्यक्ति की जाती थी। राधा और कृष्ण की इस चित्रात्मक प्रेमाभक्ति में अपूर्व, नैसर्गिक एवं मानवोचित प्रेम की झलक मिलती है। राधा और कृष्ण मात्र गोपी और गोप रूपमें सामान्य लोक समुदाय का प्रतिनिधित्व तो करते हैं, साथ ही उनकी प्रेम-स्थली भी कोई राजभवन न होकर प्रकृति की समस्त छवि और विभूतियों से सम्पन्न वे

१. कृ. लि. प. पें. फलक १ से १२ तक।

वन और गाँव हैं, जो वर्षा, वसन्त, शरद, ग्रीष्म, आदि ऋतुओं के अनुरूप इनकी प्रेमानुभूति को उद्दीप्त करते हैं। वृन्दावन कुञ्ज, कदम्ब वृक्ष, तमाल वृक्ष, जमुनातट आदि राधा-कृष्ण एवं गोप-गोपियों के प्रेम को अधिक प्राकृतिक बना कर एक अपूर्व भारतीय स्वाभाविकता प्रदान करते हैं। वस्तुतः भक्ति से अनुप्राणित होते हुए भी राधा-कृष्ण का प्रेम भारतीय जीवन-दर्शन के ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों की स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए उस मार्मिक रमणीय औदात्य का परिचय देता है, जो भारतीय जन-जीवन में घुल-मिल कर अभिन्न-सा हो गया है। इस प्रकार पहाड़ी शैली, राजपूत शैली तथा रागमालाओं में चित्रित राधा-कृष्ण और शिव-पार्वती जन-जीवन के ही दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से राधा-कृष्ण का सम्बन्ध ग्राम्य-जीवन और प्रवृत्तिमूलक प्रेम से है, तो शिव पार्वती का निवृत्तिमूलक एवं तपस्यात्मक पार्वतीय प्रेम से। अतः अवतारवादी चित्र-कला में यदि एक ओर परात्पर आदर्शवाद (Transendental Idealism|) का दर्शन होता है तो दूसरी ओर भारतीय ग्रामीण संस्कृति में पल्लवित लोक-जीवन का आदर्श प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँच चुका है।

मूर्तिकला

भारतीय धर्म-साधना में साहित्य एवं कला दोनों अभिन्न अंग रहे हैं। यदि भारतीय साधकों का चरम लक्ष्य मोक्ष रहा है, तो भारतीय कलाएँ भी मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानी जाती रही हैं। वास्तु कला के माध्यम से भारतीय कला—विशेषकर देवमन्दिर उस चरम उपास्य की ओर उन्मुख करता है, जिसका प्रतीक अर्चा-विग्रह है। मूर्ति देवता का अर्चावतार है और मन्दिर उसका शरीर या निवास स्थान। यह मूर्ति-मन्दिर का सम्बन्ध-भाव भारतीय यौगिक या आत्मोपासना में भी प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। प्राचीन साधक 'अंगुष्ठमात्र' आत्मा को देवता और शरीर को देवालय मानते रहे हैं।[1] अवतारवादी धारणा के अनुसार चराचर विश्व भी सनातन भगवान विष्णु का स्वरूप विश्व मूर्ति है।[2] अतएव मूर्ति एवं भित्ति चित्रों में रेखा, अनुपात और रंग आदि के माध्यम से कलाकार का वास्तविक लक्ष्य वस्तुतः ब्रह्म की अभिव्यक्ति रही है। भारतीय मूर्ति-कला की विचित्रता यह है कि मूर्ति तो यथर्थातः कलाकार के हृदय और मन में निवास करती है और वह उसका प्रतीकात्मक रूपान्तर

१. स्कन्दोपनिषद में भी 'देहो देवालयो प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः' की चर्चा हुयी है।
२. ना. पु. पूर्व. भा. अ. ३३।

मात्र करता है।[1] यही कारण है कि मूर्ति से उसका वास्तविक सम्बन्ध क्रियात्मक से अधिक मानसिक रहता है। कैलाशनाथ एलोरा का निर्माण करने के बाद कलाकार स्वयं चिल्ला उठा कि कैसे हमने बनाया है।[2] कला-निर्माण का यह रूप संकेतिक करता है कि कला का अस्तित्व अहं में नहीं बल्कि चेतना के स्तर में है। चेतना का यह रूप 'महत्' के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ विषय और विषयी में कोई भेद नहीं है। विषय-विषयी का सक्रिय तत्व के रूप में कार्य करना ही बुद्धि है। इसकी स्पष्टता न तो राजस से बाधित होती है न तामस से। इसी से (महत् से) अहं की अभिव्यक्ति होती है और पुनः अहं से विश्व साकार होता है।

निश्चय ही कला का उद्भव महत् में होता है और बुद्धि में यह व्यक्त होती है। यथार्थतः रचनात्मक बुद्धि के लिए विश्व विषय नहीं है, बल्कि विषयी विषय है। इस प्रक्रिया में इसकी शक्ति माया है, जिसके द्वारा ब्रह्म व्यक्त होता है। सृजनात्मक दृष्टि से विश्व की रूपरेखा दो प्रकार की दीख पड़ती है—पहली तो यह कि अखिल विश्व दिक्-काल से आवृत्त है और दूसरी वह जिसमें कलाकार नटवत् रूप में विश्व को प्रस्तुत करता है। यह कलाकार का विश्व है जहाँ वह विभिन्न रूपों और रंगों में ब्रह्म की विभूति और सौन्दर्य को प्रदर्शित करता है। इसी सत्ता में कला-वस्तु, मूर्ति, चित्र आदि की कोटि में लक्षित होती है। प्राकृतिक स्वरूपों में वह प्रत्यक्ष विश्व-गोचर है, जिनमें आत्मा और जीव-सत्ता का निवास है। प्रत्यक्ष विश्व यों बाहर से दृष्टिगत तो होता है, किन्तु उसकी आत्मा नहीं। सम्भव है उसकी आत्मा का भाव उसके क्रिया व्यापार हाव, भाव, हेला, मुद्रा इत्यादि से होता हो, किन्तु फिर भी वह अदृश्य ही रहती है।

कलाकार भी जब एक मूर्ति या कलाकृति का निर्माण करता है, तो उसका बाह्य रूप दृष्ट होता है और आत्मरूप अदृष्ट। इसी से कला अन्तः और वाह्य के मध्यन्तर की स्थिति है, विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं के द्वारा वह वाह्य के अतिरिक्त अन्तर की ओर भी संकेत करती है। भारतीय कलाकार खुले विश्व को आँख खोलकर तथा अंतःविश्व को नेत्र मूँद कर देखता है। वह बाह्य दृष्टि से मूर्ति का निर्माण कर उसे स्वाभाविक मानव आकृति या कलात्मक रूप प्रदान करता है, जिसमें एक ओर तो उसकी कलात्मक प्रतिभा का योग रहता है, किन्तु साथ ही वह उसी समय परमात्मा की उपस्थिति का भी भान करता है।

---

१. ट्रा. ने. आ. पृ. २९। २. आ. इन. भ्रू. ए. पृ. १४।

यद्यपि परमात्मा परमात्मा है, परन्तु कला का कार्य उस रूपेतर अरूप को रूप, आकृति और निवास प्रदान करना है, जो मोक्षदाता है, अनुग्रह-कर्त्ता है तथा सभी रूपों का मूल है और जो स्वयं अपने को व्यक्त करता है। इस प्रकार मूर्ति और मन्दिर वे साधन हैं, जिनमें मनुष्य अरूप के विभिन्न रूपों का दर्शन करता है। वह उसकी रूपांकित अनेक भंगिमाओं और मुद्राओं का दर्शन करता है। अतः भारतीय मूर्ति, चित्र आदि कृतियों का देव-नृत्यों तथा नाट्यों से भी घनिष्ट सम्बन्ध है, जो प्रायः अनेक युगों में प्रचलित रहा है। क्योंकि भारतीय धर्म और दर्शन में पुरुष और प्रकृति तथा देव और देवी इस लोक में अवतरित होकर जितनी भी लीलाएँ करते हैं—वे सम्पूर्ण लीलाएँ नटवत् होती हैं। सम्भवतः इसी से उनका निर्माण किसी-न-किसी नृत्य या सामूहिक नृत्य-नाट्य तथा अभिनय की मुद्रा में होता है।

भारतीय कलाकार भी मूर्ति के निर्माण में 'प्राण' तत्व अथवा सजीवता को आवश्यक मानता है। इसी से मनुष्य के पंचभौतिक स्थूल और सूक्ष्म शरीर के सदृश, भारतीय मूर्ति के भी दो शरीर (प्रस्तर और प्राण) होते हैं, जिनका व्याकरण कलाकार को करना पड़ता है। प्राण शरीर की विशेषतायें हाव, भाव, हेला, अभिनय और मुद्रा के द्वारा व्यक्त होती है।[1] मूर्ति का स्पर्श उपासक में ईश्वर की उपस्थिति का भान कराता है। इसी से उपासक आपादमस्तक तथा हाथ, अंगुलियों आदि का स्पर्श उपास्य इष्टदेव की उपस्थिति का भान करते हुए करता है। मूर्ति-निर्माण की यह प्रतीकात्मक परम्परा अनेक युगों से कलाकारों के द्वारा वंशानुगत रूप में चलती रही है। अतः वंशानुरूप प्रचलित सिद्धान्तों का ही प्रयोग वे ब्रह्म को साकार निर्मित करने में करते हैं। कलाकर जब कोई प्रस्तर, धातु या काष्ठ-मूर्ति बनाता है, तो वस्तुतः वह मूर्ति नहीं बनाता, अपितु उसमें छिपे हुए रूप को प्रत्यक्ष रूप प्रदान करता है, अर्थात् अरूप में से रूप व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अरूप में छिपे हुए रूप को वह व्यक्त करता है। यह धारणा ब्रह्म पर भी आरोपित की जा सकती है कि ब्रह्म-मूर्ति सर्वदा आत्म-स्वरूप में स्थित है, किन्तु माया के आवरण में होने के कारण वह अदृश्य है। यदि कलाकार के रूप में वह स्वयं अपनी मूर्ति का निर्माण करता है, तो उसमें उसकी योग्यता, दक्षता और उसका स्वरूप दोनों है। वह स्रष्टा के समान एक कलाकार तथा अपनी मूर्ति स्वयं व्यक्त करने वाला है।

जो हो कलाकार की कलाकृति सदैव ही एक मानसिक मूर्ति है मानस-

---

१. आ. इन. अ्. ए. पृ. २७।

चक्षु उसका दर्पण मात्र है। शिल्पी, कारक और कवियों में शिल्पी विश्रब्ध और कुशल कहे गए हैं।[1] शिल्पी के लिए प्रत्येक कवि के निमित्त वस्तु, कार्य, कृतार्थ, अनुकार्य और आलिखितव्य आवश्यक है।[2]

अवतारपरक मूर्ति-कला में सौन्दर्य और उपासना दोनों साथ-साथ लगे रहते हैं। इसी से देवमूर्ति का निर्माण ही 'शुक्रनीति' में हितकर माना गया है। मूर्ति का रम्य होना, मान के अनुसार होना और देवों के लक्षण से युक्त होना आवश्यक समझा जाता है[3] भारतीय मूर्ति-कला के सैद्धान्तिक अध्ययन में दृष्टिकोण सम्बन्धी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसे पाश्चात्य विद्वान् पश्चिमी अद्यतन कला की तरह अनुकृतिमूलक समझ कर किया करते हैं। जबकि प्राच्य कला किसी भी दशा में प्रकृति का अनुकरण नहीं करती। अपितु उसका मूल उद्देश्य है व्यंजना, चयन, बल, स्वरूप तथा विषय का नहीं अपितु विषयी तथ्य का उपस्थापन।[4] भारतीय कला में बुद्ध, अवलोकितेश्वर, विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, आदि के सात्विक रूपों से तात्पर्य है—उपास्य इष्टदेव में निकट की मूर्ति, जहाँ तक कला की सीमा है। यह वह धार्मिक कला है जिसका लक्ष्य है दिव्य चरित्र के पूर्णत्व की स्थापना; इससे भारतीय कला में वैयक्तिक अभिव्यंजना की सम्भावना ही नहीं रहतीं, क्योंकि सर्वदा इसका मूल लक्ष्य मानवेतर या दिव्य संवेदना उत्पन्न करने वाली प्रतीक-मूर्ति तैयार करना है। यही कारण है कि दैवी आदर्श अनेक विचित्र चित्रों और मूर्तियों का मूल कारण रहा है। अतएव भारतीय मूर्ति-कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता उसकी धार्मिक प्रवृत्ति है, जो उसके विकास में मूलस्रोत का कार्य करती रही है। यों आकर्षण की दृष्टि से भारतीय मूर्तिकला कहीं अनाकर्षक और अव्यापक भी दीख पड़ती है। इसका मूल कारण उसकी प्रतीकात्मकता है। सदैव उसका ध्यान वस्तु जगत् से हटकर किसी जागतिक, सनातन और अनन्त सत्ता की ओर लगा रहता है। वह पृथ्वी से इतर सौन्दर्य को मूर्तरूप देने में प्रयत्नशील रही है।

भारतीय मूर्ति-कला की भावभूमि प्रतीकों के माध्यम से विकसित भाव-बोध पर स्थिर रही है। ईसा की दूसरी शताब्दि के बाद प्रतीकों का विकास अर्द्ध या पूर्ण प्रतीकों से मूर्ति के रूप में हुआ इस विकास-क्रम को भी अवतार-वादी कला का वैशिष्ट्य मान सकते हैं; क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ जो प्रतीकों के द्वारा स्थानान्तरित हुयी हैं—उस मूर्ति में ही उसके समस्त प्रतीक चिह्नों को

---

१. ट्रा. ने. आ. पृ. ९९। २. ट्रा. ने. आ. पृ. १००।
३. ट्रा. ने. आ. पृ. ११४। ४. आ. स्व. पृ. ६७।

संजोना अवतारवादी कला की विशेषता रही है। रमणीयता और उपासना दोनों का अपूर्व साहचर्य इस कला में सन्निहित रहा है। इस दृष्टि से भारतीय मूर्तिकला अनिवार्यतः आदर्शवादी, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और सर्वातिशयी है। कलाकार पुरोहित और कवि दोनों है। भारतीय मूर्तियाँ हमारी कल्पना को इस प्रकार उत्प्रेरित करती हैं जिसके फलस्वरूप उपासक अध्यात्म और भावना के एक विचित्र संसार में पहुँच जाता है।

भारतीय मूर्ति-कला का क्षेत्र बहुत विशाल है। यदि एक ओर वह योगियों के हृदय में आत्ममूर्ति है तो दूसरी ओर समस्त हिमालय भी एक दैवी मूर्त सौन्दर्य की व्यंजना करता है। हिमालय भारतीय देवों का वह निवास है जहाँ से वे पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। गंगा अपनी सप्त धाराओं द्वारा हिमालय का हृदय-भेदन करती है। मानसरोवर भी चार नदियों का काल्पनिक मूल समझा जाता रहा है।

यों तो यूरोपीय कला में भी नदियों और पर्वतों का दैवीकरण हुआ है, किन्तु भारतीय कला से उसका विशिष्ट वैषम्य यह है कि प्रकृति यहाँ केवल सौन्दर्याभिव्यक्ति का प्रतीक मात्र नहीं है, अपितु भारतीय प्रकृति का भौतिक स्वरूप स्वतः आध्यात्मिक अर्थवत्ता से संपुटित है। भारतीय कलाकार प्रायः शताब्दियों से सामान्य जन के लिए 'योगीध्यानगम्य' देवरूप का रूपांकन करते रहे हैं। ऐसे तो योग-दृष्टि भी ब्रह्म-दर्शन में सक्षम नहीं है, इसी से वैदिक क्रियाओं में प्रचलित यंत्रादि, मूर्तियों की अपेक्षा अधिक प्रचलित रहे हैं। भारतीय मूर्तिकला का विकास भी वर्तमान घनवाद की तरह गणित और सौन्दर्य के मिश्रण से हुआ है। यंत्रों में प्रायः देवता के अप्रत्यक्ष रूप को एक बिन्दु से गणित शैली में विकसित किया जाता रहा है। इस प्रकार बिन्दु से विभु का और पिंड से ब्रह्माण्ड की कल्पना का कलात्मक विकास 'विराट रूप' में प्रायः भारतीय पुराणकारों द्वारा वर्णित होता रहा है। दक्षिणी वैष्णव मंदिरों में जिस सुदर्शन चक्र की पूजा होती है—वह भी स्रष्टा के मन का प्रतीक है, या वह स्रष्टा की प्रथम इच्छा को व्यक्त करता है, जहाँ सृष्टि की प्रथम इच्छा होने पर वह स्वयं अपने को व्यक्त करता है। पुनः वह अग्नि चक्र के रूप में चित्रित किया गया है, जिसके चार स्थानों में ज्वालाएं अंकित हैं। चक्र के एक मुख पर विष्णु का नृसिंहावतार समत्रिभुज में आवृत होकर योगी रूप में अंकित है।[1] दूसरे मुख पर दो एक समान त्रिभुज हैं। एक शीर्ष बिन्दु पर स्थित है और दूसरा आधार पर। वे दोनों

१. इन. एस पें. पृ. २४ और प्लेट ७।

ब्रह्मशक्तियों के उद्भव और संहार रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके बीच विष्णु की प्रतिमा वराहावतार के उस रूप के साथ खड़ी है, जिसमें वे जल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठा रहे हैं। वे उन समस्त आयुधों से युक्त हैं जो समस्त बुराई की जड़ अविद्या का नाश करते हैं।[1] इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला में आचार और सौन्दर्य, रमणीयता और उपासना का समन्वय हो गया है। सांख्य के प्रकृति और पुरुष मन और वस्तु के प्रतीक होकर कलाकार की कल्पना के अनुसार जागतिक सौन्दर्य का विधान करते रहे हैं। स्त्री-रूप में जिन देवियों का चित्र मूर्तिकला में स्थापित हुआ है, अधिकतर उसमें मातृभाव की प्रधानता रही है। आदिबुद्ध की शक्ति 'प्रज्ञापारमिता' भी मातृशक्ति के रूप में ही अङ्कित हुई है।[2]

भारतीय पौराणिक साहित्य में स्रष्टा और सृष्टि के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय रहा है—देवासुर संग्राम। यह एक प्रमुख अवतारवादी प्रयोजन भी रहा है। इस प्रयोजन से इन्द्र, विष्णु, शिव और शक्ति प्रायः सभी देव-देवियाँ सम्बद्ध रहे हैं। समय-समय पर देवता या देवी किसी-न-किसी असुर का वध करते रहे हैं। असुरों का वध करने के लिए वे विभिन्न कालों में अवतरित भी होते रहे हैं। भारतीय मूर्तियों या भित्तिचित्रों में हम प्रायः उनको किसी-न-किसी असुर का वध करते हुए देखते हैं। देवियों में दुर्गा की मूर्तियाँ प्रायः अवतरित रूपों में ही अंकित मिलती हैं। मूर्तियों में दुर्गा का अवतार भक्तों के समक्ष पूर्णरूप में माना जाता है। वे दानवों पर अपना शाश्वत प्रभाव प्रदर्शित करती हैं।[3] अपने विख्यात नटराज रूप में ताण्डव मूर्ति शिव भी वामनासुर को पदमर्दित करते हुए दीख पड़ते हैं।[4] विष्णु भी नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु का वध करते हुए प्रायः इस शैली में अंकित किये गए हैं।[5] दुर्गा महिषासुर मर्दिनी के रूप में—दुर्गा-मूर्ति अधिक लोक-प्रिय रही है।[6] बौद्धावतारों में मंजुवश्री हाथ में ज्ञान-खड्ग लिए हुए अज्ञान का नाश करने के निमित्त प्रायः अंकित किये जाते रहे हैं।[7] दिव्य बुद्ध शाक्य मुनि के रूप में अवतरित हुए थे, जिनकी जातक कथाओं तथा अन्य विभिन्न रूपों का अनेकानेक मूर्तियों में अंकन हुआ।[8] इस दृष्टि से हेवेल का यह कथन बहुत उचित है कि 'अवतारवाद के सिद्धान्त और पौराणिक रूप समस्त भारतीय धार्मिक उपदेश के मूल में निहित हैं। इन्होंने उन पौराणिक

---

१. इन. एस. पें. पृ. २४ और प्लेट ७।
२. इन. एस. पें. पृ. ३३।
३. आ. इन. एस. मिथ. ट्रा. पृ. ९२।
४. इन. एस. पें. प्लेट २५।
५. इन. एस. पें. पृ. ३६ प्लेट २८।
६. इन. एस. पें. प्लेट २०।
७. इन. एस. पें. प्लेट १८।
८. इन. एस. पें. पृ. ३९।

भावनाओं को सर्वाधिक लोकप्रियता प्रदान की, जो मंदिरों के भित्ति-चित्रों और चित्रों में व्यक्त हुए हैं।[1]

हिन्दू धारणाओं के अनुसार भारतीय कलाकार के लिए देवता की ही ध्यान-मूर्ति का निर्माण सर्वाधिक अपेक्षित है। 'शुक्र नीति' के अनुसार सुन्दर मनुष्य की अपेक्षा भगवान् की करूप मूर्ति का निर्माण भी कहीं अच्छा है। पूर्व मध्य काल में मनुष्य-शरीर मायिक समझा जाता था, फलतः उसकी मूर्ति का निर्माण भी मायिक माना जाता था, जिसे उस काल के हिन्दू अशुभ और अपवित्र मानने लगे थे। भारतवर्ष में इसी से बड़े-बड़े शक्ति शाली राजाओं की मूर्तियाँ भी कम दृष्टिगत होती हैं। पाश्चात्य दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन भारतीय मानवता का चरम आदर्श 'मानव' में नहीं अपितु देवता या ब्रह्म में निहित था। ऐसे तो प्राचीन ऋषियों ने अनेक मानवीय-भावों को रूपकात्मक ढंग से भी व्यक्त किया था और उन्हीं भावों को लेकर कलाकार स्वाभाविक मानव, पशु या पशु-मानव की आकृतियों का अंकन करते थे। रक्षक भगवान् को शक्तिशाली वृषभस्कन्ध के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। उनकी अन्य भंगिमाओं में कतिपय अवतार-गुण भी प्रतिभासित होते थे। भारतीय मूर्तिकला में देव और दानव विशिष्ट रूपों में प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। भारतीय कलाकार प्रायः उनका रूपांकन उनके प्रतीकों, आयुधों और शस्त्रों के साथ किया करते थे।[2] उनके इन रूपों में अवतारवादी शक्ति का ही आभास मिलता है। चित्रों के सदृश मूर्तियों में भी नृत्य-मुद्राओं का विशेष प्रचार था। नृत्य में रत शिव और कृष्ण बहुत लोकप्रिय थे। भारतीय शिल्पकार प्रायः उन्हें समभंग या समपद, अभंग, त्रिभंग या अतिभंग दशाओं में चित्रित किया करते थे।[3]

वैष्णव पुराणों में विष्णु के मूर्त रूपों की व्यापकता का दर्शन होता है। 'विष्णु पुराण' के अनुसार निराकार और सर्वेश्वर विष्णु भूतस्वरूप होकर देव, मनुष्य, पशु आदि नाना रूपों में स्थित हैं।[4] इस लोक में अथवा और कहीं भी जितने मूर्तरूप और अमूर्त पदार्थ हैं वे सब उनके शरीर हैं।[5] उपनिषदों की परम्परा में विष्णु मूर्त और अमूर्त, अपर और पर ब्रह्म के दो रूप माने गए हैं। क्योंकि ब्रह्म ही चिन्तन का एकमात्र आश्रय है। ब्रह्म की ब्रह्म-भावना, कर्म-भावना और उभय-भावना ये तीन प्रकार की भावनायें हैं। विष्णु का परम रूप अरूप है, किन्तु चिन्तन-भावना त्रयात्मक मूर्त रूप में ही सम्भव है।

---

१. इन. एस. पें. पृ. ३९।　२. इन. मेट. स्क. पृ. १३।
३. इन. मेट. स्क. पृ. १४।　४. वि. पु. १।
५. वि. पु. १, ८६।

यह सम्पूर्ण चराचर जगत्, परब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु का, उनकी शक्ति से सम्पन्न विश्व रूप है और उनका मूर्त चतुर्भुज रूप कलात्मक रूप है।[1] 'नारद पुराण' में पूजा के विभिन्न विष्णु की—ब्राह्मण, भूमि, अग्नि, सूर्य, जल, धातु, हृदय तथा चित्रनामावली ये आठ प्रतिमाएँ कही गई हैं।[2] 'पद्म पुराण' में विष्णु के 'शालग्राम' रूप की व्यापकता बतलाते हुए कहा गया है कि 'शालग्राम' केवल विष्णु के ही नहीं अपितु विष्णु के समस्त रूपों के साथ उनके दशावतारों के भी पूज्य रूप माने गए हैं।[3] इस प्रकार पौराणिक युग में विष्णु की अनेक प्रतिमाओं और प्रतीक-विग्रहों के प्रचार का पता चलता है। जिनमें विष्णु की अवतार-मूर्तियाँ भी रही हैं। गुणात्मक पद्धति के अनुसार विष्णु की सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की मूर्तियाँ मानी गयी हैं।[4] इनमें रजोगुणी और तमोगुणी प्रतिमाएँ प्रायः भक्त अनुग्रह और दुष्ट-दमन जैसे अवतार-कार्यों से सम्बद्ध हैं।

भारतीय मूर्ति-कला के विकास में अवतारवादी प्रवृत्तियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अवतारवाद ने परब्रह्म को केवल मनुष्यवत् ही नहीं अपितु एक ऐसे सांस्कृतिक मानव-रूप में प्रस्तुत किया, जो राष्ट्र की मूर्तिमान् चेतना का साक्षात् प्रतीक था।[5] राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए जो जीवनभर संघर्ष करता रहा। साम्प्रदायिक दृष्टि से अवतारवादी मूर्तियाँ नित्य उपास्य परब्रह्म-मूर्ति, अवतार-मूर्ति, विभूति-मूर्ति और पार्षद तथा आयुध-मूर्ति के रूप में विभाजित की जा सकती हैं। नित्य या परब्रह्म की मूर्तियों में विष्णु, नारायण और वासुदेव की मूर्तियाँ आती हैं; अवतारों में दशावतार चौबीस अवतार और ३९ विभावों की मूर्तियाँ गृहीत हुई हैं। विभूतियों में विभिन्न प्राकृतिक और साम्प्रदायिक देवों के अतिरिक्त पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी इत्यादि गृहीत होते रहे हैं। अवतारवाद ऋषभ, बुद्ध जैसे सांस्कृतिक महापुरुषों को तथा विभूतिवाद के द्वारा समस्त वैदिक बहुदेव-वाद और स्थानीय जनदेववाद को आत्मसात् कर लेता है। पाँचरात्रों का प्रख्यात विभाजन पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी अवतारवादी मूर्तिकला की व्यापकता को प्रदर्शित करता है। इस विभाजन में 'पर' के रूप में एक ओर सर्वशक्तिमान् अक्षर, अनन्त ब्रह्म उपस्थित है तो दूसरी ओर चार व्यूहों में विभक्त समस्त-सृष्टि-कार्य दीख पड़ता है। विभव में विभूति और अवतार दोनों सम्मिलित हैं तो अर्चा में शालग्राम से लेकर वे

१. वि. पु. ६, ७, ४७–८३।
२. ना. पु. पूर्व. भा. ३३ अध्याय।
३. पद्म. पु. पाताल खं. ५८ अध्याय।
४. द्रा. ने. आ. पृ. ११४।
५. प्रति. वि. २१८ ऋ. सं. में देवों को 'दिवोनरः', 'नृपेश' कहा गया है।

समस्त मूर्तियाँ, जिन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपना ऐतिहासिक स्थान बना लिया है। 'अन्तर्यामी' मूर्तिकला की दृष्टि से वह आत्मनिष्ठ मनोमूर्ति है जिसे भारतीय साधना में 'अंगुष्ठमात्र 'हृदय-सन्निविष्ट' या 'चिन्मय' उपास्य कहा जाता है। ऐसा लगता है कि 'पर' से लेकर अन्तर्यामी तक के समस्त रूप मूर्तिकला की दृष्टि से विभाजित हैं। ऐसे तो ब्रह्म निर्गुण निराकार हैं, किन्तु मानव रूप धारण करने पर ही वे उपास्य देवता होते हैं। देवमूर्तियों को केवल मानवीय वस्त्राभूषण ही नहीं पहनाये जाते, बल्कि उन्हें मनुष्य सदृश राग-द्वेष से भी युक्त दिखाया जाता है। खास कर अवतारों की 'नटवत्' मानवीय लीलाओं में राग-द्वेषयुक्त चारित्रिक विशेषताएं पूर्णरूप से अभिव्यक्त होती रही हैं। गुणात्मक आधार पर वर्गीकरण करने पर भारतीय कला-मूर्तियाँ सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की मानी जाती हैं। भक्तों और योगियों के द्वारा उपास्य मूर्तियों को सात्विक कहा जाता है। किन्तु अवतार-मूर्तियों के अवतार-कार्यों में ये तीनों गुण समाहित हो जाते हैं। जैसे—जहाँ अवतार अनुग्रह करते हैं, वहाँ उनके सात्विक रूप का साक्षात्कार होता है; जहाँ वे शस्त्र के साथ उद्धार-कार्य में संलग्न हैं, वहाँ राजसिक मूर्ति व्यक्त होती है, और जिस समय वे शत्रु-दमन में निरत हैं, उस काल में उग्र तामसिक मूर्ति के दर्शन होते हैं।[1] अवतार-विग्रह में प्रकट उपास्य भी सदैव तरुण किशोर अवस्था में अंकित किया जाता है। भारतीय विचारधारा में यह समझा जाता है कि ईश्वर स्वयं भक्त की मनोकामना के अनुरूप मूर्ति धारण करता है और उसकी इच्छा-पूर्ति करता है।[2]

अवतारवादी मूर्तियों का अन्य धर्मों एवं साम्प्रदायिक मूर्तियों की तरह, समस्त भारतवर्ष में पर्याप्त प्रचार रहा है। गुप्तकाल अवतार-मूर्तियों के निर्माण का स्वर्णयुग रहा है। स्वयं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्त मन्दिरों के बाहर पृथ्वी का उद्धार करते हुए नृ-वराह का निर्माण कराया था, जिसमें भगवान् वराह ने तमक कर पाताल-मग्ना पृथ्वी को सहसा बिना किसी प्रयत्नके अपने दाढ़ों पर फूल की तरह उठा लिया है।[3] उस युग की काशी में मिली हुई एक कृष्ण-मूर्ति में भी कृष्ण के उदात्त और ओजस्वी रूप का अंकन हुआ है। श्रीकृष्ण गोवरधन पर्वत को सहज में 'कंदुक इव' धारण किए, तने हुए दृढ़ता से खड़े हैं।[4]

बुन्देलखंड में वेत्रवती नदी के किनारे देवगढ़ में गुप्तकलाकृति का अनुपम नमूना दशावतार मंदिर है। इस मंदिर में अवतारवादी वास्तु और

१. ट्रा. ने. आ. पृ. ११४। २. ट्रा. ने. आ. पृ. १६०।
३. भा. मू. क. पृ. ११३। ४. भा. मू. क. पृ. ११६।

मूर्तिकला का प्रबन्धात्मक रूप मिलता है। वास्तुकला के प्रसंग में हम पुनः इसकी चर्चा करेंगे। इस मंदिर के अनुसार वैष्णव मूर्तिकला के तीन प्रकार दीख पड़ते हैं! अवतार-धारण करने वाले शेषशायी विष्णु एवं उनके उद्धार-कार्यों और लीलाओं तथा उनके पार्षदों की मूर्तियाँ मिलती हैं। दशावतार मंदिर के द्वार, तोरण, पार्श्व-स्तम्भ और बाहरी प्राचीर की तरफ तीन शिला-पट्टों पर अद्भुत मूर्तियाँ अंकित हैं। द्वार के शीर्ष पर विष्णु की मूर्ति, पार्श्वस्तम्भों पर प्रतिहारी मूर्तियाँ और प्रमथ तथा शिलापट्टों पर शेषशायी विष्णु-चरण-चापती हुई लक्ष्मी, नाभि-कमल पर विराजमान ब्रह्मा, पास ही खड़े शिव अंकित हैं। अवतार-लीला मूर्तियों में गजेन्द्र-मोक्ष, नर-नारायण की तपश्चर्या, और अहल्योद्धार आदि चित्रित किये गए हैं।[1] आठवीं शताब्दि के विरूपाक्ष मंदिर की उत्तरी दीवाल पर कपिल, विष्णु, वराह आदि की मूर्तियाँ शैव-मूर्तियों के साथ-साथ अंकित की गई हैं।[2] विरूपाक्षमंदिर में एक स्थल पर हंसावतार का भी दृश्य चित्रित हुआ है।[3] इसी युग के मल्लिकार्जुन मंदिर में शिवावतार भैरव नृत्य की मुद्रा में अंकित हैं। शिव के साथ-साथ दुर्गा के अवतार-रूपों का भी तत्कालीन मूर्तिकला में प्रचार रहा है। महाबलिपुरम् (सातवीं शती) के मंदिर में दुर्गा के महिषासुर वध का चित्र बहुत विस्तार-पूर्वक दिखलाया गया है।[4] दक्षिणी मूर्तिकला में 'कलियदमन नृत्य' की तरह 'कलियदमन मूर्ति' भी बहुत लोकप्रिय रही है। नौवीं शती की एक पीतल-मूर्ति में कृष्ण के नाग-नृत्य की भव्य मुद्रा प्रदर्शित है। उस मुद्रा में कृष्ण (शिव की ताण्डव नृत्यवाली मुद्रा की तरह) दाहिने हाथ से अभय प्रदान कर रहे हैं और बायें हाथ में नाग की पूँछ पकड़े हुए हैं। उनका दाहिना पाँव मुड़कर ऊपर उठा हुआ है और बायाँ फन काढ़े हुए नाग के सिर पर है। इस मूर्ति में फनों के माध्यम से कलिय प्रार्थना करता हुआ दिखाया गया है।[5] ग्यारहवीं शती में प्राप्त मध्यभारत की एक पीतल मूर्ति में वेणु-गोपाल की नृत्य-मुद्रा अंकित हैं।[6]

पूर्वमध्यकाल में कृष्ण की मूर्ति का प्रभाव विष्णु और शिव की मूर्तियों पर भी पड़ने लगा था, क्योंकि कृष्ण की वनमाला का प्रयोग, बाद में विष्णु और शिव दोनों को सजाने में होने लगा था। चंदेलों की मूर्तिकला में इसका स्पष्ट पता चलता है।[7] चंदेलों के कुलदेवता 'मनियादेव' के मंदिर में एक

---

१. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट ४८। २. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट ६६।
३. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट ६७। ४. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट ८६।
५. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट ११०। ६. आ. इन. श्रू. ए. प्लेट १४५।
७. आ. चन्देल. पृ. २६. प्लेट ४२।

तीन सिर वाले विष्णु की मूर्ति मिलती है, जिसके १० हाथ हैं। यद्यपि उनमें से बहुत से हाथ भग्न हो गए हैं, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्तिकार द्वारा तीन सिरों के माध्यम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकता प्रस्तुत की गयी है तथा विष्णु के दस हाथ तत्कालीन युग में लोकप्रिय दशावतार मूर्तियों के अवतार-कार्य का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] अन्य वैष्णव मूर्तियों में बलराम और रेवती, विष्णु और लक्ष्मी चंदेल कला की सुन्दर मूर्तियों में से रही हैं।[2]

चंदेल स्थापत्य कला की एक विशेषता विष्णु की विभिन्न रूपों वाली मूर्तियों में दीख पड़ती है। खजुराहो के चित्रगुप्त मंदिर में ११ सिर वाली विष्णु-मूर्ति तथा तीन सिर और आठ बाहु वाली विष्णु मूर्तियों के दर्शन होते हैं, जिनके सिर पर मुकुट तथा गले में अनेकों रत्नमालाएं हैं।[3] खजुराहो के अन्य भित्ति चित्रों में अपने ढंग की अकेली एक वराह-मूर्ति मिलती है। इस मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मूर्तिकला के माध्यम से वैष्णव अवतारों में प्रचलित विराट रूप बड़े विस्तृत पैमाने पर अंकित किया गया है।[4] वराह के सारे शरीर में अनेकों देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव सहित नाग, गन्धर्व, दिग्पाल, नक्षत्र, इत्यादि सब मिलाकर ६७४ देवों के चित्र हैं। अगले पैरों के मध्य में आदि शेषनाग भी अंकित किए गए हैं। वराह की पीठ पर जितने देवता चित्रित किए गए हैं, उनमें प्रथम वर्ग के देवता वे हैं—जो बैठे हैं, द्वितीय कतार के देव मालाओं की तरह चित्रित हुए हैं, जिनमें देवदूत (मालाधर) कुछ बैठे हैं और कुछ आकाश में उड़ रहे हैं। चौथी कतार में बहुत से विष्णु-दूत हाथ में गदा और घट लिए हुए बैठे हैं।[5]

उपर्युक्त वराह-मूर्ति के विराट रूप से ऐसा लगता है कि पूर्व मध्ययुग में अवतारों की मूर्तियाँ केवल 'नटवत्' उपास्य-रूप में ही अंकित नहीं होतीं थीं अपितु उनके विराट रूपात्मक और अवतार लीलात्मक रूपों को भी विस्तारपूर्वक रूपांकित किया जाता था। तमिल और आंध्रप्रदेश के पाल्लववंशी राजाओं ने कांची, महाबलिपुरम आदि स्थानों में शिव और विष्णु की अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया था, जिनका पाण्ड्य और चोल राजाओं ने और अधिक विस्तार किया। पाल्लववंशी राजाओं द्वारा निर्मित 'वराह मंडप' इस युग की कला का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। इस मंडप में लक्ष्मी और

---

१. आ. चन्देल. पृ. २७। २. आ. चन्देल. पृ. २७ प्लेट ५५।

३. आ. चन्देल. प्लेट ३० तथा पृ. ३५।

४. आ. चन्देल. पृ. ३६, प्लेट ४५, ४६, ४७। ५. आ. चन्देल. पृ. ३६-३७।

दुर्गा आदि देवियों के साथ वामनावतार की भी कथा अंकित है, जिसमें प्रलय से वे पृथ्वी की रक्षा करते हैं।[1] वराहावतार का वह दृश्य अंकित है, जिसमें वराह दोनों हाथों में पृथ्वी को थामे हुए हैं और उसकी ओर बड़े प्रेम से देख रहे हैं। उनके चरणों के नीचे वासुकी नाग पड़े हुए हैं, जो बाद में पृथ्वी का भार वहन करने वाले हैं। शिव के साथ अनेक देवता भी वहाँ उपस्थित हैं।[2] त्रिमूर्ति गुफा में त्रिविक्रम का एक दृश्य अंकित हुआ है। इसमें त्रिविक्रम आठ हाथ वाले हैं और सभी हाथों में धनुष, ढाल, शंख, तलवार, गदा, चक्र लिए हुए हैं तथा ऊपर वाले हाथ से स्वर्ग को रोके हुए हैं।[3] वैष्णव अवतारों के अतिरिक्त नृत्य की मुद्रा में दस हाथ वाले शिव का भी भित्तिचित्र प्रस्तुत किया गया है। पार्वती नृत्य की ही मुद्रा में उनके पास खड़ी हैं।[4] इस प्रकार पाल्लव वास्तुकला में शिव-लीला तथा गंगावतरण आदि भी प्रधान विषय रहे हैं।[5] महिषासुर मंडप में दुर्गा महिषासुर का मर्दन करती हैं और दूसरी ओर अनन्तशायी विष्णु का चित्र भी अंकित है।[6] कृष्ण मंडप वैष्णव पाल्लव कला का प्रतिनिधि नमूना है। इसमें कृष्णावतार के दो दृश्य गो-दोहन और गिरि गोवरधन अंकित किए गए हैं। गो-दोहन के समय राधा कृष्ण के साथ खड़ी हैं।[7] इस प्रकार पाल्लव कलाकारों में दैवी प्रतिमाओं के अंकन की अत्यन्त उत्कृष्ट रूपरेखा मिलती है। वराहावतार का विराट रूप इस शैली की महत्ता का अद्वितीय प्रतीक है। उसके विराट रूप में एक ओर यदि कलात्मक औदात्य है तो दूसरी ओर अवतार-कार्य में भी अत्यन्त ओजस्वी रूप का दर्शन होता है। तत्कालीन राष्ट्रकूटों में भी अवतारवादी मूर्तियों का पर्याप्त विस्तार हुआ। कहा जाता है कि उनकी कुलदेवी 'मनसा' ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिए 'श्येन' का अवतार ग्रहण किया था।[7] राष्ट्रकूटों से पूर्व के चालुक्य नरेश परम वैष्णवों में से थे। चालुक्यों द्वारा निर्मित 'बादामी गुफा' वैष्णव या अवतारवादी शिल्प का अद्वितीय नमूना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रकूटों का दशावतार मंदिर भी अवतारवादी शिल्पकला का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करता है। दोनों मंजिल के इस मंदिर में शिव और विष्णु के विभिन्न अवतरित रूपों के भित्तिचित्र हैं। एक ओर तो इसमें शैव रूप भैरव, ताण्डव मुद्रा में शिव, मार्कण्डेय की रक्षा करते हुए शिव, पार्वती, लक्ष्मी और लिंग के भीतर शिव चित्रित किए गए हैं। और दूसरी ओर दक्षिण भाग में विष्णु के विभिन्न रूपों का अंकन हुआ है,

१. आ. पाल. पृ. १७। २. आ. पाल. प्लेट १४। ३. आ. पाल. प्लेट १३।
४. आ. पाल. प्लेट ३९। ५. आ. पाल. प्लेट ७, २३, २४, २५।
६. आ. पाल. प्लेट १९ और २०। ७. आ. पाल. पृ. १७–१८।

जिनमें विष्णु गोवर्धन, विष्णु अनन्तशायी, गरुड़ पर सवार विष्णु, वराहावतार विष्णु, वामन, नृसिंह आदि रूपांकित हुए हैं।[1] उसी प्रकार ऐलोरा के कैलास मंदिर में भी रामायण की बहुत-सी घटनाओं के भित्तिचित्र अंकित हुए हैं। इसके अतिरिक्त कैलास मंदिर में ही नृसिंह-विष्णु, पृथ्वी को उठाए हुए वराह विष्णु, विष्णु शेषशायी तथा रथ चलाते हुए गरुड़ विष्णु भी चित्रित किये गए हैं।[2] दोनों मंदिरों की मूर्तियों में वैष्णव और शैव मूर्तियों का पारस्परिक समन्वय देख कर ऐसा लगता है कि दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों में भी पर्याप्त सहिष्णुता आ गयी थी। मध्ययुगीन साहित्य में जिस प्रकार शिव और विष्णु दोनों की पौराणिक कथाएं साथ-साथ गृहीत हुई हैं, वैसे ही तत्कालीन भित्तिचित्रों में भी दोनों का मिश्रण प्रचलित हो गया था।

विष्णु की अवतार मूर्तियों के अतिरिक्त मध्ययुगमें कृष्ण एवं उनकी अवतार-लीलाओं की मूर्तियों का भी अत्यधिक प्रचार रहा है। गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की (बनारस-सारनाथ संग्रहालय) एक मूर्ति में श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को बड़े सहज ढंग से उठा रक्खा है।[3] पहाड़पुर में भी कृष्ण-लीला सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, राधा-कृष्ण का प्रेमालाप और धेनुकासुर-वध इनमें अधिक सजीव और सुन्दर हैं।[4] मध्ययुगीन जगन्नाथ पुरी के मंदिर में अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें कलिय-दमन लीला, गोवर्धन-धारण, राम-रावण-युद्ध, नृसिंह-लक्ष्मी, गरुड़वाहन, गोपाल, कृष्ण आदि अनेक अवतार लीलात्मक चित्र हैं। हनुमान, जगन्नाथ, राहु, बलराम, सुभद्रा के साथ मंदिर की ताखों पर वामन, वराह, नृसिंह की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। नृत्य मंदिर की छत पर भी मिश्रित रंगों में समुद्र-मंथन, चीर-हरण, शेषशायी-विष्णु और रासलीला के दृश्य अंकित किए गए हैं।[5]

इस प्रकार मध्ययुगीन मूर्तिकला विष्णु, शिव, बुद्ध, दुर्गा आदि की अवतार-लीलात्मक मूर्तियों से पूर्ण रही है। इन मूर्तियों में अनुग्रह और उद्धार की भावना प्रधान रही है। किन्तु भित्तिचित्रों में दुष्ट-दमन, असुर-वध और अन्य अवतार-कार्यों की झाँकियाँ अत्यन्त सजीव रूपों में प्रस्तुत की गयी हैं। चित्रकला की भाँति मूर्तिकला का भी विशेष सम्बन्ध नृत्य और नाट्य अर्थात् लीला से रहा है। यथार्थतः भारतीय मूर्तिकला देवताओं और उनके अवतारों के नृत्य और नाट्य का साकार रूप है। भारतीय मूर्तिकला केवल

१. आ. राष्ट्रकूट पृ. १९–२०।

२. आ. राष्ट्रकूट प्लेट २, ७, १३, १९, ३० और ३२ द्रष्टव्य।

३. भा. मू. क. पृ. ११३। ४. भा. मू. क. पृ. ११६।

५. कला. द. पृ. ३४।

वैयक्तिक अंकन तक ही सीमित नहीं रही है अपितु उसने दशावतार, विराट वराह-रूप, नटराज शिव, कलिय दमन आदि चित्रों में प्रबन्धात्मक विशेषताएँ संयोजित कर दी है। पौराणिक पृष्ठभूमि से पुष्ट ये भित्ति चित्र और प्रतिमाएँ प्रबन्ध काव्यों की तरह अत्यन्त व्यापक उदात्त दृश्यों की संयोजना करती हैं।

वास्तु कला

यों तो भारतीय कलाभिव्यंजना में मूर्तिकला और वास्तुकला प्रायः अभिन्न सी रही हैं। मूर्ति और मंदिर दोनों एक दूसरे के लिए अनिवार्य रहे हैं फिर भी उपास्यवादी दृष्टि से मूर्ति और मंदिर में उतना ही अंतर है जितना विष्णु-मूर्ति और विष्णु-लोक में। इसी से अन्य भारतीय कलाओं के साथ वास्तुकला का भी विशिष्ट स्थान रहा है।

भारतीय वास्तुकला देवकला है, जो मानवों के लिए विश्वकर्मा द्वारा पृथ्वी पर अवतरित की गई थी। देव शिल्पी विश्वकर्मा ने स्वयं मनुष्य रूप धारण कर इस वास्तुशिल्प का निर्माण किया था।[1] इस प्रकार भारत की यह एक सांस्कृतिक विशेषता रही है कि दर्शन, विज्ञान, कला एवं साहित्य सभी आध्यात्मिक चेतना से प्रभावित रहे हैं। मूर्ति, नृत्य, चित्र, नाटय आदि में जो ब्राह्मीकरण की प्रवृत्ति दीख पड़ती है, उसी का हमें वास्तु-ब्रह्मवाद में भी दर्शन होता है। इसका मूल कारण यह है कि अध्यात्म के बिना समस्त जीवन काष्ठवत् शुष्क प्रतीत होता है। अतएव वास्तु के प्रतीक प्रासाद, भवन, मंदिर, पुरी या नगर भी स्रष्टा के आर्विभूत रूप ही समझे जाते रहे हैं।[2] प्रजापति ब्रह्मा सम्भवतः प्रथम वास्तुकार हैं, जिन्होंने अनेकात्मक सृष्टि की रचना की। वास्तु या स्थापत्य की सृष्टि के लिए ब्रह्मा का जो आविर्भूत रूप है उसे ही 'विश्वकर्मा' कहते हैं। विश्वकर्मा समस्त कलाओं का कर्ता और जनक है। वास्तुकला में कोई भी वास्तुकृति बिना वास्तु-पुरुष के पूर्ण नहीं समझी जाती[3]। बल्कि वास्तु-कृति स्रष्टा ब्रह्म के उस विराट शरीर की तरह है, जिसमें समस्त देवता यथास्थान प्रतिष्ठित हैं। वास्तु-पुरुष समस्त पद का स्वामी है, तथा विभिन्न पदों के अधिपति वास्तु-पुरुष के विभिन्न अंगों के अधिपति बन जाते हैं। इस प्रकार भारतीय मनीषा ने केवल विश्व को ही वास्तु-कृति के रूप में नहीं अपितु समस्त 'भारत खण्ड' को एक आराध्य वास्तु-कृति के रूप में ही देखा था। हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक

---

१. ट्रा. ने. आ. पृ. ९। २. वास्तु. शा. पृ. ५७–५८। ३. वास्तु. शा. पृ. ७१।

और लौहित्य से लेकर गन्धार तक व्याप्त यह भारत वर्ष की व्याप्त वास्तु मूर्त्ति थी, जिसका दर्शन समस्त भारतीयों के लिए अभीष्ट था। अन्य कलात्मक उपासनाओं में अराधना दर्शन की प्रधानता रही है, वही पद्धति हम वास्तु कला-स्वरूप पुरियों और तीर्थों की उपासना और दर्शन में पाते हैं। लोग तीर्थ का तात्पर्य ही जलावतार से लेते हैं। यों तो जीवन स्वयं तीर्थ-यात्रा है, जिसकी विभिन्न अवस्थाएँ पड़ाव हैं।[1] भारतीय जीवन के द्योतक तीर्थ भी राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। हमारे देश में केवल पुरी, नगर, नदी, महापुरुष, संत और साधक ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष ही एक महान तीर्थ रहा है। भारतीय तीर्थों पर ध्यान से गौर करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सारे देश में जितने भी भव्य, रमणीय और दर्शनीय प्राकृतिक स्थल हैं—नदी, पर्वत, शिखर, संगम, झील, प्रपात, धारा, कुण्ड, गर्म जल के सोते—वे केवल प्राकृतिक उपादान ही नहीं अपितु जन-मन-आराध्य पावन और पवित्र तीर्थ लोक हैं। उन्हें यदि केवल रमणीय स्थल कहा जाय तो अधिक से अधिक रमणीयानुभूति होगी। किन्तु उन्हें ही परब्रह्म के प्राकृतिक प्राकट्य की भावना करने पर, द्रष्टा मनुष्य के प्रेम का और उदात्तीकरण हो जाता है। वह निश्छल धुले हुए मन से अपनी समस्त श्रद्धा ही नहीं अर्पित करता अपितु सांसारिक मोह में आसक्त एवं कलुषित हृदय को भी प्रक्षालित कर लेता है। इस दृष्टि से तीर्थों को भगवान की प्राकृतिक एवं ललित वास्तु-कला का आविर्भाव माना जा सकता है। उनके दर्शन से भी वह आन्तरिक मनोभावना की शुद्धि कर लेता है। ऐसे स्थलों में विष्णु-पुर, विष्णु-पद, विष्णु-प्रयाग, विष्णु कांची, नारायण-पुर नारायणाश्रम जैसे तीर्थ हैं, तो उनके अवतारों और पार्षदों के नाम से भी चक्र, पद्म आदि नामों से प्रचलित पद्मपुर, पद्मावती, मत्स्यदेश, कूर्म स्थान (कुमायूँ), शूकरक्षेत्र इत्यादि तीर्थ-स्थल हैं जिनमें तीर्थोपम एवं नैसर्गिक वास्तु कलात्मकता भरी हुई है।

तीर्थों के अनन्तर वास्तु-कला के दूसरे उपास्य रूप, मंदिर हैं। तीर्थ-लोकों की तरह मंदिर-निर्माण की वास्तु-कला को ध्यान से देखा जाय तो प्रायः प्रत्येक मन्दिर में ऋत विश्व की ही मूर्ति का दर्शन होगा, जो अपनी आध्यात्मिक भाषा में ऋत विश्व के समकक्ष प्रतीत होती है। ऋत विश्व की प्रतिमूर्ति होने के नाते उसमें स्रष्टा की मूर्ति का निवास भी मंदिर और उसमें निवास करने वाली मूर्ति से मेल खाता है। अतएव सघनी कृत ऋत विश्व के परिप्रेक्ष्य और स्वामित्व के अनुसार मन्दिर ऋत का अनुकरण, प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब

१. गरुड़ पु. प्रथम अ., १६ अग्नि पु. अ. १०९।

है, जिसमें ऋत की सनातनता और स्रष्टा की कलाकारिता दोनों विद्यमान हो। मन्दिर-निर्माण की प्रक्रिया भी सृष्टि-उत्पत्ति का अनुकरण करती है, और उसका भी आरम्भ प्रारम्भिक प्रलय से होता है, जो मनुष्यों और मन्दिर की सामग्रियों के बीच लक्षित होता है। आकाश में घूमता हुआ नक्षत्र मंडल जो स्वर्गीय पदार्थों की दिक्-काल सापेक्ष गति सूचित करता है, वैसे ही मन्दिरों में भी विभिन्न रूपों के पत्थरों को आकाश के अनुरूप विशिष्ट स्थानों में रखकर नक्षत्र मंडल का अनुकरण किया जाता है। इसी क्रम में मन्दिर में स्थापित होने वाली विभिन्न मूर्तियाँ भी स्थानादि के नियमानुरूप स्थापित की जाती हैं।

भारतीय वस्तु-कला में प्रयुक्त होने वाले हथौड़ी और छेनी का प्रतीकात्मक महत्त्व माना जाता है। ये दोनों ऋत विश्व के प्रतिनिधि उपकरण के रूप में गृहीत होते रहे हैं। यों तो पुराणों में कई एक प्रतीकात्मक अर्थ किए गए हैं। किन्तु इनका एक विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ हल और पृथ्वी से मिलता जुलता है। हल चल कर पृथ्वी की योनि विवृत करता है, जिसमें अनेक पौधों की उत्पत्ति के रूप में सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार हल उत्पादक शिश्न का कार्य करता है। छेनी भी पत्थरों पर प्रहार द्वारा उनमें छिपे हुए उत्पादक उपादानों या कलात्मक रूपों की विवृति करती है। इस्लामी अथवा सूफी परम्परा के अनुसार कलम और क़ागज भी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता से परिपूर्ण हैं। इस परम्परा के अनुसार कलम जागतिक अक्ल का प्रतीक है, जो कब्र के पत्थरों पर सृष्टि का भाग्य खोदती रहती है। अव्यक्त से उत्पन्न बुद्धि सृष्टि का निर्माण करती है। इसी प्रकार भारतीय परम्परा में छेनी विशिष्ट ज्ञान का सूचक है और हथौड़ी आत्मशक्ति का, जो ज्ञान को प्रेरणाशक्ति प्रदान करती है और उसको वास्तविक बनाती है। यह ज्ञान इच्छा शक्ति को सर्वदा संकल्प शक्ति के अन्तर्गत रखता है।[1] अवतारवादी वास्तुकला अनेक मूर्तियों, प्रतीकों और अवतार-लीलात्मक भित्तिचित्रों से सज्जित एक कलाभिव्यक्ति की प्रबन्धात्मक शैली रही है। वास्तुकला के परिचायक देव मंदिरों में जो मीनाकारी, अनेक प्रकार के चित्र, खुदे हुए छिद्र इत्यादि जो प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें हम वास्तुशिल्प का शब्दालंकार तथा छोटी विभिन्न मुद्राओं में अंकित मूर्तियों को अर्थालंकार के समानान्तर मान सकते हैं। ९ वीं शती के हरिहर मंदिर में इस अलंकृति का परिचय मिलता है।[2] इसका द्विविध संयोजन सांगरूपक की याद दिलाता है। इसी

१. आर्ट ऐण्ड थॉट पृ. १७। २. आ. इन. थ्रू. ए. प्लेट ११५-११६।

प्रकार उपमा, रूपक, साँगरूपक, मालादीपक, एकावली आदि अलंकारों की अभिव्यक्ति वास्तु-शिल्प में देखी जा सकती है। ऐसा लगता है कि भारतीय काव्यों के बहुत से अलंकार वास्तु कलात्मक प्रकृति रखते हैं। भारतवर्ष के समस्त मंदिर और गोपुरम, मंडप और गुफाएं अवतारवादी प्रबन्धात्मक वास्तुकला का नमूना प्रस्तुत करते हैं, इनमें शैवों के कैलाश और वैष्णवों के दशावतार मंदिरों का विशिष्ट स्थान है। बुन्देलखंड में वेत्रवती नदी के किनारे देवगढ़ में गुप्तकलाकृति का अनुपम नमूना दशावतार मंदिर है। गुप्तकाल की वास्तुकला के सर्वोत्तम रूप का परिचय इस निर्मिति में मिलता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'वास्तुकला की दृष्टि से भी यह देवघर ही है'।[1] विष्णु एवं उनके अवतार-कृत्यों की अनेक झाँकियाँ वास्तु-शिल्प के माध्यम से एक महाकाव्यात्मक औदात्य का ही परिचय देती हैं। महाकाव्यों के प्रारम्भ में जिस प्रकार विषय-प्रवेश या मंगलाचरण होता है, उसी प्रकार इन मंदिरों के द्वार पर भी विभिन्न परिचर, पार्षद की उपस्थिति दिखलाई जाती है। क्योंकि विष्णु या शिव मंदिर भारतीय भावना में उस देवता के पूरे लोक का ही भावन कराते हैं, जिस मंदिर रूपी लोक में निवास कर वह अपने अन्य अवतारी रूपों में अपने अनुचरों के साथ अनेक प्रकार के पौराणिक कार्य किया करते हैं। महाकाव्यों में जैसे एक मुख्य कला होती है, और उसमें एक उदात्त लक्ष्य निहित रहता है तथा उसके साथ ही अवांतर कथाएं और वस्तु वर्णन चलते रहते हैं, किन्तु सभी गौण पात्र एक ही मुख्य कथा से सम्बद्ध रहते हैं। उसी प्रकार इन मंदिरों की वास्तुकला में अपने ढंग की प्रबन्धात्मक विशेषताएँ व्यंजित की जाती हैं। देवगढ़ के दशावतार मंदिर में एक ही विष्णु के लोक प्रचलित पौराणिक रूप तथा दशावतारों के रूप में की गई लीलाएँ और उनके पार्षदों की उपस्थिति ये सभी मिलकर एक प्रबन्धात्मक वास्तुशिल्प का द्योतन करते हैं।

इस तरह भारतीय वास्तु-कला का व्यावहारिक पक्ष यद्यपि भवन-निर्माण के वैज्ञानिक पक्ष से अधिक सम्बद्ध है, किन्तु उसका दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक पक्ष उसके स्थूल सौन्दर्य को भी रमणीय चेतना से युक्त कर देता है। वास्तुकला की अवतारवादी धारणा रमणीय-चेतना को आध्यात्मिक बाना पहना कर एक विचित्र औदात्य प्रदान करती है। भारतीय वास्तुकला में नृत्य, नाट्य, मूर्ति, चित्र, एक लय में अनुस्यूत होकर समाहित रहते हैं।

---

१. आर्ट ऐण्ड थॉट में संकलित 'दी गुप्ता टेम्पुल ऐट देवगढ़' पृ. ५१।

समापन

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में व्याप्त अवतारवाद अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित अपने अस्तित्व के लिए आकुल मानव में जीने की प्रबल आस्था संचार करने वाला—शक्ति, सक्रियता और समतुलन का जीवन-दर्शन है। हमें अपने व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन-संघर्ष में सर्वदा अतिरिक्त शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। अवतारत्व वस्तुतः अतिरिक्त शक्ति का आह्वान है, जिसकी जरूरत किसी भी महान विघ्न पर विजय पाने के लिए होती है। विष्णु से लेकर उनके सभी अवतारों के अवतार-कार्यों में प्रायः आसुरी व्यापारों का दमनकर अस्तित्ववादी समतुलन की प्रवृत्ति रही है। यह व्यक्तिगत नहीं अपितु एक सामूहिक मनोविज्ञान है, जिसमें मनुष्य के जीने की कामना निहित रही है। अवतारों का आगमन और उसकी 'इच्छा पूर्ति' केवल एक प्रक्रिया मात्र नहीं है, अपितु उसकी दृढ़ जीवनेच्छा का प्रतिफल है। अनेक ऐतिहासिक संघर्ष और सांस्कृति-विनाश के बाद भी मानव-समुदाय को सक्रिय और सचेष्ट रूप में जीवित रखने वाला भारतीय अवतारवाद रहा है। यह कह कर मैं अवतारवाद को 'रूढ़ि' और 'ह्रासोन्मुख' कहने वालों को उत्तर नहीं दे रहा हूँ, क्योंकि अवतारत्व स्वयं एक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया है, उसे किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। निश्चय ही अवतारवाद हिंसा और दमन के द्वारा शक्ति-प्रयोग का सिद्धान्त है, किन्तु उसका लक्ष्य अत्याचार, अतिक्रमण और रक्तपात नहीं है, अपितु वह बल-प्रयोग के द्वारा समता, शान्ति, समतुलन और विश्वबन्धुत्व का दर्शन है। व्यावहारिक अवतारवाद की दृष्टि से यह 'बहुजन हिताय' का और उपास्यवादी अवतारवाद की दृष्टि से 'स्वांतः सुखाय' का दर्शन है। समष्टि और व्यष्टि दोनों के व्यवहार और चिंतन में इसका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रकार अवतारवाद भारतीय संस्कृति का व्यंजक तथा मानवता के उद्भव, संघर्ष एवं विकास का एक ठोस जीवन-दर्शन (A positive Philosophy of life) है।

प्रारम्भिक युग से ही वीर नायकों या पुरोहितों में दैवी अवतारत्व और दैवी शक्ति का आरोप किया जाता रहा है। यह प्रवृत्ति निश्चय ही एक ऐसी सामाजिक आस्था या ऐक्य की भावना जन-मानस को देती रही है, जहाँ वे समस्त वैयक्तिक मतवैषम्य या परस्पर मनोमालिन्य को भुलाकर एक नेता या ध्वज के नीचे संगठित हो जाते थे। एक व्यक्ति के ही आदेशानुसार निष्ठापूर्वक चलने के कारण सामाजिक सुव्यवस्था और शक्ति की भावना अक्षुण्ण रही है।

इसी से सामान्य वर्ग सर्वदा एक महत्तर पुरुष की खोज में रहता आया है। यही नहीं वह सदैव भविष्य में आने वाले वैसे महापुरुषों की सम्भावना को भी जीवित रखता रहा है।

अतः जाति, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र की रक्षा के लिए अवतारवादी सामूहिक शक्ति की सर्वाधिक आवश्यकता समाज को रहती है। अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व ही संस्कृति को युग विशेष में प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त कर नयारूप या नयी मोड़ दे सकता है। एतदर्थ उसके जातीय या राष्ट्रीय व्यक्तित्व में अवतारत्व जैसी निष्ठा का होना स्वाभाविक है—अन्यथा उसके प्रति मन में दुर्भावना होते ही समाज में अनीति और अत्याचार की व्याप्ति हो सकती है। मनुष्य के हृदय में दैवी, मानवी और आसुरी शक्तियों का सदैव निवास रहता है। यदि जाति या समूह की दृष्टि से इन शक्तियों को देखा जाय तो भी सामूहिक मनोभावना कभी दैवी शक्तियों से पूरित रहती है, कभी विशेष मानवी शक्ति से और कभी विशेष आसुरी शक्ति से।

समूह में आसुरी शक्तियों का प्राबल्य होने पर समूह में चलने वाले गृह-युद्धों और आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए सदैव ही समाज को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो आसुरी शक्तियों को दमित कर मानवी या दैवी शक्ति को स्फुरित कर सकें। अनेक विध्वस्त समूहों को मिलाकर उनमें ऐक्य उत्पन्न कर सकें, इस कार्य के लिए सर्वदा अवतारत्व या अतिरिक्त शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता रही है।

भारतीय संस्कृति साधना प्रधान है। यहाँ की प्रत्येक जीवन-दृष्टि में कोई न कोई साधना है। सांस्कृतिक अवतारवाद का भी एक पक्ष साधनात्मक है। वैयक्तिक स्तर पर अवतारवादी प्रकृति में त्याग, तपस्या, विद्वता, शौर्य, शासन-दक्षता, ज्ञान, विज्ञान आदि के आधार पर मानव व्यक्तित्व के मूल्यांकन की एक विशिष्ट भावना रही है। अवतारवाद भारतीय संस्कृति को श्रेय और प्रेय, साधना और रंजन (लीला) दोनों प्रदान करता है। इसमें योग देनेवाले तथा नयी चिन्तनाओं को अग्रसर करने वाले व्यक्तियों का अवतारवाद ने सदैव समुचित मूल्यांकन किया है। इस प्रकार अवतारवाद उस सामूहिक, जातीय और राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है, जिसने सदैव ही संस्कृति के उन्नयन में योग देनेवाले महापुरुषों का दैवी मूल्यांकन किया है।

अवतारवाद व्यापक रूप में किसी प्रकार की अभिव्यक्ति को आत्मसात कर लेता है। ब्रह्म का प्राकट्य नाना नामों, रूपों और चरित्रों में होता है। शब्दों के माध्यम से व्यंजित काव्यात्मक अभिव्यक्ति में भी उसी की अभिव्यक्ति

है। काव्यानन्द आनन्द प्रदान करने की दृष्टि से ब्रह्मानन्द-सहोदर है। काव्यों में शब्द ही ब्रह्म का सगुण अवतार है और गूँगे के गुड़ के समान रहस्य या अर्थ ही उसका निर्गुण निराकार अवतार है। सहस्रों मूर्तियों और ऐतिहासिक महापुरुषों में ब्रह्म का—अवतारत्व से तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्म की आनन्ददायिनी कलात्मक अभिव्यक्ति से है। अतएव साम्प्रदायिकता से रहित अवतारवाद सैद्धान्तिक रूप में भी वह अभिव्यक्ति है जिसका वास्तविक निवास जन-मानस में या लोकानुभूति में है। भाव-संवलित या श्रद्धाभिभूत होने के कारण वह विशुद्ध काव्यात्मक रूप में लोक-हृदय की अभिव्यक्ति अधिक है लोक-मानस की कम। अतः कलाभिव्यंजन की दृष्टि से वह एक रमणीय आलम्बन विम्ब है, जिसे लाखों प्रकारों (Types) में संमूर्तित करने का प्रयास होता रहा है। यह रमणीय आलम्बन विम्ब रूढ़ से अधिक युग सापेक्ष है, इसी से इसकी रमणीयता के ह्रास होने की सम्भावना कम है। इस प्रकार वट वृक्ष की तरह अवतारवाद का, नाना शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त, रूप स्थल-सापेक्ष निष्कर्षों की अधिक अपेक्षा रखता है, जिसकी चर्चा यथा प्रसंग हुई है।

इति

संदर्भ ग्रंथ

हिन्दी

अकबरी दरबार के कवि	डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल ।
अनासक्ति योग	महात्मा गाँधी ।
अनुराग बाँसुरी	र० नूर मुहम्मद, सं० रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रबली पाण्डेय ।
अनुराग सागर	प्रयाग ।
अपभ्रंश साहित्य	हरिवंश कोछड़ ।
अपेक्षिकता का अभिप्राय	आंइंस्टाइन, अनु० हिं० प्र० शा०, उत्तर प्रदेश ।
अष्टखान की वार्त्ता	चौरासी वैष्णवन की वार्ता में संगृहीत ।
अष्टछाप	सं० कंठमणि शास्त्री ।
अष्टछाप	सं० प्रभुदयाल मीत्तल ।
अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय	डा० दीनदयालु गुप्त ।
असामान्य मनोविज्ञान	प्रो० रामकुमार राय, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, काशी ।
इन्द्रावती	नूर मुहम्मद, सं० श्यामसुन्दर दास ।
उत्तरी भारत की संत-परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी ।
कबीर ग्रन्थावली	सं० श्यामसुन्दर दास ।
कबीर बीजक	सं० हंसदास शास्त्री ।
कबीर वचनावली	सं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
कबीर सागर	सं० युगलानन्द ।
कवित्त रत्नाकर	सेनापति, सं० उमाशंकर शुक्ल ।
कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
काव्य में उदात्त तत्व	लौंजाइनस, अनु० नेमिचन्द जैन ।
काव्य दर्शन	शचीरानी गुर्टू ।
कुम्भनदास पद संग्रह	सं० ब्रजभूषण शर्मा ।
कुरान और धार्मिक मतभेद	अबुलकलाम आजाद, हि० अनु० सय्यद जहुरुल हाशिमी ।
केलिमाल और सिद्धान्त के पद	स्वामी हरिदास ।
गदाधर भट्ट की बानी	खोज रिपोर्ट ज० ८१ ।
गीता रहस्य	लोकमान्य तिलक, अनु० माधव राव सप्रे ।

गुप्त साम्राज्य का इतिहास	वासुदेव उपाध्याय ।
गुरू ग्रन्थ साहिब	अमृतसर ।
गोरखबानी	सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ।
गोवर्द्धननाथजी की प्राकट्यवार्त्ता	र० श्री हरिराय, सं० मोहन लाल विष्णुलाल पंड्या ।
गोविंद स्वामी पदसंग्रह	सं० श्री व्रजभूषण शर्मा ।
घनानन्द ग्रन्थावली	सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।
चारों युगों में योगी राज	सं० शंकरनाथ योगी ।
चित्रावली	उसमान कवि, सं० जगमोहन वर्मा ।
चैतन्य चरितामृत	व्रजभाषा प्रतिध्वनि—ध्वनिकार श्री राधाचरण गोस्वामी ।
चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता	सं० द्वारकादास पारीख ।
छीत स्वामी पदसंग्रह	सं० व्रजभूषण शर्मा ।
जायसी ग्रन्थावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल ।
जायसी ग्रन्थावली	सं० माताप्रसाद गुप्त ।
जैन साहित्य का इतिहास	नाथूराम प्रेमी ।
तस्वुफ और सूफीमत	पं० चन्द्रबली पाण्डेय ।
तामिल और उसका साहित्य	पूर्ण सोम सुन्दरम् ।
तुलसी ग्रन्थावली—दूसरा खंड	सं० रामचन्द्र शुक्ल ।
दादूदयाल की बानी दो भाग	इलाहाबाद ।
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता	बम्बई ।
दोहा कोश	सं० प्रबोधचन्द्र बागची ।
दोहा कोश	ग्रन्थ सरहपाद, सं० राहुल सांकृत्यायन ।
धरमदास जी की शब्दावली	इलाहाबाद ।
ध्रुवदास ग्रन्थावली	सं० रामकृष्ण वर्मा ।
नन्ददास ग्रन्थावली	सं० व्रजरत्नदास ।
नाथ सम्प्रदाय	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
नाथ सिद्धों की बानियां	सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
पद्मावत	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
परमाल रासो	सं० श्यामसुन्दर दास ।
पालि साहित्य का इतिहास	भरतसिंह उपाध्याय ।
पुरातत्त्व निबन्धावली	राहुल सांकृत्यायन ।
पूर्वकालीन भारत	वासुदेव उपाध्याय ।

पृथ्वीराज रासो — सं० श्यामसुन्दर दास।
प्राचीन भारतीय शासन पद्धति — अनन्तसदाशिव अल्तेकर।
प्रेम वाटिका रसखान — सं० किशोरीलाल गोस्वामी।
बड़ा संतोष बोध — श्री बालादास।
बुद्धचर्या — सं० राहुल सांकृत्यायन।
बौद्ध धर्म — पं० बलदेव उपाध्याय।
बौद्धधर्म दर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव।
बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन — भरतसिंह उपाध्याय।
ब्रज माधुरीसार — सं० वियोगीहरि।
भक्तकवि व्यास जी — वासुदेव गोस्वामी।
भक्तमाल — नाभादास, टी० रूपकला।
भागवत सम्प्रदाय — पं० बलदेव उपाध्याय।
भारतीय मूर्तिकला — रायकृष्णदास।
भातखण्डे संगीतशास्त्र चौथा भाग — पं० विष्णु नारायण भातखण्डे।
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा — सा० डॉ० नगेन्द्र।
भारतीय संगीत का इतिहास — उमेश जोशी।
भरत का संगीत सिद्धान्त — कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति।
भारत की चित्र कला — राय कृष्णदास।
भारतीय चित्र कला — चमन लाल मेहता।
भारतीय वास्तु विज्ञान प्र० भाग — पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र।
भारतीय वास्तु शास्त्र — डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल।
भारतीय नृत्य कला — फैजाबाद।
भारतीय वास्तु शास्त्र प्रतिमा-विज्ञान — डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल।
भारतीय कला के पदचिह्न — डॉ० जगदीश गुप्त।
भारतीय दर्शन — पं० बलदेव उपाध्याय।
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य — डा० हरिकान्त श्रीवास्तव।
मनोविश्लेषण — फ्रायड, अनु० देवेन्द्रकुमार वेदालंकार।
महायान — भदन्त शांति भिक्षु।
महावाणी — र० हरिव्यास देवाचार्य।
मधुमालती — मंझन कृत, सं० डा० शिवगोपाल मिश्र।
मराठी संतों का सामाजिक कार्य — डा० वि० भि० कोलते।
मध्यकालीन धर्म साधना — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

मलूकदास की बानी	प्रयाग।
माधवानल कामकंदला	गनपति।
मानव शास्त्र	प्रो० सत्यव्रत।
माध्यमिक प्राणिकी	नागपुर।
मीरा बृहद् पद संग्रह	सं० पद्मावती शबनम्।
युगल शतक	र० श्री भट्ट देवाचार्य।
योगी सम्प्रदायाविष्कृति	अनु० भद्रनाथ योगी।
रज्जब जी की बानी	बम्बई।
रामचरितमानस	सं० स्व० शम्भूनारायण चौबे।
रामचरित मानस	सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र।
रामचन्द्रिका केशव कौमुदी	सं० लाला भगवानदीन।
रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ	सं० डा० पिताम्बर दत्त बड़थ्वाल।
राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवतीप्रसाद सिंह।
रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना।	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'।
राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक।
रामाष्टयाम	नाभादास।
रामकथा	कामिल बुल्के।
रामरसिकावली	रघुराज सिंह जू देव।
रैदास जी की बानी	प्रयाग।
वैष्णव सिद्धांत रत्न संग्रह	राधा गोविंद नाथ।
वाम मार्ग	वंशीधर शुक्ल।
विद्यापति	सं० खगेन्द्रनाथ मित्र, अनु० हरेश्वरी प्रसाद।
ललित कला की धारा	असितकुमार हालदार।
वैदिक साहित्य	रामगोविंद त्रिवेदी।
वैदिक इन्डेक्स (हिं)	मैक्समुलर, अनु० रामकुमार राय, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी।
वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय।
वैदिक माइथॉलोजी	अनु० रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त।

विचित्तर नाटक से संकलित
चौबीस अवतार — गुरु गोविंद सिंह।
विकासवाद — ....
विशुद्धि मार्ग — ....
वेलिक्रिसन रूकमणी री — पृथ्वीराज राठौर।
श्री दादू जन्म लीला परची — स्वामी जन गोपाल।
श्री हित चरित्र — गोपालप्रसाद शर्मा।
श्री गुरुनानक प्रकाश — संतोष सिंह, प्रथम खंड।
संगीत शास्त्र — के० वासुदेव शास्त्री।
संत कवि दरिया — डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी।
संत काव्य — सं० परशुराम चतुर्वेदी।
संत दादू दयाल की बानी — सं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी।
संत रविदास और उनका काव्य — स्वामी रामानन्द।
संत सुधासार — सं० वियोगी हरि।
संस्कृत साहित्य का इतिहास — बलदेव उपाध्याय।
सांस्कृतिक मानव शास्त्र — मैलविल जे० हर्षकोवित्स।
साहित्य दर्पण — डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, काशी।
सुदामा चरित्र — नरोत्तमदास।
सूर्य प्रकाश — संतोष सिंह।
सूर साहित्य — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
सूरसागर — सं० नंद दुलारे वाजपेयी। खण्ड १—२।
सूर सारावली — सं० राधाकृष्णदास।
सूर सारावली — सं० प्रभुदयाल मीतल।
सूफी काव्य संग्रह — सं० परशुराम चतुर्वेदी।
सूफीमत और हिन्दी साहित्य — डा० विमलकुमार जैन।
सूरदास मदनमोहन — सं० प्रभुदयाल मीतल।
सोलहवीं शती के हिन्दी और
बंगाली वैष्णव कवि — डा० रत्नकुमारी।
सौन्दर्य तत्त्व — डॉ० दास गुप्त।
सौन्दर्य शास्त्र — डा० हरद्वारी लाल शर्मा।
हजरत मुहम्मद और इस्लाम — पं० सुन्दरलाल।
हनुमन्नाटक — हृदयराम।
हिन्दी साहित्य — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल ।
हिन्दी साहित्य कोश	सं० धीरेन्द्र वर्मा ।
हिन्दी काव्यधारा	सं० राहुल सांकृत्यायन ।
हिन्दी सूफी कवि और काव्य	डा० सरला शुक्ल ।
हिन्दी को मराठी संतों की देन	आचार्य विनयमोहन शर्मा ।
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	....
हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह	सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी ।
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य	डा० कुलश्रेष्ठ ।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ।
हिन्दी ऋग्वेद	रामगोविंद तिवारी ।

संस्कृत ग्रंथ

अर्थपंचक निर्णय-दशश्लोकी भाष्य	पं० लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी ।
अभिनव भारती (हि०)	आचार्य विश्वेश्वर ।
अद्वयवज्र संग्रह	सं० हरप्रसाद शास्त्री ।
अभिनय दर्पण	नन्दिकेश्वर ।
अहिर्बुध्न्य संहिता	सं० रामानुजाचार्य, जि० १ ।
अग्निपुराण	कलकत्ता ।
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रामलाल वर्मा शास्त्री ।
अध्यात्म रामायण	गोरखपुर ।
आनन्द रामायण	बम्बई ।
आर्य मंजुश्री मूलकल्प	सं० गणपति शास्त्री जि० १—२ ।
ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्	सं० वासुदेव लछमण शास्त्री पणशीकर ।
कल्कि पुराण	बम्बई ।
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (वामन)	आचार्य विश्वेश्वर ।
काव्यालंकारसारसंग्रह	उद्भट, इन्दुराज संस्करण ।
काव्यालंकार	भामह, प्र० चौखम्बा सं० सीरीज, काशी ।
काव्यादर्श	दंडी ।
काव्यप्रकाश	मम्मटाचार्य ।
काव्यमीमांसा	राजशेखर ।
काशिका	पंडितवर वामन जयादित्य, तीसरा सं०, प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

कौल ज्ञाननिर्णय	सं० प्रबोधचन्द्र बागची।
कृष्णकर्णामृत	सं० एम० के० आचार्य।
गर्गसंहिता	बम्बई।
गीतगोविंद	जयदेव।
गीता शांकर भाष्य	गोरखपुर।
गीता रामानुज भाष्य	गोरखपुर।
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह	पूर्णनाथ।
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ।
गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र	सं० केदारनाथ शर्मा।
ज्ञानसिद्धि	सं० बी० भट्टाचार्य।
जयाख्य संहिता	बड़ौदा।
तत्त्वत्रय	लोकाचार्य, प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी।
तत्त्वदीप निबन्ध	श्रीबाल शास्त्रार्थ और सर्वनिर्णय प्रकरण भागवतार्थ प्रकरण।
दशरूपक (हिन्दी)	धनंजय, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
दशश्लोकी निम्बार्क	भाष्यकार हरिव्यासदेव।
देवी भागवत	....
दशावतार चरित	बम्बई।
ध्वन्यालोक (हिन्दी)	आचार्य विश्वेश्वर।
नारद भक्ति सूत्र	गोरखपुर।
नाट्यशास्त्र	भरत मुनि, भाष्यकार अभिनव गुप्त।
पद्मानन्द महाकाव्य	अमरचन्द्र सूरि।
प्रतिमा नाटक	सं० एच० आर० कपाडिया।
प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि	सं० बी० भट्टाचार्य।
परम संहिता	बड़ौदा।
पुराण संहिता	प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी।
पृथ्वीराज विजय	कलकत्ता।
पंचतंत्र	काशी।
बुद्धचरित	अश्वघोष, जि० १–२।
बोधिचर्यावतार पंजिका	सं० लुइस डीला वैली पीसीन।
ब्रह्मवैवर्त पुराण	कलकत्ता।
ब्रह्मसूत्र-शारीरक भाष्य	प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी।
ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य	

ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य	प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी ।
ब्रह्मसूत्र—हिन्दी टीका	गोरखपुर ।
भविष्यपुराण	बंबई ।
भक्तिरस तरंगिणी	नारायणभट्ट, कृष्णदास ।
भागवत पुराण	गोरखपुर, वृन्दावन ।
भागवतार्थप्रकरण	सूरत ।
भागवत तात्पर्य निर्णय गीता तात्पर्य निर्णय महाभारत तात्पर्य निर्णय	के० माध्वाचार्य ।
महाभारत	मुरादाबाद, पूना, गोरखपुर ।
मत्स्य पुराण	कलकत्ता ।
महानारायणोपनिषद्	सं० क्रोनेल जी० ए० जैकब ।
मनुस्मृति	....
मत्स्येन्द्र पदशतक	नीलकंठ भट्ट ।
माध्वसिद्धान्त सार संग्रह	पद्मनाभाचार्य ।
मिताक्षरा	अन्नम्भट्ट ।
रसगङ्गाधर	पंडितराज जगन्नाथ, प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।
लक्ष्मी तंत्र	मद्रास ।
ललितविस्तर	सं० राजेन्द्रलाल मित्र ।
लघुभागवतामृत	रूप गोस्वामी ।
लघुभागवतामृत	अ० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी ।
बृहत् स्वयम्भू पुराण	सं० पं० हरप्रसाद शास्त्री ।
वज्रच्छेदिका	सं० मैक्समुलर, भाग १ ।
वक्रोक्ति जीवित	अनु० आचार्य विश्वेश्वर ।
विवेक चूड़ामणि	गोरखपुर ।
विष्णु पुराण	गोरखपुर ।
विष्णु सहस्रनाम शांकरभाष्य	गोरखपुर ।
वेदान्तरत्नमंजूषा	प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी ।
वेदान्ततत्त्वसुधा	किशोरदास ।
वैष्णव धर्म रत्नाकर	बम्बई ।
वैष्णव उपनिषद्	मद्रास ।
वैष्णव मताब्जभास्कर	भगवदाचार्य ।

शंकर दिग्विजय	हिन्दी टीकाकार—पं० बलदेव उपाध्याय।
शांडिल्य भक्तिसूत्र	गोरखपुर।
शुक्रनीति	बम्बई।
श्रावकाचार	अमितगति आचार्य।
श्री सिद्ध धीरजनाथ चरित्र	काशी।
सुबोधिनी	बम्बई।
सात्वत तंत्र	प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी।
साधनमाला	बी० भट्टाचार्य, जि० १–२।
सद्धर्म पुंडरीक	एच० कर्न, बुनियु नानजियो सेंट पीटर्सबर्ग।
सुखावती व्यूह	सं० मैक्समूलर, आक्सफोर्ड, जि० १, भाग २।
सौन्दरानन्द	अश्वघोष, अनु० सूर्यनारायण चौधरी।
साहित्यदर्पण	प्र० चौखम्बा सं० सीरीज, काशी।
संगीत दर्पण	दामोदर पंडित।
संगीतशास्त्र अंक	हाथरस।
संगीत पारिजात	हाथरस।
संगीत रत्नाकर	शार्ङ्गदेव।
स्वरमेल कलानिधि	....
सरस्वती कण्ठाभरण	भोज रचित।
सम्प्रदाय प्रदीप और प्रदीपालोक	अनु० कण्ठमणि।
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	पूर्णनाथ संस्करण।
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	गोपीनाथ संस्करण।
सिद्ध सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ संस्करण।
सांख्य कारिका	ईश्वर कृष्ण।
सेकोद्देश टीका	बी० भट्टाचार्य।
स्कंदपुराण	बम्बई।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण	बम्बई।
हरि भक्ति रसामृत सिन्धु	रूप गोस्वामी, दुर्गम संगमनी टीका।
वैदिक साहित्य	ऋग्वेद, अथर्ववेद, शुक्लयजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, आश्वलायन गृह्यसूत्र, शाङ्खायन गृह्यसूत्र, बृहदारण्यक उपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् प्रभृति।

अंग्रेजी ग्रंथ

आर्ट ऑफ इंडिया थ्रू दी एजेज स्टेला कैमरीच।
आर्ट ऑफ चन्देल्स ए० गोस्वामी।
आर्ट ऑफ पाल्वाज् (भाग २) ओ० सी० गांगुली।
आर्ट ऑफ दी राष्ट्रकूट ओ० सी० गांगुली।
ऑर्गैनिक इव्होल्युशन आर० एस० लाल।
आर्ट्स एन्ड क्रैफ्ट्स ऑफ इंडिया एन्ड सीलोन ए० के० कुमार स्वामी।
आर्ट ऐन्ड थॉट मैकमिलन कम्पनी।
डा० आनन्दकुमार स्वामी स्मृति ग्रन्थ सं० के० बी० ऐयर।
आर्ट ऐन्ड मोरैलिटी एन्ड अदर ऐसेज् एफ० सी० डावर।
आर्ट एक्सपिरिएन्स प्रो० एम० हिरियन्ना।
आर्ट एन्ड स्वदेशी ए० के० कुमार स्वामी।
इन्ट्रोडक्शन टू साइंस ऑफ माइथॉलोजी युंग और सी० किरनेई केगेन पाल।
इन्ट्रोडक्शन टू जुलोजी एम० एस० मस्नी।
इव्होल्युशन ऑफ दी व्हेटिब्रेट्स इ० एच० कोल्टर्ट। जौन विली एण्ड संस।
इव्होल्युशन इन दी लाइट ऑफ माडर्न लैंग्वेज ब्लैकी एण्ड सन लिमिटेड।
इंडियन मेटल स्कल्पचर चिन्तामनी कार।
इन्ट्रोडक्शन टू इंडियन आर्ट ए० के० कुमार स्वामी।
इंडियन स्कल्पचर एन्ड पेंटिंग इ० बी० हैवेल (२ संस्करण)।
ऐन इन्ट्रोडक्शन टू एस्थेटिक्स इ० एफ० कैरिर।
आर्ट एन्ड दी क्रिएटिव अनकांसस एरिच न्युमेनन, अनु० रॉल्फ मैनहिम, केगेन पाल।
एस्थेटिक (अं० सं०) बी० क्रोचे।
ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक बी० बोसांके।
ए न्यु थियोरी ऑफ ह्युमन इव्होल्युशन सर आर्थर कीथ।

ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ परसिया जि० १	ब्राउन।
ए स्टडी ऑफ वैष्णविज्म	कुञ्जविनोद गोस्वामी।
एस्पेक्ट्स ऑफ वैष्णविज्म	जे० गोंद।
अवतार	डा० एनीबेसेन्ट।
ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर	जिल्द १, विंटरनित्स।
ऐन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट इस्टोरिज्म	बी० भट्टाचार्य।
बुद्धिस्ट बाइबिल	श्री डी० गोडर्ड।
बुद्धिज्म इन तिब्बत	आस्टिन वाडवेल।
बुद्धिज्म, इट्स हिस्ट्री ऐण्ड लिटरेचर	टी० डब्लू० राय डेविड्स।
बुद्धिस्ट इकानोग्राफी	विजयतोष भट्टाचार्य।
क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन	इम्युनेल कांट।
क्लासिकल डांसेज एन्ड कौस्च्युम्स ऑफ इंडिया	कम अम्ब्रोज।
राग एन्ड रागिनीज्	ओ० सी० गांगुली, भा० १।
राजपूत पेंटिंग	स० बेसिल गास।
कम्परेटिव एस्थेटिक्स खंड २ वेस्टर्न ऐस्थेटिक्स	के० सी० पाण्डेय, चौखम्बा सीरीज, काशी।
इंडियन ऐस्थेटिक्स खंड १	के० सी० पाण्डेय, चौखम्बा सीरीज, काशी।
प्राब्लेमस्स ऑफ ऐस्थेटिक्स	सं० मोरिस विट्स,।
माइथॉलोजी	स्टील सैवेज।
इमेज ऐन्ड एक्सपीरिएंस	ग्राहम हव्।
डार्क कॅनसीट दी मेकिंग ऑफ एलिगरी	एडविन होमिंग।
फिनोमेनॉलौजी ऑफ माइन्ड	हेगेल; जार्ज, एलेन।
दी फिलौसोफी ऑफ कांट	सं० फर्ल जे० फ्रेडरिक।
दी फिलौसोफी ऑफ आर्ट हिस्ट्री	अरनल्ड हॉसर।
अक्सफोर्ड लेक्चरर्स ऑन पोएट्री	ए० सी० ब्रेडले, मैकमिलन।

प्रिंसपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म	आइ० ए० रिचर्डस् ।
कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन	आइ० ए० रिचर्डस् ।
साइकोलौजिकल स्टडीज इन रस	राकेश गुप्त ।
फॉक डांस इन इन्डिया	प्रोजेश बनर्जी ।
भारतीय संगीत रागविधि खण्ड (१)	सुब्बाराव ।
थियोरी ऑफ इन्डियन म्युजिक	बिशन स्वरूप ।
डांस ऑफ इन्डिया	प्रोजेश बनर्जी ।
सेन्स ऑफ ब्यूटी	जार्ज सांत्यायन ।
स्टडीज इन संस्कृत ऐस्थेटिक्स	ए० सी० शास्त्री ।
एरिस्टोसिल्स थ्योरी ऑफ फाइन आर्ट्स	अनु० और सं० एल० एच० बुलर ।
हिन्दू म्युजिक	जे० सी० चौधरी ।
मिस्टिसिज्म	इविन अन्डरहिल ।
फॉक डांस ऑफ महाराष्ट्र	ए० जी० अगरकर ।
मुगल पेंटिंग	जे० व्ही० एस० विल्किंसन, सं० बैसिल ग्रे ।
मिस्टिसिज्म	अन्डरहिल ।
कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर	जि० १, जि० ४, पूना ।
क्रिएटिव इव्होल्युशन	हेनरी बर्गसाँ ।
डिवाइन विजडम आफ द्रविड़ सेन्ट्स	सं० गोविन्दाचार्य ।
अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट	सुशीलकुमार डे ।
एलीमेन्टस् आफ हिन्दू इकानोग्राफी	२ जी० टी० ए० गोपीनाथ राव ।
फाउन्डेशंश आफ लिविंग फेथ	हरिदास भट्टाचार्य ।
गोरखनाथ एण्ड कनफट्टा जोगी	ब्रिग्स ।

गोरखनाथ एण्ड मेडिवल मिस्टिसिज्म	डा० मोहनसिंह।
हेरिडिटी	फ्रैंकलिन शूल।
हिन्दू पालिटी	काशीप्रसाद जायसवाल।
हिन्दू साइकोलोजी	स्वामी अखिलानन्द।
हिन्दू सिविलाइजेशन	राधाकुमुद मुखर्जी।
हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट	कुमार स्वामी।
हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर	कृष्णमाचारी।
हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म	इलियट।
हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासोफी	डा० राधाकृष्णन्, २ जि०, मैकमिलन।
हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासोफी	सुरेन्द्रदास गुप्त, जि० १, २, ४।
हिस्ट्री आफ तिरुपति	एस० के० आयङ्गार,।
हिस्ट्री आफ बंगाल	प्रबोधचन्द्र बागची।
हिस्ट्री आफ श्री वैष्णवाज	टी० ए० गोपीनाथ राव।
हिम्स आफ दी आलवार्स	जे० एस० एम० हूपर।
इन्ट्रोडक्शन टू दी पांचरात्र एण्ड दी अहिरबुध्न्य संहिता	सं० ओटो श्रेडर।
इण्डियन इमेजेज	बी० सी० भट्टाचार्य।
इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म	एस० बी० दास गुप्ता।
इनफ्लुएंस आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर	ताराचन्द।
आइडिया आफ पर्सनालिटी इन सूफिज्म	आर० ए० निकोलसन।
इन्डियन साधुज	जी० एस० घूरे।
इन्डिया ऐज नोन टू पाणिनि	वासुदेव शरण अग्रवाल।
मेटीरियल्स फार दी स्टडी आफ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट्स	हेमचन्द्र राय चौधरी।

आउट लाइन आफ दी रेलिजस लिटरेचर आफ दी इन्डिया जे० एन० फर्कुहर ।

ओरियन्टल संस्कृत टेक्स्ट — जि० ४ जे० म्योर ।

आब्सक्योर रेलिजस कल्ट — एस० बी० दासगुप्त ।

प्राइमर आफ हिन्दूइज्म — जे० एन० फर्कुहर ।

पंजाबी सूफी पोएट्स — लाजवन्ती रामकृष्ण ।

प्रीचिंग आफ इस्लाम — टी० डब्लू० आरनल्ड ।

रेलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ ऋग्वेद एण्ड उपनिषद्स — ए० बी० कीथ ।

दू साइकॉलौजी — स्वामी अभेदानन्द, रामकृष्ण वेदान्त ।

दी ग्रूप माइण्ड — वि० मैकडूगल ।

रेलिजन एण्ड दी साइंसेज ऑफ लाइफ — वि० मेकडूगल ।

युङ्ग साइकोलोजी ऐन्ड इट्स सोशल मीनिङ्ग — एस० प्रोगीफ ।

ग्राउण्ड वर्क्स ऑफ दी फिलौसोफी ऑफ रेलिजन — एर्किसन ली ।

दी इव्होल्युशन ऑफ दी आइडिया ऑफ गॉड — १९४९ ।

आर्के टाइप ऑफ दी कलेक्टिव अनकानसस — सी० जी० युंग ।

हिन्दू साइकॉलोजी — स्वामी अखिलानन्द ।

दी इगो ऐन्ड दी इद — सिगमंड फ्रायड ।

ब्योंड दी प्लेजर्स प्रिंसपुल — फ्रायड ।

अन्डरस्टैंडिङ्ग ऑफ ह्यूमन नेचर — आल्फ्रेड ऐडलर ।

ए जेनरल सेलेक्शंस फ्राम दी वर्क्स, ऑफ सिगमंड फ्रायड — जोनेरिक मैन ।

साइकॉलौजिक टाइप्स — युंग, केगेन पाल ।

मैन मोरल एन्ड सोसाइटी — जे० सी० फ्लुगेल ।

दी पर्सनालटी ऑफ मैन — जी० एन० एम० टायलर ।

मैन आन हिज नेचर — सर चार्ल्स सेरिंग्टन।
मोजेज ऐन्ड मोनेथिज्म — सिगमण्ड फ्रायड।
इंडियन साइकॉलोजी — यदुनाथ सिन्हा।
साइकॉलोजी एन्ड रेलिजन — युंग।
एवोन — युंग।
ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी साइकोलोजी ऑफ रेलिजन — राबर्ट एच० थाउलेस।
प्रोब्लेम ऑफ ह्यूमन नेचर ऐण्ड बिहेव्हियर — माइकेल बलिंट।
साइकोएनलिटिक स्टडी ऑफ दी फेमिली — जे० सी० फ्लुगेल।
सिम्बोलिज्म — डा० पद्मा अग्रवाल।
साइकॉलोजी एण्ड अलकेमी — युङ्ग।
रेलिजन, फिलॉसोफी ऐण्ड साइकिकल रिसर्च — केगेन पाल।
सद्धर्म पुण्डरीक — मैक्समुलर।
साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर — एस० के० कृष्णास्वामी आयङ्गार।
सिग्निफिकेन्स एण्ड इम्पार्टेन्स ऑफ जातकाज् — गोकुलदास डे।
सिन्ध ऐन्ड इट्स सूफीज — जेठामल परसराम गुलराज।
सूफिज्म — ए० जे० अरबेरी।
स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म — आर० ए० निकोलसन।
साइकोलौजिकल स्टडीज इन रस — डॉ० राकेश गुप्त।
स्टडीज इन इस्लाम — केनन सेल।
टीचिंग्स ऑफ श्री गौराङ्ग — स्वामी दुर्गा चैतन्य।
दी हिन्दू कंसेप्शन ऑफ डेइटी — भारतन कुमारप्पा।
दी एक्सप्रेशन ऑफ दी इमोशंस इन मैन एण्ड एनिमल्स — चार्ल्स डार्विन।

दी इवोल्यूशन ऑफ दी ऋग्वेदिक पैंथियन — अक्षयकुमारी देवी।

दी कृष्ण लिजंड इन पहाड़ी पेंटिङ्ग — एम० एस० रन्धवा।

दी ट्रांसफारमेशन ऑफ नेचर इन आर्ट — ए० के० कुमार स्वामी।

दी फिलॉसोफी ऑफ ब्यूटी — जे० एन० कौसविस।

दी आर्ट ऑफ कथकली — ए० सी० पाण्डेय।

दी आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया इट्स माइथालोजी एण्ड ट्रांसफारमेशन्स — जे० केम्पबेल, खंड—१।

दी डांस ऑफ शिव — डॉ० आनन्दकुमार स्वामी।

दी आर्ट एण्ड कल्चर ऑफ इंडिया — राधा कमल मुखर्जी।

दी वैदिक एज — रमेशचन्द्र मजुमदार।

दी ओरिजिन ऑफ मैन एण्ड हिज सुपरिश्चियशंस — कार्वेथ रोड, केम्ब्रिज।

दी एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी — सं० रमेशचन्द्र मजुमदार।

दी क्लासिकल एज — सं० रमेशचन्द्र मजुमदार।

दी बुद्धिष्ट इकानोग्राफी — विजय घोष भट्टाचार्य।

दी मसनवी जि० १, २ — जलालुद्दीन रूमी।

दी हिट्रोडाक्सिज ऑफ दी शियाइट्स — इसरायल करीदलएन्दर, न्यु हेवेन।

दी हिस्ट्री ऑफ दी ऐसेसिंस — सी० जे० व्हान हम्मर।

दी हिस्ट्री ऑफ मेडीवल वैष्णवीज्म इन उड़ीसा — प्रभात मुखर्जी।

दी एज ऑफ इम्पीरियल कनौज — सं० आर० सी० मजूमदार।

दी टेक्ट्स ऑफ दी ह्वाइट यजुर्वेद — अनु० आर० टी० एच० ग्रिफिथ।

दी० कास्फ अल महजूब — र० अलहुज्वीरी।

दी लंकावतार सूत्र — अनु० डी० टी० सुजुकी।

दी कन्फेशंस ऑफ अलगज्जाली १३ वीं शती — अनु० क्लाउड फील्ड।

दी अवारिफुल मारिफ — र० शेख शहाबुद्दीन।

दी अर्ली आर्यन्श इन गुजरात	के० एम० मुंशी ।
दी बोधिसत्व डाक्टरिन	हरदयाल ।
दी स्पिरिट ऑफ बुद्धिज्म	एस० एच० एस० गौड़ ।
दी क्रिटिकल इकजामिनेशन ऑफ फिलासोफी ऑफ रेलिजन	साधु शान्तिनाथ, अमलनेर जि० २ ।
दी रेलिजन ऑफ मैन	रवीन्द्रनाथ ठाकुर ।
दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया	जि० २, सं० डॉ० राधाकृष्णन् ।
दी सिक्ख रेलिजन्स	१, २, ३ और ५ जिल्द, मैकलिफ आक्सफोर्ड ।
दी साधुज	डब्लू० एल० एलीसन ।
दी मुस्लिम क्रीड	ए० जे० विनसिंक ।
दी मेसेज़ ऑफ गीता	अरविन्द ।
दी भागवत गीता	डा० राधाकृष्णन् ।
ट्रांसलेशन्स ऑफ ईस्टर्न पोएट्री एन्ड प्रोज	अनु० आर० निकोलसन ।
वेदान्त पारिजात कौस्तुभ एन्ड वेदान्त कौस्तुभ	रोमाबोस ।

अपभ्रंश

तिलोय पण्णत्ति	श्री यति वृषभाचार्य ।
महापुराण	पुष्पदन्त ।
प्रवचन सार	कुन्दकुन्दाचार्य ।
हरिवंश पुराण	श्री मज्जिन सेनाचार्य ।
प्रभावक चरित्र	श्री प्रभाचन्द्राचार्य ।
परमात्म प्रकाश और योगसार	योगेन्दुदेव ।
पउम चरिउ	स्वयम्भूदेव ।
पउम सिरी चरिउ	सं० श्री मोदी और भायाणी ।
णायकुमार चरिउ	पुष्पदंत ।
लीलावइ कहा	....

विश्वकोश

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स	सं० हेस्टिंग्स ।
हिन्दी विश्वकोश	नगेन्द्रनाथ वसु ।

अभिनन्दन ग्रन्थ

पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	मथुरा ।

हिन्दी पत्रिकाएँ

कल्याण	उपनिषदांक, संतवाणी अंक, भक्त चरितांक, श्रीकृष्णांक गोरखपुर ।
त्रिपथगा	लखनऊ ।
ना० प्र० पत्रिका	काशी ।
हिन्दुस्तानी	इलाहाबाद ।
हिन्दी अनुशीलन	इलाहाबाद ।
हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद ।
भारती	बम्बई ।
पाटल	पटना ।
साहित्य	पटना ।

अंग्रेजी पत्रिका

इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	....
इंडियन ऐन्टीक्वेरी	बम्बई ।
न्यू इंडियन ऐन्टीक्वेरी	....
जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी	लंदन, बम्बई, बंगाल ।
जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा, रिसर्च सोसाइटी	पटना ।
ब्रह्मवादिन	मद्रास ।
एनल्स ऑफ भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल	पूना ।
विद्याभवन जर्नल	बम्बई ।

हस्तलिखित पुस्तकें

परशुराम सागर — परशुराम कवि ।

अवतारचरित्र या अवतारलीला — बारहटदास नरहरदास लि० का० १७३३ वि० की पुनः लि० का० १९९७ वि० ।

हित चौरासी — हित हरिवंश ।

रसिक अन्यन्यमाल भागवत मुदित — लि० का० १८३७ ।

सेवक बानी — हित सेवकदास ।

मधुमालती- — चतुर्भुजदास ।

ग्वालिन झगरो — माधोदास ।

मान माधुरी — माधुरीदास ।

दान माधुरी — माधुरीदास ।

पुहुपावती — दुखहरनदास, लि० का० १८६७, रचना का० १७२६ ।

बंगला

अनादि मंगल — रामदास ।

चर्य्यापद — मनीन्द्र मोहन वसु ।

चैतन्य चरितामृत — कृष्णदास कविराज ।

श्रीकृष्ण कीर्तन — चंडीदास ।

धर्मपुराण — मयूर भट्ट ।

धर्म-पूजा-विधान — रमाई पंडित ।

बौद्ध गान ओ दोहा — सं० हरप्रसाद शास्त्री ।

शून्य पुराण — रमाई पंडित ।

शब्दानुक्रमणिका

आ

छ

द

ध

भ

म

य

श